

कालिदास-ग्रन्थावली

उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान
लखनऊ

+

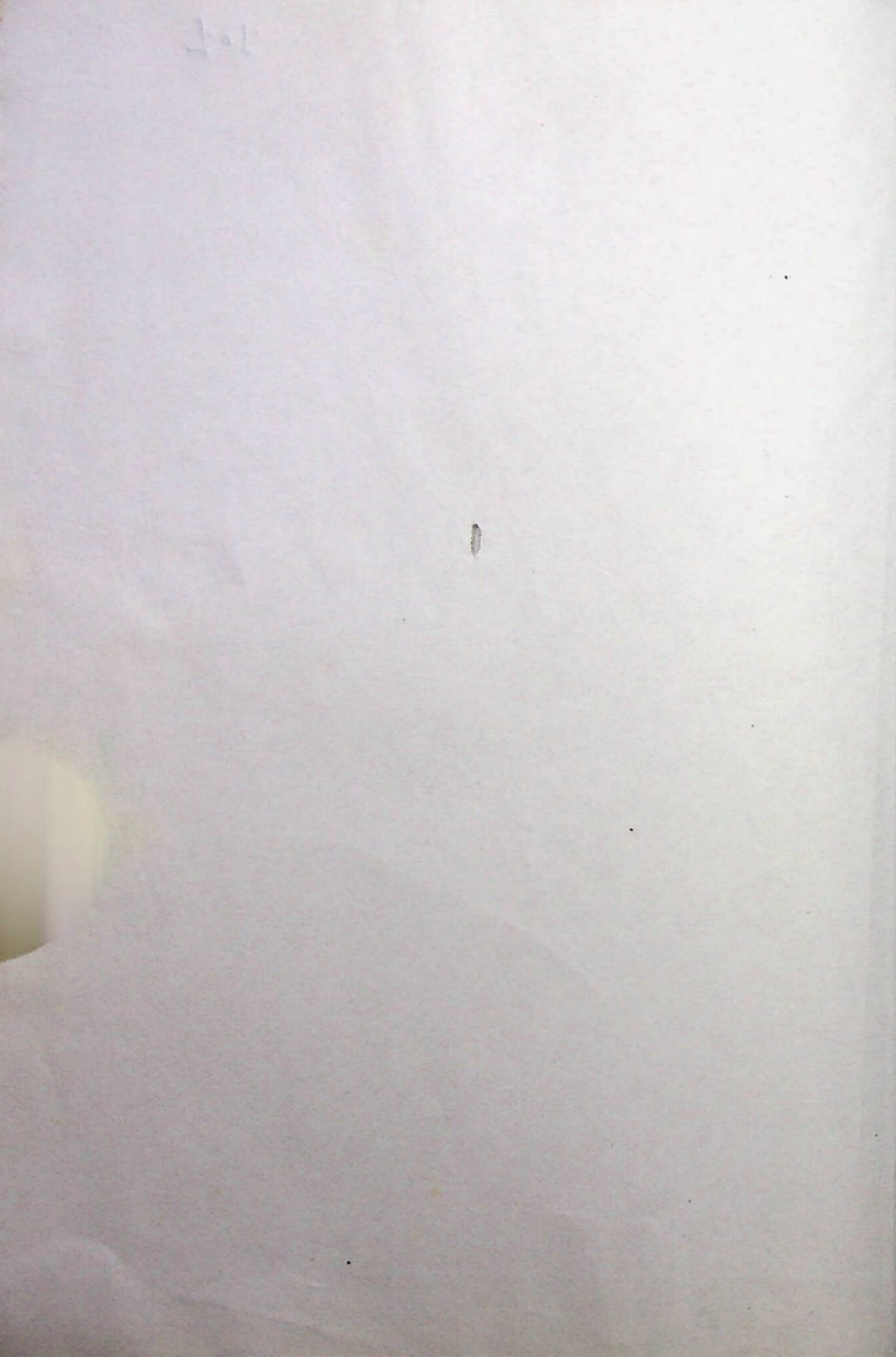
1

काव्य-प्रत्यावली

काव्य-प्रत्यावली

काव्य-प्रत्यावली

काव्य-प्रत्यावली



कालिदास-ग्रन्थावली

आचार्य पं० सीताराम चतुर्वेदी



उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान
लखनऊ

प्रकाशक :

डॉ. ललित वर्मा

निदेशक

उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान

प्राप्तिस्थानम् :

उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान

संस्कृत भवन, नया हैदराबाद, लखनऊ-226 007

दूरभाष : 2780251 फैक्स : 2781352

वेबसाइट : www.upsanskritsansthanam.org

ई-मेल : nidesans@upsansthanam.org

प्रथम संस्करण : वि.सं. 2000 विक्रमाब्द

षष्ठ संस्करण : सं० 2063 विक्रमाब्द

सप्तम संस्करण : नवसंवत्सर, वि.सं. 2071

प्रतियाँ : 1100

मूल्य : 580/-रुपये

© उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थानम्, लखनऊ

मुद्रक :

शिवम् आर्ट्स

211, 5वीं गली, निशातगंज, लखनऊ।

फोन : 0522-4104922 मो. : 9415061690

Email : shivamarts.lko@gmail.com

प्रकाशकीय

संस्कृत वाङ्मय जैसा विशाल और सर्वाङ्गीण साहित्य संसार की किसी भी अन्य भाषा में कदाचित् ही उपलब्ध है। इसकी विशालता और सर्वाङ्गीणता को समझने के लिए चारों वेदों, उपवेदों, रामायण, महाभारत, पुराण, उपपुराण, आयर्वेद, दर्शन, व्याकरण, ज्योतिष आदि के साथ ही लौकिक साहित्य और काव्यशास्त्र का परिचयात्मक अध्ययन आवश्यक है। महाकवि कालिदास भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों ही दृष्टियों से संस्कृत जगत् के सर्वमान्य कवि हैं। इनके ग्रन्थों में नाट्य-कला की सुन्दरता, काव्य की वर्णन छटा गीतिकाव्य के सरस हृदयोद्गारों के पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि की प्रतिभा सर्वातिशायिनी है। भारतीय जनश्रुति के आधार पर कालिदास राजा विक्रमादित्य के नवरत्नों के मुखिया थे। महाकवि के ग्रन्थों से भी राजा विक्रम के साथ रहने के प्रमाण मिलते हैं।

महाकवि कालिदास के काव्य, नाटक निश्चित ही देववाणी के शृङ्गार हैं। वे भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि कवि हैं, तथा उनके पात्र भारतीयता की प्रतिमूर्ति हैं। महाकवि ने अपने चयनित कुछ शब्दों के माध्यम से जिन भावों को अभिव्यक्त किये हैं, वैसा भाव अन्य कवि विस्तार में लिखकर भी स्पष्ट नहीं कर पाते हैं। महाकवि में भाव-अभिव्यक्ति का अद्भुत चातुर्य था।

संस्कृत-संस्थानम् द्वारा 'कालिदास ग्रन्थावली' के इस नवीन षष्ठ संस्करण में विद्वान् पाठकों के सुझाव पर श्लोकानुक्रमणी तैयार कर जोड़ी गयी है। मुझे इस बात का असीम कष्ट है कि इस संस्करण के सम्पादक आचार्य सीताराम चतुर्वेदी जी का आशीर्वाद मैं स्वयं भी नहीं पा रहा हूँ और न ही उनके सम्पादकीय के माध्यम से आप जिज्ञासु अध्येताओं को ज्ञान-राशि दे पा रहा हूँ। यदि आचार्य चतुर्वेदी जी आज होते तो इस संस्करण में कुछ और नवीन ज्ञान-राशि जुड़ी होती।

आचार्य जी विद्या, वाणी, वेश-भूषा, विनयशीलता तथा सहज उपकार के लिए सदैव स्मरण किये जाते रहेंगे जिनके सम्बन्ध में आदरपूर्वक कहा जा सकता है कि-

विद्यया वपुषा वाचा वेषेण विनयेन च।

वकारैः पञ्चभिर्युक्तो नरः कीर्तिमवाप्नुयात् ॥

ग्रन्थावली का यह संस्करण आचार्य श्री सीताराम चतुर्वेदी जी को समर्पित करते हुए मैं उनके चरणों में कोटिशः नमन करता हूँ।

इस संस्करण के पुनर्मुद्रण हेतु आचार्य चतुर्वेदी जी के मुजप्फरनगर आश्रम के संचालक उनके सुपुत्र **श्री पं० प्रियशील चतुर्वेदी** जी ने अनुमति प्रदान कर संस्कृत जगत् का जो उपकार किया है इसके लिए कालिदास साहित्य, मैं और संस्कृत संस्थानम् सदैव आभारी रहेगा।

पुनर्मुद्रण की सम्पूर्ण व्यवस्था तथा श्लोकानुक्रमणी आदि तैयार कर विद्वानों की माँग को पूर्ण करने वाले अपने सहयोगी कर्मचारियों को तथा प्रकाशन कार्य से सम्बद्ध संस्थानम् के अन्य कर्मियों को भी बधाई देता हूँ। **शिवम् आर्ट्स प्रेस** ने इस पुस्तक के पुनर्मुद्रण में पूर्ण सहयोग दिया है, एतदर्थ साधुवाद। आशा है ग्रन्थावली के इस संस्करण को भी संस्कृत जिज्ञासु-जन पूर्व की भाँति स्वीकार कर आगामी संस्करण हेतु अपने बहुमूल्य सुझाव देकर हमें कृतार्थ करेंगे।

नवसंवत्सर, वि.सं. 2071

विनयावनत

डॉ. ललित वर्मा
निदेशक

पञ्चम संस्करण का संपादकीय निवेदन

संवत् 2000 विक्रमाब्द में जब भारत भर में विक्रम-द्विसहस्राब्दी मनाई जा रही थी, उस समय महामना मालवीय जी महाराज ने काशी में अखिल भारतीय-विक्रम-परिषद् की स्थापना की, जिसकी योजना में सार्वजनिक समारोह के अतिरिक्त शकारि-विक्रमादित्य के नवरत्नों में सर्वोज्ज्वल रत्न कविकुल-गुरु कालिदास के सभी ग्रन्थों का अनुवाद, अभिनव नाट्यशास्त्र, समीक्षाशास्त्र, कौटल्य का अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों का प्रकाशन करके अत्यन्त कम मूल्य में सर्व-साधारण के लिये सुलभ करना भी था। मालवीय जी महाराज ने आदेश दिया कि “पूरा अनुवाद सरल, सुबोध और सर्वगम्य भाषा में कर डालो।” उनका आदेश मेरे लिये वेद-वाक्य था। तदनुसार मैंने सभी ग्रन्थों का अनुवाद कर डाला और उन्हें सुना भी डाला। जहाँ-जहाँ उन्होंने परिवर्तन या व्याख्या या विस्तार करने का सुझाव दिया वह भी कर दिया। उन्होंने यह भी आदेश दिया था कि मूल अलग तथा अनुवाद अलग रक्खा जाय। उनकी आज्ञा के अनुसार प्रथम संस्करण इसी प्रकार प्रकाशित हुआ और केवल पाँच रुपये में पूर्व निर्दिष्ट ग्राहकों को दे दिया गया।

थोड़े ही दिनों में द्वितीय संस्करण की आवश्यकता पड़ गई। परिषद् न तो व्यापार करती थी और न पैसा ही संचित करती थी। कागज और छपाई की महर्घता थी। पाठकों का आग्रह था कि मूल और अनुवाद साथ-साथ हों, आकार बड़ा कर दिया जाय, कागज भी अच्छा लगाया जाय। इधर साधनों का पूर्ण अभाव था। मेरे परम पूज्य पितृचरण स्व० पंडित भीमसेनजी वेदपाठी जी को अब मेरी इस विवशता का ज्ञान हुआ तो उन्होंने अत्यन्त स्वाभाविक वात्सल्या भाव से उसके मुद्रण का व्यय देने की कृपा की। किन्तु वे उसके प्रकाशन से पूर्व दिवंगत हो गए। द्वितीय संस्करण भी बात की बात में समाप्त हो गया और तृतीय संस्करण की माँग होने लगी। वह संस्करण बड़ी दैवी तथा नाटकीय परिस्थिति में प्रकाशित हुआ था।

सन् 1957 के जनवरी मास में मैं अत्यन्त अस्वस्थ दशा में काशी में पड़ा हुआ कल्याण के सन्त अंक का पारायण कर रहा था। उसी समय मुझे अन्तःप्रेरणा हुई कि अलीगढ़ के अपने प्रिय शिष्य डॉ० गोवर्धननाथ शुक्ल के साथ श्रीगिरिराजजी के दर्शन किए जायें। मैंने शुक्लजी को लिख भी दिया और उन्होंने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक स्वीकृति भी दे दी। लगभग एक वर्ष तक यह संकल्प असिद्ध ही पड़ा रहा। अकस्मात् सन् 1959 के जुलाई मास में शुक्ल जी ने लिखा कि “आषाढस्य” प्रथम-दिवसे” के उपलक्ष्य में अलीगढ़ विश्वविद्यालय में महाकवि कालिदास पर आकर भाषण दीजिए। श्रीगिरिराजजी के दर्शन का लोभ भी उन्होंने साथ ही दिया था। इसलिये निमन्त्रण स्वीकार करने में आपत्ति का प्रश्न ही नहीं था। यों भी शुक्ल जी का मुझपर इतना अधिक आदरपूर्ण प्रेम था कि उनके आग्रह की अवज्ञा मैं किसी भी प्रकार नहीं कर सकता था।

अलीगढ़ विश्वविद्यालय में भाषण दे चुकने पर अगले दिन हमलोग सयान होकर गोवर्धन के दर्शन के लिए चल पड़े। संयोगवश साथ में अलीगढ़स्थ भारत प्रकाशन मंदिर के अधिष्ठाता पं०

बदरीप्रसाद शर्मा भी थे। गोवर्धन पर्वत के दर्शन कर चुकने पर प्रसंगवश कालिदास ग्रन्थावली का प्रसंग छिड़ गया। मैंने अपनी विवशता प्रकट की किन्तु तत्काल पंडित बदरीप्रसाद शर्मा ने उसके प्रकाशन का भार स्वीकार कर लिया और पंडित गोवर्धननाथ शुक्ल जी के परामर्श के अनुसार मैंने केवल तृतीय संस्करण छापने का अधिकार परिषद् की ओर से दे दिया। श्रीगिरिराज जी के दर्शन का यह प्रत्यक्ष और सद्यःफल था। काशी या बलिया में बैठकर इसका संशोधन संभव नहीं था किन्तु पंडित गोवर्धननाथ शुक्ल ने अत्यन्त तत्परता के साथ यह भार वहन करने की स्वीकृति देकर मुझे निश्चिन्त कर दिया। उन्होंने और उनके अग्रज पंडित चिरंजीवलाल रावल ने जिस परिश्रम, मनोयोग, धैर्य और उत्साह के साथ इस ग्रन्थ को सवा 'ग' शुद्ध मुद्रित कराने का प्रयत्न किया उसका महत्त्व मैं धन्यवाद के औपचारिक शब्दों में परिमित नहीं करना चाहता। हाँ, मैं हृदय से उनको इसके लिये आशीर्वाद देता हूँ।

उस संस्करण में कुछ लेख और भी बढ़ा दिए गए थे और अत्यन्त सजग और सावधान रहने पर भी मुद्राराक्षसों की दया से कुछ अशुद्धियाँ रह गई थीं और कुछ अशुद्धियाँ यन्त्र के प्रहार से भाषाएँ टूट जाने से रह गई थीं।

भारत तथा भारत के बाहर के जिन अनेक विद्वानों, मनीषियों, पंडितों, विद्यार्थियों और संस्कृत विद्यानुरागियों ने इस ग्रन्थ के प्रति इतनी आत्मीयता और ममता प्रदर्शित की है उसके लिये मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ और उनकी इस सहृदयता को ही अपने परिश्रम का सबसे बड़ा पुरस्कार समझता हूँ। यदि इस संस्करण के सम्बन्ध में भी वे कुछ सुझाव भेजेंगे तो मैं आदरपूर्वक उनका अगले संस्करण में उपयोग करने का प्रयत्न करूँगा। कुछ सज्जनों ने जो सुझाव भेजे थे उनका इस संस्करण में प्रयोग कर लिया गया है और कुछ सामग्री बढ़ा भी दी गई है।

छोटी पियरी, काशी

वसन्त पंचमी सं० 2054 वि

- सीताराम चतुर्वेदी

परिचयात्मक प्रस्तावना

कविता तो स्वाभाविक उद्गिरा होती है जो किसी दैवी प्रेरणा अथवा नैसर्गिक प्रतिभा के कारण रससिद्ध कवि के मुख या लेखनी से अनायास निकलती चली जाती है। कुछ लोग ऐसे अवश्य हैं जो बलपूर्वक कविता गढ़ते तो हैं ही, उसे यत्नपूर्वक सुनाते भी फिरते हैं, सुनने को बाध्य भी करते हैं। इतना ही नहीं, अपनी उस तुकबन्दी पर वे लिखने की तिथि, स्थान और समय तक अंकित कर देने के साथ ही अपना लम्बा-चौड़ा परिचय देते हुए जन्म-स्थान, जन्म-तिथि, कुल, शिक्षा आदि का भी विवरण यह समझकर दे डालते हैं कि मेरे जैसा कवि न आज-तक हुआ न होगा, लोग मेरे नाम की माला जपा करेंगे। ऐसा ही कोई भ्रान्त कवि किसी सहृदय काव्यरसिक गुणज्ञ मनीषी के पास पहुँचकर कहने लगा कि मैं कवि हूँ, कविता सुनाने आया हूँ। इस पर उन्होंने मुस्कराते हुए पूछा-

काव्यं करोषि? किमु ते सुहृदो न सन्ति
ये त्वामुदीर्णपवनं न निवारयन्ति।
गव्यं घृतं पिव निवातगृहं प्रविश्य,
वाताधिका हि पुरुषाः कवयो भवन्ति।।

[अच्छा! तो आप कविता भी करते हैं? तो यह बताइए कि क्या आपके कोई ऐसे मित्र नहीं हैं जो आपके इस कविता करने के प्रचण्ड वातरोग को दूर कर सकें। न हों तो आप मेरी बात मान लीजिए कि आप किसी बन्द कोठरी में बैठकर गाय का घी पी डालिए क्योंकि जिन लोगों को प्रबल वातरोग हो उठता है वे कवि बन जाते हैं अर्थात् कविता करना एक प्रकार का वातविकार ही है।]

किन्तु कविकुलगुरु कालिदास तो उस कविता-कामिनी के विलास और हाव-भाव थे, जिसके सम्बन्ध में महाकवि जयदेव ने अपने प्रसन्नराघव नाटक की प्रस्तावना में कहा है-

यस्याश्चौरश्चिकुरनिकरो कर्णपूरो मयूरो,
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः।
हर्षो हर्षः हृदयवसतिः पंचबाणस्तु बाणः,
केषां नैषा कथय कविता-कामिनी कौतुकाय।।

[उस कविता-कामिनी को देखकर किसे कौतुक (आश्चर्य से देखते रहने का चाव) नहीं होगा, जिसके चौर कवि ही केश हैं, मयूर कवि ही कर्णफूल है, भास कवि ही मुस्कान हैं, कविकुलगुरु कालिदास ही जिसके विलास (हाव-भाव) हैं, महाकवि श्रीहर्ष ही जिसके हर्ष हैं और कवि बाणभट्ट ही हृदय में बसे रहने वाले कामदेव हैं।] यही कारण है कि बृहत्त्रयी के कवि माघ, भारवि और श्रीहर्ष के होते हुए भी कवियों की गिनती करते समय अनामिका, अनामिका ही बनी रह गई, किसी का नाम उस पर नहीं चढ़ पाया-

पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासाः ।

अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव ॥

क्योंकि उस कवि के काव्य का क्या महत्त्व और उस धनुर्धारी के बाण चलाने का क्या बाण चलाना कि दूसरे के हृदय में लगकर भी उसे झूमने के लिये बाध्य न कर दे, उसका सिर न चकरा दे-

किं कवेस्त्रस्य काव्येन किं काण्डेन धनुष्मतः ।

परस्य हृदये लग्नं न घूर्णयति यच्छिरः ॥

कर्णाटी विजया के विषय में कभी किसी ने झोंक में कह दिया था कि कालिदास के पश्चात् वैदर्भी शैली की वाणी में कोई निष्णात हुई तो वह कर्णाटी विजया ही हुई, उसकी जय हो-

सरस्वतीव कर्णाटी विजयांका जयत्यसौ ।

या वैदर्भगिरां वासः कालिदासादनन्तरम् ॥

किन्तु क्या किसी ने भी आज तक किसी कर्णाटी विजया का कहीं नाम तक भी सुना है या उसका कोई ग्रन्थ भी पढ़ा है?

महाकवि कालिदास की कविता में तो इतना माधुर्य, इतना रस भरा पड़ा है कि किसी रसिक ने जन्म-जन्म के लिये भगवान् से माँगी हुई वस्तुओं में सबसे पहले कालिदास की कविता का ही नाम लिया-

कालिदासकविता नवं वयः माहिषं दधि सशर्करं पयः ।

एणमांसमबला सुकोमला संभवन्तु मम जन्मजन्मनि ॥

[जन्म-जन्म में मुझे कालिदास की कविता, नई चढ़ती हुई जवानी, भैंस का सजाव दही, चीनी पड़ा हुआ दूध, हरिण का मांस और सुकुमारी नवेली मिलती रहा करे ॥]

सब जानते ही है कि माघ कवि को घंटा माघ कहते हैं। रैवतक पर्वत के एक ओर उदय होते हुए सूर्य और दूसरी ओर अस्त होते हुए चन्द्रमा के वर्णन में माघ ने शिशुपालवधम् महाकाव्य में कहा है-

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमघाम्नि याति चास्तम् ।

वहति गिरिरयं विलंबिर्घटाद्वयपरिवारित-वारणेन्द्रलीलाम् ॥

[पर्वत के एक ओर उगते हुए सूर्य की ऊपर को उठकर फैली हुई किरणों की डोरियों और दूसरी ओर अस्त होते हुए चन्द्रमा की उठी हुई किरणों के कारण यह पर्वत उस बड़े से हाथी के जैसा अच्छा लग रहा है जिसके दोनों ओर घंटे लटके हुए हों ॥] इस श्लोक में आए हुए 'घंटा' शब्द के कारण माघ को इसलिये 'घंटा माघ' कहते हैं कि जब माघ कवि के काव्य का घंटा बजने लगता है उस समय किसी कवि का काव्य सुनाई नहीं पड़ता अर्थात् माघ के काव्य के आगे सब काव्य दब जाते हैं ।

जैसे माघ को घंटा माघ कहते हैं वैसे ही भारवि को आतपत्र-भारवि कहते हैं। किरातार्जुनीयम् महाकाव्य में भारवि ने निम्नांकित श्लोक में जलपद्म और स्थलपद्मिनी से उठकर वायु के कारण ऊपर छत्र के रूप में चक्कर काटते हुए पराग का वर्णन करते हुए कहा है-

उत्फुल्लस्थलनलिनीदलादमुष्मादुद्धतः सरसिजर्सभवः परागः ।

वात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्तादाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम् ।।

[धरती पर खिली हुई कमलिनी की पंखुड़ियों और सरोवर के कमलों से उठा हुआ पराग वायु के कारण आकाश में चक्कर लगाता हुआ ऐसा शोभा दे रहा है जैसे सोने का छत्र आ तना हो। इस श्लोक में आए हुए 'आतपत्र' शब्द के कारण भारवि को 'आतपत्रभारिव' कहते हैं अर्थात् जब भारवि का काव्यरूपी आतपत्र (छत्र) तन जाता है तब सभी काव्य उसके नीचे छिप जाते हैं।]

इसी प्रकार महाकवि कालिदास को दीपशिखा-कवि कहते हैं। अपने रघुवंशम् महाकाव्य में अज के स्वयंवर का वर्णन करते हुए कालिदास ने बताया है कि जब इन्दुमती एक राजा को प्रणाम करके अर्थात् उसे अस्वीकार करके उसके आगे से हटकर दूसरे के आगे जा खड़ी होती थी तब पहले वाले राजा का मुख कैसा मलिन पड़ जाता था-

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा ।

नरेन्द्रमार्गाद् इव त्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ।।

[राजमार्ग से रात को हाथ में दीपक (मशाल) लेकर चलने पर उस राजमार्ग पर पड़ने वाले जिस भवन के आगे से उस दीपक की लौ का प्रकाश पीछे पड़ जाता है वह भवन जैसा धुँधला दिखाई देने लगता है वैसे ही पति का वरण करने वाली इन्दुमती जिस-जिस राजा को छोड़कर आगे बढ़ जाती थी उस-उसका मुँह वैसा ही फीका पड़ जाता था, उतर जाता था।] इसी प्रकार कालिदास की कविता के सामने सबकी कविता निस्तेज हो जाती है, कालिदास के सामने कोई कवि ठहर नहीं पाता। अब आप इस दीपशिखा-महाकवि का महाकौतुक देखते चलिए। सबसे पहला काम तो महाकवि कालिदास ने यह किया कि भारतीय काव्य-शास्त्र के सारे नियम तोड़ फेंके क्योंकि वास्तविक महाकवि तो वही होता है जो अपना निराला मार्ग बनावे, दूसरे की लीक पर न चले-मुरारेस्तृतीयः पन्था।

एक कहावत भी प्रसिद्ध है-

लीक लीक गाड़ी चलै, लीकहि चलै कपूत।

लीक छाँड़ि तीनइ चलैं, सायर, सिंह, सपूत ।।

भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार किसी भी महाकाव्य में एक ही नायक होना चाहिए जिसका आदि से अन्त तक पूरा जीवन-चरित अंकित हो, किन्तु कालिदास ने अपने रघुवंशम् महाकाव्य में किसी एक पराक्रमी व्यक्ति को नायक न बनाकर पूरे रघुवंश को ही नायक बना धरा जिसका कारण भी उन्होंने प्रारम्भ में स्वयं ही दे भी दिया है-

रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्बिभवोऽपि सन् ।

तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः ।।

[मैं थोड़ा पढ़ा-लिखा होने पर भी रघुवंशियों के उन सभी वीर पुरुषों की गाथा कहने जा रहा हूँ जिनके गुणों ने ही मेरे कान में पड़कर मुझे यह ढिठाई करने के लिये आ उकसाया है।]

भारतीय काव्य-शास्त्र के नियम के अनुसार किसी भी महाकाव्य में इतिहास-प्रसिद्ध नायक-नायिका का होना आवश्यक है क्योंकि इतिहास-प्रसिद्ध होने से ही उनके साथ पाठक या श्रोता का ऐसा रागात्मक सम्बन्ध या साधारणीकरण सुस्थिर हो पाता है जिसके कारण ही उसे रसानुभूति हो पाती है। किन्तु कालिदास ने कहा कि यदि इतिहास-प्रसिद्ध नायक के चित्रण से रसानुभूति कराई गई, तो मेरा क्या महत्त्व रहा! इसीलिये उन्होंने मेघदूत में न नायक का परिचय दिया, न नायिका का। नायक को तो 'कश्चित्' कहकर छोड़ दिया और नायिका का भी पूरा वर्णन तो कर डाला-

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी,

मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।

श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रास्तनाभ्यां,

या तत्र स्याद् युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः।

[छरहरे शरीर की, सलोनी, नोकदार दाँतों वाली, पके हुए बिम्बाफल के समान अधर और होठों वाली, पतली कमर वाली, चकित हरिणी की आँखों के समान बड़े-बड़े चंचल नेत्रों वाली, गहरी नाभि वाली, नितम्बों के भार से अलसाती चलने वाली, स्तनों के भार से कुछ झुकी हुई-सी वह मेरी पत्नी ऐसी है मानो संसार की सब युवतियों में ब्रह्मा की सबसे अधिक सुन्दर रचना हो।] इतना वर्णन कर देने पर भी कवि ने यह नहीं बताकर दिया कि वह थी कौन। फिर भी मेघदूत-काव्य ऐसा है कि उसे जितनी भी बार पढ़ा जाय उतनी ही बार जीवन भर उसमें नया-नया रस मिलता चलता है- मेघे मेघे गतं वयः (मेघदूत ही मेघदूत पढ़ते रहने में जीवन बिता दिया।) (मेघे माघे गतं वयः नहीं)

भारतीय काव्य-शास्त्र के अनुसार अपने गुरुजनों और इष्ट देवता के उद्दाम शृंगार का वर्णन करना निषिद्ध है, किन्तु कालिदास ने जगत्पिता शंकर और जगन्माता पार्वती के संभोग-शृङ्गार का भी उद्दाम वर्णन कर ही डाला।

यों तो कालिदास ने इतने काव्य-कौतुक किए हैं कि महीनों तक उनका कीर्तन करते रहने पर भी उनकी इति नहीं हो पा सकती, किन्तु यहाँ तो संक्षेप में उनके कुछ इने-गिने कौतुकों का ही परिचय कराया जा रहा है। जब अपने गुरु वशिष्ठ की आज्ञा से राजा दिलीप ने उनकी गौ नन्दिनी की सेवा का व्रत ले लिया और वे उसे खोलकर उसे वन में चराने के लिये ले जाने लगे तब कालिदास ने उनके लिये विशेषण दिया है- 'प्रजानामधिपः' प्रजा का या सन्तान का अधिपति, अनेक सन्तानों का पिता, किन्तु प्रजानामधिपः होने पर भी उनके प्रजा अर्थात् सन्तति थी ही नहीं। रानी सुदक्षिणा को भी वहाँ जाया (सन्तान उत्पन्न करने वाली पत्नी) कहा गया है, किन्तु सुदक्षिणा ने भी कोई सन्तान उत्पन्न नहीं की थी। यहाँ कालिदास ने दिलीप और सुदक्षिणा पर कठोर और कटु व्यंग्य तो किया किन्तु साथ ही भविष्यवाणी भी कर दी कि प्रजानामधिपः है तो प्रजा अवश्य होगी ही। अब अलंकार-शास्त्रियों से पूछा जाय कि इसमें कौन-सा अलंकार है और ध्वनि वादियों से पूछा

जाय कि इसमें संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि है या असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य? वास्तव में इसमें पुरःफलालङ्कार है जिसका निर्देश स्वयं कालिदास ने उसी प्रसंग में कर दिया है- प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि ।

जब गाय को सिंह दबोच बैठा तब- 'धनुर्धरः केसरिणं ददर्श' कहकर दिलीप को 'धनुर्धर' अर्थात् अपने धनुष से शत्रु का धर्षण करने वाला (धनुषा शत्रोः धर्षणं करोतीति धनुर्धरः) बताया किन्तु जब गौ को दबोचे बैठे हुए सिंह को मारने के लिये दिलीप बाण निकालने चले तब उनका हाथ तूणीर में ही चिपका रह गया और वे 'धनुः धरतीति धनुर्धरः केवल धनुष हाथ में पकड़े रहने वाले 'धनुर्धर' बने रह गए। अब बताइए इसमें कौन-सा अलंकार है? यह ऐसा विचित्र प्रकार का श्लेष है जिसे आप चाहें तो छाया-श्लेष या सूक्ष्मश्लेष कह सकते हैं। किन्तु इसमें भी पुरःफलालङ्कार है। पूरे सर्ग में यह पुरःफलालङ्कार भरा पड़ा है।

कालिदास का कौतुक अज के स्वयंवर का वर्णन करने में उस स्थान पर अधिक सचेष्ट हो उठा है जहाँ उन्होंने इन्दुमती को देखने पर वहाँ बैठे हुए राजाओं के हाव-भाव और उनके आंगिक भाव का सूक्ष्मालंकार में अंकन किया है कि कौन राजा किस प्रकार की चेष्टा से इन्दुमती को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये क्या व्यवहार कर रहा था और वहाँ जिस राजा को प्रणाम करके अर्थात् अस्वीकार करके वह आगे बढ़ जाती थी, उस समय उसका मुख कैसा धुँधला पड़ जाता था।

आज के वैज्ञानिक कहते हैं कि जब आकाश में छाए हुए बादलों के विद्युत-कण आपस में टकराने लगते हैं तब बिजली चमकती और कड़कती है। महाकवि कालिदास ने सहस्र वर्ष पहले ही इसका रहस्य प्रकट कर दिखाया। आकाश में राम के साथ पुष्पक विमान पर बैठी सीता जी बादलों में से होती चली आ रही थीं। उन्होंने अपना हाथ विमान से नीचे लटकाकर जो बादलों को झकझोरा तो सहसा उनके हाथ के चारों ओर ऐसी बिजली चमकी मानो बादलों ने उनके हाथ में बिजली का कंगन उठा पहनाया हो-

करेण वातायनलंबितेन स्पृष्टस्त्वया चण्डि कुतूहलिन्या ।

आमुंचतीवाभरणं द्वितीयमुद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते ॥

आकाश में जाते हुए उनका अभिनन्दन होना भी चाहिए था इसलिये बादलों ने सीताजी के हाथ में बिजली का कंगन ला पहनाया क्योंकि आकाश भी तो उनका एक पद ही था।

कालिदास का एक दूसरा कौतुक देखिए-

चित्रकूट पर सामने उठा हुआ बादल देखकर कुबेर के शाप से पीड़ित यक्ष को ऐसा लगा मानो पर्वतरूपी हाथी बादलरूपी रेत के टीले को टक्कर मार-मारकर, उसकी धूल ऊपर उछाले डाल रहा हो- बप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ।

पर्वत सामने था। इसलिये उसका वर्णन इस प्रकार किया गया मानों सामने से देख रहे हों किन्तु लंका से पुष्पक विमान पर लौटते हुए ऊपर आकाश से चित्रकूट को बादल से छाया हुआ देखकर सीताजी से राम कहते हैं-

धारास्वनोद्गारिदरौमुखोऽसौ शृङ्गाग्रलग्नांबुदवप्रपंकः ।

बध्नाति मे बन्धुरगात्रि चक्षुर्दप्तः ककुद्मानिव चित्रकूटः ॥

[सुन्दरी सीते! क्रुद्ध साँड़ के समान यह चित्रकूट बरबस मेरी दृष्टि अपनी ओर खींचे ले रहा है, जिसके गुफारूपी मुख से गिरती हुई धारा की ध्वनि गूँज रही है और जिसके सींगों पर टीले ढाहने से लगा हुआ कीचड़ लिपटा हुआ है ।] यह दृश्य उन्हें ऊपर से दिखाई पड़ रहा था इसलिये चित्रकूट के शिखर पर जमे हुए बादल ऐसे लग रहे थे मानो साँड़ के सींगों पर किसी गीले टीले से टक्कर लेने पर कीचड़ लिपटा हुआ हो ।

सबसे बड़ा कौतुक तो कालिदास ने यह किया कि विरोधी बीभत्स और शृङ्गार रसों का मेल कर दिखाया । बहुत से समालोचकों ने इसे रस-दोष बताया है किन्तु वे नहीं समझ पाए कि महाकवि तो वही है जो असंभव को संभव कर दे । कालिदास ने बीभत्स और शृङ्गार को एक साथ ला जोड़ा और बीभत्स को भी रस बना दिया । राम ने ताड़का को एक ही बाण से मार गिराया और वह यमलोक जा पहुँची । इस पर कालिदास ने कहा-

राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।

गन्धवद्गुधिरचन्दनोक्षिता जीवतेशवसतिं जगाम सा ॥

जैसे कोई कामपीड़ित अभिसारिका नायिका अपने शरीर पर चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्य लगाकर अपने प्रिय से मिलने जाती हो वैसे ही [रामरूपी कामदेव के असह्य बाण से हृदय में चोट खाई हुई वह राक्षसी ताड़का भी रुधिर-रूपी गन्ध और चन्दन से लिप्त होकर जीवितेश (प्रिय, यम)- के पास चली गई ।] यहाँ जीवितेश पद में श्लेष है ।

कालिदास ने अपने काव्य में तीन तकारों को बड़ा महत्त्व दिया है- तितिक्षा, त्याग और तपस्या । गौ की सेवा करने में दिलीप ने अपूर्व तितिक्षा (सब प्रकार की सहन-शीलता) का परिचय दिया । जब रघु ने कुबेर-द्वारा बरसाया हुआ सब स्वर्ण वरतन्तु के शिष्य कौत्स को देना चाहा तब गुरुप्रदेयाधिकनिःपृहोर्थी कौत्स ने अप्रतिम त्याग का परिचय देते हुए कहा कि मैं तो उतना ही धन ले जाऊँगा जितना गुरुजी ने माँगा है । राम और भरत का त्याग तो लोकप्रसिद्ध है ही । किन्तु सबसे बड़ी बात तो तपस्या की है । जगन्माता पार्वती अपने रूप से महादेवजी को प्राप्त करना चाहती थीं, किन्तु जब उनके देखते-देखते शिव ने कामदेव को भी भस्म कर डाला तब उन्होंने समझ लिया कि शंकर-जैसा अलौकिक पति और उनका प्रेम मुझे अपने सलोने रूप से नहीं केवल तपस्या से ही प्राप्त हो सकता है । बस, उन्होंने ऐसी घोर तपस्या छेड़ दी जैसी किसी ने न की, न कोई कर सकता-

इयेष सा कर्तुमबन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः ।

अवाप्यते वा कथमन्यथाद्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः ॥

इस तपस्या का मधुर परिणाम यह हुआ कि स्वयं शंकर ने प्रकट होकर पार्वती से कहा-

अद्यप्रभृत्यनवताञ्जि तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिः ।

[आज से मैं तुम्हारे तप से मोल लिया हुआ तुम्हारा दास हो गया हूँ ।]

आजकल तो जो भारत पर या किसान मजदूर पर गीत लिख देता है या बापू पर तुक जोड़ देता है, वही राष्ट्रकवि कहलाने लगता है, किन्तु सच्चा राष्ट्रकवि वही है जिसने सम्पूर्ण देश को समग्र रूप से आत्मसात् करके उसका यथातथ्य चित्रमय और भावमय वर्णन किया हो। महाकवि कालिदास ने रघुदिग्विजय और इन्दुमती के स्वयंवर के प्रसंग में भारत भर के जीव, पशु, पक्षी, भूप्रकृति, आचार-विचार, पर्वत, नद, नदी, सरोवर, मन्दिर, मनुष्य और विभिन्न स्थानों के इतिहास तक का सूक्ष्म वर्णन कर दिया है। मेघदूत में मेघ को दूत बनाकर भोजने के बहाने चित्रकूट से अलका तक के पूरे मार्ग का तो विवरण उन्होंने दे ही दिया, साथ ही वक्रः पन्था बताकर उज्जयिनी का भी सरस वर्णन कर डाला। वे वास्तव में सच्चे अर्थ में राष्ट्रकवि थे और उनका कौतुक यही रहा कि रघुदिग्विजय में विभिन्न प्रदेशों, वहाँ के मनुष्यों और वृक्ष आदि के साथ उनके रूप और आचार-विचार का भी वर्णन कर दिया। इन्दुमती के स्वयंवर में विभिन्न देशों के राजाओं के पराक्रम और उनके इतिहास के साथ वहाँ की भू-प्रकृति और वहाँ के रमणीक स्थानों का तो वर्णन किया ही, राम की विमान-यात्रा में लंका से अयोध्या तक के बीच पड़े हुए प्रदेश ऊपर से कैसे दिखाई देते हैं इसका भी वर्णन कर दिया। क्या कोई दूसरा कवि ऐसा कर पाया है?

जितने कवियों ने राम की कथा कही है सबने सरयू-तट पर स्थित अयोध्या के वैभव और सौन्दर्य का वर्णन प्रारम्भ में ही किया है, किन्तु कालिदास ने बड़े कौतुक के साथ अयोध्या के उजड़ जाने और कुशावती बस जाने पर उजड़ी हुई और पहले की अयोध्या दोनों का एक साथ तुलनात्मक वर्णन किया है। साकेत चले जाने पर राम के पुत्र कुश ने कुशावती नगरी जा बसाई थी। वे एक दिन अपने चारों ओर से बन्द कक्ष में सायंकाल बैठे हुए थे। इतने में वे देखते क्या हैं कि एक सुन्दर स्त्री उसमें वैसे ही आ बैठी है जैसे दर्पण में देखने वाले का मुख आ पहुँचता है। उसे देखते ही कुश ने पूछा-

का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा किं वा मदभ्यागमकारणं ते ।

आचक्ष्व मत्वा वशिणां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्तिः ।।

[शुभे! तुम कौन हो, किसकी पत्नी हो और मेरे पास किसलिये आई हो? तुम यह समझकर मुँह खोलना कि संयमी रघुवंशी लोग किसी परस्त्री पर कभी दृष्टि नहीं डालते।] उस देवी ने अपना परिचय देते हुए कहा- 'मैं अयोध्या की राज्यलक्ष्मी हूँ।' यह परिचय देकर उसने राम के समय की समृद्ध अयोध्या का और उस समय की उजड़ी हुई अयोध्या का पूरा तुलनात्मक दृश्य प्रस्तुत कर दिया जिसका केवल एक उदाहरण दिया जा रहा है-

निशासु भास्वत्कलनूपुराणां यः संचरोऽभूदभिसारिकाणाम् ।

नदन्मुखोल्लाविचितामिषाभिः संवाह्यते राजपथः शिवाभिः ।।

(रात के समय पहले जिन सड़कों पर चमचमाते बिछुओं वाली अभिसारिकाएँ चला करती थीं, उन्हीं पर आजकल ऐसी सियारिनें घूमती फिरती रहती हैं, जिनके मुख से हुआँ-हुआँ चिल्लाते समय चिनगारियाँ निकल पड़ती हैं।)

कालिदास का मेघदूत तो बूरे का लड्डू है, जिधर से तोड़ो उधर से ही मीठा निकले, जितनी बार पढ़ो उतनी ही बार उसमें नया-नया चमत्कार मिलता चले-

क्षण-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः ।।

(सुन्दरता का लक्षण ही यह है कि उसमें क्षण-क्षण पर नया ही नया चमत्कार दिखाई पड़ने लगे ।) मेघदूत तो बिहारी की उस अलबेली नायिका के समान है जिसका चित्र बनाने के लिये संसार के बड़े-बड़े चित्रकार बड़े अभिमान के साथ आ-आकर बैठे तो सही पर कोई भी चित्र खींच न पाया, सब मूर्ख बन-बनकर बैठे रहे क्योंकि उस नायिका का रूप क्षण-क्षण पर नया ही नया सुन्दर से सुन्दरतर, सुन्दरतम होता चला जा रहा था, तब चित्र बने तो कैसे बने?-

लिखन बैठि जाकी सबिहि, यहि-यहि गरब गरूर ।

भए न केते जगत के, चतुर चितेरे क्रूर ।।

इसी भाव को एक उर्दू के कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है-

वो नाजनीं का भी नाज क्या है, कि कुछ अजूबा-सा है तमाशा ।

बयौं करें क्या जुबाँ से उसका, घड़ी में तोला घड़ी में माशा ।।

इसीलिए कहा गया है- मेघे-मेघे गतं वयः, जिसे कुछ लोग अनुप्रास के फेर में 'माघे मेघे गतं वयः' कहा करते हैं। किन्तु माघ और मेघ की कोई तुलना नहीं है। वीप्सा अलंकार के बदले अनुप्रास के लोभ में ही ऐसा कह दिया गया है। मेघदूत और शिशुपाल वध की तुलना ही क्या? क्योंकि सच पूछिए तो माघ के शिशुपाल वध में मूल कथा तो केवल अन्तिम तीन सर्गों में है, प्रथम दो में तो भूमिका है और शेष पन्द्रह सर्ग असंगत शृङ्गारिक वर्णनों से भरे पड़े हैं। उन्नीसवाँ सर्ग चित्रकाव्यमय है, जिसे मम्मट ने अवर (अधम) काव्य कहा है-

शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम् ।

यहाँ शिशुपाल वध के उन्नीसवें सर्ग का एक एकाक्षरी श्लोक दिया जा रहा है जिसका अर्थ कोई समझा दे तो हम भी हार मानकर आज से कहने लगेंगे- माघे मेघे गतं वयः ।

दाददो बुद्दुद्ददो दाददो दददीददोः ।

दुद्ददं दददे दुद्दं दादाददददोऽददः ।।

पंडितराज मल्लिनाथ के पांडित्य का लोहा मानते हुए भी यह निश्चय है कि इस सर्ग की टीका में उन्होंने भी बहुत अटकल से काम लिया है।

सच बात तो यह है कि एक ही ग्रन्थ के फेर में पड़कर आयु बिता दी जाय तब तो उसका महत्त्व है, दो के फेर में पड़े रहे तब क्या जीवन रहा? रहे तो एक का ही होकर रहे।

भामह ने मेघ, पवन, चन्द्र, भ्रमर, शुक आदि को दूत बनाना गर्हित बताया है पर कालिदास ने तो यह विरोध प्रारम्भ में ही कीलित कर दिया है-

कामार्ता हि प्रकृति कृपणाश्चेतनाचेतनेषु ।

मेघदूत का काव्य-कौतुक देखिए। मेघदूत का यक्ष कुबेर का शाप लेकर चित्रकूट पर आकर आठ महीने से रह रहा है। वह विप्रयुक्त है, वियोगी है, साथ ही कामी भी है, अपनी पत्नी में बहुत आसक्त है। इस अवस्था में उसका दुर्बल हो जाना स्वाभाविक है जिसका परिणाम यह हुआ है कि उसके हाथ सोने का कड़ा हाथ के पहुँचे से खिसक कर न जाने कब निकल गया, कब गिरा, उसका उसे पता नहीं है।

‘कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः’ कहकर कालिदास ने बता दिया कि वह बहुत दुर्बल हो गया है, पर कालिदास ने तुलसीदास के समान अतिशयोक्ति नहीं की। राम के विरह में सीता इतनी दुबली हो गई कि-

कनगरिया की मुंदरी कँगन होत ।

राम के विरह में कानी उँगली में पहनी हुई सीता जी की अँगूठी कँगन बन गई। यद्यपि इसमें विरह की तीव्रता की ही व्यञ्जना की गई है, तथापि इस पर हँसी तो आती ही है। कलाई कितनी भी पतली क्यों न हो जाय पर कानी उँगली-जैसी पतली तो हो ही नहीं सकती। अपभ्रंश के एक कवि ने तो और भी कमाल किया है। किसी नायिका का पति परदेश गया हुआ था। वह अपने छज्जे पर बैठे हुए कौए को यह कहकर उड़ाए दे रही थी कि मेरा पति आता हो तो उड़ जा, जैसा प्रायः सभी के यहाँ लोग किया करते हैं। वह बहुत दुबली हो गई थी और उसके हाथ की चूड़ियाँ इतनी ढीली हो गई थीं कि उड़ाने के लिये हाथ ऊपर झटकने के साथ ही आधी चूड़ियाँ धरती पर जा गिरें। यहाँ तक तो माना जा सकता है। पर इतने में ही सहसा उसे अपने पति आते दिखाई दे गए। इस हर्ष से वह इतनी फूल उठी कि आधी चूड़ियाँ तड़ककर टूट गिरें-

वायसु उड्ढावन्तिअए पिउ दिड्डउ सहससि ।

अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्टि तड्ढि ।।

उर्दू के एक कवि ने तो अत्युक्ति की पराकाष्ठा कर दी। कोई सज्जन या स्वयं कवि अपने प्रिय के वियोग में इतने दुबले हो गए थे कि बिस्तर पर पड़े होने पर भी दिखाई नहीं दे रहे थे। इसलिये उनके प्रिय ने वहाँ आकर अपने साथ वाले से कहा कि बिस्तर को झाड़कर देखा जाय तब सम्भवतः कहीं टपककर दिखाई दे जायँ तो दे जायँ।

इन्तहाए लागरी से जब नज़र आया न मैं ।

हँस के वो कहने लगे बिस्तर को झाड़ा चाहिए ।।

किन्तु कालिदास ने यह सब अटकलपच्चू और बेसिर-पैर की बातें नहीं कीं। उन्होंने स्वाभाविक रूप से कह दिया कि उसके हाथ का सोने का कड़ा अपने आप निकलकर गिर पड़ा। पर कौतुक यहीं तक नहीं है। कौतुक तो इसकी व्यञ्जना में है कि चाँदी या ताँबे का कड़ा नहीं, सोने का कँगन उसके हाथ से खिसक गिरा, किन्तु वह अपनी प्रिया के प्रेम में इतना अधिक मग्न था कि हाथ का सोने का भारी कड़ा निकल जाने पर भी उसे उठाने तक की सुध नहीं रह गई, इतना तीव्र था उसका

अपनी पत्नी से प्रेम। पीतल या ताँबे-लोहे का होता तो कोई बात नहीं थी, निकलकर गिर जाय तो गिरा करे।

हिन्दी में भी घनानन्द ने मेघ को दूत तो नहीं बनाया, पर उससे यह प्रार्थना अवश्य की कि कभी तुम मेरी प्रिया सुजान (या मेरे प्रिय सुजान कृष्ण) के आँगन में मेरे आँसू ले जा बरसा आना-

पर कारज देह को धारे फिरौ परजन्य यथारथ है दरसौ।

निधि-नीर सुधा के समान करौ सब ही बिधि सज्जनता सरसौ।

घनआनंद जीवनदायक हौ, कबौं मेरिऔ पीर हिये परसौ।

कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो आँसुवानहूँ लै बरसौ।।

मेघदूत शृङ्गार परक काव्य है। सच पूछिए तो सुन्दर, रसमय काव्य की सृष्टि विरह में ही होती है। 'जैसे हरड़ या फिटकिरी-जैसा कसैला पदार्थ बिना डाले रँगने से वस्त्र आदि का रंग चटकीला नहीं हो पाता, वैसे ही विरह या विप्रयोग के बिना संयोग भी पक्का नहीं हो पाता-

न विना विप्रयोगेन संयोगः पुष्टिमश्नुते।

कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागोऽभिवर्द्धते।।

एक उक्ति है-

संगमविरहविकल्पे वरमिह विरहो न संगमस्तस्याः।

संगमकाले सैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे।।

किसी प्रेमी व्यक्ति से किसी ने पूछा कि तुम्हें अपनी प्रिया का बिछोह अच्छा लगता है या उसका मिलन? उसने उत्तर दिया कि (अपनी प्रिया के संगम और विरह में से मुझे विरह ही अधिक अच्छा लगता है क्योंकि संगम या साथ रहते समय तो वह एक अकेली ही होती है किन्तु विरह की अवस्था में तो तीनों लोक ही मुझे प्रियामय दिखाई देने लगते हैं।) अल्लाह भी मजनूँ को लैला नज़र आता है। उर्दू के एक कवि ने इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा है-

जो मजा इन्तज़ार में देखा।

न कभी वस्ले-यार में देखा।।

कालिदास ने कहीं-कहीं तो अपना काव्य-कौतुक दिखाते हुए नाटकीय दृश्य ही ला खड़ा किया है। पार्वती की तपस्या के समय ब्रह्मचारी बनकर आए हुए शिव ने जब शिव की (अपनी ही) निन्दा प्रारम्भ कर दी तब पार्वती ने वहाँ से उठकर चला जाना चाहा। ज्यों ही वे उठकर चलने को हुई कि शिव ने अपने रूप में आकर मुसकराते हुए कसकर पार्वती का हाथ झपट पकड़ा। उस समय का दृश्य प्रस्तुत करते हुए कवि कहता है-

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसांगयष्टिर्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्धहन्ती।

मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्यौ।।

(शिवजी को देखकर पार्वती काँप उठीं। उनका सारा शरीर पसीने पसीने हो चला और जैसे ही आगे बढ़ने को उन्होंने अपना पैर उठाया कि शैलाधिराज हिमालय की पुत्री पार्वती वैसे ही न तो आगे बढ़ पाई न खड़ी ही रह पाई जैसे बीच में पहाड़ पड़ जाने पर कोई नदी क्षुब्ध होकर वहीं रुक जाती है।) पार्वती तो शैलाधिराज हिमालय की, पहाड़ की पुत्री थीं इसलिये वे आगे कैसे बढ़ पा सकती थीं। बड़ा सच्चा विशेषण कालिदास ने ला टाँका है और झाँकी ला सजाई है।

बहुत से कवि और लेखक इस बात का ध्यान नहीं रखते कि क्या बात कहाँ, कितनी, किस ढंग से कहनी चाहिए। महाकाव्य में तो विशेष रूप से वर्णन के अनुपात का बड़ा महत्त्व होता है। शिव ने ज्यों ही अपना तीसरा नेत्र खोला त्यों ही कामदेव भस्म होकर राख हो गया। इस प्रसंग में कोई दूसरा कवि होता तो बीसों श्लोक लिखकर इस घटना के वेग का सारा महत्त्व ही नष्ट कर डालता, किन्तु जितनी देर में यह घटना हुई उतने ही क्षणों में कालिदास ने इतना ही कहा- आकाश में चढ़े हुए देवता कहते ही रह गए कि प्रभु! क्रोध रोकिए, रोकिए किन्तु इतने में तो उनके तीसरे नेत्र से उत्पन्न अग्नि ने कामदेव को राख का ढेर ही कर डाला।

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति ।

तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ॥

फारसी और उर्दू के विद्वान बड़े गर्व के साथ कहा करते हैं कि विलापकाव्य या मरसिया कोई लिख सकता है तो हम ही लिख सकते हैं किन्तु कालिदास तो ऐसे कवि निकले, जिन्होंने स्त्री के लिये पुरुष का और पुरुष के लिये स्त्री का विलाप दोनों लिख डाले और दोनों ही निराले, अप्रतिम, बेजोड़। नारद की वीणा से खिसककर गिरी हुई जिस माला से इन्दुमती की मृत्यु हो जाती है उसे अपनी छाती पर रखकर इन्दुमती के लिये विलाप करते हुए अज कहते हैं-

स्त्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम् ।

विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमोश्चरेच्छया ॥

(यदि इस माला में ही प्राण लेने की शक्ति है तब मेरे हृदय पर रखी होने पर भी यह मुझे क्यों नहीं मारे डाल रही है? सचमुच भगवान की इच्छा से ही कभी विष भी अमृत हो जाता है और कभी अमृत भी विष हो जाता है।) और फिर सबसे अधिक करुणाजनक तो अज का वह उद्गार है, जिसमें वह कहता है-

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियाशिष्या ललिते कलाविधौ ।

करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हतम् ॥

(तुम इन्दुमती! मेरी गृहिणी ही नहीं थी, तुम तो मेरी मन्त्री, मेरे सब गोपनीय कार्यों में मेरी सखी और कलाओं की ललित रीतियाँ सीखने में मेरी प्रिय शिष्या भी थी। बताओ! इस क्रूर मृत्यु ने तुम्हें छीनकर मेरा क्या नहीं छीन लिया, सब कुछ तो हर लिया।)

जब शिव के क्रोध की अग्नि से कामदेव भस्म हो गया तब रति दहाड़ मार-मारकर रोने लगी। उस समय उसकी सबसे अधिक मार्मिक उक्ति थी-

हृदये वसतीति मत्प्रियं यदवोचस्तदवैमि कैतवम् ।

उपचारपदं न चेदिदं त्वमनंगः कथमन्यथा रतिः ।।

(तुम जो मुझसे यह लुभावनी बात कहा करते थे कि तुम मेरे हृदय में वसती हो वह मैं समझती हूँ कि सब झूठ था क्योंकि यदि वह केवल दिखावटी बात न होती तो तुम्हारे भस्म हो जाने पर यह रति भला कैसे जीती बची रह जाती?)

कालीदास का काव्य-कौतुक कहाँ तक कहा जाय? सभी संस्कृत संस्थानों को कालिदास के काव्यों के बारह विषयों पर अलग-अलग प्रवचन कराने चाहिए और वे भी भारत के विभिन्न नगरों में जा-जाकर, केवल एक स्थान पर नहीं।

(1) दिलीप की गोसेवा, (2) रघुका दान और दिग्विजय, (3) अज का स्वयंवर, (4) अज का विलाप, (5) दशरथ का मृगया-विहार, (6) राम की विमान यात्रा, (7) सीता का परित्याग, (8) कुश और अयोध्या की राज्यलक्ष्मी का संवाद, (9) अग्निवर्ण का विलास, (10) मदन-दहन, (11) पार्वती की तपस्या तथा (12) शिवजी का विवाह। साथ ही तीनों नाटकों का प्रयोग भी कराना चाहिए और उन पर अलग-अलग भाषण भी कराने चाहिए। प्रायः अभिज्ञान-शाकुन्तल का ही प्रयोग अधिक देखने को मिलता है, विक्रमोवशीय और मालविकाग्निमित्र का कहीं नाम नहीं सुनाई पड़ता।

इतने बड़े महाकवि का जितना आदर होना चाहिए था, उतना हमारे देश में हो नहीं रहा है-

आभीरदेशे किल चन्द्रकान्तं त्रिभिर्बराटैः विपणन्ति गोपाः ।।

(अहीरों की बस्ती में ग्वाले लोग तीन-तीन कौड़ियों में चन्द्रकान्त मणि ले बेच रहे हैं।)

आजकल अधिकांश विद्वान इसी फेर में पड़े हुए हैं कि कालिदास का जन्म-स्थान कहाँ था, उसकी जन्मतिथि क्या थी, उनके काव्यों का रचनाक्रम क्या है और मेघ कहाँ-कहाँ होता गया?

सम्भवतः आपने वह कथा सुनी होगी कि जब लंका जीत लेने पर राम ने लक्ष्मण, सुग्रीव, हनुमान, अंगद और विभीषण को आदेश दिया कि सीता जी को लेते आओ तब विभीषण ने उन्हें सुन्दर उहार से ढकी हुई पालकी में बैठाकर रक्षकों के साथ राम के पास ले जाने की व्यवस्था कर दी। वे हटो-बचो करते हुए सीता को राम के पास ले चले। वहाँ जो अनेक वानर उपस्थित थे, उन्हें यह देखने की बड़ी उत्सुकता हुई कि जिनके लिये युद्ध करने और प्राण देने हम लोग यहाँ आए हैं वे हैं कैसी? राम ने उनके मन की बात ताड़ ली और आदेश दिया कि सीता पैदल ही आवें जिससे सब लोग उनका दर्शन कर सकें। उनका सुन्दर रूप देखकर बन्दरों ने अपनी दृष्टि से कल्पना की-

अहो सुरम्यं वदनारविन्दं सुनासिका बिम्बफलाधरोष्ठम् ।

प्रफुल्लपद्मायतलोचनायाः पुच्छं विना तुच्छमिदं हि सर्वम् ।।

(वाह! इनका मुख तो कमल के समान खिला पड़ रहा है, नाक भी बड़ी सुघर है, इनके अधर और ओष्ठ भी बिम्बाफल के समान लाल हैं और आँखें भी खिले हुए कमल के समान बड़ी-बड़ी हैं, किन्तु पूँछ न होने से ये सब व्यर्थ हैं।)

उन्हीं वानरों के समान हम लोग भी महाकवि कालिदास के काव्यों का वास्तविक सौन्दर्य और रस तो लेना नहीं चाहते, केवल पूँछ के फेर में पड़े हुए व्यर्थ की उछल-कूद मचाए डाल रहे हैं।

अभिज्ञानशाकुन्तल का नाट्य-रचना-कौशल

अब आइए अभिज्ञानशाकुन्तल पर जो सब काव्यों में श्रेष्ठतम माना गया है-

काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला ।

गंगाजी की बाईं ओर उत्तर प्रदेश में बिजनौर जनपद में वह मालिनी नदी है जिसके तट पर कण्व का वह आश्रम है, जहाँ शकुन्तला का जन्म और पालन-पोषण हुआ था। गंगाजी के दाहिने तटपर हस्तिनापुर है, जहाँ राजा दुष्यन्त राज्य कर रहा था और उधर ही गंगा-तटपर मुजफ्फरनगर जनपद में शक्रावतार स्थान में वह शची-तीर्थ है, जहाँ शकुन्तला के हाथ से अँगूठी निकल गिरी थी। इसी शक्रावतारनाम को बिगाड़कर उसे अपभ्रष्ट करके, लोग उसे सुक्करताल या सुक्करतार कहते आए हैं, जिसे और भी बिगाड़ कर लोग शुक्रताल, शुक्ताल या शुक्रदेव जी कहने लगे हैं जिसका कोई तुक नहीं है क्योंकि वहाँ कोई ताल है ही नहीं। भ्रमवश कहा जाता है कि यहीं पर बादरायण व्यास के पुत्र शुक्रदेव ने परीक्षित (परिक्षित) को भागवत की कथा सुनाई थी। पर शुक्रदेव जी तो बहुत पहले ही दिव्यलोक को जा चुके थे। (देखो शान्तिपर्व अध्याय 331) गंगा के इसी पश्चिमी तट पर शक्रावतार से कुल 37 किलोमीटर पर मेरठ जनपद में हस्तिनापुर नगर बसा हुआ है। शतपथ ब्राह्मण में कथा आई है कि शकुन्तला ने नाडपितृ के तट पर भारत को जन्म दिया था इसीलिये भरत को नाडपिती भी कहते हैं।

महाभारत के आदि पर्व में दुष्यन्त और शकुन्तला के आख्यान के प्रसंग में कहा गया है कि मालिनी नदी के तट पर विश्वामित्र से मेनका को शकुन्तला उत्पन्न हुई। उसी के तट पर कण्व का आश्रम भी था। शकुन्त (भास नाम के एक गिद्ध जाति के पक्षी) ने अपने पंखों से छाया करके उसकी रक्षा की थी, इसीलिये उसका नाम शकुन्तला पड़ गया। महर्षि कण्व ने अपने आश्रम में ले जाकर पूर्णतः नैसर्गिक वातावरण में उसका पालन-पोषण किया। एक बार आखेट करते हुए हस्तिनापुर के राजा दुष्यन्त ने कण्व के आश्रम में पहुँचकर शकुन्तला से गान्धर्व-विवाह का प्रस्ताव किया। शकुन्तला ने यह प्रस्ताव यह मनवाकर स्वीकार किया कि मेरा ही पुत्र हस्तिनापुर का राजा बनाया जाय। शकुन्तला से गान्धर्व-विवाह करके दुष्यन्त अपनी राजधानी को लौट गया। जब महर्षि कण्व को यह समाचार दिया गया तब उन्होंने भी बड़ी प्रसन्नता से उसका समर्थन कर दिया। तीन वर्ष गर्भ में रखकर शकुन्तला के पुत्र का जन्म हुआ और आश्रम में ही उसके जातकर्म-नामकरण आदि संस्कार किए गए। वह आश्रम के जीवों को बहुत तंग किया करता था, इसलिये उसका नाम सर्वदमन रख दिया गया। जब सर्वदमन कुछ बड़ा हो गया तब महर्षि कण्व ने उसे शकुन्तला के साथ दुष्यन्त के पास हस्तिनापुर भेज दिया। वहाँ पहुँचने पर दुष्यन्त ने उसे अस्वीकार करते हुए कहा कि मैं तो तुम्हें पहचानता भी नहीं हूँ। इस पर शकुन्तला ने दुष्यन्त को बहुत फटकारा और बहुत ऊँच-नीच भी कहा। जब इसपर भी दुष्यन्त नकारता ही गया, तब शकुन्तला ने रोष के साथ कहा कि तुम या तो इसे (सर्वदमन को) चुपचाप राज्य दे दो, नहीं तो यह बलपूर्वक तुमसे

राज्य छीन लेगा। उसी समय आकाशवाणी हुई- 'दुष्यन्त! तुमने शकुन्तला से गान्धर्व विवाह किया है।' यह सुनकर दुष्यन्त ने अपना अपराध स्वीकार कर लिया और कहा कि मैंने लोकापवाद के भय से तुम्हें अस्वीकार किया था। सर्वदमन का नाम अब भरत रख दिया गया।

पद्मपुराण के बँगला संस्करण में शकुन्तला का आख्यान अभिज्ञान-शाकुन्तल की कथा से बहुत कुछ मिलता-जुलता है-

तुर्वसु वंश के राजा मरुत्त ने पूरु वंश के राजकुमार दुष्यन्त को गोद ले लिया था। दुष्यन्त ने माहिष्मती के हैहयों को हराकर, उनसे अपना राज्य लेकर हस्तिनापुर को अपनी राजधानी बनाया, किन्तु वह कहलाता पौरव ही रहा क्योंकि बटु, द्रुह्य और तुर्वसु वंश वालों को ययातिका शाप लगा हुआ था कि तुम्हारे वंश में कोई राजा नहीं होगा।

शब्दकल्पद्रुम में दुष्यन्त शब्दकी व्युत्पत्ति दी गई है- दुष् दोषवती मन्यते शकुन्तलां इति दुष्यन्तः। (जो शकुन्तला को दोषवती माने वह दुष्यन्त है।) पर उसका यह नाम तो शकुन्तला का प्रत्याख्यान करने से पहले ही था।

कालिदास की शकुन्तला

कालिदास की शकुन्तला पूर्णतः प्रकृति की कन्या (निसर्ग-कन्या) है। शकुन्त (भास जातिके गिद्ध) ने उसकी रक्षा की थी इसलिये उसका नाम शकुन्तला पड़ गया। महर्षि कण्व के आश्रम के प्राकृतिक संस्कार में उसका पालन-पोषण हुआ है। उसे महर्षि कण्व ने लता-वृक्ष सींचने का कार्य सौंप रखा है। केसर (मौलसिरी) के पास खड़ी वह नई लता-जैसी रानी लगती है। वह अनसूया से कहती भी है कि तात कण्व के कहने से ही मैं इन्हें नहीं सींचती, इनसे तो मेरा सहोदर (सगे भाई-बहिन) जैसा स्नेह है। सहकार (आम के वृक्ष)-पर बढ़ी हुई, उससे लिपटी हुई अपनी प्यारी लता बहिन (लदाबहिणिआ) वनज्योत्स्ना को वह बड़े प्रेम से देखने लगती है। दुष्यन्त भी उसे हरिण के छौनों के साथ पलने वाली (मृगशावैः सममेधितो जनः) बताता है। शकुन्तला जब अपने प्रिय दुष्यन्त के लिये व्याकुल होती है तब वह लताकुञ्ज में ही बैठकर मदन-लेख (प्रेमपत्र) के लिये कमल के पत्तेपर (कागुज पर नहीं) नख से (कलम से नहीं) ही लिखती है। वह विदुषी और कवयित्री भी है। उसकी विदाई के समय आश्रम के वृक्ष ही उसके लिये रेशमी वस्त्र, लाक्षारस और आभूषण हाथ बढ़ा-बढ़ाकर देते हैं। आश्रम के ऋषि और ऋषि-पत्नियाँ उसे एक कतरन-तक भी नहीं देतीं। उसकी विदाई की आज्ञा भी महर्षि कण्व लता-वृक्षों से ही माँगते हैं। इस पर जब कोकिल की कूक सुनाई पड़ती है तब महर्षि कण्व यही कह उठते हैं-

अनुमतगमना शकुन्तला तरुभिरियं वनवास-बन्धुभिः।

(लो, कोयल की कूक के द्वारा शकुन्तला के वनवास-बन्धु इन वृक्षों ने शकुन्तला को जाने की आज्ञा दे दी है।) उसके चलते समय कोई ऋषि-पत्नी आकर उसे गले लगाकर नहीं रोती। केवल वह मृग-छौना ही उसका पल्ला मुँह से आ थामता है, जिसे शकुन्तला ने बड़े प्यार से पाला था और जिसके मुख में कुशा के काँटे गड़ जाने पर वहाँ इंगुदी (हिंणोट या मालकँगनी) का तेल लगाकर

उसने अच्छा किया था। चलते समय शकुन्तला भी वन-ज्योत्स्ना का ही आलिंगन करती है, जो उसकी बड़ी बहिन है और जिसे सींचते समय उसी की जड़ से भौरा निकल पड़ा था, जिसके पीछे दुष्यन्त छिपा बैठा था। उस वन-ज्योत्स्ना ने अपनी छोटी बहिन शकुन्तला के लिये योग्य वर प्रस्तुत करने के लिये उस भौरे को उकसा उड़ाया था, जिसके कारण दुष्यन्त वहाँ आ प्रकट हुआ था। वन-ज्योत्स्ना ने ही बड़ी बहिन होने के नाते अपनी छोटी बहिन शकुन्तला के लिये योग्य वर ढूँढ़ देने का सारा काम पूरा कर डाला था इसलिये उसने विदाई के समय वन-ज्योत्स्ना का ही आलिंगन किया। शकुन्तला के गर्भिणी होने का समाचार कण्व को किसी ऋषि या ऋषि-पत्नी ने नहीं वरन् आकाश ने अशरीरी वाणी से दिया अग्निने धुँआँ होने पर भी ठीक बीच में आहुति ग्रहण करके उसका समर्थन किया था। इस प्रकार शकुन्तला की सारी जीवन पद्धतिका संचालन प्रकृति ही कर रही थी, मनुष्य नहीं।

शकुन्तला के हाथ में जब से पृथ्वी की एक अप्राकृतिक वस्तु (दुष्यन्त की अँगूठी) आई, तभी से उत्पात खड़ा हो गया। दुष्यन्त कह गया था कि अँगूठी पर जितने अक्षर हैं उतने अर्थात् तीन दिनों के भीतर ही मैं तुम्हें बुलवा लूँगा। पर जब तीन दिन बीतने पर भी कोई न आया तब शकुन्तला चिन्तित रहने लगी। उसी चिन्तन की अवस्था में उसे दुर्वासाने शाप दे डाला। आश्रमवासियों के साथ वह हस्तिनापुर के लिये भेज दी गई।

शकुन्तला जब आश्रम से विदा होने लगती है तब वृक्ष उसे वस्त्राभरण देते हैं, मृगछौना उसका पल्ला पकड़ता है अर्थात् भू-प्रकृति ही उसके लिये सारी सामग्री जुटाती है। अब जल और जलचर क्यों पीछे रहने लगे! जिस अँगूठी के कारण शाप लगा और शकुन्तला चिन्तित रहने लगी वह अँगूठी शचीतीर्थ के जलने निकाल ली क्योंकि निसर्ग-कन्याका अपने पति से मिलन हस्तिनापुर के अनैसर्गिक वातावरण में तो नहीं होना चाहिए किन्तु दुष्यन्त को घटना का स्मरण तो दिलाना ही है इसलिये मछली उस अँगूठी को निगल जाती है और शकुन्तला के लिये आत्म-बलिदान करने वाली मछली धीवर के जाल में जा फँसती है। इस प्रकार जल और जलचर मछली ने भी शकुन्तला की सहायता कर दी।

हस्तिनापुर पहुँचने पर शकुन्तला को दुष्यन्त अस्वीकार कर देता है। अँगूठी लुप्त हो जाने से प्रमाण का एकमात्र आधार भी समाप्त हो चुका रहता है। सानुमती अप्सरा उसे मारीच कश्यप के आश्रम में उड़ा ले जाती है जहाँ देवी प्रकृतिकी गोद में ही उसके पुत्र सर्वदमन का जन्म होता है और प्रकृति की कन्या शकुन्तला का अपने प्रिय पति दुष्यन्त से मिलन भी कश्यप के दैवी प्राकृतिक वातावरण में ही सम्पन्न होता है। कालिदास की यह प्रकृति कन्या शकुन्तला पूर्णतः प्राकृतिक जीवन में ही पालित, पोषित, परिवर्धित और रक्षित होती है। प्रकृति ही उसके सब प्रकार के कल्याण में साधक होती है।

नाटक का प्रधान तत्व है कुतूहल। इस कुतूहल का निश्चित तात्पर्य है- 1. दर्शक के मन में उत्कण्ठा, यह जानने की तीव्र इच्छा जगाना कि न जाने आगे क्या होनेवाला है, 2. द्विविधा, दर्शक के मन में यह संकल्प-विकल्प और उथल-पुथल कि कहीं ऐसा न हो जाय, वैसा न हो जाय,

3. निराशापूर्ण विक्षोभ, अर्थात् यह आक्रोश कि हाय-हाय ! यह क्या हो गया, और 4. धीरे-धीरे उत्सुकता जगाते रहने वाले क्रम से फल-प्राप्ति । महाकवि कालिदास ने अभिज्ञान-शाकुन्तल में कुतूहल के ये सब तत्व बड़े कौशल से ला सजाए हैं इसीलिये यह दृश्य काव्य संसार का सर्वश्रेष्ठ नाटक माना जाता है ।

यद्यपि संसार के सभी श्रेष्ठ साहित्यकारों ने एक स्वर से अभिज्ञान-शाकुन्तल को संसार का सर्वश्रेष्ठ नाटक माना है तथापि अभिज्ञान-शाकुन्तल पर विचार करने वालों ने एक बातपर न तो ध्यान ही दिया, न संकेत ही किया कि यह कथा एक भौतिक या पार्थिव शिकारी और अपार्थिव, नैसर्गिक या अलौकिक दिव्य शिकार की कथा है । दुष्यन्त हस्तिनापुर का राजा है, उसमें राजा के सभी गुण और अवगुण विद्यमान हैं । उस समय की प्रथा के अनुसार उसके अन्तःपुर में अनेक रानियाँ थीं और वह स्वभावतः और भी विवाह कर ही सकता था । उसकी प्रवृत्ति भी कामुक जैसी थी । इसलिये वह केवल मृगों का ही आखेट नहीं करता था, सुन्दर स्त्रियों का भी आखेट किया करता था और कण्वके आश्रम में रहकर उसने यही किया भी ।

उधर शकुन्तला भी मेनका अप्सरा की पुत्री थी, इसलिये स्वभावतः वह अनिन्द्य सुन्दरी थी । जन्म के समय उसका पालन पक्षी ने किया था, जिसके कारण उसका नाम शकुन्तला पड़ गया था-

शकुन्तैः पक्षिभिरालिता पालिता या सा शकुन्तला ।

तत्पश्चात् उसका लालन-पालन महर्षि कण्व के आश्रम में मालिनी नदी के तट पर वृक्षों, लताओं, हरिणों और पक्षियों के बीच हुआ । वह पूर्ण रूप से निसर्ग-कन्या या प्रकृति की ही गोद में पलती रहने वाली प्रकृति की कन्या बनी रही । आश्रम के मृग ही उसके आत्मीय थे, वन-ज्योत्स्ना लता ही उसकी बहिन थी, वनदेवियाँ और वहाँ के सब वृक्ष ही उसके रक्षक, पोषक और सहायक थे । जब तक वह प्रकृतिकी गोद में रही और प्रकृतिकी ही सहायता पाती रही तब तक तो वह प्रसन्न रही; जहाँ भौतिक पदार्थ, मानव-निर्मित पदार्थ (अँगूठी) से या पार्थिव मनुष्य (दुष्यन्त) से उसका सम्पर्क हुआ, वहीं से उसपर विपत्ति आ घहराई ।

नाटक के आरम्भ में ही दुष्यन्त का प्रवेश इस प्रकार होता है- ततः प्रविशति मृगानुसारी शरचाप-हस्तो राजा रथेन सूतश्च ।

आश्रम के ही मृगपर शरसन्धान करता हुआ दुष्यन्त प्रवेश करता है और ज्यों ही वह बाण चलाने को होता है कि आश्रम के तपस्वी नेपथ्य से ही चिल्ला उठते हैं- 'हैं हैं राजन् (भो भो राजन् । आश्रमगृहोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः ।) यह आश्रम का मृग है, वनमृग नहीं ! इसे मत मारना, मत मारना ।' जब आश्रम का मृग इतना पवित्र था कि उसका आखेट नहीं किया जा सकता था तब आश्रमवासियों के साथ तो उसे और अधिक करुणा, कृपा, शिष्टता, सज्जनता और शुचिता का व्यवहार करना चाहिए था । वैखानस के कहने पर दुष्यन्त अपना बाण उतार लेता है और उसे आशीर्वाद भी मिल जाता है कि तुम्हें चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त हो-

सर्वथा चक्रवर्तिनं पुत्रमाप्नुहि ।

यहीं से एक संकेत दर्शकों को मिल जाता है कि दुष्यन्त को चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त होगा, किन्तु कैसे प्राप्त होगा यह कुतूहल बना ही रह जाता है। उसी समय वैखानस कहता है कि 'हम लोग तो समिधा लेने चले जा रहे हैं, यह सामने मालिनी के तीर पर कुलपति कण्व का आश्रम है, वहाँ जाकर आप अतिथि-सत्कार प्राप्त कीजिए।' जब दुष्यन्त पूछता है कि क्या कुलपति कण्व यहाँ हैं, तब वह वैखानस कहता है- 'अतिथि सत्कार का भार अपनी पुत्री शकुन्तला को सौंपकर उसके छोटे ग्रहों की शान्ति के लिये वे सोमतीर्थ (प्रमास पिण्डपुरी के पास क्षेत्र में, काठियावाड़) चले गए हैं।' कालिदास ने संकेत कर दिया है कि कण्व दूर चले गए हैं, शीघ्र नहीं लौटने वाले हैं, शकुन्तला पर दुष्ट ग्रहों का कोई प्रकोप है जिसके कारण उस पर विपत्ति आ सकती है और अतिथि-सत्कार शकुन्तला ही कर रही है। यहीं से दुष्यन्त के मन में खोट उत्पन्न हो जाती है और वह अपने सारथि से कहता है- 'ये मेरे राजसी वस्त्र और आभरण सँभालो क्योंकि आश्रम में सीधे-सादे वेश में ही जाना चाहिए।' आश्रम में प्रवेश करते ही उसका शुभ-सूचक दाहिना बाहु फड़कने लगता है। इतने में उसे शकुन्तला का स्वर सुनाई पड़ जाता है- 'अरी सखियो ! इधर आओ, इधर आओ।'।

दुष्यन्त शिकारी है। जैसे शिकारी अपने आखेट-स्थान में छिपकर शिकार की गतिविधि देखता है, उसके आकार-प्रकार और उसकी गतिविधि समझाता है और अवसर देखकर उस पर बाण चला देता है, वैसे ही दुष्यन्त भी छिपकर शकुन्तला की गतिविधि और उसका रूप-लावण्य देखने लगता है। चाहिए तो यह था कि दुष्यन्त सीधे तपोवन में जाकर अपना परिचय देकर आतिथ्य ग्रहण करता तथा वैखानस के कथनानुसार यह देखता कि ऋषि लोग निर्विघ्न होकर कैसे अपनी क्रियाएँ किए जा रहे हैं, किन्तु यह न करके वह छिपकर कन्याओं को देखकर कह उठता है- 'आ हा! ये तो बड़ी सलोनी, सुहावनी दिखाई पड़ रही हैं। इन्होंने तो रनिवास की रानियों की सुन्दरता को भी लजा डाला है। तो मैं यही ओट में खड़ा हो रहता हूँ।' वह छिपकर शकुन्तला को और उसकी सखियों को देखने और उनकी बातें सुनने लगता है। अनसूया कहती है- 'अरी शकुन्तला ! मैं समझती हूँ कि पिता कण्व इस आश्रम के पौधों को तुझसे अधिक प्यार करते हैं, नहीं तो भला तुझ चमेली की कली-जैसी कोमल अंगवाली को थाँवले भरने का काम क्यों सौंप जाते?' इससे यह सिद्ध हो गया कि शकुन्तला कोमल अंगवाली है। इस पर शकुन्तला कह उठती है- 'मैं केवल पिता जी की आज्ञा से ही इन्हें नहीं सींचे जा रही हूँ, मैं तो स्वयं इन्हें अपने सगे भाई-बहिन जैसा प्यार करती हूँ।' -अस्ति मे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु।

दुष्यन्त को परिचय मिल जाता है कि यही कण्व की पुत्री शकुन्तला है और वह कह उठता है कि कण्वका यह काम ठीक नहीं है कि इसे आश्रम के काम में जोत लगाया। उसी समय शकुन्तला अपनी सखी अनसूया से कहती है- 'अरी अनसूया ! इस प्रियंवदाने यह वल्कल ऐसा कसकर बाँध दिया है कि मैं हिल-डुल तक नहीं पा रही हूँ। आ इसे ढीला तो कर दे।' अनसूया उसके स्तनों पर बँधे हुए वल्कल को ढीला कर देती है। पर प्रियंवदा बोली कसते हुए कहती है- 'मुझे क्या उलाहना दिए डाल रही हो? अपनी उस चढ़ती जवानी को क्यों नहीं उलाहना देती जो तुम्हारी छाती को

इतना उभारे चली जा रही है।' यह कहलाकर कालिदास ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि शकुन्तला पूर्ण युवती हो गई है। इतने में पवन के झोंकों से हिलती हुई केसर के वृक्ष की पत्तियों को देखकर शकुन्तला कह उठती है- 'यह केसर (मौलसिरी) का वृक्ष वायु से हिलाई हुई अपनी पत्तियों की उँगलियों से मुझे बुलाए ले रहा है। चलूँ इसका भी मन रख लूँ।' क्योंकि शकुन्तला तो उन्हें अपना सहोदर ही समझती है। वायु भी उसके लिये वातावरण तैयार कर देता है। जैसे ही वह केसर के वृक्ष के साथ खड़ी होती है, तभी दुष्यन्त उस पर रीझ उठता है। प्रियंवदा कहती है कि जब तू पेड़ से लगकर खड़ी होती है तब यह केसर का वृक्ष ऐसा लगता है जैसे उसके साथ कोई लता चढ़ लिपटी हो। दुष्यन्त भी कह उठता है-

अधरः किसलयरागः कोमलविटपातुकारिणौ बाहू।

कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्।।

कालिदास ने यह कहलाकर व्यञ्जना की है कि शकुन्तला सब प्रकार से विवाह-योग्य हो गई है। और अब इसे वर मिलना ही चाहिए। इतने में अनसूया स्मरण दिलाती है कि 'तू इस वन-ज्योत्स्ना को तो छोड़े ही जा रही है, जिसने आम के वृक्ष से स्वयं वर कर लिया है और आम के वृक्ष से जा लिपटी है।' इस पर शकुन्तला भी कहती है- 'वाह! इसे भूलूँगी तब तो मैं अपने को ही भूल जाऊँगी। इन दोनों का ऐसे अच्छे समय में मेल हुआ है कि इधर वन-ज्योत्स्ना तो अपने फूलों से लदकर नवयुवती हो उठी है और उधर फूलों से लदा हुआ आम का वृक्ष भी उभार पर आ चुका है।' इस पर प्रियंवदा कहती है- 'जानती हो अनसूया ! शकुन्तला इतनी मगन होकर वन-ज्योत्स्ना को क्यों देखे जा रही है ? इसीलिये कि जैसे यह वन-ज्योत्स्ना अपने योग्य साथी सहकार के वृक्ष से जा लिपटी है वैसे ही मुझे भी मेरे योग्य वर मिल जाय।' इस पर तो दुष्यन्त उसपर और भी रीझ उठता है और वह अपने मन को यही कह कर पुष्ट कर लेता है-

सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणनन्तःकरणप्रवृत्तयः।

फिर भी वह उसे भली प्रकार जानने के लिये उत्सुक हुआ ही रहता है कि यह जब ऋषिकी पुत्री नहीं है तब है किसकी ? इतने में उसी वन-ज्योत्स्ना के थाँवले से एक भौंरा उड़कर शकुन्तला पर आ मँडराता है और रक्षा के लिये पुकारने पर अनसूया और प्रियंवदा दोनों कह उठती हैं कि 'रक्षा के लिये राजा दुष्यन्तको क्यों नहीं पुकार लेती ?' दुष्यन्त भी देखता है कि शिकार फाँसने का यह ठीक दाँव है। वह तत्काल वहाँ प्रकट होकर कह उठता है कि 'दुष्यन्त के राज्य करते हुए कौन भोली-भाली बालिकाओं से छेड़छाड़ करने का साहस कर रहा है ?' दुष्यन्त को चाहिए था कि वह सज्जन के समान अपना परिचय देता। किन्तु वह एकपर एक असत्य बोलता चला जाता है। परिचय पूछने पर वह कहता है कि 'मुझे राजा दुष्यन्त ने अपने राज्य की धार्मिक क्रियाओं की देखभाल का काम सौंप रक्खा है, इसीलिये मैं यहाँ आया हूँ।' तभी दुष्यन्त के पूछने पर अनसूया बता देती है कि विश्वामित्र से मेनका द्वारा इसका जन्म हुआ है। इस पर दुष्यन्त मन ही मन सोचने लगता है कि 'मेरे मन को कुछ सहारा तो मिला। यह शिकार फँसाया जा सकता है।' और उसी प्रसंग में प्रियंवदा बता भी देती है कि यदि इसके योग्य वर मिले तो पिता कण्व इसका विवाह भी

कर देंगे। फिर जब शकुन्तला वहाँ से जाने को तैयार होती है तब प्रियंवदा कहती है कि 'अभी तुम्हें दो पौधे और सींचने हैं, इनका ऋण चुका देना तभी जाना।' इसपर दुष्यन्त अपनी अँगूठी निकालकर उन्हें देते हुए कहता है- 'लीजिए, ऋण मैं ही चुकाए देता हूँ।' उसपर दुष्यन्त का नाम देखकर अनसूया और प्रियंवदा एक दूसरी की ओर देखने लगती हैं, तब दुष्यन्त फिर असत्य बोलता है कि 'यह अँगूठी मुझे पुरस्कार में मिली है, मुझे राजपुरुष ही समझिए।' इतने में ही नेपथ्य में सुनाई देता है-

भो भोस्तपस्विनः सन्निहितास्तपोवनसत्त्वरक्षायै भवत ।

प्रत्यासन्नः किल मृगयाविहारी पार्थिवो दुष्यन्तः ।

'हे तपस्वियो! जाकर तपोवन के प्राणियों को बचाओ। मृगयाविहारी, आखेट करने वाला राजा दुष्यन्त पास आ पहुँचा है।' इसमें स्पष्ट रूप से संकेत कर दिया है कि 'दुष्यन्त शिकारी है और वह केवल हरिणों का ही नहीं, आश्रम के प्राणियों का भी आखेट करने आ पहुँचा है।' शकुन्तला भी तो आश्रम का ही प्राणी है। यहीं प्रथम अंक समाप्त हो जाता है। राजा दुष्यन्त जब आश्रम में ही शिकारी के रूप में प्रवेश करता है, उसे तभी सावधान कर दिया जाता है कि आश्रम के मृग को मत मारना। किन्तु वह तो शिकारी है। वह मृग को छोड़ कर अलौकिक, अपार्थिव शकुन्तला का ही आखेट करने पर तुल गया है। इसलिये कालिदास ने प्रथम अंक के अन्त में भी तपस्वियों द्वारा सावधान करा दिया है कि 'इस पार्थिव राजा दुष्यन्त से आश्रम के प्राणियों को बचाए रखो।'

प्रथम अंक में ही कालिदास ने बता दिया कि दुष्यन्त अत्यन्त कामी, दुर्वृत्त (बुरी नीयतवाला) कपटी, कुटिल और मिथ्यावादी है। वह शकुन्तला पर रीझ उठा था और शकुन्तला उसपर रीझ गई थी। दुष्यन्त को तपस्वियों ने सावधान भी कर दिया था पर उसने सब सुनी अनसुनी कर दी। वह शिकार फाँसने की तैयारी में लग गया। तपस्वियों ने यहाँ दुष्यन्त को राजा नहीं, वरन् 'मृगयाविहारी पार्थिव' कहा है। इतने पर भी दुष्यन्त नहीं समझ पाया कि यह संकेत मुझपर ही है। मुझे आश्रम में आकर ऐसा दुराचरण नहीं करना चाहिए।

दूसरे अंक में दुष्यन्त अपने मित्र विदूषक से शकुन्तला के रूप की प्रशंसा करता हुआ आश्रम में जाने का उपाय पूछता ही है कि इतने में ऋषि कुमार आकर दुष्यन्त से यज्ञ की रक्षा के लिये रुकने का अनुरोध करने लगते हैं। इसी बीच राजधानी हस्तिनापुर से दूत आकर दुष्यन्त को समाचार देता है कि आपकी माताजी ने व्रत के पारण के लिये आपको राजधानी में बुलाया है। किन्तु दुष्यन्त कपट के साथ तीसरा झूठ बोलकर सेना सहित विदूषक को ही भेज देता है कि मैं तो आश्रम की रक्षा के लिये यहाँ रुका जा रहा हूँ, तुम्हीं चले जाओ। जब उसकी माताजी ने उसे बुलाया था तब उसका कर्तव्य था कि अपनी माताजी के व्रत के समय वहाँ उपस्थित रहता, किन्तु वह माताजी की आज्ञा की भी अवहेलना करता हुआ कर्तव्य की भी उपेक्षा करता है और आश्रम की रक्षाका बहाना लेकर रुक जाता है। अतः, वह कर्तव्य की भी उपेक्षा करता है और आश्रम की रक्षा का बहाना लेकर रुक जाता है। अतः, वह कर्तव्यहीन, कपटी और ढोंगी है। विदूषक को भेजते हुए वह फिर असत्य बोलता है-

परिहासविजल्पितं सखे परमार्थेन न गृह्यतां वचः ।

(मित्र ! शकुन्तला के विषय में जो कुछ मैंने कहा है वह सब हँसी में कहा था, उसे सत्य मत समझ बैठना ।) उसे भय था कि कहीं यह चपल विदूषक रनिवास में एक की दस जोड़कर, शकुन्तला के प्रेम की कथा नमक मिर्च लगाकर कहकर बखेड़ा न खड़ा कर दे । किन्तु यह कहलाकर कालिदास ने शकुन्तला के सम्बन्ध का एक साक्ष्य ही समाप्त कर दिया क्योंकि आगे पंचम अंक में जब शकुन्तला का प्रत्याख्यान होता है तब विदूषक उस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहता और अँगूठी मिल जाने पर पूछने पर कह भी देता है कि 'आपने ही तो कहा था कि वह हँसी की बात थी, उसे सत्य मत समझ बैठना, तो मैं सचमुच उसे हँसी की बात समझ बैठा ।'

तृतीय अंक में दुष्यन्त के विरह में शकुन्तला को व्याकुल देखकर सखियाँ उसे पत्र लिखने को प्रेरित करती हैं और वह प्राकृतिक पदार्थों से अर्थात् कमल के पत्ते पर अपने नख से मदन लेख (प्रेम-पत्र) के रूप में एक पद्य लिख देती है । शकुन्तला में काव्य-प्रतिभा भी है, वह पढ़ी-लिखी विदुषी है । उसी समय दुष्यन्त वहाँ आ पहुँचता है, सखियाँ बहाना बनाकर सरक जाती हैं, दुष्यन्त और शकुन्तला में प्रेमालाप होने लगता है । इतने में गौतमी को उधर आते देखकर सखियाँ चिल्ला उठती हैं- 'अरी चकवी ! अब चकवेको विदा कर दे, रात आ चली है ।' बड़े कौशल से कालिदास ने संकेत कराया है कि दुष्यन्त को विदा कर दो, गौतमी आ रही है । गौतमी के आने पर जब शकुन्तला उसके साथ चलने को होती है तब कुंज के बहाने वह दुष्यन्त को सम्बोधित करती हुई कहती है- 'मैं कल फिर इसी समय आऊँगी ।' यह संकेत कालिदास ने कुंज के बहाने दुष्यन्त को ही दिला दिया है कि तुम कल फिर इसी समय आ जाना, मैं आई रहूँगी ।

अगले चतुर्थ अंक में प्रियंवदा और अनसूया दोनों पुष्प-चयन कर रही हैं, इतने में दुर्वासा का शाप सुनाई पड़ता है-

‘अरे अतिथि का ध्यान न रखनेवाली शकुन्तला ! तू जिस (दुष्यन्त) के ध्यान में मग्न हुई बैठी है वह स्मरण दिलाने पर भी तुझे वैसे ही स्मरण नहीं करेगा जैसे कोई पागल अपने पहले किए हुए काम को स्मरण नहीं कर पाता है ।’

यह सुनते ही प्रियंवदा दौड़कर जैसे-तैसे दुर्वासाको मना लेती है और दुर्वासा यह कहकर अन्तर्धान हो जाते हैं कि ‘कोई पहचान का (अभिज्ञान का) आभूषण दिखाने पर शाप नहीं रहेगा ।’

यहाँ व्याकुल दर्शकों को सान्त्वना मिल जाती है कि शकुन्तला के पास दुष्यन्त की अँगूठी तो है ही, अब कोई बाधा नहीं । किन्तु नाटक का कुतूहल बनाए रखने के लिये कालिदास झट एक बाधा ला खड़ी करते हैं । वे सखियाँ तो शाप दूर करने का उपाय जान जाती हैं, किन्तु वे शकुन्तला को नहीं बताती और कहती हैं-

को नामोष्णोदकेन नवमालिकां सिंचति ।

(भला नई मल्लिका के पौधे को कहीं कोई गरम जल से सींचा करता है?) अर्थात् शकुन्तला को यह शाप का समाचार दे दिया जायगा तो वह वैसे ही ‘घबरा उठेगी जैसे गरम जल से सींचने

पर नवमालिका मुरझा जाती है।' नाटकीय कुतूहल के निर्वाह के लिये दुष्यन्त और शकुन्तला के मिलन का यह दूसरा साक्ष्य भी समाप्त कर दिया जाता है। यहाँ तक कि जब शकुन्तला विदा होकर चलने लगती है तब भी सखियाँ शाप की बात न बताकर उससे इतना ही कहती हैं कि 'यदि राजा तुम्हें पहचानने में हिचकिचाने लगे तो तुम उसके नामवाली यह अँगूठी उसे निकाल दिखाना।' शकुन्तला को खटका तो होता है, पर वह चल देती है।

पाँचवे अंक में कण्व के शिष्य जब शकुन्तला को दुष्यन्त के सम्मुख लाते हैं तब वह उसे न पहचानता है न स्वीकार करता है। बहुत प्रमाण देने पर वह उसकी खिल्ली उड़ाने लगता है और स्त्रियों पर छली होने का आरोप लगाने लगता है। शकुन्तला कमल के पते में मृगछौने को जल पिलाने की घटना का स्मरण भी दिलाती है पर दुष्यन्त उसे भी नहीं मानता। जब वह अँगूठी दिखाने को निकालने चलती है तब अँगूठी मिलती नहीं। वह अँगूठी अप्राकृतिक थी, इसीलिये शचीतीर्थ में निकल गई, उसी के कारण शाप मिला, उसी के कारण प्रत्याख्यान हुआ। कण्व के शिष्य उसे वहीं छोड़कर चल देते हैं। उस समय दुष्यन्त के मन की व्याकुलतापूर्ण दुविधा देखकर उसका पुरोहित प्रस्ताव करता है कि यदि मेरे यहाँ रहकर इसे चक्रवर्ती के लक्षणों वाला पुत्र उत्पन्न हो जाय तब आप इसे ग्रहण कर लीजिएगा। किन्तु पुरोहित के साथ बाहर जाते ही सानुमती अप्सरा शकुन्तला को उड़ा ले जाती है। कहाँ ले जाती है, इसका कोई संकेत कवि नहीं देता। दर्शकों पर इस चामत्कारिक कुतूहल से अत्यन्त निराशापूर्ण विक्षोभ हो उठता है- 'हाय-हाय ! यह क्या हो गया?'

छठे अंक में मछली चीरने पर उसके पेट से निकली हुई अँगूठी बेचने गए हुए धीवर को राजा की अँगूठी चुराने के अपराध में पकड़ लिया जाता है। जब वह अँगूठी दुष्यन्त को मिलती है तब वह धीवर को पुरस्कार देकर छोड़ देता है और उसे शकुन्तला के प्रेम की सारी घटना स्मरण हो आती है। राज्य के सारे उत्सव बन्द करा दिए जाते हैं। वह माधवी मंडप में बैठकर शकुन्तला का चित्र बनाने लगता है। वह विदूषक से पूछता है कि शकुन्तला के आने पर तुमने क्यों नहीं बता दिया था, इसपर वह कहता है कि आपने ही तो शकुन्तला की बात को हँसी कहा था। मैं ऐसा मिट्टी का माधो निकला कि आपकी बात को सत्य समझ बैठा। इसी बीच किसी सेठ के दिवंगत होने की बात सुनकर, दुष्यन्त परम सद्वृत्त हो जाता है और कहता है कि जिसका जो सम्बन्धी न रहे वह मुझे ही वही सम्बन्धी मान ले। दुष्यन्त की सात्त्विक वृत्ति जाग उठती है, प्रायश्चित्त प्रारम्भ हो जाता है। उसका पश्चाताप देखकर शकुन्तला को यह समाचार देने के लिये सानुमती उड़ जाती है। इतने में मादव्य चिल्ला उठता है- 'बचाओ बचाओ, कोई मेरा गला मरोड़े डाल रहा है।' ज्यों ही दुष्यन्त उसे बचाने आता है कि मातलि आकर उसे इन्द्रका निमन्त्रण देता है कि 'दुर्जय नामक दानवको मारने के लिये चले चलिए, भगवान् इन्द्र ने आपको बुलाया है।' जब दुष्यन्त पूछता है कि तुमने मादव्यका गला क्यों आ ऐंठा ? तब वह कहता है कि आप शोक की अवस्था में थे, आपके मन में क्रोध जगाने के लिये ही मैंने ऐसा किया था क्योंकि शोक की अवस्था में युद्ध नहीं किया जा सकता, क्रोध की अवस्था में ही युद्ध करना सम्भव होता है।

सातवाँ अंक कालिदास की नाट्यकला के कौशल की पराकाष्ठा है। अत्यन्त मनोवैज्ञानिक, कुतूहलजनक अद्भुत और दर्शकों के मन में द्विविधा की उथल-पुथल और धुकधुकी मचाने वाले क्रम से मारीच कश्यप के आश्रम में दुष्यन्त और सपुत्र शकुन्तला का मिलन कराया जाता है, जिसकी न कोई सम्भावना है न प्रत्याशा। मारीच के आश्रम में पहुँचकर मातलि, अशोक के वृक्ष के नीचे दुष्यन्त को बैठाकर मारीच कश्यप के दर्शन के लिये चला जाता है। अशोक (शोक-हरण) के वृक्ष के नीचे सहसा दुष्यन्त की दाहिनी भुजा फड़क उठती है, जो भावी मंगल और कल्याण की सूचना देती है। इतने में दुष्यन्त देखता है कि एक बालक सिंह के बच्चे का मुँह खोलकर कहता है-

जृम्भस्व, तावदन्तान्ते गणयिष्यामि।

‘खोल मुँह ! मैं तेरे दाँत गिर्नूँगा।’ उसे देखकर दुष्यन्त को उसके प्रति पुत्र-जैसा स्नेह जाग उठता है। उस बालक के साथ की एक तपस्विनी उस बालक से कहती है- ‘इस सिंह के बच्चे को छोड़ दे, मैं तुझे खिलौना लाए देती हूँ।’ जब वह बालक खिलौना माँगने के लिये हाथ फैलाता है तब दुष्यन्त को उसके हाथ में चक्रवर्ती के लक्षण दिखाई दे जाते हैं। इसी बीच दूसरी तपस्विनी आश्रम से मार्कण्डेय नामक बालक का खिलौना लेने चली जाती है और पहली तपस्विनी राजा से कहती है कि सिंह को इस बालक से तो छुड़ा दीजिए। जब राजा उस बालक को ऋषिकुमार कहकर सम्बोधन करता है, तब तपस्विनी कहती है- ‘यह ऋषिकुमार नहीं है।’ और साथ ही यह भी कह उठती है ‘ओ हो ! आप दोनों का रूप तो बहुत मिलता-जुलता है।’ जब दुष्यन्त उस तपस्विनी से पूछता है कि यहाँ तो कोई मनुष्य आ नहीं सकता फिर यह कैसे आ गया। तब वह बताती है कि इसकी माता एक अप्सरा की कन्या है इसीलिये यहाँ इसका जन्म हुआ है। इस प्रसंग में भी अप्सरा का नाम नहीं बताया जाता क्योंकि दुष्यन्त को प्रथम अंक में ही बता दिया गया था कि शकुन्तला तो मेनका अप्सरा की कन्या है। यदि यहाँ मेनका का नाम बता दिया जाता तो सारा कुतूहल ही समाप्त हो जाता। जब दुष्यन्त पूछता है कि वह किस राजर्षि की पत्नी है, तब वह तपस्विनी कहती है कि जो व्यक्ति अपनी धर्मपत्नी को छोड़ दे उस पापी का नाम नहीं लेना चाहिए। कोई दूसरा अनाड़ी नाटककार होता तो यहाँ नाम खोलकर सारा गुड़ गोबर कर डालता। किन्तु कालिदास ने कुतूहल बनाए रखने के लिये यहाँ भी दुष्यन्त का नाम नहीं खोला। दुष्यन्त उस तपस्विनी से बालक का नाम पूछने को ही होता है कि इतने में दूसरी तपस्विनी खिलौने का मोर लिए चली आती है और कहती है- ‘सउदलावण्णं पस्स,’ जिसके दो अर्थ होते हैं- शकुन्तलावण्य पश्य (पक्षी की सुन्दरता देखो) और शकुन्तलावर्णपश्य (शकुन्तला का रूप देखो)। बालक इस दूसरे अर्थ को ग्रहण करके पूछता है- ‘कहाँ है मेरी माता?’ अब दुष्यन्त कुछ-कुछ समझ पाता है कि इसकी माता का नाम शकुन्तला है। पर शकुन्तला तो किसी का भी नाम हो सकता है और फिर यहाँ वह शकुन्तला आ भी कैसे जायगी। इतने में बालक के हाथ से उसका रक्षा-सूत्र खिसक गिरता है। दुष्यन्त जैसे ही उसे उठाने बढ़ता ही है कि दोनों तपस्विनियाँ चिल्ला उठती हैं- ‘हैं, हैं यह अपराजिता नाम की जड़ी का सूत्र महर्षि कश्यप ने इसे पहनाया है। इसके माता-पिता के

अतिरिक्त जो इसे उठाता है, उसे यह सर्प बनकर डस लेता है।' पर दुष्यन्त तो इतने में उसे उठा ही लेता है। यह देखकर वे दोनों तपस्विनियों शकुन्तला को सूचना देने दौड़ जाती हैं। अब दुष्यन्त को विश्वास हो जाता है कि यह मेरा ही पुत्र है। दुष्यन्त जब उस बालक को गोद में उठा लेता है तब वह कह उठता है- 'छोड़ो, छोड़ो ! हम अपनी माता के पास जायेंगे।' दुष्यन्त कहता है- 'बेटा ! मेरे ही साथ चलकर अपनी माता को आनन्द देना।' 'बेटा' शब्द सुनकर बालक कह उठता है- 'तुम नहीं, दुष्यन्त मेरे पिता हैं।' इतनी देर में, इतनी घटनाओं के पश्चात्, इतना कुतूहल उत्पन्न करके दुष्यन्त को विश्वास होने लगता है कि यह मेरा ही पुत्र है और तभी एकवेणीधरा शकुन्तला का आगमन होता है और उस दैवी आश्रम के पूर्णतः प्राकृतिक और आध्यात्मिक वातावरण में उन तीनों का मिलन होता है और इस मिलन का आधार भी सिंह का शावक ही होता है। न वह बालक सिंह-शावक का मुँह खोलता, न उसके विषय में बात चलती, न सपुत्र शकुन्तला से मिलन हो पाता। प्रकृति का दूत सिंह-शावक ही यहाँ भी सहायक हुआ। ऐसी निसर्ग-कन्या शकुन्तला और उसके पुत्र का दुष्यन्त से मिलन पार्थिव वातावरण वाले हस्तिनापुर में भला कैसे हो पा सकता था?

कालिदास के नाट्य-कौशल का सबसे बड़ा चमत्कार तो यह है कि जहाँ शकुन्तला के होने की कोई कल्पना भी नहीं कर सकता, उस महर्षि कश्यप के आश्रम में दुष्यन्त से शकुन्तला का मिलन ले जा कराया।

कालिदास की यह दृढ़ मान्यता थी कि मर्यादा का उल्लंघन करने वाले को प्रायश्चित्तरूपी तप किए बिना इच्छित फल नहीं प्राप्त हो सकता। दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों को ही वियोग का मानसिक कष्ट उठाकर उस दोष का प्रायश्चित्त करना पड़ा। प्रायश्चित्त कर चुकने पर ही उनका मिलन हो पाया। और फिर वह मिलन भी दैवी वातावरण में हुआ। महर्षि कण्व ने उन्हें भले ही क्षमा कर दिया हो किन्तु ऋततत्त्व ने उन्हें क्षमा नहीं किया और उन्हें प्रायश्चित्त करना ही पड़ा।

इस प्रकार पृथ्वी ने तो अपनी समस्त विभूति-लता, भ्रमर, वृक्ष, मृग, पक्षी, कमल-पत्र आदि के द्वारा शकुन्तला का पालन-पोषण, संरक्षण और वस्त्राभूषण-दान किया ही, वायु ने भी लता की पत्तियाँ हिलाकर (वातेरितपल्लवांगुलीभिः) शकुन्तला को उसी लता के पास आने को प्रेरित किया जिसकी ओट में उसका भावी पति दुष्यन्त छिपा बैठा था। शची तीर्थ के जलने उसकी मुद्रिका लेकर हस्तिनापुर के राजसी वैभव के बीच पति से उसके मिलन में बाधा खड़ी कर दी जिससे उसका पति-मिलन नैसर्गिक वातावरण में ही हो। वह क्यों जाय दुष्यन्त के पास ? दुष्यन्त को उसके पास आना होगा। इतना ही नहीं, उसी जल में रहने वाली मछली ने अँगूठी निगलकर, स्वयं को मछुए के हाथ पकड़वाकर और अपना पेट चिरवाकर, शकुन्तला के लिये अपना बलिदान करके दुष्यन्त के हाथ में अँगूठी भेज पहुँचवाने में सहायता कि जिससे दुष्यन्त को स्मरण तो हो आवे कि हाँ, मैंने शकुन्तला से गान्धर्व विवाह किया था और उसे पश्चात्ताप भी हो कि उसका प्रत्याख्यान करके मैंने बड़ा भारी पाप किया है। इस प्रकार उस जलचर ने दुष्यन्त को उसके अपराध का दण्ड भी दे डाला। आकाश ने अशरीरी वाणी से कण्व को सूचना दे दी कि दुष्यन्त से शकुन्तलता का गान्धर्व विवाह हो गया है और वह गर्भिणी है। यज्ञ की अग्निने बहुत धुँआँ होते हुए भी ठीक मध्य में

आहुति ग्रहण करके उसका समर्थन कर दिया। इस प्रकार पृथ्वी, वायु, जल, आकाश और अग्नि, सबने निसर्ग-कन्या शकुन्तला की सहायता की।

जहाँ तक मनुष्यों का प्रश्न है किसी ने उसके साथ सहयोग नहीं किया। दुष्यन्त ने उसे धोखा दिया कि तीन दिन में बुलवा लूंगा पर सुधि तक नहीं ली, दुर्वासा ने शाप ही दे डाला, शार्ङ्गरव उसे डाँटता-फटकारता ही रहा, गौतमी उसे दुष्यन्त के पास छोड़कर ही चली आई, किसी ऋषि या ऋषि-पत्नी ने उसके साथ कोई सहानुभूति नहीं दिखाई, यहाँ तक कि जिन महर्षि कण्व ने उसका लालन-पालन किया था उन्होंने भी उसे हस्तिनापुर भेजकर उसकी कोई सुधि नहीं ली कि वह जीवित है या स्वर्गत हो गई। राज पुरोहित ने उसे पुत्र-जन्म होने तक अपने यहाँ रखने का प्रस्ताव किया भी किन्तु निसर्ग-कन्या उसके यहाँ भला कैसे रहने दी जा सकती थी ? उसे सानुमती अप्सरा उड़ा ले गई। मनुष्य-निर्मित एकमात्र अँगूठी क्या उसकी उँगली में आई कि उसने सारा बखेड़ा ला खड़ा किया और उसका जीवन ही दूभर कर दिया। उसके मिलने पर दुष्यन्त को केवल शकुन्तला का स्मरण-मात्र ही हुआ। उनके मिलन का कारण तो मारीच के आश्रम का सिंह-शावक ही बना। पार्थिव शिकारी दुष्यन्त ने अपार्थिव शकुन्तला का शिकार तो कर लिया पर वह उसे मिल तभी पाई जब उसने प्रायश्चित्त कर लिया। क्या किसी ने इस दृष्टि से अभिज्ञानशाकुन्तल के विचित्र अप्रतिम रचना-कौशल पर विचार किया है ?

इस सम्पूर्ण कथानक में सबसे विचित्र बात यह है कि न तो महाभारत में, न पद्मपुराण में और न अभिज्ञान-शाकुन्तल में ही कहीं यह कहा गया कि शकुन्तला ने गंगा कहाँ से पार की, क्योंकि मालिनी नदी के तटपर स्थित कण्व के आश्रम और हस्तिनापुर के बीच गंगा जी पड़ती हैं। क्या यह कथा भगीरथ से पहले की है, अर्थात् गंगावतरण से पहले की है ?

कविवर श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने श्री दिनेशचन्द्र सेन की प्रसिद्ध पुस्तक 'रामायणी-कथा' की भूमिका में लिखा है कि वाल्मीकि ने उर्मिला की, बाणभट्ट ने पत्रलेखा की और कालिदास ने अनसूया प्रियंवदा की बड़ी उपेक्षा की, वे उन्हें दुबारा नहीं लाए। किन्तु नाटककार होते हुए भी उन्होंने यह ध्यान नहीं दिया कि नाटक में कोई पात्र तभी तक बना रहने दिया जाता है जब तक कथा निर्वाह के लिये उसकी आवश्यकता हो। अनावश्यक और असंगत रूप से किसी पात्र को प्रविष्ट कराते रहना तो नाट्य-दोष हो जाता है। फिर शकुन्तला ने जब विदा होते समय अपने साथ सखियों को भेजने के लिये कहा तभी कण्व ने कह दिया था- 'इमेऽपि प्रदेये' (इनका भी विवाह करना है)। अतः, वे भी अपनी-अपनी ससुराल चली गई होंगी। उन्हें फिर नाटक में-लाने का क्या तुक था? हाँ, यदि उपेक्षा हुई तो कण्व की हुई जिन्होंने शकुन्तला के प्रत्याख्यान का समाचार पाकर भी उसकी कोई खोज-खबर न ली।

अब आपको पूर्ण विश्वास हो गया होगा कि महाकवि कालिदास निश्चय ही सिद्ध नाटककार थे जिनकी नाट्य-प्रतिभा का सर्वाधिक चमत्कार अभिज्ञान-शाकुन्तल है।

सञ्चयन

पंचम संस्करण का संपादकीय निवेदन

भूमिका

प्रथम खण्ड (काव्य)

रघुवंशम्	1-182
कुमारसम्भवम्	183-316
मेघदूतम्	317-344
ऋतुसंहारम्	345-370

द्वितीय खण्ड (नाटक)

अभिज्ञान-शाकुन्तलम्	1-136
विक्रमोर्वशीयम्	137-236
मालविकाग्निमित्रम्	237-329

तृतीय खण्ड (समीक्षा-निबन्ध)

विक्रमादित्य - स्व० डा० राजबली पाण्डेय	1-10
विक्रम और उनके नवरत्न - स्व० पंडित ईशदत्त शास्त्री "श्रीश"	11-16
कालिदास के ग्रन्थों की उपादेयता - पं० सीताराम जयराम जोशी	17-26
कालिदास के शब्द-प्रयोग - पं० अम्बिका प्रसाद उपाध्याय	27-30
कालिदास के कवित्व की पूर्णता - स्व० श्री गो० दामोदर लालजी	31-33
कालिदास की सूक्तियाँ - स्व० डा० अमरनाथ झा	34-37
कालिदास का सन्देश - पं० बलदेव उपाध्याय	38-43
कालिदास और प्रकृति - पं० करुणापति त्रिपाठी	44-42
निसर्ग कन्या शकुन्तला - डा० बेलवेल्कर	43-64
योगवाशिष्ठ में मेघदूत - स्व० डा० भीखनलाल आत्रेय	65-67
मेघदूत की रसवत्ता - आचार्य सीताराम चतुर्वेदी	68-87
मेघदूत का एक अध्ययन - शिव का स्वरूप - स्व० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल	88-100
महाकवि कालिदास की उपमाओं का मनोवैज्ञानिक अध्ययन - डा० पी० के० गोडे	101-112
कालिदास की छन्दोयोजना - श्री पं० रामगोविन्द शुक्ल	113-120
अभिधान-कोष - (कालिदास के काव्यों में आए हुए व्यक्तियों, जीवों, वस्तुओं और स्थानों का परिचय) पं० सीताराम चतुर्वेदी	121-178
कालिदास-संबंधी ग्रन्थों, लेखों तथा पत्रों की सारणी - डा० रामकुमार चौबे	179-184
कालिदास काव्य-कालीन भारत का मानचित्र	185

प्रथमं खण्डम्
महाकविश्रीकालिदासस्य काव्यानि

पहला खण्ड
[महाकवि श्री कालिदास के काव्य]

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ।।
सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता विराजते ।
सदश्वदमकस्येव काम्बोजतुरगाङ्गना

रघुवंशम्

॥ प्रथमः सर्गः ॥

वा^१ग्ध्यावि^२व संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये । जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरी ॥ १ ॥
क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः । तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥ २ ॥
मन्दः कवियशः प्रार्थीगमिष्याम्युपहास्यताम् । प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्धाहुरिव वामनः ॥ ३ ॥
अथवा कृतवाग्द्वारे वंशोऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः । मणौ वज्रसमुत्कीर्णं सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥ ४ ॥
सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् । आसमुद्रक्षितीशानामानाक रथवर्त्मनाम् ॥ ५ ॥
यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम् । यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ॥ ६ ॥

पहला सर्ग

(वाणी और अर्थ दोनों, जैसे अलग कहलाते हुए भी एक ही हैं, वैसे ही पार्वती और शिव भी कहने को तो दो हैं, पर हैं वे सचमुच एक ही। इसलिये) वाणी और अर्थपर अधिकार करने के लिये (उनको ठीक समझने और उनका ठीक व्यवहार करने के लिए), संसार की माता पार्वती और पिता शिव को मैं प्रणाम करता हूँ जो शब्द और अर्थ के समान परस्पर मिले हुए एक ही हैं ॥ १ ॥ (मैं रघुवंश का वर्णन करने तो चला हूँ पर मैं देख रहा हूँ कि) कहाँ तो सूर्य से उत्पन्न हुआ वह (तेजस्वी) वंश, (जिसमें रघु और राम-जैसे पराक्रमी उत्पन्न हुए हों और) कहाँ मोटी बुद्धि वाला मैं। (मैं जानता हूँ कि मैं रघुवंश का पार नहीं पा सकता फिर भी मेरी मूर्खता तो देखिए कि) तिनकों से बनी छोटी-सी नाव लेकर अपार समुद्र को पार करने की बात सोच रहा हूँ ॥ २ ॥ देखिए, मैं हूँ तो बड़ा भारी मूर्ख, पर मेरी साध यह है कि बड़े-बड़े कवियों में मेरी गिनती होने लगे। यह सुनकर लोग मुझपर हँसेंगे तो अवश्य, क्योंकि मेरी यह करनी वैसी ही है जैसे कोई बौना अपने नन्हें-नन्हें हाथ ऊपर उठाकर उन (ऊँचाई पर लगे) फलों को तोड़ना चाहे जो केवल लम्बे हाथ वाले ही तोड़ पा सकते हों ॥ ३ ॥ पर (मुझे यही बड़ा भारी भरोसा है कि वाल्मीकि आदि मुझसे) पूर्व के कवियों ने इस सूर्य वंश पर (सुन्दर काव्य) लिखकर वाणी का जो द्वार पहले से ही खोल दिया है उसमें पैठ जाना (और इस वंशका फिरसे वर्णन करना) मेरे लिये वैसा ही (सरल) हो गया है जैसे हीरे की कनी से बिधे हुए मणि में डोरा पिरो देना ॥ ४ ॥ मैं जानता हूँ कि मुझे कुछ आता-जाता नहीं है, फिर भी मैं उन (प्रतापी) रघुवंशियों का वर्णन करने पर तुला बैठा हूँ, जिनके चरित्र जन्म से लेकर अन्त तक शुद्ध और पवित्र रहे, जो किसी काम को उठाकर उसे पूरा किए बिना नहीं छोड़ते थे, जो समुद्र के ओर-छोर तक फैली हुई सारी धरती के स्वामी थे, जिनके रथ, पृथ्वी से स्वर्ग तक सीधे जाया-आया करते थे, जो (शास्त्रों के) नियम के अनुसार ही यज्ञ करते थे, जो माँगने वालों को मन-चाहा दान देते थे, अपराध के अनुसार ही (अपराधियों को) दण्ड देते थे, जो अवसर देखकर ही काम करते थे, जो दान करने के लिये ही धन इकट्ठा करते थे, जो सत्य की रक्षा के लिये बहुत कम

त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम् । यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ॥ 7 ॥
 शैशवेऽभ्यस्तविधानां यौवने विषवैषिणाम् । वार्षके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥ 8 ॥
 रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन् । तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः ॥ 9 ॥
 तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः । हेम्नः संलक्ष्यतेह्यग्नौविशुद्धिः श्यामिकापिवा ॥ 10 ॥
 वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयोमनीषिणाम् । आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव ॥ 11 ॥
 तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः । दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव ॥ 12 ॥
 व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः । आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः ॥ 13 ॥
 सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोभिभाविना स्थितः सर्वोन्नतेनोर्वी क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना ॥ 14 ॥
 आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः । आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः ॥ 15 ॥
 भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम् । अधृष्यश्चाभिम्यश्चयादोरत्नैरिवार्णवः ॥ 16 ॥

बोलते थे (कि जितना कहें उतना कर भी दिखावें), जो (दूसरों का राज हड़पने या लूटमार के लिये नहीं वरन्) अपना यश बढ़ाने के लिये ही दूसरे देश जीतते थे, जो (भोग-विलास के लिये नहीं वरन्) सन्तान उत्पन्न करने के लिये ही विवाह किया करते थे, जो बालकपन में पढ़ते थे, तरुणार्थ में संसार के भोगों का आनन्द लेते थे, बुढ़ापे में मुनियों के समान (जंगलों में रहकर) तपस्या करते थे और और अन्त में योग के द्वारा (ब्रह्मका ध्यान करते हुए) अपना शरीर छोड़ते थे । (सच पूछिए तो) रघुवंशियों के इन गुणों ने ही मुझे यह काव्य लिखने की ढिठाई करने को उकसाया है ॥ 5-9 ॥ इस काव्य को सुनने के अधिकारी भी वे ही सज्जन हैं जिन्हें भले-बुरेकी अच्छी परख है क्योंकि सोने का खरापन या खोटापन तो आग में डालने पर ही जाना जा पाता है ॥ 10 ॥ जैसे वेदके छंदों में सबसे पहले ऊँकार है वैसे ही राजाओं में सबसे पहले विवस्वान के पुत्र वैवस्वत मनु हुए जिनका आदर बड़े-बड़े विद्वान् भी किया करते थे ॥ 11 ॥ उन्हीं वैवस्वत मनु के उज्ज्वल वंशके राजाओं में, चन्द्रमा के समान सबको सुख देने वाले तथा अत्यन्त शुद्ध चरित्रवाले राजा दिलीपने वैसे ही जन्म लिया जैसे क्षीरसागर से चन्द्रमा ने जन्म लिया था ॥ 12 ॥ (राजा दिलीपका रूप देखने ही योग्य था ।) उनकी चौड़ी छाती, साँड़केसे ऊँचे और भारी कंधे, शालके वृक्ष-जैसी लंबी भुजाएँ और उनका अपार तेज देखकर ऐसा जान पड़ता था मानों क्षत्रियों का धर्म (वीरत्व) ही उनके शरीर में यह समझकर आ डटा हो कि (सज्जनों की रक्षा और दुर्जनों के नाश करने का जो) मेरा काम (है वह) इस शरीर से अवश्य पूरा हो सकेगा ॥ 13 ॥ जैसे सुमेरु पर्वत अपनी दृढ़ता से संसारके सब दृढ़ पदार्थों को दबाए बैठा है, अपनी चमक से सब चमकीली वस्तुओं की चमक घटाए बैठा है, अपनी ऊँचाई से सब ऊँची वस्तुओं को नीचा किए डाल रहा है और अपने फैलाव से सारी पृथ्वी को ढके हुए है वैसे ही राजा दिलीप भी अपने बल, तेज और डील-डौल वाले शरीर से सबको नीचा दिखाकर सारी पृथ्वी को अपनी मुट्ठी में किए बैठे थे ॥ 14 ॥ जैसा सुन्दर उनका रूप था, वैसी ही तीखी उनकी बुद्धि थी और जैसी तीखी बुद्धि थी वैसी ही शीघ्रता से उन्होंने सब शास्त्र पढ़ डाले थे । इसीलिये वे शास्त्र के अनुसार ही किसी काम में हाथ डालते थे और (फल यह होता था कि उन्हें) वैसी ही (बड़ी) सफलता भी (अवश्य) हाथ लग जाती थी ॥ 15 ॥ (जैसे घड़ियालों और मगरमच्छों के डरसे लोग समुद्र में पैठने से डरते हैं, वैसे ही) राजा दिलीपसे भी उनके सेवक डरते रहते थे क्योंकि वे न्याय में बड़े कठोर थे (और किसी का पक्षपात नहीं करते थे) किन्तु जैसे समुद्र के सुन्दर और मनोहर रत्नों को पाने के लिये लोग समुद्र में पैठ ही जाते हैं वैसे ही राजा दिलीप इतने दयालु, उदार और गुणशाली भी थे कि उनके सेवक

रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम् । नव्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नैमिवृत्तयः ॥ 17 ॥
 प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् । सहस्रगुणमुत्त्रष्टुमादत्ते हिरसं रविः ॥ 18 ॥
 सेना परिच्छदस्तस्य द्वयमेवार्थसाधनम् । शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिर्मावीर्धनुषि चातता ॥ 19 ॥
 तस्य संवृतमन्त्रस्यगूढाकारेङ्गितस्य च । फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव ॥ 20 ॥
 जुगोपात्मानमत्रस्तौ भेजे धर्ममनातुरः । अगृध्नुराददे सोऽर्थमसक्तः सुखमन्वभूत् ॥ 21 ॥
 ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः । गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव ॥ 22 ॥
 अनाकृष्टस्य विषयैर्विधानां पारदृश्वनः । तस्य धर्मरतेरासीद्वृद्धत्वं जरसा विना ॥ 23 ॥

उनकी कृपा पाने के लिये सदा उनका मुँह जोहते ही रहते थे ॥ 16 ॥ जैसे चतुर सारथी जब रथ चलाता है तब रथ के पहिये वाल भर भी लीक से बाहर नहीं हो पाते वैसे ही राजा दिलीप ने ऐसे अच्छे ढंग से प्रजा की देखभाल की कि प्रजा का कोई भी व्यक्ति मनु के बताये हुए नियमों से बाल भर भी बहक कर नहीं चल सकता था। (सब लोग वर्ण और आश्रम के नियमों के अनुसार ही अपने धर्म का पालन करते थे) ॥ 17 ॥ जैसे सूर्य अपनी किरणों से पृथ्वी का जो जल सोखता है उसका सहस्रगुणा ला बरसाता है, वैसे ही राजा दिलीप भी प्रजा से जो कर लेते थे वह सारा अपनी प्रजा की भलाई में लगा देते थे ॥ 18 ॥ राजा दिलीप के पास सेना तो बड़ी भारी थी पर वह सेना केवल शोभा के लिये ही थी (उससे राजा दिलीप कोई काम नहीं लेते थे) क्योंकि शास्त्रों का उन्हें बहुत अच्छा ज्ञान था और धनुष चलाने में भी वे एक ही थे। इस लिये वे अपना सब काम अपनी तीखी बुद्धि और धनुषपर चढ़ी हुई डोरी, इन दोसे ही निकाल लेते थे (उन्हें किसी काम में किसी दूसरे की सहायता नहीं लेनी पड़ती थी) ॥ 19 ॥ राजा दिलीप न तो स्वयं ही अपने मनका भेद किसी को बताते थे और न अपनी भावभंगी से ही अपने मनकी बात किसी को जानने देते थे। जैसे इस जन्म में किसी के (सुखी या दुखी) जीवन को देखकर ही लोग समझ पाते हैं कि उसने पिछले जन्म में क्या (अच्छे या बुरे) काम किए होंगे वैसे ही राजा दिलीप के मनकी बात भी लोग तभी जान पाते थे जब वह काम हो चुकता था (उससे पहले नहीं) ॥ 20 ॥ वे निडर होकर अपनी रक्षा करते थे, बड़े धीरज के साथ अपने धर्म का पालन करते थे, लोभ छोड़कर धन इकट्ठा करते थे और मोह छोड़कर संसार के सुख भोगते थे ॥ 21 ॥ (जो लोग बहुत पढ़-लिख जाते हैं वे अपनी विद्या का ढिंढोरा पीटते फिरते हैं, जो बलवान होते हैं वे दूसरों को सताने में अपनी बड़ाई समझते हैं, जो लोग दान देते हैं या किसी के लिये कुछ त्याग करते हैं वे चाहते हैं कि चारों ओर हमारा नाम हो। पर राजा दिलीप में यह बात नहीं थी) वे सब कुछ जानकर भी चुप रहते थे, शत्रुओं से बदला लेने की शक्ति रहते हुए भी उन्हें क्षमा कर देते थे और दान देकर या त्याग करके भी अपनी प्रशंसा कराने की इच्छा नहीं करते थे। (उनके इस जगसे न्यारे व्यवहार को देखकर यही जान पड़ता था कि) चुप रहने, क्षमा करने और प्रशंसा से दूर भागने के गुण भी उनमें ज्ञान, शक्ति और त्याग के साथ ही साथ उत्पन्न हुए थे ॥ 22 ॥ संसार के भोगों को वे अपने पास नहीं फटकने देते थे, सारी विद्याएँ उन्होंने मुट्ठी में कर ली थी और अपना जीवन वे दिन-रात धर्म के कामों में ही लगाते थे। छोटी ही अवस्था में वे इतने चतुर हो गए थे कि बुढ़ापा आए बिना ही उनकी गिनती बड़े-बूढ़ों में होने लगी थी ॥ 23 ॥ जैसे पिता अपने पुत्रों को बुरे काम करने से रोकता है, अच्छे काम करने की सीख देता है, सब प्रकार से उनकी रक्षा करता है और उन्हें पाल-पोसकर बड़ा करता है वैसे ही राजा दिलीप भी अपनी प्रजा को बुरे मार्ग पर जाने से रोकते थे, अच्छा काम करने को उत्साहित करते थे, विपत्तियों से उनकी रक्षा करते थे और (उनके लिये अन्न, वस्त्र, धन तथा शिक्षाका प्रबन्ध करके) उनका पालन-पोषण करते थे। इस प्रकार

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि । स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ॥ 24 ॥
 स्थित्यै दण्डयतो दण्डयान्परिणेतुः प्रसूतये । अप्यर्थं कामौ तस्यास्तां धर्म एवं मनीषिणः ॥ 25 ॥
 दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम् । संपद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम् ॥ 26 ॥
 न किलानुययुस्तस्य राजानो रक्षितुर्यशः । व्यावृत्ता यत्परस्वेभ्यः श्रुतौतस्करता स्थिता ॥ 27 ॥
 द्वेष्योऽपिसंमतः शिष्टस्तस्यार्तस्य यद्यौषधम् । त्याज्योदुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गु लीवोरगक्षता ॥ 28 ॥
 तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना । तथा हि सर्वे तस्यासन्पराधेक फला गुणाः ॥ 29 ॥
 स वेलावप्रवलयाम् परिखीकृतसागराम् । अनन्यशासनामुर्वी शशासैकपुरीमिव ॥ 30 ॥
 तस्य दाक्षिण्यरूढेन नाम्ना मगधवंशजा । पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा ॥ 31 ॥
 कलत्रवन्तमात्मानमवरोधे महत्यपि । तया मेने मनस्विन्या लक्ष्म्या च वसुधाधिपः ॥ 32 ॥

वे ही अपनी प्रजा के सच्चे पिता थे, पिता कहलाने वाले अन्य लोग तो केवल जन्म देने भरके पिता थे ॥ 24 ॥ (क्योंकि) अपराधी को दण्ड दिए बिना राज्य ठहर नहीं सकता, इसलिये वे अपराधियों को उचित दण्ड देते थे। (पितृ-ऋण चुकाने के लिये वंश चलाना भी मनुष्य का धर्म है, इसलिये) सन्तान उत्पन्न करके वंश चलाने की इच्छा से ही उन्होंने विवाह किया था, कोई भोग-विलास के लिये नहीं। (इस प्रकार यद्यपि) दण्ड और विवाह वास्तव में अर्थशास्त्र और कामशास्त्र के विषय हैं फिर भी उनके हाथों में पहुँचकर वे भी धर्म ही बन गए थे ॥ 25 ॥ राजा दिलीप अपनी प्रजा से जो कर लेते थे वह इन्द्रको प्रसन्न करने के लिये यज्ञ में लगा देते थे (क्योंकि यज्ञ करने से देवता प्रसन्न और पुष्ट होते हैं)। उधर इन्द्र भी इनसे प्रसन्न होकर आकाश को दूहकर जल बरसाता था जिससे खेत अन्न से लद जाते थे। इस प्रकार राजा दिलीप और इन्द्र एक दूसरे की सहायता करके (पृथ्वी और स्वर्ग) दोनों लोकों का पालन करते चलते थे ॥ 26 ॥ दिलीप को छोड़कर और कोई भी राजा अपनी प्रजा की रक्षा करने में नाम न कमा सका क्योंकि (सभी के यहाँ कभी-कभी चोरी-डकैती हो ही जाती थी। पर राजा दिलीप का अपने राज्य में ऐसा दबदबा था कि) चोरी का शब्द कहने-सुनने को ही रह गया था (उस राज्य में कोई भी किसी का धन नहीं चुरा पाता था) ॥ 27 ॥ जैसे रोगी यह समझकर औषध को पी लेता है कि इससे मैं अच्छा हो जाऊँगा वैसे ही राजा दिलीप भी ऐसे बैरियों को अपना लेते थे जो भले होते थे और जैसे साँप के काटने पर लोग अपनी ऊँगली भी काटकर फेंक देते हैं वैसे ही राजा दिलीप भी अपने उन सगे प्यारे लोगों तक को निकाल बाहर करते थे जो दुष्ट होते थे ॥ 28 ॥ ब्रह्मा ने निश्चय ही महाराज दिलीप को (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन) पाँच तत्त्वों से ही बनाया था क्योंकि (जैसे ये तत्त्व निरन्तर गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द इन गुणों से सारी सृष्टि की सेवा करते हैं, वैसे ही) राजा दिलीप के सब गुणों से भी केवल दूसरों का ही उपकार होता था ॥ 29 ॥ (जैसे कोई राजा किसी ऐसी नगरी पर शासन करे जिसके चारों ओर परकोटा और खाई हो, वैसे ही) दिलीप इस पूरी पृथ्वी पर अकेले राज्य करते थे जिसका परकोटा समुद्र का तट था और जिसकी खाई का काम स्वयं समुद्र करता था ॥ 30 ॥ जैसे यज्ञकी पत्नी दक्षिणा प्रसिद्ध है वैसे ही मगध के राजवंश में उत्पन्न सुदक्षिणा नाम की उनकी पत्नी भी संसार में अपनी उदारता के लिये प्रसिद्ध थी ॥ 31 ॥ वैसे तो राजा दिलीप की बहुत-सी रानियाँ थीं, पर वे अपने को स्त्रीवाला यदि समझते थे तो लक्ष्मी के समान मनस्विनी केवल अपनी रानी सुदक्षिणाके कारण ही ॥ 32 ॥ उनकी बड़ी इच्छा थी कि मेरी प्यारी पत्नी से मेरे जैसा पुत्र हो, पर दिन बीतते चले जा रहे थे, मन की साध पूरी नहीं हो पा रही थी ॥ 33 ॥ तब उन्होंने निश्चय किया कि सन्तान उत्पन्न

तस्यामात्मानुरूपायामात्मजन्मसमुत्सुकः। विलम्बितफलैः कालं स निनाय मनोरथैः ॥ 33 ॥
 संतानार्थाय विधये स्वभुजादवतारिता। तेन धूर्जगतो गुर्वी सचिवेषु निचिक्षिपे ॥ 34 ॥
 अथाभ्यर्च्य विधातारं प्रयतौ पुत्रकाम्यया। तौ दम्पती वसिष्ठस्य गुरोर्जन्मतुराश्रमम् ॥ 35 ॥
 स्निग्धगम्भीरनिर्घोषमेकं स्यन्दनमास्थितौ। प्रावृषेण्यं पयोवाहं विद्युदैरावताविव ॥ 36 ॥
 मा भूदाश्रमपीडेति परिमेयपुरःसरैः। अनुभावविशेषात्तु सेनापरिवृताविव ॥ 37 ॥
 सेव्यमानौ सुखस्पशोः शालनिर्यासगन्धिभिः। पुष्परेणूत्किरैर्वतैराधूतवनराजिभिः ॥ 38 ॥
 मनोभिरामाः शृण्वन्तौरथनेमिस्वनोन्मुखैः। षड्जसंवादिनीःकेका द्विधा भिन्नाःशिखंडिभिः ॥ 39 ॥
 परस्परराक्षिसादृश्यमदूरोज्झितवर्त्मसु। मृगद्वन्द्वेषु पश्यन्तौ स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु ॥ 40 ॥
 श्रेणीबन्धाद्वितन्वद्विरस्तम्भां तोरणसज्जम्। सारसैःकलनिह्वदिः क्वचिदुन्नमिताननौ ॥ 41 ॥
 पवनस्यानुकूलत्वात्प्रार्थनासिद्धिशंसिनः। रजोभिस्तुरगोत्कीर्णैरस्पृष्टालकवेष्टनौ ॥ 42 ॥

करने का कुछ न कुछ उपाय करना ही चाहिए। उन्होंने पहला काम तो यह किया कि पृथ्वी पालने का कुल भार अपने कन्धों से उतारकर मंत्रियों को उठा सौंपा ॥ 34 ॥ राज्यकी चिन्ता से छुट्टी पाकर पवित्र मनसे राजा दिलीप और देवी सुदक्षिणा ने पुत्रकी इच्छासे पहले ब्रह्मा की पूजा की और फिर वे दोनों पति-पत्नी वहाँ से अपने कुलगुरु वसिष्ठ के आश्रम की ओर चल दिए ॥ 35 ॥ जिस रथपर वे दोनों बैठे हुए थे वह बड़ी कन-मीठी घनघनाहट करता चला जा रहा था। उसपर बैठे हुए वे दोनों ऐसे जान पड़ते थे मानो वर्षा के बादल पर ऐरावत और बिजली दोनों साथ चढ़े चले जा रहे हों ॥ 36 ॥ उन्होंने अपने साथ सेवक नहीं लिए क्योंकि उन्हें ध्यान था कि बहुत भीड़-भाड़ ले जाने से आश्रम के काम में बाधा होगी, पर उनका प्रताप और तेज ही इतना अधिक था कि उससे जान पड़ता था मानों साथ में बड़ी भारी सेना चली जा रही हो ॥ 37 ॥ खुले मार्ग में साल के गोंद की गन्ध बसा हुआ, फूलों के पराग उड़ाता हुआ और वन के वृक्षों की पाँतों को धीरे-धीरे कँपाता हुआ पवन, उनके शरीर को सुख देता हुआ उनकी सेवा करता चल रहा था ॥ 38 ॥ राजा दिलीप और देवी सुदक्षिणाने इधर-उधर दृष्टि घुमाई और देखा कि कहीं तो रथ की घनघनाहट सुनकर बहुत से मोर इस भ्रमसे अपना मुँह ऊपर उठा उठाकर दूहरे मनोहर षड्ज¹ शब्द से कूक रहे हैं कि कहीं ऊपर बादल तो नहीं गरज रहे हैं ॥ 39 ॥ और कहीं वे देखते हैं कि हरिणों के जोड़े मार्ग से कुछ हटकर रथ की ओर एकटक देख रहे हैं जिनकी सरल (भोली) चितवन को राजा दिलीप ने सुदक्षिणा के नेत्रों के समान समझा और सुदक्षिणाने राजा दिलीप के नेत्रों के समान ॥ 40 ॥ जब कभी वे आँख उठाकर ऊपर देखते तो आकाश में उड़ते हुए मिठ, बोले बगले भी उन्हें दिखाई पड़ जाते जो पाँत में उड़ते हुए ऐसे जान पड़ते थे मानों खम्भे के बिना ही बन्दनवार आ टँगी हो ॥ 41 ॥ उनके अनुकूल चलता हुआ पवन भी यह संकेत दे रहा था कि मनकी इच्छाएँ अवश्य पूरी होंगी। वह पवन ऐसी दिशा से चल रहा था कि घोड़ों के खुरों से उठी हुई धूल न तो देवी सुदक्षिणा के बालों को ही छू पाती थी और न राजा दिलीप की पगड़ी को ही ॥ 42 ॥ मार्ग में जो तालाब पड़ते थे उनकी लहरों की झकोरों से उड़ती हुई कमलों की ठंडी सुगन्ध जिस पवन से लेते हुए वे चले जा रहे

1. षड्जं मयूरो वदति। षड्ज, ऋषभ, गांधर, मध्मम, पंचम, धैवत, निषाद नामक सात स्वरों में से पहला स्वर।

नासां कण्ठमुरस्तालु जिह्वां दन्तांश्च संस्पृशन्।

षड्भ्यः सज्जायते यस्मात् तस्मात् षड्ज इति स्मृतः ॥

सरसीष्वरविन्दानां वीचिविक्षोभशीतलम् । आमोदमुपजिघ्रन्तौस्वनिःश्वासानुकारिणम् ॥ 43 ॥
 ग्रामेष्व्वात्मविसृष्टेषु यूपचिह्नेषु यज्वनाम् । अमोघाः प्रतिगृह्णन्तावर्ध्यानुपदमाशिषः ॥ 44 ॥
 हैयंगवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान् । नामधेयानिपृच्छन्तौवन्यानां मार्गशाखिनाम् ॥ 45 ॥
 काप्यभिख्या तयोरासीद्व्रजतोः शुद्धवेषयोः । हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव ॥ 46 ॥
 तत्तद्भूमिपतिः पत्न्यै दर्शयन्प्रियदर्शनः । अपि लङ्घितमध्वानं बुबुधे न बुधोपमः ॥ 47 ॥
 स दुष्प्रापयशाः प्रापदाश्रमं श्रान्तवाहनः । सायं संयमिनस्तस्य महर्षेर्महिषीसखः ॥ 48 ॥
 वनान्तरादुपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः । पूर्यमाणमदृश्याग्निप्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः ॥ 49 ॥
 आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः । अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः ॥ 50 ॥
 सेकान्तेमुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम् । विश्वासायविहंगानामालवालाम्बुपायिनाम् ॥ 51 ॥
 आतपात्ययसंक्षिप्तनीवारासु निषादिभिः । मृगैर्वतितरोमन्थामुटजाङ्गनभूमिषु ॥ 52 ॥
 अभ्युत्थिताग्निपिशुनैरतिथीनाश्रमोन्मुखान् । पुनानं पवनोद्धतैर्धूमैराहुतिगन्धिभिः ॥ 53 ॥

थे वह सुगन्ध भरा पवन उनकी साँस के समान ही सुगन्धित था ॥ 43 ॥ जो गाँव उन्होंने ब्राह्मणों को दान कर दिये थे और जिनमें स्थान-स्थान पर यज्ञ के खम्भे खड़े हुए थे, वहाँ के ब्राह्मणों ने पहले तो अर्घ्य (दूब, तिल, कुश, सरसों, पुष्प, जल, अक्षत, चन्दन) भेंट करके उनकी पूजा की और फिर उनको ऐसे आशीर्वाद दिए जो कभी निष्फल हो ही नहीं सकते थे ॥ 44 ॥ गाँवों के जो बड़े-बूढ़े घोसी, गायका तुरन्त निकला हुआ मक्खन लेकर उनकी भेंट करने को आते थे उनसे, राजा दिलीप और रानी, मार्ग के वनों और वृक्षों का नाम पूछती जाती थीं ॥ 45 ॥ जैसे चैतकी पूनों के दिन चित्रा नक्षत्र के साथ उजला चन्द्रमा आँखों को भला लगता है वैसे ही सुन्दरी सुदक्षिणा के साथ मार्ग में उजले वस्त्र पहने जाते हुए राजा दिलीप भी बड़े सुहावने लग रहे थे ॥ 46 ॥ पंडितों के समान बुद्धिमान तथा लुभावने दिखाई देने वाले राजा दिलीप अपनी पत्नी को वे सब (सुहावने दृश्य) दिखाने में इतने रम गए थे कि उन्हें यह भी न भान हो सका कि मार्ग कब में को निकल गया ॥ 47 ॥ साँझ होते-होते यशस्वी राजा दिलीप अपनी पत्नी के साथ संयमी महर्षि वसिष्ठ के आश्रम तक पहुँच ही तो गए। इतने थोड़े समय में इतनी दूर की यात्रा करने के कारण उनके घोड़े भी थक चुके थे ॥ 48 ॥ वहाँ पहुँचकर वे देखते क्या है कि संध्या के अग्निहोत्र के लिये बहुत से तपस्वी हाथमें समिधा (पलाशकी सूखी लकड़ी), कुशा और फल लिए हुए जंगलों से लौटे चले आ रहे हैं ॥ 49 ॥ बहुत से मृग वहाँ आश्रम में इधर-उधर पर्णकुटियों के द्वार रोके खड़े हुए थे क्योंकि उन्हें भी ऋषि-पत्नियों के समान तिन्नी के दाने खाने का अभ्यास पड़ गया था ॥ 50 ॥ ऋषिकन्याएँ वृक्षों की जड़ों में पानी दे-देकर वहाँ से हट गई थीं कि आश्रम के पक्षी निडर होकर उन वृक्षों के थाँवलों का जल पी सकें ॥ 51 ॥ धूप में सुखाने के लिये जो तिन्नी का अन्न फैलाया हुआ था, वह दिन छिपते ही समेटकर कुटिया के आँगन में ढेर बनाकर रख दिया गया था और वहीं आँगन में बहुत से हरिण सुखसे बैठे जुगाली कर रहे थे ॥ 52 ॥ हवन-सामग्री की गंधसे भरा हुआ अग्निहोत्रका जो धुँआँ पवन के कारण चारों ओर फैल चला था उस धुँएँ ने आश्रम की ओर आते हुए इन अतिथियों को भी पवित्र कर दिया ॥ 53 ॥ (वहाँ पहुँचकर) राजा दिलीप ने अपने सारथि को आज्ञा दे दी कि घोड़ों को ठंडा कर लो। तब सहारा देकर पहले तो उन्होंने अपनी पत्नी को रथ से उतारा फिर

1. तिन्नी-नीवार, ताल में बिना जोते-बोए जो चावल होता है। व्रत में इस चावल का प्रयोग किया जाता है।

अथ यन्तारमादिश्य धुर्यान्विश्रामयेति सः । तामवारोहयत्पत्नीं रथादवततार च ॥ 54 ॥
 तस्मै सभ्याः सभार्याय गोप्त्रे गुप्ततमेन्द्रियाः । अर्हणामर्हते चकुर्मुनयो नयचक्षुषे ॥ 55 ॥
 विधेः सायंतनस्यान्ते स ददर्श तपोनिधिम् । अन्वासितमरून्धत्या स्वाहयेव हविर्मुजम् ॥ 56 ॥
 तयोर्जगृहतुः पादान् राजा राज्ञी च मागधी । तौ गुरुर्गुरुपत्नी च प्रीत्या प्रतिनन्दतुः ॥ 57 ॥
 तमातिथ्यकियाशान्तरथक्षोभपरिश्रमम् । पपच्छ कुशलं राज्ये राज्याश्रममुनि मुनिः ॥ 58 ॥
 अथाथर्वनिधोस्तस्य विजितारिपुरः । अध्यमिर्धपतिर्वाचमाददे वदतां वरः ॥ 59 ॥
 पपन्नं ननु शिवं सप्तस्वप्नेषु यस्य मे । दैवीनां मानुषीणां च प्रतिहर्ता त्वमापदाम् ॥ 60 ॥
 तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दूरात्प्रशमितारिभिः । प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्टलक्ष्यमिदः शराः ॥ 61 ॥
 हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु । वृष्टिर्भवति सस्यानामवग्रह विशोषिणाम् ॥ 62 ॥
 पुरुषायुषजी विन्यो निरातङ्का निरीतयः । यन्मदायाः प्रजास्तस्य हेतुस्त्वद् ब्रह्मवर्चसम् ॥ 63 ॥
 त्वयैवं चिन्त्यमानस्य गुरुणा ब्रह्मयोनिना । सानुबन्धाः कथं न स्युः संपदो मे निरापदः ॥ 64 ॥

स्वयं भी रथ से उतर पड़े ॥ 54 ॥ जब यह समाचार आश्रमवालों को मिला तब वहाँ के सभी सभ्य संयमी मुनियों ने अपने रक्षक, आदरणीय तथा नीतिके अनुसार चलने वाले सपत्नीक राजा दिलीप का सम्मान के साथ स्वागत किया ॥ 55 ॥ जब संध्या की सब क्रियाएँ पूरी हो चुकीं तब वे उन तपस्वी महामुनि वशिष्ठ के पास गए जिनके पीछे देवी अरुन्धती भी उसी प्रकार बैठी थीं जैसे अग्नि के पीछे स्वाहा हो ॥ 56 ॥ राजा दिलीप और मगध की राजकुमारी सुदक्षिणा ने चरण छूकर उन्हें प्रणाम किया और गुरु वशिष्ठ तथा उनकी पत्नी ने बड़े दुलारसे उनका स्वागत किया ॥ 57 ॥ पहले तो वशिष्ठ ने उनका इतना आतिथ्य-सत्कार किया कि रथ की हचक से जो उन्हें थकावट हो चली थी वह सब दूर हो गई और तब मुनि वशिष्ठने राजर्षि दिलीप से पूछा- कहिए। आपके राज्य में सब कुशल तो है न' ॥ 58 ॥

राजा दिलीप ने जहाँ एक ओर अपनी वीरता से शत्रुओं के नगर जीते थे और धन एकत्र किया था वहीं दूसरी ओर वे बातचीत करने की कला में भी बड़े चतुर थे, इसलिये उन्होंने अथर्ववेद के रक्षक वशिष्ठ के उत्तर में बड़ी अर्थ-भरी वाणी में कहा- ॥ 59 ॥ 'आपकी कृपा से इस राज्य में (राजा, मंत्री, राज कोष, राज्य, दुर्ग और सेना, ये) सातों अंग भरपूर हैं। (अग्नि, जल, महामारी और अकालमृत्यु इन) दैवी विपत्तियों और (चोर, डाकू, शत्रु आदि) मानुषी आपत्तियों को दूर करने वाले तो आप बैठे ही हैं ॥ 60 ॥ आप मंत्रों के रचयिता हैं। आपके मंत्र ही इतने शक्तिशाली हैं कि मुझे अपने बाण चलाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती, क्योंकि अपने बाणों से तो मैं केवल उन्हें ही बेध पा सकता हूँ जो मेरे आगे आवें पर आपके मंत्र तो यहीं बैठे-बैठे दूर से ही शत्रुओं को नष्ट कर डालते हैं ॥ 61 ॥ यज्ञ करने वाले प्रभु! आप जब शास्त्रीय विधिसे अग्नि में हवि छोड़ते हैं तब आपकी आहुतियाँ अनावृष्टि से सूखे हुए धान के खेतोंपर जल वृष्टि होकर आ बरसती हैं ॥ 62 ॥ यह आपके ब्रह्मतेजका ही तो बल है कि मेरी प्रजा में कोई भी न तो सौ बरस से कम आयु पाता है और न किसी को ईति (बाढ़, सूखा, चूहा, तोता, राज-कलह, बैरीकी चढ़ाई आदि) तथा विपत्तिका डर रहता है ॥ 63 ॥ जब आप स्वयं ब्रह्मा के पुत्र ही हमारे कुलगुरु होकर सदा हमारा कल्याण करने के लिये आए बैठे हैं तब हमारी सम्पत्ति भला निर्विघ्न क्यों न रहे ॥ 64 ॥ पर देव ! आपकी इतनी कृपा होते हुए भी जब आपकी इस वधू (मेरी पत्नी) के गर्भ से मेरे समान तेजस्वी पुत्र नहीं हुआ तब रत्न पैदा करने वाली, कई द्वीपों में फैली हुई अपने राज्यकी यह पृथ्वी भी भला मुझे कैसे अच्छी लग सकती है? ॥ 65 ॥ अब तो मुझे ऐसा जान पड़ने लगा है कि मेरे पीछे कोई मुझे पिण्ड

किन्तु वध्वां तवैतस्यामदृष्टसदृशप्रजम् । न मामवति सद्दीपा रत्नसूरपि मेदिनी ॥ 65 ॥
 नूनं मत्तः परं वंश्याः पिण्डविच्छेददर्शिनः । न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधासंग्रहतत्पराः ॥ 66 ॥
 मत्परं दुर्लभं मत्वा नूनमावर्जितं मया । पयः पूर्वैः स्वनिःश्वासैः कवोष्णमुपभुज्यते ॥ 67 ॥
 सोऽहमिज्याः विशुद्धात्मा प्रजालोपनिमीलितः । प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकालोक इवाचल ॥ 68 ॥
 लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम् । संततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे ॥ 69 ॥
 तथा हीनं विधातर्मा कथं पश्यन्न दूयसे । सिक्तं स्वयमिव स्नेहाद्वन्ध्यमाश्रमवृक्षकम् ॥ 70 ॥
 असह्यपीडं भगवन्नृणमन्त्यमवेहि मे । अरुं तुदमिवालानमनिर्वणस्य दन्तिनः ॥ 71 ॥
 तस्मान्मुच्ये यथा तात संविधातुं तयार्हसि । इक्ष्वाकूणां दुरापेऽर्थेत्वदधीना हि सिद्धयः ॥ 72 ॥
 इतिविज्ञापितो राजा ध्यानस्तिमितलोचनः । क्षणमात्रमृषिस्तस्थौ सुप्तमीन इवह्रवः ॥ 73 ॥
 सोऽपश्यत्प्रणिधानेन संततेः स्तम्भकारणम् । भावितात्मा भुवो भर्तुरथैनं प्रत्यबोधयत् ॥ 74 ॥
 पुराशक्रमुपस्थाय तवोर्वीं प्रति यास्यतः । आसीत्कल्पतरुच्छायामाश्रिता सुरभिः पथि ॥ 75 ॥
 धर्मलोपमयाद्राज्ञीमृतुस्नाताभिमां स्मरन् । प्रदक्षिणक्रियार्हायां तस्यां त्वं साधु नाचरः ॥ 76 ॥

देने वाला भी नहीं रह जायगा । इसी दुःखसे हमारे पितर मेरे दिए हुए श्राद्ध के अन्न को भरपेट न खाकर उसका भाग आगे के लिये इकट्ठा करने लग गए हैं ॥ 66 ॥ जब मैं तर्पण के समय जलदान देने लगता हूँ, तब मेरे पितर यह सोचकर दुःखकी साँसें लेने लगते हैं कि इसके पीछे हमें जल कौन देगा और यह सोचकर वे अपनी साँसों से गरम हुए जल को ही पी डालते हैं ॥ 67 ॥ जिस प्रकार लोकालोक नाम का (कल्पित) पर्वत एक ओरसे सूर्य का प्रकाश पड़ने से चमकता है और दूसरी ओर प्रकाश न पड़ने से अँधियारा रहता है, उसी प्रकार सदा यज्ञ करने से तो मेरा चित्त प्रसन्न रहता है किन्तु पुत्र न होने से सदा शोक से ही भरा रहता है ॥ 68 ॥ देव ! तपस्या करने से और ब्राह्मणों तथा दीनों को दान देने से जो पुण्य मिलता है वह केवल परलोकमें सुख देता है पर अच्छी सन्तान (सेवा-शुश्रूषा करके) इस लोक में तो सुख देती ही है, साथ ही (तर्पण और पिण्डदान आदि करके) परलोकमें भी सुख देती है ॥ 69 ॥ गुरुदेव ! जैसे अपने हाथों से प्रेम से खींचे हुए आश्रम के वृक्ष में फल लगते न देखकर बड़ा दुःख होता है वैसे ही जब आप मुझ कृपा-पात्रको सन्तानहीन देखते हैं तब क्या आपको दुःख नहीं होता ? ॥ 70 ॥ भगवान् ! जिस प्रकार हाथी को उसका खूँटा अत्यन्त कष्ट देता है वैसे ही पुत्र न होने के कारण जो पितरों का भार मेरे सिर पर चढ़ रहा है वह भी मुझे बहुत पीड़ा दे रहा है ॥ 71 ॥ इसलिये प्रभो ! अब कोई ऐसा उपाय बताइए जिससे मेरे पुत्र-रत्न हो और मैं अपने पितृ-ऋण से मुक्त हो जाऊँ क्योंकि इक्ष्वाकुवंशी राजाओं की सभी कठिनाइयाँ आपकी ही कृपा से सदा दूर होती चली आ रही हैं ॥ 72 ॥ राजा की बात सुनकर वशिष्ठ ने अपनी आँखें बन्द करके क्षण भरके लिये ध्यान लगाया । उस समय वे उस तालाब के समान स्थिर और निश्चल हो गए जिसमें की सब मछलियाँ सो गई हों ॥ 73 ॥ वशिष्ठने अपने योग के बल से ध्यान किया कि पवित्र आत्मावाले इस राजाके पुत्र क्यों नहीं हुआ और ध्यान कर चुकने पर वे राजाको समझाने लगे- ॥ 74 ॥ 'देखो राजन् ! बहुत दिन हुए एक बार जब तुम स्वर्ग से इन्द्र की सेवा करके पृथ्वी को लौटे आ रहे थे, तब मार्ग में कल्पवृक्षकी छाया में कामधेनु बैठी हुई थी ॥ 75 ॥ उस समय तुम्हारी पत्नी ने रजस्वला होने पर स्नान किया था और तुम सोचते जा रहे थे कि (यदि इस समय उसके साथ संभोग नहीं करूँगा तो) गृहस्थ का धर्म बिगड़ जायगा । इसी उधेड़बुन में पड़े रहने के कारण तुमने कामधेनुकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया । यह काम तुमने

अवजानासिमां यस्मावतस्ते न भविष्यति । मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेतित्वांशशाप सा ॥ 77 ॥
 सशापोनत्वयाराजत्रचसारथिनाश्रुतः । नदत्याकाशगङ्गायाः स्त्रोतस्युद्दामविगगजे ॥ 78 ॥
 ईप्सितं तदवज्ञानाद्विद्धि सार्गलमात्मनः प्रतिबध्नातिहिश्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ॥ 79 ॥
 हविषे दीर्घसत्रस्य सा चेदानीं प्रचेतसः । भुजंगपिहितद्वारं पातालमधि तिष्ठति ॥ 80 ॥
 सुतांतदीयां सुरभेः कृत्वा प्रतिनिधिं शुचिः । आराधय सपत्नीकः प्रीताकामदुधा हि सा ॥ 81 ॥
 इति वादिन एवास्य होतुराहुतिसाधनम् । अनिन्द्यानन्दिनी नाम धेनुराववृते वनात् ॥ 82 ॥
 ललाटोदयमाभुग्नं पल्लवस्निग्धपाटला । बिभ्रतीश्वेतरोमाङ्कं संध्येवशशिनं नवम् ॥ 83 ॥
 भुवंकोष्णेन कुण्डोष्णी मेध्येनावभृथादपि । प्रसन्नेनाभिवर्षन्ती वत्सालोकप्रवर्तिना ॥ 84 ॥
 रजःकणैः खुरोसूतैः स्पृशद्भिर्गात्रिमन्त्रिकात् । तीर्थाभिषेकजां शुद्धिमादधाना महीक्षितः ॥ 85 ॥
 तां पुण्यदर्शनादृष्ट्वा निमित्तज्ञस्तपोनिधिः । याज्यमाशंसितावन्ध्यप्रार्थनं पुनरब्रवीत् ॥ 86 ॥
 अदूरवर्तिनीं सिद्धिं राजन्विगणयात्मनः । उपस्थितेयंकल्याणीनाम्नि कीर्तित एवयत् ॥ 87 ॥

ठीक नहीं किया, क्योंकि तुम्हें चाहिए था कि उनकी पूजा और प्रदक्षिणा करते हुए वहाँ से लौटते ॥ 76 ॥ इसी से रूष्ट होकर कामधेनुने तुम्हें शाप दे दिया कि तुमने जो मेरा तिरस्कार किया है इसका दण्ड यही है कि जबतक तुम मेरी सन्तानकी सेवा नहीं करोगे तबतक तुम्हें पुत्र नहीं होगा ॥ 77 ॥ उस समय बड़े-बड़े मतवाले दिग्गज आकाशगंगा में खेलते हुए बहुत चिन्हाड़ रहे थे, इसलिये उस शापको न तो तुम ही सुन पाए, न तुम्हारा सारथि ही ॥ 78 ॥ इसलिये तुम्हारे पुत्र न होने का कारण यही है कि तुमने कामधेनुका तिरस्कार किया है । देखो, जो पुरुष अपने पूज्यों की पूजा नहीं करता उसके शुभ कार्योंमें तो विघ्न पड़ा ही करता है ॥ 79 ॥ अब इस समय कामधेनु तो मिल नहीं सकती क्योंकि पाताल में वरुण देव जो बहुत बड़ा यज्ञ ठाने हैं उस यज्ञ में आहुतिकी सामग्री देने के लिये कामधेनु भी पाताल-लोक चली गई हैं और उस लोक के द्वारोंपर बड़े-बड़े विषधर सर्प वैसे रखवाली भी कर रहे हैं ॥ 80 ॥ इसलिये उनकी अनुपस्थिति में तुम उनकी पुत्री नन्दिनी को ही उनका प्रतिनिधि समझलो और अपनी रानी के साथ शुद्ध मनसे उसकी सेवा करो, क्योंकि वह प्रसन्न हो गई तो इच्छित फल वह तुरन्त दे डालेगी ॥ 81 ॥ इधर वशिष्ठ यह कह ही रहे थे कि उनकी आहुति के लिये घृत आदि जुटानेवाली सुलक्षणा नन्दिनी गौ भी वन से लौटकर आ ही तो पहुँची ॥ 82 ॥ नन्दिनीकी देह नये पते के समान कोमल और लाल थी । उनके माथेपर बनी हुई भूरे बालों की टेढ़ी रेखा ऐसी जान पड़ती थी जैसे लाल संध्याके माथे पर द्वितीया का चन्द्रमा चढ़ आया हो ॥ 83 ॥ अपना बछड़ा देखते ही उसके कुंडके समान बड़े-बड़े थनों से वह गरम-गरम दूध निकलकर पृथ्वी पर टपकने लगा जो यज्ञ के पश्चात् किए हुए अवभृथ स्नान के जलसे भी अधिक पवित्र था ॥ 85 ॥ नन्दिनी के आते समय उसके खुरों से उठी हुई धूल के लगने से राजा दिलीप वैसे ही पवित्र हो गए जैसे किसी तीर्थ में स्नान करके लौटे हों । शकुन जानने वाले तपस्वी वशिष्ठने जब उस गौको देखा, जिसके दर्शन से ही पुण्य मिलता है, तब वे अपने यजमान उन राजा दिलीप से बोले जो अपनी प्रार्थना सफल कराने के लिये वहाँ आए हुए थे ॥ 86 ॥ 'देखो राजन् ! तुम्हारा मनोरथ बहुत शीघ्र ही पूरा होगा क्योंकि यह कल्याण करने वाली नन्दिनी, नाम लेते ही आ पहुँची है ॥ 87 ॥ जैसे विद्यार्थी (सब सुखों को छोड़कर) लगन से पढ़कर विद्या प्राप्त कर

वन्यवृत्तिरिमां शश्वदात्मानुगमनेन गाम् । विद्यामभ्यसनेनेव प्रसादयितुमर्हसि ॥ 88 ॥
 प्रस्थितायां प्रतिष्ठेयाः स्थितायां स्थितिमाचरेः । निषण्णायां निषीदास्यां पीताम्भसि विधेरपः ॥ 89 ॥
 वधूर्भक्तिमती चैनामर्चितामातपोवनात् । प्रयता प्रातरन्वेतु सायं प्रत्युद्ब्रजेदपि ॥ 90 ॥
 इत्याप्रसादादस्यास्त्वं परिचर्यापरो भव । अविघ्नमस्तु ते स्थेयाः पितेव धुरि पुत्रिणाम् ॥ 91 ॥
 तथेति प्रतिजग्राह प्रीतिमान्सपरिग्रहः । आदेशं देशकालज्ञः शिष्यः शासितुरानतः ॥ 92 ॥
 अथ प्रदोषे दोषज्ञः संवेशाय विशापतिम् । सूनुः सूनृतवाक्स्रष्टुविससर्जोजितश्रियम् ॥ 93 ॥
 सत्यामपितपः सिद्धौनियमापेक्षया मुनिः । कल्पवित्कल्पयामास वन्यामेवास्यसंविधाम् ॥ 94 ॥

निर्दिष्टां कुल पतिना स पर्णशालामध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः ।

तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां संविष्टः कुशशयने निशां निनाय ।।

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये

वशिष्ठाश्रमाभिगमनो नाम प्रथमः सर्गः ।



लेता है वैसे ही यदि तुम भी (सब भोगों को छोड़कर) कन्द-मूल-फल खाते हुए सदा इस गौकी सेवा करोगे तो वह भी तुमपर प्रसन्न होकर तुम्हारी इच्छा अवश्य पूरी करेगी ॥ 88 ॥ जब यह चले तब तुम भी इसके पीछे-पीछे चलने लगना, जब खड़ी हो जाय तभी तुम भी खड़े हो जाना, जब यह बैठे तभी तुम भी बैठना और जब यह पानी पीने लगे तभी तुम भी पानी पीना ॥ 89 ॥ तुम्हारी रानी सुदक्षिणाको चाहिए कि वे नित्य प्रातःकाल बड़ी भक्ति से इसकी पूजा किया करें । जब यह वनको जाने लगे तब वे तपोवन के बाड़े तक उसके पीछे-पीछे जाया करें और सायंकाल जब यह लौटे तब वहाँ से अगवानी करके उसे आश्रम में ले आया करें ॥ 90 ॥ जब तक यह गौ प्रसन्न न हो जाय तब तक तुम इसी प्रकार इसकी सेवा करते रहो, तुम्हें कोई बाधा न हो और जिस प्रकार तुम अपने पिता के योग्य पुत्र हो वैसे ही तुम्हें भी सुयोग्य पुत्र प्राप्त हो ॥ 91 ॥ राजा दिलीप यह सोचकर मनमें बहुत प्रसन्न हुए कि संध्या के समय हवनकी अग्नि के सामने बैठकर वशिष्ठ जीने जो कुछ कहा है वह अवश्य सत्य होगा । तब बड़ी नम्रता से उन्होंने वशिष्ठजी से कहा कि 'हम ऐसा ही करेंगे' और यह कहकर उन्होंने और उनकी पत्नीने गुरुजी से इस व्रत के लिये आज्ञा ले ली ॥ 92 ॥ रात हो चली थी । विद्वान्, सत्यवक्ता, ब्रह्माके पुत्र वशिष्ठ ने राजा दिलीप को जाकर सोने की आज्ञा दे दी ॥ 93 ॥ यद्यपि वशिष्ठ चाहते तो अपनी तपस्या के प्रभाव से ही राजा दिलीप के योग्य भोजन और सोनेका उचित प्रबन्ध कर सकते थे पर वे व्रत के नियमों को जानते थे इसलिये उन्होंने राजाके व्रतके योग्य (कन्दमूल के भोजन और कुशकी चटाई का) ही प्रबन्ध किया था ॥ 94 ॥ कुलपति वशिष्ठने जो पर्णकुटी बताई उसी में राजा दिलीप ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए रानी सुदक्षिणाके साथ कुशाकी चटाईपर ही सो गए और प्रातःकाल ही जब वशिष्ठने अपने शिष्यों को वेद पढ़ाना प्रारम्भ किया तब उसकी ध्वनि कानमें पड़ते ही राजा दिलीप उठ बैठे ॥ 95 ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यका वशिष्ठके आश्रम में आगमन नामका पहला सर्ग पूरा हुआ ।



॥ द्वितीयः सर्गः ॥

अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् ।
 वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच ॥ 1 ॥
 तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया ।
 मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ॥ 2 ॥
 निवर्त्य राजा दयितां दयालुस्तां सौरमेयीं सुरभिर्यशोभिः ।
 पयोधारीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधारामिवोर्वीम् ॥ 3 ॥
 द्रुताय तेनानुचरेण धेनोर्न्यषेधि शेषोप्यऽनुयायिवर्गः ।
 न चान्यतस्तस्य शरीररक्षा स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः ॥ 4 ॥
 आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दशनिवारणैश्च ।
 अव्याहतैः स्वैरगतैः स तस्याः सम्राट् सभाराधनतत्परोऽभूत् ॥ 5 ॥
 स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः ।
 जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥ 6 ॥
 स न्यस्तचिह्नमपि राजलक्ष्मीं तेजोविशेषानुमितां दधानः ।
 आसीदनाविष्कृतदानराजिरन्तर्मदावस्थ इव द्विपेन्द्रः ॥ 7 ॥

दूसरा सर्ग

दूसरे दिन प्रातःकाल रानी सुदक्षिणाने पहले-फूल-माला चन्दन लेकर नन्दिनीकी पूजा की, फिर जब नन्दिनीके बछड़ेने दूध पी लिया तब यशस्वी राजा दिलीपने उसे बाँध दिया और ऋषिकी गौको जंगल में चरानेके लिये खोल दिया ॥ 1 ॥ जिस मार्ग से नन्दिनी चली जा रही थी और उसकी खुरों से उड़ी हुई धूल मार्ग को पवित्र करती जा रही थी उसी मार्ग में नन्दिनी के पीछे-पीछे उस समय की पतिव्रताओं में सर्वश्रेष्ठ रानी सुदक्षिणा ठीक वैसे ही चली जा रही थी जैसे श्रुतिके पीछे-पीछे स्मृति चली जा रही हो ॥ 2 ॥ कोमल हृदयवाले यशस्वी राजा दिलीपने आश्रमके द्वारपर से ही रानी सुदक्षिणाको लौटा दिया और अपने आप उस नन्दिनी की रक्षा के लिये चल पड़े जो ऐसी प्रतीत होती थी मानो साक्षात् पृथ्वीने ही ऐसी गौका रूप धारण कर लिया हो जिसके चारों थन ही पृथ्वी के चार समुद्र हों ॥ 3 ॥ राजा दिलीपने केवल रानीको ही नहीं वरन् सब नौकर चाकरोंको भी लौटा दिया क्योंकि गौकी सेवाका व्रत तो उन्होंने ही ले रक्खा था। रही अपने शरीरकी रक्षाकी बात, उसके लिए उन्होंने किसी सेवक की आवश्यकता नहीं समझी क्योंकि जिस राजाने मनु के वंशमें जन्म लिया हो वह अपनी रक्षा तो स्वयं अपने ही बल से कर सकता है ॥ 4 ॥ सम्राट् दिलीप बड़ी लगन से नन्दिनी की सेवा करनेमें जुट गए। कभी तो वे उसे रसीली घास की पूलियाँ खिलाते, कभी उसकी देह खुजलाते, कभी डाँस उड़ाते और जिधर भी वह जाना चाहती थी उधर उसे जाने देते ॥ 5 ॥ जब वह खड़ी होती तो राजा भी खड़े हो जाते, ज्योंही वह चलने को पग बढ़ाती त्योंही वे भी चल पड़ते, वह बैठती तो ये भी बैठ जाते और जब वह जल पीने की इच्छा करती तभी राजाको भी प्यास लग आती। (बस यह समझिए कि) वे छाया के समान ही उसके पीछे-पीछे चले जा रहे थे ॥ 6 ॥ किसी मतवाले हाथी के माथे से मदकी धारा न भी निकलती हो तो भी उसको देखते ही उसके तेज का अनुमान हो ही जाता है। (राजा दिलीप के साथ भी ठीक यही बात थी)। उन्होंने गौकी

लताप्रतानोद्ग्रथितैः स कैशैरधिज्यधन्वा विचचार दावम् ।
 रक्षापदेशान्मुनिहोमधेनोर्वन्यान्विनेष्यन्निव दुष्टसत्त्वान् ॥ 8 ॥
 विसृष्टपाश्वर्णानुचरस्य तस्य पार्श्वदुमाः पाशभृता समस्य ।
 उदीरयामासुरिवोन्मदानामालोकशब्दं वयसां विरावैः ॥ 9 ॥
 मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारादभिवर्त्तमानम् ।
 अवाकिरन्वाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः ॥ 10 ॥
 धनुर्भृतोऽप्यस्य दयादर्भावमाख्यातमन्तःकरणैर्विशङ्कै ।
 विलोकयन्त्यो वपुरापुरक्षणां प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः ॥ 11 ॥
 स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्विरापादितवंशकृत्यम् ।
 शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चैरुदृगीयमानं वनदेवताभिः ॥ 12 ॥
 पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणामनो कहाकम्पितपुष्पगन्धी ।
 तमातपक्लान्तमनातपत्रमाचारपूतं पवनः सिषेवे ॥ 13 ॥
 शशाम वृष्टयापि विना दवाग्निरासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धि ।
 ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन्वनं गोप्तरि गाहमाने ॥ 14 ॥
 संचारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम् ।
 प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः ॥ 15 ॥

सेवा के व्रत के कारण यद्यपि (छत्र, आदि सब) राज-चिन्ह और राजसी ठाट छोड़ दिए थे फिर भी उनका गठ हुआ शरीर और गुणका तेज देखकर कोई भी कह सकता था कि ये सम्राट ही है ॥ 7 ॥ उनके सिरकी लटें जंगल की लताओं के समान उलझ चली थीं। जब वे हाथ में धनुष लेकर जंगल में घूमते तब उन्हें देखकर ऐसा लगता मानों नन्दिनी की रक्षा के बहाने वे जंगल के दुष्ट जीवों को शान्त रहने की सीख दे रहे हों ॥ 8 ॥ मार्ग के वृक्षों पर अनेक मतवाले पक्षी चहचहा रहे थे। उनकी चहचहाहट सुनकर ऐसा जान पड़ता था मानो मार्ग के वृक्ष, यह समझकर वरुण के समान तेजस्वी राजा दिलीप की जय-जयकार कर रहे हों कि उनकी जय करने वाला कोई भी सेवक उनके साथ नहीं है ॥ 9 ॥ (जब वृक्षों ने राजा का सत्कार किया तब वनकी लताएँ ही क्यों पीछे रहें)। इसलिये जिधर-जिधर राजा दिलीप जाते थे उधर-उधर की लताएँ अग्नि के समान तेजस्वी और पूजनीय राजा दिलीप के ऊपर उसी प्रकार फूलों की वर्षा करती चली जा रही थीं जिस प्रकार राजा के स्वागत में नगर की कन्याएँ राजा के ऊपर धान की खिलें बरसाया करती हैं ॥ 10 ॥ राजा दिलीप के हाथों में धनुष देखकर भी हरिणियाँ डरी नहीं क्योंकि वे उन्हें देखते ही ताड़ गई कि ये बड़े कोमल हृदय वाले हैं, (वाण न चलावेंगे)। राजा दिलीप के सुन्दर शरीर वे इस प्रकार एकटक देखती रह गई मानो नेत्रों के बड़े होने का उन्हें सच्चा फल प्राप्त हो गया हो ॥ 11 ॥ राजा दिलीप सुन रहे थे कि वन-देवता वनकी कुंज में ऊँचे स्वर से उनका यश गा रहे हैं। उन वन-देवताओं के गीत के साथ वे बाँस भी मधुर बाँसुरी बजाए चले जा रहे थे जिनके छेदों में वायु भर जाने के कारण उनमें से मधुर स्वर निकल पड़ रहे थे ॥ 12 ॥ पहाड़ी झरनों की ठंडी फुहारों से लदा हुआ और मन्द-मन्द कँपाए हुए वृक्षों के फूलों की गन्ध में बसा हुआ वायु उन सदाचारी राजा दिलीप को ठंडक देता चला जा रहा था जिन्हें छत्र न होने के कारण धूप से कष्ट हो रहा था ॥

तां देवतापित्रतिथिक्रियार्थमन्वग्ययौ मध्यमलोकपालः ।
 बभौ च सा तेन सतां मतेन श्रद्धेव साक्षाद्विधिनोपपन्ना ॥ 16 ॥
 स पत्न्यलोत्तीर्णवरहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि ।
 ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन ॥ 17 ॥
 आपीनभारोद्वहनप्रयत्नाद्गृष्टिगुरुत्वाद्वपुषो नरेन्द्रः ।
 उभावल्चक्रतुरश्चिताभ्यां तपोवनावृत्तपथं गताभ्याम् ॥ 18 ॥
 वशिष्ठधेनोरनुयायिनं तमावर्त्तमानं वनिता वनान्तात् ।
 पपौ निमेषालसपक्ष्मङ्कितरूपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् ॥ 19 ॥
 पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या ।
 तदन्तरे सा विरराज धोनुर्दिनक्षपामध्यगतेव संध्या ॥ 20 ॥
 प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां सुदक्षिणां साक्षतपात्रहस्ता ।
 प्रणम्य चानर्श्वं विशालमस्याः शृङ्गान्तरं द्वारमिवार्थसिद्धेः ॥ 21 ॥
 वत्सोत्सुकापि स्तिमिता सपर्यां प्रत्यग्रहीत्सेति ननन्दतुस्तौ ।
 भक्त्योपपन्नेषु हि तद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि ॥ 22 ॥

13 ॥ राजा दिलीप प्रजा-पालक थे इसलिये उनके जँगल में पहुँचते ही वर्षा के बिना ही वन की आग ठंडी हो गई, वहाँ के पेड़ भी फल और फूलों से लद गए और वहाँ के बड़े जीवों ने छोटे जीवों को सताना भी छोड़ दिया ॥ 14 ॥ उधर दिन ढलने पर, नये पत्तों की ललाई के समान सूर्य की ललाई चारों ओर फैलकर सब दिशाओं को पवित्र करके विश्राम करने लौट चली, इधर लाल रंग की नन्दिनी भी अपने खुरों के स्पर्श से मार्ग को पवित्र करती हुई तपोवन की ओर लौट पड़ी ॥ 15 ॥ पृथ्वी का पालन करने वाले राजा दिलीप भी वशिष्ठ ऋषि के यज्ञ, श्राद्ध, अतिथि-पूजा आदि धर्म के कामों के लिये दूध देने वाली उस नन्दिनी के पीछे-पीछे लौटते हुए ऐसे भले लग रहे थे जैसे ब्रह्मा की पुत्री श्रद्धा के साथ सदाचार शोभा दे रहा हो ॥ 16 ॥ राजा दिलीप देखते हुए चले जा रहे थे कि कहीं तो छोटे-छोटे तालाबों में से सूअरों के झुंड के झुंड निकले जा रहे हैं, कहीं मोर अपने बसेरों की ओर उड़े जा रहे हैं, कहीं हरिण थककर हरी-हरी घासों पर जा बैठे हैं और साँझ होने से वन की सारी धरती धीरे-धीरे धुँधली पड़ती जा रही है ॥ 17 ॥ नन्दिनी और दिलीप दोनों धीरे-धीरे चले जा रहे थे। नन्दिनी अपने धन के भारी होने से धीरे चल रही थी और राजा दिलीप भारी शरीर होने के कारण धीरे चल रहे थे। उन दोनों को वहाँ धीरे चलते देखकर तपोवन का मार्ग बस देखते ही बनता था ॥ 18 ॥ जब साँझ को राजा दिलीप नन्दिनी के पीछे-पीछे लौटे तब सुदक्षिणा अपलक नेत्रों से उन्हें देखती रह गई मानो उसकी आँखें राजा दिलीप का रूप पीने को प्यासी बैठी हों ॥ 19 ॥ आश्रम के मार्ग में गौके पीछे राजा दिलीप थे और अगवानी के लिये रानी सुदक्षिणा खड़ी थीं। इन दोनों के बीच में वह लाल रंगवाली नन्दिनी ऐसी शोभा दे रही थी जैसे दिन और रात के बीच में साँझ की ललाई हो ॥ 20 ॥ पहले तो सुदक्षिणा ने हाथ में अक्षत आदि सामग्री लेकर नन्दिनी की पूजा करके उसकी प्रदक्षिणा की, फिर प्रणाम करके उसकी सींगों के बीच में माथे पर चन्दन-अक्षत लगाया क्योंकि उन्होंने समझ लिया था कि वह सींगों का मध्य नहीं वरन् मेरी पुत्र-कामना पूरी करने का द्वार ही है ॥ 21 ॥ यद्यपि नन्दिनी उस समय अपना बछड़ा देखने के लिये

गुरोः सदारस्य निपीड्य पादौ समाप्य सांध्यं च विधिं दिलीपः ।
 दोहावसाने पुनरेव दोग्ध्रीं भेजे भुजोच्छन्नरिपुर्निषण्णाम् ॥ 23 ॥
 तामन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपामन्वास्य गोप्ता गृहिणीसहायः ।
 क्रमेण सुप्तामनु संविवेश सुप्तोत्थितां प्रातरनूदतिष्ठत् ॥ 24 ॥
 इत्थं व्रतं धारयतः प्रजार्थं समं महिष्या महनीयकीर्तः ।
 सप्त व्यतीयुस्त्रिगुणानि तस्य दिनानि दीनोद्धरणोचितस्य ॥ 25 ॥
 अन्येद्युरात्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमाना मुनिहोमधेनुः ।
 गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोर्ग्रहणमाविवेश ॥ 26 ॥
 सा दुष्प्रधर्णा मनसापि हिंसैरित्यद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन ।
 अलक्षिताभ्युत्पतनो नृपेण प्रसन्न सिंहः सिंहः किल तां चकर्ष ॥ 27 ॥
 तदीयमाक्रन्दितमार्तसाधो गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम् ।
 रश्मिष्विवादाय नगेन्द्रसक्तां निवर्तयामास नृपस्य दृष्टिम् ॥ 28 ॥
 स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श ।
 अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोधदुम सानुमतः प्रफुल्लम् ॥ 29 ॥
 ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः ।
 जाताभिषङ्गो नृपतिर्निषङ्गादुद्धर्तमैच्छत्प्रसन्नोद्धतारिः ॥ 30 ॥

बहुत उतावली थी फिर भी रानी से पूजा कराने के लिये वह वहीं खड़ी हो गई। नन्दिनी का यह प्रेम देखकर वे दोनों बहुत प्रसन्न हुए, क्योंकि नन्दिनी के समान मनोरथ पूर्ण करने वाले, यदि भक्त पर प्रसन्न हो जायें तो समझ लो कि काम पूरा हो गया ॥ 22 ॥ गौ की पूजा हो चुकने पर शत्रुओं के संहारक राजा दिलीप ने पहले वशिष्ठ और अरुन्धती के चरणों की वन्दना की और फिर सन्ध्या के अपने नित्य कर्म पूरे किए। जब नन्दिनी का दूध दुह लिया गया और वह बैठ गई तब राजा दिलीप फिर उसकी सेवा में जा जुटे ॥ 23 ॥ प्रजापालक राजा दिलीप अपनी पत्नी के साथ बहुत देर तक नन्दिनी की सेवा और पूजा करते रहे। जब वह सो गई तब ये दोनों भी सोने चले गए और ज्यों ही वह सोकर उठी त्योंही इन दोनों की नींद भी खुल गई ॥ 24 ॥ इस प्रकार सन्तान-प्राप्ति के लिये अपनी पत्नी के साथ यह कठोर व्रत करते हुए दोनों के रक्षक परम कीर्तिशाली राजा दिलीप के इक्कीस दिन बीत गए ॥ 25 ॥ तब नन्दिनी ने मन में सोचा कि मैं अपने सेवक राजा दिलीप की परीक्षा क्यों न ले लूँ कि ये सच्चे भाव से सेवा कर रहे हैं या केवल स्वार्थ भाव से। इसीलिये राजा दिलीप जब बाईसवें दिन उसे वन में ले गए तब वह झट हिमालय की उस गुफा में पैठ गई जिस पर से गङ्गा की धारा गिर रही थी और जिसके तटपर घनी हरी-हरी घास जमी खड़ी थी ॥ 26 ॥ राजा दिलीप ने भी उधर जाने से उसे नहीं रोका क्योंकि उन्हें विश्वास था कि नन्दिनी पर आक्रमण करने की बात कोई भी हिंसक जन्तु सोच ही नहीं सकता। इतने में गौ को अचानक एक सिंह दबोच ही तो बैठा। उस समय राजा दिलीप पर्वत की शोभा देख रहे थे इसलिये उन्हें दिखाई नहीं पड़ा कि सिंह उसे कब दबोच बैठा ॥ 27 ॥ सिंह की झपट से नन्दिनी रँभाने लगी और उसकी ध्वनि गुफा में गूँज उठी। राजा दिलीप उस समय पर्वत की शोभा निहारने में लगे हुए थे पर इस पुकारने उनकी दृष्टि को उसी प्रकार खींच लिया जैसे किसी ने रस्सी से बाँधकर पकड़ खींचा हो ॥ 28 ॥ धनुषधारी राजा दिलीप ने देखा कि उस लाल गौपर बैठा सिंह ऐसा लग रहा

वामेतरस्तस्य करः प्रहर्तुं नुखाप्रभामूषितकङ्कपत्रे ।
 सक्ताङ्गुलिः सायकपुङ्ख एव चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे ॥ 31 ॥
 बाहुप्रतिष्ठम्भविवृद्धमन्युरभ्यर्णभागस्कृतमस्पृशद्भिः ।
 राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौघाधिरुद्धवीर्यः ॥ 32 ॥
 तमार्यगृह्यं निगृहीतधोनुर्मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम् ।
 विस्माययन्विस्मितमात्मवृत्तौ सिंहोरुसत्त्वं निजगाद सिंहः ॥ 33 ॥
 अलं महीपाल तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात् ।
 न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥ 34 ॥
 कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणातुग्रहपूतपृष्ठम् ।
 अवेहि मा किंकरमष्टमूर्त्तः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम् ॥ 35 ॥
 अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन ।
 यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः ॥ 36 ॥
 कण्डूयमानेन कटं कदाचिद्वन्यद्विपेनोन्मथिता त्वगस्य ।
 अधैनमद्वेस्तनया सुशोच सेनान्यमालीढभिवासुरस्त्रैः ॥ 37 ॥
 तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थमस्मिन्नहमद्रिकुशौ ।
 व्यापारितः शूलभृता विधाय सिंहत्वमङ्गागतसत्त्ववृत्तिः ॥ 38 ॥

है जैसे गेरू के पहाड़ की ढाल पर बहुत से पीले फूलों वाला लोधका पेड़ फूला खड़ा हो ॥ 29 ॥ उस समय सिंह के समान चलने वाले शरणागत-रक्षक और बलपूर्वक शत्रुओं का संहार करने वाले राजा दिलीप क्रोध से लाल हो उठे और उन्होंने समझा कि यह सिंह मेरी शरण में आई हुई गौको मारकर मेरा अपमान करना चाहता है। बस, झट उन्होंने उस सिंह को मारने के लिये तूणीर से वाण निकालने को अपना हाथ फैला उठाया ॥ 30 ॥ (कहाँ तो राजा दिलीप उस सिंह को मारने जा रहे थे और कहाँ यह हुआ कि) उनके दाहिने हाथ की उँगलियाँ उनके नखों से चमकने वाले बाणों के पंखों से जा चिपकीं। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ने लगा जैसे वाण निकालने के उनके प्रयत्न करने का किसी ने चित्र खींच धरा हो ॥ 31 ॥ इसी प्रकार हाथ बँध जाने से राजा दिलीप पास ही खड़े अपराधी पर प्रहार न कर सकने के कारण क्रोध से तमतमा उठे और अपने तेज से भीतर ही भीतर उसी प्रकार जलने लगे जैसे मन्त्र और जड़ी से बँधा हुआ साँप ॥ 32 ॥ सज्जनों के मित्र, मनुवंश शिरोमणि और सिंह के समान पराक्रमी राजा दिलीप बड़े अचम्भे में पड़ गए थे और जब वह सिंह मनुष्य की बोली में बोल उठा तब तो उनके अचरज का ठिकाना नहीं रह गया ॥ 33 ॥ सिंह बोला- 'देखो राजन्! तुम मुझे मारने का कोई जतन मत करो क्योंकि मुझपर चलाया हुआ कोई भी अस्त्र व्यर्थ जायेगा। देखो! आँधी का जो झोंका वृक्ष को जड़ से उखाड़ फेंक सकता है वह पर्वत का कुछ भी नहीं बिगाड़ पा सकता ॥ 34 ॥ (मुझे तुम कोई ऐसा-वैसा सिंह न समझ बैठना) मैं तो सर्वशक्तिशाली शंकर का कृपापात्र सेवक कुम्भोदर नामका गण हूँ और शिव के शक्तिशाली गण निकुम्भ का मित्र हूँ। जब कैलास पर्वत के समान अपने धौले नन्दी पर शंकर चढ़ने लगते हैं तब अपने चरणों से पहले मेरी पीठ पवित्र करते हैं ॥ 35 ॥ और यह जो तुम्हारे सामने बड़ा-सा देवदारुका पेड़ खड़ा दिखाई दे रहा है! इसे शंकर अपने पुत्र के समान मानते हैं क्योंकि स्वयं पार्वती ने अपने सोने के घट जैसे स्तनों के रस से सींच-सींच कर इसे इतना बड़ा किया है ॥ 36 ॥ (तुम

तस्यालमेणा क्षुधितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण ।
 उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव ॥ 39 ॥
 स त्वं निवर्तस्य विहाय लज्जां गुरोर्भवान्दर्शितशिष्यभक्तिः ।
 शास्त्रेण रक्ष्यं मदशक्यरक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति ॥ 40 ॥
 इति प्रगल्भं पुरुषाधिराजो मृगाधिराजस्य वचो निशम्य ।
 प्रत्याहतास्त्रो गिरिशप्रभावादात्मन्यवज्ञां शिथिलीचकार ॥ 41 ॥
 प्रत्यब्रवीच्छैनभिषुप्रयोगे तत्पूर्वभङ्गे वितथप्रयत्नः ।
 जडीकृतस्त्र्यम्बकवीक्षणो न वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः ॥ 42 ॥
 संरुद्धचेष्टस्य मृगेन्द्र कामं हास्यं वचस्तद्यदहं विवक्षुः ।
 अन्तर्गतं प्राणभृतां हि वेद सर्वं भवान्भावमतोऽभिधास्ये ॥ 43 ॥
 मान्यः स मे स्थावरजङ्गमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः ।
 गुरोरपीदं धममाहिताग्नेर्नश्यत्पुरस्तादनुपेक्षणीयम् ॥ 44 ॥
 स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निवर्तयितुं प्रसीद ।
 दिनावसानोत्सुकबालवत्सा विसृज्यतां धेनुरियं महर्षेः ॥ 45 ॥
 अधान्धकारं गिरिगह्वराणां दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन् ।
 भूयः स भूतेश्वरपार्श्ववर्ती किञ्चिद्विहस्यार्थपतिं बभाषे ॥ 46 ॥
 एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च ।
 अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥ 47 ॥

जानते नहीं कि पार्वती इसे कितना प्यार करती हैं।) एक बार एक जंगली हाथी आकर इससे रगड़कर अपनी कनपटी खुजलाने लगा तो इसकी थोड़ी सी छाल छिल गई। बस, इतने पर ही पार्वती को वैसा ही शोक हो आया जैसा दैत्यों के बाणों से घायल स्वामिकार्तिकेय को देखकर हुआ था ॥ 37 ॥ तब से शंकर ने जंगली हाथियों को डराने के लिये मुझे यहाँ पहाड़ की ढालपर रखवाला बनाकर रख छोड़ा है और मेरा पेट भरने के लिये मुझे आज्ञा दे दी है कि यहाँ जो भी जीव आवे उसे मारकर खा लिया करो ॥ 38 ॥ जैसे चन्द्रमाका अमृत राहु को मिलता है वैसे ही शिव की कृपा से ठीक भोजन के समय पर यह गौ आ गई है और मेरे आज के भोजन के लिये यह बहुत है ॥ 39 ॥ इसलिये अब तुम लाज छोड़कर घर लौट जाओ। तुमने यह तो दिखला ही दिया है कि तुम अपने गुरु के बड़े भक्त हो। पर जब किसी वस्तु की रक्षा शस्त्र से हो न सके तब शस्त्र धारण करने वाले का न दोष होता न उसका अपयश होता ॥ 40 ॥ सिंह की ऐसी ढीठ बातें सुनकर जब राजा को पक्का विश्वास हो गया कि शंकर के ही प्रभाव से हम इस पर अस्त्र नहीं चला पा रहे हैं तब कहीं उनके मन की आत्मग्लानि कुछ कम हो पाई ॥ 41 ॥ एक बार जब इन्द्र ने शिव पर बज्र चला दिया था तब शिव ने केवल उनकी ओर देख भर दिया कि इन्द्र कठमारे से हो गए थे, ठीक वही दशा दिलीप की भी हो गई थी। बाण चलाने में पहले पहल विफल होने वाले, हाथ बँधे राजा दिलीप ने सिंह से कहा ॥ 42 ॥ देखो सिंह! हाथ बँध जाने से मैं कुछ कर तो सकता नहीं इसलिये जो कुछ मैं कहूँगा उसकी सब खिल्ली ही उड़ायेंगे, फिर भी तुम सबके मनकी बात जानते हो, इसलिये मैं तुमसे ही यह कह रहा हूँ ॥ 43 ॥ देखो! जड़-चेतन सभी प्राणियों को जन्म

भूतानुकम्पा तव चेदियं गौरेका भवेत्स्वस्तिमती त्वदन्ते ।
 जीवन्पुनः शश्वदुपप्लदेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि ॥ 48 ॥
 अथै कधे नोरपराधचण्डाद्गुरोः कृशानुप्रतिमाद्विभोषि ।
 शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतुं गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोघ्नीः ॥ 49 ॥
 तदक्ष कल्याणपरम्पराणां भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम् ।
 महीतलस्पर्शानमात्रभिन्नमृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः ॥ 50 ॥
 एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे प्रतिस्वनेनास्य गुहागतेन ।
 शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव ॥ 51 ॥
 निशम्य देवानुचरस्य वाचं मनुष्यदेवः पुनरप्युवाच ।
 धेन्वा तदध्यासितकातराक्ष्या निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः ॥ 52 ॥
 क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रुढः ।
 राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥ 53 ॥
 कथं न शक्योऽनुनयो महर्षेर्विश्राणनाच्चान्यपयस्विनीनाम् ।
 इमामनूनां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयास्याम् ॥ 54 ॥
 सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः ।
 न पारणा स्याद्विहता तवैवं भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियार्थः ॥ 55 ॥

देने वाले, पालन-पोषण करने वाले और संहार करने वाले शिव का मैं बड़ा आदर करता हूँ। पर साथ ही मैं अग्निहोत्री गुरु के इस गौरूपी धन को भी अपनी आँखों के आगे नष्ट होते नहीं देख सकता ॥ 44 ॥ इसलिए तुम मुझे खाकर अपनी भूख मिटा लो और महर्षि वशिष्ठ की इस गौको छोड़ दो क्योंकि इनका नन्हों-सा बछड़ा सौँझ हो आने से इसकी बाट जोह रहा होगा ॥ 45 ॥ यह सुनकर वह शिवका सेवक सिंह गुफा के अँधेरे में अपने दांतों की चमक से उजाला करता हुआ कुछ हँसकर राजा से बोला ॥ 46 ॥ 'राजन! जान पड़ता है तुममें यह तक सोचने की शक्ति नहीं बच रही है कि तुम्हें क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, क्योंकि तुम एक साधारण-सी गौके पीछे इतना बड़ा राज्य, यौवन और ऐसा सुन्दर शरीर छोड़ने पर उतारू हो चले हो ॥ 47 ॥ यदि केवल प्राणियों पर दया करने के विचार से ही तुम ऐसा करना चाहते हो तो भी यह त्याग ठीक नहीं है, क्योंकि इस समय यदि तुम मेरा भोजन बनते हो तो केवल एक ही गौ की रक्षा हो पावेगी, पर यदि जीते रहोगे तो पिता के समान तुम अपनी पूरी प्रजा की रक्षा कर पा सकोगे ॥ 48 ॥ यदि तुम्हें गौके स्वामी और अग्नि के समान तेजस्वी अपने गुरु से डर लगता हो तो तुम उन्हें बड़े-बड़े थनों वाली करोड़ों गौएँ देकर मना ले सकते हो ॥ 49 ॥ देखो! अभी तुम्हारे खेलने-खाने के दिन हैं। इसलिये तुम अपने बलवान शरीर की रक्षा किए रखो, क्योंकि विद्वानों ने कहा है कि सुख और समृद्धि से भरा हुआ राज्य तो पृथ्वी पर ही स्वर्ग बन जाता है। उस स्वर्ग से इस स्वर्ग में इतना ही अन्तर होता है कि यह भूमिका स्वर्ग होता है और वह देवलोक का ॥ 50 ॥ जब इतना कहकर सिंह चुप हो गया तब पर्वत की कन्दरा से भी सुनाई पड़ने वाली उसकी गूँज ऐसी जान पड़ रही थी मानो पर्वत भी प्रसन्न होकर सिंह की ही बातों का समर्थन कर रहा हो ॥ 51 ॥ राजा ने एक ओर तो सिंह की बातें सुनी और दूसरी ओर देखा कि सिंह के नीचे दबी हुई गौ कातर नेत्रों से रक्षा की भीख माँग रही है। दयालु राजा दिलीप का जी भर आया और वे बोले- ॥ 52

भवानपीदं परवानवैति महान्हि यत्नस्तव देवदारौ ।
 स्थातुं नियोक्तुर्नहि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन ॥ 56 ॥
 किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशः शरीरे भव भे दयालुः ।
 एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥ 57 ॥
 सम्बन्धमाषणापूर्वमाहुर्वृत्तः स नौ संगतयोर्वनान्ते ।
 तद्भूतनाथानुग नार्हसि त्वं सम्बन्धिनो मे प्रणयं विहन्तुम् ॥ 58 ॥
 तथेति गामुक्तवते दिलीपः सद्यः प्रतिष्ठम्भविमुक्तबाहुः ।
 स न्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत्पिण्डभिवाभिष्य ॥ 59 ॥
 तस्मिन्क्षणे पालयितुः प्रजानामुत्पश्यतः सिंहनिपातमुग्रम् ।
 अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात विद्याधरहस्तमुक्ता ॥ 60 ॥
 उत्तिष्ठ वत्सेत्यमृतायमानं वचो निशम्योत्थितमुत्थितः सन् ।
 ददर्श राजा जननीमिव स्वां गामग्रतः प्रस्रविणीं न सिंहम् ॥ 61 ॥
 तं विश्रितं धेनुरुवाच साधो मायां मयोद्भाव्य परीक्षितोऽसि ।
 ऋषिप्रभावामयि नान्तकोऽपि प्रभुः प्रहर्तुं किमुतान्यहिंसाः ॥ 62 ॥
 भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च प्रीतास्मि ते पुत्र वरं वृणीष्व ।
 न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुधां प्रसन्नाम् ॥ 63 ॥

॥ 'देखो सिंह! क्षत्रिय शब्द का अर्थ ही है कि वह दूसरों को नष्ट होने से बचावे। यदि मैं यही काम नहीं कर पाया तो मेरा राज्य करना ही किस काम का और अपयश लेकर जीते रहना ही किस काम का ॥ 53 ॥ क्या तुम समझते हो कि इसके बदले में दूसरी गौएँ देकर मैं महर्षि वशिष्ठ को मना लूँगा? यह हो नहीं सकता। इस गौको तुम पहचान नहीं रहे हो। यह किसी भी प्रकार कामधेनु से कम नहीं है। आज शंकर का बल लेकर ही तुम इसे दबोच बैठे हो, नहीं तो तुममें इतनी शक्ति कहाँ धरी थी (कि तुम इसका बाल भी बाँका कर सकते) ॥ 54 ॥ इसलिये अपना शरीर देकर भी मैं इसे छुड़ाऊँगा क्योंकि ऐसा करने से भूख भी मिट जायगी और गौके न रहने से वशिष्ठ की जो यज्ञ-क्रियाएँ रुक जातीं, वे भी न रुकेंगी ॥ 55 ॥ देखो भाई! तुम भी दूसरे के सेवक हो और बड़ी लगनसे देवदार के वृक्ष की रक्षा कर रहे हो। तुम यह जानते होगे कि जिसकी रक्षा का भार सेवक को मिलता है यदि वह नष्ट हो जाय और सेवक जीता रह जाय तो बताओ वह अपने स्वामी के आगे कौन सा मुँह लेकर जा पायगा ॥ 56 ॥ यदि तुम किसी भी कारण से मुझ पर दया करना चाहते हो तो मेरे यश की रक्षा कर लो, क्योंकि मुझ जैसे लोगों को पंच-तत्व से बने इस नश्वर शरीर का तनिक भी मोह नहीं होता ॥ 57 ॥ देखो भाई! बातचीत चलाने के नाते हम दोनों मित्र हो गए हैं, इसलिये शिव के सेवक! अपने मित्र की प्रार्थना तुम न ठुकराओ ॥ 58 ॥ यह सुनकर सिंह बोला- 'अच्छा तो ठीक है, यही सही।' तत्काल दिलीप का हाथ खुल गया और राजा दिलीप अपने अस्त्र फेंककर मांस के पिण्ड के समान सिंह के आगे जा पड़े ॥ 59 ॥ नीचा मुँह करके पड़े हुए राजा दिलीप यह सोच ही रहे थे कि अब सिंह मुझ पर झपटने वाला है कि इतने में ही प्रजा-पालक राजा दिलीप के ऊपर आकाश से विद्याधर ने फूलों की झड़ी लगा दी ॥ 60 ॥ इसी बीच अमृत के समान मीठे वचन सुनाई पड़े- 'उठो बेटा!' राजा दिलीप ने सिर उठाया और देखा कि

ततः समानीय स मानितार्थी हस्तौ स्वहस्तार्जितवीरशब्दः ।
 वंशस्य कर्तारमनन्तकीर्तिं सुदक्षिणायां तनयं ययाचे ॥ 64 ॥
 संतानकामाय तथेति कामं राज्ञे प्रतिश्रुत्य पयस्विनी सा ।
 दुग्ध्वा पयः पत्रपुटे मदीयं पुत्रोपभुङ्क्ष्वेति तमादिदेश ॥ 65 ॥
 वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषमृषेरनुज्ञामधिगम्य मातः ।
 औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः ॥ 66 ॥
 इत्थं क्षितीशेन वशिष्ठधोनुर्विज्ञापिता प्रीततरा बभूव ।
 तदन्विता हैमवताच्च कुक्षोः प्रत्याययावाश्रममश्रमेण ॥ 67 ॥
 तस्याः प्रसन्नेन्दुमुखः प्रसादं गुरुनृपाणां गुरवे निवेद्य ।
 प्रहर्षचिह्नानुमितं प्रियायै शशंस वाचा पुनरुक्तयेव ॥ 68 ॥
 स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितात्मा सद्यत्सलो वत्सहुतायशेषम् ।
 पपौ वशिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः शुभ्रं यशो मूर्त्तमिवातितृष्णः ॥ 69 ॥
 प्रातर्यथोक्तव्रतपारणान्ते प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं प्रयुज्य ।
 तौ दंपती स्वां प्रति राजधानीं प्रस्थापयामास वशी वशिष्ठः ॥ 70 ॥
 प्रदक्षिणीकृत्य हुतं हुताशमनन्तरं भर्तुररुन्धातीं च ।
 धोनुं सवत्सां च नृपः प्रतस्थे सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः ॥ 71 ॥

आगे स्तनों से दूध टपकाती हुई माता के समान केवल नन्दिनी ही खड़ी है, सिंह का कहीं नाम भी नहीं है ॥ 61 ॥ राजा दिलीप यह सब अचरज-भरी आँखों से देख ही रहे थे कि इतने में मनुष्यों की बोली में नन्दिनी बोल उठी- 'साधु! मैंने ही यह माया रचकर तुम्हारी परीक्षा ली थी। वशिष्ठ ऋषि के प्रभाव से यमराज भी मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते फिर अन्य हिंसक जीवों की तो शक्ति ही क्या है ॥ 62 ॥ देखो पुत्र! तुमने जो अपने गुरु में भक्ति और मुझ पर दया दिखलाई है इससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। तुम जो चाहो वर माँग लो। तुम मुझे केवल दूध देने वाली साधारण गौमात्र न समझना। मैं प्रसन्न हो जाऊँ तो मुँह माँगा फल भी दे डाल सकती हूँ ॥ 63 ॥ तब माँगतों को मनचाहा दान देने वाले और अपने पराक्रम से वीर कहलाने वाले राजा दिलीप ने हाथ जोड़कर यह वर माँगा कि मेरी प्यारी रानी सुदक्षिणा के गर्भ से ऐसा यशस्वी पुत्र हो जिससे सूर्यवंश बराबर बढ़ता चले ॥ 64 ॥ नन्दिनी ने सन्तान माँगने वाले राजा दिलीप से प्रतिज्ञा की कि मैं तेरी इच्छा पूर्ण करूँगी और यह आज्ञा दी कि तू एक दोने में मेरा दूध दुहकर पी जा ॥ 65 ॥ राजा ने कहा- "माँ ! मैं चाहता हूँ कि बछड़े के पी चुकने और हवन-क्रिया से बच रहने पर ही ऋषि की आज्ञा लेकर मैं उसी प्रकार आपका दूध ग्रहण करूँ जैसे मैं राज्य की रक्षा करके उसका छठा भाग ग्रहण करता हूँ" ॥ 66 ॥ यह सुनकर तो नन्दिनी बहुत ही प्रसन्न हुई और राजा के साथ ही हिमालय की उस कन्दरा से बिना थके ही आश्रम की ओर लौट पड़ी ॥ 67 ॥ निर्मल चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख वाले राजाधिराज दिलीप जब वशिष्ठ जी के पास पहुँचे तब उनका प्रसन्न मुख देखते ही वशिष्ठ पहले से ही सब बातें समझ गए। इसलिए राजा ने जो समाचार सुनाया वह उन्हें ऐसा लगा मानो दुहराया जा रहा हो। गुरु से कह चुकने पर राजा दिलीप ने यह समाचार सुदक्षिणा से भी कह सुनाया ॥ 68 ॥ जब बछड़ा दूध पी चुका और हवन भी हो चुका तब सज्जनों के प्यारे प्रशंसनीय राजा दिलीप ने वशिष्ठ की आज्ञा से नन्दिनी का दूध ऐसे घुटक लिया मानों उन्हें बड़ी प्यास लगी रही

श्रोत्राभिरामध्वनिना रथेन स धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुः ।
 ययावनुद्धातसुखेन मार्गं स्वेनैव पूर्णो न मनोरथेन ॥ 72 ॥
 तमाहितौत्सुक्यमदर्शनेन प्रजाः प्रजार्थद्वतकर्षिताङ्गम् ।
 नेत्रैः पपुस्तृप्तिमनाप्नुवद्भिर्नवोदयं नाथमिवौषधीनाम् ॥ 73 ॥
 पुरंदरश्रीः पुरमुत्पताकं प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमानः ।
 भुजे भुजंगेन्द्रसमानसारे भूयः स भूमेर्धुरमाससञ्ज ॥ 74 ॥
 अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेविव द्यौः सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठधूतमैशम् ।
 नरपतिकुलभूयै गर्भमाधत्त राज्ञी गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः ॥ 75 ॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये

नन्दिनीवरप्रदानो नाम द्वितीयः सर्गः ।।



हो। उस दूध के उजलेपन का तो कहना ही क्या! उसको देखकर ऐसा जान पड़ा मानो स्वयं उजला यश ही दूध बन चला आया हो ॥ 69 ॥ दूसरे दिन प्रातःकाल जितेन्द्रिय वशिष्ठ ने समझ लिया कि गौ की सेवा का व्रत तो पूरा हो ही गया इसलिये उन्होंने राजा रानी दोनों को आशीर्वाद दिया कि तुम्हारा मार्ग आनन्द से कटे और उन्हें अयोध्या के लिये विदा कर दिया ॥ 70 ॥ विदा लेते समय राजा ने पहले हवन-कुण्ड की, फिर गुरु वशिष्ठ की, तब माता अरुन्धती की और सबसे पीछे बछड़े के साथ बैठी हुई नन्दिनीकी परिक्रमा की। महर्षि के आशीर्वाद पाने से उनका तेज और भी अधिक बढ़ गया ॥ 71 ॥ सहनशील राजा दिलीप अपनी धर्मपत्नी के साथ जिस रथ पर चढ़कर अयोध्या को चले उसकी ध्वनि कानों को बड़ी मीठी लग रही थी और वह ऐसा अच्छा था कि उसमें नाम को भी हचक नहीं लगती थी। इसलिये उस पर सुख से चढ़कर जाते हुए वे ऐसे लगते थे मानो वे अपने सफल मनोरथ पर ही बैठे चले जा रहे हों, रथ पर नहीं ॥ 72 ॥ राजा को अयोध्या से गए बहुत दिन हो गए थे इसलिये प्रजा उनके दर्शन के लिये तरसी पड़ रही थी। पुत्र की उत्पत्ति के लिये जो उन्होंने व्रत लिया था उससे वे कुछ दुबले हो गए थे। अब इतने दिनों बाद लौटने से उनकी प्रजा उन्हें ऐसी एक टक होकर देखने लगी जैसे लोग द्वितीया के चन्द्रमा के उदय होने पर उसे ध्यान से देखते हैं ॥ 73 ॥ इन्द्र के समान सम्पत्तिशाली राजा दिलीप ने प्रजा का आदर पाकर अपनी ऐसी अयोध्या नगरी में प्रवेश किया जिसमें उनके स्वागत के लिये झण्डे ऊँचे कर दिए गए थे। वहाँ पहुँचकर उन्होंने शेषनाग के समान अपनी बलवती भुजाओं से फिर राज-काज सँभाल लिया ॥ 74 ॥ जैसे अत्रि ऋषि के नेत्र से निकली हुई चन्द्रमारूपी ज्योति को आकाश ने धारण किया और जैसे स्कन्द को उत्पन्न करने वाले शंकर जी के उस तेज को गंगाजी ने धारण कर लिया जिसे अग्नि भी नहीं सँभाल सकी थी, वैसे ही रानी सुदक्षिणा ने राजा दिलीप का वंश चलाने के लिये (आठों दिशाओं के) लोकपालों के समान तेजस्वी पुरुषों के तेज से भरा हुआ गर्भ धारण कर लिया ॥ 75 ॥

महाकवि श्री कालिदास के रचे हुए रघुवंश महाकाव्य का नन्दिनी-वर-प्रदान नामक दूसरा सर्ग समाप्त हुआ।



तृतीयः सर्गः

अयेत्सितं भर्तृरुपस्थितोदयं सखीजनोद्वीक्षणकौमुदीमुखम् ।
 निदानमिक्ष्वाकुकुलस्य संतते सुदक्षिणा दौर्हदलक्षणं दधौ ॥ 1 ॥
 शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन सालक्ष्यत लोधपाण्डुना ।
 तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी ॥ 2 ॥
 तदाननं मृत्सुरभि क्षितीश्वरो रहस्युपाधाय न तृप्तिमाययौ ।
 करीव सिक्तं पृषतैः पयोमुचां शुचिव्यपाये वनराजिपल्लवम् ॥ 3 ॥
 दिवं मरुत्वानिव भोक्ष्यते भुवं दिगन्तविश्रान्तरथो हि तत्सुतः ।
 अतोऽभिलाषे प्रथमं तथाविधे मनो बबन्धान्यरसान्विलङ्घ्य सा ॥ 4 ॥
 न मे हिया शंसति किंचिदीप्सितं स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधीः ।
 इति स्म पृच्छत्यनुवेलमादृतः प्रियासखीरुत्तरकोशलेश्वरः ॥ 5 ॥
 उपेत्य सा दोहददुःखशीलतां यदेव वब्रुव तदपश्यदाहृतम् ।
 न हीष्टमस्य त्रिदिवेऽपि भूपतेतभूदनासाद्यमधिग्यधन्वनः ॥ 6 ॥
 क्रमेण निस्तीर्य च दीहदव्यथां प्रचीयमानावयवा रराज सा ।
 पुराणपत्रापगमादनन्तरं लतेव संनद्धमनोज्ञपल्लवा ॥ 7 ॥

तीसरा सर्ग

धीरे-धीरे रानी सुदक्षिणा के शरीर में उस गर्भ के लक्षण दिखाई देने लगे जो राजा दिलीप की इच्छा पूरी होने का सन्देश दे रहे थे जिन्हें देख-देखकर रानी की सखियों के नेत्रों को ऐसा सुख मिल रहा था मानो वे चाँदनी देखकर मगन हुई जा रही हों और जो इस बात के प्रमाण थे कि अब इक्ष्वाकु-वंश नष्ट नहीं हो पावेगा, बराबर चलता रहेगा ॥ 1 ॥ गर्भिणी होने से रानी बहुत दुबली पड़ गई थीं इसलिये उन्होंने अपने बहुत से गहने अलग उतार धरे। उनका मुँह लोध के फूल के समान पीला पड़ गया और इस वेश में वे पौ फटते समय की उस रात जैसी लगने लगीं जब तारे थोड़े ही बचे रह जाते हैं और चन्द्रमा भी पीला पड़ जाता है ॥ 2 ॥ जैसे गर्मी के अन्त में पहली बार वर्षा होने से जंगल के छोटे-छोटे तालों की मिट्टी सोंधी हो जाती है और हाथी उसे बार-बार सूँघते चलता है वैसे ही मिट्टी खाने से रानी सुदक्षिणा का जो मुँह सोंधा हो गया था उसे एकान्त में बार-बार सूँघ-कर भी राजा दिलीप अघा नहीं रहे थे ॥ 3 ॥ रानी होकर भी सुदक्षिणा ने सब पदार्थ छोड़कर मानो इसीलिये मिट्टी खाना आरम्भ किया कि भविष्य में मेरा पुत्र भी सम्पूर्ण पृथ्वी पर उसी प्रकार राजा करे जैसे स्वर्ग पर इन्द्र राज करते हैं ॥ 4 ॥ राजा दिलीप समझते थे कि सुदक्षिणा बड़ी लजीली है और अपने मनकी बात हमें बताती नहीं है इसलिये वे बार-बार उसके पास रहने वाली सखियों से ही पूछते रहते थे कि रानी को किन-किन वस्तुओं की इच्छा होती है ॥ 5 ॥ गर्भिणी रानी सुदक्षिणा का जब जिस वस्तु पर मन चलना था वह उसी समय उन्हें मिल भी जाती थी क्योंकि धनुर्धर राजा दिलीप को तो स्वर्ग की भी वस्तुएँ मिल सकती थीं फिर इस लोक की वस्तुओं की तो बात ही क्या था! ॥ 6 ॥ धीरे-धीरे जब गर्भ के प्रारम्भिक कष्ट बीत गए तब रानी वैसे ही दृष्ट-पुष्ट और सुन्दर लगने लगी जैसे वसन्त ऋतु में लताएँ पुराने पत्ते गिराकर नये कोमल पत्तों से लदकर सुन्दर लगने लगती हैं ॥ 7 ॥ थोड़े ही दिनों में उसके बड़े-बड़े स्तनों की घुंडियां काली पड़ गईं। इससे रानी के स्तन ऐसे सुन्दर लगने लगे कि उनकी शोभा के आगे कमल के जोड़े पर बैठे हुए भौरों की शोभा

दिनेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरं तदीयमानीलमुखं स्तनद्वयम् ।
 तिरश्चकार भ्रमराखिलनयोः सुजातयोः पङ्कजकोशयोः श्रियम् ॥ 8 ॥
 निधानगर्भाभिव सागराम्बरां शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम् ।
 नदीमिवान्तःसलिलां सरस्वतीं नृपः ससत्त्वां महिषीममन्यत ॥ 9 ॥
 प्रियानुरागस्य मनः समुन्नतेर्भुजार्जितानां च दिगन्तसंपदाम् ।
 यथाक्रमं पुंसवनादिकाः क्रिया धृतेश्च धीरः सदृशीर्व्यधत्त सः ॥ 10 ॥
 सुरेन्द्रमात्राश्रितगर्भगौरवात्प्रयत्नमुक्तासनया गृहागतः ।
 तयोपचाराञ्जलिखिन्नहस्तया ननन्द पारिप्लवनेत्रया नृपः ॥ 11 ॥
 कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तेरथ गर्भभ(क)र्मणि ।
 पतिः प्रतीतः प्रसवोन्मुखीं प्रियां ददर्श कले दिवमश्रितामिव ॥ 12 ॥
 ग्रहैस्ततः पञ्चभिरुच्चसंश्रयैरसूर्यगैः सूचितभाग्यसंपदम् ।
 असूत पुत्रं समये शचीसमा त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम् ॥ 13 ॥
 दिशः प्रसेदुर्मरुतो ववुः सुखाः प्रदक्षिणार्चिर्विरग्निराददे ।
 बभूव सर्वं शुभशंसि तत्क्षणं भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम् ॥ 14 ॥
 अरिष्ठशय्यां पारितो विसारिणा सुजन्मनस्तस्य निजेन तेजसा ।
 निशीथदीपाः सहसा हतत्विणो बभूवुरालेख्यसमर्पिता इव ॥ 15 ॥

भी हार मान बैठी ॥ 8 ॥ गर्भिणी रानी सुदक्षिणा को राजा दिलीप वैसी ही महत्ववाली समझते थे जैसे
 अमूल्य रत्नों से भरी हुई पृथ्वी, अपने भीतर अग्नि छिपाए रखनेवाला शमी का वृक्ष या भीतर ही भीतर
 जल बहाने वाली सरस्वती नदी ॥ 9 ॥ राजा दिलीप जितना रानी को प्यार करते थे, जितनी उन्हें प्रसन्नता
 थी और जितना उनका राज्य था उतने ही ठाट-बाट से उन्होंने पुंसवन आदि संस्कार भी किए ॥ 10
 ॥ जब धीरे-धीरे रानी सुदक्षिणा का वह गर्भ बढ़ने लगा जिसमें लोकपालों के अंश भरे थे, तब उन्हें
 उठने-बैठने में भी कठिनाई होने लगी, इसलिये जब राजा रनिवास में आते तब वे बड़ी कठिनाई से उनके
 स्वागत के लिए उठ पातीं, उनको प्रणाम करने के लिये जब वे हाथ जोड़तीं तो हाथ ढीले पड़ जाते और
 थकावट से बारबार आँखों में आँसू आने लगते। इन बातों को देख-देखकर राजा दिलीप बड़े प्रसन्न होते
 (क्योंकि वे समझते थे कि अब पुत्र होने में विलम्ब नहीं है) ॥ 11 ॥ बच्चों की चिकित्सा करने वाले
 बहुत से चतुर वैद्य वे सब उपाय किए डाल रहे थे जिनसे गर्भिणी सुखसे बच्चा जनती है और गर्भ पुष्ट
 होता है। दसवें महीने में राजा ने देखा कि शीघ्र ही पुत्रको जन्म देनेवाली रानी ऐसी लग रही है जैसे
 तत्काल बरसने वाले बादलों से घिरा हुआ आकाश हो ॥ 12 ॥ जिस प्रकार राजा अपनी तीन साधनाओं
 वाली शक्ति (तेज, उत्साह और ठीक मन्त्रणा) से अचल सम्पत्ति पा लेता है वैसे ही इन्द्राणी के समान
 तेजवाली सुदक्षिणा ने भी वह पुत्र उत्पन्न किया जिसके सौभाग्यशाली होने की सूचना वे पाँच शुभ ग्रह
 दे रहे थे जो उस समय उच्च स्थानपर थे और साथ में सूर्य के न होने से फल देने में समर्थ थे ॥ 13
 ॥ बालक के उत्पन्न होने के समय आकाश खुल गया, शीतल मन्द-सुगन्ध वायु चलने लगा और हवन
 की अग्नि की लपटें दक्षिण की ओर घूमकर हवन की सामग्रियाँ लेने लगी। सभी शकुन अच्छे हो रहे
 थे (और यह उचित भी था) क्योंकि ऐसे बालक तो संसार के कल्याण के लिये ही उत्पन्न होते हैं ॥
 14 ॥ उस भाग्यवान् बालक का तेज सौरी-घर में चारों ओर इतना छाया हुआ था कि आधी रात के समय

जनाय शुद्धान्तचराय शंसते कुमारजन्मामृतसंमिताक्षरम् ।
 अदेयमासीत्त्रायमेव भूपतेः शशिप्रभं छत्रमुशो च चामरे ॥ 16 ॥
 निवातपद्मस्तिमितेन चक्षुषा नृपस्य कान्तं पिबतः सुताननम् ।
 महोदधेः पूर इवेन्दुदर्शनाद्गुरुः प्रहर्षः प्रबभूव नात्मनि ॥ 17 ॥
 स जातकर्मण्यखिले तपस्विना तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते ।
 दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ ॥ 18 ॥
 सुखश्रवा मङ्गलतूर्यनिस्वनाः प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम् ।
 न केवलं सचनि मागधीपतेः पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि ॥ 19 ॥
 न संयतस्तस्य बभूव रक्षितुर्विसर्जयेद्यं सुतजन्महर्षितः ।
 ऋणाभिधानात्स्वयमेव केवलं तदापितृणां मुमुचे स बन्धनात् ॥ 20 ॥
 श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भकस्तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः ।
 अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थविच्चकार नाम्ना रघुमात्मसंभवम् ॥ 21 ॥
 पितुः प्रयत्नात्स समग्रसंपदः शुभैः शरीरावयवैर्दिनेदिने ।
 पुपोष वृद्धिं हरिदश्चदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमा ॥ 22 ॥

घर में रखे हुए दीपों का प्रकाश भी एकदम फीका पड़ गया और वे दीप ऐसे जान पड़ने लगे मानो चित्र में बने हुए हों ॥ 15 ॥ झट अन्तःपुरके सेवक ने राजा दिलीप को पुत्र होने का समाचार आ सुनाया । यह सुनकर वे इतने प्रसन्न हुए कि छत्र और दोनों चैवरों को छोड़कर (क्योंकि वे राजचिन्ह थे); शेष सब आभूषण उन्होंने उतारकर उसे दे डाले ॥ 16 ॥ वे तत्काल भीतर गए और जैसे वायु के रुक जाने पर कमल निश्चल हो जाता है वैसे ही वे एकटक होकर अपने पुत्र का मुँह देखने लगे । जैसे चन्द्रमा को देखकर महासमुद्र में ज्वार आ जाता है वैसे ही पुत्र को देखकर राजा को इतना अधिक आनन्द हुआ कि वह उनके हृदय में समाए न समा पाया ॥ 17 ॥ पुरोहित वशिष्ठ ने भी यह शुभ समाचार पाकर तपोवन से वहाँ आकर स्वभाव से ही सुन्दर उस बालक के सब जात कर्म आदि संस्कार कर डाले । संस्कार हो जाने पर वह बालक वैसा ही सुन्दर लगने लगा जैसे खान से निकालकर खरादा हुआ हीरा ॥ 18 ॥ वह बालक तो संसार का कल्याण करने वाला था इसलिये उसके जन्म लेने पर केवल सुदक्षिणा के पति दिलीप के ही राजमन्दिर में मनोहर बाजे और वेस्याओं के नाच आदि उत्सव नहीं होने लगे थे वरन् स्वर्ग में देवताओं के यहाँ भी नाच-गान होने लगा था ॥ 19 ॥ (जब राजकुमार का जन्म होता है तब बन्दी-गृहोंसे बन्दी छोड़ दिए जाते हैं पर राजा दिलीप के राज्य का ऐसा अच्छा प्रबन्ध था कि कोई अपराध ही नहीं करता था । इसलिये) राज्य में कोई बन्दी ही नहीं था जिसे वे पुत्र-जन्म की प्रसन्नता में छोड़ते । इसलिये उन्होंने यही समझा कि पुत्र न होने से जो मैं पितरों के ऋण के बन्धन में था उस बन्धन से आज मैं ही छूट गया हूँ ॥ 20 ॥ (शब्दों के ठीक) अर्थ पहचानने वाले राजा ने (रधि) धातु का 'जाना' अर्थ समझकर अपने पुत्र का नाम इसलिये रघु रक्खा कि वह सम्पूर्ण शास्त्रों के पार पहुँच जायगा और युद्ध क्षेत्र में शत्रुओं के व्यूहों को तोड़कर उनके भी पार चला जायगा ॥ 21 ॥ जैसे शुक्ल पक्षकी प्रतिपदा का चन्द्रमा सूर्य की किरणें पाकर दिन-दिन बढ़ने लगता है वैसे ही बालक रघु के अंग भी सम्पत्तिशाली पिता की देख-रेख में दिन-दिन बढ़ने लगे ॥ 22 ॥ जैसे कार्तिकेय के समान पुत्र को पाकर शंकर और पार्वती को अत्यन्त प्रसन्नता हुई थी और जयन्त-जैसे प्रतापी पुत्र को पाकर इन्द्र और शची प्रसन्न हुए

उमावृणाङ्गौ शरजन्मना यया यथा जयन्तेन शचीपुरंदरौ ।
 तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ ॥ 23 ॥
 रथाङ्गनाम्नोरिव भावबन्धनं बभूव यत्प्रेम परस्पराश्रयम् ।
 विभक्तमप्येकसुतेन ततयोः परस्परस्योपरि पर्यचीयत ॥ 24 ॥
 उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम् ।
 अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ॥ 25 ॥
 तमङ्गभारोप्य शरीरयोगजैः सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि ।
 उपान्तसंमीलितलोचनो नृश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ ॥ 26 ॥
 अमैस्त चानेन परार्ध्यधन्मना स्थितेरभेत्ता स्थितिमन्तमन्वयम् ।
 स्वमूर्तिभेदेन पराग्रयवर्तिना प्रतिः प्रजानामिव सर्गमात्मनः ॥ 27 ॥
 स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः ।
 लिपेर्यधावदग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् ॥ 28 ॥
 अद्योपनीतं विधिवद्विपश्चतो विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम् ।
 अवन्ध्ययत्नाश्च बभूवुरत्र ते क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति ॥ 29 ॥
 धियः समग्रैः स गुणैरुदारधीः क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमाः ।
 ततार विद्याः पवनातिपातिभिर्दिशो हरिद्विह्रिताभिवेश्वरः ॥ 30 ॥

थे वैसे ही उन दोनों के ही समान तेजस्वी पुत्र पाकर राजा दिलीप और रानी सुदक्षिणा भी दोनों बड़े प्रसन्न हुए ॥ 23 ॥ राजा और रानी में चकवे और चकवी के समान बड़ा गाढ़ा प्रेम था। वह प्रेम यद्यपि एकमात्र पुत्र रघु पर जा बैठा था फिर भी उनके परस्पर प्रेम में कोई कमी नहीं हुई, उलटे वह बढ़ता ही गया ॥ 24 ॥ जब बालक रघु कुछ बड़े हुए तब धायने उन्हें जो कुछ सिखाया उसे वे अपनी तोतली बोली में बोलने लगे, उसकी उँगली प्रकड़कर चलने लगे और सिर झुकाकर बड़ों को प्रणाम करना भी सीख गए। राजा दिलीप अपने पुत्र की ये बाल-लीलाएँ देख देखकर फूले नहीं समाते थे ॥ 25 ॥ जब राजा उसे गोद में उठाते तब उसको शरीर छूने से ही उन्हें ऐसा जान पड़ता था मानों उनके शरीर पर अमृत की फुहारे बरसी पड़ रही हों। उस समय आँखे बन्द करके वे बहुत देर तक यह आनन्द लेते ही रह जाते थे ॥ 26 ॥ जैसे प्रजापति ब्रह्मा ने अपने सतोगुण वाले अंश से विष्णु के प्रकट होने पर यह समझ लिया कि अब हमारी सृष्टि अमर हो गई, वैसे ही मर्यादापालक दिलीप ने भी समझ लिया कि रघु से भी सूर्यवंश सदा चलता रहेगा ॥ 27 ॥ मुण्डन-संस्कार हो जाने पर घने चंचल लटोंवाले तथा समान आयु वाले मंत्रियों के पुत्रों के साथ रघु ने पहले वर्णमाला लिखना-पढ़ना सीखा और फिर शास्त्र तथा काव्य का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया मानो नदी के मुहाने से होकर समुद्र में पैठ गए हों ॥ 28 ॥ यज्ञोपवीत हो चुकने पर रघु को चतुर पण्डित लोग सब विद्याएँ भी पढ़ाने लगे। इसमें गुरुओं का सारा परिश्रम सफल हो गया क्योंकि चतुर शिष्य को जो शिक्षा दी जाती है वह अवश्य फलती ही है ॥ 29 ॥ जैसे सूर्य अपने सरपट दौड़ने वाले घोड़ों की सहायता से थोड़े ही समय में चारों दिशाओं को पार कर लेता है वैसे ही बुद्धिमान् रघु ने अपनी तीव्र बुद्धिकी सहायतासे शीघ्र ही चार समुद्रों के समान विस्तृत (आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दंडनीति ये) चारों विद्याएँ सीख लीं ॥ 30 ॥ पवित्र रुरु मृग का चर्म पहन कर रघुने मंत्रयुक्त अस्त्रों की शिक्षा अपने पिता से ही प्राप्त की क्योंकि उनके पिता केवल चक्रवर्ती राजा ही नहीं थे वरन् अद्वितीय

त्वश्च स मेध्यां परिधाय रौरवीनशिक्षतास्त्रं पितुरेव भम्नवत् ।
 न केवलं तद्गुरुरेकपार्थिवः क्षितावमूवेकषनुर्धरोऽपि सः ॥ 31 ॥
 महोक्षतां वत्सतरः स्पृशन्निव द्विपेन्द्रभावं कलभः श्रयन्निव ।
 रघुः क्रमाद्यौवनभिन्नशैशवः पुपोष गाम्भीर्यमनोहरं वपुः ॥ 32 ॥
 अथास्य गोदानविधोरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयद्गुरुः ।
 नरेन्द्रवान्यास्तमवाप्य सत्पतिं तमोनुदं दक्षसुता इयावभुः ॥ 33 ॥
 युवा युगव्यायतचाहुरंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकंधारः ।
 वपुः प्रकर्षादजयद्गुरुं रघुस्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत ॥ 34 ॥
 ततः प्रजानां चिरमात्मना धृतां नितान्तगुर्वो लघयिष्यता धुरम् ।
 निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराजशब्दभाक् ॥ 35 ॥
 नरेन्द्रमूलायतनादनन्तरं दत्तास्पदं श्रीयुवराजसंगीतम् ।
 अगच्छर्दशेन गुणाभिलाषिणी नवावतारं कमलाविदोत्त्वलम् ॥ 36 ॥
 विभावसुः सारधिनेव वायुना धनव्यपावेन गभस्तिमाभिव ।
 बभूव तैतातितरां सुदुःसहः कटप्रभेदेन करीव पार्थिवः ॥ 37 ॥
 नियुज्य तं हीभतुरंगरक्षणे धनुर्धरं राजसुतैरनुदुतम् ।
 अपूर्णमेकेन शतक्रतूपमः शतं क्रतूनामपविघ्नमाप सः ॥ 38 ॥
 ततः परं तेन मखाय यज्वना तुरंगमुत्सृष्टमनर्गलं पुनः ।
 धनुर्मृतामग्रत एव रक्षिणां जहार शक्रः किल गूढविग्रहः ॥ 39 ॥

धनुष् चलाने वाले भी थे ॥ 31 ॥ जैसे गायका बछड़ा बड़ा होकर साँड़ हो जाता है और हाथीका बच्चा बढ़कर गजराज हो जाता है वैसे ही जब रघुने भी बचपन बिताकर युवावस्था में पैर रख्खा तब उनका शरीर और भी खिल उठा ॥ 32 ॥ राजाने गोदान-संस्कार करके उनका विवाह कर दिया। जैसे दक्षकी (अश्विनी आदि) कन्याएँ, चन्द्रमा जैसे पति को पाकर प्रसन्न हुई थीं वैसे ही राजकुमारियों भी रघु जैसा प्रतापी पति पाकर प्रसन्न हो गईं ॥ 33 ॥ युवावस्था के कारण रघु की भुजाएँ हलके जुए के समान दृढ़ और लम्बी हो गई, छाती चौड़ी हो गई और कंधे भारी हो गए। इस प्रकार डील-डोल बढ़ जाने के कारण रघु अपने बूढ़े पिता से भी ऊँचे और तगड़े लगने लगे; पर वे इतने नम्र भी थे कि उन्होंने कभी अपना वह बड़ापन प्रकट नहीं होने दिया ॥ 34 ॥ जब राजा दिलीप ने देखा कि शिक्षा आदि संस्कारों से रघु नम्र हो गए हैं और भली-भाँति राज्य सँभाल सकते हैं तब उन्होंने सोचा कि बहुत दिनों से जो राज्य मैं चला रहा हूँ उसे रघुको क्यों न सौंप दूँ। यह विचारकर उन्होंने रघु को युवराज बना दिया ॥ 35 ॥ जैसे सुन्दरता की देवी मुरझाए हुए कमल को छोड़कर नये कमल पर आ चढ़ती है वैसे ही राज्य-लक्ष्मी भी बूढ़े दिलीप को छोड़कर धीरे-धीरे रघु पर आ पहुँची ॥ 36 ॥ जैसे वायु की सहायता से अग्नि, शरद् ऋतु के खुले हुए आकाश को पाकर सूर्य और मद बहने के कारण हाथी प्रचण्ड हो जाता है वैसे ही प्रतापी रघुकी सहायता से दिलीप भी इतने शक्तिशाली हो गए कि उनके शत्रु उनसे थरथर काँपने लगे ॥ 37 ॥ इन्द्र के समान प्रभावशाली दिलीप ने यज्ञ के घोड़े की रक्षा का भार रघु और अन्य धनुर्धर राजकुमारों को सौंपकर निन्यानवे अश्वमेध यज्ञ बिना बाधा के पूरे कर डाले ॥ 38 ॥ तब दिलीप ने सौवाँ यज्ञ करने के लिये अपना घोड़ा छोड़ दिया। इन्द्रको यह बात बहुत खटकी और उन्होंने अपने को छिपाकर धनुषधारी

विषादलुप्तप्रतिपत्तिविस्मितं कुमारसैन्यं सपदि स्थितं च तत् ।
 वशिष्ठवेमुश्च यदृच्छयागता श्रुतप्रभावा ददृशेऽथ नन्दिनी ॥ 40 ॥
 तदङ्गनिस्थन्दजलेन लोचने प्रमृज्य पुण्येन पुरस्कृतः सताम् ।
 अतीन्द्रियेन्दुपुपन्नदर्शनो बभूव भावेषु दिलीपनन्दनः ॥ 41 ॥
 स पूर्णतः पर्वतपक्षाशासनं ददर्श देवं नरदेवसंभवः ।
 पुनः पुनः सूतनिषिद्धचापलं हरन्तमश्वं रथरश्मिसंयतम् ॥ 42 ॥
 शतैस्तमक्षामनिमेषवृत्तिभिर्हरिं विदित्या हरिभिश्च बाजिभिः ।
 अवोवदेनं गगनस्पृशा रघुः स्वरेण धीरेण निवर्तयन्निव ॥ 43 ॥
 मखांशभाजां प्रथमो मनीषिभिस्त्वमेव देवेन्द्र सदा निगद्यसे ।
 अजस्रदीक्षाप्रयतस्य मदगुरोः क्रियाविधाताय कथं प्रवर्तसे ॥ 44 ॥
 त्रिलोकनायेन सदा मखद्विषस्त्वया नियम्या ननु दिव्यचक्षुषा ।
 स चेत्स्वयं कर्मसु धर्मचारिणां त्वमन्तरायो भवसि च्युतो विधिः ॥ 45 ॥
 तवङ्गमस्यं मधवन्महाक्रतोरमुं तुरंगं प्रतिमोक्तुमर्हसि ।
 पथः श्रुतेर्दशवितार ईश्वरा मलीमसामादधते न पद्धतिम् ॥ 46 ॥
 इति प्रगल्भं रघुणा समीरितं वचो निशम्याधिपतिर्दिवौकसाम् ।
 निवर्धयामास रथं सविस्मयः प्रचक्रमे च प्रतियक्तुगुत्तरम् ॥ 47 ॥

रक्षकों के देखते-देखते उस घोड़े को पकड़ चुराया ॥ 39 ॥ जब घोड़े की रक्षा करने वाली रघु की सेना ने देखा कि घोड़ा देखते देखते अदृश्य हो गया तब तो वे बड़े घबराए और उन्हें आश्चर्य भी हुआ। ठीक उसी समय वहाँ वशिष्ठ ऋषि की प्रभावशालिनी गौ नन्दिनी घूमती-घामती चली आई ॥ 40 ॥ सज्जनों-द्वारा सम्मानित रघु ने तत्काल नन्दिनी का मूत्र अपनी आँखों से लगाया जिससे उन्हें उन सब वस्तुओं को देख सकने की शक्ति आ गई जो किसी भी इन्द्रिय से किमी को नहीं ज्ञान हो पातीं ॥ 41 ॥ इस प्रकार दिव्य दृष्टि प्राप्त करके रघु देखते क्या हैं कि पर्वतों के पँख काटने वाले इन्द्र स्वयं उस घोड़े को लिए चले जा रहे हैं और वह घोड़ा भी उनके रथ के पीछे बँधा हुआ, तुड़ाकर भागने का यत्न कर रहा है जिसे इन्द्र का सारथी बार-बार सँभाले जा रहा है ॥ 42 ॥ रघु ने आँख गड़ा कर देखा कि घोड़ा चुराकर ले जाने वाले के शरीर पर आँखें ही आँखें हैं, उन आँखों की पलकें भी नहीं गिरती हैं और उनके रथ के घोड़े भी हरे-हरे हैं। बस रघु ने समझ लिया कि हो न हो ये इन्द्र ही हैं और यह समझकर वे ऊँचे गंभीर स्वर से इस प्रकार इन्द्र से बोले मानो उन्हें लौटने को ललकार रहे हों ॥ 43 ॥ 'देवेन्द्र! विद्वानों का कहना है कि यज्ञ का भाग सबसे पहले आपको ही मिलता है। मेरे पिता भी आप लोगों के लिये ही यज्ञ कर रहे हैं फिर न जाने क्यों आप उसमें विघ्न डालने पर तुले हुए हैं ॥ 44 ॥ उलटे आपको तो चाहिए कि संसार में जो कोई भी यज्ञ में विघ्न डाले उसे आप स्वयं दंड दें, क्योंकि आप तो तीनों लोकों के स्वामी हैं; और जब स्वयं आप ही यज्ञ में विघ्न डालने लगेंगे तब तो संसार में धर्म ही लुप्त हो जायगा ॥ 45 ॥ इसलिये इन्द्रदेव! आप मेरे पिता के अश्वमेध यज्ञ के लिये इस घोड़े को छोड़ दीजिए। वेद का मार्ग दिखाने वाले महात्माओं को ऐसा ओछा काम करना शोभा नहीं देता ॥ 46 ॥ रघु के अभिमान भरे इन वचनों को सुनकर इन्द्रको बड़ा आश्चर्य हुआ और अपना रथ लौटाकर वे बोले- ॥ 47 ॥ 'राजकुमार! तुम जो कह रहे हो सब ठीक है। पर हम यशस्वियों का यह भी कर्तव्य है कि

यदात्थ राजन्यकुमार तत्तथा यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः ।
जगत्प्रकाशं तदशेषमिज्या भवद्गुरुलङ्घयितुं ममोद्यतः ॥ 48 ॥
हरिर्ययैषाः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरस्त्र्यम्बक एव मापरः ।
तथा विदुर्मा मुनयः शतक्रतुं द्वितीयगामी न हि शब्द एष नः ॥ 49 ॥
अतोऽयमश्वः कपिलानुकारिणा पितुस्त्वदीयस्य मयापहारितः ।
अलं प्रयत्नेन तवात्र मा निधाः पदं पदव्यां सगरस्य संततेः ॥ 50 ॥
तनः प्रहस्यापभयः पुरंदरं पुनर्बभाषे तुरगस्य रक्षिता ।
गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एष ते न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान् ॥ 51 ॥
स एधमुक्त्वा मधवन्तमुन्मुखः करिष्यमाणः सशरं शरासनम् ।
अतिष्ठदालीढविशेषशोभिना वपुःप्रकर्षेण विडम्बित्वश्लेवरः ॥ 52 ॥
रघोरवष्टम्भमयेन पत्त्रिणा हृदि क्षतो गोत्रभिषण्धमर्षणः ।
नवाम्युदानीकमुद्धूर्तलाञ्छने धनुष्यमोर्धं समवत्त खायकम् ॥ 53 ॥
दिलीवसूनोःस बृहद्दु ज्ञान्तरं प्रवित्र्य भीमासुरशोणितोचितः ।
पपावनास्यावितपूर्वमाशुगः कुतूहलेनेव मनुष्यशोणितम् ॥ 54 ॥
हरेः कुमारोऽपि कुमारविक्रमः सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्ग लौ ।
भुजे शचीपत्रविशेषकाङ्क्षिते स्वनामचिह्नं निचखान सायकम् ॥ 55 ॥

जो अपने से होड़ करने चलें उनसे अपने यशकी भी रक्षा करें। मैंने सौ यज्ञ करने का जो यश पाया है उसे तुम्हारे पिता मुझसे छीन लेना चाहते हैं ॥ 48 ॥ देखो! जिस प्रकार पुरुषोत्तम केवल विष्णु ही हैं, त्र्यम्बक केवल शंकर ही हैं वैसे ही मुनि लोग शतक्रतु (सौ यज्ञ करने वाला) केवल मुझे ही कहते हैं। जिन नामों से हम लोग प्रसिद्ध हैं, वे नाम दूसरे नहीं रख सकते ॥ 49 ॥ इसलिए जैसे कपिल मुनि ने तुम्हारे पुरखे सागर के घोड़े को हर लिया था वैसे ही मैंने भी तुम्हारे पिता के इस घोड़े को हर लिया है। इसे छुड़ाने का तुम कोई प्रयत्न मत करो, नहीं तो जैसे कपिल मुनि के क्रोध से सगर के साठ सहस्र पुत्र भस्म हो गए थे वैसे ही हमारे क्रोध से तुम भी भस्म हो जाओगे ॥ 50 ॥ यह सुनकर अश्व के रक्षक रघु ने निडर होकर हँसते हुए इन्द्र से कहा- 'यदि आपने यही निश्चय किया है तो शस्त्र उठाइए और युद्ध कीजिये। रघु को जीते बिना आप घोड़ा लेकर नहीं जा सकते' ॥ 51 ॥ यह कहकर रघु ने धनुष पर बाण चढ़ाया और पैतरा साधकर इन्द्र की ओर मुँह उचकाकर खड़े हो गए। उस समय वे ऐसे लग रहे थे मानो इन्द्र से युद्ध करने के लिये स्वयं शंकर ही आ डटे हों ॥ 52 ॥ रघु ने खंभे के समान दृढ़ एक बाण इन्द्र की छाती में खींच ही तो मारा। इससे इन्द्र बड़े क्रोधित हो उठे और उन्होंने अपने धनुष पर ऐसा बाण चढ़ाया जिसका वार कभी चूकता नहीं। इन्द्र का वह धनुष इतना सुन्दर था कि थोड़ी देर के लिए उसने नये बादलों में इन्द्र-धनुष जैसे रंग भर दिए ॥ 53 ॥ बड़े-बड़े राक्षसों का रक्त पीने वाले उस बाण ने रघु की छाती में घुसकर वहाँ का रक्त बड़े चाव से पीया क्योंकि उसे अभी तक कभी मनुष्य के रक्त का स्वाद तो मिल नहीं पाया था ॥ 54 ॥ कार्तिकेय के समान पराक्रमी रघु ने भी अपना नाम खुदा हुआ एक बाण इन्द्र की उस बाईं भुजा पर तड़ाक से खींच मारा जिसकी उँगलियाँ ऐरावत को बार-बार थपथपाने से कड़ी हो गई थीं और जिस पर शची ने कुमकुम आदि से कुछ चित्रकारी भी कर दी थी ॥ 55 ॥ फिर रघु ने मोर के पंख वाले दूसरे बाण से वज्र-जैसी इन्द्र की ध्वजा को भी काट

जहार चाम्येद मयूरपत्त्रिणा शरेण शक्रस्य महाशनिध्वजम् ।
 धुकोप तस्मै स भृशं सुरश्रियः प्रसह्य केशव्यपरोपणादिव ॥ 56 ॥
 तयोरुपान्तस्थितसिद्धसैनिकं गरुत्मदाशीविषभीमदर्शनैः ।
 बभूव युद्धं तुमुलं जयैषिणोरधोमुखैरुर्ध्वमुखैश्च पत्त्रिभिः ॥ 57 ॥
 अतिप्रबन्धप्रहितास्त्रवृष्टिभिस्तमाश्रयं दुष्प्रसहस्य तेजसः ।
 शशाक निर्वापयितुं न वासवः स्वतश्च्युतं वह्निमिवाद्भिरम्युदः ॥ 58 ॥
 ततः प्रकोष्ठे हरिचन्दनाङ्किते प्रमथ्यमातार्णवधीरनादिनीम् ।
 रघुः शशांकार्धमुखेन पत्त्रिणा शरासनज्यमलुनाद्विजैजसः ॥ 59 ॥
 स चापमुत्सृज्य विवृद्धमत्सरः प्रणाशनाय प्रबलस्य विद्विषः ।
 महीध्रपक्षच्यपरोपणोचितं स्फुरत्प्रभामण्डलमस्त्रमाददे ॥ 60 ॥
 रघुर्मृश यक्षसि तेन ताडितः पपात भूमौ सह सैनिकाश्रुभिः ।
 निमेषमात्रादवधूय तद्व्यथा सहोत्थितः सैनिकहर्षनिःस्वनैः ॥ 61 ॥
 तथापि शस्त्रव्यवहारनिष्ठुरे विपक्षभावे चिरमस्य तस्थुषः ।
 सुतोष धीर्वासिशयेन वृत्रहा पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते ॥ 62 ॥
 असङ्गमद्विष्वपि सारवत्तया न मे त्वदन्येन विसीदमायुषम् ।
 अवेहि मां प्रीतमृते तुरंगमात्किमिच्छसीति स्फुटमाह वासवः ॥ 63 ॥
 ततो निष्ठादसमग्रमुद्धृतं सुवर्णपुङ्खद्युतिरञ्जिताङ्गुलिम् ।
 नरेन्द्रसुनुः प्रतिसंहरन्निष्णुं प्रियंवदः प्रत्यवदसुरेश्वरम् ॥ 64 ॥

डाला । उससे इन्द्र को ऐसा क्रोध हुआ मानो किसी ने बलपूर्वक देवताओं की राज्य लक्ष्मी के सिर के बाल ही काट उतारे हों ॥ 56 ॥ रघु और इन्द्र दोनों ही अपनी-अपनी जीत चाह रहे थे और दोनों ही सूर्य के समान तीखे बाणों से भयंकर युद्ध कर रहे थे । रघु को लक्ष्य बनाकर इन्द्र नीचे की ओर अपने बाण चलाते थे और इन्द्र को ताक-ताककर रघु ऊपर बाण चला रहे थे । ऊपर देवता और नीचे रघु के सैनिक यह अचरज-भरा युद्ध बड़े आश्चर्य से खड़े देख रहे थे ॥ 57 ॥ जैसे घोर वर्षा करके बादल भी अपने हृदय में उत्पन्न बिजली को नहीं बुझा पाता वैसे ही इन्द्र भी अपने अंश से पैदा हुए रघु को बाणों की वर्षा से नहीं हरा पा रहे थे ॥ 58 ॥ तब रघु ने अर्द्धचंद्र के आकार के बाण से इन्द्र की कलाई के पास धनुष की वह डोरी ही काट डाली जिसमें से बाण चलाते समय ऐसा प्रचण्ड शब्द होता था जैसे मथे जाने के समय क्षीर-समुद्र में होता था ॥ 59 ॥ धनुष की डोरी कट जाने से इन्द्र क्रोध से लाल हो उठे । उन्होंने धनुष को तो दूर उठा फेंका और अपने प्रबल शत्रु रघु को मारने के लिये पर्वतों के पंख काटने वाला अग्नि के समान चमचमाता वज्र उठा चलाया ॥ 60 ॥ उस वज्र के लगते ही रघु पृथ्वी पर जा गिरे । उनके गिरते ही उनके सैनिकों ने रोना-पीटना आरम्भ कर दिया । किन्तु क्षण भर में ही जब वे सँभलकर उठ खड़े हुए तब उनके साथ ही उनके सैनिकों की जयजयकार भी आकाश में गूँज उठी ॥ 61 ॥ वज्र की चोट से क्षण भर में सँभलकर रघु फिर लड़ने के लिये आ डटे । उनकी इस अद्वितीय वीरता को देखकर इन्द्र को बड़ा सन्तोष हुआ । ठीक भी था, क्योंकि गुणों का आदर तो सर्वत्र होता ही है ॥ 62 ॥ इन्द्र ने कहा- 'देखो राजकुमार! पर्वतों के पंख काटने वाले मेरे कठोर वज्र की चोट को तुम्हें छोड़कर आज-तक कोई नहीं सह पाया । मैं तुम्हारी वीरता पर प्रसन्न हूँ । तुम इस घोड़े को छोड़कर और

अमोच्यमश्वं यदि मन्यसे प्रथे ततः समाप्ते विधिनैव कर्मणि ।
 अजस्रदीक्षाप्रयतः स मदगुरुः क्रतोरशेषेण फलेन युज्यताम् ॥ 65 ॥
 यथा च वृत्तान्तमिमं सदोगतस्त्रिलोचनैकांशतया दुरासदः ।
 तदैव संदेशहराद्विशांपतिः शृणोति लोकेश तथा विधीयताम् ॥ 66 ॥
 तद्येति कामं प्रतिशुश्रुवान्नघोर्यथागतं मातलिसारथिर्ययौ ।
 नृपस्य नातिप्रमनाः सदोगृहं सुदक्षिणासूनुरपि न्यवर्तत ॥ 67 ॥
 तमन्यनन्दप्रथमं प्रबोधितः प्रजेश्वरः शासनहारिणा हरेः ।
 परामृशन्हर्षजडेन पाणिना तदीयमङ्गं कुलिशत्रणाङ्कितम् ॥ 68 ॥
 इति क्षितीशो नवतिं नवाधिकां महाक्रतूनां महनीयशासनः ।
 समारुरुक्षुर्दिवमायुषः क्षये ततान सोपानपरम्यरामिव ॥ 69 ॥
 अथ स विवयव्यावृभात्या यथाविधि सूनवे नृपतिककुदं वत्त्वा बने सितातमवारणम्
 मुनिमतरुच्छायां देव्या तथा सह शिश्रिये गलितवयसामिक्ष्वाकूणायिदं हि कुलव्रतम् ॥ 70 ॥
 इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
 रघुराज्याभिषेको नाम तृतीयः सर्गः ।।



जो कुछ मुझसे माँगना चाहो, माँग लो ॥ 63 ॥ इन्द्र के ये वचन सुनकर रघु ने तूणीर से आधे निकले हुए उस बाण को फिर से उसमें डाल दिया जिसके सुनहरे पंख की चमक से रघु की उँगलियों के नख भी चमक उठे थे और फिर वे इन्द्र से बोले ॥ 64 ॥ 'इन्द्रदेव! यदि आप घोड़े को नहीं देना चाहते हैं तो यही वरदान दीजिए कि मेरे पिता विधिपूर्वक यज्ञ को समाप्त करके इस घोड़े के बिना ही सौ अश्वमेध यज्ञ करने का फल पा जायें ॥ 65 ॥ लोकेश! मेरे पिता यज्ञ-मंडप में अष्टमूर्ति शिव के एक अंश के रूप में बैठे हुए हैं अतः वहाँ इस समय हम लोगों में से कोई पहुँच नहीं सकता। इसलिये ऐसा उपाय कीजिए जिससे आपका ही कोई दूत जाकर उन्हें यह समाचार सुना आवे' ॥ 66 ॥ इन्द्र ने कहा- ठीक है, 'ऐसा ही होगा।' यह कहकर जिस मार्ग से वे आए थे उसी मार्ग से लौट भी गए। सुदक्षिणा के पुत्र रघु भी अपने पिता राजा दिलीप की यज्ञसभा में लौट आए। वे बड़े खिन्न थे क्योंकि इन्द्र से युद्ध में जीतने पर भी अश्वमेध का घोड़ा लौटा न पाने का उन्हें बड़ा दुःख था ॥ 67 ॥ रघु के पहुँचने के पहले ही इन्द्र के दूत ने राजा दिलीप को सब वृत्तान्त सुना दिया था। इसलिये जब रघु वहाँ आए तब राजा दिलीप ने उसकी बड़ी प्रशंसा की और जहाँ उन्हें वज्र लगा था वहाँ धीरे-धीरे सहलाने लगे ॥ 68 ॥ इस प्रकार जिन दिलीप की आज्ञा कोई टाल नहीं सकता था उन्होंने मानो स्वर्ग जाने के लिये निन्यानबे यज्ञों की सीढ़ी-सी बना ली थी ॥ 69 ॥ तब संसार के सब विषय छोड़कर राजा दिलीप ने अपने नवयुवक पुत्र रघु को शास्त्रों के अनुसार छत्र, चँवर आदि राजचिह्न भी सौंप दिए और देवी सुदक्षिणा के साथ तप करने के लिये जंगल की राह ली क्योंकि इक्ष्वाकु-वंश के राजाओं में यही परम्परा चली आई थी कि वे बूढ़े होने पर जंगल में जाकर तपस्या करने लगते थे ॥ 70 ॥

महाकवि श्रीकालिदास के रचे हुए रघुवंश महाकाव्य में रघु का राज्याभिषेक नामक तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥



॥ चतुर्थः सर्गः ॥

सराज्यं गुरुणा दत्तं प्रतिपद्याधिकं बभौ । दिनान्ते निहितं तेजः सवित्रेव हुताशनः ॥ 1 ॥
 दिलीपानन्तरं राज्ये तं निशम्य प्रतिष्ठितम् । पूर्वं प्रधूमितो राज्ञां हृदयेऽग्निरिवोत्थितः ॥ 2 ॥
 पुरुहूतध्वजस्येव तस्योन्नयनपङ्क्तयः । नवाच्युत्थानदर्शिन्यो ननन्दुः सप्रजाः प्रजाः ॥ 3 ॥
 सभमेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना । तेन सिंहासनं पित्र्यमखिलं चारिमण्डलम् ॥ 4 ॥
 छायामण्डललक्ष्येण तमदृश्या किल स्वयम् । पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम् ॥ 5 ॥
 परिकल्पितसान्निध्या काले काले च बन्दिषु । स्तुत्यं स्तुतिभिरर्थ्याभिरुपतस्ये सरस्वती ॥ 6 ॥
 मनुप्रभृतिभिर्मान्यैर्भुक्ता यद्यपि राजभिः । तथाप्यनन्यपूर्वं तस्मिन्नासीद्वसुंधरा ॥ 7 ॥
 स हि सर्वस्य लोकस्य युक्तदण्डतया मनः । आददे नासिशीतोष्णो नभस्वानिव दक्षिणः ॥ 8 ॥
 मन्दोत्कृष्टाः कृतास्तेन गुणाधिकतया गुरौ । फलेन सहकारस्य पुष्पोद्गम इव प्रजाः ॥ 9 ॥
 नयविद्भिर्नैवे राज्ञि सदसच्चोपदर्शितम् । पूर्वं एवाभवत्पक्षस्तस्मिन्नाभवदुत्तरः ॥ 10 ॥
 पश्चानामपि भूतानामुत्कर्षं पुपुषुर्गुणाः । नवे तस्मिन्महीपाले सर्वं नवमिवाभवत् ॥ 11 ॥

चौथा सर्ग

जैसे सौंझ के सूर्य से तेज लेकर आग चमक उठती है वैसे ही अपने पिता से राज्य पाकर रघु और भी तेजस्वी हो उठे ॥ 1 ॥ जब दूसरे राजाओं ने सुना कि दिलीप के पीछे रघु राजा हो गए तब उनके हृदय में वैर की जो आग धीरे-धीरे सुलग रही थी वह मानो भड़क उठी ॥ 2 ॥ राजा रघु जब अपने ऊँचे सिंहासन पर बैठते थे तब उनकी प्रजा के सब बूढ़े-बच्चे उनकी ओर आँखें उठाकर देखते हुए वैसे ही प्रसन्न होते थे जैसे आकाश में उठे हुए नये इन्द्रधनुष को देखकर लोग प्रसन्न हो उठते हैं ॥ 3 ॥ हाथी के समान मस्त चाल से चलने वाले राजा रघु ने पिता के सिंहासन पर और अपने शत्रुओं पर एक साथ अधिकार कर लिया ॥ 4 ॥ जब वे सिंहासन पर बैठते थे उस समय उनके चारों ओर प्रकाश का ऐसा घेरा सा बन जाता था; जिसे देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो लक्ष्मी स्वयं छिपकर उजले से कमल का छत्र लेकर उनके पीछे आ खड़ी हुई हों ॥ 5 ॥ समय-समय पर सरस्वती भी उनके चारणों के कंधों में बैठकर अर्थ भरा बिरद सुनाकर उन प्रशंसनीय राजा रघु का गुण गाती चलती थीं ॥ 6 ॥ यों तो रघु से पहले मनु आदि बहुत से प्रतापी राजा पृथ्वी को भोग चुके थे पर रघु के हाथ में पहुँचकर वही पृथ्वी ऐसी नई जान पड़ने लगी मानो पहले-पहल रघु के ही हाथों में आई हो ॥ 7 ॥ जैसे वसंत का पवन बहुत शीत या बहुत गरम न होने के कारण सबको भाता है वैसे ही रघु भी (न तो अधिक कठोर थे न अधिक कोमल) जो जैसा अपराध करता था उसको वैसा ही दंड देते थे । इस प्रकार के न्याय से उनकी प्रजा भी उनसे बड़ी प्रसन्न थी ॥ 9 ॥ और जैसे आम का सुन्दर फल देखकर लोग उसके बौर को भूल जाते हैं वैसे ही रघु में राजा दिलीप से अधिक गुण देखकर लोग दिलीप को भूल गए ॥ 9 ॥ नीति जानने वाले मंत्रियों ने यद्यपि रघु को सरल और कुटिल दोनों प्रकार की नीतियों से राज्य चलाने की विधियाँ सिखायी थीं, किन्तु उस धर्मात्मा राजा ने सीधी नीति को ही अपनाया, टेढ़ी नीति को छोड़ दिया ॥ 10 ॥ रघु के सिंहासन पर बैठते ही जल की मिठास अधिक हो गई, फूलों की सुगन्ध बढ़ गई और (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु; आकाश इन) पाँचों तत्वों के गुण भी बढ़ने लगे । ऐसा जान पड़ने लगा मानो नये राजा को पाकर सभी वस्तुएँ नई ही हो चली हों ॥ 11 ॥ जैसे सबको आनन्द देकर चन्द्रमा ने अपना 'चन्द्र'

यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा । तथैव साऽभूदन्यथो राजा प्रकृतिरञ्जनात् ॥ 12 ॥
 कार्मकणान्सविश्रान्ते विशाले तस्य लोचने । चक्षुष्मता तुशास्त्रेण सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिना ॥ 13 ॥
 लङ्घप्रशमनस्वस्थमधैनं समुपस्थिता । पार्थिवश्रीर्द्वितीयेव शरत्पङ्कजलक्षणा ॥ 14 ॥
 निर्युष्टलघुभिर्मैधैर्मुक्तवर्त्मा सुदुःसहः । प्रतापस्तस्य भानोश्च युगपद्व्यानशो दिशः ॥ 15 ॥
 वार्षिकं संजहारेन्द्रो धनुर्जेत्रं रघुर्दधौ । प्रजार्थसाधने तौ हि पर्यायोद्यतकार्मुकौ ॥ 16 ॥
 पुण्डरीकातपत्रस्तं विकसत्काशचामरः । ऋतुर्विडम्बयामास न पुनः प्राप तच्छ्रूयम् ॥ 17 ॥
 प्रसादसुमुखे तस्मिश्चन्द्रे च विशदप्रभे । तदा चक्षुष्मतां प्रीतिरासीत्समरसा द्वयोः ॥ 18 ॥
 हंसश्रेणीक्षु तारासु कुमुदत्सु च वारिषु । विभूतयस्तदीयानां पर्यस्ता यशसामिव ॥ 19 ॥
 इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम् । आकुमारकथोद्धातंशालिगोप्यो जगुर्यशः ॥ 20 ॥
 प्रससादोदयादम्भः कुम्भयोनेर्महौजसः । रघोरभिभवाशाङ्कि चुक्षुमे तृष्णतां मनः ॥ 21 ॥
 मदोदयाः ककुब्धन्तः सरितां कूलमुद्गजाः । लीलाखेलमनुप्रापुर्महोक्षास्तस्य विक्रमम् ॥ 22 ॥
 प्रसवैः सप्तपर्णानां मदगन्धिभिराहताः । असूययेव तन्नागाः सप्तजैव प्रसुस्तु शुः ॥ 23 ॥

नाम सार्थक कर दिया और सबको तपाकर सूर्य ने अपना 'तपन' नाम सार्थक किया, वैसे ही रघु ने भी प्रजा का रंजन करके, उन्हें सुख देकर अपना 'राजा' नाम सार्थक कर दिया ॥ 12 ॥ यद्यपि रघु के नेत्र कानों तक फैले हुए और बहुत बड़े-बड़े थे पर इन्हें अधिक भरोसा अपने उस शास्त्र-चक्षु पर था जिससे वे सूक्ष्म से सूक्ष्म बात को भी झट समझ जाते थे ॥ 13 ॥ अब रघु ने अपने राज्य में शान्ति स्थापित कर ली और उनका चित्त ठिकाने हुआ तभी दूसरी राज्य लक्ष्मी के समान वह शरद् ऋतु आ गई जिसमें चारों ओर सुन्दर कमल खिल उठे थे ॥ 14 ॥ जैसे वर्षा बीत चुकने और बादल छँट जाने पर खुले आकाश में चमकने वाले प्रचण्ड सूर्य का प्रकाश चारों ओर फैल गया था वैसे ही शत्रुओं के नष्ट हो जाने पर रघु का प्रचंड प्रताप भी चारों ओर फैल गया ॥ 15 ॥ जब इन्द्र ने अपना वर्षा-ऋतु वाला इन्द्र-धनुष हटा लिया तब रघु ने अपना विजयी धनुष हाथ में उठा लिया क्योंकि ये दोनों ही वारी-वारी से प्रजा की भलाई किया करते रहते थे ॥ 16 ॥ शरद-ऋतु भी रघु के छत्र और चँवर को देखकर कमल के छत्र और फूले हुए काँस के चँवर लेकर रघु से होड़ तो करने चली, पर सब इतना कुछ करने पर भी वह उनकी शोभा नहीं ही पा सकी ॥ 17 ॥ शरद-ऋतु में रघु के खिले हुए मुख और उजले चन्द्रमा दोनों को देखकर दर्शकों को एक-सा आनन्द मिलता था ॥ 18 ॥ उजले हंसों की उड़ती हुई पाँतों, रात को छिटके हुए टिमटिमाते तारों और तालों में खिली हुई कोई को देखकर जान पड़ता था कि रघु की कीर्ति ही इतने रूप बनाकर आ फैली है ॥ 19 ॥ (प्रजा को वे इतने प्यारे थे कि) धान के खेतों की रखवाली करने वाली किसानों की स्त्रियाँ भी ईख की छाया में बैठकर प्रजापालक राजा रघु की बचपन से तब तक की गुणकथाओं के गीत बना-बनाकर गाती रहती थीं ॥ 20 ॥ इधर तो चमकीले अगस्त्य तारे के निकलने से जल निर्मल हो गया, उधर शत्रुओं के मन में यह जानकर खलबली मच गई कि अब न जाने कब रघु हम पर चढ़ाई कर बैठे ॥ 21 ॥ उस ऋतु में ऊँचे-ऊँचे कंधों वाले मतवाले साँड़ नदियों के कगार ढाते हुए ऐसे लगते थे मानो वे रघु के लड़कपन के खेलों का अनुकरण कर रहे हों ॥ 22 ॥ (शरद ऋतु में चारों ओर) छतिवन के जो फूल फूले हुए थे उनकी मद भरी गन्ध पाकर (रघु के हाथियों ने सोचा कि ये भी हाथी हैं और हमसे होड़ करके मद बहा रहे हैं। इसलिये वे भी) रीस के मारे अपनी सूँड़ के नथनों से दोनों कपोलों से, कमर से और दोनों आँखों से मद बहाने लगे ॥ 23 ॥ शरद् के आते ही नदियों का पानी भी उतर

सरितः कुर्दती कम्साः पथश्चाश्वानकर्तुमान् । यात्रायै चोदयायास तं शक्तेः प्रथमं शरत् ॥ 24 ॥
 तस्मै सम्यधुले वह्निर्वाजिनीराजनाविधौ । प्रदक्षिणार्चिव्याजेन हस्तेनेव जयं ददौ ॥ 25 ॥
 स गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपाष्णिरयान्वितः । षडविधं बलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया ॥ 26 ॥
 अवाकिरन्धयोवृद्धास्तं लाजैः पौरयोषितः । पृषतैर्मन्दरोद्धतैः क्षीरोर्मय इवाच्युतम् ॥ 27 ॥
 स ययौ प्रथमं प्राचीं तुल्यः प्राचीनबर्हिषा । अहिताननिलोद्धतैस्तर्जयन्निव केतुभिः ॥ 28 ॥
 रजोभिःस्पन्दनोद्धतैर्मजैश्च धनसंनिभैः । भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन्व्योमेव भूतलम् ॥ 29 ॥
 प्रतापोऽग्रेततः शब्दः परागस्तदनन्तरम् । ययौ पश्चाद्रथादीति चतुःस्कन्धेव सा चमूः ॥ 30 ॥
 मरुपृष्ठान्युदम्भांसिनाव्याः सुप्रतरानदीः । विपिनानि प्रकाशानिशक्तिमत्त्वाच्चकार सः ॥ 31 ॥
 स सेनां महतीं कथन्पूर्वसागरगामिनीम् । बभौ हरजटाभ्रष्टां गङ्गामिव भगीरथः ॥ 32 ॥
 त्याजितैः फलमुत्कातैर्मनैश्च बहुधा नृपैः । तस्यासीदुल्लवणो मार्गः पादपैरिव दन्तिनः ॥ 33 ॥
 पौरस्त्यानेवमाक्रमस्तां स्तब्जपदाब्जयी । प्राप तालीवनश्याममुपकण्ठं महोदधेः ॥ 34 ॥

गया और मार्ग का कीचड़ भी सूख गया, मानो शरद् ऋतु ने रघु के सोचने से पहले ही उन्हें दिग्विजय करने को उकसा दिया हो ॥ 24 ॥ यात्रा के लिये चलने से पहले घोड़ों की पूजा के लिये जो हवन होने लगा था उस अग्नि की लपटें भी दाहिनी ओर घूमती हुई उठ रही थीं मानो अपने हाथ उठा-उठाकर रघु को पहले से ही विजय दिए डाल रही हों ॥ 25 ॥ सौभाग्यशाली रघु ने पहले राजधानी और सीमा के गढ़ों की रक्षा का प्रबन्ध किया, फिर शुभ मुहूर्त में (घुड़सवार, हाथी, रथ, पैदल, गुप्तचर और शत्रु के राज्य के मार्ग को जानने वालों की) छह प्रकार की सेनाओं को लेकर वे विजय के लिए निकल पड़े ॥ 26 ॥ जैसे मन्दारचल से मथते समय क्षीरसागर की लहरों की उछलती हुई उजली फुहारें विष्णु भगवान् पर बरसी पड़ रही थीं वैसे ही नगर की बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों ने विजय-यात्रा के लिये जाते हुए रघु के ऊपर धान की खिलें उछाल बरसाई ॥ 27 ॥ इन्द्र के समान प्रतापी राजा रघु दिग्विजय के लिये पहले पूर्व की ओर चले । वायु लगने से सेना की जो झंडियाँ फरफरा रही थीं वे मानों शत्रुओं को उँगली उठाकर डाँटे जा रही थीं ॥ 28 ॥ रघु के रथों के चलने से जो धूल ऊपर उड़ी उसने आकाश को पृथ्वी बना दिया । इधर पृथ्वी पर चलती हुई सेना के जो काले-काले बादल जैसे हाथी लग रहे थे उनसे पृथ्वी भी आकाश जैसी लगने लगी थी ॥ 29 ॥ (रघु का प्रताप इतना अधिक था कि सेना के पहुँचने से पहले ही शत्रु काँप जाते थे ।) इस प्रकार आगे-आगे उनका प्रताप चलता था, पीछे उनकी सेना का कोलाहल सुनाई पड़ता था, तब धूल उड़ती दिखाई देती थी और सबसे पीछे रथ आदि की सेना चलती आती हुई ऐसी लगती थी मानो रघु की सेना चार भागों में बँटी हुई चली आ रही हो ॥ 30 ॥ रघु के पास ऐसे साधन थे कि मरुभूमि में भी जल की धाराएँ बहने लगीं, गहरी नदियों पर पुल बँध गए और घने जंगलों में खुले मार्ग बन गए ॥ 31 ॥ अपनी विशाल सेना के साथ पूर्वी समुद्र की ओर बढ़ते जाते समय वे ऐसे लग रहे थे मानो शंकर की जटा से निकली हुई गंगा को साथ लिये हुए भागीरथ (पूर्वी समुद्र की ओर) चले जा रहे हों ॥ 32 ॥ जैसे कोई बलवान् जंगली हाथी किसी वृक्ष को तो केवल धक्का मारकर छोड़ देता है, किसी को उखाड़ फेंकता है और किसी को तोड़ देता है वैसे ही रघु ने किसी राजा से तो कर लेकर उसे छोड़ दिया, किसी का राज्य उखाड़ फेंका और किसी को लड़ाई में ध्वस्त कर डाला । इस प्रकार शत्रुओं का नाश करके उन्होंने अपने मार्ग के सब रोड़े दूर कर डाले ॥ 33 ॥ विजयी राजा रघु पूर्वी राज्यों को जीतते हुए उस समुद्र के किनारे जा पहुँचे रुककर खड़े हुए ताड़ के वृक्षों की छाया पड़ने से काला दिखाई पड़ने

अनम्राणां समुद्धर्तुस्तस्मात्सिन्धुरयादिव । आत्मा संरक्षितः सुहृद्वृत्तिमाश्रित्यवैतसीम् ॥ 35 ॥
 बङ्गानुत्खाय तरसामेतानौसाधनोद्यतान् । निचखान जयस्तम्भान्गङ्गास्रोतोन्तरेषुसः ॥ 36 ॥
 आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम् । फलैः संवर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः ॥ 37 ॥
 स तीर्त्वा कपिशां सैन्यैर्बद्धद्विरवसेतुभिः । उत्कलादर्शितपथः कलिङ्गाभिमुखो ययौ ॥ 38 ॥
 स प्रतापं महैन्द्रस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णं न्यवेशयत् । अङ्गुशं द्विरदस्येव यन्ता गम्भीरवेदिनः ॥ 39 ॥
 प्रतिजग्राह कालिङ्गस्तमस्त्रैर्गजसाधनः । पक्षच्छेदोद्यतं शक्रं शिलावर्षीव पर्वतः ॥ 40 ॥
 तृषां विषह्य काकुत्स्थस्तत्र नाराचदुर्दिनम् । सन्मङ्गलस्नात इव प्रतिपेदे जयश्रियम् ॥ 41 ॥
 ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचिताऽऽपानभूमयः । नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः ॥ 42 ॥
 गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः । श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम् ॥ 43 ॥
 ततो बेलासटेनैव फलकपूगमालिना । अगस्त्याचरितामाशामनाशास्यजयो ययौ ॥ 44 ॥
 स सैन्यपरिभोगेण गजदानसुगन्धिना । कावेरीं सरितां पत्युः शङ्कनीयामिवाकरोत् ॥ 45 ॥
 बालैरभ्युक्व्यस्तत्थ विखिणीषोर्गताध्वनः । मारीचोदघ्नान्तहारीता मलयादरुपत्यकाः ॥ 46 ॥

लगा था ॥ 34 ॥ जैसे बैत की शाखाएँ नदी की धारा में झुककर भी खड़ी रह जाती हैं वैसे ही सुहृद् देश के राजाओं ने चुपचाप कान दबाकर अभिमानियों को उखाड़ फेंकने वाले रघु की अधीनता मानकर अपने प्राण बचा लिए ॥ 35 ॥ फिर सेनानायक रघु ने उन बंगाली राजाओं को जो हरया जो जलसेना लेकर लड़ने आ पहुँचे थे। उन्हें जीतकर रघु ने गङ्गासागर के द्वीपों में अपने विजय का झंडा जा गाड़ा ॥ 36 ॥ (जैसे एक खेत से उखाड़ उखाड़कर दूसरे खेत में ले जाकर रोपे हुए) धान के पौधे किसान का घर अन्न से भर देते हैं वैसे ही रघु ने उन राजाओं को फिर राज पर बैठा दिया जो उनके पैरों पर आ गिरे थे और जिन्होंने बहुत सा धनधान्य भेंट में देकर रघु का राज्यकोष बढ़ा दिया था ॥ 37 ॥ वहाँ से चलकर रघु ने हाथियों का पुल बनाकर अपनी पूरी सेना कपिशा नदी से पार कर दी। वहाँ के उड़ीसा के राजाओं ने अधीनता तो स्वीकार की ही साथ ही आगे का मार्ग भी बता दिया और कलिङ्ग देश जीतने के लिये रघु आगे बढ़ गए ॥ 38 ॥ जैसे मतवाले हाथी के माथे में हाथीवान् अंकुश जमाता है वैसे ही रघु ने भी महेन्द्र पर्वत पर पहुँचकर उसकी चोटी पर अपना पड़ाव जा जमाया ॥ 39 ॥ जैसे पत्थर बरसाने वाले पहाड़ ने पत्थर बरसाकर पर्वतों के पंख काटने वाले इन्द्र का सामना किया था वैसे ही कलिङ्ग-नरेश ने हाथियों की सेना लेकर और अस्त्र बरसाकर रघु का सामना किया ॥ 40 ॥ जैसे तीर्थों के जल से स्नान कराकर राजाओं का राज्याभिषेक होता है और उन्हें राज्य-लक्ष्मी मिलती है वैसे ही रघु ने भी शत्रुओं के वाणों की वर्षा से स्नान करके विजय पा ली ॥ 41 ॥ लड़ाई हो चुकने पर रघु के वीर सैनिकों ने महेन्द्र पर्वत पर पान के पत्ते बिछा बिछाकर मदिरालय बना लिया जहाँ नारियल की मदिरा के साथ-साथ मानो उन्होंने शत्रुओं का यश भी पी डाला हो ॥ 42 ॥ राजा रघु तो धर्म-युद्ध करते थे इसलिये उन्होंने महेन्द्र पर्वत के राजा को बन्दी तो बना लिया पर जब उसने इनकी अधीनता स्वीकार कर ली तब उसे छोड़ भी दिया। इस प्रकार उन्होंने महेन्द्र के राजा की राज्यश्री तो ले ली पर राज्य उन्हीं को लौटा भी दिया ॥ 43 ॥ पूर्व दिशा को जीतकर विजयी रघु समुद्र के उस तट पर होते हुए दक्षिण दिशा की ओर बढ़ गए जिस पर पकी हुई सुपारियों के पेड़ लगे हुए थे ॥ 44 ॥ जब वे कावेरी के तट पर पहुँचे तब राजा रघु के सैनिकों ने जी भर नहा नहाकर जल को मथ डाला। फिर हाथियों के नहाने से तो जल में मद की कसैली गन्ध भी आने लगी। इस प्रकार कावेरी नदी की उन्होंने ऐसी दुर्गति कर दी कि अपने पति

ससञ्जुरश्वक्षुण्णानामेलानामुत्पतिष्णवः । तुल्यगन्धिषु मत्तेभकटेषु फलरेणवः॥ 47 ॥
 भोगिवेष्टनमार्गेषु चन्दनानां समर्पितम् । नास्त्रसत्करिणां ग्रैवं त्रिपदीछेदिनामपि॥ 48 ॥
 दिशिमन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि । तस्यामेव रघोः पाण्डयाः प्रतापं न विषेहिरे॥ 49 ॥
 ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासारं महोदधेः । ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वभिव संचितम् निविश्य॥ 50 ॥
 यथाकामं तटेष्वालीनचन्दनौ । स्तनाविव दिशस्तस्याः शैलौ मलयददुरौ॥ 51 ॥
 असह्यविक्रमः सद्यं दूरान्मुक्तमुदन्वता । नितम्बमिव मेदिन्याः स्त्रस्तांशुकमलङ्घयत्॥ 52 ॥
 तस्यानीकैविसर्पद्भिरपरान्तजयोद्यतैः । रामास्त्रौत्सारितोऽप्यासीत्सह्यलग्न इवार्णवः॥ 53 ॥
 भयोत्सृष्टविभूषाणं तेन केरलयोषिताम् । अलकेषु चमूरेणुश्चूर्णप्रतिनिधीकृतः॥ 54 ॥
 भुरलामारुतोद्धूतमगमत्कैतकं रजः । तद्योधवारबाणानामयत्नपटवासताम्॥ 55 ॥
 अभ्यभूयत वाहानां चरतां गात्रशिञ्जितैः । वर्मभिः पवनोद्धतराजतालीवनध्वनिः॥ 56 ॥
 खर्जूरीस्कन्धनद्धानां मदोद्गारसुगारसुगन्धिषु । कटेषु करिणां पेतुः पुंनागेभ्यः शिलीमुखाः॥ 57 ॥
 अवकाशं किलोदन्वान्रामायाभ्यथितो ददौ । अपरान्तमहीपालव्याजेन रघवे करम्॥ 58 ॥
 मत्तेभरदनोत्कीर्णव्यक्तविक्रमलक्षणम् । त्रिकूटमेव तत्रोच्चैर्जयस्तम्भं चकार सः॥ 59 ॥

समुद्र के पास जाने पर समुद्र को उसके चरित्र में सन्देह होने लगे ॥ 45 ॥ वहाँ से चलते-चलते वे बहुत दूर निकल गए और विजय चाहने वाले रघु के सैनिक मलयाचल की उस तराई में जा उतरे जहाँ काली मिर्च की झाड़ियों में हरे-हरे सुगंे इधर-उधर उड़ रहे थे ॥ 46 ॥ वहाँ पृथ्वी पर गिरे हुए लौंग के बीज, घोड़ों की टापों से पिसकर वायु के सहारे हाथियों के उन गालों पर जा चिपके जहाँ उन्हीं के गन्ध-जैसी मदका गन्ध निकल रहा था ॥ 47 ॥ सदा साँपों से लिपटे रहने से वहाँ के चन्दन के पेड़ों के चारों ओर गहरी धारियाँ बन गई थीं जिनमें बँधे हुए रस्सों को वे हाथी भी न तोड़ पा सके जो पैर की साँकलोंतक को झटके से तोड़ डालते थे ॥ 48 ॥ दक्षिण दिशा में जाने पर महाप्रतापी सूर्य का तेज भी मन्द पड़ जाता है पर रघु का तेज इतना प्रबल था कि वहाँ के पांडूय राजा भी उनके आगे न ठहर सके ॥ 49 ॥ दक्षिण के पांडूय राजाओं ने ताम्रपर्णी और समुद्र के संगम से जितने मोती बटोरे थे वे सब उन्हीं रघु को ऐसे उठा सौंपे मानो अपना बटोरा हुआ यश ही उन्हें दे डाला हो ॥ 50 ॥ उन्हें जीतकर महाप्रतापी रघु ने उन मलय और ददुर नाम की पहाड़ियों पर बहुत दिनों-तक पड़ाव डाले रक्खा जिन पर चन्दन के पेड़ लगे होने से वे ऐसे दिखाई पड़ते थे मानों चन्दन से पुते हुए दक्षिण दिशा के दो स्तन हों ॥ 51 ॥ फिर वे सह्यकी उस पहाड़ी को पार करके आगे बढ़ गए जो समुद्र के दूर हट जाने से ऐसी दिखाई पड़ती थी मानो वह पृथ्वी का ऐसा नितंब हो जिस पर से कपड़ा सरक गया हो ॥ 52 ॥ यद्यपि परशुराम ने अपने फरसे से ही समुद्र को सह्य पर्वत से दूर हटा दिया था फिर भी उसके पास से जाती हुई रघु की सेना ऐसी लगती थी मानो समुद्र फिर सह्याद्रि के पास ही लहरें लेने लगा हो ॥ 53 ॥ रघु के भय से केरल देश की जो स्त्रियाँ साज-सिंगार छोड़कर घर से भाग खड़ी हुई थीं उनके बालों पर रघु की सेना के चलने से उठी हुई धूल जा बैठी थी वह ऐसी लगती थी मानो उन पर कस्तूरी का चूरा लगा हुआ हो ॥ 54 ॥ मुरला नदी-की ओर से आने वाले वायु के कारण जो केवड़े के फूलों का पराग उड़ रहा था वह सैनिकों के कवधों पर जमकर बिना यत्न के ही सुगन्धित चूर्ण का काम देने लगा था ॥ 55 ॥ चलते समय घोड़ों के शरीर पर के कवच ऐसे ऊँचे स्वर से खनखना रहे थे कि वायु के चलने से जो बड़े-बड़े ताड़ के पेड़ों में से ध्वनि निकल रही थी वह भी उसके आगे दब गई ॥ 56 ॥ नागकेसर

पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना । इन्द्रियाख्यानिव रिपैस्तत्त्वज्ञानेन संयमी ॥ 60 ॥
यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः । बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदयः ॥ 61 ॥
संग्रामस्तुभुजस्तस्य पाश्चात्त्यैरश्वसाधनैः । शार्ङ्गकूजितविज्ञेयप्रतियोधे रजस्यभूत ॥ 62 ॥
भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम् । तस्तार सरघाव्याप्तैः सक्षौद्रपटलैरिव ॥ 63 ॥
अपनीतशिरस्त्राणाः शेषास्तंशरणं ययुः । प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भोहिमहात्मनाम् ॥ 64 ॥
विनयन्तेस्म तद्योधा मधुभिर्विजयश्रमम् । आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु ॥ 65 ॥
ततः प्रतस्वे कौबेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम् । शरैरुसै रिवोदीच्यानुद्धरिष्यन् सानिव ॥ 66 ॥
विनीताष्वश्रमास्तस्य सिन्धुतीरविचेष्टनैः । दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धाँल्लनकुङ्क मकेसरान् ॥ 67 ॥
तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम् । कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम् ॥ 68 ॥
काम्बोजाः समरे सोढुं तस्य वीर्यमनीश्वराः । गजालानपरिक्लिष्टैरक्षोटैः सार्धमानताः ॥ 69 ॥
तेषां सदश्वभूयिष्ठास्तुङ्गा द्रविणराशयः । उपदाविविशुः शश्वन्नोत्सेकाः कोशलेश्वरम् ॥ 70 ॥
ततो गौरीगुरुं शैलमारुरोहाश्वसाधनः । वर्धयन्निव तत्कूटानुद्धूतैर्धातुरेणुभिः ॥ 71 ॥

के फूलों पर बैठे हुए भीरों को जैसे ही खजूर के तनों से बँधे हुए हाथियों के कपोलों से टपकते हुए मदकी गन्ध मिली कि वे उन्हें छोड़कर इन पर ही आ टूटे ॥ 57 ॥ पच्छिम के राजाओं ने रघु के अधीन होकर उन्हें कर दिया था वह मानो उन्होंने नहीं वरन् उस प्रतापी समुद्र ने ही कर दिया हो जिसने बहुत प्रार्थना करने पर परशुराम को थोड़ी सी भूमि दे दी थी ॥ 58 ॥ वहाँ रघु के मतवाले हाथियों ने अपने दांतों की चोटों से त्रिकूट पर्वत पर जो रेखाएँ बना दी थीं उनसे वह पर्वत ऐसा लगने लगा था मानो वह रघु की विजय का स्मरण दिलाने वाला ऐसा जयस्तम्भ हो जिसपर रघु की विजय-कथा लिखी हुई हो ॥ 59 ॥ जैसे कोई योगी इन्द्रिय-रूपी शत्रुओं को जीतने के लिये तत्त्वज्ञान का सहारा ले लेता है वैसे ही रघु ने भी पारसी राजाओं को जीतने के लिये स्थल-मार्ग जा पकड़ा ॥ 60 ॥ जैसे असम में उठे हुए बादलों से प्रभात की धूप में खिले हुए कमलों की चमक जाती रहती है वैसे ही रघु के अचानक आक्रमण से लाल गालों वाली यवनियों के मुख-कमल मुरझा गए ॥ 61 ॥ वहाँ पश्चिम देश के घुड़सवार राजाओं से रघु की जो घनघोर लड़ाई हुई उसमें सेना के चलने से इतनी धूल उड़ी कि आस-पास कुछ भी नहीं दिखाई पड़ रहा था, केवल धनुष की टङ्कार से ही सैनिक लोग शत्रु को पहचान पा रहे थे ॥ 62 ॥ मधुमक्खियों से भरे हुए छत्ते के समान दाढ़ियों वाले यवनों के सिरों को भल्ल नाम के बाणों से काट काटकर रघु ने सारी पृथ्वी पूरी पाट भरी ॥ 63 ॥ उनमें से जो जीते बच गए उन्होंने अपने लोहे के टोप उतार कर रघु के चरणों में जा रखे क्योंकि महापुरुषों की कृपा प्राप्त करने का यही उपाय है कि उनकी शरण में पहुँच जाया जाय ॥ 64 ॥ दाख की लताओं से घिरी हुई पृथ्वी पर सुहावनी मृगछालाएँ बिछा-बिछाकर रघु के सैनिक चैन से जा बैठे और मदिरा पी पीकर लड़ाई की थकावट मिटाने लगे ॥ 65 ॥ जैसे सूर्य अपनी तीखी किरणों से पृथ्वी का जल खींचने के लिये उत्तर की ओर घूम जाता है वैसे ही रघु भी उत्तर के राजाओं को जीतने के लिये उधर घूम पड़े ॥ 66 ॥ सिन्धु नदी के तटपर पहुँच कर रघु के घोड़े, वहाँ की रेती में लोट-लोटकर अपनी थकान मिटाने लगे । वहाँ लोटने से उनके शरीर में जो कुकुम्भकी केसर लग गई थी उसे उठ उठकर उन्होंने हिला हिलाकर झाड़ गिराया ॥ 67 ॥ वहाँ रघु ने अपने प्रचण्ड पराक्रम से जिन हूण राजाओं को मार डाला था उनकी स्त्रियाँ इतना सिर पीट-पीटकर रोई कि उसके गाल लाल हो उठे ॥ 68 ॥ कंबोज या काबुल के राजा भी लड़ाई में रघु के आगे नहीं टिक

शशंस तुल्यसत्त्वानां सैन्यघोषेऽप्यसंभ्रमम् । गुहाशयानां सिंहानां परिवृत्याबसोकितम् ॥ 72 ॥
 भूर्जेषु मर्मरीभूताः कीचकध्वनिहेतवः । गङ्गाशीकरिणो मार्गे मरुतस्तं सिधेविरे ॥ 73 ॥
 विशश्रमुर्नमेरूणां छायास्वध्यास्य सैनिकाः । दृधवो वासितोत्सङ्गानिधष्णमृगनाथिभिः ॥ 74 ॥
 सरलासक्तमातङ्गग्रैवेयस्फुरितत्विणः । आसन्नोषधयो नेतुर्नक्तमस्नेहदीपिकाः ॥ 75 ॥
 तस्योत्सृष्टनिवासेषु कण्ठरज्जुक्षत्रत्वचः । गजवर्ष्म किरातेभ्यः शशंसुर्देवदारवः ॥ 76 ॥
 तत्र जन्यं रघोर्घोरं पर्वतीयैर्गणैरभूत् । नाराचक्षेमणीयाश्मनिष्पेषोत्पतितानलम् ॥ 77 ॥
 शरैरुत्सवसंकेतान्स कृत्वा विरतोत्सवान् । जयोदाहरणं बाह्वोर्गपियामास किन्नराम् ॥ 78 ॥
 परस्परेण विज्ञातस्तेषूपायनपाणिषु । राज्ञाहिमवतः सारो राज्ञाः सारो हिमाद्रिणा ॥ 79 ॥
 तत्राक्षोभ्यं यशोरार्शि निवेश्यावरुरोह सः । पौमस्त्यतुलितस्याद्रेरादधान हियस् ॥ 80 ॥
 चकम्पेतीर्षणौहित्ये तस्मिन्प्राख्योतिषेश्वरः । तद्गजालणतां प्राप्तैः सह कालः ॥ 81 ॥
 न प्रसेहे स रुद्धार्कमधारावर्षदुर्दिनम् । रथवर्त्यरजोऽप्यस्स कुल एव प्रजामिहीम ॥ 82 ॥
 तमीशः कामरूपाणत्याखण्डलविक्रमम् । भोजे भिन्नकटेर्नागैरन्यानुपरुरोध यैः ॥ 83 ॥
 कामरूपेश्वरस्तस्य हेमपीठाधिदेवताम् । रत्नपुष्पोपहारेण छायामानर्च पादयोः ॥ 84 ॥

पाए। हाथियों के बाँधने से जैसे वहाँ की अखरोट की डालियाँ झुक गई थीं वैसे ही वे राजा भी आगे आ झुके ॥ 69 ॥ कंबोज के हारे हुए राजाओं ने रघु को जो बहुत से घोड़े और बहुत सा धन दिया वह धन पाकर भी रघु को अभिमान नहीं हुआ ॥ 70 ॥ वहाँ से वे अपने घोड़ों की सेना लेकर हिमालय पहाड़ पर जा चढ़े मानों अपने घोड़ों की टापों से उठी हुई गेरू आदि धातुओं की लाल लाल धूल से हिमालय की चोटियों को और भी ऊँचा किए डालना चाहते हों ॥ 71 ॥ सैनिकों के समान ही बलवान् सिंह, गुफाओं में लेंटे लेटे आँखें घुमा-घुमाकर रघु की सेना को देखे तो जा रहे थे पर उनकी सेना के कोलाहल से वे मन में तनिक भी घबरा नहीं रहे थे ॥ 72 ॥ वहाँ भोजपत्रों में मर्मर करता हुआ, कीचक नाम के बाँसों के छेदों में घुसकर बाँसुरी-सी बजाता हुआ और गंगा की फुहारों से सितलाया हुआ वायु निरन्तर रघु की सेवा करता जा रहा था ॥ 73 ॥ और रघु के सैनिक भी वहाँ नमरु के वृक्षों के तले उन पथरीली घाटियों पर बैठकर सुस्ताने लग रहे थे जिनमें से कस्तूरी मृगों के बैठने से बड़ी सुगन्ध आ रही थी ॥ 74 ॥ देवदार के पेड़ों में बँधे हुए हाथियों के गलों में जो साँकलें पड़ी थीं वे रातको चमकनेवाली बूटियों के प्रकाश से चमचमा उठती थीं और इस प्रकार उन बूटियों ने रघु के लिये बिना तेल के ही दीपक जला दिए थे ॥ 75 ॥ जब रघु ने वहाँ से अपनी सेना का पड़ाव हटा लिया तब वहाँ देवदार की ऊँची ऊँची शाखाओं पर हाथियों के गले की साँकलों से बनी रेखाएँ देखकर ही जंगली किरातों ने रघु के हाथियों की ऊँचाई का अनुमान कर लिया ॥ 76 ॥ पहाड़ी राजाओं की सेनाओं से रघु को सेना की घनघोर लड़ाई हुई। रघु की सेना बाण चलाती थी और पहाड़ी लोग पत्थर चलाते थे। इस प्रकार जब लोहे और पत्थर की भिड़न्त हो जाती थी तो कभी-कभी आग उत्पन्न हो जाया करती थी ॥ 77 ॥ रघु ने धुआँधार बाण बरसा कर उत्सव-संकेत नामक पहाड़ियों के छक्के छड़ा दिए। इसपर किन्नरों ने मिलकर रघु की वीरता के बहुत से गीत गा सुनाए ॥ 78 ॥ पहाड़ी राजाओं ने रत्नों के ढेर के ढेर रघु को भेंट में ला दिए जिसे देखकर इधर रघु ने तो हिमालय के अतुल धनका अनुमान और हिमालय ने युद्ध में रघु के पराक्रम का अनुमान किया ॥ 79 ॥ हिमालय पर अपना झण्डा गाड़कर आगे कैलास की ओर न बढ़कर रघु लौट पड़े। इससे कैलास पर्वत को इस बात की लज्जा हुई कि रावण ने मुझे एक बार क्या उठा लिया कि

इति जित्वा दिशो जिष्णुर्न्यवर्तत रभोद्धतम् । रजो विश्रामयन्नाज्ञां छत्रशून्येषु मौलिषु ॥ 85 ॥

स विश्वजितमाजह्ने यज्ञं सर्वस्वदक्षिणम् । आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव ॥ 86 ॥

सत्त्वान्ते सखिवसलः पुरस्क्रियाभिर्गुर्वोभिः शमितपराजयव्यलीकान् ।

काकुत्स्थविरहोत्सुकावरो धान्नाजन्यान्स्वपुरनिवृत्तायेऽनुमेने ॥ 87 ॥

ते रेखाध्वजकुलिशातपत्रचिह्नं सत्राजश्चरणयुगं प्रसादलभ्यम् ।

प्रस्थानप्रणतिभिरङ्गुलीषु चक्रुर्मौ लिस्त्रक्व्युतमकरन्दरेणुगौरम् ॥ 88 ॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये

रघुदिग्विजयो नाम चतुर्थः सर्गः ।।

सभी मुझे हारा हुआ समझने लगे ॥ 80 ॥ लौहित्य नदी पार करके रघु प्राग्ज्योतिष या असम में जा पहुँचे । वहाँ हाथियों के बँधने से जैसे कालागुरु के पेड़ काँपते थे वैसे ही प्राग्ज्योतिष के राजा भी रघु के भय से काँपने लगे ॥ 81 ॥ वहाँ के राजा ने देखा कि वादलों के बिना केवल रघु की सेना की धूल से ही सूर्य छिप गया । जब इस धूलसे ही वह बहुत घबरा गया तब सेना से तो वह लड़ता ही क्या ॥ 82 ॥ तब असम के राजा ने जिन हाथियों को लेकर बड़े-बड़े शत्रुओं के छक्के छुड़ा दिए थे वे ही हाथी उसने इन्द्र से भी अधिक पराक्रमी रघु की भेंट में दे डाले ॥ 83 ॥ और जैसे कोई भक्त फूल माला आदि से भक्तिपूर्वक देवता की पूजा किया करता है वैसे कामरूप के नरेश ने पाँव-पीढ़े पर पड़ी हुई रघु के चरणों की छाया को रत्नों से पूजा ॥ 84 ॥ इस प्रकार जब सारी पृथ्वी को जीतकर विजयी रघु अपनी राजधानी अयोध्या को लौटने लगे तब उनके रथ के पहियों से उठी हुई धूल उनके पीछे पीछे चलनेवाले हारे हुए राजाओं के छत्र-रहित मुकुटों-पर बैठती चल रही थी ॥ 85 ॥ दिग्विजय से लौटकर रघु ने विश्वजित् नाम का यज्ञ किया जिसमें उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति दक्षिणा में दे डाली । जैसे बादल पृथ्वी से जल लेकर फिर पृथ्वी पर ला बरसाते हैं वैसे ही महात्मा लोग भी दान करने के लिये ही धन इकट्ठा किया करते हैं ॥ 86 ॥ यज्ञ समाप्त हो चुकने पर रघु ने और उनके मंत्रियों ने हारे हुए राजाओं का बड़ा सत्कार किया और उनके मन में हारने की जो लाज थी वह दूर कर दी । फिर अपनी रानियों से बहुत दिन से बिछुड़े हुए उन सभी राजाओं को उन्होंने अपने देश में जाने की आज्ञा दे दी ॥ 87 ॥ जाते समय उन राजाओं ने रघु के उन चरणों में झुककर प्रणाम किया जिनपर ध्वजा, वज्र और छत्र आदि की रेखाएँ बनी हुई थीं । उस समय उन राजाओं के सिर की मालाओं से जो पराग झड़ रहा था उससे रघु के चरणों की उँगलियाँ गोरी हो उठीं ॥ 88 ॥

महाकवि कालिदास के रचे हुए रघुवंश महाकाव्य में रघु-दिग्विजय

नामक चौथा सर्ग पूर्ण हुआ ।



॥ पञ्चमः सर्गः ॥

तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशं निःशेषविश्राणितकोषजातम् ।
 उपात्तविद्यो गुरुदक्षिणार्थी कौत्सः प्रपेदे वरतन्तुशिष्यः ॥ 1 ॥
 स मृण्मये वीतहिरण्मयत्वात्पात्रे निधायार्ध्यमनर्धशीलः ।
 श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाशः प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः ॥ 2 ॥
 तमर्चयित्वा विधिवद्विधाज्ञस्तपो धनं मानधानाग्रयायी ।
 विशांपतिर्विष्टरभाजमारात्कृताञ्जलिः कृत्यविदित्युवाच ॥ 3 ॥
 अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतमृषीणां कुशाग्रबुद्धे कुशली गुरुस्ते ।
 यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः ॥ 4 ॥
 कायेन वाचा मनसापि शश्वद्यत्संभृतं वासवधैर्यलोपि ।
 आपाद्यते न व्ययमन्तरायैः कच्चिन्महर्षेस्त्रिविधं तपस्तत् ॥ 5 ॥
 आधारबन्धप्रमुखैः प्रयत्नैः संवर्धितानां सुतनिर्विशेषम् ।
 कच्चिन्न वाय्वादिरुपल्लवो वः श्रमच्छिदामाश्रमपादपानाम् ॥ 6 ॥
 क्रियानिमित्तेष्वपि वत्सलत्वादभग्नकामा मुनिभिः कुशेषु ।
 तदङ्कशय्याच्युतनाभिनाला कच्चिन्मृगीणामनघा प्रसूतिः ॥ 7 ॥
 निर्वर्त्यते यैर्नियमाभिषेको येभ्यो निवापाञ्जलयः पितृणाम् ।
 तान्युच्छषष्ठाङ्कितसैकतानि शिवानि वस्तीर्थजलानि कच्चित् ॥ 8 ॥

पाँचवाँ सर्ग

जिस समय रघु विश्वजित यज्ञ में अपना सब कुछ दान किए बैठे थे उसी समय वरतन्तु के शिष्य कौत्स ऋषि गुरुदक्षिणा के लिये धन माँगने को उनके पास आ पहुँचे ॥ 1 ॥ अतिथि का सत्कार करने वाले, अत्यन्त शीतलवान् और यशस्वी रघु इस समय मिट्टी का पात्र लेकर विद्वान् अतिथि (कौत्स ऋषि) की पूजा करने चले क्योंकि सोने-चाँदी के पात्र तो उन्होंने सब दान ही कर डाले थे ॥ 2 ॥ तपस्वी कौत्स कुशा के आसन पर बैठे हुए थे। शास्त्र के जानने वाले सम्माननीय रघु ने बड़ी विधि से उनकी पूजा की और हाथ जोड़कर उनसे पूछा- ॥ 3 ॥ 'बुद्धिमान्! जैसे सूर्य अपने प्रकाश से सोए हुए संसार को जगा देता है वैसे ही जिस गुरु ने आपको ज्ञान की ज्योति देकर जगाया है और जो मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों में सर्वश्रेष्ठ हैं, वे आपके गुरु कुशल से तो हैं न! ॥ 4 ॥ उन्होंने शरीर, मन और वचन तीनों प्रकार का जो कठिन तप करना प्रारम्भ किया था और जिसे देखकर इन्द्र भी घबरा उठे थे वह तो ठीक चल रहा है न! ॥ 5 ॥ आप लोगों ने आश्रम के जिन वृक्षों के थाँवले बाँधकर उन्हें पुत्रके समान जतन से पाला है और जिनसे पथिकों को छाया मिलती रहती है उन वृक्षों को आँधी-पानी से कोई हानि तो नहीं पहुँची है? ॥ 6 ॥ हरिणियों के छोटे-छोटे छौने तो कुशल से है न, जिन्हें ऋषि लोग बड़े प्यार से गोदी में बैठाकर खिलाते हैं, जिनकी नाभिका नाल भी ऋषियों की गोद में ही सूखकर गिरता है और जिन्हें ऋषि लोग यज्ञ के लिये बटोरी हुई कुशा चबाने से भी नहीं टोकते! ॥ 7 ॥ हाँ, उन नदियों का जल तो ठीक है न, जिसमें आप लोग प्रतिदिन स्नान, सन्ध्या, तर्पण आदि करते हैं और जिनकी रेतीपर आप लोग अपने चुने हुए अन्न का छठा भाग राजा का अंश समझकर रख छोड़ते हैं ॥ 8 ॥ तिन्नी के जिस

नीवारपाकादि कङ्गरीयैरामृश्यते आनपदैर्न कच्चित् ।
 कालोपपन्नातिथिकल्प्यभागं वन्यं शरीरस्थितिसाधनं वः ॥ 9 ॥
 अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं सम्यग्विनीयानुमतो गृहाय ।
 कालो ह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते ॥ 10 ॥
 तवार्हतो नाभिगमेन तृप्तं मनो नियोगक्रिययोत्सुकं मे ।
 अप्याज्ञया शासितुरात्मना वा प्राप्तोऽसि संभावयितुं वनान्माम् ॥ 11 ॥
 इत्यर्ध्यपात्रानुमितव्ययस्य रघोरुदारामपि गां निशम्य ।
 स्वार्थोपपत्तिं प्रति दुर्बलाशस्तमित्यवोचद्वरतन्तुशिष्यः ॥ 12 ॥
 सर्वत्र नो वार्तामवेहि राजन्नाथे कुतस्त्वय्यशुभं प्रजानाम् ।
 सूर्ये तपस्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्त्रा ॥ 13 ॥
 भक्तिः प्रतीक्ष्येषु कुलोचिता ते पूर्वान्महाभाग तयातिशोभे ।
 व्यतीतकालस्त्वहमभ्युपेतस्त्वामर्थिभावादिति मे विषादः ॥ 14 ॥
 शरीरमात्रेण नरेन्द्र तिष्ठन्नाभासि तीर्थप्रतिपादितद्धिः ।
 आरव्यकोपात्तफलप्रसूतिः स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः ॥ 15 ॥
 स्थाने भवानेकनराधिपः सन्नकिञ्चनत्वं मखजं व्यनक्ति ।
 पर्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशोः कलाक्षयः श्लाघ्यतरो हि वृद्धे ॥ 16 ॥

अन्न और जिन फलों से आप लोग अतिथियों का सत्कार किया करते हैं और जिन्हें खाकर ही आप लोग भी रह जाया करते हैं उन्हें आस-पास के गाँवों के पशु तो नहीं आकर चर जाते ॥ 9 ॥ क्या ऋषि ने आपकी विद्वत्ता से प्रसन्न होकर आपको गृहस्थ बन जाने की आज्ञा दे दी है? क्योंकि आपकी इतनी अवस्था भी हो गई है कि आप विवाह करें और सबका भला करने वाले गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें ॥ 10 ॥ आप जैसे पूजनीय महात्मा के आने भरसे मेरा जी नहीं भरा, मुझे कुछ सेवा करने की भी आज्ञा दीजिए और यह बताइए कि आपने केवल अपने गुरु की आज्ञा से ही यहाँ आकर कृतार्थ किया है या अपनी इच्छा से ही आपने कृपा की है' ॥ 11 ॥ कौत्सने ध्यान से रघु की उदार बातें सुनीं पर जब देखा कि उनके हाथमें केवल मिट्टी का पात्र भर बचा रह गया है तब उन्होंने समझ लिया कि रघु के पास एक कौड़ी भी नहीं है। उनका मुँह उतर गया और उन्होंने समझ लिया कि यहाँ हमारा काम नहीं बनेगा। यह सोचकर वरतन्तु के शिष्य कौत्स बोले- ॥ 12 ॥ 'राजन्! आपके राज्य में हमें सब प्रकार का सुख है। जैसे सूर्य के रहते हुए अँधेरा नहीं ठहर पाता वैसे ही आपके राजा बने रहते हुए प्रजा में दुःख का नाम भी नहीं है ॥ 13 ॥ भाग्यशाली! बड़ों की पूजा करना तो आपके वंश का धर्म ही है और आप तो इस बात में अपने पूर्वजों से भी आगे बढ़े हुए हैं। मैं आपके पास कुछ माँगने चला आया था पर मैं समझता हूँ कि मुझे आने में कुछ बिलम्ब हो गया है, इसी का मुझे खेद है ॥ 14 ॥ राजन्! आपने अपना सब धन अच्छे लोगों को दे डाला है और केवल यह शरीर भर आपके पास बचा रहा गया है। इससे आप तिन्नी के पौधे की उस ठूँठ-जैसे रह गए हैं जिसके दाने तपस्वियों ने झाड़ लिए हों ॥ 15 ॥ चक्रवर्ती होते हुए भी यज्ञ में सब कुछ देकर और दरिद्र होकर भी आप उस चन्द्रमा के समान बड़े सुन्दर लग रहे हैं जिसकी सारी कलाएँ धीरे-धीरे देवताओं ने पी डाली हों ॥ 16 ॥ आपके पास तो कुछ है नहीं, इसलिये अब मैं किसी दूसरे धनीका द्वार जा खटखटाता हूँ क्योंकि पपीहा भी बिना जलवाले बादलों से

तदन्यतस्तावदनन्यकार्यो गुर्वर्था माहर्तुमहं यतिष्ये ।
 स्वस्त्यस्तु ते निर्गलिताम्बुगर्भं शरद्धनं नार्दतिचातकोऽपि ॥ 17 ॥
 एतावदुक्त्वा प्रतियातु कामं शिष्यं महर्षेर्नृपतिनिषिध्य ।
 किं वस्तु विद्वन्गुरवे प्रदेयं त्वया कियद्वेति तमन्वयुङ्क्त ॥ 18 ॥
 ततो यथावद्विहिताध्वराय तस्मै स्मयावेशविवर्जिताय ।
 वर्णाश्रमाणां गुरवे स वर्णीं विचक्षणः प्रस्तुतमाचक्षते ॥ 19 ॥
 समाप्तविद्येन मया महार्षिर्विज्ञापितोऽभूद्गुरुदक्षिणायै ।
 स मे चिरायास्खलितोपचारां तां भक्तिमेवागणयत्पुरस्तात् ॥ 20 ॥
 निर्बन्धसंजातरुणार्थाकाश्यमचिन्तयित्वा गुरुणाहमुक्तः ।
 वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति ॥ 21 ॥
 सोऽहं सपर्याविधिभाजनेन मत्वा भवन्तं प्रभुशब्दशेषम् ।
 अभ्युत्सहे संप्रति नोपरोद्धुमल्पेतरत्वाच्छु तनिष्क्रयस्य ॥ 22 ॥
 इत्थं द्विजेन द्विजराजकान्तिरावेदितो वेदविदां वरेण ।
 एनो निवृत्तो न्द्विद्वयवृत्तिरेनं जगाद भूयो जगदेकनाथः ॥ 23 ॥
 गुर्वर्धमर्धी श्रुतपारदृश्वारघोः सकाशावनयाप्य कामम् ।
 गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे मा भूत्परीवादमवावतारः ॥ 24 ॥
 स त्वं प्रशस्ते महिते मदीये वसंश्चतुर्थाऽग्निरिवाग्न्यगारे ।
 द्वित्राण्यहान्यर्हसि सोढुमर्हन्त्यावद्यते साधयितुं त्वदर्थम् ॥ 25 ॥

पानी नहीं माँगा करता। आपका कल्याण हो' ॥ 17 ॥ ऐसा कहकर कौत्स जब उठकर चलने लगे तब रघुने उन्हें रोककर पूछा- 'आप अपने गुरु को क्या और कितना देना चाहते हैं, कुछ कहिए भी तो' ॥ 18 ॥ ब्रह्मचारी कौत्सने देखा कि विश्वजित् यज्ञ करने पर भी रघु को अभिमान छू-तक नहीं गया इसलिये वर्ण और आश्रम की रक्षा करने वाले रघु से उन्होंने अपने मन की बात कहनी प्रारम्भ की- ॥ 19 ॥ 'राजन्! विद्या पढ़ चुकने पर मैंने गुरुजी से कहा कि आप मुझसे गुरु-दक्षिणा माँगिए। गुरुजी ने कहा- मैं तुम्हारी गुरुभक्तिसे ही बहुत प्रसन्न हूँ फिर गुरु-दक्षिणा लेकर क्या होगा। मैंने बड़ी भक्ति से जो उनकी सेवा की थी उसे ही उन्होंने गुरु-दक्षिणा मान ली थी ॥ 20 ॥ पर जब मैंने बार-बार दक्षिणा माँगने के लिये उनसे हठ किया तब तो वे बिगड़ खड़े हुए और मेरी दरिद्रता का विचार किए बिना ही बोल उठे- 'मैंने तुम्हें चौदह विद्याएँ पढ़ाई हैं इसलिये मुझे करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ लाकर दो ॥ 21 ॥ आपके हाथ में मिट्टी का पात्र देखकर ही मैं समझ गया कि आपके पास 'राजा' शब्द को छोड़कर और कुछ भी बच नहीं रह गया है। इधर मेरी गुरु-दक्षिणा भी इतनी गहरी है कि अब मेरा मन नहीं करता कि आपसे कुछ माँगूँ' ॥ 22 ॥ जब वैदिक ब्राह्मणों में सर्वश्रेष्ठ कौत्सने यह कहा तब चन्द्रमा के समान सुन्दर परम धार्मिक रघु बोले- ॥ 23 ॥ 'आप जैसे वेदपाठी ब्राह्मण गुरु-दक्षिणा के लिये हमारे पास आवें और यहाँ से निराश लौटकर किसी दूसरे का द्वार झाँके; यह मेरी नई बदनामी नहीं होने पावेगी ॥ 24 ॥ इसलिये आप हमारी यज्ञशाला में चलिए। वहाँ जो तीन (गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय) पूजनीय अग्नियाँ स्थापित हैं वहीं आप भी चौथी अग्नि के समान पूजनीय होकर दो चार दिन ठहरिए, तब तक मैं आपकी

तथेति तस्यावितथं प्रतीतः प्रत्यग्रहीत्संगरमग्रजन्मा ।
 गामात्तसारां रघुरप्यवेक्ष्य निष्क्रष्टुमर्थं चकमे कुबेरात् ॥ 26 ॥
 वसिष्ठमन्त्रो क्षणजात्प्रभावादुदन्वदाकाशमहीधारे षु ।
 मरुत्सखस्येव बलाहकस्य गतिर्विजघ्ने न हि तद्व्यस्य ॥ 27 ॥
 अथाधिशिश्ये प्रयतः प्रदोषे रथं रघुः कल्पितशस्त्रगर्भम् ।
 सामन्तसंभावनयैव धीरः कैलासनाथं तरसा जिगीषुः ॥ 28 ॥
 प्रातः प्रयाणाभिमुखाय तस्मै सविस्मयाः कोशगृहे नियुक्ताः ।
 हिरण्मयीं कोषगृहस्य मध्ये दृष्टिं शशंसुः पतितां नभस्तः ॥ 29 ॥
 तं भूपतिर्भासुरहेमराशिं लब्धं कुबेरादभियास्यमानात् ।
 दिदेश कौत्साय समस्तमेव पादं सुमेरोरिव वज्रभिन्नम् ॥ 30 ॥
 जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ ।
 गुरुप्रदेश्याधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥ 31 ॥
 अथोष्टदामीशतवाहितार्थं प्रजेश्वरं प्रीतमना महर्षिः ।
 स्पृशन्करेणानतपूर्वकार्यं संप्रस्थितो वाचमुवाच कौत्सः ॥ 32 ॥
 किमत्र चित्रं यदि कामसूर्भूर्वृत्ते स्थितस्याधिपतेः प्रजानाम् ।
 अचिन्तनीयस्तु तव प्रभावो मनीषितं द्यौरपि येन दुग्धा ॥ 33 ॥

गुरु-दक्षिणा के लिये कुछ न कुछ जतन किए लेता हूँ ॥ 25 ॥ यह सुनकर कौत्स बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने सत्यवादी रघु की बात मान ली । रघु ने भी देखा कि पृथ्वी पर तो धन मिलने वाला है नहीं, इसलिये उन्होंने निश्चय किया कि कुबेर से ही धन ले लिया जाय ॥ 26 ॥ जैसे वायु के झोंकों से मेघ कहीं भी जा सकता है वैसे ही वशिष्ठजी के मन्त्रों से पवित्र किया हुआ रघु का रथ भी समुद्र, आकाश और पर्वत कहीं भी आ जा सकता था ॥ 27 ॥ रघु ने सोचा कि उसी रथ पर चढ़कर मैं अकेला ही महाप्रतापी कैलास के स्वामी कुबेर को छोटे से राजा के समान सहज में ही जीत लूँगा । यह निश्चय करके वे सौँझ होते ही अस्त्र-शस्त्र ठीक करके रथ में ही जाकर सो रहे ॥ 28 ॥ दूसरे दिन तड़के जैसे ही रघु चलने को हुए वैसे ही राजकोश के रक्षकों ने आकर यह अचरज-भरा समाचार दिया कि कोश में बहुत देर तक सोने की वर्षा होती रही है ॥ 29 ॥ (बात यह हुई थी कि) रघु की चढ़ाई की बात कान में पड़ते ही कुबेर ने रातों रात सोने की वर्षा कर भी थी । वह सोने का ढेर ऐसा दमक रहा था जैसे वज्र से पर्वत का एक टुकड़ा काटकर ला गिराया गया हो । रघु ने कौत्स से कहा कि यह सारा सोना आप लेते जाइए ॥ 30 ॥ (उसे देखकर कौत्सने कहा- मैं इतना सोना लेकर क्या करूँगा । मुझे तो गुरु-दक्षिणा चूकाने भर को धन चाहिए । इसपर रघु बोले- यह नहीं हो सकता । यह सारा धन आपका ही है आप ले जाइए ।) अयोध्या-निवासियों ने इन दोनों की बड़ी प्रशंसा की क्योंकि उन दोनों में एक तो इतना सन्तोषी था कि आवश्यकता से अधिक एक कौड़ी लेने को उद्यत नहीं था और दूसरा इतना बड़ा दाता था कि माँग से कहीं अधिक धन देने पर तुला हुआ था ॥ 31 ॥ रघु ने उस सारे धन को सैकड़ों ऊँटों और खच्चरों पर लदवा दिया और जब कौत्स चलने लगे तब राजा ने बड़ी नम्रता से उन्हें प्रणाम किया । कौत्स बड़े प्रसन्न थे और उन्होंने राजा के सिरपर हाथ धरते हुए कहा- ॥ 32 ॥ 'धर्मात्मा राजाओं के लिये यदि पृथ्वी उनकी इच्छा के अनुसार धन दे तो कोई अचरज नहीं है, पर आपके प्रभाव को देखकर तो सचमुच बड़ा आश्चर्य

आशास्यमन्यत्पुनरुक्तभूत श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते ।
 पुत्रं लभस्वात्मगुणानुरूपं भवन्तमीडयं भवतः पितेव ॥ 34 ॥
 इत्थं प्रयुज्याशिषमग्रजन्मा राज्ञे प्रतीयाय गुरोः सकाशम् ।
 राजापि सेमे सुतमाशु तस्मादालोकमर्कादिव जीवलोकः ॥ 35 ॥
 ब्राह्मे मुहूर्ते किल तस्य देवी कुमारकल्पं सुषुये कुमारम् ।
 अतः पिता ब्रह्मण एव नाम्ना तमात्मजन्मानमजं चकार ॥ 36 ॥
 रूपं तदोजस्वि तदेव वीर्यं तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम् ।
 न कारणात्स्वाद्धिभिदे कुमारः प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात् ॥ 37 ॥
 उपात्तविद्यं विधिवद्गुरुभ्यस्तं यौवनोद्धेदविशेषकान्तम् ।
 श्रीः साभिलाषापि गुरोरनुज्ञां धीरेव कन्या पितुराचकाङ्क्ष ॥ 38 ॥
 अथेश्वरेण ऋधकैशिकानां स्वयंवरार्थं स्वसुरिन्दुमत्याः ।
 आप्तः कुमारानयनोत्सुकेन भोजेन दूतो रघवे विसृष्टः ॥ 39 ॥
 तं श्लाघ्यसंबन्धमसौ विचिन्त्य दारक्रियायोग्यदशं च पुत्रम् ।
 प्रस्थापयामास ससैन्यमेनमृद्धां विदर्भाधिपराजधानीम् ॥ 40 ॥
 तस्योपकार्यारचितोपचारा वन्येतरा जानपदोपदाभिः ।
 मार्गे निवासा मनुजेन्द्रसूनुर्व भूवुरुद्यानविहारकल्पाः ॥ 41 ॥

होता है क्योंकि आपने तो स्वर्ग से भी जितना चाहा उतना धन दूह लिया ॥ 33 ॥ संसार की सभी वस्तुएँ आपको प्राप्त हो सकती हैं इसलिये आपको उनके लिये आशीर्वाद देना तो व्यर्थ है तो भी मैं यह आशीर्वाद देता हूँ कि जैसे आपके पिता दिलीप को आपके जैसा श्रेष्ठ पुत्र मिला वैसे ही आपको भी आपके ही समान प्रतापी पुत्र प्राप्त हो ॥ 34 ॥ राजा को यह आशीर्वाद देकर ब्राह्मण के आशीर्वाद से थोड़े ही दिनों में रघु को भी पुत्र रत्न प्राप्त हुआ ॥ 35 ॥ रघु की रानी की कोखसे तड़के ब्राह्म मुहूर्त में कार्तिकेय के समान तेजस्वी पुत्र जन्मा तो ब्राह्म मुहूर्त में जन्म होने से पिता ने ब्रह्मा के नाम पर ही पुत्र का नाम अज रख दिया ॥ 36 ॥ जैसे एक दीपक से जलाएँ जाने पर दूसरे दीपकों में भी ठीक वैसे ही लो और ज्योति आ जाती है वैसे ही अज भी रूप, गुण, बल सभी बातों में रघु के जैसा ही था, किसी भी बात में कम नहीं था ॥ 37 ॥ जैसे शीलवती कन्या अपनी इच्छा के अनुसार रूप-गुणवाले वर को चुनकर भी विवाह के लिये पिता की आज्ञा ले लेना चाहती है वैसे ही राज्य-लक्ष्मी भी यद्यपि सुन्दर युवा अजको स्वामी बनाना तो चाहती थी फिर भी वह रघु की आज्ञा की बाट जोह रही थी कि वे कब अज को राज्य सौंपें ॥ 38 ॥ इसी बीच विदर्भ देश के राजा भोज ने अपनी बहन इन्दुमती के स्वयंवर में अजको बुलाने के लिये एक अपना विश्वासपात्र दूत रघु के पास भेज दिया ॥ 39 ॥ रघु ने भी सोचा कि भोज के वंश के साथ अपने कुल का सम्बन्ध करना ठीक ही होगा और कुमार आज भी विवाह के योग्य हो ही गये हैं, इसलिये उन्होंने सेना के साथ अजको विदर्भ देश की राजधानी जाने के लिये विदा कर दिया ॥ 40 ॥ मार्ग में अज के ठहरने के लिये अनेक प्रकार के ऐसे वितानों का प्रबन्ध किया गया था जिनमें सब प्रकार के सुख की सामग्री एकत्र कर दी गई थी। साथ ही पास के गाँव वाले भी अजके लिये अच्छी-अच्छी वस्तुएँ भेंट में ला लाकर देते जा रहे थे। (इन सबके कारण) वे ग्रामीण स्थान भी ऐसे लगने लगे मानो

स नर्मदारो धसि सीकराद्वैर्मरुद्भिरानर्तितनक्तमाले ।
 निवेशयामास विलङ्घिताध्वा क्लान्तं रजोधूसरकेतु सैन्यम् ॥ 42 ॥
 अथोपरिष्ठाद्भ्रमरैर्भ्रमद्भिः प्राक्सूचितान्तःसलिलप्रवेशः ।
 निधौ तदानामलग्ण्डभित्तिर्वन्यः सरित्तो गज उन्ममज्ज ॥ 43 ॥
 निःशोषविक्षालितधातुनापि वष्टक्रियामृक्षवतस्तटेषु ।
 नीलोर्ध्वरेखाशबलेन शंसन्दन्तद्वयेनाश्मविकुण्ठितेन ॥ 44 ॥
 संहारविक्षेपलघुक्रियेण हस्तेन तीराभिमुखः सशब्दम् ।
 बभौ स भिन्दन्बृहतस्तरंगान्वार्यर्गलाभङ्ग इव प्रवृत्त् ॥ 45 ॥
 शैलोपमः शैवलमञ्जरीणां जालानि कर्षन्नुरसा स पश्चात् ।
 पूर्वं तदुत्पीडितवारिराशिः सरित्प्रवाहस्तटमुत्ससर्प ॥ 46 ॥
 तस्यैकनागस्य कपोलभित्त्योर्जलावगाहक्षणमात्रशान्ता ।
 वन्येतरानेकपददर्शनेन पुनर्दिदीपे मददुर्दिन श्रीः ॥ 47 ॥
 सप्तच्छदक्षीरकटुप्रवाहमसह्यमाधाय मदं तदीयम् ।
 विलङ्घिताधोरणतीव्रयत्नाः सेनागजेन्द्रा विमुखा बभूवुः ॥ 48 ॥
 स चिन्नबन्धादुत्तयुग्यशून्यं भग्नाक्षपर्यस्तरथां क्षणेन ।
 रामापरित्राणविहस्तयोधां सेनानिवेशं तुमुलं चकार ॥ 49 ॥
 तमापतन्तं नृपतेरवध्यो वन्यः करीति श्रुतवान्कुमारः ।
 निवर्तयिष्यन्विशिखेन कुम्भे जघान नात्यायतकृष्टशार्ङ्गः ॥ 50 ॥

अज राजसी विलास-उद्यानों में ही आ ठहरे हों ॥ 41 ॥ वहाँ से चलकर अजने नर्मदा नदी के किनारे अपनी उस थकी हुई सेना का पड़ाव जा डाला जिसकी पताकाएँ मार्ग की धूल लगने से मटमैली हो गई थीं । वहाँ बड़ा शीतल वायु बह रहा था और उसके झोकों में करंजक के पेड़ झूमे पड़ रहे थे ॥ 42 ॥ इसी बीच एक जंगली हाथी झूमता हुआ नर्मदा के जल से निकल उठा जिसके जल में घुसने की सूचना जल के ऊपर ही भनभनाने वाले भौर दे रहे थे और जल में स्नान करने के कारण जिसके माथे के दोनों ओरका मद धुल गया था ॥ 43 ॥ यद्यपि नहाने से उसके दाँतों में लगी गेरु की लाली तो छूट गई थी फिर भी टीलों पर टक्कर मारने से उसके दाँतों पर जो नीली-नीली रेखाएँ बन गई थीं उससे जान पड़ता था कि उसने ऋक्षवान् पर्वत की शिलाओं पर टक्करें जा मारी हैं ॥ 44 ॥ वह हाथी तटकी ओर को बढ़ता हुआ, अपनी सूँड़ फैला-सिकोड़कर चिगड़ाता हुआ तथा जल की लहरों को चीरता हुआ ऐसा लग रहा था मानों वह अलान की सांकलें तोड़े डाल रहा हो ॥ 45 ॥ वह पहाड़ के समान लम्बा-चौड़ा हाथी अपनी छाती से सेवार को अपने साथ खींचता हुआ जब तटपर आ चढ़ा तब जल में जो लहरें उठी थीं वे उससे भी पहले तट से जा टकराई ॥ 46 ॥ यद्यपि नदी में नहाने से उस हाथी के माथे का मद धुल चुका था फिर भी अजकी सेना के हाथियों को देखकर वह बलवान् हाथी क्रोध से तमतमा उठा और उसके माथे से धुआँधार मद बरस चला ॥ 47 ॥ जब अजके हाथियों ने उसके छितवन के दूध के समान कसैले मदकी गन्ध पाई तब वे हाथी वानों के बार-बार रोकने पर भी इधर-उधर भाग खड़े ॥ 48 ॥ उस विशाल जंगली हाथी को देखते ही सब घोड़े भी रस्से तुड़ा-तुड़ाकर भाग चले । इस भंगदड़ में जिन रथों के धुरे

स किल नागरूपमुत्सृज्य तद्विस्मितसैन्यदृष्टः ।
 स्फुरत्प्रभामण्डलमध्यवर्ति कान्तं वपुर्व्योमचरं प्रपेदे ॥ 51 ॥
 अथ प्रभावोपनतैः कुमारं कल्पदुमोत्थैरवकीर्य पुष्पैः ।
 उदाय वाग्मीदशनप्रभाभिः संवर्धितोरःस्थलतारहारः ॥ 52 ॥
 मतङ्गशापाग्वलेपमूलाश्ववाप्तवानस्मि मतङ्गजत्यम् ।
 अथेहि अन्धर्षापतेस्तनूजं प्रियंवदं मां प्रियदर्शनस्य ॥ 53 ॥
 स आतुनीतः प्रणतेन पश्चान्मया महर्षिर्मुदुतामगच्छत् ।
 उष्णतमन्यातपसप्रयोगाच्छैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य ॥ 54 ॥
 इक्ष्वाकुवंशप्रभवो यदा ते भेत्स्यत्यजः कुम्भमयोमुखेन ।
 संयोक्ष्यसे स्वेन यपुर्महिम्ना तदेत्यवोचत्स तपोनिधिर्मां ॥ 55 ॥
 संमोक्षितः सत्त्ववता स्वयाहं शापाच्चिरप्रार्थितदर्शनेन ।
 प्रतिप्रियं चेद्भवतो न कुर्या वृथा हि मे स्यात्स्वपदोपलब्धिः ॥ 56 ॥
 संमोहनं नाम सखे ममास्त्रं प्रयोगसंहारविभक्तमन्त्रम् ।
 गान्धर्वमादस्त्व यतः प्रयोक्तुर्न चारिहिंसा विजयश्च हस्ते ॥ 57 ॥
 अलं हिया मां प्रति यन्मूहूर्तं दयापरोऽभूः प्रहरन्नपि त्वम् ।
 तस्मादुपच्छन्दयति प्रयोज्यं मयि त्वया न प्रतिषेधरौक्यम् ॥ 58 ॥

टूट गए वे इधर-उधर जहाँ-तहाँ छितरा गिरे थे। उस अकेले हाथी ने सेना में इतनी भगदड़ मचा दी कि लोग अपनी-अपनी स्त्रियों को छिपाने के लिये जहाँ-तहाँ सुरक्षित स्थान ढूँढ़ने लगे ॥ 49 ॥ जब वह हाथी अज की ओर बढ़ा चला आने लगा तब अजने सोचा कि यह जंगली हाथी है, इसे मार डालना तो ठीक है नहीं। इसलिये उन्होंने अपने धनुष को थोड़ा-सा खींचकर एक बाण उसके मस्तक में इसलिये मार चलाया कि वह लौट जाय ॥ 50 ॥ बाण लगते ही वह अपना हाथी का शरीर छोड़कर देवताओं के समान सुन्दर और तेजःपूर्ण शरीर वाला बनकर उठ खड़ा हुआ। यह देखकर तो अज के सैनिक आँखें फाड़फाड़ कर अचरज से देखते हुए जहाँ के तहाँ खड़े के खड़े रह गए ॥ 51 ॥ उस देवता का वेष धारण करने वाले पुरुष ने अपने प्रभाव से कल्पवृक्ष के फूल मँगाकर अज के ऊपर उठा बरसाए और जब उसने बोलने के लिये मुँह खोला तब तो उसके दाँतों की चमक से उसके गले में पड़ा हुआ हार भी दमक उठा ॥ 52 ॥ (वह बोला-) “मैं गन्धर्वों के राजा प्रियदर्शन का पुत्र प्रियंवद हूँ। एक बार मैंने अभिमान में आकर मतंग ऋषि का अपमान कर दिया था जिनके शाप से मैं हाथी हो गया ॥ 53 ॥ जब मैंने ऋषि के बहुत हाथ-पाँव जोड़े तब उन्हें दया आ गई क्योंकि जल तो आग की गर्मी पाकर ही गरम होता है, उसका अपना स्वभाव तो ठंडा ही होता है ॥ 54 ॥ तब प्रसन्न होकर उस तपस्वी ने कहा- ‘इक्ष्वाकु वंश में अज नाम के कुमार उत्पन्न होकर जब तुम्हारे माथे पर लोहे के फल वाला बाण मारेंगे तब तुम्हें फिर से अपना वास्तविक शरीर प्राप्त हो जायगा’ ॥ 55 ॥ उसी दिन से मैं हाथी हो गया और तब से सदा आपके आने की बाट देखता रहा। आज बड़े भाग्य से आपने आकर मुझे शाप से छुड़ा दिया। इस उपकार के बदले में यदि मैंने आपकी कोई भलाई न की तो मेरा यह शरीर पाना व्यर्थ ही है ॥ 56 ॥ देखिए! मेरे पास यह सम्मोहन नाम का गन्धर्वास्त्र है, जिसके चलाने और रोकने के अलग-अलग मन्त्र हैं। यह

तथेत्युपस्पृश्य पयः पवित्रं सोमोद्भवायाः सरितो नृसोमः ।
 उयङ्मुखः सोऽस्त्रविदस्त्रमन्त्रं जग्राह तस्मातिगृहीतशापात् ॥ 59 ॥
 एवं तपोरध्वनि दैवयोगादासेदुष्णोः सख्यमचिन्त्यहेतु ।
 एको यमौ चैत्ररथप्रदेशान्सौराज्यरम्यानपरो विदर्भान् ॥ 60 ॥
 तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे तदागमारुढगुरुप्रहर्षः ।
 प्रत्युज्जगाम क्रयकैशिकेन्द्रश्चन्द्रं प्रवृद्धोर्मिरिवोर्मिमाली ॥ 61 ॥
 प्रवेश्य चैनं पुरमग्रायायी नीचैस्तथोपाचरदर्पितश्रीः ।
 मेने यथा तत्र जनः समेतो वैदर्भमागन्तुमजं गृहेशम् ॥ 62 ॥
 तस्याधिकारपुरुषैः प्रणतैः प्रदिष्टां प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितपूर्णकुम्भाम् ।
 रम्यां रघुप्रतिनिधिः स नवोपकार्यां बाल्यात्परामिव दशां मदनोऽश्रुवास ॥ 63 ॥
 तत्र स्वयंवरसमाहृतराजलोकं कन्याललाम कमनीयमजस्य लिप्सोः ।
 भावावबोधकलुषा दयितेव रात्रौ निद्रा चिरेण नयनाभिमुखी बभूव ॥ 64 ॥
 तं कर्णभूषणनिपीडितपीवरांसं शय्योत्तरच्छदविमर्दकृशाङ्गरागम् ।
 सूतात्मजाः सवयसः प्रथितप्रबोधं प्राबोध्यनुषसि वाग्भिरुदारवाचः ॥ 65 ॥

दुर्लभ अस्त्र आप ले लीजिए। इसमें यह विशेषता है कि जब आप इसे चलावेंगे तब आप शत्रु के प्राण लिए बिना ही उसे जीत लेंगे ॥ 57 ॥ जान पड़ता है आपने जो मेरे ऊपर बाण चलाया है उससे आपके मन में कुछ संकोच हो रहा है। पर इसमें लजाने की क्या बात है, क्योंकि बाण चलाते समय भी आपके मनमें मुझे मार डालने की इच्छा सो थी नहीं। आपने तो दया करके ही बाण चलाया था। अब मैं आप से यही प्रार्थना करता हूँ कि आप यह अस्त्र ले लीजिए, आना-कानी न कीजिए ॥ 58 ॥ चन्द्रमा के समान सुन्दर अजने गन्धर्व की बात मान ली। उन्होंने पहले चन्द्रमा से निकली हुई नर्मदा के जल का आचमन किया और फिर उत्तर की ओर मुँह करके शाप से छूटे हुए उस गन्धर्व से वह अस्त्र भी ले लिया और उसके चलाने और रोकने का मन्त्र भी सीख लिया ॥ 59 ॥ इस प्रकार दैवयोग से मार्ग में ही अज और प्रियंवद की मित्रता हो गई। वहाँ से प्रियंवद तो कुबेर के चित्ररथ नामक उपवन की ओर चला गया और अज उस विदर्भ देश की ओर चल पड़े जो अच्छे शासन के कारण सब प्रकार से बड़ा सुखी था ॥ 60 ॥ जब विदर्भ के राजा को समाचार मिला कि अज आ गए हैं तब वे बड़े प्रसन्न हुए और जैसे समुद्र अपनी लहरें ऊँचे उठाकर चन्द्रमा का स्वागत करता है वैसे ही उन्होंने भी नगर के बाहर अज के पड़ाव पर जाकर उनका स्वागत किया ॥ 61 ॥ अज को राजा भोज अपने साथ नगर में लिवाते ले गए और वहाँ उन्हें अपना सब कुछ भेंट करके ऐसी नम्रता के साथ उनका सत्कार किया कि लोग यही समझने लगे कि अज ही इस घर के स्वामी हैं और भोज अतिथि हैं ॥ 62 ॥ वहाँ से भोज-राज के सेवक, अज को बड़ी नम्रता से उस मनोहर राज-मंदिर में लिवा ले गए जिसके द्वार की चौकियों पर जल से भरे मंगल-कलश रखे हुए थे। उस भवन में रघु के प्रतिनिधि अज रहते हुए ऐसे लगने लगे मानो कामदेव ने ही अपना बचपन बिताकर जवानी में पैर आ धरा हो ॥ 63 ॥ अब अज को यही चाह हुई कि किसी प्रकार उस कन्या को प्राप्त करें जिसे पाने के लिये सैकड़ों राजा स्वयंवर में आए हुए हैं। इसी उलझन में पड़े रहने के कारण रघु की आँखों में रात को उसी प्रकार बहुत विलंब से नींद आई जैसे अपने पति

रात्रिर्गता मतिमतांवर मुञ्च शय्यां धात्रा द्विधैव ननु धूर्जगतो विभक्ता ।
तामेकतस्तब विभति सुरुर्बिनिद्रस्तस्या भवानपरधुर्यपवावलम्बी ॥ 66 ॥
निद्रावशेन भवताप्यनवेक्षणमाणा पर्युत्सुकत्वमबला निशि खण्डितेव ।
लक्ष्मीविनोदयति येन दिगन्तलम्बी सोऽपि त्वदाननरुचिं विजहाति चन्द्रः ॥ 67 ॥
तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत्सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे ।
प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्तश्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमरं च पद्मम् ॥ 68 ॥
यृम्ताच्छूलर्थं हरति पुष्पमनोकहानां संसृज्यते सरसिजैररुणांशुभिर्नैः ।
स्वाभाविकं परगुणेन विभातवायुः सौरभ्यमीप्सुरिव ते मुखमारुतस्य ॥ 69 ॥
ताम्रोदरेषु पतितं तरुपल्लवेषु निधौ तहारगुलिकाविशदं हिमाम्भः ।
आभाति लब्धपरभागतयाधरोष्ठे लीलास्मितं सदशनाचिंरिव त्वदीयम् ॥ 70 ॥
यावत्प्रतापनिधिराक्रमते न भानुरह्नाय तावदरुणेन तमो निरस्तम् ।
आयोधनाग्रसरतां त्वयि वीर याते किं वा रिपूस्तव गुरुः स्वयमुच्छिनसि ॥ 71 ॥
शय्यां जहत्युभयपक्षविनीत निद्राः स्तम्बेरमा मुखरभृङ्गलकर्षिणस्ते ।
येषां विभान्ति वरुणारुणरागयोगाद्भिन्नाद्रिगैरिकतटा इव दन्तकोशाः ॥ 72 ॥

के मन को न जानने वाली नई बहू अपने पति के पास विलंब से जाती है ॥ 64 ॥ एक करवट सोने के कारण अज के भरे हुए कन्धों पर कुण्डल के दबने से उसकी छाप पड़ गई और बिछौने की रगड़ से उनके शरीर पर लगा हुआ सारा अंगराग भी पुँछ गया । दिन निकलते ही उनकी समान अवस्था वाले और मधुर बोलने वाले सूतों के पुत्र यह स्तुति गा-गाकर बुद्धिमान् अज को जगाने लगे- ॥ 65 ॥

‘परम बुद्धिमान्! रात ढल गई है, अब शय्या छोड़िए । ब्रह्मा ने पृथ्वी का भार केवल दो भागों में बाँटा है, जिसे एक ओर तो तुम्हारे पिता सदा सजग होकर सँभाल रहे हैं और दूसरी ओर तुम्हें ही उसे जागकर सँभालना है ॥ 66 ॥ देखो तुम्हारी सौन्दर्य-लक्ष्मी ने जब यह देखा कि तुम निद्रा-रूपी दूसरी स्त्री के वश में जा फँसे हो तब वह तुम्हें चाहते रहने पर भी रुष्ट होकर तुम्हारे ही मुख के समान सुन्दर चन्द्रमा के पास चली गई थी पर इस समय चन्द्रमा भी मलिन हो गया है और इसलिये वह सौन्दर्य-लक्ष्मी बेचारी निराधार हो गई है । (क्योंकि तुम्हारे मुख की बराबरी करने वाला और कोई सुन्दर पदार्थ तो रहा नहीं, जिसके पास वह जा सके), इसलिये जागकर तुम उसे फिर अपना लो ॥ 67 ॥ इस समय तुम्हारी बन्द आँखों के भीतर पुतलियाँ घूम रही हैं और तालाब में कमलों के भीतर भौरे गूँज रहे हैं । इस समय उठो जिससे सूर्य के निकलने पर तुम्हारे नेत्र और कमल एक साथ खिलकर एक जैसे सुन्दर लगने लगे ॥ 68 ॥ प्रातःकाल का पवन वृक्षों की शाखाओं पर झूलने वाले ढीले कोरवाले फूलों को झाड़ गिराता हुआ और सूर्य की किरणों से खिले हुए कमलों को छूता हुआ चल रहा है । मानों तुम्हें जगा हुआ न देखकर वह तुम्हारे मुख की स्वाभाविक सुगन्ध दूसरों से लेने का प्रयास कर रहा है ॥ 69 ॥ हार के उजले मोतियों के समान निर्मल ओस के कण वृक्षों के लाल-लाल पत्तों पर गिरकर वैसे ही सुन्दर लग रहे हैं जैसे तुम्हारे हँसने के समय तुम्हारे लाल-लाल ओठों पर पड़ी हुई तुम्हारे दाँतों की चमक सुन्दर लगती है ॥ 70 ॥ सूर्य के उदय होने से पहले ही उनका चतुर सारथी अरुण संसार से अँधेरे को भाग देता है । यह ठीक भी है, क्योंकि जब सेवक चतुर रहता है तब स्वामी को स्वयं कार्य करने का कष्ट नहीं उठाना पड़ता ।

दीर्घेष्वमी नियमिताः पटमण्डपेषु निद्रां विहाय वनजाक्ष वनायुदेश्याः ।
 वक्त्रोष्मणा मलिनयन्ति पुरोगतानि लेह्यानि सैन्धवशिलाशकलानि वाहाः ॥ 73 ॥
 भवति विरलभक्तिर्भानुपुष्पोपहारः स्वकिरणपरिवेषोद्भेदशून्याः प्रदीपाः ।
 अयमपि च गिरं नस्त्वत्प्रबोधप्रयुक्तामनुवदति शुकस्ते मञ्जुवाक्पञ्जरस्थः ॥ 74 ॥
 इति विरचितवाग्भिर्बन्दिपुत्रैः कुमारः सपदि विगतनिद्रस्तल्पमुज्झांचकार ।
 मदपटुनिनदद्भिर्बोधितो राजहंसैः सुरगज इव गाङ्ग सैकतं सुप्रतीकः ॥ 75 ॥
 अथ विधिमवसाय्य शास्त्रदृष्टं दिवसमुखोचितमञ्चिताक्षिपक्ष्मा ।
 कुशलविरचितानुकूलवेषः क्षितिपसमाजमगात्स्वयंवरस्थम् ॥ 76 ॥
 इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
 अजस्वयंवराभिगमनो नाम पञ्चमः सर्गः ।।



देखो, जब तुम्हारे जैसे योग्य पुत्र युद्ध में लड़ने पहुँच जाते हैं तब तुम्हारे पिताजी को क्या कभी शत्रुओं को स्वयं मारने का कष्ट उठाना पड़ता है? कभी नहीं ॥ 71 ॥ तुम्हारी सेना के हाथी भी दोनों ओर करवटें बदलकर खनखनाती हुई सौकलें खींचते हुए उठ खड़े हुए हैं। लाल सूर्य की किरणें पड़ने से उनके दाँत ऐसे चमक रहे हैं मानो वे सभी गेरू का पहाड़ खोदे चले जा रहे हों ॥ 72 ॥ कमल के समान नेत्र वाले! बड़े-बड़े पट-मंडपों में बँधे हुए तुम्हारे वनायु (काबुल) देश के घोड़े नौद छोड़कर सेंधे नमक के उन डलों को अपने मुँह की भाप से मैला किए डाल रहे हैं जो चाटने के लिये उनके आगे धरे हुए हैं ॥ 73 ॥ रात की सजावट के फूल मुरझा झड़े हैं। उजाला हो आने के कारण दीपक का प्रकाश भी अब अपनी लौसे आगे नहीं बढ़ पा रहा है और पिंजरे में बैठा हुआ तुम्हारा यह मिठबोला सुग्गा भी हमारी बातें दुहराए जा रहा है ॥ 74 ॥ जैसे आकाशगंगा की रेती में आया हुआ सुप्रतीक नाम का देवताओं का हाथी, राजहंसों का शब्द सुनकर जाग उठता है, वैसे ही चारणों की सुरचित वाणी सुनकर राजकुमार अज ने उठकर पहले से तो शास्त्र में बताई हुई प्रातःकाल की सब उचित क्रियाएँ की और फिर उनके चतुर सेवकों ने उन्हें सुन्दर सुन्दर वस्त्र ला पहनाए। इस प्रकार सज-धजकर वे स्वयंवर के राज-समाज की ओर डग बढ़ाते चल दिए ॥ 76 ॥

महाकवि कालिदास के रचे हुए रघुवंश महाकाव्य में 'अज का स्वयंवर-गमन' नाम का पाँचवाँ सर्ग पूर्ण हुआ।



॥ षष्ठः सर्गः ॥

क्ष तत्र मञ्चेषु मनोज्ञयेषान्सिंहासनस्थानुपधारवत्सु ।
 शैमानिकानां मरुतामपश्यदाकृष्टलीलास्त्ररलोकपालान् ॥ 1 ॥
 रतेर्गृहीतानुनयेन कामं प्रत्यर्पितस्वाङ्गमिवेश्वरेण ।
 काफुत्स्थमालोकयतां नृपाणां मनो बभूवेन्दुमतीनिराशम् ॥ 2 ॥
 बैदर्मनिर्दिष्टमसौ कुमारः क्लृप्तेन सोपानपथेन मञ्चम् ।
 शिलाविभङ्गैर्मृगराजशावस्तुङ्गं नगोत्सङ्गमिवारुरोह ॥ 3 ॥
 परार्ध्यवर्णास्तरणोपपन्नमासे दिवानत्नवदासनं सः ।
 भूयिष्ठमासीदुपमेयकान्तिर्मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन ॥ 4 ॥
 तासु श्रिया राजपरम्परासु प्रभाविशेषोदयदुर्निरीक्ष्यः ।
 सहस्रपात्मा व्यरुचद्विभक्तः पयोमुचां पंक्तिषु विद्युतेव ॥ 5 ॥
 तेषां महार्हासनसंस्थितानामुवारमेपध्यभृतां स मध्ये ।
 रराज धाम्ना रघुसूनुरेव कल्पदुमाणामिव पारिजातः ॥ 6 ॥
 नेशयजाः पौरजनस्य तस्मिन्विहाय सर्वान्पृथगीतिपेतुः ।
 मदोत्कटे रेचितपुष्पवृक्षा गन्धद्विपे वन्य इव द्विरेफाः ॥ 7 ॥
 अथ स्तुते बन्दिभिरन्वयज्ञैः सोमार्कवंश्ये नरदेवलोके ।
 संचारितेचागुरुसारयोनौ धूपे समुत्सर्पति वैजयन्तीः ॥ 8 ॥

छठा सर्ग

(स्वयं की सभा में पहुँचकर अज देखते क्या हैं कि) सजे हुए मंचों पर बैठे राजा लोग ऐसे सुन्दर लग रहे हैं जैसे- विमानों पर देवता आए बैठे हों ॥ 1 ॥ अज को देखते ही सभी दूसरे राजा समझ गए कि इन्दुमती को पाने की अब कोई आशा नहीं है क्योंकि अज ऐसे लग रहे थे मानों वे साक्षात् कामदेव ही हों, जिसे शिव ने रति की प्रार्थना पर फिर से जीवित कर उठाया हो ॥ 2 ॥ जैसे सिंह का बच्चा एक-एक शिला पर पैर रखता हुआ पहाड़ पर चढ़ता चलता है वैसे ही राजकुमार अज भी सुन्दर सीढ़ी की पैड़ियों पर चढ़कर भोज के बताए हुए मंच पर जा बैठे ॥ 3 ॥ जिस सोने के सिंहासन पर वे जाकर बैठे उसमें चमाचम रत्न जड़े हुए थे और उस पर रंग-बिरंगे वस्त्र बिछे हुए थे। उस पर बैठे हुए वे ऐसे सुन्दर लग रहे थे मानो स्वयं कार्तिकेय ही अपने मोर पर आए चढ़े बैठे हों ॥ 4 ॥ वहाँ बैठे हुए राजाओं के ठाट-बाट और उनकी तड़क-भड़क देखकर आँखें चौंधिया जाती थीं और ऐसा जान पड़ता था मानो लक्ष्मी ने अपनी सारी शोभा उन लोगों में वैसे ही ला बाँटी हो जैसे बिजली अपनी चमक बादलों में बाँट फैलाती है ॥ 5 ॥ जैसे (नन्दन वन के) कल्प-वृक्षों में पारिजात ही सबसे अधिक सुन्दर है वैसे ही बहुमूल्य सिंहासनों पर बैठे हुए और बड़े ठाट-बाट से सजे हुए राजाओं के बीच अकेले अज ही खिले पड़े रहे थे ॥ 6 ॥ जैसे फूल वाले वृक्षों को छोड़कर मद बहाने वाले जंगली हाथियों पर भौंरे जा टूटते हैं, वैसे ही नगरवासियों की आँखें सब राजाओं से हटकर अज पर ही जा टिकी थीं ॥ 7 ॥ इतने में सब राजाओं के वंश की कथा जानने वाले भाटों ने सूर्य और चन्द्र के वंश में उत्पन्न होने वाले सभी आगत राजाओं की प्रशंसा प्रारंभ कर दी। उधर अगर के सार से बनाई हुई धूप-बत्तियों का धुआँ चारों ओर उड़कर फैला

पुरोपकण्ठोपवनाश्रयाणां कलापिनामुद्धतनृत्यहेतौ ।
 प्रध्मातशङ्खे परितो दिगन्ताँस्तूर्यवने मूर्च्छति मङ्गलार्थे ॥ 9 ॥
 मनुष्यवाह्यं चतुरस्त्रयानमध्यास्य कन्या परिवारशोभि ।
 विवेश मञ्चान्तरराजमार्गं पतिंवरा क्लृप्तविवाहवेणा ॥ 10 ॥
 तस्मिन्विधानातिशये विधातुः कन्यामये नेत्रशतैकलक्ष्ये ।
 निपेतुरन्तः करणैर्नरेन्द्रा देहैः स्थिताः केवलमासनेषु ॥ 11 ॥
 तां प्रत्यभिव्यक्तमनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूत्यः ।
 प्रवालशोभा इव पादपानां शृङ्गारचेष्टा विविधा बभूवुः ॥ 12 ॥
 कश्चिस्कराभ्यामुपगूढनालमालोलपत्राभिहतद्विरेफम् ।
 रजोभिरन्तः परिवेणबन्धि लीलारविन्दं भ्रमयांचकार ॥ 13 ॥
 विस्त्रस्तमंसादपरो विलासी रत्नानुविद्धाङ्गदकोटिलग्नम् ।
 प्रालम्बमुस्कृष्य यथावकाशं निनाय साचीकृतचारुक्त्रः ॥ 14 ॥
 आकुञ्चिताग्राङ्गुलिना ततोऽन्यः किञ्चित्समावर्जितनेत्रशोभः ।
 तिर्यग्विसंसर्पिनखप्रभेण पादेन हैमं विलिलेख पीठम् ॥ 15 ॥
 नियेश्य वामं भुजमासनार्धे तत्संनिवेशादधिकोन्नतांसः ।
 कश्चिद्विवृत्तत्रिकभिन्नहारः सुहृत्समाभाषणतत्परोऽभूत् ॥ 16 ॥

हुआ ऊपर फहराती हुई झडियों तक जा चढ़ा था ॥ 8 ॥ जिन शंखों और मंगल बाजों के बजने पर नगर के आस-पास की अमराइयों में रहने वाले मोर उसे बादल का गरजना समझकर नाच उठे थे उन बाजों की ध्वनि से दसों दिशाएँ गूँज उठीं ॥ 9 ॥ इसी बीच वर चुनने के लिये विवाह के समय का वेश धारण किए हुए इन्दुमती जिस पालकी पर चढ़कर मंचों के बीच वाले गलियारे से आ रही थी वह पालकी मनुष्य ढो रहे थे और उसके चारों ओर दासियाँ पैदल चलती आ रही थीं ॥ 10 ॥ वह कन्या क्या थी ब्रह्मा की रचना की बड़ी ही सुन्दर कारीगरी थी जिसे सैकड़ों आँखें एकटक होकर देखने लगी थीं। उसकी सुन्दरता देखते ही वहाँ बैठे हुए सब राजाओं के मन तो उसके पास जा पहुँचे और केवल उनके शरीर-भर मंचों पर बने रह गए ॥ 11 ॥ राजाओं ने इन्दुमती पर अपना प्रेम जताने के लिये जो वृक्षों के पत्तों के समान अनेक प्रकार से भौंहे आदि चलाकर शृङ्गार-चेष्टाएँ कीं वे मानो उनके प्रेम को इन्दुमती तक पहुँचाने वाली दूतियाँ थीं ॥ 12 ॥ कोई राजा हाथ में सुन्दर कमल लेकर जब उसकी डंठल पकड़कर घुमाने लगा तब उसके घूमने से भौंरे तो इधर-उधर भाग गए पर उसमें जो पराग भरा हुआ था, उसके फैलने से कमल के भीतर चारों ओर एक कुण्डली-सी बन गई। (उसे घुमाकर वह प्रकट करना चाहता था कि विवाह कर लेने पर मैं भी तुम्हारे हाथ में इसी प्रकार नाचूँगा) ॥ 13 ॥ दूसरा विलासी राजा, थोड़ा मुँह घुमाकर कन्धे से सरककर भुजबन्ध में उलझी हुई अपनी रत्नों की माला ठीक करके गले में पहनने लगा। (इससे उसने संकेत किया कि मैं सदा तुम्हें अपने गले का हार बनाए रखूँगा) ॥ 14 ॥ तीसरा राजा भौंहे मटकाकर पैर की उँगलियाँ मोड़कर, पैर के नखों की चमक तिरछी डालते हुए पैर की उँगलियों से सोने के पाँव-पीढ़े पर कुछ लिखने लगा था। (इस संकेत से वह इन्दुमती को अपने पास बुलाए ले रहा था) ॥ 15 ॥ कोई राजा सिंहासन के एक ओर अपनी बाईं भुजा टेके बैठा था और अपने पास बैठे हुए मित्र से इस प्रकार बात करने लगा था कि उसका बायाँ कन्धा उठ गया और गले की माला भी पीठ पर लटक गई। (इससे

विलासिनीविभ्रमदन्तपत्रमापाण्डुरं केतकबर्हमन्यः ।
 प्रियानितम्बोचितसंनिवेशैर्विपाटयामास युवा नखाग्रः ॥ 17 ॥
 कुशशयाताम्रतलेन कश्चित्करेण रेखाध्वजलाञ्छनेन ।
 रत्नाङ्गुलीयप्रभयानुविद्वानुदीरयामास सलीलमक्षान् ॥ 18 ॥
 कश्चिद्यथाभागमवस्थितेऽपि स्वसंनिवेशाद्वयतिलङ्घिनीव ।
 वज्रांशुगर्भाङ्गुलिरन्ध्रमेकं व्यापारयामास करं किरीटे ॥ 19 ॥
 ततो नृपाणां श्रुतवृत्तवंशा पुंवत्प्रगल्भा प्रतिहाररक्षी ।
 प्राक्संनिकर्ष मगधेश्वरस्य नीत्वा कुमारीमवदत्सुनन्दा ॥ 20 ॥
 असौ शरण्यः शरणोन्मुखानामगाधसत्त्वो मगधप्रतिष्ठः ।
 राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्णः परन्तपो नाम यथार्थनामा ॥ 21 ॥
 कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम् ।
 नक्षत्रताराग्रहसंकुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः ॥ 22 ॥
 क्रियाप्रबन्धादयमध्वराणामजस्त्रमाहूतसहस्रानेत्रः ।
 शच्याश्चिरं पाण्डुकपोललम्बान्मन्दारशून्यानलकौशिकार ॥ 23 ॥
 अनेन चेदिच्छसि गृह्यमाणं पाणिं वरेण्येन कुरु प्रवेशे ।
 प्रासादवातायनसंश्रितानां नेत्रोत्सवं पुष्पपुराङ्गनानाम् ॥ 24 ॥

उसने यह संकेत किया कि मैं सदा तुम्हें अपनी बाईं और बिठाए रखूँगा) ॥ 16 ॥ एक दूसरा युवा ऐसा राजा भी था, जिसके नख मानो प्रिया के नितम्बों पर चिह्न बनाने के लिये ही बने थे। वह उन नखों से केतकी के उन धौले पत्तों को नोचे डाल रहा था जो किसी विलासी स्त्री के शृङ्गार के लिये कान के आभूषण के रूप में कटे हुए थे। (इस संकेत से उसने प्रकट किया कि हम इसी प्रकार तुम्हारे नितम्बों पर नख चिह्न लगावेंगे) ॥ 17 ॥ एक दूसरे राजा थे, जिनकी कमल के समान लाल हथेली पर ध्वजा की रेखा बनी हुई थी। वे जब अपने हाथ में पासे उछालते थे तब उनकी अँगूठी की झलक पासों पर पड़ती जा रही थी। (वे संकेत कर रहे थे कि तुम्हारे साथ विवाह होने पर हम दिन-रात तुम्हारे साथ पासा खेला करेंगे) ॥ 18 ॥ एक दूसरा राजा बार-बार अपने हाथ से अपने उस मुकुट को सीधा किए डाल रहा था जो पहले से ही सीधा था। ऐसा करने पर उसके हाथों की उँगलियों के बीच का भाग रत्नों की किरणों से चमक-चमक उठता था। (इनसे वह संकेत करता था कि मैं तुम्हें सदा सिर-आँखों पर बिठाए रखूँगा) ॥ 19 ॥ इसी बीच पुरुषों के समान ढीठ और राजाओं के वंशों की कथा जानने वाली रनिवास की प्रतिहारी सुनन्दा, सबसे पहले इन्दुमती को मगध नरेश के आगे ले जाकर बोली- ॥ 20 ॥ 'ये राजा बड़े पराक्रमी हैं और अपनी शरण में आने वालों की सदा रक्षा किया करते हैं। अपनी प्रजा को सुख देकर इन्होंने बड़ा नाम कमाया है। इनका नाम भी परंतप है और ये हैं भी सचमुच परन्तप (शत्रुओं को ताप देने वाले) ॥ 21 ॥ जैसे तारों, ग्रहों और नक्षत्रों से भरी रहने पर भी रात तभी चाँदनी रात कहलाती है जब चन्द्रमा खिला हुआ हो, वैसे ही यद्यपि संसार में सहस्रों राजा हैं किन्तु पृथ्वी, केवल इन्हीं के रहने से 'राजा-वाली' कहलाती है ॥ 22 ॥ इन्होंने एक पर एक यज्ञ करके बार-बार इन्द्र को अपने यहाँ इतना बुला बैठाया कि इन्द्राणी के सिर की चोटी कल्पवृक्ष के फूलों का शृङ्गार न होने से पीले गालों पर आ झूलने लगी (क्योंकि पति के पास न रहने से उन्होंने शृङ्गार करना ही छोड़ दिया था) ॥ 23 ॥ यदि इनके

एवं तयोवते तमवेक्ष्य किञ्चिद्विस्त्रं सिद्धार्द्धमधूकमाला ।
 ऋजुप्रणामक्रिययैव तन्वी प्रत्यादिदेशैनमभाषमाणा ॥ 25 ॥
 तां सैव वेत्रग्रहणे नियुक्ता राजान्तरं राजसुतां निनाय ।
 समीरणोत्थेव तरङ्गलेखा पद्मान्तरं मानसराजहंसीम् ॥ 26 ॥
 जगाद चैनामयमङ्गनाथो सुराङ्गनाप्रार्थितयौवनश्रीः ।
 विनीतनागः किल सूत्रकारैरैन्द्रं पदं मूमिगतोऽपि भुङ्क्ते ॥ 27 ॥
 अनेन पर्यासयताश्रुबिन्दून्मुक्ताफलस्थूलतमौस्तनेषु ।
 प्रत्यर्पिताः शत्रुविलासिनीनामुन्मुच्य सूत्रेण विनैव हाराः ॥ 28 ॥
 निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन्द्वयं श्रीश्च सरस्वती च ।
 कान्त्या गिरा सूनृतया च योग्या त्वमेव कल्याणि तयोस्तृतीया ॥ 29 ॥
 अथाङ्गराजादवतार्य चक्षुर्याहीति जन्यामवदत्कुमारी ।
 नासौ न काम्यो म च वेद सम्यग्द्रष्टुं सा भिन्नरुचिर्हि लोकः ॥ 30 ॥
 ततः परं दुष्प्रसहं द्विषद्विर्नृपं नियुक्ता प्रतिहारभूमौ ।
 निदर्शयामास विशेषदृश्यमिन्दुं नवोत्थानभिवेन्दुमत्यै ॥ 31 ॥

साथ तुम विवाह करना चाहो तो अवश्य कर लो क्योंकि जब विवाह करके तुम इनके साथ इनकी राजधानी (पाटलिपुत्र में) पहुँचोगी तब झरोखों में बैठी वहाँ की स्त्रियों की आँखों को तुम्हारी सुन्दरता देखकर बड़ा सुख मिलेगा ॥ 24 ॥ सुनन्दा की बात सुनकर इन्दुमती ने तनिक-सी आँख उठाकर राजा को देखा। उसके हाथ की दूब में गुँथी हुई महुए की माला कुछ सरक गई और बिना कुछ कहे-सुने सीधा-सा प्रणाम करके उसे अस्वीकार करती हुई वह आगे बढ़ गई ॥ 25 ॥ जैसे वायु से उठी हुई लहर के सहारे मानसरोवर की राजहंसिनी एक कमल से दूसरे कमल तक जा पहुँचती है, वैसे ही सुनन्दा भी राजकुमारी इन्दुमती को दूसरे राजा के आगे पहुँचाकर खड़ी हो गई ॥ 26 ॥ और बोली- 'ये अंग देश के राजा हैं। इनके यौवन के लिये देवताओं की स्त्रियाँ भी तरसा करती हैं। हाथियों की विद्या के बड़े-बड़े गुणी लोग इनके हाथियों को आ-आकर सिखाते हैं। ये पृथ्वी पर रहते हुए भी इन्द्र ही समझे जाते हैं ॥ 27 ॥ (इन्होंने जिन राजाओं को युद्ध में मार डाला था) उनकी स्त्रियों ने अपने पतियों के शोक में मोतियों के हार तो उतार फेंके थे पर उनके रोने से उनके स्तनों पर गिरती हुई बड़े-बड़े मोतियों के समान आँसुओं की बूँदे देखकर ऐसा लगता था मानो इन्होंने शत्रुओं की स्त्रियों के गले से मोतियों के हार उतार-उतारकर उन्हें बिना डोरे वाले (आँसुओं के) हार ला पहनाए हों ॥ 28 ॥ यों तो तुम जानती ही हो कि लक्ष्मी और सरस्वती दोनों में कभी नहीं पटती पर इनके पास दोनों ही मिलकर रहती हैं। इसलिये कल्याणी! तुम सुन्दर भी हो और तुम्हारी वाणी भी मधुर है, तुम इन दोनों के साथ तीसरी बनकर वहाँ पहुँच सकती हो' ॥ 29 ॥ इन्दुमती ने उस अंग देश के राजा पर से आँखें हटाकर सुनन्दा से कहा- 'आगे चलो'। यह बात नहीं थी कि वह राजा सुन्दर नहीं था और न यही बात थी कि इन्दुमती ने उसे ठीक से देखा न था। पर सबकी अपनी-अपनी रुचि ही तो है (किसी को कोई अच्छा लगता है किसी को कोई) ॥ 30 ॥ वहाँ से आगे बढ़कर प्रतिहारी सुनन्दा ने एक दूसरे राजा को ले जा दिखाया जिससे सब शत्रु काँपते थे और जिसका रूप और यौवन पूनो के उठते हुए चन्द्रमा के समान सुन्दर था। उसे दिखाकर सुनन्दा बोली- ॥ 31 ॥ 'देखो, ये जो लम्बी भुजा, चौड़ी छाती और पतली गोल कमर वाले राजा सूर्य

अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः ।
 आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति ॥ 32 ॥
 अस्य प्रयाणेषु समग्रशक्तेरग्रे सरैर्वाजिभिरुत्थितानि ।
 कुर्वन्ति सामन्तशिखामणीनां प्रभाप्ररोहास्तमयं रजांसि ॥ 33 ॥
 असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौलेः ।
 तमिस्त्रपक्षेऽपि सह प्रियाभिर्ज्योत्स्नावतो निर्विशति प्रदोषान् ॥ 34 ॥
 अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु कच्चिन्मनसो रुचिस्ते ।
 सिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु ॥ 35 ॥
 तस्मिन्नभिद्योतितबन्धुपद्मे प्रतापसंशोषितशत्रुपङ्के ।
 बबन्ध सा नोत्तमसौकुमार्या कुमुद्वती भानुमतीय भायम् ॥ 36 ॥
 तामव्रतस्तम्भरसान्तराभामनूपराजस्य गुणैरनूनाम् ।
 विधाय सृष्टि ललितां विधातुर्जगाद भूयः सुदतीं सुनन्दा ॥ 37 ॥
 सङ्ग्रामनिर्बिष्टसहस्रबाहुरष्टादशद्वीपनिष्ठातयूपः ।
 अनन्यसाधारणराजशब्दो बभूव योगी किल कार्तवीर्यः ॥ 38 ॥
 अकार्यचिन्तासमकालमेव प्रादुर्भवेँश्चापधरः पुरस्तात् ।
 अन्तःशरीरेष्वपि यः प्रजानां प्रत्यादिदेशाविनयं विनेता ॥ 39 ॥

के समान चमक रहे हैं, ये अवन्ती देश के राजा हैं और ऐसा जान पड़ता है कि विश्वकर्मा ने अपने शान चढ़ाने के चक्र पर इन्हें बड़े यत्न से खराद उतारा है ॥ 32 ॥ जब ये शक्तिशाली राजा शत्रुओं पर चढ़ाई करते हैं तब सेना के आगे चलने वाले घोड़ों की टापों से उठी हुई धूल से शत्रुओं के मुकुटों की चमक धुँधली पड़ जाती है ॥ 33 ॥ इनका राज-भवन महाकाल मन्दिर में बैठे और सिर पर चन्द्रमा धारण करने वाले शिव के पास ही है। इसलिये अँधेरे पाख में भी शिव के सिर पर बैठे हुए चन्द्रमा की चाँदनी से ये अपनी स्त्रियों के साथ सदा उजले पाख का ही आनन्द लेते रहते हैं। केले के खम्भे के समान (चिकनी और ढलवाँ) जाँघ वाली इन्दुमती! क्या तुम्हारे मन में अवन्ती के उन उद्यानों में विहार करने की चाह है जिनमें दिन-रात सिप्रा नदी का ठंडा वायु हरहराता रहता है? ॥ 35 ॥ सुनन्दा की बात सुनकर भी सुकुमारी इन्दुमती को वह मित्रों को प्रसन्न करने वाला और शत्रुओं को मारने वाला प्रतापी राजा उसी प्रकार अच्छा नहीं लगा जैसे कुमुदिनी को वह सूर्य नहीं भाता जो कमल को खिलाता और कीचड़ को सुखा देता है ॥ 36 ॥ कमल के समान सुन्दरी, बड़ी गुणवती, विधाता की सुन्दर रचना और सुन्दर दाँतों वाली इन्दुमती को वहाँ से अनूप देश (नर्मदा तट-प्रदेश) के राजा के आगे ले जाकर सुनन्दा बोली- ॥ 37 ॥ 'बहुत दिनों की बात है, एक कार्तवीर्य नाम के बड़े योगी हो गए हैं। उनमें बड़ी भारी बात यह थी कि जब ये लड़ने जाते थे तब उनके सहस्रों हाथ निकल आते थे। उन्होंने अठारह द्वीपों में जाकर यज्ञ के खम्भे जा गाड़े थे। वे ऐसे प्रतापी थे कि उनके सामने कोई अपने को राजा ही नहीं कह सकता था ॥ 38 ॥ उनके समय में यदि कोई पाप करने का विचार भी करता था तो वे धनुष-बाण लेकर उसके सिर पर जा चढ़ते थे। इस ढङ्ग से उस दंडधारी ने सब लोगों के मन से पाप निकाल बाहर कर डाला था ॥ 39 ॥ जिस रावण ने इन्द्र को भी जीत धरा था उसे भी उन्होंने अपने कारागार में बन्दी कर छोड़ा था। उन्होंने रावण की भुजाएँ इस प्रकार धनुष की डोरी से कसकर जकड़ बाँधी थीं कि वह बेचारा

ज्याबन्धानिष्पन्दभुजेन यस्य विनिःश्वसद्वक्त्रपरम्परेण ।
 कारागृहे निर्जितवासवेन लङ्केक्षरेणोषितमाप्रसादात् ॥ 40 ॥
 तस्यान्वये भूपतिरेण जातः प्रतीप इत्यागमवृद्धसेवी ।
 येन श्रियः संश्रयदोषरूढं स्वभावलोलेत्ययशः प्रमृष्टम् ॥ 41 ॥
 आयोधने कृष्णगतिं सहायमवाप्य यः क्षत्रियकालरात्रिम् ।
 धारां शितां रामपरश्वधस्य संभावयत्युत्पलपत्रसाराम् ॥ 42 ॥
 अस्याङ्गलक्ष्मीर्भव दीर्घबाहोर्माहिष्मतीवप्रनितम्बकाञ्चीम् ।
 प्रासादजालैर्जलवेणिरम्यां रेवां यदि प्रेक्षितुमस्ति कामः ॥ 43 ॥
 तस्याः प्रकामं प्रियदर्शनोऽपि न स क्षितीशो रुचये बभूव ।
 शरत्प्रमृष्टाम्बुधरोपरोधः शशीव पर्याप्तकलो नलिन्याः ॥ 44 ॥
 सा शूरसेनाधिपति सुषेणमुद्दिश्य लोकान्तरगीतकीर्तिम् ।
 आचारशुद्धोभयवंशदीपं शुद्धान्तरक्ष्या जगदे कुमारी ॥ 45 ॥
 नीपान्वयः पार्थिव एष यज्वा गुणैर्यमाश्रित्य परस्परेण ।
 सिद्धाश्रमं शान्तमिवैत्य सत्त्वैर्नैसर्गिकोऽप्युत्सृजे विरोधः ॥ 46 ॥
 यस्यात्मगेहे नयनाभिरामा कान्तिर्हिमांशोरिव संनिविष्टा ।
 हर्म्याग्रसरूढतृणाङ्कुरेषु तेजोऽविषह्यं रिपुमन्दिरेषु ॥ 47 ॥

दिन-रात बैठा उसाँसें भरता रहता था। जब तक कार्तवीर्य उस पर प्रसन्न नहीं हुए तब तक उन्होंने उसे छोड़ा नहीं ॥ 40 ॥ उन्हीं प्रसिद्ध राजा के वंश में ये उत्पन्न हुए हैं, ये वेदों और बड़े-बूढ़ों (अथवा वेद के पण्डितों) की बड़ी सेवा करते हैं। लक्ष्मी को जो चंचलता का दोष लगाया जाता है उनका वह दोष भी तबसे धुल गया जबसे वह इनके साथ रहने लगीं (क्योंकि लक्ष्मी तो उसी पुरुष को छोड़कर चंचला होकर जाती हैं जो व्यसनी होते हैं। इनमें कोई व्यसन नहीं, इसलिये इन्हें क्यों छोड़कर जाय) ॥ 41 ॥ ये राजा इतने बलवान् हैं कि अग्नि की सहायता पा लेने से, ये परशुराम जी के उस फरसे की तीखी धार को भी कमल की पंखड़ी के समान कोमल समझते हैं जिसने युद्ध में क्षत्रियों का महासंहार कर डाला था। 42 ॥ तुम यदि राजभवन के झरोखों से उस सुन्दर लहरों वाली नर्मदा का मनोहर दृश्य देखना चाहो जो माहिष्मती (वर्तमान मंडला, मध्यप्रदेश) नगरी के चारों ओर तगड़ी-जैसी घूम गई है तो इस महाबाहु राजा से विवाह कर लो ॥ 43 ॥ जैसे खुले आकाश वाली शरद् ऋतु का मनोहर चन्द्रमा भी कमलिनी को नहीं भाता वैसे ही वह सुन्दर राजा भी इन्दुमती के मन को नहीं जैचा ॥ 44 ॥ तब रनिवास की सेविका सुनन्दा ने राजकुमारी को मथुरा के उस राजा सुषेण के आगे ले जा पहुँचाया जिसकी कीर्ति स्वर्ग के देवता भी गाते रहते थे और जिसने अपने शुद्ध चरित्र से माता और पिता दोनों के कुलों को उजागर कर दिया था। उन्हें दिखाकर सुनन्दा बोली— ॥ 45 ॥ ‘ये राजा बड़ी विधि से यज्ञ करते हैं और प्रशंसनीय वंश में उत्पन्न हुए हैं। जैसे ऋषियों के शान्त आश्रमों में सब जीव वैर छोड़कर एक साथ रहते हैं वैसे ही विद्वता और मौन रहना ये परस्पर विरोधी गुण भी इनमें एक साथ रहते हैं ॥ 46 ॥ चन्द्रमा की चाँदनी के समान आँखों को सुख देने वाला इनका प्रकाश तो घर में रहता है और सूर्य के समान प्रचण्ड तेज शत्रुओं के उन राजभवनों पर दिखाई देता है जिनके उजड़ जाने पर उनमें घास जम आई है ॥ 47 ॥ जब ये जलविहार करते हैं और इनकी रानियों के स्तनों पर लगा हुआ चन्दन जल में मिलकर यमुना

यस्यावरो घस्तनचन्दनानां प्रक्षालनाद्वारिविहारकाले ।
 कलिन्दकन्या मथुरां गतापि गङ्गोमिसंसक्तजलेव भाति ॥ 48 ॥
 त्रस्तेन ताक्ष्यात्किल कालियेन मणिं विसृष्टं यमुनौकसा यः ।
 वक्षःस्थलव्यापिरुचं दधानः सकौस्तुभं हेपयतीव कृष्णम् ॥ 49 ॥
 संभाव्य भर्तारममुं युवानं मृदुप्रवालोत्तरपुष्पशय्ये ।
 वृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्विशयतां सुन्दरि यौवनश्रीः ॥ 50 ॥
 अध्यास्य चाम्भः पृषतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलानि ।
 कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु ॥ 51 ॥
 नृपं तमावर्त्तमनोज्ञनाभिः सा व्यत्यगादन्यवधूर्ध्ववित्री ।
 महीधरं मार्गवशादुपेतं स्त्रोतोवहा सागरगामिनीव ॥ 52 ॥
 अथाङ्गदाशिलष्टभुजं भुजिष्या हेमाङ्गदं नाम कलिङ्गनाथम् ।
 आसेदुषीं सादितशत्रुपक्षं बालामबालेन्दुमुखीं बभाषे ॥ 53 ॥
 असौ महेन्द्राद्रिसमानसारः पतिर्महेन्द्रस्य महोदधेश्च ।
 यस्य क्षरत्सैन्यगजच्छलेन यात्रासु यातीव पुरो महेन्द्रः ॥ 54 ॥
 ज्याघातरेखे सुभुजो भुजाभ्यां बिभर्ति यश्चापभृतां पुरोगः ।
 रिपुश्रियां साञ्जनवाष्पसेके बन्दीकृतानामिव पद्धती द्वे ॥ 55 ॥

में बहने लगता है उस समय मथुरा में भी यमुना का रंग ऐसा प्रतीत होता है मानों वहीं पर गंगा जी की लहरों से उनका संगम आ हुआ हो ॥ 48 ॥ जब ये अपने गले में वह मणि उठा पहनते हैं, जो उन्हें उस कालिय नागने दी थी जो गरुडके डरसे यमुना के जल में जा रहने लगा था, तब उनकी शोभा के आगे कौस्तुभ मणि पहने हुए कृष्ण की शोभा भी फीकी पड़ जाती है ॥ 49 ॥ देखो सुन्दरी! इनके साथ विवाह करके तुम कुबेर के चैत्ररथ नाम के उद्यान से भी बढ़कर सुन्दर वृन्दावन में कोमल पत्तों और फूलों की शय्याओं पर विहार किया करना ॥ 50 ॥ और वर्षा के दिनों में गोवर्धन पर्वत की सुहावनी गुफाओं में पानी की फुहारों से भीगी हुई शिलाजीत की गन्धवाली पत्थर की पटरियों पर बैठकर मोरों का नाच देखा करना' ॥ 51 ॥ पानी की भँवर के समान नाभिवाली और किसी अन्य से विवाह करने की इच्छावाली इन्दुमती उन राजा सुषेण को छोड़कर उसी प्रकार आगे बढ़ गई जैसे समुद्र की ओर बढ़ती हुई नदी बीच में पड़ते हुए पहाड़ को छोड़कर और आगे बढ़ जाती है ॥ 52 ॥ वहाँ से पूनोके चन्द्रमा के समान मुखवाली इन्दुमती को सुनन्दा दासी उस कलिंग देश के राजा हेमाङ्गद के आगे ले गई जो अपनी बाँह में भुजवन्ध पहने हुए थे और जिन्होंने अपने शत्रुओं को पूरा नष्ट कर डाला था। उन्हें दिखाती हुई सुनन्दा बोली- ॥ 53 ॥ 'इनको देखती हो! ये महेन्द्र पर्वत के समान ही शक्ति वाले हैं और महेन्द्र पर्वत तथा समुद्र दोनों पर इनका अधिकार है। जब ये युद्ध के लिये निकलते हैं तब इनके आगे-आगे चलने वाले मतवाले हाथी ऐसे लगते हैं मानों हाथियों का वेष बनाकर स्वयं महेन्द्र पर्वत ही उठा चला जा रहा हो ॥ 54 ॥ देखती हो न, कैसी सुन्दर इनकी भुजाएँ हैं और धनुषधारियों में तो इनकी जोड़ का कोई है ही नहीं। इनकी भुजाओं पर जो दो काली-काली रेखाएँ धनुष की डोरी खींचने से पड़ गई हैं, वे ऐसी जान पड़ती हैं मानो ये शत्रुओं की उस राज्य-लक्ष्मी के आने की दो पगडंडियाँ हैं जो उन्होंने शत्रुओं से छीन ली हों और जिसके कजरारे नेत्रों से बहे आँसुओं के कारण ये काले पड़ गए हों ॥ 55 ॥ इनके

यमात्मनः सद्यनि संनिकृष्टो मन्द्रध्वनित्याजितयामतूर्यः ।
 प्रासादवातायनदृश्यवीचिः प्रबोधयत्यर्णव एव सुप्तम् ॥ 56 ॥
 अनेन साधो विहराम्बुराशोस्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु ।
 द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः ॥ 57 ॥
 प्रलोभिताप्याकृतिलोभनीया विदर्भराजावरजा तयैवम् ।
 तस्मादपावर्तत दूरकृष्टा नीत्येव लक्ष्मीः प्रतिकूलदैवात् ॥ 58 ॥
 अथोरगाख्यस्य पुरस्य नाथं दौवारिकी देवसरूपमेत्य ।
 इतश्चकोराक्षि विलोकयेति पूर्वानुशिष्टां निजगाद भोज्याम् ॥ 59 ॥
 पाण्डयोऽयमं सार्पितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन ।
 आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्विराजः ॥ 60 ॥
 विन्ध्यस्य संस्तम्भयिता महाद्रेर्निःशेषपीतोऽञ्जितसिन्धुराजः ।
 प्रीत्याश्वमेधावभृथाद्रमूर्तेः सौस्नातिको यस्य भवत्यगस्त्यः ॥ 61 ॥
 अस्त्रं हरादाप्तवता दुरापं येनेन्द्रलोकावजयाय दृप्तः ।
 पुरा जनस्थानविमर्दशङ्की संधाय लङ्काधिपतिः प्रतस्थे ॥ 62 ॥
 अनेन पाणौ विधिवद्गृहीते महाकुलीनेन महीव गुर्वो ।
 रत्नानुविद्धार्णवमेखलाया दिशः सपत्नी भव दक्षिणस्याः ॥ 63 ॥

राजभवन के ठीक नीचे ही समुद्र हिलोरें लेता है। उसकी लहरें राजभवन के झरोखों से स्पष्ट दिखाई देती हैं। जब ये अपने राजभवन में सोते हैं तब वह समुद्र ही नगाड़े की ध्वनि से भी गंभीर अपने गर्जन से ही इन्हें प्रातः जगाया करता है ॥ 56 ॥ तुम चाहो तो इनके साथ विवाह करके समुद्र के उन तटों पर जा विहार करो जहाँ दिनरात ताड़ के जंगलों की फड़फड़ाहट सुनाई देती रहती है। वहाँ जब तुम्हें पसीना हुआ करेगा तब लौंग के फूलों की सुगन्ध में बसा हुआ दूसरे द्वीपों से आता हुआ शीतल पवन ही तुम्हारा पसीना पोंछता रहा करेगा' ॥ 57 ॥ विदर्भराज की छोटी बहन सुन्दरी इन्दुमती अपनी दासी की लुभावनी बातें सुनकर भी उस राजा को छोड़कर उसी प्रकार आगे बढ़ गई जैसे पुरुषार्थ से लाई हुई सम्पत्ति भाग्य के फेर से छोड़कर दूसरे के पास चली जाती है ॥ 58 ॥ तब सुनन्दा उसे देवता के समान मनोहर नागपुर के राजा के पास ले जाकर बोली- 'अरी चकोर-जैसे नेत्र वाली! इधर तो देख ॥ 59 ॥ ये पांड्य देश के राजा हैं जिनके कंधे पर बड़ा-सा हार लटका हुआ है और जिनके शरीरपर हरिचन्दन का लेप किया हुआ है। इस वेश में ये उस हिमालय के शिखर के समान सुन्दर लग रहे हैं जो प्रातःकाल की धूप से लाल हो गया हो और जिसपर से अनेक पानी के झरने झरझर गिरते जा रहे हों ॥ 60 ॥ जब ये अश्वमेध यज्ञ करके स्नान किया करते हैं तब इनसे वे महाप्रतापी अगस्त्य ऋषि आकर कुशल पूछा करते हैं जिन्होंने विन्ध्याचल को ऊपर बढ़ने से रोक दिया था और पूरे समुद्र को पीकर फिर मुँह से निकाल दिया था ॥ 61 ॥ जब महाप्रतापी रावण इंद्रको जीतने चला, तब उसने इस डरसे इनसे आकर सधि करली थी कि कहीं ऐसा न हो कि मेरे पीठ-पीछे ये मेरे देश को तहस-नहस कर डालें क्योंकि इन्होंने भी शिव से बड़ा प्रतापी अस्त्र प्राप्त कर रक्खा है ॥ 62 ॥ ये बड़े ऊँचे कुल में उत्पन्न हैं और तुम भी पृथ्वी के समान महान् हो। इनके साथ विधिपूर्वक, पाणिग्रहण करके तुम रत्नों से भरी उस दक्षिण देश की पृथ्वी की सौत बन जाओ जिसकी तगड़ी, स्वयं रत्नों से भरा समुद्र बना हुआ है ॥ 63 ॥ यदि तुम सदा मलय

ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगास्वे लालतालिक्रितचन्दनासु ।
 तमालपत्रास्तरणासु रन्तुं प्रसीद शश्वन्मलयस्थलीषु ॥ 64 ॥
 इन्दीवरश्यामतनूपोऽसौ त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः ।
 अन्योन्यशोभापरिवृद्धये वां योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु ॥ 65 ॥
 रुवसुर्विदर्भाधिपतेस्तदीयो लेमेऽनतरं चेतसि नोपदेशः ।
 दिवाकरादर्शनबद्धकोशे नक्षत्रनाथांशुरिवारदिन्दे ॥ 66 ॥
 संचारिणीदीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा ।
 नरेन्द्रमार्गादृ इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥ 67 ॥
 तस्यां रघोः सूनुरुपस्थितायां वृणीत मां नेति समाकुलाऽभूत् ।
 वामेतरः संशयमस्य बाहुः केयूरबन्धोऽध्वसितैर्नुनोद ॥ 68 ॥
 तं प्राप्य सर्वावयवानवद्यं व्यवर्त्ततान्योपगमात्कुमारी ।
 न हि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदाली ॥ 69 ॥
 तस्मिन्समावेशितचितवृत्तिमिन्दुप्रमामिन्दुमतीमवेक्ष्य ।
 प्रचक्रमे वक्तुमनुक्रमज्ञा सविस्तरं वाक्यमिदं सुनन्दा ॥ 70 ॥
 इक्ष्वाकुवंश्यः ककुदं नृपाणां ककुत्स्थ इत्याहितलक्ष्णोऽभूत् ।
 काकुत्स्थशब्दं यत उन्नतेच्छाः श्लाघ्यं दधत्युत्तरकोसलेन्द्राः ॥ 71 ॥

पर्वत की उन घाटियों में विहार करना चाहो, जिनमें पान की बेलों से ढके हुए सुपारी के पेड़ खड़े हैं, इलायची की बेलों से लिपटे हुए चन्दन के पेड़ लगे हैं और स्थान-स्थान पर ताड़ के पत्ते फैले हुए हैं, तो तुम इनसे विवाह कर लो ॥ 64 ॥ और फिर, ये हैं नील कमल के समान साँवले और तुम हो गोरोचन-जैसी गौरी, इसलिये यदि तुम दोनों का विवाह हो जायगा तो तुम वैसे ही सुन्दर लगोगी जैसे बादल के साथ बिजली ॥ 65 ॥ सुनन्दा की बातें इन्दुमती के मन में वैसे ही नहीं घर कर सकीं जैसे सूर्य के न दिखाई देने पर बन्द कमल के भीतर चन्द्रमा की किरणें नहीं पहुँच पातीं ॥ 66 ॥ जैसे रात को दीपक लेकर चलते हुए जो-जो राजमार्ग के भवन पीछे छूटते चलते हैं वे अँधेरे में पड़कर धुँधले पड़ते जाते हैं, वैसे ही जिन-जिन राजाओं को छोड़कर इन्दुमती आगे बढ़ती जाती थी उनका मुँह उदास पड़ता जाता था ॥ 67 ॥ जब वह रघु के पुत्र अज के आगे आकर खड़ी हुई तब अजके मनमें भी यह धुकधुकी होने लगी कि यह मुझे भी चरेगी या नहीं। पर उसी समय भुजबन्ध के पास उनकी दाईं भुजा फड़क उठी जिससे उनकी शंका तत्काल दूर हो गई ॥ 68 ॥ इन्दुमती ने जब उन सर्वाङ्ग-सुन्दर राजा अजको देखा तब वह वहीं रुक गई और फिर किसी राजा के आगे नहीं जा सकी क्योंकि जब भौरों का झुण्ड आम के वृक्ष पर पहुँच जाता है तब उसे दूसरे वृक्षों के पास जाने की चाह नहीं रहती ॥ 69 ॥ सुनन्दा तो बात चलानेका बड़ा ढंग जानती ही थी, इसलिये जब उसने देखा कि चन्द्रमा के समान मुखवाली इन्दुमती अजके रूप पर लट्टू हो गई है तब वह बहुत बढ़ा-चढ़ा कर बात बनाती हुई बोली- ॥ 70 ॥ 'देखो! इक्ष्वाकु के वंश में, राजाओं में श्रेष्ठ और सुन्दर लक्ष्णों वाले एक ककुत्स्थ नामके राजा हो गए हैं, जिनके कारण उनके पीछे उत्तर कोसल के सभी राजा अपने को ककुत्स्थ कहते आए हैं ॥ 71 ॥ उन ककुत्स्थ राजा ने जब युद्ध में असुरों को मारा था तब बैलपर चढ़े हुए वे शिव के समान लगते थे। (और जानती हो उनका बैल कौन था!) स्वयं इन्द्र भगवान उनके लिये बैल बने हुए थे और उस युद्ध में उन्होंने जिन

महेन्द्रमास्थाय मेहोक्षरूपं यः सेयपि प्राप्तपिनाकिलीन्कः ।
 चकार वाणैरमुराङ्गनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखाः ॥ 72 ॥
 ऐरावतास्फालनविश्लर्था यः संघाट्टयन्नङ्गदमङ्गदेन ।
 उपेयुषः स्वामपि मूतिमग्रचांमर्धासनं गोत्रभिदोऽधितष्ठौ ॥ 73 ॥
 जातः कुले तस्य किलोरुकोतिः कुलप्रदीपो नृपतिदिलीपः ।
 अतिष्ठक्षेकोनशतकतुत्वे शक्राम्यसूयाविनिवृतये यः ॥ 74 ॥
 यस्मिन्महो शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्षपये गतानाम् ।
 वातोऽपि नास्त्र सयंशुकानि को लम्बयेवाहरणाय हस्तम् ॥ 75 ॥
 पुत्रो रघुस्तस्य पदं प्रशास्ति महाक्रतोविश्वजितः प्रयोक्ता ।
 चतुर्दिगावर्जितसंभृता यो भृत्पात्रशेषामकरोद्विभूतिम् ॥ 76 ॥
 आरूढमद्रीनुदधीन्वितीर्णं भुजंगमानां वसतिं प्रविष्टम् ।
 ऊर्ध्वं गतं यस्य न चानुबन्धि यशः परिच्छेतुमियतयालम ॥ 77 ॥
 असौ कुमारस्तमजोऽनुजातस्त्रिविष्टपस्येव पतिं जयन्तः ।
 गुर्वो घुरे यो भुवनस्य पित्रा धुर्येण दम्यः सदृशं विभ्रति ॥ 78 ॥
 कुलेन कान्त्या वयसा मवेन गुणैश्च तैस्तैर्विनयप्रधानैः ।
 स्वमात्मनस्तुल्यममुं वृणीष्व रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन ॥ 79 ॥
 ततः सुनन्दावचनावसाने लज्जां तनूकृत्य नरेन्द्रकन्या ।
 दृष्ट्वा प्रसादामलया कुमारं प्रत्यग्रहीत्संवरणसजेव ॥ 80 ॥

असुरों को मार डाला था उनकी स्त्रियों ने पतियों से विछोह होने के कारण अपने कपोलों को चीतना ही छोड़ दिया था ॥ 72 ॥ युद्ध समाप्त हो जाने पर जब इन्द्र अपना रूप धारण करके ऐरावतपर चढ़कर स्वर्ग जाने लगे तब उनके साथ उसपर ककुत्स्थ भी ऐसे सटे बैठे थे कि ऐरावत को बार-बार अंकुश लगाने से इन्द्र के जो भुजबन्ध ढीले पड़ गए थे, वे ककुत्स्थ के भुजबन्ध से रगड़ खाते चल रहे थे ॥ 73 ॥
 उन्हीं प्रतापी ककुत्स्थ के वंश में यशस्वी राजा दिलीप ने जन्म लिया जो केवल निन्यानवे यज्ञ करके ही इसलिये चुप बैठ गए कि कहीं सौ यज्ञ पूरे करने से इन्द्र को कष्ट न होने लगे ॥ 74 ॥ वे प्रतापी राजा ऐसे अच्छे ढंग से अपना राज चलाते थे और उनका ऐसा दबदबा था कि उपवनों में मद पीकर सोई स्त्रियों को वायु भी नहीं सरका पा सकता था फिर उन्हें हटाने का साहस तो भला करता ही कौन ॥ 75 ॥
 उनके पीछे उन्हीं के पुत्र रघु राजा हुए, जिन्होंने सब देश जीतकर अपार धन इकट्ठा किया और विश्वजित् यज्ञ में अपना सब कुछ इतना बाँट दिया कि केवल मिट्टी का पात्र भर उनके पास बच रह गया ॥ 76 ॥
 उनका यश कहाँ-तक फैला हुआ है उसका कोई ठिकाना थोड़े ही है। पर्वतों पर, समुद्र के पार, पाताल में, नागों के देश में, सब दिशाओं में और भूत, भविष्य वर्तमान तीनों कालों में सब कहीं तो उनका यश फैला हुआ है ॥ 77 ॥ जैसे इन्द्र के पुत्र जयन्त बड़े प्रतापी हुए थे वैसे ही कुमार अज भी उन्हीं प्रतापी रघु के पुत्र हैं और ये भी अपने प्रतापी पिता के समान ही राज्य का सब काम सँभालते रहते हैं ॥ 78 ॥
 इनका कुल, रूप, यौवन और नम्रता आदि गुण सब तुम्हारे ही जैसे हैं। तुम इनसे अवश्य विवाह करो जिससे रत्न और सोने का ठीक-ठीक मेल बैठ जाय ॥ 79 ॥ जब सुनन्दा सब कह चुकी तब इन्दुमती ने संकोच छोड़कर अपनी हँसती हुई आँखें अजपर ऐसे ले जा गड़ाई और आँखों-आँखों में उन्हें इस प्रकार

सा यूमि तस्मिन्नभिलाषबन्धं शशाक शालीनतया च वक्तुम् ।
 रोमाञ्चलक्ष्येण सगात्रयष्टिं भित्वा निराक्रामदरलकेश्याः ॥ 81 ॥
 यथागतायां परिहासपूर्वं सख्या सखी वेत्रभृदायभाषे ।
 आर्ये व्रजामोऽन्यत इत्यथैनां वधूरसूयाकुटिलं ददर्श ॥ 82 ॥
 सा चूर्णगौरं रघुनन्दनस्य धात्रीकराभ्यां करभोपमोरुः ।
 आसज्जयामास यथाप्रदेशं कण्ठे मुणं मूर्त्तभिवानुरागम् ॥ 83 ॥
 तथा स्त्रजा मङ्गलपुष्पमय्या विशालवक्षः स्थललम्बया सः ।
 अमैस्त कण्ठार्पितबाहुपाशां विदर्भराजावरजां वरेण्यः ॥ 84 ॥
 शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेघमुक्तं जलनिधिमनुरूपं जह्नुकन्यावतीर्णा ।
 इति समगुणयोगप्रीतयस्तत्रपौराः श्रवणकटुनृपाणमेकवाक्यं विवधुः ॥ 85 ॥
 प्रमुदितवरपक्षमेकतस्तत्क्षितिपतिमण्डलमन्यतो वितानम् ।
 उवसि सर इव प्रफुल्लपद्मं कुमुदवनप्रतिपन्ननिद्रमासीत् ॥ 86 ॥
 इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
 स्वयंवरवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः ।।



वर लिया मानों इन्दुमती की वह दृष्टि ही स्वयंवरकी माला हो ॥ 80 ॥ लाज के मारे इन्दुमती अपने
 प्रेम की बात अजसे कह तो न सकी पर उस प्रेम के कारण उसे रोमांच हो आया और घुँघराले बालों
 वाली इन्दुमती के हृदय का वह प्रेम लाख छिपाए न छिप सका मानो खड़े हुए रोगँटों के रूप में वह प्रेम
 शरीर फोड़कर फूट निकल आया हो ॥ 81 ॥ सुनन्दा ने इन्दुमती की यह दशा देखकर ठिठोली करते
 हुए कहा-‘आर्ये ! चलिए आगे बढ़िए ।’ इसपर इन्दुमती ने बड़ी आँखें तरेरकर सुनन्दा की ओर देखा
 ॥ 82 ॥ हाथी की सूँड़ के समान ढली हुई जंघाओं वाली इन्दुमती ने सुनन्दा के हाथों रघु के पुत्र अजके
 गले में वह स्वयंवर की माला उठा पहना दी जिसके डोरे में लगी हुई रोली साक्षात् अनुराग के समान
 ही शोभा दे रही थी ॥ 83 ॥ जब अजके गले में फूलों की मंगल माला पड़कर उनकी चौड़ी छाती पर
 झूल गई तब उसे देखकर अजने यही समझा मानो इन्दुमती ने मेरे गले में अपनी भुजाएँ ही ला डाली
 हों ॥ 84 ॥ जब वहाँ के नगर-वासियों ने देखा कि समान गुणवाले अज और इन्दुमती का सम्बन्ध हो
 गया तब वे एक साथ बोल उठे- ‘यह तो चाँदनी और चन्द्रमा का मेल हुआ है और गंगा, समुद्र में जा
 मिली है ।’ दूसरे राजा लोग ज्यों-ज्यों ये बातें सुनते जा रहे थे, त्यों-त्यों अपने मन में कुढ़ते जा रहे थे
 ॥ 85 ॥ स्वयंवर के मंडप में एक ओर तो अजके साथी हँसते हुए खड़े थे और दूसरी ओर उदास मुँह
 वाले राजा लोग खड़े थे । उस समय वह मंडप प्रातःकाल के उस सरोवर-जैसा लगने लगा था जिसमें एक
 ओर खिले हुए कमल दिखाई दे रहे हों और दूसरी ओर मुँदे कुमुदों का झुण्ड खड़ा हुआ हो ॥ 86 ॥

महाकवि कालिदास के रचे हुए रघुवंश महाकाव्य में इन्दुमती-स्वयंवर नामका

छठा सर्ग पूर्ण हुआ ।



॥ सप्तमः सर्गः ॥

अथोपयन्त्रा सदृशेन युक्तां स्कन्देन साक्षादिव देवसेनाम् ।
 स्वसारमादाय विदर्भनाथः पुरप्रवेशाभिमुखो बभूव ॥ 1 ॥
 सेनानिवेशान्पृथिवीक्षितोऽपि जग्मुर्विभातग्रहमन्दमासः ।
 भोज्यां प्रति व्यर्थमनोरथत्वाद्वेषेषु च साभ्यसूयाः ॥ 2 ॥
 सांनिध्ययोगात्किल तत्र शच्याः स्वयंवरक्षोभकृतामभावः ।
 काकुत्स्थमुद्दिश्य समत्सरोपि शशाम तेन क्षितिपाललोकः ॥ 3 ॥
 तावत्प्रकीर्णाभिनवोपचारमिन्द्रायुधघोतिततोरणाङ्गम् ।
 वरः स वध्वा सह राजमार्गं प्राप ध्वजच्छायनिवारितोष्णम् ॥ 4 ॥
 ततस्तदालोकनतत्पराणां सौधेषु चामीकरजालवत्सु ।
 बभूवुरित्थं पुरसुन्दरीणां त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥ 5 ॥
 आलोकमार्गं सहसा ब्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्समाल्यः ।
 बद्धुं न संभावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः ॥ 6 ॥
 प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्ववरागमेव ।
 उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्क्षां पदवीं ततान ॥ 7 ॥

सातवाँ सर्ग

स्वयंवर हो चुकने पर योग्य पति से व्याही हुई अपनी बहन इन्दुमती को साथ लेकर विदर्भ नरेश
 नगर की ओर चले। अपनी पत्नी इन्दुमती के साथ जाते हुए अज ऐसे लग रहे थे मानो साक्षात् देवसेना
 के साथ स्कन्द चले जा रहे हों ॥ 1 ॥ दूसरे राजा लोग भी प्रातःकाल के तारों के समान अपने-अपने
 उदास मुँह लेकर अपने-अपने डेरों में यह कहते हुए लौट गए कि इन्दुमती ही नहीं मिली तब हम लोगों
 का यह रूप और यह वेश रहा किस काम का ॥ 2 ॥ उस स्वयंवर में स्वयं इंद्राणी उपस्थित थीं इसलिये
 वहाँ किसी का भी यह साहस नहीं हुआ कि कुछ गड़बड़ी खड़ी कर सके। यों तो जितने हारे हुए राजा
 थे वे सभी मन ही मन अज से कुढ़े बैठे थे किन्तु इन्द्राणी के वहाँ रहने से उनका भी क्रोध ठण्डा पड़
 गया ॥ 3 ॥ जिस समय अज अपनी पत्नी के साथ नगर के बीच से राजपथपर चले जा रहे थे, उस
 समय स्थान-स्थानपर उनपर सुन्दर नये-नये फूल बरसाए जा रहे थे और इन्द्रधनुष के समान रंग-बिरंगे
 तोरण उनके स्वागत में सजा खड़े किए गए थे। नगर में इतनी झण्डियाँ लगाई गई थीं कि धूप तक
 भी रुक गई थी ॥ 4 ॥ उन्हें देखने के लिये नगर की सुन्दरियाँ अपना-अपना काम-धाम छोड़-छाड़कर
 अपने-अपने भवनों के झरोखों की ओर लपक चलीं ॥ 5 ॥ एक सुन्दरी उन्हें देखने के लिये जब झरोखे
 की ओर लपकी तब सहसा उसका जूड़ा खुल पड़ा। उस हड़बड़ी में उसे अपना जूड़ा बाँधने की भी सुध
 नहीं रही और वह अपने केश हाथ में धामे ही खिड़की पर जा पहुँची। उसके बालों के ढीले पड़ जाने
 से उसमें गुँथे हुए फूल बराबर नीचे गिरते चले जा रहे थे ॥ 6 ॥ एक दूसरी स्त्री अपनी सिंगारिन दासी
 से पैरों में महावर लगवा रही थी। वह भी अपने पैर बढ़ाती गीले पैरों से ही झरोखे की ओर दौड़ पड़ी
 जिससे झरोखे तक लाल पैरों के छाप की पॉत-सी बनती चली गई ॥ 7 ॥ एक सीसरी स्त्री अपनी आँखों
 में आँजन लगा रही थी। दाईं आँख में तो यह लगा चुकी थी पर बाईं आँख में आँजन लगाए बिना ही

विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन संभाव्य तद्वशितवामनेत्रा ।
 तथैव वातायनसंनिकर्ष ययौ शलाकामपरा वहन्ती ॥ 8 ॥
 जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां च बबन्ध नीवीम् ।
 नाभिप्रविष्टाभरणप्रमेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः ॥ 9 ॥
 अर्धाश्रिता सत्वरमुस्थितायाः पदे पदे दुर्निमित्ते गलन्ती ।
 कस्याश्रिदासीदशना तदानीमद्भुष्टमूलार्पितसूत्रशोणा । ॥ 10 ॥
 तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम् ।
 विलोचनेत्राभ्यमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन् ॥ 11 ॥
 ता राघवं वृष्टिभिरापिबन्त्यो नार्यो न जग्मुर्विषयान्तराणि ।
 तथा हि शोषेन्द्रियवृत्तिरासां सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा ॥ 12 ॥
 स्थाने वृता भूपतिभिः परोक्षैः स्वयंवरं साधुममैस्त भोज्या ।
 पद्मेव नारायणमन्यथासौ लभेत कान्तं कथमात्मतुल्यम् ॥ 13 ॥
 परस्परेण स्पृहणीयशोभं न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत् ।
 अस्मिन्द्वये रूपविषानयलः पत्युः प्रजानां वितथोऽभविष्यत् ॥ 14 ॥
 रतिस्मरौ नूनमिमावभूतां राज्ञां सहस्रेषु तथा हि बाला ।
 गतेयनतमप्रतिरूपमेव मनो हि जन्मान्तरसङ्गतिज्ञम् ॥ 15 ॥

वह सलाई हाथ में थामे झरोखे की ओर दौड़ पड़ी ॥ 8 ॥ एक और स्त्री झरोखे में आँख जमाए खड़ी
 ही थी कि उसका नाड़ा खुल गया पर उसे बाँधने की कोई सुध ही नहीं थी। वह अपनी साड़ी हाथ से
 थामे इस प्रकार खड़ी थी कि उसके हाथ के आभूषणों की चमक उसकी नाभितक पहुँची जा रही थी ॥
 9 ॥ एक स्त्री बैठी मणियों की तगड़ी गूँथ रही थी जिसका एक छोर उसने एक पैर के अँगूठे में बाँध
 रखा था। वह अभी आधी ही पिरो पाई थी कि सहसा उठकर अजको देखने के लिये झरोखे की ओर लपकी
 चली गई। फल यह हुआ कि वहाँ पहुँचते-पहुँचते मणि तो सब निकलकर इधर-उधर बिखर फैले, केवल
 डोरा-भर पाँव में बँधा रह गया ॥ 10 ॥ मदिरा की सुवासित मुखों वाली वे स्त्रियाँ झरोखों में उत्सुकता
 के साथ चंचल नेत्र रूपी भौरों से झाँकती हुई ऐसी जान पड़ रही थीं मानों झरोखों में बहुत से कमल
 ला सजाए गए हों और उनपर बहुत से भौरे मंडरा रहे हों (क्योंकि उनके सुन्दर मुखों पर चपल आँखें
 ऐसी आन पड़ती थी जैसे कमल पर भौरे मंडरा रहे हों) ॥ 11 ॥ वे स्त्रियाँ ऐसी एकटक होकर अपने
 नेत्रों से अजका रूप पीए जा रही थीं कि उनका ध्यान किसी और काम की ओर जा ही नहीं रहा था
 मानो उनकी सब इंद्रियों की शक्ति बस एक आँखों में ही आ बसी हो ॥ 12 ॥ (स्त्रियाँ आपस में कहती
 जा रही थीं) 'यों तो बहुत से राजाओं ने अपने आप आकर इन्दुमती से विवाह की प्रार्थना की थी, पर
 राजकुमारी ने स्वयंवर करके ही अपना विवाह करना उचित समझा और यह ठीक भी किया। जैसे लक्ष्मी
 ने स्वयंवर में नारायण को वर लिया वैसे ही इन्दुमती ने भी अज को वर लिया है। बताओ तो बिना
 स्वयंवर के उसे ऐसा योग्य वर मिल कैसे पाता! ॥ 13 ॥ यदि ब्रह्मा यह सुन्दर जोड़ी न मिलाते तो इन
 दोनों को सुंदर बनाने का उनका सारा परिश्रम व्यर्थ ही चला जाता ॥ 14 ॥ (ये दोनों पिछले जन्म में
 रति और कामदेव ही रहे होंगे) इसीलिये तो सहस्रों राजाओं के बीच इन्दुमती ने इन्हें प्राप्त कर लिया
 क्योंकि पिछले जन्म के सम्बन्ध को (और कोई पहचाने या न पहचाने पर) मन तो भली भाँति पहचान

इत्युदृगताः पौरवधूमुखेभ्यः शृण्वन्कथाः श्रोत्रसुखाः कुमारः ।
 उद्भासितं मङ्गलसंविषाभिः संबन्धिनः सद्यः समास्त्रसाद ॥ 16 ॥
 ततोऽवतीर्याशु करेणुकायाः स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः ।
 वैदर्भनिर्दिष्टमधो विवेश नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः ॥ 17 ॥
 महार्हसिंहासनसंस्थितोऽसौ सरत्नमर्घ्यं मधुपर्कमिश्रम् ।
 भोजोपनीतं च दुकूलयुग्मं जग्राह सार्धं वनिताकटाक्षैः ॥ 18 ॥
 दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधरक्षैः ।
 वेलासकाशं स्फुटफेनराजिर्नवैरुदन्वानिव चन्द्रपादैः ॥ 19 ॥
 तत्रार्चितो भोजपतेः पुरोधा हुत्वाग्निमाज्यादिभिरग्निकल्पः ।
 तमेव चाधाय विवाहसाक्ष्ये वधूवरौ संगमयांचकार ॥ 20 ॥
 हस्तेन हस्तं परिगृह्य वध्वाः स राजसूनुः सुतरां चकासे ।
 अनन्तराशोकलताप्रवालं प्राप्येव चूतः प्रतिपल्लवेन ॥ 21 ॥
 आसीद्वरः कष्टकितप्रकोष्ठः स्विन्नांगुलिः संववृते कुमारी ।
 तस्मिन्द्वये तत्क्षणमात्मवृत्तिः समं विभक्तेव मनोभवेन ॥ 22 ॥
 तयोरपाङ्गप्रतिसारितानि क्रियासमापत्तिनिवर्त्तितानि ।
 द्वीयन्त्रणामानशिरे मनोज्ञामन्योन्यलोलानि विलोचनानि ॥ 23 ॥

ही लेता है ॥ 15 ॥ नगर की महिलाओं के मुँह से इस प्रकार की बातें सुनते हुए कुमार अज अपने सम्बन्धी भोज के उस राजभवन में जा पहुँचे जो मंगल सामग्रियों की सजावट से जगमग-जगमग कर रहा था ॥ 16 ॥ वहाँ पहुँचकर वे झट से हथिनी से नीचे उतर पड़े और कामरूप के राजा के हाथ में हाथ देकर विदर्भराज के बताए हुए भीतरी चौक में ऐसे पैठ गए मानो वे वहाँ की स्त्रियों के मन में ही जा बैठे हों ॥ 17 ॥ वहाँ वे जब सुन्दर बहुमूल्य सिंहासन पर जाकर बैठ गए तब भोज ने उन्हें रेशमी वस्त्रों के एक जोड़े के साथ जो (दही, मधु और घी मिला हुआ) मधुपर्क रत्न के साथ अर्घ्य भेंट किया उसे उन्होंने वहाँ की नवेलियों की बाँकी चितवन के साथ-साथ स्वीकार कर लिया ॥ 18 ॥ जैसे चन्द्रमा की नई किरणें समुद्र की उजली झाग वाली लहरों को खींचकर दूर किनारे तक ले जा पहुँचाती हैं वैसे ही रनिवास के नम्र सेवकों ने अज को भी इन्दुमती के पास ले जा पहुँचाया ॥ 19 ॥ वहाँ विदर्भराज के अग्नि के समान तेजस्वी पुरोहित ने घी आदि सामग्रियों से हवन करके और उसी अग्नि को साक्षी बनाकर वर-वधू का गँठजोड़ा कर दिया ॥ 20 ॥ जैसे आम का पेड़ अपनी पत्तियों के साथ-साथ अशोक लता की लाल पत्तियों का मेल होने से मनोहर लगने लगता है वैसे ही जब अज ने अपने हाथ से अपनी बहू का हाथ थामा तब वे भी बहुत सुन्दर लगने लगे ॥ 21 ॥ बहू का हाथ थामने से अज की पहुँची के पास जब रोमांच हो आया और इन्दुमती की उँगलियों से पसीना छूटने लगा तब ऐसा प्रतीत हुआ मानो कामदेव ने अपने प्रेम का भाव उन दोनों में बराबर उठा बाँटा हो ॥ 22 ॥ वे दोनों कनखियों से एक दूसरे की ओर देखते जा रहे थे और आँखें चार होते ही एक दूसरे को देखकर लज्जा से आँखें नीची भी करते जा रहे थे। उनका यह लाज भरा संकोच देखने वालों का मन मोहे ले रहा था ॥ 23 ॥ अज और इन्दुमती दोनों जब हवन की अग्नि के फेरे देने लगे उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो दिन और रात का जोड़ा मिलाकर सुमेरु पर्वत की फेरी लगाए ले रहा हो ॥ 24 ॥ तब बड़े-बड़े नितम्बों वाली,

प्रदित्रमप्रकमणातकृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुनं चकासे ।
 मेरोरुपान्तेष्विव वर्तमानमन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम् ॥ 24 ॥
 नितम्बगुर्वी गुरुणा प्रयुक्ता वधूर्विधातृप्रतिमेन तेन ।
 चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ ॥ 25 ॥
 हविः शमीपल्लवलाजगन्धी पुण्यः कृशानोरुदियाय धूमः ।
 कपोलसंसर्पिंशिखः स तस्या मुहूर्तकर्णोत्पलतां प्रपेदे ॥ 26 ॥
 सदञ्जनक्लेदसमाकुलाक्षं प्रम्लानबीजाङ्कुरकर्णपूरम् ।
 वधूमुखां पाटलगण्डलेखमाचारधूमग्रहणाद्वभूव ॥ 27 ॥
 तौ स्नातकैर्बन्धुमता च राज्ञा पुरंधिभिश्च क्रमशः प्रयुक्तम् ।
 कन्याकुमारौ कनकासनस्थावाद्राक्षितारोपणमन्वभूताम् ॥ 28 ॥
 इति स्वसुर्वोजकुलप्रदीपः संपाद्य पाणिग्रहणं स राजा ।
 महीपतीवां पृथगर्हणार्थं समादिदेशाधिकृतानधिश्रीः ॥ 29 ॥
 लिङ्गैर्मुदः संवृतविक्रियास्ते हृदाः प्रसन्ना इव गूढनक्राः ।
 वैदर्भमानन्ध्य ययुस्तदीयां प्रत्यर्घ्यं पूजामुपदाद्यलेन ॥ 30 ॥
 स राजलोकः कृतपूर्वसंविदारम्भसिद्धौ समयोपलभ्यम् ।
 यायास्थवानः प्रमदामिषं तदावृत्य पन्थानमजस्य तस्थौ ॥ 31 ॥
 भर्तापि तावत्कथकैशिकानामनुष्ठितानन्तरजाविवाहः ।
 सत्त्वानुरूपाहरणीकृतश्रीः प्रास्थापायद्राधवमन्वगाच्च ॥ 32 ॥

मत्त चकोर के समान आँखों वाली, लजीली इन्दुमती ने ब्रह्मा के समान पूज्य पुरोहित के कहने से अग्नि में धान की खीलें उठा छोड़ीं ॥ 25 ॥ वी, शमी के पत्ते और धान की खीलों का गन्ध से भरा हुआ पवित्र धुआँ अग्नि से निकलकर जब इन्दुमती के कपोल तक जा पहुँचा तब ऐसा जान पड़ा मानो इन्दुमती ने नीले कमल का कर्णफूल पहन रक्खा हो ॥ 26 ॥ विवाह की उस अग्नि का धुँआ लगने से इन्दुमती की आँखों से आँजन मिला हुआ आँसू बह चला, कानों के कर्णफूल कुम्हला गए और गाल लाल हो चले ॥ 27 ॥ फेरे हो चुकने पर सोने के सिंहासन पर बैठे हुए वर-वधू के ऊपर स्नातकों ने, कुटुम्बियों ने, भोजराज ने और पुरोहित ने बारी-बारी से गीले अक्षत छोड़कर बहुत-बहुत आशीर्वाद दिए ॥ 28 ॥ उस भोज-कुल के दीपक, लक्ष्मीवान् राजा ने अपनी बहन का विवाह-संस्कार पूरा करके सेवकों को आज्ञा दी कि जाकर अलग-अलग सब राजाओं का भी आदर-सत्कार करो ॥ 29 ॥ जैसे तालाब के निर्मल जल के भीतर ही घड़ियाल भी रहते हैं वैसे ही दूसरे राजा भी ऊपर से तो बड़े प्रसन्न दिखाई देते थे पर मन में बड़े कुढ़े जा रहे थे। वे सब विदर्भराज से आज्ञा लेकर उनकी दी हुई सामग्री को भेंट के बहाने से लौटा-लौटाकर अपने-अपने देशों को लौट चले ॥ 30 ॥ इन राजाओं ने मिलकर पहले ही निश्चय कर लिया था कि जब अज इन्दुमती को लेकर चलें तो उन्हें घेर लिया जाय और उनसे सुन्दरी इन्दुमती छीन ली जाय। इसलिए वे सब मिलकर आगे अज का मार्ग रोककर बीच में ही ठहर गए ॥ 31 ॥ इधर छोटी बहिन का विवाह करके विदर्भ-राज ने भी अपनी सामर्थ्य के अनुसार धन देकर रघु के पुत्र अज को विदा दी और उनके साथ-साथ जाकर कुछ दूर तक उन्हें पहुँचा जाए ॥ 32 ॥ कुण्डिनपुर के राजा भोज ने

तिस्रस्त्रिलोकप्रथितेन सार्धमजेन मार्गे वसतीरुवित्वा ।
तस्माधपावर्तत कुण्डिनेशः पर्वात्यये सोम इवोष्णरश्मेः ॥ 33 ॥
प्रमन्यथः प्रागपि कोशलेन्द्रे प्रत्येकमात्तस्वतया बभूवुः ।
अतो नृपाश्चक्षमिरे समेताः स्त्रीरत्नालाभं न दत्तात्मजस्य ॥ 34 ॥
समुद्रहन्तं पथि भोजकन्यां रुरोध राजन्यगणः स दृप्तः ।
बलिप्रदिष्टां श्रियमाददानं त्रैविक्रमं पादमिवेन्द्रशत्रुः ॥ 35 ॥
तस्याः स रक्षार्थमनल्पयोधमादिश्य पित्र्यं सचिवं कुमारः ।
प्रत्यग्रहीत्पार्थिववाहिनीं तां भागीरथीं शोण इवोत्तरंगः ॥ 36 ॥
पत्तिः पदातिं रथिनं रथेशस्तुरङ्गसादी तुरगाधिरूढम् ।
यन्ता गजस्याभ्यपतद्गजस्थं तुल्यप्रतिद्वन्द्वि बभूव युद्धम् ॥ 37 ॥
नवत्सु तूर्येष्वविभाव्यवाचो नोदीरयन्ति स्म कुलोपदेशान् ।
बाणाक्षरैरेव परस्परस्य नामोर्जितं चापभृतः शशंसुः ॥ 38 ॥
उत्थापितः संयति रेणुरश्वैः सान्द्रीकृतः स्यन्दनवंशचक्रैः ।
विस्तारितः कुञ्जरकर्णतालैर्नेत्रक्रमेणोपरुरोध सूर्यम् ॥ 39 ॥
मत्स्यध्वजा वायुवशाद्विदीर्णैर्मुखैः प्रवृद्धध्वजिनीरजांसि ।
बभुः पिबन्तः परमार्थमत्स्याः पर्याविलानीव नवोदकानि ॥ 40 ॥

तीनों लोकों में विख्यात अज के साथ मार्ग में तीन रातें बिताई और फिर वैसे ही लौट आए जैसे अमावस्या होने पर सूर्य के पास से चन्द्रमा लौट आता है ॥ 33 ॥ जो राजा अज का मार्ग रोके खड़े थे, उनका कोशलपति रघु ने दिग्विजय के समय धन छीन लिया था इसलिये वे पहले से ही उनसे जले-भुने बैठे थे। इसीलिये वे यह नहीं सह सके कि रघु का पुत्र हम लोगों के रहते हुए स्त्रियों में रत्न इन्दुमती को लिए चला जाय ॥ 34 ॥ जब इन्दुमती को साथ लिए अज चले जा रहे थे तब उन अभिमानी राजाओं ने अज को उसी प्रकार रोक लिया जैसे इन्द्र के शत्रु वृत्रासुर ने वामन के चरण को उस समय रोक लिया था जब वे बलि की राज्य-लक्ष्मी लेकर चले थे ॥ 35 ॥ अज ने अपने पिता के मंत्री को तो यह आज्ञा दी कि थोड़े से योद्धा साथ लेकर तुम इन्दुमती की रक्षा करो और वे स्वयं उस सेना को रोककर उसी प्रकार खड़े हो गए जैसे बाढ़ के दिनों में ऊँची तरंगों वाला शोणनद गङ्गा की धारा को रोक लेता है ॥ 36 ॥ लड़ाई छिड़ गई। पैदल पैदलों से जा भिड़े, रथ वाले रथ वालों से जूझ गए, घुड़सवार घुड़सवारों से उलझ पड़े, हाथी-सवार हाथी सवारों पर टूट पड़े। इस प्रकार वहाँ बराबर जोड़ की लड़ाई छिड़ गई ॥ 37 ॥ वहाँ इतनी तुरहियाँ बज रही थीं कि किसी को कुछ सुनाई ही नहीं दे पा रहा था इसलिये धनुषधारी लोग अपना कुल और नाम भी नहीं पुकार रहे थे। पर वे जो बाण चला रहे थे उन पर खुदे हुए अक्षरों से ही उनके नामों का ज्ञान होता चल रहा था ॥ 38 ॥ युद्ध-क्षेत्र में घोड़ों की ठापों से उठी हुई धूल में रथ के पहियों से उठी हुई धूल मिलकर और भी घनी हो उठी। हाथियों के कानों के डुलाने से चारों ओर ऐसी धूल फैल गई मानों सूर्य को कपड़े ला ढका गया हो ॥ 39 ॥ वायु के कारण सेना की मछली के आकार वाली जिन झंडियों के मुँह खुल गये थे उनमें घुसती हुई धूल ऐसी जान पड़ती थी मानो वर्षा का गँदला पानी पीती हुई सचमुच की मछलियाँ हों ॥ 40 ॥ धूल इतनी गहरी छा गई थी कि उस युद्ध-क्षेत्र

रथो रथाङ्गध्वनिना विजज्ञो विलोलघण्टाक्वणितेन नागः ।
 स्वभर्तृनामग्रहणाद्धभूव सान्द्रे रजस्यात्मपरावबोधः ॥ 41 ॥
 आवृण्वतो लोचनमार्गमाजौ रजोऽन्धकारस्य विजृम्भितस्य ।
 शस्त्रक्षताश्चद्विपवीरजन्मा बालरुणोऽभूद्दुधिरप्रवाहः ॥ 42 ॥
 स च्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुस्तस्योपरिष्ठात्पवनावधूतः ।
 अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवाबभासे ॥ 43 ॥
 प्रहारमूर्च्छापगमे रथस्था यन्तृनुपालभ्य निवर्तिताश्चान् ।
 यैः सादिता लक्षितपूर्वकेतूस्तानेव सामर्षतया निजधनुः ॥ 44 ॥
 अप्यर्धमार्गे परबाणलूना धनुर्भृतां हस्तवतां पृष्ठत्काः ।
 संप्रापुरेवात्मजवानुवृत्त्या पूर्वार्धभागैः फलिभिः शरव्यम् ॥ 45 ॥
 आधोरणानां गजसंनिपाते शिरांस चक्रैर्निशितैः क्षुरार्गः ।
 हतान्धपि श्येननखाग्रकोटिव्यासक्तकेशानि चिरेण पेतुः ॥ 46 ॥
 पूर्व प्रहता न जघान भूयः प्रतिप्रहाराक्षममश्वसादी ।
 तुरङ्गजजन्यविकृष्णदेहं प्रत्याश्वसन्तं रिपुमाचकाङ्क्ष ॥ 47 ॥
 तनुत्वजां वर्मभृतां विकोशर्कृहत्सु दन्तेष्वासिभिः पतद्भि ।
 उद्यन्तमर्गिण शमयांबभूवुर्गजा विविग्नाः करशीकरेण ॥ 48 ॥

में पहियों की ध्वनि सुनकर ही वे समझ पाते थे कि रथ आ रहा है और अपना-पराया तब समझते थे जब दोनों ओर के सैनिक अपने-अपने राजाओं का नाम ले-लेकर युद्ध करते थे ॥ 41 ॥ आँखों के आगे अँधेरा छा देने वाली और युद्ध-भूमि में फैली हुई धूल के अँधियारे में, शस्त्रों से घायल घोड़ों, हाथियों और योद्धाओं के शरीर से निकला हुआ लहू, प्रातःकाल के सूर्य की लाली-जैसा लगने लगा था ॥ 42 ॥ पृथ्वी पर इतना रक्त बहा, इतना बहा कि नीचे की धूल नीचे दब गई और जो धूल ऊपर उठ चुकी थी वह वायु के सहारे इधर-उधर फैलकर उस धुँए जैसी लगने लगी जो अग्नि से उठकर ऊपर फैल चुका हो और नीचे केवल अँगारे भर बचे रह गए हों ॥ 43 ॥ जो योद्धा चोट लगने से मूर्च्छित हो गए थे उन्हें उनके सारथी रथ पर डालकर लौटा लाए। पर जब उनकी मूर्च्छा दूर हुई तब वे अपने सारथियों को बहुत फटकारने लगे और जिनकी मार से वे घायल हुए थे उन्हें जा जाकर उनके रथ के झण्डों से पहचान-पहचानकर मारने लगे ॥ 44 ॥ बाण चलाने में जिन धनुषधारियों के हाथ सधे हुए थे उनके बाण यद्यपि शत्रुओं के बाणों से बीच में ही दो टूक हो जाते थे फिर भी उनमें इतना वेग होता था कि उनका फल लगा हुआ अगला भाग लक्ष्य पर पहुँच ही जाता था ॥ 45 ॥ जहाँ हाथियों का युद्ध हो रहा था वहाँ पैने छुरे वाले चक्रों से जिन हाथीवानों के सिर कट जाते थे वे सिर बहुत देर से पृथ्वी पर गिरते थे, क्योंकि उनके लम्बे-लम्बे बाल बाजों के नखों में उलझने से बहुत देर तक ऊपर ही टँगे रह जाते थे ॥ 46 ॥ एक घुड़सवार ने जब अपने शत्रु घुड़सवार पर पहले चोट की तो चोट खाते ही वह घोड़े के कन्धे पर ऐसा झुक गया कि उसमें सिर तक उठा सकने की भी शक्ति न रही। जिस घुड़सवार ने प्रहार किया था उसने यह देखकर फिर उस पर हाथ नहीं उठाया, उल्टे यह मनाने लगा कि वह फिर से जी उठे (और फिर उससे लड़ा जाय क्योंकि मरे को मारना कायरता है) ॥ 47 ॥ जो कवचधारी योद्धा अपने प्राण हथेली पर लिए लड़ रहे थे, उन्होंने नंगी तलवार से जब हाथियों के दाँतों पर चोटें कीं तब उनमें

शिलीमुखोत्कृत्तशिरः फलाद्या च्युतै शिरस्त्रैश्चषकोत्तरेव ।
 रणक्षितिः शोणितमघकुल्या रराज मृत्योरिव पानभूमिः ॥ 49 ॥
 उपान्तयोर्निष्कुषितं विहंगैराक्षिप्य तेभ्यः पिशितप्रियापि ।
 केयूरकोटिक्षततालुदेशा शिवा भुजच्छेदमपाचकार ॥ 50 ॥
 कश्चिद्विषत्खङ्गहृतोत्तमाङ्गः सद्यो विमानप्रभुतामुपेत्य ।
 वामाङ्गसंसक्तसुराङ्गनः स्वं नृत्यत्कबन्धं समरे ददर्श ॥ 51 ॥
 अन्योन्यसूतोन्मथनादभूतां तावेव सूतौ रथिनौ च कौचित् ।
 व्यक्षौ गदाव्याहतसंप्रहारौ भग्नायुधौ बाहुविमर्दनिष्ठौ ॥ 52 ॥
 परस्परेण क्षतयोः प्रहत्रोरुत्क्रान्तवाय्वोः समकालमेव ।
 अमर्त्यभावेऽपि कयोश्चिदासीदेकाप्सरः प्रार्थितयोर्विवादः ॥ 53 ॥
 व्यूहावुभौ तावितरेतस्माद्भङ्गं जयं चापतुरव्यवस्थम् ।
 पश्चात्पुरोमारुतयोः प्रवृद्धौ पर्यायवृत्त्येव महार्णवोर्मौ ॥ 54 ॥
 परेण भग्नेऽपि बले महौजा ययावजः प्रत्वरिसैन्यमेव ।
 धूमो निवर्त्येत समीरणेन यतस्तु कक्षस्तत एव वह्नि ॥ 55 ॥
 रथी निषङ्गी कवची धनुष्मान्दृप्तः स राजन्यकमेकवीरः ।
 निवारयामास महावराहः कल्पक्षयोद्धतमिवाण्वाम्भः ॥ 56 ॥

से चिनगारियाँ निकलने लगीं। उन चिनगारियों से हाथी इतने डर गए कि वे अपनी सूँड़ के जल से उस आग को बुझाने लग गए ॥ 48 ॥ वह युद्धक्षेत्र मृत्युदेव के उस मदिरालय-सा जान पड़ने लगा जिसमें बाण से कटे हुए सिर ही मानो फल हों, उलटकर गिरे हुए कूँड़ ही मानो प्याले हों और बहता हुआ रक्त ही मानो मदिरा हो ॥ 49 ॥ एक स्थान पर किसी के बाँह का जो टुकड़ा कटा पड़ा था और जिसे गिद्ध आदि पक्षियों ने नोच रक्खा था, उसे माँस के लोभ से एक सियारिन खींच ले गई, पर ज्योंही उसने मुँह मारा त्योंही बाँह में बँधे हुए भुजबन्ध की नोक से उसका तालू छिद गया और उसने उसे वहीं छोड़ दिया ॥ 50 ॥ एक योद्धा का सिर जब शत्रु की तलवार से कट गया तब युद्ध में मृत्यु होने से वह देवता हो गया और अपने बाएँ एक अप्सरा लिए हुए विमान पर चढ़कर आकाश से यह देखने लगा कि मेरा धड़ रणभूमि में किस प्रकार नाच रहा है ॥ 51 ॥ दो योद्धाओं के सारथी जब मारे जा चुके तब वे अपने आप रथ भी चला रहे थे और लड़ भी रहे थे। पर जब उनके घोड़े भी मारे जा चुके तब वे रथ से उतरकर पैदल ही गदा लेकर लड़ने लगे और जब गदाएँ भी टूट गईं तब वे मल्ल-युद्ध पर उतर आए ॥ 52 ॥ दो वीर जब एक दूसरे के प्रहार से एक साथ मारे गए तब दोनों देवता होकर जब स्वर्ग में पहुँचे तब वहाँ एक ही अप्सरा पर दोनों रीझ गए और वहाँ भी वे आपस में झगड़ने लगे ॥ 53 ॥ जैसे समुद्र की दो लहरें आगे-पीछे झोंका लेने वाले वायु से हटती-बढ़ती रहती हैं वैसे ही वे दोनों सेनाएँ भी कभी जीतती थीं और कभी हारती थीं ॥ 54 ॥ यद्यपि शत्रुओं ने अज की सेना को मारकर भगा लिया था पर महापराक्रमी अज, शत्रु की सेना में बढ़ते ही चले गए क्योंकि वायु धुएँ को भले उड़ा दे पर आग तो उसके सहारे घास-फूस को पकड़ती ही चली जाती है ॥ 55 ॥ जैसे प्रलय के समय वराह भगवान् समुद्र के बड़े हुए जल को चीरते चल रहे थे वैसे ही घोड़े पर चढ़े तूणीर बाँधे स्वाभिमानी वीर अज अकेले ही शत्रुओं की सेना को चीरते चले जा रहे थे ॥ 56 ॥ वे इतनी फुर्ती से बाण चला रहे थे कि यही पता

स दक्षिणं तूणमुखेन वामं व्यापारयन्हस्तमलक्ष्यताजौ ।
 आकर्णकृष्टा सकृदस्य योद्धुर्मोर्वीव बाणान्सुषुवे रिपुधनान् ॥ 57 ॥
 स रोषदष्टाधिकलोहितोष्ठैर्व्यक्तोर्ध्वरेखा भुकुटीर्वहद्भिः ।
 तस्तार गां भल्लनिकृत्तकण्ठेहुंकारगमैर्द्विषतां शिरोभिः ॥ 58 ॥
 सर्वैर्बलाङ्गैर्द्विरदप्रधानैः सर्वायुधैः कङ्कटभेदिभिश्च ।
 सर्वप्रयत्नेन च भूमिपालास्तस्मिन्प्रजह्युधि सर्व एवं ॥ 59 ॥
 सोऽस्त्रव्रजैश्छन्नरथैः परेषां ध्वजाग्रमात्रेण बभूव लक्ष्यः ।
 नीहारमग्नो दिनपूर्वभागः किञ्चित्प्रकाशेन विवस्वतेव ॥ 60 ॥
 प्रियंवदात्प्राप्तमसौ कुमारः प्रायुङ्क्त राजस्वधिराजसूनुः ।
 गान्धर्वमस्त्रं कुसुमास्त्रकान्तः प्रस्वापनं स्वप्ननिवृत्तलौल्यः ॥ 61 ॥
 ततो धनुष्कर्षणमूढहस्तमेकां सपर्यस्तशिरस्त्रजालम् ।
 तस्थौ ध्वजस्तम्भनिषण्णदेहं निद्राविधेयं नरदेवसैन्यम् ॥ 62 ॥
 ततः प्रियोपात्तरसेऽधरोष्ठे निवेश्य दध्मौ जलजं कुमारः ।
 तेन स्वहस्तार्जितमेकवीरः पिबन्यशो मूर्तमिवाबभासे ॥ 63 ॥
 शङ्खस्वनाभिज्ञतया निवृत्तास्तं सन्नशत्रुं ददृशुः सवयोधाः ।
 निमीलितानामिव पङ्कजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमाशशाङ्कम् ॥ 64 ॥
 सशोणितैस्तेन शिलीमुखाग्रैर्निक्षेपिताः केतुषु पार्थिवानाम् ।
 यशो हतं संप्रति राघवेण न जीवितं वः कृपयेति वर्णाः ॥ 65 ॥

नहीं चलता था कि उन्होंने कब अपना हाथ तूणीर पर डाला और कब बाण निकाला, वरन् ऐसा जान पड़ता था कि वे जब कान तक धनुष की डोरी खींचते थे तब उसी में से शत्रुओं का नाश करने वाले बाण निकलते चले जा रहे थे ॥ 57 ॥ जिन राजाओं ने क्रोध से चबा-चबाकर ओठों को लाल कर लिया था और जो भौंहे तान-तानकर हुंकार करते हुए आगे बढ़ रहे थे उनके सिर काट-काटकर अज ने सारी पृथ्वी पाट दी ॥ 58 ॥ जब उन राजाओं ने यह घमासान युद्ध देखा तब वे रथ, घोड़े और पैदल लेकर कवच तक काट देने वाले पैने अस्त्रों से पूरा बल लगाकर एक साथ अज पर टूट पड़े ॥ 59 ॥ इन राजाओं ने अज पर इतने अस्त्र बरसाए कि उनका रथ ढक गया पर जैसे कोहरे के दिन प्रभात होने का ज्ञान घुँधले सूर्य को देखकर होता है वैसे ही अज का पता उनके रथ की पताका के सिरे को देखकर मिलता जा रहा था ॥ 60 ॥ तब महाराज रघु के पुत्र, कामदेव के समान सुन्दर सावधान अज ने प्रियंवद का दिया हुआ वह गन्धर्व अस्त्र राजाओं पर उठा छोड़ा जिससे निद्रा आ जाती है ॥ 61 ॥ अस्त्र छोड़ते ही उन राजाओं की सेना के हाथ ऐसे रुक गए कि वे अपने धनुष तक न खींच पाए। उनकी पगड़ियाँ गिरकर कन्धों पर झूल गईं और सारी सेना झंडियों के डंडों के सहारे जा सोई ॥ 62 ॥ उस समय इन्दुमती के चुम्बन का रस लेने वाले अपने ओठों से शंख फूँकते हुए अज ऐसे जान पड़ते थे मानो वे अपने बाहुबल से उत्पन्न किए हुए मूर्तिमान् यश को ही पीए डाल रहे हों ॥ 63 ॥ शंख की ध्वनि को पहचानकर अज के योद्धा फिर लौट आए। सोते हुए शत्रुओं के बीच अज उन्हें ऐसे लगे मानो मुद्दे हुए कमलों के बीच चन्द्रमा चमक रहा हो ॥ 64 ॥ तब उन मूर्च्छित पड़े हुए राजाओं की ध्वजाओं पर रुधिर से सने बाणों

स चापकोटीनिहितैकबाहुः शिरस्त्रनिष्कर्षणभिन्नमौलिः ।
 ललाटबद्धश्रमवारिबिन्दुर्भीतां प्रियामेत्य वचो बभाषे ॥ 66 ॥
 इतः परानर्भकहार्यशस्त्रान्वैदर्भि पश्यानुमता मयासि ।
 एवंविधेनाहवचेष्टितेन त्वं प्रार्थ्यसे हस्तगता ममैभिः ॥ 67 ॥
 तस्याः प्रतिद्वन्द्विमवादिषादात्सद्यो विमुक्तं मुखमाबभासे ।
 निःश्वासवाष्पापगमात्प्रपन्नः प्रसादमात्मीयमिवात्मदर्शः ॥ 68 ॥
 दृष्टापि सा हीविजिता न साक्षाद्वाग्भिः सखीनां प्रियमभ्यनन्दत् ।
 स्थली नवाम्भःपृषताभिवृष्टा मयूरकैकाभिरिवाभ्रवृन्दम् ॥ 69 ॥
 इति शिरसि स वामं पादमाधाय राजा मुदवहदनवद्यां तामवद्यादपेतः ।
 रथतुरगरजोभिस्तस्य रूक्षालकाग्रा समरविजयलक्ष्मीः सेव मूर्त्ता बभूव ॥ 70 ॥
 प्रथमपरिगतार्थस्तं रघुः संनिवृत्तं विजयिनमभिनन्द्य श्लाघ्यजायासमेतम् ।
 तदुपहितकुदुम्बः शान्निगार्त्सुकोऽभूत् न हि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाय ॥ 71 ॥
 इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
 अजेनेन्दुमतीपाणिग्रहणो नाम सप्तमः सर्गः ॥



की नोकों से यह लिख दिया गया- अरे राजाओ! इस समय राजकुमार अज ने तुम लोगों का यश तो ले ही लिया पर दया करके प्राण नहीं लिए ॥ 65 ॥ अज ने जब अपने सिर का कूँड़ उतारा तो उनके बाल छितरा गए, उनके माथे पर पसीना आ छाया और धनुष के एक छोर पर बाँह टेककर वे इन्दुमती के पास आकर बोले- ॥ 66 ॥ 'इन्दुमती! चलो देखो, युद्धभूमि में राजा लोग इस प्रकार सोए पड़े हैं कि बालक भी आकर उनके शस्त्र छीन ले जाए। देखो, ये इसी बल पर तुम्हें मेरे हाथों से छीनने चले थे ॥ 67 ॥ जब इन्दुमती को विश्वास हो गया कि शत्रु मारे गए तब उनका मुँह उस दर्पण के समान सुन्दर लगने लगा जिस पर पड़ी हुई साँस की भाप पोंछ दी गई हो ॥ 68 ॥ अपने पति का पराक्रम देखकर इन्दुमती प्रसन्न तो हुई पर वह इतनी लजा गई कि उसके मुँह से उनके अभिनन्दन के लिये शब्द-तक न निकले। पर जैसे नये बादलों की बूँदों से भीगी हुई पृथ्वी मोरके शब्दों से मेघों का स्वागत करती है वैसे ही उसकी सखियों ने जो अज की प्रशंसा की वह मानो इन्दुमती ने ही उनका अभिनन्दन किया हो ॥ 69 ॥ इस प्रकार पवित्र अज उन राजाओं के सिरों पर बायाँ पैर रखकर सुन्दरी इन्दुमती को लेकर बढ़ चले। उनके रथ के घोड़ों की टापों से उठी हुई धूल से इन्दुमती के केश भर गए थे और वह साक्षात् विजयलक्ष्मी जैसी जान पड़ने लगी थी ॥ 70 ॥ रघु को यह समाचार पहले ही मिल चुका था इसलिये उन्होंने सुन्दरी पत्नी के साथ आए हुए विजयी अज का बढ़कर स्वागत किया और फिर उन्हें कुदुम्ब का भार सौंपकर मोक्ष की साधना में जा लगे क्योंकि सूर्यवंशी राजाओं का यह नियम ही रहा है कि जब पुत्र कुल का भार सँभालने के योग्य हो जाता है तब वे घर में नहीं रहते ॥ 71 ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदास के रचे हुए रघुवंश महाकाव्य में अज का विवाह
 नामक सातवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥



॥ अष्टमः सर्गः ॥

अथ तस्य विवाहकौतुकं ललितं बिभ्रत एव पार्थिवः ।
 बसुधामपि हस्तगामिनीमकरो दिन्दुमतीमिवापराम् ॥ 1 ॥
 दुरितैरपि कर्तुमात्मसात्प्रयतन्ते नृसूनवो हि यत् ।
 तदुपस्थितमग्रहीदजः पितुराज्ञेति न भोगतृष्णया ॥ 2 ॥
 अनुभूय वशिष्ठसंभृतैः सलिलैस्तेन सहाभिषेचनम् ।
 विशदोच्छ्वसितेन मेदिनी कथयामास कृतार्थतामिव ॥ 3 ॥
 स बभूव दुरासदः परैर्गुरुणाथर्वविदा कृतक्रियः ।
 पवनाग्निसमागमो ह्ययं सहितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा ॥ 4 ॥
 रघुमेव निवृत्तयौवनं तममन्यन्त नवेश्वरं प्रजाः ।
 स हि तस्य न केवलां श्रियं प्रतिपेदे सकलान्गुणानपि ॥ 5 ॥
 अधिकं शुशुभे शुभंयुना द्वितयेन द्वयमेव सङ्गतम् ।
 पदमृद्धमजेन पैतृकं विनयेनास्य नवं च यौवनम् ॥ 6 ॥
 सदयं बुभुजे महाभुजः सहसोद्वेगमियं व्रजेदिति ।
 अचिरोपनतां स मेदिनीं नवपाणिग्रहणां वधूमिव ॥ 7 ॥
 अहमेव मतो महीपतेरिति सर्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत् ।
 उदधेरिव निम्नगाशतेष्वभवन्नास्य विमानना क्वचित् ॥ 8 ॥

आठवाँ सर्ग

अभी अज ने विवाह का सुन्दर मङ्गल-सूत्र उतारा भी नहीं था कि रघु ने अज के हाथों में सारी पृथ्वी इस प्रकार सौंप दी मानो वह भी दूसरी इन्दुमती हो ॥ 1 ॥ जिस राज्य को पाने के लिए दूसरे राजकुमार छोटे उपायों का प्रयोग करने में भी नहीं चूकते, उसी राज्य को अज ने केवल अपने पिता की आज्ञा मानकर ही स्वीकार किया, भोग की इच्छा से नहीं ॥ 2 ॥ जिस समय अजका राज्याभिषेक हुआ उस समय वशिष्ठ जी ने उनके ऊपर जो पवित्र जल छिड़का वह पृथ्वी पर भी पड़ा। उसके कारण पृथ्वी से जो भाप निकली वह मानो यह सूचित करती थी कि उसे भी अज के राजा होने से सन्तोष है ॥ 3 ॥ अथर्ववेद के जानने वाले वशिष्ठ जी ने जब उनका राज्याभिषेक कर दिया तब वे इतने तेजस्वी हो उठे कि उनके सभी शत्रु काँप गए क्योंकि जब क्षात्र तेज के साथ ब्रह्मतेज मिल जाता है तब वह वैसा ही बलशाली हो जाता है जैसे वायु का सहारा पाकर अग्नि ॥ 4 ॥ वहाँ की प्रजा ने भी अज के राजा होने पर यही समझा मानो रघु ही फिरसे युवा हो गये हों क्योंकि अज ने केवल रघु की राज्यलक्ष्मी को ही नहीं पाया था वरन् रघु के सब गुण भी उनमें आ समाए थे ॥ 5 ॥ उस समय संसार में केवल दो ही वस्तुएँ एक दूसरे से मिलकर सुन्दर जैची, एक तो पिता का भरा पूरा राज्य पाकर अज और दूसरे अज की नम्रता पाकर उनका नया यौवन ॥ 6 ॥ महाबाहु अज ने यह समझकर नई पाई हुई पृथ्वी का दयालुता के साथ पालन करना प्रारम्भ किया कि कहीं अधिक कठोरता का व्यवहार करने से वह भी उसी प्रकार न घबरा जाय जैसे नई ब्याही हुई बहू कठोर व्यवहार से घबरा जाती है ॥ 7 ॥ वे अपनी सारी प्रजा को बहुत प्यार करते थे। इससे सभी लोग अपने-अपने मन में यही सोचते थे कि वे हमें ही सबसे अधिक

न खरो न च भूयसा मृदुः पवमानः पृथिवीरुहामिव ।
 स पुरस्कृतमध्यमक्रमो नमयामास नृपाननुद्धरन् ॥ 9 ॥
 अथ वीक्ष्य रघुः प्रतिष्ठितं प्रकृतिष्वात्मजमात्मवत्तया ।
 विषयेषु विनाशधर्मसु त्रिदिवस्थेष्वपि निःस्पृहोऽभवत् ॥ 10 ॥
 गुणवत्सुतरोपितश्रियः परिणामे हि दिलीपवंशजाः ।
 पदवीं तरुवल्कवाससां प्रयताः संयमिनां प्रपेदिरे ॥ 11 ॥
 तमरण्यसमाश्रयोन्मुखां शिरसा वेष्टनशोभिना सुतः ।
 पितरं प्रणिपत्य पादयोरपरित्यागमयाचतात्मनः ॥ 12 ॥
 रघुरश्रुमुखास्य तस्य तत्कृतवानीप्सितमात्मजप्रियः ।
 न तु सर्प इव त्वचं पुनः प्रतिपेदे व्यपवर्जितां श्रियम् ॥ 13 ॥
 स किलाश्रममन्त्यमाश्रितो निवसन्नावसथो पुराद्वहिः ।
 समुपास्यत पुत्रभोग्यया स्नुषयेवाविकृतेन्द्रियः श्रिया ॥ 14 ॥
 प्रशमस्थितपूर्वपार्थिवं कुलमभ्युद्यतनूतनेश्वरम् ।
 नभसा निभृतेन्दुना तुलामुदितार्केण समारुरोह तत् ॥ 15 ॥
 यतिपार्थिवलिङ्गधारिणौ ददृशाते रघुराघवौ जनैः ।
 अपवर्गमहोदयार्थयो भुवमंशाविव धर्मयोर्गतौ ॥ 16 ॥

मानते हैं। बात यह थी कि जैसे सैकड़ों नदियों से समुद्र सदा एक सा ही व्यवहार करता है वैसे ही वे भी न किसी का बुरा चाहते थे न किसी से बैर करते थे ॥ 8 ॥ वे न तो बहुत कठोर थे और न बड़े कोमल। उन्होंने बीच का मार्ग पकड़ लिया था इसीलिये उन्होंने अपने शत्रु राजाओं को राजगद्दी से उतारे विना ही उनको उसी प्रकार झुका दिया जैसे मध्यम गति से बहने वाला वायु वृक्षों को उखाड़ता तो नहीं पर झुका अवश्य देता है ॥ 9 ॥ जब रघु ने देखा कि प्रजा में हमारे पुत्र अजका बड़ा आदर है और वह भलीभाँति राज कर रहा है तब उन्हें इतना आत्मज्ञान हो गया कि उन्होंने स्वर्ग के उन सुखों की चाह भी छोड़ दी जो कभी न कभी नष्ट हो ही जाते हैं ॥ 10 ॥ दिलीप के वंश में जितने राजा हुए वे बुढ़ीती में सब राज-काज अपने गुणवान पुत्र को सौंपकर नियम से पेड़ की छालका वस्त्र पहनने वाले संन्यासियों के समान जंगल में चले जाते थे ॥ 11 ॥ इसलिये जब राजा रघु जंगल में जाने को उद्यत हुए तब अज ने मनोहर पगड़ी वाला अपना सिर उनके चारणों में नवाकर प्रार्थना की कि आप मुझे छोड़कर न जाइए ॥ 12 ॥ अपने पुत्र अज को रघु बहुत प्यार करते थे, इसलिये अजकी आँखों में आँसू देखकर वे रुक तो गए पर जैसे साँप अपनी केंचुली छोड़कर फिर उसे नहीं ग्रहण करता वैसे ही उन्होंने जिस राज्य-लक्ष्मी को एक बार छोड़ दिया उसे फिर स्वीकार नहीं किया ॥ 12 ॥ वे संन्यास लेकर नगर के बाहर ही एक कुटिया में रहने लगे। जिस भूमि पर उनके पुत्र राज्य कर रहे थे वह जितेन्द्रिय रघु को फल-फूल देकर उसी प्रकार सेवा कर रही थी मानो उनकी पतोहू ही हो ॥ 14 ॥ उस समय सूर्य वंश उस आकाश के समान उग रहा था जिसमें एक ओर चन्द्रमा छिप रहे हों और दूसरी ओर सूर्य निकल रहे हों (क्योंकि एक ओर राजा रघु संन्यास लेकर शान्ति का जीवन बिता रहे थे और दूसरी ओर ऐश्वर्यशाली अज राजा बनकर गद्दी पर बैठे हुए थे) ॥ 15 ॥ संन्यासी बने हुए रघु और राजा बने हुए अज को देखकर लोगों ने यह समझ लिया कि मोक्ष और ऐश्वर्य देने वाले धर्मों के दो अंश पृथ्वी पर

अजिताधिगमाय मन्त्रिभिर्युज्ये नीतिविशारदैरजः ।
 अनपाधिपदोपलब्धये रघुराप्तैः समियाय योगिभिः ॥ 17 ॥
 नृपतिः प्रकृतीरवेक्षितुं व्यवहारासनमाददे युवा ।
 परिचेतुमुपांशु धारणां कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम् ॥ 18 ॥
 अनयत्प्रभुशक्तिसंपदा वशमेको नृपतीननन्तरान् ।
 अपरः प्रणिधानयोग्यया मरुतः पञ्च शरीरगोचरान् ॥ 19 ॥
 अकरोदचिरेक्षरः क्षितौ द्विषदारम्भफलानि भस्मसात् ।
 इतरो दहने स्वकर्मणां ववृते ज्ञानमयेन वह्निना ॥ 20 ॥
 पणबन्धमुखान्गुणानजः षडुपायुङ्क्त समीक्ष्य तत्फलम् ।
 रघुरप्यजयद्गुणत्रयं प्रकृतिस्थं समलोष्ठकाञ्चनः ॥ 21 ॥
 न नवः प्रभुराफलोदयात्स्थिरकर्मा विरराम कर्मणः ।
 न च योगविधेर्नवेतरः स्थिरधीरा परमात्मदर्शनात् ॥ 22 ॥
 इति शत्रुषु चेन्द्रियेषु च प्रतिभिद्धप्रसरेषु जाग्रतौ ।
 प्रसिताबुदयापवर्गयोरुभयीं सिद्धिमुभाववापतुः ॥ 23 ॥
 अथ काश्चिदजव्यपेक्षया गमयित्वा समदर्शनः समाः ।
 तमसः परम पदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः ॥ 24 ॥
 श्रुतदेहविसर्जनः पितृश्चिरमश्रूणि विमुच्य राघवः ।
 विदधे विधिमस्य नैष्ठिकं यतिभिः सार्धमनग्निमग्निचित् ॥ 25 ॥

साथ-साथ चले आए हैं ॥ 16 ॥ एक ओर अज तो नीति जानने वाले मंत्रियों के साथ दिग्विजय का विचार करने लगे, दूसरी ओर रघु भी मोक्ष-पद पाने के लिये तत्त्वदर्शी योगियों के साथ शास्त्र चर्चा करने लगे ॥ 17 ॥ इधर युवा राजा अज तो जनता के कामों की देखभाल करने के लिये न्याय के आसन पर बैठते थे उधर बूढ़े रघु अपने मन को साधने का अभ्यास करने के लिये अकेले में कुशा के पवित्र आसन पर बैठते थे ॥ 18 ॥ इधर अज ने तो अपने प्रभुत्व और अपनी शक्ति से आस-पास के शत्रु राजाओं को वश में कर लिया था और उधर रघु ने अपने योग बल से शरीर के भीतर रहने वाले (प्राण, अपान, समान, उदान और ब्यान इन) पाँचों पवनों को अपने वश में कर लिया था ॥ 19 ॥ अज ने तो पृथ्वी पर शत्रुओं की सब चालें नष्टकर डालीं और रघु ने ज्ञान की अग्नि से अपने सारे कार्यों को राख कर डाला ॥ 20 ॥ एक ओर अज (सन्धि, विग्रह, यत्न, आसन, आश्रय और द्वैधीभाव इन) छह नीतियों का परिणाम समझकर उनका प्रयोग करते जा रहे थे, दूसरी ओर मिट्टी और सोना दोनों को बराबर समझने वाले रघु ने भी प्रकृति के सत्व, रज और तम इन तीन गुणों को जीत लिया था ॥ 21 ॥ जैसे दृढ़ प्रतिज्ञा वाले अज भी किसी भी काम को उठाकर उसे तब तक नहीं छोड़ते थे जब तक वह पूरा नहीं हो जाता था, वैसे ही स्थिर चित्त वाले रघु ने भी तब तक योग क्रिया नहीं छोड़ी जब तक उन्हें परमात्मा का दर्शन नहीं हो गया ॥ 22 ॥ इस प्रकार एक ओर अज तो सारे संसार का ऐश्वर्य प्राप्त करने में लगे हुए थे और दूसरी ओर रघु मोक्ष प्राप्त करने में मन लगाए हुए थे। अज ने अपने शत्रुओं का बढ़ना रोककर और रघु ने इन्द्रियों को वश में करके अपनी-अपनी सारी सिद्धियाँ प्राप्त कर लीं ॥ 23 ॥ सबको समान समझने वाले रघु ने अज के कहने से कुछ वर्ष संसार में और बिताए। फिर योगबल से सदा प्रकाशमान,

अकरोत्स तदौर्ध्वदैहिकं पितृभक्त्या पितृकार्यकल्पवित् ।
 न हि तेन पथा तनुत्यजस्तनयावर्जितपिण्डकाङ्क्षिणः ॥ 26 ॥
 स परार्ध्यगतेरशोच्यतां पितुरुद्दिश्य सदर्थवेदिभिः ।
 शमिताधिरधिज्यकामुकः कृतवानप्रतिशासनं जगत् ॥ 27 ॥
 क्षितिरिन्दुमती च भामिनी पतिमासाद्य तमग्यपौरुषम् ।
 प्रथमा बहुरत्नसूरभूदपरा वीरमजीजनत्सुतम् ॥ 28 ॥
 दशरथश्मशतोपमद्युतिं यशसा दिक्षु दशस्वपि श्रुतम् ।
 दशपूर्वरथं यमाख्यया दशकण्डारिगुरुं विदुर्बुधाः ॥ 29 ॥
 ऋषिदेवगणस्वधाम्भुजां श्रुतयागप्रसवैः स पार्थिवः ।
 अनृणात्वमुपेयिवान्बभौ परिधोमुक्त इवोष्णदीधितिः ॥ 30 ॥
 बलमार्तभयोपशान्तये विदुषां सत्कृतये बहुश्रुतम् ।
 वसु तस्यं विभोर्न केवलं गुणवत्तापि परप्रयोजना ॥ 31 ॥
 स कदाचिदवेक्षितप्रजः सह देव्या विजहार सुप्रजः ।
 नगरोपवने शचीसखा मरुतां पालयितेव नन्दने ॥ 32 ॥
 अथ रोधसि दक्षिणोदधेः श्रितगोकर्णनिकेतमीश्वरम् ।
 उपवीणयितुं ययौ रवेरुदयावृत्तिपथेन नारदः ॥ 33 ॥

अविनाशी परमात्मा में वे लीन हो गए ॥ 24 ॥ अपने पिता के देह त्याग का समाचार पाकर अग्निहोत्र करने वाले अज बहुत रोए। उन्होंने अपने पिता के शरीर का दाह संस्कार नहीं किया वरन योगियों के साथ उनके शरीर को ले जाकर पृथ्वी में समाधि दे दी (क्योंकि संन्यासियों का दाह संस्कार नहीं किया जाता) ॥ 25 ॥ यद्यपि रघु जैसे जो महात्मा योग बल से शरीर त्याग करके मुक्त हो जाते हैं उन्हें अपने पुत्रों से पिण्डदान की आवश्यकता नहीं रहती, फिर भी अज तो यह जानते ही थे कि पिता का संस्कार किस प्रकार करना चाहिए। इसलिये उन्होंने बड़ी भक्ति से अपने पिता के श्राद्ध आदि सारे संस्कार पूरे किए ॥ 26 ॥ तत्त्वज्ञानी पण्डितों ने जब अज को भलीभांति समझा दिया कि तुम्हारे पिता ने मोक्ष पा लिया है तब कहीं उन्हें धीरज हो पाया और उनका शोक कम हो पाया। तब वे धनुष-बाण लेकर सारे संसार पर राज्य करने लगे ॥ 27 ॥ पृथ्वी और इन्दुमती दोनों ही अज जैसे महापराक्रमी को पति के रूप में पाकर बड़ी प्रसन्न हुईं। बदले में पृथ्वी ने तो बहुत से रत्न उत्पन्न किए और इन्दुमती ने वीर पुत्र को जन्म दिया ॥ 28 ॥ ये अज के पुत्र वे ही थे जो दस सौ (असंख्य) किरणों वाले सूर्य के समान तेजस्वी थे, जिनका यश दसों दिशाओं में फैला हुआ था, जो उन राम के पिता थे जिन्होंने दस सिर वाले रावण को मारा था, और जिन्हें पंडित लोग दशरथ कहते हैं ॥ 29 ॥ इस प्रकार वेदों का अध्ययन करके ऋषियों के ऋण से, यज्ञ करके देवताओं के ऋण से और पुत्र उत्पन्न करके अपने पितरों के ऋण से मुक्त होकर अज वैसे ही सुशोभित हुए जैसे मण्डल से छूटकर सूर्य शोभा देता है ॥ 30 ॥ अज ने केवल अपने धन से ही दूसरों को लाभ नहीं पहुँचाया वरन् अपने गुणों से भी लोगों का उपकार किया, क्योंकि अपने पराक्रम से तो उन्होंने दीन-दुर्बलों का डर दूर किया और अपने शास्त्र के ज्ञान से विद्वानों का सत्कार किया ॥ 31 ॥ एक दिन अच्छी संतान वाले, प्रजापालक राजा अज अपनी रानी इन्दुमती के साथ नगर

कुसुमैर्गङ्गितामपार्थिवैः स्रजमातोद्यशिरोनिवेशिताम् ।
 अहरत्किल तस्य वेगवानधिवासस्पृहयेव मारुतः ॥ 34 ॥
 भ्रमरैः कुसुमानुसारिभिः परिकीर्णा परिवादिनी मुनेः ।
 ददृशे पवनावलेपजं सृजती बाष्पमिवाञ्जनाविलम् ॥ 35 ॥
 अभिभूय विभूतमार्तवीं मधुगन्धातिशयेन वीरुधाम् ।
 नृपतेरमरसगाप सा दयितोरुस्तनकोटिसुस्थितिम् ॥ 36 ॥
 क्षणमात्रसखीं सुजातयोः स्तनयोस्तामवलोक्य विद्वला ।
 निमिमील नरोत्तमप्रिया हतचन्द्रा तमसेव कौमुदी ॥ 37 ॥
 वपुषा करणोज्झितेन सा निपतन्ती पतिमप्यपातयत् ।
 ननु तैलनिषेकविन्दुना सह दीपार्चिरुपैति मेदिनीन् ॥ 38 ॥
 उभयोरपि पार्श्ववर्तिनां तुमुलेनार्तरवेण वेजिताः ।
 विहगाः कमलाकरालयाः समदुःखा इव तत्र चुक्रुशुः ॥ 39 ॥
 नृपतेर्व्यजनादिभिस्तमो नुनुदे सा तु तथैव संस्थिता ।
 प्रतिकारविधानमायुषः सति शोणे हि फलाय कल्पते ॥ 40 ॥
 प्रतियोजयितव्यवल्लकीसमवस्थामथा सत्त्वविप्लवात् ।
 स निनाय नितान्तवत्सलः परिगृह्योचितमङ्गमङ्गनाम् ॥ 41 ॥
 पतिरङ्गनिष्णण्या तया करणापायविभिन्नवर्णया ।
 समलक्ष्यत विभ्रदाविलां मृगलेखामुषसीव चन्द्रमाः ॥ 42 ॥

के उपवन में उसी प्रकार विहार कर रहे थे जैसे देवताओं का पालन करने वाले इन्द्र अपने नन्दन वन में इन्द्राणी के साथ विहार किया करते हैं ॥ 32 ॥ उसी समय दक्खिनी समुद्र के तट पर गोकर्ण में बसे हुए शंकर को वीणा के साथ गाना सुनाने के लिये नारद जी आकाश में बढ़े चले जा रहे थे ॥ 33 ॥ उनकी वीणा के सिरे पर स्वर्गीय फूलों से गुँथी हुई एक माला लटकी हुई थी। कहा जाता है कि उस समय वेग से चलने वाले वायु के कारण वह माला खिसककर नीचे ऐसे गिर गई मानो वायु ने ही गन्ध के लोभ से उसे वहाँ से उतार लिया हो ॥ 34 ॥ वह माला तो उस पर से गिर गई पर फूलों के साथ लगे हुए जो भीरे अभी तक नारदजी के वीणा पर मँडराए जा रहे थे उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो वायु से अपमानित होकर वीणा भी काजल मिले हुए आँसू बहा रही हो ॥ 35 ॥ उस स्वर्गीय माला में इतना अधिक मधु और इतनी अधिक गन्ध थी कि उसके आगे बसन्त के वृक्षों और लताओं का सारा मधु और सुवास लजा जाता था। वहीं माला अचानक रानी इन्दुमती के बड़े-बड़े स्तनों के ठीक बीच में आ गिरी ॥ 36 ॥ अज की प्रियतमा ने क्षणभर के लिये तो अपने स्तनों की सखी उस माला को देखा पर देखने के साथ ही उसने व्याकुल होकर ऐसे आँखें मूँद ली मानों राहु ने चन्द्रमा को आ ग्रसा हो ॥ 37 ॥ प्राणहीन होने से वह तो गिरी ही साथ ही, अज भी गिर पड़े क्योंकि गिरते हुए तेल की बूँदों के साथ क्या दीपक की लौ पृथ्वी पर नहीं गिर पड़ा करती? ॥ 38 ॥ यह देखते ही उनके सेवकों ने जो घबराकर रोना-चिल्लाना प्रारम्भ किया उससे डरकर तालाबों में रहने वाले पक्षी भी इस प्रकार चिल्ला उठे मानो वे भी उनके दुःख में दुखी हो उठे हों ॥ 39 ॥ पंखा डुलाने और दूसरे अनेक उपायों से किसी किसी

विललाप स बाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम् ।
 अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु ॥ 43 ॥
 कुसुमान्यपि गात्रसंगमात्प्रभदन्त्यायुरपोहितुं यदि ।
 न भविष्यति हन्त साधनं किमिवान्यत्प्रहरिष्यता विधेः ॥ 44 ॥
 अथवा मृदु वस्तु हिंसितुं मृदुनैवारभते प्रजान्तकः ।
 हिमसेकविपत्तिरत्र मे नलिनी पूर्वनिदर्शनं मता ॥ 45 ॥
 स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम् ।
 विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥ 46 ॥
 अथवा मम भाग्यविप्लवादशनिः कल्पित एव वेधसा ।
 पदनेन तरुर्न पातितः क्षपिता तद्विदपाश्रिता लता ॥ 47 ॥
 कृतवत्यसि नावधीरणामपराद्धेऽपि यदा चिरं मयि ।
 कथमेकपदे निरागसं जनमाभाव्यभिर्मं न मन्यसे ॥ 48 ॥
 ध्रुवमस्मि शठः शुचिस्मिते विदितः कैतववत्सलस्तव ।
 परलोकमसंनिवृत्तये यदनापृच्छ्य गतासि मामितः ॥ 49 ॥
 दयितां यदि तावदन्वगाद्धिनिवृत्तं किमिदं तया विना ।
 सहतां हतजीविते मम प्रबलामात्मकृतेन वेदनाम् ॥ 50 ॥
 सुरतश्रमसंभृतो मुखे ध्रियते रवेदलवोद्गमोऽपि ते ।
 अथ चास्तमिता त्वमात्मना धिगिमां देहभृतानसारताम् ॥ 51 ॥

प्रकार अजकी मूर्च्छा तो दूर हो गई पर रानी इन्दुमती तो बस ज्योंकी त्यों पड़ी रही क्योंकि औषध तो तभी काम किया करती है न जब आयु शेष हो ॥ 40 ॥ तब उस अत्यन्त प्यारे राजा ने अपनी मृत पत्नी को अपनी गोद में उठाकर उसी प्रकार लिटा लिया जैसे तार मिलाने के समय वीणा गोद में रख ली जाती है ॥ 41 ॥ प्राण निकल जाने से इन्दुमती के शरीर का रंग पीला पड़ गया था इसलिये उसे गोदी में लिटाए हुए राजा उस प्रातःकाल के चन्द्रमा के समान दिखाई पड़ रहे थे जिसकी गोद में मृग की धुँधली छाया हो ॥ 42 ॥ उनका स्वाभाविक धीरज जाता रहा, उनका गला भर आया और वे दाढ़ मारकर रोने लगे, क्योंकि तपने पर तो लोहा भी नरम हो जाता है फिर देहधारियों की तो बात ही क्या है ॥ 43 ॥ (वे रोते हुए कहते जा रहे थे)- 'हाय! जब फूल भी शरीर को सूकर प्राण ले सकते हैं तब तो दैव चाहे जिस भी वस्तु से किसी को मार डाल सकता है ॥ 44 ॥ या संभवतः कोमल वस्तु को मारने के लिये देव कोमल वस्तु का ही प्रयोग किया करता हो, क्योंकि मैंने पहले ही देख लिया है कि नलिनी को नष्ट करने के लिये पाला ही बहुत हुआ करता है ॥ 45 ॥ और यदि इस माला में ही कुछ प्राण हरने की शक्ति हो तो लो मैं भी इसे छाती पर धरे लेता हूँ, पर वह मुझे क्यों नहीं मार डाल रही है। यह ईश्वर की इच्छा ही तो है कि कहीं विष भी अमृत हो जाता है और कहीं अमृत भी विष बन जाता है ॥ 46 ॥ या यह मेरा दुर्भाग्य ही समझना चाहिए कि विधाता ने इस माला को ऐसी बिजली बनाकर गिराया है जिसने पेड़ को तो छोड़ दिया और उसके साथ लिपटी हुई लता को जला डाला ॥ 47 ॥ प्यारी इन्दुमती! मैंने तुम्हारे प्रति बहुत अपराध किए पर तुमने कभी मेरा तिरस्कार नहीं किया आज एकाएक

मनसापि न विप्रियं मया कृतपूर्वं तव किं जहासि माम् ।
 ननु शब्दपतिः क्षितेरहं त्वयि मे भावनिबन्धना रतिः ॥ 52 ॥
 कुसुमोत्खाचिन्तान्वलंभृतश्चलयन्भृङ्गरुचस्तवालकान् ।
 करभोरु करोति मारुतस्त्वदुपावर्त्तनशङ्कि मे मनः ॥ 53 ॥
 तदपोहितुमर्हसि प्रिये प्रतिबोधेन विषादमाशु मे ।
 ज्वलितेन गुहागतं तमस्तुहिनाद्रेरिव नक्तमोषधिः ॥ 54 ॥
 इदमुच्छ्वसितालकं मुखं तव विश्रान्तकथं दुनोति माम् ।
 निशि सुप्तमिवैकपङ्कजं विरताभ्यन्तरणदपदस्वनम् ॥ 55 ॥
 शशिनं पुनरेति शर्वरी दयिता द्वन्द्वचरं पतत्त्रिणाम् ।
 इति तौ विरहान्तरक्षमौ कथमत्यन्तगता न मां दहेः ॥ 56 ॥
 नवपल्लवसंस्तरेऽपि ते मृदु दूयेत यदङ्गमर्षितम् ।
 तदिदं विषहिष्यते कथं वद वामोरु चिताधिरोहणम् ॥ 57 ॥
 इयमप्रतिबोधशायिनीं रशना त्वां प्रथमा रहःसखी ।
 गतिविभ्रमसादनीरवा न शुचा नानुमृतेव लक्ष्यते ॥ 58 ॥
 कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम् ।
 पृष्णतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमाः ॥ 59 ॥
 त्रिदिवोत्सुकयाप्यवेक्ष्य मां निहिताः सत्यममी गुणास्त्वया ।
 विरहे तव मे गुरुव्यथं हृदयं न त्ववलम्बितुं क्षमाः ॥ 60 ॥

बिना अपराध के ही तुम मुझे बात तक करने योग्य भी क्यों नहीं समझ रही हो ? ॥ 48 ॥ अरी मधुर
 हैंसी हैंसने वाली! तुम सचमुच यही समझे बैठी हो कि मैं तुमसे झूठा प्रेम करता रहा हूँ इसीलिये तो
 मुझसे बिना पूछे सदा के लिये परलोक सिंघार गई ॥ 49 ॥ मेरे ये नीच प्राण जब प्रिया के साथ-साथ
 एक बार चले गए थे तब ये लौट क्यों आए। जब इनकी करनी ही ऐसी है तब ये भोगें दुःख। मैं क्या
 कर सकता हूँ? ॥ 50 ॥ अभी तुम्हारे मुँह पर सम्भोग की थकावट के पसीने की बूँदें भी नहीं सूखीं और
 तुम चल बसीं। धिक्कार है मनुष्य की इस नश्वरता को ॥ 51 ॥ मैंने कभी मन में भी तुम्हारी बुराई
 नहीं की फिर तुम मुझे इस प्रकार क्यों छोड़े चली जा रही हो (सच पूछो तो) मैं पृथ्वी का पति तो नाम
 भर को ही हूँ, मेरा सच्चा प्रेम तो केवल तुमसे ही है ॥ 52 ॥ अरी सुन्दर जाँघों वाली! फूलों से गुँथी
 और भौंरों के समान काली तुम्हारी लटें जब वायु से हिलती हैं तब मेरे मन में यही आशा होने लगती
 है कि तुम अवश्य जी उठोगी ॥ 53 ॥ इसलिये प्रिये! जैसे रात में चमकने वाली बूटियाँ अपने प्रकाश
 से हिमालय की अँधेरी गुफा में भी चाँदनी फैला देती हैं वैसे ही तुम भी फिरसे जागकर मेरा दुःख मिटा
 डालो ॥ 54 ॥ मौन भौंरों से भरे हुए और रात में मुँदे अकेले कमल के जैसा लगने वाला तुम्हारा बिखरी
 अलकों से ढका मौन मुख देख देखकर मेरा हृदय फटा जा रहा है ॥ 55 ॥ देखो, चन्द्रमा को रात्रि फिर
 मिल जाती है, चकवे को चकवी भी प्रातः मिल ही जाती है इसलिये उन्हें बिछोह का दुःख थोड़ी ही देर
 तक रहता है पर तुम तो सदा के लिये चली जा रही हो, फिर बताओ मैं बिरह की आग में जलकर क्यों
 न भस्म हो जाऊँ? ॥ 56 ॥ कोमल पल्लवों का बिछौना भी तुम्हारे जिस शरीर में चुभता रहा करता था,

मिथुनं परिकल्पितं त्वया सहकारः फलिनी च नन्दिमौ ।
 अविधाय विवाहसत्क्रियामनयोर्गम्यत इत्यसांप्रतम् ॥ 61 ॥
 कुसुमं कृतदोहदस्त्वया यदशोकोऽयमुदीरयति ।
 अलकाभरणं कथं नु तत्तव नेष्यामि निवापमाल्यताम् ॥ 62 ॥
 स्मरतेव सशब्दनूपुरं चरणानुग्रहमन्यदुर्लभम् ।
 अमुना कुसुमाश्रुवर्षिणा त्वमशोकेन सुगात्रि शोच्यसे ॥ 63 ॥
 तव निःश्वसितानुकारिभिर्बकुलैरर्धचितां समं मया ।
 असमाप्य विलासमेखलां किमिदं किन्नरकण्ठ सुप्यते ॥ 64 ॥
 समदुःखसुखः सखीजनः प्रतिपच्चन्द्रनिभोऽयमात्मजः ।
 अहमेकरसस्तथापि ते व्यवसायः प्रतिपत्तिनिष्ठुरः ॥ 65 ॥
 धृतिरस्तमिता रतिश्च्युता विरतं गेयमृतुर्निरुत्सवः ।
 गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीयमद्य मे ॥ 66 ॥
 गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
 करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वा वद किं न मे हृतम् ॥ 67 ॥
 मदिराक्षि मदाननार्पितं मधु पीत्वा रसवत्कथं न मे ।
 अनुपास्यसि बाष्पदूषितं परलोकोपनतं जलाञ्जलिम् ॥ 68 ॥

बताओ सुन्दर जंघवाली! वही तुम्हारा शरीर चिता पर कैसे चढ़ाया जा सकेगा ॥ 57 ॥ क्या तुम नहीं देख रही हो कि तुम्हारी हावभेरी चाल के बन्द हो जाने से तुम्हारी एकान्त सखी यह तगड़ी भी तुम्हें सदा के लिये सोती देखकर तुम्हारे शोक में मरी-सी दिखाई दे रही है ॥ 58 ॥ तुम्हारी मीठी बोली कोयलों ने ले ली, तुम्हारी धीमी चाल कलहसिनियों ने ले ली, तुम्हारी चंचल चितवन हरिणियों को मिल गई और तुम्हारा चुलबुलापन वायु से हिलती हुई लताओं में जा पहुँचा ॥ 59 ॥ अपने स्वर्ग जाने की उतावली में यद्यपि मुझे बहलाने के लिये अपने गुण तुम यहीं छोड़े जा रही हो पर तुम्हारे विछोह से तो मैं इतना अधीर हो उठा हूँ कि इन सबसे मेरे हृदय को किसी प्रकार भी सन्तोष नहीं मिल पा रहा है ॥ 60 ॥ प्रिये ! उस आम और प्रियतूलता का विवाह करना तुमने ही पक्का किया था । इन दोनों का विवाह किए बिना तुम्हारा इस प्रकार चला जाना ठीक नहीं है ॥ 61 ॥ देखो, जिस अशोक को तुमने अपने चरणों की ठोकर लगाई थी वह जब आगे चलकर फूलेगा तब तुम्हारे केशों को सजाने वाले उसके फूलों को मैं जलदान की अञ्जलि में कैसे ले सकूँगा ॥ 62 ॥ सुन्दरी! तुम्हारे झनझनाते बिछुओं वाले चरण की ठोकर किसी को भी नहीं मिल पाती पर तुमने बड़ी कृपा करके उस अशोक को ठोकर जा ही लगाई थी । अब उन तुम्हारे चरणों की कृपा को स्मरण करके ही यह अशोक का वृक्ष फूलों के आँसू बरसा बरसाकर तुम्हारे लिए रोए जा रहा है ॥ 63 ॥ अरी मधुरभाषिणी! अपने श्वास के समान सुगन्ध वाले मौलसिरी के फूलों की जो सुन्दर माला तुम मेरे साथ बैठी गूँथ रही थीं उसे अधगूँथी ही छोड़कर क्यों पड़ी सो रही हो ॥ 64 ॥ तुम्हारे सुखदुःख की साथिन ये सखियाँ पास ही खड़ी हैं, शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान प्रसन्न मुखवाला तुम्हारा पुत्र भी यहीं है और तुम्हारा अनन्य प्रेमी मैं भी तुम्हारे पास हूँ, फिर हम लोगों को छोड़कर चले जाने की जो तुमने ठान ली है यह तुम्हारी बड़ी कठोरता है ॥ 65 ॥ आज मेरा धीरज

विभवेऽपि सति त्वया विना सुखमेतावदजस्य गण्यताम् ।
 अहृतस्य विलोभनान्तरैर्मम सर्वे विषयास्त्यदाश्रयाः ॥ 69 ॥
 विलपन्निति कोसलाधिपः करुणार्थग्रथितं प्रियां प्रति ।
 अकरोत्पृथिवीरुहानपि सुतशाखारसबाष्पदूषितान् ॥ 70 ॥
 अथ तस्य कथंचिदङ्कतः स्वजनस्तामपनीय सुन्दरीम् ।
 विससर्ज तदन्त्यमण्डनामनलायागुरुचन्दनैर्घासे ॥ 71 ॥
 प्रमदामनु संस्थितः शुचा नृपतिः सन्निति वाच्यदर्शनात् ।
 च चकार शरीरमग्निसात्सह देव्या न तु जीविताशया ॥ 72 ॥
 अथ तेन दशाहतः परे गुणशेषामुपदिश्य भामिनीम् ।
 विदुषा विधायो महर्द्धयः पुर एवोपवने समापिताः ॥ 73 ॥
 स विवेश पुरीं तया विना क्षणदायपायशशाङ्कदर्शनः ।
 परिवाहमिवावलो कयन्स्वशुचः पौरवधूमुखाश्रुषुः ॥ 74 ॥
 अथ तं सवनाय दीक्षितः प्रणिधानाद्गुरुराश्रमस्थितः ।
 अभिषङ्गजडं विजज्ञिवानिति शिष्येण किलान्वबोधयत् ॥ 75 ॥
 असमाप्तविधिर्यतो मुनिस्तव विद्वानपि तापकारणम् ।
 न भवन्तमुपस्थितः स्वयं प्रकृतौ स्थापयितुं पथश्च्युतम् ॥ 76 ॥
 मपि तस्य सुवृत्तं वर्तते लघुसंदेशपदा सरस्वती ।
 शृणु विश्रुतसत्त्वसारं तां हृदि चैनमुपधातुमर्हसि ॥ 77 ॥

छूट गया, सारा आनन्द जाता रहा, गाना-बजाना सब समाप्त हो गया, ऋतुएँ फीकी पड़ गई, पहनना-ओढ़ना बेकाम हो गया और शय्या भी सूनी हो गई ॥ 66 ॥ तुम मेरी पत्नी भी थी, सम्मति देनेवाली मित्र भी थी, एकान्त की सखी भी थी और गान-विद्या आदि कलाओं की ललित क्रियाओं में प्रिय शिष्या भी थी। तुम्हीं बताओ, तुम्हें मुझसे छीनकर निर्दयी मृत्यु ने मेरा क्या नहीं लूट लिया ॥ 67 ॥ अरी मदभरे नयनों वाली! तुम्हारे जिस मुखने मेरे मुँह से छूटा हुआ स्वादिष्ट आसव पी रक्खा है, उस मुखसे अब तुम आँसुओं के जल से मिली हुई गँदली जलाञ्जलि को परलोको में कैसे पी सकोगी ॥ 68 ॥ इतना ऐश्वर्य होने पर भी तुम्हारे बिना अजका सारा सुख मिट्टी हो गया है क्योंकि मुझे और किसी वस्तु से भी प्रेम नहीं है क्योंकि मेरे तो सब सुखों का केन्द्र एक तुम्हीं भर थीं ॥ 69 ॥ जब कोसलनरेश अज अपनी प्रिया के लिये इस प्रकार शोक करके रो रहे थे तब उन्हें देखकर वृक्ष भी मानों अपनी शाखाओं से रस बहा बहाकर रोने लगे थे ॥ 70 ॥ कुटुम्बियों ने अजकी गोदी से ज्यों-ज्यों करके इन्दुमती का शरीर उतारकर उसी पुष्पमाला से उसका शृङ्गार करके अगर और चन्दन की लकड़ियों से उसका दाह-संस्कार कर दिया ॥ 71 ॥ अपनी पत्नी के वियोग में राजा अज इतने व्याकुल हो गए थे कि उन्हें जीने तक की सारी साध जाती रही थी किन्तु वे इन्दुमती के साथ इसलिये चितापर नहीं चढ़े कि कहीं लोग यह न कहने लगे कि राजा अजने विद्वान् होकर भी अपनी स्त्रीके पीछे प्राण दे दिए ॥ 72 ॥ जिस इन्दुमती के केवल गुण भर बचे रह गए थे उस प्रिया के सब क्रिया-कर्म शास्त्र जानने वाले अजने दस दिन बीत जाने पर उसी उपवन में बड़े धूम-धाम से पूरे किए ॥ 73 ॥ इन्दुमती के वियोग में अज ऐसे

पुरुषस्य पदेष्वजन्ननः समतीतं च भवच्च भावि च ।
 स हि निष्प्रतिघेन चक्षुषा त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति ॥ 78 ॥
 चरतः किल दुश्चरं तपस्तृणबिन्दोः परिशङ्कितः पुरा ।
 प्रजिघाय समाधिभेदिनीं हरिरस्मै हरिणीं सुराङ्गनाम् ॥ 79 ॥
 स तपःप्रतिबन्धमन्युना प्रमुखाविष्कृतचारुविभ्रमाम् ।
 अशपद्मव मानुषीति तां शमवेलाप्रलयोर्मिणा भुवि ॥ 80 ॥
 भगवन्परवानयं जनः प्रतिकूलाचरितं क्षमस्व मे ।
 इति चोपनतां क्षितिस्पृशं कृतवानासुरपुष्पदर्शनात् ॥ 81 ॥
 क्रथकैशिकवंशसंभवा तव भूत्वा महिषी चिराय सा ।
 उपलब्धवती दिवश्च्युतं विवशा शापनिवृत्तिकारणम् ॥ 82 ॥
 तदलं तदपायचिन्तया विपटुत्पत्तिमतामुपस्थितः ।
 वसुधैयमवेक्ष्यतां त्वया वसुमत्या हि नृपाः कलत्रिणः ॥ 83 ॥
 उदये मदवाच्यमुज्जता श्रुतमाविष्कृतमात्मवत्त्वया ।
 मनसस्तदुपस्थिते ज्वरे पुनरक्लीवतया प्रकाशयताम् ॥ 84 ॥
 रुदता कृत एव सा पुनर्भवता नानुमृतापि लभ्यते ।
 परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम् ॥ 85 ॥

उदास रहने लगे जैसे रात बीत जाने पर चन्द्रमा मन्द पड़ जाता है। जब वे नगर में घुसे तब उन्हें देखकर नगर-भर की स्त्रियाँ फूट-फूट कर रोने लगीं मानों अजका शोक इतनी आँखों से फूटकर बहा निकला जा रहा हो ॥ 74 ॥ उन दिनों वशिष्ठजी यज्ञ कर रहे थे। उन्होंने आश्रम में ही बैठे-बैठे योग बलसे राजा के शोक का कारण जान लिया और एक शिष्य से अजके पास सन्देश कहला भेजा। शिष्य अजसे आकर कहा- ॥ 75 ॥ 'वशिष्ठ मुनिका यज्ञ समाप्त नहीं हुआ है इसलिये आपके दुःख को जानते हुए भी न तो वे आ ही सक रहे हैं और न आपको इस शोक में धीरज ही बँधा सक रहे हैं ॥ 76 ॥ सच्चरित्र राजा! मैं उनका एक छोटा सा सन्देश लाया हूँ, उसे आप धीरज के साथ सुनिए और समझिए ॥ 77 ॥ वे अपने ज्ञान के नेत्रों से तीनों लोकों की बीती हुई, होती हुई और होने वाली सभी बातें जानते हैं ॥ 78 ॥ एक बार तृणबिन्दु नामक ऋषि तप करने लग रहे थे। उनकी तपस्या से डरकर इन्द्र ने उनका तप भंग करने के लिये हरिणी नामक एक अप्सरा भेज दी ॥ 79 ॥ जैसे प्रलय काल की लहर समुद्र के तट को ढाह गिराती है वैसे ही ऋषि का तप ढिगाने के लिये वह अप्सरा भी वहाँ जा पहुँची। अप्सरा को देखते ही मुनिने क्रोधित होकर उसे शाप दे दिया कि जा, तू संसार में मनुष्य की स्त्री हो ॥ 80 ॥ शाप सुनते ही अप्सरा घबरा उठी। वह हाथ जोड़कर गिड़गिड़ा कर बोली- 'भगवन्! दूसरों के कहने से मैंने यह काम किया है, मेरा इसमें कुछ भी दोष नहीं है। मुझे क्षमा कीजिए।' इसपर ऋषि ने कहा- 'जब तक तुम्हें स्वर्गीय पुण्य नहीं दिखाई पड़ेंगे तब तक तुम्हें पृथ्वी पर रहना ही पड़ेगा' ॥ 81 ॥ वही अप्सरा क्रथकैशिक (विदम्ब) वंश में जन्म लेकर तुम्हारी रानी हुई और इतने दिनों बाद जैसे ही उसे स्वर्गीय पुण्य दिखाई पड़े, वैसे ही वह शाप से छूटकर शरीर छोड़कर चली गई ॥ 82 ॥ इसलिये अब आप उसकी मृत्यु का शोक न कीजिए, क्योंकि जो जन्म लिया करता है वह मरता ही है। इसलिये सब शोक छोड़कर

अपशोकमनाः कुटुम्बिनीमनुगृहीष्य निवापदत्तिभिः ।
 स्वजनाश्च किलातिसंततं दहति प्रेतमिति प्रचक्षते ॥ 86 ॥
 मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः ।
 क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ ॥ 87 ॥
 अवगच्छति मूढचेतनः प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम् ।
 स्थिरधीस्तु तदेव मन्यते कुशलद्वारतया समुद्धृतम् ॥ 88 ॥
 स्वशरीरशरीरिणावपि श्रुतसंयोगविपर्ययौ यदा ।
 विरहः किमिवानुतापयेद्बद बाह्वीविषयैर्विपश्चितम् ॥ 89 ॥
 न पृथग्जनवच्छुचो वशं वशिनामुत्तम गन्तुमर्हसि ।
 ह्रमसानुमतां किमन्तरं यदि वायौ द्वितयेऽपि ते चलाः ॥ 90 ॥
 स तथेति विनेतुरुदारमतेः प्रतिगृह्य वचो विससर्ज मुनिम् ।
 तदलब्धपदं हृदि शोकधने प्रतियातमिवान्तिकमस्य गुरोः ॥ 91 ॥
 तेनाष्टौ परिगमिता समाः कथंचिद्बालत्वादवितथसूनुतेन सूनोः ।
 सादृश्यप्रतिकृतिदर्शनैः प्रियायाः स्वप्नेषु क्षणिकसमागमोत्सवैश्च ॥ 92 ॥
 तस्य प्रसन्न हृदयं किल शोकशंकुः प्लक्षप्ररोह इव सौधतलं बिभेद ।
 प्राणान्तहेतुमपि तं भिषजामसाध्यं लाभं प्रियानुगमने त्वरया स मेने ॥ 93 ॥

सावधान होकर आप पृथ्वी का पालन कीजिए, क्योंकि राजाओं की सच्ची सहधर्मचारिणी तो पृथ्वी ही है ॥ 83 ॥ ऐश्वर्य पाकर राजा लोग मतवाले हो जाते हैं, किन्तु जैसे आप सुख के दिनों में भी इस अपयश से बचे रहे और अभिमान छोड़कर आपने अपने आत्मज्ञान का परिचय दिया वैसे ही इस दुःख के समय में भी धीरज धरकर आप फिर उसी अध्यात्मज्ञान का प्रकाश कीजिए ॥ 84 ॥ रोने की तो बात ही क्या, यदि आप प्राण भी दे डालें तब भी इन्दुमती तो आपको मिलने वाली है नहीं, क्योंकि शरीर छूटने पर सब प्राणी अपने-अपने कर्म के अनुसार अलग-अलग मार्ग से होकर चले ही जाया करते हैं ॥ 85 ॥ अब आप सब शोक छोड़कर पिण्डदान आदि करके अपनी पत्नी का परलोक सुधारिए क्योंकि शास्त्र कहते हैं कि जब कुटुम्बी बहुत रोते-धोते हैं तब उससे प्रेतात्मा को बड़ा कष्ट होता है ॥ 86 ॥ देखिए, विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि जिसने देह धारण की है उसका मरना ही स्वाभाविक है, जीना तो बड़ा भारी विकार है, इसलिये प्राणी जितने क्षण जी जाय उतने से ही उसे सन्तोष कर लेना चाहिए ॥ 87 ॥ प्रियजन की मृत्यु को मूर्ख लोग वैसे ही कष्टकारक मानते हैं जैसे छाती में कील आ गड़ी हो, पर विद्वान लोग तो यही समझते हैं कि जो मर गया वह सब झंझटों से छूट गया। उनकी समझ में मृत्यु से वैसा ही सुख मिलता है जैसे हृदय में गड़ी हुई कील निकालने से ॥ 88 ॥ आप ही बताइए कि जब शरीर और आत्मा भी आपस में बिछुड़ने वाले माने गए हैं, तब पुत्र, स्त्री आदि बाहरी सम्बन्धियों के बिछोहसे विद्वानों को क्यों दुःख हो? ॥ 89 ॥ और फिर आप तो जितेन्द्रियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। आप साधारण लोगों के समान शोक मत कीजिए। यदि पर्वत भी वृक्ष की भाँति आँधी से हिलने लगे तो उन दोनों में अन्तर ही क्या रह गया ॥ 90 ॥ विद्वान् शिक्षक गुरु वशिष्ठ जीका उपदेश राजा ने स्वीकार कर लिया और उनके शिष्यको इस प्रकार विदा किया मानो अपने शोकभरे हृदय में स्थान न दे सकने से उनका

सम्यग्विनीतमथ वर्महरं कुमारमादिश्य रक्षणविधौ विधिवत्प्रजानाम् ।
 रोगोपसृष्टतनुदुर्वसतिं मुमुक्षुः प्रायोपवेशनमतिनृपतिर्बभूव ॥ 94 ॥
 तीर्थं तोयव्यतिकरभवे जहु कन्यासरय्वोर्देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः ।
 पूर्वाकाराधिकतररुचा संगतः कान्तयासौ लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ॥ 95 ॥
 इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
 अजविलापो नाम अष्टमः सर्गः ।।



उपदेश ही लौटा दिया हो ॥ 91 ॥ प्रिय, सत्यभाषी अजने अपने पुत्र के वचन का ध्यान करके और प्रिया के चित्र को देख-देखकर तथा स्वप्न में प्रिया से क्षणभर के समागमका आनन्द लेकर किसी किसी प्रकार आठ वर्ष काट दिए ॥ 92 ॥ कहा जाता है कि जैसे बड़की जटाएँ भवन की तलीको छेद कर नीचे घुस जाती हैं वैसे ही शोक की बर्छी ने राजा के हृदय को बलपूर्वक आर-पार वेध दिया था। पर अपनी प्रिया के पीछे प्राण देने को वे इतने उतावले थे कि उन्होंने प्राण हर लेने वाली और वैधों से अच्छी न होने वाली उस शोक की बर्छी को भी सहायक ही समझा ॥ 93 ॥ तब सुशिक्षित कवचधारी कुमार दशरथ को शास्त्र के अनुसार प्रजा का पालन करने का उपदेश देकर वे रोगी शरीर से छुटकारा पाने के लिये अनशन करने लगे ॥ 94 ॥ थोड़े दिनों में ही गंगा और सरयू के संगमपर उन्होंने अपना शरीर छोड़ दिया और तत्काल देवता बनकर पहले शरीर से भी अधिक सुन्दर शरीर वाली भार्या के साथ नन्दन-वनके विलास-भवनों में विहार करने लगे ॥ 95 ॥

महाकवि कालिदास के रचे हुए रघुवंश महाकाव्य में
 अज-विलाप नामका आठवाँ सर्ग पूर्ण हुआ।



॥ नवमः सर्गः ॥

पितुरनन्तरमुत्तरकोसलान्समधिगम्य समाधिजितेन्द्रियः ।
 दशरथः प्रशशास महारथो यमवतामवतां च धुरि स्थितः ॥ 1 ॥
 अधिगतं विधिवद्यदपालयत्प्रकृतिमण्डलमात्मकुलोचितम् ।
 अभवदस्य ततो गुणवत्तरं सनगरं नगरन्धकरौजसः ॥ 2 ॥
 उभयमेव ददन्ति मनीषिणः समयवर्षितया कृतकर्मणाम् ।
 यलनिदूदनमर्थपतिं च तं श्रमनुदं मनुदण्डधरान्वयम् ॥ 3 ॥
 जनपदे न गदः पदमादधावभिभवः कुत एव सपत्नजः ।
 क्षितिरभूत्फलवत्यजनन्दने शमरतेऽमरतेजसि पार्थिवे ॥ 4 ॥
 दशदिगन्तणिता रघुणा यथा श्रियमपुष्यदजेन ततः परम् ।
 तमधिगम्य तथैव पुनर्वभौ न न महीनमहीनपराक्रमम् ॥ 5 ॥
 समतया वसुवृष्टिविसर्जनैर्नियगनादसतां च नराधिपः ।
 अनुययौ यमपुण्यजनेश्वरौ सवरुणावरुणाग्रसरं रुचा ॥ 6 ॥
 न मृगयाभिरतिर्न दुरोदरं न च शशिप्रतिमाभरणं मधु ।
 तमुदयाय न वा नवयौवना प्रियतमा यतमानमपाहरत् ॥ 7 ॥

नवाँ सर्ग

संयम से अपनी इन्द्रियों को जीत लेनेवाले योगियों और प्रजा का पालन करने वाले राजाओं में सर्वश्रेष्ठ दशरथने अपने पिता के पीछे उत्तर कोसल का राज्य बड़ी योग्यता से सँभाल लिया ॥ 1 ॥ क्रोध पहाड़ को फाड़ देने वाले कार्तिकेय के समान बलवान् दशरथ ने अपने पुरुषों से पाई हुई राजधानी और मण्डलों का ऐसे अच्छे ढंगसे पालन किया कि सारी प्रजा उन्हें पहले के सभी राजाओं से बढ़कर मानने लगी ॥ 2 ॥ विद्वानों का कहना है कि संसार में दो ही तो ऐसे हुए हैं जिन्होंने कर्तव्य-पालन करने वाले लोगों को उनके परिश्रम का ठीक-ठीक पुरस्कार दिया है, एक तो हैं इन्द्र, जिन्होंने समय पर वर्षा करके किसानों का परिश्रम सफल किया, और दूसरे हैं मनुवंशी दशरथ, जिन्होंने सुकर्मियों को धन देकर उनका पालन-पोषण किया ॥ 3 ॥ दशरथ, देवताओं के समान तेजस्वी थे और उनका मन भी सब प्रकार से शान्त था। हाथ में राज्य लेते ही उनका देश धन-धान्य से भर गया, रोग भी उनके राज्य की सीमा में पैर न रख सके, फिर शत्रुओं के आक्रमण की तो सँभावना ही कहाँ थी ॥ 4 ॥ जैसे दसों दिशाओं को जीत लेने वाले रघुने और उनके पीछे उनके पुत्र अजने पृथ्वी की शोभा बढ़ाई थी, उसी प्रकार उन्हीं दोनों के समान शक्तिशाली महापराक्रमी दशरथ को पाकर पृथ्वी की शोभा न बढ़ पाई हो, ऐसी बात नहीं है ॥ 4 ॥ जैसे यम सबको एक समान समझते हैं वैसे ही वे भी सबमें एक-सा व्यवहार करते थे। जैसे कुबेर धन बरसाते हैं वैसे ही वे भी धन बाँटते थे। जैसे वरुण दुष्टों को दण्ड देते हैं वैसे ही वे भी दुष्टों को दण्ड देते थे और सूर्य का बड़ा तेज है वैसे ही उनका भी तेज प्रचण्ड था ॥ 6 ॥ सांसारिक ऐश्वर्य बटोरने में वे ऐसे लगे हुए थे कि आखेट का व्यसन, जूए का खेल, चन्द्रमा की परछाहीं पड़ी हुई मदिरा और नवयौवना पत्नी, कोई भी उन्हें न लुभा सकी ॥ 7 ॥ वे इतने मनस्वी थे कि इन्द्र तक के आगे वे कभी नहीं गिड़गिड़ाए, हँसी में भी उन्होंने झूठ नहीं बोला और क्रोधित होने की तो बात ही दूर है, उन्होंने

न कृपणा प्रभवत्यपि वासवे न वितथा परिहासकथास्वपि ।
 न च सपत्नजनेष्वपि तेन वागपरुषा परुषाक्षरमीरिता ॥ 8 ॥
 उदयमस्तमयं च रघूद्वहादुभयमानशिशरे वसुधाधिपाः ।
 स हि निदेशमलङ्घयतामभूत्सुहृदयो हृदयः प्रतिगर्जताम् ॥ 9 ॥
 अजयदेकरथेन स मेदिनीमुदधिनेमिमधिज्यशरासनः ।
 जयमघोषयदस्य तु केवलं गजवती जवतीद्वहया चमूः ॥ 10 ॥
 अवनिमेकरथेन वरूधिना जितवतः किल तस्य धनुभृतः ।
 विजयदुन्दुभितां ययुरर्णवा घनरवा नरवाहनसंपदः ॥ 11 ॥
 शमितपक्षबलः शतकोटिना शिखरिणां कुलिशेन पुरंदरः ।
 सशरवृष्टिमुचा धनुषा द्विषां स्वनवता नवतामरसाननः ॥ 12 ॥
 चरणयोर्नखारागसमृद्धिभिर्मुकुटरत्नमरीचिभिरस्पृशन् ।
 नृपतयः शतशो मरुतो यथा शतमखं तमखण्डितपौरुषम् ॥ 13 ॥
 निववृते स महार्णवरोधसः सचिवकारितबालसुताञ्जलीन् ।
 समनुकम्प्य सपत्नपरिग्रहाननलकानलकानवमां पुरीम् ॥ 14 ॥
 उपगतोऽपि च मण्डलनाभितामनुदितान्यसितातपवारणः ।
 श्रियमवेक्ष्य स रन्ध्रचलामभूदनलसोऽनलसोमसमद्युतिः ॥ 15 ॥

अपने शत्रु को भी कोई कठोर वचन नहीं कहा ॥ 8 ॥ रघुकुल में श्रेष्ठ उन दशरथ के हाथों न जाने कितने राजा बने और न जाने कितने बिगड़े क्योंकि जो उनका कहा मान लेते थे उन्हें तो वे दया करके छोड़ देते थे पर जो ऐंठकर उनसे टक्कर लेने आगे आते थे उन्हें वे मिटाकर ही छोड़ते थे ॥ 9 ॥ उन्होंने केवल एक धनुष लेकर और एक रथपर चढ़कर अकेले ही समुद्रतक फैली हुई सारी पृथ्वी जीत ली थी, वेग से चलने वाले हाथी-घोड़ों की उनकी सेना तो केवल जय-जयकार-भर किया करती थी ॥ 10 ॥ जिस समय अकेले सुरक्षित रथपर चढ़े कुबेरके समान सम्पत्तिशाली धनुषधारी दशरथ यह पृथ्वी जीतते चलते थे उस समय बादल के समान गरजता हुआ समुद्र ही उनकी विजय-दुंदुभी बजाता रहता था ॥ 11 ॥ जैसे इन्द्र ने अपने सौ दौत वाले वज्र से पर्वतों के पंख काट गिराए थे वैसे ही नये कमल के समान सुन्दर मुखवाले दशरथ ने अपने बाण बरसाने वाले धनुष से शत्रुओं को मार विछाया था ॥ 12 ॥ जैसे देवता लोग इन्द्र के चरण छूते हैं वैसे ही सैकड़ों राजाओं ने पराक्रमी दशरथ के चरणों पर अपने वे मुकुट वाले सिर ला धरे जिनके मणि दशरथ के पैरों के नखों की ललाई से दमक दमक उठते थे ॥ 13 ॥ उन्होंने जिन-जिन देशों के राजाओं को मार डाला था उनकी रानियाँ अपने पुत्रों को ले लेकर राजा दशरथ के आगे आ गईं और उन देशों के मंत्रियों ने उन राजपुत्रों को दशरथ के आगे हाथ जोड़कर ला खड़ा किया । शत्रुओं की उन खुले केशवाली रानियों के साथ दशरथ ने बड़ी दयाका व्यवहार किया और उस महासमुद्र के तट से वे अपनी उस अयोध्या राजधानी लौट आए जो कुबेर की राजधानी अलका से किसी प्रकार भी कम नहीं थी ॥ 14 ॥ चारों ओर के राजाओं का मंडल उनके हाथ आ गया जिससे वे अग्नि और चन्द्रमा के समान बड़े तेजस्वी लगने लगे । उनका प्रताप इतना बढ़ गया था कि कोई भी दूसरा राजा उनके आगे श्वेत छत्र नहीं लगा सकता था । पर चक्रवर्ती हो जाने पर भी आलस्यको वे अपने पास नहीं फटकने देते थे क्योंकि वे जानते थे कि जहाँ एक भी दोष आया कि लक्ष्मी हमें छोड़कर भागी ॥ 15

तमपहाय ककुत्स्थकुलोद्भवं पुरुषमात्मभवं च पतिव्रता ।
 नृपतिमन्यमसेवत देवता सकमला कमलाधवमर्धिषु ॥ 16 ॥
 तमलभन्त्र पतिं पतिदेवताः शिखरिणाभिव सागरमापगाः ।
 मगधकोसलकेकयशासिनां दुहितरोऽहितरोपितमार्गणम् ॥ 17 ॥
 प्रियतमाभिरसौ तिसृभिर्बभौ तिसृभिरेव भुवं सह शक्तिभिः ।
 उपगतो विनिनीषरिव प्रजा हरिहयोऽरिहयोगविचक्षणः ॥ 18 ॥
 स किल संयुगमूर्ध्नि सहायतां मघवतः प्रतिपद्य महारथः ।
 स्वभुजवीर्यमगापयदुच्छ्रितं सुरवधूरवधुतभयाः शरैः ॥ 19 ॥
 क्रतुषु तेन विसर्जितमौलिना भुजसमाहृतदिग्वसुना कृताः ।
 कनकयूपसमुच्छयशोभिनो वितमसा तमसा सरयूतटाः ॥ 20 ॥
 अजिनदण्डभृतं कुशमेखलां यतगिरं मृगशृङ्गपरिग्रहाम ।
 अधिवसंस्तनुमध्वरदीक्षितामसमभासमभासयदीश्वरः ॥ 21 ॥
 अवभृथप्रयतो नियतेन्द्रियः सुरसमाजसमाक्रमणोचितः ।
 नभयति स्म स केवलमुन्नतं वनमुचे नमुचेररये शिरः ॥ 22 ॥
 असकृदेकरथेन तरस्विना हरिहयाग्रसरेण धनुर्भृता ।
 दिनकराभिसुखा रणरेणवो रुरुधिरे रुधिरेण सुरद्विषाम् ॥ 23 ॥

॥ फिर भगवान् विष्णु और दशरथ को छोड़कर दूसरा कोई और राजा ही कौन था, जिसके यहाँ, हाथ में कमल धारण करने वाली पतिव्रता लक्ष्मी स्वयं जा रहती ॥ 16 ॥ जैसे पर्वतों से निकलने वाली नदियाँ समुद्र को पा लेती हैं वैसे ही कोसल, मगध और कैकय देश के राजाओं की (कौसल्या, सुमित्रा और कैकेयी नाम की) कन्याओं ने शत्रुओं पर बाण बरसाने वाले दशरथ जी को पति के रूप में पा लिया ॥ 17 ॥ शत्रुओं का नाश करने वाले दशरथ, अपनी तीनों रानियों के साथ ऐसे जान पड़ते थे मानो पृथ्वी पर राज्य करने के लिये स्वयं इन्द्र ही (प्रभाव, उत्साह और मन्त्र नाम की) अपनी तीनों शक्तियों के साथ अवतार लिये चले आए हों ॥ 18 ॥ कहा जाता है कि महारथी दशरथ ने युद्ध में इन्द्र की सहायता करके और अपने बाणों से उनके शत्रुओं का नाश करके देवताओं की स्त्रियों का सारा डर ऐसा दूर कर डाला था कि वे सब बैठी सदा दशरथ के बाहुबल के गीत गाया करती थीं ॥ 19 ॥ उन्होंने अपने बाहुबल से चारों ओर का धन ला लाकर इकट्ठा कर लिया था फिर भी उनमें नाम मात्रको भी तामसी भाव नहीं था। उन्हीं राजा दशरथ ने अपना मुकुट उतारकर अश्वमेध यज्ञ करते समय तमसा और सरयू के किनारे-किनारे सोने के अनेक यज्ञ-स्तम्भ खड़े कर दिए थे ॥ 20 ॥ जब वे मृगछाला पहनकर, हाथ में दण्ड लेकर, कुशा की तगड़ी बाँधकर चुपचाप हरिण की सींग लिए यज्ञ की दीक्षा लेकर बैठे, उस समय भगवान् अष्टमूर्ति महादेव उनके शरीर में आ बैठे जिससे उनकी शोभा और भी अधिक बढ़ गई ॥ 21 ॥ यज्ञ समाप्त हो चुकने पर जब वे स्नान करके पवित्र हुए तब देवताओं के साथ बैठने-योग्य संयमी राजा दशरथ ने केवल नमुचि राक्षस के शत्रु तथा जल बरसाने वाले एक इन्द्र के आगे ही अपना ऊँचा

1. कौसल्या (या कौशल्या) का नाम था अपराजिता, सुमित्रा का नाम था गुणवती और कैकेयी का नाम था रूपमालिनी ।

अथ समाववृत्ते कुसुमैर्नवैस्तमिव सेवितुमेकनराधिपम् ।
 यमकुबेरजलेश्वरवज्रिणां समधुरं मधुरञ्चितविक्रमम् ॥ 24 ॥
 जिगमिषुर्धनदाध्युषितां दिशं रथयुजा परिवर्तितवाहनः ।
 दिनमुखानि रविर्हिमनिग्रहैर्विमलयन्मलयं नगमत्यजत् ॥ 25 ॥
 कुसुमजन्म ततो नवपल्लवास्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम् ।
 इति यथाक्रममाविरभून्मधुर्दुर्मवतीमवतीर्य वनस्थलीम् ॥ 26 ॥
 नयगुणोपचितामिव भूपतेः सदुपकारफलां श्रियमर्थिनः ।
 अभिययुः सरसो मधुसंभृतां कमलिनीमलिनीरपतत्त्रिणः ॥ 27 ॥
 कुसुममेव न केवलमार्तव नवमशोकतरोः स्मरदीपनम् ।
 किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिताश्रवणार्पितः ॥ 28 ॥
 विरचिता मधुनोपवनश्रियामभिनवा इव पत्रविशेषकाः ।
 मधलिहां मधुदानविशारदाः कुरबका रवकारणतां ययुः ॥ 29 ॥
 सुवदनावदनासवसंभृतस्तदनुवादिगुणः कुसुमोद्गमः ।
 मधुकरैरकरोन्मधुलो लुपैर्बकुलमाकुलमायतपङ्क्तिभिः ॥ 30 ॥
 उपहितं शिशिरापगमश्रिया मुकुलजालमशोभत किंशुके ।
 प्रणयिनीव नखाक्षतमण्डनं प्रमदया मदयार्पितलज्जया ॥ 31 ॥

मस्तक झुकाया ॥ 22 ॥ अकेले रथपर चढ़कर युद्ध करने वाले पराक्रमी, धनुर्धर और युद्ध में इन्द्र से भी आगे चलने वाले दशरथ ने कई बार सूर्य पर छाई हुई युद्ध की धूल राक्षसों के रक्त से सींच-सींचकर दवा डाली ॥ 23 ॥ यम, कुबेर, वरुण और इन्द्र के समान पराक्रमी उन एकच्छत्र राजा का अभिनन्दन करने के लिये वसन्त ऋतु भी नये-नये फूलों की भेंट लेकर वहाँ आ पहुँची ॥ 24 ॥ सूर्य भी उस समय उत्तर की ओर घूम जाना चाहते थे इसलिये उनके सारथी अरुण ने घोड़ों की रास उधर ही मोड़ दी। सर्दी दूर करके, प्रातःकाल का पाला हटाकर मलय पर्वत को और भी अधिक चमकाते हुए सूर्य ने उससे बिदा ली ॥ 25 ॥ पहले फूल खिले, फिर नई कोंपलें फूटीं, फिर भौरें गूँजने लगे और तब कोयल की कूक सुनाई पड़ने लगी। इस क्रम से वसन्त ने धीरे-धीरे वनस्थली में अपने पैर आगे बढ़ाये ॥ 26 ॥ राजा दशरथ की चतुर नीति से उनके पास जो बहुत धन इकट्ठा हो गया था उस धन से वे अपनी प्रजा का बहुत उपकार करते रहते थे, इसलिये जैसे उनकी लक्ष्मी के आगे बहुत से मँगते हाथ फैलाया करते थे वैसे ही वसन्त की शोभा से लदी हुई तालाब की कमलिनी के आस-पास भौरें और हंस भी मँडराने लगे ॥ 27 ॥ उन दिनों वसन्त में फूले हुए अशोक के फूलों को देखकर ही कामोद्दीपन नहीं होता था वरन् कामियों को मतवाला बनाने वाले जो कोमल कोपलों के गुच्छे स्त्रियों ने अपने कानोंपर उठा धरे थे उन्हें देखकर भी मन हाथ से निकला पड़ता था ॥ 28 ॥ वन में खड़े हुए कुरबक के पेड़ ऐसे जान पड़ते थे मानो वसन्त में वनश्री के शरीर पर बेल बूटे चीतकर उसका शृङ्गार कर दिया गया हो। उन पेड़ों से इतना मधु बहा पड़ रहा था कि भौरें मस्त होकर उन्हीं पर गुनगुनाए जा रहे थे ॥ 29 ॥ बकुल के जो वृक्ष सुन्दरी स्त्रियों के मुख की मदिरा के छींटे से फूल उठे थे और जिनमें उन्हीं स्त्रियों के समान गुण भी भरे थे, उन्हें झुण्ड में उड़ते हुए मधु के लोभी भौरों ने बहुत झकझोर डाला ॥ 30 ॥ वसन्त के आने से पलाश में फूट निकली हुई कलियाँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो किसी कामिनी ने लाज छोड़कर काम के

वणगुरुप्रमदाधारदुःसहं जघननिर्विषयीकृतमेखलम् ।
 न खलु तावदशेषमपोहितुं रविरलं विरलं कृतवान्हिमम् ॥ 32 ॥
 अभिनयान्परिचेतुमिवोद्यता मलयमारुतकम्पितपल्लवा ।
 अमदयत्सहकारलता मनः सकलिका कलिकामजितामपि ॥ 33 ॥
 प्रथममन्यभृताभिरुदीरिताः प्रविरला इव मुग्धवधूकथाः ।
 सुरभिगन्धिषु शुश्रुविरे गिरः कुसुमितासु मिता वनराजिषु ॥ 34 ॥
 श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो बभूवुः ।
 उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः ॥ 35 ॥
 ललितविभ्रमबन्धविचक्षणं सुरभिगन्धापराजितकेसरम् ।
 पतिषु निर्विविशुर्मधुमङ्गनाः स्मरसखं रसखण्डनवर्जितम् ॥ 36 ॥
 शुशुभिरे स्मितचारुतरानना स्त्रिय इव श्लथशिञ्जितमेखलाः ।
 विकचतामरसा गृहदीर्घिका मदकलोदकलोलविहंगमाः ॥ 37 ॥
 उपययौ तनुतां मधुखण्डिता हिमकरोदयपाण्डुमुखच्छविः ।
 सदृशमिष्टसमागमनिवृत्तिं वनितयानितया रजनीवधूः ॥ 38 ॥
 अपतुषारतया विशदप्रभैः सुरतसङ्गपरिश्रमनोदिभिः ।
 कुसुमचापमतेजयदंशुभिर्हिमकरो मकरोर्जितकेतनम् ॥ 39 ॥

आवेश में अपने प्रियतम के शरीर पर अनेक नख-क्षत कर डाले हों ॥ 31 ॥ अभी वह ठंड भली प्रकार दूर नहीं हुई थी जिसमें पतियों के दाँतों से घायल स्त्रियों के ओठ दुखा करते हैं और स्त्रियाँ अपनी कमर की तगड़ी भी ठण्डी होने के कारण उतार डाला करती हैं। पर हाँ, सूर्य ने कुछ जाड़ा अवश्य कम कर दिया था ॥ 32 ॥ नये बौरे हुए आम के वृक्षों की डालियाँ मलय के वायु से ऐसी झूम उठीं मानो उन्होंने अभिनय-कला सीखनी प्रारम्भ कर दी हो। उन्हें देख देखकर तो रागद्वेष को जीतने वाले योगियों तक का मन भी मचला पड़ा रहा था ॥ 33 ॥ जिस समय मनहर सुगन्ध वाली वन की लताओं पर बैठकर कोयल ने कूक सुनाई तो ऐसा जान पड़ा मानो कहीं कोई मुग्धा नायिका ही कहीं बोल उठी हो ॥ 34 ॥ वन के छोरतक बढ़ी हुई लताएँ ऐसी सजीव-सी जान पड़ती थीं मानो कानों को सुख देनेवाली भाँरों की गुञ्जार ही उनके गीत हों, खिले हुए कोमल फूल ही उनकी हँसी के दाँत हों और वायु से हिली हुई शाखाओं वाले हाथों से ही वे अनेक प्रकार के हाव-भाव दिखा रही हों ॥ 35 ॥ चितवन आदि मधुर हाव भाव कराने को उकसाने वाले और बकुल को भी अपनी गन्ध से हराने वाले कामदेव के साथी मद्यको स्त्रियाँ अपने पति के प्रेम में बिना बाधा दिए ही पीए डाल रही थीं ॥ 36 ॥ लोगों के घरों के भीतर बनी हुई बावरियों में जो कमल खिले हुए थे और वहाँ मधुर शब्द करते हुए जो जल-पक्षी तैर रहे थे उनसे वे बावलियाँ ऐसी सुन्दर जान पड़ती थीं मानों उनमें मुसकराती हुई सुन्दर मुखवाली और ढीली होने के कारण बजती चलती तगड़ियों (करधनियों)-वाली स्त्रियाँ विहार कर रही हों ॥ 37 ॥ जैसे अपने प्रियतम से समागम न होने के कारण खंडिता नायिका सूखती जाती है वैसे ही रात्रि-रूपी नायिका भी वसन्त के आने से छोटी होती चली जा रही थी और उसका चन्द्रमा वाला मुख भी पीला पड़ता जा रहा था ॥ 38 ॥ पाला दूर हो जाने से चन्द्रमा निर्मल हो गया। संभोग की थकावट को दूर करने वाली उसकी ठंडी किरणों से

हुतहुताशनदीप्तिवनश्रियः प्रतिनिधिः कनकाभरणस्य यत् ।
 युवतयः कुसुमं दधुराहितं तदलके दलकेसरपेशलम् ॥ 40 ॥
 अलिभिरञ्जनबिन्दुमनोहरैः कुसुमपङ्क्तिनिपातिभिरङ्कितः ।
 न खलु शोभयति स्म वनस्थली न तिलकस्तिलकः प्रमदामिव ॥ 41 ॥
 अमदयन्मधुगन्धसनाथया किसलयाधारसंगतया मनः ।
 कुसुमसंभृतया नवमल्लिका स्मितरुचा तरुचारुविलासिनी ॥ 42 ॥
 अरुणारागनिषेधिभिरंशुकैः श्रवणलब्धपदैश्च यवांकुरैः ।
 परभृताविरुतैश्च विलासिनः स्मरबलैरबलैकरसाः कृताः ॥ 43 ॥
 उपचितावयवा शुचिभिः कणैरलिकदम्बकयोगमुपेशुषी ।
 सदृशकान्तिरलक्ष्यत मञ्जरी तिलकजालकजालकमोक्तिकैः ॥ 44 ॥
 ध्वजपटं मदनस्य धनुर्भृतश्छविकरं मुखाचूर्णमृतुश्रियः ।
 कुसुमकेसररेणुमल्लिङ्गजाः सपवनोपवनोत्थितमन्वयुः ॥ 45 ॥
 अनुभवन्नवदोलमृतूत्सवं पटुरपि प्रियकण्ठजिघृक्षया ।
 अनयदासनरञ्जुपरिग्रहे भुजलतां जलतामबलाजनः ॥ 46 ॥
 त्यजत मानमलं बत विग्रहैर्न पुनरेति गतं चतुरं वयः ।
 परभृताभिरितीव निवेदिते स्मरमते रमते स्म वधूजनः ॥ 47 ॥

मानो कामदेव के फूलों के धनुष को और भी अधिक बल मिल गया हो ॥ 39 ॥ हवन की अग्नि के समान चमकते हुए कनैर के फूल वनलक्ष्मी के कानों के कर्णफूल-जैसे जान पड़ते थे। अपने प्रियतमों के हाथों से जूड़ों में खोंसे हुए वे सुन्दर पंखड़ी और परागवाले फूल स्त्रियों के केशों में बहुत ही फब रहे थे ॥ 40 ॥ तिलक के वृक्ष ने भी वनस्थली की कम शोभा नहीं बढ़ाई। जैसे किसी युवती के शृङ्गार के लिये उसका मुँह चीता जाता है वैसे ही उस तिलक वृक्ष के फूलों पर मँडराते हुए काजल की बुँदियों के समान सुन्दर भौर ऐसे जान पड़ते थे मानो वनस्थलियों का मुख भी चीत दिया गया हो ॥ 41 ॥ वृक्षों की सुन्दरी नायिका नवमल्लिका लता भी वहाँ विद्यमान अपने मकरन्द-रूपी मद्यकी गन्ध से भरे लाल-लाल-पत्तों के ओठों पर फूलों की मुसकान लेकर देखने वालों को पागल बनाए डाल रही थी ॥ 42 ॥ प्रातःकाल की ललाई से भी अधिक लाल वस्त्रों ने, कान पर रखे हुए जौके अंकुरों ने और कोयलकी कूकों की सेना चलने वाले कामदेव ने ऐसा जाल ला बिछाया कि सभी विलासी पुरुष, युवती स्त्रियों के प्रेम में अपनी सारी सुध-बुध खो बैठे ॥ 43 ॥ तिलक के फूलों के जो गुच्छे उजले पराग से भरे बढ़ चुके थे, उनपर मँडराते हुए भौरों के झुण्ड के कारण वे ऐसे सुन्दर लगने लगे जैसे किसी स्त्री ने अपने सिरपर मोतियों की जाली उठा पहनी हो ॥ 44 ॥ उपवन के फूलों का जो पराग वायु ने उड़ाया और भौरों के झुण्ड भी जिसके पीछे-पीछे उड़ चले, वह उड़ता हुआ पराग ऐसा जान पड़ता था मानो वह धनुषधारी कामदेव का झण्डा हो या वसंतश्री के मुख पर लगाने का शृङ्गार-चूर्ण हो ॥ 45 ॥ जो स्त्रियाँ वसन्तोत्सव में नये झूलों पर सावधान होकर झूल रही थीं, वे भी अपने हाथ से पकड़ी हुई रस्सी को इसलिये ढीला छोड़े दे रही थीं कि हाथ छूटने पर हमारे प्रियतम हमें थाम ही लेंगे और इस प्रकार हम उनके गले से लग ही जायेंगी ॥ 46 ॥ उन दिनों कोयल की कूक मानो कामदेव का यह आदेश सुना रही हो कि अरी

अथ यथासुखमार्तवमुत्सवं समनुभूय विलासवतीसखाः ।
 नरपतिश्चक्रमे मृगयारतिं स मधुमन्मधुमन्मधसन्निभः ॥ 48 ॥
 परिचयं चललक्ष्यनिपातने भयरुणोश्च तदिङ्कितबोधनम् ।
 श्रमजयात्प्रगुणां च करोत्यसौ तनुमतोऽनुमतः सचिवैर्ययौ ॥ 49 ॥
 मृगवनोपगमक्षमवेषाभृद्विपुलकण्ठनिषाक्तशरासनः ।
 गगनमक्षखुरोद्धतरेणुभिन्सविता स वितानमिवाकरोत् ॥ 50 ॥
 ग्रथितमौलिरसौ वनमालया तरुपलाशसवर्णतनुच्छदः ।
 तुरगवल्गनचञ्चलकुण्डलो विरुरुचे रुरुचेष्टितभूमिषु ॥ 51 ॥
 तनुलताविनिवेशितविग्रहा भ्रमरसंक्रमिते क्षणवृत्तयः ।
 ददृशुरध्वनिं तं वनदेवता सुनयनं नयनन्दितकोसलम् ॥ 52 ॥
 श्वगणिवागुरिकैः प्रथमास्थितं व्यपगतानलदस्यु विवेश सः ।
 स्थिरतुरंगमभूमि निपानवन्मृगवयोगवयोपचितं वनम् ॥ 53 ॥
 अथ नभस्य इव त्रिदशायुधं कनकपिङ्गतडिङ्गसंयुतम् ।
 धानुराधिन्यमनाधिरुपाददे नरवरो रवरोषितकेसरी ॥ 54 ॥
 तस्य स्तनप्रणयिभिर्मुहुरेणशावैव्यहिन्यमानहरिणीगमनं पुरस्तात् ।
 आविर्बभूव कुशगर्भमुखं मृगाणां यूथं तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम् ॥ 55 ॥

स्त्रियों! रूठना छोड़ दो, लड़ाई-झगड़ा बन्द कर दो क्योंकि बीता हुआ यौवन फिर कभी हाथ नहीं आता ।
 यह सुन-सुनकर सभी स्त्रियों अपने पतियों के साथ फिर रमण करने में जा जुटीं ॥ 47 ॥ विष्णु के समान
 पराक्रमी, वसंत ऋतु के समान प्रसन्न और कामदेव के समान सुन्दर दशरथ ने भी जब सुन्दरी स्त्रियों
 के साथ वसंत ऋतु का भरपूर आनन्द ले लिया तब उनके मन में आखेट करने की इच्छा जाग उठी ॥
 48 ॥ आखेट से बड़े लाभ भी होते हैं। पहली बात तो यह है कि उससे चलते हुए लक्ष्य को बेधने का
 अभ्यास हो जाता है। फिर उससे जीवों के भय और क्रोध आदि भावों की पहचान हो जाती है और परिश्रम
 करने से शरीर भी भली प्रकार गठ जाता है। इसलिये मंत्रियों से सम्मति लेकर वे झट आखेट के लिये
 निकल पड़े ॥ 49 ॥ जब अहेरी का वेष बनाकर, अपने ऊँचे कन्धे पर धनुष टाँगे, तेजस्वी राजा दशरथ
 घोड़े पर चढ़कर चले तब उनके घोड़ों की टापों से इतनी धूल उठी कि आकाश में चँदोवा-सा आ तना
 ॥ 50 ॥ उनके केशों में वनमाला गुँथी हुई थी, वे वृक्ष के पत्तों के समान गहरे रंग का कवच पहने हुए
 थे और वेग से घोड़े के चलने के कारण उनके कानों के कुण्डल भी हिलते जा रहे थे। इस वेष में
 चलते-चलते वे उस जंगल में जा पहुँचे जहाँ रुरु जाति के हरिण बहुत घूमा करते हैं ॥ 51 ॥ कोमल
 लताओं का रूप धारण करके भौरों की आँखों से वनदेवता भी उन सुन्दर नेत्रवाले और कोसल की प्रजा
 को सदा सुख पहुँचाने वाले राजा दशरथ को देखने के लिए वहाँ आ पहुँचे ॥ 52 ॥ तब वे उस जंगल
 में जा पहुँचे जहाँ पहले से ही जाल और शिकारी कुत्तों के साथ उनके सेवक पहुँच चुके थे। वहाँ न तो
 अग्नि का ही भय था न चोरों का ही। वहाँ की पृथ्वी भी घोड़ों के लिये पक्की थी। वहाँ बहुत से तालाब
 थे जिनके चारों ओर बहुत से हरिण, पक्षी और बनैली नील गाएँ घूमा करती थीं ॥ 53 ॥ वहाँ पहुँचकर
 जब सुन्दर स्वस्थ राजा ने अपना वह धनुष उठा चढ़ाया जिसकी टंकार सुनकर सिंह भी गरज उठे तब

तत्प्रार्थितं जवनवाजिगतेन राज्ञा तूणीमुखोद्धतशरेण विशीर्णपङ्क्तिः ।
 श्यामीचकार वनमाकुलदृष्टिपातैर्वातेरितोत्पलदलप्रकरैरिवाद्रैः ॥ 56 ॥
 लक्ष्मीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम् ।
 आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी बाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसंजहार ॥ 57 ॥
 तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोः कर्णान्तमेत्य बिभ्रिदे निबिडोऽपिमुष्टिः ।
 त्रासातिमात्रचटुलैः स्मरतः सुनेत्रैः प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि ॥ 58 ॥
 उत्तस्थुषः सपदि पल्लवपङ्कमध्यान्मुस्ताप्ररोहकवलावयवानुकीर्णम् ।
 जग्राह स हतवराहकुलस्य मार्गं सुव्यक्तमार्द्रपदपङ्क्तिभिरायताभिः ॥ 59 ॥
 तं वाहनादवनतोत्तरकायमीषद्विध्यन्तमुद्धतसटाः प्रतिहन्तुमीषुः ।
 नात्मानमस्य विविदुः सहसा वराहा वृक्षेषु विद्धमिषुभिर्जघनाश्रयेषु ॥ 60 ॥
 तेनाभिघातभ्रसस्य विकृष्य पत्नी वन्यस्य नेत्रविवरे महिषस्य मुक्तः ।
 निर्भिद्य विग्रहमशोणितलिप्तपुङ्खस्तं पातयां प्रथममास पपात पश्चात् ॥ 61 ॥
 प्रायो विषाणपरिमोक्षलघूतमाङ्गान्खड्गान्श्चकार नृपतिर्निशितैः क्षुरप्रैः ।
 शृङ्गं स दृप्तविनयाधिकृतः परेषामत्युच्छ्रितं न ममृषे न तु दीर्घमायुः ॥ 62 ॥

वे उस भादों के महीने के समान सुन्दर लग रहे थे जिसमें इन्द्रधनुष निकला हुआ हो और जिसमें सोने के रंग की पीली विजली की डोरी बँधी हो ॥ 54 ॥ उन्होंने देखा कि आगे-आगे हरिणों का एक झुण्ड चला जा रहा है जिसमें बहुत सी ऐसी भी हरिणियाँ हैं जो अपने उन छीनों के कारण रुकती चल रही हैं जो कुशा चबाते-चबाते अपनी माँ के स्तनों से दूध पीने के लिये बीच-बीच में खड़े ही रहते हैं। उस झुण्ड के आगे आगे एक गर्वीला काला हरिण भी शान से बढ़ा चला जा रहा था ॥ 55 ॥ राजा ने ज्यों ही अपने वेगगामी घोड़ों पर चढ़कर अपने तूणीर में से बाण निकालकर उनका पीछा किया कि वह झुण्ड तितर-बितर हो गया और उनकी घबराई हुई आँखों से भरा हुआ वह सारा जंगल ऐसा लगने लगा मानो वायु ने नीले कमलों की पंखड़ियाँ वहाँ ला बिखेरी हों ॥ 56 ॥ इन्द्र के समान शक्तिशाली, चतुर, धनुषधारी राजा दशरथ ने देखा कि वे जिस हरिण को मारना चाहते थे उसकी हरिणी बीच में आ खड़ी हुई है। वे स्वयं भी प्रेमी थे। अपने हरिण के लिये हरिणी का यह प्रेम देखकर उनका हृदय भी दया से भर आया और उन्होंने कान तक खींचा हुआ भी अपना बाण नीचे उतार लिया ॥ 57 ॥ वे दूसरे हरिणों पर भी बाण चलाना चाहते थे और उन्होंने बाण की चुटकी कान-तक खींच भी ली थी पर जब उन्होंने उन हरिणों की डरी हुई आँखें देखीं तो उन्हें अपनी युवती प्रियतमा के चंचल नेत्रों का स्मरण हो आया और उनके हाथ ढीले पड़ गए ॥ 58 ॥ उन्हें छोड़कर दशरथ उधर घूम पड़े जिधर आधे बचे हुए मोथ की घास के मुड़े स्थान-स्थान पर बिखरे पड़े थे और पैर की गीली छापों की पाँत को देखकर जान पड़ता था कि तालों के कीचड़ से निकल-निकलकर बनैले सूअरों का झुण्ड उधर को निकल भागा है ॥ 59 ॥ ज्यों ही उन्होंने घोड़े पर चढ़े हुए अपने शरीर को आगे झुकाकर उन सूअरों पर बाण चलाए त्यों ही वे भी अपने कड़े बाल खड़े करके राजा दशरथ पर टूट पड़े किन्तु उन्होंने तत्काल ऐसे कसकर बाण मारे कि सूअरों को जान ही नहीं पड़ा कि वे बाणों के साथ उन पेड़ों में कब चिपक गए जिनके सहारे वे खड़े थे ॥ 60 ॥ इतने में ही उन्होंने देखा कि एक जंगली भैंसा उनकी ओर झपटा चला आ रहा है। उन्होंने उसकी

व्याघ्रानभीरभिमुखोत्पतितान्गुहाभ्यः फुल्लासनाग्रविटपानिव वायुरुष्णान् ।
 शिक्षाविशेषलघुहस्ततया निमेषात्तूणीचकार शरपूरितवक्त्ररन्धान् ॥ 63 ॥
 निर्धातोयैः कुञ्जलीनाञ्जिघांसुर्ज्यानिघोषैः क्षोभयामास सिंहान् ।
 नूनं तेषामभ्यसूयापरोऽभूद्दीयोदग्रे राजशब्दे मृगेषु ॥ 64 ॥
 तान्हत्वा गजकुलबद्धतीव्रवैरान्काकुत्स्थः कुटिलनखाग्रलग्नमुक्तान् ।
 आत्मानं रणकृतकर्मणां गजानामानृण्यं गतमिव मार्गणैरमैस्त ॥ 65 ॥
 चमरान्परितः प्रवर्तिताश्वः क्वचिदाकर्णविकृष्टभल्लवर्ष्णी ।
 नृपतीनिव तान्वियोज्य सद्यः सितबालव्यजनैर्जगाम शान्तिम् ॥ 66 ॥
 अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं न स रुचिरकलापं बाणलक्ष्मीचकार ।
 सदपि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णं रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः ॥ 67 ॥
 तस्य कर्कशविहारसंभवं स्वेदमाननविलग्नजालकम् ।
 आचचाम सत्तुषारशीकरो भिन्नपल्लवपुटो वनानिलः ॥ 68 ॥
 इति विस्मृतान्यकरणीयमाल्मनः सचिवावलम्बितधुरं धराधिपम् ।
 परिवृद्धरागमनुबन्धसेवया मृगया जहार चतुरेव कामिनी ॥ 69 ॥

आँख में ऐसा बाण मारा कि वह भैसे के शरीर से इतनी फुर्ती से पार हो गया कि बाण के पंख में तनिक-सा भी रक्त नहीं लग पाया और बड़ी बात यह हुई कि बाण तो देर से गिरा, भैंसा पहले ही धरती पर जा लेटा ॥ 61 ॥ इतने में बारहसिंहों का झुण्ड दिखाई दिया। राजा दशरथ ने अर्द्धचन्द्र बाणों से उनके सींग काट काटकर उनके सिर का बोझ हल्का कर दिया क्योंकि वे सिर उठाकर चलने वालों का ही दमन किया करते थे इसलिये उन्होंने ऐंठकर चलने के साधन सींग ही काट डाले। यद्यपि राजा को उनके प्राणों से कोई बैर नहीं था ॥ 62 ॥ जब सिंह अपनी गुफाओं में से निकल निकलकर उनकी ओर झपटे तब निर्भय राजा दशरथ ने इतनी शीघ्रता से उन पर बाण चलाए कि उन सिंहों के खुले हुए मुँह ही उनके बाणों के तूणीर बन गए और वे ऐसे जान पड़ने लगे जैसे आँधी से उखड़े हुए फूले आसन के पेड़ की फुनगियाँ हों ॥ 63 ॥ झाड़ियों में लेटे हुए सिंहों को मारने के लिये ज्योंही उन्होंने आँधी के समान भयंकर शब्द करने वाली अपने धनुष की डोरी से टंकार की त्योंही उसे सुनते ही सिंह भड़क उठे। बात यह थी कि राजा दशरथ को उन अत्यंत शक्तिशाली सिंहों से इसी बात की चिढ़ थी कि वे जीवों के राजा क्यों कहलाते हैं ॥ 64 ॥ बस; उन्होंने हाथियों से बैर रखने वाले उन सब सिंहों को एक-एक करके मार डाला जिनके नोकीले अगले पंजों में अब तक गज-मुक्ताएँ उलझी हुई थीं। इस प्रकार ककुत्स्थ-वंशी राजा दशरथ ने मानो अपने बाणों से उन हाथियों का ऋण चुका दिया जो युद्ध में उनकी सेना में काम कर चुके थे ॥ 65 ॥ चामर मृगों के चारों ओर अपना घोड़ा दौड़ाते हुए भाले की नोक वाले बाण बरसाकर उन्होंने उन मृगों की चँवर वाली पूँछें काट गिराईं। इससे दशरथ को ऐसा सन्तोष हुआ मानो सब चँवरधारी राजाओं के चँवर ही उन्होंने छीन धरे हों ॥ 66 ॥ कभी-कभी उनके पास से सुन्दर चमकीली पूँछें वाले मोर भी उड़ निकलते थे। पर वे उन पर बाण नहीं चलाते थे क्योंकि उन्हें देखकर दशरथ को रंग-विरंगी मालाओं से गुँथे हुए और संभोग के कारण खुले हुए अपनी प्रिया के केशों का स्मरण हो आता था ॥ 67 ॥ कठिन परिश्रम से उनके मुँह पर जो पसीना छा जाता था उसे वन का वह वायु सुखाता चलता था जो जल के कणों से शीतल होकर पत्तों और कलियों को गिराता चल रहा था ॥ 68 ॥

सललितकुसुमप्रवालशय्यां ज्वलितमहौषधिदीपिकासनायाम् ।
 नरपतिरतिवाहयांबभूव क्वचिदसमेतपरिच्छदस्त्रियामाम् ॥ 70 ॥
 उषसि स गजयूथकर्णतालैः पटुपटहध्वनिभिर्विनीतनिद्रः ।
 अरमत मधुराणि तत्र शृण्वन्विहगविकूजितबन्दिमङ्गलानि ॥ 71 ॥
 अथ जातु रुरोगृहीतवर्त्मा विपिने पाश्वर्चरैरलक्ष्यमाणः ।
 श्रमफेनमुचा तपस्विगाढां तमसां प्राप नदी तुरंगमेण ॥ 72 ॥
 कुम्भपूरणभवः पटुरुच्चैरुच्चचार निनदोऽम्भसि तस्याः ।
 तत्र स द्विरदबृंहितशङ्की शब्दपातिनमिषुं विससर्ज ॥ 73 ॥
 नृपतेः प्रतिषिद्धमेव तत्कृतवान्पङ्क्तिरथो विलङ्घय यत् ।
 अपथे पदमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः ॥ 74 ॥
 हा तातेति क्रन्दितमाकर्ण्य विषण्णास्तस्यान्विष्यन्वेतसगूढं प्रभवं सः ।
 शल्यप्रोतं प्रेक्ष्य सकुम्भं मुनिपुत्रं तापादन्तः शल्य इवासीत्क्षितिपोऽपि ॥ 75 ॥
 तेनावतीर्य तुरगात्प्रथितान्वयेन पृष्ठान्वयः स जलकुम्भनिषण्णदेहः ।
 तस्मै द्विजेतरतपस्विसुतं स्खलद्विरात्मानमक्षरपदैः कथयांबभूव ॥ 76 ॥
 तच्चोदितश्च तमनुद्धतशल्यमेव पित्रोः सकाशमवसन्नदृशोर्निनाय ।
 ताभ्यां तथागतमुपेत्य तमेकपुत्रमज्ञानतः स्ववरितं नृपतिः शशंस ॥ 77 ॥

इस प्रकार अपना सब काम भूले हुए और राज्य का भार मंत्रियों पर छोड़कर वन में आए हुए राजा दशरथ के मन को आखेट के व्यसन ने उसी प्रकार लुभा लिया जैसे कोई स्त्री अपने पति की सेवा करके उसे अपने वश में कर लेती है ॥ 69 ॥ यह आखेट का व्यसन उन्हें ऐसा लगा कि कभी-कभी उन्हें सारी-सारी रात फूल-पत्तों की साँथरी पर, रात को चमकने वाली बूटियों के प्रकाश के सहारे, बिना किसी सेवक के अकेले ही काटनी पड़ जाती थी ॥ 70 ॥ और प्रातःकाल तब उनकी आँखें खुलती थीं जब नगाड़ों के समान शब्द करने वाले हाथियों के कानों की फटफट होने लगती थी। उस समय वन पक्षी चारणों के समान जो मङ्गलगीत गाते थे उन्हें सुनकर ही वे मगन हो उठते थे ॥ 71 ॥ एक दिन जंगल में रुरु मृग का पीछा करते हुए वे अपने साथियों से बहुत दूर जा भटके। थकावट के कारण उनका घोड़ा मुँह से झाग फेंकने लगा, पर उसी पर चढ़े हुए वे तमसा नदी के उस तट पर जा निकले जहाँ बहुत से तपस्वियों के आश्रम बने हुए थे ॥ 72 ॥ वहाँ कोई जल में घड़ा भर रहा था जिसे उन्होंने समझा कि यह कोई हाथी है। उन्होंने झट बाण निकाला और शब्द पर लक्ष्य करके शब्दबेधी बाण चला ही तो दिया ॥ 73 ॥ हाथी को मारना शास्त्र से विरुद्ध है इसलिये दशरथ ने जो किया वह राजा के लिये ठीक नहीं था पर कभी-कभी विद्वान् लोग भी आवेश से अंधे होकर उलटा काम कर ही बैठते हैं ॥ 74 ॥ सहसा कोई चिल्ला उठा- 'हाय पिता!' यह सुनते ही इनका माथा ठनका और ये झट उसे ढूँढ़ने बढ़ चले। आगे बढ़ते ही देखते क्या हैं कि नरकट की झाड़ियों में बाण से बिंधा हुआ, घड़े पर झुका हुआ किसी मुनि का पुत्र पड़ा है। उसे देखकर उनको ऐसा कष्ट हुआ मानो इन्हें ही बाण आ लगा हो ॥ 75 ॥ जब श्रेष्ठ वंश वाले राजा दशरथ ने घड़े पर झुके हुए मुनि-पुत्र से उसका वंश-परिचय पूछा तब उसने लड़खड़ाती वाणी से बताया कि मैं ब्राह्मण नहीं हूँ (मेरे पिता वैश्य हैं और मेरी माता शूद्रा हैं) ॥ 76 ॥ उसने राजा दशरथ से कहा कि मुझे मेरे अंधे माता-पिता के पास उठा ले चलो। राजा दशरथ उस बाण से बिंधे

तौ दंपती बहु विलप्य शिशोः प्रहर्त्रा शल्यं निखातमुदहारयतामुरस्तः ।
 सोऽभूत्परासुरथ भूमिपतिं शशाप हस्तापितैर्नयनवारिभिरेव वृद्धः ॥ 78 ॥
 दिष्टान्तमाप्स्यति भवानपि पुत्रशोकादन्त्ये वयस्यहमिवेति तमुक्तवन्तम् ।
 आक्रान्तपूर्वमिव मुक्तविषं भुजंगं प्रोवाच कोसलपतिः प्रथमापराद्धः ॥ 79 ॥
 शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशोभे सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयम् ।
 कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति ॥ 80 ॥
 इत्थंगते गतघृणः किमयं विधत्तां वध्यस्तवेत्यभिहितो वसुधाधिपेन ।
 एधान्हुताशनवतः स मुनिर्ययाचे पुत्रं परासुमनुगन्तुमनाः सदारः ॥ 81 ॥
 प्राप्तानुगः सपदि शासनमस्य राजा संपाद्य पातकविलुप्तधृतिनिवृत्तः ।
 अन्तर्निविष्टपदमात्मविनाशहेतुं शापं दधज्ज्वलनमौर्वभिवाम्बुराशिः ॥ 82 ॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
 मृगयावर्णनो नाम नवमः सर्गः ।।



मुनि-पुत्र को उनके माता-पिता के पास उठाए लिए चले गए। वहाँ पहुँचकर उन्होंने उनसे सारी कथा कह सुनाई कि भूल से मैंने आपके इकलौते पुत्र पर किस प्रकार बाण चला दिया ॥ 77 ॥ यह सुनते ही वे दोनों तो दाढ़ मार-मारकर रो उठे और उन्होंने अपने पुत्र के हत्यारे को आज्ञा दी कि मेरे पुत्र की छाती में से बाण निकाल लो। बाण का निकलना था कि मुनि-कुमार के प्राण भी साथ ही निकल गए। इस पर बूढ़े तपस्वी ने अपने औसुओं से अपनी अंजली भरकर राजा को शाप दिया ॥ 78 ॥ 'राजन्! जाओ तुम्हें भी हमारे ही समान बुढ़ापे में पुत्र-शोक से प्राण छोड़ने पड़ेंगे।' पैर से दबने पर सर्प जैसे विष उगलकर शान्त हो जाता है वैसे ही शाप देकर जब वे बूढ़े मुनि शान्त हो गए तब पहले-पहल अपराध करने वाले राजा दशरथ उनसे बोले- ॥ 79 ॥ 'मुनि! मुझे आज तक पुत्र के मुख-कमल का दर्शन-तक नहीं हुआ है, इसलिये मैं आपके शाप को वरदान ही समझता हूँ क्योंकि इसी बहाने मुझे पुत्र तो प्राप्त हो जायगा। जंगल की लकड़ी की आग चाहे एक बार पृथ्वी को जला भले ही दे किन्तु वह पृथ्वी को इतनी उपजाऊ तो बना ही देती है कि आगे उसमें बड़ी अच्छी उपज होती है' ॥ 80 ॥ यह कहकर राजा ने फिर उनसे कहा- 'मैं तो इसी योग्य हूँ कि आप मेरा वध कर डालें। अब बताइए मुझ नीच के लिये आपकी क्या आज्ञा होती है?' यह सुनकर उस मुनि ने कहा कि 'हम और हमारी स्त्री अब अपने पुत्र के साथ ही शरीर छोड़ देंगे। इसलिये अब हमारे लिये ईंधन और अग्नि जुटा दो ॥ 81 ॥ राजा दशरथ के अनुचर भी तब तक वहाँ आ पहुँचे थे। तत्काल ईंधन और अग्नि जुटा दी गई। जैसे समुद्र के हृदय में बड़वानल जला करता है वैसे ही, अपने पाप से अधीर हृदय में मुनि के शाप को ज्वाला की आग लिए हुए वे (दशरथ, किसी-किसी प्रकार) अपने घर लौट आए ॥ 82 ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदास के रचे रघुवंश महाकाव्य में आखेट-वर्णन नामक नवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥



॥ दशमः सर्गः ॥

पृथिवीं शासतस्तस्य पाकशासनतेजसः । किञ्चिदूनमनून्द्धैः शरदामयुतं ययौ ॥ 1 ॥
 न चोपलेभे पूर्वेषामृणनिर्मोक्षसाधनम् । सुताभिधानं स ज्योतिः सद्यः शोकतमोपहम् ॥ 2 ॥
 अतिष्ठत्प्रत्ययापेक्षसंततिः स चिरं नृपः । प्राङ् मन्थादनभिव्यक्तरत्नोत्पत्तिरिवार्णवः ॥ 3 ॥
 ऋष्यशृङ्गादयस्तस्यसन्तः संतानकाङ्क्षिणः । आरेभिरजितात्मानः पुत्रीयामिष्टिमृत्विजः ॥ 4 ॥
 तस्मिन्नवसरे देवाः पौलस्त्योपप्लुताहरिम् । अभिजग्मुर्निदाघात्ताश्छायावृक्षमिवाध्वगाः ॥ 5 ॥
 ते च प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे चादिपूरुषः । अव्याक्षेपो भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्हि लक्षणम् ॥ 6 ॥
 भोगिभोगासनासीनं ददृशुस्तं दिवौकसः । तत्फणामण्डलोदर्चिर्मणिद्योतितविग्रहम् ॥ 7 ॥
 श्रियः पद्मनिषण्णायाः क्षौमान्तरितमेखले । अङ्गे निक्षिप्तचरणमास्तीर्णकरपल्लवे ॥ 8 ॥
 प्रबुद्धपुण्डरीकाक्षं बालातपनिभांशुकम् । दिवसं शारदमिव प्रारम्भसुखदर्शनम् ॥ 9 ॥
 प्रभानुलिप्तश्रीवत्सं लक्ष्मीविभ्रमदर्पणम् । कौस्तुभाख्यमपां सारं विभ्राणं बृहतोरसा ॥ 10 ॥
 बाहुभिर्विटपाकारैर्दिव्याभरणभूषितैः । आविर्भूतमपां मध्ये पारिजातमिवापरम् ॥ 11 ॥

दसवाँ सर्ग

अपार धन वाले और इन्द्र के समान तेजस्वी राजा दशरथ को पृथ्वी पर राज करते-करते लगभग दस सहस्र शरद् बीत गए ॥ 1 ॥ पर तब भी पितरों के ऋण से छुटकारा दिलाने वाला और शोक के अँधेरे को दूर करने वाला वह प्रकाश उन्हें नहीं मिल सका जिसे पुत्र कहते हैं ॥ 2 ॥ जैसे समुद्र को रत्न उत्पन्न करने के लिये मथे जाने तक ठहरना पड़ा था वैसे ही सन्तान के लिये उपाय होने तक राजा दशरथ को भी ठहरना ही पड़ा ॥ 3 ॥ तब ऋष्यशृङ्ग आदि जितेन्द्रिय और यज्ञ करने वाले सन्त ऋषियों ने सन्तान चाहने वाले राजा दशरथ के लिये पुत्रेष्टि यज्ञ करना प्रारम्भ कर दिया ॥ 4 ॥ ठीक उसी समय रावण के अत्याचार से घबराकर देवता लोग उसी प्रकार विष्णु की शरण में जा पहुँचे जैसे धूप से व्याकुल पथिक बढ़कर छाया वाले वृक्ष के नीचे जा पहुँचते हैं ॥ 5 ॥ ज्योंही देवता लोग क्षीर-सागर पर पहुँचे त्यों ही विष्णु भगवान् भी योग-निद्रा से जाग उठे । काम में देर न होना ही उसके पूरे हो जाने का सबसे बड़ा लक्षण है ॥ 6 ॥ देवताओं ने देखा कि विष्णु भगवान् शेष-शय्या पर लेटे हुए हैं और शेष के फणों की मणियों से उनका शरीर और भी अधिक चमक पड़ रहा है ॥ 7 ॥ उन्हीं के पास कमल पर लक्ष्मी भी बैठी हुई थीं जिनकी कमर में रेशमी वस्त्र पड़ा हुआ था और जो विष्णु भगवान् के चरण अपनी गोद में लेकर पलोटें जा रही थीं ॥ 8 ॥ जैसे लिखे हुए कमलों से और कन्या राशि के सूर्य के शरद् प्रारंभिक दिन बड़े सुहावने लगने लगते हैं वैसे ही खिले हुए कमल जैसी आँखों वाले, प्रातःकाल की धूप के समान सुनहले वस्त्र पहने और ध्यानमग्न योगियों को सरलता से दर्शन देने वाले विष्णु भी बड़े सुन्दर लगने लग रहे थे ॥ 9 ॥ उनके चौड़े वक्षस्थल पर वह कौस्तुभ मणि चमक रहा था जिसमें शृङ्गार के समय लक्ष्मी हाव-भाव के साथ अपना मुँह देखा करती हैं और जिसकी चमक से भृगु के चरण के प्रहार से बना हुआ श्रीवत्स चिह्न भी चमक उठता है ॥ 10 ॥ आभूषण से सजी हुई और वृक्ष की शाखाओं के समान उनकी बड़ी-बड़ी भुजाओं से वे ऐसे लगते थे मानो समुद्र से दूसरा कल्प वृक्ष ही आ निकला हो ॥ 11 ॥ असुरों को मारकर उनकी स्त्रियों के गालों से मद की लाली मिटाने वाले उनके (चक्र, गदा आदि) अस्त्र सजीव होकर उनकी जयजयकार कर रहे थे ॥ 12 ॥ शेषनाग से स्वाभाविक विरोध छोड़कर इन्द्र

दैत्यस्त्रीगण्डलेखानां मदरागविलोपिभिः । हेतिभिश्चेतनावद्भिरुदीरितजयस्वनम् ॥ 12 ॥
 मुक्तशेषविरोधेन कुलिशव्रणलक्ष्मणा । उपस्थितं प्राञ्जलिना विनीतेन गरुत्मता ॥ 13 ॥
 योगनिद्रान्तविशदैः पावनैरवलोकनैः । भृग्वादीननुगहन्तं सौखशायनिकानृषीन् ॥ 14 ॥
 प्रणिपत्य सुरास्तस्मै शमयित्रै सुरद्विषाम् । अथैनं तुष्टुदुः स्तुत्यमवाङ् मन सगोचरम् ॥ 15 ॥
 नमो विष्टसुजे पूर्व विश्वं तदनु बिभ्रते । अथ विष्टस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधास्थितात्मने ॥ 16 ॥
 रसान्तराण्येकरसं यथा दिव्य पयोऽऽनुते । देशे देशे गुणेष्वेवमवस्थास्त्वमविक्रियः ॥ 17 ॥
 अमेयो भितलोकस्त्वमनर्थी प्रार्थनावहः । अजितो जिष्णुरत्यन्तमव्यक्तो व्यक्तकारणम् ॥ 18 ॥
 हृदयस्थमनासन्नमकामं त्वां तपस्विनम् । दयालुमनघस्पृष्टं पुराणमजरं विदुः ॥ 19 ॥
 सर्वज्ञस्त्वमविज्ञातः सर्वयोनिस्त्वमात्मभूः । सर्वप्रभुरनीशस्त्वमेकस्त्वं सर्वरूपभाक् ॥ 20 ॥
 सप्तसामोपगीतं त्वां सप्तार्णवजलेशयम् । सप्तार्चिर्मुखमाचख्युः सप्तलोकैकसंश्रयम् ॥ 21 ॥
 चतुर्वर्गफलं ज्ञानं कालावस्थाश्चतुर्युगाः । चतुर्वर्णमयो लोकस्त्वत्तः सर्वं चतुर्मुखात् ॥ 22 ॥

के वज्र की चोट का चिह्न धारण किए हुए गरुड़, बड़ी नम्रता से हाथ जोड़कर उनकी सेवा में खड़े हुए थे ॥ 13 ॥ योग-निद्रा से उठकर वे अपनी स्वच्छ और पवित्र चितवन से उन भृगु आदि ऋषियों को अनुग्रहीत किए डाल रहे थे जो उनसे पूछ रहे थे- 'भगवन् आप सुख से तो सोए हैं' ॥ 14 ॥ तब देवता लोग दैत्यों के नाश करने वाले विष्णु भगवान् को प्रणाम करके उन प्रशंसनीय विष्णु की स्तुति करने लगे जिन तक न तो वाणी ही पहुँच पाती है और न तो मन ही पहुँच पा सकता है। वे बोले- ॥ 15 ॥ 'विश्व को बनाने, पालन करने और अन्त में उसका संहार करने वाले तीनों रूप आप अपने में धारण करते हैं। आपको प्रणाम है ॥ 16 ॥ जैसे एक स्वाद वाला वर्षा का जल अलग-अलग देशों में बरसकर अलग-अलग स्वाद वाला हो जाता है वैसे ही आप सब प्रकार के विकारों से दूर होते हुए भी (सत्त्व, रज और तम तीनों) गुण लेकर बहुत से रूप धारण करते रहते हैं ॥ 17 ॥ 'भगवन्! आप कितने बड़े हैं यह तो कोई नहीं माप सका पर आप ही ऐसे हैं जिसने सब लोक माप डाले हैं। आपकी तो स्वयं कभी कोई इच्छा है नहीं पर आप सबकी इच्छाएँ पूरी करते रहते हैं। आपको तो कोई जीत नहीं पा सकता पर आप सबको जीते बैठे हैं। आप तो किसी को दिखाई नहीं देते पर आप ही हैं जिसने यह दिखाई देने वाला संसार उत्पन्न किया है ॥ 18 ॥ भगवन्! विद्वानों का कहना है कि आप सबके हृदय में रहते हुए भी दूर हैं। आपकी कोई इच्छा नहीं, फिर भी आप (नर-नारायण के रूप में बदरिकाश्रम में) तपस्या किया करते हैं। आप बहुत दयालु हैं पर आपको पुण्य भी कहीं नहीं छू पाता। आपको लोग पुराण (पुरातन पुरुष) कहा तो करते हैं पर आप कभी बूढ़े नहीं होते ॥ 19 ॥ आप तो सबको जानते हैं पर आपको कोई नहीं जानता। आपने सारी सृष्टि उत्पन्न की है पर आपको किसी ने उत्पन्न नहीं किया है। आप सबके स्वामी हैं पर आपका कोई स्वामी नहीं है। आप एक रूप होते हुए भी संसार के सारे रूप धारण किए बैठे हैं ॥ 20 ॥ विद्वानों का कहना है कि सामवेद के सातों प्रकार के गीतों में आपके ही गुणों के गीत हैं। आप ही सातों समुद्रों के जल में निवास करते हैं। सातों प्रकार के अग्नि आपके ही मुख हैं और सातों लोकों के आप ही एक सहारे हैं ॥ 21 ॥ आपके ही चारों मुखों से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष फल देने वाला ज्ञान उत्पन्न हुआ है। सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि इन चार युगों में बँटा हुआ समय भी आपने ही उत्पन्न किया है और चार वर्णों वाला यह संसार भी आपका ही बनाया हुआ है ॥ 22 ॥ योगी लोग सदा प्राणायाम आदि से मन को वश में करके मुक्ति पाने के लिये अपने हृदय में बैठे

अभ्यासनिगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयम् । ज्योतिर्मयं विचिन्वन्तियोगिनस्त्वाविमुक्तये ॥ 23 ॥
 अजस्य गृहतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः । स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव ॥ 24 ॥
 शब्दादीन्विषयान्भोक्तुं चरितुं दुश्चरंतपः । पर्याप्तोऽसिप्रजाः पातुमौदासीन्येन वर्तितुम् ॥ 25 ॥
 बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः । त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवारणवे ॥ 26 ॥
 त्वय्यावेशितचित्तानां त्वत्समर्पितकर्मणाम् । गतिस्त्वं वीतरागाणामभूयः संनिवृत्तये ॥ 27 ॥
 प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्योमह्यादिर्महिमातवा । आप्त वागनुमानाभ्यासाध्यत्वांप्रति का कथा ॥ 28 ॥
 केवलं स्मरणेनैव पुनासि पुरुषं यतः । अनेन वृत्तयः शेषा निवेदितफलास्त्वयि ॥ 29 ॥
 उदधेरिव रत्नानितेजासीव विवस्वतः । स्तुतिभ्यो व्यतिरिच्यन्ते दूराणि चरितानिते ॥ 30 ॥
 अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किंचन विद्यते । लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः ॥ 31 ॥
 महिमानं यदुत्कीर्त्य तव संहियते वचः । भ्रमेण तदशक्त्या वा न गुणानामियत्तया ॥ 32 ॥
 इतिप्रसादयामासुस्तेसुरास्तमघोक्षजम्भूतार्थव्याहतिः साहि न स्तुतिः परमेष्ठिनः ॥ 33 ॥
 तस्मै कुशलसंप्रश्नव्यञ्जितप्रीतये सुराः । भमप्रलयोद्वेलादाचक्षुर्नैर्ऋतोदधोः ॥ 34 ॥

हुए आपके ही ज्योति स्वरूप की खोज किया करते हैं ॥ 23 ॥ भगवन्! आप अजन्मा कहलाकर भी जन्म लेते हैं, कर्मरहित होकर भी शत्रुओं का संहार किया करते हैं और योग-निद्रा में सोते हुए भी जागते ही रहते हैं, फिर बताइए, आपका सच्चा भेद कौन जान सकता है ॥ 24 ॥ आप (कृष्ण आदि रूपों में) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध विषयों का भोग करते हैं, (नर-नारायण रूप से) कठोर तपस्या करते हैं। (राम आदि रूप धारण करके) प्रजा का पालन करते हैं और (बुद्ध आदि का) शान्त रूप धारण करके उदासीन भी बन जाते हैं ॥ 25 ॥ जैसे गंगा की सभी धाराएँ समुद्र में ही जा गिरती हैं वैसे ही परमानन्द पाने के जितने मार्ग बताए हैं वे अलग-अलग शास्त्रों में अलग-अलग रूप से बताए जाने पर भी सब आप ही तक पहुँचते हैं ॥ 26 ॥ जो योगी लोग सदा आपका ही ध्यान किया करते हैं, जिन्होंने अपने सब कर्म आपको ही समर्पित कर दिए हैं और जो राग-द्वेष से दूर हैं, उन योगियों को आप ही जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा देते हैं ॥ 27 ॥ जब पृथ्वी आदि को देखने से आपकी महिमा स्पष्ट प्रकट होने पर भी आपका ठीक-ठीक परिचय नहीं मिल पाता तब भला वेदों के वर्णन से और अनुमान से आपका ज्ञान कैसे हो पा सकता है ॥ 28 ॥ आपके तो स्मरण मात्र से ही लोग पवित्र हो जाते हैं फिर यदि उन्हें आपका दर्शन हो जाय, वे आपका चरण भी छू सकें और आपकी वाणी भी सुन सकें तब तो उससे उन्हें जितना पुण्य होगा उसका कौन वर्णन कर सकता है ॥ 29 ॥ जैसे समुद्र के रत्न और सूर्य की किरणें गिनी नहीं जा सकतीं वैसे ही स्तुति करके भी आपके पूरे चरित का वर्णन नहीं हो सकता ॥ 30 ॥ संसार में प्राप्त करने योग्य ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो आपके हाथ में न हो फिर भी आप जो जन्म लेते और कर्म करते हैं उसका एकमात्र उद्देश्य यही है कि आप संसार पर अनुग्रह करना चाहते हैं ॥ 31 ॥ आपकी महत्ता की प्रशंसा करके जो हम चुप हो रहे हैं, इसका यह कारण नहीं है कि हमने आपके सब गुण बखान डाले, वरन् इसका कारण यही है कि हम थक गए हैं और आगे बोलने की शक्ति हममें नहीं रह गई है ॥ 32 ॥ जो भगवान् किसी भी इन्द्रिय से प्राप्त नहीं होते उनकी स्तुति करके देवताओं ने उन्हें प्रसन्न कर लिया। वह स्तुति भी उनकी झूठी नहीं थी वरन् सब बातें सच्ची ही थीं ॥ 33 ॥ विष्णु भगवान् ने प्रसन्न होकर उनसे कुशल-मंगल पूछा, जिसके उत्तर में देवताओं ने कहा कि आज-कल ऐसे राक्षस उत्पन्न हो उठे हैं जिन्होंने बिना प्रलयकाल आए ही सारे संसार की मर्यादा भंग

अथ वेलासमासत्रशैलरन्धानुनादिना । स्वरेणोताच भगवान्परिभूतार्णवध्वनिः ॥ 35 ॥
 पुराणस्य कवेस्तस्य वर्णस्थानसमीरिता । बभूव कृतसंस्कारा चरितार्थैव भारती ॥ 36 ॥
 बभौ सदशनज्योत्स्ना सा विमोर्वदनोद्गता । निर्यातशेषा चरणाद्गङ्गेवोर्ध्वप्रवर्तिनी ॥ 37 ॥
 जाने वो रक्षसाक्रान्तावनुभावपराक्रमौ । अङ्गिनां तमसेवोभौ गुणौ प्रथममध्यमौ ॥ 38 ॥
 विदितं तप्यमानं च तेन में भुवनत्रयम् । अकामोपनतेनेव साधोर्हृदयमेनासा ॥ 39 ॥
 कार्येषु चैकार्यत्वादभ्यर्थ्योऽस्मि न वज्रिणा । स्वयमेव हि वातोऽग्नेः सारथ्यप्रतिपद्यते ॥ 40 ॥
 स्वासिधारापरिहृतः कामं चक्रस्य तेन मे । स्थापितो दशमो मूर्धा लम्यांश इव रक्षसा ॥ 41 ॥
 स्त्रष्टुर्वरातिसर्गात्तु मया तस्य दुरात्मनः । अत्यारूढं रिपोः सोढं चन्दनेनेव भोगिनः ॥ 42 ॥
 धातारं तपसा प्रीतययाचे स हिराक्षसः । दैवात्सगदिवध्यत्वं मर्त्येष्वस्थापराङ् मुखः ॥ 43 ॥
 सोऽहंदाशरथिभूत्वारणभूमेर्बलिक्षमम् । करिष्यामिशरैस्तीक्ष्णैस्तच्छिरः कमलोच्चयम् ॥ 44 ॥
 अचिराद्यज्वभिर्भागंकल्पितंविधिवत्पुनः । मायाविभिरनालीढमादास्यध्वेनिशाचरैः ॥ 45 ॥
 वैमानिकाः पुण्यकृतस्त्यजन्तु मरुतां पथि । पुष्पकालोकसंक्षोभं मेघावरणतत्पराः ॥ 46 ॥

करके चारों ओर हाहाकार मचा रक्खा है ॥ 34 ॥ यह सुनकर समुद्र से भी बढ़कर गंभीर ध्वनि में जब भगवान् उत्तर देने लगे तब क्षीर-सागर के तट पर खड़े हुए पहाड़ों की गुफाओं में उनके शब्द गूँज उठे ॥ 35 ॥ विष्णु भगवान् तो सबसे पुराने कवि हैं इसलिये जब उनके (मुख के भीतर कण्ठ, तालु, दाँत, ओंठ आदि) उच्चारण के स्थानों से भली-भाँति वाणी निकली तब मानो सरस्वती ने अपने जन्म लेने का फल पा लिया ॥ 36 ॥ उनके दाँतों की चमक से जगमगाती हुई उनकी वाणी मुख से निकलती हुई ऐसी शोभा देने लगी मानो उनके चरणों से निकलकर गंगा ही ऊपर को उठी चली आ रही हों ॥ 37 ॥ विष्णु बोले- 'देवताओं! जैसे संसार के जीवों के सत्त्व और रजोगुण को उनका तमोगुण दबा लेता है वैसे ही आपके तेज और बल को रावण दबा बैठा है ॥ 38 ॥ मैं यह भी जानता हूँ कि जैसे अनजान में किए हुए पाप से सज्जन का मन भी घबरा जाता है वैसे ही सारा संसार रावण के अत्याचार से घबरा उठा है ॥ 39 ॥ इसलिये रावण को मिटा डालने का काम जैसा इन्द्र का है वैसा ही मेरा भी है। इसके लिये इन्द्र ने जो मेरी प्रार्थना की है उसकी मैं कोई आवश्यकता नहीं समझता हूँ क्योंकि आग की सहायता के लिये वायु से कहना नहीं पड़ता, वह तो स्वयं ही आपको उभाड़ा करता है ॥ 40 ॥ शिव को प्रसन्न करने के लिये रावण अपने नौ सिर काटकर चढ़ा चुका है। अब जान पड़ता है कि उस राक्षस ने अपना दसवाँ सिर मेरे चक्र से काटे जाने के लिये बचा छोड़ा है ॥ 41 ॥ ब्रह्मा ने जो उसे वरदान दे दिया है उसी से मैंने उस दुष्ट का दिन-दिन ऊपर चढ़ना उसी प्रकार सहा है जैसे अपने ऊपर चढ़ते हुए साँप को चन्दन का पेड़ सह लेता है ॥ 42 ॥ जब ब्रह्म जी उसकी तपस्या से प्रसन्न हुए तब उसने यही वरदान माँगा कि मैं देवताओं के हाथ से न मारा जा सकूँ क्योंकि मनुष्यों को तो वह कुछ समझता ही नहीं है ॥ 43 ॥ इसलिये मैं राजा दशरथ के यहाँ जन्म लेकर अपने तीखे बाणों से उसके सिरों को कमल के समान उतारकर रणभूमि की भेंट चढ़ा दूँगा ॥ 44 ॥ देखो देवताओं! आज से यजमान लोग जो विधि से दिया हुआ यज्ञ का भाग तुम्हें दिया करेंगे उसे अब राक्षस लोग छीनकर नहीं खा सकेंगे, सब आप ही लोगों को मिलता रहेगा ॥ 45 ॥ अब आप लोग अपने-अपने विमानों पर चढ़-चढ़कर निडर होकर आकाश में घूमिए और रावण के पुष्पक विमान को देखकर और उससे डरकर बादलों में छिपना छोड़ दीजिए ॥ 46 ॥ रावण ने स्वर्ग की जिन स्त्रियों को अपने यहाँ बन्दी कर रक्खा है उनके जूड़ों को वह

मोक्षध्वे स्वर्गबन्दीनां वेणीबन्धानदूषितान् । शापयन्त्रितपौलस्त्यबलात्कारकचग्रहैः ॥ 47 ॥
 रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन सः । अभिवृष्य मरुत्सस्यं कृष्णमेधस्तिरोदधे ॥ 48 ॥
 पुरुहूतप्रभृतयः सुरकार्योद्यतं सुराः । अंशैरनुययुर्विष्णुं पुष्पैर्वायुमिव द्रुमाः ॥ 49 ॥
 अथ तस्य विशांपत्युरन्ते काम्यस्य कर्मणः । पुरुषः प्रबभूवाग्नेर्विस्मयेन सहर्त्विजाम् ॥ 50 ॥
 हेमपात्रगतं दोर्भ्यामादधानः पयश्चरुम् । अनुप्रवेशादाद्यस्य पुंसस्तेनापि दुर्वहम् ॥ 51 ॥
 प्राजापत्योपनीतं तदन्नं प्रत्यग्रहीतृपः । वृषेव पयसां सारमाविष्कृत मुदन्बता ॥ 52 ॥
 अनेन कथिता राज्ञोगुणास्तस्यान्यदुर्लभाः । प्रसूतिं चकमेतस्मिन्त्रैलोक्यप्रभवोऽपि यत् ॥ 53 ॥
 त तेजो वैष्णवं पत्न्योर्विभेजे चरुसंज्ञितम् । द्यावापृथिव्योः प्रत्यग्रमहर्षतिरिवातपम् ॥ 54 ॥
 अर्चिता तस्य कौसल्या प्रिया केकयवंशजा । अतः संभावितांताभ्यां सुमित्रामैच्छदीदृश्वरः ॥ 55 ॥
 ते बहुज्ञस्य चित्तज्ञे पत्न्यौ पत्युर्महीक्षितः । चरोरर्धार्धभागाभ्यां तामयोजयतामुभे ॥ 56 ॥
 सा हि प्रणयवत्यासीत्सपत्न्योरुभयोरपि । भ्रमरी वारणस्येव मदनिस्सन्दरेभ्योः ॥ 57 ॥
 ताभिर्गर्भः प्रजाभूत्यै दधे देवांशसंभवः । सौरीभिरिव नाडीभिरमृताख्याभिरम्मयः ॥ 58 ॥

नलकूबर के शाप के डर से हाथ नहीं लगा पाया है । अब उन बन्दी स्त्रियों के जूड़े आप लोग ही अपने हाथों से खोलिएगा ॥ 47 ॥ जैसे सूखे के दिनों में धान के खेत पर बादल जल बरसाकर निकल जाय वैसे ही रावण के डर से सूखे हुए देवताओं पर अपने मधुर वचन बरसाकर विष्णु भगवान् भी अन्तर्धान हो गए ॥ 48 ॥ जैसे वायु के चलने पर वन के वृक्ष स्वयं उसके पीछे न जाकर अपने फूलों की गन्ध उसके साथ भेज देते हैं वैसे ही जब देवताओं का कार्य करने के लिये भगवान् विष्णु चले तब इन्द्र आदि देवताओं ने भी अपने-अपने अंश उनके साथ भेज दिए ॥ 49 ॥ इधर ज्यों ही राजा दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ समाप्त हुआ त्यों ही यज्ञ की अग्नि में से एक दिव्य पुरुष आ प्रकट हुआ जिसे देखकर यज्ञ करने वाले सभी ऋषि बड़े अचरज में पड़ गए ॥ 50 ॥ उस पुरुष के हाथ के सोने के कटोरे में जो खीर भरी थी उस खीर में सारे ब्रह्माण्ड को सँभालने वाले विष्णु भगवान् पैठे हुए थे इसलिये वह दिव्य पुरुष भी उस कटोरे को बड़ी कठिनाई से सँभाल पा रहा था ॥ 51 ॥ जैसे इन्द्र ने समुद्र में से निकले हुए अमृत के कलश को पकड़ धामा था वैसे ही राजा दशरथ ने भी उस दिव्य पुरुष के हाथ से वह खीर ले ली ॥ 52 ॥ उस दिव्य पुरुष ने राजा दशरथ के असाधारण गुणों की इतनी प्रशंसा की कि विष्णु भगवान् को भी उनके यहाँ जन्म लेने की इच्छा जाग उठी ॥ 53 ॥ जैसे सूर्य अपनी नई धूप पृथ्वी और आकाश दोनों में बाँट देता है वैसे ही खीर के रूप में पाए हुए विष्णु के तेज को राजा ने कौसल्या और कैकेयी में बराबर बराबर बाँट दिया ॥ 54 ॥ कौसल्या उनकी बड़ी रानी थी और कैकेयी उनकी प्यारी रानी थी इसलिये वे चाहते थे कि वे दोनों रानियाँ ही अपने-अपने भागों में से स्वयं कुछ भाग देकर सुमित्रा का सम्मान करें ॥ 55 ॥ सब कुछ जानने वाले राजा दशरथ की उन दोनों रानियों ने अपनी-अपनी खीर का आधा-आधा भाग सुमित्रा को निकाल बाँटा ॥ 56 ॥ जैसे हाथी के दोनों कपोलों से निकलने वाली मद की दोनों धाराओं से भौरी बराबर प्रेम करती है वैसे ही सुमित्रा भी अपनी दोनों सौतों से बराबर-सा प्रेम करती थीं ॥ 57 ॥ जैसे अमृत नाम की जल बरसाने वाली सूर्य की किरणें संसार के कल्याण के लिये जल लिए रहती हैं वैसे ही उन तीनों रानियों ने लोक के कल्याण के लिये विष्णु के अंश से भरा गर्भ धारण कर लिया ॥ 58 ॥ एक साथ गर्भ धारण करने वाली रानियाँ गर्भ से पीली पड़ने के कारण अनाज की उन बालियों के समान पीली लगने लगी थीं जिनमें दाने पड़ गए हों ॥ 59 ॥ उन्हें यह स्वप्न दिखाई

सममापन्नसत्त्वास्ता रेजुरापाण्डुरत्विषः। अन्तर्गतफलारम्भाः सस्यानामिव संपदः॥ 59 ॥
 गुप्तं ददृशुरात्मानं सर्वाः स्वप्नेषु वामनैः। जलजासिगदाशार्ङ्गचक्रलाच्छितमूतिभिः॥ 60 ॥
 हेमपक्षप्रभाजालं गगने च वितन्वता। उद्वन्ते स्म सुपर्णेन वेगाकृष्टपयोमुचा॥ 61 ॥
 विभ्रत्याकौस्तुभन्यासस्तनान्तरविलम्बिनम्। पर्युपास्यन्त लक्ष्म्याचपह्नव्यजनहस्तया॥ 62 ॥
 कृताभिषेकैदिव्यायां त्रिस्तोतसि च सप्तभिः। ब्रह्मर्षिभिः परंब्रह्मगृणद्विरुपतस्थिरे॥ 63 ॥
 ताभ्यस्तथाविधान्त्वप्नाञ्छत्वाप्रीतोहिपार्थिवः। मेने परार्ध्यमात्मानं गुरुत्वेनजगद्गुरोः॥ 64 ॥
 विभक्तात्मा विभुस्तासामेकः कुक्षिष्वनेकधा। उवास प्रतिमाचन्द्रः प्रसन्नानामपामिव॥ 65 ॥
 अथाग्यमहिषी राज्ञः प्रसूतिसमये सती। पुत्रं तमोपहं लेभे नक्तं ज्योतिरिवौषधिः॥ 66 ॥
 राम इत्यभिरामेण वपुषा तस्य चोदितः। नामधेयं गुरुशक्त्रे जगत्प्रथममङ्गलम्॥ 67 ॥
 रघुवंशप्रदीपेन तेनाप्रतिमतेजसा। रक्षागृहगता दीपाः प्रत्यादिष्टा इवाभवन्॥ 68 ॥
 शय्यागतेन रामेण माता शातोदरी बभौ। सैकताम्भोजबलिना जाह्नवीव शरत्कृशा॥ 69 ॥
 कैकेय्यास्तनयो जज्ञे भरतो नाम शीलवान्। जनयित्रीमलंचक्रे यः प्रश्रय इव श्रियम्॥ 70 ॥
 सूतौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्रा सुषुवे यमौ। सम्यगाराधिता विद्या प्रबोधविनयाविव॥ 71 ॥
 निर्दोषमभवत्सर्वमाविष्कृतगुणं जगत। अन्वगादिव हि स्वर्गो गां गतं पुरुषोत्तमम्॥ 72 ॥

देता था कि 'कमल, तलवार, गदा, शार्ङ्ग धनुष और चक्र लिए हुए कोई बौना-सा पुरुष बराबर हमारी रक्षा किए जा रहा है, ॥ 60 ॥ अपने सोने के पंखों से प्रकाश फैलाता हुआ और अपने वेग के कारण अपने साथ बादलों को भी खींचकर ले जाता हुआ गरुड़ आकाश में हमें उड़ाए लिए जा रहा है ॥ 61 ॥ और वक्षस्थल पर कौस्तुभमणि पहने हुए लक्ष्मी भी हाथ में कमल का पंखा लेकर हमारी सेवा कर रही हैं ॥ 62 ॥ इतना ही नहीं, आकाशगङ्गा में स्नान करके सप्तर्षि भी वेद-पाठ करते हुए हमारी ही उपासना कर रहे हैं ॥ 63 ॥ जब रानियों ने राजा को अपने ये स्वप्न सुनाए तब वे बड़े प्रसन्न हो उठे और उन्होंने समझ लिया कि अब संसार में मुझसे बढ़कर कोई भाग्यशाली नहीं है क्योंकि मैं संसार के गुरु विष्णु जी का भी पिता बनने वाला हूँ ॥ 64 ॥ यद्यपि विष्णु का एक ही रूप है फिर भी जैसे निर्मल जल में चन्द्रमा के बहुत से प्रतिबिम्ब पड़ जाते हैं वैसे ही वे भी तीनों रानियों के गर्भों में अलग-अलग निवास कर रहे थे ॥ 65 ॥ जैसे पर्वत की बहुतसी बूटियों में रात को अँधेरा दूर करने वाला प्रकाश आ जाता है वैसे ही राजा की पटरानी कौशल्या ने तमोगुण को दूर करने वाला पुत्र उत्पन्न किया ॥ 66 ॥ उस बादल का मनोहर शरीर देखकर गुरु वशिष्ठ ने उनका संसार में सबसे अधिक मङ्गलकार नाम 'राम' रख दिया ॥ 67 ॥ रघुवंश को उजागर करने वाले उस बालक का इतना तेज था कि सौरी-घर के सब दीपों की ज्योति उसके आगे मन्द पड़ गई ॥ 68 ॥ प्रसव से दुबली माता कौसल्या, नन्हें से राम को लिये हुए पलँग पर लेटी हुई ऐसी सुन्दर जान पड़ती थीं जैसे शरद् ऋतु में पतली धार वाली गङ्गा के तट पर किसी का चढ़ाया हुआ नीला कमल रक्खा हुआ हो ॥ 69 ॥ कैकेयी ने भरत को जन्म दिया। उन्हें पाकर, वे ऐसी शोभा दे रही थीं जैसे सम्पत्ति के साथ आदर शोभा देता है ॥ 70 ॥ जैसे अभ्यास से पाई हुई विद्या से ज्ञान और विनय दोनों मिल जाते हैं वैसे ही सुमित्रा के लक्ष्मण और शत्रुघ्न नाम के दो जुड़वाँ पुत्र उत्पन्न हुए ॥ 71 ॥ उस समय संसार से सारे दोष भाग खड़े हुए और चारों ओर गुण ही गुण आ फैले मानो विष्णु भगवान् के साथ-साथ स्वर्ग भी पृथ्वी पर आ उतरा हो ॥ 72 ॥ दसों दिशाओं में बिना

तस्योदये चतुर्भूतैः पौलस्त्यचकितेश्वराः । विरजस्कैर्नभस्वद्विर्दिश उच्छ्वसिता इव ॥ 73 ॥
 कृशानुरेपधूमत्वात्प्रसन्नत्वात्प्रभाकरः । रक्षोविप्रकृतावास्तामपविद्धशुचाविव ॥ 74 ॥
 दशाननकिरीटेभ्यस्तत्क्षणं राक्षसश्रियः । मणिव्याजेन पर्यस्ताः पृथिव्यामश्रुबिन्दवः ॥ 75 ॥
 पुत्रजन्मप्रवेश्यानां तूर्याणां तस्य पुत्रिणः । आरम्भं प्रथमं चक्रुर्देवदुन्दुभयो दिवि ॥ 76 ॥
 संतानकमयी वृष्टिर्भवने चास्य पेतुषी । सन्मङ्गलोपचाराणां सैवादिरचनाभवत् ॥ 77 ॥
 कुमाराः कृतसंस्कारास्ते धात्रीस्तन्यपायिनः । आनन्देनाग्रजेनेव समं ववृधिरे पितुः ॥ 78 ॥
 स्वाभाविकं विनीतत्वं तेषां विनयकर्मणा । मुमूर्च्छं सहजं तेजो हविषेव हविर्भुजाम् ॥ 79 ॥
 परस्परादिरुद्धास्ते तद्वधोरनघं कुलम् । अलमुद्योतयामासुर्देवारण्यमिवतर्तवः ॥ 80 ॥
 समानेऽपि हि सौमित्रेयथोभौ रामलक्ष्मणौ । तथा भरतशत्रुघ्नौ प्रीत्या द्वन्द्वं बभूवतुः ॥ 81 ॥
 तेषां द्वयोर्दयोरैक्यं विभिदे न कदाचन । यथा वायुविभावस्वोर्यथा चन्द्रसमुद्रयोः ॥ 82 ॥
 ते प्रजानां प्रजानाथास्तेजसा प्रश्रयेण च । मनो जहु निंदाघान्ते श्यामाभ्रादिवसा इव ॥ 83 ॥
 स चतुर्धा बभौ व्यस्तः प्रसवः पृथिवीपतेः धर्मार्थकाममोक्षानामवतार इवाङ्गभाक् ॥ 84 ॥
 गुणैराराधयामासुस्ते गुरुं गुरुवत्सलाः । तमेव चतुरन्तेशं रत्नेरिव महार्णवाः ॥ 85 ॥

धूल की जो स्वच्छ बयार चलने लगी थी वह ऐसी लगती थी मानो रावण से डरे हुए कुबेर आदि दिक्पालों ने पृथ्वी पर चार रूपों में आए हुए भगवान् को पाकर सन्तोष की साँस ली हो ॥ 73 ॥ रावण से पीड़ा पाए हुए अग्नि देव का धुआँ निकल गया और सूर्य भी निर्मल हो गए मानों इन दोनों का ही शोक दूर हो गया हो ॥ 74 ॥ उसी समय रावण के मुकुट के कुछ मणि पृथ्वी पर जा गिरे मानो राक्षसों की लक्ष्मी के आँसू ही ढुलक पड़े हों ॥ 75 ॥ पुत्रवान् राजा दशरथ के यहाँ पुत्र-जन्म के समय नगाड़े आदि बाजे पीछे बजे, पहले देवताओं ने ही स्वर्ग में बधाई की दुन्दुभी बजा सुनाई ॥ 76 ॥ और उनके राजभवन पर आकाश में कल्पवृक्षों के फूलों की जो वर्षा हुई उसी से उनके माङ्गलिक संस्कारों का आरंभ हुआ ॥ 77 ॥ जातकर्म आदि संस्कार हो चुकने पर गाय का दूध पी-पीकर जैसे-जैसे राजकुमार बढ़ने लगे वैसे ही वैसे राजा दशरथ का आनन्द भी बढ़ने लगा मानो यह आनन्द उन चारों राजकुमारों का जेठा भाई हो ॥ 78 ॥ जैसे घी आदि पड़ने से हवन की अग्नि का स्वाभाविक तेज बढ़ जाता है वैसे ही शिक्षा पाने से उन चारों राजकुमारों की स्वाभाविक नम्रता और भी अधिक बढ़ गई ॥ 79 ॥ जैसे ऋतुएँ नन्दनवन को चमका डालती हैं वैसे ही परस्पर प्रेम से उन चारों कुमारों ने पवित्र रघुकुल को उजागर कर दिया ॥ 80 ॥ यद्यपि चारों में परस्पर बहुत प्रेम था, फिर भी विशेष प्रेम के कारण जैसे राम और लक्ष्मण की एक जोड़ी हो गई वैसे ही भरत और शत्रुघ्न की भी जोड़ी हो गई ॥ 81 ॥ जैसे वायु और अग्नि का तथा चन्द्रमा और समुद्र का जोड़ा कभी अलग नहीं होता वैसे ही राम और लक्ष्मण का तथा भरत और शत्रुघ्न का साथ कभी नहीं छूटा ॥ 82 ॥ सारी प्रजा के स्वामी राजकुमारों ने अपने तेज और नम्र व्यवहार से अपनी प्रजा का मन उसी प्रकार हर लिया जैसे गर्मी के अन्त में काले बादल लोगों के मन आकृष्ट कर लेते हैं ॥ 83 ॥ राजा की चारों संतानें ऐसी शोभा दे रही थीं मानों धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों ने अवतार आ लिया हो ॥ 84 ॥ चारों पितृभक्त राजकुमारों ने राजा दशरथ को अपने गुणों से उसी प्रकार प्रसन्न कर लिया जैसे चारों समुद्रों ने रत्न देकर चारों दिशाओं के स्वामी राजा दशरथ को प्रसन्न कर लिया था ॥ 85 ॥ जैसे असुरों की तलवारों की धार कुंठित करने वाले अपने चार दाँतों से ऐरावत शोभा देता है, जैसे साम, दाम, दण्ड और भेद इन चार उपायों से राजनीति शोभा देती है और जैसे रथ के जुए

सुरगज इव दन्तैर्भग्नदैत्यासिधारैर्नय इव पणबन्धव्यक्तयोगैरुपायैः ।
हरिरिव युगदीर्घोर्दोभिरंशौस्तदीयैः पतिरवनिपतीनां तैश्चकाशो चतुर्भिः ॥ 86 ॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये

रामावतारो नाम दशमः सर्गः ।।



के समान लम्बी-लम्बी अपनी चार भुजाओं से विष्णु भगवान् शोभा देते हैं वैसे ही राजा दशरथ भी अपने चार सुयोग्य पुत्रों से सुशोभित दिखाई देने लगे ॥ 86 ॥

महाकवि कालिदास के रचे हुए रघुवंश महाकाव्य में रामावतार नामका दसवाँ सर्ग पूर्ण हुआ।



एकादशः सर्गः

कौशिकेन स किल क्षितीश्वरो राममध्वरविधातशान्तये ।
 काकपक्षधरमेत्य याचितस्तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते ॥ 1 ॥
 कृच्छलब्धमपि लब्धवर्णभाक्तं दिदेश मुनये सलक्ष्मणम् ।
 अप्यसुप्रणयिनां रघोः कुले न व्यहन्यत कदाचिदर्थिता ॥ 2 ॥
 यावदादिशति पार्थिवस्तयोर्निर्गमाय पुरमार्गसंस्क्रियाम् ।
 तावदाशु विदधे मरुत्सखैः सा सपुष्पजलवर्षिभिर्घनैः ॥ 3 ॥
 तौ निदेशकरणोद्यतौ पितुर्धन्विनौ चरणयोर्निपेततुः ।
 भूपतेरपि तयोः प्रवत्स्यतोर्नभ्योरुपरि वाष्पबिन्दवः ॥ 4 ॥
 तौ पितुर्नयनजेन वारिणा किञ्चिदुक्षितशिखाण्डकावुभौ ।
 धन्विनौ तमृषिमन्वगच्छतां पौरदृष्टिकृतमार्गतोरणौ ॥ 5 ॥
 लक्ष्मणानुचरमेव राघवं नेतुमैच्छदृषिरित्यसौ नृपः ।
 आशिषं प्रयुयुजे न वाहिनीं सा हि रक्षणविधौ तयोः क्षमा ॥ 6 ॥
 मातृवर्गचरणस्पृशौ मुनेस्तौ प्रपद्य पदवीं महौजसः ।
 रेजतुर्गतिवशात्प्रवर्तिनौ भास्करस्य मधुमाधवाविव ॥ 7 ॥
 वीचिलोलभुजयोस्तयोरगतं शैशवाच्चपलमप्यशो भत ।
 तोयदागम इवोद्धयेभिद्ययोरनामधेयसदृशं विचेष्टितम् ॥ 8 ॥

ग्यारहवाँ सर्ग

एक दिन राजा दशरथ के पास विश्वामित्र ने आकर कहा कि मेरे यज्ञ की रक्षा के लिये काकपक्ष-धारी राम को मेरे साथ भेज दीजिए। ठीक ही है, जो तेजस्वी होते हैं, उनके लिये यह नहीं विचार किया जाता कि वे छोटे हैं या बड़े ॥ 1 ॥ यद्यपि दशरथ ने राम और लक्ष्मण को बड़ी तपस्या से पाया था पर वे विद्वानों के इतने भक्त थे कि उन्होंने तत्काल राम-लक्ष्मण को मुनि के साथ भेज दिया क्योंकि रघुकुल की सदासे यह रीति रही है कि यदि कोई प्राण भी माँगे तो उसे विमुख नहीं लौटाते ॥ 2 ॥ अभी राजा दशरथ उनकी विदाई के लिये सड़क सजाने की आज्ञा अपने सेवकों को दे ही रहे थे कि इतने में वायु ने फूल और बादलों ने जल ला लाकर सड़कों पर बरसा ही तो दिया ॥ 3 ॥ पिता की आज्ञा पालन करने को प्रस्तुत होकर दोनों राजकुमार अपने पिता के चरणों में प्रणाम करने को झुके ही थे कि दशरथ की आँखों से उन दोनों पर टप-टप आँसू टपक पड़े ॥ 4 ॥ और उन आँसुओं से दोनों राजकुमारों की चोटियाँ भीग गईं। जिस समय धनुष लेकर दोनों राजकुमार विश्वामित्र के पीछे-पीछे चले जा रहे थे उस समय उन्हें देखते हुए पुरवासियों की आँखें ऐसी जान पड़ती थीं मानो नेत्रों की बंदनवार ला बाँधी गई हो ॥ 5 ॥ विश्वामित्र केवल राम और लक्ष्मण को ही ले जाना चाहते थे। अतः राजा ने उनकी सहायता के लिये अपना आशीर्वाद ही दिया, सेना नहीं, क्योंकि उनका आशीर्वाद ही उनकी रक्षा के लिए पर्याप्त था ॥ 6 ॥ माताओं के चरण सूकर दोनों राजकुमार उन तेजस्वी मुनि के पीछे चलते हुए ऐसे शोभित होते थे मानो सूर्य के पीछे-पीछे चैत्र और वैशाख मास चले जा रहे हो ॥ 7 ॥ बचपन के कारण समान चंचल बाँहों वाले राजकुमारों का चुलबुलापन ऐसा सुन्दर लग रहा था मानो वर्षा ऋतु में दोनों उद्ध्य

तौ बलातिबलयोः प्रभावतो विद्ययोः पथि मुनिप्रदिष्टयोः ।
 मम्लतुर्न मणिकुट्टिमोचितौ मातृपाश्वरिर्वर्तिनाविव ॥ 9 ॥
 पूर्ववृत्तकथितैः पुराविदः सानुजः पितृसखास्य राघवः ।
 उद्यमान इव वाहनोचितः पादचारमपि न व्यभावयत् ॥ 10 ॥
 तौ सरांसि रसवद्भिरम्बुभिः कूजितैः श्रुतिसुखैः पतत्रिणः ।
 वायवः सुरभिपुष्परेणुभिश्छायया च जलदाः सिषेविरे ॥ 11 ॥
 नाम्भसां कमलशोभिनां तथा शाखिनां चन परिश्रमच्छिदाम् ।
 दर्शनेन लघुना यथा तयोः प्रीतिमापुरुभयोस्तपस्विनः ॥ 12 ॥
 स्थाणुदग्धवपुषस्तपोवनं प्राप्य दाशरथिरात्तकामुक्कः ।
 विग्रहेण मदनस्य चारुणा सोऽभवत्प्रतिनिधिर्न कर्मणा ॥ 13 ॥
 तौ सुकेतुसुतया खिलीकृते कौशिकाद्विदितशापया पथि ।
 निन्यतु स्थलनिवेशितादनी लीलयैव धनुषी अधिग्यताम् ॥ 14 ॥
 ज्यानिनादमद्य गृह्णीतौ तयोः प्रादुरास बहुलक्षपाष्ठविः ।
 ताडका चलकपालकुण्डला कालिकेव निविडा बलाकिनी ॥ 15 ॥
 तीव्रवेगधुतमार्गवृक्षया प्रेतचीवरवसा स्वनोद्यया ।
 अभ्यभावि भरताग्रजस्तया वात्ययेव पितृकाननोत्थया ॥ 16 ॥

और भिद्य नाम की नदियाँ लहराती इठलाती तटों को ढाती हुई चली जा रही हों ॥ 8 ॥ (आज तक उन बालकों ने घर से बाहर तो पैर रक्खा ही न था, इसलिये) मार्ग में ही विश्वामित्र ने उन्हें बला और अतिबला नाम की दोनों विद्याएँ सिखा दीं जिससे ऊबड़-खाबड़ वन के मार्ग में चलते हुए उन्हें थकान नहीं हो रही थी और वैसा ही सुख मिल रहा था जैसे वे मणियों से जड़े हुए अपने भवनों में अपनी माता के आस पास घूम रहे हों ॥ 9 ॥ जो राम लक्ष्मण सदा दिव्य रथों पर चढ़कर चलते थे उन्हें तनिक भी थकावट नहीं हुई क्योंकि उनके पिता के मित्र विश्वामित्र उन्हें मार्ग में पुरानी-पुरानी बहुत-सी कथाएँ सुनाते चले जा रहे थे ॥ 10 ॥ सरोवरों ने अपना मीठा जल पिलाकर, पक्षियों ने मधुर गीत सुनाकर, वायु ने सुगन्धित पराग फैलाकर और बादलों ने शीतल छाया देकर मार्ग में उन दोनों की बड़ी सेवा की ॥ 11 ॥ कमलों से भरे हुए, सरोवर तथा थकावट हरने वाले वृक्षों की छाया देखकर भी आश्रम के तपस्वी उतने प्रसन्न कभी नहीं हुए थे जितने इन दोनों राजकुमारों को देखकर प्रसन्न हुए ॥ 12 ॥ जिस तपोवन में शिव ने कामदेव को भस्म किया था वहाँ जब सुन्दर शरीरवाले राम धनुष उठाए हुए पहुँचे तब जान पड़ा मानो वे वहाँ कामदेवकी सुन्दरता के ही प्रतिनिधि बनकर आए हों, उसके कार्यों के नहीं ॥ 13 ॥ वहीं मार्ग में उन्हें वह सुकेतु की कन्या ताड़का राक्षसी मिली जिसने सारे मार्ग को उजाड़ बना दिया था और जिसके शाप की कथा महर्षि विश्वामित्र ने पहले ही राम को सुना दी थी। उसे देखते ही उन दोनों भाइयों ने अपने धनुष पृथ्वी पर टेककर उस पर डोरियाँ चढ़ा लीं ॥ 14 ॥ उनके धनुष की डोरी की टंकार सुनते ही, कानों में लटकी हुई मनुष्य की खोपड़ियों का कुण्डल हिलाती हुई अमावस्या की रात्रि के समान काली कलूटी ताड़का उनके आगे आकर इस प्रकार खड़ी हो गई मानो बगुलों की पाँतों से भरी काली बदली हो ॥ 15 ॥ बड़े वेग से वृक्षों को ढाती हुई, प्रेतों के वस्त्र पहने हुई, भयंकर रूप से गरजने-वाली तथा श्मशान से उठे हुए बवंडर के समान आकृतिवाली ताड़का, राम पर आ टूटी ॥ 16 ॥ वृक्षकी शाखा के

उद्यतैकभुजयष्टिमायतीं श्रोणिलम्बिपुरुषान्त्रमेखलाम् ।
 तां विलोक्य वनितावधे घृणां पत्त्रिणा सह मुमोच राघवः ॥ 17 ॥
 यच्चकार विवरं शिलाघने ताडकोरसि स रामसायकः ।
 अप्रविष्टविषयस्य रक्षासां द्वारतामगमदन्तकस्य तत् ॥ 18 ॥
 बाणभिन्नहृदया निपेतुषी सा स्वकाननभुवं न केवलाम् ।
 विष्टपत्रायपराजयस्थिरां रावणश्रियमपि व्यकम्पयत् ॥ 19 ॥
 राममन्मथाशारेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
 गन्धावदुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥ 20 ॥
 नेर्ऋतधनमथा मन्त्रावन्मुनेः प्रापदस्त्रमवदानतोषितात् ।
 ज्योतिरिन्धननिपाति भास्करात्सूर्यकान्त इव ताडकान्तकः ॥ 21 ॥
 वामनाश्रमपदं ततः परं पावनं श्रुतमृषेरूपेयिवान् ।
 उन्मनाः प्रथमजन्मचेष्टितान्यस्मरन्नपि बभूव राघवः ॥ 22 ॥
 आससाद मुनिरात्मनस्ततः शिष्यवर्गपरिकल्पितार्हणम् ।
 बद्धपल्लवपुटाञ्जलिदुमं दर्शनोन्मुखामृगं तपोवनम् ॥ 23 ॥
 तत्र दीक्षितमृषिं ररक्षतुर्विघ्नतो दशरथात्मजौ शरैः ।
 लोकमन्धतमसात्क्रमोदितौ रश्मिभिः शशिदिवारकराविव ॥ 24 ॥

समान अपनी बाँहें उठाती हुई और कमर में आँतों की तगड़ी (करधन) लपेटे हुई उस ताड़का को देखकर राम ने स्त्री को मारने की घृणा और बाण दोनों एक साथ छोड़े ॥ 17 ॥ राम के उस बाण ने ताड़का की पत्थर की चट्टान के समान कठोर छाती में जो छेद किया वह मानो राक्षसों के उस देश में यमराज के प्रवेश करने के लिये द्वार खोल दिया जहाँ अभीतक वह जा नहीं पा सक रहा था ॥ 18 ॥ राम के बाण से जब ताड़का की छाती फट गई और वह नीचे जा गिरी तब उसके गिरने से वह जङ्गल ही नहीं वरन् लोकों को जीतने से पाई हुई रावण की राजलक्ष्मी भी काँप उठी ॥ 19 ॥ राम के बाण से बिंधकर दुर्गन्ध भरे रुधिर से लिपटी हुई ताड़का इस प्रकार सीधे यमलोक चली गई जैसे काम के बाण से घायल हुई कोई अभिसारिका चन्दन का लेप करके अपने प्रिय के घर जा रही हो ॥ 20 ॥ जैसे सूर्य, लकड़ी जलाने का तेज, सूर्यकान्त मणि को दे देता है वैसे ही ताड़का के मरने से महर्षि विश्वामित्र इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने राम को राक्षसों का संहार करने वाला मन्त्र-सहित दिव्य अस्त्र भी दे दिया ॥ 21 ॥ वहाँ से रामचन्द्र जी वामन के उस पवित्र आश्रम में आ पहुँचे जिसके विषयों में विश्वामित्र ने पहले ही उन्हें सब बता दिया था। वहाँ अपने पूर्व जन्म के वामनावतार की लीलाओं का ठीक-ठीक स्मरण न होने पर भी वे कुछ उत्कण्ठित से अवश्य हो गए ॥ 22 ॥ वहाँ से मुनि अपने उस आश्रम पर जा पहुँचे जहाँ शिष्यों ने पूजा की सब सामग्री इकट्ठी कर रखी थी, जहाँ वृक्ष भी अपने पत्तों की अञ्जलि बाँधे खड़े थे और जहाँ मृग भी बड़ी उत्सुकता से इन लोगों को देख रहे थे ॥ 23 ॥ जैसे सूर्य और चन्द्रमा बारी-बारी से अपनी किरणों से पृथ्वी का अँधेरा दूर करते रहते हैं वैसे ही आश्रम में बारी-बारी से राम और लक्ष्मण भी यज्ञ करने-वाले ऋषि के विघ्न दूर करते जा रहे थे ॥ 24 ॥ इतने में ही यज्ञ की वेदी पर बन्धु जीव (दुपहरिया)-के फूल के समान बड़ी-बड़ी रक्तकी बूंदें देखकर ऋषियों को बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने

वीक्ष्य वेदिमध रक्तबिन्दुभिर्बन्धुजीवपृथभिः प्रदूषिताम् ।
 संभ्रमोऽभवदपोढकर्मणामृत्विजां च्युतविकङ्कतस्तु चाम् ॥ 25 ॥
 उन्मुखः सपदि लक्ष्मणाग्रजो बाणमाश्रयमुखात्समुद्धरन् ।
 रक्षसां बलमपश्यदम्बरे गृध्रपक्षपवनेरितध्वजम् ॥ 26 ॥
 तत्र यावधिपती मखद्विषां तौ शरव्यमकरोत्स नेतरान् ।
 किं महोरगविसर्पिविक्रमो राजिलेष्टु गरुडं प्रवर्तते ॥ 27 ॥
 सोऽस्त्रमुग्रजवमस्त्रकोविदः संदधे धनुषि वायुदैवतम् ।
 तेन शैलगुरुमप्यपातयत्पाण्डुपत्रमिव ताडकासुतम् ॥ 28 ॥
 यः सुबाहुरिति राक्षसोऽपरस्तत्र तत्र विससर्प मायया ।
 तं क्षुरप्रशकलीकृतं फृती पत्रिणां व्यभजदाश्रमाद्बहिः ॥ 29 ॥
 इत्यपास्तमखविघ्नयोस्तयोः सांयुगीनमभिनन्द्य विक्रमम् ।
 ऋत्विजः कुलपतेर्यथाक्रमं वाग्यतस्य निरवर्तयन्क्रियाः ॥ 30 ॥
 तौ प्रणामचलकाकपक्षकौ भ्रातराववभृथाप्लुतो मुनिः ।
 आशिषामनुपदं समस्पृशद्भ्रपाटिततलेन पाणिना ॥ 31 ॥
 तं न्यमन्त्रयत संभृतक्रतुर्मैथिलः स मिथिलां ब्रजन्वशी ।
 राघवावपि निनाय बिभ्रतौ तद्धनुःश्रवणजं कुतूहलम् ॥ 32 ॥
 तैः शिवेष्टु वसतिर्गताध्वभिः सायमाश्रमतर्ष्वगृह्यत ।
 येषु दीर्घतपसः परिग्रहो वासवक्षणाकलत्रतां ययौ ॥ 33 ॥

यज्ञ करना बन्द करके अपने-अपने स्त्रुवे नीचे रख दिए ॥ 25 ॥ उसी समय राम ने अपने तूणीरसे बाण निकाल कर ऊपर मुँह करके आकाश की ओर देखा कि गिद्ध के पंखों के समान हिलती हुई ध्वजाओं-वाली राक्षसों की सेना आई खड़ी है ॥ 26 ॥ राम ने और सबको छोड़कर उन्हीं दो राक्षसों को बाण मारे जो उस सेना के सेनानायक थे और जो यज्ञ से घृणा करते थे क्योंकि बड़े-बड़े सर्पों पर आक्रमण करने वाला गरुड क्या कभी जल के छोटे-छोटे सँपोलों पर आक्रमण किया करता है ? ॥ 27 ॥ दिव्य अस्त्र चलाने में राम का हाथ ऐसा सधा हुआ था कि उन्होंने झट अपने धनुष पर वायव्य अस्त्र चढ़ाया और पर्वत से भी बड़े ताड़का के पुत्र मारीच को उस बाण से उड़ाकर वैसे ही दूर उड़ा फेंका जैसे कोई सूखा पत्ता उड़ा दिया हो ॥ 28 ॥ सुबाहु नाम का जो दूसरा राक्षस अपनी माया से इधर-उधर घूम रहा था उसे भी राम ने अपने बाणों से टुकड़े-टुकड़े करके आश्रम के बाहर मार गिराया जिसे पक्षियों ने क्षण भर में ही बाँट खाया ॥ 29 ॥ जब यज्ञ करने वाले ऋषियों ने देखा कि थोड़े ही समय में राम ने सब विघ्न दूर कर दिए तब तो उन्होंने राम और लक्ष्मण के पराक्रम की बड़ी प्रशंसा की और मौन धारण किए विश्वामित्र ने विधि के साथ अपना यज्ञ पूरा कर डाला ॥ 30 ॥ यज्ञ पूर्ण होने पर, स्नान करके महर्षि विश्वामित्र ने उन राम और लक्ष्मण को बड़ा आशीर्वाद दिया जिनकी लटें प्रणाम करते समय झूली पड़ रही थीं। ऋषि ने कुशा से छिली हुई अपनी हथेली उनके सिर पर रखकर उन पर अपना बड़ा स्नेह जताया ॥ 31 ॥ उन्हीं दिनों राजा जनक भी वह धनुर्यज्ञ ठाने बैठे थे जिसमें उन्होंने मुनियों को भी निमन्त्रण दिया था। धनुर्यज्ञ की बात सुनकर दोनों राजकुमारों को बड़ा कुतूहल हुआ, इसलिये विश्वामित्र उन दोनों को भी साथ लेकर मिथिलापुरी को चल दिए ॥ 32 ॥ वे कुछ ही दूर चले होंगे कि साँझ हो चली वे

प्रत्यपद्यत चिराय यत्पुनश्चारु गौतमवधूः शिलामयी ।
 स्वं वपुः स किल कित्विषच्छिदां रामपादरजसामनुग्रहः ॥ 34 ॥
 राघवान्वितमुपस्थितं मुनिं तं निशम्य जनको जनेश्वरः ।
 अर्धकामसहितं सपर्यया देहबद्धमिव धर्ममभ्यगात् ॥ 35 ॥
 तौ विदेहनगरीनिवासिनां गां गताविव दिवः पुनर्वसू ।
 मन्यते स्म पिबतां विलोचनैः पक्ष्मपातमपि वञ्चनां मनः ॥ 36 ॥
 यूपवत्यवसिते कालवित्कुशिकवंशवर्द्धनः ।
 राममिष्वसनदर्शनोत्सुकै मैथिलाय कथायांबभूव सः ॥ 37 ॥
 तस्य वीक्ष्य ललितं वपुः शिशोः पार्थिवः प्रथितवंशजन्मनः ।
 स्वं विचिन्त्य च धनुर्दुरानमं पीडितो दुहितृशुल्कसंस्थया ॥ 38 ॥
 अङ्गवीच्च भगवन्मतङ्गजैर्यद्बृहद्भिरपि कर्म दुष्करम् ।
 तत्र नाहमनुमन्तुमुत्सहे मोघवृत्ति कलभस्य चेष्टितम् ॥ 39 ॥
 हेपिता हि बहवो नरेश्वरास्तेन तात धनुषा धनुर्भृतः ।
 ज्यानिघातकठिनत्वचो भुजान्स्वान्विधूय धिगिति प्रतस्थिरे ॥ 40 ॥
 प्रत्युवाच तमृषिर्निशम्यतां सारतोऽयमथवा गिरा कृतम् ।
 चाप एव भवतो भविष्यति व्यक्तशक्तिरशनिर्गिराविव ॥ 41 ॥

उस आश्रम के सुन्दर वृक्षों के तले ही टिक गए जहाँ महातपस्वी गौतम की स्त्री अहल्या थोड़ी देर के लिये इन्द्र की पत्नी बन गई थीं ॥ 33 ॥ राम के चरणों की धूल सब पापों को हरनेवाली थी इसलिये उसके छूते ही पति के शाप से पत्थर बनी हुई अहल्या को फिर इतने दिनों पीछे वही पहले वाला सुन्दर शरीर मिल गया ॥ 34 ॥ जब राजा जनक को यह समाचार मिला कि विश्वामित्र के साथ राम और लक्ष्मण भी आए हुए हैं तब वे पूजा की सामग्री लेकर उनकी अगवानी के लिये मिलने चले आए। उस समय विश्वामित्र के साथ वे दोनों जनक को ऐसे लगे मानो धर्म के साथ अर्थ और काम ही वहाँ चले आए। ॥ 35 ॥ वे दोनों राजकुमार ऐसे सुन्दर लग रहे थे मानो दो पुनर्वसु नक्षत्र ही पृथ्वी पर उतरे चले आए हों। जनकपुर के निवासी ऐसे मगन होकर अपनी आँखों से उनका रूप पी रहे थे कि बीच-बीच में पलकों का गिरना भी उन्हें बड़ा अखर रहा था ॥ 36 ॥ जब धनुर्यज्ञ की सब क्रियाएँ समाप्त हो गईं तब ठीक अवसर समझकर विश्वामित्र ने जनक से कहा कि राम भी वह धनुष देखना चाहते हैं ॥ 37 ॥ जब जनक ने एक ओर प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न हुए बालक राम का कोमल शरीर देखा और दूसरी ओर अपने उस कठोर धनुषपर दृष्टि डाली जिसे बड़े-बड़े वीर भी नहीं झुका सके थे, तब उन्हें इस बात का बड़ा पछतावा हुआ कि मैंने अपनी कन्या के विवाह के लिये यह धनुष तोड़ने का अड़ंगा व्यर्थ में क्यों लगा दिया ॥ 38 ॥ वे विश्वामित्र से बोले- 'भगवन्! जो काम बड़े-बड़े मतवाले हाथी नहीं कर सकते, उसे हाथी के बच्चे से कराना व्यर्थ का खेलवाड़ है। इसलिये मेरा मन तो नहीं चाहता कि इनसे धनुष उठवाया जाय ॥ 39 ॥ इस धनुष के उठाने में बड़े-बड़े धनुर्धर राजा अपना-सा मुँह लेकर रह गए और अपनी उन भुजाओं को धिक्कारते हुए चले गए जिनपर धनुष की डोरी की फटकार से बड़े-बड़े घड़े पड़े हुए थे ॥ 40 ॥ यह सुनकर मुनि बोले- 'राजन्! इनकी शक्ति आप मुझसे सुनिए। पर कहने से होता क्या है! जैसे बज्रकी शक्ति की परीक्षा पहाड़ पर होती है वैसे ही इनकी शक्ति की परीक्षा धनुष पर ही हो जायगी'

एवमाप्तवचनात्स पौरुषं काकपक्षकधारेऽपि राघवे ।
 श्रद्धे त्रिदशगोपमात्रके दाहशक्तिमिव कृष्णवर्त्मनि ॥ 42 ॥
 व्यादिदेश गणशोऽथ पार्श्वगान्कार्मुकाभिहरणाय मैथिलः ।
 तैजसस्य धनुषः प्रवृत्तये तोयदानिव सहस्रलोचनः ॥ 43 ॥
 तत्प्रसुप्तभजगेन्द्रभीषणं वीक्ष्य दाशरथिराददे धनुः ।
 विदुतक्रतुमृगानुसारिणं येन बाणमसृजद्बृभध्वजः ॥ 44 ॥
 आततज्यमकरोत्स संसदा विस्मयस्तिमितनेत्रमीक्षितः ।
 शैलसारमपि नातियत्नतः पुष्पचापमिव पेशलं स्मरः ॥ 45 ॥
 भज्यमानमतिमात्रकर्षणात्तेन वज्रपरुषस्वनं धनुः ।
 भार्गवाय दृढमन्यवे पुनः क्षत्रमुद्यतमिव न्यवेदयत् ॥ 46 ॥
 दृष्टसारमथ रुद्रकार्मुके वीर्यशुल्कमभिनन्द्य मैथिलः ।
 राघवाय तनयामयोनिजां रूपिणीं श्रियमिव न्यवेदयत् ॥ 47 ॥
 मैथिलः सपदि सत्यसङ्गरो राघवाय तनयामयोनिजाम् ।
 संनिधौ द्युतिमतस्तपोनिधोरग्निसाक्षिक इवातिसृष्टवान् ॥ 48 ॥
 प्राहिणोच्च महितं महाद्युतिः कोशलाधिपतये पुरोधसम् ।
 भृज्यभावि दुहितुः परिग्रहादिश्यतां कुलमिदं निमेरिति ॥ 49 ॥

॥ 41 ॥ मुनि के कहने से जनक को भी कुछ-कुछ विश्वास होने लगा कि जैसे बीरबहूटी के बराबर नन्ही-सी चिनगारी में भी जनाने की शक्ति छिपी रहती है वैसे ही काकपक्षधारी राम में भी धनुष उठाने की शक्ति अवश्य होगी ॥ 42 ॥ इसलिये जनक ने अपने सेवकों को उसी प्रकार धनुष लाने की आज्ञा दे दी जैसे इन्द्र भगवान् बादलों को अपना धनुष प्रकट करने की आज्ञा दे देते हैं ॥ 43 ॥ वह धनुष जब ले आया गया तब वह ऐसा जान पड़ता था मानो कोई बड़ा भारी अजगर सोया पड़ा हो। राम ने देखते-देखते शङ्कर का वह धनुष थाम उठाया जिसे हाथ में लेकर शङ्कर ने मृग के रूप में दौड़ने वाले यज्ञदेवता के ऊपर बाण छोड़े थे ॥ 44 ॥ सभी सभासदों को तब बड़ा आश्चर्य हुआ जब राम ने उस पर्वत के समान भारी धनुष पर वैसी ही सरलता से डोरी चढ़ा दी जैसे कामदेव अपने फूलों के धनुष पर डोरी चढ़ाया करता है ॥ 45 ॥ राम ने धनुष को इतना खींच ताना कि वह वज्रके समान भयङ्कर शब्द करके इस प्रकार कड़कड़ाता हुआ टूट गया, मानो उसने महाक्रोधी परशुराम को सूचना जा दी हो कि क्षत्रियों ने अब फिर सिर उठाना प्रारम्भ कर दिया है ॥ 46 ॥ राजा जनक ने जब देखा कि धनुष तोड़कर राम ने अपना पराक्रम दिखला दिया है तब उन्होंने राम का बड़ा आदर किया और पृथ्वी से उत्पन्न हुई अपनी कन्या जानकी उसी प्रकार राम के हाथ सौंप दी मानो साक्षात् अपनी लक्ष्मी ही उन्हें दे डाली हो ॥ 47 ॥ सत्य प्रतिज्ञा करने वाले जनक ने विश्वामित्र को ही विवाह का साक्षी अग्नि समझ लिया और तत्काल उन्हीं के आगे राम को सीता समर्पित कर दी ॥ 48 ॥ तब महातेजस्वी राजा जनक ने अपने पूज्य पुरोहित से दशरथ के पास कहला भेजा कि मेरी पुत्री सीता को स्वीकार करके इस निमि-कुलपर वैसी ही कृपा कीजिए जैसी आप अपने सेवकों पर किया करते हैं ॥ 49 ॥ उधर दशरथ यह विचार ही रहे थे कि योग्य पतोहू हमारे घर में आवे कि इतने में जनक के पुरोहित भी राजा दशरथ की इच्छा पूरी

अन्वियेष सदृशीं स च स्नुषां प्राप चैनमनुकूलवाग्द्विजः ।
 सद्य एव सुकृतां हि पच्यते कल्पवृक्षफलधर्मि काङ्क्षितम् ॥ 50 ॥
 तस्य कल्पितपुरस्क्रियाविधोः शुश्रुवान्वचनमग्रजन्मनः ।
 उच्चचाल बलभित्सखो वशी सैन्यरेणुमुणितार्कदीधितिः ॥ 51 ॥
 आससाद मिथिलां स वेष्टयन्पीडितोपवनपादपां बलैः ।
 प्रीतिरोधमसहिष्ट सा पुरी स्त्रीव कान्तपरिभोगमायतम् ॥ 52 ॥
 तौ समेत्य समये स्थिताबुभौ भूपती वरुणवासवोपमौ ।
 कन्यकातनयकौतुकक्रियां स्वप्नभावसदृशीं वितेनतुः ॥ 53 ॥
 पार्थिवीमुदवहद्वधूद्वहो लक्ष्मणस्तदनुजामथोर्मिलाम् ।
 यौ तयोरवरजौ वरोजसौ तौ कुशध्वजसुते सुमध्यमे ॥ 54 ॥
 ते चतुर्थसहितास्त्रयो बभुः सूनवो नववधूपरिग्रहाः ।
 सामदानविधिभेदविग्रहाः सिद्धिमन्त इव तस्य भूपतेः ॥ 55 ॥
 ता नराधिपसुता नृपात्मजैस्ते च ताभिरगमन्कृतार्थताम् ।
 सोऽभवद्वरवधूसमागमः प्रत्ययप्रकृतियोगसन्निभः ॥ 56 ॥
 एवमात्तरतिरात्मसंभवांस्तान्निवेश्य चतुरोऽपि तत्र सः ।
 अध्वसु त्रिषु विसृष्टमैथिलः स्वां पुरीं दशरथो न्यवर्तत ॥ 57 ॥
 तस्य जातु मरुतः प्रतीपगा वर्त्मसु ध्वजतरुप्रमाथिनः ।
 चिक्लिशुर्भृशतया वरुथिनीमुत्तटा इव नदीरयाः स्थलीम् ॥ 58 ॥

होने का समाचार लेकर वहाँ जा ही पहुँचे। ठीक भी है, पुण्यवानों की अभिलाषा तो कल्पवृक्ष के समान तत्काल फल देने वाली होती ही है ॥ 50 ॥ इन्द्रके मित्र, जितेन्द्रिय दशरथ ने पुरोहित का बड़ा सत्कार किया और उनकी बातें सुनकर वे इतनी सेना साथ लेकर चले कि उससे उठी हुई धूल से सूर्य भी ढक गया ॥ 51 ॥ वे इस ठाठ-बाट से मिथिला जा पहुँचे मानो उन्होंने उसपर चढ़ाई आ की हो। मिथिला के बाहर के उपवन को तो उनकी सेना ने रौंद ही डाला। पर इस प्रेम की चढ़ाई को उस नगरी ने उसी प्रकार सहन किया जैसे कोई स्त्री अपने प्रियतम के कठोर संभोग को सहन किया करती है ॥ 52 ॥ वरुण और इन्द्र के समान उन दोनों प्रतापी राजाओं ने मिलकर शास्त्र की विधि से अपने ऐश्वर्य के अनुकूल अपने पुत्रों और कन्याओं का विवाह कर दिया ॥ 53 ॥ राम का सीता से और लक्ष्मण का सीता की छोटी बहन उर्मिला से विवाह कर दिया गया। भरत और शत्रुघ्न का विवाह जनक के छोटे भाई कुशध्वज की माण्डवी और श्रुतिकीर्ति नाम की कन्याओं से कर दिया गया ॥ 54 ॥ वे चारों भाई नई बहुओं के साथ ऐसे सुशोभित हुए मानो राजा दशरथ के साम, दाम, दण्ड और भेद, इन चारों उपायों को सिद्धियाँ मिल गई हों ॥ 55 ॥ उन चारों राजकुमारों को पाकर राजकन्याएँ और राज-कन्याओं को पाकर राजकुमार निहाल हो गए। वह वर और वधुओं का मिलन ऐसा हुआ जैसे शब्द के मूल रूपों में प्रत्यय आ जुड़े हों ॥ 56 ॥ इस प्रकार दशरथ ने चारों पुत्रों का विवाह करके तीन पड़ाव तक पहुँचकर वहाँ से जनक को लौटा दिया और स्वयं बड़े प्रसन्न मन से अयोध्या की ओर बढ़ चले ॥ 57 ॥ जैसे बढ़ी हुई नदी की धारा आस-पास की भूमि को उजाड़ डालती है वैसे ही एक दिन मार्ग में सेना के ध्वजारूपी वृक्षों को झकझोरने वाले वायु ने सारी सेना को व्याकुल कर दिया ॥ 58 ॥ उससे सूर्य के चारों ओर एक

लक्ष्यते स्म तदनन्तरं रविर्बद्धभीमपरिवेषमण्डलः ।
 वैनतेयशमितस्य भोगिनो भोगवेष्टित इव च्युतो मणिः ॥ 59 ॥
 श्येनपक्षपरिधूसरालकाः सांध्यमेघरुधिराद्वाससः ।
 अङ्गना इव रजस्वला दिशो नो बभूवुरवलोकनक्षमाः ॥ 60 ॥
 भास्करश्च दिशमध्यवास यां तां श्रिताः प्रतिभयं ववासिरे ।
 क्षत्रशोणितपितृक्रियोचितं चोदयन्त्य इव भार्गवं शिवाः ॥ 61 ॥
 तत्प्रतीपपवनादि वैकृतं प्रेक्ष्य शान्तिमधिकृत्य कृत्यवित् ।
 उन्वयुङ्क्तगुरुमीश्वरः क्षितेःस्वान्तमित्यलघयत्स तद्व्यथाम् ॥ 62 ॥
 तेजसः सपदि राशिरुत्थितः प्रादुरास किल वाहिनीमुखे ।
 यः प्रमृज्य नयनानि सैनिकैर्लक्षणीयपुरुषाकृतिश्रितात् ॥ 63 ॥
 पित्र्यमंशमुपवीतलक्षणं मातृकं च धनुरुर्जितं दधात् ।
 यः ससोम इव धर्मदीधितिः स द्विजिह्व इव चन्दनदुमः ॥ 64 ॥
 येन रोषपरुषात्मनः पितुः शासने स्थितिभिदोऽपि तस्थुषा ।
 वेपमानजननीशिरश्छिदा प्रागजीयत घृणा ततो मही ॥ 65 ॥
 अक्षबीजवलयेन निर्बभौ दक्षिणश्रवणसंस्थितेन यः ।
 क्षत्रियायान्तकरणैकविंशतेर्व्याजपूर्वगणनामिवोद्वहन् ॥ 66 ॥

बड़ा भारी मण्डल बन गया और वह ऐसा लगने लगा जैसे गरुड़ से मारा हुआ कोई साँप अपने सिरसे गिरी हुई मणि के चारों ओर कुण्डली मारे पड़ा हुआ हो ॥ 59 ॥ जैसे रूखे, मैले बालों वाली तथा रक्त से लाल कपड़ों वाली रजस्वला स्त्री देखने में अच्छी नहीं लगती उसी प्रकार उस समय चारों ओर की वे दिशाएँ भी आँखों को नहीं सुहा रही थीं जिनमें मटमैले बाजों के पंख इधर-उधर उड़े जा रहे थे और सन्ध्या के लाल-लाल बादल छाए हुए थे ॥ 60 ॥ जिधर सूर्य था उधर ही सियारिनियों भयानक रूप से रोने लगीं मानो क्षत्रियों के रक्त से अपने पिता का तर्पण करने वाले परशुराम को वे पुकार-पुकार कर बुला रही हों ॥ 61 ॥ विरोधी पवन के चलने आदि अपशकुन होते देखकर उसकी शांति के लिये दशरथ ने अपने गुरुसे पूछा कि अब क्या करना चाहिए। इस पर गुरु वशिष्ठने कहा- 'चिन्ता की कोई बात नहीं है। इसका फल अच्छा ही होगा।' यह सुनकर दशरथ के मनमें कुछ ढाँढस बँधा ॥ 62 ॥ इसी बीच अचानक एक ऐसा प्रकाश का पुञ्ज सेना के आगे उठता दिखाई दिया जिसे देखकर सब सैनिकों की आँखें चौंधिया गईं। आँखें मलकर देखने पर वह प्रकाश का पुञ्ज साक्षात् पुरुष के रूप में दिखाई देने लगा ॥ 63 ॥ उस तेजस्वी पुरुष के शरीर पर ब्राह्मण पिता के अंशका सूचक यज्ञोपवीत शोभा दे रहा था। और कन्धे पर क्षत्रिय माता का अंश सूचित करने वाला धनुष लटका हुआ था। इस वेश में वे ऐसे जान पड़ते थे जैसे सूर्य के साथ चन्द्रमा हो या चन्दन के पेड़ से साँप लिपटे हुए हों ॥ 64 ॥ उन्होंने जिस समय क्रोध से कठोर हृदय वाले और उचित-अनुचित का विचार छोड़ देने वाले अपने पिता की आज्ञा मानकर अपनी काँपती हुई माता का सिर काट लिया था उस समय उन्होंने पहले तो दया को जीत लिया और फिर पृथ्वी को जीत लिया था ॥ 65 ॥ उनके दाएँ कान पर इक्कीस दाने की रुद्राक्ष की माला लटक रही थी मानो वह इक्कीस बार क्षत्रियों के नाश करने की गिनती करने के लिये ही उन्होंने पहन रखी हो ॥ 66 ॥ जब दशरथ ने उन परशुराम को देखा जिन्होंने अपने पिता के मारे जाने पर

तं पितुर्वधभवेन मन्युना राजवंशनिधनाय दीक्षितम् ।
 बालसूनुरवलोक्य भार्गवं स्वां दशां च विषसाद पार्थिवः ॥ 67 ॥
 नाम राम इति तुल्यमात्मजे वर्तमानमहिमे च दारुणे ।
 हृद्यमस्य भयदायि चाभवद्वत्नजातमिव हारसर्पयोः ॥ 68 ॥
 अर्ध्यमर्ध्यमिति वादिनं नृपं सोऽनवेक्ष्य भरताग्रजो यतः ।
 क्षात्रकोपदहनार्चिणं ततः संदधो दृशमुदग्रतारकाम् ॥ 69 ॥
 तेन कार्मुकनिषक्तमुष्टिना राघवो विगतभीः पुरोगतः ।
 उद्धृतीविवरचारिणं शरं कुर्वता निजगदे युयुत्सुना ॥ 70 ॥
 क्षात्रजातमपकारवैरि मे तन्निहत्य बहुशः शमं गतः ।
 सुप्तसर्प इव दण्डघट्टनाद्रोषितोऽस्मि तव विक्रमश्रवात् ॥ 71 ॥
 मैथिलस्य धनुरन्यपार्थिवैस्त्वं किलानमितपूर्वमक्षणोः ।
 तन्निशम्य भवता समर्थाये वीर्यशृङ्गमिव भग्नमात्मनः ॥ 72 ॥
 अन्यदा जगति राम इत्ययं शब्द उच्चरित एव मामगात् ।
 ब्रीडमावहति मे स संप्रति व्यस्तवृत्तिरुदयोन्मुखे त्वयि ॥ 73 ॥
 बिभ्रतोऽस्त्रमचलेऽप्यकुण्ठितं द्वौ रिपू मम मतौ समागसौ ।
 धोनुवत्सहरणाच्च हैहयस्त्वं च कीर्तिमपहर्तुमुद्यतः ॥ 74 ॥

क्रोध से क्षत्रियों को नाश करने की प्रतिज्ञा कर ली थी तब दशरथ को अपनी दशा देखकर बड़ी चिन्ता हुई क्योंकि उनके पुत्र अभी बच्चे ही थे ॥ 67 ॥ उनके पुत्र और परशुराम दोनों में राम नाम था। इसलिये जैसे गले के हार का मणि आनन्द और सर्प में रहने वाला मणि भय देता है, वैसे ही अपने पुत्र और परशुराम दोनों में आये हुए रामनाम से उन्हें भय भी हुआ और आनन्द भी ॥ 68 ॥ दशरथ अभी कहते ही रह गए कि आप के सत्कार के लिये 'यह अर्घ्य है, यह अर्घ्य है' किन्तु परशुराम ने उधर ध्यान भी न देकर क्षत्रियों को जलाने वाली अपनी टेढ़ी चितवन से राम की ओर तरेरकर देखा ॥ 69 ॥ युद्ध के लिये उद्यत और मुट्ठी में धनुष पकड़कर उँगलियों में बाण चढ़ाते हुए राम से कहा ॥ 70 ॥ 'मेरे पिता का वध करके क्षत्रियों ने मुझसे शत्रुता मोल ले ली है। उन्हें बहुत बार मारकर मुझे कुछ शान्ति मिली थी। पर जैसे डंडेसे छेड़ देने पर साँप फुफकार उठता है वैसे ही तुम्हारा पराक्रम सुनकर मेरे शरीर में भी आग सुलग उठा है ॥ 71 ॥ जनक के जिस धनुष को कोई राजा झुका भी न सका उसे तुमने तोड़ डाला है। यह सुनकर मैंने यही समझा है कि आजतक जो मैं सबसे बढ़कर बलवान् समझा जाता था वह यश मानो आज नष्ट हो गया हो ॥ 72 ॥ पहले संसार में राम कहने से लोग मुझे ही समझते थे पर ज्यों-ज्यों तुम ऊँचे चढ़ते चले जा रहे हो त्यों-त्यों वह अर्थ तुम्हारे नाम के साथ लगता चला जा रहा है। यह सब देखकर मैं लाज से गड़ा जा रहा हूँ ॥ 73 ॥ जिस परशुराम के अस्त्र पहाड़ों से टकराने पर भी कुण्ठित नहीं होते उसके दो ही शत्रु आज तक समान अपराध करने वाले हुए हैं, उनमें पहला तो था सहस्त्रबाहु जो मेरे पिता से कामधेनु का बछड़ा छीनकर ले गया था और दूसरे हो तुम, जो मेरी कीर्ति छीनने पर तुले बैठे हो ॥ 74 ॥ इसलिये क्षत्रियों का नाश करने वाला मेरा पराक्रम तब तक मुझे अच्छा नहीं लगता जब तक मैं तुम्हें न जीत लूँ क्योंकि अग्नि का प्रताप तभी सराहनीय होता है जब वह समुद्र में भी वैसे

क्षत्रियान्तकरणोऽपि विक्रमस्तेन मामवति नाजिते त्वयि ।
 पावकस्य महिमा स गण्यते कक्षवज्ज्वलति सागरेऽपि यः ॥ 75 ॥
 विद्धि चात्तबलमोजसा हरैरैश्वरं धनुरभाजि यत्त्वया ।
 छातमूलमनिलो नदीरयैः पातयत्यपि मृदुस्तटद्गुमम् ॥ 76 ॥
 तन्मदीयमिदमायुधं ज्यया सङ्गमप्य सशरं विकृष्यताम् ।
 तिष्ठतु प्रधानमेवमप्यहं तुल्यबाहुतरसा जितस्त्वया ॥ 77 ॥
 कातरोऽसि यदि वीद्गतार्चिषा तर्जितः परशुधारया मम ।
 ज्यानिघातकठिनाङ्गुलिर्वृथा बध्यतामभययाचनाञ्जलिः ॥ 78 ॥
 एवमुक्तवति भीमदर्शने भार्गवे स्मितविकम्पिताधारः ।
 तद्धनुर्गृहणमेव राघवः प्रत्यपद्यत समर्थमुत्तरम् ॥ 79 ॥
 पूर्वजन्मधनुषा समागतः सोऽतिमात्रलघुदर्शनोऽभवत् ।
 केवलोऽपि सुभगो नवाम्बुदः किं पुनस्त्रिदशचापलाञ्छितः ॥ 80 ॥
 तेन भूमिनिहितैककोटि तत्कार्मुकं च बलिनाधिरोपितम् ।
 निष्प्रभश्च रिपुरास भूभृतां धूमशोण इव धूमकेतनः ॥ 81 ॥
 तावुभावपि परस्परस्थितौ वर्धमानपरिहीनतेजसौ ।
 पश्यति स्म जनता दिनात्यये पार्वणौ शशिदिवाकराविव ॥ 82 ॥

ही भड़क कर जले जैसे सूखी घास के ढेर में ॥ 75 ॥ तुम्हें यह समझ रखना चाहिए कि शिव के जिस धनुष को तोड़कर तुम एंठे फिर रहे हो उसकी कठोरता तो विष्णु ने पहले ही हर ली थी। इसलिये उसे तोड़कर तुमने कोई वीरता का काम नहीं किया है, क्योंकि जिस वृक्ष की जड़ें नदी की प्रचण्ड धारा ने पहले ही खोखली कर दी हों उसे वायु के तनिक से झोंके में ही उखड़ गिरने में क्या देर लगती है ॥ 76 ॥ देखो राम! युद्ध तो पीछे होगा, पहले तुम मेरे इस धनुष पर डोर चढ़ाकर इसे बाण के साथ खींच तो दो। यदि तुम इतना भी कर दोगे तो मैं समझूँगा कि तुम मेरे ही समान बलवान् हो और मैं इतने से ही हार मानकर लौट जाऊँगा ॥ 77 ॥ और यदि तुम मेरे फरसे की चमकती हुई धारको देखकर डर गए हो तो अपने उन हाथों को जोड़कर अभय की भिक्षा माँगो जिनकी उँगलियों में धनुष की डोरी की फटकार से व्यर्थ ही घटे पड़ गए हैं ॥ 78 ॥ भयङ्कर वेश-धारी परशुराम ने जब यह कहा तब राम ने हँसते-हँसते इस प्रकार वह धनुष हाथ में ले लिया मानो परशुराम के वचनों का वही ठीक उत्तर हो ॥ 79 ॥ जैसे ही उन्होंने अपने पिछले जन्म वाला वह धनुष हाथ में लिया त्यों ही उनकी शोभा और भी बढ़ गई, क्योंकि एक तो नया बादल यों ही सुन्दर लगता है फिर यदि उसमें इन्द्रधनुष भी बन जाय तब तो उसकी शोभा का कहना ही क्या ॥ 80 ॥ पराक्रमी राम ने उस धनुष का एक छोर पृथ्वी पर टेककर जैसे ही उस पर डोरी चढ़ाई वैसे ही क्षत्रियों के शत्रु परशुराम उसी अग्नि के समान निस्तेज हो गए जिसमें केवल धुआँ भर रह गया हो ॥ 81 ॥ आमने-सामने खड़े हुए राम और परशुराम में से एक का तेज बढ़ जाने और दूसरे का घट जाने से वे दोनों ऐसे जान पड़ने लगे जैसे वे सन्ध्या समय के चन्द्रमा और सूर्य हों ॥ 82 ॥ कार्तिकेय के समान तेजस्वी दयालु रामचन्द्र ने एक बार निस्तेज परशुराम को और फिर

तं कृपामृदुरवेक्ष्य भार्गव राघवः स्खलितवीर्यमात्मनि ।
 स्वं च संहितममोघमाशुगं व्याजहार हरसूनुसंनिभः ॥ 83 ॥
 न प्रहर्तुमलमस्मि निर्दयं विप्र इत्यभिभवत्यपि त्वयि ।
 शंस किं गतिमनेन पत्त्रिणा हन्मि लोकमुत ते मखार्जितम् ॥ 84 ॥
 प्रत्युवाच तमृषिर्न तत्त्वतस्त्वां न वेधि पुरुषं पुरातनम् ।
 गां गतस्य तव धाम वैष्णवं कोपितो ह्यसि मया दिदृक्षुणा ॥ 85 ॥
 भस्मसात्कृतवतः पितृद्विषः पात्रसाच्च वसुधां ससागराम् ।
 आहितो जयविपर्ययोऽपि मे श्लाघ्य एव परमेष्ठिना त्वया ॥ 86 ॥
 तद्गतिं मतिमतां वरेप्सितां पुण्यतीर्थगमनाय रक्ष मे ।
 पीडयिष्यति न मां खिलीकृता स्वर्गपद्धतिरभोगलोलुपम् ॥ 87 ॥
 प्रत्यपद्यत तथेति राघवः प्राङ्मुखश्च विससर्ज सायकम् ।
 भार्गवस्य सुकृतोऽपि सोऽभवत्स्वर्गमार्गपरिघो दुरत्ययः ॥ 88 ॥
 राघवोऽपि चरणौ तपोनिधेः क्षम्यतामिति वदन्ससस्पृशत् ।
 निर्जितेषु तरसा तरस्विनां शत्रुषु प्रणतिरेव कीर्तये ॥ 89 ॥
 राजसत्त्वमवधूय मातृकं पित्र्यमस्मि गमितः शमं यदा ।
 नन्वनिन्दितफलो मम त्वया निग्रहोऽप्ययमनुगृहीकृतः ॥ 90 ॥

धनुष पर चढ़े हुए अपने अचूक बाण को देखा और बोले ॥ 83 ॥ 'यद्यपि आपने हमारा बड़ा अपमान किया है तथापि आप ब्राह्मण हैं, इसलिये मैं निर्दय होकर आपको मारूँगा नहीं। पर यह बताइए कि अब इस बाण से मैं आपकी गति रोक दूँ या आपका उन दिव्य लोकों में पहुँचना रोक दूँ जो आपने यज्ञ करके जीत लिए हैं' ॥ 84 ॥ यह सुनकर परशुराम बोले- 'यह बात नहीं है कि आपको देखते ही मैं पहचान न गया रहा हूँ कि आप साक्षात् पुरातन पुरुष हैं, किन्तु मैंने यह जानने के लिए आपको कष्ट दिया था कि देखूँ आप विष्णु का कितना तेज लेकर पृथ्वी पर उतरे हैं ॥ 85 ॥ पिता के शत्रुओं का नाश करने वाले और सागर तक फैली हुई पृथ्वी ब्राह्मणों को दान देने वाले मुझ परशुराम के लिये आप परम पुरुष के हाथों हारना भी गौरव की ही बात है ॥ 86 ॥ इसलिये आप मेरी गति न रोकिए जिससे मैं पवित्र तीर्थों में आ-जा सकूँ। मुझे भोग की तो इच्छा है नहीं इसलिये यदि मुझे स्वर्ग न भी मिले तो कुछ दुःख नहीं होगा' ॥ 87 ॥ राम ने परशुराम का कहना मान लिया और पूरव की ओर मुँह करके बाण छोड़ दिया। यद्यपि परशुराम ने बहुत पुण्य किए थे किन्तु वह बाण सदा के लिये परशुराम के स्वर्ग जाने का मार्ग रोककर खड़ा हो गया ॥ 88 ॥ तब राम ने परशुराम से क्षमा माँगते हुए उनके चरणों में प्रणाम किया क्योंकि जब कोई पराक्रमी अपने बल से अपने शत्रु को जीत लेता है तब यदि वह नम्रता भी दिखावे तो उसकी कीर्ति ही बढ़ती है ॥ 89 ॥ परशुराम बोले- 'आपने मुझे यह दण्ड देकर मेरा बड़ा भारी उपकार किया है। इससे मेरा बड़ा भारी लाभ तो यह हुआ कि आपने क्षत्रिय माता से पाए हुए मेरे रजोगुण को दूर करके मुझे पिता का सत्वगुण प्रदान कर दिया ॥ 90 ॥ मैं अब जाता हूँ। आप देवताओं का जो कार्य करने के लिये आए हैं वह बिना विघ्न के पूरा हो'। राम और लक्ष्मण से यह कहकर परशुराम

साधयाम्यहमविघ्नमस्तु ते देवकार्यमुपपादयिष्यतः ।
 ऊचिवानिति वचः सलक्ष्मणं लक्ष्मणाग्रजभृषिस्तिरोदधे ॥ 91 ॥
 तस्मिन्गते विजयिनं परिरम्य रामं स्नेहादमन्यत पिता पुनरेव जातम् ।
 तस्याभवत्क्षणशुचः परितोषलाभः कक्षाग्निलङ्घिततरोरिव वृष्टिपातः ॥ 92 ॥
 अथ पथि गमयित्वा क्लृप्तरम्योपकार्येकतिचिदवनिपालः शर्वरीः शर्वकल्पः ।
 पुरमविशदयोध्यां मैथिलीदर्शिनीनां कुवलयितगवाक्षां लोचनैरङ्गनानाम् ॥ 93 ॥
 ।। इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
 सीता-विवाहवर्णनो नामैकादशः सर्गः ।।



अन्तर्धान हो गए ॥ 91 ॥ उनके चले जाने पर विजयी राम को दशरथ ने गले से खींच लगाया और वे स्नेह में भरकर यह समझने लगे कि राम का दूसरा जन्म हुआ है। इस थोड़ी देर के पश्चात् उन्हें ऐसा संतोष मिला जैसे जंगल की आग से झुलसे पेड़ को वर्षा का जल मिल गया हो ॥ 92 ॥ तब शिव के समान राजा दशरथ ने कुछ रातों तो उस मार्ग में बिताई जिसमें उनके लिये सुन्दर-सुन्दर डेरे तने हुए थे। फिर वे उस अयोध्या नगरी में पहुँचे जहाँ सीता को देखने के लिये नगर की सुन्दर स्त्रियों की उत्सुक आँखें झरोखों में कमल के समान उलझी दिखाई पड़ रही थीं ॥ 93 ॥

॥ महाकवि श्री कालिदास के रचे हुए रघुवंश महाकाव्य में सीता जी के विवाह का वर्णन नाम का ग्यारहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥



॥ द्वादशः सर्गः ॥

निर्विष्टविषयस्नेहः स दशान्तमुपेयिवान् । आसीदासन्ननिर्वाणः प्रदीपार्चिरिवोषसि ॥ 1 ॥
 तं कर्णमूलमागत्य रामे श्रीन्यस्यतामिति । कैकेयीशङ्कयेवाह पलितच्छचना जरा ॥ 2 ॥
 सापौरन्पौरकान्तस्यरामस्याभ्युदयश्रुतिः । प्रत्येकं द्वादयांचके कुल्येबोधानपादपान् ॥ 3 ॥
 तस्याभिषेकसंभारं कल्पितं क्रूरनिश्चया । दूषयामास कैकेयी शोकोष्णैः पार्थिवाश्रुभिः ॥ 4 ॥
 सा किलाह्वसिता चण्डी भर्त्रातत्संश्रुतौ वरौ । उद्वामेन्द्रसिक्ता भूर्बिलमग्नाविवोरगौ ॥ 5 ॥
 तयोश्चतुर्दशैकेन रामं प्राब्जाजयत्समाः । द्वितीयेन सुतस्यैच्छद्वैधव्यैकफलां श्रियम् ॥ 6 ॥
 पित्रा दत्तारुदन्रामः प्राङ्महींप्रत्यपद्यत । पश्चाद्वनाय गच्छेति तदाज्ञां मुदितोऽग्रहीत् ॥ 7 ॥
 दधतो मङ्गलक्ष्मीमे वसानस्य च वल्कले । ददृशुर्विस्मितास्तस्य मुखरागं समं जनाः ॥ 8 ॥
 स सीतालक्ष्मणसखः सत्याद्गुरुमलोपयन् । विवेश दण्डकारण्यं प्रत्येकं च सतां मनः ॥ 9 ॥
 राजाऽपितद्वियोगार्तः स्मृत्वाशापंस्वकर्मजम् । शरीरत्यागमात्रेण शुद्धिलाभममन्यत ॥ 10 ॥
 विप्रोषितकुमारं तद्राज्यमस्तमितेश्वरम् । रन्धान्वेषणदक्षाणां द्विषामामिषतां ययौ ॥ 11 ॥

बारहवाँ सर्ग

राजा दशरथ ने संसार के सब सुख भोग लिए और बूढ़े हो चले। अब उनकी दशा प्रातःकाल के उस दीपक जैसी हो चली थी जिसका तेल चुक गया हो और जो बस बुझने ही वाला हो ॥ 1 ॥ उनकी कनपटी के पास के बाल पक चले थे मानो बुढ़ापा भी कैकेयी से शंकिता होकर राजा के कान में फुसफुसाकर कह रहा हो कि अब राम को राज्य सौंप ही देना चाहिए ॥ 2 ॥ जैसे पानी की गूल से सिंचकर पूरे उद्यान के वृक्ष हरे-भरे हो उठते हैं वैसे ही नगरवासियों के प्यारे राम के राज्याभिषेक का समाचार सुनकर अयोध्या के लोग फूले नहीं समाए ॥ 3 ॥ पर नितुर कैकेयी ने ऐसा चक्र चलाया कि राज्याभिषेक का सारा उत्सव शोक से तपे हुए राजा दशरथ के आँसुओं से लिप गया ॥ 4 ॥ जब राजा दशरथ ने उस कठोर स्वभाव वाली कैकेयी का बहुत मान-मनौवल किया तब उसने वे दो वर माँग लिए जिनके लिये राजा दशरथ पहले से ही वचन दे चुके थे। ये दो वर ऐसे ही थे जैसे वर्षा से भीगी हुई पृथ्वी के छेदों में से दो साँप आ निकले हों ॥ 5 ॥ कैकेयी ने एक वर तो यह माँगा कि चौदह वर्ष के लिये राम वन को चले जायँ और दूसरा यह कि मेरे बेटे भरत को राज्य मिले। पर इस वर माँगने का एकमात्र फल यही निकला कि कैकेयी विधवा हो गई ॥ 6 ॥ राम को जब दशरथ राजगद्दी दे रहे थे उस समय राम ने उसे आँखों में आँसू भरकर स्वीकार किया था और जब उनसे कहा गया कि वन चले जाओ तब राम ने इस आज्ञा को हँसते-हँसते सिर-माथे चढ़ा लिया ॥ 7 ॥ यह देखकर लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि राम के मुँह का भाव जैसा राज्याभिषेक के रेशमी वस्त्र पहनते समय था ठीक वैसा ही वन जाने के लिये पेड़ की छाल के वस्त्र पहनते समय भी था ॥ 8 ॥ अपने पिता के वचन सत्य करने के लिये वे सीता और लक्ष्मण के साथ केवल दण्डक-वन में ही नहीं पैठे वरन् अपने इस सत्य व्यवहार से उन्होंने सज्जनों के मन में भी घर कर लिया ॥ 9 ॥ उनके वियोग में राजा दशरथ को बड़ा दुःख हुआ। उन्हें मुनि का शाप स्मरण हो आया और उन्होंने समझ लिया कि बस प्राण देकर ही मेरी शुद्धि हो पावेगी ॥ 10 ॥ दशरथ के शत्रु तो ऐसे अवसर की ताक में ही थे। जब उन्होंने देखा कि अयोध्या के राजा स्वर्ग चले गए और राजकुमार भी राज्य छोड़कर वन को चल दिए तब उन्होंने झट अयोध्या पर धावा बोल दिया ॥ 11 ॥ यह देखकर अयोध्या की अनाथ प्रजा ने उन कुल-मन्त्रियों को

अथानाथाः प्रकृतयो मातृबन्धुनिवासिनम् मौलैरानाययामासुर्भरतं स्तम्भिताश्रुभिः ॥ 12 ॥
 श्रुत्वातथाविधमृत्युं कैकेयीतनयः पितुः। मातुर्नकेवलंस्वस्थाःश्रियोऽप्यासीत्पराङ्मुखः ॥ 13 ॥
 ससैन्यश्चान्वगाद्रामं दर्शितानाश्रमालयैः। तस्य पश्यन्ससौमित्रेरुदश्रुर्वसतिदुःमान् ॥ 14 ॥
 चित्रकूटवनस्थं च कथितस्वर्गतिगुरोः। लक्ष्म्या निमत्रयांचक्रे तमनुच्छिष्टसंपदा ॥ 15 ॥
 स हि प्रथमजे तस्मिन्नकृतश्रीपरिग्रहे। परिवेत्तारमात्मानं मेने स्वीकरणाद्भुवः ॥ 16 ॥
 तमशक्यमपाक्रष्टुं निदेशात्स्वर्गिणः पितुः। ययाचे पादुकेपश्चात् कर्तुं राज्याधिदेवते ॥ 17 ॥
 सविसृष्टस्तथेत्युक्त्वा भ्रातानैवाविशसुरीम्। नन्दिग्रामगतस्तस्य राज्यं न्यासमिवाभुनक् ॥ 18 ॥
 दृढमक्तिरितिज्येष्ठे राज्यतृष्णापराङ् मुखः। मातुः पापस्य भरतः प्रायश्चित्तमिवाकरोत् ॥ 19 ॥
 रामोऽपि सह वैदेह्या वने वन्येन वर्तयन्। चचार सानुजःशान्तो वृद्धेष्वाकुव्रतं युवा ॥ 20 ॥
 प्रभावस्तम्भितच्छायमाश्रितः स वनस्पतिम्। कदाचिदङ्केसीतायाः शिश्येकिंचिदिवश्रमात् ॥ 21 ॥
 ऐन्द्रिः किलनखैस्तस्या विददारस्तनौद्विजः। प्रियोपभोगचिद्देषुपौरोभाग्यमिवाचरन् ॥ 22 ॥
 तस्मिन्नास्थदिषीकास्त्रंरामोरामावबोधितः। आत्मानं ममुचेतस्मादेकनेत्रव्ययेन सः ॥ 23 ॥

भेजकर भरत को उनकी ननिहाल से बुलवा भेजा जिन्होंने अपने आँसू निकलने नहीं दिए थे ॥ 12 ॥
 अब भरत को अपने पिता की मृत्यु का सब समाचार मिला तब वे केवल अपनी माँ से ही नहीं वरन्
 अयोध्या की राजलक्ष्मी से भी बड़े चिढ़ गए ॥ 13 ॥ उन्होंने अपने साथ सेना ली और राम को ढूँढ़ने
 निकल पड़े। जब मार्ग में आश्रमवासियों ने उन्हें वे वृक्ष दिखाए जिनके तले राम और लक्ष्मण जाते हुए
 टिके थे तब उनकी आँखें बरस पड़ीं ॥ 14 ॥ उन दिनों राम चित्रकूट-वन में रहते थे। वहाँ जाकर भरत
 ने उन्हें दशरथ की मृत्यु का समाचार सुनाकर कहा कि अयोध्या की राजलक्ष्मी को मैंने छुआ भी नहीं
 है, आप ही उसे चलकर सँभालिए ॥ 15 ॥ क्योंकि जिस राज्य को बड़े भाई ने स्वीकार नहीं किया उसे
 लेना मैं उतना ही बड़ा पाप समझता हूँ, जितना बड़े भाई के अविवाहित रहने पर छोटे भाई का विवाह
 कर लेना ॥ 16 ॥ किन्तु राम अपने स्वर्गीय पिता की आज्ञा से तनिक भी टस से मस नहीं हुए। तब
 भरत ने उनसे प्रार्थना की कि आप मुझे अपनी खड़ाऊँ दे दीजिए जिन्हें मैं आपके स्थान पर रखकर राज्य
 का काम चलाता रहूँ ॥ 17 ॥ राम ने झट अपनी खड़ाऊँ उठा सौंपी। उसे लेकर भरत लौटे तो सही पर
 अयोध्या नहीं आए। उन्होंने नन्दिग्राम में डेरा डाल दिया और वहीं से अयोध्या के राज्य की उसी प्रकार
 रक्षा करने लगे मानो अपने भाई की धरोहर सँभाले जा रहे हों ॥ 18 ॥ इस प्रकार अपने बड़े भाई में
 भक्ति निभाकर और राज्य पद को ठुकराकर भरत ने अपनी माता के पाप का प्रायश्चित्त ही कर डाला
 ॥ 19 ॥ उधर राम भी सीता और लक्ष्मण के साथ कन्द-मूल फल खाते हुए युवावस्था में ही वह व्रत
 करने लगे जो इक्ष्वाकुवंश वाले राजा लोग बुढ़ापे में किया करते हैं ॥ 20 ॥ एक बार वे थके हुए सीता
 की गोदी में सिर रखे एक ऐसे वृक्ष के नीचे लेटे हुए थे जिसकी छाया उन्होंने अपने अलौकिक प्रभाव
 से बाँध दी थी ॥ 21 ॥ इसी बीच इन्द्र का पुत्र जयन्त कौवा बनकर आया और आते ही उसने सीताजी
 के स्तनों पर अपने नखों से ढूँढ़ क्या मारी मानो वह सीता के स्तनों पर राम के हाथ से बने हुए नखक्षतों
 को प्रकटकर अपनी यह बात बता रहा हो कि मेरा काम ही दूसरों का दोष ढूँढ़ना है ॥ 22 ॥ झट सीता
 ने राम को उठा जगाया। तत्काल राम ने उस पर सींक का एक ऐसा बाण चला छोड़ा जिससे बचने
 के लिये वह कौवा बहुत इधर-उधर चक्कर काटता रहा पर जब तक उसने अपनी एक आँख नहीं दे
 दी तबतक उसे छुटकारा नहीं मिल पाया ॥ 23 ॥ थोड़े दिनों पीछे ही राम ने चित्रकूट का वह आश्रम

रामस्त्वासन्नदेशत्वाद्विरतागमनं पुनः। आशङ्क्योत्सुकसारङ्गां चित्रकूटस्थलीं जहौ ॥ 24 ॥
 प्रययावातिथेयेषु वसन् ऋषिकुलेषु सः। दक्षिणां दिशमृक्षेणु वार्षिकेष्विव भास्करः ॥ 25 ॥
 बभौ तमनुगच्छन्ती विदेहाधिपतेः सुता। प्रतिषिद्धापि कैकेय्या लक्ष्मीरिव गुणोन्मुखी ॥ 26 ॥
 अनसूयातिसृष्टेन पुण्यगन्धेन काननम्। सा चकाराङ्गरागेण पुष्पोच्चलितषट्पदम् ॥ 27 ॥
 संध्याभ्रकपिशस्तस्य विराघोनाम राक्षसः। अतिष्ठन्मार्गमावृत्य रामस्येन्दोरिव ग्रहः ॥ 28 ॥
 स जहार तयोर्मध्ये मैथिलीं लोकशोषणः नभोनभस्ययोर्वृष्टिमवग्रह इवान्तरे ॥ 29 ॥
 तंविनिषिष्य काकुत्स्थौ पुरा दूषयति स्थलीम्। गन्धेनाशुचिना चेति वसुधायां निचखनतुः ॥ 30 ॥
 पश्चवद्द्यां ततो रामः शासनात्कुम्भजन्मनः। अनपोढस्थितिस्तस्थौ विन्ध्याद्रिः प्रकृताविव ॥ 31 ॥
 रावणावरजा तत्र राघवं मदनातुरा। अभिपेदे निदाघार्ता व्यालीव मलयाद्गुमम् ॥ 32 ॥
 सा सीतासंनिधावेव तं वव्रे कथितान्वया। अत्यारूढो हि नारीणामकालज्ञो मनोभवः ॥ 33 ॥
 कलत्रवानहं बाले कनीयांसं भजस्व मे। इति रामो वृषस्यन्तीं वृषस्कन्धः शशास ताम् ॥ 34 ॥
 ज्येष्ठाभिगमनात्पूर्वं तेनाप्यनभिनन्दिता। साभूद्रामाश्रया भूयो नदीवोभयकूलभाक् ॥ 35 ॥

भी छोड़ दिया जहाँ के हरिण उनसे इतने हिलमिल गए थे कि दिन-रात उन्हें ही देखा करते रहते थे। राम ने इस डर से चित्रकूट छोड़ा कि अयोध्या पास ही है, ऐसा न हो कि भरत फिर यहाँ आ पहुँचे ॥ 24 ॥ जैसे वर्षा के दस नक्षत्र में ठहरता हुआ सूर्य दक्षिण को घूम जाता है वैसे ही अतिथि-सत्कार करने वाले ऋषियों के आश्रम में टिकते हुए राम भी दक्षिण की ओर बढ़ चले ॥ 25 ॥ यद्यपि कैकेयी ने राम को राजलक्ष्मी से हटा दिया था, फिर भी उनके पीछे-पीछे चलने वाली सीता ऐसी जान पड़ती थी मानो गुणों के पीछे चलने वाली साक्षात् लक्ष्मी ही हो ॥ 26 ॥ अत्रि ऋषि के आश्रम में जब वे पहुँचे तब उनकी पत्नी अनसूया ने सीता के शरीर में ऐसा सुगन्धित अङ्गराग लगाया कि उसकी पवित्र गन्ध पाकर भौंरे भी जंगली फूलों से हट-हटकर उधर ही टूट पड़े ॥ 27 ॥ जैसे चन्द्रमा का मार्ग राहु रोक लेता है वैसे ही सन्ध्या के समान लाल रंग वाला विराध राक्षस भी राम का मार्ग रोककर खड़ा हो गया ॥ 28 ॥ जैसे कोई छोटा ग्रह सावन और भादों के महीनों के बीच से वर्षा को ले वीतता है वैसे ही उस राक्षस ने राम और लक्ष्मण के बीच से सीता को हर लिया ॥ 29 ॥ पर राम-लक्ष्मण ने उसे तत्काल मार डाला और यह सोचकर उसे पृथ्वी में खोदकर गाड़ दिया कि कहीं इसके शरीर की दुर्गन्ध इस देश में न फैल जाय ॥ 30 ॥ जैसे अगस्त्य की आज्ञा से विन्ध्याचल अपनी मर्यादा में ही रह गया था वैसे ही राम भी मर्यादापूर्वक पञ्चवटी में जाकर रहने लगे ॥ 31 ॥ जैसे धूप से घबराकर कोई नागिन चन्दन के पेड़ के पास जा पहुँचे वैसे ही काम से पीड़ित रावण की छोटी बहन शूर्पणखा भी राम के पास जा पहुँची ॥ 32 ॥ पहले तो उसने अपने कुल का परिचय दिया और फिर सीता के सामने ही राम को कहने लगी कि मैं तुम्हें अपना पति मानती हूँ, क्योंकि स्त्रियाँ जब बहुत अधिक कामासक्त हो जाती हैं तब उन्हें इस बात का ध्यान ही नहीं रहता कि हमें किस समय क्या करना चाहिए क्या नहीं करना चाहिए ॥ 33 ॥ कामासक्त शूर्पणखा की यह बात सुनकर साँड़ के से ऊँचे कन्धों वाले राम बोले- 'बाले! मेरा तो विवाह हो चुका है। तुम मेरे छोटे भाई के पास चली जाओ' ॥ 34 ॥ वह झट लक्ष्मण के पास जा पहुँची। लक्ष्मण ने उससे कहा- 'तू पहले मेरे बड़े भाई के पास विवाह की इच्छा से जा चुकी है, इसलिए तू मेरी माता के समान हो गई। मैं तुझसे विवाह नहीं कर सकता।' यह सुनकर वह फिर राम के पास पहुँची। राम और लक्ष्मण के पास आते-जाते उसकी दशा उस नदी के समान हो गई जो बारी-बारी से अपने दोनों तटों को छूती हुई बह रही हो ॥ 35 ॥ जैसे वायु के रुके रहने से शान्त समुद्र का तट चन्द्रमा के निकलने

संरम्भं मैथिलीहासः क्षणसौम्यां निनायताम् । निवातस्तिमितांवेलां चन्द्रोदय इवोदधेः ॥ 36 ॥
 फलमस्योपहासस्य सद्यः प्राप्स्यसि पश्यमाम् । मृग्यापरिभवो व्याघ्रचामित्यवेहित्वया कृतम् ॥ 37 ॥
 इत्युक्त्वा मैथिलीं भर्तुरङ्केनिविशतीं भयात् । रूपं शूर्पणखा नाम्नः सदृशं प्रत्यपद्यत ॥ 38 ॥
 लक्ष्मणः प्रथमं श्रुत्वा कोकिलामञ्जुवादिनीम् । शिवाघोरस्वनां पश्चाद्बुबुधेविकृतेतिताम् ॥ 39 ॥
 पर्णशालामथ क्षिप्रं विकृष्टासिः प्रविश्य सः । वैरूप्यपौनरुक्त्येन भीषणां तामयोजयत् ॥ 40 ॥
 सा वक्रनखधारिण्या वेणुकर्कशपर्वया । अङ्गु शाकारयाङ् गुल्या तावतर्जयदम्बरे ॥ 41 ॥
 प्राप्य चाशु जनस्थानं खरादिभ्यस्तथाविधम् । रामोपक्रममाचख्यौ रक्षः परिभवंनवम् ॥ 42 ॥
 मुखावयवलूनां तां नैर्ऋता यत्पुरो दधुः । रामाभियायिनां तेषां तदेवाभूदमङ्गलम् ॥ 43 ॥
 उदायुधानापततस्तानृप्तान्प्रेक्ष्य राघवः । निदधे विजयाशंसां चापे सीतां च लक्ष्मणे ॥ 44 ॥
 एको दाशरथिः कामं यातुधानाः सहस्रशः । तेषु यावन्त एवाजौ तावौश्चददृशे स तैः ॥ 45 ॥
 असञ्जनेन काकुत्स्थः प्रयुक्तमथ दूषणम् । न चक्षमे शुभाचारः स दूषणमिवात्मनः ॥ 46 ॥
 तं शरैः प्रतिजग्राह खरत्रिशिरसौ च सः । क्रमशस्ते पुनस्तस्य चापात्सममिवोद्युः ॥ 47 ॥

पर हिलोरें लेने लगता है वैसे ही सीता को हैंसते देखकर क्षण भर के लिये सुन्दर रूप धारण करने वाली वह कुरूपा शूर्पणखा भी एकदम बिगड़ खड़ी हुई ॥ 36 ॥ और बोली- 'अच्छा! तुम्हें इस हैंसी का फल अभी चखाए देती हूँ। तुमने मेरा वैसे ही अपमान किया है जैसे कोई हरिणी किसी बाघिन का अपमान करे। समझी!' ॥ 37 ॥ सीता तो यह सुनते ही डर के मारे राम की ओट में जा छिपीं और शूर्पणखा ने अपने नाम के अनुसार (सूप के समान बड़े-बड़े नख वाला) अपना भयङ्कर रूप प्रकट कर दिखाया ॥ 38 ॥ जब लक्ष्मण ने देखा कि अभी तो यह कोयल के समान मधुर बोल रही थी और अब सियारिन के समान हुआ-हुआ कर रही है तब उन्होंने समझ लिया कि यह स्त्री बड़ी ही खोटी है ॥ 39 ॥ और यह समझते ही वे झट अपनी कुटिया में गए और वहाँ से तलवार लेकर उन्होंने शूर्पणखा के नाक-कान काट उतारे। नाक-कान कट जाने पर तो वह और भी अधिक कुरूप दिखाई देने लगी ॥ 40 ॥ नकटी-बूची होकर वह आकाश में जा उड़ी और अंकुश-जैसी टेढ़े-मेढ़े नखों वाली और बाँसों के से भदे पोरों वाली अपनी उँगलियाँ चमका-चमकाकर राम लक्ष्मण को धमकाने लगी ॥ 41 ॥ वहाँ से चलकर उसने तत्काल जनस्थान में पहुँचकर खर आदि राक्षसों को जा उभाड़ा कि आज पहली बार राम ने इस प्रकार राक्षसों का अपमान किया है ॥ 42 ॥ आगे-आगे नकटी-बूची शूर्पणखा और उसके पीछे-पीछे वे सब राक्षस राम से लड़ने निकल पड़े, पर उस नकटी को आगे करके उन लोगों ने पहले ही अपना सगुन विगाड़ लिया ॥ 43 ॥ राम ने दूर से देखा कि हाथ में अस्त्र उठाए घमण्डी राक्षस आगे बढ़े चले आ रहे हैं तो उन्हें विश्वास हो गया कि इन्हें तो हम अकेले अपने धनुष से ही जीत लेंगे। इसलिए उन्होंने सीता की रक्षा का भार लक्ष्मण को सौंप दिया ॥ 44 ॥ राम अकेले थे और राक्षस सहस्रों थे, पर राम इस प्रकार लड़ रहे थे कि वहाँ जितने राक्षस थे उन्हें उतने ही राम दिखाई पड़ रहे थे ॥ 45 ॥ जिस प्रकार सदाचारी पुरुष अपने ऊपर नीच पुरुषों द्वारा लगाया हुआ दूषण या कलङ्क नहीं सह सकते वैसे ही राम भी युद्ध में दूषण राक्षस का आना नहीं सह सके ॥ 46 ॥ उन्होंने दूषण, खर और त्रिशिरा पर यद्यपि एक-एक करके बारी-बारी से बाण चलाए तथापि अत्यन्त शीघ्रता से चलाए जाने के कारण वे बाण ऐसे जल पड़े थे मानो धनुष से एक साथ ही छूटे हों ॥ 47 ॥ वे बाण उसके शरीर को छेदकर इतने वेग से बाहर निकल गए कि उनमें रक्त भी नहीं लग सका, क्योंकि बाण तो उनकी आयु पीने के लिए गए थे, उनका रक्त

तैस्त्रयाणां शितैर्बाणैर्यथापूर्वविशुद्धिभिः। आयुर्देहातिगैः पीतं रुधिरं तुं पतत्रिभिः॥ 48 ॥
 तस्मिन्नामशरोत्कृते बले महति रक्षसाम्। उत्थितं ददृशोऽन्यच्च कबन्धेभ्यो न किञ्चन॥ 49 ॥
 सा बाणवर्षिणं रामं योधयित्वा सुरद्विषाम्। अप्रबोधाय सुष्वाप गृध्रच्छाये वरूथिनी॥ 50 ॥
 राघवास्त्रविदीर्णानां रावणं प्रति रक्षसाम्। तेषां शूर्पणखैवैका दुष्प्रवृत्तिहराऽभवत्॥ 51 ॥
 निग्रहात्स्वसुराप्तानां वधाच्च धनदानुजः। रामेण निहितं मेने पदं दशसु मूर्धसु॥ 52 ॥
 रक्षसा मृगरूपेण वञ्चयित्वा स राघवौ। जहार सीतां पक्षीन्द्रप्रयासक्षणविघ्नितः॥ 53 ॥
 तौ सीतान्वेषिणौ गृध्रं लूनपक्षमपश्यताम्। प्राणैर्दशरथप्रीतेरनृणं कण्ठवर्तिभिः॥ 54 ॥
 स रावणहतां ताभ्यां वचसाचष्टमैथिलीम्। आत्मनः सुमहत्कर्मव्रणैरावेद्य संस्थितः॥ 55 ॥
 तयोस्तस्मिन्नवीभूतपितृव्यापत्तिशोकयोः। पितरीवाग्निसंस्कारात्परा ववृत्तिरे क्रियाः॥ 56 ॥
 वधनिर्धूतशापस्य कबन्धस्योपदेशतः। मुमूर्च्छं सख्यं रामस्य समानव्यसने हरौ॥ 57 ॥
 सहत्वा बालिनं वीरस्तत्पदे चिरकाङ्क्षिते। धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं संन्यवेशयत्॥ 58 ॥
 इतस्ततश्च वैदेहीमन्वेष्टं भर्तृचोदिताः। कपयश्चेरुरार्तस्य रामस्येव मनोरथाः॥ 59 ॥

तो पीया पक्षियों ने ॥ 48 ॥ राम ने अपने बाणों से राक्षसों की पूरी सेना को इस प्रकार काट डाला कि युद्ध-भूमि में राक्षसों के धड़ों को छोड़कर और कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा था ॥ 49 ॥ बाण बरसाने वाले राम से लड़कर राक्षसों की वह सेना बस गिद्धों के पंखों की छाया में सदा के लिये जा सोई ॥ 50 ॥ और राम के अस्त्र से मारे हुए उन राक्षसों की मृत्यु का समाचार रावण के पास पहुँचाने के लिये अकेली शूर्पणखा ही बची रह गई ॥ 51 ॥ वहन का अपमान और खर-दूषण आदि अपने सम्बन्धियों का वध, रावण को इतना अपमानजनक जान पड़ा मानो राम ने उसके दसों सिरों पर आ रक्खा हो ॥ 52 ॥ तब उसने मारीच को माया-मृग बनाया और राम-लक्ष्मण को धोखा देकर सीता को लङ्का चुरा ले गया। मार्ग में गुधराज जटायु उससे लड़ा भी, पर वह कुछ कर न सका ॥ 53 ॥ राम और लक्ष्मण अब सीता को ढूँढ़ने निकल पड़े। उन्होंने मार्ग में जटायु को पड़े देखा जिसके पंख कट गए थे और जिसके प्राण कण्ठ-तक आ गए थे, पर उसने सीता के चुरा ले जाने वाले रावण से लड़कर अपने मित्र दशरथ का ऋण चुका दिया था ॥ 54 ॥ वह राम-लक्ष्मण से बोला कि सीता को रावण ले गया है। जटायु के घाव ही देखकर यह स्पष्ट था कि वह कितने जी-जान से रावण से लड़ा था ॥ 55 ॥ केवल इतना ही कहकर जटायु बेचारा चल बसा। उसके मरने से राम-लक्ष्मण को उतना ही शोक हुआ जितना उन्हें अपने पिता के मरने पर हुआ था। उसका विधिवत् दाह-संस्कार करके उन्होंने उसका श्राद्ध आदि किया ॥ 56 ॥ वहाँ से वे आगे बढ़े तो उन्हें कबन्ध मिला, जो किसी ऋषि के शाप से राक्षस हो गया था। राम ने उसकी बाहें काट डालीं जिससे उसका शाप छूट गया और वह फिर देवता हो गया। उसने प्रसन्न होकर उन्हें सुग्रीव का ठिकाना बता दिया। इस सुग्रीव के राज्य और उसकी स्त्री को उसका बड़ा भाई वाली छिन ले गया था, इसलिये उसने स्त्री से बिछुड़े हुए राम से शीघ्र ही मित्रता कर ली ॥ 57 ॥ पराक्रमी राम ने वाली को मारकर उसके सिंहासन पर सुग्रीव को वैसे ही बिठा दिया जैसे कोई बैयाकरण, लिट् लुट् आदि लकारों में अस् धातु के बदले भू धातु को बैठा देता है ॥ 58 ॥ सुग्रीव ने जानकारों को आज्ञा दी कि जाओ और जाकर सीता की खोज लगाओ। जैसे विरही राम का मन सीता की खोज में इधर-उधर भटकता था वैसे ही वानर भी इधर-उधर घूमकर सीता की खोज करने लगे ॥ 59 ॥ मार्ग में जटायु के भाई सम्पाति से उनकी भेंट हो गई। उसने बतलाया कि समुद्र पार लङ्काद्वीप का राजा रावण सीता को

प्रवृत्तादुपलब्ध्यायां तस्याःसंपातिदर्शनात् । मारुतिः सागरं तीर्णः संसारमिव निर्ममः ॥ 60 ॥
 दृष्ट्वा विचिन्वता तेन लङ्कायां राक्षसीवृता । जानकी विषवल्लीभिः परीतेव महौषधिः ॥ 61 ॥
 तस्यै भर्तुरभिज्ञानमङ्गुलीयं ददौ कपिः । प्रत्युद्गतमिवानुष्णैस्तदानन्दाश्रुबिन्दुभिः ॥ 62 ॥
 निर्वाप्य प्रियसंदेशैः सीतामक्षवधोद्धतः । स ददाहपुरां लङ्कां क्षणसोढारिनिग्रहः ॥ 63 ॥
 प्रत्यभिज्ञानरत्नं च रामायदर्शयत्कृती । हृदयं स्वयमायातं वैदेह्या इव मूर्तिमत् ॥ 64 ॥
 स प्राप हृदयन्यस्तमणिस्पर्शनिमीलितः । अपयोधरसंसर्गा प्रियालिङ्गनिर्वृतिम् ॥ 65 ॥
 श्रुत्वा रामः प्रियोदन्तं मेने तत्सङ्गमोत्सुकः । महार्णवपरिक्षेपं लङ्कायाः परिखालयुम् ॥ 66 ॥
 स प्रतस्थेऽरिनाशाय हरिसैन्यैरनुद्भुतः । न केवलं भुवः पृष्ठे व्योम्नि संबाधवर्त्मभिः ॥ 67 ॥
 निविष्टमुदधेः कूले तं प्रपेदे विभीषणः । स्नेहाद्राक्षसलक्ष्म्येव बुद्धिमाविश्य चोदितः ॥ 68 ॥
 तस्मै निशाचरैश्चर्यं प्रतिशुश्राव राघवः । काले खलु समारब्धाः फलं बध्नन्ति नीतयः ॥ 69 ॥
 स सेतुबन्धयामास प्लवगैर्लवणाम्भसि । रसातलादिवोन्मग्नं शेषं स्वप्नाय शार्ङ्गिणः ॥ 70 ॥
 तेनोत्तीर्य पथालङ्कां रोधयामास पिङ्गलैः । द्वितीयं हेमप्राकारं कुर्वद्विरिव वानरैः ॥ 71 ॥

हर ले गया है। यह सुनकर हनुमान जी उसी प्रकार समुद्र लौंघ गए जैसे निर्मोही पुरुष संसार-सागर को पार कर जाता है ॥ 60 ॥ लङ्का में पहुँच कर ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उन्होंने एक स्थान पर देखा कि चारों ओर राक्षसियों से घिरी बैठी हुई सीता ऐसी लग रही हैं जैसे विषकी लताओं के बीच संजीवनी वूटी चमक रही हो ॥ 61 ॥ उनके पास जाकर हनुमान् ने राम की अँगूठी उन्हें निकाल दिखाई, जिसका स्वागत सीता ने आनन्द के ठण्डे आँसुओं से किया ॥ 62 ॥ पहले तो हनुमान् ने रामचन्द्र जी का प्यार-भरा सन्देश सुनाकर सीता को ढाँढस बँधाया, फिर रावण के पुत्र अक्षको मार कर और थोड़ी देर शत्रुओं के हाथ बन्दी रहकर उन्होंने लङ्का में आग लगा दी ॥ 63 ॥ फिर सीता से मिलने की पहचान के लिये उनसे चूड़ामणि लेकर वे झट राम के पास लौट आए। वह मणि पाकर राम को ऐसा आनन्द हुआ मानो साक्षात् सीता का हृदय ही स्वयं चला आया हो ॥ 64 ॥ उस मणिको हृदय से लगा कर वे अपनी सारी सुध-बुध भूलकर मग्न हो गए। उन्हें उस समय ऐसी प्रसन्नता हो रही थी मानो स्तनका स्पर्श छोड़कर स्वयं सीता ही हृदय से आ लगी हों ॥ 65 ॥ प्रियाका सन्देश सुनकर राम उनसे मिलने के लिये ऐसे उतावले हो उठे कि इस उत्साह में उन्हें लङ्का के चारों ओर का चौड़ा और गहरा समुद्र, खाई से भी चौड़ा जान पड़ने लगा ॥ 66 ॥ वे वानरों की जो अपार सेना लेकर शत्रु का संहार करने चले वह इतनी बड़ी थी कि पृथ्वी का कौन कहे आकाश में भी बड़ी कठिनाई से चल पा रही थी ॥ 67 ॥ जब समुद्र के तटपर राम पहुँचे तब रावण का भाई विभीषण उनसे मिलने ऐसे आ पहुँचा मानो राक्षसों की राजलक्ष्मी ने उसकी बुद्धि में पैठ कर यह समझा दिया हो कि अब राम की शरण में आने पर ही तुम्हारा कल्याण होगा ॥ 68 ॥ राम ने भी उससे यह प्रतिज्ञा कर ली कि हम तुम्हें राक्षसों का राजा बनाकर छोड़ेंगे। ठीक भी है, समय पर काम में लाई हुई कूट-नीति आगे चलकर फल देती ही है ॥ 69 ॥ राम ने वानरों को लगाकर समुद्र पर जो पत्थरों का पुल बँधवाया वह ऐसा जान पड़ता था मानो विष्णु को अपने ऊपर सुलाने के लिये लिये स्वयं शेषनाग ही उतरे चले आए हों ॥ 70 ॥ उस पुल से समुद्र पार करके पीले-पीले वानरों ने लङ्का को चारों ओर से घेर लिया। उनसे घिरी हुई लङ्का ऐसी जान पड़ने लगी मानो लङ्का के चारों ओर सोने का एक दूसरा परकोटा बना दिया गया हो ॥ 71 ॥ वहाँ वानरों और राक्षसों का ऐसा भयङ्कर युद्ध होने लगा कि राम और रावण की जय-जय कारों से दिशाएँ फटी पड़ रही थीं ॥ 72 ॥ उस युद्ध में वानर

रणः प्रववृत्ते तत्र भीमः प्लवगरक्षसाम् । दिग्विजृम्भितकाकुत्स्थपौलस्त्यजयघोषणः ॥ 72 ॥
 पादपाविद्धपरिघः शिलानिष्पिष्टमुद्गरः । अतिशस्त्रनखन्यासः शलरुग्णमतंगजः ॥ 73 ॥
 अथ रामशिरश्छेददर्शनोद्भ्रान्तचेतनाम् । सीतां मायेति शंसन्ती त्रिजटा समजीवयत् ॥ 74 ॥
 कामं जीवतिमे नाथ इति सा विजहौ शुचम् । प्राङ्मत्वा सत्यमस्यान्तं जीवितास्मीति लज्जिता ॥ 75 ॥
 गरुडापातविश्लिष्टमेघनादास्त्रबन्धनः । दाशरथ्योः क्षणक्लेशः स्वप्नवृत्त इवाभवत् ॥ 76 ॥
 ततो बिभेद पौलस्त्यः शक्त्या वक्षसि लक्ष्मणम् । रामस्त्वनाहतोऽप्यासीद्विदीर्णहृदयः शुचा ॥ 77 ॥
 स मारुतिसमानीतमहौषधिहृतव्यथः । लङ्कास्त्रीणां पुनश्चक्रे विलापाचार्यकं शरैः ॥ 78 ॥
 स नादं मेघनादस्य धनुश्चेन्द्रायुधप्रभम् । मेघस्येव शरत्कालो न किञ्चित्पर्यशेषयत् ॥ 79 ॥
 कुम्भकर्णः कपीन्द्रेण तुल्यावस्थः स्वसुः कृतः । रुरोध रामं श्रृङ्गीवटङ्कच्छिन्नमनःशिलः ॥ 80 ॥
 अकाले बोधितो भ्रात्रा प्रियस्वप्नो वृथा भवान् । रामेषुभिरितीवासौ दीर्घनिद्रां प्रवेशितः ॥ 81 ॥
 इतराण्यपि रक्षांसि पेतुर्वानरकोटिषु । रजांसि समरोत्थानि तच्छोणितनदीष्विव ॥ 82 ॥
 निर्यावध पौलस्त्यः पुनर्युद्धाय मन्दिरात् । अरावणमरामं वा जगदद्येति निश्चितः ॥ 83 ॥

पेड़ों से मार-मारकर राक्षसों की लोहे की गदाएँ तोड़े डाल रहे थे, पत्थर बरसाकर उनके मुग्धर पीसे डाल रहे थे, अपने नखों से ही वे ऐसे भयङ्कर घाव किए डाल रहे थे कि शस्त्रों से भी वैसे घाव नहीं हो पा सकते थे और लड़ाकू हाथियों के सिरों पर बड़ी-बड़ी चट्टानें पटक-पटककर उनका कचूमर निकाले दे रहे थे ॥ 73 ॥ उसी समय एक राक्षस ने माया से राम का सिर बनाकर सीता के आगे ला पटका जिसे देखते ही सीता जी तो मूर्छित होकर गिर पड़ीं । पर जब त्रिजटा ने उन्हें समझाया कि यह सब राक्षसी माया है, तब कहीं सीता की जान में जान आई ॥ 74 ॥ यह जानकर उनका शोक तो छूट गया कि मेरे पतिदेव जीवित हैं, पर उन्हें इस बात की बड़ी लज्जा हुई कि पति के मारे जाने का समाचार सुनकर भी मैं जीवित रह गई, मरी नहीं ॥ 75 ॥ उसी समय मेघनाद ने राम और लक्ष्मण को नागपाश में बाँध लिया, पर तभी गरुड ने आकर वह फंदा तुरन्त ऐसे काट गिराया कि पाश में बाँधने का वह छण भरका क्लेश भी उन दोनों भाइयों को ऐसा जान पड़ा मानों स्वप्न में हुआ हो ॥ 76 ॥ मेघनाद ने लक्ष्मण की छाती में ऐसा शक्ति-बाण खींच मारा कि उसके लगते ही लक्ष्मण ऐसे गिर गए कि उन्हें देखकर राम का हृदय भी शोक से फटने लगा ॥ 77 ॥ हनुमान तत्काल हिमालय से संजीवनी बूटी ले आये, जिसके पिलाते ही लक्ष्मण की सारी पीड़ा जाती रही और फिर उठकर उन्होंने अपने बाणों से अनगिनत राक्षसों को मारकर लङ्का की स्त्रियों में कुहराम मचा दिया ॥ 78 ॥ जैसे शरद् ऋतु के आने पर न तो बादल का गर्जन रह जाता है न इन्द्रधनुष ही दिखाई देता है, वैसे ही लक्ष्मण ने मेघनाद के गर्जन को और इन्द्रधनुष के समान उसके धनुष को क्षणभर में नष्ट कर दिया ॥ 79 ॥ उधर सुग्रीव ने कुम्भकर्ण की नाक काटकर उसे शूर्पणखा के समान बना दिया और वह राम का मार्ग रोककर उसी प्रकार खड़ा हो गया जैसे टाँकी से कटी हुई मैंनसिल की चट्टान आ गिरी हो ॥ 80 ॥ राम के बाणों से घायल होकर वह गिरते ही ऐसा मरा मानों राम के बाणों ने उसे यह कहकर गहरी नींद में ले जा सुलाया हो कि तुमको नींद बड़ी प्यारी है, तुम्हारे भाई ने व्यर्थ ही तुम्हें असमय में जगा दिया ॥ 81 ॥ करोड़ों वानरों की सेना के बीच और भी बहुत से राक्षस इस प्रकार गिरते जा रहे थे मानो राक्षसों के रक्त की नदी में रणक्षेत्र से उठी हुई धूल गिरी पड़ रही हो ॥ 82 ॥ जब रावण ने यह सब काण्ड सुना तब वह अपने राजभवन से निकल कर सीधे रण-भूमि में चला आया । उसने मन में ठाना लिया कि आज संसार में या तो रावण ही नहीं रहेगा या राम ही नहीं रहेंगे ॥ 83 ॥ रावण को रथ पर और राम को पैदल देखकर इन्द्र ने अपना

रामं पदातिमालोक्य लङ्केशं च वरूथिनम् । हरियुग्यं रथं तस्मै प्रजिघाय पुरंदरः ॥ 84 ॥
 तमाधूतध्वजपटं व्योमगङ्गोर्मिवायुभिः । देवसूतभुजालम्बी जैत्रमध्यास्त राघवः ॥ 85 ॥
 मातलिस्तस्य माहेन्द्रमामुमोच तनुच्छदम् । यत्रोत्पलदलवल्लैव्यमस्त्राण्यापुः सुरद्विषाम् ॥ 86 ॥
 अन्योन्यदर्शनप्राप्तविक्रमावसरं चिरात् । रामरावणयोर्युद्धं चारितार्थमिवाभवत् ॥ 87 ॥
 भुजमूर्धोरुबाहुल्यादेकोऽपि धनदानुजः । ददृशे ह्ययथापूर्वं मातृवंश इव स्थितः ॥ 88 ॥
 जेतारं लोकपालानां स्वमुखैरर्चितैश्चरम् । रामस्तुलितकैलाससमरातिं बह्मन्यत ॥ 89 ॥
 तस्य स्फुरति पौलस्त्यः सीतासंगमशंसिनि । निचखानाधिकक्रोधः शरं सव्येतरे भुजे ॥ 90 ॥
 रावणस्यापि रामास्त्रोभित्त्वा हृदयमाशुगः । विवेश भुवमाख्यातुमुरगेभ्य इव प्रियम् ॥ 91 ॥
 वचसैव तयोर्वाक्यमस्त्रमस्त्रेण निध्नतोः । अन्योन्यजयसंरम्भो ववृधे वादिनोरिव ॥ 92 ॥
 विक्रमव्यतिहारेण सामान्याभूद्वयोरपि । जयश्रीरन्तरा वेदिर्मत्तवारणयोरिव ॥ 93 ॥
 कृतप्रतिकृतप्रीतैस्तयोर्मुक्तां सुरासुरैः । परस्परशरव्राताः पुष्पवृष्टिं न सेहिरे ॥ 94 ॥
 अयः शंकुचितां रक्षः शतघ्नीमथ शत्रवे । हतां वैवस्वतस्येव कूटशाल्मलिमक्षिपत् ॥ 95 ॥

वह रथ भेज पहुँचाया, जिसमें पीले रंग के घोड़े जुते हुए थे ॥ 84 ॥ उस रथ की ध्वजा आकाश-गङ्गा की लहरों के पवन से फरफराती चल रही थी। इंद्र के सारथि मातलि का हाथ थाम कर राम उस पर जा चढ़े ॥ 85 ॥ मातलि ने उन्हें इंद्र का वह कवच भी निकाल पहनाया जिस पर राक्षसों के अस्त्र ऐसे लगते थे मानो वे अस्त्र न हो कर कमल के फूल हों ॥ 86 ॥ आज बहुत दिनों पर और रावण ने एक दूसरे को आमने-सामने पाया, आज ही उन दोनों को अपनी वीरता दिखाने का अवसर मिला और इस प्रकार तीनों लोकों में जो रावण का युद्ध प्रसिद्ध था, वह आज सफल हो गया ॥ 87 ॥ राक्षसों के मारे जाने के कारण रावण अकेला रह गया था, फिर भी अपनी बहुत सी बाँहों और बहुत से मुखों के कारण वह ऐसा जान पड़ रहा था मानो उसके साथ बहुत से राक्षस हों ॥ 88 ॥ जिस रावण ने इंद्र आदि लोक-पालों को जीत लिया था, जिसने अपने सिर काट-काटकर शिवजी को चढ़ा दिए थे और जिसने कैलास पर्वत को उँगलियों पर टाँग उठाया था, उसे देखकर राम ने समझ लिया कि वह कुछ कम पराक्रमी नहीं है ॥ 89 ॥ रावण ने बड़ा क्रोध करके राम की उस दाहिनी भुजा में बाण मारा, जो फड़कती शुभ सूचना दे रही थी कि अब सीता के प्राप्त होने में देर नहीं है ॥ 90 ॥ राम ने जो बाण छोड़ा वह रावण की छाती को छेदकर पाताल में जा धँसा मानो पाताल-वासियों को रावण के मरने की शुभ सूचना देने जा पहुँचा हो ॥ 91 ॥ वे दोनों क्रोध कर करके एक दूसरे को ललकारते हुए और अस्त्र को शस्त्र से काटते हुए लड़े चले जा रहे थे। उनका क्रोध उसी प्रकार बढ़ता जा रहा था जैसे विजय के लिये शास्त्रार्थ करने वालों का क्रोध बढ़ता चलता है ॥ 92 ॥ कभी राम अधिक पराक्रम दिखाते थे और कभी रावण, इसलिये विजयश्री कभी राम के पास जाती थी तो कभी रावण के पास। उसकी दशा वैसी ही हो चली जैसी लड़ते हुए मतवाले हाथियों के बीच के टीले की हो ॥ 93 ॥ जब राम बाण चलाते या रावण का वार रोकते, तब देवता उनके ऊपर फूल बरसाने लगते और जब रामपर रावण प्रहार करता या उनका वार रोकता, तब असुर उसपर फूल बरसाने लगते। पर राम के अस्त्र रावण के ऊपर बरसते हुए फूलों को ऊपर ही तितर-बितर कर देते और रावण के बाण रामपर बरसने वाले फूलों को आकाश में ही छितरा देते थे ॥ 94 ॥ रावण ने लोहे की कीलों से जड़ी हुई वह शतघ्नी रामपर उठा चलाई जो यमराज के अस्त्र कूटशाल्मलि के समान भयङ्कर थी ॥ 95 ॥ उस समय राक्षसों को पूरी आशा हो गई कि इस अस्त्र से तो राम अवश्य ही समाप्त हो जायेंगे। पर राम ने उस शतघ्नी को रथतक पहुँचने के पहले ही तिरछी

राघवो रथमप्राप्तां तामाशां चसुरद्विषाम् । अर्द्धचन्द्रमुखैर्बाणैश्चिच्छेद कदलीसुखम् ॥ 96 ॥
 अमोघं संदधे चास्मै धनुष्येकधनुर्धरः । ब्राह्ममस्त्रं प्रियाशोकशल्यनिष्कर्षणीषधम् ॥ 97 ॥
 तद्व्योम्नि शतधा भिन्नं ददृशे दीप्तिमन्मुखम् । वपुर्महोरगस्येव करालफणमण्डलम् ॥ 98 ॥
 तेन मन्त्रप्रयुक्तेन निमेषार्धादपातयत् । स रावणशिरः पङ्क्तिमज्जातव्रणवेदनाम् ॥ 99 ॥
 बालार्कप्रतिमेवाप्सु वीचिभिन्ना पतिष्यतः । रराज रक्षःकायस्य कण्ठच्छेदपरम्परा ॥ 100 ॥
 मरुतां पश्यतां तस्य शिरांसि पतितान्यपि । मनो नातिविशश्वास पुनः संधानशङ्किनाम् ॥ 101 ॥
 अथ मदगुरुपक्षौर्लोकपालद्विपानामनुगतमलिवृन्दैर्गण्ड भित्तीर्विहाय ।
 उपनतमणिबन्धे मूर्ध्नि पौलस्त्यशत्रोः सुरभि सुरविमुक्तं पुष्पवर्ष पपात ॥ 102 ॥
 यन्ता हरेः सपदि संहतकार्मुकज्यमापृच्छ च राघवमनुष्ठितदेवकार्यम् ।
 नामाङ्गरावणशराङ्कितकेतुयष्टिमूर्ध्वं रथं हरिसहस्रयुजं निनाय ॥ 103 ॥
 रघुपरिपि जातवेदोविशुद्धां प्रगृह्य प्रियां प्रियसुहृदि विभीषणे संगमय्य श्रियं वैरिणः ।
 रविसुतसहितेन तेनानुयातः स सौमित्रिणा भुजविजितविमानरत्नाधिरूढः प्रतस्थे पुरीम् ॥ 104 ॥
 । इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
 रावणवधो नाम द्वादशः सर्गः ।।



नोकवाले बाणों से ऐसी सरलता से टुकड़े-टुकड़े कर डाला मानो केला छील फेंका हो । यह देखकर तो राक्षसों की रही-सही आशा भी जाती रही ॥ 96 ॥ राम कोई साधारण धनुषधारी थोड़े ही थे । उन्होंने रावण को मारने के लिये धनुष पर वह ब्रह्मास्त्र उठा चढ़ाया, जो कभी व्यर्थ ही नहीं जाता । वह ऐसा था मानो सीता के शोक रूपी काँटों को निकालने की अचूक ओषधि हो ॥ 97 ॥ वह ब्रह्मास्त्र आकाश में जाते ही दस भागों में फट गया और उसमें से जो आग निकली वह ऐसी थी मानो फणों का चमकीला मण्डल लिए हुए साक्षात् शेषनाग ही उतर आए हों ॥ 98 ॥ मन्त्र से चलाए हुए उस ब्रह्मास्त्र से राम ने रावण के दसों सिर आधे पल में पृथ्वी पर ऐसे काट गिराए कि रावण को तनिक भी कष्ट नहीं हुआ ॥ 99 ॥ रावण के सिर कटकर गिरते हुए ऐसे अच्छे लगते थे जैसे लहरों में प्रातःकाल के सूर्य का प्रतिबिम्ब शोभा देता है ॥ 100 ॥ रावण के कटे हुए सिरों को देखकर भी देवताओं को विश्वास नहीं हुआ, क्योंकि उन्हें यही डर लगा हुआ था कि कहीं ये फिर न आ जुड़ें ॥ 101 ॥ जिस राम पर राज्याभिषेक का जल छिड़का जाने वाला था उन्हीं के सिरपर देवताओं ने वे फूल ला वरसाए जिनकी सुगन्ध पाकर मदसे भीगी हुई पाँखों वाले भौर दिशाओं के हाथियों के मद बहाने वाले कपोलों को छोड़कर रस लेने उनके पीछे-पीछे दौड़ पड़ते हों ॥ 102 ॥ राम ने तब धनुष की डोरी उतार धरी, क्योंकि उन्होंने देवताओं का काम तो पूरा कर ही दिया था । इन्द्र का सारथि मातलि उनसे आज्ञा लेकर अपना सहस्त्रों घोड़ों वाला वह रथ लेकर स्वर्ग लौट गया, जिसकी ध्वजा पर अभी तक रावण के नाम खुदे हुए बाणों के चिन्ह बने हुए थे ॥ 103 ॥ राम ने रावण की राज्यश्री विभीषण को उठा सौंपी और फिर सीता को अग्नि में शुद्ध करके सुग्रीव, विभीषण और लक्ष्मण के साथ अपने बाहुवल से जीते हुए पुष्पक विमान पर चढ़कर अयोध्या की ओर लौट चले ॥ 104 ॥

॥ महाकवि कालिदास के रचे हुए रघुवंश महाकाव्य में रावण-वध नाम का बारहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥



॥ त्रयोदशः सर्गः ॥

अथात्मनः शब्दगुणं गुणज्ञः पदं विमानेन विगाहमानः ।
 रत्नाकरं वीक्ष्य मिथः स जायां रामाभिधानो हरिरित्युवाच ॥ 1 ॥
 वैदेहि पश्यामलयादिभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम् ।
 छायापद्योनेव शरत्पत्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम् ॥ 2 ॥
 गुरोरियं यक्षोः कपिलेन मेघ्ये रसातलं संक्रमिते तुरंगे ।
 तदर्धमुर्वीभवदारयद्भिः पूर्वैः किलायं परिवर्धितो नः ॥ 3 ॥
 गर्भं दधात्यर्कमरीचयोऽस्माद्विवृद्धिमत्राश्नुवते वसूनि ।
 अबिन्धानं बह्निमसौ बिभर्ति प्रह्लादनं ज्योतिरजन्यनेन ॥ 4 ॥
 तां तामवस्थां प्रतिपद्यमानं स्थितं दश व्याप्य दिशो महिम्ना ।
 विष्णो रिरास्यानवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्तया वा ॥ 5 ॥
 नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा ।
 अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान्पुरुषोऽधिरोते ॥ 6 ॥
 पक्षच्छिदा गोत्रभिदात्तगन्धाः शरण्यमेनं शतशो महीधाः ।
 नृपा इवोप्लविनः परेभ्यो धर्मोत्तरं मध्यममाश्रयन्ते ॥ 7 ॥

तेरहवाँ सर्ग

जिसका गुण शब्द है, उस आकाश में विमान पर चढ़े जाते हुए गुणी तथा राम कहलाने वाले विष्णु भगवान् समुद्र को देखकर सीता जी से एकान्त में बोले- ॥ 1 ॥ 'सीते! फेन से भरे हुए इस समुद्र को तो देखो जिसे मेरे बनाए हुए पुलने मलय पर्वत तक दो भागों में वैसे ही बाँट दिया है जैसे सुन्दर तारों से भरे हुए शरद् ऋतु के खुले आकाश को आकाशगङ्गा दो भागों में बाँट देती है ॥ 2 ॥ (जानती हो समुद्र कैसे बना है!) जब हमारे पुरखे महाराज सगर अपना अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे तब कपिल उनका घोड़ा पाताल लोक में हाँक ले गए। उस समय सगर के पुत्रों ने घोड़े की खोज करने के लिये जो सारी पृथ्वी खोद डाली थी, उसी से यह इतना लम्बा-चौड़ा समुद्र बन गया है ॥ 3 ॥ (यह समुद्र है बड़े काम का।) देखो, इसी में से सूर्य की किरणें जल खींचती हैं (और पृथ्वी पर बरसाती हैं), इसी में रत्न बढ़ते हैं, अपने शत्रु बड़वानल को भी यह अपनी गोद में पालता है और सुखकारी प्रकाश वाला चन्द्रमा भी इसी में से उत्पन्न हुआ है ॥ 4 ॥ यह अपना रूप भी सदा बदलता रहता है और यह इतना बड़ा है कि दूर तक दसों दिशाओं में जा फैला है, इसीलिये जैसे विष्णु भगवान् के विषय में नहीं कहा जा सकता कि वे ऐसे या इतने बड़े हैं वैसे ही इसके विषय में भी यह नहीं कहा जा सकता कि यह ऐसा है या इतना बड़ा है ॥ 5 ॥ जब आदि-पुरुष विष्णु भगवान् तीनों लोकों का संहार कर चुकते हैं तब यहीं पहुँचकर योगनिद्रा में सोते हैं और इनकी नाभि से निकले हुए कमल से उत्पन्न होने वाले ब्रह्मा सदा इनके गुण गाया करते हैं ॥ 6 ॥ जैसे शत्रुओं के डर से राजा लोग किसी धर्मात्मा और तटस्थ राजा की शरण जा लेते हैं वैसे ही उन सैकड़ों पहाड़ों ने भी इसकी शरण जा ली थी, जिनके पंख इन्द्र ने काट डाले थे और जिनका अभिमान इन्द्र ने चूर कर दिया था ॥ 7 ॥ सृष्टि के आरम्भ में जब बराह भगवान् पृथ्वी को पाताल से निकाले ला रहे थे उस समय प्रलय से बढ़ा हुआ इसका स्वच्छ जल क्षण भर के

रसातलादादिभवेन पुंसा भुवः प्रयुक्तोदहनक्रियायाः ।
 अस्याच्छमम्भः प्रलयप्रवृद्धं मुहूर्तवक्त्राभरणं बभूव ॥ 8 ॥
 मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः स्वयं तरङ्गाधारदानदक्षः ।
 अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः पिबत्यसौ पाययते च सिन्धुः ॥ 9 ॥
 स सत्त्वमादाय नदीमुखाम्भः संमीलयन्तो विवृताननत्वात् ।
 अमी शिरोभिस्तिमयः सरन्ध्रैरूर्ध्वं वितन्वन्ति जलप्रवाहान् ॥ 10 ॥
 मातङ्गनक्रैः सहस्रोत्पतद्भिर्भिन्नान्द्विधा पश्य समुद्रफेनान् ।
 कपोलसंसर्पितया य एषां व्रजन्ति कर्णक्षणाचामरत्वम् ॥ 11 ॥
 वेलानिलाय प्रसृता भुजङ्गा महोर्मिविस्फूर्जद्युनिर्विशेषाः ।
 सूर्याशुसंपर्कसमृद्धरागैर्व्यज्यन्त एते मणिभिः फणस्थैः ॥ 12 ॥
 तवाधारस्पर्धिषु विदुमेषु पर्यस्तमेतत् सहस्रोर्मिवेगात् ।
 ऊर्ध्वाङ्कुरप्रोतमुखं कथंचित्क्लेशादपक्रामति शङ्खयूथम् ॥ 13 ॥
 प्रवृत्तमात्रेण पर्याप्तिं पातुमावर्त्तवेगाद्भ्रमता घनेन ।
 आभाति भूयिष्ठमयं समुद्रः प्रमथ्यमानो गिरिणेव भूयः ॥ 14 ॥
 दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी तमालतालीवनराजिनीला ।
 आभाति बेला लवणाम्बुराशोर्धारानिबद्धेव कलङ्करेखा ॥ 15 ॥
 वेलानिलः केतकरेणुभिस्ते संभावयत्याननमायताक्षि ।
 मामक्षमं मण्डनकालहानेर्वेत्तीव बिम्बाधारबद्धतृष्णाम् ॥ 16 ॥

लिये उनका घूँघट बन गया था ॥ 8 ॥ देखो! दूसरे लोग तो केवल स्त्रियों का अधरपान किया करते हैं, अपना अधर उन्हें नहीं पिलाते। पर समुद्र इस बात में भी औरों से बढ़कर है, क्योंकि जब नदियाँ ढीठ होकर चुम्बन के लिये अपना मुख इसके सामने बढ़ाती हैं तब यह भी बड़ी चतुराई से अपना तरङ्ग-रूपी अधर उन्हें पिलाने लगता और उनका अधर भी स्वयं पीने लगता है ॥ 9 ॥ यह देखो ये बड़े-बड़े मगरमच्छ अपना मुँह खोलकर मछलियों को लिए-दिए समुद्र का जल घोंटकर फिर मुँह बन्द करके अपने सिर के छेदों से पानी की जल-धाराएँ छोड़ने लग रहे हैं ॥ 10 ॥ इन मगरमच्छों के अचानक उठने से समुद्र की फटी हुई फेन को तो देखो जो इनके गालों पर क्षण भर के लिये लगी हुई ऐसी दिखाई देती है जैसे इनके कानों पर चँवर टँगे हुए हों ॥ 11 ॥ तट पर बड़ी-बड़ी लहरों के समान पड़े दिखाई देने वाले ये साँप तट का वायु पीने के लिये बाहर निकल-निकलकर चले आए हैं पर ये पहचान में तभी आते हैं जब सूर्य की किरणों से इनके मणि चमक उठते हैं ॥ 12 ॥ देखो, लहरों की झोंक में, तुम्हारे अधरों के समान लाल-लाल मूंगे की चट्टान से टकरा जाने से इन जीवित शंखों के मुँह छिद गए हैं और उस पीड़ा से बेचारे बड़ी कठिनाई से इधर-उधर घूम-फिर पा रहे हैं ॥ 13 ॥ वह देखो! काले-काले बादल, समुद्र का पानी लेने चले आकर समुद्र की भँवर के साथ-साथ बड़ी तीव्र गति से चक्कर काट रहे हैं जिससे यह समुद्र ऐसा जान पड़ रहा है मानो मन्दराचल फिर इसे मथे डाल रहा हो ॥ 14 ॥ देखो! दूर होने से पहिए की हाल के समान बहुत पतला और ताड़ तथा तमाल आदि वृक्षों के कारण नीला दिखाई देने वाला समुद्र-तट ऐसा जान पड़ रहा है जैसे चक्र की धार पर मुर्चा आ जमा हो ॥ 15 ॥ सुलोचने! समुद्र तट का वायु तुम्हारे मुख पर केतकी का पराग फैलाए दे रहा है मानो वह यह ताड़ गया हो कि मैं तुम्हारे अधरों को बस चूमने ही वाला हूँ और अब अधिक शृङ्गार की बाट नहीं देखूँगा ॥ 16 ॥ यह देखो, हम

एते वयं सैकतभिन्नशुक्तिपर्यस्तमुक्तापटलं पयोधोः ।
 प्राप्ता मुहूर्त्तेन विमानवेगात्कूलं फलावर्जितपूगमालम् ॥ 17 ॥
 कुरुष्व तावत्करभोरु पश्चान्मार्गे मृगप्रेक्षिणि दृष्टिपातम् ।
 एषा विदूरीभवतः समुद्रात्सकानना निष्पततीव भूमिः ॥ 18 ॥
 क्वचित्पथा संचरते सुराणां क्वचिद्धनानां पततां क्वचिच्च ।
 यथाविधो मे मनसोऽभिलाषः प्रवर्तते पश्य तथा विमानम् ॥ 19 ॥
 असौ महेन्द्रद्विपदानगन्धिस्त्रिमार्गावाचीचिविमर्दशीतः ।
 आकाशवायुर्दिनयौवनोत्थानाचामति स्वेदलवान्मुखो ते ॥ 20 ॥
 करेण वातायनलम्बितेन स्पृष्टस्त्वया चण्डि कुतूहलिन्या ।
 आमुश्चतीवाभरणं द्वितीयमुद्भिन्नविद्युद्वलयो धनस्ते ॥ 21 ॥
 अमी जनस्थानमपोढविघ्नं मत्वा समारब्धानबोटजानि ।
 अध्यासते चीरभृतो यथास्वं चिरोज्जितान्याश्रममण्डलानि ॥ 22 ॥
 सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपूरमेकमुर्व्याम् ।
 अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम् ॥ 23 ॥
 त्वं रक्षसा भीरु यतोऽपनीता तं मार्गमेताः कृपया लता मे ।
 अदर्शयन्वक्तुमशक्नुवत्यः शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः ॥ 24 ॥

लोग विमान के तीव्र चलने के कारण क्षण भर में ही समुद्र के उस तट पर पहुँच गए जहाँ बालू पर सीपों के फैल जाने से मोती बिखरे पड़े हैं और फलों के भार से सुपारी के पेड़ झुके खड़े हैं ॥ 17 ॥ कदली के समान जाँघों वाली मृगनयनी! पीछे की ओर तो देखो! दूर निकल आने से यह जंगलों से भरी हुई भूमि ऐसी दिखाई पड़ रही है मानो अभी अचानक समुद्रों से निकल उठी हो ॥ 18 ॥ देखो! यह विमान उधर ही घूम जाता है जिधर मैं चाहता हूँ। कभी तो यह देवताओं के मार्ग में उड़ता चलता है, कभी बादलों के मार्ग में जा पहुँचता है और कभी पक्षियों के मार्ग में उड़ने लगता है ॥ 19 ॥ ऐरावत की मद की गन्ध में बसा हुआ और आकाशगङ्गा की लहरों से ठंडाया हुआ आकाश का वायु तुम्हारे मुख पर दोपहर की गर्मी से छाया हुई पसीने की बूंदों को पीता चल रहा है ॥ 20 ॥ देखो चण्डी! जब तुम खेल-खेल में अपना हाथ विमान से बाहर निकालकर बादल को छूने चलती हो तब तुम्हारी कलाई के चारों ओर बिजली कौंध जाती है। उस समय ऐसा जान पड़ता है मानो बादल तुम्हारे हाथ में दूसरा कंगन पहनाए दे रहे हों ॥ 21 ॥ नीचे देखो! रावण आदि राक्षसों के मारे जाने की बात सुनकर चीरधारी तपस्वियों ने समझ लिया है कि अब कोई खटका नहीं रह गया और इसलिये अपनी नई-नई कुटिया बना-बनाकर, तपोवन में सुख से बसने लगे हैं ॥ 22 ॥ देखो! यह वही स्थान है जहाँ तुम्हें ढूँढ़ते हुए मैंने पृथ्वी पर पड़ा हुआ तुम्हारा बिछुआ देखा था। चुपचाप पड़ा हुआ वह ऐसा लग रहा था मानो वह तुम्हारे चरणों से अलग हो जाने के दुःख से ही चुप हुआ पड़ा हो ॥ 23 ॥ देखो भीरु! जिस मार्ग से रावण तुम्हें ले गया था उस मार्ग की लताएँ कृपा करके मुझे तुम्हारे जाने का मार्ग बताना चाहती थीं, पर बोल न सकने के कारण उन्होंने अपनी पत्तों वाली डालियाँ ही उधर झुका-झुकाकर मुझे तुम्हारा ठिकाना बता दिया था ॥ 24 ॥ हरिणियों ने भी जब देखा कि मुझे तुम्हारे जाने के मार्ग का ज्ञान नहीं हो रहा है तब वे भी

मृग्यश्च दर्भाङ्क रनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञं समबोधयन्माम् ।
 व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्षराजीनि विलोचनानि ॥ 25 ॥
 एतद्दिगरेर्मात्यवतः पुरस्तादाविर्भवत्यम्बरलेखि शृङ्गम् ।
 नवं पयो यत्र घनैर्मया च त्वद्विपयोगाश्रु समं विसृष्टम् ॥ 26 ॥
 गन्धाश्च धाराहतपल्वलानां कादम्बधोर्द्विगतकेसरं च ।
 स्निग्धाश्च केकाः शिखिनां बभूवुर्यस्मिन्नसद्मानि विना त्वयाम् ॥ 27 ॥
 पूर्वानुभूतं स्मरता च यत्र कम्पोत्तरं भीरु तवोपगूढम् ।
 गुहाविसारीण्यतिबाहितानि मया कथंचिद्धनगर्जितानि ॥ 28 ॥
 आसारसिक्तक्षितिवाष्पयोगान्मामक्षिणोद्यत्र विभिन्नकोशैः ।
 बिडम्ब्यमाना नवकन्दलैस्ते विवाहधूमारुणलोचनश्रीः ॥ 29 ॥
 उपान्तवान्नीरवनोपगूढान्यालक्ष्यपारिप्लवसारसानि ।
 दूरावतीर्णा पिबतीव खेदादभूनि पम्पासलिलीनि दृष्टिः ॥ 30 ॥
 अत्रावियुक्तानि रथाङ्गनाम्नामन्योन्यदत्तोत्पलकेसराणि ।
 द्वन्द्वानि दूरान्तरवर्तिना ते मया प्रिये सस्पृहमीक्षितानि ॥ 31 ॥
 इमां तटाशोकलतां च तन्वीं स्तनाभिरामस्तवकाभिनयाम् ।
 त्वत्प्राप्तिबुद्ध्या परिरब्धुकामः सौमित्रिणा साश्वरहं निषिद्धः ॥ 32 ॥

अपनी उठी हुई पलकों वाली आँखें दक्षिण दिशा की ओर करके मुझे मार्ग समझाने लगी थीं ॥ 25 ॥
 देखो! यह जो आगे माल्यवान् पर्वत की ऊँची चोटी दिखाई दे रही है, यहाँ जब बादलों ने नया जल
 बरसाना आरंभ किया, तब तुम्हारे न रहने से मेरी आँखें भी जल बरसाने लगी थीं ॥ 26 ॥ उस समय
 वर्षा के कारण पोखरों में से उठी हुई सोंधी गंध, अधखिली मंजरियों वाले कदम्ब के फूल और भौरों के
 मनोहर स्वर तुम्हारे न रहने से मुझे बड़े अखरे ॥ 27 ॥ जब बादल गरजने लगते थे और गुफाओं में
 उनकी प्रतिध्वनि होने लगती थी तब मुझे वे दिन स्मरण हो आते थे, जब बादलों के गर्जन से डरकर
 तुम मुझसे आ लिपटती थीं। तुम समझ नहीं सकती कि माल्यवान् पर्वत पर वे पावस के दिन मैंने न
 जाने कितने कष्ट से बिताए ॥ 28 ॥ वर्षा के कारण वहाँ की धरती से जो भाप निकली, उससे कंदलियों
 की कलियाँ खिलकर वैसी ही लाल-लाल हो उठीं जैसे विवाह के समय हवन का धुआँ लगने से तुम्हारी
 आँखें लाल हो गई थीं। अतः, उन्हें देख-देखकर तुम्हारा स्मरण हो आने से मैं बहुत बेचैन हो उठता था
 ॥ 29 ॥ देखो! बहुत ऊँचे से देखने के कारण और बेंत के जंगलों से ढके होने के कारण पम्पा सरोवर
 का जल तो ठीक-ठीक दिखाई नहीं दे रहा है। फिर भी जल पर तैरते हुए सारस कुछ-कुछ अवश्य दिखाई
 पड़ जाते हैं ॥ 30 ॥ प्रिये! यहीं पर चकवा-चकवी के जोड़े एक दूसरे से प्रेमपूर्वक कमल का केसर ला
 लाकर दिया करते थे। तुमसे इतनी दूर होने के कारण उन्हें देख-देखकर मैं यही सोचता रहता था कि
 ये दिन मुझे फिर कब देखने को मिलेंगे ॥ 31 ॥ तुम्हारे वियोग में मैं ऐसा पागल हो चला था कि एक
 दिन स्तन के समान गुच्छों वाली इस पतली अशोक लता को मैं यही समझकर गले लगाने बढ़ चला
 था कि तुम ही हो। पर जैसे ही मैं उसे गले लगाने चला वैसे ही मेरा यह पागलपन देखकर रोते हुए
 लक्ष्मण ने मुझे रोक दिया ॥ 32 ॥ यह देखो! विमान के नीचे लटकती हुई सोने की किङ्किणियों का
 शब्द सुनकर गोदावरी नदी के सारसों की पाँतें ऐसी ऊपर उड़ी चली आ रही हैं मानो तुम्हारी अगवानी

अमूर्विमानान्तरलम्बिनीनां श्रुत्वा स्वनं काञ्चनकिङ्किणीनाम् ।
 प्रत्युद्वजन्तीव खमुत्पन्त्यो गोदावरीसारसपङ्क्तयस्त्वाम् ॥ 33 ॥
 एषा त्वया पेशलमध्ययापि घटाम्बुसंवर्धितबालचूता ।
 आनन्दयत्युन्मुखकृष्णसारा दृष्टा चिरात्पञ्चवटी मनो मे ॥ 34 ॥
 अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरंगवातेन विनीतखोदः ।
 रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः ॥ 35 ॥
 भूभेदमात्रेण पदान्मघोनः प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार ।
 तस्याविलाम्भःपरिशुद्धिहेतोर्भौमो मुनेः स्थानपरिग्रहोऽयम् ॥ 36 ॥
 त्रेताग्निधूमाग्नमनिन्द्यकीर्तस्तस्येदमाक्रान्तविमानमार्गम् ।
 घात्वा हविर्गन्धि रजोविमुक्तः समश्नुते मे लघिमानमात्मा ॥ 37 ॥
 एतन्मुनेर्मानिनि शातकर्णोः पञ्चाप्सरो नाम विहारवारि ।
 आभाति पर्यन्तवनं विदूरान्मेघान्तरालक्षयमिवेन्दुबिम्बम् ॥ 38 ॥
 पुरा स दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिश्चरन्मृगैः सार्धमृषिर्मघो ना ।
 समाधिभीतेन किलोपनीतः पञ्चाप्सरोयौवनकूटबन्धम् ॥ 39 ॥
 तस्यायमन्तर्हितसौधभाजः प्रसक्तसंगीतमृदङ्गघोषः ।
 वियद्गतः पुष्पकचन्द्रशालाः क्षणं प्रतिश्रुन्मुखराः करोति ॥ 40 ॥

करने चली आ रही हों ॥ 33 ॥ आज इतने दिनों पर इस पंचवटी को देखकर मेरा जी बहुत खिल उठा है। वह देखो! वहाँ के मृग ऊपर सिर उठा-उठाकर विमान को देखे जा रहे हैं। यही तो वह स्थल है जहाँ पर तुमने अपनी पतली कमर पर घड़े टेक टेककर आम के वृक्षों को सींचकर पाला-पोसा था ॥ 34 ॥ मुझे वे दिन स्मरण हो आ रहे हैं जब मैं यहाँ एकान्त में बेंत की झोपड़ी में तुम्हारी गोद में सिर रखकर सोया करता था और गोदावरी का ठंडा वायु मेरे आखेट की थकावट मिटाया करता था ॥ 35 ॥ यह देखो! आगे उन तपस्वी अगस्त्य ऋषि का आश्रम है, जिन्होंने केवल भीहें तानकर ही राजा नहुष को इन्द्र के पद से नीचे ढकेल दिया था। ये ही जब उदय होते हैं तब वर्षा का सारा गंदला जल स्वच्छ कर दिया करते हैं ॥ 36 ॥ उसी यज्ञस्वी ऋषि की तीन (गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय) अग्नियों से हवन-सामग्री की गन्ध से मिला हुआ वह धुआँ विमान के पास तक उठा चला आ रहा है जिसे सूँघते ही मेरा आत्मा पवित्र हो गया है ॥ 37 ॥ भामिनी! यह आगे शातकर्णी ऋषिका पश्चाप्सर नाम का क्रीडा-सरोवर है जो चारों ओर काले-काले जङ्गलों से घिरा हुआ दूर से ऐसा दिखाई पड़ रहा है मानो बादलों के बीच में कुछ-कुछ दिखाई देने वाला चन्द्रमा हो ॥ 38 ॥ पहले ये महर्षि तपस्या करते समय मृगों के साथ घास चरा करते थे। इनकी ऐसी तपस्या देखकर इन्द्र को यह भय हुआ कि कहीं ये हमारा इन्द्रासन न छीन लें, इसलिये इनका तप डिगाने के लिये इन्द्र ने, एक साथ पाँच अप्सराओं का ऐसा जाल इन पर फेंका कि ये बेचारे फँस गए ॥ 39 ॥ यह जो नाच-गाना सुनाई दे रहा है, यह जल के भीतर बने हुए उन्हीं के भवन का है। वहीं के मृदङ्ग की ध्वनि आकाश में इस पुष्पक-विमान की छतरी से टकरा कर गूँज रही है ॥ 40 ॥ यह जो चार अग्नियों के बीच में और ऊपर सूर्य की किरणों से पंचाग्नि

हविर्भुजामेघवतां चतुर्णां मध्ये ललाटं तपसप्तसप्तितः ।
 असौ तपस्यत्यपरस्तपस्वी नाम्ना सुतीक्ष्णश्चरितेन दान्तः ॥ 41 ॥
 अमुं सहासप्रहितेक्षणानि व्याजार्धसंदर्शितमेखलानि ।
 नालं विकृतं जनितेन्द्रशङ्कं सुराङ्गनाविभ्रमचेष्टितानि ॥ 42 ॥
 एषोऽक्षमालावलयं मृगाणां कण्डूयितारं कुशसूचिलावम् ।
 सभाजने मे भुजमूर्ध्वबाहुः सव्येतरं प्राध्वमितः प्रयुङ्क्ते ॥ 43 ॥
 वाचंयमत्वात्प्रणतिं ममैष कम्पेन किञ्चित्प्रतिगृह्य मूर्ध्नः ।
 दृष्टिं विमानव्यवधानमुक्तां पुनः सहस्त्रार्चिषि संनिधत्ते ॥ 44 ॥
 अदः शरण्यं शरभङ्गनाम्नस्तपोवनं पावनमाहिताग्नेः ।
 चिराय संतर्प्य समिद्धिरग्निं यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहौषीत् ॥ 45 ॥
 छायाविनीताध्वपरिश्रमेण भूयिष्ठसंभाव्यफलेष्वमीशु ।
 तस्यातिभनामधुना सपर्या स्थिता सुपुत्रेष्विव पादपेषु ॥ 46 ॥
 धारास्वनोद्गारिदरीमुखोऽसौ शृङ्गाग्रलग्नान्बुदवप्रपङ्कः ।
 बध्नाति मे बन्धुरगात्रि चक्षुर्दप्तः ककुद्यानिव चित्रकूटः ॥ 47 ॥
 एषा प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा सरिद्धिदूरान्तरभावतन्वी ।
 मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे मुक्तावली कण्ठगतेव भूमेः ॥ 48 ॥

तपते हुए तपस्वी बैठे हैं, इनका नाम तो सुतीक्ष्ण (अर्थात् बड़ा तीखा) है पर ये हैं बड़े सीधे ॥ 41 ॥
 इनके तपसे डरकर इन्द्र ने इनके पास भी अप्सराएँ भेजी थीं जो मुस्करा-मुस्कराकर इन पर तिरछी चितवन
 चलाती थीं और किसी न किसी बहाने अपनी तगड़ी (कमर) भी उधाड़कर इन्हें दिखा देती थीं, पर उनकी
 वह सब चटक-मटक इन्हें तनिक भी न लुभा पाई ॥ 42 ॥ देखो! वे मुझे देखकर रुद्राक्ष की माला बंधी
 हुई, मृगों को सहलाने वाली और कुश उखाड़ने वाली अपनी दाहिनी भुजा उठाकर मेरा स्वागत कर रहे
 हैं ॥ 43 ॥ ये मौन रहते हैं इसलिये केवल सिर हिलाकर ही इन्होंने मेरा प्रणाम स्वीकार किया है। बीच
 में विमान आ जाने से जो इनकी दृष्टि सूर्य से अलग हो गई थी वह फिर इन्होंने सूर्य में लगा ली है
 ॥ 44 ॥ यह आगे शरणागत की रक्षा करने वाले अग्निहोत्री शरभङ्ग ऋषि का तपोवन है जिन्होंने बहुत
 दिनों तक अग्नि को समिधा से तृप्त करके अन्त में अपना पवित्र शरीर भी उसमें हवन कर दिया था
 ॥ 45 ॥ जैसे सुपुत्र अपने पिता के धर्म का पालन करते हैं वैसे ही अतिथि-सेवा का काम उनके बदले
 ये आश्रम के वृक्ष ही किया करते हैं जिनकी छाया में बैठकर पथिक अपनी थकावट भी दूर करते हैं और
 जिनमें बड़े मीठे-मीठे फल भी लगते हैं ॥ 46 ॥ सुन्दरी ! मस्त साँड़ के समान यह चित्रकूट पर्वत मुझे
 बड़ा सुहावना लग रहा है जिसकी गुफा ही इसका मुख है, इससे निकलने वाली जल की धारा की ध्वनि
 ही साँड़ की डकार है, इसकी चोटी ही उसकी सींगें हैं और उस पर छाए हुए बादल ही मानो सींगों पर
 लगी हुई कीचड़ है ॥ 47 ॥ यह लो, मन्दाकिनी आ गई। इसका जल कैसा स्वच्छ और धीरे-धीरे बह
 रहा है। दूर होने के कारण यह कितनी पतली दिखाई दे रही है। चित्रकूट पर्वत के नीचे बहती हुई यह
 ऐसी जान पड़ती है मानो पृथ्वी-रूपी नायिका के गले में मोतियों की माला पड़ी हुई हो ॥ 48 ॥ पहाड़
 की ढाल पर जो तमाल का वृक्ष दिखाई दे रहा है, यह वही है जिसकी कोंपल के कर्णफूल बनाकर मैं

अयं सुजातोऽनुगिरं तमालः प्रवालमादाय सुगन्धि यस्य ।
 यवाङ्कु रापाण्डुकपोलशोभी मयावतंसः परिकल्पितस्ते ॥ 49 ॥
 अनिग्रहत्रासविनीतसत्त्वमपुष्पलिङ्गात्फलबन्धिवृक्षाम् ।
 वनं तपःसाधनमेतदत्रो राविष्कृतोदग्रतरप्रभावम् ॥ 50 ॥
 अत्राभिषेकाय तपोधानानां सप्तर्षिहस्तोद्धतहेमपद्माम् ।
 प्रवर्तयामास किलानसूया त्रिस्रोतसं त्र्यम्बकमौलिमालाम् ॥ 51 ॥
 वीरासनैर्ध्यानजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्याः ।
 निवातनिष्कम्पतया विभान्ति योगाधिरूढा इव शाखिनोऽपि ॥ 52 ॥
 त्वया पुरस्तादुपयाचितो यः सोऽयं वटः श्याम इति प्रतीतः ।
 राशिर्मणीनामिव गारुडानां सपद्मरागः फलितो बिभाति ॥ 53 ॥
 क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा ।
 अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दीवरैरुत्खाचितान्तरैव ॥ 54 ॥
 क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पङ्क्तिः ।
 अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिभुवश्चन्दनकल्पितेव ॥ 55 ॥
 क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव ।
 अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभः प्रदेशाः ॥ 56 ॥

तुम्हारे कान में पहनाया करता था और जो तुम्हारे जौ के अंकुर के समान पीले गालों पर लटकता हुआ सुन्दर लगा करता था ॥ 49 ॥ यह आगे अत्रि मुनि का तपोवन है जहाँ के सिंह आदि पशु बिना मारे-पीटे ही ऐसे सीधे हो गए हैं कि किसी से कुछ बोलते नहीं। यह तपोवन इतना प्रभावशाली है कि यहाँ बिना आए ही वृक्षों में फल लग जाते हैं ॥ 50 ॥ ऋषियों के स्नान के लिये अत्रि की पत्नी अनसूया जी उन त्रिपथगा (आकाश में मन्दाकिनी, पृथ्वीपर भागीरथी और पाताल में भोगवती) गङ्गा को यहाँ ले आई हैं जिसमें से सप्तर्षिगण स्वर्ण कमल चुना करते हैं और जो शिव के सिरपर माला के समान सुन्दर लगती है ॥ 51 ॥ इस आश्रम के वृक्षों के नीचे वेदियों पर तपस्वी लोग वीरासन लगा-लगाकर ध्यान किया करते हैं और यहाँ के वृक्ष भी वायु न चलने के कारण ऐसे स्थिर खड़े हैं मानो वे भी योग साध रहे हों ॥ 52 ॥ यह काला-काला वही बड़ का पेड़ है जिसकी तुमने मनौती मानी थी। इसमें जो लाल-लाल बड़ पीपलियाँ फली हैं उनसे यह पेड़ ऐसा लग रहा है जैसे नीलम के ढेर में बहुत से लाल ला भरे धरे हों ॥ 53 ॥ देखो सुन्दरी ! यमुना की साँवली लहरों से मिली हुई उनकी लहरों वाली गङ्गा कैसी सुन्दर लग रही है। कहीं तो ये चमकने वाली इन्द्रनील मणियों से गुँथी हुई माला-जैसी लगती हैं, कहीं नीले और श्वेत कमलों की मिली हुई माला-जैसी दिखाई पड़ रही हैं, ॥ 54 ॥ कहीं साँवले रंग के हंसों से मिले हुए उजले रंग के राजहंसों की पाँत के समान शोभा दे रही हैं, कहीं श्वेत चन्दन से चीती हुई पृथ्वी पर बीच-बीच में काले अगर से चीती हुई-सी लग रही हैं, ॥ 55 ॥ कहीं-कहीं ये वृक्ष के नीचे बिखरी उस चाँदनी के समान लगती हैं, जहाँ बीच-बीच में पत्तों की छाया हो, कहीं-कहीं पर शरद् ऋतु के उन उजले बादलों के समान जान पड़ती हैं, जिनके बीच-बीच में नीला आकाश झोंक रहा हो ॥ 56 ॥ और कहीं पर भस्म पुते हुए शिवजी के शरीर के समान दिखाई पड़ रही हैं जिसपर काले-काले सर्प लिपटे हुए हों

क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणोव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य ।
 पश्यानवद्याङ्गि विभाति गङ्गा भिन्नपवाहा यमुनातरङ्गैः ॥ 57 ॥
 समुद्रपत्न्योर्जलसंनिपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात् ।
 तत्त्वावबोधने विनापि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः ॥ 58 ॥
 पुरं निषादाधिपतेरिदं तद्यस्मिन्मया मौलिमणिं बिहाय ।
 जटासुबद्धास्वरुदत्सुमन्त्रः कैकेयि कामाः फलितास्तवेति ॥ 59 ॥
 पयोधरैः पुण्यजनाङ्गनानां निर्विष्टहेमाम्बुजरेणु यस्याः ।
 ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति ॥ 60 ॥
 जलानि या तीननिखातयूपा वहत्ययोध्यामनु राजधानीम् ।
 तुरंगमेधावभृथावतीर्णैरिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि ॥ 61 ॥
 यां सैकतोत्सङ्गसुखोचितानां प्राज्यैः पयोभिः परिवर्धितानाम् ।
 सामान्यधात्रीमिव मानसं मे संभावयत्युत्तरकोसलानाम् ॥ 62 ॥
 सेयं मदीया जननीव तेन मान्येन राज्ञा सरयूर्वियुक्ता ।
 दूरे वसन्तं शिशिरानिलैर्मां तरंगहस्तैरुपगूहतीव ॥ 63 ॥
 विरक्तसंध्याकपिशं पुरस्ताद्यतो रजः पार्थिवमुजिह्वीते ।
 शङ्के हनूमत्कथितप्रवृत्तिः प्रत्युद्गतो मां भरतः ससैन्यः ॥ 64 ॥
 अद्धा श्रियं पालितसंगराय प्रत्यर्पयिष्यत्यनघां स साधुः ।
 हत्वा निवृत्ताय मृधे खरादीन्संरक्षितां त्वामिव लक्ष्मणो मे ॥ 65 ॥

॥ 57 ॥ समुद्र की इन दो पत्तियों (गङ्गा-यमुना) के सङ्गम में जो स्नान करके पवित्र हो जाते हैं, वे तत्त्वज्ञानी न होने पर भी संसार के बन्धनों में छूट जाते हैं ॥ 58 ॥ यह आगे वही निपादराज गुह का नगर है जहाँ मैंने मुकुटमणि उतारकर जटा बाँधी थी और जिसे देखकर सुमन्त यह कहकर रोने लगे थे कि 'अरी कैकेयी! ले तेरी इच्छा पूरी हो गई' ॥ 59 ॥ जैसे ऋषि लोग कहते हैं कि अव्यक्त (प्रकृति) से बुद्धि उत्पन्न हुई, वैसे ही यह सरयू नदी भी उस मानसरोवर से निकली है जिसके कमलों का पराग यक्षों की स्त्रियाँ अपने स्तनों पर मला करती हैं ॥ 60 ॥ यह नदी इक्ष्वाकुवंशी राजाओं की राजधानी अयोध्या से लगी हुई बहती है। इसके तटपर जहाँ तहाँ यज्ञों के खम्भे गड़े हुए हैं, जिनमें बाँधकर पशुओं की बलि दी जाती थी। अश्वमेध यज्ञ कर लेने के पश्चात् सूर्यवंशी राजाओं ने जो इसमें स्नान किया है, उससे इसका जल पवित्र हो गया है ॥ 61 ॥ मैं इस नदी का बड़ा आदर करता हूँ क्योंकि यह उत्तर कोसल के राजाओं की धाय है। इसी के बालू में खेल-खेलकर वे सब पलते और इसीका मीठा जल पीकर पुष्ट होते रहे हैं ॥ 62 ॥ माननीय महाराज दशरथ से बिछुड़ी हुई मेरी माता के ही समान यह सरयू अपने ठंडे वायु वाले तरंग-रूपी हाथ उठाए ले रही है मानो इतने ऊँचे परसे ही मुझे गले लगाना चाह रही हो ॥ 63 ॥ देखो! लाल सन्ध्या के समान जो धूल पृथ्वी से उठ रही है, उससे जान पड़ता है कि हनुमान् से मेरे आने का समाचार सुनकर भरत अपनी सेना के साथ मेरा स्वागत करने चले आ रहे हैं ॥ 64 ॥ खर-दूषण आदि राक्षसों को मार कर जब मैं लौटा था उस समय जैसे लक्ष्मण ने तुम्हें मेरे हाथ सुरक्षित रूप से सौंप दिया था वैसे ही अब मैं अवधि पूरी करके जो लौटा हूँ तो जान पड़ता है कि सज्जन भरत

असौ पुरस्कृत्य गुरुं पदातिः पश्चादवस्थापितवाहिनीकः ।
 वृद्धैरमात्यैः सह चीरवासा मामर्घ्यपाणिर्भरतोऽभ्युपैति ॥ 66 ॥
 पित्रा विसृष्टां भदपेक्षया यः श्रियं युवाप्यङ्कगतामभोक्ता ।
 इयन्ति वर्षाणि तया सहोग्रमभ्यस्यतीव व्रतमासिधारम् ॥ 67 ॥
 एतावदुक्तवति दाशरथौ तदीयामिच्छां विमानमधिदेवतया विदित्वा ।
 ज्योतिष्पथादवततार सविस्मयाभिरुद्धीक्षितं प्रकृतिभिर्भरतानुगाभिः ॥ 68 ॥
 तस्मात्पुरःसरविभीषणदर्शितेन सेवाविचक्षणहरीश्वरदत्तहस्तः ।
 यानादवातरददूरमहीतलेन मार्गेण भङ्गिरचितस्फटिकेन रामः ॥ 69 ॥
 इक्ष्वाकुवंशगुरवे प्रयतः प्रणम्य सभ्रातरं भरतमर्घ्यपरिग्रहान्ते ।
 पर्यश्रुरष्वजत मूर्धनि चोपजघ्नौ तद्भक्त्यपोढपितृराज्यमहाभिषेके ॥ 70 ॥
 श्मश्रुप्रवृद्धिजनिताननविक्रियाँश्च प्लाक्षान्प्ररोहजटिलानिव मन्त्रिवृद्भान् ।
 अन्वग्रहीत्प्रणमतः शुभदृष्टिपातैर्वार्तानुयोगमधुराक्षरया च वाचा ॥ 71 ॥
 दुर्जातबन्धुरयमृक्षहरीश्वरो मे पौलस्त्य एष समरेषु पुरःप्रहर्ता ।
 इत्यादृतेन कथितौ रघुनन्दयेन व्युत्क्रम्य लक्ष्मणमुभौ भरतो ववन्दे ॥ 72 ॥

मुझे सुरक्षित राज्यलक्ष्मी उठा सौपेंगे ॥ 65 ॥ चीर पहने, पैदल चलते हुए, हाथमें पूजा की सामग्री लिए, मन्त्रियों के साथ भरत मेरे ही पास चले आ रहे हैं। देखो, इनके आगे-आगे वशिष्ठ जी चले आ रहे हैं और पीछे-पीछे सेना चली आ रही है ॥ 66 ॥ जैसे किसी युवा पुरुष की गोद में कोई सुन्दर स्त्री आ बैठे और वह उससे भोग न करके तलवार की धार पर चलने के समान कठोर, इन्द्रियों को वश में रखने का व्रत किए रखे वैसे ही भरत ने भी भोग करने की शक्ति रहते हुए भी पिता की दी हुई राज्यलक्ष्मी को मेरे कारण उसका भोग न करके कठिन असिधारा व्रत का पालन किया है ॥ 67 ॥ राम ऐसा कह ही रहे थे कि राम की इच्छा को ही विमान का चालक मानकर जब वह विमान आकाश से नीचे उतर आया तब भरत के पीछे चलने वाली सारी जनता आँखें फाड़-फाड़कर उन्हें देखने लगी ॥ 68 ॥ सेवा में चतुर सुग्रीव के हाथों के सहारे स्फटिक मणियों से जड़ी हुई सीढ़ी से रामचन्द्र विमान से उतर आए और विभीषण आगे-आगे उन्हें मार्ग दिखाते हुए चलने लगे ॥ 69 ॥ विनीत राम ने पहले इक्ष्वाकुवंश के गुरु वशिष्ठ को प्रणाम किया। फिर अर्घ्य ग्रहण करके आँखों में आँसू भरकर उन्होंने भरत को छाती से लगा लिया और उनका वह मस्तक सूँघा, जिसने राम की भक्ति के कारण राज्याभिषेक को भी अस्वीकार कर दिया था ॥ 70 ॥ फिर वे उन वृद्ध मन्त्रियों से मिले जो मूँछ और दाढ़ी बढ़ जाने से ऐसे दिखाई दे रहे थे जैसे घने बरोह वाले बड़े बड़े वृक्ष हों। राम ने प्रेम-भरी आँखों से बड़ी मधुर भाषा में उनसे कृपा-पूर्वक सब कुशल-मङ्गल पूछा ॥ 71 ॥ भरत से सुग्रीव का परिचय देते हुए राम ने कहा कि ये वानरों और ऋक्षों के सेनापति हैं जो बड़े गाढ़े दिनों में हमारे काम आए हैं। फिर विभीषण का परिचय देते हुए उन्होंने कहा कि ये पुलस्त्य कुल में उत्पन्न हुए विभीषण हैं। ये युद्ध के समय हमसे आगे बढ़-बढ़कर शत्रुओं पर प्रहार करते थे। यह सुनकर भरत ने लक्ष्मण को छोड़कर पहले उन्हीं दोनों का स्वागत किया ॥ 72 ॥ तब लक्ष्मण से भरत मिले और प्रणाम के लिये झुका हुआ लक्ष्मण का सिर उठाकर मेघनाद के प्रहारों से कठोर

सौमित्रिणा तदनु संसृजे स चैनमुत्थाप्य नम्रशिरसं भृशमालिलिङ्ग ।
 रुढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणकर्कशेन क्लिश्यन्निवास्य भुजमध्यमुरःस्थलेन ॥ 73 ॥
 रामाज्ञया हरिचमूपतयस्तदानीं कृत्वा मनुष्यवपुरारुरुहुर्गजेन्द्रात् ।
 तेषु क्षरत्सु बहुधा मदवारिधाराः शैलाधिरोहणसुखान्युपलेभिरे ते ॥ 74 ॥
 स्पनुप्लवः प्रभुरपि क्षणदाचराणां भेजे रथान्दशरथप्रभवानुशिष्टः ।
 मायाविकल्परचितैरपि ये तदीयैर्न स्यन्दनैस्तु-लितकृत्रिमभक्तिशोभाः ॥ 75 ॥
 भूयस्ततो रघुपतिर्विलसत्पताकमध्यास्त कामगति सावरजो विमानम् ।
 दोषातनं बुधबृहस्पतियोगदृश्यस्तारापतिस्तरलविद्युदिवाभ्रवृन्दम् ॥ 76 ॥
 तन्नेश्वरेण जगतां प्रलयादिवोर्वी वर्षात्ययेन रुचमघ्नघनादिवेन्दोः ।
 रामेण मैथिलसुतां दशकण्डकृच्छात्प्रत्युद्धतां धृतिमयीं भरतो ववन्दे ॥ 77 ॥
 लङ्केश्वरप्रणतिभङ्गदृढव्रतं तद्वन्धं युगं चरणयोजनकात्मजायाः ।
 ज्येष्ठानुवृत्तिजटिलं च शरोऽस्य साधोरन्योन्यपावनमभूदुभयं समेत्य ॥ 78 ॥
 क्रोशार्धं प्रकृतिपुरःसरेण गत्वा काकुत्स्थः स्तिमितजवेन पुष्पकेण ।
 शत्रुघ्नप्रतिविहितोपकार्यमार्यः साकेतोपवनमुदारमध्युवास ॥ 79 ॥

॥ इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये

दण्डकात्प्रत्यागमनो नाम त्रयोदशः सर्गः ॥



बनी हुई उनकी छाती अपनी भुजाओं से दबाते हुए उन्हें अपनी छाती से उठा लगाया ॥ 73 ॥ राम के कहने से वानरों और ऋक्षों के सेनापति सब मनुष्यों का वेश बना-बनाकर उन हाथियों पर जा चढ़े, जिनके मस्तक से मदकी धारा बह रही थी, इसलिये उनपर चढ़ते समय उन्हें ऐसा आनन्द मिला मानो झरनों वाले पहाड़ों पर ही चढ़े चले जा रहे हों ॥ 74 ॥ राम की आज्ञा से विभीषण और उनके साथी भी रथों पर जा चढ़े । वे रथ यद्यपि मनुष्यों ने बनाए थे फिर भी वे इतने सुन्दर थे कि राक्षसों की माया से बनाए हुए रथ भी उनकी सुन्दरता के आगे पानी भरते थे ॥ 75 ॥ जैसे बुध और बृहस्पति के साथ विशेष दर्शनीय चन्द्रमा सन्ध्या को बिजली वाले बादलों पर जा बैठता है वैसे ही राम भी भरत और लक्ष्मण के साथ पताकाओं से सजे हुए और इच्छानुसार चलने वाले पुष्पक विमानपर जा चढ़े ॥ 76 ॥ जैसे आदि वराह ने प्रलय के जल से पृथ्वी को उबार उठाया था और जैसे वर्षा बीतने पर शरद् ऋतु बादलों से चाँदनी छीन लेती है वैसे ही रामने भी रावण-रूपी सङ्कट से जिसे उबार लिया था, उस विमान में बैठी हुई सीता को भरतने जा प्रणाम किया ॥ 77 ॥ सीता के जिन पवित्र चरणों ने रावण की प्रणय-प्रार्थना को दृढ़तापूर्वक ठुकरा दिया था, उनपर जब भरत ने बड़े भाई की भक्ति के कारण बढ़ी हुई जटा वाला अपना सिर रखवा तो इन दोनों ने आपस में मिलकर एक दूसरे को पवित्र कर दिया ॥ 78 ॥ आगे-आगे अयोध्या की जनता चल रही थी और पीछे-पीछे वह पुष्पक विमान धीरे-धीरे चलता जा रहा था जिसपर राम बैठे हुए थे । इस प्रकार आगे कोसतक चलकर उन्होंने अयोध्या के उस सुन्दर उपवन में जा डेरा जमाया जिसे पहले से ही शत्रुघ्न ने भली-भाँति सँवार सजाया था ॥ 79 ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदास के रचे हुए रघुवंश महाकाव्य में दण्डकवन से लौटना नामका तेरहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥



॥ चतुर्दशः सर्गः ॥

भर्तुः प्रणाशारथ शोचनीयं दशान्तरं तत्र समं प्रपन्ने ।
 अपश्यतां दाशरथी जनन्यौ छेदादिवोपघ्नतरोर्बतत्यौ ॥ 1 ॥
 उभावुभाभ्यां प्रणतौ हतारी यथाक्रमं विक्रमशोभिनी तौ ।
 विस्पष्टमस्त्रान्धतया न दृष्टौ ज्ञातौ सुतस्पर्शसुखोपलम्भात् ॥ 2 ॥
 आनन्दजः शोकलमश्रु वाष्पस्तयोरशीतं शिशिरो बिभेद ।
 गङ्गासरय्वोर्जलमुष्णतप्तं हिमाद्रिनिस्स्यन्द इवावतीर्णः ॥ 3 ॥
 ते पुत्रयोर्नेर्ऋतशस्त्रमार्गानाद्रानिवाङ्गे सदयं स्पृशन्त्यौ ।
 अपीप्सितं क्षत्रकुलाङ्गनानां न वीरसूशब्दमकामयेताम् ॥ 4 ॥
 क्लेशावहा भर्तरलक्षणाहं सीतेति नाम स्वमुदीरयन्ती ।
 स्वर्गप्रतिष्ठस्य गुरोर्महिष्यावभक्तिभेदेन वधूर्ववन्दे ॥ 5 ॥
 उत्तिष्ठ वत्से ननु सानुजोऽसौ वृत्तेन भर्ता शुचिना तवैव ।
 कृच्छं महतीर्ण इति प्रियार्हा तामूचतुस्ते प्रियमप्यमिध्या ॥ 6 ॥
 अधाभिषेकं रघुवंशकेतोः प्रारब्धमानन्दजलैर्जनन्योः ।
 निर्वर्तयामासुरमात्यवृद्धास्तीर्थाहतेः काञ्चनकुम्भतोयैः ॥ 7 ॥
 सरित्समुद्रान्सरसीश्च गत्वा रक्षःकपीन्द्रैरुपपादितानि ।
 तस्यापतन्मूर्ध्नि जलानि जिष्णोर्विन्ध्यस्य मेघप्रभवा इवापः ॥ 8 ॥

चौदहवाँ सर्ग

उस उपवन में पहुँचकर राम अपनी उन माताओं से मिले जो वैसी ही उदास लग रही थीं जैसे वृक्ष के कट जाने पर उसके सहारे चढ़ी हुई लताएँ मुरझा जाती हैं ॥ 1 ॥ पराक्रमी राम और लक्ष्मण ने बारी-बारी से कौसल्या और सुमित्रा को जा प्रणाम किया। अपने पुत्रों को देखते ही दोनों माताओं की आँखों में ऐसे आँसू छलछला आए कि वे भर आँख उन्हें देख तो नहीं सकीं, पर पुत्रों को प्यार से पुचकारते समय उन्हें पहचान अवश्य गई ॥ 2 ॥ जैसे गर्मी के दिनों में हिमालय का शीतल जल गंगा और सरयू के गर्म जल को ठंडा कर देता है वैसे ही उन दोनों नारियों की आँखों से बहे हुए आनन्द के ठंडे आँसुओं ने शोक के गरम आँसुओं को ठंडा कर दिया ॥ 3 ॥ पुत्रों के शरीर के जिन अंगों पर राक्षसों के शस्त्रों के घाव बने थे उन्हें दोनों माताएँ इस प्रकार सहलाने लगीं मानों घाव अभी हरे ही हों। अपने पुत्रों की चोटें देख देखकर वे इतनी व्याकुल हो उठीं कि उन्हें उस समय वीर पुत्र की माँ कहलाना भी अच्छा न लगा ॥ 4 ॥ 'मैं ही पति को कष्ट देनेवाली कुलक्ष्ण सीता हूँ'-यह कहते हुए सीता ने समान भक्ति से स्वर्गवासी ससुर की दोनों रानियों के चरण जा छुए ॥ 5 ॥ माताओं ने सीता को उठाते हुए बड़ी प्यारी और सच्ची बात कही- 'उठो बेटी! तेरे पातिव्रत के प्रभावसे ही तो राम और लक्ष्मण इस बड़े भारी संकट से पार हो पाए हैं ॥ 6 ॥ जिस राज्याभिषेक का आरम्भ माताओं के हर्ष-भरे आँसुओं से हुआ था, उस अभिषेक को सोने के घड़ों में भरे तीर्थों से लाए हुए जल से राम को नहलाकर बूढ़े मंत्रियों ने पूरा कर दिया ॥ 7 ॥ राक्षसों और वानरों के नायकों ने नदियों, समुद्रों और तालों से जो जल ला लाकर दिया वह अभिषेक के समय राम के सिर पर वैसे ही बरस रहा था जैसे विन्ध्याचल की चोटी पर बादलों का लाया हुआ जल बरसा करता है ॥ 8 ॥ जो राम तपस्वी के वेश में भी बहुत सुन्दर लगते थे वे इस समय

तपस्विवेषक्रिययापि तावद्यः प्रेक्षणीयः सुतरां बभूव ।
 राजेन्द्रनेपथ्यविधानशोभा तस्योदिताऽऽसीत्पुनरुक्तदोषा ॥ 9 ॥
 समौ लरक्षो हरिभिः ससैन्यस्तूर्यस्वनानन्दितपौरवर्गः ।
 विवेश सौधोद्गतलाजवर्णामुत्तोरणामन्वयराजधानीम् ॥ 10 ॥
 सौमित्रिणा सावरजेन मन्दमाधूतबालव्यजनो रथस्थः ।
 धृतातपत्रो भरतेन साक्षादुपायसंघात इव प्रवृद्धः ॥ 11 ॥
 प्रासादकालागुरुधूमराजिस्तस्याः पुरो वायुवशेन भिन्न ।
 वनान्निवृत्तेन रघूत्तमेन मुक्ता स्वयं वेणिरिवाबभासे ॥ 12 ॥
 श्वश्रूजनानुष्ठितचारुवेषां कर्णैरथस्थां रघुवीरपत्नीम् ।
 प्रासादबातायनदृश्यबन्धैः साकेतनार्योऽञ्जलिभिः प्रणोमुः ॥ 13 ॥
 स्फुरत्प्रभामण्डलमानसूयं सा बिभ्रती शाश्वतमङ्गरागम् ।
 रराज शुद्धेति पुनः स्वपुत्र्यै संदर्शिता वह्निगतेव भर्त्रा ॥ 14 ॥
 वेश्मानि रामः परिवर्हवन्ति विश्राण्य सौहार्दनिधिः सुहृद्भ्यः ।
 बाष्पायमाणो बलिमन्निकेतमालेख्यशेषस्य पितुर्विवेश ॥ 15 ॥
 कृताञ्जलिस्तत्र यदम्ब सत्यान्नाभ्रश्यत स्वर्गफलाद्गुरुनः ।
 तच्चिन्त्यमानं सुकृतं तवेति जहार लज्जां भरतस्य मातुः ॥ 16 ॥

राजसी वस्त्र पहनकर और भी सुन्दर लगने लगे ॥ 9 ॥ वृद्ध मन्त्रियों, राक्षसों और वानरों को साथ लेकर राम ने अपनी सेना के साथ उस राजधानी अयोध्या में पैर जा रक्खे जो चारों ओर वन्दनवारों से सजाई गई थी, जहाँ के श्वेत भवनोंपरसे धान की खीलें बरस रही थीं और जहाँ के निवासी तुरही आदि बाजों को सुन-सुनकर बड़े मगन हुए जा रहे थे ॥ 10 ॥ लक्ष्मण और शत्रुघ्न दोनों राम पर चँवर डुला रहे थे और भरत हाथ में छत्र लिए हुए थे । इस प्रकार जब राम अपने भाइयों के साथ अयोध्या में प्रविष्ट हुए तब चारों भाई ऐसे जान पड़ रहे थे, मानो (साम, दान, दण्ड और भेद) ये चारों उपाय आ इकट्ठे हुए हों ॥ 11 ॥ भवनों के ऊपर वायु से छितराया हुआ काले अगरका धुआँ ऐसा लग रहा था, मानो वन से लौटकर राम ने अयोध्यापुरी का जूड़ा ही अपने हाथ से खोलकर छितरा दिया हो ॥ 12 ॥ भवनों के झरोखों में हाथ बाँधे दिखाई पड़ने वाली अयोध्या की महिलाओं ने हाथ जोड़ जोड़कर उन सीता को प्रणाम किया जो उस समय पालकी पर बैठी चली जा रही थीं और जिन्हें कौसल्या आदि सासों ने बड़े मनोहर ढंगसे वस्त्र और आभूषणों से सजा दिया था ॥ 13 ॥ सीता के शरीर पर अब भी अमिट कान्ति वाला अङ्गराग लगा हुआ था जो उनके शरीर में अनसूया ने लगा दिया था । उससे अग्नि के समान प्रकाशमान उनका शरीर ऐसा दिखाई पड़ रहा था मानो पुरवासियों को सीता की शुद्धता दिखलाने के लिये राम ने उन्हें फिर अग्नि में ले जा बैठाया हो ॥ 14 ॥ मित्र-प्रेमी राम ने सुग्रीव आदि मित्रों को सब प्रकार की सामग्री से सजे भवनों में पहले ले जा ठहराकर तब अपने पिता के पूजा घर में पैर रक्खा । वहाँ दशरथ का अकेला चित्र देखकर राम की आँखों में आँसू आ छलके ॥ 15 ॥ वहाँ अकेली कैकेयी बड़ी उदास बैठी हुई थीं । उन्हें देखकर राम ने हाथ जोड़कर कैकेयी से कहा- 'माँ! तुम्हारे ही पुण्य के प्रताप से हमारे पिता उस सत्य से नहीं डिगे जिससे स्वर्ग मिलता है । यदि तुम उनसे वरदान न माँगती तो उन्होंने जो तुम्हें वरदान देने की प्रतिज्ञा की थी वह झूठी हो जाती ।' यह सुनकर कैकेयी के मनमें जो आत्मग्लानि भरी हुई थी (कि राम मेरे लिये न जाने क्या सोचते होंगे और मैं उन्हें कैसे मुँह दिखाऊँगी) वह सब जाती रही ॥ 16 ॥ वहाँ से आकर उन्होंने सुग्रीव और विभीषण आदि मित्रों का भली-भाँति स्वागत सत्कार किया ।

तथैव सुग्रीवविभीषणादीनुपाचरत्कृत्रिमसंविधाभिः ।
 संकल्पमात्रोदितसिद्धयस्ते क्रान्ता यथा चेतसि विस्मयेन ॥ 17 ॥
 सभाजनायोपगतान्स दिव्यान्मुनीन्पुरस्कृत्य हतस्य शत्रोः ।
 शुश्राव तेभ्यः प्रभदादि वृत्तं स्वविक्रमे गौरवमादधानम् ॥ 18 ॥
 प्रतिप्रयातेषु तपोधनेषु सुखादविज्ञातगतार्धमासान् ।
 सीतास्वहस्तोपहृताग्यपूजान् रक्षःकपीन्द्रान्विससर्ज रामः ॥ 19 ॥
 तच्चात्मचिन्तासुलभं विमानं हतं सुरारेः सह जीवितेन ।
 कैलासनाथोद्धननाय भूयः पुष्पं दिवः पुष्पकमन्वमन्त ॥ 20 ॥
 पितुर्नियोगाद्वनवासमेवं निस्तीर्य रामः प्रतिपन्नराज्यः ।
 धर्मार्थकामेषु समां प्रपेदे यथा तथैवावरजेषु वृत्तिम् ॥ 21 ॥
 सर्वासु मातृष्वपि वत्सलत्वात्स निर्विशेषप्रतिपत्तिरासीत् ।
 षडाननापीतपयोधरासु नेता चमूनामिव कृत्तिकासु ॥ 22 ॥
 तेनार्थवौल्लोभपराङ्मुखेन तेन घ्नता विघ्नभयं क्रियावान् ।
 तेनास लोकः पितृमान्विनेत्रा तेनैव शोकापनुदेन पुत्रो ॥ 23 ॥
 स पौरकार्याणि समीक्ष्य काले रेमे विदेहाधिपतेर्दुहित्रा ।
 उपस्थितश्चारु वपुस्तदीयं कृत्वोपभोगोत्सुकयेव लक्ष्म्या ॥ 24 ॥

उन लोगों को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि हम जो कुछ चाहते हैं वह झट बिना कहे ही मिलता चला जाता है ॥ 17 ॥ तब राम ने उन अगस्त्य आदि ऋषियों का बड़ा सत्कार किया जो उन्हें बधाई देने आ पहुँचे थे। फिर उन ऋषियों से उन्होंने अपने शत्रु रावण के जन्म से मृत्यु-तक का वह सारा वृत्तान्त सुनाया जो उन्हीं का गौरव बढ़ाने वाला था ॥ 18 ॥ ऋषियों के चले जाने पर राम ने उन राक्षसों और बानर सेनापतियों को बिदा किया जो अयोध्या में इतने आनन्द से रहते रहे कि उन्हें यही नहीं ज्ञात हो पाया कि आधा महीना कब कैसे बीत गया। वे जब चलने लगे तब सीता ने स्वयं अपने हाथों से उन सबकी पूजा की ॥ 19 ॥ राम ने उस स्वर्ग के फूल के समान पुष्पक विमान को भी कुबेर के पास जाने की आज्ञा दे दी, जो सदा इच्छा करते ही उनकी सेवा के लिये आ जाता था और जिसे उन्होंने रावण के प्राण के साथ-साथ उससे छीन लिया था ॥ 20 ॥ इस प्रकार पिता की आज्ञा से बनवास की अवधि बिताकर राम ने अपने पिता का राज्य फिर से सँभाल लिया। जैसा वे धर्म, अर्थ और काम के साथ समान व्यवहार करते थे उसी प्रकार वे अपने भाइयों के साथ भी समान प्रेम का व्यवहार करते थे ॥ 21 ॥ जैसे स्वामिकार्तिकेय अपने छह मुखों से छहों कृत्तिकाओं का स्तन पीकर समान रूप से प्रेम दिखलाते थे, वैसे ही राम भी सभी माताओं से बराबर स्नेह करते थे ॥ 22 ॥ वे निर्लोभ थे इसीलिये उन्होंने प्रजापर कभी कोई कर नहीं लगाया। फल यह हुआ कि थोड़े ही दिनों में प्रजा धनी हो गई। वे कहीं भी बिघ्न आने ही नहीं देते थे, इसलिये सब लोग प्रसन्नता से अपनी यज्ञ आदि क्रियाएँ करने लगे थे। वे सबको ठीक मार्ग पर चलाते थे इसलिये सब उन्हें पिता के समान मानते थे और विपत्ति पड़ने पर वे सबकी सहायता करते थे इसलिये वे प्रजा के पुत्र भी थे ॥ 23 ॥ वे ठीक समय पर प्रजा का काम देख-भालकर सीता के साथ रमण भी करते थे। उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो राज्यलक्ष्मी ने ही राम के साथ रमण करने की इच्छा से सीता का सुन्दर रूप बना लिया हो ॥ 24 ॥ वे दोनों उसी भवन में इच्छानुसार विलास

तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुषोः सद्यसु चित्रवत्सु ।
 प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु संचिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन् ॥ 25 ॥
 अध्याधिकस्निग्धविलोचनेन मुखेन सीता शरपाण्डुरेण ।
 आनन्दयित्री परिणेतु रासीदनक्षरव्यञ्जितदोहदेन ॥ 26 ॥
 तामङ्कमारोप्य कृशाङ्गयष्टिं वर्णान्तराक्रान्तपयोधराग्राम् ।
 विलज्जमानां रहसि प्रतीतः पप्रच्छ रामां रमणोऽभिलाषम् ॥ 27 ॥
 सा दष्टनीवारबलीनि हिंस्रैः संबद्धवैखानसकन्यकानि ।
 इयेष भूयः कुशवन्ति गन्तुं भागीरथीतीरतपोवनानि ॥ 28 ॥
 तस्यै प्रतिश्रुत्य रघुप्रवीरस्तदीप्सितं पार्श्वचरानुयातः ।
 आलोकयिष्यन्मुदितामयोध्यां प्रासादमभ्रलिहमारुरोह ॥ 29 ॥
 ऋद्धापणं राजपथं स पश्यन्विगाह्यमानां सरयूं च नौभिः ।
 विलासिभिश्चाध्युषितानि पौरैः पुरोपकण्ठोपवनानि रेमे ॥ 30 ॥
 स किंवदन्ती वदतां पुरोगः स्ववृत्तमुद्दिश्य विशुद्धवृत्तः ।
 सर्पाधिराजोरुभुजोऽपसर्पं पप्रच्छ भद्रं विजितारिभद्रः ॥ 31 ॥
 निर्बन्धपृष्ठः स जगाद सर्वं स्तुवन्ति पौराश्चरितं त्वदीयम् ।
 अन्यत्र रक्षोभवनोषितायाः परिग्रहान्मानवदेव देव्याः ॥ 32 ॥

करते चलते थे, जिसमें वनवास के समय के चित्र बने हुए थे। उन चित्रों को देखकर वनवास के दुःखों का स्मरण करके भी उन्हें सुख ही मिलता था ॥ 25 ॥ धीरे-धीरे सीता के नेत्रों की शोभा बढ़ने लगी और उनका मुख पके सरपत के समान पीला पड़ने लगा। गर्भ के ये लक्षण देखकर राम बड़े प्रसन्न हो उठे ॥ 26 ॥ जब उन्हें पक्का विश्वास हो गया कि सीता गर्भिणी है तब वे दुबली तथा काली घुण्डी के स्तनों वाली लजीली सीता को एकान्त में गोद में बैठाकर पूछने लगे- 'बताओ, तुम्हें क्या-क्या चाहिए' ॥ 27 ॥ सीता बोली- 'मैं गङ्गा के तट के उन तपोवनों को देखना चाहती हूँ जहाँ के हिंसक जन्तु मांस न खाकर नीवार ही खाते हैं, जहाँ मेरी सखियाँ तपस्वियों की कन्याएँ रहती हैं और जहाँ चारों ओर कुश की ही झोपड़ियाँ बनी खड़ी हैं' ॥ 28 ॥ राम ने कहा- 'अच्छी बात है। हम उस तपोवन में तुम्हें अवश्य भेज देंगे, वहाँ से उठकर वे अपने सेवक के साथ सुन्दर अयोध्या की छटा निहारने के लिये आकाश से बातें करने वाले अपने ऊँचे राजभवन की छतपर जा चढ़ें ॥ 29 ॥ वहाँ से उन्होंने देखा कि राजमार्ग की दुकानें धनधान्य से भरी हुई हैं, सरयू में नावें चल रही हैं और अयोध्या के उद्यानों में विलासी पुरवासी प्रसन्न होकर विलास कर रहे हैं ॥ 30 ॥ नगर की यह शोभा देखकर सुन्दर बोलने वाले, सदाचारी और शेषनाग के समान बड़ी-बड़ी बाँहों और जाँघों वाले शत्रुविजयी राम ने अपने भद्र नाम के दूत से पूछा- 'कहो भद्र! हमारे विषय में प्रजा क्या कहती है' ॥ 31 ॥ पहले तो भद्र चुप रहा पर जब राम बार-बार उससे पूछने लगे तब वह बोला 'नरश्रेष्ठ ! जनता आपकी सब बातों की प्रशंसा करती है, किन्तु आपने राक्षस के घर में रहने वाली देवी सीता को फिर से ग्रहण कर लिया है, उसे लोग अच्छा नहीं समझते' ॥ 32 ॥ अपनी पत्नी पर लगाए हुए इस भीषण कलङ्क को सुनकर सीता पति राम का हृदय वैसे ही

कलत्र निन्दागुरुणा किलैवमभ्याहतं कीर्तिविपर्ययेण ।
 अयोधनेनास्य इवाभितप्तं वैदेहिबन्धोर्ह दयं विदद्रे ॥ 33 ॥
 किमात्सनिर्वादकधामुपेक्षे जायामदोषामुत संत्यजामि ।
 इत्येकपक्षाश्रयविकलवत्त्वादासीत् स दोलाचलचित्तवृत्तिः ॥ 34 ॥
 निश्चित्यचानन्यनिवृत्तिवाच्यं त्यागेन पत्न्याः परिमार्ष्टुमैच्छत् ।
 अपिस्वदेहात्किमुतेन्द्रियार्थाद्यशोधनानां हि यशो गरीयः ॥ 35 ॥
 स संनिपात्यावरजान्हतौ जास्तद्विक्रियादर्शनलुप्तहर्षान् ।
 कौलीनमात्माश्रयमाचक्षते तेभ्यः पुनश्चेदमुवाच वाक्यम् ॥ 36 ॥
 राजषिवंशस्य रविप्रसूतेरुपस्थितः पश्यत कीदृशोऽयम् ।
 मत्तः सदाचारशुचैः कलङ्कः पयोदवातादिव दर्पणस्य ॥ 37 ॥
 पौरेषु सोऽहं बहुलीभवन्तमपां तरङ्गेष्विव तैलबिन्दुम् ।
 सोऽहं न तत्पूर्वमवर्णमीशे आलानिकं स्थाणुमिव द्विपेन्द्रः ॥ 38 ॥
 तस्यापनोदाय फलप्रवृत्तावुपस्थितायामपि निर्व्यपेक्षः ।
 त्यक्ष्यामि वैदेहसुतां पुरस्तात्समुद्रनेमिं पितुराज्ञयेव ॥ 39 ॥
 अवैमि चैनामनघेति किंतु लोकापवादो बलवान्मतो मे ।
 छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वेनारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः ॥ 40 ॥

फट गया जैसे धनकी चोट से तपाया हुआ लोहा फट जाता है ॥ 33 ॥ वे मन में सोचने लगे कि अब दो ही उपाय बच रहे हैं। या तो मैं इस बात को सुनी-अनसुनी कर दूँ और टाल जाऊँ या फिर निर्दोष पत्नी को सदा के लिये छोड़ दूँ। उस समय उनका चित्त एक हिंडोला बना हुआ था कि वे निश्चय ही नहीं कर पा रहे थे कि इन दोनों में क्या करना चाहिए, क्या नहीं ॥ 34 ॥ पर उस कलङ्क को मिटाने का कोई दूसरा मार्ग दिखाई नहीं दे रहा था। इसलिये उन्होंने निश्चय कर लिया कि सीता को त्याग कर ही यह कलङ्क मिटाना चाहिए, क्योंकि यशस्वियों को अपना यश अपने शरीर से भी अधिक प्यारा होता है फिर स्त्री आदि भोग की वस्तुओं की तो बात ही क्या है ॥ 35 ॥ उदास मुँह से राम ने अपने भाइयों को बुलाया तो वे भी उनकी दशा देखकर सन्न रह गए। अपने भाइयों से राम बोले- ॥ 36 ॥ 'यद्यपि मैं सदाचारी होने के कारण पवित्र हूँ फिर भी जैसे भाप पड़ने से स्वच्छ दर्पण भी धुँधला हो जाता है, वैसे ही देखो, सूर्यवंशी राजर्षियों के कुल में मेरे कारण कैसा कलङ्क लग रहा है ॥ 37 ॥ जैसे पानी की लहरों के ऊपर तेल की बूँद फैल जाती है वैसे ही इस समय घर-घर मेरी निन्दा फैलती जा रही है। इसलिए जैसे हाथी अपने अलान से खीझकर उसे उखाड़ने की चेष्टा करने लगता है वैसे ही मैं भी अपने इस कलङ्क को अब नहीं सह सक रहा हूँ ॥ 38 ॥ इस समय यद्यपि सीता को पुत्र होने वाला है तो भी अपना कलङ्क मिटाने के लिये मैं सब मोह तोड़कर उसे वैसे ही छोड़ दूँगा जैसे पिता की आज्ञा से मैंने राज्य छोड़ दिया था ॥ 39 ॥ मैं जानता हूँ कि वह निर्दोष है पर बदनामी तो सत्य से भी कहीं अधिक बलवती होती है। देखो! निर्मल चन्द्र-बिम्ब के ऊपर पड़ी हुई पृथ्वी की छाया को लोग चन्द्रमा का कलङ्क कहते हैं, पर झूठ होने पर भी सारा संसार इसे ही ठीक मानता है ॥ 40 ॥ तुम यह कहोगे कि यदि ऐसा ही था तो राक्षसों को क्यों मारा। उसका उत्तर यह है कि सीता को छुड़ाने के लिये मैंने जो राक्षसों को मारा, वह मेरा प्रयत्न सीता को निकाल देने से बेकार नहीं कहा जायगा, क्योंकि वह तो मैंने अपनी

रक्षोवधान्तो न च मे प्रयासो व्यर्थः स वैरप्रतिमोचनाय ।
 अमर्षणः शोणितकाङ्क्षया किं पदा स्पृशन्तं दशति द्विजिह्वः ॥ 41 ॥
 तदेष सर्गः करुणाद्रचितैर्न मे भवद्भिः प्रतिषेधनीयः ।
 यद्यर्थिता निर्वृतवाच्यशल्यान्प्राणान्मया धारयितुं चिरं वः ॥ 42 ॥
 इत्युक्तवन्तं जनकात्मजायां नितान्तरूक्षाभिनिवेशमीशम् ।
 न कश्चन भ्रातृषु तेषु शक्तो निषेद्धमासीदनुमोदितुं वा ॥ 43 ॥
 स लक्ष्मणं लक्ष्मणपूर्वजन्मा विलोक्य लोकत्रयगीतकीर्तिः ।
 सौम्येति चाभाष्य यथार्थभाषी स्थितं निदेशे पृथगादिदेश ॥ 44 ॥
 प्रजावती दोहदशंसिनी ते तपोवनेषु स्पृहयालुरेव ।
 स त्वं रथी तद्वयपदेशनेयां प्राप्य वाल्मीकिपदं त्यजेनाम् ॥ 45 ॥
 स शुश्रवान्मातरि भार्गवेण पितुर्नियोगात्प्रहृतं द्विषद्वत् ।
 प्रत्यग्रहीदग्रजशासनं तदाज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया ॥ 46 ॥
 अधानुकूलश्रवणप्रतीतामत्रस्नुभिर्युक्तधुरं तुरंगैः ।
 रथं सुमन्त्रप्रतिपन्नरश्मिमारोप्य वैदेहसुतां प्रतस्थे ॥ 47 ॥
 सा नीयमाना रुचिरान्प्रदेशान्प्रियंकरो मे प्रिय इत्यनन्दत् ।
 नाबुद्ध कल्पदुमतां विहाय जातं तमात्मन्यसिपत्रवृक्षम् ॥ 48 ॥

स्त्री के हरण का उन राक्षसों से बदला लिया है। क्योंकि जब कोई साँप पैर के नीचे दब जाता है तब वह रक्त के लोभ से थोड़े ही डसता है, वह तो बदला लेने के लिये ही डसा करता है ॥ 41 ॥ इसलिये यदि तुम लोग इस कलङ्क के बाण को मेरे हृदय से निकालकर मुझे जीवित रखना चाहते हो तो केवल सीता की दशा पर दया करके उसका पक्ष लेकर तुम मेरे इस निश्चय का विरोध मत करो ॥ 42 ॥ जब भाइयों ने देखा कि राजा इतनी निदुराई पर तुले बैठे हैं तब भाइयों में से न तो कोई उनका समर्थन ही कर सका, न विरोध ही ॥ 43 ॥ तीनों लोकों में प्रसिद्ध यशस्वी, अपनी बात के पक्के राम ने जब देखा कि लक्ष्मण उनकी आज्ञा मानने को तत्पर हैं तब वे लक्ष्मण से कहने लगे- 'लक्ष्मण! तुम बड़े अच्छे हो।' यह कहकर वे उन्हें एकान्त में ले गए और बोले- ॥ 44 ॥ 'तुम्हारी गर्भिणी भाभी तपोवन देखना चाहती ही हैं इसलिये तुम उन्हें इसी बहाने रथपर ले जाकर वाल्मीकि के आश्रम तक पहुँचाकर छोड़ आओ' ॥ 45 ॥ लक्ष्मण ने सुन ही रक्खा था कि पिता की आज्ञा पाकर परशुराम ने अपनी माता को वैसे ही निर्दयता के साथ मार डाला था, जैसे कोई अपने शत्रु को मारे। इसलिये उन्होंने पिता के समान राम की आज्ञा सिर माथे चढ़ा ली, क्योंकि बड़ों की आज्ञा पर विचार नहीं किया जाता (उसका पालन किया जाता है) ॥ 46 ॥ सीता यह सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई कि लक्ष्मण हमें तपोवन दिखाने ले जा रहे हैं। लक्ष्मण भी उन्हें ऐसे रथपर चढ़ाकर ले चले जिसे स्वयं सुमन्त हाँक रहे थे और जिसके घोड़े ऐसे सधे हुए थे कि रथ के चलते समय गर्भिणी सीता को तनिक भी हचक नहीं लग पाती थी ॥ 47 ॥ मनोहर प्रदेशों में होते हुए रथ पर जाती हुई सीता यह सोचकर बड़ी प्रसन्न हुई कि मेरे प्राणप्रिय सदा मेरे मन की बात पूरी कर दिया करते हैं। वे क्या जानती थीं कि इस समय वे मेरे लिये मनोरथ पूरा करने वाले कल्पवृक्ष के बदले उस असिपत्र के वृक्ष के समान कष्टदायक हो गए हैं जिसके पत्ते तलवार के समान पौने होते हैं ॥ 48 ॥ लक्ष्मण ने सीता से मार्ग में कुछ भी नहीं बताया कि आप पर क्या विपत्ति

जुगूह तस्याः पथि लक्ष्मणो यत्सव्येत्तरेण स्फुरता तदक्ष्णा ।
 आख्यातमस्यै गुरु भावि दुःखमत्यन्तलुप्तप्रियदर्शनेन ॥ 49 ॥
 सा दुर्निमित्तोपगताद्विषादात्सद्यः परिम्लानमुखारविन्दा ।
 राज्ञः शिवं सावरजस्य भूयादित्याशशंसे करणैरबाह्वैः ॥ 50 ॥
 गुरोनियोगाद्धनितां वनान्ते साध्वीं सुमित्रातनयो विहास्यन् ।
 अवार्यतेवोत्थितवीचिहस्तैर्जहोर्दुहित्रा स्थितया पुरस्तात् ॥ 51 ॥
 रथात्स यन्त्रा निगृहीतवाहात्तां भ्रातृजायां पुलिनेऽवतार्य ।
 गङ्गां निषादाद्वतनौविशेषस्ततार संधामिव सत्यसंधः ॥ 52 ॥
 अथ व्यवस्थापितवाक्कथंचित्सौमित्रिरन्तर्गतवाष्पकण्ठः ।
 औत्पातिकं मेघ इवाश्मवर्णं महीपतेः शासनमुज्जगार ॥ 53 ॥
 ततोऽभिगङ्गानिलविप्रविद्धा प्रभ्रश्यमानाभरणप्रसूना ।
 स्वमूर्तिलाभप्रकृति धरित्रीं लतेव सीता सहसा जगाम ॥ 54 ॥
 इक्ष्वाकुवंशप्रभवः कथं त्वां त्यजेदकस्मात्पतिरार्यवृत्तः ।
 इति क्षितिः संशयितेव तस्यै ददौ प्रवेशं जननी न तावत् ॥ 55 ॥
 सा लुप्तसंज्ञा न विवेद दुःखं प्रत्यागतासुः समतप्यतान्तः ।
 तस्याः सुमित्रात्मजयत्नलब्धो मोहादभूत्कष्टतरः प्रबोधः ॥ 56 ॥

आने वाली है, पर सीता के दाहिने नेत्र ने फड़क कर आगे आने वाले दुःख की सूचना दे ही तो दी ॥ 49 ॥ यह असगुन होते ही उनका मुँह उदास हो उठा और वे मन ही मन मनाने लगीं कि भाइयों के साथ राजा सुख से रहें, उन पर कोई आँच न आने पावे ॥ 50 ॥ मार्ग में गङ्गा पड़ी, उनमें जो लहरें उठ रही थीं, वे बड़े भाई की आज्ञा से पतिव्रता सीता को वन में छोड़ने के लिये ले जाते हुए लक्ष्मण से मानो हाथ हिला हिलाकर कहे जा रही थीं कि ऐसा मत करो, ऐसा मत करो ॥ 51 ॥ गङ्गा के तट पर पहुँच कर सारथि ने रास खींच ली। सच्ची प्रतिज्ञा करने वाले लक्ष्मण ने सीता को रेती पर उतार लिया और केवट ने जो नाव लाकर लगाई उस पर चढ़कर सीता के साथ वे गङ्गा से भी पार हो गए और अपनी उस प्रतिज्ञा से भी पार हो गए, जो उन्होंने सीता को गङ्गा पार छोड़ने के लिये राम से की थी ॥ 52 ॥ पार पहुँचकर लक्ष्मण ने आँसू रोककर, रूँधे हुए गले से सीता को राजा की आज्ञा इस प्रकार सुनाई जैसे कोई भयङ्कर बादल ओले बरसा रहा हो ॥ 53 ॥ जैसे लू लगने से लता के फूल झड़ जाते हैं और वह सूखकर पृथ्वीपर जा गिरती है वैसे ही इस अपमानजनक बात को सुनकर सीता के आभूषण भी गिर पड़े और वे भी अपनी माँ पृथ्वी की गोद में जा गिरी ॥ 54 ॥ उस समय पृथ्वी ने सीता को मानो इस दुविधा के कारण अपनी गोद में नहीं समा लिया कि इक्ष्वाकुवंशी सदाचारी पति इस प्रकार सीता को अचानक भला क्यों छोड़ देंगे ॥ 55 ॥ मूर्च्छा आ जाने से उस समय तो उन्हें दुःख नहीं हुआ पर जब वे मूर्च्छा से जगीं तब उनका हृदय बड़ी व्यथा से भर उठा। लक्ष्मण ने प्रयत्न करके जो उनकी मूर्च्छा दूर की, यह बात उन्हें मूर्च्छा से भी अधिक कष्ट देने वाली जान पड़ी ॥ 56 ॥ वे इतनी साध्वी थीं कि निरपराध पत्नी को निकालने वाले अपने पति को उन्होंने कुछ भी बुरा-भला नहीं कहा वरन्

न चावदद्भर्तुर्वर्णमाया निराकरिष्णो बृजिनादृतेऽपि ।
 आत्मानमेव स्थिरदुःखभाजं पुनःपुनर्दुष्कृतिनं निनिन्द ॥ 57 ॥
 आश्वास्य रामावरजः सतीं तामाख्यातवाल्मीकिनिकेतमार्गः ।
 निघ्नस्य मे भर्तुर्निदेशरौक्ष्यं देवि क्षमस्वेति बभूव नम्रः ॥ 58 ॥
 सीता तमुत्थाप्य जगाद वाक्यं प्रीतास्मि ते सौम्य चिराय जीव ।
 विडौजसा विष्णुरिवाग्रजेन भ्राता यदित्थं परवानसि त्वम् ॥ 59 ॥
 श्वश्रूजनं सर्वमनुक्रमेण विज्ञापय प्रापितमत्प्रणामः ।
 प्रजानिषेकं मयि वर्तमानं सूनोरनुध्यायत चेतसेति ॥ 60 ॥
 वाच्यस्त्वया मद्भवनात्स राजा बह्वी विशुद्धामपि यत्समक्षम् ।
 मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य ॥ 61 ॥
 कल्याणबुद्धेरधवा तवायं न कामचारो मयि शङ्कनीयः ।
 ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जधुरप्रसन्नः ॥ 62 ॥
 उपस्थितां पूर्वमपास्य लक्ष्मीं वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः ।
 तदास्पदं प्राप्य तयातिरोषात्सोढास्मि न त्वद्भवेन वसन्ती ॥ 63 ॥
 निशाचरोपप्लुतभर्तृकाणां तपस्विनीनां भवतः प्रसादात् ।
 भूत्वा शरण्या शरणार्थमन्यं कथं प्रपत्स्ये त्वयि दीप्यमाने ॥ 64 ॥
 किंवा तवात्यन्तवियोगमोघे कुर्यामुपेक्षां हतजीवेतेऽस्मिन् ।
 स्याद्रक्षणीयं यदि मे न तेजस्त्वदीयमन्तर्गतमन्तरायः ॥ 65 ॥

बार-बार वे अपने भाग्य को ही कोसने लगीं ॥ 57 ॥ लक्ष्मण ने उन्हें बहुत समझाया-बुझाया और वाल्मीकि का आश्रम दिखाकर कहा- 'देवि! मैं पराधीन हूँ। इसलिये स्वामी की आज्ञा से मैंने आपके साथ जो कठोर व्यवहार किया है उसे आप क्षमा कर दीजिए', यह कहते हुए वह सीता के पैरों पर गिर पड़े ॥ 58 ॥ सीता उन्हें उठाकर बोली- 'मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम बहुत दिनों तक जियो क्योंकि जैसे इन्द्र के छोटे भाई विष्णु सदा अपने बड़े भाई इन्द्र की आज्ञा मानते हैं वैसे ही तुम भी अपने बड़े भाई की आज्ञा मानते रहे हो ॥ 59 ॥ तुम जाकर सभी सासों से मेरा प्रणाम कहकर निवेदन करना कि मेरे गर्भ में आपके पुत्र का तेज है। इसलिये आप लोग हृदय से उसकी कुशल मनाते रहिएगा ॥ 60 ॥ और राजा से जाकर तुम मेरी ओर से कहना कि आपने अपने सामने ही मुझे अग्नि में शुद्ध पाया था। तब भी इस समय अपजस के डर से जो आपने मुझे छोड़ दिया है वह क्या उस प्रसिद्ध कुल को शोभा देता है, जिसमें आपने जन्म लिया है ॥ 61 ॥ पर नहीं, आप तो सबकी भलाई करने वाले हैं। आप अपने मन से मेरे साथ ऐसा व्यवहार नहीं कर सकते। यह सब मेरे ही पूर्व जन्म के पापों का फल है ॥ 62 ॥ जान पड़ता है कुछ समय पहले आप जिस राजलक्ष्मी का तिरस्कार करके मेरे साथ वन में चले गए थे, वह राजलक्ष्मी मुझसे इतनी रुष्ट हो गई है कि आपके घर में मेरा प्रतिष्ठापूर्वक रहना भी वह नहीं देख सकी ॥ 63 ॥ पिछली बार आपकी कृपासे मैंने वन वनवास के समय बहुत सी ऐसी तपस्विनियों को अपने यहाँ आश्रय दिया था जिनके पतियों को राक्षसों ने सता रक्खा था। अब आप ही बताइए कि आपके रहते हुए मैं कौन मुँह लेकर उन्हीं तपस्विनियों की आश्रिता होकर रह पाऊँगी ॥ 64 ॥ यदि मेरे गर्भ में आया हुआ आपका वह तेज बाधा न देता जिसकी रक्षा करना आवश्यक है तो मैं आपसे सदा के लिये बिछुड़े

साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये ।
 भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः ॥ 66 ॥
 नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः ।
 निर्वासिताप्येवमतस्त्वयाहं तपस्विसामान्यमवेषणीया ॥ 67 ॥
 तथेति तस्याः प्रतिगृह्य वाचं रामानुजे दृष्टिपथं व्यतीते ।
 सा मुक्तकण्ठं व्यसनातिभाराच्चक्रन्द विग्ना कुररीव भूयः ॥ 68 ॥
 नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान्विजहुर्हरिण्यः ।
 तस्या प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीदुदितं वनेऽपि ॥ 69 ॥
 तामभ्यगच्छदुदितानुसारी कविः कुशोद्माहरणाय यातः ।
 निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ॥ 70 ॥
 तमश्रु नेत्रावरणं प्रमृज्य सीता विलापाद्विरता ववन्दे ।
 तस्यै मुनिदोहदलिङ्गदर्शी दाक्षान्सुपुत्राशिषमित्युवाच ॥ 71 ॥
 जाने विसृष्टां प्रणिधानतस्त्वां मिथ्यापवादक्षुभितेन भर्त्रा ।
 तन्मा व्यधिष्ठा विषयान्तरस्थं प्राप्तासिवैदेहि पितुर्निकेतम् ॥ 72 ॥
 उत्खातलोकत्रयकण्टकेऽपि सत्यप्रतिज्ञेऽप्यविकत्थनेऽपि ।
 त्वां प्रत्यकस्मात्कलुषप्रवृत्तावस्त्येव मन्युर्भरताग्रजे मे ॥ 73 ॥

हुए अपने प्राण भी छोड़ देती ॥ 65 ॥ पर पुत्र हो जाने पर मैं सूर्य में दृष्टि बाँधकर ऐसी तपस्या करूँगी कि अगले जन्म में भी आप ही मेरे पति हों और आप से मुझे कभी अलग न होना पड़े ॥ 66 ॥ मनु ने कहा है- राजाओं का धर्म वर्णों और आश्रमों की रक्षा करना है इसलिये घर से निकाल देने पर भी आप यह समझकर मेरी देख-भाल करते रहिएगा कि सीता भी आपकी प्रजा और तपस्विनी है' ॥ 67 ॥ यह सुनकर लक्ष्मण ने इतना ही कहा- 'मैं सब कह दूँगा' । यह कहकर ज्योंही वे वहाँ से चलकर आँखों से ओझल हुए कि विपत्ति के भार से व्याकुल होकर सीता, डरी हुई कुररी के समान दाढ़ मार-मारकर रोने लगीं ॥ 68 ॥ उनका रोना सुनकर मोरों ने नाचना बन्द कर दिया, वृक्ष भी फूल के आँसू गिराने लगे और हरिणियों ने मुँह में भरी हुई घास का कौर भी गिरा दिया । सारेका सारा जंगल ही सीता के दुःख से दुखी होकर रो पड़ा ॥ 69 ॥ जिन महाकृपालु वाल्मीकि ऋषि का शोक व्याध के हाथ से मारे हुए क्रोडको देखकर श्लोक बनकर निकल पड़ा था, वे उस समय कुशा उपाड़ने निकले हुए थे । रोने का शब्द सुनकर वे सीता की ओर झपटे चले आए । उन्हें देखकर सीता ने आँसू पोंछकर चुपचाप उन्हें प्रणाम किया । ऋषि ने गर्भ के चिन्ह देखकर उन्हें आशीर्वाद दिया कि तुम पुत्रवती हो । आशीर्वाद देकर वे बोले- ॥ 71 ॥ 'बेटी! मैंने योग बलसे जान लिया है कि तुम्हारे पति ने झूठे अपजस से डरकर तुम्हें घर से निकाल दिया है । बेटी! यहाँ भी तुम अपने पिता का ही घर समझो और शोक छोड़ दो ॥ 72 ॥ यद्यपि राम ने तीनों लोकों का काँटा (रावण) दूर कर डाला है, वे अपनी प्रतिज्ञा के पक्के हैं और अपने मुँह से अपनी बड़ाई भी नहीं करते, फिर भी तुम्हारे साथ जो उन्होंने यह भद्दा व्यवहार किया है इसे देखकर मुझे उनपर बड़ा क्रोध आ रहा है ॥ 73 ॥ तुम्हारे यशस्वी श्वसुर मेरे मित्र थे और तुम्हारे पिता जनक भी ज्ञानोपदेश देकर बहुत से विद्वानों को संसार के बंधन से छुड़ाते रहते हैं, तुम स्वयं पतिव्रताओं में

तवोरुकीर्तिः श्वशुरः सखा मे सतां भवोच्छेदकरः पिता ते ।
 घुरि स्थिता त्वं पतिदेवतानां किं तत्र येनासि समानुकम्प्या ॥ 74 ॥
 तपस्विसंसर्गविनीतसत्त्वे तपोवने वीतभया वसास्मिन् ।
 इतो भविष्यत्यनघप्रसूतेरपत्यसंस्कारमयो विधिस्ते ॥ 75 ॥
 अशून्यतीरां मुनिसंनिवेशैस्तमोपहन्त्रीं तमसां वगाह्य ।
 तत्सैकतोत्सङ्गबलिक्रियाभिः संपत्स्यते ते मनसः प्रसादः ॥ 76 ॥
 पुष्पं फलं चार्तवमाहरन्त्यो बीजं च बालेयमकृष्टरोहि ।
 विनोदयिष्यन्ति नवाभिषङ्गामुदारवाचो मुनिकन्यकास्त्वाम् ॥ 77 ॥
 पयोघटैराश्रमबालवृक्षान्संवर्धयन्ती स्वबलानुरूपैः ।
 असंशयं प्राक्तनयोपपत्तेः स्तनंधयप्रीतिमवाप्स्यसि त्वम् ॥ 78 ॥
 अनुग्रहप्रत्यभिनन्दिनीं तां वाल्मीकिरादाय दयाद्वैचेताः ।
 सायं मृगाध्यासितवेदिपार्श्वं स्वमाश्रमं शान्तमृगं निनाय ॥ 79 ॥
 तामर्पयामास च शोकदीनां तदागमप्रीतिषु तापसीषु ।
 निर्विष्टसारां पितृभिर्हिमांशोरन्त्यां कलां दर्श इवौषधीषु ॥ 80 ॥
 ता इष्टु दीप्तेन हकृतप्रदीपमास्तीर्णमेध्याजिनतल्पमन्तः ।
 तस्यै सपर्यानुपदं दिनान्ते निवासहेतोरुजं वितेरुः ॥ 81 ॥

सर्वश्रेष्ठ हो और फिर तुममें ऐसा दोष ही कौन-सा है जो मैं तुम्हारे ऊपर कृपा न करूँ ॥ 74 ॥ देखो तपस्वियों के साथ रहते-रहते यहाँ के सब जीव बड़े सीधे हो गये हैं। ये किसी से कुछ कहते-सुनते नहीं। इसलिये इस आश्रम में तुम निर्भय होकर रहो। तुम्हारी पवित्र संतान के जातकर्म आदि सब संस्कार मैं यहीं कर दूँगा ॥ 75 ॥ पाप मिटाने वाली जिस तमसा के किनारे तपस्वी लोग सदा संध्या-पूजा किया करते हैं उसमें स्नान करके तुम उसकी रेती पर देवताओं को बलि दिया करना इससे तुम्हारा मन प्रसन्न रहेगा ॥ 76 ॥ यहाँ की मुनि-कन्याएँ तुम्हें सब ऋतुओं में उत्पन्न होने वाले फूल, फल और पूजा के योग्य अन्न लाकर रखती रहा करेंगी और मीठी-मीठी बातों से तुम्हारा मन भी बहलाया करती रहेंगी ॥ 77 ॥ जो जल के घड़े तुम से उठ सकें उन्हें लेकर तुम आश्रम के पौधों को प्रेम से सींचा करना इससे बड़ा लाभ यह होगा कि बच्चा होने के पहले ही तुम यह सीख जाओगी कि बच्चों से कैसे प्रेम करना चाहिए ॥ 78 ॥ सीता ने उनकी कृपा की बहुत सराहा और दयालु वाल्मीकि के साथ उनके आश्रम में चली गई। साँझ हो जाने के कारण बहुत से मृग वहाँ वेदी घेरकर बैठे हुए थे और सिंह आदि जन्तु भी चुपचाप आँखें मूँदे पड़े थे ॥ 79 ॥ जैसे जड़ी-बूटियों और लता-वृक्षों को अमावस्या आकर चन्द्रमा की वह सारहीन अन्तिम कला सौंप देती है जिसका अमृत खींच लेते हैं, वैसे ही ऋषि ने भी शोक से व्याकुल सीता को आश्रम की उन तपस्विनियों के हाथ सौंप दिया जो सीता के वहाँ आ जाने से बड़ी प्रसन्न हो उठी थीं ॥ 80 ॥ पूजा हो चुकने पर उन तपस्विनियों ने सीता के रहने के लिये एक पत्तों की कुटिया दे दी जिसमें हिंगोट के तेल का दीया जल रहा था और नीचे मृगचर्म बिछा हुआ था ॥ 81 ॥ वहाँ सीता प्रतिदिन स्नान करके बड़े नियम से रहती थीं, ठीक विधि से अतिथियों की पूजा करती थीं, वृक्षों की छाल के कपड़े पहनती थीं और केवल पति का वंश चलाने की इच्छा से ही कन्दमूल खाकर

तत्राभिषेकप्रयता वसन्ती प्रयुक्तपूजा विधिनातिथिभ्यः ।
 वन्येन सा वल्कलिनी शरीरं पत्युः प्रजासंततये बभार ॥ 82 ॥
 अपि प्रभु सानुशयोऽधुना स्यात्किमुत्सुकः शक्रजितोऽपिहन्ता ।
 शशंस सीतापरिदेवनान्तमनुष्ठितं शासनमग्रजाय ॥ 83 ॥
 बभूवः रामः सहसा सवाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः ।
 कौलीनभीतेन गृहाभ्रिस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः ॥ 84 ॥
 निगृह्य शोकं स्वयमेव धीमान्वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः ।
 स भ्रातृसाधारणभोगमृद्धं राज्यं रजोरिक्तमनाः शशास ॥ 85 ॥
 तामेकभार्यां परिवादभीरोः साध्वीमपि त्याक्तवतो नृपस्य ।
 वक्षस्यसंघट्टसुखां वसन्ती रेजे सपत्नीरहितेव लक्ष्मीः ॥ 86 ॥

सीतां हित्वा दशमुखरिपुर्नोपयेमे यदन्यां तस्या एवं प्रतिकृतिसखो यत्क्रतुनाजहार ।
 वृत्तान्तेन श्रवणविषयप्रापिणा तेन भर्तुः सा दुर्वारं कथमपि परित्याग दुःखं विषेहे ॥ 87 ॥

।। इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
 सीतापरित्यागो नाम चतुर्दशः सर्गः ।।



शरीर धारण करती थीं ॥ 82 ॥ सीता ने रो-रोकर जो बातें कहीं थीं वे सब अयोध्या पहुँचकर लक्ष्मण ने राम से यह सोचकर कह सुनाई कि देखें राम अब भी पछताते हैं या नहीं ॥ 83 ॥ उन बातों को सुनकर ओस बरसाने वाले पूस के चन्द्रमा के समान राम की आँखों से टपटप आँसू गिरने लगे, क्योंकि उन्होंने सीता को अपनी इच्छा से नहीं वरन् कलङ्क के डरसे ही छोड़ा था ॥ 84 ॥ वर्णाश्रम-धर्म के रक्षक बुद्धिमान् राम संसार के सुखों का मोह छोड़कर और शोक रोककर भाइयों के साथ अपने भरे-पूरे राज्य का शासन करने में लग गये ॥ 85 ॥ राजा ने कलङ्क के डर से अपनी रानी को छोड़ दिया इसलिए मानो बिना सौत की होकर राज्यलक्ष्मी ही उनके हृदय में सुख से निवास करने लगी ॥ 86 ॥ राम ने सीता को त्यागकर किसी दूसरी स्त्री से विवाह नहीं किया वरन् अश्वमेध यज्ञ करते समय उन्होंने सीता की सोने की मूर्ति को ही अपने बाएँ बैठाया था । जब सीता ने अपने पति की ये बातें सुनीं तब उनके मन में जो छोड़े जाने की कसक थी वह पूर्णतः मिट गयी (क्योंकि उन्हें विश्वास हो गया कि राम अब भी मुझे धर्मपत्नी समझते हैं) ॥ 87 ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदास के रचे रघुवंश महाकाव्य में सीता-परित्याग नाम का चौदहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥



॥ पञ्चदशः सर्गः ॥

कृतसीतापरित्यागः स रत्नाकरमेखलाम् । बुभुजे पृथिवीपालः पृथिवीमेव केवलाम् ॥ 1 ॥
 लवणेन विलुप्तेज्यास्तामिस्त्रणे तमभ्ययुः । मुनयो यमुनाभाजः शरण्यं शरणार्थिनः ॥ 2 ॥
 अवेक्ष्यरामं ते तस्मिन् प्रजहुः स्वतेजसत्राणाभावे हिशापास्त्राः कुर्वन्ति तपसो व्ययम् ॥ 3 ॥
 प्रतिशुश्रावकाकुत्स्थस्तेभ्यो विघ्नप्रतिक्रियाम् । धर्मसंरक्षगार्थैव प्रवृत्तिर्भुविशाङ्गिणः ॥ 4 ॥
 ते रामाय वधोपायमाचख्युर्विबुधद्विषः । दुर्जयो लवणः शूली विशूलः प्रार्थ्यतामिति ॥ 5 ॥
 आदिदेशाथ शत्रुघ्नं तेषां क्षेमाय राघवः । करिष्यन्निव नामास्य यथार्थमरिनिग्रहात् ॥ 6 ॥
 यः कश्चन रघूणां हि परमेकः परन्तपः । अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः ॥ 7 ॥
 अग्रजेन प्रयुक्ताशीस्ततो दाशरथी रथी । ययौ वनस्थलीः पश्यन्मुष्पिताः सुरभीरभीः ॥ 8 ॥
 रामादेशादनुगता सेना तस्यार्थसिद्धये । पश्चादध्ययनार्थस्य धातोरधिरिवाभवत् ॥ 9 ॥
 आदिष्टवर्त्तामुनिभिः सगच्छंस्तपतांवरः । विरराज रथप्रब्रूयै बलिखिल्यैरिवांशुमान् ॥ 10 ॥
 तस्य मार्गवशादेका बभूव वसतिर्यतः । स्थस्वनोत्कण्ठमृगे वाल्मीकीये तपोवने ॥ 11 ॥

पन्द्रहवाँ सर्ग

सीता को छोड़ देने पर राजा राम ने केवल समुद्रों से घिरी हुई पृथ्वी का ही भोग किया किसी दूसरी स्त्री से विवाह नहीं किया ॥ 1 ॥ इसी बीच एक दिन यमुना-तटपर रहने वाले कुछ तपस्वी, शरणागतवत्सल राम के पास शरण माँगने आ पहुँचे, क्योंकि लवणासुर राक्षस के उपद्रवों के कारण उनकी यज्ञ आदि सब क्रियाएँ बन्द हो गई थीं ॥ 2 ॥ वे तपस्वी यदि चाहते तो अपने ही तेज से लवणासुर को भस्म कर डालते, किन्तु उन्होंने ऐसा करना ठीक नहीं समझा क्योंकि जिन लोगों में शाप देकर भस्म करने की शक्ति होती है वे तपस्या से बटोरे हुए तेज को ऐसे काम में तभी लगाते हैं, जब कोई दूसरा उनका रक्षक न हो ॥ 3 ॥ राम ने उनके विघ्न दूर करने की प्रतिज्ञा कर ली क्योंकि धर्म की रक्षा के लिये ही तो वे संसार में अवतार लिया करते हैं ॥ 4 ॥ तब मुनियों ने राम को बताया कि जबतक लवणासुर के हाथ में भाला रहेगा तब तक उसका हारना कठिन है इसलिये उसपर ऐसे समय आक्रमण करना चाहिए, जब उसके हाथ में भाला न हो ॥ 5 ॥ राम ने उन मुनियों की रक्षाका भार शत्रुघ्न को इसलिए उठा सौंपा मानो शत्रुघ्न के हाथों शत्रु का संहार कराकर उनका शत्रुघ्न नाम सच्चा करा देना चाहते हों ॥ 6 ॥ जैसे व्याकरण में कोई अपवाद वाला सूत्र व्यापक नियम वाले सूत्र को भी उलट देता है वैसे ही रघु के वंश का बच्चा-बच्चा इतना बलवान् होता था कि वह शत्रु को पछाड़ सकता था ॥ 7 ॥ जब शत्रुघ्न निडर होकर रथपर जा चढ़े तब राम ने उन्हें आशीर्वाद दिया और वे सुगन्धित वनों की छाटा निहारते हुए चल पड़े ॥ 8 ॥ राम की आज्ञा से शत्रुघ्न के साथ जो सेना गई वह वैसे ही व्यर्थ थी जैसे 'अध्ययन' शब्द में 'इड्', धातु के साथ लगा हुआ 'अधि' उपसर्ग (क्योंकि 'इड्' का ही अर्थ अध्ययन होता है, उसमें अधि से कोई विशेषता नहीं बढ़ती)। इसी प्रकार लवणासुर को भी शत्रुघ्न अकेले जीत सकते थे, चाहे सेना साथ जाती या न जाती ॥ 9 ॥ जैसे रथ पर चढ़े हुए सूर्य को बालखिल्य नाम के ऋषि लोग मार्ग दिखाते चलते हैं, वैसे ही रथ पर चढ़े हुए शत्रुघ्न को भी मुनि लोग आगे-आगे मार्ग दिखाते चले जा रहे थे ॥ 10 ॥ मार्ग में जाते हुए उन्होंने पहली रात तो वाल्मीकि के उस आश्रम में बिताई जहाँ के मृग उनके रथ की ध्वनि सुनकर बड़े चावसे उधर देखने लगे थे ॥ 11 ॥ शत्रुघ्न के घोड़े भी थक गये थे इसलिये रुकना आवश्यक हो गया। तब वाल्मीकि ने अपनी तपस्या के प्रभाव से आतिथ्य की सब सामग्री

तमृषिः पूजयामास कुमारं क्लान्तवाहनम् । तपः प्रभावसिद्धाभिर्विशेषप्रतिपत्तिभिः ॥ 12 ॥
 तस्यामेवास्य यामिन्यामन्तर्वत्नी प्रजावती । सुतावसूत संपन्नौ कोशदण्डाविव क्षितिः ॥ 13 ॥
 संतानश्रवणाद्भ्रातुः सौमित्रिः सौमनस्यवान् । प्राञ्जलिर्मुनिमामन्यप्रातर्युक्तरथोययौ ॥ 14 ॥
 सचप्राप मधूपघ्नं कुम्भीनस्याश्च कुक्षिजः । वनात्करमिवादाय सत्त्वरशिमुपस्थितः ॥ 15 ॥
 धमधूम्रो वसागन्धी ज्वालाबभ्रु शिरोरुहः । ऋव्याद्गणपरीवारश्चित्ताग्निरिव जंगमः ॥ 16 ॥
 अपशूलं तमासाद्य लवणं लक्ष्मणानुजः । रुरोध संमुखीनो हि जयो रन्ध्रप्रहारिणाम् ॥ 17 ॥
 नातिपर्याप्तमालक्ष्यमत्कुक्षेरघ भोजनम् । दिष्ट्यात्वमसिमेधात्रा भीतेनेवोपपादितः ॥ 18 ॥
 इति संतर्ज्यशत्रुघ्नं राक्षसस्तज्जिघांसया । प्रांशुमुत्पाटयामास मुस्तास्तम्बमिवहुमम् ॥ 19 ॥
 सौमित्रेर्निशितैर्बाणैरन्तरा शकलीकृतः । गात्रं पुष्परजः प्राप न शाखी नैर्ऋतेरितः ॥ 20 ॥
 विनाशात्तस्यवृक्षस्य रक्षस्तस्मैमहोपलम् । प्रजिघायकृतान्तस्य मुष्टिपृथगिव स्थितम् ॥ 21 ॥
 ऐन्द्रमस्त्रमुपादाय शत्रुघ्नेन स ताडितः । सिकतात्वादपि परां प्रपेदे परमाणुताम् ॥ 22 ॥
 तमुपाद्रवदुग्धस्य दक्षिणं दोर्निशाचरः । एकताल इवोत्पातपवनप्रेरितो गिरिः ॥ 23 ॥

जुटाकर शत्रुघ्न का बड़ा सत्कार किया ॥ 12 ॥ उसी रात उनकी गर्भिणी भाभी सीता ने दो तेजस्वी पुत्रों को उसी प्रकार जन्म दिया जैसे पृथ्वी अपने राजा के लिये धन और सैन्य उत्पन्न करती है ॥ 13 ॥ भाई के पुत्र होने की बात सुनकर शत्रुघ्न का जी खिल उठा और अगले दिन तड़के ही वे हाथ जोड़कर मुनि से आज्ञा लेकर रथ पर चढ़कर आगे बढ़ चले ॥ 14 ॥ जिस समय वे मधूपघ्न नगर में पहुँचे, उसी समय रावण की बहन कुम्भीनसी का बेटा लवणासुर बहुत से पशुओं को मारकर वन से इस प्रकार लौटा चला आ रहा था, मानो वन ने ही उसे यह सब भेंट में दे डाला हो ॥ 15 ॥ उसका रंग धुएँ जैसा काला था, उसकी देह से चर्बी की गन्ध निकल रही थी, आग की लपटों के समान उसके बिखरे हुए बाल थे और उसके चारों ओर मांस खानेवाले राक्षस ही राक्षस चल रहे थे। इस प्रकार वह उस चिताकी अग्नि के समान लग रहा था, जो धुएँ से धुँधली हो, जिसमें से चर्बी की गन्ध निकलती हो, जिसमें से लपटें निकल रही हों और जिसके आस-पास कुत्ते और गिद्ध आदि मांसभक्षी पशु-पक्षी घूम रहे हों ॥ 16 ॥ शत्रुघ्न ने देखा कि यही अवसर ठीक है, क्योंकि इस समय इसके हाथ में भाला नहीं है। बस झट उन्होंने लवणासुर को घेर लिया, क्योंकि जो अपने शत्रु के शक्तिहीन होने पर प्रहार किया करता है, वह अवश्य विजयी होता है ॥ 17 ॥ शत्रुघ्न को देखकर लवणासुर गरज उठा- 'आज मेरे पास भोजन की कम सामग्री थी, यह देखकर ब्रह्मा ने डरकर मेरा भोजन पूरा करने के लिए तुम्हें ही यहाँ भेज दिया है' ॥ 18 ॥ यह कहकर उसने शत्रुघ्न को पछाड़ मारने के लिये एक बड़ा भारी पेड़ ऐसे धीरे से उखाड़ लिया जैसे मोथा उखाड़ लिया जाता है ॥ 19 ॥ लवणासुर ने ज्योंही वह वृक्ष शत्रुघ्न पर फेंका त्योंही उन्होंने उसे बीच में ही टुकड़े-टुकड़े कर डाला। इस प्रकार वह वृक्ष तो उनके शरीर तक नहीं पहुँच सका, केवल उसके फूलों का पराग भर उन तक पहुँच पाया ॥ 20 ॥ उस वृक्ष के टुक-टुक हो जाने पर उस राक्षस ने एक ऐसी भयङ्कर शिला उठाकर शत्रुघ्न पर उठा फेंकी मानो वह साक्षात् यमराज का धूँसा ही हो ॥ 21 ॥ पर शत्रुघ्न ने ऐन्द्र अस्त्र चलाकर उसे रेत से भी बारीक चूरा कर डाला ॥ 22 ॥ तब अपना दाहिना हाथ ऊपर उठाए हुए शत्रुघ्न की ओर झपटता हुआ वह राक्षस ऐसा लगा मानो बवंडर से उठाया हुआ कोई ऐसा पहाड़ चला आ रहा हो जिसकी चोटी पर ताड़का पेड़ खड़ा हो ॥ 23 ॥ वैष्णव बाण लगते ही वह राक्षस जब पृथ्वी पर गिरा तो उसके गिरने से ऐसी भयंकर धमक हुई कि धरती तो काँप उठी, पर

कार्ष्णेन पत्रिणाशत्रुः स भिन्नहृदयः पतन् । आनिनायभुवः कम्पजहाराश्रमवासिनाम् ॥ 24 ॥
 वयसां पङ्क्तयः पेतुर्हतस्योपरि विद्विषः । तत्प्रतिद्वन्दिनो मूर्ध्नि दिव्याः कुसुमवृष्टयः ॥ 25 ॥
 स हत्वा लवणं वीरस्तदा मेने महौजसः । भ्रातुः सोदर्यमात्मानमिन्द्र जिह्वधशोभिनः ॥ 26 ॥
 तस्य संस्तुयमानस्य चरितार्थैस्तपस्विभिः । शुशुभे दिक्क्रमोदग्रं ब्रीडयावनतं शिरः ॥ 27 ॥
 उपकूलं स कालिन्ध्याः पुरीं पौरुषभूषणः । निर्ममे निर्ममऽर्थेषु मधुरां मधुराकृतिः ॥ 28 ॥
 या सौराज्यप्रकाशाभिर्ब भौपीरविभूतिभिः । स्वर्गाभिष्यन्दवमनंकृत्वेवोप निवेशिता ॥ 29 ॥
 तत्र सौधगतः पश्यन् यमुनां चक्रवाकिनीम् । हेमभक्तिमतीं भूमेः प्रवेणीमिव पिप्रिये ॥ 30 ॥
 सखा दशरथस्यापि जनकस्य च मन्त्रकृत् । संचस्कारोभयप्रीत्या मैथिलेयोययाविधि ॥ 31 ॥
 स ती कुशलवोन्मृष्टगर्मक्लेदौ तदाख्यया । कविः कुशलवावेव चकार किल नामतः ॥ 32 ॥
 साङ्गं च वेदमध्याप्य किंचिदुत्क्रान्तशैशवो स्वकृति गापयामास कविप्रथमपद्धतिम् ॥ 33 ॥
 रामस्य मधुरं वृत्तं गायन्तौ मातुरग्रतः । तद्वियोगव्यथां किंचिच्छिथिलीचक्रतुः सुतौ ॥ 34 ॥
 इतरेऽपि रघोर्वश्यास्त्रयस्त्रेताग्नितेजसः । तद्योगात्पतिवत्लीषु पत्नीष्वसन्दिनसूनुवः ॥ 35 ॥
 शत्रुघातिनि शत्रुघ्नः सुबाहौ च बहुश्रुते । मधुराविदिशे सून्वोदिधे पूर्वजोत्सुकः ॥ 36 ॥
 भूयस्तपोव्ययोमाभूद्वाल्मीकेरिति सोऽत्यगात् । मैथिलीतनयोद्गीतः स्पन्दमृगमाश्रमम् ॥ 37 ॥

आश्रमवासियों का काँपना दूर हो गया ॥ 24 ॥ मरे हुए शत्रु के ऊपर तो गिद्ध आदि पक्षी टूट पड़े और शत्रुघ्न के ऊपर स्वर्ग से फूलों की वर्षा होने लगी ॥ 25 ॥ शत्रुघ्न जब लवणासुर को मार चुके तब उन्हें यह बड़ा सन्तोष हुआ कि अब मैं मेघनाद को मारने वाले तेजस्वी लक्ष्मण का सचमुच सगा भाई हूँ ॥ 26 ॥ जब तपस्वियों का काम पूरा हो गया, तब वे शत्रुघ्न की बड़ाई करने लगे, पर अपनी प्रशंसा सुनकर शत्रुघ्न शील के मारे लाज से गड़ गए ॥ 27 ॥ तब पराक्रमी, संयमी और सुन्दर शत्रुघ्न ने यमुना के किनारे मथुरा नाम की बढ़िया नगरी ला बसाई ॥ 28 ॥ अच्छा राजा पा लेने से उस नगरी के लोग ऐसे धनी सुखी हो गये मानो स्वर्ग में जनसंख्या बढ़ जाने के कारण वहाँ के कुछ लोग यहाँ ला बसाए गए हों ॥ 29 ॥ शत्रुघ्न ने मथुरा के एक ऊँचे भवन पर चढ़कर उस नीले जल वाली यमुना को देखा जिसमें बहुत से चकवे चहचहा रहे थे। उस समय यमुना उन्हें ऐसी सुन्दर दिखाई पड़ी मानो वह सुनहरे फुन्दों-वाली पृथ्वी की चोटी हो ॥ 30 ॥ इधर मन्त्रद्रष्टा वाल्मीकि ने दशरथ और जनक दोनों के मित्र होने के नाते सीता के पुत्रों के जातकर्म आदि सब संस्कार बड़ी विधि से पूरे कर डाले ॥ 31 ॥ जेठ लड़के लव के उत्पन्न होते समय सीता की प्रसव-पीड़ा गाय की पूँछ के बाल से दूर हुई और छोटे के समय कुश से। इसलिये वाल्मीकि ने दोनों बच्चों के नाम इन्हीं दोनों वस्तुओं के नाम पर लव और कुश रख दिया ॥ 32 ॥ जब वे बच्चे बड़े हुए तब ऋषि ने उन दोनों को वेद-वेदाङ्ग भी पढ़ाया और फिर उन्हें अपनी रचना आदि-काव्य रामायण का गाना भी सिखा दिया ॥ 33 ॥ उन दोनों बालकों ने अपने माता के आगे राम का यश गा-गाकर राम के वियोग की उनकी सारी व्यथा दूर करके उनका बहुत मन बहलाया ॥ 34 ॥ (दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य और आहवनीय) इन तीन अग्नियों के समान तेजस्वी (भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न इन) तीनों भाइयों ने भी अपनी-अपनी पत्नियों से दो-दो पुत्र उत्पन्न किए ॥ 35 ॥ शत्रुघ्न अपने बड़े भाइयों से मिलने को आतुर थे इसलिये उन्होंने शत्रुघाती और सुबाहु नामक दो विद्वान पुत्रों को मथुरा और विदिशा का राज्य सौंप दिया ॥ 36 ॥ शत्रुघ्न लौटते समय वाल्मीकि के उस तपोवन में नहीं गए जहाँ के मृग शान्त होकर लव और कुश के गीत सुना करते थे, क्योंकि शत्रुघ्न ने यह सोचा कि मेरे जाने पर वाल्मीकि जी अपनी सिद्धियों के बल से मेरे सत्कार की सामग्री जुटाने लगेंगे, जिससे व्यर्थ ही उनकी तपस्या की शक्ति कम हो जायेगी ॥ 37 ॥ वहाँ से चलकर जितेन्द्रिय शत्रुघ्न उस अयोध्या में

बशीविवेश चायोध्यांरध्यासंस्कारशोभिनाम् । लवगस्यदधात्पौरैरीक्षितोऽत्यन्तगौरवम् ॥ 38 ॥
 स ददर्श सभामध्ये सभासद्भिरुपस्थितम् । रामं सीतापरित्यागादसामान्यपतिं भुवः ॥ 39 ॥
 तमभ्यनन्दत्प्रणतं लवणान्तकमग्रजः । कालनेमिवधात्प्रीतस्तुराणाडिव शार्ङ्गिणम् ॥ 40 ॥
 स पृष्ठः सर्वतोवार्तामाख्यद्राज्ञे न संततिम् । प्रत्यर्पयिष्यतः काले कवेराद्यस्य शासनात् ॥ 41 ॥
 अथ जानपदो विप्रः शिशुमप्राप्तयौवनम् । अवतार्याङ्कशय्यास्थं द्वारि चक्रन्दभूपतेः ॥ 42 ॥
 शोचनीयासि वसुधे या त्वं दशरथाच्युता । रामहस्तमनुप्राप्य कष्टात्कष्टतरं गता ॥ 43 ॥
 श्रुत्वा तस्य शुचो हेतुं गोप्ता जिह्वाय राघवः । न ह्यकालभवो मृत्युरिक्ष्वाकुपदमस्पृशत् ॥ 44 ॥
 स मुहूर्तं क्षमस्वेति द्विजमाश्लास्य दुःखितम् । यानं सस्मार कौबेरं वैवस्वतजिगीषया ॥ 45 ॥
 आतशस्त्रस्तदध्यास्य प्रस्थितः स रघूद्वहः । उच्चचार पुरस्तस्य गूढरूपा सरस्वती ॥ 46 ॥
 राजन्प्रजासु ते कश्चिदपचारः प्रवर्तते । तमन्विष्य प्रशमयेर्भवितासि ततः कृती ॥ 47 ॥
 इत्याप्तवचनाद्रामो विमेष्यन्वर्णविक्रियाम् । दिशः पपात पत्रेण वेगनिष्कम्पकेतुना ॥ 48 ॥
 अथ धूमाभिताम्राक्षं वृक्षशाखावलम्बिनम् । ददर्श कंचिदैश्वाकस्यन्तमधोमुखम् ॥ 49 ॥

जा पहुँचे जहाँ की सड़कें उनके स्वागत में बड़ी सुन्दरता से सजाई गई थीं । वे लवणासुर को मारकर लौटे थे इसलिये पुरवासी उन्हें आदर से देख रहे थे ॥ 38 ॥ राज-सभा में पहुँचकर उन्होंने देखा कि राम बैठे हुए हैं, बहुत से सभासद् उनकी सेवा कर रहे हैं और सीता को छोड़ देने पर अब वे एक मात्र पृथ्वी के ही स्वामी रह गए हैं ॥ 39 ॥ जैसे इन्द्र ने प्रसन्न होकर कालनेमि को मारने वाले विष्णु का स्वागत किया था वैसे ही लवणासुर को मारने वाले शत्रुघ्न जब उन्हें प्रणाम करने को झुके तब राम ने भी उनका वैसा ही अभिन्दन किया ॥ 40 ॥ राम के पूछने पर उन्होंने और सब बातें तो कह सुनाई पर पुत्र होने की बात नहीं कही क्योंकि वाल्मीकि ने उन्हें कह दिया था कि समय आने पर हम स्वयं दोनों पुत्र राम को सौंप देंगे, तुम मत कहना ॥ 41 ॥ थोड़े दिनों पीछे एक दिन उसी जनपद का रहने वाला एक ब्राह्मण अपने मरे हुए नवयुवक पुत्र को राजा की झ्योढ़ी पर गोद से उतारकर रखते हुए यह कह-कहकर फूटकर रोने लगा ॥ 42 ॥ 'अहो पृथ्वी ! तुम दशरथ के हाथ से छूटकर राम के हाथ में आकर बड़े कष्ट में पड़ गई हो । तुम्हारी दशा बड़ी शोचनीय हो गई है' ॥ 43 ॥ प्रजापालक राम ने जब उसके शोक की बात सुनी तब उन्हें बड़ी लज्जा आई क्योंकि इक्ष्वाकुवंशी राजाओं के राज्य में किसी की भी अकाल-मृत्यु नहीं होती थी ॥ 44 ॥ राम ने उस दुखी ब्राह्मण को यह कहकर ढाँढस बँधाया कि तुम थोड़ी देर ठहरो मैं अभी तुम्हारा शोक दूर किए देता हूँ । यह कहकर यमराज को जीतने की इच्छा से उन्होंने पुष्पक विमान को स्मरण किया ॥ 45 ॥ जब वे अस्त्र-शस्त्र से लैस होकर पुष्पक विमान पर बैठकर चलने लगे तब यह आकाशवाणी सुनाई पड़ी- ॥ 46 ॥ 'राजन् ! आपकी प्रजा में कुछ (वर्ण-धर्म सम्बन्धी) दोष आ गया है, उसे खोजकर दूर करो, तभी तुम्हारा उद्देश्य पूरा होगा' ॥ 47 ॥ इस विश्वास-भरे वचन को सुनकर वेग से चलने के कारण काँपती हुई ध्वजा वाले पुष्पक विमान पर चढ़कर राम यह देखने के लिये सब दिशाओं में चक्कर काटने लगे कि वर्ण-धर्म में कहाँ दोष आया है ॥ 48 ॥ घूमते-घूमते एक स्थान पर क्या देखते हैं कि एक पेड़ की शाखा पर उलटा लटका हुआ एक मनुष्य नीचे जलती हुई आग का धुआँ पी-पीकर तप कर रहा है और धुआँ लगते रहने से उसकी आँखें लाल हो गई हैं ॥ 49 ॥ रामने उससे पूछा- 'आपका नाम क्या है और आप किस वंश के हैं?' वह तपस्वी बोला- 'मैं देवपद पाने के लिये

पृष्ठनामान्वयो राज्ञा स किलाचष्ट धूमपः। आत्मानंशम्बुकं नाम शूद्रं सुरपदार्थिनम् ॥ 50 ॥
 तपस्यनधिकारित्वात्प्रजानां तमधावहम्। शीर्षच्छेद्यं परिच्छद्य परिच्छद्य नियन्ता शस्त्रमावदे ॥ 51 ॥
 सतद्वक्त्रं हिमविलष्टकिञ्जल्कमिवपङ्कजम्। ज्योतिष्कणाहतश्मश्रुकण्ठनालादपातयत् ॥ 52 ॥
 कृतदण्डः स्वयंराज्ञालेभे शूद्रः सतां गतिम्। तपसा दुश्चरेणापि न स्वमार्गविलङ्घिना ॥ 53 ॥
 रघुनाथोऽप्यगस्त्येन मार्गसंदशितात्मना। महौजसा संयुयुजे शरत्काल इवेन्दुना ॥ 54 ॥
 कुम्भयोनिरलंकारं तस्मै दिव्यपरिग्रहम्। ददी दत्तं समुद्रेण पोतेनेवात्मनिष्कयम् ॥ 55 ॥
 ते दधन्मैथिलीकण्डनिर्व्यापारेण बाहुना। पश्चान्निववृते रामः प्राक्परासुद्विंजात्मजः ॥ 56 ॥
 तस्य पूर्वोदितां निदां द्विजः पुत्रसमागतः। स्तुत्या निवर्तयामास त्रतुर्वेवस्तवादपि ॥ 57 ॥
 तमध्वराय मुक्ताश्वं रक्षःकपिनरेश्वराः। मेघाः सस्यमिवाम्भोभिरभ्यवर्षन्नुपायनैः ॥ 58 ॥
 दिग्भ्योनिमन्त्रिताश्चैनमभिजग्मुर्महर्षयः। न भौमान्येव धिष्यन्ति हि त्वाजयोतिर्मयान्यपि ॥ 59 ॥
 उपशल्यनिविष्टैस्तैश्चतुर्द्वारमुखी बभौ। अयोध्या सृष्टलोकेव सद्यः पैतामही तनुः ॥ 60 ॥

तप कर रहा हूँ। मेरा नाम शम्बूक है और मैं शूद्र हूँ ॥ 50 ॥ शूद्रों को तप करने का अधिकार नहीं है। इसी अनाधिकार का काम करने से प्रजा में पाप फैल रहा था। इसलिये राम ने निश्चय कर लिया कि इसका वध करना ही होगा। उन्होंने हाथ में शस्त्र उठा लिया ॥ 51 ॥ और उसका सिर उसी प्रकार गले परसे काट उतारा जैसे कमल की डंडी परसे कमल उतार लिया गया हो। आग की चिनगारियों से झुलसी दाढ़ी वाला उसका सिर ऐसा लग रहा था जैसे पाले से जली हुई केसरवाला कमलगट्टा हो ॥ 52 ॥ राजा से दण्ड पाने के कारण शूद्र को वह सद्गति मिल गई जो वह अपने उस कठोर तप से कभी न पाता जो वह अपने वर्ण-धर्म का उल्लंघन करके चाह रहा था ॥ 53 ॥ जैसे चन्द्रमा शरद् ऋतु से जा मिलता है वैसे ही राम को मार्ग में अगस्त्य ऋषि मिल गए ॥ 54 ॥ ऋषि ने उन्हें वे सुन्दर आभूषण दे डाले, जो उन्हें समुद्र ने उस समय दण्ड के रूप में दिए थे, जब उन्होंने समुद्र को पी डाला था ॥ 55 ॥ राम ने वे आभूषण लेकर अपनी उन भुजाओं में बाँध लिए, जो सीता के वन चले जाने से सीता के कण्ठ में पड़ने से वंचित हो रहे थे। जब राम अयोध्या लौटे, तब उन्हें ज्ञात हुआ कि उनके आने से पहले ही ब्राह्मण का पुत्र जी उठा था ॥ 56 ॥ पुत्र के जी उठने पर उस ब्राह्मण ने राम की बड़ी स्तुति की और पहले जो निन्दा की थी, उसे अपनी सतुति से धो डाला, क्योंकि राम ने उसके पुत्र को यमराज के हाथों से जा छुड़ाया था ॥ 57 ॥ कुछ दिन पीछे राम ने अश्वमेध यज्ञ के लिये घोड़ा छोड़ दिया। जैसे वादल धान के खेत पर जल बरसाते हैं वैसे ही सुग्रीव-विभीषण आदि ने आकर राम के आगे भेंट के धन की वर्षा कर दी ॥ 58 ॥ यज्ञ के लिये राम ने तीनों लोकों के ऋषियों को आमंत्रित कर रक्खा था, इसलिये वे ऋषि पृथ्वी से ही नहीं, वरन् सप्तर्षि-मण्डल आदि दिव्य स्थानों से भी राम के पास आ गए थे ॥ 59 ॥ सभी लोग नगर के आस-पास के देहातों में आ टिके थे जब वे अयोध्या के चारों द्वारों से नगर में पैटे तब चार द्वारों वाली वह अयोध्या ऐसी जान पड़ने लगी, मानो तत्काल सृष्टि करने वाले ब्रह्मा की चतुर्मुखी मूर्ति हो ॥ 60 ॥ सीता के त्याग से राम की एक यह भी प्रशंसा हुई कि राम ने किसी दूसरी स्त्री से अपना विवाह न करके यज्ञ में सोने की सीता बनाकर अपनी पत्नी के स्थान पर उसे बैठा

श्लाघ्यस्त्यागोऽपिवैदेह्याः पत्युः प्राग्वंशवासिनः । अनन्यजानेः सैवासीद्यस्माज्जायाहिरण्यमयी ॥ 61 ॥
विधेरधिकसंभारस्ततः प्रववृते मखः । आसन्न्यत्र क्रियाविघ्ना राक्षसा एव रक्षिणः ॥ 62 ॥
अथ प्राचेतसोपज्ञं रामायणमितस्ततः । मैथिलेयी कुशलवौ जगत्तुर्गुरुचोदितौ ॥ 63 ॥
वृत्तं रामस्य वाल्मीकेः कृतिस्तौ किनरस्वनौ । किं तद्येन मनोहर्तुमलं स्यातां न शृण्वताम् ॥ 64 ॥
रूपे गीते च माधुर्यं तपोस्तज्जैर्निवेदितम् । ददर्श सानुजो रामः शुश्राव च कुतूहली ॥ 65 ॥
तद्गीतश्रवणैकाग्रा संसदश्चमुखी बभौ । हिमनिष्यन्दिनी प्रातर्निर्वातेव वनस्थली ॥ 66 ॥
वयोवेषविसंवादि रामस्य च तयोस्तदा । जनताप्रेक्ष्य तादृश्यं नाक्षिकम्पं व्यतिष्ठिपत् ॥ 67 ॥
उभयोर्न तथा लोकः प्रावीण्येन विसिम्भिये । नृपतेः प्रीतिदानेषु वीतस्पृहता यथा ॥ 68 ॥
गेये कोनुविनेतावाक्यस्य चैवं कृतिः कवेः । इति राज्ञास्वर्यपृष्टौ तौ वाल्मीकिमशंसताम् ॥ 69 ॥
अथ सावरजो रामः प्राचेतसमुपेयिवान् । ऊरीकृत्यात्मनो देहं राज्यमस्मै न्यवेदयत् ॥ 70 ॥
सतावाख्याय रामाय मैथिलेयोतदात्मजो । कविः कारुणिको वद्रे सीतायाः संपरिग्रहम् ॥ 71 ॥
तात शुद्धा समक्षं नः स्नुषा ते जातवेदसि । दौरात्म्याद्रक्षसस्तां तुनात्रत्याः श्रद्धुः प्रजाः ॥ 72 ॥
ताः स्वचारित्र्यमुद्दिश्य प्रत्याययतु मैथिली । ततः पुत्रवतीमेनां प्रतिपत्स्ये त्वदाज्ञया ॥ 73 ॥
इति प्रतिश्रुते राज्ञा जानकीमाश्रमामुमिः शिष्यैरानाययामास स्वसिद्धिं नियमैरिव ॥ 74 ॥

दिया था ॥ 61 ॥ इस प्रकार वह प्रसिद्ध यज्ञ प्रारम्भ हुआ, जिसमें आवश्यकता से अधिक तो सामग्री इकट्ठी हुई थी और विशेषता यह थी कि यज्ञ-क्रियायें विघ्न करने वाले राक्षस ही उसकी रखवाली कर रहे थे ॥ 62 ॥ तब वाल्मीकि की आज्ञा से सीता जी के पुत्र लव और कुश उनका बनाया हुआ रामायण गाते हुए इधर-उधर घूमने लगे ॥ 63 ॥ एक तो राम का चरित, उस पर वाल्मीकि उसके रचयिता और फिर किन्नरों के समान मधुर कण्ठ वाले लव और कुश उसके गायक, तब बताइए उसमें रह ही क्या गया था कि लोग सुनकर लट्टू न हो जाते ॥ 64 ॥ राम के कानों तक भी यह बात जा पहुँची । उन्होंने बालकों को बुला भेजा और अपने भाइयों के साथ उन दोनों बालकों के रूप और गीत की मधुरता को आश्चर्य के साथ देखा और सुना ॥ 65 ॥ सारी सभा गूँगी होकर उनका गीत सुनती जा रही थी और आँखों से आँसू बहाती जा रही थी । उस समय वह सभा प्रातःकाल की उस शान्त वनस्थली के समान दिखाई देने लगी थी, जिसमें वृक्षों से टपटप ओस की बूँदें गिरी पड़ रही हों ॥ 66 ॥ लोगों ने एकटक होकर राम और उन दोनों बालकों का एकदम मिलता-जुलता वह रूप देखा, जिसमें अन्तर इतना ही था कि वे दोनों अभी कुमार थे तथा वनवासियों के से वस्त्र पहने हुए थे और राम प्रौढ़ थे तथा राजसी वस्त्र पहने हुए थे ॥ 67 ॥ जनता को इनके गाने का कौशल देखकर उतना आश्चर्य नहीं हुआ, जितना इस बात पर हुआ कि राजा ने उन्हें प्रेम से जो दान दिया था वह भी उन्होंने लौटा दिया ॥ 68 ॥ जब राम ने उनसे पूछा कि तुम्हें किसने संगीत सिखाया है और यह किस कवि की रचना है, तब उन्होंने वाल्मीकि का नाम बता दिया ॥ 69 ॥ अपने भाइयों को साथ लेकर वाल्मीकि के पास राम जा पहुँचे । उन्होंने वाल्मीकि के पास जाकर अपने को छोड़कर शेष सारा राज्य उन्हें भेंट कर दिया ॥ 70 ॥ दयालु ऋषि ने राम से कहा कि ये दोनों गायक कुमार सीता के गर्भ से उत्पन्न हुए हैं और तुम्हारे पुत्र हैं । अब तुम्हें चाहिए कि सीता को स्वीकार कर लो ॥ 71 ॥ राम ने कहा कि आपकी पतोहू सीता हमारे सामने ही अग्नि में शुद्ध हो चकी हैं, पर रावण की दुष्टता का विचार करके यहाँ की प्रजा को विश्वास नहीं होता ॥ 72 ॥ इसलिए यदि सीता अपनी शुद्धता का प्रमाण देकर प्रजा को विश्वास दिलायें, तब मैं आपकी आज्ञा से पुत्रों के साथ उन्हें ग्रहण कर लूँगा ॥ 73 ॥ राम की ऐसी प्रतिज्ञा सुनकर वाल्मीकि ने शिष्यों को भेजकर सीता को इस प्रकार बुलाया मानो वे नियमों के द्वारा अपनी सिद्धि ही बुला रहे हों ॥ 74 ॥

अन्येधुरथ काकुत्स्थः संनिपात्य पुरौकसः । कविमाहाययामास प्रस्तुतप्रतिपत्तये ॥ 75 ॥
 स्वरसंस्कारवत्यासौ पुत्राभ्यामथ सीतया । ऋचेवोदर्चिषं सूर्यं रामं मुनिरुत्थितः ॥ 76 ॥
 काषायपरिवीतेन स्वपदार्पितचक्षुषा । अन्वमीयत शुद्धेति शान्तेन वषुषैव सा ॥ 77 ॥
 जनास्तदालोकपथात्प्रतिसंहतचक्षुषः । तस्थुस्तेऽवाङ्मुखा सर्वे फलिता इव शालयः ॥ 78 ॥
 तां दृष्टिविषये भर्तुर्मुनिरास्थितविष्टरः । कुरुनिःसंशयं वत्से स्ववृत्ते लोकमित्यशात् ॥ 79 ॥
 अथवाल्मीकिशिष्येणपुण्यमावर्जितपयः । आचम्यौदीरयामास सीता सत्यांसरस्वतीम् ॥ 80 ॥
 वाङ् मनः कर्मभिः पत्यौव्यभिचारो यथा न मे । तथा विश्वंभरे देवि मामन्तर्घातमर्हसि ॥ 81 ॥
 एवमुक्तेतया साध्व्यारान्धात्सद्योभवाद्भुवः । शातहृदमिवज्योतिः प्रभामण्डलमुद्ययौ ॥ 82 ॥
 तत्र नागफणोत्किष्टसिंहासननिषदुषी । समुद्ररशना साक्षात्प्रादुरासीद्वसुंधरा ॥ 83 ॥
 सासीतामङ्कमारोप्यभर्तृप्राणिहितेक्षणाम् । मामेतिव्याहरत्सेवतस्मिन्पातालमभ्यगात् ॥ 84 ॥
 धरायां तस्य संरम्भं सीताप्रत्यर्पणैषिणः । गुरुर्विधिबलापेक्षी शमयामास धन्विनः ॥ 85 ॥
 ऋषीन्विसृज्य यज्ञान्ते सुहृदश्च पुरस्कृतान् रामः सीतागतं स्नेहं निदधे तदपत्ययोः ॥ 86 ॥
 युधाजितश्च संदेशात्स देशं सिन्धुनामकम् । ददौ दत्तप्रभावाय भरताय भृतप्रजः ॥ 87 ॥
 भरतस्तत्र गन्धर्वान्युधि निर्जित्य केवलम् । आतोद्यं ग्राहयामास समत्याजयदायुधम् ॥ 88 ॥

दूसरे दिन राम ने इस काम के लिये प्रजा को इकट्ठा करके वाल्मीकि को बुला भेजा ॥ 75 ॥ लव, कुश और सीता को साथ लेकर राम के आगे वाल्मीकि आ उपस्थित हुए। पुत्रों के साथ राम के पास जाती हुई सीता ऐसी लगती थीं, मानो सूर्य के पास स्वर और संस्कारों के साथ गायत्री चली जा रही हों ॥ 76 ॥ गेरुए वस्त्र पहने और अपनी आँखें नीची किए हुए सीता अपने शान्त शरीर से ही पवित्र दिखाई दे रही थीं ॥ 77 ॥ उन्हें देखते ही सब लोगों ने उसी प्रकार अपनी आँखें नीची कर लीं जैसे फले हुए धान के कलम झुक जाते हैं क्योंकि उन्हें लज्जा लगी कि हम लोगों ने व्यर्थ ही इस साध्वी पर कलंक लगाया ॥ 78 ॥ आसन पर बैठे हुए वाल्मीकि ने सीता से कहा- 'बेटी! जनता के मन में तुम्हारे चरित्र के विषय में जो सन्देह है वह तुम अपने पति के आगे ही मिटा दो ॥ 79 ॥ वाल्मीकि के शिष्य ने पवित्र जल लाकर सीता को दिया और उसका आचमन करके सीता ने यह सत्य वचन कहा ॥ 80 ॥ 'यदि मैंने मन, वचन, कर्म किसी प्रकार से भी अपना पतिव्रत भंग न किया हो तो धरती माता! तुम मुझे अपनी गोद में समा लो' ॥ 81 ॥ पतिव्रता सीता के ऐसा कहते ही घड़घड़ाकर पृथ्वी फट गई और उसमें से बिजली के समान चमकीला एक तेजोमण्डल निकल उठा ॥ 82 ॥ उसमें से नाग के फण पर रखे हुए सिंहासन पर बैठी हुई, समुद्र की तगड़ी पहने साक्षात् धरती माता आ प्रकट हुई ॥ 83 ॥ उन्होंने उन सीताको अपनी गोद में ले लिया, जो राम की ओर टकटकी बाँधे खड़ी थीं। राम कहते ही रह गए- 'है हैं! यह क्या करती हो, यह क्या करती हो?' पर वे सबके देखते-देखते पाताल में जा समाई ॥ 84 ॥ राम को पृथ्वी पर इतना क्रोध आया कि पृथ्वी से सीता को लौटा लेने के लिये उन्होंने अपना धनुष तक उठा सँभाला, पर ब्रह्मा तो सब कुछ जानते ही थे, उन्होंने आकर राम को समझाकर उनका क्रोध शान्त किया ॥ 84 ॥ किसी-किसी प्रकार वह यज्ञ समाप्त हुआ और यज्ञ हो जाने पर राम ने तब ऋषियों को छुट्टी भी दे दी। अब वे अपने पुत्रों से ही उतना प्रेम करने लगे, जितना सीता से किया करते थे ॥ 83 ॥ प्रजापालक राम ने भरत के मामा युधाजित के कहने पर सिन्धु देश का राज्य प्रभावशाली भरत को दे दिया ॥ 87 ॥ भरत ने गन्धर्वों को जीतकर उनके हाथ में केवल वीणा तो रहने दी, किन्तु धनुष छुड़ा दिया ॥ 88 ॥ उन्होंने

सतक्षपुष्कलौपुत्रौ राजधान्यास्तवाख्यमौः । दमिषिष्याभिषेकाहौ रामान्तिकमगात्पुनः॥ 89 ॥
 अङ्गदं चन्द्रकेतुं चलक्ष्मणौऽप्यात्मसंभवौ । शासनाद्रघुनाथस्य चक्रे कारापयेश्वरौ॥ 90 ॥
 इत्यारोपितपुत्रास्ते जननीनां जनेश्वराः । भर्तृलोकप्रपन्नानानिवापान्विदधुःक्रमात्॥ 91 ॥
 उपेत्य मुनिवेशोऽयकालः प्रोवाच राघवम् । रहः संवादिनौपश्येदावां यस्तं त्यजेरिति॥ 92 ॥
 तथेति प्रतिपन्नायविवृतात्मा नृपायसः । आचख्यौ दिवमध्यास्व शासनात्परमेष्ठिनः॥ 93 ॥
 विद्वानपितयोद्धाःस्थाः समयं लक्ष्मणोऽभिनत् । भीतो दुर्वाससः शापाद्रामसंदर्शनार्थिनः॥ 94 ॥
 स गत्वा सरयूतीरं देहत्यागेन योगवित् । चकारावितथां भ्रातुः प्रतिज्ञां पूर्वजन्मनः॥ 95 ॥
 तस्मिन्नात्मचतुर्भागेप्राङ्नाकमधितस्थुषि । राघवः शिथिलतन्स्थौविधर्मस्त्रिपादिव॥ 96 ॥
 सनिवेशयकुशावत्यां रिपुनागाङ्गुशकुशम् । शरावतयां सतां सूक्तैर्जनिताश्रुलव्णलवम्॥ 97 ॥
 उदक्प्रतस्थे स्थिरधीसानुजोऽग्निपुरःसरः । अन्वितः पतिवात्सल्याद्गृहवर्जमयोध्यया॥ 98 ॥
 जगृहस्तस्य चित्तज्ञाः पदवां हरिराक्षसाः । कदम्बमुकुलस्थूलैरभिवृष्टां प्रजाश्रुभिः॥ 99 ॥
 उपस्थितविमानेन तेन भक्तानुकम्पिना । चक्रे त्रिदिवनिश्रीणिः सरयूरनुयाधिनाम्॥ 100 ॥

तक्ष और पुष्कल नाम के योग्य पुत्रों को, तक्ष (तक्षशिला) और पुष्कल (पेशावर) राजधानियों का राजा बना दिया और स्वयं राम के पास लौट आए ॥ 89 ॥ राम की आज्ञा से लक्ष्मण ने अङ्गद और चन्द्रकेतु नाम के अपने दोनों पुत्रों को कारापथ का राजा बना दिया ॥ 89 ॥ इस प्रकार पुत्रों को राज्य देकर उन चारों ने अपनी स्वर्गीया माताओं के श्राद्ध आदि संस्कार पूरे कर दिए ॥ 91 ॥ यह सब हो चुकने पर एक दिन राम के पास मुनिका वेश बनाकर काल आकर बोला- 'मैं आपसे एकान्त में कुछ बातें करना चाहता हूँ। जो भी कोई हम लोगों की बातचीत के बीच में आने लगे आप देश निकाला दे दीजिए ॥ 92 ॥ राम ने कहा- 'अच्छी बात है।' तब उसने अपना सच्चा रूप खोल दिखाया और कहा कि 'ब्रह्मा की आज्ञा है कि अब आप चलकर बैकुण्ठ में रहें' ॥ 93 ॥ यह बात हो ही रही थी कि इसी बीच दुर्वासा कहीं से आ धमके। उन्होंने द्वार पर बैठे हुए लक्ष्मण से कहा कि अभी जाकर राम से कहो कि मैं आया हूँ, नहीं तो तुम्हारे कुल को अभिशाप से भरम कर दूँगा। लक्ष्मण जानते ही थे कि जो इस समय राम के पास जायगा, उसे देश-निकाला दे दिया जायगा फिर भी बातचीत के बीच में पहुँचकर उन्होंने सूचना दे दी ॥ 94 ॥ वहाँ से लौटकर योग जानने वाले लक्ष्मण ने सरयू के किनारे जाकर योग-बल से शरीर छोड़कर बड़े भाई की प्रतिज्ञा की रक्षा कर ली ॥ 95 ॥ अपने चौथाई अंश लक्ष्मण के स्वर्ग चले जाने पर राम उसी प्रकार ढीले पड़ गए जैसे पृथ्वी पर त्रेता युग में हीन पैरवाला धर्म ढीला पड़ जाता है ॥ 96 ॥ स्थिर बुद्धि वाले राम ने शत्रु-रूपी हाथियों के लिये अंकुश के समान भयदायक कुश को कुशावती का राज्य दे दिया और अपने मधुर वचनों से सज्जनों की आँखों से आँसू की धार बहाने वाले लव को उन्होंने शराती का राजा बना दिया ॥ 97 ॥ फिर अग्निहोत्र की अग्नि आगे करके भाइयों के साथ वे उत्तर की ओर चल पड़े। जब अयोध्यावासियों ने यह सुना तो राम के प्रेम में वे सब भी केवल अपने-अपने घर पीछे छोड़कर उनके साथ हो लिए ॥ 98 ॥ राम के मनकी बात जानने वाले वानर और राक्षस भी उनके पीछे-पीछे चल पड़े। राम जिस मार्ग से चले जा रहे थे वह सारा मार्ग राम के पीछे-पीछे जाने वाली जनता के आँसुओं से गीला हो चला ॥ 99 ॥ भक्तों पर कृपा करने वाले राम विमान पर चढ़कर स्वर्ग चले गए और सरयू को उन्होंने अपने पीछे आने वालों के लिये स्वर्ग की सीढ़ी बना दिया। (जो सरयू में स्नान करता था वह तुरन्त स्वर्ग चला जाता था) ॥ 100 ॥ वहाँ स्नान करने वालों की वैसी ही भीड़

तस्मि यद्गोप्रतरकल्पोऽभूत्समर्दस्तत्रमज्जताम् । अतस्तदाख्यया तीर्थं पावनं भुवि प्रप्रथे ॥ 101 ॥
 स विभुर्विवुधांशेषु प्रतिषन्नात्ममूर्तिषु । त्रिदशीभूतपौराणां स्वर्गान्तरमकल्पयत् ॥ 102 ॥
 निर्वर्त्यैवं दशमुखशिरश्छेदकार्यं सुराणाम् विष्यक्सेनः स्यतनुमविशत्सर्वलोकप्रतिष्ठाम् ॥ 103 ॥
 लङ्कानाथपवनेतनयं चोभयंस्थापयित्वाकीर्तिस्तम्भद्वयभिवगिरौ दक्षिणे चोत्तरे च

इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्यं

‘रामस्वर्गारोहणो’ नाम पञ्चदशः सर्गः ॥



जुट गई जैसी पार कराते समय गौओं की भीड़ हो जाती है, इसलिये उस पवित्र तीर्थ का नाम ही संसार में गोप्रतर प्रसिद्ध हो गया ॥ 101 ॥ उधर देवताओं के अंशधारी रीक्ष और वानरों ने भी अपना-अपना देवरूप धारण कर लिया था, इसलिये स्वर्ग में इतने लोग जा पहुँचे कि सामर्थ्यशाली राम को देवपद प्राप्त करने वाले अयोध्यावासियों के रहने के लिये एक दूसरा स्वर्ग बना देना पड़ा ॥ 102 ॥ इस प्रकार विष्णु भगवान ने रावण का वध करके देवताओं का सारा कार्य पूरा किया और उत्तरगिरि हिमालय पर हनुमान को तथा दक्षिणगिरि चित्रकूट पर विभीषण को अपने दो कीर्तिस्तम्भों के रूप में स्थापित करके तीनों लोकों को धारण करने वाले भगवान् अपने विराट शरीर में जा लीन हुए ॥ 103 ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्य में ‘रामका स्वर्गारोहण’

नामका पन्द्रहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥



॥ षोडशः सर्गः ॥

अद्येतरे सप्त रघुप्रवीरा ज्येष्ठं पुरोजन्मतया गुणैश्च ।
 चक्रुः कुशं रत्नविशेषभाजं सौभ्रात्रमेषां हि कुलानुसारि ॥ 1 ॥
 ते सेतुवार्तागजबन्धमुख्यैरभ्युच्छिताः कर्मभिरप्यवन्धयैः ।
 अन्योन्यदेशप्रविभागसीमां वेलां समुद्रा इव न व्यतीयुः ॥ 2 ॥
 चतुर्भुजांशप्रभवः स तेषां दानप्रवृत्तेरनुपारतानाम् ।
 सुरद्विपानामिव सामयोनिभिर्भिन्नोऽष्टधा विप्रससार वंशः ॥ 3 ॥
 अधार्धरात्रे स्तिमितप्रदीपे शय्यागृहे सुप्तजने प्रबुद्धः ।
 कुशः प्रवासस्थकलत्रवेशामदृष्टपूर्वां वनितामपश्यत ॥ 4 ॥
 सा साधुसाधारणपार्थिवर्द्धः स्थित्वा पुरस्तात्पुरुहूतभासः ।
 जेतुः परेषां जयशब्दपूर्वं तस्याञ्जलिं बन्धुमतो बबन्ध ॥ 5 ॥
 अधानपोढागलमप्यगारं छायाभिवाददर्शितलं प्रविष्टाम् ।
 सविस्मयो दशरथेस्तनूजः प्रोवाच पूर्वार्धविसृष्टतल्पः ॥ 6 ॥
 लब्धान्तरा सावरणेऽपि गेहे योगप्रभावो न च लक्ष्यते ते ।
 बिभर्षि चाकारमनिर्वृतानां मृणालिनी हैममिवोपरागम् ॥ 7 ॥
 का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा किंवा मदभ्यागमकारणं ते ।
 आचाक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति ॥ 8 ॥

सोलहवाँ सर्ग

लव आदि सात रघुवंश वीरों ने अपने सबसे बड़े भाई कुश को अपना मुखिया बना लिया क्योंकि भ्रातृ प्रेम तो उनके कुल का धर्म ही था ॥ 1 ॥ वे सबके सब पुल बाँधने, कृषि की रक्षा करने और हाथियों को इकट्ठा करने में कुशल थे। फिर भी जैसे समुद्र अपने तट का उल्लंघन नहीं करता वैसे ही उनमें से किसी ने भी अपने राज्य की सीमा लाँघकर दूसरे भाई के राज्य की सीमा में प्रवेश करने का यत्न नहीं किया ॥ 2 ॥ जैसे सामवेद के कुल में उत्पन्न मतवाले दिग्गजों का कुल आठ भागों में बँट गया था वैसे ही विष्णु के अंश से उत्पन्न हुए राम का दानी कुल भी आठ भागों में जा फैला ॥ 3 ॥ एक दिन आधी रात को, जब शयन-गृहका दीप टिमटिमा रहा था और सब लोग सोए पड़े थे, कुश को एक स्त्री दिखाई दी, जिसे पहले कभी उन्होंने नहीं देखा था, पर उसका वेश देखने से जान पड़ता था कि उसका पति परदेश चला गया है ॥ 4 ॥ अपनी सम्पत्ति से सज्जनों का उपकार करने वाले, इन्द्र के समान तेजस्वी और शत्रुओं को जीतने वाले कुश के आगे वह स्त्री अचानक हाथ जोड़कर आ खड़ी हुई ॥ 5 ॥ जैसे दर्पण में मुँह का प्रतिबिम्ब पैठ जाता है, वैसे ही द्वार बन्द रहने पर भी वह स्त्री घर के भीतर आ पहुँची थी। उसे देखकर कुश को बड़ा आश्चर्य हुआ और वे शय्या पर आधे उठँगकर उससे बोले- ॥ 9 ॥ 'तुम हमारे इस बन्द कक्ष में घुस तो आई हो, पर तुम्हारे मुख से यह नहीं प्रकट होता कि तुम योगिनी हो, क्योंकि तुम पाले से मारी हुई कमलिनी के समान बड़ी उदास दिखाई दे रही हो ॥ 7 ॥ बताओ शुभे! तुम कौन हो। तुम्हारे पतिका क्या नाम है और मेरे पास किसलिए आई हो? देखो, तुम यह समझ बूझकर मुँह खोलना कि रघुवंशियों का चित्त पराई स्त्री की ओर कभी नहीं जाता' ॥ 8 ॥ उस स्त्री ने उत्तर दिया-

तमब्रवीत्सा गुरुणानवद्या या नीतपौरा स्वपदोन्मुखेन ।
 तस्याः पुरः संप्रति वीतनाथां जानीहि राजन्नधिदेवतां माम् ॥ 9 ॥
 वस्वौकसारामभिभूय साहं सौराज्यवद्धोत्सवया विभूत्या ।
 समग्रशक्तौ त्वयि सूर्यवंश्ये सति प्रपन्ना करुणामवस्थाम् ॥ 10 ॥
 विशीर्णतल्पाद्दृशतो निवेशः पर्यस्तशालः प्रभुणा विना मे ।
 विडम्बयत्यस्तनिमग्नसूर्यं दिनान्तमुग्रानिलभिन्नमेघम् ॥ 11 ॥
 निशासु भास्वत्कलनूपुराणां यः संचरोऽभूदभिसारिकानाम् ।
 नदन्मुखोल्काविचिताभिषाभिः सवाह्यतेराजपथः शिवाभिः ॥ 12 ॥
 आस्फालितं यत्प्रमदाकराग्रैर्मृदङ्गधीरध्वनिमन्वगच्छत् ।
 वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः शृङ्गाहतं क्रोशति दीधिकानाम् ॥ 13 ॥
 वृक्षेशया यष्टिनिवासभङ्गान्मृदङ्गशब्दापगमादलास्याः ।
 प्राप्तादवोल्काहतशेषबर्हाः क्रीडामयूरा वनबर्हिणत्वम् ॥ 14 ॥
 सोपानमार्गेषु च येषु रामा निक्षिप्तवत्यश्चरणान् सरागान् ।
 सद्यो हतन्यङ्कु भिरस्त्रदिग्धं व्याघ्रैः पदं तेषु निधीयते मे ॥ 15 ॥
 चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभङ्गाः ।
 नखाङ्कु शाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धासिंहप्रहतं वहन्ति ॥ 16 ॥

'राजन्! जब भगवान् राम वैकुण्ठ जाने लगे, तब जिस निर्दोष अयोध्यापुरी के निवासियों को वे अपने साथ लेते चले गये, उसी अनाथ अयोध्यापुरी की मैं नगरदेवी हूँ ॥ 9 ॥ पहले अच्छा राज होने के कारण मैं इतनी ऐश्वर्यशालिनी हो गई थी कि मेरे आगे कुबेर की अलकापुरी भी फीकी लगती थी, पर आजकल तुम्हारे जैसे प्रतापी राजा के रहते हुए भी मेरी बड़ी बुरी दशा हो गई है ॥ 10 ॥ गृहस्वामिनियों के न रहने से कोठे-अटारियों के टूट जाने के कारण मेरी निवास भूमि अयोध्या ऐसी उदास लगती है जैसे सूर्यास्त के समय वह सन्ध्या, जिसमें वायु के वेग से इधर-उधर छितराए हुए बादल दिखाई दे रहे हों ॥ 11 ॥ रात के समय पहले जिन सड़कों पर चमकते हुए बिजुओं वाली अभिसारिकाएँ चला करती थीं, उन्हीं पर आजकल ऐसी सियारिने घूमती हैं, जिसके मुख से चिल्लाते समय चिनगारियाँ निकली पड़ती हैं ॥ 12 ॥ नगर को जिन बावड़ियों का जल पहले जलक्रीड़ा करने वाली सुन्दरियों के हाथ के थपेड़ों से मृदङ्ग के समान गम्भीर शब्द किया करता था, वह आजकल जङ्गली भैसों की सींगों की चोटों से कान फोड़े डालता है ॥ 13 ॥ अड़्डों के टूट जाने से वहाँ के मोर अब वृक्षों पर जा जाकर बैठा करते हैं और मृदङ्ग न बजने के कारण उन्होंने नाचना भी बन्द कर दिया है। अब वे वन जंगली मोरों के समान लगने लगे हैं, जिनकी पूँछें वन की आग से झुलस गई हों ॥ 14 ॥ और क्या कहूँ, पहले जिन सीढ़ियों पर सुन्दरियाँ अपने महावर लगे लाल-लाल पैर रखती चलती थीं, उन्हीं पर मृग मारने वाले बाघ अपने रक्त से सने लाल पैर रखते चलते हैं ॥ 95 ॥ जिन चित्रों में यह दिखाया गया था कि हाथी कमल के ताल में उतर रहे हैं और हथिनियाँ उन्हें सूँड़ से कमल के डंठल तोड़कर दिए दे रही हैं, उस चित्रित हाथियों के मस्तकों को सिहों ने सच्चे हाथी का मस्तक समझकर नखों से फाड़ डाला है ॥ 16 ॥ जिन बहुत से खंभों पर स्त्रियों की मूर्तियाँ बनी हुई थी उन मूर्तियों का आजकल सारा रंग उड़ गया है। उन खंभों को चन्दन का वृक्ष समझकर जो सौंप उनसे जा लिपटे थे, उनकी केचुलें छूट-छटकर उन मूर्तियों से सट

स्तम्भेषु योषित्प्रतिमास्तनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम् ।
 स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सङ्गान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः ॥ 17 ॥
 कालान्तरश्यामसुधोषु नक्तमितस्ततो रूढतृणाङ्कुरेषु ।
 त एव मुक्तागुणशुद्धयोऽपि हर्म्येषु मूर्च्छन्ति न चन्द्रपादाः ॥ 18 ॥
 आवर्ज्य शाखाः सदयंचयासां पुष्पाण्युपात्तानिविलासिनीभिः ।
 वन्यैः पुलिन्दैरिव वानरैस्ताः क्लिश्यन्त उद्यानलता मदीयाः ॥ 19 ॥
 रात्रावनाविष्कृतदीपभासः कान्तामुखश्रीवियुता दिवापि ।
 तिरस्क्रियन्ते कृमिस्तनुजालैर्विच्छन्नधूमप्रसरा गवाक्षाः ॥ 20 ॥
 बलिक्रियावर्जितसैकतानि स्नानीयसंसर्गमनाप्नुवन्ति ।
 उपान्तवानीरगृहाणि दृष्ट्वा शून्यानि दूये सरयूजलानि ॥ 21 ॥
 तदर्हसीमां वसतिं विसृज्य मामभ्युपैतुं कुलराजधानीम् ।
 हित्वा तनुं कारणमानुषीं तां यथा गुरुस्ते मरमात्ममूर्तिम् ॥ 22 ॥
 तथेति तस्याः प्रणयं प्रतीतः प्रत्यग्रहीत्प्राग्रहरो रघूणाम् ।
 पूरप्यभिव्यक्तमुखाप्रसादा शरीरबन्धेन तिरोबभूव ॥ 23 ॥
 तदद्भुतं संसदि रात्रिवृत्तं प्रातर्द्विजेभ्यो नृपतिः शशंस ।
 श्रुत्वा त एनं कुलराजधान्याः साक्षात्पतित्वे वृत्तगम्यनन्दन् ॥ 24 ॥

जाने के कारण वे ऐसी लगती हैं। मानो उन पत्थर की स्त्रियों ने स्तन ढकने के लिये कोई कपड़ा डाल लिया हो ॥ 17 ॥ जिन भवनों पर कभी मोती की माला के समान शुभ्र चाँदनी चमका करती थी, उन पर अब चाँदनी भी नहीं चमकती, क्योंकि बहुत दिनों से मरम्मत न होने के कारण कोठों के चूने का रंग काला पड़ गया है और उन पर जहाँ-तहाँ घास जम आई है ॥ 18 ॥ पहले उद्यान की जिन लताओं को धीरे से झुकाकर सुन्दरी स्त्रियाँ फूल उतारा करती थीं, उन प्यारी लताओं को जंगली म्लेच्छों के समान उत्पाती बंदर झकझोरे डाल रहे हैं ॥ 19 ॥ आजकल अटारियों के झरोखों से न तो रात को दीपकों की किरणें झलकती हैं, न दिन में सुन्दरियों का मुख दिखाई देता है और न कहीं से अगरका धुआँ ही निकलता है। अब वे सब झरोखे मकड़ियों के जालों से ढक गए हैं ॥ 20 ॥ मुझे यह देखकर बड़ा दुःख होता है कि अब न तो सरयू के घाटों पर देवताओं के लिये बली दी जाती है और न स्त्रियों के स्नान करने से उसमें से अंगराग आदि की गन्ध ही निकल रही है। यहाँ तक कि सरयू के तट पर बनी हुई बेंट की झोपड़ियाँ भी सूनी पड़ी रहती हैं ॥ 21 ॥ इसलिये जैसे तुम्हारे पिता राम ने राक्षसों को मारने के लिए जो मनुष्य शरीर धारण किया था, उसे छोड़कर परमात्मा में पहुँच गए वैसे ही तुम भी इस नई राजधानी कुशावती को छोड़कर अपनी कुल परंपरा की राजधानी अयोध्या में चलकर आ रहो ॥ 22 ॥ कुश ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और कहा- 'ठीक है ऐसा ही करेंगे।' यह सुनकर अयोध्या की नगरदेवी भी तुरंत अन्तर्धान हो गई ॥ 23 ॥ राजा ने रात की वह अचरज भरी घटना प्रातःकाल सभा में ब्राह्मणों से आ कही। यह सुनकर ब्राह्मणों ने उनकी बड़ी प्रशंसा की कि आप धन्य हैं, जिन्हें कुल-राजधानी ने अपनी इच्छा से अपना पति चुन बुलाया है ॥ 24 ॥ उन्होंने कुशावती को वेदपाठी ब्राह्मणों को सौंप दी और जैसे वायु के पीछे-पीछे बादल चलते हैं वैसे ही पीछे चलने वाली सेना के साथ

कुशावतीं श्रोत्रियसात्स कृत्वा यात्रानुकूलेऽहनि सावरोधः ।
 अनुदुतो वायुरिवाभ्रवृन्दैः सैन्यैरयोध्याभिमुखः प्रतस्थे ॥ 25 ॥
 सा केतुमालोपवना बृहद्विर्विहारशैलानुगतेव नागैः ।
 सेना रथोदारगृहा प्रयाणे तस्याभवज्जंगमराजधानी ॥ 26 ॥
 तेनातपत्रामलमण्डलेन प्रस्थापितः पूर्वनिवासभूमिम् ।
 बभौ बलौघः शशिनोदितेन वेलामुदन्वानिव नीयमानः ॥ 27 ॥
 तस्य प्रयातस्य वरूथिनीनां पीडामपर्याप्तवतीव सोढुम् ।
 वसुंधारा विष्णुपदं द्वितीयमध्यारुरोहेव रजश्छलेन ॥ 28 ॥
 उद्यच्छमाना गमनाय पश्चात्पुरो निवेशे पथि च व्रजन्ती ।
 सा यत्र सेना ददृशे नृपस्य तत्रैव साम्रग्रयमतिं चकार ॥ 29 ॥
 तस्य द्विपानां मदवारिसेकात्खुराभिघाताच्च तुरंगमाणाम् ।
 रेणुः प्रपेदे पथि पङ्कभावं पङ्कोऽपि रेणुत्वमियाय नेतुः ॥ 30 ॥
 मार्गेषिणी सा कटकान्तरेषु वैन्ध्येषु सेना बहुधा विभिन्ना ।
 चकार रेवेव महाविरावा बद्धप्रतिश्रुन्ति गुहामुखानि ॥ 31 ॥
 स धातुभेदारुणयाननेभिः प्रभुः प्रयाणध्वनिमिश्रतूर्यः ।
 व्यलङ्घयद्विन्ध्यमुपायनानि पश्यन्पुलिन्दैरुपपादितानि ॥ 32 ॥
 तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात्प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम् ।
 अयत्नवालव्यजनीव भूबुर्हसा नभोलङ्घनलोपपक्षाः ॥ 33 ॥

शुभ मुहूर्त में अयोध्या के लिए प्रस्थान कर दिया ॥ 25 ॥ यात्रा के समय चलती हुई कुश की सेना चलती-फिरती राजधानी के ही समान लगती थी, क्योंकि उसका ध्वजाओं वाला भाग लता वाले उपवनों जैसा लग रहा था, बड़े-बड़े हाथी बनावटी पर्वतों जैसे जान पड़ते थे और रथ ऊँची-ऊँची अटारियों जैसे लग रहे थे ॥ 26 ॥ जैसे चन्द्रमा उदित होकर समुद्र को तट तक खींच लाता है, वैसे ही श्वेत छत्रधारी कुश भी अपनी सेना को रघुकुल की पुरानी राजधानी अयोध्या की ओर लिवा ले चले ॥ 27 ॥ चलते समय कुश की सेना का भार पृथ्वी सँभाल नहीं सकी, इसीलिये उड़ती हुई धूल ऐसी जान पड़ रही थी मानो पृथ्वी विष्णु के दूसरे पद (आकाश) में जा पहुँची हो ॥ 28 ॥ कुशावती से चलती हुई या आगे के पड़ाव पर पहुँची हुई या मार्ग में चलने वाली जितनी भी कुश की सेना की टुकड़ियाँ थीं, वे सबकी सब पूरी सेना ही प्रतीत होती थीं ॥ 29 ॥ कुश के हाथियों के मदजल से मार्ग की धूल कीचड़ बन गई और कीचड़ भी घोड़ों की टापों से धूल बन गई ॥ 30 ॥ मार्ग भूल जाने के कारण वह सेना विन्ध्याचल के आस-पास मार्ग ढूँढ़ने लगी और कई भागों में बँट गई। उस सेना ने नर्मदा के समान जो गम्भीर गर्जन किया, उससे पर्वत की गुफाएँ भी गूँज उठीं ॥ 31 ॥ गेरू आदि धातुओं से जिसके रथ के पहिए लाल हो गए थे और जिसकी चलती हुई सेना के शब्द से तुरही के शब्द भी दब गए थे, वह कुश, विन्ध्याचलवासी किरातों के हाथ से पाई हुई भेंट की सामग्रियाँ देखते हुए आगे बढ़ चले ॥ 32 ॥ वहाँ पास ही उलटी पश्चिम की ओर बहने वाली गङ्गा पर हाथियों का पुल बनाकर जब वे पार उतरने लगे, तब आकाश में जो चंचल पंखों वाले हंस उड़ते थे, वे कुश पर डूबते हुए चँवर के समान लग रहे थे ॥ 33 ॥ कुश ने नावों के चलने से चंचल जल वाली गङ्गा को जा प्रणाम किया, क्योंकि कपिल के कोप

स पूर्वजानां कपिलेन रोषाद्भस्मावशेषीकृत विग्रहाणाम् ।
 सुराऽल्यप्राप्तिनिमित्तमम्मस्त्रैस्त्रोतसं नौ लुलितं ववन्दे ॥ 34 ॥
 इत्यध्वनः कैश्चिदहोभिरन्ते कूलं समासाद्य कुशः सरय्वाः ।
 वेदिप्रतिष्ठां न्वितसाध्वराणां यूपानपश्यच्छतशो रघूणाम् ॥ 35 ॥
 आधूयशाखाः कुसुमदुमाणां स्पृष्ट्वा च शीतान्सरयूतरङ्गान् ।
 तं क्लान्तसैन्यं कुलराजधान्याः प्रत्युज्जगामोपवनान्तवायुः ॥ 36 ॥
 अधोपशल्ये रिपुभग्नशल्यस्तस्याः पुरः पौरसखः स राजा ।
 कुलध्वजस्तानि चलध्वजानि निवेशयामास बली बलानि ॥ 37 ॥
 तां शिल्पिसंधाः प्रभुणा नियुक्तास्तथागतां संभृतसाधनत्वात् ।
 पुरं नवीचक्रुरपां विसर्गान्मेघा निदाघग्लपितामिवोर्वीम् ॥ 38 ॥
 ततः सपर्या सपशूपहारां पुरः परार्ध्यप्रतिमागृहायाः ।
 उपोषितैर्वास्तुविधानविद्भिर्निर्वर्तयामास रघुप्रवीरः ॥ 39 ॥
 तस्याः स राजोपपदं निशान्तं कामीव कान्ताहृदयं प्रविश्य ।
 यथार्हमन्यैरनुजीविलोकं संभावयामास यथाप्रधानम् ॥ 40 ॥
 सा मन्दुरासंश्रयिभिस्तुरंगैः शालाविधिस्तम्भगतैश्च नागैः ।
 पूरावभासे विपणिस्थपण्या सर्वाङ्गनद्धाभरणेव नारी ॥ 41 ॥
 वसन्त तस्यां वसतौ रघूणां पुराणशोभामधिरोपितायाम् ।
 न मैथिलेयः स्पृहयांबभूव भर्त्रे दिवो नाप्यलकेश्वराय ॥ 42 ॥

से जले हुए उनके पूर्वज सगर के पुत्र उसी के जल की कृपा से तो स्वर्ग पहुँचे थे ॥ 34 ॥ इस प्रकार मार्ग में कुछ दिन बिताकर कुश भी सरयू के किनारे आ पहुँचे, जहाँ पहुँचने पर उन्हें बड़े-बड़े यज्ञ करने वाले रघुवंशी राजाओं के गाड़े हुए सैकड़ों यज्ञ के खम्भे दिखाई दिए ॥ 35 ॥ अयोध्या के उपवनों में फूले हुए वृक्षों की डालियों को हिलाता हुआ तथा सरयू के शीतल जल के स्पर्श से ठण्डे वायु ने आगे बढ़कर थकी हुई सेना का बड़ा स्वागत किया ॥ 36 ॥ शत्रुविनाशक, प्रजा-हितौषी राजा ने फहराती हुई ध्वजा वाली अपनी सेना को नगर के आस-पास के स्थानों में ला ठहराया ॥ 37 ॥ जैसे इन्द्र की आज्ञा से बादल जल बरसाकर गरमी से तपी हुई पृथ्वी को हरा-भरा कर देते हैं, वैसे ही कुश की आज्ञा से कारीगरों ने अपने मन्त्रों की सहायता से अयोध्या का कायापलट कर दिया ॥ 38 ॥ फिर व्रत और उपवास करने वाले वास्तु-विद्या के पण्डितों से रघुवीर कुश ने अनमोल मूर्तियों से भरे घरों वाली अयोध्या का विधिपूर्वक पूजन कराया और पशुओं का बलिदान भी कराया ॥ 39 ॥ जैसे कामी पुरुष स्त्री के हृदय में पैठ जाता है, वैसे ही कुश भी अयोध्या के राजभवन में जा प्रविष्ट हुए और उन्होंने अपने मन्त्रियों आदि के रहने के लिये दूसरे बहुत से भवन दे दिए ॥ 40 ॥ अयोध्या की हाटों में सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ बिकने को ला सजाई गईं, घुड़साल में घोड़े मँगा बाँधे गए, हथसारों के खंभों से हाथी ला बाँधे गए। इस प्रकार वह नगरी ऐसी सुन्दर लगने लगी जैसे गहनों से सजी-धजी कोई स्त्री हो ॥ 41 ॥ अयोध्या फिर पहले-जैसी सुन्दर लगने लगी। उसमें निवास करके जानकी के पुत्र कुश को ऐसा सुख मिला कि न तो उन्हें सुन्दर-सुन्दर अप्सराओं से भरे स्वर्ग के स्वामी बनने की इच्छा रह गई और न असंख्य रत्नों वाली अलकापुरी को ही लेने की ॥ 42 ॥ इतने में ग्रीष्म ऋतु आ गई, जिसने मानो इन्हें अपनी उस प्रिया

अधास्य रत्नग्रथितोत्तरीयमेकान्तपाण्डुस्तनलम्बिहारम् ।
 निःश्वासहार्यांशुकमाजगाम धर्मः प्रियावैवमिवोपदेष्टुम् ॥ 43 ॥
 अगस्त्यचिन्हादयनात्समीपं दिगुत्तरा भास्वति संनिवृत्ते ।।
 आनन्दशीतामिव बाष्पवृष्टिं हिमस्त्रुतिं हैमवतीं ससर्ज ॥ 44 ॥
 प्रवृद्धतापो दिवसोऽतिमात्रमत्यर्थमेव क्षणदा च तन्वी ।
 उभौविरोधक्रियया विभिन्नौ जायापती सानुशयाविवास्ताम् ॥ 45 ॥
 दिने दिने शैवलवन्त्यधस्तात्सोपानपर्वाणि विमुञ्चदम्भः ।
 उद्वण्डपद्मं गृहदीर्घिकाणां नारीनितम्बद्वयसं बभूव ॥ 46 ॥
 वनेषु सायंतनमल्लिकानां बिजृम्भणोद्गन्धिषु कुड्मलेषु ।
 प्रत्येकनिक्षिप्तपदःसशब्दै संख्यामिवैषां भ्रमरश्चकार ॥ 47 ॥
 स्वेदानुविद्धार्द्रनखाक्षताङ्गे भूयिष्ठसंदष्टशिखं कपोले ।
 च्युतं न कर्णादपि कामिनीनां शिरीषपुष्पं सहसा पपात ॥ 48 ॥
 यन्त्रप्रवाहैः शिशिरैः परीतान् रसेन धौतान्मलयोद्भवस्य ।
 शिलाविशेषानधिशय्य निन्युर्वागृहेष्वातपमृद्धिमन्तः ॥ 49 ॥
 स्नानार्द्रमुक्तेष्वनुधूपवासं विन्यस्तसायंतनमल्लिकेषु ।
 कामो वसन्तात्ययमन्दवीर्यः केशेषु लेभे बलमङ्गनानाम् ॥ 50 ॥
 आपिञ्जरा बद्धरजःकणत्वान्मञ्जर्युदारा शुशुभेऽर्जुनस्य ।
 दग्ध्वापि देहं गिरिशेन रोषात्खण्डीकृता ज्येव मनोभवस्य ॥ 51 ॥

का स्मरण आ कराया हो, जिसकी ओढ़नी में रत्न लगे हों, जिनके गोरे-गोरे स्तनों पर मोतियों का हार लटका हो और जो साँस से उड़ने वाले महीन कपड़े पहने हुए हों ॥ 43 ॥ गर्मी में जो हिम गलने लगा, वह ऐसा लगता था मानो दक्षिण दिशा से सूर्य के लौट आने की प्रसन्नता में उत्तर दिशा ने ज्ञानन्द के ठंडे आँसुओं के समान पानी की ठंडी धारा हिमालय से गिरा बहाई हो ॥ 44 ॥ गर्मी के कारण घर की वावड़ियाँ भी सेवार जगी हुई सीढ़ियों को छोड़कर पीछे हटने लगीं । (अर्थात् उनका पानी सूखने लगा), उनमें कमल की डंडियाँ दिखाई देने लगीं और पानी घटकर कुल स्त्रियों की कमर तक ही रह गया ॥ 46 ॥ वनों में चमेली खिलकर अपनी सुगन्ध चारों ओर फैलाने लगीं और सन्ध्या को उसके एक-एक फूलपर बैठकर गुनगुनाते हुए भौरे मानों उसके फूलों की गिनती करने लग रहे हों ॥ 47 ॥ स्त्रियों के गालों पर प्रियतम के हाथों से बने नखक्षतों पर जब पसीने की बूँदें आ फैलती थीं, तब कान पर रखे हुए सिरस के फूलों का केसर उनसे आ सटता था । इसलिये जब वे फूल कान पर से सरकते भी थे तो सहसा पृथ्वी पर नहीं गिर पाते थे ॥ 48 ॥ धनी लोग गर्मी में ठंडी रहने वाली उन विशेष प्रकार की शिलाओं पर सोकर दुपहरी बिताते थे, जो चन्दन से धुली होती थीं और जिनके चारों ओर जल-धाराएँ छूटती रहती थीं ॥ 49 ॥ वसन्त बीत जाने के कारण जो कामदेव मन्द पड़ गया था, वह स्त्रियों के उन केशों में जा बसा, जो स्नान करने पर खोल दिए जाते थे और जिन्हें धूपसे सुगन्धित करके उनमें शाम को फूलने वाली चमेली के सुगन्धित फूल खोंस लिए जाते थे ॥ 50 ॥ पराग से भरी कुछ पीली-पीली अर्जुन की मञ्जरी ऐसी लगती थी मानो कामदेव का शरीर भस्म करने के पश्चात् शिव के हाथ से तोड़ी हुई कामदेव के धनुष की डोरी हो ॥ 51 ॥ मनोहर गन्धवाली आम की बौर, पुरानी मदिरा और नये पाटल

मनोज्ञगन्धां सहकारभङ्गं पुराणशीघ्रं नवपाटलं च ।
 संबन्धना कामिजनेषु दोषाः सर्वे निदाघावधिना प्रमृष्टाः ॥ 52 ॥
 जनस्य तस्मिन्समये विगाढे बभूवतुर्द्धा सविसेषकान्तौ ।
 तापापनोदक्षमपादसेवौ स चोदयस्थौ नृपतिः शशी च ॥ 53 ॥
 अधोर्मिलोलोन्मदराजहंसे रोधोलतापुष्पवहे सरय्वाः ।
 विहर्तुमिच्छा वनितासखस्य तस्याम्भसि ग्रीष्मसुखे बभूव ॥ 54 ॥
 स तीरभूमौ विहितोपकार्यामानायिभिस्तामपकृष्टनक्राम् ।
 विगाहितुं श्रीमहिमानुरूपं प्रचक्रमे चक्रधारप्रभावः ॥ 55 ॥
 सा तीरसोपानपथावतारादन्योन्यकेयूरविघट्टिनीभिः ।
 सनूपुरक्षोभपदाभिरासीदुद्विग्नहंसा सरिदङ्गनाभिः ॥ 56 ॥
 परस्परभ्युक्षणतत्पराणां तासां नृपो मज्जनरागदर्शी ।
 नौसंश्रयः पार्श्वगतां किरातीमुपात्तवालव्यजनां बभासे ॥ 57 ॥
 पश्यावरोधैः शतशो मदीयैर्विगाह्यमानो गलिताङ्गरागैः ।
 संध्योदयः साभ्य इवैष वर्णं पुष्पत्यनेकं सरयूप्रवाहः ॥ 58 ॥
 विलुप्तमन्तःपुरसुन्दरीणां यदञ्जनं नौलुलिताभिरद्भिः ।
 तद्वध्नतीभिर्मदरागशोभां विलोचनेषु प्रतिमुक्तमासाम् ॥ 59 ॥
 एता गुरुश्रोणिपयोधरत्वादात्मानमुद्रोद्धुमशक्नुवत्यः ।
 गाढाङ्गदेर्बाहुभिरप्सु बालाः क्लेशोत्तरं रागवशात्प्लवन्ते ॥ 60 ॥

के फूल लाकर ग्रीष्म ऋतुने कामी पुरुषों की सारी कमी पूरी कर दी ॥ 52 ॥ उस कठिन ग्रीष्म समय में उदित होकर दो ही तो प्रजा के बहुत प्यारे हुए एक तो सेवासे प्रसन्न होकर निर्धनता आदि सन्तापों को दूर करने वाले राजा कुश और दूसरे शीतल किरणों से गर्मी का सारा ताप दूर करने वाले चन्द्रमा ॥ 53 ॥ एक दिन कुशकी इच्छा हुई कि लहरों के लहराने से मतवाले बने हुए हंसों वाले, तट की लताओं के फूलों को बहाने वाले और गर्मी में सुख देने वाले सरयूके जलमें अपनी रानियों के साथ जा विहार करें ॥ 54 ॥ यह निश्चय करके विष्णु के समान प्रभावशाली कुश, सरयू के जल में विहार करने चल दिए । सरयू के तटपर डेरे डाल दिये गए और मल्लाहोंने जाल डालकर ग्राह आदि सब जीव-जन्तु उसमें से निकाल बाहर किए ॥ 55 ॥ जब कुश की रानियाँ सीढ़ियों से पानी में उतरने लगीं, उस समय उनके भुजबन्द एक दूसरे से रगड़ खाने लगे, पैर के बिछुए बजने लगे और इन शब्दों को सुन-सुनकर सरयूके सारे हंस मचल उठे ॥ 56 ॥ जल क्रीड़ा के समय रानियाँ एक दूसरे पर जल के छींटे उड़ाने लगीं । उन रानियों के स्नान की शोभा देख-देखकर नावपर बैठे हुए राजा अपने पास चँवर लेकर खड़ी हुई किरातित से कहने लगे- ॥ 57 ॥ 'देखो तो! मेरे रनिवास की सैकड़ों रानियों के स्नान करने से और उनके शरीर से धुले हुए अंगराग मिल जाने से सरयू की धारा ऐसी रंग-बिरंगी लगने लगी है जैसे बादलों से भरी सन्ध्या हो ॥ 58 ॥ नावों के चलने से जल में जो लहरें उठ रही हैं, उन्होंने इन सुन्दरियों की आँखों का आँजन धो डाला है और उसके बदले में मदपान के समय की लाली इनकी आँखों में ला भरी है ॥ 59 ॥ भारी नितम्बों और स्तनों के कारण ये रानियाँ भली-भाँति तो तैर नहीं पातीं फिर भी खेलमें सम्मिलित होने के कारण ये अपने मोटे-मोटे भुजबन्दों वाली बाँहों से जल में जैसे-तैसे तैर ही रही हैं ॥ 60 ॥ इन

अमी शिरीषप्रसवावतंसाः प्रभ्रंशिनी हारिविहारिणीनाम् ।
 पारिप्लवाःत्रोतसि निम्नगायाः शैवाललोलांश्छलयन्ति मीनान् ॥ 61 ॥
 आसां जलास्फालनतत्पराणां मुक्ताफलस्पर्दिषु शीकरेषु ।
 पयोधरीत्सर्पिषु शीर्यमाणः संलक्ष्यते न च्छिदुरोऽपि हारः ॥ 62 ॥
 आवर्तशोभा नतनाभिकान्तेर्मङ्गोभ्रुवां द्वन्द्वचराः स्तनानाम् ।
 जातानि रूपावजवोपमानान्यदूरवर्तीनि विलासिनीनाम् ॥ 63 ॥
 तीरस्थलीबर्हिभिरुत्कलापैः प्रस्निग्धकैरभिनन्द्यमानम् ।
 श्रोत्रेषु संमूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदङ्गवाद्यम् ॥ 64 ॥
 सन्दष्टवस्त्रेष्वबलानितम्बेष्विन्दुप्रकाशान्तरितोऽदुतुल्याः ।
 अमी जलापूरितसूत्रमार्गा मौनं भजन्ते रशनाकलापाः ॥ 65 ॥
 एता करोत्पीडितवारिधारा दर्पात्सखीभिर्वदनेषु सिक्ताः ।
 वक्तुं केराग्रैरलकैस्तरुण्यश्चूर्णारुणान्वारिलवान्वमन्ति ॥ 66 ॥
 उद्वन्धाकेशश्च्युतपत्रलेखो विश्लेषिमुक्ताफलपत्रवेष्टः ।
 मनोज्ञ एव प्रमदामुखानामम्भोविहाराकुलितोऽपि वेषः ॥ 67 ॥
 स नौविमानादवतीर्य रेमे विलोहारः सह ताभिरप्सु ।
 स्कन्धावलग्नोद्धृतपद्मिनीकः करेणुभिर्वन्य इव द्विपेन्द्रः ॥ 68 ॥

जल-क्रीडा करने वाली रानियों के कानों से जो सिरस के कर्णफूल खिसक कर नदी में गिरकर तैर रहे हैं, उन्हें सेवार समझकर मछलियाँ उनपर मुँह मारने को झपट रही हैं ॥ 61 ॥ देखो, जल-क्रीडा में लगी हुई इन रानियों को यह तक भी सुध नहीं है कि हमारे हार टूट गए हैं और मोती बिखर गए हैं। मोतियों के समान बूंदों को ही मोती मान मानकर ये समझ बैठी हैं कि हार टूटा नहीं है ॥ 62 ॥ देखो, सुन्दरी स्त्रियों के शरीर के अंगों के समान जो वस्तुएँ संसार में प्रसिद्ध हैं, वे सब इन सुन्दरियों के आस-पास आ जुटी हैं। पानी की भँवरे इनकी गहरी नाभि के समान हैं, लहरें इनकी भौंहों के समान हैं और चकवा-चकवी इनके स्तनों के समान हैं ॥ 63 ॥ ये गा-गाकर जो मृदंग बजाने के समान थपकी दे-देकर जल ठोंक रही हैं, उसे सुनकर बैठे हुए मोर अपनी पूँछ उठा उठाकर और बोल बोलकर उनका अभिनन्दन कर रहे हैं ॥ 64 ॥ इन रानियों ने अपने नितम्बों पर जो श्वेत वस्त्र लपेट रखे हैं उनके नीचे तगड़ी के घुँघरू ऐसे दिखाई देते हैं जैसे चाँदनी से ढके हुए तारे हों। तगड़ी के डोरों में जल भर जाने से इन स्त्रियों के इधर से उधर दौड़ने पर भी ये घुँघरू बज नहीं पा रहे हैं ॥ 65 ॥ जब इनकी सखियाँ इनके मुँहपर पानी मारती हैं और ये अहंकार से अपनी सखियों पर पानी उछालती हैं, तब इनके सीधे लटके हुए बालों से कुंकुम मिली हुई लाल रंगकी बूँदें चूने लगती हैं ॥ 66 ॥ यद्यपि स्नान के कारण बाल खुल जाने से, मुँह पर और स्तनों पर बनी हुई चित्रकारी के धुल जाने से, तथा मोतियों के कर्णफूल कानसे निकल जाने से इन स्त्रियों का वेश बड़ा बेढंगा हो गया है, फिर भी देखो ये कितनी मनोहर लग रही हैं ॥ 67 ॥ यह कहकर कुश भी पानी में उतर पड़े और जैसे कमलिनियों को उखाड़कर कन्धे पर लटकाकर हाथी अपनी हथिनियों के साथ जल-क्रीडा करने लगता है वैसे ही वे भी उन स्त्रियों के साथ जल-बिहार करने लगे ॥ 68 ॥ उस कान्तिमान् राजा के साथ क्रीडा करती हुई वे रानियाँ पहले से भी अधिक सुन्दर लगने लगीं, क्योंकि मोती एक तो यों ही सुन्दर होता है और फिर यदि वह इन्द्र नीलमणि

ततो नृपेणानुगताः स्त्रियस्ता भ्राजिष्णुना सातिशयं विरेणुः ।
 प्रागेव मुक्ता नयनाभिरामाः प्राप्येन्द्रनीलं किमुतोन्मयूखम् ॥ 69 ॥
 वर्णोदकैः काञ्चनशृङ्गमुक्तैस्तमायताक्ष्यः प्रणयादसिञ्चन् ।
 तथागतः सोऽतितरां बभासे सधातुनिष्यन्द इवाद्विराजः ॥ 70 ॥
 तेनावरोधाप्रमदासखेन विगाहमानेह सरिद्धरां ताम् ।
 आकाशगङ्गारतिरप्सररोभिर्वृतो मरुत्वाननुयातलीलः ॥ 71 ॥
 यत्कुम्भयोनेरधिगम्य रामः कुशाय राज्येन समं दिदेश ।
 तदस्य जैत्राभरणं विहर्तुरज्ञातपातं सलिले ममज्ज ॥ 72 ॥
 स्नात्वा यथाकाममसौ सदारस्तीरोपकार्या गतमात्र एव ।।
 दिव्येन शून्यं वलयेन बाहुमपोढनेपथ्यविधिर्ददर्श ॥ 73 ॥
 जयश्रियः संबननं यतस्तदामुक्तपूर्वं गुरुणा च यस्मात् ।
 सेहेऽस्य न भ्रंशमतो न लोभात्स तुल्यपुष्पाभरणो हि धीरः ॥ 74 ॥
 ततः समाज्ञापयदाशु सर्वानानायिनस्तद्विचये नदीष्णान् ।
 वन्ध्यश्रमास्ते सरयू विगाह्य तमूचुरम्लानमुखाप्रसादाः ॥ 75 ॥
 कृतः प्रयत्नो न च देव लब्धं मग्नं पयस्याभरणोत्तमं ते ।
 नागेन लोल्यात्कुमुदेन नूनमुपात्तमन्तर्हदवासिना तत् ॥ 76 ॥
 ततः स कृत्वा धनुराततज्यं धनुर्धरः कोपविलोहिताक्षः ।
 गारुत्मतं तीरगतस्तरस्वी भुजंगनाशाय समाददेऽस्त्रम् ॥ 77 ॥

के साथ गूँथ दिया जाय तब तो कहना ही क्या ॥ 69 ॥ वे स्त्रियाँ जब सोने की पिचकारियों से रंग छोड़-छोड़कर उन्हें भिगोने लगीं तब वे ऐसे बजने लगे जैसे पर्वतराज हिमालय पर से गेरू का झरना झर रहा हो ॥ 70 ॥ स्त्रियों के साथ सरयू में जल-क्रीड़ा करते समय कुश ऐसे लगते थे, मानों देवराज इन्द्र अप्सराओं के साथ आकाशगङ्गा में जलक्रीड़ा कर रहे हों ॥ 71 ॥ राम को अगस्त्य ऋषि ने जो जैत्र (सदा जिताने वाला) आभूषण दिया था और जो रामने राज्य के साथ ही कुश को दे दिया था, वह जल-क्रीड़ा करते समय पानी में गिर पड़ा और किसी को इसका भान भी नहीं हुआ ॥ 72 ॥ रानियों के साथ इच्छानुसार जल-क्रीड़ा करके जब कुश बाहर निकले और डेरे में गए तब कपड़े बदलने के पहले ही उन्होंने देखा कि भुजा पर वह दिव्य आभूषण नहीं हैं ॥ 73 ॥ बुद्धिमान् राजा कुश, फूल और आभूषण दोनों को बराबर समझते थे। अतः उन्हें उस आभूषण खोने का इसलिये दुःख नहीं था कि वह बहुमूल्य था, वरन् इसलिये दुःख हुआ कि वह आभूषण विजय-लक्ष्मी प्राप्त कराने वाला था और पिता का चिन्ह था ॥ 74 ॥ तब उन्होंने सब धीवरों को यह आज्ञा दी कि आभूषण ढूँढ़ निकालें। बहुत देर तक उन लोगों ने पानी घँघोरा पर उनका सब परिश्रम व्यर्थ गया। वे कुश के पास आकर बोले- ॥ 75 ॥ देव ! बहुत परिश्रम करने पर भी हम लोग जल में पड़ा हुआ आपका आभूषण नहीं पा सके। जान पड़ता है इस जल में रहने वाले कुमुद नाम के नाग ने लोभ से उसे चुरा लिया है ॥ 76 ॥ यह सुनते ही कुशकी आँखें क्रोध से लाल हो उठीं और वहीं तटपर खड़े होकर उन्होंने धनुष ठीक करके उन पर नागों का नाश करने वाला गारुडास्त्र उठा चढ़ाया ॥ 77 ॥ उनके धनुष चढ़ाते ही वहाँ का जल, खलबलाता हुआ अपने तरंग-रूपी हाथ जोड़े हुए, तट को तोड़ता हुआ ऐसे गरज उठा जैसे गड़ढे में पड़ा हुआ कोई हाथी चिंगाड़

तस्मिन्हृदः संहितमात्र एव क्षोभात्समाविद्धतरङ्गहस्तः ।
 रोधांसि निघ्नन्नवपातमग्नः करीव वन्यः परुषं ररास ॥ 78 ॥
 तस्मात्समुद्रादिव मथ्यमानादुद्धत्तमक्रात्सहसोन्ममज्ज ।
 लक्ष्म्येव सार्धं सुरराजवृक्षः कन्यां पुरस्कृत्य भुजंगराजः ॥ 79 ॥
 विभूषणप्रत्युपहारहस्तमुपस्थितं वीक्ष्य विशांपतिस्तम् ।
 सौपर्णमस्त्रं प्रतिसंजहार प्रद्वेष्वनिर्बन्धरुणो हि सन्तः ॥ 80 ॥
 त्रैलोक्यनाथप्रभवं प्रभावात्कुशं द्विषामङ्कुशमस्त्रविद्वान् ।
 मानोन्नतेनाप्यभिवन्द्य मूर्ध्ना मूर्धाभिषिक्तं कुमुदो बभाषे ॥ 81 ॥
 अवैमि कार्यान्तरमानुषस्य विष्णोः सुताख्यामपरां तनुं त्वाम् ।
 सोऽहं कथं नाम तवाचरेयमाराधनीयस्य धृतेर्विघातम् ॥ 82 ॥
 कराभिघातोत्थितकन्दुकेयमालोक्य बालातिकृतूहलेन ।
 तदापतज्जयोतिरिवान्तरिक्षादादत्त जैत्राभरणं त्वदीयम् ॥ 83 ॥
 तदेतदाजानुविलम्बिना ते ज्याघातरेखाकिणलाञ्छनेन ।
 भुजेन रक्षापरिधेण भूमेरुपैतु योगं पुनरंसलेन ॥ 84 ॥
 इमां स्वसारं च यवीयसीं मे कुमुदतीं नार्हसि नानुमन्तुम् ।
 आत्मापराधं नुदतीं चिराय शुश्रूषया पार्थिव पादयोस्ते ॥ 85 ॥

रहा हो ॥ 78 ॥ उस जलको समुद्र के समान मथा जाता देखकर घड़ियाल आदि जीव घबरा उठे। इतने में ही उस जल में से अचानक एक कन्या को आगे किए हुए नागराज कुमुद इस प्रकार उठ निकले मानों लक्ष्मी को साथ लेकर साक्षात् कल्पवृक्ष निकल आया हो ॥ 79 ॥ कुशने देखा कि कुमुद के हाथ में वही आभूषण है, इसलिये उन्होंने धनुष पर से गारुडास्त्र उतार लिया, क्योंकि सज्जन लोग उनपर कभी क्रोध नहीं करते, जो नम्र होकर उनके आगे चले आते हैं ॥ 80 ॥ त्रिलोकीनाथ राम के पुत्र तथा शत्रुओं को अंकुश के समान दुःख देने वाले राजा कुश के आगे मान से उठा हुआ अपना सिर नवाकर कुमुद ने प्रणाम किया क्योंकि वह कुश के वाण की शक्ति भली-भाँति जानता था। प्रणाम करके वह बोला- ॥ 81 ॥ 'मैं जानता हूँ कि आप राक्षसों का नाश करने के लिये मनुष्य का शरीर धारण करने वाले विष्णु के ही दूसरे रूप (पुत्र) हैं, इसलिये आप पूजनीय हैं। फिर मैं भला आपसे कैसे बैर मोल ले सकता हूँ ॥ 82 ॥ यह कन्या (मेरी छोटी बहन) गेंद खेल रही थी। इसकी थपकी से गेंद जब ऊपर उछली तो उसे देखने के लिये इसने जो ऊपर आँखें उठाई तो देखा कि आकाश से गिरते हुए तारे के समान आपका आभूषण नीचे गिरा चला आ रहा है। इसने झट उसे थाम लिया ॥ 83 ॥ आप यह लीजिए और अपनी उस मोटी और घुटनों-तक लम्बी भुजा में फिर बाँध लीजिए, जिसमें धनुष की डोरी की फटकार से घड़े पड़ गए हैं और जो पृथ्वी की रक्षा करती है ॥ 84 ॥ राजन्! यह मेरी छोटी बहन कुमुदती जीवन भर आपकी सेवा करके अपना अपराध मिटाना चाहती है, इसलिये आप इसे अपनी पत्नी के रूप में ग्रहण कर लीजिए ॥ 85 ॥ यह कहकर कुमुद ने वह आभूषण कुश को दे दिया। कुश बोले- 'आज से आप

इत्यूचिवानुपहृताभरणः क्षितीशं श्लाघ्यो भवान्स्वजन इत्यनुभाषितारम् ।

संयोजयां विधिवदास समेतबन्धुः कन्यामयेन कुमुदः कुलभूषणेन ॥ 86 ॥

तस्याःस्पृष्टे मनुजपतिना साह चर्याय हस्ते, माङ्गल्योर्णावलयिनि पुरः पावकस्योच्छिखस्य ।

दिव्यस्तूर्यध्वनिरुदचरद्व्यश्नुवानोदिगन्तान्, गन्धे दग्रंतदनु ववृषुः पुष्पमाश्चर्यमेघाः ॥ 87 ॥

इत्थं नागस्त्रि भुवन गुरोरौरसं मैथिलेयं, लब्ध्वा बन्धुं तमपिचकुशः पंचमं तक्षकस्य ।

एकः शङ्कापितृवधरिपोरत्यजद्वैनतेयाच्छान्तव्यालामवनिमपरः पौरकान्तः शशास ॥ 88 ॥

॥ इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये

कुमुद्वतीपरिणयो नाम षोडशः सर्गः ॥



मेरे आदरणीय सम्बन्धी हुए' । यह सुनकर कुमुद ने अपने कुटुम्बियों को बुलाया और बड़ी धूमधाम से अपनी कन्या कुश को ब्याह दी ॥ 86 ॥ जब राजा कुशने आगे बढ़कर उस कन्या का ऊनी कंगन बँधा हुआ हाथ पकड़ा, तब तुरही आदि बाजों की ध्वनि से दिशाएँ गूँज उठीं और विचित्र प्रकार के मेघों ने आकर आकाश से सुगन्धित फूल ला बरसाए ॥ 87 ॥ इस प्रकार नागराज कुमुद ने त्रिलोकी नाथ विष्णु (राम)- के सच्चे पुत्र कुश को अपना सम्बन्धी बनाकर गरुड़ से डरना छोड़ दिया, क्योंकि अब वह उसके सम्बन्धी के पिता का वाहन मात्र था । कुश ने भी नागराज तक्षक के पाँचवें पुत्र कुमुद को सम्बन्धी बना लिया, जिससे सर्प शान्त हो गए और कुश पृथ्वी पर भली-भाँति राज करने लगे ॥ 88 ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदास के रचे हुए रघुवंश महाकाव्य में कुमुद्वती का विवाह नाम का सोलहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥



॥ सप्तदशः सर्गः ॥

अतिथिं नाम काकुत्स्थापुत्रं प्राप कुमुद्वती । पश्चिमाद्यामिनीयामात्प्रसादमिव चेतना ॥ 1 ॥
 स पितुः पितृमान्वंशं मातुश्चानुपमद्युतिः । अपुनात्सवितेवोभौ मार्गावुत्तरदक्षिणौ ॥ 2 ॥
 तमादौ कुलविद्यानामर्थमर्थविदां वरः । पश्चात्पार्थिवकन्यानां पाणिमग्राहयत्पिता ॥ 3 ॥
 जात्यस्तेनाभिजातेन शूरः शौर्यवता कुशः । अमन्यतैकमात्मानमनेकं वशिना वशी ॥ 4 ॥
 स कुलोचितमिन्द्रस्य सहायकमुपेयिवान् । जघान समरे दैत्यं दुर्जयं तेन चावधि ॥ 5 ॥
 तं स्वसा नागराजस्य कुमुदस्य कुमुद्वती । अन्वगात्कुमुदानन्दं शशांकमिव कौमुदी ॥ 6 ॥
 तयोदिवस्पतेरासीदेकः सिंहासनार्धभाक् । द्वितीयापिसखीशच्याः पारिजातांशभागिनी ॥ 7 ॥
 तदात्मसंभवं राज्ये मन्त्रिवृद्धः समादधुः । स्मरन्तः पश्चिमामाज्ञां भर्तुः संग्रामयायिनः ॥ 8 ॥
 ते तस्य कल्पयामासुरभिषेकाय शिल्पिभिः । विमानं नवमुद्वेदि चतुःस्तम्भप्रतिष्ठितम् ॥ 9 ॥
 तत्रैनं हेमकुम्भेषु संभृतैस्तीर्थवारिभिः । उपतस्थु प्रकृतयो भद्रपीठोपवेशितम् ॥ 10 ॥
 नदद्भिः स्निग्धगम्भीरं तूर्यैराहतपुष्करैः । अन्वमीयत कल्याणं तस्याविच्छिन्नसंततिः ॥ 11 ॥
 दूर्वायवांकुरप्लक्षत्वगभिन्नपुटोत्तरान् । ज्ञातिवृद्धैः प्रयुक्तान्स भेजे नीराजनाविधीन् ॥ 12 ॥
 पुरोहितपुरोगास्तं जिष्णुं जैत्रैरथर्वभिः । उपचक्रमिरे पूर्वभभिषेक्तुं द्विजातयः ॥ 13 ॥

सत्रहवाँ सर्ग

जैसे रात के चौथे पहर (ब्रह्म मुहुर्त), में बुद्धि को नयापन मिल जाता है वैसे ही कुश को कुमुद्वती से अतिथि नामका पुत्र प्राप्त हुआ ॥ 1 ॥ जैसे तेजस्वी सूर्य अपने प्रकाश से उत्तर और दक्षिण दोनों दिशाओं को पवित्र कर देता है, वैसे ही सुशिक्षित, अतिथि ने माता और पिता दोनों के कुलों को पवित्र कर दिया ॥ 2 ॥ पिता कुशने पहले उसे आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति ये चारों विद्याएँ सिखाई फिर राजाओं की कन्याओं से उनका विवाह करा दिया ॥ 3 ॥ अतिथि भी कुश के समान ही कुलीन शूर और जितेन्द्रिय थे, इसीलिये कुश अपने पुत्र को अपना ही दूसरा रूप समझते थे ॥ 4 ॥ अपने कुलकी चलन के अनुसार कुश भी जब एक बार युद्ध में इन्द्र की सहायता करने गए थे तब वहाँ शक्तिशाली दुर्जय नामके राक्षस को मार कर वे स्वयं भी वीरगति को प्राप्त हो गए थे ॥ 5 ॥ जैसे कुमुदों को खिलाने वाले चन्द्रमा के अस्त होने के साथ-साथ चाँदनी भी छिप जाती है, वैसे ही नागराज कुमुद की बहन कुमुद्वती भी कुश के साथ ही सती हो गई ॥ 6 ॥ कुश को तो इन्द्र के सिंहासन का आधा भाग मिला और कुमुद्वती जाकर इन्द्राणी के साथ पारिजात में आधा भाग ले बैठी ॥ 7 ॥ लड़ाई में जाते समय कुश ने जो आज्ञा दी थी, उसके अनुसार मन्त्रियों ने उनके पुत्र अतिथि को राजा बना दिया ॥ 8 ॥ मन्त्रियों ने उसके अभिषेक के लिये कारीगरों से चार खंभों का नया मंडप बनवाया ॥ 9 ॥ प्रजाने भद्र पीठ पर बैठे हुए राजा अतिथि को सोने के घड़ों में भरे हुए तीर्थों के जल से नहला दिया ॥ 10 ॥ थाप पड़ने पर मृदंग आदि बाजों से जो मीठा और गम्भीर शब्द निकल रहा था, वह सूचना दे रहा था कि राजा अतिथि का सदा कल्याण होगा ॥ 11 ॥ दूब जौके अंकुर, पाकड़ की छाल और महुए के फूल दोनों में रखकर कुल के बूढ़ों ने जो आरती की, उसे राजा अतिथि ने बड़े आदर से स्वीकार किया ॥ 12 ॥ तब पुरोहित को आगे करके ब्राह्मण आए जिन्होंने विजयी राजा को अथर्व वेद के उन मंत्रों को पढ़कर नहलाना प्रारम्भ किया जिनसे विजय प्राप्त होती है ॥ 13 ॥ उनके सिर पर गिरती हुई अभिषेक के जल की धारा ऐसी

तस्यौघमहती मूर्ध्नि निपतन्ती व्यरोचत । सशब्दमभिषेककश्रीर्गङ्गेव त्रिपुरद्विषः ॥ 14 ॥
 स्तूयमानः क्षणे तस्मिन्नलक्ष्यत स बन्दिभिः । प्रवृद्ध इव पर्जन्यः सारङ्गैरभिनन्दितः ॥ 15 ॥
 तस्य सन्मन्त्रपूताभिः स्नानमद्भिः प्रतीच्छतः । ववृधेवैद्युतस्याग्नेर्वृष्टिसेकादिवद्युतिः ॥ 16 ॥
 स तावदभिषेकान्ते स्नातकेभ्यो ददौ वसु । यावतैषां समाप्येरन्यज्ञः पर्याप्तदक्षिणाः ॥ 17 ॥
 ते प्रीतमनसस्तस्मै यामाशिषमुदैरयन् । सा तस्य कर्मनिर्वृत्तैर्दूरं पश्चात्कृता फलैः ॥ 18 ॥
 बन्धच्छेदं स बद्धानांबधार्हणामवध्यताम् । धुर्याणांचधुरोमोक्षमदोहंचादिशद्गवाम् ॥ 19 ॥
 क्रीडापतत्रिणोऽप्यस्यपञ्जरस्थाः शुकादयः । लब्धमोक्षास्तदादेशाद्यष्टगतयोऽभवन् ॥ 20 ॥
 ततः कक्ष्यान्तरन्यस्तं गजदन्तासनं शुचिः सोत्तरच्छदमध्यास्त नेपथ्यग्रहणाय सः ॥ 21 ॥
 तं धूपाश्यानकेशान्तं तोयनिर्णिक्तपाणयः । आकल्पसाधनैस्तैस्तैरुपसेदुः प्रसाधकाः ॥ 22 ॥
 तेऽस्य मुक्तागुणोन्नद्धं मौलिमन्तर्गतस्त्रजम् । प्रत्यूषः पद्मरागेण प्रभामण्डलशोभिना ॥ 23 ॥
 चन्दनेनाङ्गरागं च मृगनाभिसुगन्धिना । समापय्य ततश्चक्रुः पत्रं विन्यस्तरोचनम् ॥ 24 ॥
 आमुक्ताभरणः स्त्रग्वी हंसचिन्हदुकूलवान् । आसीदतिशयप्रेक्ष्यः स राज्यश्रीवधूवरः ॥ 25 ॥
 नेपथ्यदर्शिर्नशङ्काया तस्यादर्शं हिरण्मये । विरराजोदिते सूर्य मेरौ कल्पतरोरिव ॥ 26 ॥
 स राजाककुदव्यग्रपाणिभिः पार्श्ववर्तिभिः । ययावुदीरितालोकः मुधर्मानवमां सभाम् ॥ 27 ॥

सुन्दर लगती थी मानों शिव के ही सिर पर गङ्गा की धारा ऊपर से गिर रही हो ॥ 14 ॥ उस समय भाट और चारण जब उनका विरद बखानने लगे तब ऐसा लगता था मानो बहुत से चातक मिलकर बादल के गुण गा रहे हों ॥ 15 ॥ मन्त्रों से पवित्र हुए जल से स्नान करते समय उनके शरीर का तेज वैसे ही बढ़ गया जैसे वर्षा के जल से बिजली की चमक बढ़ जाती है ॥ 16 ॥ अभिषेक के पश्चात् उन्होंने यज्ञ कराने वाले ब्राह्मणों को इतना धन दिया कि उस धन से वे स्वयं गहरी दक्षिणा दे-देकर अपना एक-एक यज्ञ कर सकते थे ॥ 17 ॥ ब्राह्मणों ने प्रसन्न होकर उन्हें जो आशीर्वाद दिया उस आशीर्वाद को फलीभूत होने के लिये बहुत दिन देखने पड़े, क्योंकि आशीर्वाद के समय तो राजा अतिथि अपने पूर्व जन्म के सत्कर्मों का ही फल भोग रहे थे, (आशीर्वाद का फल तो उस फल के समाप्त होने पर प्रारम्भ होने वाला था) ॥ 18 ॥ राज्याभिषेक की प्रसन्नता में अतिथि ने आज्ञा दी कि बन्धियों को छोड़ दिया जाय, मृत्यु-दण्ड पाए हुए मारे न जायें, बोज़ ढोने वाले पशुओं के कन्धों पर से जुए उतार लिए जायें और गौओं का दूध बछड़ों को पीने के लिये छोड़ दिया जाय ॥ 19 ॥ उनकी आज्ञा से पिजड़े के सुगो आदि पक्षी भी छोड़ उड़ा दिए गए, जो अपने मन से इधर-उधर उड़-उड़ कर घूमने लगे ॥ 20 ॥ तब वे अपना राजसी सिंगार कराने के लिये हाथी-दाँत के बने उस सिंहासनपर जा बैठे, जो राज-भवन में एक ओर रखा हुआ था और जिसपर बिछावन बिछा हुआ था ॥ 21 ॥ सिंगारियों ने स्वच्छ हाथों से धूप से सुगन्धित कैश वाले राजा अतिथि को सब प्रकार से सजा-सँवारा ॥ 22 ॥ फूल और मोतियों की मालाओं से गुँथे हुए राजा के सिरपर उन्होंने वह पद्मराग लाल मणि ला बाँधा, जिसकी सुन्दर चमक चारों ओर जा फैली ॥ 23 ॥ तब उन्होंने कस्तूरी में बसे हुए चन्दन का अंगराग लगा कर गोरोचन से राजा का मुँह चीता ॥ 24 ॥ आभूषण और माला पहने हुए, हंस की छाप का दुपट्टा ओढ़े हुए राजा अतिथि उस समय ऐसे सुन्दर दिखाई दे रहे थे मानो राजलक्ष्मी-रूपी बहू के दूल्हे बने हुए हों ॥ 25 ॥ सोने के चौखटे वाले दर्पण में जब वे अपनी सजावट देखने लगे उस समय उनका प्रतिबिम्ब ऐसा लग रहा था मानों सूर्योदय के समय सुमेरु पर्वत पर कल्पवृक्ष का प्रतिबिम्ब पड़ रहा हो ॥ 26 ॥ तब वे अपनी उस सभा की ओर चले, जो किसी भी प्रकार देवताओं की सुधर्मा सभा से कम नहीं थी। उस समय उनके पीछे-पीछे बहुत से सेवक हाथ से चँवर डुलाते और जय-जयकार करते चल रहे थे ॥ 27 ॥ वहाँ चँदोवा

वितानसहितं तत्र भेजे पैतृकमासनम् । चूड़ामणिभिरुद्धष्टपादपीठं महीक्षिताम् ॥ 28 ॥
 शुशुभे तेन चाक्रान्तं मङ्गलायतनं महत् । श्रीवत्सलक्षणं वक्षः कौस्तुभेनैव कैशवम् ॥ 29 ॥
 बभौ भूयः कुमारत्वादाधिराज्यमवाप्य सः । रेखाभावादुपाख्यः सामग्यमिव चन्द्रमाः ॥ 30 ॥
 प्रसन्नमुखरागं तं स्मितपूर्वाभिभाषिणम् । मूर्तिमन्तममन्यन्त विश्वासमनुजीविनः ॥ 31 ॥
 स पुरं पुरुहूतश्रीः कल्पहुमनिभध्यजाम् । ऋममाणश्चकार द्यां नागेनैरावतौघसा ॥ 32 ॥
 तस्येकस्योच्छितं छत्रं मूध्नि तेनामलत्विषा । पूर्वराजवियोगौष्यंकृत्स्नस्य जगतो हृतम् ॥ 33 ॥
 धूमादग्नेः शिखाः पश्चादुदयादंशवोरवेः सोऽतीत्य तेजसांवृत्तिं सममेवोत्थितोगुणैः ॥ 34 ॥
 तं प्रीतिविशदैर्नेत्रैरन्वयुः पौरयोषितः । शरत्प्रसन्नैर्ज्योतिभिर्विभावय इव ध्रुवम् ॥ 35 ॥
 अयोध्यादेवताश्चैनं प्रशस्तायतनार्चिताः । अनुदध्युरनुध्येयं सानिध्यैः प्रतिमागतैः ॥ 36 ॥
 यावन्नाश्यायते वेदिरभिषेकजलाप्लुता । तावदेवास्य वेलान्तं प्रतापः प्राप दुःसहः ॥ 37 ॥
 वसिष्ठस्यगुरोर्मन्त्राः सायकास्तस्य धन्विनः । किं तत्साध्यं यदुभये सांघयेयुर्न संगताः ॥ 38 ॥
 स धर्मस्थसखः शश्वदर्थिप्रत्यर्थिनां स्वयम् । ददर्श संशयच्छेद्यान्व्यवहारानतन्द्रितः ॥ 39 ॥
 ततः परमभिव्यक्तसौमनस्यनिवेदितैः । युयोज पाकाभिमुखैर्भृत्यान्विज्ञापनाफलैः ॥ 40 ॥

तने हुए अपने पूर्व पुरुषों के सिंहासन पर वे जब जाकर बैठे, तब उनके पैर के नीचे रक्खा हुआ पीड़ा प्रणाम करने वाले राजाओं के सिर की मणियों की रगड़ से पूरा घिस गया ॥ 28 ॥ जैसे भृगु के चरण की चोट से बने हुए श्रीवत्स के चिन्ह वाला विष्णु का वक्षःस्थल कौस्तुभ मणि से चमक उठा था वैसे ही राजा अतिथि के वहाँ आ बैठने से वह सभा-भवन भी जगमगा उठा ॥ 29 ॥ राजा अतिथि को युवराज बनने का अवसर ही नहीं आया, क्योंकि वे कुमार अवस्था के पश्चात् तुरन्त ही इस प्रकार महाराज हो गये मानो एक कलावाले चन्द्रमा में तुरन्त सोलहों कलाएँ आ भरी हों ॥ 30 ॥ उनका मुख सदा प्रसन्न रहता था और वे सबसे हँसकर बोलते थे, इसलिये उनके सेवक उन्हें साक्षात् विश्वास के समान मानते थे ॥ 31 ॥ इन्द्र के समान ऐश्वर्यशाली राजा अतिथि जब ऐरावत के समान बलवान् हाथी पर चढ़कर अयोध्या में घूमने निकले, तब कल्पवृक्ष के समान ध्वजाओं वाली अयोध्या नगरी स्वर्ग के समान लगने लगी ॥ 32 ॥ यद्यपि राज-छत्र केवल अतिथि के सिर पर ही लगा हुआ था, पर उस श्वेत रंग के छत्र ने सारे संसार के उस ताप को मिटा डाला, जो कुश के वियोगसे उत्पन्न हो गया था ॥ 33 ॥ आग की लपटें भी धुआँ निकलने के पीछे ही उठती हैं और किरणें भी सूर्य के उदय होने के पीछे ही दिखाई देती हैं, पर अतिथि ने इन तेजस्वियों के सारे नियम भी उलट दिये, क्योंकि उनके गुण उनके राजा बनने के साथ ही प्रकट हो गए ॥ 34 ॥ जैसे शरद् ऋतु की निर्मल रातों के तारे ध्रुव के चारों ओर घूमा करते हैं, वैसे ही नगर की स्त्रियों की प्रेम-भरी आँखें भी अतिथि पर लट्ठू हो गई ॥ 35 ॥ अयोध्या के बड़े-बड़े मन्दिरों में जिन-जिन देवताओं की पूजा की गई उन्होंने अपनी मूर्तियों में पैठ-पैठकर कृपा के योग्य राजा अतिथि पर बड़ी ही कृपा की ॥ 36 ॥ अभी अभिषेक के जल से भीगी हुई वेदी सूखने भी न पाई थी कि उनका दुस्सह प्रताप समुद्र के तट तक जा पहुँचा ॥ 37 ॥ गुरु वसिष्ठ के मन्त्र और धनुर्धर राजा के बाण दोनों ने मिलकर ऐसा कोई कार्य नहीं छोड़ा, जो मिलकर पूरा न कर डाला गया हो ॥ 38 ॥ धर्मात्माओं के मित्र राजा अतिथि सदा आलस्य छोड़कर वादी-प्रतिवादियों के पेचीदे झगड़े स्वयं निपटाते थे ॥ 39 ॥ जैसे वृक्षको फूला हुआ देखकर यह जान लिया जाता है कि इससे इतने फल मिलेंगे वैसे ही राजा अतिथि का प्रसन्न मुख देखकर ही उनके सेवक जान जाते थे कि हमें इतना धन मिलेगा ॥ 40 ॥ कुश

प्रजास्तद्गुरुणा नद्योनभसेवविवर्धिताः । तस्मिंस्तु भूयसीं वृद्धिं नभस्ये ता इवाययुः ॥ 41 ॥
यदुवाच न तन्मिथ्या यद्दौ न जहार तत् । सोभूद्गन्व्रतः शत्रूनुद्धृत्य प्रतिरोपयन् ॥ 42 ॥
वयोरूपविभूतीनामेकैकं मदकारणम् । तानितस्मिन्समस्तानि न तस्योत्तिषिचे मनः ॥ 43 ॥
इत्थं जनितरागासु प्रकृतिष्वनुवासरम् । अक्षोभ्यः स नवोऽप्यासीदृढमूल इव हुमः ॥ 44 ॥
अनित्याः शत्रवो बाह्या विप्रकृष्टाश्चतेयतः । अतः सोऽभ्यन्तरात्रित्याज्जटूर्पूर्वमजयद्रिपून् ॥ 45 ॥
प्रसादाभिमुखे तस्मिंश्चपलापि स्वभावतः । निकषे हेमरेखेव श्रीरासीदनपायिनी ॥ 46 ॥
कातर्यकेवलानीतिः शौर्यंश्चापदचेष्टितम् । अतः सिद्धिंसमेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेषसः ॥ 47 ॥
न तस्य मण्डले राज्ञो न्यस्तप्रणिधिदीधितेः । अदृष्टमभवत्किंचिद्व्यभ्रस्येव विवस्वतः ॥ 48 ॥
रात्रिंदिवविभागेषु यदादिष्टमहीक्षिताम् । तत्तिषेवे नियोगेनसविकल्पपराङ्मुखः ॥ 49 ॥
मन्त्रः प्रतिदिनं तस्य बभूव सह मन्त्रिभिः । स जातु सेव्यमानोपि गुप्तद्वारो न सूच्यते ॥ 50 ॥
परेषु स्वेषु च क्षिप्तैरविज्ञातपरस्परैः । सोऽपसपैर्जजागार यथाकालं स्वपन्नपि ॥ 51 ॥

के समय जो प्रजा सावन की नदी के समान भरी-पूरी रहती थी, वह फिर अतिथि के राज्य में भादों की नदी के समान और भी अधिक उतराने लगी ॥ 41 ॥ राजा अतिथि ने मुँह से जो भी कह दिया, उसे पूरा कर दिखाया, जिसे जो दे दिया, उससे फिर लिया नहीं। पर हाँ, शत्रुओं को उखाड़कर उन्हें फिर जमाते समय उन्होंने यह नियम तोड़ दिया था, क्योंकि उनसे कर लिया जाता था ॥ 42 ॥ यौवन, सौन्दर्य और ऐश्वर्य, इनमें से एक भी वस्तु जिसके पास होती है, वह मतवाला हो जाता है, पर राजा अतिथि के पास ये सभी होने पर भी उन्हें अभिमान छू तक नहीं गया था ॥ 43 ॥ इस प्रकार प्रजा उनसे दिन पर दिन अधिक प्रेम करने लगी और नये राजा होने पर भी वे गहरी जड़ वाले वृक्ष के समान अचल हो गए ॥ 44 ॥ यह सोचकर कि बाहरी शत्रु तो सदा होते नहीं और होते भी हैं तो दूर रहते हैं, इसलिये उन्होंने शरीर के भीतर सदा रहने वाले छहों (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर) शत्रुओं को पहले ही जीत धरा ॥ 45 ॥ स्वभाव से चंचल लक्ष्मी भी प्रसन्न मुख वाले अतिथि के पास आकर उसी प्रकार अचल होकर आ बैठी जैसे कसौटी पर बनी हुई सोने की लकीर पक्की होकर बैठ जाती है ॥ 46 ॥ केवल कूटनीति से काम लेना तो कायरता है और मारकाट से जीतना हिंसक पशुओं का स्वभाव है, इसलिये उन्होंने कुटनीति और मारकाट दोनों को मिलाकर शत्रुओं को जीता ॥ 47 ॥ जैसे खुले आकाश में सूर्य की किरणों के फैल जाने से कुछ भी छिपा नहीं रह जाता, वैसे ही अतिथि ने चारों ओर भेदियों का ऐसा जाल बिछा दिया कि प्रजा की कोई बात उनसे छिपी नहीं रह पाई ॥ 48 ॥ शास्त्रों ने राजाओं के लिये दिन और रात के जो कर्तव्य निर्धारित किए हैं, उन सबको राजा अतिथि विश्वास के साथ नियमपूर्वक पालते थे ॥ 49 ॥ वे मन्त्रियों के साथ प्रतिदिन राज्यकी बातें करते थे, पर वे बातें इतनी गुप्त रखी जाती थीं कि प्रतिदिन व्यवहार में आने पर भी किसी को उनकी भनक तक नहीं मिल पाती थी। 50 ॥ उन्होंने अपने कर्मचारियों तथा शत्रुओं का भेद जानने के लिये ऐसी चतुराई से उनके पीछे भेदिए लगा रखे थे कि वे भेदिए भी आपस में एक दूसरे को नहीं पहचान पाते थे। उन भेदियों से सब समाचार बराबर मिलते रहने के कारण वे सोते हुए भी मानो सदा जागते रहते थे ॥ 51 ॥ यद्यपि वे युद्ध में ही शत्रुओं को घेरते थे फिर भी उन्होंने राजधानी के चारों ओर बहुत से और भी बड़े-बड़े दुर्ग बनवा खड़े किए थे, क्योंकि हाथियों को मारने वाला सिंह गुफा में हाथियों के भय से नहीं सोता वरन् उसका स्वभाव

दुर्गाणिदुर्गहाण्यासैस्तस्यरोद्धुरपिद्विषाम् । न हि सिंहो गजास्कन्दी भयाद्गिरिगुहाशयः ॥ 52 ॥
 भव्यमुख्याः सभारम्भाः प्रत्यवेक्ष्या निरत्यया । गर्भशालिसधमार्णस्तस्य गूढं विपेचिरे ॥ 53 ॥
 अपथेन प्रववृत्ते न जातूपचितोऽपि सः । वृद्धौ नदीमुखेनैव प्रस्थानं लवणाम्भसः ॥ 54 ॥
 कामं प्रकृतिवैराग्यं सद्यः शमयितुं क्षमः । कस्य कार्यः प्रतीकारः स तन्नैवोदपादयत् ॥ 55 ॥
 शक्येष्वेवाभवद्यात्रा तस्यशक्तिमतः सतः । समीरणसहायोऽपि नाम्भःप्रार्थी दबानलः ॥ 56 ॥
 न धर्ममर्थकामाभ्यां बबाधेनचतेन तौ । नार्थं कामेन कामं वा सोऽर्थेन सदृशस्त्रिषु ॥ 57 ॥
 हीनान्यनुपकर्तुणि प्रवृद्धानि विकुर्वते । तेन मध्यमशक्तीनि मित्राणि स्थापितान्यतः ॥ 58 ॥
 परात्मनोः परिच्छिद्यशक्त्यादीनां बलाबलम् । ययावेभिर्दलिष्ठश्चेत्परस्मादास्त सोऽन्यथा ॥ 59 ॥
 कोशेनाश्रयणीयत्व मति तस्यार्थसंग्रहः । अम्बुगर्भो हि जीमूतश्चातकैरभिनन्द्यते ॥ 60 ॥
 परकर्मापहः सोऽभूदुद्यतः स्वेषु कर्मसु । आवृणोदात्मनोरन्ध्रं रन्ध्रेषु प्रहरन्निपून् ॥ 61 ॥
 पित्रा संवर्धितो नित्यंकृतास्त्रः सांपरायिकः । तस्य दण्डवतो दण्डः स्वदेहान्नव्यशिष्यत ॥ 62 ॥

ही वैसा होता है ॥ 52 ॥ वे जो काम करते थे सब कल्याणकारी होते थे। वे कोई काम करने से पहले उस पर भली-भाँति विचार भी कर लेते थे। इसलिये उसमें कभी किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं पड़ती थी। जैसे धान का दाना भीतर ही भीतर पक जाता है वैसे ही उनका काम भी गुप्त रूप से ही आरम्भ होकर पूरा हो जाता था ॥ 53 ॥ ऐश्वर्यशाली होकर भी उन्होंने खोटे मार्ग में पैर नहीं धरा, क्योंकि ज्वार के समय भी जब समुद्र बढ़ता है, तब नदियों के मार्ग से ही बढ़ता है, दूसरे मार्गों से नहीं ॥ 54 ॥ उनमें इतनी शक्ति थी कि प्रजा में यदि किसी कारण असन्तोष भी हो तो उसे क्षण भर में दूर कर दें, पर उन्होंने कोई ऐसा असन्तोष प्रजा में उत्पन्न ही नहीं होने दिया, जिसे दूर करने की आवश्यकता पड़ जाय ॥ 55 ॥ वे बड़े शक्तिमान थे, इसलिये वे शक्तिशाली राजाओं पर ही चढ़ाई करते थे, दुर्बलों पर नहीं, क्योंकि वायु की सहायता मिलने पर भी वन में लगी हुई आग कभी पानी को नहीं जलाती ॥ 56 ॥ उन्होंने न तो अर्थ और काम के लिये कभी धर्म को छोड़ा, वरन् धर्म, अर्थ और काम तीनों के साथ वे एक-सा व्यवहार करते थे ॥ 57 ॥ यदि नीच मित्र मिल जाते हैं तो कुछ न कुछ खोट अवश्य करते हैं, यदि धनी मिल जाते हैं तो कुछ न कुछ बाधा अवश्य डालते हैं, इसलिये इन्होंने ऐसे ही लोगों को मित्र बनाया जो न नीच ही थे न धनी ही थे ॥ 58 ॥ चढ़ाई करने से पहले वे अपने और अपने शत्रु के बल और दोष को भलीभाँति तौल लेते थे और शत्रु पर तभी आक्रमण करते थे, जब शत्रु से अपना बल अधिक देखते थे, नहीं तो चुप बैठे रहते थे ॥ 59 ॥ उन्होंने इसलिये धन इकट्ठा किया कि एक तो इससे आदर होता है और दूसरे दीन लोग भी आकर उन्हीं का आश्रय लेते हैं, क्योंकि चातक उन्हीं बादलों का स्वागत करते हैं, जिनमें पानी भरा होता है ॥ 60 ॥ शत्रुओं का उद्योग नष्ट करके वे अपने उद्योग में जा लगे। उन्होंने शत्रुओं के दोष का लाभ उठाकर उन्हें नष्ट कर डाला और स्वयं अपने दोष दूर कर डाले ॥ 61 ॥ कुश के प्रयत्न से ही बढ़ी हुई, शस्त्रास्त्र चलाना जानने वाली और युद्ध करने में समर्थ जो उनकी सेना थी, उसे दण्डधर अतिथि अपने शरीर के समान सँभाल कर रखते थे ॥ 62 ॥ जैसे सर्प के सिर से मणि नहीं निकाली जा सकती, वैसे ही शत्रु भी इनके प्रभाव, उत्साह और मन्त्र इन तीन

सर्पस्येव शिरोरत्नं नासय शक्तित्रयं परः । स चकर्ष पदस्मात्तदयस्कान्त इवायसम् ॥ 63 ॥
 वापीष्विव स्त्रवन्तीषु वनेषूपवनेष्विव । सार्थाः स्वैरं स्वकीयेषु चेरुर्वैश्मस्विवाद्भिषु ॥ 64 ॥
 तपो रक्षन्त विघ्नेभ्यस्तस्करेभ्यश्च संपदः । यथास्वमाश्रमैश्चक्रे वर्णैरपि षडंशभाक् ॥ 65 ॥
 खनिभिः सुषुवे रत्नं क्षेत्रैः सस्यं वनैर्गजान् । दिदेश वेतनं तस्मै रक्षासदृशमेव भूः ॥ 66 ॥
 स गुणानां बलानां च षण्णां षण्मुखविक्रमः । बभूव विनियोगज्ञः साधनीयेषु वस्तुषु ॥ 67 ॥
 इति क्रमात्प्रयुञ्जानो राजनीतिं चतुर्विधाम् । आतीर्यादप्रतीघातं सतस्याः फलमानशौ ॥ 68 ॥
 कूटयुद्धविधिज्ञोऽपि तस्मिन्सन्मार्गयोधिनि । भेजेऽभिसारिकावृत्तिं जयश्रीर्वीरगामिनी ॥ 69 ॥
 प्रायः प्रतापभग्नत्वादरीणां तस्य दुर्लभः । रणो गन्धद्विपस्येव गन्धभिन्नान्यदन्तिनः ॥ 70 ॥
 प्रवृद्धौ हीयते चन्द्रः समुद्रोऽपि तथाविधः । स तु तत्समवृद्धिश्च न चाभूताविव क्षयी ॥ 71 ॥
 सन्तस्तस्याभिगमनादत्यर्थं महतः कृशाः । उदधेरिव जीमूताः प्रापुर्दातृत्वमर्थिनः ॥ 72 ॥
 स्तूयमानः सजिह्वायस्तुत्यमेव समाचरन् । तथापि ववृधे तस्य तत्कारिद्वेषिणो यशः ॥ 73 ॥

शक्तियों को अपनी ओर नहीं खींच सके। पर जैसे चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींच लेता है, वैसे ही उन्होंने शत्रुओं की उन तीनों शक्तियों को अपनी ओर खींच लिया ॥ 63 ॥ अतिथि का इतना प्रताप था कि व्यापारी लोग ऐसे वे-रोक-टोक व्यापार करते थे कि नदियाँ उनके लिये बावड़ियों जैसी घरेलू, वन भी उद्यान-जैसे सुखकर और पहाड़ भी अपने भवन-जैसे सुगम हो गए थे ॥ 64 ॥ उन्होंने विघ्नों से तपस्वियों के तपकी रक्षा की, चोरों से प्रजा की सम्पत्ति को बचाया और चारों आश्रमों तथा वर्णों से उनके धन के अनुसार छठा भाग पाया ॥ 65 ॥ जिस प्रकार वे पृथ्वी की रक्षा करते जा रहे थे उसी प्रकार पृथ्वी भी उन्हें ऐश्वर्य देती जा रही थी। खानों ने उन्हें रत्न दिए, खेतों ने अन्न दिया और वनों ने हाथी दिए ॥ 66 ॥ कार्तिकेय के समान पराक्रमी राजा अतिथि यह भली भाँति जानते थे कि (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव) इन छह राजगुणों को कैसे व्यवहार में लाना चाहिए तथा छह प्रकार की सेनाओं के साथ कैसा बर्ताव करना चाहिए ॥ 67 ॥ इस प्रकार साम, दान, दण्ड, भेद इन चार उपायों के साथ राजनीति चलाते हुए उन्होंने मन्त्रियों आदि की सहायता से उन उपायों का पूरा निर्विघ्न फल पा लिया ॥ 68 ॥ वे कपट-युद्ध भी जानते थे, पर युद्ध क्षेत्र में वे धर्म की लड़ाई ही लड़ते थे, इसलिये वीरों की सखी विजयश्री झट उनके पास अभिसारिका के समान चुपके से आ पहुँचती थी ॥ 69 ॥ युद्ध क्षेत्र में अतिथि को देखते ही शत्रुओं के छक्के छूट जाते थे और वे प्राण लेकर भाग खड़े होते थे, इसलिये जैसे बिना मदवाले हाथी, मतवाले हाथी से नहीं लड़ पाते वैसे ही कोई भी उस प्रतापी राजा अतिथि से लड़ने का साहस ही नहीं करता था ॥ 70 ॥ पूरा बढ़ चुकने पर चन्द्रमा घटने लगता है और समुद्र की भी यही दशा होती है, पर अतिथि के साथ बात उलटी थी। वे चन्द्रमा और समुद्र के समान बढ़े तो सही पर उनके समान घटे नहीं ॥ 71 ॥ जैसे बिना पानी के मेघ समुद्र के पास चले जाते हैं और वह उन्हें इतना जल दे देता है कि वे संसार भर को जल बाँटने लगते हैं, वैसे ही जो बहुत से निर्धन विद्वान राजा अतिथि के पास आते थे, उन्हें वे इतना धन दे देते थे कि वे विद्वान स्वयं भी दूसरों को दान देने लगते थे ॥ 72 ॥ उनके सभी काम प्रशंसा के योग्य होते थे, पर जब कोई उनकी प्रशंसा करता था, तब वे सकुचा जाते थे, पर प्रशंसा की इच्छा न करने पर भी उनका यश बढ़ता ही चला जा रहा था ॥ 73 ॥ जैसे निकलते हुए सूर्य के दर्शन से पाप दूर हो जाते हैं वैसे ही उनके दर्शन से पाप भाग जाते थे। वे ज्ञानी भी थे, इसलिये वे दूसरों को तत्व-ज्ञान सिखाकर उनके अज्ञान का अंधेरा भी मिटाते चलते थे,

दुरितं दर्शनेन ध्नस्तत्त्वार्थेन नुदँस्तमः । प्रजाः स्वतन्त्रयांचक्रे शश्वत्सूर्य इवोदितः ॥ 74 ॥
 दन्दोरगतयः पद्मे सूर्यस्य कुमुदेऽशवः । गुणास्तस्य विपक्षेऽपि गुणिनो लेभिरेऽन्तरम् ॥ 75 ॥
 पराभिसंधानपरं यद्यप्यस्य विचेष्टितम् । जिगीषोरश्वमेधाय धर्ममेव बभूव तत् ॥ 76 ॥
 एवमुद्यन्त्रभावेण शास्त्रनिर्दिष्टवर्त्मना । वृषेव देवो देवानां राज्ञां राजा बभूव सः ॥ 77 ॥
 पञ्चमं लोकपालानामूचुः साधर्म्ययोगतः । भूतानां महतां षष्ठमष्टमं कुलभूभृताम् ॥ 78 ॥
 दूरापवर्जितच्छत्रैस्तस्याज्ञां शासनार्पिताम् । दधुः शिरोभिर्भूपांला देवाः पौरंदरीमिव ॥ 79 ॥
 ऋत्विजःसतथाऽऽनर्चं दक्षिणाभिर्महाक्रतौ । यथासाधारणीभूतं नामास्य धनदस्य च ॥ 80 ॥
 इन्द्राद्वष्टिर्नियमितगदोद्रेकवृत्तिर्यमोऽभूद्घादोनाथः शिवजलपथः कर्मणे नौचराणाम् ।
 पूर्वापेक्षी तदनु विदधे कोषवृद्धिं कुबेरस्तस्मिन्दण्डोपनतचरितं भेजिरे लोकपालाः ॥ 81 ॥
 ।। इति महाकवि श्री कालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये अतिथिवर्णनो नाम सप्तदशः सर्गः ।।



इसलिये प्रजा को उन्होंने सब प्रकार से अपनी मुट्ठी में कर लिया था ॥ 74 ॥ चन्द्रमा की किरणें तथा सूर्य की किरणें कुमुदों में कभी नहीं पैठ पातीं, पर अतिथि के गुणों ने शत्रुओं के हृदय में भी ऐसा घर कर लिया कि शत्रु भी उनके गुणों का लोहा मानते थे ॥ 75 ॥ अश्वमेध के लिये जब वे दिग्विजय करने निकले, तब इनका काम यद्यपि शत्रुओं को जिस-तिस प्रकार हराना ही था, पर उस समय भी उन्होंने धर्म से ही काम लिया, कूटनीति अथवा छल से नहीं ॥ 76 ॥ इस प्रकार शास्त्रों के अनुसार चलने से अतिथि का प्रभाव बहुत बढ़ गया और जैसे देवताओं के देवता इन्द्र हैं वैसे ही वे भी राजाओं के राजा हो गए ॥ 77 ॥ इन्द्र आदि चारों लोकपालों (इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर) के समान पराक्रम होने के कारण लोग उन्हें पाँचवाँ लोकपाल कहने लगे थे । (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) इन पाँचों तत्वों के समान महान होने के कारण लोग उन्हें छठा तत्व कहते थे और हिमालय आदि सात कुल-पर्वतों के समान विशाल होने के कारण वे आठवें कुल पर्वत कहलाते थे ॥ 78 ॥ जैसे देवता लोग इन्द्र की आज्ञा मानते हैं वैसे ही राजा लोग भी अपने छत्र उतार उतारकर उनकी आज्ञा अपने सिर माथे चढ़ाते थे ॥ 79 ॥ अश्वमेध के समय जिन ब्राह्मणों ने यज्ञ कराया, उनका अतिथि ने इतना सत्कार किया कि लोग इन्हें भी दूसरा कुबेर कहने लगे ॥ 80 ॥ इन्द्र ने उनके साम्राज्य पर वर्षा की, यमराज ने रोगों का बढ़ना रोका, वरुण ने नाव चलाने वालों के लिये जल के मार्ग खोल दिए और कुबेर ने इनका राजकोश भर दिया । इस प्रकार इन्द्र आदि लोकपाल मानो इनके प्रताप से ही डरकर इनकी सेवा किए जा रहे थे ॥ 81 ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदास के रचे हुए रघुवंश महाकाव्य में अतिथि-वर्णन नाम का सत्रहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥



॥ अष्टादशः सर्गः ॥

स नैषधस्यार्धपलेः सुतायामुत्पादयामास निषिद्धशत्रुः ।
 अनूनसारं निषधात्रगेन्द्रात्पुत्रं यमाहुर्निषधाख्यमेव ॥ 1 ॥
 तेनारुवीर्येण पिता प्रजायै कल्पिष्यमाणेन ननन्द यूना ।
 सुवृष्टियोगादिव जीवलोकः सस्येन संपत्तिफलोन्मुखेन ॥ 2 ॥
 शब्दादि निर्विशय सुखं चिराय तस्मिन्प्रतिष्ठापितराजशब्दः ।
 कौमुद्वतयः कुमुदावदातैद्यभिर्जितां कर्मभिरारुरोह ॥ 3 ॥
 पौषः कुशस्यापि कुशेशयाक्षः ससागरां सागरधीरचेताः ।
 एकातपत्रां भुवमेकवीरः पुरार्गलादीर्घभुजो बुभुज ॥ 4 ॥
 तस्यानलौजास्तनयस्तदन्ते वंशश्रियं प्राप नलाभिधानः ।
 यो नड्वलानीव गजः परेषां बलान्यमृद्नान्नलिनाभवक्त्रः ॥ 5 ॥
 नभश्चरैर्गीतयशाः स लेभे नभस्तलश्यामतनुं तनूजम् ।
 छ्यार्तं नभः शब्दमयेन नाम्ना कान्तं नभोमासमिव प्रजानाम् ॥ 6 ॥
 तस्मै विसृज्योत्तरकोशलानां धर्मोत्तरस्तत्प्रभवे प्रभुत्वम् ।
 मृगैरजर्यं जरसोपदिष्टमदेहबन्धाय पुनर्बन्ध ॥ 7 ॥
 तेन द्विपानामिव पुण्डरीको राज्ञामजय्योऽजनि पुण्डरीकः ।
 शान्ते पितर्याहृतपुण्डरीका यं पुण्डरीकाक्षमिव श्रिता श्रीः ॥ 8 ॥

अठारहवाँ सर्ग

शत्रुओं का नाश करने वाले राजा अतिथि की एक रानी निषध राजा की पुत्री थी। उस रानी से अतिथि ने निषध पर्वत के समान बलवान पुत्र उत्पन्न किया और उनका नाम भी निषध रख दिया ॥ 1 ॥
 जैसे समय की वर्षा से फले हुए अनाज के खेतों को देखकर संसार के प्राणी प्रसन्न हो उठते हैं, वैसे ही अत्यन्त प्रतापी युवराज निषध को देखकर राजा अतिथि भी प्रसन्न हो उठे ॥ 2 ॥ कुमुद्वती के पुत्र अतिथि ने जब बहुत दिनों तक सुख भोग लिया तब निषध को राजपाट सौंपकर अपने पुण्यों के बलसे पाए हुए स्वर्ग लोक में सुख भोगने चले गए ॥ 3 ॥ कमल के समान नेत्रवाले, समुद्र के समान गम्भीर चित्तवाले और नगर के प्रधान फाटक की अर्गला के समान बड़ी-बड़ी बाँहों वाले अद्वितीय वीर निषध ने भी सागर तक फैली हुई सारी पृथ्वी का भोग किया ॥ 4 ॥ उनके पीछे उनके अग्नि के समान तेजस्वी पुत्र नल राजा हुए। उस कमल के समान सुन्दर मुख वाले राजा ने शत्रुओं के बल को वैसे ही तोड़ डाला जैसे हाथी नरकट के गट्ठे को तोड़ डालता है ॥ 5 ॥ वे इतने यशस्वी थे कि आकाश में गन्धर्व लोग उनका यश गाया करते थे। उन्हें आकाश के समान सौँवला नभ नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ, जो लोगों को वैसा ही प्यारा लगा जैसे सावन का महीना ॥ 6 ॥ धर्मात्मा नल ने उस पुत्र को उत्तर कोशल का राज्य सौंप दिया और स्वयं बुढ़ापे के कारण जंगलों में जाकर मृगों के साथ इसलिए रहने लगे कि फिर संसार में जन्म न लेना पड़े ॥ 7 ॥ नभ को पुण्डरीक नाम का पुत्र हुआ और जैसे हाथियों में पुण्डरीक नामका हाथी सर्वश्रेष्ठ है वैसे ही उस समय के राजाओं में वे ही सर्वश्रेष्ठ थे। पिता के स्वर्ग चले जाने पर कमल धारण करने वाली लक्ष्मी ने उन्हें ही विष्णु मानकर वर लिया ॥ 8 ॥ उन सफल धनुर्धर पुण्डरीक

स क्षेमधन्वानममोघधन्वा पुत्रं प्रजाक्षेमविधानदक्षम् ।
 क्षमां लभ्ययित्वा क्षमयोपपन्नं वने तपः क्षान्ततरश्चचारः ॥ 9 ॥
 अनीकिनीनां समरेऽग्रयायी तस्याभि देवप्रतिभः सुतोऽभूत् ।
 व्यश्रूयतानीकपदावसानं देवादि नाम त्रिदिवेऽपि यस्य ॥ 10 ॥
 पिता समाराधनतत्परेण पुत्रेण पुत्री स यद्यैव तेन ।
 पुत्रस्तथैवात्मजवत्सलेन स तेन पित्रा पितृमान्बभूव ॥ 11 ॥
 पूर्वस्तयोरात्मसमे चिरोढामात्मोद्भवे वर्णचतुष्टयस्य ।
 धुरं निधायैकनिधिगुणानां जगाम यज्वा यजमानलोकम् ॥ 12 ॥
 वशी सुतस्तस्य वशंवदत्वात्स्वेणामिवासीद्द्विषतामपीष्टः ।
 सकृद्विविग्नानपि हि प्रयुक्तं माधुर्यमीष्टे हरिणान् ग्रहीतुम् ॥ 13 ॥
 अहीनगुर्नाम स गां समग्रामहीनबाहुद्विगणः शशास ।
 यो हीनसंसर्गपराङ्मुखात्वाद्युवाप्यनद्यैर्व्यसनैर्विहीनः ॥ 14 ॥
 गुरोः स चानन्तरमन्तरज्ञः पुंसां पुमानाद्य इवावतीर्णः ।
 उपक्रमैरस्खलितैश्चतुर्भिश्चतुर्दिगीशश्चतुरो बभूव ॥ 15 ॥
 तस्मिन्प्रयाते परलोकयात्रां जेत्यरीणां तनयं तदीयम् ।
 उच्चैः शिरस्त्वाज्जितपारियात्रं लक्ष्मीः सिषेवे किल पारियात्रम् ॥ 16 ॥
 तस्याभवत्सूनु रुदारशीलः शिलः शिलापट्टविशालवक्षाः ।
 जिता रिपक्षोऽपि शिलीमुखैर्यः शालीनतामब्रजदीड्यमानः ॥ 17 ॥

ने प्रजा का कल्याण करने में समर्थ और शान्त स्वभाव वाले अपने पुत्र क्षेमधन्वा की राज सौंप दिया और स्वयं शान्त होकर जङ्गल में तपस्या करने चले गये ॥ 9 ॥ उस क्षेमधन्वा को भी इन्द्र के समान पुत्र हुआ, जो युद्ध में सेना के आगे-आगे चलता था और जिसका देव शब्द से आरम्भ होने वाला और अनीक शब्द से अन्त होने वाला देवानीक नाम स्वर्ग में भी प्रसिद्ध हो गया ॥ 10 ॥ जैसे इस पितृभक्त पुत्र को पाकर क्षेमधन्वा सुपुत्रवान् हुए, वैसे ही पुत्र को प्यार करने वाले पिता को पाकर देवानीक भी पिता वाले हुए ॥ 11 ॥ बड़े-बड़े यज्ञ करने वाले गुणी क्षेमधन्वा अपने ही समान तेजस्वी पुत्र को चारों वर्णों की रक्षा का भार सौंपकर स्वर्ग चले गये ॥ 12 ॥ उनके जितेन्द्रिय पुत्र देवानीक इतना मधुर बोलते थे कि शत्रु भी उनका वैसा ही आदर करते थे जैसे मित्र क्योंकि मधुर वचन में ऐसा प्रभाव होता है कि एक बार डराए हुए हरिण तक भी वश में हो जाते हैं ॥ 13 ॥ देवानीक के पुत्र का नाम अहीनगु था। उनकी बाँहें बड़ी शक्तिशालिनी थीं। उन्होंने कभी नीच लोगों का साथ नहीं किया इसलिये व्यसनों से दूर रहकर युवावस्था में ही वे सारी पृथ्वी पर शासन करने लगे ॥ 14 ॥ वे बड़े चतुर थे और सबके मन की बातें जान लेते थे। पिता के पीछे राजा होकर वे सफलता के साथ साम-दाम-दण्ड-भेद का प्रयोग करके शीघ्र ही विष्णु के समान चारों दिशाओं के स्वामी हो गए ॥ 15 ॥ उस शत्रु विजयी राजा के स्वर्ग चले जाने पर अयोध्या की राजलक्ष्मी उनके प्रतापी पुत्र पारियात्र की सेवा करने लगी, जिन्होंने अपने सिर की ऊँचाई से पारियात्र पर्वत को भी नीचा दिखा दिया था ॥ 16 ॥ उन्हें शिल नाम का बड़ा शीलवान पुत्र हुआ जिसकी छाती पत्थर की पाटी-जैसी चौड़ी थी। यद्यपि उन्होंने शत्रुओं को तो वाणों से जीत लिया फिर भी स्वयं वे नम्र ही बने रहे ॥ 17 ॥ शुद्ध चरित्र वाले पारियात्र ने बुद्धिमान शिल को युवराज बनाने

तमात्मसंपन्नमनिन्दितात्मा कृत्वा युवानं युवराजमेव ।
 सुखानि सोऽमुङ्क्त सुखोपरोधि वृत्तं हि राज्ञामुपरुद्धवृत्तम् ॥ 18 ॥
 तं रागबन्धिष्ववितृप्तमेव भोगेषु सौभाग्यविशेषभोग्यम् ।
 विलासिनीनामरतिक्षमापि जरा वृद्धा मत्सरिणी जहार ॥ 19 ॥
 उन्नाभ इत्युदगतनामधेयस्तस्यायथाधोऽन्नतनाभिरन्ध्रः ।
 सुतोऽभवत्पङ्कजनाभकल्पः कृत्स्नस्य नाभिर्नृपमण्डलस्य ॥ 20 ॥
 ततः परं वज्रधारप्रभावस्तदात्मजः संयति वज्रघोषः ।
 बभूव वज्राकरभूषणायाः पतिः पृथिव्याः किल वज्रणाभः ॥ 21 ॥
 तस्मिन्गते द्यां सुकृतोपलब्धां सत्संभवं शङ्खणमर्णवान्ता ।
 उत्खातशत्रुं वसुधोपतस्थे रत्नोपहारैरुदितैः खनिभ्यः ॥ 22 ॥
 तस्यावसाने हरिदश्वधामा पित्र्यं प्रपदे पदमश्विरूपः ।
 वेलातटेष्ठीतसैनिकाश्वं पुराविदो यं व्युषिताश्वमाहुः ॥ 23 ॥
 आराध्य विश्वेश्वरमीश्वरेण तेन क्षितेर्विश्वसहो विजज्ञे ।
 पातुं सहो विश्वसखः समग्रां विश्वभरामात्मजमूर्तिरात्मा ॥ 24 ॥
 अंशे हिरण्याक्षरिपोः स जाते हिरण्यनाभे तनये नयज्ञः ।
 द्विषामसद्यः सुतरां तरुणां हिरण्यरेता इव सानिलोऽभूत् ॥ 25 ॥
 पिता पितृणामनृणस्तमन्ते वयस्यनन्तानि सुखानि लिप्सुः ।
 राजानमाजानुविलम्बिबाहुं कृत्वा कृती वल्कलवान्बभूव ॥ 26 ॥

पर ही सुख भोगना प्रारम्भ किया क्योंकि राजा रहते हुए उन्हें इतने अधिक काम रहते थे कि उन्हें सुख भोगने के लिए अवसर ही कहाँ मिलता था ॥ 18 ॥ वे अभी भोगों से अघाए नहीं थे और सुन्दरी स्त्रियों का भोग कर ही रहे थे कि उन्हें उस वृद्धावस्था ने आ घेरा जो स्वयं भोगने योग्य न होने पर भी सुन्दरियों से व्यर्थ ही ईर्ष्या किया करती है ॥ 19 ॥ शिल को उन्नाभ नाम के प्रसिद्ध पुत्र हुए, जिनकी नाभि गहरी थी और जो विष्णु के समान पराक्रमी होने के कारण संसार के सभी राजाओं के मुखिया बन गए ॥ 20 ॥ उनके पीछे उनके पुत्र वज्रनाभ, हीरे की खानों का भूषण पहनने वाली पृथ्वी के स्वामी हुए। वे इन्द्र के समान प्रभावशाली थे और युद्ध क्षेत्र में वज्र के समान गरजते थे ॥ 21 ॥ उन्होंने अपने पुण्य के बल से स्वर्ग प्राप्त किया और उनके पीछे शंखण नाम का उनका शत्रु विनाशक पुत्र सारी पृथ्वी का शासक हुआ ॥ 22 ॥ उनके पीछे उनके अश्विनी कुमार के समान सुन्दर और सूर्य के समान तेजस्वी पुत्र राजा हुए जिन्होंने सब देशों को जीतकर अपनी सेना और घोड़ों को समुद्र के तटपर ले जा ठहराया था। इसलिये वृद्धों ने उनका नाम व्युपिताश्व (अर्थात् बहुत दूर तक घोड़ों को ले जाने वाला) रख दिया था ॥ 23 ॥ उन्होंने काशी के विश्वेश्वर की अराधना करके विश्वसह नामक पुत्र पाया था, जो संसार में बड़े प्रिय हुए और जो सारी पृथ्वी पर शासन करते थे ॥ 24 ॥ उस नीतिज्ञ विश्वसह को हिरण्यनाभ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो साक्षात् विष्णु का अंश था। ऐसे पुत्र को पाकर विश्वसह शत्रुओं के लिए वैसे ही भयंकर हो गए जैसे वायु की सहायता पाकर वृक्षों के लिये अग्नि भयंकर हो उठती है ॥ 25 ॥ जब वे पिता के ऋण से उन्मत्त हो गए तब बहुत सुख भोगकर वृद्धावस्था में पुत्र को राज्य देकर स्वयं वल्कल पहनकर वन में चले गये ॥ 26 ॥ उत्तर कोशल के स्वामी और सूर्य कुल के भूषण उन हिरण्यनाभ को कौसल्य

कौसल्य इत्युत्तरकोसलानां पत्युः पतङ्गान्वयभूषणस्य ।
 तस्यौरसः सोमसुतः सुतोऽभूत्रैत्रोत्सवः सोम इव द्वितीयः ॥ 27 ॥
 यशोभिराब्रह्मसमं प्रकाशः स ब्रह्मभूयं गतिमाजगाम ।
 ब्रह्मिष्ठमाधाय निजेऽधिकारे ब्रह्मिष्ठमेव स्वतनुप्रसूतम् ॥ 28 ॥
 तस्मिन्कुलापीडनिभे विपीडंसम्यङ्महींशासतिशासनाङ्काम् ।
 प्रजाश्चिरं सुप्रजसि प्रजेशे ननन्दुरानन्दजलाविलाक्ष्यः ॥ 29 ॥
 पात्रीकृतात्मा गुरुसेवनेत स्पष्टाकृतिः पत्ररधेन्द्रकेतेः ।
 तं पुत्रिणां पुष्करपत्रनेत्रः पुत्रः समारोपयदग्रसंख्याम् ॥ 30 ॥
 वंशस्थितिं वंशकरेण तेन संभाव्य भावी स सखा मघोनः ।
 उपस्पृशन्स्पर्शनिवृत्तलौल्यस्त्रिपुष्करेणु त्रिदशत्वमाप ॥ 31 ॥
 तस्य प्रभानिर्जितपुष्परामं पौष्यां तिथौ पुष्यमसूत पत्नी ।
 तस्मिन्नपुष्यन्नुदिते समग्रां पुष्टिं जनाः पुष्य इव द्वितीये ॥ 32 ॥
 महीं महेच्छः परिकीर्य सूनौ मनीषिणे जैमिनयेऽर्पितात्मा ।
 तस्मात्सयोगादधिगम्य योगमजन्मनेऽकल्पत जन्मभीरुः ॥ 33 ॥
 ततः परं तत्प्रभवः प्रपेदे ध्रुवोपमेयो ध्रुवसंधिरुर्वीम् ।
 यस्मिन्नभूज्जयायसि सत्यसंधे संधिर्ध्रुवः संनमतामरीणाम् ॥ 34 ॥
 सुते शिशवावेव सुदर्शनाख्ये दशात्ययेन्दुप्रियदर्शने सः ।
 मृगायताक्षो मृगयाविहारी सिंहादवापद्विपदं नृसिंहः ॥ 35 ॥

नाम का पुत्र हुआ, जो सबकी आँखों को उसी प्रकार आनन्द देने वाला था मानो दूसरा चन्द्रमा ही हो ॥ 27 ॥ कौसल्य का यश ब्रह्मा की सभा तक प्रसिद्ध हो गया था। वृद्धावस्था में उन्होंने ब्रह्मिष्ठ नाम के अपने ब्रह्मज्ञानी पुत्र को राज्य दे दिया और स्वयं ब्रह्म प्राप्ति के लिये वन में तप करने चले गये ॥ 28 ॥ भली सन्तान वाले ब्रह्मिष्ठ भी अपने कुल के शिरोमणि थे। उन्होंने इतनी योग्यता से शासन किया कि उसके सुन्दर शासन को देखकर प्रजा को भी आनन्द के आँसू आ जाते थे। उनके शासन में प्रजा बहुत दिनों तक सुख भोगती रही ॥ 29 ॥ उनके सुपुत्र ने उन्हें पुत्रवानों का शिरोमणि बना दिया। पिता की सेवा-शुश्रूषा करने से वे बड़े योग्य हो गए थे। वे गरुडध्वज विष्णु के समान सुन्दर थे और उन कमल लोचन का नाम भी पुत्र ही था ॥ 30 ॥ विषय-वासनाओं से दूर रहकर इन्द्र के भावी मित्र ब्रह्मिष्ठ ने अपनी कुल प्रतिष्ठा अपने पुत्र नामवाले पुत्र को सौंप दी और स्वयं त्रिपुष्कर क्षेत्र में स्नान करके स्वर्ग चले गए ॥ 31 ॥ राजा पुत्र की पत्नी से पूस की पूर्णिमा के दिन पुष्पराम (पुखराज) मणि से भी अधिक कान्तिवान पुष्य नामक पुत्र हुआ। उसके जन्म होने से प्रजा उसी प्रकार धन-धान्य से भरपूर हो गई मानो दूसरा पुष्य नक्षत्र ही उग आया हो ॥ 32 ॥ राजा पुत्र बड़े उदार हृदय वाले थे। वे संसार में फिर जन्म लेना नहीं चाहते थे, इसीलिये उन्होंने पृथ्वी का भार अपने पुत्र पुष्य को सौंप दिया और स्वयं जैमिनी ऋषि के शिष्य होकर उनसे योग सीखकर आवागमन से मुक्त हो गए ॥ 33 ॥ पुष्य के पीछे उनके ध्रुव के समान निश्चल पुत्र ध्रुव सन्धिराजा हुए, जिनसे डरकर सब शत्रुओं ने उनसे सन्धि कर ली। उनका लिखा हुआ सन्धिपत्र बड़ा पक्का होता था, क्योंकि वे अपनी बात के बड़े धनी थे ॥ 34 ॥ उनके नेत्र मृगों के समान बड़े-बड़े थे और वे पुरुषों में सिंह के समान थे। एक दिन वे जंगल में आखेट करते हुए मारे गए। उस समय तक द्वितीया के चन्द्रमा के समान सुन्दर लगने वाला सुदर्शन नाम का उनका पुत्र बालक ही था ॥ 35 ॥ उन स्वर्गवासी राजा के मन्त्रियों ने राजा के न होने से प्रजा

स्वर्गाभिनस्तस्य तमैकमत्यादमात्यवर्गः कुलतन्तुमेकम् ।
 अनाथदीनाः प्रकृतीरवेक्ष्य साकेतनार्थं विधिवच्चकार ॥ 36 ॥
 नवेन्दुना तन्नभसोपमेयं शावैकसिंहेन च काननेन ।
 रघोः कुलं कुङ्कुमलपुष्करेण तोयेन चाप्रौढनरेन्द्रमासीत् ॥ 37 ॥
 लोकेन भावी पितुरेव तुल्यः संभावितो मौलिपरिग्रहात्सः ।
 दृष्टो हि वृष्वन्कलभप्रमाणोऽप्याशाः पुरावातमवाप्य मेघः ॥ 38 ॥
 तं राजवीथ्यामधिहस्ति यान्तमाधोरणालम्बितमग्यवेशम् ।
 षड्वर्षदेशीयमपि प्रभुत्वात्पैक्षन्त पौराः पितृगौरवेण ॥ 39 ॥
 कामं न सोऽकल्पत पैतृकस्य सिंहासनस्य प्रतिपूरणाय ।
 तेजोमहिम्ना पुनरावृतात्मा तद्वचाप चामीकरपिञ्जरेण ॥ 40 ॥
 तस्मादधः किञ्चिदिवावतीर्णावसंस्पृशन्तौ तपनीयपीठम् ।
 सालक्तकौ भूपतयः प्रसिद्धैर्ववन्दिरे मौलिभिरस्य पादौ ॥ 41 ॥
 मणौ महानील इति प्रभावादल्पप्रमाणेऽपि यथा न मिथ्या ।
 शब्दो महाराज इति प्रतीतस्तथैव तस्मिन्युयुजेऽर्मकेऽपि ॥ 42 ॥
 पर्यन्तसंचारितचामरस्य कपोललो लोभयकाकपक्षात् ।
 तस्याननादुच्चरितो विवादश्चस्त्राल वेलास्वपि नार्णवानाम् ॥ 43 ॥

की दीन दशा देखकर सर्वसम्मति से उनके इकलौते पुत्र सुदर्शन को विधिपूर्वक साकेत का स्वामी बना दिया ॥ 36 ॥ इस बालक से राजा रघु का कुल वैसे ही शोभा देने लगा जैसे द्वितीया के चन्द्रमा से आकाश, सिंह के बच्चे से वन और कमल की कली से ताल शोभा देता है ॥ 37 ॥ उस बालक सुदर्शन ने जब सिर पर मुकुट धारण किया तभी प्रजा ने आँक लिया कि यह पिता के समान ही तेजस्वी होगा, क्योंकि हाथी के बच्चे के समान छोटा दिखाई देने वाला बादल भी पुरवा पवन का सहारा पाकर चारों दिशाओं में जा फैलता है ॥ 38 ॥ जब वे छह वर्ष के छोटे से राजा हाथी पर चढ़कर राजमार्ग से निकलते थे, तब हाथीवान उनके राजसी वस्त्रों के कोने को थामे रखता था कि कहीं वे गिर न पड़ें। उस समय भी उन्हें देखकर जनता अपने पिता के समान ही उनका आदर करती थी ॥ 39 ॥ वे छोटे थे, इसलिये जब वे अपने पिता के सिंहासन पर बैठते थे तो वह पूरा भरता नहीं था। पर उनके शरीर से जो सुवर्ण के समान तेज निकलता था उससे वह सिंहासन भरा-सा ही जान पड़ता था ॥ 40 ॥ उस सिंहासन से उनके पैर लटकते रहते थे, क्योंकि छोटे होने के कारण वे पाद-पीठ तक पहुँच नहीं पाते थे, पर राजा लोग अपने प्रसिद्ध मुकुटों से उस महावर लगे पैरों का वन्दन करते रहते थे ॥ 41 ॥ जैसे छोटा होने पर भी नीलम मणि का 'महानील' नाम निरर्थक नहीं होता, वैसे ही बालक राजा सुदर्शन का 'महाराज' नाम भी उन्हें बड़ा फबता था। 42 ॥ उनके आस-पास चँवर डुलाए जाते रहते थे और उनके गालों पर लटें लटकती रहती थीं। इस बालक अवस्था में भी उन्होंने जो आज्ञाएँ दीं, उन्हें समुद्र के तट वाले लोगों ने भी नहीं टाला फिर पास रहने वालों की तो बात ही क्या? ॥ 43 ॥ सोने का पट्टा बँधे हुए अपने ललाट पर वे स्वयं तिलक लगाते थे और सदा हँसमुख रहते थे, पर संग्राम में शत्रुओं को नष्ट करके

निर्वृत्तजाम्बूनदपट्टशोभे न्यस्तं ललाटे तिलकं दधानः ।
 तेनैव शून्यान्यरिसुन्दरीणां मुखानि स स्मेरमुखश्चकार ॥ 44 ॥
 शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यः खेदं स यायादपि भूषणेन ।
 नितान्तगुर्वोमपि सोऽनुभावाद्भूरं धरित्र्या विभरांबभूव ॥ 45 ॥
 न्यस्ताक्षरामक्षरभूमिकायां कात्स्न्येन गृह्णाति लिपिं न यावत् ।
 सर्वाणि तावद्भुतवृद्धयोगात्फलान्युपायुङ्क्त स दण्डनीतेः ॥ 46 ॥
 उरस्यपर्याप्तनिवेशभागा प्रौढीभविष्यन्तसुदीक्षमाणा ।
 संजातलज्जेन तमातपत्रच्छायाच्छलेनोपजुगूह लक्ष्मीः ॥ 47 ॥
 अनश्नुवानेन युगोपमानमबद्धमौर्वीकिणलाञ्छनेन ।
 अस्पृष्टखङ्गत्सरुणापि चासीद्वक्षावती तस्य भुजेन भूमिः ॥ 48 ॥
 न केवलं गच्छति तस्य काले ययुः शरीरावयवा विवृद्धिम् ।
 वंश्यागुणाः खल्वपि लोककान्ताः प्रारम्भसूक्ष्माः प्रथिमानमापुः ॥ 49 ॥
 स पूर्वजन्मान्तरदृष्टपाराः स्मरन्निवाक्लेशकरो गुरुणाम् ।
 तिस्रस्त्रिवर्गाधिगमस्य मूलं जग्राह विद्याः प्रकृतीश्च पित्र्या ॥ 50 ॥
 व्यूढ स्थितः किंचिदिवोत्तरार्धमुन्नद्धचूडोऽश्रितसव्यजानुः ।
 आकर्णमाकृष्टसबाणधन्वा व्यरोचतास्त्रेण किननिमानः ॥ 51 ॥

उन्होंने शत्रुओं की स्त्रियों के मुखपर का तिलक और उनकी मुस्कराहट दोनों छीन ली ॥ 44 ॥ वे सिरस के फूल से भी अधिक सुकुमार थे, इसलिये यद्यपि उन्हें गहने पहनने में भी कष्ट होता था फिर भी उनमें आत्मशक्ति इतनी थी कि उन्होंने पृथ्वी के अत्यन्त भारी भार को भी सँभाले रक्खा ॥ 45 ॥ अभी वे पटियापर भलीभाँति अक्षर भी लिखना नहीं सीख पाए थे कि विद्वानों के संसर्ग से वे दण्डनीति और राजनीति की सारी बातें जान गए ॥ 46 ॥ बालक राजा के हृदय को अभी छोटा समझकर लक्ष्मी यों तो उनके युवा होने की आशा लगाए बैठी थी, पर बीच-बीच में छत्र की छाया बनाकर उनका आलिङ्गन कर ही लेती थी मानों छोटा पति होने के कारण उनसे खुलकर गले लगने में लजा रही हो ॥ 47 ॥ यद्यपि उनकी भुजा जुए के समान मोटी और लम्बी नहीं हुई थी, धनुष की डोरी खींचने से कड़ी भी नहीं हो पाई थी और तलवार की मूठ भी नहीं छू सकी थी, फिर भी उसने पृथ्वी की रक्षा भलीभाँति कर ही ली ॥ 48 ॥ कुछ ही दिनों में केवल उनके शरीर के अंग ही नहीं बड़े वरन् उनके वे वंश-परम्परा वाले गुण भी बढ़ गए जो पहले छोटे ही थे और जो प्रजा को बहुत प्यारे लगते थे ॥ 49 ॥ उन्होंने धर्म, अर्थ और काम फल देने वाले त्रयी (तीनों वेद), वार्ता (कृषि) और दण्डनीति तीनों विद्याओं को इतनी शीघ्रता से सीख लिया मानो पूर्व जन्म में ही वे उन्हें पढ़ चुके रहे हों। साथ ही अपने पिता की प्रजा को भी उन्होंने अपने वश में कर लिया था ॥ 50 ॥ जब वे धनुर्विद्या सीखते समय अपने शरीर का ऊपरी भाग कुछ आगे बढ़ा देते थे, बाल ऊपर बाँध लेते थे, बाईं जाँघ कुछ झुका लेते थे और बाण चढ़ाकर धनुष की डोरी कान तक खींचते थे, उस समय वे बड़े ही सुन्दर लगते थे ॥ 51 ॥ तब सुदर्शन के शरीर में वह जवानी आ गई जो स्त्रियों की आँखों की मदिरा होती है, शरीर की स्वाभाविक शोभा होती है और विलास

अथ मधु वनितानां नेत्रनिर्वेशनीयं मनसिजतरुपुष्पं रागबन्धप्रवालम् ।
 अकृतकविधि सर्वाङ्गीणमाकल्पजातं विलसितपदमाद्यं यौवनं सः प्रपेदे ॥ 52 ॥
 प्रतिकृतिरचनाभ्यो दूतिसंदर्शिताभ्यः समधिकतररूपाः शुद्धसंतानकामैः ।
 अधिविविदुरमात्यैराहतास्तस्य यूनः प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवौ राजकन्याः ॥ 53 ॥
 । इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये वंशानुक्रमो
 नामाष्टदशः सर्गः ।।



का पहला अङ्का होता है ॥ 52 ॥ दूतियाँ भिन्न-भिन्न राजधानियों में जाकर सुन्दर-सुन्दर राजकुमारियों का चित्र ले आई और राजा को संतान होने की इच्छा से मन्त्रियों ने चित्र से बढ़कर सुन्दरी उन राजकुमारियों का विवाह महाराज सुदर्शन से करा दिया । विवाह हो जाने पर वे सब राजकुमारियाँ, राजा की पहली रानियों की, पृथ्वी की और राजलक्ष्मी की सौत के समान हो गई ॥ 53 ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदास के रचे हुए रघुवंश महाकाव्य में वंशानुक्रम नाम का अठारहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥



॥ एकोनविंशः सर्गः ॥

अग्निवर्णमभिषिच्य राघवः स्वे पदे तनयमग्नितेजसम् ।
 शिश्रिये श्रुतवतामपश्चिमः पश्चिमे वयसि नैमिषं वशी ॥ 1 ॥
 तत्र तीर्थसलिलेन दीर्घिकास्तल्पमन्तरितभूमिभिः कुशैः ।
 सौधावासमुटजेन विस्मृतः संचिकाय फलनिःस्पृहस्तपः ॥ 2 ॥
 लब्धापालनविधौ न तत्सुतः खेदमाप गुरुणा हि मेदिनी ।
 भोक्तुमेव भूजनिर्जितद्विषा न प्रसाधयितुमस्य कल्पिता ॥ 3 ॥
 सोऽधिकारमभितः कुलोचितं काश्चन स्वयमवर्तयत्समाः ।
 संनिवेश्य सचिवेष्वतः परं स्त्रीविधेयनवयौवनोऽभवत् ॥ 4 ॥
 कामिनीसहचरस्य कामिनस्तस्य वेश्मसु मृदङ्गनादिषु ।
 ऋद्धिमन्तमधिकर्द्धिरुत्तरः पूर्वमुत्सवमपोहदुत्सवः ॥ 5 ॥
 इन्द्रियार्थपरिशून्यमक्षमः सोऽदुर्मेकमपि स क्षणान्तरम् ।
 अन्तरेव विहरन्दिवानिषं न व्यपैक्षत समुत्सुकाः प्रजाः ॥ 6 ॥
 गौरवाद्यदपि जातु मन्त्रिणां दर्शनं प्रकृतिकाङ्क्षितं ददौ ।
 तद्गवाक्षविवरावलम्बिना केवलेन चरणेन कल्पितम् ॥ 7 ॥
 तं कृतप्रणतयोऽनुजीविनः कोमलात्मनखारागरूषितम् ।
 भोजिरे नवदिवाकरातपस्पृष्टपङ्कजतुलाधिरौहणम् ॥ 8 ॥

उन्नीसवाँ सर्ग

विद्वान राजा सुदर्शन ने बुढ़ापे में अपने अग्नि के समान तेजस्वी पुत्र अग्निवर्ण को राजा बना दिया और स्वयं नैमिषारण्य में जाकर रहने लगे ॥ 1 ॥ वहाँ वे तीर्थ जल के आगे घर की बाबड़ियों की, भूमि पर बिछे हुए कुश के आगे राजसी पलंग को तथा कुटिया के आगे बड़े-बड़े महलों को भूल गये और फल की इच्छा छोड़कर तप करने लगे ॥ 2 ॥ पिता से पाई हुई पृथ्वी का पालन करने में अग्निवर्ण को कोई कठिनाई नहीं हुई, क्योंकि उनके पिता शत्रुओं को पहले हरा चुके थे। इसलिये इन्हें तो केवल भोग करने के लिये ही राज्य मिला था, राजय के शत्रुओं को मिटाने के लिये नहीं ॥ 3 ॥ इसका फल यह हुआ कि अग्निवर्ण कामुक हो गए। कुछ दिनों तक तो वे स्वयं राजकाज देखते रहे, पर फिर मन्त्रियों पर राज्य का भार डालकर वे जवानी का रस लेने लग गए ॥ 4 ॥ वह कामी राजा कामिनियों के साथ उन भवनों में दिन-रात पड़ा रहने लगा, जिसमें बराबर मृदंग बजते रहते थे और प्रतिदिन एक से एक बढ़कर ऐसे उत्सव होते रहते थे कि अगले दिन के उत्सव के धूम-धड़ाके के आगे पहले दिन का उत्सव फीका पड़ जाता था ॥ 5 ॥ उसे ऐसा चसका लग गया कि वह क्षण भर भी भोगविलास के बिना नहीं रह सकता था, इसलिये वह सदा रनिवास के भीतर ही रहकर विहार करने लगा। उसके दर्शन के लिये जनता अधीर रहती थी, पर वह कभी उनकी सुध नहीं लेता था ॥ 6 ॥ यदि कभी मन्त्रियों के बहुत कहने सुनने से वह प्रजा को दर्शन भी देता तो बस इतना ही कि झरोखे से एक पैर बाहर लटका देता था ॥ 7 ॥ राजकर्मचारी उनके नखों की लाली वाले उस चरण को नमस्कार करके आराधना करते थे, जो प्रभात की लाल किरणों से भरे हुए कमल के समान सुन्दर था ॥ 8 ॥ यह महाकामी राजा उन बाबड़ियों

यौवनोन्नतविलासिनीस्तनक्षोभलोलकमलाश्च दीर्घिकाः ।
 गूढमोहनगृहास्तदम्बुभिः स व्यगाहत विगाढमन्मथः ॥ 9 ॥
 तत्रा सेकहतलोचनाञ्जनैर्धौ तरागपरिपाटलाधरैः ।
 अङ्गनास्तमधिकं व्यलोभयन्नर्पितप्रकृतकान्तिभिर्मुखैः ॥ 10 ॥
 घ्राणकान्तमधुगन्धकर्षिणीः पानभूमिरचनाः प्रियासखः ।
 अभ्यपद्यत स वासितासखः पुष्पिताः कमलिनीरिव द्विपः ॥ 11 ॥
 सातिरेकमदकारणं रहस्तेन दत्तामभिलेपशुरङ्गनाः ।
 ताभिरप्युपहृतं मुखासवं सोऽपिबद्धकुलतुल्यदोहदः ॥ 12 ॥
 अङ्गमङ्गपरिवर्तनोचितं तस्य निन्यतुरशून्यतामुभे ।
 वल्लकी च हृदयङ्गमस्वना वल्गुवागपि च वामलोचना ॥ 13 ॥
 स स्वयं प्रहतपुष्करः कृती लोलमाल्यवलयो हरन्मनः ।
 नर्तकीरभिनयातिलङ्घिनीः पार्श्ववर्तिषु गुरुष्वलज्जयत् ॥ 14 ॥
 चारु नृत्यविगमे च तन्मुखं रवेदभिन्नतिलकं परिश्रमात् ।
 प्रेमदत्तवदनानिलः पिबन्नत्यजीवदमरालकेश्वरौ ॥ 15 ॥
 तस्यसावरणदृष्टसंघायः काम्यवस्तुषु नवेषु सङ्गिनः ।
 वल्लभाभिरुपसृत्य चक्रिरे सामिभुक्तविषयाः समागमाः ॥ 16 ॥

में सुन्दरी स्त्रियों के साथ विहार किया करता था, जिनमें ऐसे विलास घर भी बने हुए थे जहाँ स्त्रियों के ऊँचे-ऊँचे स्तन जब बावली के कमलों से टकराने लगते थे, तब कमल भी हिलने लगते थे ॥ 9 ॥ जल में स्नान करने से जब उन स्त्रियों की आँखों का आँजन छुट जाता था और ओठों पर लगी हुई लाली धुल जाती थी तब उनकी स्वाभाविक सुन्दरता देखकर वह और भी अधिक मोहित हो उठता था ॥ 10 ॥ जैसे खिली हुई कमलिनीयों की गन्ध से भरे सरोवर में हथिनियों के साथ हाथी जा बैठता है, वैसे ही अग्निवर्ण भी सुन्दरी स्त्रियों के साथ-मघ के गन्ध में बसी हुई उस पानशाला या मदिरा घर में जा पहुँचता था ॥ 11 ॥ जहाँ वे स्त्रियाँ अग्निवर्ण का जूठा मदकारी आसव बड़े प्रेम से पीती रहती थी। जैसे मौलसिरी का पेड़ स्त्रियों के मुख का आसव पाने को तरसा करता है वैसे ही उन स्त्रियों के मुख का आसव पीने की इच्छा करने वाला अग्निवर्ण भी उनके मुँह का आसव पीया करता था ॥ 12 ॥ गोद में बैठने योग्य दो ही वस्तुएँ हैं- एक तो मनोहर शब्द वाली वीणा और दूसरी मधुर-भाषिणि कामिनी। इन दोनों ने उसकी गोद को सदा भरपूर रक्खा ॥ 13 ॥ जब नर्तकियों के नाचते समय वह स्वयं मृदंग बजाने लगता था, तब उसके गले की माला हिल-हिल उठती थी। उस समय वह ऐसा सुन्दर लगता था कि नर्तकियाँ अपनी सारी सुध-बुध खोकर नाचना भी भूल जाती थीं। फल यह होता था कि उन्हें नाचना सिखाने वाले उनके जो गुरु वहाँ बैठे रहते थे, उनके आगे वे अपनी इस बात पर लजा जाती थीं ॥ 14 ॥ जब नृत्य समाप्त हो चुकने पर नाचने के परिश्रम से उनके मुख पर पसीने की बूँदें छा जाती थीं और राजा अग्निवर्ण प्रेमपूर्वक फूँक मार-मारकर उनका मुख चूमने लगता था, तब वह समझता था कि मैं इन्द्र और कुबेर से भी बढ़कर सुखी और भाग्यवान हूँ, ॥ 15 ॥ वह सदा नई-नई भोग की सामग्री चाहता रहता था। जिस वस्तु से उसका मन भर जाता था, उसे वह छोड़ देता था, इसीलिये स्त्रियाँ संभोग के समय राजा से आधी ही रति करके उठ खड़ी होतीं, पूरी नहीं क्योंकि उन्हें डर था कि यदि राजा पूर्ण रूप से तृप्त

अङ्गुलीकिसलयाग्रतर्जनं भ्रूविभङ्गकुटिलं च वीक्षितम् ।
 मेखालाभिरसकृच्च बन्धनं वस्त्रयन्प्रणयिनीरवाप सः ॥ 17 ॥
 तेन दूतिविदितं निषेदुषा पृष्ठतः सुरतवाररात्रिषु ।
 शुश्रुवे प्रियजनस्य कातरं विप्रलम्भपरिशङ्किनो वचः ॥ 18 ॥
 लौल्यमेत्य गृहिणीपरिग्रहान्नर्तकीष्वसुलभासु तद्वपुः ।
 वर्तते स्म स कथंचिदालिखान्नङ्गुलीक्षरणसन्नवर्तिकः ॥ 19 ॥
 प्रेमगर्वितविपक्षमत्सरादायताच्च मदनान्महीक्षितम् ।
 निन्युरुत्सवविधिच्छलेन तं देव्य उज्जितरुषः कृतार्थताम् ॥ 20 ॥
 प्रातरेत्य परिभोगशोभिना दर्शनेन कृतखण्डनव्यथाः ।
 प्राञ्जलिः प्रणयिनीः प्रसादयन्सोऽधुनोत्प्रणयमन्धरः पुनः ॥ 21 ॥
 स्वप्नकीर्तितविपक्षमङ्गनाः प्रत्यभौत्सुरवदन्त्य एव तम् ।
 प्रच्छवान्तगलिताश्रुबिन्दुभिः क्रोधाभिन्नवलदैर्विवर्तनैः ॥ 22 ॥
 क्लृप्तपुष्पशयनल्लतागृहानेत्य दूतिकृतमार्गदर्शनः ।
 अन्वभूत्परिजनाङ्गनारतं सोऽवरो धम्यवैपथ्यतरम् ॥ 23 ॥

हो जायगा तो हमें छोड़ देगा ॥ 16 ॥ कभी-कभी जब वह राजा उन कामिनियों को धोखा या चकमा दे जाता था तब वे बिगड़कर अपनी लाल-लाल उँगलियाँ चमका-चमकाकर धमकाती थीं, भौंहें तरेरती थीं और राजा को अपनी करधनी से बाँध देती थीं ॥ 17 ॥ जिस दिन रात को उसे किसी स्त्री से संभोग करने जाना होता तो दूती से सब बातें बताकर वह पास ही छिपकर जा बैठता। वह स्त्री जब आती और विप्रलब्धा नायिका के समान दूती से विरह की (इस प्रकार) बातें करने लगती (कि पता नहीं वे कब आवेंगे, अभी तक आए क्यों नहीं इत्यादि) तब वह उन बातों को छिपे-छिपे बड़े प्रेम से सुना करता था ॥ 18 ॥ जब कभी उसे रानियाँ रोक लेतीं और नर्तकियों के न मिलने से वह विरह-कातर होकर हाथ में तूलिका लेकर किसी नर्तकी का चित्र बनाने लगता, उस समय उस नर्तकी का स्मरण हो जाने से सात्त्विक भाव के कारण उसकी उँगलियों में पसीना आ जाता और कूँची फिसल पड़ती थी। इस प्रकार वह बड़ी कठिनाई से चित्र बना पाता था ॥ 19 ॥ यदि राजा किसी रानी से प्रेम करने लगता तब वह गर्व से फूली न समाती पर उसकी सौतें जल उठती थीं और कामातुर होकर किसी उत्सव का बहाना करके राजा को अपने यहाँ बुलाकर उसके साथ अपनी तपन बुझाती थीं ॥ 20 ॥ रात में बाहर किसी स्त्री से संभोग करके जब राजा प्रातःकाल घर लौटता था तब रात के भोग वाले सुन्दर वेश में उसे देखकर उसकी प्रेमिकाएँ खंडिता नायिका के समान आँसू बहाने लगती थीं पर राजा हाथ जोड़कर उन्हें मना ही लेता था। पर जब रात की थकावट के कारण वह उनसे भरपूर प्रेम नहीं कर पाता था तब वे फिर व्याकुल हो उठती थीं ॥ 21 ॥ जब स्त्रियाँ देखती कि राजा स्वप्न में बड़बड़ाते हुए किसी दूसरी स्त्री की बड़ाई कर रहा है तब वे कामिनियाँ बिना बोले ही विस्तर के कोने पर आँसू गिराती हुई, क्रोध से कंगन तोड़कर उनसे पीठ फेरकर सो रहती थीं और इस प्रकार उनसे रुठ बैठती थीं ॥ 22 ॥ कभी-कभी दूतियाँ राजा को मार्ग दिखाती हुई जब उस स्थान पर ले जातीं जहाँ लताओं के बीच में सम्भोग के लिये फूलों की सेज बिछी रहती थी तब उसे यही डर बना रहता कि कहीं ये दासियाँ जाकर रानियों से न कह दें, इसलिये दासियों को फुसलाने के लिये वह उन दासियों से ही सम्भोग करके उन्हें प्रसन्न कर देता था ॥ 23 ॥

नाम वल्लभजनस्य ते मया प्राप्य भाग्यमपि तस्य काङ्क्ष्यते ।
 लोलुपं ननु मनो ममेति तं गोत्रविस्खलितमूचुरङ्गनाः ॥ 24 ॥
 चूर्णबभ्रुलुलितसगाकुलं छिन्नमेखालमलक्तकाङ्कितम् ।
 उत्थितस्य शयनं विलासिनस्तस्य विभ्रमरतान्यपावृणोत् ॥ 25 ॥
 स स्वयं चरणरागमादधे योषितां न च तथा समाहितः ।
 लोभ्यमाननयनः श्लथांशुकैर्मखलागुणपदैर्नितम्बिभिः ॥ 26 ॥
 चुम्बने विपरिवर्तिताधारं हस्तरोधि रशनाविघट्टने ।
 विघ्नितेच्छमपि तस्य सर्वतो मन्मद्येन्धानमभूदधूरतम् ॥ 27 ॥
 दर्पणेषु परिभोगदर्शिनीर्नर्मपूर्वमनुपृष्ठसंस्थितः ।
 छायया स्मितमनोज्ञया वधूद्वीनिमीलितमुखीश्चकार सः ॥ 28 ॥
 कण्ठसक्तमृदुबाहुबन्धानं न्यस्तपादतलमग्रापादयोः ।
 प्रार्थयन्त शयनोत्थितं प्रियास्तं निशात्ययविसर्गचुम्बनम् ॥ 29 ॥
 प्रेक्ष्य दर्पणतलस्थमात्मनो राजवेशमतिशक्रशोभिनम् ।
 पिप्रिये न स तथा यथा युवा व्यक्तलक्ष्म परिभोगमण्डनम् ॥ 30 ॥
 मित्रकृत्यमपदिश्य पार्श्वतः प्रस्थितं तमनवस्थितं प्रियाः ।
 विच हे शठ पलायनच्छलान्यञ्जसेति रुरुधुः कचग्रहैः ॥ 31 ॥

कभी-कभी जब वह भूल से अपनी स्त्रियों के आगे किसी बाहरी प्रेमिका का नाम ले लेता तो वे स्त्रियाँ कहने लगतीं कि बड़ा अच्छा हुआ जो आपने अपनी प्रेमिका का नाम बता दिया। धन्य है उसका भाग्य! पर क्या करें, हमारा भी तो लोभी मन नहीं मानता। आपको कैसे छोड़ दें? ॥ 24 ॥ जब वह सोकर उठता तब उसका पलँग फैले हुए केसर के चूर्ण से सुनहरा दिखाई देता, उस पर फूलों की मसली हुई मालाएँ, टूटी हुई तगड़ियाँ और जहाँ-तहाँ महावर की छाप पड़ी रहती थीं, जिसे देखकर प्रकट होता था कि वह कितना विलासी है ॥ 25 ॥ कभी-कभी जब वह स्वयं स्त्रियों के पैरों में महावर लगाने बैठ जाता और उसकी दृष्टि स्त्रियों के उन नितम्बों पर पड़ जाती जिन पर से कपड़ा सरका हुआ रहता था तब उन्हें देखकर वह ऐसा मुग्ध हो जाता कि भलीभाँति महावर भी नहीं लगा पाता था ॥ 26 ॥ सम्भोग के समय जब वह स्त्रियों के ओंठ चूसने लगता तब वे अपने मुँह फेर लेतीं और जब कमर का नाड़ा खोलने लगता तब हाथ थाम लेती। इस प्रकार वह जो कुछ करना चाहता, स्त्रियाँ कुछ भी नहीं करने देती थीं, फिर भी उसका काम बढ़ता ही गया ॥ 27 ॥ जब कभी स्त्रियाँ दर्पण के आगे खड़ी होकर दाँत काटने या चूँटने आदि संभोग के चिन्हों को देखने लगती थीं, तब राजा उनके पीछे चुपके से खड़ा होता और मुसकरा देता। जब दर्पण में उसका प्रतिबिम्ब स्त्रियाँ देख लेतीं तब वे झेंपकर मुँह नीचा कर लेती थीं ॥ 28 ॥ जब वह प्रातःकाल पलँग से उठकर जाने लगता तब स्त्रियों की इच्छा होती कि बिछुड़ने के पहले राजा एक बार गले में बाँहें डालकर चूम तो ले ॥ 29 ॥ वह राजा इन्द्र के वस्त्र से भी सुन्दर अपने राजसी वस्त्र को दर्पण में देखकर उतना प्रसन्न नहीं होता था जितना संभोग के चिन्हों को देखकर ॥ 30 ॥ कभी-कभी अपनी रानियों के पास बैठे-बैठे उसके मन में किसी प्रियतमा के पास जाने की इच्छा होती तो वह यह कहकर उठने लगता- 'अरे! मुझे एक मित्र से मिलने जाना है।' यह सुनकर रानियाँ ताड़ जातीं और कहने लगतीं कि हम भी भलीभाँति जानती हैं कि तुम किस मित्र के यहाँ जा रहे हो और

तस्य निर्दयरतिश्रमालसाः कण्ठसूत्रमपदिश्य योषितः ।
 अध्यशेरत बृहद्भुजान्तरं पीवरस्तनवितुप्तचन्दनम् ॥ 32 ॥
 संगमाय निशि गूढचारिणं चारदूतिकथितं पुरोगताः ।
 वञ्चयिष्यसि कुतस्तमोवृतः कामुकेति चकृषुस्तमङ्गनाः ॥ 33 ॥
 योषितामुडुपतेरिवार्चिषां स्पर्शनिर्वृतिमसाववाप्नुवन् ।
 आरुरोह कुमुदाकरोपमां रात्रिजागरपरो दिवाशयः ॥ 34 ॥
 वेणुना दशनपीडिताधरा वीणया नखापदाङ्कितोरवः ।
 शिल्पकार्यं उभयेन वेजितास्तं विजिह्वनयना व्यलोभयन् ॥ 35 ॥
 अङ्गसत्त्ववचनाश्रयं मिथः स्त्रीषु नृत्यमुपधाय दर्शयन् ।
 स प्रयोगनिपुणैः प्रयोक्तृभिः संजघर्ष सह मित्रसन्निधौ ॥ 36 ॥
 अंसलम्बिकुटजार्जुनस्रजस्तस्य नीपरजसाङ्गरागिणः ।
 प्रावृषि प्रमदबर्हिणेष्वभूत्कृत्रिमाद्रिषु विहारविभ्रमः ॥ 37 ॥
 विग्रहाच्च शयने पराङ्मुखीर्नानुनेतुमबलाः स तत्त्वे ।
 आचकाङ्क्ष घनशब्दविकलवास्ता विवृत्य विशतीर्भुजान्तरम् ॥ 38 ॥
 कार्तिकीषु सवितानहर्म्यभाग्यामिनीषु ललिताङ्गनासखः ।
 अन्वभुङ्क्त सुरतश्रमापहां मेघमुक्तविशदां च चन्द्रिकाम् ॥ 39 ॥

फिर बाल पकड़कर उसे रोक लेतीं ॥ 31 ॥ जब कभी उनके साथ बहुत देर तक संभोग करने के कारण स्त्रियाँ अलसा जाती थीं तब वे अपने मोटे-मोटे स्तनों से राजा की छाती के चन्दन को पोंछती हुई उसके वक्षःस्थल पर इस प्रकार सो जाती थीं मानों वे संभोग का वह कंठसूत्र नाम का आसन साध रही हों जिसमें स्त्रियाँ पति के ऊपर सोकर अपने स्तनों से धीरे-धीरे अपने प्रियतम की छाती को थपकते हुए कसकर छाती से लिपट जाती हैं ॥ 32 ॥ रात को वह संभोग की इच्छा से छिपकर जब बाहर जाने को होता था तब दूतियों से समाचार पाकर उसकी स्त्रियाँ उसके आगे आ खड़ी होतीं और यह कहते हुए खींच लातीं कि कहिए चकमा देकर रात को किधर चले ॥ 33 ॥ स्त्रियों के स्पर्श से उसे वैसा ही आनन्द मिलता था जैसा चन्द्रमा की किरणों से, अतः वह कुमुदों के समान रातभर जागरण करता और दिनभर सोया रहता ॥ 34 ॥ उसने गाने वाली स्त्रियों के ओठों पर अपने दाँत के और उनकी जाँघों पर चूँट-चूँटकर नखों के ऐसे घाव कर दिए थे कि जब वे अपने अधरों पर बाँसुरी और जाँघ पर वीणा रखतीं तब उन्हें बड़ा कष्ट होता और वे टेढ़ी भौंहों से राजा की ओर देखने लगतीं (कि यह सब आप ही की करतूत है) उनकी यह भावभंगी देखकर राजा उन पर और भी रीझ उठता ॥ 35 ॥ इतना ही नहीं, जब वह एकान्त में स्त्रियों को आंगिक, सात्त्विक और वाचिक तीनों प्रकार का अभिनय सिखाकर अपने मित्रों के आगे उनका प्रदर्शन करता था तब वह बड़े-बड़े नाट्यशास्त्रियों के भी कान काटता था ॥ 36 ॥ वर्षा ऋतु में वह कुटज और अर्जुन की माला गले में डालकर तथा शरीर में कदम्ब के पराग का अंगराग लगाकर, मतवाले मोरों से भरे हुए क्रीडा-पर्वतों पर विहार किया करता था ॥ 37 ॥ जब पलंग पर सोई हुई स्त्रियाँ रूठकर पीठ फेरकर सो जातीं तब राजा उन्हें मनाना नहीं चाहता था, वरन् वह चाहता था कि किसी प्रकार बादल गरज उठें जिससे डरकर ये स्वयं मेरी छाती से आ चिपटें ॥ 38 ॥ कार्तिक की रातों में वह राजभवन के ऊपर चँदोवा तनवा देता था और सुन्दरियों के साथ उस चाँदनी का आनन्द लेता था

सैकतं च सरयू विवृण्वतीं श्रोणिबिम्बमिव हंसमेखलम् ।
 स्वप्रियाविलसितानुकारिणीं सौधजालविवरैर्व्यलोकयत् ॥ 40 ॥
 मर्मरै रगुरुधूपगन्धिाभिव्यक्तहे मरशानैस्तमेकतः ।
 जहुरागधनमोक्षालो लुपं हैमनैर्निवसतैः सुमध्यमाः ॥ 41 ॥
 अर्पितस्तिमितदीपदृष्टयो गर्भवेश्मसु निवातकुक्षिषु ।
 तस्य सर्वसुरतान्तरक्षमाः साक्षितां शिशररात्रयो ययुः ॥ 42 ॥
 दक्षिणेन पवनेन संभृतं प्रेक्ष्य चूतकुसुमं सपल्लवम् ।
 अन्वनैशुरवधूतविग्रहास्तं दुरुत्सहवियो गमङ्गनाः ॥ 43 ॥
 ताः स्यमङ्गमधिरोप्य दोलया प्रेङ्खयन्परिजनापविद्धया ।
 मुक्तरज्जु निबिडं भयच्छलात्कण्ठबन्धनमवाप बाहुभिः ॥ 44 ॥
 तं पयो धारनिषिक्तचन्दनैर्मौक्तिकग्रथितचारुभूषणैः ।
 ग्रीष्मवेषविधिभिः सिषेविरे श्रोणिलम्बिमणिमेखलैः प्रियाः ॥ 45 ॥
 यत्स लग्नसहकारमासवं रक्तपाटलसमागमं पपौ ।
 तेन तस्य मधुनिर्गमात्कृशश्चित्तयो निरभवत्पुनर्नवः ॥ 46 ॥
 एवमिन्द्रियसुखानि निर्विशन्नयकार्यविमुखः स पार्थिवः ।
 आत्मलक्षणानिवेदितान् तून्त्यवाहयदनङ्गवाहितः ॥ 47 ॥

जो संभोग का श्रम दूर करती है और जो बादलों के न रहने से बराबर फैली रहती है ॥ 39 ॥ वह अपने राजभवन के झरोखे से उस सरयू को देखा करता था जिसके तट पर उजले हंसों की पाँतें बैठी रहती थीं । वह दृश्य ऐसा दिखाई देता था मानो सरयू उन सुन्दरियों का अनुकरण कर रही हो जिनके नितम्बों पर तगड़ी पड़ी हो ॥ 40 ॥ पतली कमर वाली स्त्रियाँ जाड़े में ऐसे कपड़े पहनती थीं जो माड़ी के कारण करकराते चलते थे और जिनके नीचे झलकती हुई सोने की तगड़ी को बाँधने और खोलने के लिये लालाघित रहने वाला वह राजा मोहित हो उठता था ॥ 41 ॥ सब प्रकार की संभोग-क्रीड़ा करने योग्य हेमन्त ऋतु की बड़ी-बड़ी रातों से वह राज-भवन की भीतरी कोठियों में विहार किया करता था जहाँ उसके साक्षी केवल वे दीप होते थे जो वायु के न आने से एकटक होकर सब कुछ देखा करते थे ॥ 42 ॥ मलय पर्वत से आए हुए दक्षिण पवन से आमों में बौर छाप देखकर प्रेमिकाएँ कामोन्मत्त होकर राजा से रूठना छोड़ देतीं और उनके विरह में व्याकुल होकर स्वयं उन्हें ढूँढ़ने लगतीं ॥ 43 ॥ उन स्त्रियों को गोद में बैठाकर वह उन झूलों में झूलने लगता जिन्हें नौकर झुलाया करते थे । राजा एक बार जब झूले को झटका देता तो वे स्त्रियाँ भय का बहाना करके रस्सी छोड़ देती और राजा के गले में बाँह डालकर उनसे जा लिपटतीं ॥ 44 ॥ ग्रीष्म ऋतु में स्तनों पर चन्दन लगाकर, मोतियों के आभूषण पहनकर और नितम्ब पर मणि की तगड़ी लटकाकर वे स्त्रियाँ उस राजा के साथ संभोग करके उसे प्रसन्न करती रहती थीं ॥ 45 ॥ उस समय वह आम की बौर और पाटल का लाल फूल पात्र में लगाकर आसव पीने लगता था जिससे बसंत बीतने से मंद पड़ा हुआ उसका काम फिर जाग उठता था ॥ 46 ॥ इस प्रकार वह कामी राजा राजकाज छोड़कर इन्द्रिय-सुखों का रस लेता हुआ सब ऋतुएँ बिताने लगा । वह कामक्रीड़ा के लिये भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न प्रकार का वेश बनाया करता था, इसलिए उसका वेश देखकर ही ज्ञात हो जाता था कि किस समय कौन सी ऋतु है ॥ 47 ॥ इतना व्यसन में लीन होने पर भी दूसरे

तं प्रमत्तमपि न प्रभावतः शोकुराक्रमितुमन्यपार्थिवाः ।
 आमयस्तु रतिरागसंभवो दक्षशाप इव चन्द्रमक्षिणोत् ॥ 48 ॥
 दृष्टदोषमपि तत्र सोऽत्यजत्सङ्गवस्तु भिणजामनाश्रवः ।
 स्वादुभिस्तु विषयैर्हृतस्ततो दुःखमिन्द्रियगणो निवार्यते ॥ 49 ॥
 तस्य पाण्डुवदनाल्पभूषणा सावलम्बगमना मृदुस्वना ।
 राजयक्ष्मपरिहानिराययौ कामयानसमवस्थाया तुलाम् ॥ 50 ॥
 व्योम पश्चिमकलास्थितेन्दु वा पङ्कशेषमिव धर्मपल्लवम् ।
 राज्ञि तत्कुलमभूत्क्षयातुरे वामनार्चिरिव दीपभाजनम् ॥ 51 ॥
 बाढमेष दिवसेषु पार्थिवः कर्म साधयति पुत्रजन्मने ।
 इत्यदर्शितरुजोऽस्य मन्त्रिणः शश्वदूचुरघशङ्किनीः प्रजाः ॥ 52 ॥
 स त्वनेकवनितासखोऽपि सन्पावनीमनवलोक्य संततिम् ।
 वैद्ययत्नपरिभाविनं गदं न प्रदीप इव वायुमत्यगात् ॥ 53 ॥
 तं गृहोपवन एव संगताः पश्चिमक्रतुविदा पुरोधसा ।
 रोगशान्तिमपदिश्य मन्त्रिणः संभृते शिखिनि गूढमादधः ॥ 54 ॥
 तैः कृतप्रकृतिमुख्यसंग्रहैराशु तस्य सहधर्मचारिणी ।
 साधु दृष्टशुभगर्भलक्षणा प्रत्यपद्यत नराधिपश्रियम् ॥ 55 ॥

राजा उसके राज्य पर आक्रमण नहीं करते थे। फिर भी जैसे दक्ष के शाप से चन्द्रमा को क्षय रोग हो गया था वैसे ही अधिक भोग-विलास करने से उसे भी क्षय रोग हो गया और धीरे-धीरे बढ़ने लगा ॥ 48 ॥
 वैद्यों के बार-बार रोकने पर भी उसने काम को जगाने वाली वस्तुएँ नहीं छोड़ीं क्योंकि जब इन्द्रियों एक बार विषयों में जा फँसती हैं तब उन्हें रोकना कठिन हो जाता है ॥ 49 ॥ धीरे-धीरे उसका शरीर पीला पड़ने लगा, दुर्बलता के कारण उसने आभूषण पहनना भी छोड़ दिया, वह नौकरों के कन्धे पर सहारा देकर चलने लगा, उसकी बोली धीमी पड़ गई और यक्ष्मा रोग से सूखकर वह ठीक विरहियों के समान दिखाई देने लगा ॥ 50 ॥ राजा के क्षय रोग से रोगी होने पर सूर्य कुल ऐसा रह गया जैसे एक कला भर बचा हुआ कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी का चन्द्रमा हो या कीचड़ भर बचा हुआ गर्भ के दिनों का तालाब हो या तनिक-सी बची हुई दीपक की लौ हो ॥ 51 ॥ जब प्रजा पूछती थी कि राजा को कोई भयानक रोग तो नहीं है, उस समय मन्त्री लोग प्रजा को यह कहकर समझाते थे कि राजा इस समय पुत्रोत्पत्ति के लिये व्रत आदि कर रहे हैं, इसलिये दुर्बल होते जा रहे हैं। इस प्रकार वे लोग राजा के रोग की बात जनता से छिपाते जा रहे थे ॥ 52 ॥ अनेक रानियों के होते हुए भी वह राजा पुत्र का मुँह नहीं देख सका और वैद्य लोग राजा को अच्छा नहीं कर सके। जैसे वायु के आगे दीपक का कुछ भी वश नहीं चलता वैसे ही राजा भी रोग से नहीं बचाया जा सकता ॥ 53 ॥ अन्त्येष्टि की विधि जानने वाले पुरोहित से मिलकर मंत्रियों ने रोग-शान्ति के बहाने से राजा के शव को राजभवन के उपवन में ही चुपचाप जलती अग्नि में रख दिया कि कहीं बाहर ले जाने से यह रोग प्रजा में न फैल जाय ॥ 54 ॥ मन्त्रियों ने शीघ्र ही प्रजा के नेताओं को इकट्ठा किया और उनकी सम्मति से राजा की उन पटरानी को सिंहासन का बैठाया जिसमें गर्भ के शुभ चिह्न दिखाई दे रहे थे ॥ 55 ॥ राजा की ऐसी दुःखद मृत्यु से महारानी की आँखों के गरम-गरम आँसुओं से तपे हुए गर्भ पर जब कुल परम्परा के अनुसार अभिषेक के समय सोने के

तस्यास्तथाविधनरेन्द्रविपत्तिशोकादुष्णैर्विलोचनजलैः प्रथमाभितप्तः ।

निर्वापितः कनककुम्भमुखोज्झितेन वंशाभिषेकविधिना शिशिरेण गर्भः ॥ 56 ॥

तं भावार्थप्रसवसमयाकाङ्क्षिणीनां प्रजानामन्तर्गूढं क्षितिरेव नभोबीजमुष्टि दधाना ।

मौलैः सार्धं स्थविरसचिवैर्हंससिंहासनस्था राज्ञी राज्यं विधिवदशिषद्भर्तुरव्याहताज्ञा ॥ 57 ॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्य

अग्निवर्णशृङ्गारो नामैकोनविंशः सर्गः ॥

॥ इति रघुवंशम् ॥



घड़े से शीतल जल पड़ा तब वह गर्भ शीतल हो गया ॥ 56 ॥ जैसे सावन में बोए हुए मुट्ठी भर बीजों को पृथ्वी छिपाए रहती है वैसे ही महारानी भी अपनी उस प्रजा की भलाई के लिए गर्भ धारण किए हुए थीं जो पुत्र उत्पन्न होने की बाट जोह रही थीं। इस प्रकार जिसका कहना कोई टाल नहीं सकता था वह गर्भवती महारानी बूढ़े मन्त्रियों की सम्मति के अनुसार राजकाज चलाने लगीं ॥ 57 ॥

महाकवि श्रीकालिदास के रचे हुए रघुवंश महाकाव्य में अग्निवर्ण का शृंगार

नाम का उन्नीसवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥

॥ रघुवंशमहाकाव्य पूर्ण हुआ ॥



॥ प्रथम सर्गः ॥

॥ कुमारसम्भवम् ॥

11-11-11

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

॥ कुमारसम्भवम् ॥

॥ प्रथमः सर्गः ॥

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥ 1 ॥
यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे ।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुर्धरित्रीम् ॥ 2 ॥
अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम् ।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ॥ 3 ॥
यश्चाप्सरोविभ्रमण्डनानां संपादयित्रीं शिखरैर्विभर्ति ।
बलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसंध्यामिव धातुमत्ताम् ॥ 4 ॥
आमेखलं संचरतां घनानां छायामधःसानुगतां निषेव्य ।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः ॥ 5 ॥

पहला सर्ग

भारत के उत्तर में देवता के समान पूजनीय (या देवताओं ही देवताओं से भरा हुआ) हिमालय नाम का बड़ा भारी पहाड़ है जो पूर्व और पश्चिम के समुद्रों तक फैला हुआ ऐसा लगता है मानो वह पृथ्वी को नापने-तौलने का मापदंड हो ॥ 1 ॥ राजा पृथु के कहने से सब पर्वतों ने मिलकर इसे बछड़ा बनाया और दुहने में चतुर मेरु पर्वत को ग्वाला बनाकर पृथ्वी रूपी गौसे सब चमकीले रत्न और जड़ी-बूटियाँ दूह निकालीं ॥ 2 ॥ अनगिनत रत्न उत्पन्न करने वाले इस हिमालय की शोभा हिम के कारण कुछ कम नहीं हुई क्योंकि जहाँ बहुत से गुण हों वहाँ यदि एक-आध अवगुण आ भी जाय तो उसका वैसे ही पता नहीं पड़ता जैसे चन्द्रमा की किरणों में उसका कलंक छिप जाता है ॥ 3 ॥ हिमालय की कुछ चोटियों पर गेरु आदि धातुओं की अनेक रंग-विरंगी चट्टानें हैं इसलिये कभी-कभी उन चट्टानों के पास पहुँचे हुए बादलों के टुकड़े उनके रंग की छाया पड़ने से सन्ध्या के बादलों जैसे रंग विरंगे दिखाई पड़ने लगते हैं । उन्हें देखकर सन्ध्या होने से पहले ही वहाँ की अप्सराओं को यह भ्रम हो जाता है कि सन्ध्या हो गई और इस हड़बड़ी में वे सायंकाल के नाच-गाने के लिये अपना श्रृंगार करना प्रारम्भ कर देती हैं ॥ 4 ॥ इसकी कुछ चोटियाँ इतनी ऊँची उठी हुई हैं कि मेघ भी उनके बीच तक ही पहुँच कर रह जाते हैं, उनके ऊपर का आधा भाग मेघों के ऊपर निकला रहता है । इसलिये निचले भाग में छाया का आनन्द लेने वाले सिद्ध लोग जब अधिक वर्षा से घबरा उठते हैं, तब वे बादलों के ऊपर उठी हुई उन चोटियों पर जा रहते हैं जहाँ उस समय भी धूप बनी रहती है ॥ 5 ॥ यहाँ के सिंह जब हाथियों को मारकर चले जाते हैं तो रक्त से लाल रंगे हुए उनके पंजों की पड़ी हुई छाप तो हिम की धारा से धुल जाती है पर सिंहों के नखों से गिरी हुई गजमुक्ताओं को देखकर ही वहाँ के किरात जान लेते हैं कि सिंह किधर से

पदं तुषारसु तिधौतक्तं यस्मिन्नदृष्ट्वापि हतद्विपानाम् ।
 विदन्ति मार्गं नखरन्ध्रमुक्तैर्मुक्ताफलैः केसरिणां किराताः ॥ 6 ॥
 न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः ।
 व्रजन्ति विद्याधारसुन्दरीणामनङ्गले छाक्रिययोपयोगम् ॥ 7 ॥
 यः पूरयन्कीचरकरन्ध्रभागान्दरीमुखोत्थेन समीरणेन ।
 उद्गास्यतामिच्छति किंनराणां तामप्रदायित्वमिवोपगन्तुम् ॥ 8 ॥
 कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं विघट्टितानां सरलदुमाणाम् ।
 यत्र स्त्रुतक्षीरतया प्रसूतः सानूनि गन्धः सुरभीकरोति ॥ 9 ॥
 वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्सङ्गनिष्कृताभासः ।
 भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः ॥ 10 ॥
 उद्वेजयत्यङ्गुलिपार्ष्णिभागान्मार्गे शिलीभूतहिमेऽपि यत्र ।
 न दुर्वहश्रोणिपयोधरार्ता भिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्यः ॥ 11 ॥
 दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम् ।
 क्षुब्धेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसां सतीव ॥ 12 ॥
 लाङ्गूलविक्षोपविसर्पिशां भौरितस्ततश्चन्द्रमरीचिगौरैः ।
 यस्यार्धयुक्तं गिरिराजशब्दं कुर्वन्ति बालव्यजनैश्चमर्यः ॥ 13 ॥

होकर गए हैं ॥ 6 ॥ इस पर्वत पर उत्पन्न होने वाले जिन भोज-पदों पर लिखे हुए अक्षर हाथी की सूँड़ पर बनी हुई लाल बूँदकियों जैसे दिखाई पड़ते हैं उन्हें विद्याधारियाँ अपने प्रेम-पत्र लिखने के काम में लाया करती हैं ॥ 7 ॥ इस पहाड़ पर ऐसे छेद वाले बाँस बहुतायत से होते हैं जो वायु भर जाने पर ऐसे बजने लगते हैं मानो ऊँचे स्वर से गाने वाले किन्नरों के गीतों के साथ ये संगत कर रहे हों ॥ 8 ॥ जब यहाँ के हाथी अपनी कनपटी खुजलाने के लिये देवदारु के पेड़ों से माथा रगड़ते हैं तब उनसे ऐसा सुगन्धित दूध बह निकलता है कि उनकी महक से इस पर्वत की सभी चोटियाँ एक साथ गमक उठती हैं ॥ 9 ॥ यहाँ की गुफाओं में रात को चमकने वाली जड़ी-बूटियाँ भी बहुत होती हैं। इसलिये यहाँ के किरात लोग जब अपनी-अपनी प्रियतमाओं के साथ उन गुफाओं में विहार करने आते हैं तब वे चमकीली जड़ी-बूटियाँ ही उनकी काम-क्रीड़ा के समय बिना तेल के दीपक बन जाती हैं ॥ 10 ॥ वहाँ की किन्नरियाँ जब जमे हुए हिम के मार्गों पर चलने लगती हैं तब उसकी उँगलियाँ और एड़ियाँ ऐँठ जाती हैं, पर वे करें क्या! अपने भारी नितम्बों और स्तनों के बोझ के मारे वे बेचारी झपटकर चल नहीं पाती और चाहते हुए भी वे अपनी स्वाभाविक मन्द गति को छोड़ नहीं पाती ॥ 11 ॥ हिमालय की लम्बी गुफाओं में दिन में भी अँधेरा छाया रहता है मानो अँधेरा भी दिन से डरने वाले उल्लू के समान इसकी गहरी गुफाओं में दिन में जा छिपता है और हिमालय भी उसे अपनी गोद में शरण दे देता है क्योंकि जो महान होते हैं वे अपनी शरण में आए हुए नीच लोगों से भी वैसा ही अपनापन बनाए रहते हैं जैसा सज्जनों के साथ ॥ 12 ॥ जिन हरिणियों की पूँछों के चँवर बनते हैं वे चमरी हरिणियाँ जब यहाँ चन्द्रमा की किरणों के समान अपनी धौली पूँछें इधर-उधर घुमाती चलती हैं तब ऐसा प्रतीत होता है मानो वे इस पर्वतराज पर पूँछ के चँवर डुलाकर इसका गिरिराज नाम सच्चा किए डाल रही हों ॥ 13 ॥ जब यहाँ की गुफाओं में किन्नरियाँ अपने प्रियतमों के साथ काम-क्रीड़ा किया करती हैं उस समय जब वे शरीर पर से वस्त्र हट

यत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृच्छया किंपुरुषाङ्गनानाम् ।
 दरीगृहद्वारविलम्बिबिम्बास्तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति ॥ 14 ॥
 भागीरधीनिर्झरसीकराणां वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः ।
 यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः ॥ 15 ॥
 सप्तर्षिहस्तावचितावशेषाण्यधो विवस्वान्परिवर्तमानः ।
 पद्मानि यस्याग्रसरोरुहाणि प्रबोधयत्यूर्ध्वमुखैर्मयूखैः ॥ 16 ॥
 यज्ञाङ्गयो नित्वमवेक्ष्य यस्य सारं धरित्रीधारणक्षमं च ।
 प्रजापतिः कल्पितयज्ञभागं शैलाधिपत्यं स्वयमन्वतिष्ठत् ॥ 17 ॥
 स मानसीं मेरुसखः पितृणां कन्यां कुलस्य स्थितये स्थितिज्ञः ।
 मेनां मुनीनामपि माननीयामात्मानुरूपां विधिनोपयेमे ॥ 18 ॥
 कालक्रमेणाथ तयोः प्रवृत्ते स्वरूपयोग्ये सुरतप्रसङ्गे ।
 मनोरमं यौवनमुद्बहन्त्या गर्भोऽभवद्भूधारराजपत्न्या ॥ 19 ॥
 असूत सा नागवधूपभोग्यं मैनाकमम्भोनिधिवद्धसख्यम् ।
 क्रुद्धेऽपि पक्षच्छिदि वृत्रशत्राववेदनाज्ञं कुलिशक्षतानाम् ॥ 20 ॥
 अथावमानेन पितुः प्रयुक्ता दक्षस्य कन्या भवपूर्वपत्नी ।
 सती सती योगविसृष्टदेहा तां जन्मने शैलबधून् प्रपेदे ॥ 21 ॥

जाने के कारण लजाने लगती हैं तब बादल उन गुफाओं के द्वारों पर आकर ओट करके अँधेरा कर देते हैं ॥ 14 ॥ गंगा के झरनों की फुहारों से लदा हुआ, बार-बार देवदारु के वृक्ष को कँपाता हुआ और किरातों की पेटी में बँधे हुए मोर पंखों को फरफराता हुआ यहाँ का शीतल-मन्द सुगन्ध पवन उन किरातों की थकान मिटाता चलता है जो मृगों की खोज में हिमालय पर इधर-उधर घूमते रहते हैं ॥ 15 ॥ इसकी ऊँची चोटियों पर के तालाबों में मिलने वाले कमलों को जब स्वयं सप्तर्षिगण पूजा के लिये अपने सप्तर्षिमण्डल से आ आकर तोड़ ले जाया करते हैं तब उनके चुगने से जो कमल बच रहते हैं उन्हें नीचे उदय होने वाला सूर्य अपनी किरणें ऊँची करके खिला दिया करता है ॥ 16 ॥ यज्ञ में काम आने वाली सामग्रियों को उत्पन्न करने के कारण और पृथ्वी को सँभाले रखने की शक्ति होने के कारण इस हिमालय की स्वयं ब्रह्मा ने उन पर्वतों का स्वामी बना दिया है जिन्हें यज्ञ में भागा पाने का अधिकार मिला हुआ है ॥ 17 ॥ सुमेरु पर्वत के राजा के मित्र और मर्यादा जानने वाले हिमालय (के राजा) ने अपना वंश चलाने के लिये मेना नामकी उस कन्या से शास्त्र के अनुसार विवाह किया जो पितरों के मनसे उत्पन्न हुई थी, जिसका मुनि लोग भी आदर करते हैं और जो हिमालय के राजा के समान ही ऊँचे कुल और शीलवाली थी ॥ 18 ॥ विवाह हो जाने पर हिमालय के राजा और मेना दोनों ने मनचाहा भोग-विलास किया और कुछ दिनों में पर्वतराज की वह सुंदर और युवती पत्नी मेना गर्भवती हो गई ॥ 19 ॥ मेना के उस गर्भ से मैनाक नाम का वह प्रतापी पुत्र उत्पन्न हुआ जिसने नाग-कन्या के साथ विवाह किया, समुद्र के साथ मित्रता की और पर्वतों के पंख काटने वाले इन्द्र के रुष्ट हो जाने पर भी उनके बज्र की चोट अपने शरीर पर नहीं लगने दी ॥ 20 ॥ मैनाक के जन्म के कुछ ही दिनों पीछे ऐसा हुआ कि महादेव की पहली पत्नी और दक्ष की कन्या परम साध्वी सती ने अपने पिता से अपमानित होने के कारण योग-बल से अपना शरीर छोड़ दिया और दूसरा जन्म लेने के लिये वे मेनाकी कोख में आ बसीं ॥ 21 ॥ और जैसे ठीक-ठीक काम में लाई जाने के कारण कभी असफल न होने वाली नीति

सा भूधराणामधिपेन तस्यां समाधिमत्यामुदपादि भव्या ।
 सम्यक्प्रयोगादपरिक्षतायां नीताविवोत्साहगुणेन संपत् ॥ 22 ॥
 प्रसन्नदिक्पांसुविविक्तवातं शङ्खस्वनानन्तरपुष्पदृष्टि ।
 शरीरिणां स्थावरजंगमानां सुखाय तज्जन्मदिनं बभूव ॥ 23 ॥
 तथा दुहित्रा सुतरां सवित्री स्फुरत्प्रभामण्डलया चकासे ।
 विदूरभूमिर्नवमेघशब्दादुद्भिन्नया रत्नशलाकयेव ॥ 24 ॥
 दिने दिने सा परिवर्धमाना लब्धोदया चान्द्रमसीव लेखा ।
 पुपोष लावण्यमयान्विशेषाञ्ज्योत्स्नान्तराणीव कलान्तराणि ॥ 25 ॥
 तां पार्वतीत्याभिजनेन नाम्ना बन्धुप्रियां बन्धुजनो जुहाव ।
 उमेति मात्रा तपसो निषिद्धा पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम ॥ 26 ॥
 महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम् ।
 अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा ॥ 27 ॥
 प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः ।
 संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तथा स पूतश्च विभूषितश्च ॥ 28 ॥
 मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः सा कन्दुकैः कृत्रिमपुत्रकैश्च ।
 रेमे मुहुर्मध्यगता सखीनां क्रीडारसं निर्विशतीव बाल्ये ॥ 29 ॥
 तां हंसमालाः शरदीव गङ्गां महौषधिं नक्तमिवात्मभासः ।
 स्थिरोपवेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः ॥ 30 ॥

उत्साह का सहारा पाकर बड़ी सम्पत्ति उत्पन्न करती है, उसी प्रकार हिमालय ने भी उस पतिव्रता मेना के द्वारा उस कल्याणी को जन्म दिया ॥ 22 ॥ उसके जन्म के दिन आकाश खुला हुआ था, पवन में धूल का नाम भी नहीं था, आकाश से शंख बजने के साथ-साथ फूल बरसे पड़ रहे थे और चर-अचर सभी उनके जन्म से प्रसन्न हो उठे थे ॥ 23 ॥ जैसे नये मेघ के गरजने पर विदूर पर्वत के रत्नों में अंकुर फूट आते हैं और उनके प्रकाश से विदूर पर्वत की भूमि चमक उठती है वैसे ही तेजोमण्डल से भरे मुख वाली उस कन्या को गोद में पाकर मेनाभी खिल उठी ॥ 24 ॥ धीरे-धीरे पार्वती भी चन्द्रकला के समान दिन-दिन बढ़ने लगीं और जैसे चाँदनी के बढ़ने के साथ-साथ चन्द्रमा की और सभी कलाएँ भी बढ़ने लगती हैं वैसे ही ज्यों-ज्यों पार्वती बढ़ने लगीं त्यों-त्यों उनके सुन्दर अंग भी सुडौल होकर बढ़ने लगे ॥ 25 ॥ पर्वत से उत्पन्न होने के कारण पिता ने और कुटुम्बियों ने सबकी दुलारी उस कन्या को पार्वती कहकर पुकारना आरम्भ कर दिया । पीछे जब पार्वती को उनकी माता ने उमा [उ = हे (वत्से) मा = (तप मत करो)] कहकर तपस्या करने से रोका था तबसे उनका नाम 'उमा' पड़ गया ॥ 26 ॥ जैसे भौरों की पाँतें बसन्त के ढेरों फूल छोड़कर आम की मञ्जरियों पर ही जा मँडराती हैं वैसे ही अनेक सन्तानों के होते हुए भी हिमवान की आँखें पार्वती पर ही अटकी रहती थीं ॥ 27 ॥ जैसे अत्यन्त प्रकाशमान लौ को पाकर दीपक, मन्दाकिनी को पाकर स्वर्ग का मार्ग और व्याकरण से शुद्ध वाणी पाकर विद्वान लोग पवित्र और सुन्दर लगने लगते हैं वैसे ही पार्वती को पाकर हिमवान भी पवित्र और सुन्दर हो गए ॥ 28 ॥ पार्वती अपनी सखियों के साथ कभी तो गंगा के बलुए तटपर बेदियाँ बनाती थीं, कभी गेंद खेलती थीं और कभी गुड्डे बना-बनाकर सजाती थीं । इस प्रकार खेल-कूद में ही उनका पूरा बचपन बीत गया ॥ 29 ॥ जब अत्यन्त तीव्र बुद्धि वाली पार्वती ने पढ़ना प्रारम्भ किया तब पूर्व जन्म की सभी विद्याएँ उन्हें सभी प्रकार अपने आप स्मरण हो आईं जैसे शरद् ऋतु के आ जाने पर गंगा में हंस आ जाते हैं

असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य ।
 कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साध वयः प्रपेदे ॥ 31 ॥
 उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्याशुभिभिन्नमिवारविन्दम् ।
 बभूव तस्याश्चतुरस्त्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥ 32 ॥
 अभ्युन्नताङ्गुष्ठनखाप्रभाभिर्निक्षेपणाद्वागमिवोद्दिगन्तौ ।
 आजहत्तुस्तच्चरणी पृथिव्यां स्थलारविन्दश्रियमव्यवस्थाम् ॥ 33 ॥
 सा राजहंसैरिव संनताङ्गी गतेषु लीलाञ्छितविक्रमेषु ।
 व्यनीयत प्रत्युपदेशलुब्धैरादित्सुभिर्नूपुरसिञ्जितानि ॥ 34 ॥
 वृत्तानुपूर्वे च न चातिदीर्घे जङ्घे शुभे सृष्टवतस्तदीये ।
 शोणाङ्गनिर्माणविधौ विधातुर्लावण्य उत्पाद्य इवास यत्नः ॥ 35 ॥
 नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वादेकान्तशैत्यात्कदलीविशोभाः ।
 लब्ध्वापि लोके परिगाहि रूपं जातास्तदूर्वरूपमानबाह्याः ॥ 36 ॥
 एतावता नन्वनुमेषशोभि काञ्चीगुणस्थानमनिन्दितायाः ।
 आरोपितं यदिगरिशेन पश्चादनन्यनारीकमनीयमङ्गम् ॥ 37 ॥

या जैसे अपने आप चमकने वाली जड़ी-बूटियों में रात को चमक आ जाती है ॥ 30 ॥ इस प्रकार धीरे-धीरे उनका बचपन बीत गया और उनके शरीर में वह यौवन फूट पड़ा जो शरीर की लता का स्वाभाविक सिंगार है, जो मदिरा के बिना ही मनको मतवाला बना देता है और जो कामदेव का बिना फूलों वाला बाण है ॥ 31 ॥ जैसे कूँची से ठीक-ठीक रंग भरने पर चित्र खिल उठता है और सूर्य की किरणों का परस पाकर कमल का फूल हँस उठता है वैसे ही पार्वती का शरीर भी नया यौवन पाकर बहुत खिल उठा ॥ 32 ॥ जब वे चलती थीं तब उनके स्वाभाविक लाल और कोमल पैरों के उठे हुए अँगूठों के नखों से निकलने वाली चमक को देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो वे पैर ललाई उगल रहे हों और जब वे अपने इन चरणों को उठा-उठाकर रखती चलती थी तब तो ऐसा जान पड़ता था मानों वे पग-पगपर स्थल कमल उगलती चल रही हों ॥ 33 ॥ यौवन के भार से झुकी हुई जब वे हाव-भाव से चलती थीं उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो उनके बिछुओं से निकलने वाली मधुर ध्वनि सीखने को ललचे हुए राजहंसों ने अपनी हाव-भरी चाल उन्हें पहले ही बदले में सिखा दी हो ॥ 34 ॥ उनके समूचे शरीर को सुन्दर बनाने के लिये ब्रह्मा ने सुन्दरता की जितनी सामग्रियाँ इकट्ठी की थीं वे सब तो उनकी चढ़ाव-उतार वाली गोल और ठीक मोटाई वाली जाँघों के बनाने में ही समाप्त हो गईं । इसलिये शेष अंगों को बनाने के लिये सुन्दरता की और सामग्रियाँ फिर जुटाने में ब्रह्मा को बड़ा कष्ट उठाना पड़ा ॥ 35 ॥ पार्वती की उन दोनों मोटी जाँघों की उपमा दो ही वस्तुओं से दी जा सकती थी- एक तो हाथी के सूँड से और दूसरे केले के खंभे से । पर हाथी की सूँड कड़ी होती है और केले का खंभा बड़ा ठण्डा होता है इसलिए पार्वती की बड़ी-बड़ी जाँघों के जोड़ की कोई भी ठीक वस्तु मिल न पा सकी ॥ 36 ॥ अत्यन्त सुन्दर अंगों वाली उन पार्वती के नितम्ब कितने सुंदर रहे होंगे यह तो इसी बात से आँका जा सकता है कि विवाह करने पर स्वयं शिव ने उन नितम्बों को अपनी उस गोद में लिए रक्खा जहाँ तक पहुँचने की कोई और स्त्री साध भी नहीं कर सकती ॥ 37 ॥ नये यौवन के आने के कारण नाड़े के ऊपर गहरी नाभि तक पहुँची हुई बालों की जो नई पतली रेखा बन गई थी उसे देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो नाड़े के ऊपर बँधी

तस्याः प्रविष्टा नतनाभिरन्ध्रं रराज तन्वी नवलोमराजिः ।
 नीवीमतिक्रम्य सितेतरस्य तन्मेखलामध्यमणेरिवार्चिः ॥ 38 ॥
 मध्येन सा वेदिविलग्नमध्या वलित्रयं चारु बभार बाला ।
 आरोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम् ॥ 39 ॥
 अन्योन्मुत्पीडयदुत्पलाक्ष्याः स्तनद्वयं पाण्डु तथा प्रवृद्धम् ।
 मध्ये यथा श्याममुखस्य तस्य मृणालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम् ॥ 40 ॥
 शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे वितर्कः ।
 पराजितेनापि कृतौ हरस्य यौ कण्ठपाशौ मकरध्वजेन ॥ 41 ॥
 कण्ठस्य तस्याः स्तनबन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य ।
 अन्योन्यशोभाजननाद्वभूव साधारणो भूषणभूष्यभावः ॥ 42 ॥
 चन्द्रं गता पद्मगुणान्नभुङ्क्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम् ।
 उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥ 43 ॥
 पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविह्वलस्थम् ।
 ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥ 44 ॥
 स्वरेण तस्याममृतसुतेव प्रजत्पितायामभिजातवाचि ।
 अप्यन्यपुष्टा प्रतिकूलशब्दा श्रोतुर्वितन्त्रीरिव ताड्यमाना ॥ 45 ॥

हुई उनकी तगड़ी के बीचोबीच जड़ा हुआ नीलम चमक उठा हो ॥ 38 ॥ उस पतली कमर वाली और नये यौवन वाली के पेट पर जो तीन सिकुड़न की रेखाएँ पड़ी हुई थीं उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो कामदेव को ऊपर स्तन आदि अंगों तक चढ़ा ले जाने के लिए नये यौवन ने सीढ़ी बना खड़ी की हो ॥ 39 ॥ उन कमल के समान आँखों वाली पार्वती के, साँवली घुड़ियों वाले गोरे-गोरे दोनों स्तन बढ़कर आपस में इतने सट गए थे कि उनके बीच में इतना भी स्थान नहीं रह गया कि कमल की नालका एक सूत भी उसमें समा सके ॥ 40 ॥ मेरी समझ में पार्वती की भुजाएँ सिरस के फूल से भी अधिक कोमल थीं, इसीलिये तो फूलों के अस्त्र वाले कामदेव ने शिव से हार जाने पर उनके गले में इन्हीं भुजाओं का फन्दा बनाकर डाल दिया था ॥ 41 ॥ पार्वती का गोल-मटोल गला और उस पर से उनके ऊँचे स्तनों पर लटका हुआ गोल मोतियों का हार, दोनों एक दूसरे की शोभा बढ़ाए जा रहे थे (पार्वती के कण्ठ की शोभा हार बढ़ा रहा था और उस हार की शोभा उनका कण्ठ बढ़ा रहा था) ॥ 42 ॥ (जब तक वे उत्पन्न नहीं हुई थीं तब तक) चंचल शोभा वाली लक्ष्मी बड़ी दुविधा में पड़ी रहती थीं क्योंकि रात को जब वे चन्द्रमा में पहुँचती थीं तब उन्हें कमल का आनन्द नहीं मिल पाता था और जब दिन में वे कमल में आ बसती थीं तब रात के चन्द्रमा का आनन्द उन्हें नहीं मिल पाता था। पर जबसे वे (चन्द्रमा और कमल दोनों के गुणवाले) पार्वती जी के मुख में आ बसीं तब से उन्हें (चन्द्रमा और कमल) दोनों का आनन्द एक साथ मिलने लगा था ॥ 43 ॥ उनके लाल-लाल ओठों पर फैली हुई उनकी मुस्कराहट का उजलापन ऐसा सुन्दर लगता था जैसे लाल कोंपल में कोई उजला फूल ला रक्खा गया हो या स्वच्छ मूँगे के बीच में मोती ला जड़ा गया हो ॥ 44 ॥ वे मधुर वाणी वाली पार्वती जब बोलने लगती थीं तब मानो अमृत की धारा फूट निकलती हो। उनकी मीठी बोली के आगे कोयल की कूक कानों को ऐसी कड़वी लगती थी जेसे किसी अनाड़ी ने अनमिली वीणा के बेसुरे तार आ छेड़े हों ॥ 45 ॥ उन बड़ी-बड़ी आँखों वाली पार्वती की चितवन, आँधी से हिलते हुए नीले कमलों के समान इतनी चंचल थी कि उसे देखकर

प्र वातनीलोत्पलनिर्विशो षमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या ।
 तथा गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः ॥ 46 ॥
 तस्याः शलाकाञ्जननिर्मितेव कान्तिर्भुवोरायतलेख्योर्या ।
 तां वीक्ष्य लीलाचतुरामनङ्ग स्वचापसौन्दर्यमदं मुमोच ॥ 47 ॥
 लज्जा तिरश्चां यदि चेतसि स्यादसंशयं पर्वतराजपुत्र्याः ।
 तं केशपाशं प्रसमीक्ष्य कुर्युर्बालप्रियत्वं शिथिलं चमर्यः ॥ 48 ॥
 सर्वोपमादव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन ।
 सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव ॥ 49 ॥
 तां नारदः कामचरः कदाचित्कन्यां किल प्रेक्ष्य पितुः समीपे ।
 समादिदेशैकवधूं भवित्रीं प्रेम्णा शरीरार्धहरां हरस्य ॥ 50 ॥
 गुरुः प्रगल्भेऽपि वयस्यतोऽस्यास्तस्थौ निवृत्तान्यवराभिलाषः ।
 ऋते कृशानोर्न हि मन्त्रपूतमहन्ति तेजांस्यपराणि हव्यम् ॥ 51 ॥
 अयाचितारं नहि देवदेवमद्रिः सुतां ग्राहयितुं शशाक ।
 अभ्यर्धनाभङ्गभयेन साधुर्माध्यस्थ्यमिष्टेऽप्यवलम्बतेऽर्थे ॥ 52 ॥
 यदैव पूर्वं जनने शरीरं सा दक्षरोषात्सुदती ससर्ज ।
 तदाप्रभृत्येव विमुक्तसङ्गः पतिः पशूनामपरिग्रहोऽभूत् ॥ 53 ॥

यही पता नहीं चल पाता था कि यह कला उन्होंने हरिणियों से सीखी थी या हरिणियों ने उनसे ॥ 46 ॥
 उनकी लम्बी और मनोहर भौंहें ऐसी लगती थीं जैसे किसी ने उन्हें तूलिका लेकर बनाया हो। वे भौंहें
 इतनी सुन्दर थीं कि कामदेव भी अपने धनुष की सुन्दरता का जो घमंड लिए फिरते थे वह इन भौंहों
 के आगे चूर-चूर हो गया ॥ 47 ॥ उनके बाल इतने सुन्दर थे कि यदि पशु-पक्षियों में भी मनुष्य के
 समान लज्जा हुआ करती तो अपने बालों पर इतराने वाली चौरी हरिणियों भी उनके बाल देखकर अपने
 चँवरों पर इठलाना भूल जातीं ॥ 48 ॥ पार्वती को देखकर ऐसा जान पड़ता था कि संसार को बनाने
 वाले ब्रह्मा ने इस पृथ्वी पर की सारी सुन्दरता एक साथ देखने के लिये सुन्दर अङ्गों की उपमा में आने
 वाली सब वस्तुओं को जतन से बटोर कर उन्हें तब अङ्गों पर यथास्थान सजाकर सुन्दरता की मूर्ति पार्वती
 को गढ़ बनाया था ॥ 49 ॥ अपने मन से इधर-उधर घूमने वाले नारद एक दिन घूमते-घामते जब हिमालय
 के यहाँ पहुँचे तो देखते क्या हैं कि हिमालय के पास उनकी कन्या भी बैठी हुई हैं। उन्हें देखते ही नारद
 ने यह भविष्यवाणी कर दी कि वह कन्या अपने प्रेम से शिव के आधे शरीर की स्वामिनी और उनकी
 अकेली पत्नी बनकर रहेगी ॥ 50 ॥ यद्यपि पार्वती सयानी होती चली जा रही थीं पर नारद की बात
 से हिमालय इतने निश्चिन्त हो गये कि उन्होंने दूसरा वर खोजने की चिन्ता ही छोड़ दी क्योंकि जैसे
 मन्त्र से दी हुई हवन की सामग्री, अग्नि को छोड़कर और कोई नहीं ले सकता वैसे ही महादेव को छोड़कर
 पार्वती को और ग्रहण ही कौन कर सकता था? ॥ 51 ॥ पर हिमालय ने सोचा कि जब तक स्वयं महादेव
 ही कन्या माँगने नहीं आते तब तक अपने आप उन्हें कन्या देने जाना ठीक नहीं जँचता। इसीलिये जहाँ
 सज्जन लोगों को निरादर का डर होता है वहाँ वे अपने काम में किसी बिचवई को साथ ले लिया करते
 हैं ॥ 52 ॥ इधर जब से सती ने अपने पिता दक्ष के हाथों महादेव का अपमान होने पर क्रोध करके
 यज्ञ की अग्नि से अपना शरीर जला छोड़ा था तभी से महादेव ने भी सब भोग-विलास छोड़ दिए थे और
 दूसरा विवाह नहीं किया था ॥ 53 ॥ इतना ही नहीं, अपनी इन्द्रियों को जीतने वाले और खाल ओढ़ने
 वाले भगवान शङ्कर भी कस्तूरी की गन्ध में बसी हुई हिमालय की एक ऐसी सुन्दर चोटी पर जाँकर तप

स कृत्तिवासास्तपसे यतात्मा गङ्गाप्रवाहोक्षितदेवदारु ।
 प्रस्थं हिमाद्रेर्मृगनाभिगंधि किंचित्क्वर्णात्कनरमध्युवास ॥ 54 ॥
 गणा नमेरुप्रसवावतंसा भूर्जत्वचः स्पर्शवतीर्दधाना ।
 मनःशिलाविच्छुरिता निषेदुः शैलेयनद्धेषु शिलातलेषु ॥ 55 ॥
 तुषारसंघातशिलाः खूराग्रैः समुल्लिखन्दर्पकलः ककुब्धान् ।
 दृष्टः कथां चिद्गवयैर्विविग्नैरसोढसिंहध्वनिरुन्ननाद ॥ 56 ॥
 तत्राग्निमाधाय समित्समिद्धं स्वमेव मूर्त्यन्तरमष्टमूर्तिः ।
 स्वयं विधाता तपसः फलानां केनापि कामेन तपश्चचार ॥ 57 ॥
 अनर्घ्यमर्घ्येण तमद्रिनाथः स्वर्गाकसामर्चितपर्वयित्वा ।
 आराधनायास्य सखीसमेतां समादिदेश प्रयतां तनूजाम् ॥ 58 ॥
 प्रत्यर्थिभूतामपि तां समाधेः शुश्रूषमाणां गिरिशोऽनुमेने ।
 विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ॥ 59 ॥
 अवचितबलिपुष्पा वेदिसमार्गदक्षा नियमविधिजलानां बर्हिषां चोपनेत्री ।
 गिरिशमुपचार प्रत्यहं सा सुकेशी नियमितपरिखेदा तच्छिरश्चन्द्रपादैः ॥ 60 ॥
 ।। इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये
 उमोत्पत्तिर्नाम प्रथमः सर्गः ।।



करने लगे जहाँ के देवराऊ के वृक्षों को गंगा की धारा बराबर सींचती रहती थी और जहाँ गन्धर्व दिन-रात गाते रहते थे ॥ 54 ॥ उनके पास ही सिरपर नमेरु के कोमल फूलों की माला बाँधे, शरीर पर भोजपत्र लपेटे और मैनसिल के रङ्ग से अपना शरीर रंगे हुए उनके प्रमथ आदि गण शिलाजीत से पुती हुई चट्टानों पर बैठे पहरा देते रहते थे ॥ 55 ॥ उनके पास ही उनका गर्वीला नन्दी सौँड़ भी रहता था जो गरजते हुए सिंह की दहाड़ को न सह सकने के कारण अपने खुरों से हिम की चट्टानों को खूँदता हुआ डकरा उठता था तब नीलगाएँ घबराकर उसे देखती रह जाती थीं कि यह सिंह जैसा गरजने वाला दूसरा कौन आ पहुँचा ॥ 56 ॥ उसी चोटी पर सब तपस्याओं का स्वयं फल देने वाले शिव ने अपनी ही दूसरी मूर्ति अग्नि को समिधा से जगाकर न जाने किस फलकी इच्छा से तप करना प्रारंभ कर दिया था ॥ 57 ॥ जिन महादेव को स्वर्ग के देवता पूजते हैं, उनकी पूजा के लिये हिमालय के राजा अपनी पुत्री के साथ महादेव की सेवा में बहुमूल्य पूजा की सामग्री लेकर जा पहुँचे। पहले इन्होंने स्वयं उनकी पूजा की और फिर अपनी कन्या को आज्ञा दी कि अपनी सखियों के साथ जाकर शिव की पूजा करो ॥ 58 ॥ यद्यपि पार्वती के वहाँ रहने से शिवजी के तप में बाधा पड़ सकती थी, फिर भी उन्होंने पार्वती की सेवा स्वीकार कर ली, क्योंकि सच्चा धीर महात्मा उन्हें ही समझना चाहिए जिनका मन विकार उत्पन्न करने वाली वस्तुओं के बीच रहकर भी तिलभर न डिगे ॥ 59 ॥ सुन्दर बालों वाली पार्वती वहाँ रहकर नियम से प्रतिदिन पूजा के लिये फूल चुनकर बड़े अच्छे ढंग से वेदी धो-पोंछकर और नित्यकर्म के लिये जल और कुश लाकर बिना थकावट माने उनकी सेवा किया करतीं क्योंकि महादेव के माथे पर बैठे हुए चन्द्रमा की ठण्डी किरणें पार्वती की थकान सदा मिटाती रहती थीं ॥ 60 ॥

।। महाकवि श्रीकालिदास के रचे हुए कुमारसम्भव नाम के महाकाव्य में उमा का जन्म नामका पहला सर्ग पूर्ण हुआ ॥



॥ द्वितीयः सर्गः ॥

तस्मिन्विप्रकृताः काले तारकेण दिवौकसः। तुरासाहं पुरोधाय धाम स्वायंभुवं ययुः॥ 1 ॥
 तेषामाविरभूद्ब्रह्मा परिम्लानमुखश्रियाम्। सरसां सुप्तपद्यानां प्रातर्दीधितिमानिव॥ 2 ॥
 अथ सर्वस्य धातारं ते सर्वे सर्वतोमुखम्। वागीशं वाग्भिरर्थ्याभिः प्रणिपत्योपतस्थिरे॥ 3 ॥
 नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने। गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे॥ 4 ॥
 यदमोघमपामन्तरुप्तं बीजमज त्वया। अतश्चराचरं विश्वं प्रभवस्तस्य गीयसे॥ 5 ॥
 तिसृभिस्त्वमवस्थाभिर्महिमानमुदीरयन्। प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणतां गतः॥ 6 ॥
 स्त्रीपुंसावात्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया। प्रसूतिभाजः सर्गस्य तावेव पितरौ स्मृतौ॥ 7 ॥
 स्वकालपरिमाणेन व्यस्तरात्रिन्दिवस्य ते। यौ तु स्वप्नावबोधौ तौ भूतानां प्रलयोदयौ॥ 8 ॥
 जगद्योनिरयोनिस्त्वं जगदन्तो निरन्तकः। जगदादिरनादिस्त्वं जगदीशो निरीश्वरः॥ 9 ॥
 आत्मानमात्मना वेत्ति सृजस्यात्मानमात्मना। आत्मनाकृतिना च त्वमात्मन्येव प्रलीयसे॥ 10 ॥
 द्रवः संघातकठिनः स्थूलः सूक्ष्मो लघुर्गुरुः। व्यक्तो व्यक्तेतरश्चासि प्राकाम्यं ते विभूतिषु॥ 11 ॥

दूसरा सर्ग

उन्हीं दिनों तारक नाम के राक्षस ने देवताओं को इतना सता मारा था कि वे सब (घबराकर) इन्द्र को आगे करके ब्रह्मा के पास जा पहुँचे ॥ 1 ॥ उन उदास मुँह वाले देवताओं के सामने ब्रह्मा उसी प्रकार आ प्रकटे जैसे तालाब में सोए कमलों के आगे प्रातःकाल का सूर्य आ उगता है ॥ 2 ॥ ब्रह्मा को सामने देखते ही वे सब देवता उन चारमुँहों वाले और सारे जगत को बनाने वाले ब्रह्मा को, प्रणाम करके बड़े भेद-भरे शब्दों में यह स्तुति करने लगे— ॥ 3 ॥ ‘भगवन्! संसार रचने से पहले एक ही रूप में रहने वाले और संसार रचते समय, सत्त्व, रज, और तम तीन गुण उत्पन्न करके ब्रह्मा, विष्णु और महेश नाम से तीन रूप के बन जाने वाले आपको प्रणाम है ॥ 4 ॥ ब्रह्मन्! आपने सबसे पहले जल उत्पन्न करके उसमें ऐसा बीज बो दिया जो कभी अकारण नहीं जाता और जिसमें एक ओर ये पशु, पक्षी, मनुष्य आदि चलने वाले जीव और दूसरी ओर वृक्ष, पहाड़ आदि न चलने वाला जगत उत्पन्न हो उठा। इसीलिये आपको ही सब लोग संसार का उत्पन्न करने वाला बताते हैं ॥ 5 ॥ आप ही रूद्र, विष्णु और हिरण्यगर्भ, इन तीन रूपों से अपनी शक्ति प्रकट करके संसार का नाश, पालन और उत्पादन करते रहते हैं ॥ 6 ॥ आप जब स्त्री और पुरुष की सृष्टि करने चलते हैं, उस समय आपके ही स्त्री और पुरुष दो रूप बन जाते हैं। आपके ही दोनों रूप सारे संसार के माता-पिता कहे जाते हैं ॥ 7 ॥ आपने समय की जो माप बना रक्खी है उसके अनुसार जो दिन और रात होते हैं, उनमें जब आप सोए रहते हैं तब संसार का महाप्रलय हुआ रहता है और जब आप जागते हैं तब संसार की सृष्टि होती है ॥ 8 ॥ संसार को तो आपने उत्पन्न किया है पर आपको किसी ने उत्पन्न नहीं किया। आप तो संसार का अन्त कर सकते हैं पर आपका कोई अन्त नहीं कर सकता। आपने तो संसार का प्रारम्भ किया है पर आपका कभी प्रारम्भ नहीं हुआ। आप तो संसार के स्वामी हैं पर आपका कोई स्वामी नहीं है ॥ 9 ॥ आप, अपने में ही अपने को जानते हैं और अपने आप अपने को उत्पन्न करते हैं और जब अपना काम पूरा कर चुकते हैं तब अपने को अपने में ही लीन कर लेते हैं ॥ 10 ॥ आप तरल भी हैं ठोस भी, मोटे भी हैं पतले भी, छोटे भी हैं बड़े भी, आप दिखाई भी देते हैं और नहीं भी दिखाई देते। इस प्रकार जितनी भी सिद्धियाँ हैं वे सब आपके हाथ में हैं। आप जैसा चाहें वैसा बन सकते हैं ॥ 11 ॥ आपने ही वेदकी वह वाणी उत्पन्न की है जिसका

उद्धातः प्रणवो यासांन्यायैस्त्रिभिर्दूरीणम् । कर्मयज्ञः फलं स्वर्गस्तासां स्वं प्रभवो गिराम् ॥ 12 ॥
 त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम् । तद्दर्शिनमुदासीनं त्यामेव पुरुषं विदुः ॥ 13 ॥
 स्वं पितृणामपि पिता देवानामपि देवता । परतोऽपि परश्चासि विधाता वेधसामपि ॥ 14 ॥
 त्वमेवहव्यं होता च भोज्यं भोक्ता चशाश्वतः । वेद्यं चवेदिताचासिध्याताध्येयंचयत्परम् ॥ 15 ॥
 इतितेभ्यः स्तुतीः श्रुत्वायथार्था हृदयंगमाः । प्रसादाभिमुखो वेधाः प्रत्युवाच दिवौकसः ॥ 16 ॥
 पुराणस्य कवेस्तस्य चतुर्मुखसमीरिता । प्रवृत्तिरासीच्छब्दानां चरितार्था चतुष्टयी ॥ 17 ॥
 स्वागतंस्वानधीकारान्प्रभावैरवलम्ब्यवः । युगपद्युगबाहुभ्यः प्राप्तेभ्यः प्राज्यविक्रमाः ॥ 18 ॥
 किमिदंद्युतिमालीयां न विभ्रतियथापुरा । हिमविलष्टप्रकाशानिज्योतींषीव मुखानिवः ॥ 19 ॥
 प्रशमादर्चिषामेतदनुद्गीर्णसुरायुधम् । वृत्रस्य हन्तुः कुलिशं कुण्ठिता श्रीव लक्ष्यते ॥ 20 ॥
 किंचायमरिदुर्वारः पाणौ पाशः प्रचेतसः । मात्रेण हतवीर्यस्य फणिनो दैन्यमाश्रितः ॥ 21 ॥
 कुबेरस्य मनःशल्यं शंसतीव पराभवम् । अपविद्धगदो बाहुर्भग्नशाख इव हुमः ॥ 22 ॥
 यमोऽपिविलिखन्मूमिदंडेनास्तमितत्विषा । कुरुतेऽस्मिन्नमोघेऽपिनिर्वाणालातलाघवम् ॥ 23 ॥
 अमीचकथमादित्याः प्रतापक्षतिशीतलाः । चित्रन्यस्ताइवगताः प्रकामालोकनीयताम् ॥ 24 ॥

प्रारम्भ उँकार से होता है, जिसका उच्चारण उदात्त, अनुदात्त और त्वरित इन तीनों स्वरों से होता है और जिसके मन्त्रों से यज्ञ करके लोग स्वर्ग प्राप्त कर लेते हैं ॥ 12 ॥ आपको ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिये मनुष्य को उकसाने वाली मूल प्रकृति कहते हैं और आप ही उस प्रकृति का दर्शन करने वाले उदासीन पुरुष भी माने जाते हैं ॥ 13 ॥ आप पितरों के भी पिता, देवताओं के भी देवता, अच्छों से भी अच्छे और सृष्टि करने वाले प्रजापतियों की भी सृष्टि करने वाले हैं ॥ 14 ॥ आप ही सदा हवन की सामग्री भी हैं और आप ही हवन करने वाले भी हैं । आप ही भोग की वस्तुएँ भी हैं । आप ही ध्यान करने वाले हैं और आप ही वह सर्वश्रेष्ठ हैं जिनका ही ध्यान किया जाना चाहिए ॥ 15 ॥ देवताओं से सच्ची और मनभावनी स्तुति सुनकर दयालु ब्रह्मा जिस समय देवताओं से बोलने लगे ॥ 16 ॥ उस समय सबसे पुराने कवि ब्रह्मा के मुँह से निकली हुई वाणी ने अपना चार (परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी) रूपों वाला होना सच्चा कर दिया ॥ 17 ॥ ब्रह्मा बोले- एक साथ मिलकर आए हुए, अपनी शक्ति से अपने-अपने अधिकारों की रक्षा करने वाले और बड़ी-बड़ी बाँहों वाले शक्तिशाली देवताओं! मैं आप लोगों का स्वागत करता हूँ ॥ 18 ॥ पर यह तो बताइए कि आप लोगों के मुँह की पहले वाली कान्ति कहाँ उड़ गई? आप लोग कुहरे से ढके हुए धुँधले तारे के समान इतने उदास क्यों दिखाई दे रहे हैं ॥ 19 ॥ वृत्र को मारने वाला और इन्द्रधनुषके समान चमकीला आपका वज्र भी आज अपनी चमक खोकर कुण्ठित सा क्यों दिखाई दे रहा है ॥ 20 ॥ शत्रुओं का नाश करने वाला यह वरुण देव के हाथ का फन्दा भी बँधे हुए साँप के समान इतना दीन क्यों दिखाई दे रहा है? ॥ 21 ॥ कुबेर का यह बाहु भी गदा के बिना ऐसा क्यों लग रहा है जैसे कटी हुई शाखा वाला वृक्ष का टूट हो? यह बता रहा है कि किसी बड़े तगड़े शत्रु से हार जाने का काँटा इनके हृदय में कसके जा रहा है ॥ 22 ॥ अपने निस्तेज दण्ड से पृथ्वी को कुरेदते हुए यमराज ऐसे क्यों लग रहे हैं मानो उनका करारा दण्ड भी वुझी हुई लूक- जैसा बेकाम हो गया है? ॥ 23 ॥ यह बारह आदित्य भी अपना तेज गँवाकर ठंडे पड़े हुए, ऐसे चित्र लिखे से और मंदे क्यों दिखाई दे रहे हैं कि कोई भी अब तक चाहे उन्हें आँख गड़ाकर देखता रह जाय? ॥ 24 ॥ जैसे ऊँचे की ओर बहने वाले जल का बहाव धीमा पड़ जाता है वैसे ही उनचासों पवन ऐसे क्यों दिखाई

पर्याक्लत्वान्मरुतां वेगमङ्गोऽनुमीयते । अम्भसामोघसंरोधः प्रतीपगमनादिव ॥ 25 ॥
 आवर्जितजटामौलिविलम्बिशिकोटयः । रुद्राणामपि मूर्धानः क्षतहुंकारशंसिनः ॥ 26 ॥
 लब्धप्रतिष्ठा प्रथमं यूयं किं बलवत्तरैः । अपवादैरिवोत्सर्गाः कृतव्यावृत्तयः परैः ॥ 27 ॥
 तद्ब्रूतवत्साः किमितः प्रार्थयध्वंसमागताः । मयिसृष्टिर्हिलोकानां रक्षा युष्मास्ववस्थिता ॥ 28 ॥
 ततो मन्दानिलोद्धूतकमलाकरशोभिना । गुरुं नेत्रसहस्रेण नोदयामास वासवः ॥ 29 ॥
 स द्विनेत्रं हरेश्चक्षुः सहस्रनयनाधिकम् । वाचस्पतिरुवाचेदं प्राञ्जलिर्जलजासनम् ॥ 30 ॥
 एवं यदात्थ भगवन्नामृष्टनः परैः पदम् । प्रत्येकं विनियुक्तात्मा कथं न ज्ञास्यसिप्रभो ॥ 31 ॥
 भवल्लब्धवरोदीर्णस्तारकाख्यो महासुरः । उपप्लवाय लोकानां धूमकेतुरिवोत्थितः ॥ 32 ॥
 पुरे तावन्तमेवास्य तनोति रविरातपम् । दीर्घिकाकमलोन्मेषो यावन्मात्रेण साध्यते ॥ 33 ॥
 सर्वाभिः सर्वदा चन्द्रस्तं कलाभिनिषेवते । नादत्ते केवलां लेखां हरचूडामणीकृताम् ॥ 34 ॥
 व्यावृत्तगतिरुद्यानेकुसुमस्तेयसाध्वसात् । न वाति वायुस्तत्पाश्वर्षेतालवृत्तानिलाधिकम् ॥ 35 ॥
 पर्यायसेवामुत्सृज्य पुष्पसंभारतत्पराः । उद्यानपालसामान्यमृतवस्तमुपासते ॥ 36 ॥

पड़ रहे हैं जैसे वे भी घबराहट से ढीले पड़ गए हों? ॥ 25 ॥ खुली जटाओं में लटकती और हार के दुःख से झुकी हुई चन्द्रकलाओं वाले ग्यारह रुद्रों के माथे भी बता रहे हैं कि उनकी हुंकार करने तक की शक्ति जाती रही है ॥ 26 ॥ जैसे व्याकरण आदि शास्त्रों में अपवादवाला नियम किसी व्यापक नियम को व्यर्थ कर देता है वैसे ही क्या आप लोग भी किसी पराक्रमी शत्रु से अपना-अपना अधिकार छिनवा बैठे हैं? ॥ 27 ॥ देवताओ! मुझे बताइए कि आप लोग मेरे पास इकट्ठे होकर क्या कहने के लिये आए हैं, क्योंकि हमारा काम तो केवल संसार की सृष्टि करना भर है, उसकी रक्षा करना तो आप ही लोगों के हाथ में है ॥ 28 ॥ ब्रह्मा की यह बात सुनकर इन्द्र ने अपने सहस्र नेत्रों को इस प्रकार चलाकर बृहस्पति को बोलने के लिये संकेत किया जैसे मन्द पवन के चलने पर कमल का वन हिल उठता है ॥ 29 ॥ जिनके दो नेत्रों में ही इन्द्र के सहस्र नेत्रों से भी बढ़कर देखने की शक्ति थी वे बृहस्पति जी, हाथ जोड़कर ब्रह्मा से कहने लगे- ॥ 30 ॥ 'ब्रह्मन्! आप जो कुछ कह रहे हैं सब सत्य है! हम लोगों के सब स्थान शत्रुओं ने अपने हाथ में कर लिए हैं। आप तो सबके घट-घट में रमे हुए हैं, भला आपसे कोई बात छिपी थोड़े ही रहती है ॥ 31 ॥ भगवन्! आपका वरदान पाकर तारक नाम का राक्षस ठीक वैसे ही सिर उठाता चला जा रहा है जैसे संसार का नाश करने के लिए पुच्छल (धूमकेतु) तारा आ निकला हो ॥ 32 ॥ प्रचंड किरणों वाला सूर्य भी उससे इतना डरता है कि उसके नगर पर वह केवल उतनी ही किरणें फैलाता है जिनसे तालाव के कमल-भर खिल उठें ॥ 33 ॥ चन्द्रमा वहाँ पूरे महीने पर अपनी पूरी कलाएँ लेकर चमका करता है और केवल उस एक कला को बस छोड़ देता है जिसे शिव ने अपने मस्तक का मणि बना लिया है ॥ 34 ॥ पवन भी उसके पास ताड़के पंखे के वायु से अधिक वेग से नहीं बहता क्योंकि उसे डर है कि कहीं वेग से बहने पर तारकासुर की फुलवारी के फूल न झड़ जायें और उसे चोर का दण्ड भोगना पड़े ॥ 35 ॥ छहों ऋतुएँ अपने समय का विचार छोड़कर एक साथ फुलवारी की मालिनों के समान एक दूसरी ऋतु के फूलों को बिना छोड़े हुए अपने-अपने ऋतु के फूल उपजाकर तारकासुर की सेवा करती रहती हैं ॥ 36 ॥ समुद्र भी उसके पास भेंट के योग्य रत्न भेजने के लिये तब

तस्योपायनयोग्यानि रत्नानि सरितां पतिः। कथमप्यम्भसामन्तरानिष्पत्तेः प्रतीक्षते॥ 37 ॥
 ज्वलन्मणिशिखाश्चैवं वासुकिप्रमुखा निशि। स्थिरप्रदीपतामेत्य भुजंगाः पर्युपासते॥ 38 ॥
 तत्कृतानुग्रहापेक्षी तं मुहुर्दूतहारितैः। अनुकूलयतीन्द्रोऽपि कल्पदुमविभूषणैः॥ 39 ॥
 इत्यमाराध्यमानोऽपि क्लिश्नाति भुवनत्रयम्। शाम्येत्प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः॥ 40 ॥
 तेनामरवधूहस्तैः सदयालूनपल्लवाः। अभिज्ञाशब्देपातानां क्रियन्ते नन्दनदुमाः॥ 41 ॥
 वीज्यते स हिसंसुप्तः श्वाससाधारणानिलैः। चामरैः सुरबन्दीनां बाष्पसीकरवर्षिभिः॥ 42 ॥
 उत्पाद्य मेरु शृङ्गाणिक्षुण्णानि हरितां खुरैः। आक्रीडपर्वतास्तेन कल्पिताः स्वेषु वेश्मसु॥ 43 ॥
 मन्दाकिन्याः पयः शेषं दिग्ग्वारणमदाविलम्। हेमाम्मोरुहसस्यानां तद्वाप्यो घाम सांप्रतम्॥ 44 ॥
 भुवनालोकनप्रीतिः स्वर्णिभिर्नानुभूयते। खिलीभूते विमामानां तदापातभयात्पथि॥ 45 ॥
 यज्वभि संभृतं हव्यविततेष्वध्वरेषुसः। जातवेदोमुखान्मायी मिषतामाच्छिनत्ति नः॥ 46 ॥
 उच्चैरुच्चैः श्रवास्तेन हयरत्नमहारि च। देहबद्ध मिवेन्द्रस्य चिरकालार्जितं यशः॥ 47 ॥
 तस्मिन्नुपायाः सर्वे न ऋरे प्रतिहतक्रियाः। वीर्यवन्त्यौषधानीव विकारेसान्निपातिके॥ 48 ॥
 जयाशायत्र चास्माकं प्रतिधातोत्युत्तार्चिषा। हरिचक्रेण तेनास्य कण्ठेनिष्कनिवार्षितम्॥ 49 ॥
 तदीयास्तोयदेष्वा पुष्करावर्तकादिषु। अभ्यस्यन्ति तटाघातं निर्जितैरावता गजाः॥ 50 ॥

तक जल के भीतर रुका बैठा रहता है जब तक वे रत्न ठीक-ठीक बढ़ न जायें ॥ 37 ॥ चमकते हुए मणि के कण वाले वासुकि आदि बड़े-बड़े साँप रात को अपने मणियों के न बुझने वाले दीप ले-लेकर उनकी सेवा किया करते हैं ॥ 38 ॥ इन्द्र भी उसकी कृपा पाने के लिये बार-बार अपने दूतों के हाथ कल्प वृक्ष के सुन्दर रत्न उसके पास भेजकर उसे प्रसन्न रखवा करते हैं ॥ 39 ॥ इतनी सेवा करने पर भी वह असुर तीनों भुवनों को पीड़ा देता ही चला जा रहा है क्योंकि लात के देवता बात से नहीं मानते ॥ 40 ॥ नन्दन वन के जिन वृक्षों के कोमल पत्तों को देवताओं की स्त्रियाँ बड़ी कोमलता के साथ अपने कनफूल बनाने के लिये तोड़ा करती थीं उन्हीं को वह राक्षस बड़ी निर्दयता से काट-काटकर गिराए डाल रहा है ॥ 41 ॥ जब वह सोया करता है तब देवताओं की बन्दी स्त्रियाँ गरम-गरम उससे लेती और आँसू बहाती हुई उस पर चँवर डुलाया करती हैं ॥ 42 ॥ सूर्य के घोड़ों की टापों से उखड़ी हुई मेरुकी चोटियों को उखाड़-उखाड़कर उसने अपने घर में लेजा-लेजाकर खेल के पहाड़ बना डाले हैं ॥ 43 ॥ मन्दाकिनी के सोनकमल उखाड़-उखाड़कर उसने अपने घर की बावलियों में लेजा लगाए हैं और इसीलिये मन्दाकिनी में आज-कल केवल दिग्गजों के मद से गँदला जल भर दिखाई दिया करता है ॥ 44 ॥ पहले देवता लोग विमानों पर चढ़-चढ़कर इस लोक से उस लोक में घूमते-फिरते थे पर अब उसके आक्रमण के डर से आकाश में उनका निकलना ही दूबर हो गया है ॥ 45 ॥ वह ऐसा भारी छलिया है कि जब यज्ञ में यजमान हम लोगों को आहुति देता है तब वह हम लोगों के देखते-देखते अग्नि के मुँह से हमारा भाग छीन ले जाता है ॥ 46 ॥ उसने उच्चैःश्रवा नाम का वह सुन्दर घोड़ा भी छीन लिया है जो बहुत दिनों से इकट्ठे किए हुए इन्द्र के यश के समान ही महान् था ॥ 47 ॥ जैसे सन्निपात में बड़ी-बड़ी औषधियाँ भी काम नहीं कर पातीं उसी प्रकार हम भी उस दुष्ट को मारने के लिये जितने उपाय करते जाते हैं वे सब व्यर्थ होते जा रहे हैं ॥ 48 ॥ विष्णु के जिस चक्र पर हम लोग जीत की आस लगाए बैठे थे, वह भी जब उसके गले पर जा टकराता है तब उसमें से निकली हुई चिनगारियाँ ऐसी जान पड़ती हैं मानों उस राक्षस के गले में सोने का हुमेल ला पहनाया गया हो ॥ 49 ॥ आज ऐरावत को भी हरा देने वाले उसके हाथी पुष्करावर्तक आदि बादलों से टक्कर ले-लेकर अपना टीले ढाहने का खेलवाड़ किया करते हैं ॥ 50 ॥

तदिच्छामोविभो स्त्रष्टुं सेनान्यं तस्य शान्तये । कर्मबन्धच्छिदं धर्मं भवस्येव मुमुक्षवः ॥ 51 ॥
 गोप्तारंसुरसैन्यानां यंपुरस्कृत्यगोत्रभित् । प्रत्यानेष्यतिशत्रुभ्यां बन्दीमिव जयश्रियम् ॥ 52 ॥
 वचस्यवसितेतस्मिन्ससर्ज गिरमात्मभूः । गर्जितानन्तरावृष्टि सौभाग्येन जिगाय सा ॥ 53 ॥
 संपत्स्यते वः कामोऽयंकालः कश्चित्प्रतीक्ष्यताम् । न त्वस्यसिद्धौ यास्यामिसर्गव्यापारमात्मना ॥ 54 ॥
 इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम् । विषवृक्षोऽपि संवर्धस्वयं छेतुमसांप्रतम् ॥ 55 ॥
 वृत्तंतेनेदमेव प्राङ्मया चास्मै प्रतिश्रुतम् । वरेण शमितं लोकानलं दग्धुं हि तत्तपः ॥ 56 ॥
 संयुगे सांयुगीने तमुद्यतं प्रसहेत कः । अंशादृते निषिक्तस्य नीललोहितरेतसः ॥ 57 ॥
 सहिदेवः परंज्योतिस्तमः पारे व्यवस्थितम् । परिच्छिन्नप्रभावर्द्धिर्न मयान चविष्णुना ॥ 58 ॥
 उमारूपेण ते यूयं संयमस्तिमितं मनः । शंभोर्यतध्वमाक्रष्टुमयस्कान्तेन लौहवत् ॥ 59 ॥
 उभे एव क्षमे वोढुमुभयोर्बीजमाहितम् । सा वा शंभोस्तदीया वा मूर्तिर्जलमयी मम ॥ 60 ॥
 तस्यात्मा शितिकण्ठस्य सैनापत्यमुपेत्य वः । मोक्ष्यते सुरबन्दीनां वेणीर्वीर्यविभूतिभिः ॥ 61 ॥
 इतिव्याहृत्य विबुधान्विश्चयोनिस्तिरोदधे । मनस्याहितकर्त्तव्यास्तेऽपिदेवा दिवंययुः ॥ 62 ॥

इसलिये प्रभो! जिस प्रकार मोक्ष पाने की इच्छा करने वाले लोग जन्म-मरण से छूटने के लिये कर्म के बन्धन काटने वाले उपाय खोजा करते हैं वैसे ही हम लोग भी उस राक्षस को नष्ट करने के लिये एक ऐसा सेनापति उत्पन्न करना चाहते हैं ॥ 51 ॥ जिसे देवताओं की सेना का रक्षक बनाकर और उसे सेना के आगे करके भगवान् इन्द्र शत्रुओं के हाथ में बन्दी के समान पड़ी हुई विजय-श्री को फिर लौटा लावें ॥ 52 ॥ उनके कह चुकने पर ऐसी मधुर वाणी ब्रह्मा बोले जो मेघ के गर्जन के पीछे होने वाली वर्षा के समान बड़ी भली लगती थी ॥ 53 ॥ वे बोले- 'आप लोगों की इच्छा तो पूरी हो ही जायेगी पर आप लोगों को थोड़े दिन और बाट जोहनी पड़ेगी क्योंकि तारकासुर को मारने के लिये मैं स्वयं अवतार नहीं ले सकता ॥ 54 ॥ उस राक्षस को वरदान भी मैंने ही दिया है इसलिये अपने हाथ से उसे मार डालना मुझे ठीक नहीं लगता क्योंकि अपने हाथ से लगाए हुए विष के पेड़ को भी अपने ही हाथ से काटना ठीक नहीं होता ॥ 55 ॥ उस समय उसने मुझसे जो वरदान माँगा था वह यदि मैं उसे न देता तो उसकी तपस्या से सारा संसार जल उठता ॥ 56 ॥ महादेव के वीर्य से उत्पन्न होने वाले पुत्र के अतिरिक्त उस युद्ध-भूमि में लड़ने वाले प्रसिद्ध लड़ाके तारकासुर का नाश कोई दूसरा नहीं कर सकता ॥ 57 ॥ क्योंकि शंकर भगवान् तो अन्धकार के पार रहने वाले ऐसे परम तेज हैं जिन्हें अविद्या छू नहीं पाती। इसलिये हम और विष्णु भी उनकी महिमा की थाह अब तक नहीं लगा पाए हैं ॥ 58 ॥ अब आप लोग कोई ऐसा जतन कीजिए कि जैसे चुम्बक से लोहा खिंचा चला आता है वैसे ही समाधि लगाए हुए शंकर का मन भी पार्वती के रूप की ओर खिंच आय ॥ 59 ॥ हमारे और शिव के वीर्य को धारण करना कोई हँसी-ठूठा नहीं है। शिव के वीर्य को केवल पार्वती ही धारण कर सकती हैं और हमारे वीर्य को जल का रूप धारण करने वाली शिव की मूर्ति ही धारण कर सकती है ॥ 60 ॥ उन्हीं पार्वती से शंकर का जो पुत्र होगा वही आप लोगों का सेनापति बनकर अपने पराक्रम से देवताओं की बन्दी स्त्रियों को छुड़ाकर उनके उलझे हुए बाल सुलझा सकेगा ॥ 61 ॥ संसार को उत्पन्न करने वाले ब्रह्मा इतना कहकर आँख से ओझल हो गए और देवता लोग भी आगे की बात सोच-विचारकर स्वर्गलोक को चले गए ॥ 62 ॥ इन्द्र ने इन्द्रलोक में पहुँचकर भलीभाँति सोच-विचारकर अपने काम के लिए वेग से दौड़ने वाले मन में

तत्र निश्चित्य कन्दर्पमगमत्पाकशासनः । मनसा कार्यसंसिद्धौ त्वराद्विगुणरंहसा ॥ 63 ॥

अथ स ललितयोषिद्भ्रूलताचारुशृङ्गं । रतिवलयपदाङ्गे चापमासज्य कण्ठे ।

सहवरमधुहस्तन्यस्तचूताङ्कुरास्त्रः । शतमखमुपतस्थे प्राञ्जलिः पुष्पधन्वा ॥ 64 ॥

॥ इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये

ब्रह्मसाक्षात्कारो नाम द्वितीयः सर्गः ॥



कामदेव को स्मरण किया ॥ 63 ॥ स्मरण करते ही रति के कंगन की छाप पड़े हुए गले में सुन्दर स्त्री की भौहों के समान दिखाई देने वाला सुन्दर धनुष कंधे पर लटकाए और अपने साथी वसन्त के हाथ में आम के बौर का बाण थमाता हुआ कामदेव हाथ जोड़कर इन्द्र के आगे आ खड़ा हुआ ॥ 64 ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदास के रचे हुए कुमारसंभव महाकाव्य में ब्रह्मा से भेंट

नामका दूसरा सर्ग पूर्ण हुआ ॥



॥ तृतीयः सर्गः ॥

तस्मिन्मघोनस्त्रिदशान्विहाय सहस्रमक्षणां युगपत्पपात ।
 प्रयोजनापेक्षितया प्रभूणां प्रायश्चलं गौरवमाश्रितेषु ॥ 1 ॥
 स वासवेनासनसन्निकृष्टमितो निष्पीदेति विसृष्टभूमिः ।
 भर्तुः प्रसादं प्रतिनन्द्य मुध्ना वक्तुं मिथः प्राक्रमतैवमेनम् ॥ 2 ॥
 आज्ञापय ज्ञातंविशेष पुंसां लोकेषु यत्ते करणीयमस्ति ।
 अनुग्रहं संस्मरणप्रवृत्तामिच्छामि संवर्द्धितमाज्ञया ते ॥ 3 ॥
 केनाभ्यसूयापदकाङ्क्षिणा ते नितान्तदीर्घैर्जनिता तपोभिः ।
 यावद्भवत्याहितसायकस्य मत्कामुकस्यास्य निदेशवर्ती ॥ 4 ॥
 असम्मतः कस्तव मुक्तिमार्गं पुनर्भवक्लेशभयात्प्रपन्नः ।
 बद्धश्चिरं तिष्ठतु सुन्दरीणामारेचितभूचतुरैः कटाक्षैः ॥ 5 ॥
 अध्यापितस्योशनसापि नीतिं प्रयुक्तरागप्रणिधिर्द्विषस्ते ।
 कस्यार्थधर्मा वद पीडयामि सिन्धोस्तटावोघ इव प्रवृद्धः ॥ 6 ॥
 कामेकपत्नीव्रतदुःखशीलां लोलं मनश्चारुतया प्रविष्टाम् ।
 नितम्बिनीमिच्छसि मुक्तलज्जां कण्ठे स्वयंग्राहनिष्कबाहुम् ॥ 7 ॥

तीसरा सर्ग

कामदेव के आते ही इंद्र की सहस्रों आँखें देवताओं पर से हटकर एक साथ आदर के साथ कामदेव की ओर घूम गई क्योंकि प्रायः ऐसा होता है कि स्वामी को अपने सेवकों से जब जैसा काम निकालना होता है उसी के अनुसार वे उनका आदर भी किया करते हैं ॥ 1 ॥ इंद्र ने कामदेव से कहा- 'आओ आओ यहाँ हमारे पास आकर बैठो।' यह कहकर उसे अपने पास ही बुला बैठाया। उसने भी सिर झुकाकर इंद्र की कृपा स्वीकार कर ली और उनसे गुप-चुप बातचीत करने लगा ॥ 2 ॥ वह बोला- 'सबके गुणों को पहचानने वाले स्वामी! आप आज्ञा दीजिए कि तीनों लोकों में ऐसा कौन-सा काम आ पड़ा है जो आप मुझे कराना चाहते हैं क्योंकि मुझे स्मरण करके आपने जो कृपा की है उसे मैं आपकी आज्ञा का पालन करके और भी बढ़ा देना चाहता हूँ ॥ 3 ॥ कहिए तो ऐसा कौन पुरुष उत्पन्न हो गया है जिसने बहुत बड़ी-बड़ी तपस्याएँ करके आपके मन में ईर्ष्या जगा दी है। आप मुझे उसका नाम भर बतला दीजिए फिर तो मैं जाकर अपने इस बाण चढ़े हुए धनुष से बात की बात में उसे जीते लाता हूँ ॥ 4 ॥ बताइए तो ऐसा कौन पुरुष है जो आपका शत्रु बनकर संसार के कष्टों से घबराकर मोक्ष की ओर चल पड़ा है। मैं उसे अभी उन सुन्दरियों के नेत्रों में बहुत दिनों के लिये ला फँसाए देता हूँ जो बाँकी चितवन चलाने में बड़ी चतुर हैं ॥ 5 ॥ आपका वह शत्रु यदि शुक्राचार्य से भी नीतिशास्त्र पढ़कर आया होगा तो भी अत्यन्त भोग की इच्छा को ऐसा दूत बनाकर मैं उसके पास भेजे देता हूँ जो उसके धर्म और अर्थ दोनों वैसे ही मिटा बहाये जैसे बरसात में बड़ी हुई नदी का बहाव दोनों तटों को बहा ले जाता है ॥ 6 ॥ या ऐसी कौन सुन्दरी और हठीली पतिव्रता आपके चंचल मन में आ बैठी है। मैं अभी उस सुन्दरी पर ऐसा बाण निकाल चलाता हूँ कि वह सब लाज-शील छोड़कर आपके गले से आ लगे ॥ 7 ॥ हे कामी! ऐसी कौन-सी स्त्री है जो आपका संभोग न पाने पर क्रोध करके आपसे इतनी रूठी बैठी है कि पैरों पर गिरकर

कयासि कामिन्सुरतापराधात्पादानतः कोपनयावधूतः ।
 तस्याः करिष्यामि दृढानुताप प्रवासव्याशरणं शरीरम् ॥ 8 ॥
 प्रसीद विश्राम्यतु वीर वज्रं शरैर्मदीयैः कतमः सुरारिः ।
 विमेतु मोघीकृतबाहुवीर्यः स्त्रीभ्योऽपि कोपस्फुरिताऽधराभ्यः ॥ 9 ॥
 तव प्रसादात्कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा ।
 कुर्या हरस्यापि पिनाकपाणेधैर्यचयुतिं के मम धन्विनोऽन्ये ॥ 10 ॥
 अधोरुदेषापदवतार्य पदिमामक्रान्तिसंभावितपादपीठम् ।
 संकल्पितार्थे विवृतात्मशक्तिमाखण्डलः काममिदं बभाषे ॥ 11 ॥
 सर्वं सखे त्वय्युपपन्नमेतदुभे ममास्त्रे कुलिशं भवौश्च ।
 वज्रं तपोवीर्यमहत्सु कुण्ठं त्वं सर्वतोगामि च साधकं च ॥ 12 ॥
 अवैमि ते सारमतः खलु त्वां कार्ये गुरुण्यात्मसमं नियोक्ष्ये ।
 व्यादिश्यते भूधारतामवेक्ष्य कृष्णेन देहोद्धननाय शेषः ॥ 13 ॥
 आशंसता बाणगतिं वृषाङ्के कार्यं त्वया नः प्रतिपन्नकल्पम् ।
 निबोध यज्ञांशभुजामिदानीमुच्चैर्द्विषामीप्सिततमेतदेव ॥ 14 ॥
 अमी हि वीर्यप्रभवं भवस्य जयाय सेनान्यमुशन्ति देवाः ।
 स च त्वदेकेषुनिपातसाध्यो ब्रह्माङ्गभूर्ब्रह्मणि यौजितात्मा ॥ 15 ॥

मनाने पर भी अभी तक मान नहीं रही है। मैं उसके मन में ऐसा पछतावा उत्पन्न किए देता हूँ कि वह अपने आप आपके पास आकर लाल कोंपलों के ठण्डे बिछौने पर आ लेटे ॥ 8 ॥ हे वीर! आप चिन्ता छोड़कर अपने वज्र को भी विश्राम कर लेने दें। मुझे बताइए तो सही कि ऐसा कौन दैत्य है जो मेरे वाणों की मार से ऐसा शक्तिहीन हो जाना चाहता है कि क्रोध से काँपते हुए ओठों वाली नारी तक उसे डरा मारें ॥ 9 ॥ आपकी कृपा हो तो मैं केवल बसन्त को ही अपने साथ लेकर अपने फूल के वाणों से ही पिनाक धारण करने वाले स्वयं महादेवजी तक के छक्के छुड़ा दूँ, फिर और दूसरे धनुधारियों की तो गिनती ही क्या ॥ 10 ॥ यह बात सुनकर तो इन्द्र को कुछ ढाढस हो चला और उन्होंने अपने पैर खोलकर पाँव पीढ़े पर रखे और जिस कामदेव ने उनके सोचे हुए काम में अपने आप इतना उत्साह दिखाया था उनको बोले ॥ 11 ॥ देखो मित्र! तुम ही हो जो सब कुछ कर सकते हो क्योंकि तुम और वज्र, ये ही दो तो मेरे अस्त्र हैं। पर इनमें से वज्र की धार तो शत्रुओं की तपस्या ने उतार दी है। अब तुम्हीं एक ऐसे बच रहे हो जो बेरोक-टोक सब ओर जा भी सकते हो और हमारा कार्य भी कर ला सकते हो ॥ 12 ॥ मैं तुम्हारी शक्ति भलीभाँति जानता हूँ, इसलिये मैं तुम्हें अपने जैसा ही मानकर यह बड़ा काम सौंपना चाहता हूँ। जानते हो? प्रलय होने पर अपने सोने के लिये भगवान ने शेष को ही अपनी शय्या क्यों बनाया था? क्योंकि वे देख चुके थे कि शेषनाग जब पृथ्वी को धारण कर सकते हैं तब मेरा बोझ भी सह लेंगे ॥ 13 ॥ अभी-अभी तुमने कहा है कि हम अपने बाणों से शंकर जी को भी वश में कर सकते हैं। इसलिये एक प्रकार से तुमने हमारा काम करने का बीड़ा उठा ही लिया है। इसलिये समझ लो कि बलवान शत्रु से सताए हुए और डरे हुए देवता तुमसे यही काम कराने की ठाने हुए हैं ॥ 14 ॥ देवता लोग चाहते हैं कि शत्रु को जीतने के लिये शिव जी के वीर्य से हमारा सेनापति उत्पन्न हो। इसलिये मन्त्र के बल से ब्रह्म में ध्यान लगाए हुए महादेव की समाधि कोई तुड़वा सकता है तो तुम्हीं अपने एक बाण से तोड़ सकते हो ॥ 15 ॥ अब तुम ऐसा जतन करो कि समाधि में बैठे हुए महादेव के मन में हिमवान की

तस्मै हिमाद्रेः प्रयतां तनूजां यतात्मने रोचयितुं यतस्व ।
 योषित्सु तद्वीर्यनिषेकभूमिः सैव क्षमेत्यात्मभुवोपदिष्टम् ॥ 16 ॥
 गुरोर्नियोगाच्च नगेन्द्रकन्या स्थाणुं तपस्यन्तमधित्यकायाम् ।
 अन्वास्त इत्यप्सरसां मुखेभ्यः श्रुतं मया मत्प्रणिधिः स वर्गः ॥ 17 ॥
 तद्गच्छ सिद्धयै कुरु देवकार्यमर्थोऽयमर्थान्तरभाव्य एव ।
 अपेक्षते प्रत्ययमुत्तमं त्वां बीजाङ्गरः प्रागुदयादिवाम्भः ॥ 18 ॥
 अस्मिन्सुराणां विजयाभ्युपाये तवैव नामास्त्रगतिः कृती त्वम् ।
 अप्यप्रसिद्धं यत्रासे हि पुंसामनन्यसाधारणमेव कर्म ॥ 19 ॥
 सुराः समभ्यर्थयितार एते कार्यं त्रयाणामपि विष्टपानाम् ।
 चापेन ते कर्म न चातिहिंस्त्रमहो बतासि स्पृहणीयवीर्यः ॥ 20 ॥
 मधुश्च ते मन्मथ साहचर्यादसावनुक्तोऽपि सहाय एव ।
 समीरणो नोदयिता भवेति व्यादिश्यते केन हुताशनस्य ॥ 21 ॥
 तथेति शेषामिव भर्तुराज्ञामादाय मूर्ध्ना मदनः प्रतस्थे ।
 ऐरावतास्फालनकर्कशेन हस्तेन पस्पर्श तदङ्गमिन्द्रः ॥ 22 ॥
 स माधवेनाभिमतेन सख्या रत्या च शासङ्कमनुप्रयातः ।
 अङ्गव्ययप्राथितकार्यसिद्धिः स्थाण्वाश्रमं हैमवतं जगाम ॥ 23 ॥

कन्या पार्वती के लिये प्रेम उत्पन्न हो जाय, क्योंकि ब्रह्मा ने स्वयं यह बात बताई है कि स्त्रियों में कोई है तो वे ही एक ऐसी हैं जो शिव का वीर्य धारण कर सकती हैं ॥ 16 ॥ गुप्तचर का काम करने वाली अपनी अप्सराओं के मुँह से हमने सुना है कि पार्वती पहाड़ के राजा अपने पिता की आज्ञा से हिमालय पहाड़ पर तप करते हुए महादेवी की सेवा कर रही है ॥ 17 ॥ इसलिये तुम जाकर देवताओं का इतना काम कर डालो क्योंकि इस काम के लिये बस एक कोई कारण भर चाहिए था। जैसे बीज को अंकुर बनाने के लिये जल की आवश्यकता पड़ती है वैसे ही यह काम भी तुम्हारी सहायता के भरोसे ही अटका हुआ था ॥ 18 ॥ अब देवताओं की जीत हो सकती है तो तुम्हारे ही बाणों से हो सकती है। तुम सचमुच बड़े भाग्यशाली हो क्योंकि संसार में यश तो ऐसा ही असाधारण काम करने से ही मिला करता है जिसे कोई दूसरा कर न सके ॥ 19 ॥ और फिर एक तो सब देवता लोग तुमसे इस काम के लिये भीख माँग रहे हैं, दूसरे यह कार्य तीनों ही लोकवालों का है और तीसरी बात यह है कि यद्यपि इस काम में तुम्हारा धनुष काम तो आवेगा पर इससे किसी की हिंसा नहीं होगी। आज तुम्हें देखकर तो सबके मन में यह इच्छा जग उठी है कि तुम्हारी जैसी ही शक्ति हमें भी मिल जाय ॥ 20 ॥ देखो कामदेव! हमने तुम्हारी सहायता के लिये वसन्त का नाम इसलिये नहीं लिखा कि वह तो तुम्हारा साथी है ही। क्योंकि भला पवन को कहीं यह थोड़े ही कहा जाता है कि तुम जाकर आग की सहायता करो। वह तो अपने आप ही आग को भड़काया करता है चाहे कोई कहे या न कहे ॥ 21 ॥ यह सुनकर कामदेव ने कहा- 'जैसी आज्ञा'। और जैसे कोई उपहार में दी हुई माला लेकर सिर पर चढ़ा ले वैसे ही कामदेव ने इन्द्र को आज्ञा सिर माथे चढ़ा ली। जब वह चलने लगा तब इन्द्र ने उसकी पीठ पर अपना वह हाथ फेरकर उसे उत्साहित किया जो ऐरावत को अंकुश लगाते-लगाते कड़ा पड़ गया था ॥ 22 ॥ उसने निश्चय कर लिया कि मुझे प्राण भी देना पड़े तब भी मैं देवताओं का यह काम अवश्य करूँगा। फिर वह वसन्त को साथ लेकर उधर चल दिया जिधर शिव बैठे तपस्या कर रहे थे। इनके पीछे-पीछे बेचारी रति भी मन में बड़ी डरती चली जा रही थी कि आज न जाने क्या हो जाय ॥ 23 ॥ उस वन में पहुँचकर मुनियों के तप की समाधि

तस्मिन्वने संयमिनां मुनीनां तपः समाधेः प्रतिकूलवर्ती ।
 संकल्पयोने रभिमानभूतमात्मानमाधाय मधुर्जजृम्भे ॥ 24 ॥
 कुबेरगुप्तां दिशमुष्णरश्मौ गन्तुं प्रवृत्ते समयं विलङ्घ्य ।
 दिग्दक्षिणा गन्धवहं मुखेन व्यलीकनिःश्वासमिवोत्ससर्ज ॥ 25 ॥
 असूत सद्यः कुसुमान्यशोकः स्कन्धात्प्रभृत्येव सपल्लवानि ।
 पादेन नापैक्षत सुन्दरीणां संपर्कमासिञ्जितनूपुरेण ॥ 26 ॥
 सद्यः प्रवालोद्गमचारुपत्रे नीते समाप्तिं नवचूतवाणे ।
 निवेशयामास मधुर्द्विरेफान्नामाक्षराणीव मनोभवस्य ॥ 27 ॥
 वर्गप्रकर्षे सति कर्णिकारं दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः ।
 प्रायेण सामग्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विस्वसृजः प्रवृत्तिः ॥ 28 ॥
 बालेन्दुवक्त्राण्यविकासभावाद्बभूव पलाशान्यतिलोहितानि ।
 सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥ 29 ॥
 लग्नद्विरेफाञ्जनभक्तिचित्रं मुखे मधुश्रीस्तिलकं प्रकाश्य ।
 रागेण बालारुणकोमलेन चूतप्रवालोष्ठमलंचकार ॥ 30 ॥
 मृगाः प्रियालदुममञ्जरीणां रजःकणैर्विघ्नितदृष्टिपाताः ।
 मदोद्धताः प्रत्यनिलाः विचेरुर्वनस्थलीर्मर्मरपत्रमोक्षाः ॥ 31 ॥

को डिगाने वाला और कामदेव का सहायक बनने का घमण्ड करने वाला वसन्त अपना पूरा रूप खोलकर चारों ओर जा छाया ॥ 24 ॥ वसन्त के छाने ही असमय में ही सूर्य भी दक्षिणायन से उत्तरायण की ओर चले जाए। उस समय दक्षिण से बहता हुआ मलय पवन ऐसा प्रतीत होता था मानो अपने पति सूर्य के चले जाने पर दक्षिण दिशा दुखी होकर अपने मुँह से लम्बी-लम्बी उसाँसे छोड़े दे रही हो ॥ 25 ॥ अशोक का वृक्ष भी तत्काल नीचे से ऊपर तक फूल पत्तों से लद गया और छन-छनाते विछुओं वाली सुन्दरियों के चरणों के प्रहार की बाट भी उसने नहीं देखी ॥ 26 ॥ सुन्दर वसन्त नई कोपलों के पंख लगाकर आम की मंजरियों के बाण तैयार कर दिए। उन पर उसने जो भीरे बैठाए वे ऐसे लगते थे मानो उन बाणों पर कामदेव के नाम के अक्षर लिखे हुए हों ॥ 27 ॥ वहाँ फूले हुए कर्णिकार देखने में तो सुन्दर थे पर ग्रन्थ न होने के कारण मन को भाते न थे। ब्रह्मा की कुछ ऐसी बान ही पड़ गई है कि वे किसी भी वस्तु में पूरे गुण भरते ही नहीं ॥ 28 ॥ वसन्त के आते ही दूज के चन्द्रमा के समान टेढ़े, अत्यन्त लाल-लाल अधखिले टेसू के फूल वनभूमि में फैले हुए ऐसे लग रहे थे मानो वसन्त ने वनस्थलियों के साथ बिहार करके उन पर अपने नखों के चिह्न बना दिए हों ॥ 29 ॥ वहाँ उड़ते हुए भीरे खिले हुए तिलक के फूल और प्रातःकाल के सूर्य की लाली से चमकने वाली कोंपले ऐसी लगती थीं मानो वसन्त की शोभा-रूपी स्त्री ने भीरे-रूपी आँजन से अपना मुँह चीतकर, अपने माथे पर तिलक के फूल का तिलक लगाकर प्रातःकाल के सूर्य की कोमल लाली से चमकने वाले आम की कोपलों से अपने ओंठ रंग लिए हों ॥ 30 ॥ आँखों में प्रियाल के फूलों के पराग के उड़-उड़कर पड़ने से जो मतवाले हिरण भलीभाँति देख नहीं पा रहे थे वे पवन से झड़े हुए सूखे पत्तों से मर्मर करती हुई वन की भूमि पर इधर-उधर दौड़ते फिर रहे थे ॥ 31 ॥ आग की मञ्जरियाँ खा लेने से जिस कोकिला का कंठ मीठा हो गया था वह जब मीठे स्वर से कूक उठता था तब उसे सुन-सुनकर रूठी हुई स्त्रियाँ अपना सारा रूठना

चूताडकुरास्वादकषायकण्ठः पुँस्कोकिलो यन्मधुरं चुकूज ।
 मनस्विनीमानविधातदक्षं तदेव जातं वचनं स्मरस्य ॥ 32 ॥
 हिमव्यपाया द्विशदाधराणामापाण्डुरीभूतमुखाच्छवीनाम् ।
 स्वेदोद्गमः किम्पुरुषाङ्गनानां चक्रे पदं पत्रविशेषकेषु ॥ 33 ॥
 तपस्विनः स्थागुवनौकसस्तामाकालिकीं वीक्ष्य मधुप्रवृत्तिम् ।
 प्रयत्नसंस्तम्भितविक्रियाणां कथंचिदीशा मनसां बभूवुः ॥ 34 ॥
 तं देशमारोपितपुष्पचापे रतिद्वितीये मदने प्रपन्ने ।
 काष्ठागतस्नेहरसानुविद्धं द्वन्द्वानि भावं क्रियया विवबुः ॥ 35 ॥
 मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः ।
 शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥ 36 ॥
 ददौ रसात्पङ्कजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः ।
 अर्द्धोपभुक्तेन बिसेन जायां संभावयामास रथाङ्गनामा ॥ 37 ॥
 गीतान्तरेषु श्रमवारिलेशैः किञ्चित्समुच्छ्वासितपत्रलेखम् ।
 पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुखं किंपुरणश्चुचुम्बे ॥ 38 ॥
 पर्याप्तपुष्पस्तबकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालौष्ठमनोहराभ्यः ।
 लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धानानि ॥ 39 ॥
 श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन्हरः प्रसंख्यानपरो बभूव ।
 आत्मेश्वराणां नहि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति ॥ 40 ॥

भूल जाती थीं ॥ 32 ॥ जाड़े के वीतने और गर्मी के आ जाने से कोमल ओठों और सुन्दर गोरे मुखों वाली किन्नरियों के मुख पर चीती हुई चित्रकारी पर पसीना आने लगा ॥ 33 ॥ महादेव के साथ उस वन में रहने वाले तपस्वी लोगों ने असमय में वसन्त आया हुआ देखकर अपना मन विकारों से हटाकर बड़ी कठिनाई से रोके रक्खा ॥ 34 ॥ फिर जब अपने फूल के धनुष पर बाण चढ़ाकर रति को साथ लेकर कामदेव आया तब चर और अचरों की अत्यन्त बढ़ी हुई संभोग की इच्छा उनमें दिखाई देने लगी ॥ 35 ॥ भौरा अपनी प्यारी भौरी के साथ एक ही फूल की कटोरी में मकरन्द पीने लगा । काला हरिण अपनी उस हरिणी को सींग से खुजलाने लगा जो उसके स्पर्श का सुख लेती हुई आँखें मूँदे बैठी थी ॥ 36 ॥ हथिनी बड़े प्रेम से कमल के पराग में वसा हुआ सुगन्धित जल अपनी सूँड़ में लेकर अपने हाथी को पिलाने लगी और चकवा भी आधी कुतरी हुई कमल की नाल लेकर चकवी को ले जाकर भेंट करने लगा ॥ 37 ॥ किन्नर लोग गीतों के बीच में ही अपनी-अपनी प्रियाओं के वे मुख चूमने लगे जिन पर थकावट के कारण पसीना आ छाया था, जिन पर चीती हुई चित्रकारी लिप गई थी और जिनके नेत्र फूलों की मदिरा से मतवाले होने के कारण लुभावने लग रहे थे ॥ 38 ॥ वृक्ष भी अपनी झुकी हुई डालियों को फैला-फैलाकर उन लताओं से लिपटने लगे जिनके बड़े-बड़े फूलों के गुच्छों के रूप में मानो उनके स्तन लटक रहे हों और पत्तों के रूप में जिनके सुन्दर ओंठ हिल रहे थे ॥ 39 ॥ इसी बीच अप्सराओं ने अपना नाच-गाना आरम्भ कर दिया पर महादेव थे कि उस से मस न हुए और अपने ध्यान में ही मग्न ज्यों के त्यों बैठे रहे क्योंकि जो लोग अपना मन वश में किए रहते हैं उनकी समाधि क्या किसी के छुड़ाए छूट पा सकती है ॥ 40 ॥ उस समय नन्दी अपने बाएँ हाथ पर सोने का डंडा टिकाए हुए लतामंडप

लतागृहद्वारगतोऽथ नन्दी वामप्रकोष्ठापितहेमवेत्रः ।
 मुखापितैकाङ्गु गुलिसंज्ञयैव मा चापलायेति गणान्वयनैषीत् ॥ 41 ॥
 निष्कम्पवृक्षं निभृतद्विरेफं मूकाण्डजं शान्तमृगप्रचारम् ।
 तच्छासनात्काननमेव सर्वं चित्रार्पितारम्भमिवावतस्थे ॥ 42 ॥
 दृष्टिप्रपातं परिहृत्य तस्य कामः पुरः शुक्रमिव प्रयागे ।
 प्रान्तेषु संसक्तनमेरुशाखां ध्यानास्पदं भूतपतेविर्वेशः ॥ 43 ॥
 स देवदारुदुमबेदिकायां शार्दूलचर्मव्यवधानवत्याम् ।
 आसीनमासन्नशरीरपातस्त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श ॥ 44 ॥
 पर्यङ्कबन्धस्थिरपूर्वकायमृज्वायतं संनमितो मयांसम् ।
 उत्तानपाणिद्वयसंनिवेशात्पुल्लराजीवमिवाङ्गमध्ये ॥ 45 ॥
 भुजंगमोन्नद्धजटाकलापं कर्णावसक्तद्विगुणाक्षसूत्रम् ।
 कण्ठप्रभासङ्गविशेषनीलां कृष्णत्वचं ग्रन्थिमतीं दधानम् ॥ 46 ॥
 किञ्चित्प्रकाशस्तिमितोऽग्रतारैर्भ्रूविक्रियायां विरतप्रसङ्गैः ।
 नेत्रैरविस्पन्दितपक्षममालैर्लक्ष्यीकृतघ्राणमधो मयूखैः ॥ 47 ॥
 अवृष्टितरम्भमिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तारंगम् ।
 अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निर्वातनिष्कम्पमिव प्रदीपम् ॥ 48 ॥
 कपालनेत्रान्तरलब्धमार्गेज्योतिःप्ररोहैरुदितैः शिरस्तः ।
 मृणालसूत्राधिकसौकुमार्या बालस्य लक्ष्मीं ग्लपयन्तमिन्दोः ॥ 49 ॥

के द्वार पर बैठा मुँह पर उँगली रखकर सब गणों को संकेत से मना कर रहा था कि तुम लोग नटखटपन छोड़कर चुप होकर बैठो ॥ 41 ॥ उनकी आज्ञा पाते ही वृक्षों ने हिलना बन्द कर दिया, भौरों ने गूँजना बन्द कर दिया, सब जीव-जन्तु चुप हो गए और पशु भी जहाँ के तहाँ खड़े के खड़े रह गए, यहाँ तक कि सारा वन उस एक ही संकेत में ऐसा लगने लगा मानों चित्र में खिंचा हुआ हो ॥ 42 ॥ जैसे यात्रा करने के समय लोग सामने के शुक्र की दृष्टि बचाते हैं वैसे ही कामदेव भी नन्दी की आँखें बचाकर नमेरु की शाखाओं से घिरे हुए उस स्थान में जा ही घुसा जहाँ महादेव समाधि लगाए बैठे थे ॥ 43 ॥ थोड़ी ही देर में मृत्यु के मुँह में पहुँचने वाला वह कामदेव देखता क्या है कि देवदार के पेड़ की जड़ में पत्थर की पाटियों से बनी हुई चौकी पर बाघम्बर बिछा हुआ है और उस पर महादेव समाधि लगाए बैठे हुए हैं ॥ 44 ॥ उन्होंने वीरासन लगा कर अपना धड़ सीधा और अचल कर लिया है, अपने दोनों कन्धे झुकाकर अपनी गोद में कमल के समान दोनों हथेलियों को ऊपर किए हुए हैं ॥ 45 ॥ साँपों से उनकी जटा बँधी हुई है, दाहिने कान पर दुहरी रुद्राक्ष की माला टँगी है, गले की नीली चमक से और भी अधिक साँवली दिखाई पड़ने वाली मृगछाला उनके शरीर पर गाँठ मारकर कसी हुई है ॥ 46 ॥ भौंहें तानकर कुछ-कुछ प्रकाश देने वाली, निश्चल, उग्र तारों वाली और अपनी किरणें नीचे डालने वाली आँखों से नाक के अगले भाग पर दृष्टि जमाए हुए हैं ॥ 47 ॥ और शरीरके भीतर चलने वाले सब पवनों को रोककर वे ऐसे अचल हुए बैठे हैं जैसे न बरसने वाला बादल हो, बिना लहरों वाला निश्चल ताल हो या पवन-रहित स्थान में खड़ी लौ-वाला दीपक हो ॥ 48 ॥ उस समय उनके सिर और नेत्रों से जो तेज निकल पड़ रहा था उसके आगे कमल के तन्तु से भी अधिक कोमल बाल-चन्द्रमा की शोभा भी कुछ नहीं थी ॥ 49 ॥ वहाँ

मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्तिं हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम् ।
 यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् ॥ 50 ॥
 स्मरस्तथाभूतमयुग्मनेत्रं पश्यन्नदूरान्मनसाप्यधृष्यम् ।
 नालक्षयत्साध्वससन्नहस्तः स्त्रस्तं शरं चापमपि स्वहस्तात् ॥ 51 ॥
 निर्वाणभूयिष्ठमथास्य वीर्यं संधुक्षयन्तीव वपुर्गुणेन ।
 अनुप्रयाता वनदेवताभ्यामदृश्यत स्थावरराजकन्या ॥ 52 ॥
 अशोकनिर्भातिसतपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम् ।
 मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती ॥ 53 ॥
 आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम् ।
 पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव ॥ 54 ॥
 स्त्रस्तां नितम्बादवलम्बमाना पुनः पुनः केसरदामकाञ्चीम् ।
 न्यवसीकृतां स्थानविदा स्मरेण मौर्ची द्वितीयाभिव कार्मुकस्य ॥ 55 ॥
 सुगन्धिनिश्वास विवृद्धतृष्णं बिम्बाधरासत्रचरं द्विरेफम् ।
 प्रतिक्षणं सभ्रमलोलदृष्टिर्लीलारबिन्देन निवारयन्ती ॥ 56 ॥
 तां वीक्ष्य सर्वावयवानवद्यां रतेरपि द्वीपदमादधानाम् ।
 जितेन्द्रिये शूलिनि पुष्पचापः स्वकार्यसिद्धिं पुनराशशंस ॥ 57 ॥

समाधि में बैठे हुए शंकर अपने उस अविनाशी आत्मा की ज्योति को अपने भीतर देख रहे थे जिसे ज्ञानी लोग अपनी नवीं इन्द्रियों के द्वार रोककर मनको समाधि से वश में करके हृदय में रखकर जान पाते हैं ॥ 50 ॥ तीन नेत्रों वाले शंकर का जो रूप बुद्धि और मन से भी परे था उसी रूप को इतने पास में देखकर कामदेव के हाथ डर के मारे ऐसे ढीले पड़ गए कि वह यह भी न जान सका कि मेरे हाथ में धनुष वाण छूटकर गिर कब गए ॥ 51 ॥ डरके मारे कामदेव की शक्ति तो नष्ट हो गई थी पर मालिनी और विजया नाम की वन-देवियों के साथ अत्यन्त सुन्दरी पार्वती का मनोहर रूप देखकर मानो उसकी सोई हुई शक्ति फिर जाग उठी ॥ 52 ॥ उस समय पार्वती के शरीर पर लाल मणि को लज्जित करने वाले अशोक के पत्तों के, सोने की चमक को घटाने वाली कर्णिकार के फूलों के और मोतियों की माला के समान उजले सिन्धुवार के वासन्ती फूलों के आभूषण सजे हुए थे ॥ 53 ॥ स्तनों के बोझ से झुके हुए शरीर पर प्रातःकाल के सूर्य के समान लाल कपड़े पहने हुए वे ऐसी लग रही थीं जैसे फूलों के गुच्छे के भार से झुकी हुई नई लाल-लाल कोपलों वाली चलती-फिरती लता हो ॥ 54 ॥ उनकी कमर में पड़ी हुई केसर के फूलों की तगड़ी (करघनी) जब-जब नितम्ब से नीचे खिसक आती थी तब-तब वे उसे अपने हाथ से थाम कर ऊपर सरका लेती थीं। वह तगड़ी ऐसी लगती थी मानो कहाँ क्या पहनना चाहिए इस बात को जानने वाले कामदेव ने अपने हाथ से उनकी कमर में अपने धनुष की दूसरी डोरी ही ला पहना दी हो ॥ 55 ॥ कामदेव ने देखा कि उनकी सुगन्धित साँस पर ललचे हुए भौरे जब उनके लाल-लाल ओठों के पास आते हैं तब-तब वे घबराहट से आँखें नचाती हुई छोटे-छोटे कमलों से मार मारकर उन्हें भगा देती हैं ॥ 56 ॥ कामदेव ने जब रति को भी लजाने वाली, अधिक सुघर अंगों वाली पार्वती को देखा तब उसके मन में जितेन्द्रिय विकेन्द्रित महादेव को वश में करने की आशा फिर हरी हो उठी ॥ 57 ॥ इसी बीच पार्वती भी अपने भावी पति शंकर के आश्रम के द्वार पर आ ही पहुँची। ठीक उसी समय

भविष्यतः पत्युरुमा च शंभोः समाससाद प्रतिहारभूमिम् ।
 योगात्स चान्तः परमात्मसंज्ञं दृष्ट्वा परं ज्योतिरुपाराराम ॥ 58 ॥
 ततो भुजंगाधिपतेः फणाग्रैरधः कथंचिद्धतभूमिभागः ।
 शनैः कृतप्राणविमुक्तिरीशः पर्यङ्कबन्धं निविडं विभेद ॥ 59 ॥
 तस्मै शशंस प्रणिपत्य नन्दी शुश्रूषया शैलसुतामुपेताम् ।
 प्रवेशयामास च भर्तुरेनां भूक्षोपमात्रानुमतप्रवेशाम् ॥ 60 ॥
 तस्याः सखीभ्यां प्रणिपातपूर्वं स्वहस्तलूनः शिशिरात्ययस्य ।
 व्यकीर्यत त्र्यम्बकपादमूले पुष्पोच्चयः पल्लवभङ्गभिन्नः ॥ 61 ॥
 उमापि नीलालकमध्यशोभि विस्त्रंसयन्ती नवकर्णिकारम् ।
 चकार कर्णच्युतपल्लवेन मूर्ध्ना प्रणामं वृषभध्वजाय ॥ 62 ॥
 अनन्यभार्जं पतिमाप्नुहीति सा तभ्यमेवाभिहिता भवेन ।
 न हीश्वरव्याहृतयः कदाचित्पुष्णन्ति लोके विपरीतमर्थम् ॥ 63 ॥
 कामस्तु बाणावसरं प्रतीक्ष्य पतङ्गवद्वह्निमुखां विविक्षुः ।
 उमासमक्षां हरबद्धलक्ष्यः शरासनज्यां मुहुराममर्श ॥ 64 ॥
 अथोपनिन्ये गिरिशाय गौरी तपस्विने ताम्ररुचा करेण ।
 विशोषितां भानुमतो मयूखैर्मन्दाकिनीपुष्करबीजमालाम् ॥ 65 ॥
 प्रतिग्रहीतुं प्रणयिप्रियत्वात्त्रिलोचनस्तामुपचक्रमे च ।
 संमोहनं नाम च पुष्पधन्वा धनुष्यमोघं समधत बाणम् ॥ 66 ॥

महादेव ने भी परमात्मा की परम ज्योति का दर्शन करके अपनी समाधि तोड़ दी ॥ 58 ॥ आँखें खोलकर उन्होंने धीरे-धीरे साँस लेना प्रारम्भ कर दिया और अपनी कठोर पलथी भी खोल दी। इसीलिये उनका वह शरीर जो समाधि के समय बहुत हल्का हो गया था अब इतना भारी हो गया कि उनके बैठने की भूमि को शेष भगवान बड़ी कठिनाई से अपने फणो पर सँभाल पा रहे थे ॥ 59 ॥ उनकी समाधि खुली देखकर नन्दी ने जाकर उन्हें प्रणाम करके कहा कि आपकी सेवा के लिये पार्वती आई हुई हैं। महादेव ने अपनी भौंहों से उन्हें बुलाने का संकेत किया और पार्वती को नन्दी भीतर ले आए ॥ 60 ॥ पहले पार्वती की दोनों सखियों ने शंकर को प्रणाम किया और फिर अपने हाथ से चुने हुए, पत्तों के टुकड़े मिले हुए वासन्ती फूलों का ढेर उनके पैरों पर उठा चढ़ाया ॥ 61 ॥ पार्वती ने भी शिव को प्रणाम करने के लिये ज्योंही अपना सिर झुकाया त्योंही उनके काले-काले बालों में गुँथे हुए कणिकार के फूल और कानपर धरे हुए पत्ते पृथ्वी पर गिर पड़े ॥ 62 ॥ प्रणाम करती हुई पार्वती को भगवान शंकर ने यह सत्य आशीर्वाद दिया कि तुम्हें ऐसा पति मिले जो किसी भी स्त्री को न मिल सका हो। ठीक ही है, ऐसे ऐश्वर्यशालियों की वाणी कभी झूठी थोड़े ही होती है ॥ 63 ॥ जैसे कोई पतंगा आग में कूदने को उतावला हो वैसे ही कामदेव ने भी सोचा कि वस बाण छोड़ने का यही ठीक अवसर है। फिर क्या था, वह पार्वती के आगे बैठे हुए शिव पर ताक-ताक कर धनुष की डोरी खींचने ही तो लगा ॥ 64 ॥ उधर पार्वती ने प्रणाम करके समाधि से जगे हुए शंकर के गले में धूप में सुखाए हुए मन्दाकिनी के कमल के बीजों की माला अपने लाल-लाल हाथों से उठा पहनाई ॥ 65 ॥ शिव ने भक्त पर प्रेम करने के नाते पार्वती को वह माला पहनी ही थी कि कामदेव ने भी सम्मोहन नाम का अचूक बाण अपने धनुष पर निकाल चढ़ाया ॥ 66 ॥ जैसे चन्द्रमा के निकलने पर समुद्र में ज्वार आ जाता है वैसे ही पार्वती को देखकर महादेव

हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
 उमामुखे बिम्बफलाधारोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥ 67 ॥
 विवण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्वालकदम्बकल्पैः ।
 साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥ 68 ॥
 अथोन्मिदयक्षो भमयुग्मनेत्राः पुनर्वशित्वाद्वलवन्निगृह्य ।
 हेतं स्वचेतो विकृतेर्दिदृक्षुर्दिशामुपान्तेषु ससर्ज दृष्टिम् ॥ 69 ॥
 स दक्षिणापाङ्गनिविष्टमुष्टिं नतांसमाकुञ्चितसव्यपादम् ।
 ददर्श चक्रीकृतचारुचापं प्रहर्तुमभ्युद्यतमात्मयोनिम् ॥ 70 ॥
 तपःपरामर्शविवृद्धमन्यो भ्रमङ्गदुष्टे क्षयमुखास्य तस्य ।
 स्फुरन्नुदधिः सहसा तृतीयादक्षः कृशानुः किल निष्पपात ॥ 71 ॥
 क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्दिगरः खे मरुतां चरन्ति ।
 तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशोर्णं मदनं चकार ॥ 72 ॥
 तीव्राभिणङ्गप्रभवेण वतिं मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम् ।
 अज्ञातभतृव्यसना मुहुर्तं कृतोपकारेव रतिर्बभूव ॥ 73 ॥
 तमाशु विघ्नं तपसस्तपस्वी वनस्पतिं वज्र इवावभज्य ।
 स्त्रीसन्निकर्षं परिहर्तुमिच्छन्नन्तर्दधौ भूतपतिः सभूतः ॥ 74 ॥

के हृदय में भी कुछ हलचल-सी होने लगी और वे पार्वती के बिम्ब के समान लाल-लाल ओठों पर अपनी ललचाई आँखें डालने लगे ॥ 67 ॥ और इधर पार्वती भी फले हुए नये कदंब के समान पुलकित अंगों से प्रेम जतलाती हुई, लजीली आँखों से अपना अत्यन्त सुन्दर कुछ मुख तिरछा करके वहीं खड़ी रह गई ॥ 68 ॥ पर महादेव तत्काल सँभल गए। संयमी होने के कारण उन्होंने तत्काल इन्द्रियों की चंचलता को बलपूर्वक रोक लिया और यह देखने के लिये चारों ओर दृष्टि दौड़ाई कि मेरे मन में यह विकार लाया कौन ॥ 69 ॥ शंकर देखते क्या हैं कि अपना धनुष खींचकर गोल किए हुए, दाहिनी आँख की कोर तक मुट्ठी बाँधे हुए कंधा झुकाकर बायाँ पैर समेटे कामदेव मुझ पर बाण चलाने ही वाला है ॥ 70 ॥ अपने तप में बाधा डालने वाले उस कामदेव पर महादेव इतने क्रुद्ध हो उठे कि उनकी चढ़ी हुई भौंहों के बीच वाला नेत्र देखा नहीं जा रहा था। झट उनका वह तीसरा नेत्र खुल पड़ा और उसमें से सहसा जलती हुई आग की लपटें भी निकली ॥ 71 ॥ यह देखते ही एक साथ सब देवता आकाश में चिल्ला उठे-- 'हैं, हैं रोकिए रोकिए अपने क्रोध को प्रभो!' पर इतनी देर में तो महादेव की आँखों से निकलने वाली उस आग ने कामदेव को जलाकर राख ही कर डाला ॥ 72 ॥ अपने सिर पर आई हुई इस भारी विपत्ति को देखकर कामदेव की स्त्री तो मूर्छित होकर गिर पड़ी, उसकी इन्द्रियाँ स्तब्ध हो गई और ऐसा जान पड़ा मानो भगवान ने कृपा करके उतनी देर के लिये पति की मृत्यु का ज्ञान हरकर उसे दुःख से बचाए रक्खा ॥ 73 ॥ जैसे विजली किसी पेड़ पर गिरकर उसे तोड़ डालती है उसी प्रकार अपनी तपस्या में बाधा डालने वाले कामदेव को जलाकर शिव ने निश्चय किया कि स्त्रियों का साथ छोड़ ही देना चाहिए। इसलिये तपस्वी महादेव तत्काल अपने भूतों-प्रेतों को साथ लेकर अन्तर्धान हो गए ॥ 74 ॥ यह देखकर पार्वती को इस बात की बड़ी लज्जा हुई कि आज सखियों के आगे मेरे ऊँचे सिर वाले पिता का मनोरथ और मेरी सुन्दरता दोनों अकारथ हो गई और वे बड़े उदास मन से किसी-किसी प्रकार घर

शैलात्मजापि पितुरुच्छिरसोऽभिलाषं व्यर्थं समर्थं ललितं वपुरात्मनश्च ।
 सख्योः समक्षमिति चाधिकजातलज्जा शून्या जगाम भवनाभिमुखी कथंचित् ॥ 75 ॥
 सपदि मुकुलिताक्षीं रुद्रसंरम्भभीत्या दुर्हितरमनुकम्प्यामद्रिरादाय दोभ्याम् ।
 सुरगज इव बिभ्रत्पद्मिनीं दन्तलग्नां प्रतिपद्यगतिरासीद्वेगदीर्घाकृताङ्गः ॥ 76 ॥
 ॥ इति महाकवि श्री कालिदास कृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
 मदनदहनो नाम तृतीयः सर्गः ॥



लौट चलीं ॥ 75 ॥ तत्काल हिमवान भी वहाँ आ पहुँचे और जैसे ऐरावत अपने दाँतों पर कमलिनी को उठा ले वैसे ही महादेव के क्रोध से डरकर आँखें बन्द करके जाती हुई अपनी दुखी कन्या को हिमालय ने गोद में उठा लिया और वेग से सीधा शरीर किए हुए जिधर से आए थे उधर ही लौट गए ॥ 76 ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदास के रचे हुए कुमारसंभव नाम के महाकाव्य में मदन-दहन नामका तीसरा सर्ग पूर्ण हुआ ॥



॥ चतुर्थः सर्गः ॥

अथ मोहपरायणा सती विवशा कामवधूर्विबोधिता ।
विधिना प्रतिपादयिष्यता नववैधव्यमसह्यवेदनम् ॥ 1 ॥
अवधानपरे चकार सा प्रलयान्तोन्मिषिते विलोचने ।
न विवेद तयोरतृप्तयोः प्रियमत्यन्तविलुप्तदर्शनम् ॥ 2 ॥
अयि जीवितनाथ जीवसीत्यभिधायोत्थितया तया पुरः ।
ददृशे पुरुषाकृति क्षितौ हरकोपानलभस्म केवलम् ॥ 3 ॥
अथ सा पुनरेव विह्वला वसुधालिङ्गनधूसरस्तनी ।
विललाप विकीर्णमूर्धजा समदुःखामिव कुर्वती स्थलीम् ॥ 4 ॥
उपमानमभूद्विलासिनां करणं यत्ताव कान्तिमत्तया ।
तदिदं गतमीदृशीं दशां न विदीर्ये कठिनाः खलुः स्त्रियः ॥ 5 ॥
क्व नु मां त्वदघीनजीवितां विनिकीर्य क्षणभिन्नसौहृदः ।
नलिनीं क्षतसेतुबन्धानो जलसंघात इवासि विदुतः ॥ 6 ॥
कृतवानसि विप्रियं न मे प्रतिकूलं न च ते मया कृतम् ।
किमकारणमेव दर्शनं विलपन्त्यै रतये न दीयते ॥ 7 ॥
स्मरसि स्मर मेखलागुणैरुत गौत्रस्खलितेषु बन्धनम् ।
च्युतके शरदूषिते क्षणान्यवतंसोत्पलताडनानि वा ॥ 8 ॥

चौथा सर्ग

महादेव के अन्तर्धान हो जाने और पार्वती के चले जाने पर अकेली काठ के समान मूर्च्छित पड़ी हुई कामदेव की पतिव्रता पत्नी रति को ब्रह्मा ने नये विधवापन का दुःख सहने के लिये फिर जगा उठाया ॥ 1 ॥ मूर्च्छा हटते ही वह चारों ओर आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगी, पर वह जान ही नहीं पाई कि जिसे सदा अपने आगे देखते रहने पर भी मेरी आँखें अघाती नहीं थी वही प्यारा सदा के लिये कब आँखों से ओझल हो गया ॥ 2 ॥ 'प्राणनाथ! क्या तुम जीते हो?' यह कहती हुई वह ज्योंही उठ खड़ी हुई त्योंही देखती क्या है कि महादेव के क्रोध से जली हुई पुरुष के आकार की एक राख की ढेर सामने पृथ्वी पर पड़ी हुई है ॥ 3 ॥ उस राख की ढेर को देखते ही रति बेहाल हो उठी और धरती पर धूल में लोट-लोटकर, बाल बिखेरकर ऐसी बिलख-बिलख कर रोने लगी मानो समूची वनभूमि ही उसके साथ-साथ रोने लग रही हो ॥ 4 ॥ वह रो-रोकर कहती जा रही थी- 'प्यारे! आजतक तुम्हारे जिस सुन्दर शरीर से विलासियों के शरीर की तुलना की जाती थी उसे इस दशा में देखकर भी मेरी छाती फट नहीं गई है। सचमुच स्त्रियों का हृदय बड़ा कठोर होता है ॥ 5 ॥ जैसे पानी का बहाव बाँध को तोड़कर जल में बहने वाली कमलिनी को वहीं छोड़कर झट से आगे निकल बहता है वैसे ही तुम्हारे हाथ में अपने प्राण सौंपने वाली मुझ अभागिन से नाता तोड़कर तुम इतनी शीघ्रता से रूठकर कहाँ चल दिए? ॥ 6 ॥ प्यारे! न तो तुमने ही कभी मेरी मनचाही बात अनसुनी की और न मैंने ही कभी तुम्हारी बात टाली। फिर बिना बात के ही मुझ बिलखती हुई को तुम क्यों नहीं दर्शन दे रहे हो? ॥ 7 ॥ कामदेव! पहले कभी एक बार जब भूल से तुमने अपनी किसी दूसरी प्यारी का नाम मेरे सामने ले डाला था और उस पर मैंने जो तुम्हें अपनी तगड़ी से बाँध बिठाया था, क्या वही स्मरण करके तो तुम मुझसे नहीं रूठ बैठे हो? या जब मैंने अपने कान में पहने हुए कमल से तुम्हें पीटा था उस समय उसका पराग पड़ जानेसे जो तुम्हारी आँखें दुखने लगी थीं, क्या उसी को स्मरण करके तो तुम मुझसे नहीं रूठ गए हो? ॥ 8 ॥ तुम जो मुझसे यह

हृदये वससीति मत्प्रियं यदवोचस्तदवैमि कैतवम् ।
 उपचारपदं न चेदिदं त्वमनङ्गः कथमक्षता रतिः ॥ 9 ॥
 परलोकनवप्रवासिनः प्रतिपत्स्ये पदवीमहं तव ।
 विधिना जन एष वञ्चितस्त्वदधीनं खलु देहिनां सुखम् ॥ 10 ॥
 रजनीतिमिरावगुण्ठिते पुरमार्गे घनशब्दविकलवाः ।
 वसतिं प्रिय कामिनां प्रियास्त्वदृते प्रापयितुं क ईश्वरः ॥ 11 ॥
 नयनान्यरुणानि घूर्णयन्वचना न स्खलयन्पदे पदे ।
 असति त्वयि वारुणीमदः प्रमदानामधुना विडम्बना ॥ 12 ॥
 अवगम्य कथीकृतं वपुः प्रियबन्धोस्तव निष्फलोदयः ।
 बहुलेऽपि गते निशाकरस्तनुतां दुःखमनङ्ग मोक्षयति ॥ 13 ॥
 हरितारुणचारुबन्धनः कलपुंस्को किलशब्दसूचितः ।
 वद संप्रति कस्य बाणतां नवचूतप्रसवो गमिष्यति ॥ 14 ॥
 अलिपंक्तिरनेकशस्त्वया गुणकृत्ये धनुषो नियोजिता ।
 विरुतैः करुणस्वनैरियं गुरुशोकामनुरोदितिव माम् ॥ 15 ॥
 प्रतिपद्य मनोहरं वपुः पुनरप्यादिश तावदुत्थितः ।
 रतिदूतिपदेषु कोकिलां मधुरालापनिसर्गपण्डिताम् ॥ 16 ॥

मीठी-मीठी बात बनाया करते थे कि तुम मेरे हृदय में सदा रहती हो वह सब मेरी समझ में झूठ थीं, क्योंकि यदि वह बात केवल मेरा मन रखने भर को न होती तो तुम्हारे राख हो जाने पर तुम्हारी यह रति भला कैसे जीती बची रह जाती? ॥ 9 ॥ तुम अभी-अभी स्वर्ग को गए हो, पर ठहरो, मैं भी तुम्हारे पीछे-पीछे वहीं चली आ रही हूँ। ब्रह्मा ने मुझे मूर्च्छित करके मेरे साथ बड़ा धोखा किया नहीं तो मैं भी उसी समय तुम्हारे साथ चल देती, क्योंकि तुम मेरा ही नहीं सारे संसार का सुख अपने साथ लिए चले गए हो ॥ 10 ॥ बताओ प्यारे! अब वर्षा के दिनों में रात को घनी आँधियारी से भरे डरावने नगर के मार्ग में बिजली की कड़कड़ाहट से डर उठने वाली कामिनियों को उनके प्यारों के घर तुम्हारे बिना भला कौन पहुँचा पावेगा? ॥ 11 ॥ अपने लाल-लाल नेत्र घुमाती हुई और एक-एक शब्द पर रुक-रुककर बोलती हुई प्रमदाओं का मदिरा पीना अब तुम्हारे न रहने पर भला किस काम का होगा? ॥ 12 ॥ देखें, अनङ्ग! तुम चन्द्रमा के बड़े प्यारे मित्र थे। जब उसे ज्ञात होगा कि तुम्हारा शरीर केवल कहानी भर रह गया है तब वह अकारण उगा हुआ चन्द्रमा शुक्ल पक्ष में भी बड़ी कठिनाई से अपना दुबलापन छोड़ पावेगा? ॥ 13 ॥ सुन्दर, हरे और लाल रंग में बँधा हुआ और कोयल की मीठी कूक से गूँजता हुआ आम का नया बौर, बताओ अब किसका बाण बना करेगा? ॥ 14 ॥ जिन भौरों की पाँतों की तुम अनेक बार अपने धनुष की डोरी बना चुके हो उनकी दुखभरी गुंजार अब ऐसी जान पड़ती है मानो वे भी मुझ दुःख में विलखती हुई के साथ-साथ रोने लग रही हों ॥ 15 ॥ देखो काम! तुम अपना यह राख का शरीर छोड़कर पहले जैसा सुन्दर शरीर धारण करके स्वभाव से ही मधुर बोलने में चतुर इस कोयल को आज्ञा दे दो कि वह अपनी मधुर कूक से प्रेमियों को मिलने का स्थान बनाना आरंभ कर दे ॥ 16 ॥ देखो कामदेव! मुझ रूठी हुई को मनाने के लिये जो तुम मेरे पैरों पड़कर काँपते हुए मुझे मनाकर और गले लगाकर मेरे साथ जो अनेक प्रकार से संभोग किया करते थे, उन सबका स्मरण कर-करके मेरा जी फटा जा रहा

शिरसा प्रणिपत्य याचितान्युपगूढानि सवेपथूनि च ।
 सुरतानि च तानि ते रहः स्मर संस्मृत्य न शान्तिरस्ति मे ॥ 17 ॥
 रचितं रतिपण्डित त्वया स्वयमङ्गेषु ममेदमार्तवम् ।
 ध्रियते कुमुमप्रसाधनं तव तच्छारु वपुर्न दृश्यते ॥ 18 ॥
 विबुधैरसि यस्य दारुणैरसमाप्ते परिकर्मणि स्मृतः ।
 तमिमं कुरु दक्षिणोत्तरं चरणं निर्मितरागमेहि मे ॥ 19 ॥
 अहमेत्य पतङ्गवर्त्मना पुनरङ्काश्रयणी भवामि ते ।
 चतुरैः सुरकामिनीजनैः प्रिय यावन्न विलोभ्यसे दिवि ॥ 20 ॥
 मदनेन विनाकृता रतिः क्षणमात्रं किल जीवितेति मे ।
 वचनीयमिदं व्यवस्थितं रमण त्वामनुयामि यद्यपि ॥ 21 ॥
 क्रियतां कथमन्त्यमण्डनं परलोकान्तरितस्य ते मया ।
 सममेव गतोऽस्यतर्कितां गतिमङ्गेन च जीवितेन च ॥ 22 ॥
 ऋजुतां नयतः स्मरामि ते शरमुत्सङ्गनिषण्णधन्वनः ।
 मधुना सह सस्मितां कथां नयनोपान्तविलोकितां च तत् ॥ 23 ॥
 क्व नु ते हृदयङ्गमः सखा कुसुमायोजितकार्मुको मधुः ।
 न खलूग्रुषा पिनाकिना गमितः सोऽपि सुहृद्गतां गतिम् ॥ 24 ॥
 अथा तैः परिदेविताक्षरैर्हृदये दिग्घाशरैरिवाहतः ।
 रतिमभ्युपपत्तुमातुरां मधुरात्मानमदर्शयत्पुरः ॥ 25 ॥

है ॥ 17 ॥ काम-क्रीड़ाओं में चतुर! तुमने अपने हाथों से मेरा जो वासन्ती सिंगार किया था वह तो अब भी ज्यों का त्यों बना हुआ है पर तुम्हारा सुन्दर शरीर अब कहीं देखने को नहीं मिल रहा है ॥ 18 ॥ अभी थोड़ी देर पहले तो तुम मेरे पैरों में महावर लगाने बैठे थे और केवल दाहिने पाँव में ही लगा पाए थे कि इसी बीच कठोर हृदय वाले देवताओं ने तुम्हें अपने काम के लिये बुला भेजा था। अब आकर मेरे इस बाएँ पैरों में भी महावर क्यों नहीं लगा देते ॥ 19 ॥ प्यारे! जब तक स्वर्ग की चतुर अप्सराएँ तुम्हें अपने रूप से लुभावें-लुभावें उससे पहले ही मैं आग में जलकर तुम्हारी गोद में पहुँची जाती हूँ ॥ 20 ॥ प्यारे रमण! यह तो निश्चय है कि मैं तुम्हारे पीछे-पीछे आ रही हूँ, फिर भी मुझ पर यह कलंक का टीका तो सदा के लिये लग ही गया कि कामदेव के न रहने पर भी रति उतनी देर तक जीती रह गई ॥ 21 ॥ मुझे इसी बात की कसक है कि तुम अपना शरीर और प्राण दोनों एक साथ लेकर स्वर्ग चले गए। अब मेरी समझ में ही नहीं आ रहा है कि तुम्हारे परलोक चले जाने पर मैं तुम्हारे शरीर का अंतिम सिंगार करूँ तो कैसे करूँ! ॥ 22 ॥ तुम्हारा वह गोद में धनुष रखकर बाण सीधा करना, वसन्त के साथ हँस-हँस कर बातें करना और बीच बीच में मेरी ओर कनखियों देखते चलना मुझे भुलाए नहीं भूल पा रहा है ॥ 23 ॥ अब कहाँ गया वह तुम्हारे लिये फूलों का धनुष बनाने वाला प्यारा मित्र वसन्त! कहीं वह भी तो महादेव के तीखे क्रोध की आग में अपने मित्र के साथ-साथ भस्म नहीं हो गया? ॥ 24 ॥ वह सुनते ही विलखती हुई वियोगिनी रति को ढाढस बँधाने के लिये वसन्त वहाँ आ ही तो खड़ा हुआ। वह ऐसा दुखी जान पड़ रहा था मानो रति के विलाप के वचनों के बाणों ने उसका हृदय आरपार बीध डाला हो ॥ 25 ॥ वसन्त को देखते ही वह और भी फूट-फूटकर और छाती पीठ-पीठकर रोने लगी

तमवेक्ष्य रुरोद सा भृशं स्तनसंबाधमुरो जघान च ।
 स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते ॥ 26 ॥
 इति चैनमुवाच दुःखिता सुहृदः पश्य वसन्त किं स्थितम् ।
 तदिदं कणशो विकीर्यते पवनैर्भस्म कपोतकर्बुरम् ॥ 27 ॥
 अयि संप्रति देहि दर्शनं स्मर पर्युत्सुक एण माधवः ।
 दयितास्वनवस्थितं नृणां न खलु प्रेम चलं सुहृज्जने ॥ 28 ॥
 अमुना ननु पार्श्ववर्तिना जगदाज्ञां ससुरासुरं तव ।
 विसतन्तु गुणस्य कारितं धनुषः पेलवपुष्पपत्रिणः ॥ 29 ॥
 गतं एव न ते निवर्तते स सखा दीप इवानिलाहतः ।
 अहमस्य दशोव पश्य मामविषाहव्यसनेन धूमिताम् ॥ 30 ॥
 विधिना कृतमर्द्धवैशसं ननु मां कामवधो विमुञ्चता ।
 अनपायिनि संश्रयद्दुमे गजभग्ने पतनाय वल्लरी ॥ 31 ॥
 तदिदं क्रियतामनन्तरं भवता बन्धुजनप्रयोजनम् ।
 विधुरां ज्वलनातिसर्जनान्ननु मां प्रापय पत्युरन्तिकम् ॥ 32 ॥
 शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते ।
 प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि ॥ 33 ॥

क्योंकि दुःख में अपने स्वजनों को देखते ही दुःख उसी प्रकार उमड़ पड़ता है जैसे कि वस्तु को बाहर निकलने के लिये कोई बड़ा भारी द्वार मिल जाय ॥ 26 ॥ वह रोती हुई वसन्त से बोली क्यों वसन्त! बताओ तो, तुम्हारे रहते तुम्हारे मित्र की यह दशा हो कैसे गई? वह देखो! तुम्हारा मित्र राख बना पड़ा है। और देखो! कबूतर के पंख के समान उसकी राख को यह पवन इधर-उधर बिखेरे डाल रहा है ॥ 27 ॥ कामदेव! तुम्हारा मित्र वसन्त तुम्हें देखने के लिये कितना उतावला है, आकर इसे तो दर्शन दे दो क्योंकि पुरुष अपनी स्त्री से प्रेम करने में भले ही ढिलाई कर दे पर अपने प्रेमी मित्रों में तो उसका प्रेम अटल होता है ॥ 28 ॥ तुम्हारे इस साथी कामदेव के ही कारण तो वे सब देवता और राक्षस तुम्हारे कमल के तन्तु से बनाई हुई डोरी वाले फूलों के बाण वाले धनुष का लोहा मानते थे ॥ 29 ॥ देखो वसन्त! तुम्हारा मित्र तो पवन के झोंके से बुझे हुए दीपक के समान जाकर लौट नहीं आ रहा है। अब तो अत्यन्त दुःख की मारी हुई मैं ही उस बुझे हुए दीपक की धूँधूआती हुई बत्ती भर बची रह गई हूँ ॥ 30 ॥ वसन्त! क्या तुम समझते हो कि ब्रह्मा ने मुझे जीता छोड़कर मेरे आधे अंग कामदेव का वध करके केवल आधा ही वध किया है? नहीं। उसने तो मुझे भी मार डाला है, क्योंकि तुम्हीं बताओ कि भला हाथी की टक्कर से वृक्ष के टूट जाने पर उसके सहारे चढ़ी हुई लता क्या कभी बची रह पाती है? ॥ 31 ॥ अब तुम बन्धु होने के नाते मेरे लिये इतना भर कर दो कि मेरा दाह करके मुझे भी मेरे पति के पास पहुँचा दो ॥ 32 ॥ देखो! चाँदनी चन्द्रमा के साथ चली जाती है, बिजली बादल के साथ ही छिप जाती है, इसलिये पति के साथ जाना तो जड़ों में भी पाया जाता है फिर मैं चेतन होकर अपने पति के पास क्यों न चली जाऊँ? ॥ 33 ॥ अब मैं अपने सामने पड़े हुए प्यारे के शरीर की सुन्दर भस्म से अपने स्तनों का शृङ्गार करके चिता की आग में कूदकर उसी प्रकार लोट रहूँगी जैसे कोई नई-नई लाल कोंपलों से सजी हुई सेज पर

अमुनैव कषायितस्तनी सुभगेन प्रियगात्रभस्मना ।
नवपल्लवसंस्तरे यथा रचयिष्यामि तनुं विभावसौ ॥ 34 ॥
कुसुमास्तरणे सहायतां बहुशः सौम्य गतस्त्वभावयोः ।
कुरु संप्रति तावदाशु मे प्रणिपाताञ्जलियाचितश्रिताम् ॥ 35 ॥
तदनु ज्वलनं मदर्पितं त्वरयेदक्षिणावातवीजनैः ।
विदितं खलु ते यथा स्मरः क्षणमप्युत्सहते न मां विना ॥ 36 ॥
इति चापि विधाय दीयतां सलिलस्याञ्जलिरेक इव नौ ।
अविभज्य परत्र तं मया सहितः पास्यति ते स बान्धवः ॥ 37 ॥
परलोकविधौ च माधव स्मरमुद्दिश्य विलोलपल्लवाः ।
निवपेः सहकारमञ्जरीः प्रियचूतप्रसवो हि ते सखा ॥ 38 ॥
इति देहविमुक्तये स्थितां रतिमाकाशभवा सरस्वती ।
शफरीं हृदशोषविकलवां प्रथमा वृष्टिरिवान्वकम्पयत् ॥ 39 ॥
कुसुमायुधापत्तिं दुर्लभस्तव भर्ता न चिराद्भविष्यति ।
शृणु येन स कर्मणा गतः शलभत्वं हरलोचनार्चिणि ॥ 40 ॥
अभिलाषमुदीरितेन्द्रियः स्दसुतायामकरोत्प्रजापतिः ।
अथा तेन निगृह्य विक्रियामभिशप्तः फलमेतदन्वभूत् ॥ 41 ॥

जा सोवे ॥ 34 ॥ वसन्त! तुमने बहुत बार हम लोगों को फूल के बिछौने बनाने में सहायता दी है। अब मैं तुमसे हाथ जोड़कर पैरों पड़कर भीख माँगती हूँ कि तुम मेरे लिए भी शीघ्र ही चिता रचा डालो ॥ 35 ॥ और फिर शीघ्रता से दक्षिण पवन का पंखा झलकर उसमें ऐसी बड़ी-बड़ी लपटें भी उठा जगाओ जिसमें मैं अत्यन्त शीघ्र जलकर राख हो जाऊँ, क्योंकि तुम जानते ही हो कि मेरा प्यारा कामदेव भी मेरे बिना एक क्षण नहीं रह सकता ॥ 36 ॥ और जब मैं जल जाऊँ तब तुम हम दोनों के लिये एक साथ जल से तर्पण करना जिससे परलोक में गया हुआ तुम्हारा मित्र मेरे ही साथ-साथ जल पी सके ॥ 37 ॥ वसन्त! जब तुम कामदेव का श्राद्ध करना तब उनके लिये पत्तों वाली आम की मंजरी अवश्य दे देना क्योंकि तुम्हारे मित्र को आम की मञ्जरी बहुत प्यारी थी ॥ 38 ॥ जैसे अचानक बरसने वाली वर्षा की पहली बूँदें सूखते हुए तालाब की व्याकुल मछलियों को जिला देती हैं वैसे ही अचानक सुनाई पड़ने वाली आकाशवाणी ने भी प्राण छोड़ने को उतारू रति पर यह कृपा की वाणी बरसा दी- ॥ 39 ॥ अरी कामदेव की पत्नी! तुम घबराओ मत, तुम्हारा पति थोड़े दिनों में तुम्हें मिल जायेगा। यह महादेव की आँख की ज्वाला में पतंग बनकर कैसे जला, वह सुन लो ॥ 40 ॥ ब्रह्मा ने सृष्टि करते समय जब सरस्वती को उत्पन्न किया था उस समय कामदेव ने उनके मन में ऐसा पाप भर दिया कि वे सरस्वती के रूप पर मोहित हो गए और उससे संभोग करने की इच्छा करने लगे। पर इतने में ही वे कामदेव की काली करतूत ताड़ गए और उन्होंने अपने मन को रोककर कामदेव को शाप दिया कि जाओ, तुम शिव के तीसरे नेत्र की अग्नि से जलकर राख बन जाओगे। उसी का यह सब फल है ॥ 41 ॥ पर जब धर्म ने ब्रह्मा से सृष्टि की रक्षा के लिये कामदेव को जिलाने की प्रार्थना की तब ब्रह्मा ने कहा कि जब पार्वती की तपस्या से प्रसन्न होकर महादेव उनके साथ विवाह कर लेंगे तब कामदेव को अपना सहायक समझकर उसे पहले

परिणोष्यति पार्वतीं यदा तपसा तत्प्रवणीकृतो हरः ।
 उपलब्धसुखस्तदा स्मरं वपुषा स्वेन नियोजयिष्यति ॥ 42 ॥
 इति चाह स धर्मयाचितः स्मरशापावधिदां सरस्वतीम् ।
 अशानेरमृतस्य चोभयोर्वशिनश्चाम्बुधाराश्च योनयः ॥ 43 ॥
 तदिदं परिरक्षा शोभने भवितव्यप्रियसंगमं वपुः ।
 रविपीतजला तपात्पये पुनरोद्योत हि युज्यते नदी ॥ 44 ॥
 इत्थं रते किमपि भूतमदृश्यरूपं मन्दीचकार मरणव्यवसायबुद्धिम् ।
 तत्प्रत्यायाच्च कुसुमायुधबन्धुरेनामाश्चसयत्सुचरितार्थपदैर्बोधिः ॥ 45 ॥
 अथ मदनवधूरुपप्लवान्तं व्यसनकृशा परिपालयांबभूव ।
 शशिन इव दिवातनस्य लेखा किरणपरिक्षयधूसरा प्रदोषम् ॥ 46 ॥
 । इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये
 रतिविलापो नाम चतुर्थः सर्गः ।।



जैसा शरीर दे देंगे और तभी हमारा शाप भी छूट जायगा । सत्य है, जैसे बादलों में बिजली और जल दोनों साथ-साथ रहते हैं वैसे ही संयमी लोगों के मन में क्रोध और क्षमा दोनों इकट्ठे ही रहते हैं ॥ 42-43 ॥ इसलिये सुन्दरी! अपने प्यारे से मिलने के लिये तुम अपने शरीर की रक्षा किए रहो । देखो! जो नदियाँ गर्मी में सूर्य की किरणों को अपना जल पिलाकर छिछली हो जाती हैं उन्हीं नदियों में वर्षा आने पर फिर बाढ़ आ जाती है ॥ 44 ॥ इस प्रकार आकाशवाणी सुनकर रति ने अपने प्राण देने का विचार छोड़ दिया और उस आकाशवाणी पर विश्वास करके कामदेव के मित्र वसन्त ने भी उसे समझा-बुझाकर बहुत ढाँढस बाँधाया ॥ 45 ॥ आकाशवाणी और वसन्त के धीरज बाँधाने पर शोक से दुबली रति भी कामदेव के शाप बीतने की अवधि की उसी प्रकार बाट जोहने लगी जैसे दिन में दिखाई देने वाले निस्तेज चन्द्रमा की किरणें भी साँझ होने की बाट जोहती रहती हैं ॥ 46 ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदास के रचे हुए कुमारसंभव नाम के महाकाव्य में रति-विलाप नाम का चौथा सर्ग पूर्ण हुआ ॥



॥ पञ्चमः सर्गः ॥

तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती ।
 निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ॥ 1 ॥
 इयेष सा कर्तुमबन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः ।
 अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः ॥ 2 ॥
 निशम्य चैनां तपसे कृतोद्यमां सुतां गिरीशप्रतिसक्तमानसाम् ।
 उवाच मेना परिरम्य वक्षसा निवारयन्ती महतो मुनिव्रतात् ॥ 3 ॥
 मनीषिताः सन्ति गृहेषु देवतास्तपः क्व वत्सेक्य चतावकं वपुः ।
 पदं सहेत ध्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्त्रिणः ॥ 4 ॥
 इति ध्रुवेच्छामनुशासती सुतां शशाक मेना न नियन्तुमुद्यमात् ।
 क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत् ॥ 5 ॥
 कदाचिदासन्नसखीमुखेन सा मनोरथज्ञं पितरं मनस्विनी ।
 अयाचतारण्यनिवासमात्मनः फलोदयान्ताय तपःसमाधये ॥ 6 ॥
 अथानुरूपाभिनिवेशतोषिणा कृताभ्यनुज्ञा गुरुणा गरीयसा ।
 प्रजासु पश्चात्प्रथितं तदाख्यया जगाम गौरीशिखरं शिखण्डिमतम् ॥ 7 ॥

पाँचवाँ सर्ग

महादेव ने देखते-देखते कामदेव को भस्म कर डाला यह देखकर पार्वती की सारी आशाएँ धूल में मिल गई और वे जी भरकर अपनी सुन्दरता को कोसने लगीं, क्योंकि जो सुन्दरता अपने प्यारे को न रिझा सके उसका होना न होना दोनों बराबर है ॥ 1 ॥ वस उन्होंने ठान लिया कि जिसे मैं अपने रूप से नहीं रिझा सकी उसे अब सच्चे मन से तपस्या करके पा लूँगी। बात भी ठीक है, क्योंकि ऐसा निराला प्रेम और ऐसा निराला पति कहीं बिना तपस्या के मिला करता है? ॥ 2 ॥ अब उनकी माँ मैना ने सुना कि हमारी पुत्री शिव पर रीझ कर उनके लिये तप करने पर तुली बैठी है तब पार्वती को गले से लगाकर उन्हें इतनी कड़ी तपस्या करने से बरजती हुई वे बोलीं- ॥ 3 ॥ देखो बेटी! तुम्हारे यहाँ तो घर-घर में ही इतने बड़े-बड़े देवता बसे पड़े हैं कि तुम जो चाहो उनसे माँग ले सकती हो। फिर तपस्या करना कोई हँसी-खेल थोड़े ही है! बताओ, कहाँ तो (कठोर) तपस्या और कहाँ तुम्हारा यह कोमल शरीर। देखो! शिरीष के फूल पर भौर भले ही आकर बैठ जायँ पर यदि कोई पक्षी उस पर आकर बैठने लगे तब तो वह नन्हैया-सा फूल झड़ ही जायगा ॥ 4 ॥ पर सब कुछ समझाने पर भी वे अपनी पुत्री की टेक नहीं टाल पाई क्योंकि अपनी बात के धनी लोगों का मन और नीचे गिरते हुए पानी का वेग भला किसके टाले टाला जा सकता है ॥ 5 ॥ हिमालय (के राजा) तो पार्वती के मन की बात जानते ही थे। इसी बीच एक दिन पार्वती ने अपनी प्यारी सखी से कहलाकर अपने पिता से पुछवाया कि क्या मैं तब तक के लिये वन में जाकर तपस्या कर सकती हूँ जब तक शिव मुझ पर प्रसन्न न हो जायँ ॥ 6 ॥ जब हिमवान् ने समझ लिया कि पार्वती अपनी सच्ची टेक से डिगेंगी नहीं तब उन्होंने पार्वती को तप करने की आज्ञा दे दी, अपने पूज्य पिता से आज्ञा पाकर वे हिमालय की उस चोटी पर तप करने जा पहुँची जहाँ बहुत से मोर रहा करते थे (पर इतनी ऊँचाई पर मोर नहीं रह सकते। इतने बड़े महाकवि-ने कैसे लिख दिया?) और पीछे उन्हीं के नाम पर जिसका नाम गौरीशिखर पड़ गया ॥ 7 ॥ अपनी टेक की पक्की

विमुच्य सा हारमहार्यनिश्चया विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनम् ।
 बबन्ध बालारुणबभ्रु वल्कलं पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति ॥ 8 ॥
 यथा प्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहैर्जटाभिरप्येवमभूत्तदाननम् ।
 न षट्पदश्रेणिभिरेव पङ्कजं सशैवलासङ्गमपि प्रकाशते ॥ 9 ॥
 प्रतिक्रियं सा कृतरोमविक्रियां व्रताय मौञ्जीं त्रिगुणां बभार याम् ।
 अकारि तत्पूर्वनिबद्धया तया सरागमस्या रशनागुणास्पदम् ॥ 10 ॥
 विसृष्टरागादधरात्रिवर्तितः स्तनाङ्गरागारुणिताच्च कन्दुकात् ।
 कुशाङ्क रादानपरिक्षताङ्गुलिः कृतोऽक्षसूत्रप्रणयी तया करः ॥ 11 ॥
 महार्हशय्यापरिवर्तनच्युतैः स्वकेशपुष्पैरपि या स्म दूयते ।
 अशेत सा बाहुलतोपघायिनी निषेदुषी स्थण्डिल एव केवले ॥ 12 ॥
 पुनर्ग्रहीतु नियमस्थया तया द्वयेऽपि निक्षेप इवार्पितं द्वयम् ।
 लतासु तन्वीषु विलासचेष्टितं विलोलदृष्टं हरिणाङ्गनासु च ॥ 13 ॥
 अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान्धटस्तनप्रसवण्यैर्वर्धयत् ।
 गुहोऽपि येषां प्रथमाप्तजन्मनां न पुत्रवात्सल्यमपाकरिष्यति ॥ 14 ॥
 अरण्यबीजाञ्जलिदानलालितास्तथा च तस्या हरिणाविशङ्खसुः ।
 यथा तदीयैरन्यैः कुतूलहात्पुरः सखीनामभिमीत लोचने ॥ 15 ॥

पार्वती ने अपना वह हार उतार फेंका जिसके सदा हिलते रहने से उनकी छाती पर का हरिचन्दन उसमें
 पुँछ-पुँछकर लगा रहा करता था । उसके स्थान पर उन्होंने प्रातःकाल के सूर्य के समान लाल-लाल वल्कल
 उठा लपेटा ॥ 8 ॥ जटा रख लेने पर उनका मुख वैसा ही प्यारा लगने लगा जैसा पहले सजी हुई वेणियों
 से लगता था क्योंकि केवल भौरों से घिरा होने पर ही कमल अच्छा नहीं लगता वरन् सेवार से लिपटा
 होने पर भी वैसा ही सजीला लगता है ॥ 9 ॥ उन्होंने तपस्या के लिये अपनी कमर में जो मूँज की तिहरी
 तगड़ी बाँध ली थी वह उनके कोमल शरीर पर इतनी चुभती थी कि उससे घड़ी-घड़ी वे काँप-काँप उठती
 थीं और जिसे पहले पहल पहनने से उनकी सारी कमर लाल पड़ गई थी ॥ 10 ॥ कहाँ तो वे अपने
 हाथों से ओंठ रँगा करती थीं और स्तनों के अंगराग से लाल रँगी हुई गेंद खेला करती थीं, कहाँ उन कोमल
 हाथों में उन्होंने रुद्राक्ष की माला उठा थामी और कुशा के अंकुर उखाड़ने से अपने उन्हीं हाथों की उँगलियों
 में उन्होंने घाव कर लिए ॥ 11 ॥ अपने पिता के घर पर ठाट-बाट से सजे हुए पलंग पर करवटें लेते
 समय जो पार्वती अपने बालों से झड़े हुए फूलों के दबने से ही सी-सी कर उठती थीं वे ही अपने हाथों
 का तकिया बनाकर बिना बिछी हुई भूमि पर ही बैठी-बैठी सो लिया करती थीं ॥ 12 ॥ तप के समय
 वे ऐसी शांत हो गई थीं मानो तप करने के समय-तक के लिये उन्होंने अपना हाव-भाव तो कोमल लताओं
 को और अपनी चंचल चितवन हरिणियों को धरोहर बनाकर सौंप डाली हो ॥ 13 ॥ आलस छोड़कर
 उन्होंने वहाँ के जिन छोटे-छोटे पौधों को अपने स्तनों के जैसे घड़ों के जल से सींच-सींचकर पाला था
 उन्हें वे पुत्रों के समान इतना प्यार करती थीं कि पीछे जब स्वामिकार्तिकेय का जन्म भी हो गया तब
 भी उनका वात्सल्य प्रेम इन पौधों पर वैसा ही बना रहा, कम नहीं हुआ ॥ 14 ॥ यहाँ के जिन हरिणों
 को उन्होंने अपने हाथ से तिन्नी के दाने खिला खिलाकर पाला-पोसा था वे इतने परच गए थे कि
 कभी-कभी वे मन-बहलाव के लिये अपनी सखियों के आगे उन्हें लाकर उन हरिणों के नेत्रों से अपने
 नेत्र मापा करती थीं ॥ 15 ॥ यद्यपि पार्वती की अवस्था छोटी ही थी फिर भी वे जब स्नान करके, हवन

कृताभिषेकां हुतजातवेदसं त्वगुत्तरासङ्गवतीमणीतिनीम् ।
 दिदृक्षवस्तामृषयोऽभ्युपागमत्र धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते ॥ 16 ॥
 विरोधिसत्त्वोज्झितपूर्वमत्सरं द्रुमैरभीष्टप्रसवार्चितातिथि ।
 नवोटजाभ्यन्तरसंभृतानलं तपोवनं तच्च बभूव पायनम् ॥ 17 ॥
 यदा फलं पूर्वतपः समाधिना न तावता लभ्यमर्मेस्त काङ्क्षितम् ।
 तदानपेक्ष्य स्वशरीरमार्दवं तपो महत्सा चरितुं प्रचक्रमे ॥ 18 ॥
 क्लमं ययौ कन्दुकलीलयापि या तया मुनीनां चरितं व्यगाह्यत ।
 ध्रुवं वपुः काश्चनपद्मनिर्मितं मृदु प्रकृत्या च ससारमेव च ॥ 19 ॥
 शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा ।
 विजित्य नेत्रप्रतिधातिनीं प्रभामनन्यदृष्टिः सवितारमैक्षत ॥ 20 ॥
 तथातितप्तं सवितुर्गभस्तिभिर्मुखं तदीयं कमलश्रियं दधौ ।
 अपाङ्गयोः केवलमस्य दीर्घयोः शनैः शनैः श्याममिकया कृतं पदम् ॥ 21 ॥
 अयाचितोपस्थितमम्बु केवल रसात्मकस्योदुपतेश्च रश्मयः ।
 बभूव तस्याः किल पारणाविधिर्न वृक्षवृत्तिव्यतिरिक्तसाधनः ॥ 22 ॥

करके, वत्कलकी ओढ़नी ओढ़कर बैठी पाठ-पूजा किया करती थीं तब उन्हें देखने के लिये दूर-दूर से बड़े-बड़े ऋषि मुनि उनके पास आते जाया करते थे क्योंकि जो धर्म का जीवन बिताने में बड़े-चढ़े होते हैं उनके लिये यह नहीं देखा जाया करता कि ये छोटे हैं या बड़े ॥ 16 ॥ उस तपोवन में रहने वाले सब पशु-पक्षियों ने अपना पिछला आपस का सारा बैर छोड़ दिया, वहाँ के वृक्ष इतने फल-फूल से लद गए थे कि आए हुए अतिथि जो भी चाहते थे वही उन्हें मिल जाता था और वहाँ नई पर्णकुटी में सदा हवन की अग्नि जलती ही रहा करती थी। इन सब बातों से वह तपोवन बड़ा पवित्र हो गया था ॥ 17 ॥ पार्वती ने जब देखा कि इन प्रारम्भिक नियमों से काम नहीं सध रहा है तब उन्होंने अपने शरीर की कोमलता का ध्यान छोड़कर बड़ी कठोर तपस्या आरम्भ कर दी ॥ 18 ॥ जो पार्वती पहले गेंद खेलने में भी थक जाया करती थीं उन्होंने ही जब मुनियों का कठोर बाना ले लिया तब ऐसा जान पड़ने लगा मानो उनका शरीर सोने के कमलों से बना है, जो कमल से बने होने के कारण स्वभाव से कोमल भी था पर साथ ही साथ सोने का बना होने से ऐसा पक्का भी था कि तपस्या से कुँभला न सके ॥ 19 ॥ पतली कमर वाली हैंसमुख पार्वती, गरमी के दिनों में तो अपने चारों ओर आग जलाकर उसी के बीच खड़ी रहने लगी और चकाचौंध करने वाले सूर्य के प्रकाश को भी जीतकर वे सूर्य की ओर एकटक होकर देखती रहने लगीं ॥ 20 ॥ इस प्रकार तप करते रहने पर भी उनका मुख सूर्य की किरणों से तपकर तनिक भी कुम्हलाया नहीं वरन् कमल के समान और भी खिल उठा। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि उनकी बड़ी-बड़ी आँखों की कोरों में धीरे-धीरे कुछ सौँवलापन झलकने लगा ॥ 21 ॥ फिर वर्षा के दिनों में वे एक तो बिना माँगे अपने आप बरसा हुआ जल पीकर और दूसरे अमृत भरी चन्द्रमा की किरणों ही पीकर रह जाया करतीं। बस यह समझ लीजिये कि उन दिनों पार्वती का खाना-पीना वही था जो वृक्षों का हुआ करता है ॥ 22 ॥ वर्षा होने पर उधर तो गर्मी से तपी हुई पृथ्वी से भी भाप उठ निकली और इधर ईधन

निकामतप्ता विविधेन वद्विना नभश्चरेणेन्धनसंभृतेन सा ।
 तपात्यये वारिभिरुक्षिता नवैर्भुवा सहोष्माणममुश्चदूर्ध्वगम् ॥ 23 ॥
 स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।
 दलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥ 24 ॥
 शिलाशयां तामनिकेतवासिनीं निरन्तरास्वन्तरवातवृष्टिषु ।
 व्यलोकयन्नुन्मिषितैस्तडिन्मयैर्महातपः साक्ष्य इव स्थिताः क्षपाः ॥ 25 ॥
 निनाय सात्यन्तहिमोत्किरानिलाः सहस्यरात्रीरुदवासतत्परा ।
 परस्पराक्रन्दिनि चक्रवाकयोः पुरो वियुक्ते मिथुने कृपावती ॥ 26 ॥
 मुखेन सा पद्मसुगन्धिना निशि प्रवेपमानाधरपत्रशोभिना ।
 तुषारवृष्टिक्षतपद्मसंपदां सरोजसन्धानभिवाकरोदपाम् ॥ 27 ॥
 स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः ।
 तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां वदन्त्यपणेति च तां पुराविदः ॥ 28 ॥
 मृणालिकापेलवमेवमादिभिर्ब्रतैः स्वमङ्गं ग्लपयन्त्यहर्निशम् ।
 तपः शरीरैः कठिनैरुपार्जितं तपस्विनां दूरमधश्चकार सा ॥ 29 ॥
 अधाजिनाषाढधारः प्रगल्भवाग्ज्वलन्निव ब्रह्मयेन तेजसा ।
 विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा ॥ 30 ॥

की आग तथा सूर्य की गर्मी से तपे हुए पार्वती के शरीर से भी भाप उठ निकली ॥ 23 ॥ उनके सिर पर जो वर्षा का जल पड़ता वह पल भर तो उनकी पलकों पर में टिकता फिर वहाँ से दुलककर उनके ओठों पर जा पड़ता, वहाँ से उनके कठोर स्तनों पर गिरकर बूँद-बूँद बनकर छितरा जाता और उनके पेट पर बनी हुई सिकुड़नों में होता हुआ वह बड़ी देर में नाभि तक पहुँच पाता था ॥ 24 ॥ जिन दिनों घनघोर वर्षा के साथ-साथ रात-रात भर आँधियाँ चला करतीं उन दिनों भी ये खुले मैदान में पत्थर की पटिया पर ही लेटी पड़ी रहा करतीं और अपनी बिजली की आँखें मिलका-मिलका कर अँधेरी रातें इस प्रकार उन्हें (पार्वती को) देखा करतीं मानो वे उनके कठोर तप की साक्षी हों ॥ 25 ॥ पूस की जिन रातों में वहाँ का सरसराता हुआ पवन चारों ओर हिम ही हिम बिखेरता चलता था, उन दिनों वे सारी रात जल में ही बैठी बिता देतीं और उनके सामने ही चकवे और चकवी का जोड़ा एक दूसरे से बिछुड़ा हुआ चिल्लाया करता उन्हें वे बराबर ढाँढस बँधाया करतीं ॥ 26 ॥ उन जाड़े की रातों में भी जब जल के ऊपर केवल पार्वती का मुँह भर दिखाई पड़ता था, जाड़े से उनके ओंठ काँपते रहते थे और उनकी साँस से कमल की गन्ध के समान जो सुगन्ध निकल रही थी उसकी गमक चारों ओर फैलती जाती थी तब जल में खड़ी हुई वे ऐसी लगती थीं मानो पाले से मारे हुए कमलों के जल जाने पर उनके मुख के कमल ने ही उस तालाब को कमल वाला बनाए रखवा हो ॥ 27 ॥ अपने आप झड़कर गिरे हुए पत्ते खाकर रहना ही तप की पराकाष्ठा समझी जाती है पर पार्वती ने वैसे पत्ते खाने भी छोड़ दिए, इसीलिये, मधुर-भाषिणी पार्वती को पण्डित लोग पीछे चलकर 'पत्ते न खाने वाली' (अपणी) भी कहने लगे ॥ 28 ॥ कमलिनी के समान अपने कोमल अङ्गों को इस प्रकार की तपस्या से रात-दिन सुखाकर पार्वती ने कठोर शरीर वाले सभी तपस्वियों को लजा दिया ॥ 29 ॥ इसी बीच एक दिन ब्रह्मचर्य के तेज से चमकता हुआ सा हिरन की छाल ओढ़े और पलाश का दंड हाथ में लिए, गठीले शरीर वाला और चतुराई के साथ बोलने वाला एक जटाधारी ब्रह्मचारी उस तपोवन में आ पहुँचा जो ऐसा जान पड़ता था मानो साक्षात् ब्रह्मचर्याश्रम ही उठा चला आया हो ॥ 30 ॥ अतिथि का सत्कार करने वाली पार्वती ने बड़े आदर से

तमातिथेयी बहुमानपूर्वया सपर्यया प्रत्युदियाय पार्वती ।
भवन्ति साम्येऽपि निविष्टचेतसां वपुर्विशेषेष्वतिगौरवाः क्रियाः ॥ 31 ॥
विधिप्रयुक्तां परिगृह्य सक्तियां परिश्रमं नाम विनीय च क्षणम् ।
उमां स पश्यन्नृजुनैव चक्षुषा प्रचक्रमे वक्तुमनुज्झितक्रमः ॥ 32 ॥
अपि सुलभं समित्कुशं जलान्यपि स्नानविधिक्षमाणि ते ।
अपि स्वशक्त्या तपसि प्रवर्तसे शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ॥ 33 ॥
अपि त्वदावर्जितवारिसंभृतं प्रवालमासामनुबन्धि वीरुधाम् ।
चिरोज्झितालक्तकपाटलेन ते तुलां यदारोहति दन्तवाससा ॥ 34 ॥
अपि प्रसन्नं हरिणेषु ते मनः करस्थदर्भप्रणयापहारिषु ।
य उत्पलाक्षि प्रचलैर्विलोचनैस्तवाक्षिसादृश्यमिव प्रयुञ्जते ॥ 35 ॥
यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः ।
तथाहि ते शीलमुदारदर्शने तपस्विनामप्युपदेशतां गतम् ॥ 36 ॥
विकीर्णसप्तर्षिबलिप्रहासिभिस्तथा न गाङ्गैः सलिलैर्दिवश्च्युतैः ।
यथा त्वदीयैश्चरितैरनाविलैर्महीधरः पावित एष सान्वयः ॥ 37 ॥
अनेन धर्मः सविशेषमद्य मे त्रिपर्णद्वारः प्रतिभाति भाविनि ।
त्वया मनोनिर्विषयार्थकामया यदेक एव प्रतिगृह्य सेव्यते ॥ 38 ॥

आगे बढ़कर उसकी पूजा की, क्योंकि जिन्होंने अपने मन को भली प्रकार साध लिया है वे यदि अपनी बराबर की अवस्था वाले तेजस्वी पुरुष से भी मिलते हैं तो बड़े आदर से ही मिलते हैं ॥ 31 ॥ उस ब्रह्मचारी ने भेंट-पूजा लेकर और पल भर अपनी थकावट मिटाकर पार्वती की ओर एकटक देखते हुए बिना रुके बोलना प्रारम्भ कर दिया ॥ 32 ॥ - 'कहिए देवी जी! आपको इस तपोवन में हवन के लिए समिधा, कुशा और स्नान करने योग्य जल तो मिल जाता है न! आप अपने शरीर की शक्ति के अनुसार ही तप कर रही हैं न! क्योंकि देखिए! धर्म के काम साधने के लिये पहला काम है शरीर की रक्षा किए रखना ॥ 33 ॥ हाँ, आपके हाथ से सींची हुई इन लताओं में कोमल लाल-लाल पत्तियों वाली वे कोंपलें तो फूट आई होंगी जो आपके उन ओठों से होड़ करती होंगी जो बहुत दिनों से आलते से न रंगे जाने पर भी लाल हैं ॥ 34 ॥ और कमलनयनी! आपके हाथ से प्रेम से कुशा छीन-छीनकर खाने वाले इन हरिणों में तो आपका मन बहला रहता है न, जिनकी आँखें आपकी आँखों के समान ही चञ्चल हैं ॥ 35 ॥ पार्वती! यह ठीक ही कहा जाता है कि सुन्दरता पाप की ओर कभी नहीं झुकती, क्योंकि सुन्दरी! आपका ही रहन-सहन देखें तो यह इतना सच्चा है कि बड़े-बड़े तपस्वी भी उससे सीख ले सकते हैं ॥ 36 ॥ यों तो सप्तऋषियों के हाथ से चढ़ाए हुए पूजा के फूल और आकाश से उतरी हुई गंगा की धाराएँ हिमालय पर ही गिरती हैं, पर इन सबसे भी हिमालय उतना पवित्र नहीं हुआ जितना आपके पवित्र रहन-सहन से हुआ है ॥ 37 ॥ देवि! आपके इस आचरण से ही मैं समझ रहा हूँ कि धर्म, अर्थ और काम, इन तीनों में धर्म ही सबसे बढ़कर है क्योंकि आप अर्थ और काम से अपने मन को हटाकर अकेले धर्म का ही पल्ला थामे उसकी सेवा किए जा रही हैं ॥ 38 ॥ सुन्दरी! कहा जाता है कि पहली ही भेंट में सज्जन लोगों की मित्रता पक्की हो जाया करती है; इसलिये आपने जो मेरा इतना सत्कार किया है उसी से यह

प्रयुक्तसत्कारविशेषमात्मना न मां परं संप्रतिपत्तुमर्हसि ।
 यतः सतां संनतगात्रि संगतं मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते ॥ 39 ॥
 अतोऽत्र किंचिद्भवतीं बहुक्षमां द्विजातिभावादुपपन्नचापलः ।
 अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने न चेद्रहस्यं प्रतिवक्तुमर्हसि ॥ 40 ॥
 कुले प्रसूतिः प्रथमस्य वेधसस्त्रिलोक सौन्दर्यमिवोदितं वपुः ।
 अमृग्यमैश्वर्यसुखं नवं वयस्तपःफलं स्यात्किमतः परं वद ॥ 41 ॥
 भवत्यनिष्टादपि नाम दुःसहान्मनस्विनीनां प्रतिपत्तिरीदृशी ।
 विचारमार्गप्रहितेन चेतसा न दृश्यते तच्च कृशोदरि त्वयि ॥ 42 ॥
 अलभ्यशोकाभिभवेयमाकृतिविमानना सुभ्रु कुतः पितुर्गृहे ।
 पराभिमर्शो न तवास्ति कः करं प्रसारयेत्पन्नगरत्नसूचये ॥ 43 ॥
 किमित्यपास्याभरणानि यौवने धृतं त्वया वार्द्धकशोभि वल्कलम् ।
 वद प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका विभावरी यद्यरुणाय कल्पते ॥ 44 ॥
 दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा श्रमः पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः ।
 अथोपयन्तारमलं समाधिना न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् ॥ 45 ॥
 निवेदितं निःश्वसितेन सोष्मणा मनस्तु मे संशयमेव गाहते ।
 न दृश्यते प्रार्थयितव्य एव ते भविष्यति प्रार्थितदुर्लभः कथम् ॥ 46 ॥

सिद्ध है कि आप मुझे कोई पराया नहीं समझतीं ॥ 39 ॥ तपस्विनी! यदि उसी अपनेपन के नाते मैं ब्राह्मण होने की ढिठाई करके आपसे कुछ ऐसी-वैसी बातें पूछ बैठूँ तो आप बुरा न मानिएगा और यदि कोई छिपाने की बात न हो तो आप कृपा करके उत्तर भी दे दीजिएगा ॥ 40 ॥ तो मैं यही पूछना चाहता हूँ कि ब्रह्मा के वंश में तो आपका जन्म, शरीर भी आपका ऐसा सुन्दर मानो तीनों लोकों की सारी सुन्दरता ब्रह्मा ने आपमें ही ला भरी हो, धन का सुख इतना कि कुछ पूछना ही नहीं और जवानी भी अभी फूट ही रही है; फिर बताइए कि आपको तप करने की आवश्यकता क्या आ पड़ी? ॥ 41 ॥ हाँ, कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अपने बैरी से बदला लेने के लिए भी मानिनी स्त्रियाँ कठोर तपस्या कर बैठती हैं, पर जहाँ तक मैं समझता हूँ कि ऐसी भी कोई बात आपके साथ नहीं होगी ॥ 42 ॥ क्योंकि सुन्दर भौहों वाली! आपका रूप ही ऐसा है कि न तो आप पर कोई क्रोध ही कर सकता न आपका निरादर, क्योंकि पिता के घर में तो आपका निरादर करने वाला कोई है ही नहीं, और यह भी नहीं हो सकता कि कोई शत्रु बाहर से आकर आपका अपमान करे, क्योंकि ऐसा कौन माई का लाल जन्मा है जो साँप की मणि लेने के लिए उस पर हाथ जा डालेगा ॥ 43 ॥ इसलिये गौरी! आप यह तो बताइए कि इस चढ़ती जवानी में आपने सुन्दर गहने छोड़कर ये बुढ़ियों वाले वल्कल क्यों उठा पहने हैं। बताइए, भला चढ़ती हुई रातकी सजावट खिले हुए चन्द्रमा और तारों से होती है या सबेरे के सूर्य की लाली से? ॥ 44 ॥ और यदि आप स्वर्ग पाने की इच्छा से तप कर रही हों तब तो आपका यह सारा परिश्रम ही अकारथ है क्योंकि सब देवता उत्तने में ही तो बस पड़े हैं जितनी दूर में आपके पिता हिमावान्का राज्य है। और यदि आप अपने योग्य पति पाने के लिये तपस्या करती हों तब भी तपस्या व्यर्थ है क्योंकि मणि किसी को खोजने नहीं जाता, उल्टे मणिको ही लोग खोजते फिरा करते हैं ॥ 45 ॥ आपने जो अभी लम्बी साँस ली है इससे मैं समझ रहा हूँ कि आप योग्य पति पाने के लिये ही तपस्या कर रही हैं, पर मेरे जी में बड़ा भारी सन्देह उठ खड़ा हुआ कि भला आप जिसे चाहती हों वह आपको न मिले, यह कैसे हो सकता है? क्योंकि मुझे तो संसार में कोई ऐसा पुरुष नहीं दिखाई पड़ता है जिसके पीछे आपको दौड़ना पड़े ॥ 46 ॥ यह

अहो स्थिरः कोऽपि तवेप्सितो युवा चिराय कर्णोत्पलशून्यतां गते ।
 उपेक्षते यः श्लथलम्बिनीर्जटाः कपोलदेशे कलमाग्रपिङ्गलाः ॥ 47 ॥
 मुनिव्रतैस्त्वामतिमात्रकर्षितां दिवाकरप्लुष्टविभूषणास्पदाम् ।
 शशाङ्कलेखामिव पश्यतो दिवा सचेतसः कस्य मनो न दूयते ॥ 48 ॥
 अवैमि सौभाग्यमदेन वञ्चितं तव प्रियं यश्चतूरावलोकिनः ।
 करोति लक्ष्यं चिरमस्य चक्षुषो न वक्त्रमात्मीयमरालपक्ष्मणः ॥ 49 ॥
 कियच्चिरं श्राम्यसि गौरि विद्यते ममापि पूर्वाश्रमसंचितं तपः ।
 तदद्भभागेन लभस्व काङ्क्षितं वरं तमिच्छामि च साधु वेदितुम् ॥ 50 ॥
 इति प्रविश्यामिहिता द्विजन्मना मनोगतं सा न शशाक शंसितुम् ।
 अथो वयस्यां परिपार्श्ववर्तिनीं विवर्तितानञ्जननेत्रमैक्षत ॥ 51 ॥
 सखी तदीया तमुवाच वर्णिनं निबोध साधो तव चेत्कतूहलम् ।
 यदर्थमम्भोजमिवोष्णवारणं कृतं तपःसाधनमेतया वपः ॥ 52 ॥
 इयं महेन्द्रप्रभृतीनामिन्द्रियश्चतुर्दिगीशानवमत्य मानिनी ।
 अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात्पिनाकपाणिं पतिमाप्नुमिच्छति ॥ 53 ॥

सचमुच बड़े अचरज की बात है कि जिस युवकको आप चाहती हों वह ऐसा हठीला है कि बहुत दिनों से कर्णफूल से सुने आपके गालों पर लटकी हुई इन धानके बालों के समान पीली जटाओं को देखकर भी न पिघल उठा हो ॥ 47 ॥ ऐसा कौन जीता-जागता पुरुष होगा जिसका जी तपस्या से अत्यन्त सूखे हए आपके इस शरीरको देखकर रो न पड़े जिसके अंग-अंग आभूषण न पहनने से सूर्य की किरणों से झुलस गए हैं और जो दिनके चन्द्रमा की लेखाके समान कान्तिहीन दिखाई पड़ने लगा है ॥ 48 ॥ मैं समझता हूँ कि आप जिसे प्यार करती हैं वह अपनी सुन्दरता का झूठा घमण्ड लिए फिरता है नहीं तो उसे अबतक यहाँ आकर अपने मुँह को आपकी इन कँटीली भौंहोंवाली सुन्दर नैनोंका लक्ष्य बना ही डालना चाहिए था ॥ 49 ॥ अच्छा, यह तो बताइए गौरी! कि आप यह तपस्या कब-तक करती रहेंगी? देखिए, मैंने भी ब्रह्मचर्य की अवस्था में जो बहुतेरी तपस्या इकट्ठी कर रखी है उसका आधा भाग आप ले लीजिए और आपकी जो भी साधें हों, सब उनसे पूरी कर लीजिए पर कमसे कम इतना भर बता दीजिए कि वह है कौन' ॥ 50 ॥ उस ब्राह्मणने सारी बातें इस ढंग से कहीं मानो पार्वती के हृदय में पैठकर सारी बातें जान ली हों। उन्हें सुनकर पार्वती ऐसी लजा गई कि वे अपने मुँह से कुछ भी कह नहीं पाई इसलिये उन्होंने अपने पास बैठी हुई अपनी सखी को ही अपने बिना काजल वाले नेत्रों से बताने को संकेत कर दिया ॥ 51 ॥ तब पार्वती की सखी उस ब्रह्मचारी से बोली- साधो! यदि आप सुनना ही चाहते हैं तो मैं ही बताए देती हूँ कि जैसे कोई धूप बचाने के लिये कमल का छाता लगा ले वैसे ही इन्होंने अपना कोमल शरीर इस कठोर तपस्या में क्यों लगा दिया ॥ 52 ॥ महेन्द्र आदि बड़े-बड़े चारों दिग्पालों (इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर) को छोड़कर ये मानिनी उन महादेव से विवाह करने पर तुली हुई हैं जो अब कामदेव के भस्म हो जाने पर केवल रूप दिखाकर नहीं रिझाए जा सकते ॥ 53 ॥ उस समय कामदेव ने शिव के ऊपर जो बाण चलाया था वह उस समय तो उनकी हुंकार सुनकर ही लौट गया पर उस जलकर राख

असह्यहुंकारनिवर्तितः पुरा पुरारिमप्राप्तमुखः शिलीमुखः ।
 इमां हृदि व्यायतपातमक्षिणोद्विशीर्णमूर्तेरपि पुष्पधन्वनः ॥ 54 ॥
 तदाप्रभृत्युन्मदना पितुर्गृहे ललाटिकाचन्दनधूसरालका ।
 न जातु बाला लभते स्म निर्वृतिं तुषारसंघातशिलातलेष्वपि ॥ 55 ॥
 उपात्तवर्णे चरिते पिनाकिनः सवाष्पकण्ठस्खलितैः पदैरियम् ।
 अनेकशः किंनरराजकन्यका वनान्तसंगीतसखीररोदयत् ॥ 56 ॥
 त्रिभागशेषासु निशासु च क्षणं निमील्य नेत्रे महसा व्यबुध्यत ।
 क्व नीलकण्ठ व्रजसीत्यलक्ष्यवागसत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना ॥ 57 ॥
 यदा बुधैः सर्वगतस्त्वमुच्यसे न वेत्ति भावस्थमिमं कथं जनम् ।
 इति स्वहस्तोल्लिखितश्च मुग्धया रहस्युपालभ्यत चन्द्रशेखरः ॥ 58 ॥
 यदा च तस्याभिगमे जगत्पतेरपश्यदन्यं न विधिं विचिन्वती ।
 तदा सहास्माभिरनुज्ञया गुरोरियं प्रपन्ना तपसे तपोवनम् ॥ 59 ॥
 द्रुमेषु सख्या कृतजन्मसु स्वयं फलं तपःसाक्षिषु दृष्टमेष्वपि ।
 न च प्ररोहाभिमुखोऽपि दृश्यते मनोरथोऽस्याः शशिमौलिसंश्रयः ॥ 60 ॥
 न वेधि स प्रार्थितदुर्लभः कदा सखीभिरस्रोत्तरमीक्षितामिमाम् ।
 तपःकृशामभ्युपपत्स्यते सखीं वृषेव सीतां तदवग्रहक्षताम् ॥ 61 ॥

बने हुए कामदेव का वह बाण मेरी सखीके हृदय में लगकर बड़ा भारी घाव कर गया है ॥ 54 ॥ तभी
 से यह बेचारी अपने पिता के घर इतनी प्रेम की पीडा से व्याकुल हुई पड़ी रहती थीं कि माथे पर पुते
 हुए चन्दन से बाल भर जाने पर भी और जमे हुए हिम की पाटियों पर लेटे रहने पर भी इन्हें चैन नहीं
 मिलती थी ॥ 55 ॥ जब ये महादेव के गीत गाने लगती थीं तब इनकी संगीत की सखियाँ वनवासिनी
 किन्नरी राज-कुमारियाँ भी इनके रूँधे हुए गले से निकले हुए शब्दों को सुन-सुनकर बहुत बार रो देती
 थीं ॥ 56 ॥ रात के पहले ही पहर में क्षण भर के लिये आँख लगी नहीं कि बिना बात के ये चौंककर
 बरबराती हुई जाग उठती थीं 'हे नीलकण्ठ ! तुम कहाँ जा रहे हो ?' और उसी सपने के धोखे में ये अपने
 हाथ ऐसे फैलाती थीं मानो शिव के गले में हाथ डालकर उन्हें रोके दे रही हों ॥ 57 ॥ इस प्रकार नींदमें
 उठकर ये अपने हाथ से बनाए हुए शंकर के चित्र को ही सच्चे शंकर समझकर उन्हें यह कह-कहकर
 उलाहना देने लगती थीं कि आपके लिये पंडित लोग तो कहते हैं कि आप घट-घटकी बातें जानते हैं
 फिर आप मेरे जीकी जलन क्यों नहीं जान पाते रहे हैं जो इतने सच्चे मनसे प्यार करती हैं ॥ 58 ॥
 जब उन संसार के स्वामी शिव को पाने का इन्हें कोई दूसरा उपाय न सूझा तो ये अपने पिता की आज्ञा
 लेकर हम लोगों के साथ तप करने के लिये यहाँ तपोवन में चली आई ॥ 59 ॥ हमारी सखी को यहाँ
 तपस्या करते हुए इतने दिन हो गए कि इनके हाथ के रोपे हुए जिन वृक्षों ने इनके तपको खड़े-खड़े
 देखा है वे भी फल गए पर महादेव को पाने की जो इनकी साध थी उसमें अभी अंकुर तक भी नहीं फूट
 पाये ॥ 60 ॥ तपस्या ने इन्हें ऐसा सुखा दिया है कि इन्हें देखकर हमारी सखियों की आँखें भी डबडबा
 आती हैं । इतने पर भी जिस दुर्लभ वरको पाने के लिये ये इतनी साँसत भोगे जा रही हैं वह देखें कब
 हमारी सखी पर उसी प्रकार तरस खाकर कृपा बरसाता है जैसे जुती हुई होने पर भी पानी न बरसने से
 सुखी हुई धरती पर इन्द्र पानी ला बरसाते हैं ॥ 61 ॥ इस प्रकार पार्वती के मन की बात जानने वाली

अगूढसद्भावमितीङ्गितज्ञया निवेदितो नैष्ठिकसुन्दरस्तया ।
 अपीदमेवं परिहास इत्युमामपृच्छदव्यञ्जितहर्षलक्षणः ॥ 62 ॥
 अथाग्रहस्ते मुकुलीकृताङ्गुलौ समर्पयन्ती स्फटिकाक्षमालिकाम् ।
 कथञ्चिदद्रेस्तनया मिताक्षरं चिरव्यवस्थापितवागभाषत ॥ 63 ॥
 यथा श्रुतं वेदविदां वर त्वया जनोऽयमुच्चैः पदलङ्घनोत्सुकः ।
 तपः किलेदं तदवाप्तिसाधनं मनोरथानामगतिर्न विद्यते ॥ 64 ॥
 अथाह वर्णी विदितो महेश्वरस्तदर्थिनी त्वं पुनरेव वर्त्तसे ।
 अमङ्गलाभ्यासरतिं विचिन्त्य तं तवानुवृत्तिं न च कर्तुमुत्सहे ॥ 65 ॥
 अवस्तुनिर्बन्धपरे कथं नु ते करोऽयमामुक्तविवाहकौतुकः ।
 करेण संभोर्वलयीकृताहिना सहिष्यते तत्प्रथमावलम्बनम् ॥ 66 ॥
 त्वमेव तावत्परिचिन्त्य स्वयं कदाचिदेते यदि योगमर्हतः ।
 वधूदुकूलं कलहंसलक्षणं गजाजिनं शोणितविन्दुवर्षि च ॥ 67 ॥
 चतुष्कपुष्पप्रकरावकीर्णयोः परोऽपि को नाम तवानुमन्यते ।
 अलक्तकाङ्गानि पदानि पादयोर्विकीर्णकेशास परेतभूमिषि ॥ 68 ॥
 अयुक्तरूपं किमतः परं वद त्रिनेत्रदक्षः सुलभं तवापि यत् ।
 स्तनद्वयेऽस्मिन्हरिचन्दनास्पदे पदं चिताभस्मरजः करिष्यति ॥ 69 ॥

सखीने तपस्या करने का ठीक-ठीक कारण उन्हें कह सुनाया। यह सुनकर उस ब्रह्मचारी और सुन्दर पुरुष ने अपने मुखपर प्रसन्नता की एक भी रेखा नहीं पड़ने दी और उलटे पार्वती से पूछने लगा- 'ये जो कुछ कह रही हैं वह क्या सत्य है, या ये हँसी कर रही हैं ?' ॥ 62 ॥ बहुत देरतक तो पार्वती लाज के कारण कुछ भी नहीं बोलीं पर उन्होंने अपनी अँगुलियों को समेट कर स्फटिक की माला हाथ में पहन ली और बड़े नपे-तुले अक्षरों में वे किसी-किसी प्रकार बोली ॥ 63 ॥ 'वेदके परम पंडित! आपने जैसा सुना है मेरे मनमें वैसा ही ऊँचा पद पाने की साध जाग उठी है और यह तप भी मैं उन्हीं को पाने के लिये कर रही हूँ, क्योंकि मनुष्य की साध कहाँ-तक पहुँचती है इसका कोई ठिकाना तो है ही नहीं' ॥ 64 ॥ पार्वती की बात सुनकर ब्रह्मचारी बोला- 'आहो! जिसने पहले ही आपका प्यार ठुकरा दिया, उसे पाने की साध क्या अभी तक आपके मनमें बनी हुई है ? जब मैं उन भोंड़े वेश वाले शिव पर विचार करता हूँ तब मेरा मन तो नहीं करता कि आपको इसके लिये हाँ करूँ ॥ 65 ॥ पार्वती जी! आप भी किस बेतुके के प्रेम में जा फँसी ? बताइए, पाणिग्रहण के समय विवाह के मंगल-सूत्रसे सजा हुआ आपका यह हाथ साँप लिपटे हुए शंकर के हाथ को कैसे छू पावेगा ? ॥ 66 ॥ आप स्वयं सोचिए कि कहाँ तो हंस छपी हुई चुँदरी ओढ़े हुए आप और कहाँ रक्त की बूँद टपकाती हुई महादेव के कन्धे पर पड़ी हुई हाथी की खाल! भला ये दोनों बातें कहाँ मेल खा सकती हैं? ॥ 67 ॥ आप अभी-तक फूल बिछे हुए चौक में चलती आई हैं। अब बताइए आप अपने महावर से रंगे पैरों को उस शमशान की भूमि में कैसे रख पावेंगी जहाँ इधर-उधर भूत-प्रेतों के बाल बिखरे पड़े होंगे। यह तो आपका शत्रु भी आपके लिये नहीं चाहेगा ॥ 68 ॥ और बताइए, यदि शिव आपको मिल भी जायें तो भी इससे बढ़कर भद्दी और क्या बात होगी कि आपके जिन स्तनोंपर हरिचन्दन पुता हुआ है उनपर चिताकी भस्म ला लाकर पोती जाया करे ॥ 69 ॥ और सबसे बड़ी हँसी की बात तो तब होगी जब आप हाथी छोड़कर उनके बूढ़े बैल पर चढ़कर

इयं च तेऽन्या पुरतो बिडम्बना यदूढया वारणराजहार्या ।
 विलोक्य वृद्धोक्षमधिष्ठितं त्वया महाजनः स्मेरमुखो भविष्यति ॥ 70 ॥
 द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया पिनाकिनः ।
 कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥ 71 ॥
 वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ।
 वरेषु यद्भालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥ 72 ॥
 निवर्तयास्मादसदीप्सितान्मनः क्व तद्विधस्त्वं क्व च पुण्यलक्षणा ।
 अपेक्ष्यते साधुजनेन वैदिकी श्मशानशूलस्य न यूपसत्क्रिया ॥ 73 ॥
 इति द्विजातौ प्रतिकूलवादिनि प्रवेपमानाधारलक्ष्यकोपया ।
 ध्विकुञ्जितभूललतमाहिते तया विलोचने तिर्यगुपान्तलोहिते ॥ 74 ॥
 उद्धव चैन परमार्थतो हरं न वेत्ति नूनं यत एवमात्य माम् ।
 अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम् ॥ 75 ॥
 विपत्प्रतीकारपरेण मङ्गलं निषेव्यते भूतिसमुत्सुकेन वा ।
 जगच्छरण्यस्य निराशिषः सतः किमेभिराशोपहतात्मवृत्तिभिः ॥ 76 ॥
 अकिञ्चनः सन्प्रभवः स सम्पदां त्रिलोकनाथः पितृसन्तुष्टोऽहम् ।
 स भीमरूपः शिव इत्युदीर्यते न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः ॥ 77 ॥

अपनी ससुराल को चलेंगी और नगर के भलेमानुस सब आपको देख देखकर तालियाँ वजा-वजाकर हँसी उड़ावेंगे ॥ 70 ॥ मैं तो समझता हूँ कि शिव को पाने के फेर में दो के भाग फूट गए, एक तो चन्द्रमा की कला के, जो उनके माथे पर है और दूसरे आपके, जो संसार के नेत्रों को खिलाने वाली हैं ॥ 71 ॥ और फिर तीन तो उनके आँख, जन्म का उनके कोई ठिकाना नहीं, और उनके सदा नंगे रहने से भी आप समझ सकती होंगी कि उनके घर में क्या धरा होगा। इसलिए मृग के छौने की आँख जैसी आँखों वाली पार्वती! वर में जो गुण खोजे जाते हैं उनमें से एक भी तो महादेव में नहीं हैं। (न रूप है, न कुल है और न धन है) ॥ 72 ॥ इसलिए आप अपने मन से यह भोडी इच्छा निकाल ही फेंकिये। कहाँ तो महादेव और कहाँ सुन्दर लक्षणों वाली आप। देखिए, शूली देने के लिए श्मशान में जो खम्भा गड़ा रहता है उससे जिस प्रकार यज्ञ के खम्भे का काम नहीं लेते हैं वैसे ही इन महादेव को पति बनाना भी आपको शोभा नहीं देता।" ॥ 73 ॥ उस ब्राह्मण की ऐसी उल्टी-सीधी बातें सुनकर पार्वती के ओंठ क्रोध से काँप उठे, उनकी आँखें लाल हो उठीं, और उन्होंने भौहें तानकर उस ब्रह्मचारी की ओर आँखें तरेरकर देखा ॥ 74 ॥ और कह उठी- 'तब आप महादेवजी को भली प्रकार जानते ही नहीं जो मुझसे इस प्रकार कह रहे हैं। जो छोटे लोग होते हैं वे उन महात्माओं के अनोखे कामों को बुरा बताते ही हैं जिन्हें पहचानने की उनमें योग्यता नहीं होती ॥ 75 ॥ लोग जो गन्ध आदि मंगल वस्तु काम में लाते हैं उसका कारण यही है कि या तो वे अमंगल दूर करने के लिये ऐसा करते हैं या फिर अपनी तड़क-भड़क दिखलाने के लिये पर जो तीनों लोकों की रक्षा करने वाले हैं और जिनके मन में कोई इच्छा ही नहीं रहती, वे शंकर इन वस्तुओं को लेकर करेंगे ही क्या? ॥ 76 ॥ पास में कुछ न होते हुए भी सारी सम्पत्तियाँ उन्हीं से उत्पन्न होती हैं, श्मशान में रहते हुए भी वे तीनों लोकों के स्वामी हैं और डरावने दिखाई देने पर भी वे सबका कल्याण करने वाले कहे जाते हैं, इसलिये उनका सच्चा रूप संसार में कोई ठीक-ठीक समझ ही नहीं पाया है ॥ 77 ॥ संसार में जितने रूप दिखाई देते हैं वे सब उन्हीं के तो हैं इसलिये उनका शरीर गहनों से चमकता

विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा गजाजिनालम्बि दुकूलधारि वा ।
 कपालि वा स्यादथवेन्दुशेखरं न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः ॥ 78 ॥
 तदङ्गसंसर्गमवाप्य कल्पते ध्रुवं चिताभस्म रजोविशुद्धये ।
 तथाहि नृत्याभिनयक्रियाच्युतं विलिप्यते मौलिभिरम्बरौकसाम् ॥ 79 ॥
 असम्पदस्तस्य वृषेण गच्छतः प्रभिन्नदिग्दारणवाहनो वृषा ।
 करोति पादावुपगम्य मौलिना विनिद्रमन्दाररजोरुणाङ्गुली ॥ 80 ॥
 विवक्षता दोषमपि च्युतात्मना त्वयैकमीशं प्रति साधु भाषितम् ।
 यमामनन्त्यात्मभुवोऽपि कारणं कथं स लक्ष्य प्रभवो भविष्यति ॥ 81 ॥
 अलं विवादेन यथा श्रुतस्त्वया तथाविधस्तावदशेषमस्तु सः ।
 ममात्र भावैकरसं मनः स्थितं न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते ॥ 82 ॥
 निवार्यतामालि किमप्ययं बटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः ।
 न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक् ॥ 83 ॥
 इतो गमिष्याम्यथवेति वादिनी चचाल बाला स्तनभिन्न वल्कला ।
 स्वरूपमास्थाय च तां कृतस्मितः समाललम्बे वृषराजकेतनः ॥ 84 ॥

हो या साँपों से लिपटा हुआ हो, हाथी की खाल लटकाए हुए हो या वस्त्र ओढ़े हुए हो, गले में खोपड़ियों की माला पहने हुए हो या माथेपर चन्द्रमा सजाये हुए हो, उस पर यह विचार नहीं किया जाता कि वह कैसा है कैसा नहीं ॥ 78 ॥ उनके शरीर से लगकर चिता की राख भी पवित्र हो जाती है इसीलिए तो जब वे तांडव नृत्य करने लगते हैं तब उनके शरीर से झड़ी हुई भस्म को देवता लोग बड़ी श्रद्धा से अपने माथे चढ़ाते हैं ॥ 79 ॥ जिन्हें आप दरिद्र बताते हैं वे जब अपने वैल पर चढ़कर चलने लगते हैं तब मतवाले ऐरावत पर चढ़ने वाला इन्द्र भी आकर उनके पैरों पर मस्तक नवाया करता है और कल्पवृक्ष के फलों के पराग से उनके पैरों की उँगलियाँ रँगा करता है ॥ 80 ॥ आपने अपने दुष्ट स्वभाव से कहते-कहते कम से कम एक बात तो उनके लिये ठीक कह दी कि जो ब्रह्म तक को उत्पन्न करनेवाला बताया जाता है उस ईश्वर के जन्म और कुल को कोई जान ही कैसे सकता है ॥ 81 ॥ इसलिये, अब यह झगड़ा जाने दीजिए। आपने उन्हें जैसा सुना है, वे वैसे ही सही पर मेरा मन तो उन्हीं में रमा पड़ा है। जब किसी का मन किसी पर लग जाता है तब वह किसी के कहने-सुनने पर ध्यान थोड़े ही देता है ॥ 82 ॥ इतने में उन्होंने देखा कि ब्रह्मचारी कुछ और बोलना चाहता है। यह देखकर वे अपनी सखी से बोलीं- 'देखो सखी! इन ब्रह्मचारी के ओंठ फड़क रहे हैं। ये फिर कुछ कहना चाहते हैं। इनसे कह दो कि अब एक बात भी न बोलें क्योंकि जो बड़ों की निन्दा करता है केवल वही पापी नहीं होता वरन् जो सुनता है उसे भी पाप लगता है ॥ 83 ॥ या फिर मैं ही यहाँ से उठकर चली जाती हूँ।' यह कहकर वे उठीं। इस हड़बड़ी में उनके स्तन पर पड़ा हुआ वल्कल फट गया और ज्यों ही उन्होंने चलने को पैर बढ़ाया त्यों ही महादेव जी ने अपना सच्चा रूप धारण करके मुसकराते हुए उनका हाथ थाम लिया ॥ 84 ॥ महादेव को देखते ही पार्वती के शरीर में कँपकँपी छूट गई। वे पसीने-पसीने हो गई और आगे चलने को उठाए हुए अपने पैर को उन्होंने जहाँ का तहाँ रोक लिया। जैसे धारा के बीच में पहाड़ पड़ जाने से न तो नदी आगे बढ़ पाती है न पीछे हट पाती है वैसे ही हिमालय की कन्या भी न तो आगे

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टिर्निक्षेपणाय पदमुद्धतमुद्वहन्ती ।
 मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥ 85 ॥
 अद्यप्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ ।
 अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ॥ 86 ॥
 ।। इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये तपः
 फलोदयो नाम पञ्चमः सर्गः ।।



ही बढ़ पाई न खड़ी ही रह पाई ॥ 85 ॥ शिव बोले- 'कोमल शरीर वाली! आज से तुम मुझे तप से मोल लिया हुआ अपना दास समझो।' इतना सुनना भर था कि तपस्या से पार्वती को जितना कष्ट हुआ था वह सबका सब जाता रहा क्योंकि जब काम पूरा हो जाता है तब उसके लिए किया हुआ कष्ट फिर खटकता नहीं ॥ 86 ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदास के रचे हुए कुमारसम्भव महाकाव्य में
 तपका फल नामक पाँचवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥

॥ षष्ठः सर्गः ॥

अथविश्वात्मने गौरी संदिदेश मिथः सखीम् । दाता मे भूमृतांनाथः प्रमाणीक्रियतामिति ॥ 1 ॥
 तया व्याहृतसंदेशा सा बभौ निभृता प्रिये । चूतयष्टिरिवाभ्याशे मधौ परभृतीन्मुखी ॥ 2 ॥
 सतथेतिप्रतिज्ञाय विसृज्य कथमप्युमाम् । ऋषीञ्ज्योतिर्मयान्सप्त स्मरार स्मरशासनः ॥ 3 ॥
 ते प्रभामण्डलैर्व्योम द्योतयन्तस्तपोधनाः । सारुन्धतीकाः सपदि प्रादुरासन्पुरः प्रभोः ॥ 4 ॥
 आप्लुतास्तीरमन्दारकुसुमोत्किरवीचिषु । व्योमगङ्गाप्रवाहेषु दिङ्नागमदगन्धिषु ॥ 5 ॥
 मुक्तायज्ञोपवीतानि बिभ्रतो हैमवल्कलाः । रत्नाक्षसूत्राः प्रव्रज्यां कल्पवृक्षा इवाश्रिताः ॥ 6 ॥
 अधः प्रस्थापिताश्चैन समावर्जितकेतुना । सहस्त्ररश्मिना साक्षात्सप्रमाणमुदीक्षिताः ॥ 7 ॥
 आसक्तबाहुलतया सार्धमुद्धृतया भुवा । महावराहदंष्ट्रायां विश्रान्ताः प्रलयापदि ॥ 8 ॥
 सर्गशेषप्रणयनाद्विश्वयोनेरनन्तरम् । पुरातनाः पुराविद्धिर्धातार इति कीर्तिताः ॥ 9 ॥
 प्राक्तनानांविशुद्धानांपरिपाकमुपेयुषाम् । तपसामुपभुञ्जानाः फलान्यपि तपस्विनः ॥ 10 ॥
 तेषां मध्यगता साध्वी पत्युः पादार्पितेक्षणा । साक्षादिव तपः सिद्धिर्बभासे बहुरुन्धती ॥ 11 ॥

छठा सर्ग

तब पार्वतीने, घट-घट में रमने वाले शंकर को अपनी सखी के मुँह से धीरे से कहलाया कि मेरा विवाह करने या न करने वाले मेरे पिता हिमालय हैं, इसलिये यदि आप मुझसे विवाह करना चाहते हैं तो पहले उनसे जाकर पूछ लीजिए ॥ 1 ॥ प्रेम में पगी हुई पार्वती अपनी सखी के मुँह से महादेव को यह सन्देश कहलाती हुई वैसी ही सुशोभित हुई जैसे कोयल की बोली में वसन्त के पास अपना सन्देश भेजती हुई आम की डाल शोभा देती है ॥ 2 ॥ महादेवने कहा- 'अच्छी बात है' और उन्होंने बहुत भारी मनसे पार्वती को किसी प्रकार घर जाने की आज्ञा दी। पार्वती के चले जाने पर उन्होंने तेज से जगमगाने वाले सप्त ऋषियों को झटसे मनमें स्मरण किया ॥ 3 ॥ स्मरण करते ही अपने तेजोमंडलों से उजाला फैलाते हुए अरुन्धती को साथ लेकर तत्काल शंकर के आगे वे सातों तपस्वी (मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ) आ खड़े हुए ॥ 4 ॥ वे उस आकाश-गंगा में स्नान किए चले आ रहे थे जो अपने तीर पर गिरे हुए कल्पवृक्ष के फूल अपनी लहरों पर उछालती रहती है और जिसके जल में दिग्गजों के मदकी सुगन्ध आया करती है ॥ 5 ॥ उनके कन्धों पर मोती के यज्ञोपवीत लटके हुए थे, पीठपर सोने के वल्कल पड़े हुए थे, हाथों में रत्नों की मालाएँ थीं और जो इस वेश में ऐसे जान पड़ते थे मानों कल्पवृक्ष ही संन्यास लिए आ पहुँचे हों ॥ 6 ॥ उनके तलेसे जाता हुआ सूर्य सदा अपने घोड़े नीचे रोककर और झण्डी उतारकर बड़ी नम्रतासे उन्हें ऊपर आँख उठाकर प्रणाम किया करता है ॥ 7 ॥ प्रलय के समय बराह भगवान के जबड़ों से उबारी हुई पृथ्वी के साथ अपना हाथ-रूपी लता लगाए रखने के कारण पृथ्वी के साथ ही जो उनके जबड़ों में विश्राम किया करते हैं उनके लिये लोग कहते हैं कि ब्रह्माके सृष्टि कर चुकने पर इन्हीं ऋषियों ने ही सृष्टि की थी और इसीलिये उन्हें इतिहास जानने वाले पुराने लोग विधाता कहा करते हैं ॥ 8-9 ॥ वे अपने पूर्व जन्म की तपस्या और पुण्यों का फल भोगते रहने पर भी अभी तक तपस्या करते चले जाते हैं ॥ 10 ॥ उनके बीच, अपने पति वशिष्ठ के चरणों की ओर निहारती हुई सती अरुन्धती ऐसी लगती थीं मानो साक्षात् तपकी सिद्धि ही आई खड़ी हों ॥ 11 ॥ शंकर ने अरुन्धती को और ऋषियों को बिना स्त्री-पुरुष के भेद-भाव किए समान आदर

तामगौरवभेदेन मुनींश्चापश्यदीश्वरः। स्त्रीपुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महितं सताम्॥ 12 ॥
 तद्दर्शनादभूच्छंभोर्भूयान्दार्थमादरः। क्रियाणांखलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम्॥ 13 ॥
 धर्मेणापि पदं शर्वे कारिते पार्वतीं प्रति। पूर्वापराधभीतस्य कामस्योच्छ्वसितं मनः॥ 14 ॥
 अथ ते मुनयः सर्वे मानयित्वा जगद्गुरुम्। इदमूचुरनूचानाः प्रीतिकण्टकितत्वचः॥ 15 ॥
 यद्ब्रह्म सम्यगाम्नातं यदग्नौ विधिना हुतम्। यच्चतप्तं तपस्तस्य विपक्वं फलमधनः॥ 16 ॥
 यदध्यक्षेण जगतां वप्रमारोपितास्त्वया। मनोरथस्याविषयं मनोविषयमात्मनः॥ 17 ॥
 यस्य चेतसि वर्तेथाः स तावत्कृतिनां वरः। किं पुनर्ब्रह्मयोनेर्यस्तव चेतसि वर्तते॥ 18 ॥
 सत्यमर्काच्च सोमाच्च परमध्यास्महे पदम्। अद्यतूच्चैस्तरंताभ्यांस्मरणानुग्रहात्तव॥ 19 ॥
 त्वत्संभावितमात्मानं बहुमन्यामहे वयम्। प्रायः प्रत्ययमाधत्ते स्वगुणेषूत्तमादरः॥ 20 ॥
 या नः प्रीतिर्विरूपाक्षत्वदनुध्यानसंभवा। साकिमावेद्यते तुभ्यमन्तरात्मासिदेहिनाम्॥ 21 ॥
 साक्षाद्दृष्टोऽसि न पुनर्विद्यत्वां वयमञ्जसा। प्रसीद कथयात्मानं धियां पथिवर्तसे॥ 22 ॥
 किं येन सृजसि व्यक्तमुत येन बिभर्षि तत्। अथ विश्वस्य संहर्ता भागः कतम एष ते॥ 23 ॥
 उद्यवासुमहत्प्रेषा प्रार्थना देव तिष्ठतु। चिन्तितो पस्थितांस्तावच्छाधिनः करवामकिम्॥ 24 ॥

से देखा क्योंकि सज्जन लोगों से व्यवहार करते समय यह नहीं देखा जाता कि यह पुरुष है या स्त्री, वरन् यही विचार किया जाता है कि इनका चरित्र कैसा है ॥ 12 ॥ शिव ने जब अरुन्धती को देखा तब उनके मनमें यह बात और भी पक्की जम गई कि विना पतिव्रता पत्नी से विवाह किए धार्मिक क्रियाएँ पूरी नहीं हो पा सकतीं ॥ 13 ॥ शंकर के मनमें पार्वती से विवाह करने की इच्छा देखकर उस कामदेव के मन में भी कुछ-कुछ ढाँढ़स होने लगा जो अभी-तक अपने एक बार के किए हुए अपराध से डरा बैठा था ॥ 14 ॥ तब वेद-वेदाङ्गको जानने वाले और प्रेम से पुलकित शरीरवाले सप्तऋषियों ने शंकर का पूजन करके उनसे कहा कि 'भली प्रकार वेद पढ़ने का, विधिपूर्वक हवन करने का और तप करने का जो कुछ भी फल हो सकता है वह सब आज हमें मिल गया ॥ 15-16 ॥ क्योंकि आपके जिस मनतक किसी की भी इच्छाएँ नहीं पहुँच पा सकतीं उसी मन से आप संसार के स्वामीने हम लोगों को स्मरण किया है ॥ 17 ॥ यों तो आप ही जिसके मनमें जा बसते हैं वही सबसे बड़ा पुण्यात्मा है, पर जो आपके चित्त में आ बसता हो उसका तो फिर कहना ही क्या ॥ 18 ॥ यद्यपि हम लोग सूर्य और चन्द्रमा दोनों से यों ही ऊपर रहते हैं पर आज आपने स्मरण करके हमें उनसे और भी ऊँचा चढ़ा दिया है ॥ 19 ॥ आपसे यह आदर पाकर हम अपने मन में फूले नहीं समा रहे हैं क्योंकि अपने गुणों पर लोगों को तभी सच्चा विश्वास हो पाता है जब सज्जन लोग उसके गुणों का आदर करें ॥ 20 ॥ देव शिव! आपने हमें जो स्मरण किया है उससे हमारे मनमें आपके लिये जो प्रेम उत्पन्न हुआ है उसे हम अपने मुँह से आपके आगे क्या कहें, क्योंकि आप तो स्वयं ही घट-घट को जानने वाले हैं ॥ 21 ॥ देव! यद्यपि हम आपको अपनी आँखों के आगे खड़ा देख रहे हैं फिर भी हम आपका भेद ठीक-ठीक जान नहीं पा रहे हैं इसलिये आप कृपा करके अपना स्वरूप तो दिखा बताइए क्योंकि हमारी बुद्धि तो आप-तक पहुँच नहीं पाती ॥ 22 ॥ यह बताइए कि आपकी जो मूर्ति हम देख रहे हैं, यह क्या वही है जिससे आप सृष्टि उत्पन्न करते हैं या वह है जिससे पालन करते हैं या वह हैं जिससे आप संसारका संहार करते हैं ॥ 23 ॥ पर देव! यह तो बड़ी लम्बी कथा है। इसे अभी रहने दीजिए और पहले यह बताइए कि आपने हमें इस समय किस काम के लिये स्मरण किया है। कहिए, हमें क्या करना होगा' ॥ 24 ॥ अपनी

अथ मौलिगतस्येन्दोर्विशदैर्दशनांशुभिः । उपचिन्वन्प्रभां तन्वीं प्रत्याह परमेश्वरः ॥ 25 ॥
 विदितं वो यथास्वार्था न मेकाशित्प्रवृत्तयः । ननुमूर्तिभिरष्टाभिरित्यंभूतोऽस्मिसूचितः ॥ 26 ॥
 सोऽहं तृष्णातुरैर्वृष्टि विद्युत्वानिव चातकैः । अरिविप्रकृतैर्देवैः प्रसूतिं प्रति याचितः ॥ 27 ॥
 अत आहर्तुमिच्छामि पार्वतीमात्मजन्मने । उत्पत्तये हविर्भोक्तुर्यजमान इवारणिम् ॥ 28 ॥
 तामस्मदर्थे युष्माभिर्याचितव्यो हिमालयः । विक्रियायैनकल्पन्ते संबन्धाः सदनुष्ठिताः ॥ 29 ॥
 उन्नतेन स्थितिमता धुरमुद्वहता भुवः । तेन योजितसंबन्धं वित्तं मामप्यवञ्चितम् ॥ 30 ॥
 एवंवाच्यः स कन्यार्थमिति वो नोपदिश्यते । भवत्प्रणीतमाचारमामनन्ति हि साधवः ॥ 31 ॥
 आर्याप्यरुन्धतीं तत्र व्यापारं कर्तुं मर्हति । प्रायेणैवंविधे कार्ये पुरंघीणां प्रगल्भता ॥ 32 ॥
 तत्प्रयातौषधीप्रस्थं सिद्धये हिमवत्पुरम् । महाकोशीप्रपातेऽस्मिन्संगमः पुनरेव नः ॥ 33 ॥
 तस्मिन्संयमिनामाद्ये जाते परिणयोन्मुखे । जहुः परिग्रहद्रीडां प्राजापत्यास्तपस्विनः ॥ 34 ॥
 ततः परममित्युक्त्वा प्रतस्थे मुनिमण्डलम् । भगवानपि संप्राप्तः प्रथमोद्दिष्टमास्पदम् ॥ 35 ॥
 ते चाकाशमसिष्याममुत्पत्य परमर्षयः । आसेदुरोषधिप्रस्थं मनसा समरंहसः ॥ 36 ॥
 अलकामतिवाद्येव वसतिं वसुसंपदाम् । स्वर्गाभिष्यन्दवमनं कृत्वेवोपनिवेशितम् ॥ 37 ॥

मन्द हँसी के कारण चमकते हुए दाँतों की दमक से सिरपर बैठे हुए बाल चन्द्रमा की मन्दी चमक को बढ़ाते हुए महादेव उन सप्तऋषियों से बोले- ॥ 25 ॥ 'मुनियों! आप लोग तो जानते ही हैं कि हम अपने लिये तो कुछ किया नहीं करते और हमारी आठों मूर्तियाँ-(पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र और होता) इस बात के साक्षी भी हैं ॥ 26 ॥ प्यासे चातक जैसे बादलों से जल की बूँदें माँगते हैं वैसे ही शत्रुओं से सताए हुए देवता लोग भी मुझसे पुत्र उत्पन्न कराना चाहते हैं ॥ 27 ॥ इसलिए पुत्र उत्पन्न करने की इच्छा से मैं पार्वती को उसी प्रकार लाना चाहता हूँ जैसे अग्नि उत्पन्न करने के लिये यजमान अरणि (रगड़कर आग उपजाने वाली लकड़ी) लाता है ॥ 28 ॥ तो आप लोग मेरी ओर से जाकर हिमालयराज से पार्वती को माँग लीजिए क्योंकि सज्जन लोग वीच में पड़कर जो सम्बन्ध करा देते हैं उसमें फिर किसी प्रकार की झंझट नहीं होती ॥ 29 ॥ फिर ऊँची प्रतिष्ठा वाले और पृथ्वी को धारण करने वाले हिमालय के राजा से सम्बन्ध करके मैं भी अपने को धन्य समझूँगा ॥ 30 ॥ आप लोगों को यह तो समझाना नहीं है कि कन्या को माँगने के लिए क्या-क्या कहिएगा क्योंकि इस प्रकार के शिष्टाचार की जो बातें दूसरे पण्डित लोग काम में ला रहे हैं वे सब आप ही लोगों ने तो बनाई हैं ॥ 31 ॥ हाँ, आर्या अरुन्धती भी इस काम में सहायता कर सकती हैं क्योंकि इन बातों में प्रायः स्त्रियाँ अधिक चतुर होती हैं ॥ 32 ॥ इसलिये अब आप लोग हिमालय के ओषधिप्रस्थ नगर में जाकर काम बना लाइए और वहाँ से लौटकर महाकोशी नदी के झरने पर आकर आपलोग मुझसे मिल लीजिएगा ॥ 33 ॥ जब सप्तऋषियों ने देखा कि संयमियों में श्रेष्ठ महादेव ही विवाह के लिये इतने उतावले हैं तब उन लोगों के मनमें जो विवाह की बातों से झिझक हुआ करती थी वह सब जाती रही ॥ 34 ॥ तब ऋषि लोग ॐ कहकर चल दिए और भगवान शंकर भी वहाँ जा पहुँचे जहाँ उन्होंने ऋषियों से मिलने को कहा था ॥ 35 ॥ मन के समान वेग से चलने वाले वे परम ऋषि लोग कृपाण के समान नीले आकाश में उड़ते हुए ओषधिप्रस्थ नगर जा पहुँचे ॥ 36 ॥ वह नगर ऐसा भरापूरा था मानो उसने धन-सम्पत्ति से भरी हुई अलका को भी नीचा दिखा दिया हो और मानो स्वर्ग का सारा बढ़ा हुआ धन निकालकर इसी में ला भरा गया हो ॥ 37 ॥ उस नगर में चारों ओर गङ्गा की धाराएँ बह रही थीं चमकने वाली जड़ी-बूटियाँ

गङ्गास्त्रोतः परिक्षिप्तं वप्रान्तर्ज्वलितौषधि । बृहन्मणिशिलासालंगुप्तावपि मनोहरम् ॥ 38 ॥
 जितसिंहभयानागायत्राक्षा बिलयोनयः । यक्षाः किंपुरुषाः पौरा योषितो वनदेवताः ॥ 39 ॥
 शिखरासक्तमेधानां व्यज्यन्ते तत्र वेश्मनाम् । अनुगर्जितसंदिग्धाः करणैर्मुर्जस्वनाः ॥ 40 ॥
 यत्रकल्पद्रुमैरेव विलोलविटपांशुकैः । गृहयन्त्रपताकाश्रीरपौरादरनिर्मिता ॥ 41 ॥
 यत्र स्फटिकहर्म्येषु नक्तमापानभूमिषु । ज्योतिषां प्रतिबिम्बानिप्राप्नुवन्त्युपहारताम् ॥ 42 ॥
 यत्रौषधीप्रकाशेन नक्तं दर्शितसंचराः । अनभिज्ञास्तमिस्त्राणां दुर्दिनेष्वभिसारिकाः ॥ 43 ॥
 यौवनान्तं वयो यस्मिन्नान्तकः कुसुमायुधात् । रतिखेदसमुत्पन्ना निद्रा संज्ञाविपर्ययः ॥ 44 ॥
 भ्रूमेदिभिः सकम्पोष्ठैर्ललिताङ्गुलितर्जनैः यत्र कोपैः कृताः स्त्रीणामाप्रसादार्थिनः प्रियाः ॥ 45 ॥
 संतानकतरुच्छायासुप्तविद्याधराध्वगम् । यस्य चोपवनं बाह्यं गन्धवद्गन्धमादनम् ॥ 46 ॥
 अथ ते मुनयो दिव्याः प्रेक्ष्य हैमवतं पुरम् । स्वर्गाभिसंधिसुकृतं वञ्चनामिव मेनिरे ॥ 47 ॥
 ते तच्च निगिरेर्वेगादुन्मुखद्वाः स्थवीक्षिताः । अवतेरुर्जटाभारैर्लिखितानलनिश्चलैः ॥ 48 ॥
 गगनादवतीर्णा सा यथावृद्धपुरस्तरा । तोयान्तर्भास्करालीव रेजे मुनिपरम्परा ॥ 49 ॥

वहाँ उजाला किए डाल रही थीं और मणियों के ऊँचे-ऊँचे परकोटों में छिपे रहने पर भी वह नगर बड़ा सुन्दर लग रहा था ॥ 38 ॥ वहाँ के हाथी ऐसे लगते थे कि सिंहको भी पावें तो पछाड़ दें और घोड़े तो सभी विल (उच्चैःश्रवा) जाति के ही थे। वहाँ के नागरिक भी या तो यक्ष थे या किन्नर और स्त्रियाँ तो सबकी सब वनदेवियाँ ही थीं ॥ 39 ॥ उस नगर के घरों पर दिन-रात बादल छाए रहते थे और जब कभी उन घरों में मृदंग बजने लगता था तब लोगों को पहले यही भ्रम होने लगता था कि यह बादलों की गरज की गूँज हैं पर फिर उनकी ताल से वे समझ जाते थे कि ये बादल नहीं गरज रहे हैं वरन् मृदंग बज रहे हैं ॥ 40 ॥ कल्पवृक्ष की चंचल शाखाएँ ही उस नगरी की झंडियाँ थीं और यद्यपि उन्हें किसी नागरिकने बनाया नहीं था फिर भी वे ऐसी लग रही थीं मानों घरों पर डंडे खड़े करके झंडियाँ ला बाँधी गई हों ॥ 41 ॥ स्फटिकके भवनों में सजे हुए मदिरालयपर रातको जब तारों की परछाई पड़ती थी तब ऐसा जान पड़ता था मानो किसी ने ढेरों फूल ला बिखेरे हों ॥ 42 ॥ बरसात के दिनों में रात को चमकने वाली जड़ी-बूटियाँ ऐसा प्रकाश देती थीं कि वहाँ की अभिसारिकाओं को बरसात की घनी अँधियारी में भी अँधेरा नहीं लगता था ॥ 43 ॥ वहाँ के लोग सदा जवान बने रहते थे, कामदेव को छोड़कर और कोई किसी को मारता नहीं था और संभोग की थकावट से जो नींद आती थी वही वहाँ की मूर्च्छा थी ॥ 44 ॥ यों तो वहाँ कोई किसी को डाँटता-डपटता नहीं था पर हाँ, वहाँ की स्त्रियाँ अपनी भौहों चढ़ा-चढ़ाकर, ओठ कँपा-कँपा कर और सुन्दर उँगलियाँ चमका-चमकाकर अपने प्रेमियों को तब तक अवश्य डाँटती थी जब-तक वे प्रेमी आगे के लिये कान न पकड़ लेते ॥ 45 ॥ गन्धमादन नामका सुगन्धित पर्वत ही उस नगर के बाहर का उपवन था जिसके कल्प-वृक्षों की छाया में विद्याधर लोग चलते-चलते थक जाने पर नींद आ लेते थे ॥ 46 ॥ हिमालय की उस राजधानी को देखकर उन दिव्य मुनियों ने सोचा कि स्वर्ग के लिये इतनी तपस्या करके हम लोग ठगे ही रह गए ॥ 47 ॥ चित्र में बनी हुई आग की निश्चल लपटों के समान अपनी जटाएँ लिए-दिए जब वे बड़े वेग से हिमालय राज के भवन पर उतरे तब हिमालय के द्वार-रक्षक ऊपर मुँह उठा-उठाकर उन्हें अचरज के साथ देखने लगे ॥ 48 ॥ आकाश से एक-एक करके उतरते हुए वे मुनि ऐसे शोभा देते थे जैसे लहराते हुए जल में पड़ी हुई सूर्य की बहुत-सी परछाइयाँ पड़ रही हों ॥ 49 ॥ उन्हें देखकर हाथ में अर्घ्य-पात्र लेकर दूरसे ही उनकी पूजा करने के लिये जब

तानर्घ्यानर्घ्यमादाय दूरात्प्रत्युद्ययौ गिरिः। नमयन्सारगुरुभिः पादन्यासैर्वसुंधराम्॥ 50 ॥
 धातुताम्राधरः प्रांशुर्देवदारुबृहद्भुजः। प्रकृत्यैव शिलोरस्कः सुव्यक्तो हिमवानिति॥ 51 ॥
 विधिप्रयुक्तसत्कारैः स्वयं मार्गस्य दर्शकः। स तैराक्रमयामास शुद्धान्तं शुद्धकर्मभिः॥ 52 ॥
 तत्र वेत्रासनासीनान्कृतासनपरिग्रहः। इत्युवाचेश्वरान्वाचं प्राञ्जलिर्भूधरेश्वरः॥ 53 ॥
 अपमेघोदयं वर्षमदृष्टकुसुमं फलम्। अतर्कितोपपन्नं वो दर्शनं प्रतिभाति मे॥ 54 ॥
 मूढं बुद्धमिवात्मानं हैमीभूतमिवायसम्। भूमेर्दिवमिवारुढं मन्ये भवदनुग्रहात्॥ 55 ॥
 अद्यप्रभृति भूतानामधिगम्योऽस्मि शुद्धये। यदध्यासितमर्हद्विस्तद्धि तीर्थं प्रचक्षते॥ 56 ॥
 अवैमि पूतमात्मानं द्वयेनैव द्विजोत्तमाः। मूर्ध्नि गङ्गाप्रपातेन धौतपादम्भसा च वः॥ 57 ॥
 जङ्गमं प्रैष्यभावे वः स्थावरं चरणाङ्कितम्। विभक्तानुग्रहं मन्ये द्विरूपमपि मे वपुः॥ 58 ॥
 भवत्संभावनोत्थाय परितोषाय मूर्च्छते। अपिव्याप्तदिगन्तानि नि नाङ्गानिप्रभवन्ति मे॥ 59 ॥
 न केवलं दीरसंस्थं भास्वतां दर्शनेन वः। अन्तर्गतमपास्तं मे रजसोऽपि परं तमः॥ 60 ॥
 कर्तव्यं वोन पश्यामिस्याच्चेत्किं नोपपद्यते। मन्ये मत्पावनायैव प्रस्थानं भवतामिह॥ 61 ॥
 तथापि तावत्कर्त्स्निश्चिदाज्ञामे दातुमर्हथ। विनियोगप्रसादा हि किङ्कराः प्रभविष्णुषु॥ 62 ॥

हिमालय के राजा अपने ठोस बोझीले पैर बढ़ाते हुए चले तब उसके पैरों की धमक से पृथ्वी भी पग-पगपर झुकती चलने लगी ॥ 50 ॥ मुनियों ने देखते ही पहचान लिया कि यह गेरु आदि धातुओं की लाल चट्टानों केसे ओठों वाला, देवदारुके बड़े-बड़े वृक्षों की-सी भुजाओं वाला और स्वभाव से पत्थर की शिलाओं जैसी चौड़ी और पक्की छाती वाला हिमालय का राजा ही है ॥ 51 ॥ हिमालय राजने बड़ी विधि के साथ उन ऋषियों की पूजा की और उन सत्कर्म करने वाले ऋषियों को मार्ग दिखाता हुआ उन्हें अपने साथ रनिवास में लिवा ले गया ॥ 52 ॥ हिमालय राजने इन ऋषियों को बेंतके आसनों पर ले जा बैठाया और फिर हाथ जोड़कर उनसे कहा ॥ 53 ॥ 'आपका इस प्रकार अचानक आना मुझे ऐसा लग रहा है जैसे बिना वादलों के वर्षा हो गई हो या बिना फूल आए ही फल आ लगे हों ॥ 54 ॥ मैं अपने को आज ऐसा समझ रहा हूँ मानो मुझ मूर्ख को ज्ञान मिल गया हो, मैं लोहेसे सोना बन गया हूँ और पृथ्वी पर रहते हुए भी स्वर्ग में जा चढ़ा हूँ ॥ 55 ॥ मैं आज से अपने को ऐसा बड़ा भारी तीर्थ समझने लगा हूँ जहाँ आते ही लोग शुद्ध हो जायें क्योंकि सज्जन लोग जहाँ आकर बस जाएँ वही तो तीर्थ हो जाता है ॥ 56 ॥ ब्रह्मऋषियों! मैं अपने को दो प्रकार से पवित्र मानता हूँ, एक तो सिरपर गंगा की धारा गिरने से, दूसरे आप लोगों के चरण की धोवन पा लेने से ॥ 57 ॥ मुनियो! मुझे ऐसा जान पड़ता है कि आप लोगों ने मेरे चल और अचल दोनों शरीरों पर अलग-अलग कृपा की है क्योंकि मेरे चल शरीर को तो आपने अपना दास बना लिया है और मेरे अचल शरीर पर आपने अपने पवित्र चरण आ धरे हैं ॥ 58 ॥ आप लोगोंने यहाँ आकर जो कृपा की है उससे मुझे इतनी प्रसन्नता हो रही है कि दूर-दूर तक फैले हुए अपने इन बड़े अङ्गों में भी मैं फूला नहीं समा रहा हूँ ॥ 59 ॥ आप-जैसे तेजस्वियों के दर्शन से केवल मेरी गुफाओं का ही अँधेरा नहीं मिटा वरन् मेरे हृदय के अज्ञान का सारा अँधेरा भी जाता रहा ॥ 60 ॥ मेरी समझ में आप किसी काम से तो यहाँ आए नहीं होंगे क्योंकि आपमें तो स्वयं इतनी शक्ति है कि किसी भी काम को बात की बात में पूरा कर लें। इसलिये मैं तो यही समझता हूँ कि केवल मुझे पवित्र करने के लिए ही आप लोगों ने यहाँ आनेका कष्ट किया है ॥ 61 ॥ पर जब आप आ ही गए हैं तब मेरे लिये कोई सेवा तो बताइए। स्वामी को तभी प्रसन्न समझना चाहिए जब वे सेवक से कुछ काम करने को कहें ॥ 62 ॥ यहाँ आपकी आज्ञा का पालन करने के लिये मैं आपके आगे खड़ा ही हूँ, ये मेरी स्त्रियाँ

एते वयममी दाराः कन्येयं कुलजीवितम् । ब्रूत येनात्र वः कार्यमनास्था बाह्यवस्तुषु ॥ 63 ॥
 इत्यूचिर्वास्तमेवार्थं गुहामुखविसर्पिणा । द्विरिव प्रतिशब्देन व्याजहार हिमालयः ॥ 64 ॥
 अथाङ्गिरसमग्रण्यमुदाहरणवस्तुषु । ऋणयो नोदयामासुः प्रत्युवाच स भूधरम् ॥ 65 ॥
 उपपन्नमिदं सर्वमतः परमपि त्वयि । मनसः शिखराणां च सदृशी ते समुन्नतिः ॥ 66 ॥
 स्थानेत्वास्थावरात्मानं विष्णुमाहुस्तथाहिते । चराचराणां भूतानां कुक्षिराधारतांगतः ॥ 67 ॥
 गामघास्यत्कथं नागो मृणालमृदुभिः फणैः । आर सातलमूलात्त्वमवालम्बिष्यथा न चेत् ॥ 68 ॥
 अच्छिन्नामलसंतानाः समुद्रोर्म्यनिवारिताः । पुनन्ति लोकान्युप्यत्वात्कीर्तयः सरितश्चते ॥ 69 ॥
 यथैव श्लाघ्यते गङ्गा पादेन परमेष्ठिनः । प्रभवेण द्वितीयेन तथैवोच्छिरसा त्वया ॥ 70 ॥
 तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्च व्यापको महिमाहरेः । त्रिविक्रमोद्यतस्यासीत्स तु स्वाभाविकस्तव ॥ 71 ॥
 यज्ञभागभुजां मध्ये पदमातस्थुषा त्वया । उच्चैर्हिरण्मयं शृङ्गं सुमेरोर्वितथीकृतम् ॥ 72 ॥
 काठिन्यं स्थावरे काये भवता सर्वमर्पितम् । इदं तु ते भक्तिनम्रं सत्तामराधनं वपुः ॥ 73 ॥

हैं और यह मेरे घर-भर की प्यारी कन्या है। इनमें से जिससे भी आपका काम बने उसे आज्ञा दीजिए, क्योंकि धन-सम्पत्ति आदि जितनी बाहरी वस्तुएँ हैं वे तो आपकी सेवा के लिये तुच्छ हैं, इसलिये उनका तो नाम लेते हुए भी मुझे हिचक हो रही है ॥ 63 ॥ हिमालय राज के कह चुकने पर गुफाओं में से जो गूँज निकली वह ऐसी जान पड़ती थी मानो हिमालय राज ने अपनी बात फिरसे दुहरा सुनाई हो ॥ 64 ॥ तब ऋषियों ने महादेवका संदेश हिमालय राज से कहने के लिये अपने में से उन अंगिरा ऋषिको उकसाया जो बातचीत करने में बड़े चतुर थे। इसपर अंगिरा ऋषिने हिमालय से कहा- ॥ 65 ॥ 'देखो हिमालय राज! जो कुछ आपने कहा है वह और उससे अधिक भी जो कुछ कहा जाय, सब आपको शोभा देता है। क्योंकि आपका मन वैसा ही ऊँचा है जैसी आपकी चोटियाँ ॥ 66 ॥ आपको जो सब अचल पदार्थों का विष्णु कहा जाता है, वह ठीक ही है, क्योंकि चर और अचर सब आपकी गोद से ही सहारा पाते हैं, जितने रत्न हैं वे सब आपकी ही गोद में होते हैं और आपकी ही गोद से निकली हुई नदियों से आर्यावर्त जी रहा है ॥ 67 ॥ यदि आप पाताल के नीचेतक पृथ्वी को अपने बोज़से न दबाए रहें तो बताइए शेषनाग अपने कमल की नाल के समान कोमल फणों पर पृथ्वी को कैसे सँभाल पाते ॥ 68 ॥ जैसे आपके यहाँ से निकली हुई, निरन्तर बहती हुई और समुद्र की लहरों से भी टक्कर लेने वाली निर्मल नदियाँ अपनी पवित्रता से सारे संसार को पवित्र करती हैं वैसी ही आपकी कीर्ति भी सब लोकों को बराबर पवित्र किया करती है ॥ 69 ॥ जैसे विष्णु के चरणों से निकलने के कारण गंगा अपने को बहुत बड़ा मानती हैं वैसे ही आपके शिखरसे निकलकर बहने में भी ये अपनी बड़ाई ही समझती हैं ॥ 70 ॥ भगवान् विष्णु की महिमा संसार में तब फैली जब उन्होंने ऊपर, नीचे और तिरछे पैर रखकर वामन अवतार धारण करके तीनों लोकों को नाप डाला, पर आपकी महिमा तो पहले से ही तीनों लोकों में फैली हुई है ॥ 71 ॥ यज्ञका भाग पाने वाले देवताओं में स्थान पाकर आपने सुमेरु पर्वत की सुनहरी और ऊँची चोटियों को भी नीचा दिखा दिया ॥ 72 ॥ आपने अपनी सारी कठोरता अपने अचल शरीर में ला भरी है। आपका यह चल शरीर भक्तिसे ऐसा झुका हुआ है कि सज्जन लोग आ-आकर इसी की पूजा किया करते हैं ॥ 73 ॥ इसलिये हम आपको आनेका कारण बताते हैं और वह काम ऐसा है जिसमें आपकी ही भलाई है और यह भली बात आपको समझाने के बहाने हम लोगों को भी थोड़ी-सी बड़ाई मिल जायगी

तदागमनकार्यं नः शृणु कार्यं तवैव तत्। श्रेयसामुपदेशात्तु वयमत्रांशभागिनः॥ 74 ॥
 अणिमादि गुणोपेतमस्पृष्टपुरुषान्तरम्। शब्दमीश्वर इत्युच्चैः सार्द्धचन्द्रं विभर्ति यः॥ 75 ॥
 कलितान्योन्यसामर्थ्यैः पृथिव्यादिभिरात्मभिः। येनेदं धियते विश्वं धुर्यैर्यानिमिवाध्वनिः॥ 76 ॥
 योगिनो यं विचिन्वन्नि क्षेवाभ्यन्तरवर्तिनम्। अनावृत्तिभयं यस्य पदमाहुर्मनीषिणः॥ 77 ॥
 स ते दुहितरं साक्षात्साक्षी विश्वस्य कर्मणाम्। वृणुते वरदः शंभुरस्मत्संक्रामितैः पदैः॥ 78 ॥
 तमर्थमिव भारत्या सुतया योक्तुमर्हसि। अशोच्या हि पितुः कन्या सद्भर्तुं प्रतिपादिता॥ 79 ॥
 यावन्त्येतानि भूतानिस्थावराणि चराणि च। मातरं कल्पयन्त्वेनामीशो हि जगतः पिता॥ 80 ॥
 प्रणम्यशितिकण्ठाय विबुधास्तदनन्तरम्। चरणौ रज्जयन्त्वस्याश्चूडामणिमरीचिभिः॥ 81 ॥
 उमा बधूर्मवान्दाता याचितार इमे वयम्। वरः शंभुरलं द्वेष त्वत्कुलोद्भूतये विधिः॥ 82 ॥
 अस्तोतुः स्तूयमानस्य वन्द्यस्यानन्यवन्दिनः। सुतासंबन्धविधिना भव विश्वगुरोर्गुरुः॥ 83 ॥
 एवं वादिनि देवर्षौ पाश्वे पितुरधोमुखी। लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥ 84 ॥
 शैलः संपूर्णकामोऽपि मेनामुखमुदैक्षत। प्रायेण गृहिणीनेत्राः कन्यार्येषु कुटुम्बिनः॥ 85 ॥

॥ 74 ॥ आप तो जानते ही होंगे कि अणिमा आदि आठों सिद्धियों के जो स्वामी हैं, जिन्हें छोड़कर दूसरा कोई ईश्वर कहला नहीं सकता, जिनके माथे पर आधा चन्द्रमा वसा हुआ हैं, जो अपने पृथ्वी-जल आदि उन आठों शरीर से पृथ्वी को जिलाए रहते हैं, जो एक दूसरे की शक्ति बढ़ाने वाली और संसार को इस प्रकार ठीक से चलाने वाले हैं जैसे मार्ग में रथ को घोड़े ही लीक में बाँधे रहते हैं जिन्हें योगी लोग अपने शरीर के भीतर बैठा हुआ पाते हैं और जिनके लिये विद्वानों का कहना है कि वे जन्म-मरण के बन्धनों से बाहर ही हैं, उन्हीं संसार भर के कामों को देखने वाले और वर देने वाले शंकर ने हम लोगों के मुँहसे संदेशा भेजकर स्वयं अपने लिये आपकी पुत्री पार्वती माँगी है ॥ 75-78 ॥ इसलिये आप शिव से अपनी पुत्रीका वैसे ही अटूट सम्बन्ध कर दीजिए जैसे वाणीका अर्थ से हो गया है, क्योंकि अच्छे पति से कन्या का विवाह हो जाय तो पिता की सारी चिन्ता मिट जाती है ॥ 79 ॥ आप यह समझ लीजिए कि महादेव जी संसार के पिता हैं इसलिये पार्वती भी संसार के चर और अचर सब प्राणियों की माता बन जायँगी और फिर इतनी पूजनीया हो जायँगी कि देवता लोग महादेव को प्रणाम करके अपने सिरपर धरे हुए मणियों की किरणों से पार्वती के ही चरण रँगा करेंगे ॥ 80-81 ॥ और संयोग तो देखिए कि उमा हों बहू, आप हों कन्या-दान करने वाले, हम हों विवाह के लिये कहने वाले और महादेव जी हों वर, बताइए आप के कुलके लिये इससे बढ़कर और कौन-सी प्रतिष्ठा की बात होगी ॥ 82 ॥ और फिर उनसे अपनी पुत्री का विवाह करके आप उन महादेव के भी बड़े बन जाइए जो स्वयं किसी की स्तुति नहीं करते पर संसार जिनकी स्तुति करता है और जो स्वयं किसी की वन्दना नहीं करते पर संसार जिनकी वन्दना करता है ॥ 83 ॥ देवर्षि लोग जिस समय यह कह रहे थे उस समय पार्वती अपने पिता के पास नीचा मुँह किए खिलौने के कमल के पत्ते बैठी गिन रही थीं ॥ 84 ॥ यद्यपि हिमालय राज स्वयं तो इससे सहमत थे फिर भी उन्होंने इसका उत्तर पाने के लिये मेना की ओर देखा क्योंकि जब कभी कन्या के सम्बन्ध की कोई बात होती है तो गृहस्थ लोग अपनी स्त्रियों से सम्मति लिया ही करते हैं ॥ 85 ॥ मेनाने भी अपने पति की हाँ में हाँ मिलाकर सब बातें मान लीं क्योंकि जो सती स्त्रियाँ हुआ करती हैं वे किसी

मेनेमेनापितत्सर्वपत्युः कार्यमभीप्सितम् । भवन्त्यव्यभिचारिण्यो भर्तुरिष्टेपतिव्रताः ॥ 86 ॥
 इदमत्रोत्तरन्याय्यमिति बुद्ध्या विमृश्यसः । आददेवचसामन्ते मङ्गलालङ्कृतां सुताम् ॥ 87 ॥
 एहि विश्वात्मने वत्से भिक्षासि परिकल्पिता । अर्थिनोमुनयः प्राप्तंगृहमेधिफलं मया ॥ 88 ॥
 एतावदुक्त्वा तनयामृषीनाह महीधरः । इयं नमति वः सर्वास्त्रिलोचनवधूरिति ॥ 89 ॥
 ईप्सितार्थक्रियोदारंतेऽभिनन्द्यगिरेर्वचः । आशीभिरेधयामासुः पुरःपाकाभिरम्बिकाम् ॥ 90 ॥
 तां प्रणामादरस्रस्त जाम्बूनदवतंसकाम् । अङ्कमारोपयामास लज्जमानामरुन्धती ॥ 91 ॥
 तन्मातरं चाश्रुमुखीं दुहितृस्नेहविकलवाम् । वरस्यानन्यपूर्वस्य विशोकामकरोद्गुणैः ॥ 92 ॥
 वैवाहिकीं तिथिं पृष्ट्यास्तत्क्षणं हरबन्धुना । ते त्र्यहादूर्ध्वमाख्याय चेरुश्चीरपरिग्रहाः ॥ 93 ॥
 ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्राप्य चशूलिनम् । सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः ॥ 94 ॥
 पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमयदद्रिसुतासमागमोत्कः ।

कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः ॥ 95 ॥

॥ इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये
 उमाप्रदानो नाम षष्ठः सर्गः ॥



भी बात में पतिसे बाहर नहीं होतीं ॥ 86 ॥ ऋषियों से 'हाँ' कह चुकने पर हिमालय राजने सुन्दर माँगलिक वस्त्रों से सजी हुई अपनी कन्या को पास बुलाकर कहा- 'यहाँ आओ वत्से ! देखो, घट-घट में रहने वाले शिव ने मुझसे तुम्हें माँगा है और वह भिक्षा लेने के लिये ये सप्तऋषि लोग आए हुए हैं। सचमुच आज मुझे गृहस्थ होने का सच्चा फल मिल गया है कि ऐसे माँगने वाले मेरे द्वारपर पधारे हैं' ॥ 87-88 ॥ अपनी पुत्री से इतना कहकर वे ऋषियों से बोले- 'यह महादेव की पत्नी आपको प्रणाम करती है' ॥ 89 ॥ अपना काम पूरा हुआ देखकर सप्तऋषियों ने हिमालय राज की बड़ी प्रशंसा की। उन्होंने अम्बिकाको ऐसे आशीर्वाद दिए जो तत्काल फल देने वाले थे ॥ 90 ॥ ऋषियों को प्रणाम करने के लिये पार्वती ज्योंही लजाती हुई झुकीं कि उनके कानों से सोने का कुण्डल खिसक गया और अरुन्धतीने उन्हें झट उठाकर अपनी गोद में बैठा लिया ॥ 91 ॥ मेना अपनी पुत्री के स्नेह में इतनी अधीर हो गई कि उनकी आँखें डबडबा आईं पर अरुन्धती ने उन्हें अनोखे वर के गुण सुना सुनाकर बड़ा धीरज बाँधाय ॥ 92 ॥ विवाह की तिथि पूछे जाने पर सप्तऋषियों ने बताया कि तीन दिन पीछे विवाह करना ठीक होगा। यह कहकर वे सब ऋषि वहाँ से विदा हो गए ॥ 93 ॥ हिमालय से विदा होकर उन्होंने महादेव को जा बताया कि सब ठीक हो गया है और फिर उनसे आज्ञा लेकर वे आकाश में उड़ गए ॥ 94 ॥ पार्वती से मिलने के लिये महादेव इतने उतावले हो उठे कि तीन दिन भी उन्होंने बड़ी कठिनाई से काटे। बताइए जब महादेव जी-जैसों की प्रेम में यह दशा हो जाती हो तब भला दूसरे लोग अपने मनको कैसे सँभाल पा सकते हैं ॥ 95 ॥

महाकवि श्रीकालिदास के रचे हुए कुमारसंभव नामके महाकाव्य में पार्वती की माँगी नाम का छठा सर्ग पूर्ण हुआ।



॥ सप्तमः सर्गः ॥

अथौषधीनामधिपस्य वृद्धौ तिथौ च जामित्रगुणान्वितायाम् ।
 समेतबन्धुर्हिभवान्सुताया विवाहदीक्षाविधिमन्वतिष्ठत् ॥ 1 ॥
 वैवाहिकैः कौतुकसंविधानैर्गृहे गृहे व्यग्रपुरन्धिर्वर्गम् ।
 आसीत्पुरं सानुमतोऽनुरागादन्तःपुरं चैककुलोपमेयम् ॥ 2 ॥
 संतानकाकीर्णमहापथं तच्चीनांशुकैः कल्पितकेतुमालम् ।
 भासोज्ज्वलत्काञ्चनतोरणानां स्थानान्तरं स्वर्गं इवावभासे ॥ 3 ॥
 एकैव सत्यामपि पुत्रपङ्क्तौ चिरस्य दृष्टेव मृतोत्थितेव ।
 आसन्नपाणिग्रहणेति पित्रोरुमा विशेषोच्छ्वसितं बभूव ॥ 4 ॥
 अङ्गाद्ययावङ्कमुदीरिताशीः सा मण्डनान्मण्डनमन्वभुङ्क्त ।
 संबन्धिभिन्नोऽपि गिरेः कुलस्य स्नेहस्तदेकायतनं जगाय ॥ 5 ॥
 मैत्रे मुहूर्ते शशलाञ्छनेन योगं गतासूत्तरफल्गुनीषु ।
 तस्याः शरीरे प्रतिकर्म चक्रुर्बन्धुस्त्रियो याः पतिपुत्रवत्यः ॥ 6 ॥
 सा गौरसिद्ध्यर्थनिवेशवदिभ्रद्दूर्वाप्रबालैः प्रतिभिन्नशोभम् ।
 निर्नाभिं कौशेयमुपात्तबाणमभ्यङ्गने पथ्यमलञ्चकार ॥ 7 ॥

सातवाँ सर्ग

तीन दिन पीछे हिमवान् ने लग्न से सातवें घर (सौभाग्य) के विचार से शुक्ल पक्ष की शुभ तिथि (पूर्णिमा) को अपने भाई-बन्धुओं को बुलाकर शंकर के साथ अपनी युवा पुत्री का विवाह कर दिया ॥ 1 ॥ वहाँ के सब लोग हिमवान् से ऐसा प्रेम करते थे कि उस नगर के घर-घर में सब स्त्रियाँ बड़ी धूमधाम के साथ विवाह का उत्सव मनाए जा रही थीं। घर और बाहर सब लोग ऐसे हिल मिलकर काम किए जा रहे थे मानों सब एक ही कुल के लोग हों ॥ 2 ॥ बड़ी-बड़ी सड़कों पर कल्प-वृक्ष के फूल बिछे हुए थे, दोनों ओर रेशमी झंडियाँ पाँतों में टँगी हुई थीं और द्वार-द्वार-पर सोने के बन्दनवार बँधे हुए थे। इन सबकी चमकसे जगमगाता हुआ वह नगर ऐसा जान पड़ता था मानो साक्षात् स्वर्ग ही वहाँ उतरा चला आया हो ॥ 3 ॥ यद्यपि हिमालय के बहुत से पुत्र थे फिर भी उस समय हिमालय और मेना दोनों को पार्वती ऐसी प्राण से बढ़कर प्यारी लग रही थीं मानो बहुत दिनों पर मिली हों या अभी जी कर उठी हों क्योंकि विवाह हो जाने पर तो वे अभी वहाँ से चली ही जाने वाली थीं ॥ 4 ॥ सब कुटुम्बियों ने पार्वती को बारी-बारी से अपनी-अपनी गोदी में बैठकर आशीर्वाद दिया और एक-से एक बढ़कर गहने भेंट किए। ऐसा जान पड़ता था मानो हिमालय के सब कुटुम्बियों का स्नेह पार्वती में ही आ समाया हो ॥ 5 ॥ सूर्य निकलने के तीन मुहूर्त पीछे उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में कुटुम्ब की सुहागिन और पुत्रवती स्त्रियाँ पार्वती का सिंगार करने लगीं ॥ 6 ॥ पहले दूब के अंकुरों और सरसों के दानों से उनका सिंगार किया गया फिर उन्हें नाभि तक ऊँची रेशमी साड़ी पहनाकर उसमें एक बाण खोंस दिया गया। इस प्रकार तेल चढ़ाकर सिंगार करने की सारी सजावट पूरी कर दी गई ॥ 7 ॥ इस नये विवाह का बाण कमर में खोंसकर पार्वती ऐसे चमक उठीं जैसे शुक्ल पक्ष में सूर्य की किरण पाकर चन्द्रमा चमक उठता

बभौ च संपर्कमुपेत्य बाला नवेव दीक्षाविधिसायकेन ।
 करेण भानोर्बहुलावसाने संधुक्ष्यमाणेव शशाङ्करेखा ॥ 8 ॥
 तां लोधकल्केन हताङ्गतैलामाश्यानकालेयकृताङ्गरागाम् ।
 वासो वसानामभिषेकयोग्यं नार्यश्चतुष्काभिमुखं व्यनैषुः ॥ 9 ॥
 विन्यस्तवैदूर्यशिलातलेऽस्मिन्नाबद्धमुक्ताफलभक्तिचित्रे ।
 आवर्जिताष्टापदकुम्भतोयैः सतूर्यमेनां स्नपयांबभूवुः ॥ 10 ॥
 सा मङ्गलस्नानविशुद्धगात्री गृहीतपत्युद्गमनीयवस्त्रा ।
 निर्वृत्तपर्जन्यजलाभिषेका प्रफुल्लकाशा वसुधोव रेजे ॥ 11 ॥
 तस्मात्प्रदेशाच्च वितानवन्तं युक्तं मणिस्तम्भचतुष्टयेन ।
 पतिव्रताभिः परिगृह्य निन्ये क्लृप्तासनं कौतुकवेदिमध्यम् ॥ 12 ॥
 तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीं क्षणं व्यलम्बन्त पुरानिषण्णाः ।
 भूतार्थशोभाह्वयमाणनेत्राः प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्यः ॥ 13 ॥
 धूपोष्मणा त्याजितमार्द्रभावं केशान्तमन्तःकुसुमं तदीयम् ।
 पर्याक्षिपत्काचिदुदारबन्धं दूर्वावता पाण्डुमधूकदाभ्ना ॥ 14 ॥
 विन्यस्तशुक्लागुरु चक्रुरङ्गं गोरोचनापत्रविभक्तमस्याः ।
 सा चक्रवाकाङ्कितसैकतायास्त्रिस्रोतसः कान्तिमतीत्य तस्थौ ॥ 15 ॥

है ॥ 8 ॥ तब सुहागिनी स्त्रियों ने उनके शरीर पर मले हुए तेल को लोध के चूर से सुखाया और कुछ-कुछ गीला सुगन्धित लेप लेकर उनका सारा शरीर रंग दिया। तब स्नान करने का कपड़ा पहनाकर वे उन्हें चौकोर स्नानघर में लिवा ले गईं ॥ 9 ॥ उस स्नान घर में नीलमणि की जो सुन्दर चौकी विछी हुई थी और जिसके चारों ओर रंग-बिरंगी मोतियों की मालाएँ सजी हुई थीं उस चौकी पर उन स्त्रियों ने उमा को ले जा बैठाया और गाते-बजाते हुए सोने के घड़ों के जल से पार्वती को नहला दिया ॥ 10 ॥ मंगल स्नान करने से पार्वती का शरीर और भी खिल उठा और जब उन्होंने विवाह के वस्त्र उठा पहने उस समय तो वे ऐसी लगने लगीं मानो गरजते हुए बादलों के जल से धुली हुई और काँस के फूलों से भरी हुई धरती शोभा दे रही हो ॥ 11 ॥ यों नहला-धुलाकर वे सुहागिनी पतिव्रताएँ पार्वती को सहारा देकर उस एकान्त भवन में ले गईं जहाँ मणियों के खंभों पर तने हुए चंदोवेके बीच में बनी हुई मंगल-वेदी पर सजा हुआ आसन बिछा हुआ था ॥ 12 ॥ वहाँ उन्होंने पार्वती को पूरब की ओर मुँह करके ले जा बैठाया। सिंगार की सब वस्तुएँ पास होने पर भी वे सब पार्वती की स्वाभाविक शोभा पर ही इतनी लट्टू हो गई कि कुछ देरतक तो वे सुधबुध भूलकर उन्हीं की ओर एकटक निहारती रह गईं ॥ 13 ॥ फिर, किसी ने तो अगर चन्दन के धुएँ से उनके बाल सुखाकर बालों में फूल गुँथे और फिर दूब में पिरोई हुई पीले महुएके फूलों की माला उनके जूड़े में उठा लपेटी ॥ 14 ॥ किसी ने उजले अगर से बनाया हुआ अंगराग उनके शरीरपर उठा मला और फिर अत्यन्त लाल गोरोचनसे उनका शरीर चीत दिया। उस समय पार्वती इतनी सुन्दर लग रही थीं कि उनके रूप के आगे उजली धारावाली उन गङ्गा की शोभा भी फीकी पड़ गई जिनके तीर-पर की बालू पर चकवे बैठे हों ॥ 15 ॥ भीरों से घिरा हुआ कमल और बादल के टुकड़ों में लिपटा हुआ चन्द्रमा कोई भी ऐसा न दिखाई दिया जो उनके गुँथी हुई चोटी वाले मुखकी सुन्दरता

लग्नद्विरेफं परिभूय पद्यं समेधलेखं शशिनश्च बिम्बम् ।
तदाननश्रीरलकैः प्रसिद्धैश्चिच्छेद सादृश्यकथाप्रसङ्गम् ॥ 16 ॥
कर्णार्पितो लोधकषायरूक्षो गोरोचनाक्षोपनितान्तगौरैः ।
तस्याः कपोले परभागलाभाद्वबन्ध चक्षूषि यवप्ररोहः ॥ 17 ॥
रेखाविभक्तः सुविभक्तगात्र्याः किञ्चिन्मधूच्छिष्टविमृष्टरागः ।
कामप्यभिख्यां स्फुरितैरपुष्यदासत्रलावण्यफलोऽधरोष्ठः ॥ 18 ॥
पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम् ।
सा रज्ययित्वा चरणौ कृताशीर्मात्येन तां निर्वचनं जघान ॥ 19 ॥
तस्याः सुजातोत्पलपत्रकान्ते प्रसाधिकाभिर्नयने निरीक्ष्य ।
न चक्षुषोः कान्तिविशेषबुद्ध्या कालाञ्जनं मङ्गलमित्युपात्तम् ॥ 20 ॥
सा संभवद्भिः कुसुमैर्लतेव ज्योतिर्भिरुद्यद्भिरिव त्रियामा ।
सरिद्धिहंगैरिव लीयमानैरामुच्यमानाभरणा चकासे ॥ 21 ॥
आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी ।
हरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेषः ॥ 22 ॥
अथाङ्गुलिभ्यां हरितालमार्द्रं माङ्गल्यमादाय मनःशिलां च ।
कर्णावसक्तामलदन्तपत्रां माता तदीयं मुखामुन्नमय ॥ 23 ॥

के आगे ठहर सके ॥ 16 ॥ उनके कानों पर लटकते हुए जौके अंकुर और लोध से पुते तथा गोरोचन लगे हुए गोरे-गोरे गाल इतने सुन्दर लगने लगे कि सबकी आँखें बरबस उनकी ओर खिंची चली जाती थीं ॥ 17 ॥ सुडौल अंगोवाली पार्वती का जो निचला ओंठ ऊपर के ओंठ से एक रेखा से अलग हो गया था, जिस पर लगी हुई चिकनाई ने उस पर और भी लाली चढ़ाकर उसे सुन्दर बना दिया था और जिसकी सुन्दरता बस फलने ही वाली थी वह ओंठ जब फड़कने लगता था उस समय की उसकी शोभा कही नहीं जा सकती ॥ 18 ॥ पार्वती के चरणों में जब सखी महावर लगा चुकी तब उसने ठिठोली करते हुए आशीर्वाद दिया कि भगवान् करे तुम इन पैरों से अपने पति के सिरकी चन्द्रकला को जा छुओ। इस पर पार्वती मुँह से तो कुछ नहीं बोली पर एक माला उठाकर उसकी पीठ पर उन्होंने तड़ाक से जड़ ही दी ॥ 19 ॥ सिंगार करने वाली स्त्री ने पार्वती को नीले कमल-जैसी बड़ी और काली काली आँखों में जो काजल लगाया वह इसलिये नहीं कि आँजन से उनकी आँखों की कुछ शोभा बढ़ेगी वरन् इसीलिये कि वह भी मंगल सिंगार का एक चलन था ॥ 20 ॥ जैसे फूल जाने पर लताएँ स्वयं भी खिल उठती हैं या जैसे तारे निकलने पर रात जगमगाने लगती है या जैसे रंगबिरंगे पक्षियों के आ जाने से नदी सुहावनी लगने लगती है, वैसे ही मणियों, मोतियों और सोने के गहने पहना दिए जाने पर पार्वती की स्वाभाविक सुन्दरता और भी निखर उठी ॥ 21 ॥ अपने इस सजीले रूप को दर्पण में देखकर पार्वती भी ठक रह गई और महादेव से मिलने के लिये बहुत ही मचल उठी क्योंकि स्त्रियों का सिंगार तभी सफल होता है जब पति भी उसे देख ले ॥ 22 ॥ इतने में पार्वती की माता मेना वहाँ चली आई और उन्होंने उमा का वह मुखड़ा ऊपर उठा देखा जिसके दोनों ओर कानों में सुन्दर कर्णफूल झूल रहे थे। उस रूप को देखकर वे भी आनन्द से इतनी बेसुध हो गई कि उन्होंने किसी-किसी प्रकार अपनी दो उँगलियों से गीली हरताल और मंगल-सूचक मैनसिल लेकर अपनी पुत्री के माथे पर विवाह का तिलक

उमास्तनोद्भेदमनु प्रवृद्धो मनोरथो यः प्रथमं बभूव ।
 तमेव मेना दुहितुः कथंचिद्विवाहदीक्षातिलकं चकार ॥ 24 ॥
 बबन्ध चासाकुलदृष्टिरस्याः स्थानान्तरे कल्पितसंनिवेशम् ।
 धात्र्यङ्गुलीभिः प्रतिसार्यमाणमुर्णामयं कौतुकहस्तसूत्रम् ॥ 25 ॥
 क्षीरोदवेलेव सफेनपुञ्जा पर्याप्तचन्द्रेव शरत्त्रियामा ।
 नवं नवक्षौमनिवासिनी सा भूयो बभौ दर्पणमादधाना ॥ 26 ॥
 तामर्चिताभ्यः कुलदेवताभ्यः कुलप्रतिष्ठां प्रणमय्य माता ।
 अकारयत्कारयितव्यदक्षा क्रमेण पादग्रहणं सतीनाम् ॥ 27 ॥
 अखण्डितं प्रेम लभस्व पत्युरित्युच्यते ताभिरुमा स्म नम्रा ।
 तथा तु तस्यार्द्धशरीरभाजा पश्चात्कृताः स्निग्धजनाशिषोऽपि ॥ 28 ॥
 इच्छाविभूत्योरनुरूपमद्विस्तस्याः कृती कृत्यमशेषयित्वा ।
 सभ्यः सभायां सुहृदास्थितायां तस्थौ वृषाङ्गागमनप्रतीक्षः ॥ 29 ॥
 तावद्भवस्यापि कुबेरशैले तत्पूर्वपाणिग्रहणानुरूपम् ।
 प्रसाधनं मातृभिरादृताभिर्न्यस्तं पुरस्तात्पुरशासनस्य ॥ 30 ॥
 तद्गौरवान्मङ्गलमण्डनश्रीः सा पस्पृशो केवलमीश्वरेण ।
 स एव वेषः परिणेतुरिष्टं भावान्तरं तस्य विभोः प्रपेदे ॥ 31 ॥
 बभूव भस्मैव सिताङ्गरागः कपालमेवामलशेखरश्रीः ।
 उपान्तभागेषु च रोचनाङ्गो गजाजिनस्यैव दुकूलभावः ॥ 32 ॥

उठा लगाया । उस समय ऐसा जान पड़ा मानो मेना ने यह तिलक लगाकर, पार्वती के मन में जो जवानी आने के समय से ही शंकर को पाने की साध बराबर रही थी वह पूरी कर दी ॥ 23-24 ॥ आनन्द के मारे मेना की आँखों में आँसू भर आए, इसलिये ठीक-ठीक देख न सकने के कारण उन्होंने पार्वती के हाथ में जहाँ कँगना बाँधना था वहाँ न बाँध कर कहीं और उठा बाँधा । पर उनकी धाय ने अपनी उँगलियों से उनके कंगन को ठीक स्थानपर खिसका सजाया ॥ 25 ॥ नई साड़ी पहने हुए और हाथ में नया दर्पण लिए हुए वे ऐसी लगने लगीं मानो वे क्षीरसमुद्र की उतराते हुए फेनवाली कोई लहर हों ॥ 26 ॥ विवाह के सब रीति-रङ्ग जानने वाली मेना ने अपने कुल का यश बढ़ाने वाली पार्वती से सब कुल के देवताओं को प्रणाम करवाया और फिर सब सखियों के पैर छुआए ॥ 27 ॥ लाज से सकुचाती हुई पार्वती को सब सखियों ने आशीर्वाद दिया कि तुम्हारे पति सदा तुम्हें तन-मन से प्यार किया करें । पर पार्वती ने तो भगवान् शंकर के आधे शरीर में जो बसकर अपनी सखियों के सारे ही आशीर्वाद छोटे कर दिए ॥ 28 ॥ हिमालय ने भी बड़े उत्साह से जी खोलकर पार्वती के विवाह के समय के प्रारम्भिक काम निपटा दिए और फिर सभामें बैठकर भगवान् शंकर के आने की बाट जोहने लगे । उसी समय कैलास पर्वत पर भी सप्तमाताओं ने आकर शृंगार की वे सब सामग्रियाँ महादेव के आगे ला रखीं जो उनके पहले विवाह में काम आई थीं ॥ 29-30 ॥ शंकर ने माताओं का आदर करने के लिये वे मङ्गल शृङ्गारकी सामग्रियाँ छू भर दीं, पहनी नहीं, क्योंकि उन्होंने अपनी शक्ति से झट अपने वेश को ही विवाह के योग्य बना लिया था ॥ 31 ॥ उनके शरीरपर पुती हुई चिता की भस्म उजला अंगराग बन गई, कपाल ही सुन्दर

शङ्खान्तरद्योति विलोचनं यदन्तर्निविष्टामलपिङ्गतारम् ।
 सांनिध्यपक्षे हरितालमय्यास्तदेव जातं तिलकक्रियायाः ॥ 33 ॥
 यथाप्रदेशं भुजगेश्वराणां करिष्यतामाभरणान्तरत्नम् ।
 शरीरमात्रं विकृतिं प्रपेदे तथैव तस्थुः फणरत्नशोभाः ॥ 34 ॥
 दिवापि निष्ठचूतमरीचिभासा बाल्यादनाविष्कृतलाञ्छनेन ।
 चन्द्रेण नित्यं प्रतिभिन्नमौलेश्चूडामणेः किं ग्रहणं हरस्य ॥ 35 ॥
 इत्यद्भुतैकप्रभवः प्रभावात्प्रसिद्धनेपथ्यविधोर्विधाता ।
 आत्मानमासन्नगणोपनीते खड्गे निष्कृतिप्रतिमं ददर्श ॥ 36 ॥
 स गोपतिं नन्दिभुजावलम्बी शार्दूलचरमान्तरितोरुपृष्ठम् ।
 तद्भक्तिसंक्षिप्तबृहत्प्रमाणमारुह्य कैलासमिव प्रतस्थे ॥ 37 ॥
 तं मातरो देवमनुब्रज्यन्त्यः स्ववाहनक्षोभचलावतंसाः ।
 मुखैः प्रभामण्डलरेणुगौरेः पद्माकरं चक्रुरिवान्तरीक्षम् ॥ 38 ॥
 तासां च पश्चात्कनकप्रभाणां काली कपालाभरणा चकासे ।
 बलाकिनी नीलपयोदराजी दूरं पुरःक्षिप्तशतह्रदेव ॥ 39 ॥
 ततो गणैः शूलभृतः पुरोगैरुदीरितो मङ्गलतूर्यघोषः ।
 विमानशृङ्गाण्यवगाहमानः शशंस सेवावसरं सुरेभ्यः ॥ 40 ॥

मुकुट वन गया और हाथी का चर्म ही ऐसा रेशमी वस्त्र बन गया जिसके आँचलों पर गोरोंचन से हंस के जोड़े छपे हुए थे ॥ 32 ॥ उनके माथे में पीली पुतली-वाला जो चमकता हुआ नेत्र था वही हरताल का सुन्दर तिलक बन गया ॥ 33 ॥ उनके शरीर के बहुत से अंगों में जो साँप लिपटे हुए थे वे भी उन-उन अंगों के आभूषण बन गए पर उनके फणों पर जो मणि थे वे ज्यों के त्यों चमकते रह गए ॥ 34 ॥ उनके सिरपर सदा रहने वाला जो चन्द्रमा दिन में भी अपनी किरणें चमकाता रहता था और जिसके छोटे होने के कारण उसमें का कलंक भी दिखाई नहीं देता था वह चन्द्रमा तो उनका चूड़ामणि बन ही चुका था इसलिये वे दूसरा चूड़ामणि लेकर करते ही क्या ॥ 35 ॥ अपनी शक्ति से संसार के सभी सिंगार बनाने-वाले और सदा अनोखा ही काम करने वाले महादेव ने अपने पास बैठे हुए गण से खड्ग मँगवाकर उसी में अपना मुँह उठा देखा ॥ 36 ॥ फिर नन्दी के हाथ का सहारा लेकर वे अपने उस लम्बे-चोड़े डील-डौलवाले बैल की पीठ पर जा चढ़े जिस पर सिंह की खाल बिछी हुई थी और जो ऐसा दिखाई पड़ता था मानो शंकर में भक्ति रखने के कारण कैलास ने ही अपने बड़े आकार को छोटा बना लिया हो ॥ 37 ॥ अपने तेजोमंडल की चमक से गोरे-गोरे मुखवाली सुन्दर माताएँ जब अपने-अपने रथों पर बैठकर पीछे-पीछे चलने लगीं तब रथों के चलने के झटके से उनके कर्णफूल भी हिलने लग रहे थे। उस समय उनके मुँह आकाश में ऐसे लग रहे थे मानो किसी तालाब में बहुत से कमल खिले हुए हों ॥ 38 ॥ सोने के समान चमकने वाली उन माताओं के पीछे-पीछे उजले खप्परों से देह सजाए आती हुई भद्रकालीजी ऐसी लग रही थीं मानों बगुलों से भरी और दूर तक चमकती हुई बिजली वाली नीले बादलों की घटा उठी चली आ रही हो ॥ 39 ॥ महादेव के आगे-आगे चलने वाले गणों ने जो मङ्गल तुरही बजाई उसकी ध्वनि से देवताओं के विमानों की छतरियों में गूँजकर यह सूचना दे दी कि अब सबको अपने-अपने काम में जुट जाना चाहिए ॥ 40 ॥ झट सूर्य ने विश्वकर्मा के हाथ का बनाया हुआ नया छत्र लेकर

उपाददे तस्य सहस्ररश्मिस्त्वष्ट्रा नवं निर्मितमातपत्रम् ।
 स तद्दुकूलादविदूरमौलिर्बभौ पतद्गङ्गा इवोत्तमाङ्गे ॥ 41 ॥
 मूर्ते च गङ्गायमुने तदानीं सचामरे देवमसेविषाताम् ।
 समुद्रगारूपविपर्ययेऽपि सहस्रपाते इव लक्ष्यमाणे ॥ 42 ॥
 तमभ्यगच्छत्प्रथमो विधाता श्रीवत्सलक्ष्मा पुरुषश्च साक्षात् ।
 जयेति वाचा महिमानमस्य संवर्द्धयन्तौ हविषेव वह्निम् ॥ 43 ॥
 एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा समान्यमेषां प्रथमावरत्वम् ।
 विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचिद्वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ ॥ 44 ॥
 तं लोकपालाः पुरुहूतमुख्याः श्रीलक्षणोत्सर्गविनीतवेषाः ।
 दृष्टिप्रदाने कृतनन्दिसंज्ञास्तद्वर्षिताः प्राञ्जलयः प्रणेमुः ॥ 45 ॥
 कम्पेन मूर्ध्नः शतपत्रपोनिं वाचा हरिं वृत्रहणं स्मितेन ।
 आलोकमात्रेण सुरानशेषान्सम्भावयामास यथाप्रधानम् ॥ 46 ॥
 तस्मै जयाशीः ससृजे पुरस्तात्सप्तर्षिभिस्तान्स्मितपूर्वमाह ।
 विवाहयज्ञे विततेऽत्र यूयमध्वर्यवः पूर्ववृता मयेति ॥ 47 ॥
 विश्वावसुप्राग्रहरैः प्रवीणैः संगीयमानत्रिपुरावदानः ।
 अध्वानमध्वान्तविकारलङ्घ्यस्ततार ताराधिपखण्डधारी ॥ 48 ॥
 खे खेलगामी तमुवाह बाहः सशब्दचामीकरकिंकिणीकः ।
 तटाभिधातादिव लग्नपङ्के धन्वन्मुहुः प्रोतघने विषाणे ॥ 49 ॥

शिवपर उठा लगाया। उस समय शिव के सिरके पास छत्रसे लटकता हुआ कपड़ा ऐसा जान पड़ता था मानो गंगा की धारा ही बरसी पड़ रही हो ॥ 41 ॥ गंगा और यमुना भी अपना नदी का रूप छोड़कर महादेवपर जो चँवर डुलाने लगीं वे ऐसे लगते थे मानो हंस उड़े जा रहे हों ॥ 42 ॥ जैसे आग में घी डालने से उसकी लपट बढ़ जाती है वैसे ही ब्रह्मा और विष्णु ने आकर उनकी जयजयकार करके उनकी महिमा और भी बढ़ा दी ॥ 43 ॥ सच्ची बात तो यह है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश एक ही मूर्ति के तीन रूप हो गये हैं जो आपस में बराबर एक दूसरे से छोटे-बड़े होते ही रहते हैं। कभी विष्णु से शिव बढ़ जाते हैं, कभी ब्रह्मा इन दोनों से बढ़ जाते हैं और कभी ये दोनों ही ब्रह्मा से बढ़ जाते हैं ॥ 44 ॥ वहाँ अपना राजसी ठाट छोड़कर और विनीत वेश बनाकर इन्द्र आदि लोक-पाल जब उनके दर्शन करने को आए और नन्दीने संकेत से इन लोगों को महादेव के दर्शन कराए तब इन सब लोगों ने हाथ जोड़कर शिव को प्रणाम किया ॥ 45 ॥ शिव ने ब्रह्मा की ओर सिर हिलाकर, विष्णु से कुशल-मंगल पूछकर, इन्द्रकी ओर मुसकराकर और जितने देवता थे उन सबको केवल देखकर जो जैसा बड़ा-छोटा था वैसे ही उन सबका आदर किया ॥ 46 ॥ फिर जब सप्तऋषियों ने 'जय' कहकर उन्हें आशीर्वाद दिया, तब शिव उनसे बोले कि इस बड़े भारी विवाह के काम में पुरोहित का काम मैंने पहले ही आपके लिये निश्चय कर छोड़ा है ॥ 47 ॥ सब विकारों से परे रहने वाले महादेव जब चलने लगे उस समय उनसे आगे-आगे विस्वावसु आदि प्रसिद्ध गंधर्व गवैये, त्रिपुरासुरपर उनके विजय पाने के गीत गाते चल रहे थे ॥ 48 ॥ बड़ी मीठी चाल से चलने वाला और अपने गले में लटकी हुई सोने की छोटी-छोटी घंटियों को टनटनाता हुआ वह बैल उन बादलों को अपने सींगों से बार-बार झुँकारता हुआ चला जा रहा था जो उसके सींगों में इस प्रकार आ लगे थे मानो नदी के तीर पर के टीले ढाते समय की कीचड़ आ लगी हो ॥ 49 ॥

स प्रापदप्राप्तपराभियोगं नगेन्द्रगुप्तं नगरं मुहूर्तात् ।
 पुरोविलग्नैर्हरदृष्टिपातैः सुवर्णसूत्रैरिव कृष्यमाणः ॥ 50 ॥
 तस्योपकण्ठे धननीलकण्ठः कुतूहलादुन्मुखापौरदृष्टः ।
 स्वबाणचिह्नादवतीर्य मार्गादासन्नभूपृष्ठमियाय देवः ॥ 51 ॥
 तमृद्धिमद्वन्धुजनाधिरूढैर्वृन्दैर्गजानां गिरिचक्रवर्ती ।
 प्रत्युज्जगामागमनप्रतीतः प्रफुल्लवृक्षैः कटकैरिव स्वैः ॥ 52 ॥
 वर्गाबुभौ देवमहीधराणां द्वारे पुरस्योद्धृतितापिधाने ।
 समीयतुर्दूरविसर्पिघोषौ भिन्नैकसेतू पयसामिवौघौ ॥ 53 ॥
 हीमानभूद्भूमिधारो हरेण त्रैलोक्यबन्धेन कृतप्रणामः ।
 पूर्वं महिम्ना स हि तस्य दूरमावर्जितं नात्मशिरो विवेद ॥ 54 ॥
 स प्रीतियोगाद्वि कसन्मुखाश्रीर्जामातुरग्रे सरतामुपेत्य ।
 प्रावेशयन्मन्दिरमृद्धमेनमागुल्फकीर्णापणमार्गपुष्पम् ॥ 55 ॥
 तस्मिन्मुहूर्ते पुरसुन्दरीणामीशानसंदर्शनलालसानाम् ।
 प्रासादमालासु बभूवुरित्थं त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥ 56 ॥
 आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः ।
 बद्धं न संभावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः ॥ 57 ॥

किसी से भी कभी न हारने वाला वह वैल हिमालय के औषधिप्रस्थ नामवाले नगर में इस प्रकार क्षण भरमें जा पहुँचा मानो आगे पड़ती हुई शिव की चितवन की सोने की डोरियाँ ही उसे वहाँ तक खींचे ले गई हों ॥ 50 ॥ उसी नगर के पास बादलों के समान नीले कण्ठवाले महादेव उस आकाश से पृथ्वी पर जा उतरे जिसमें उन्होंने त्रिपुरासुर को मारते समय बहुत से बाण चलाकर बहुत से चिह्न बना दिए थे । वे जब उतर रहे थे तब वहाँ के निवासी बड़े चावसे ऊपर मुँह उठा उठाकर उन्हें देखे जा रहे थे ॥ 51 ॥ महादेव के आने से पर्वतराज हिमालय बड़े प्रसन्न हो उठे और अपने उन धनी कुटुम्बियों को हाथी पर चढ़ा-चढ़ाकर शिवकी अगवानी के लिये ले चले जो उसी प्रकार सुसज्जित थे जैसे हिमालय की ढाल पर फूलों से लदे हुए वृक्ष ॥ 52 ॥ इन दोनों ही दलों का हल्ला बहुत दूरतक सुनाई पड़ रहा था और वे जब हिमालय की राजधानी के खुले फाटकों वाले द्वार पर आकर मिले तो ऐसे लगने लगे मानो बाँध टूट जाने पर जल की दो धाराएँ ही आपस में आ मिली हों ॥ 53 ॥ शंकर ने जब पहले हिमालयराज को प्रणाम किया तो वह लाज से गड़ गया, पर उसे यह नहीं पता चला कि उनके प्रणाम करने से पहले ही उनकी महिमा से उसका सिर झुक चुका था ॥ 54 ॥ इस सुन्दर सम्बन्ध से हिमालय राज बड़े ही प्रसन्न थे । आगे-आगे चलकर वे अपने जामाता को मणियों और वेलबूटों से सजे हुए उस मार्ग से ले गए जहाँ इतने फूल बिछे पड़े थे कि उन फूलों में पैर धँस-धँस जा रहे थे ॥ 55 ॥ उसी समय महादेव के दर्शन के लिये चावसे भरी हुई नगर की सब सुन्दरियाँ अपना-अपना सब काम-धाम छोड़कर अपने भवनों की छतों पर आ खड़ी हुई ॥ 56 ॥ एक स्त्री ज्यों ही खिड़की की ओर हड़बड़ी में भागी कि उसके जूड़े में बँधी हुई फूल की माला खुल गई और वह उसे अपने हाथ से पकड़े हुए ही लपक चली, उसे बाँधने की सुध न रही ॥ 57 ॥ एक स्त्री अपने पैर में महावर लगवा रही थी कि उसे अधूरा छोड़कर ही वह झटपट खिड़की के पास तक अपने महावर लगे पैरों की छाप छापती हुई दौड़ गई

प्रसाधिकाऽऽलम्बितमग्नपादमाक्षिप्य काचिद्द्ववरागमेव ।
 उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्क्षां पदवीं ततान ॥ 58 ॥
 विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन संभाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा ।
 तथैव वातायनसन्निकर्णं ययौ शलाकामपरा वहन्ती ॥ 59 ॥
 जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम् ।
 नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः ॥ 60 ॥
 अर्द्धाचिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती ।
 कस्याश्चिदासीदशना तदानीमङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशोणा ॥ 61 ॥
 तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम् ।
 विलोलनेत्रम्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रापत्राभरणा इवासन् ॥ 62 ॥
 तावत्पताकाकुलमिन्दुमौलिरुत्तोरणं राजपथं प्रपेदे ।
 प्रासादशृङ्गाणि दिवापि कुर्वन्ज्योत्स्नाभिषेकद्विगुणद्युतीनि ॥ 63 ॥
 तमेकदृश्यं नयनैः पिबन्त्यो नायौ न जग्मुर्विषयान्तराणि ।
 तथाहि शोषेन्द्रियवृत्तिरासां सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा ॥ 64 ॥
 स्थाने तपो दुश्चरमेतदर्धमपर्ण्या पेलवयापि तप्तम् ।
 यादास्यमप्यस्यलभेत नारीसास्यात्कृतार्थाकिमुताङ्कशय्याम् ॥ 65 ॥

॥ 58 ॥ एक स्त्री अपनी दाई आँख में तो काजल लगा चुकी थी पर बाई आँख में बिना लगाए हाथ में सलाई लिए हुए ही खिड़की की ओर लपक पड़ी ॥ 59 ॥ एक स्त्री ज्योंही खिड़की की जालियों में जाकर झाँकने लगी कि उसकी कमर का नाड़ा खुल गया और बिना बाँधे ही उसे हाथ से पकड़े जो खड़ी हुई तो उसके हाथ के कंगन के रत्न की चमक से उसकी नाभि चमक उठी ॥ 60 ॥ एक स्त्री जब डोरे में मणि पिरो रही थी तभी शंकर की बारात का हल्ला सुनकर जब वह हड़बड़ाकर उठी और खिड़की की ओर दौड़ी तब खिड़की तक पहुँचते मणियों के दाने तो सब बिखर गए, बस पैर के अँगूठे में बँधा हुआ डोरा भर ज्योंका त्यों फँसा बच रहा ॥ 61 ॥ उन चावभरे-नैन-वालियों के आसवसे महकते और चंचल नेत्रवाले मुख खिड़कियों में झाँकते हुए ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानों खिड़कियों की जालियों में भीरों से भरे कमल ला टाँगे गए हों ॥ 62 ॥ इतने में ही उन चूने से पुते हुए उजले भवनों के कँगूरों को अपने सिर के चन्द्रमा की चाँदनी से और भी अधिक चमकाते हुए महादेव ने ध्वजाओं और पताकाओं से सजे हुए वहाँ के राजमार्ग में प्रवेश किया ॥ 63 ॥ नगरकी सारी स्त्रियाँ अपनी सब सुधबुध भूलकर इस प्रकार एकटक देखती हुई उन्हें अपने नेत्रों से पीए चली जा रहीं थीं मानो उनकी सब इन्द्रियाँ आँखों में ही आ समाई हों ॥ 64 ॥ वे कहने लगीं- ऐसे वर के लिये सुकुमार पार्वती का तप करना ठीक ही था क्योंकि ये तो ऐसे सुन्दर हैं कि जो स्त्री इनकी दासी भी हो जाय वही धन्य हो जाय फिर जो इनकी गोद में सेज पर जा लेते उसका तो कहना ही क्या है ॥ 65 ॥ सुन्दरता में एक दूसरे से बढ़े-चढ़े हुए इस जोड़े का यदि विवाह न होता तो हम यही समझते कि ब्रह्माने इन दोनों का रूप गढ़ने में जो परिश्रम किया वह सब अकारण ही

परस्परेण स्पृहणीयशोभं न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत् ।
 अस्मिन्द्वये रूपविधानयत्नः पत्युः प्रजानां विफलोऽभविष्यत् ॥ 66 ॥
 न नूनमारूढरुगा शरीरमनेन दग्धां कुसुमायुधस्य ।
 द्रीडादमुं देवमुदीक्ष्य मन्ये संन्यस्तदेहः स्वयमेव कामः ॥ 67 ॥
 अनेन संबन्धमुपेत्य दिष्ट्या मनोरथप्रार्थितमीश्वरेण ।
 मूर्खानमालि क्षितिधारणोच्चमुच्चैस्तरं वक्ष्यति शैलराजः ॥ 68 ॥
 इत्योषधिप्रस्थविलासिनीनां शृण्वन्कथाः श्रोत्रसुखास्त्रिनेत्रः ।
 केयूरचूर्णीकृतलाजमुष्टिं हिमालयस्यालयमाससाद ॥ 69 ॥
 तत्रावतीर्याच्युतदत्तहस्तः शरद्घनाद्दीधितिमानिवोक्षणः ।
 क्रान्तानि पूर्वं कमलासनेन कक्ष्यान्तराण्यदिपतेविवेश ॥ 70 ॥
 तमन्वगिन्द्रप्रमुखाश्च देवाः सप्तर्षिपूर्वाः परमर्णयश्च ।
 गणाश्च गिर्यालयमभ्यगच्छन्प्रशस्तमारम्भमिवोत्तमाधाः ॥ 71 ॥
 तत्रेश्वरो विष्टरभाग्यधावत्सरत्नमर्ध्यं मधुमच्च गव्यम् ।
 नवे दुकूले च नगोपनीतं प्रत्यग्रहीत्सर्वममन्त्रवर्जम् ॥ 72 ॥
 दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधदक्षैः ।
 वेलासमीपं स्फुटफेनराजिर्नैरुदन्वानिव चन्द्रपादैः ॥ 73 ॥
 तथा प्रवृद्धाननचन्द्रकान्त्या प्रफुल्लचक्षुः कुमुदः कुमार्याः ।
 प्रसन्नचेतः सलिलः शिवोऽभूत्संसृज्यमानः शरदेव लोकः ॥ 74 ॥

था ॥ 66 ॥ अब हमारी समझ में आ रहा है कि कामदेव को इन्होंने क्रोध करके भस्म नहीं किया वरन् कामदेव स्वयं ही इनकी सुन्दरता देखकर टीस के मारे जल मरा ॥ 67 ॥ देखो सखी ! पर्वतेश्वर हिमालय सचमुच बड़े भागवान् हैं। एक तो पृथ्वी को धारण किए रहने से यों ही उनका सिर ऊँचा था, उसपर अपने मनचाहे वर भगवान् शंकर से सम्बन्ध करके उनका सिर और भी ऊँचा हो जायेगा ॥ 68 ॥ ओषधिप्रस्थकी स्त्रियों की ऐसी मीठी मीठी बातें सुनते हुए हिमालय राज के उस घर में महादेव जा पहुँचे जहाँ इतनी भीड़ थी कि कुमारियों ने आचार दिखलाने के लिये जो खीलें बिखेरी थीं वे भी वहाँ के लोगों के भुजबन्धों की रगड़ से ऊपर ही ऊपर पिसकर चूर-चूर हो गई ॥ 69 ॥ वहाँ पहुँचने पर विष्णु ने हाथ का सहारा देकर महादेव को इस प्रकार बैल से उतार लिया मानो शरद् के उजले बादल से सूर्य को उतार खड़ा किया गया हो। वहाँ से वे हिमालयराज के भवन की उस भीतर की कोठरी में जा पहुँचे जहाँ ब्रह्मा पहले से ही जमे बैठे हुए थे ॥ 70 ॥ उनके पीछे-पीछे इन्द्र आदि देवता, सप्तर्षियों के साथ सब महर्षि और महादेव के सभी गण हिमालय राज के घर में उसी प्रकार जा बैठे जैसे किसी काम के ठीक-ठीक प्रारम्भ हो जाने पर उसके पीछे और भी बहुत बड़े-बड़े काम सधते चले जाते हैं ॥ 71 ॥ वहाँ आसन पर महादेव को बैठकर हिमालय ने रत्न, अर्ध्य, दही और नये वस्त्र जो कुछ लाकर दिए वे सब उन्होंने मंत्रों के साथ (स्नेह से) ले लिए ॥ 72 ॥ रेशमी वस्त्र पहने हुए महादेव को रनिवास के सेवक उसी प्रकार पार्वती के पास ले गए जैसे फेन वाले समुद्र को चन्द्रमा की किरणें तटतक ले जा पहुँचाती हैं ॥ 73 ॥ जैसे शरद् के आने पर लोग प्रसन्न हो उठते हैं वैसे ही अत्यन्त चकमते हुए चन्द्रमा के समान मुखवाली पार्वती को देखकर शंकर के नेत्र रूपी कुमुद भी खिल उठे और उनका मन भी जल के समान

तयोः समापत्तिषु कातराणि किञ्चिद्व्यवस्थापितसंहतानि ।
 ह्रीयन्त्रणां तत्क्षणमन्वभूवन्नन्योन्यलोलानि विलोचनानि ॥ 75 ॥
 तस्याः करं शैलगुरूपनीतं जग्राह ताम्राङ्गुलिमष्टमूर्तिः ।
 उमातनौ गूढतनोः स्मरस्य तच्छङ्किनः पूर्वमिव प्ररोहम् ॥ 76 ॥
 रोमोद्गमः प्रादुरभूदुमायाः स्विन्नाङ्गुलिः पुङ्गवकेतुरासीत् ।
 वृत्तिस्तयोः पाणिसमागमेन समं विभक्तव मनोभवस्य ॥ 77 ॥
 प्रयुक्तपाणिग्रहणं यदन्यद्वधूवरं पुष्यति कान्तिमग्याम् ।
 सान्निध्ययोगादनयोस्तदानीं किं कथ्यते श्रीरुभयस्य तस्य ॥ 78 ॥
 प्रदक्षिणप्रकमणात्कृशानोरुदक्षिणस्तन्मिथुनं चकासे ।
 मेरोरुपान्तेष्विव वर्तमानमन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम् ॥ 79 ॥
 तौ दंपती त्रिः परिणीय वह्निमन्योन्यसंस्पर्शनिमीलिताशौ ।
 स कारयामास वधू पुरोधास्तस्मिन्समिद्धार्चिषि लाजमोक्षम् ॥ 80 ॥
 सा लाजधूमाञ्जलिमिष्टगन्धं गुरुपदेशाद्ददनं निनाय ।
 कपोलसंसर्पिशिखः स तस्या मुहूर्तकर्णोत्पलतां प्रपेदे ॥ 81 ॥
 तदीषदाद्गुरुणगण्डले खमुच्छ्वासिकालाञ्जनरागमक्ष्णोः ।
 वधूमुखं क्लान्तयवावर्तसमाचारधूमग्रहणाद्बभूव ॥ 82 ॥

निर्मल हो उठा ॥ 74 ॥ पार्वती और शंकर के नेत्र थोड़ी देर के लिये मिल मिलकर फिर हट-हट जाते थे और इस प्रकार एक दूसरे को चाह-भरी चितवन से देख-देखकर उनके हृदय में फिर बड़ी लज्जा भी आ जाती थी कि हमें देखकर दूसरे लोग क्या कहते होंगे ॥ 75 ॥ तब हिमालय राज के पुरोहितने पार्वती का हाथ आगे बढ़ाकर शंकरके हाथ पर उठा रक्खा । पार्वती का वह लाल-लाल उँगलियों वाला हाथ ऐसा लगता था मानों महादेव के डरसे छिपे हुए कामदेव के अंकुर पहले-पहल आ फूट निकले हों ॥ 76 ॥ हाथ पकड़ते ही पार्वती को जो रोमांच हो आया और महादेव की उँगलियों से पसीना छूटने लगा तो ऐसा जान पड़ा मानो उन दोनों का हाथ मिलाकर कामदेव ने दोनों को एक साथ अपने वश में कर लिया हो ॥ 77 ॥ जो पार्वती और शंकर संसार भर में विवाह के समय स्मरण किए जाने पर बहू और वरों की शोभा बढ़ाते रहते हैं उन्हीं पार्वती और शंकर का जब स्वयं ही विवाह हो रहा हो तब तो उनकी शोभा का कहना ही क्या है ॥ 78 ॥ ईधन से जमाई हुई अग्निका फेरा देते समय पार्वती और शंकर इस प्रकार शोभित हुए मानों रात और दिन दोनों मिलकर सुमेरु पर्वत का फेरा लगा रहे हों ॥ 79 ॥ एक दूसरे को छूते चलने के कारण पार्वती और शंकर आँखें मूँदकर मन ही मन आनन्द लेते हुए अग्निका फेरा लगा रहे थे । जब तीन बार जलती हुई अग्नि के फेरे हो रहे थे तब पुरोहित भी अग्निमें धान की खीलों का हवन करते चल रहे थे ॥ 80 ॥ पार्वती ने पुरोहित के कहने से खील के होम से उठे हुए सुगन्धित धुएँ को अपने हाथकी अँजली से उठा सूँघा जो उनके गालों के पास पहुँचकर क्षणभर के लिये उनके कानों का कर्णफूल बन जाता था ॥ 81 ॥ उस हवन के गरम धुएँ से पार्वती के गाल कुछ लाल हो चले, मुँह पर पसीने की बूँदें आ छाई, आँखों का काला आँजन इधर-उधर फैल गया कानों पर धरे हुए जवे भी धुंधले

वधूँ द्विजः प्राह तवैष वत्से वह्निर्विवाहं प्रति कर्मसाक्षी ।
 शिवेन भर्त्रा सह धर्मचर्या कार्या त्वया मुक्तविचारयेति ॥ 83 ॥
 आलोचनान्तं श्रवणे वितत्य पीतं गुरोस्तद्वचनं भवान्या ।
 निदाघकालोल्बणतापयेव माहेन्द्रमग्भः प्रथमं पृथिव्या ॥ 84 ॥
 ध्रुवेण भर्त्रा ध्रुवदर्शनाय प्रयुज्यमाना प्रियदर्शनेन ।
 सा दृष्ट इत्याननमुन्नमय्य ह्रीसन्नकण्ठी कथमप्युवाच ॥ 85 ॥
 इत्थं विधिज्ञेन पुरोहितेन प्रयुक्तपाणिग्रहणोपचारौ ।
 प्रणोमतुस्तौ पितरौ प्रजानां पद्मासनस्थाय पितामहाय ॥ 86 ॥
 वधूर्विधात्रा प्रतिनन्दते स्म कल्याणि वीरप्रसवा भवेति ।
 वाचस्पतिः सन्नपिसोऽष्टमूर्तो त्वाशास्यचिन्तास्तिमितोबभूव ॥ 87 ॥
 क्लृप्तोपचारां चतुरस्त्रवेदीं तावेत्य पश्चात्कनकासनस्थौ ।
 जायापती लौकिकमेगणीयमाद्वाक्षतारोपणमन्वभूताम् ॥ 88 ॥
 पत्रान्तलग्नैर्जलबिन्दुजालैराकृष्टमुक्ताफलजालशोभम् ।
 तयोरुपर्यायतनालदंडमाधत्त लक्ष्मीः कमलातपत्रम् ॥ 89 ॥
 द्विधा प्रयुक्तेन च वाङ्मयेन सरस्वती तन्मिथुनं नुनाव ।
 संस्कारपूतेन वरं वरेण्यं वधूँ सुखाग्राह्यनिबन्धनेन ॥ 90 ॥
 तौ सन्धिसु व्यञ्जितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम् ।
 अपश्यतामप्सरसां मुहूर्तं प्रयोगमाद्यं ललिताङ्गहारम् ॥ 91 ॥

पड़ गए ॥ 82 ॥ तब पुरोहित ने पार्वती से कहा- 'वत्से! यह अग्नि तुम्हारे विवाह का साक्षी है। आज से तुम सब प्रकार की शंका छोड़कर सदा शिवजी के साथ धर्म के काम करती रहना' ॥ 83 ॥ आँखों तक अपने कान फैलाकर पार्वती ने पुरोहित की बात वैसे ही आदर से सुनी जैसे गर्मी से तपी हुई पृथ्वी, वर्षा की पहली बूँदें ग्रहण किया करती हैं ॥ 84 ॥ जब शंकर ने कहा कि 'ध्रुव की ओर देखो' तब पार्वती ने ऊपर मुँह उठाकर बहुत लजाते हुए किसी-किसी प्रकार इतना भर कहा- 'जी हाँ, देख लिया' ॥ 85 ॥ इस प्रकार जब कर्मकाण्ड जानने वाले पुरोहित ने संसार के माता-पिता पार्वती और शंकर का सारा विवाह-कर्म पूरा करा दिया तब कमल के आसन पर बैठे हुए ब्रह्मा को दोनों ने प्रणाम किया ॥ 86 ॥ ब्रह्माने बहू को तो यह आशीर्वाद दिया कि 'कल्याणी! तुम वीर पुत्र की माता बनो' किन्तु वाणी के स्वामी होते हुए भी उनकी यह समझ में नहीं आ पाया कि सब इच्छाओं से परे रहने वाले शंकर को हम क्या आशीर्वाद दें ॥ 87 ॥ वहाँ से महादेव और पार्वती, फूलों से सजे हुए चौकमें ले जाए जाकर सोने के आसन पर बैठा दिए गए। तब उनके ऊपर लौकिक विधि से लोगों ने गीले और पीले अक्षत छिड़के ॥ 88 ॥ उस समय स्वयं लक्ष्मी तो पत्तों के कोरों पर लटकती हुई और मोती के समान चमकती हुई जल की बूँदों से भरे हुए लम्बी डंठल वाले कमल का छत्र उनके ऊपर लगाकर आ खड़ी हुई ॥ 89 ॥ और सरस्वती भी संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में शिव और पार्वती की प्रशंसा करने लगीं। संस्कृत में तो उन्होंने प्रशंसनीय वर की और सरलता से समझ में आने वाली प्राकृत भाषा में उन्होंने वधू की प्रशंसा की ॥ 90 ॥ तब पार्वती और शंकर ने शृङ्गार आदि रसों वाला और सुन्दर हाव-भाव से भरा और पाँवों संधियों में अलग-अलग भाषा-शैलियों से सजा हुआ थोड़ी देर-तक अप्सराओं का नाटक देखा ॥ 91 ॥ नाटक

देवास्तदन्ते हरमूढभार्यं किरीटबद्धाञ्जलयो निपत्य ।
 शापावसाने प्रतिपत्नीपूर्त्तैर्ययाचिरे पञ्चशरस्य सेवाम् ॥ 92 ॥
 तसयानुमेने भगवान्विमन्युव्यपिरमात्मन्यपि सायकानाम् ।
 कालप्रयुक्ता खालु कार्यविद्विज्ज्ञापना भर्तृषु सिद्धिमेति ॥ 93 ॥
 अथ बिबुधगणैस्तानिन्दुमौलिविसृज्य क्षितिधरपतिकन्यामाददानः करेण ।
 कनककलशयुक्तं भक्तिशोभासनाथ क्षितिविरचितशय्यं कौतुकागारमागात् ॥ 94 ॥
 नवपरिणयलज्जाभूषणां तत्र गौरीं वदनमपहरन्तीं तत्कृताक्षेपमीशः ।
 अपि शयनसखीभ्यो दत्तवाचं कथंचित् प्रमथमुखविकारैहसियामास गूढम् ॥ 95 ॥
 ॥ इति महाकवि श्री कालिदास कुतौ रघुवंशे महाकाव्ये
 उमापरिणयो नाम सप्तमः सर्गः ॥



समाप्त हो चुकने पर इन्द्र आदि देवता, विवाहित शंकर के पास आए और अपने किरीट बाँधे हुए सिर पर हाथ जोड़कर यह प्रार्थना की कि आपका विवाह हो जाने से आपका दिया हुआ शाप भी समाप्त हो गया, इसलिये आप आज्ञा दें तो कामदेव फिर से जी उठे और आपकी सेवा करें ॥ 92 ॥ प्रसन्न मनवाले शंकर ने कहा- 'अच्छी बात है, कामदेव से जा कहो कि वह जितने चाहे उतने जी भरकर हमपर अपने बाण चलावे।' ठीक ही है जो चतुर सेवक यह जानते हैं कि स्वामी से कौनसी बात कब कहनी चाहिए, वे स्वामी से जो प्रार्थना करते हैं वह अवश्य पूरी होती ही है ॥ 93 ॥ तब शंकर ने इन्द्र आदि सब देवताओं को तो विदा किया और पार्वती का हाथ अपने हाथ में लेकर उस विनोद-भवन जा पहुँचे जहाँ पहले से सेज भी बिछी हुई थी, फूलों की मालाएँ भी सजी हुई थीं और एक ओर सोने का कलश भी भरा धरा था ॥ 94 ॥ नया विवाह होने से लजीली, महादेव के हाथों से आँचल खींचे जाने पर अपना मुँह छिपाने वाली और सखियों की चुटकियों का ज्यों-त्यों उत्तर देने वाली पार्वती के आगे आकर जब प्रमथ आदि गण अनेक प्रकार के मुँह बनाने लग रहे थे, तब पार्वती भी मन ही मन हँसने लग रही थीं ॥ 95 ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदास के रचे कुमारसंभव महाकाव्य में पार्वती का
 विवाह-वर्णन नामका सातवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥



॥ अष्टमः सर्गः ॥

पाणिपीडनविधोरनन्तरं शैलराजदुहितुर्हरं प्रति ।
 भावसाध्वसपरिग्रहादभूत्कामदोहदमनोहरं वपुः ॥ 1 ॥
 व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
 सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥ 2 ॥
 कैतवेन शयिते कुतूहलात्पार्वती प्रतिमुखं निपातितम् ।
 चक्षरुन्मिषति सस्मितं प्रिये विद्युताहतमिव न्यमीलयत् ॥ 3 ॥
 नाभिदेशनिहितः सकम्पया शंकरस्य रुरुधे तया करः ।
 तद्दुकूलमथ चाभवत्स्वयं दूरमुच्छ्वसितनीविबन्धानम् ॥ 4 ॥
 एवमालि निगृहीतसाध्वसं शंकरो रहसि सेव्यतामिति ।
 सा सखीभिरुपदिष्टमाकुला नास्मरत्प्रमुखवर्तिनि प्रिये ॥ 5 ॥
 अप्यवस्तुनि कथाप्रवृत्तये प्रश्नतत्परमनङ्गशासनम् ।
 वीक्षितेन परिवीक्ष्य पार्वती मूर्धकम्पमयमुत्तरं ददौ ॥ 6 ॥
 शूलिनः करतलद्वयेन सा संनिरुध्य नयने हतांशुका ।
 तस्य पश्यति ललाटलोचने मोघयत्नविधुरा रहस्यभूत् ॥ 7 ॥

आठवाँ सर्ग

विवाह हो जाने पर पार्वती मन से तो यही चाहती थीं कि शिव से दूर न रहूँ पर साथ ही कुछ झिझक भी बनी हुई थी। महादेव तो उनके इस प्रेम और झिझक से भरे सुन्दर शरीर को ही देख-देखकर उनपर लड़ू हुए जा रहे थे ॥ 1 ॥ वे इतनी लजाती थीं कि शिव उनसे कुछ पूछते भी थे तो वे बोलती न थीं, यदि वे इनका आँचल थामने लगते तो उठकर भागने लगती थीं और साथ सोते समय भी वे दूसरी ओर मुँह फेरकर ही सोती थीं, फिर भी शिव को इन बातों में भी कम आनन्द नहीं मिलता था ॥ 2 ॥ जब कभी सोने का बहाना करके शिव आँख मूँदकर लेट जाते तब पार्वती उनकी ओर घूमकर टकटकी बाँधे देखती रहा करतीं। इतने में ही शिव मुस्कराकर आँखें खोल देते और वे चट इस फुर्ती से अपनी आँखें मीच लेती मानो बिजली की चकाचौंध से आँखें मिच गई हों ॥ 3 ॥ जब शंकर अपने हाथ उनकी नाभि की ओर बढ़ाते तब पार्वती काँपती हुई उनका हाथ थाम लेतीं, पर न जाने कैसे उनकी साड़ी की गाँठ ढीली पड़कर अपने आप खुल जाती ॥ 4 ॥ पार्वती की सखियाँ उन्हें सिखाया करतीं कि देखो सखी! तुम डरना मत और जैसे-जैसे हम सिखाती हैं वैसे ही वैसे अकेले में शंकर के पास रहना। पर शिव के सामने पहुँचते ही वे इतनी घबरा जातीं कि सखियों की सारी सीख उनके ध्यान से उतर जाती ॥ 5 ॥ जब कभी बात-बात में शिव ऊट-पटाँग बातें छेड़कर उनसे उत्तर माँगते तो वे अपने मुँह से तो कुछ न कहतीं, बस अपनी आँखें ऊपर उठाकर और सिर घुमाकर यह जता देतीं कि मैं आपकी सारी बातें मानती हूँ ॥ 6 ॥ जब कभी अकेले में शिव उनके कपड़े खींचकर उन्हें उधाड़ देते तो वे अपनी दोनों हथेलियों से शिव के दोनों नेत्र बन्द कर लेती जिससे वे देख न पावें, पर शिव भी ऐसे गुरु थे कि झट अपना तीसरा नेत्र खोलकर देखने लगते और वे हार मानकर बैठ जातीं ॥ 7 ॥ महादेव जब उन्हें चूमना चाहते तो वे अपना ओंठ ही न बढ़ातीं और जब वे उन्हें कसकर छाती से लगाना चाहते तो वे अपने हाथ-तक

चुम्बनेष्वधारदानवर्जितं खिन्नहस्तसदयोपगूहनम् ।
 क्लिष्टमन्मथमपि प्रियं प्रभोर्दुर्लभप्रतिकृतं वधूरतम् ॥ 8 ॥
 यन्मुखाग्रहणमक्षताधरं दानमद्वयपदं नखास्य यत् ।
 यद्रतं च सदयं प्रियस्य तत्पार्वती विषहते स्म नेतरत् ॥ 9 ॥
 रात्रिवृत्तमनुयोक्तुमुद्यतं सा प्रभातसमये सखीजनम् ।
 नाकरोदपकृतूहलं द्विया शंसितुं तु हृदयेन तत्त्वरे ॥ 10 ॥
 दर्पणे च परिभोगदर्शिनी पृष्ठतः प्रणयिनो निषेदुषः ।
 प्रेक्ष्य बिम्बमुपबिम्बमात्मनः कानि कानि न चकार लज्जया ॥ 11 ॥
 नीलकण्ठपरिभुक्तयौवना तां विलोक्य जननी समाश्वसत् ।
 भर्तृवल्लभतया हि मानसीं मातुरस्यति शुचं वधूजनः ॥ 12 ॥
 वासराणि कतिचित्कथञ्चन स्थाणुना रतमकारि चानया ।
 ज्ञातमन्मथरसा शनैः शनैः सा मुभोच रतिदुःखशीलताम् ॥ 13 ॥
 सस्वजे प्रियमुरोनिपीडनं प्रार्थितं मुखामनेन नाहरत् ।
 मेखलाप्रणयलोलतां गतं हस्तमस्य शिथिलं रुरोध सा ॥ 14 ॥
 भावसूचितमदृष्टबिप्रियं दाढ्यभावक्षणवियोगकातरम् ।
 कैश्चिदेव दिवसैस्तथा तयोः प्रेमगूढमितरेतराश्रयम् ॥ 15 ॥

न उठातीं । इस प्रकार बाधाओं के साथ अधूरा रस पाकर भी शिव ने वधू के साथ जो सम्भोग किया उसमें उन्हें आनन्द ही मिला ॥ 8 ॥ धीरे-धीरे पार्वती की झिझक भी मिटने लगी और इसलिये जब कभी महादेव उन्हें चूमते समय काटते नहीं थे, चूमते हुए घाव नहीं करते थे और बहुत धीरे-धीरे सम्भोग करते थे तो ये आनाकानी नहीं करती थीं । पर जहाँ वे इससे आगे बढ़ते कि वे घबरा उठतीं ॥ 9 ॥ पार्वती इतनी लजीली थीं कि जब उनकी सखियाँ उनसे रात की बातें पूछने लगतीं तो वे चाहते हुए भी लज्जा के मारे उनसे बता नहीं पाती थीं ॥ 10 ॥ जब वे हाथ में दर्पण लेकर उसमें अपने शरीर पर बने हुए संभोग के चिह्न बैठी देखतीं और उस समय कहीं पीछे से चुपचाप शिव पहुँच जाते तो उनकी परछाहीं दर्पण में पड़ते ही वे ऐसी लजा जाती कि झोंप के मारे क्या-क्या नहीं करने लगती थीं ॥ 11 ॥ मेना को यह देखकर बड़ा सन्तोष हुआ कि महादेव हमारी कन्या के यौवन का पूरा उपभोग कर रहे हैं, क्योंकि जब माता यह देख लेती है कि मेरी कन्या का पति कन्या को प्यार करता है तब उसका जी हल्का हो जाता है ॥ 12 ॥ कुछ दिनों तक तो महादेव ज्यों-त्यों करके पार्वती से संभोग करते रहे पर धीरे-धीरे जब पार्वती को भी संभोग रस मिलने लगा तब उनकी भी झिझक धीरे-धीरे जाती रही ॥ 13 ॥ और इसलिये जब महादेव उन्हें कसकर छाती से लगाते तो वे भी उन्हें दोनों हाथों से कस लेतीं, जब वे चूमने को मुँह बढ़ाते तो वे अपना मुँह हटाती नहीं थीं और जब शंकर उनकी तगड़ी पकड़कर खींचते तो ये आधे मन से ही उनका हाथ रोकतीं ॥ 14 ॥ थोड़े ही दिनों में दोनों की चाल-ढाल से वह जान पड़ने लगा कि अब ये बहुत घुल-मिल गये हैं क्योंकि दोनों ही एक दूसरे की बड़ाई करते अघाते नहीं थे और क्षण भरके लिये भी एक दूसरे से अलग हुए कि बस तड़पने लगते ॥ 15 ॥ जैसे समुद्र के पास जाकर और मिलकर गंगा वहाँ से लौटने का नाम-तक नहीं लेतीं और समुद्र भी उन्हीं के मुख का जल ले-लेकर बराबर उनसे

तं यथात्मसदृशं वरं वधूरन्वरज्यत वरस्तद्यैव ताम् ।
 सागरादनपगा हि जाह्नवी सोऽपि तन्मुखरसैकवृत्तिभाक् ॥ 16 ॥
 शिष्यतां निधुवनोपदेशिनः शंकरस्य रहसि प्रपन्नया ।
 शिक्षितं युवतिनैपूणं तया यत्तदेव गुरुदक्षिणीकृतम् ॥ 17 ॥
 दष्टमुक्तधरोष्ठमम्बिका वेदनाविधुतहस्तपल्लवा ।
 शीतलेन निरवापयत्क्षणं मौलिचन्द्रशकलेन शूलिनः ॥ 18 ॥
 चुम्बनादलकचूर्णदूषितं शंकरोऽपि नयनं ललाटजम् ।
 उच्छ्वसत्कमलगन्धाय ददौ पार्वतीवदनगन्धवाहिन ॥ 19 ॥
 एवमिन्द्रियसुखास्य वर्त्मनः सेवनादनुगृहीतमन्मथाः ।
 शौलराजभवने सहोभया मासमात्रमवसदृषध्वजः ॥ 20 ॥
 सोऽनुमान्य हिमवन्तमात्मभूरात्मजाविरहदुःखाखेदितम् ।
 तत्र तत्र विजहार संपतन्नप्रमेयगतिना ककुच्चता ॥ 21 ॥
 मेरुमेत्य मरुदाशुगोक्षकः पार्वतीस्तनपुरस्कृतान्कृती ।
 हेमपल्लवविभाङ्गस्ततरानन्वभूत्सुरतमर्दनक्षमान् ॥ 22 ॥
 पद्मनाभचरणाङ्किताश्मसु प्राप्तवत्स्वमृतविपुष्पो नवाः ।
 मन्दरस्य कटकेषु चावसत्पार्वतीवदनपद्मण्डपदः ॥ 23 ॥

प्रेम किया करता है वैसे ही पार्वती भी जैसे-जैसे अपने प्रियतम का मन बहलातीं वैसे-वैसे महादेव भी उनके मन की ही बातें पूरी किया करते थे ॥ 16 ॥ पार्वती ने शंकर से अकेले में जो काम-कला की शिक्षा ली थी उस कला के अनुसार उन्होंने महादेव के साथ नई नवेलियों की चटक-मटक से भरा जो संभोग किया वही मानो कला सीखने की गुरुदक्षिणा थी ॥ 17 ॥ जब कभी पार्वती का ओंठ महादेव काट लेते तो वे पीड़ा से अपने हाथ झटकने लगतीं और फिर तत्काल महादेव के सिर पर बसे हुए चन्द्रमा पर ज्यों ही ओंठ रखतीं त्यों ही उन्हें ऐसी ठंडक मिलती कि उनकी सब पीड़ा जाती रहती ॥ 18 ॥ इसी प्रकार चुम्बन लेते समय जब पार्वती के केशों का चूर्ण झड़कर शिव के तीसरे नेत्र में पड़ता तो वह नेत्र दुखने लगता। तब खिले हुए कमल की गंध वाले पार्वती के मुँह की फूँक पाने के लिये वे अपना नेत्र उठाकर उनके मुँह तक पहुँचा देते ॥ 19 ॥ इस प्रकार जवानी का रस लेकर महादेव ने कामदेव पर बड़ी कृपा की और हिमालयराज के घर पर उमा के साथ रहते हुए उन्होंने एक महीना बिता दिया ॥ 20 ॥ तब इतने दिन रहने पर उन्होंने हिमालय से जाने की आज्ञा माँगी। कन्या को अपने से अलग करने में हिमालय राज को दुःख तो बहुत हुआ पर उसने विदा दे ही दी। वहाँ से चलकर बेरोक-टोक चलने वाले अपने नन्दी पर चढ़कर वे जहाँ-तहाँ घूम-घूमकर मस्ती से विहार करने लगे ॥ 21 ॥ पवन के समान वेग से चलने वाले उस बैल पर चढ़कर और आगे पार्वती का स्तन पकड़े हुए बैठकर वे मेरु पर्वत पर जा पहुँचे और वहाँ सुनहरे पत्तों से बिछी हुई शय्या पर उन्होंने एक रात संभोग किया ॥ 22 ॥ पार्वती के मुख-कमल का रस लेने वाले महादेव वहाँ से चलकर मन्दराचल के उस ढाल पर जा पहुँचे जहाँ की चट्टानों पर विष्णु के चरणों की छाप और समुद्र-मंथन के समय उड़े हुए अमृत की बूँदों के नये-नये छीटे पड़े हुए थे ॥ 23 ॥ वहाँ से चलकर वे कुबेर की राजधानी कैलास पर जा पहुँचे जहाँ रावण की ललकार सुनकर पार्वती ऐसी डर गई कि अपनी कोमल भुजाएँ शिव के गले में डाल कर उनसे लिपट गई। वहाँ

रावणाध्वनितभीतया तया कण्ठसक्तदृढबाहुबन्धनः ।
 एकपिङ्गलगिरौ जगद्गुरुर्निर्विवेश विशदाः शशिप्रभाः ॥ 24 ॥
 तस्य जातु मलयस्थलीरते धूतचन्दनलतः प्रियाक्लमम् ।
 आचचाम सलवङ्गकेसरश्चाटुकार इव दक्षिणानिलः ॥ 25 ॥
 हेमतामरसताडितप्रिया तत्कराम्बुविनिमीलितेक्षणा ।
 सा व्यगाहत तरङ्गिणीमुमा मीनपङ्क्तिपुनरुक्तमेखला ॥ 26 ॥
 तां पुलोमतनयालकोचितैः पारिजातकुसुमैः प्रसाधयन् ।
 नन्दने चिरमयुग्मलोचनः सस्पृहं सुरवधूभिरीक्षितः ॥ 27 ॥
 इत्यभौममनुभूय शंकरः पार्थिवं च दयितासखः सुखम् ।
 लोहितायति कदाचिदातपे गन्धामादनवनं व्यगाहत ॥ 28 ॥
 तत्र काञ्चनशिलातलाश्रयो नेत्रगम्यमवलोक्य भास्करम् ।
 दक्षिणेतरभुजव्यपाश्रयां व्याजहार सहधर्मचारिणीम् ॥ 29 ॥
 पद्मकान्तिमरुणात्रिभागयोः संक्रमय्य तव नेत्रयोरिव ।
 संक्षये जगदिव प्रजेश्वरः संहरत्यहरसावहर्षतिः ॥ 30 ॥
 सीकरव्यतिकरं मरीचिभिर्दूरयत्यवनते विवस्वति ।
 इन्द्रचापपरिवेणशून्यतां निर्झरास्तव पितुर्ब्रजन्त्यमी ॥ 31 ॥

रहकर शंकर ने उजली चाँदनी का भरपूर आनन्द लूटा ॥ 24 ॥ वहाँ से घूमते-घामते वे मलय पर्वत पर जा पहुँचे जहाँ चन्दन की कोमल शाखाओं को हिलाने वाला और लौंग के फूलों की केसर उड़ाने वाला दक्षिण का वायु संभोग से थकी हुई पार्वती की थकावट उसी प्रकार दूर किए डाल रहा था जैसे कोई मीठी-मीठी बातें करके किसी थके हुए का मन बहला रहा हो ॥ 25 ॥ कभी पार्वती उस आकाश-गंगा में जाकर जल-विहार करने लगतीं जहाँ उनकी कमर के चारों ओर खेलने वाली मछलियाँ ऐसी लगती थीं मानो उन्होंने दूसरी करधनी उठा पहनी हो। वहाँ वे सोने के कमल तोड़-तोड़कर उनसे महादेव को थपथपाया करती और महादेव भी ऐसा पानी उछालते कि उनकी आँखें बन्द हो हो जातीं ॥ 26 ॥ वहाँ से नन्दनवन पहुँचकर महादेव परिजात के उन फूलों से बहुत दिनों तक पार्वती का शृङ्गार करते रहे जिनसे इन्द्राणी के केश सजाए जाते थे। वहाँ की अप्सराएँ भी महादेव की इस कला को बड़े चाव से बैठी निहारा करतीं ॥ 27 ॥ इस प्रकार अपनी प्राणप्यारी के साथ सांसारिक और स्वर्गीय दोनों प्रकार के सुख भोगते हुए वे एक दिन गन्ध-मादन पर्वत पर जा पहुँचे। उस समय सौँझ हो चली थी और सूर्य लाल-लाल दिखाई पड़ रहे थे। वहाँ पहुँचकर वे सोने की एक चट्टान पर जा बैठे। उस समय सूर्य का तेज इतना कम हो चला था कि उसकी ओर टकटकी लगाकर भी देखा जा सकता था। उसे देखकर अपनी बाईं भुजा के सहारे बैठी हुई अपनी धर्मपत्नी से महादेव बोले- ॥ 28-29 ॥ 'देखो प्यारी! इस समय सूर्य ऐसा दिखाई पड़ रहा है मानो यह तुम्हारी तिहाई लाल आँखों के समान सुन्दर कमलों की शोभा को लजाकर उसी प्रकार दिन को समेटे ले रहा है जैसे प्रलय के समय ब्रह्मा सारे संसार को समेट लेते हैं ॥ 30 ॥ देखो! ज्यों-ज्यों दिन ढलता जा रहा है, त्यों-त्यों सूर्य की किरणें हिमालय के झरनों की फुहारों से हटती जा रही हैं और उनके हटते ही उन फुहारों में बने हुए इन्द्र-धनुष भी छिपते जा रहे हैं ॥ 31 ॥ फूले हुए कमलों की केसर चोंच में उठाकर ये चकवी-चकवे एक दूसरे के कंठ से अलग होकर चिल्लाने लगे हैं

दष्टतामरसकेसरस्त्रजोः ऋन्दतोर्विपरिवृत्ताकण्ठयोः ।
 निध्नयोः सरसि चक्रवाकयोरल्पमन्तरमनल्पतां गतम् ॥ 32 ॥
 स्थानमहिकमपास्य दन्तिनः सल्लकीवितपभङ्गवासितम् ।
 आदिभातचरणाय गृह्यते वारि वारिरुहबद्धगदपदम् ॥ 33 ॥
 पश्य पश्चिमदिगन्तलम्बिना निर्मितं मितकधे विदस्वता ।
 लब्धया प्रतिमया सरोम्भसां तापनोयमिव सेतुबन्धनम् ॥ 34 ॥
 उत्तरन्ति विनिकीर्य पल्लवं गाढपङ्कमतिवाहितातपाः ।
 दंष्ट्रिणो वनवराहयूथपा दष्टभङ्गुरबिसाङ्कुरा इव ॥ 35 ॥
 एष वृक्षाशिखारे कृतास्पदो जातरूपरसगौरमण्डलम् ।
 हीयमानमहरत्ययातपं पीवरोरु पिबतीव बर्हिणः ॥ 36 ॥
 पूर्वभागतिमिरप्रवृत्तिभिव्यक्तपङ्कमिव जातमेकतः ।
 खं हतातपजलं विवस्वता भाति किञ्चिदिव शेषवत्सरः ॥ 37 ॥
 आविशद्विरुटजाङ्गणं मृगैर्मूलसेकसरसैश्च वृक्षकैः ।
 आश्रमाः प्रविशदग्रघोनवो बिभ्रति श्रियमुदीरिताग्नयः ॥ 38 ॥
 बद्धकोशमपि तिष्ठति क्षणं सावशेषविवरं कुशेशयम् ।
 षट्पदाय वसतिं ग्रहीष्यते प्रीतिपूर्वमिव दातुमन्तरम् ॥ 39 ॥

और तालाब का छोटा सा पाट भी इनके लिये बहुत बड़ा हो गया है ॥ 32 ॥ सलई के वृक्षों के टूटने से जहाँ गन्ध फैल गई है और जहाँ हाथी दिन में रहा करते थे उन स्थानों को अगले दिन तक के लिये छोड़-छोड़कर ये हाथी उस तालाब की ओर बढ़े चले जा रहे हैं जिसके कमलों में भौरे बन्द पड़े हैं ॥ 33 ॥ देखो मिठवोली! पश्चिम में लटके हुए सूर्य ने अपनी परछाई से ताल के जल में बड़ा सुनहरा पुल-सा बना डाला है ॥ 34 ॥ देखो! तालाबों को मथकर उनके गाढ़े कीचड़ में लोट-लोटकर दिनभर की गर्मी बिताने वाले ये जो बड़े-बड़े दाँतवाले लम्बे-चौड़े जंगली सूअर निकले चले आ रहे हैं, इनके दाँत ऐसे दिखाई दे रहे हैं मानो इनके जबड़ों में आए हुए कमलों की डंठलें अटकी हुई हों ॥ 35 ॥ सामने पेड़ की शाखा पर बैठे हुए मोर की पूँछ में बसी हुई गोल-गोल और साने के पानी के समान सुनहरी चन्द्रिकाओं को देखने से ऐसा लगता है मानो यह मोर बैठा हुआ साँझ की सब धूप पीए डाल रहा हो और उसी से दिन ढलता जा रहा हो ॥ 36 ॥ देखो! सूर्य ने आकाश से धूप का सारा पानी खींच लिया है इसलिये आकाश उस तालाब के समान दिखाई दे रहा है जिसमें पूर्व की ओर अँधेरा बढ़ जाने से यह जान पड़ता है कि उधर कीचड़ बचा रह गया है और पश्चिम में कुछ-कुछ उजाला रहने से ऐसा लग रहा है कि उधर अभी थोड़ा-थोड़ा पानी बचा रह गया है ॥ 37 ॥ पर्ण-कुटियों के आँगन में आते हुए हिरणों से, सींचे हुए जड़वाले हरे-भरे पौधों से, लौटकर आती हुई सुन्दर दुधारु गौओं से और हवन की जलती हुई अग्नि से ये आश्रम कैसे सुहावने लग रहे हैं ॥ 38 ॥ देखो! ये कमल इस समय मुँद चले, फिर भी पल भर के लिये अपना मुँह थोड़ा-सा इसलिये खुला रखे हुए हैं कि जो भौरे बाहर रह गए हों उन्हें हम प्रेम से भीतर बुला बसा लें ॥ 39 ॥ सुन्दरी ! बहुत दूर पर सूर्य की हिल्की-सी झलक दिखाई पड़ने से पश्चिम दिशा उस कन्या के समान लग रही है जिसने अपने माथे पर केसर से भरे बन्धुजीव के फूल का तिलक

दूरमग्नपरिमेयरश्मिना वारुणी दिगरुणेन भानुना ।
 भाति केसरवतेव मण्डिता बन्धुजीवतिलकेन कन्यका ॥ 40 ॥
 सामभिः सहचराः सहस्रशः स्यन्दनाश्वहृदयङ्गमस्वनैः ।
 भानुमग्नपरिकीर्णतेजसं संस्तुवन्ति किरणोष्मपायिनः ॥ 41 ॥
 सोऽयमानतशिरो धारैर्हयैः कर्णचामरविघट्टितेक्षणैः ।
 अस्तमेति युगभुग्नकेसरैः संनिधाय दिवसं महोदधौ ॥ 42 ॥
 खं प्रसुप्तमिव संस्थिते रवौ तेजसो महत ईदृशी गतिः ।
 तत्प्रकाशयति यावदुदगतं मीलनाय खलु तावतश्च्युतम् ॥ 43 ॥
 संध्ययाप्यनुगतं रवेर्वन्धमस्तशिखारे समर्पितम् ।
 येन पूर्वमुदये पुरस्कृता नानुयास्यति कथं तमापदि ॥ 44 ॥
 रक्तपीतकपिशः पयोमुचां कोटयः कुटिलकेशि भान्त्यमूः ।
 द्रक्ष्यसि त्वमिति संध्ययानया वर्तिकाभिरिव साधुमण्डिताः ॥ 45 ॥
 सिंहकेसरसटासु भूभृतां पल्लवप्रसविषु द्रुमेषु च ।
 पश्य धातुशिखरेषु भानुना संविभक्तमिव सांध्यमातपम् ॥ 46 ॥
 अद्रिराजतनये तपस्विनः पावनाम्बुविहिताञ्जलिक्रियाः ।
 ब्रह्म गूढमभिसंध्यमादृताः शुद्धये विधिविदो गृणन्त्यमी ॥ 47 ॥

लगा रक्खा हो ॥ 40 ॥ किरणों की गर्मी पी जाने वाले और सहस्रों के झुण्डमें रहने वाले बालखिल्य
 आदि ऋषि इस समय सूर्य के रथ के घोड़ों को भला लगने वाला सामवेद गा-गाकर उस सूर्य की स्तुति
 कर रहे हैं जिन्होंने इस समय अपना तेज अग्नि को सौंप दिया है ॥ 41 ॥ दिन को समुद्र में डुबोकर
 और अपने उन घोड़ों को लिये हुए सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहे हैं जिनके सिर नीचे की ओर उतरने
 के कारण झुके हुए हैं, जिनके कानों की चौरियाँ रह-रहकर आँखों पर झुली पड़ रही हैं और जिनके केसर
 (कंधे के बाल, अयाल) कन्धों पर रक्खे हुए जूए से लग-लगकर छितरा गए हैं ॥ 42 ॥ सूर्य के छिपते
 ही सारा आकाश सोया हुआ सा जान पड़ने लगा है। देखो! तेजस्वियों की कुछ बात ही ऐसी होती है
 कि जहाँ वे निकलते हैं वहीं उजाला हो जाता है और जहाँ वे छिपते हैं वहाँ अँधेरा छा जाता है ॥ 43 ॥
 देखों! पूजनीय सूर्य जब अस्ताचल को चले तब संध्या भी उनके पीछे-पीछे लगी चल दी, क्योंकि तड़के
 उदय के समय जो (संध्या) सूर्य के आगे-आगे रही वह सूर्य की विपत्ति के समय उनका साथ भला कैसे
 छोड़ दे सकती है ॥ 44 ॥ देखो घुँघराले बालों वाली! ये सामने लाल, पीले और भूरे बादलों के फैले हुए
 टुकड़े ऐसे लग रहे हैं मानो सन्ध्या ने उन्हें यह समझकर तूलिका से रँग दिया हो कि तुम उन्हें देखोगी
 ॥ 45 ॥ हिमालय के सिंहों के लाल-लाल केसरों को, नये-नये पत्तों से लदे हुए वृक्षों को और रंगीन धातु
 वाली हिमालय की चोंटियों को देखने से ऐसा जान पड़ रहा है मानो अस्त होते हुए सूर्य ने अपनी लाल
 धूप इन सबको उठा बाँटी हो ॥ 46 ॥ देखो पार्वती! सब क्रिया जानने वाले ये तपस्वी, पवित्र जल से
 सूर्य को सन्ध्या समय अर्घ्य देकर बड़ी श्रद्धा के साथ अपनी आत्म-शुद्धि के लिये रहस्य-भरे गायत्री मंत्र
 का जप कर रहे हैं ॥ 47 ॥ देखो मिठबोली! अब सौँझ हो चली है, इसलिये तुम भी मुझे थोड़ी देर की
 छुट्टी दे दो तो मैं भी सन्ध्या कर डालूँ। उतनी देर तक मनबहलाव करने में चतुर तुम्हारी सखियाँ तुम्हारा

तन्मुहूर्त्तमनुमन्तुमर्हसि प्रस्तुताय नियमाय मामपि ।
 त्वां विनोदनिपुणः सखीजनो वल्गुवादिनि विनोदयिष्यति ॥ 48 ॥
 निर्विभुज्य दशनच्छदं ततो वाचि भर्तुरवधीरणापरा ।
 शैलराजतनया समीपगामाललाप विजयामहेतुकम् ॥ 49 ॥
 ईश्वरोऽपि दिवसात्ययोचितं मन्त्रपूर्वमनुतस्थवान्विधिम् ।
 पार्वतीमवचनामसूयया प्रत्युपेत्य पुनराह सस्मितम् ॥ 50 ॥
 मुञ्च कोपमनिमित्तकोपने संध्यया प्रणमितोऽस्मि नान्यया ।
 किं न वेत्ति सहधर्मचारिणं चक्रवाकसमवृत्तिमात्मनः ॥ 51 ॥
 निर्मितेषु पितृषु स्वयंभुवा या तनुः सुतनु पूर्वमुज्जिता ।
 सेयमस्तमुदयं च सेवते तेन मानिनि ममात्र गौरवम् ॥ 52 ॥
 तामिमां तिमिरवद्विपीडितां शैलराजतनयेऽधुना स्थिताम् ।
 एकतस्तटतमालमालिनीं पश्य धातुरसनिम्नगामिव ॥ 53 ॥
 सान्ध्यमस्तमिवशेषमातपं रक्तलेखमपरा बिभर्ति दिक् ।
 सांपरायवसुधासशोणितं मण्डलाग्रमिव तिर्यगुज्जितम् ॥ 54 ॥
 यामिनीदिवससन्निधसम्भवे तेजसि व्यवहिते सुमेरुणा ।
 एतदन्धतमसं निरङ्कुशं दिक्षु दीर्घनयने विजृम्भते ॥ 55 ॥
 नोर्ध्वमीक्षणगतिर्न चाप्यधो नाभितो न पुरतो न पृष्ठतः ।
 लोक एष तिमिरौघवेष्टितो गर्भवास इव वर्तते निशि ॥ 56 ॥

मन बहलाती रहेंगी' ॥ 48 ॥ यह सुनकर पार्वती ने महादेव की बात अनसुनी-सी करके अपना ओठ विचका दिया और पास बैठी हुई विजया से उन्होंने इधर-उधर की बेसिर-पैर की बातें छेड़ दीं ॥ 49 ॥ मन्त्रों के साथ अपनी सन्ध्या पूरी करके महादेव फिर उन पार्वती के पास आ पहुँचे जो चुप्पी साधकर मुँह फुलाए रूठी बैठी थीं। महादेव उनसे मुस्कराते हुए कहने लगे ॥ 50 ॥ बिना बात के क्रोध करने वाली भामिनी! देखो, क्रोध छोड़ो। मैं सन्ध्या करने ही तो गया था। सदा तुम्हारे ही साथ धर्म का काम करने-वाले मुझको क्या तुम चकवे के जैसा सच्चा प्रेमी नहीं समझती? ॥ 51 ॥ देखो सुन्दरी! ब्रह्मा ने जब पितरों को रचा था उस समय उन्होंने अपनी एक छोटी सी मूर्ति बना छोड़ी थी। वह मूर्ति सूर्योदय और सूर्यास्त के समय सन्ध्या के रूप में पूजी जाती है। इसलिये रूठनेवाली! मैं भी सन्ध्या का इतना आदर किया करता हूँ ॥ 52 ॥ देखो पार्वती! एक ओर से बढ़ते हुए अन्धकार से घिरी हुई सन्ध्या इस समय ऐसी जान पड़ रही है मानो बहते हुए गेरू की धारा के किनारे तमाल के पेड़ आ जाए हों ॥ 53 ॥ और दूसरी ओर अस्त होने से बचे हुए सन्ध्या के प्रकाश की लाल रेखा पश्चिम में ऐसी दिखाई पड़ रही है मानो युद्ध-भूमि में टेढ़ा चलाया हुआ किसी का लहू भरा करवाल हो ॥ 54 ॥ देखो बड़ी-बड़ी आँखों वाली! सूर्यास्त हो जाने से रात और दिन का मेल करने वाली साँझ का सब प्रकाश सुमेरु पर्वत के बीच में आ जाने से जाता रहा और अब यह घोर अँधेरा मनमाने ढंग से चारों ओर फैलता चला जा रहा है ॥ 55 ॥ अँधेरा फैल जाने से न तो इस समय ऊपर कुछ दिखाई दे रहा है न आस-पास, न आगे-पीछे। इस रात के समय सारा संसार इस प्रकार अँधेरे से आ घिरा है जैसे गर्भ की झिल्ली में लिपटा हुआ बालक पड़ा हो ॥ 56 ॥ इस अँधेरे में, उजले और मैले, खड़े और चलते, सीधे और टेढ़े सब एक हो गए हैं।

शुद्धमाविलमवस्थितं चलं वक्रमार्जवदगुणान्वितं च यत् ।
 सर्वमेव तमसा समीकृतं धिङ्महत्त्वमसतां हृतान्तरम् ॥ 57 ॥
 नूनमुन्नमति यज्वनां पतिः शार्वरस्य तमसो निषिद्धये ।
 पुण्डरीकमुखि पूर्वदिङ्मुखं केतकैरिव रजोभिराहतम् ॥ 58 ॥
 मन्दरान्तरितमूर्तिना निशा लक्ष्यते शशभृता सतारका ।
 त्वं मया प्रियसखीसमागता श्रोष्यतेव वचनानि पृष्ठतः ॥ 59 ॥
 रुद्धनिर्गमनमादिनक्षयात्पूर्वदृष्टतनु चन्द्रकास्मितम् ।
 एतदुदगिरति चन्द्रमण्डलं दिग्रहस्यमिव रात्रिनोदितम् ॥ 60 ॥
 पश्य पक्वफलनीफलतिवशा बिम्बलाञ्छितवियत्सरोम्भसा ।
 विप्रकृष्टविवरं हिमांशुना चक्रवाकमिथुनं विडम्ब्यते ॥ 61 ॥
 शक्यमोष्णधिपतेर्नवोदयाः कर्णपूररचनाकृते तव ।
 अप्रगल्भयवसूचिको मलाश्लेत्तुमग्रनखासंपुटैः कराः ॥ 62 ॥
 अङ्गुलीभिरिव केशसंचयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः ।
 कुङ्कुमलीकृतसरोजलोचनं चम्बतीव रजनीमुखं शशी ॥ 63 ॥
 पश्य पार्वति नवेन्दुरश्मिभिर्भिन्नसान्द्रतिमिरं नभस्तलम् ।
 लक्ष्यते द्विरदभोगदूषितं सप्रसादमिव मानसं सरः ॥ 64 ॥

भाङ्ग में जाय ऐसे दुष्टों का राज, जहाँ भले-बुरे एक घाट उतारे जाते हों ॥ 57 ॥ देखो कमल के समान मुखवाली! पूर्व दिशा का अगला भाग कुछ-कुछ ऐसा उजला दिखाई पड़ रहा है मानो केतकी के फूल का पराग उधर आ फैला हो। इससे यह निश्चय जान पड़ रहा है कि रात का अँधेरा दूर करने के लिये चन्द्रमा निकले चले आ रहे हैं ॥ 58 ॥ यद्यपि अभी चन्द्रोदय नहीं हुआ है फिर भी आकाश में तारे निकल आए हैं इसलिये इस समय मन्दराचल के पीछे छिपे हुए चन्द्रमा इस तारों वाली रात में ठीक ऐसे लगते हैं जैसे मैं तुम्हारे पीछे आकर तुम लोगों की बात उस समय सुना करता हूँ जब तुम अपनी सखियों के साथ बैठकर बातें करती होती हो ॥ 59 ॥ जो चन्द्रमा दिनभर दिखाई नहीं देता था, वह इस समय निकला हुआ ऐसा लगता है मानो रात के कहने से यह चाँदनी के रूप में मुस्कराता हुआ पूर्व दिशा के सब भेद खोले दे रहा हो ॥ 60 ॥ देखो पार्वती! यह उदय होता हुआ चन्द्रमा इस समय ऐसा लाल-लाल दिखाई पड़ रहा है जैसे प्रियंगु का फल हो। इस समय आकाश में चन्द्रमा और तालाब के पानी में पड़ी हुई चन्द्रमा की परछाई दोनों ऐसे लगते हैं मानो रात होने से चकवी-चकवे का जोड़ा दूर-दूर जा पड़ा हो ॥ 61 ॥ चन्द्रमा की निखरती हुई नई किरणें नये और कोमल जौ के अँकुवों के समान कोमल सी जान पड़ रही हैं। तुम चाहो तो अपने कन-फूल बनाने के लिये अपने नखों की कोर से उन्हें ले सकती हो ॥ 62 ॥ इस समय कमल मुँद गए हैं और चाँदनी फैल जाने से अँधेरा मिट गया है, इसलिये इस समय चन्द्रमा ऐसा लग रहा है मानो वह अपनी किरणरूपी नायिका के मुँह पर फैले हुए अँधेरे-रूपी वालों को हटाकर उसका मुँह चूमे ले रहा हो और रात भी उस चुम्बन का रस लेने के लिये अपने कमल-रूपी नेत्र मुँदे बैठी हो ॥ 63 ॥ देखो पार्वती! उठे हुए चन्द्रमा की किरणों से घना अँधेरा मिट जाने पर आकाश ऐसा जान पड़ रहा है मानो हाथियों की जल-क्रीड़ा से गँदला किया हुआ मानसरोवर निर्मल हो चला हो ॥ 64 ॥ अब चन्द्रमा का मण्डल ललाई छोड़कर धीरे-धीरे उजला होने लगा है। ठीक भी

रक्तभावमपहाय चन्द्रमा जात एष परिशुद्धमण्डलः ।
 विक्रिया न खलु कालदोषजा निर्मलप्रकृतिषु स्थिरोदया ॥ 65 ॥
 उन्नतेषु शशिनः प्रभा स्थिता निम्नसंश्रयपरं निशातमः ।
 नूनमात्मसदृशी प्रकल्पिता वेधसा हि गुणदोषयोगतिः ॥ 66 ॥
 चन्द्र पादजनितप्रवृत्तिभिश्चन्द्रकान्तजलबिन्दुभिर्गिरिः ।
 मेखलातरुषु निद्रितानमून्बोधयत्यसमये शिखण्डिनः ॥ 67 ॥
 कल्पवृक्षशिखारेषु संप्रति प्रस्फुद्भिरिव पश्य सुन्दरि ।
 हारयष्टिरचनामिवांशुभिः कर्तुमागतकुतूहलः शशी ॥ 68 ॥
 उन्नतावनतभाववत्तया चन्द्रिका सतिमिरा गिरेरियम् ।
 भक्तिभिर्बहुविधाभिरर्पिता भाति भूतिरिव मत्तहस्तिनः ॥ 69 ॥
 एतदुच्छ्वसितपीतमैन्दवं वोढुमक्षममिव प्रभारसम् ।
 मुक्तपदपदविरावमञ्जसा भिद्यते कुमुदमानिबन्धनात् ॥ 70 ॥
 पश्य कल्पतरुलम्बि शुद्धया ज्योत्स्नया जनितरूपसंशयम् ।
 मारुते चलति चण्डिके बलाद्वच्यते विपरिवृत्तमंशुकम् ॥ 71 ॥
 शक्यमड गुलिभिरुत्थितैरधः शाखिना पतितपुष्पपेशलैः ।
 पत्रजर्जरशशिप्रभालवैरेभिरुत्कचयितुं तवालकान् ॥ 72 ॥

है, क्योंकि जो निर्मल स्वभाव वाले होते हैं उनमें यदि समय के फेर से कभी कोई दोष आ भी जाता है तो वह बहुत दिनों तक नहीं टिक पाता ॥ 65 ॥ पर्वतों की चोटियों पर तो चाँदनी फैल चुका है पर घाटियों और खड्डों में अभी अँधेरा बना हुआ है। सचमुच ब्रह्मा ने गुण और दोष की कुछ चाल ही ऐसी बनाई है कि गुण तो ऊँचे पर चढ़ा रहता है और दोष नीचे की ओर ढला चला जाता है ॥ 66 ॥ चन्द्रमा की किरणें पड़ने के कारण इस पर्वत के चन्द्रकान्त मणि की चट्टानों से जल की बूँदें टपकी पड़ रही हैं, इसलिये पर्वत की ढाल पर वृक्षों की छाया में सोए हुए मोर, इन बूँदों को वर्षा की बूँदें समझकर बिना वर्षा आए ही जाग खड़े हुए हैं ॥ 67 ॥ देखो सुन्दरी! इस समय कल्पवृक्ष की फुनगियों पर चमकती हुई किरणों को देखकर ऐसा जान पड़ रहा है मानो चन्द्रमा अपनी किरणों के डोरों से कल्पवृक्षों में चन्द्रहार बनाने आ पहुँचा हो ॥ 68 ॥ पहाड़ के ऊँचे-नीचे होने से कहीं तो चाँदनी पड़ रही है और कहीं अँधेरा है। जिससे यह ऐसा दिखाई पड़ रहा है मानो किसी मतवाले हाथी पर अनेक प्रकार की चित्रकारी कर दी गई हो ॥ 69 ॥ यह जो भौरों की गूँज से भरा हुआ कुमुद खिला पड़ रहा है, वह ऐसा लगता है मानो इसने जो साँस ले-लेकर भरपेट चाँदनी पी ली थी उसे पचा न सकने के कारण इसका पेट फट गया हो और यह कराह रहा हो ॥ 70 ॥ देखो चण्डिके! कल्पवृक्ष में लटके हुए कपड़ों और चन्द्रमा की निर्मल किरणों के एक से होने के कारण उनमें धोखा हो जाता है, पर वायु के चलने पर जब कपड़े हिलने लगते हैं तब अपने आप पता चल जाता है कि यह कपड़ा ही है ॥ 71 ॥ पत्तों के बीच से छनकर धरती पर पड़ने वाली चाँदनी ऐसी सुन्दर और सुहावनी दिखाई दे रही है जैसे पेड़ों से झड़े हुए फूल हों, इसलिये तुम चाहो तो फूलों के समान दिखाई पड़ने वाले इन चाँदनी के फूलों से ही तुम्हारे केश गूँथ दिए जायँ ॥ 72 ॥ जैसे नई-नई बहू पहली बार संभोग के डर से काँपती हुई अपने पति के पास जाती है वैसे ही सुन्दरी! ये टिमटिमाती हुई

एष चारुमुखि योग्यतारया युज्यते तरलबिम्बया शशी ।
 साध्वसादुपगतप्रकम्पया कन्ययेव नवदीक्षया वरः ॥ 73 ॥
 पाकभिन्नशरकाण्डगौरयो रुल्लसत्प्रकृतिजप्रसादयोः ।
 रोहतीव तव गण्डलेखयोश्चन्द्रबिम्बनिहिताक्षिणचन्द्रिका ॥ 74 ॥
 लोहितार्कमणिभाजनार्पितं कल्पवृक्षमधुविभ्रतिस्वयम् ।
 त्वामियं स्थितिमतीमुपागता गन्धमादनवनाधिदेवता ॥ 75 ॥
 आर्द्रकेसरसुगन्धि ते मुखां मत्तारक्तनयनं स्वभावतः ।
 अत्र लब्धवसतिर्गुणान्तरं किं विलासिनि मदः करिष्यति ॥ 76 ॥
 मान्यभक्तिरथवा सखीजनः सेव्यतामिदमनङ्गदीपनम् ।
 इत्युदारमभिधाय शंकरस्तामपाययत पानमम्बिकाम् ॥ 77 ॥
 पार्वतीं तदुपयोगसम्भवां विक्रियामपि सतां मनोहराम् ।
 अप्रतर्क्यविधियोगनिर्भितामाम्रतेव सहकारतां ययौ ॥ 78 ॥
 तत्क्षणं विपरिवर्तितद्वियोर्नेष्यतोः शयनमिन्द्ररागयोः ।
 सा बभूव वशवर्तिनी द्वयोः शूलिनः सुवदना मदस्य च ॥ 79 ॥
 घूर्णमाननयनं स्खलत्कथं स्वेदबिन्दुमदकारणस्मितम् ।
 आननेन न तु तावदीश्वरश्चक्षुषा चिरमुमामुखां पपौ ॥ 80 ॥
 तां विलम्बितपनीयमेखलामुद्वहञ्जघनभारदुर्वहाम् ।
 ध्यानसंभृतविभूतिरीश्वरः प्राविशन्मणिशिलागृहं रहः ॥ 81 ॥

तरैयें भी काँपती हुई चन्द्रमा के पास चली जा रही हैं ॥ 73 ॥ देखो सुन्दरी! तुम जो चन्द्रमा की ओर टकटकी लगाए देख रही हो तो पके हुए सरकड़े के समान गोरे-गोरे और स्वाभाविक प्रसन्नता से खिले हुए तुम्हारे गाल ऐसे लग रहे हैं मानो उन पर चाँदनी चढ़ी चली आ रही हो ॥ 74 ॥ लो, तुम्हें यहाँ बैठी देखकर लाल सूर्यकान्त मणि के प्याले में कल्पवृक्ष की मदिरा लिए हुए गन्धमादन की वनदेवी अपने आप तुम्हारी आवभगत करने आ पहुँची हैं ॥ 75 ॥ तुम्हारी मतवाली आँखें भी स्वभाव से ही लाल हैं इसलिये मदिरा पीने से भी तुम पर कोई विशेष प्रभाव तो पड़ेगा नहीं ॥ 76 ॥ और फिर सखियों का आग्रह टालना भी नहीं चाहिए, इसलिये लो, यह काम को उकसाने वाली मदिरा पी ही डालो। यह लुभावनी बात कहकर शंकर ने बड़ी उदारता से वह मदिरा पार्वती को उठा पिलाई ॥ 77 ॥ जैसे वसन्त में ब्रह्मा की कृपा से आम का पेड़ अधिक सुगन्धित होकर सहकार बन जाता है वैसे ही मदिरा पीने से पार्वती का रूप कुछ ऐसा हो गया कि उनकी स्वाभाविक सुन्दरता और भी बढ़ गई ॥ 78 ॥ मदिरा पीने से सुन्दर मुख वाली पार्वती ऐसी मद में चूर होकर शंकर की गोद में जा गिरीं कि उनकी लाज जाती रही, उनका काम बढ़ गया और उसी दशा में वे शयनागार में ले जा पहुँचाई गईं ॥ 79 ॥ पार्वती की आँखें चंचलता से नाचे जा रही थीं, मद के कारण मुँह से सीधी बोली नहीं निकल पा रही थी, मुँह पर पसीने की बूँद झलकी पड़ रही थीं और बिना बात के ही वे हँस-हँस पड़ रही थीं। पार्वती के उस मुख को भगवान् शंकर बिना चूमे ही बहुत देर तक अपनी आँख से उनकी सुन्दरता पीते रहे ॥ 80 ॥ सोने की करधनी लटकाकर अपने भारी नितम्बों के बोझ से धीरे-धीरे चलने वाली पार्वती के भगवान् शिव, मणिशिला के बने हुए उस सुनसान घर में जा पहुँचे जहाँ सुख की सभी सामग्रियाँ उनके सोचने भर से उत्पन्न हो गई थीं ॥ 81 ॥ जैसे रोहिणी

तत्र हंसधवलोत्तरच्छदं जाह्नवीपुलिनचारुदर्शनम् ।
 अध्यशेत शयनं प्रियासखः शारदाभ्रमिव रोहिणीपतिः ॥ 82 ॥
 क्लिष्टकेशमवलुप्तचन्दनं व्यत्ययार्पितनखां समत्सरम् ।
 तस्य तच्छिदुरमेखलागुणं पार्वतीरतमभूत्र तृप्तये ॥ 83 ॥
 केवलं प्रियतमादयालुना ज्योतिषामवनतासु पङ्क्तिषु ।
 तेन तत्प्रतिगृहीतवक्षसा नेत्रमीलनकुतूहलं कृतम् ॥ 84 ॥
 स व्यबुध्यत बुधस्तवोचितः शातकुम्भकमलाकरैः समम् ।
 मूर्च्छनापरिगृहीतकैशिकैः किन्नरैरुषसि गीतमङ्गलः ॥ 85 ॥
 तौ क्षणं शिथिलितोपगूहनौ दम्पती चलितमानसोर्मयः ।
 पद्मभेदपिशुनाः सिंशेविरे गन्धमादनवनान्तमारुताः ॥ 86 ॥
 ऊरुमूलनखामार्गराजिभिस्तत्क्षणं हतविलोचनो हरः ।
 वाससः प्रशिथिलस्य संयमं कुर्वतीं प्रियतमामवारयत् ॥ 87 ॥
 स प्रजागरकषायलोचनं गाढदन्तपरिताडिताधारम् ।
 आकुलालकमरैस्त रागवान्प्रेक्ष्य भिन्नतिलकं प्रियामुखम् ॥ 88 ॥
 तेन भिन्नविषमोत्तरच्छदं मध्यपिण्डितविसूत्रमेखलम् ।
 निर्मलेऽपिशयनं निशात्यये नोज्झितं चरणरागलाञ्छितम् ॥ 89 ॥

के पति चन्द्रमा उजले वादलों में विश्राम करते- से जान पड़ते हैं वैसे ही उस शयनागार में हंस के समान उजली चादर वाले और गंगातीर के समान मनोहर दिखाई देने वाले पलंग पर भगवान् शंकर अपनी प्रियतम के साथ जा लेते ॥ 82 ॥ दोनों एक दूसरे को हराने पर तुले हुए थे, इसलिये उमा और शंकर ने ऐसा संभोग किया कि दोनों के केश छितरा गए, चन्दन पुँछ गया, नख-चिह्न भी इधर के उधर हो गए और पार्वती की करधनी भी टूट गई फिर जो पार्वती के साथ संभोग करके शंकर का जी नहीं भरा ॥ 83 ॥ पर रात के पिछले पहर में जब तारे छिपने जा रहे थे तब केवल अपनी प्रियतमा पर दया करके शंकर ने उमा के हाथों में बँधे-बँधे ही सोने के लिये अपनी आँखें मूँद लीं ॥ 84 ॥ और जब सुनहरे कमल खिलने लगे और वीणा-धारी गन्धर्व अलाप भरते हुए शंकर का मंगलगान करने लगे, उस उपः-काल में देवताओं के पूज्य शिवजी भी जाग उठे ॥ 85 ॥ उस समय गन्धमादन वन का जो पवन मानसरोवर में लहरियाँ उठाता हुआ मन्द-मन्द बह रहा था और जिसे छू जाने भर से मानो कमल खिलते जा रहे थे, उस वायु का उन दोनों ने थोड़ी देर-तक अलग होकर आनन्द लिया ॥ 86 ॥ वायु के झोंके से कपड़ा हट जाने से पार्वती की नंगी जाँघों पर जो नखों के चिह्नों की पॉत दिखाई दे रही थी उसे एकटक होकर शिव देखते जा रहे थे और जब अपने उघड़े हुए कपड़े को पार्वती ठीक करने चलीं तब शिव ने झट उनका हाथ थाम लिया ॥ 87 ॥ रात भर जागने से पार्वती की आँखें लाल हो चली थीं, ओंठों पर शिव के दाँतों के घाव भरे पड़े थे, सँवारे हुए केश इधर-उधर छितरा गए थे और उनका तिलक भी पुँछ गया था। अपनी प्रियतमा का ऐसा सलोना मुख देखकर प्रेमी शंकर बड़े मगन हो उठे ॥ 88 ॥ जिस पलंग पर वे सोए थे उसकी चादर में सलवटें पड़ गई थीं, बिना डोरी वाली टूटी करधनी उस पर सिमटी हुई पड़ी थी और उस पर कहीं-कहीं पाँव के महावर की छाप भी जहाँ-तहाँ पड़ी हुई थी। वह पलंग महादेव को ऐसा प्यारा हो गया कि दिन निकल आने पर भी उन्होंने पलंग छोड़ने का नाम न लिया ॥ 89 ॥

स प्रियामुखरसं दिवानिशं हर्षवृद्धिजननं सिषेविषुः ।
 दर्शनप्रणयिनामदृश्यतामाजगाम विजयानिवेदनात् ॥ 90 ॥
 समदिवसनिशीथं सङ्गिनस्तत्र शंभोः शतमगमदृतूनां साग्रमेका निशेव ।
 न तु सुरतसुखेभ्यश्छिन्नतृष्णो बभूव ज्वलन इव समुद्रान्तर्गतस्तज्जलौघैः ॥ 91 ॥
 ।। इति महाकवि श्री कालिदास कृतो कुमारसम्भवे महाकाव्ये
 उमासुरतवर्णनं नामाष्टमः सर्गः ।।



सुख बढ़ाने वाले प्रियतमा के ओंठों का रस दिन-रात पीने की इच्छा करने वाले शिव की यह दशा हो गई कि यदि कोई उनके दर्शन को भी आता तो विजया से सूचना पाने पर भी वे दर्शन देने तक को बाहर न निकलते ॥ 90 ॥ भगवान् शंकर ने बराबर दिनरात पार्वती के साथ संभोग करते हुए सैकड़ों वर्ष ऐसे बिता दिए मानो केवल एक ही रात बीती हो। पर भगवान् शंकर का जी इतने संभोग से भी उसी प्रकार नहीं भरा जैसे समुद्र के जल में रहने पर भी वडवानल की प्यास कभी नहीं बुझ पाती ॥ 91 ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदास के रचे कुमारसंभव महाकाव्य में शंकर-पार्वती की काम-क्रीड़ा का वर्णन नामका आठवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥



॥ नवमः सर्गः ॥

तथाविधोऽनङ्गरसप्रसङ्गे मुखारविन्दे मधुपः प्रियायाः ।
 संभोगवेश्म प्रविशन्तमन्तर्ददर्श पारावतमेकमीशः ॥ 1 ॥
 सुकान्तकान्तामणितानुकारं कूजन्तमाधूर्णितरक्तनेत्रम् ।
 प्रस्फारितोत्रमृविनमृकण्ठं मुहुर्मुहुर्न्यञ्चितचारुपुच्छम् ॥ 2 ॥
 विशृङ्खलं पक्षतिमुग्ममीषाद्दधानमानन्दगतिं मदेन ।
 शुभ्रांशुवर्णं जटिलाग्रपादमितस्ततो मण्डलकैश्चरन्तम् ॥ 3 ॥
 रतिद्वितीयेन मनोभवेन हृदात्सुधायाः प्रविगाह्यमानात् ।
 तं वीक्ष्य फेनस्य चयं नवोत्थमिवाभ्यनन्दत्क्षणमिन्दुमौलिः ॥ 4 ॥
 तस्याकृतिं कामपि वीक्ष्य दिव्यामन्तर्भवश्चविहंगमग्नम् ।
 विचिन्तयन्संविविदे स देवो भ्रूभङ्गभीमश्च रुषा बभूव ॥ 5 ॥
 स्वरूपमास्थाय ततो हुताशस्त्रसन्वलत्कम्पकृताञ्जलिः सन् ।
 प्रवेपमानो नितरां स्मरारिमिदं वचो व्यक्तमथाध्युवाच ॥ 6 ॥
 असि त्वमेको जगतामधीशः स्वर्गौकसां त्वं विपदो निहंसि ।
 ततः सुरेन्द्रप्रमुखाः प्रभो त्वामुपासते दैत्यवरैविधूताः ॥ 7 ॥
 त्वया प्रियाप्रेमवशंवदेन शतं व्यतीये सुरतादृतूनाम् ।
 रहःस्थितेन त्वदवीक्षणातो दैन्यं परं प्राप सुरैः सुरेन्द्रः ॥ 8 ॥

नवाँ सर्ग

जिन दिनों पार्वती के मुख-कमल पर भौर के समान लट्टू होकर शिव निरन्तर संभोग किए जा रहे थे उन्हीं दिनों एक बार शिव देखते क्या हैं कि जिस घर में वे संभोग कर रहे थे उसी में एक कबूतर भी कहीं से घुसा चला आया है ॥ 1 ॥ यह कबूतर वैसे ही मीठे स्वर में गुटर-गूँ किए जा रहा था जैसे संभोग के समय सुन्दरियाँ किया करती हैं। उसकी लाल-लाल आँखें इधर-उधर नाचे जा रही थीं। कभी तो वह अपना कंठ ऊँचे उठा लेता, कभी नीचे झुका लेता और रह-रहकर अपनी पूँछ सिकोड़े लेता चला जा रहा था ॥ 2 ॥ चन्द्रमा के समान उजले रंग वाला वह कबूतर अपने पंजे समेटे हुए दोनों पंख खोले मस्ती से इधर-उधर उड़ता हुआ चक्कर काटे जा रहा था ॥ 3 ॥ उस कबूतर को देखकर तो शिव बड़े प्रसन्न हो उठे क्योंकि वह उन्हें ऐसा दिखाई दे रहा था मानो वह उस अमृत कुण्ड की नई फेन का पिंड हो जिसमें रति के साथ कामदेव ने डुबकी लगा-लगाकर नहाया हो ॥ 4 ॥ पर जब भगवान् शंकर ने उसके रंग-ढंग कुछ देवताओंका-सा देखा तो उनका माथा ठनका और ध्यान लगाते ही वे ताड़ गए कि हो न हो अग्नि ही यह कपट वेश बनाकर यहाँ चला आया है। यह देखते ही क्रोध से उनकी टेढ़ी भौहें बहुत डरावनी बनकर तन गई ॥ 5 ॥ शिव का यह रूप देखकर तो अग्नि ने अपना सच्चा रूप बनाकर, दोनों काँपते हुए हाथ जोड़कर, डर से अत्यन्त थरथराते हुए, सब बातें सच्ची-सच्ची कह सुनाई ॥ 6 ॥ 'भगवन्! संसार के आप ही तो एक स्वामी हैं। आप ही स्वर्ग में रहने वाले देवताओं की विपत्तियों को मिटाने वाले हैं। प्रभो! इसीलिये इन्द्र आदि देवता जब जब दैत्यों से हारते हैं तब तब वे आपकी ही शरण में आते हैं ॥ 7 ॥ आपने अपनी प्रिया के प्रेम में सौ वर्ष तो संभोग में ही बिता डाले और आप वहाँ ऐसे अकेले में आकर रहने लगे कि आपका दर्शन न पाने से इन्द्र और दूसरे देवता लोग सब बड़े

त्वदीयसेवावरप्रतीक्षैरभ्यर्चितः शक्रमुखीः सुरैस्त्वाम् ।
 उपागतोऽन्वेष्टुमहं विहंगरूपेण विद्वन्समयोचितेन ॥ 9 ॥
 इति प्रभो चेतसि संप्रधार्य तन्नोऽपराधं भगवन्क्षमस्व ।
 पराभिभूता वद किं क्षमन्ते कालातिपातं शरणार्थिनोऽमी ॥ 10 ॥
 प्रभो प्रसीदाशु सृजात्मपुत्रं यं प्राप्य सेनान्यमसौ सुरेन्द्रः ।
 स्वर्लोकलक्ष्मीप्रभुतामवाप्य जगत्त्रयं पाति तव प्रसादात् ॥ 11 ॥
 स शंकरस्तामिति जातवेदो विज्ञापनामर्धवतीं निशम्य ।
 अभूत्प्रसन्नः परितोषयन्ति गीर्भिर्गिरीशा रुचिराभिरिशम् ॥ 12 ॥
 प्रसन्नचेता मदनान्तकारः स तारकोरेर्जयिनो भवाय ।
 शक्रस्य सेनाधिपतेर्जयाय व्यचिन्तयच्चेतसि भावि किञ्चित् ॥ 13 ॥
 युगान्तकालाग्निमिवाविषह्यं परिच्युतं मन्मथरङ्गभङ्गात् ।
 रतान्तरेतः स हिरण्यरेतस्यथोर्ध्वरेतास्तदमोघमाधात् ॥ 14 ॥
 अथोष्णबाष्पानिलदूषितान्तर्विशुद्धमादर्शमिवात्मदेहम् ।
 बभार भूम्ना सहसा पुरारिरेतः परिक्षेपकुवर्णमग्निः ॥ 15 ॥
 त्वं सर्वभक्षो भव भीमकर्मा कुष्ठाभिभूतोऽनलधूमगर्भः ।
 इत्थं शशापाद्रिसुता हुताशं रुष्टा रतानन्दसुखस्य भङ्गात् ॥ 16 ॥
 दक्षस्य शापेन शशी क्षयीव प्लुष्टो हिमेनेव सरोजकोशः ।
 वहन्विरूपं वपुरुग्ररेतश्चयेन वह्निः किल निर्जगाम ॥ 17 ॥

घबरा उठे थे ॥ 8 ॥ भगवन्! वे सभी इन्द्र आदि देवता अब आपके दर्शन के लिये बैठे आपकी बात जोह रहे हैं। उन्हीं के कहने से मैं आपको ढूँढ़ते हुए इधर आ निकला था। मैंने पक्षी का रूप यही जानकर बना लिया कि इस समय आप संभोग कर रहे होंगे ॥ 9 ॥ इसलिये प्रभो! मेरा अपराध क्षमा कीजिए। आप ही सोच देखिए कि शत्रुओं से हारकर और अपमानित होकर आपकी शरण में आए हुए देवता लोग भला कितने दिनों तक मन मारे बैठे रह सकते थे ॥ 10 ॥ इसलिये प्रभो! आप प्रसन्न होकर शीघ्र ही अपने वीर्य से एक ऐसा पुत्र उत्पन्न कीजिए जिसे सेनापति बनाकर इन्द्र भगवान् फिर से स्वर्ग-लोक के स्वामी बनकर आपकी कृपा से तीनों लोकों का पालन करें ॥ 11 ॥ अग्नि की सच्ची-सच्ची बात सुनकर शंकर का क्रोध ठंडा पड़ गया, क्योंकि जिन्हें बात करने का ढंग आता है वे अपनी बातों से अपने स्वामियों को रिझा ही लिया करते हैं ॥ 12 ॥ तब कामदेव को जलाने वाले हैंसमुख शंकर ने ऐसा पुत्र उत्पन्न करने का विचार किया जो तारक राक्षस को जीत सके और सेनापति सा बनकर इन्द्र को जिता सके ॥ 13 ॥ अपने वीर्य को ऊपर खींचकर रख सकने वाले शंकर का जो अचूक वीर्य प्रलय की आग के समान किसी से सहा न जा सकने वाला था वह संभोग के अंत में निकलने पर शंकर ने अग्नि को दे दिया ॥ 14 ॥ उसे लेते ही अग्नि का उजला शरीर एकदम ऐसा धुँधला पड़ गया जैसे मुँह की भाप से दर्पण धुँधला पड़ जाता है ॥ 15 ॥ उधर संभोग के सुख में इस प्रकार बाधा पड़ जाने से पार्वती भी आग-बबूला हो उठीं और उन्होंने आव देखा न ताव अग्नि को शाप दे दिया- 'जाओ, तुम आज से पवित्र-अपवित्र सब वस्तुएँ खाया करोगे और संसार की वस्तुओं को जलाने का भयानक काम किया करोगे, कोढ़ी हो जाओगे और सदा धुएँ से भरे रहोगे' ॥ 16 ॥ महादेव का वीर्य लेने से अग्नि का रूप

स पावकालोकरुणा विलक्षां स्मरत्रापास्मेरविनम्रवक्त्राम् ।
 विनोदयामास गिरीन्द्रपुत्रीं शृङ्गारगर्भैर्मधुरैर्वचोभिः ॥ 18 ॥
 हरो विकीर्णं घनघर्मतोयैर्नेत्राञ्जनाङ्कं हृदयप्रियायाः ।
 द्वितीयकौपीनचलाञ्चलेनाहरन्मुखोन्दोरकलङ्किनोऽस्याः ॥ 19 ॥
 मन्देन स्विन्नाङ्गुलिना करेण कम्पेन तस्या वदनारविन्दात् ।
 परामृशान्धर्मजलं जहार हरः सहेलं व्यजनानिलेन ॥ 20 ॥
 रतिश्लथं तत्कबरीकलापमंसावसक्तं विगलत्प्रसूनम् ।
 स पारिजातोद्भवपुष्पमय्या स्रजा बबन्धामृतमूर्तिमौलिः ॥ 21 ॥
 कपोलपाल्यां मृगनाभिवित्रपत्रावलीमिन्दुमुखः सुमुख्याः ।
 स्मरस्य सिद्धस्य जगद्धिमोहमन्त्राक्षरश्रेणिमिवोल्लिलेख ॥ 22 ॥
 रथस्य कर्णावधि तन्मुखस्य ताटङ्गचक्रद्वितयं न्यधात्सः ।
 जगज्जिगीषुर्विषमेशुरेण ध्रुवं यमारोहति पुष्पचापः ॥ 23 ॥
 तस्याः स कण्ठे पिहितस्तनाग्रां न्यधत् मुक्ताफलहारवल्लीम् ।
 या प्राप मेरुद्वितयस्यमूर्ध्नि स्थितस्य गाङ्गौघयुगस्य लक्ष्मीम् ॥ 24 ॥
 नखद्वणश्रेणिवरे बबन्धा नितम्बबिम्बे रशनाकलापम् ।
 चलस्वचेतोमृगबन्धनाय मनोभुवः पाशमिव स्मरारिः ॥ 25 ॥

ऐसा बिगड़ गया जैसे दक्ष के शाप से क्षय रोग वाले चन्द्रमा का रूप, या पाले से मारे हुए कमल के कोश का रूप। वही रूप लेकर अग्नि वहाँ से बाहर निकल चले ॥ 17 ॥ अग्नि ने संभोग के समय ही अचानक उन्हें दिख लिया था इसीलिये पार्वती क्रोध के मारे आपे से बाहर हो गई थीं। काम और लाज के मारे अपनी झोंप मुस्कराहट में छिपाती हुई और नीचा मुँह किए बिगड़ी बैठी हुई पार्वती को प्रेम-भरे मीठे वचनों से शंकर भगवान् मनाने-बहलाने लगे ॥ 18 ॥ पसीने की घनी बूँदों के कारण पार्वती की आँखों का आँजन उनके मुँह पर इधर-उधर आ फैला था। शंकर की प्राणप्रिया के मुखचन्द्र पर वे आँजन के चिन्ह ऐसे लग रहे थे मानो वे चन्द्रमा के कलंक हों। महादेव ने झट वह फैला हुआ आँजन अपने कन्धे के कौपीन के आँचल से पोंछ डाला ॥ 19 ॥ अपनी गीली उँगलियों वाले हाथों को पंखे के समान झलकर शिव ने धीरे-धीरे पार्वती के मुख-कमल का सारा पसीना सुखा डाला ॥ 20 ॥ संभोग के समय जूड़ा खुल जाने से पार्वती के बाल छितरा गए थे और जूड़े में लगे हुए सब फूल भी निकल बिखरे थे। उस जूड़े को महादेव ने फिर से पारिजात के फूलों की माला से बाँध सँवारा ॥ 21 ॥ चन्द्र के समान मुख वाले शंकर ने सुंदर मुखवाली पार्वती के जो गाल कस्तूरी के लेप से चीत दिए उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ा मानो वह चित्रकारी भी सिद्ध कामदेव के हाथों से लिखे हुए वे मंत्र हों जिनसे वह संसार को वश में कर लिया करता है ॥ 22 ॥ शंकर ने पार्वती के दोनों कानों में जो दो गोल कनफूल ला पहनाए उनसे उनका मुख ऐसा सुन्दर लगने लगा मानो यह कामदेव का ऐसा रथ हो जिस पर बैठकर वह तीनों लोकों को जीतने निकला हो और ये दोनों कनफूल उस रथ के दोनों पहिए हों ॥ 23 ॥ शंकर ने पार्वती के गले में जो मोतियों का हार ला पहनाया वह उनके स्तनों की घुँडियों को छूकर छाती पर लटका हुआ ऐसा जान पड़ता था मानो दो सुमेरु पर्वतों की चोटियों से गंगा की दो धाराएँ गिरी पड़ रही हों ॥ 24 ॥ शंकर ने पार्वती के उन नितम्बों पर करधनी उठा पहनाई जिन पर उनके हाथों से बने हुए नखों के चिह्न चमक रहे थे। वह करधनी ऐसी लगती थी मानो कामदेव ने अपने चञ्चल चित्त-रूपी मृग को बाँधने के लिये

भालेक्षणान्नौ स्वयमञ्जनं स भङ्क्त्वा दृशोः साधु निवेश्य तस्याः ।
 नवोत्पलाक्ष्याः पुलकोपगूढे कण्ठे विनीलेऽङ्गुलिमुज्ज्वलम् ॥ 26 ॥
 अलक्तकं पादसरोरुहाग्रे सरोरुहाक्ष्याः किल संनिवेश्य ।
 स्वमौलिगङ्गासलिलेन हस्तारुणत्वमक्षालयदिन्दुचूडः ॥ 27 ॥
 भस्मानुलिप्ते वपुषि स्वकीये सहेलमादर्शतलं विमृज्य ।
 नेपथ्यलक्ष्म्याः परिभावनार्थमदर्शयज्जीवितवल्लभां सः ॥ 28 ॥
 प्रियेण दत्ते मणिदर्पणे सा संभोगचिह्नं स्ववपुर्विभाव्य ।
 त्रपावती तत्र घनानुरागं रोमाञ्चदम्भेन बहिर्वभारः ॥ 29 ॥
 नेपथ्यलक्ष्मीं दयितोपक्लृप्तां सस्मेरमादर्शतले विलोक्य ।
 अमैस्त सौभाग्यवतीषु धुर्यामात्मानमुद्धूतविलक्षभावाः ॥ 30 ॥
 अन्तः प्रविश्यावसरेऽथ तत्र स्निग्धे वयस्ये विजया जया च ।
 सुसंपदोपाचरतां कलानामङ्गे स्थितां तां शशिखण्डमौलेः ॥ 31 ॥
 व्यधुर्बहिर्मङ्गलगानमुच्चैर्वैतालिकाश्चित्राचरित्राचारु ।
 जगुश्च गन्धर्वगणाः सशङ्खस्वनं प्रमोदाय पिनाकपाणेः ॥ 32 ॥
 ततः स्वसेवावसरे सुराणां गणांस्तदालोकनतत्पराणाम् ।
 द्वारि प्रविश्य प्रणतोऽथ नन्दी निवेदयामास कृताञ्जलिः सन् ॥ 33 ॥
 महेश्वरो मानसराजहंसीं करे दधानस्तनयां हिमाद्रेः ।
 संभोगलीलालयतः सहेलं हरो बहिस्तानभि निर्जगाम ॥ 34 ॥

फन्दा लगा दिया हो ॥ 25 ॥ उन्होंने अपने ललाट में जलने वाले नेत्र से स्वयं अञ्जन पाकर नये कमल
 जैसी आँखों वाली पार्वती के नयनों में काजल लगा दिया और फिर उँगली में लगा हुआ अञ्जन पोंछने
 के लिये वह उँगली अपने नीले कंठ में उठा रगड़ी ॥ 26 ॥ तब उन कमलनयनी पार्वती के चरण कमल
 के पंजों में शंकर ने महावर लगाकर अपने सिरपर बहती हुई गंगा की धारा में अपने हाथ का रंग धो
 डाला ॥ 27 ॥ यह सब करके बड़े मगन होकर उन्होंने अपने भस्म लगे हुए शरीर पर दर्पण रगड़कर
 पोंछा और फिर अपनी प्राण-प्यारी को सिंगार की सजावट दिखाने के लिये वह दर्पण उनके आगे उठा
 बढ़ाया ॥ 28 ॥ शंकर के हाथ से दिखाए हुए उस दर्पण में अपने शरीर पर बने हुए संभोग के चिह्न
 देखने से उन्हें लाज के मारे जो रोमांच हो आया उसी से उन्होंने जतला दिया कि मैं शंकर से कितना
 प्रेम करती हूँ ॥ 29 ॥ अपने प्यारे पति के हाथ से किए हुए सिंगार की शोभा जब उन्होंने दर्पण में
 देखी तो वे मुस्करा उठीं और सब क्रोध छोड़कर ऐसी प्रसन्न हो उठीं कि वे अपने को संसार की सब
 सौभाग्यवती स्त्रियों में सबसे बढ़कर समझने लगीं ॥ 30 ॥ जब जया और विजया नाम की सखियों ने
 देखा कि अब ठीक अवसर है, तब वे झट भीतर जा पहुँचीं और शंकर की गोद में बैठी हुई पार्वती का
 शृंगार करने में जा जुटीं ॥ 31 ॥ उसी समय शंकर को प्रसन्न करने के लिये चारणों ने उनके सुन्दर चरित्र
 के मनोहर मंगल गीत गाने प्रारम्भ कर दिए और गन्धर्व लोग भी शंख बजा-बजाकर अलापने लगे ॥
 32 ॥ महादेव की सेवा करने का ठीक अवसर जानकर नन्दी भी भीतर जा पहुँचे और उन्होंने शंकर से
 निवेदन किया कि देवता लोग आपके दर्शन के लिये बाहर आए खड़े हैं ॥ 33 ॥ यह सुनकर अपनी
 प्राण-प्यारी के हाथ में हाथ डाले भगवान् शंकर देवताओं से मिलने के लिये उस सम्भोग-घरसे बाहर
 निकले चले आए ॥ 34 ॥ आते ही इन्द्र आदि देवताओं ने धीरे-धीरे बारी-बारी से शिव को तथा तीनों

क्रमान्महेन्द्रप्रमुखाः प्रणेमुः शिरोनिबद्धाञ्जलयो महेशम् ।
 प्रालेयशैलाधिपतेस्तनूजां देवीं च लोकत्रयमातरं ते ॥ 35 ॥
 यथागतं तान्विबुधान्विसृज्य प्रसाद्य मानक्रियया प्रतस्थे ।
 स नन्दिना दत्तमुजोऽधिरुह्य वृषं वृषाङ्कः सह शैलपुत्र्या ॥ 36 ॥
 मनोतिवेगेन ककुचता स प्रतिष्ठमानो गगनाध्वनोऽन्तः ।
 वैमानिकैः साञ्जलिभिर्वन्दे विहारहेलागतिभिर्गिरीशः ॥ 37 ॥
 स्वर्वाहिनीवारिविहारचारी रतान्तनारीश्रमशान्तिकारी ।
 तौ पारिजातप्रसवप्रसङ्गो मरुत्सिर्षेवे गिरिजागिरीशौ ॥ 38 ॥
 पिनाकिनापि स्फटिकाचलेन्द्रः कैलासनामा कलिताम्बरांशः ।
 धृतार्द्धसोमोऽद्भु तभोगिभोगो विभूतिधारी स्व इव प्रपेदे ॥ 39 ॥
 विलोक्ययत्रस्फटिकस्य भित्तौ सिद्धाङ्गनाः स्वं प्रतिबिम्बमारात् ।
 ध्रान्त्या परस्या विमुखीभवन्ति प्रियेषु मनिग्रहिला नमत्सु ॥ 40 ॥
 सुबिम्बितस्य स्फटिकांशुगुप्तेश्चन्द्रस्य चिह्नप्रकरः करोति ।
 गौर्यार्पितस्येव रसेन यत्र कस्तूरिकायाः शकलस्य लीलाम् ॥ 41 ॥

लोकों की माता पार्वती को हाथ जोड़कर और सिर नवाकर प्रणाम किया ॥ 35 ॥ शंकर ने सब देवताओं का सम्मान करके उन्हें प्रसन्न किया और विदा कर दिया। तब नन्दी के हाथ के सहारे पार्वती के साथ बैल पर चढ़कर वे स्वयं वहाँसे चल पड़े ॥ 36 ॥ मन से भी अधिक वेग से चलने वाले उस बैल पर चढ़कर जब वे आकाश मार्ग को चले जा रहे थे तब जो देवता लोग अपने-अपने विमानोंपर चढ़-चढ़कर आकाश में घूम रहे थे उन सबने शिवको हाथ जोड़ जोड़कर प्रणाम किया ॥ 37 ॥ उस समय आकाश-गंगा के जल की फुहारों से शीतल, पारिजात के फूलों में बसे हुए और संभोग से थकी हुई नारी की थकावट मिटाने वाले पवन ने आकर शंकर और पार्वती की बहुत सेवा की ॥ 38 ॥ यों चलते-चलते भगवान् शंकर स्फटिकके बने हुए पर्वतों में श्रेष्ठ कैलास पर जा पहुँचे। यह पहाड़ देखने में शंकर के समान ही लगता था क्योंकि अपने बड़प्पन से शंकर सारे आकाश में व्याप्त हैं और कैलास के भी चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश हैं, इसलिये दोनों ही आकाश से सजे हैं। सोम कहलाने वाले भगवान् शंकर इस पर्वत पर रहते हैं और सोम कहलाने वाला चन्द्रमा महादेव के माथे पर रहता है। इसलिये दोनों ही सोम को धारण करने वाले हैं। इस पर्वत पर भोगी या कामी तो आकर अनूठा संभोग किया करते हैं और महादेव पर भोगी (साँप) अनूठे ढंग से लिपटे रहते हैं। इसलिये दोनों ही अनूठे भोगीवाले हैं। इस पर्वत पर बहुत विभूति (रत्नमणि) आदि पाई जाती है और महादेव के शरीर पर विभूति (भस्म) है, इसलिये दोनों ही विभूतिवाले भी हैं ॥ 39 ॥ जब सिद्धों की स्त्रियाँ अपने पतियों कि साथ कैलास पर्वत की स्फटिककी दीवारों के पास पहुँचकर अपनी परछाई देखती हैं तो उन्हें यह धोखा हो जाता है कि हमारे पति किसी दूसरी स्त्री को तो साथ नहीं लिए हुए हैं। फल यह होता है कि अपने पतियों के मनाते रहने पर भी वे रूठी की रूठी ही रहती हैं ॥ 40 ॥ जब उस स्फटिक के से कैलास पर चन्द्रमा की सुन्दर परछाई पड़ती है तब चन्द्रमा के कलंक की छाया तो दिखाई पड़ती है पर चन्द्रमा की चाँदनी उसी में मिल जाती है। वह कलंक की छाया ऐसी लगती है मानो पार्वती ने कस्तूरी पीसकर और उसकी पिंडी बनाकर वहाँ ला छापी हो ॥ 41 ॥ इसी पर्वत की भीतों पर अपने अङ्गों की छाया देखकर मतवाले हाथी उन्हें दूसरे

यदीयभित्तौ प्रतिबिम्बिताङ्गमात्मानमालोक्य रुषा करीन्द्राः ।
 मत्तान्यकुम्भिभ्रमतोऽतिभीमदन्ताभिघातव्यसनं वहन्ति ॥ 42 ॥
 निशासु यत्र प्रतिबिम्बितानि ताराकुलानि स्फटिकालयेषु ।
 दृष्ट्वा रतान्तच्युततारहारमुक्ताभ्रमं बिभ्रति सिद्धवधः ॥ 43 ॥
 नभश्चरीमण्डनदर्पणश्रीः सुधानिधिर्मूर्च्छनि यस्य तिष्ठन् ।
 अनर्घ्यचूडामणितामुपैति शैलाधिनाथस्य शिवालयस्य ॥ 44 ॥
 समीयिवांसो रहसि स्मरार्ता रिरंसवो यत्र सुराः प्रियाभिः ।
 एकाकिनोऽपि प्रतिबिम्बभाजो विभान्ति भूयोभिरिवान्विताः स्वैः ॥ 45 ॥
 देवोऽपि गौर्या सह चन्द्रमौलिर्यदृच्छया स्फाटिकशैलशृङ्गे ।
 शृङ्गारचेष्टाभिरनारता भिर्मनोहराभिव्यहरच्चिराय ॥ 46 ॥
 देवस्य तस्य स्मरसूदनस्य हस्तं समालिङ्ग्य सुविभ्रमश्रीः ।
 सा नन्दिना वेत्रभृतोपदिष्टमार्गा पुरोगेण कलं चचाल ॥ 47 ॥
 चलच्छिखाग्रो विकटाङ्गभङ्गः सुदन्तुरः शुक्लसुतीक्ष्णतुण्डः ।
 भ्रुवोपदिष्टः स तु शंकरेण तस्या विनोदाय ननर्त भृङ्गी ॥ 48 ॥
 कण्ठस्थालीलोलकपालमाला दंष्ट्राकरालाननमभ्यनृत्यत् ।
 प्रीतेन तेन प्रभुणा नियुक्ता काली कलत्रस्य मुदे प्रियस्य ॥ 49 ॥
 भयङ्करौ तौ विकटं नदन्तौ विलोक्य बाला भयविह्वलाङ्गी ।
 सरागमुत्सङ्गमनङ्गशात्रोर्गाढं प्रसह्य स्वयमालिलिङ्ग ॥ 50 ॥

मतवाले हाथी समझकर क्रोध में भरकर अपने दाँतों से उनपर करारी टक्करें मारने लगते हैं ॥ 42 ॥
 यहाँ के स्फटिकके बने हुए भवनों पर जब तारों की परछाहीं पड़ती है तब सिद्धों की स्त्रियों को यह धोखा
 होने लगता है कि ये कहीं संभोग के समय छूटकर गिरे हुए मोतियों के दाने तो नहीं हैं ॥ 43 ॥ अप्सराओं
 के दर्पण के समान सुन्दर लगने वाला चन्द्रमा जब इस कैलास की चोटी पर आ पहुँचता है तब यह
 उस हिमालय का अनमोल चूडामणि-सा लगने लगता है जिस पर शिव निवास किया करते हैं ॥ 44 ॥
 काम से पीड़ित देवता लोग अपनी-अपनी स्त्रियों को साथ लेकर जब यहाँ एकान्त में बिहार करने आते
 हैं तब स्वयं अकेले होने पर भी अनेक परछाइयाँ पड़ने के कारण उन्हें ऐसा जान पड़ता है मानो हमारे
 बहुत से रूप हो गए हों ॥ 45 ॥ उसी सुन्दर कैलास की स्फटिककी चोटी पर शंकर ने भी पार्वती के
 साथ बहुत दिनों तक लगातार जी भरकर अनेक प्रकार की काम-क्रीड़ाएँ कीं ॥ 46 ॥ अपनी रसीली
 चटक-मटक से जी लुभाने वाली भी शंकर के हाथ में हाथ दिए हुए उन पर्योंपर घूमा करती थीं जहाँ
 हाथ में बेंतका डण्डा लिए हुए नन्दी उन्हें आगे-आगे मार्ग बताता चलता था ॥ 47 ॥ शंकर की भौंहों
 का संकेत पाकर बड़े-बड़े दाँतों वाले, लहराती-हुई चोटी वाले, टेढ़े-मेढ़े अंगों वाले और उजले बेढंगे मुँह
 वाले भृङ्गीने पार्वती का मन बहलाने के लिये बड़ा नाच दिखलाया ॥ 48 ॥ हँसमुख दिखाई पड़ने वाले
 शंकर की आज्ञा पाकर हिलती हुई खोपड़ियों की माला कण्ठ में पहनने वाली कालिकाने भी अपने डरावने
 दाँतों वाला मुँह बना-वनाकर स्वामी की प्यारी का मन बहलाने के लिये बहुत नाच दिखलाया ॥ 49 ॥ इस
 प्रकार विकट रूप से भयंकर शब्द करते हुए भृङ्गी और काली को देखते ही पार्वती की इस घबराहट में
 उनके उठे हुए और मोटे-मोटे स्तन अपनी छाती पर लगते ही शंकर मगन हो उठे और उनके मनमें इतना

उत्तुङ्गपीनस्तनपिण्डपीडं ससंभ्रमं तत्परिरम्भमीशः ।
 प्रपद्य सद्यः पुलकोपगूढः स्मरेण रूढप्रमदो ममाद ॥ 51 ॥
 इतिगिरितनुजाविलासलीला विविधविभङ्गिभिरेषतोषितः सन् ।
 अमृतकरशिरोमणिर्गिरीन्द्रे कृतवसतिर्वशिभिर्गणैर्ननन्द ॥ 52 ॥
 ॥ इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
 कैलासगमनो नाम नवमः सर्गः ॥



काम उत्पन्न हो गया कि वे प्रेम में मतवाले हो उठे ॥ 50 ॥ इस प्रकार पार्वती की अनेक हाव-भाव-भरी लीलाओं और अनेक प्रकार के संभोग से सन्तुष्ट होकर भगवान् शंकर अपने साथ कैलास पर रहने वाले गणों के साथ बड़े प्रसन्न होकर रहने लगे ॥ 51-52 ॥

॥ महाकवि श्री कालिदास के रचे हुए कुमारसंभव महाकाव्य में कैलास-गमन नामका नवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥



॥ दशमः सर्गः ॥

आससाद सुनासीरं सदसि त्रिदशैः सह । एष त्रैयम्बकं तीव्रं वहन्वद्विर्महन्महः ॥ 1 ॥
 सहस्रेण दृशामीशः कुत्सिताङ्गं च सादरम् । दुर्दर्शनं ददर्शाग्निं धूम्रधूमितमण्डलम् ॥ 2 ॥
 दृष्ट्वा तदा विधिवद्विभ्रन्तः क्षुब्धेन चेतसा । व्यचिन्तयच्चिरं किञ्चित्कन्दर्पद्विषिरोषजम् ॥ 3 ॥
 स विलक्ष्यमुखैर्देवैर्वीक्ष्यमाणः क्षणं क्षणम् । उपाविशत्सुरेन्द्रेणादिष्टं सादरमासनम् ॥ 4 ॥
 हव्यवाह त्वयासादि दुर्दर्शयं दशा कुतः । इति पृष्टः सुरेन्द्रेण स निःश्वस्य वचोऽबदत् ॥ 5 ॥
 अनतिक्रमणीयात्ते शासनात्सुरनायक । पारावतं वपुः प्राप्य वेपमानोऽतिसाध्वसात् ॥ 6 ॥
 अभिगौरि रतासक्तं जगामाहं महेश्वरम् । कालस्येव स्मरारातेः स्वं रूपमहमासदम् ॥ 7 ॥
 दृष्ट्वा छद्मविहङ्गं मां सुज्ञो विज्ञाय जम्भामित् । ज्वलद्भालानले होतुं कोपतो माममन्यत ॥ 8 ॥
 वचोभिर्मधुरैः सार्धैर्विनम्रेण मया स्तुतः । प्रीतिमानभवद्देवः स्तोत्रं कस्य न तुष्टये ॥ 9 ॥
 शरण्यः सकलत्राता मामत्रायत शंकरः । क्रोधाग्नेर्ज्वलतो ग्रासात्त्रासतो दुर्निवारतः ॥ 10 ॥
 परिहृत्य परीरम्भरभसं दुहितुगिरिः । कामकेलिरसोत्सेकाद्ब्रीडया विरराम सः ॥ 11 ॥
 रङ्गमङ्गच्युतं रेतस्तदामोघं सुदुर्वहम् । त्रिजगद्वाहकं सद्यो मद्भिग्रहमधि न्यधात् ॥ 12 ॥
 दुर्विषद्वेण तेनाहं तेजसा दहनात्मना । निर्दग्धमात्मनो देहं दुर्वहं वोढुमक्षमः ॥ 13 ॥

दसवाँ सर्ग

शंकर के उस खौलते हुए वीर्यको लेकर अग्निदेव उस सभा में जा पहुँचे, जहाँ देवताओं के साथ इन्द्र बैठे हुए थे ॥ 1 ॥ इन्द्र ने अपनी सहस्त्रों आँखों से उन अग्निदेव की ओर बड़े आदर के साथ देखा जिनके सब अंग बेढंगे, भट्टे और धुएँ से काले पड़ गए थे ॥ 2 ॥ अग्नि का यह रूप देखकर तो इन्द्र बड़े दुखी हो उठे और थोड़ी देर सोचते ही वे समझ गए कि शंकर के क्रोध से ही अग्निदेव की यह दशा हुई है ॥ 3 ॥ जिन अग्निदेव की ओर सब देवता बड़े दुखी होकर बराबर देख रहे थे उन्हें इन्द्र ने संकेत से एक आसन पर बुलाकर बैठा दिया ॥ 4 ॥ और उन्होंने अग्निदेव से पूछा- 'कहिए! आपकी यह दुर्दशा हो कैसे गई?' तब लम्बी साँस लेकर अग्निदेव कहने लगे- ॥ 5 ॥ 'देवेन्द्र! आपकी अटल आज्ञा से मैं कबूतर बनकर बहुत डरता-डरता जब महादेव के पास पहुँचा तब वे पार्वती के साथ संभोग कर रहे थे। मुझे पहचानते ही जब वे क्रोध के मारे महाकाल के समान भयंकर हो गए, तब मैंने कबूतर का रूप छोड़कर डर के मारे अपना सच्चा रूप खोल दिखाया ॥ 6-7 ॥ इन्द्रदेव! मुझे पक्षी के कपट वेष में देखकर सब कुछ जानने वाले शंकर को क्रोध तो ऐसा आया था कि वे मुझे अपने ललाट की जलती हुई आग में ही झोंक देते ॥ 8 ॥ पर जब मैंने बहुत गिड़गिड़ाकर बड़े अर्थ-भरे मिठे शब्दों में उनकी बहुत स्तुति की तब वे पिघल गए, क्योंकि अपनी प्रशंसा भला किसे नहीं अच्छी लगती यह तो आप जानते ही हैं कि शंकर की शरण में जो पहुँच जाता है उसकी और सारे जगत् की तो वे रक्षा करते ही हैं। इसलिये उनके क्रोधकी जिस जलती हुई आग से कोई बच नहीं पा सकता उसकी मैं आहुति बनते-बनते बच गया ॥ 9-10 ॥ उन्होंने झट पार्वती के कसकर बँधे हुए हाथों से अपने को छुड़ा लिया और लज्जा के कारण, सम्भोग के सुखकी इच्छा छोड़कर वे हट गए ॥ 11 ॥ संभोग के बीच में ही रंग में भंग होने से उनका जो तीनों लोकों को जलाने वाला और किसी से भी सहा न जा सकने वाला अचूक वीर्य निकला, वह उन्होंने मेरे शरीर में उठा डाला ॥ 12 ॥ अब उस असह्य जलते हुए तेज से मैं इतना जला जा रहा हूँ कि मुझे अपना शरीर सँभाल पाना भी दूभर हो रहा है ॥ 13 ॥ इन्द्रदेव! महादेव के इस अत्यन्त प्रचंड

रौद्रेण दह्यमानस्य महसातिमहीयसा । मम प्राणपरित्राणप्रगुणो भव वासवा ॥ 14 ॥
 इति श्रुत्वा वचो वद्वेः परितापोपशान्तये । हेतुं विचिन्तयामास मनसा विबुधेश्वरः ॥ 15 ॥
 तेजोदग्धानि गात्राणि पाणिनास्य परामृशन् । किञ्चित्कृपीटयोनिं तं दिवस्पतिरभाषत ॥ 16 ॥
 प्रीतः स्वाहास्वधाहन्तकारैः प्रीणयसे स्वयम् । देवान्पितृन्मनुष्याँस्त्वमेकस्तेषां मुखंयतः ॥ 17 ॥
 त्वयि जुह्वति होतारो हवींषि ध्वस्तकल्मषाः । भुञ्जन्ति स्वर्गं मेकस्त्वं स्वर्गप्राप्तौ हिकारणम् ॥ 18 ॥
 हवींषि मन्त्रपूतानिहुताशत्वयि जुह्वतः । तपस्विनस्तपः सिद्धिं यान्ति त्वं तपसां प्रभुः ॥ 19 ॥
 निधत्से हुतमर्काय स पर्जन्योऽभिवर्षति । ततोऽन्नानि प्रजास्तेभ्यस्तेनासि जगतः पिता ॥ 20 ॥
 अन्तश्चरोऽसि भूतानां तानि त्वत्तो भवन्ति च । ततो जीवितं भूतस्त्वं जगतः प्राणदोऽसि च ॥ 21 ॥
 जगतः सकलस्यास्य त्वमेकोऽस्युपकारकृत् । कार्योपपादने तत्रत्वत्तोऽन्यः कः प्रगल्भते ॥ 22 ॥
 अमीषां सुरसंघानां त्वमेकोऽर्थसमर्थने । विपत्तिरपि संश्लाध्योपकारव्रतिनोऽनल ॥ 23 ॥
 देवी भागीरथी पूर्वं भक्त्यास्माभिः प्रतोषिता । निमज्जतस्तवोदीर्णतापं निर्वपयिष्यति ॥ 24 ॥
 गङ्गां तद गच्छ मा कार्षीं विलम्बं हव्यवाहन । कार्येष्ववश्यकार्येषु सिद्धये क्षिप्रकारिता ॥ 25 ॥
 शंभोरम्भोमयी मूर्तिः सैव देवीसुरापगा । त्वत्तः स्मरद्विषो बीजदुर्धरं धारयिष्यति ॥ 26 ॥

तेज से मेरा सारा शरीर जला जा रहा है इसलिये अब जैसे भी हो वैसे मेरे प्राण बचाने का यश ले लीजिए' ॥ 14 ॥ अग्निदेव की ये बातें सुनकर देवराज इन्द्र अपने मन में कोई ऐसा उपाय सोचने लगे जिससे अग्नि की जलन मिट जा सके ॥ 15 ॥ महादेव के तेज से जलते हुए अग्नि के अंगोंपर हाथ फेरते हुए इन्द्र बोले- ॥ 16 ॥ 'देखो अग्निदेव ! जब हवन करने वाले होता लोग स्वाहा, स्वधा और वषट् कहकर हवन करते हैं उस समय तुम प्रसन्न होकर देवों, पितरों और मनुष्यों को प्रसन्न करते हो, क्योंकि तुम्हारे ही मुख से तो सबको अपना-अपना भाग मिलता है ॥ 17 ॥ होता लोग तुममें हवन करके पाप से छूट कर स्वर्गलोक में सुख जा भोगते हैं। वे केवल एक तुम्हारे ही सहारे तो स्वर्ग तक पहुँच पाते हैं ॥ 18 ॥ देखो अग्नि-देव! यज्ञ करने वाले तपस्वी लोग मन्त्र पढ़कर जो तुम्हें आहुति देते हैं, उससे वे अपनी तपस्या का पूरा फल पा जाते हैं क्योंकि तप के देवता भी तो तुम्हीं हो ॥ 19 ॥ उधर सूर्य के लिये जो आहुति दी जाती है उसे जब तुम धरोहर की भाँति लेकर फिर वह उन्हें दे देते हो तब सूर्य उसे बादल बनाकर धरती पर बरसा देते हैं जिससे अन्न पैदा होता है और फिर उसी अन्न से संसार के प्राणियों का पेट पलता है। इस प्रकार सारे संसार के पिता भी तुम्हीं तो हो ॥ 20 ॥ देखो अग्निदेव! सब प्राणियों के भीतर भी तुम्हीं तुम रहते हो और वे सब तुम्हीं से उत्पन्न होते हैं। इसलिये संसार को जीवन और प्राण देने वाला कोई है तो तुम्हीं हो ॥ 21 ॥ इस समूचे संसार का भला करने वाला कोई है तो एक तुम्हीं तो हो, इसलिये ऐसी सौसत का काम तुम्हें छोड़कर और कौन सहन ही कर सकता है? ॥ 22 ॥ अग्निदेव! तुम्हीं तो एक ऐसे हो जो देवताओं का काम साध सकते हो। देखो! दूसरों की भलाई करने का जो बीड़ा उठा लेते हैं और उसके कारण वे जो कष्ट सहते हैं वह भी बड़े गौरव और बड़ाई की बात होती है ॥ 23 ॥ देखो! हम लोगों ने पहले से ही बहुत हाथ-पैर जोड़कर गंगा को प्रसन्न कर लिया है। बस, ज्योंही तुम उनकी धारा में स्नान करोगे त्योंही वे इस घोर जलन को शान्त कर देंगी ॥ 24 ॥ इसलिये अग्निदेव! तुम झटपट गंगा के पास चले जाओ, देर न करो। जिस काम को पूरा करने की बात जी में ठान ली जाय उसे पूरा करने में देर नहीं करनी चाहिए ॥ 25 ॥ देखो! गंगा तो शंकर की ही जलवाली मूर्ति हैं। वे उनके तेजस्वी वीर्य को तुमसे लेकर अवश्य अपने में रख लेंगी' ॥ 26 ॥ इतना कहकर इन्द्र

इत्युदीर्य शुनासीरो विरराम स चानलः । तद्विसृष्टस्तमापृच्छ्य प्रतस्थेस्वर्धुनीमभि ॥ 27 ॥
 हिरण्यरेतसा तेन देवी स्वर्गतरङ्गिणी । तीर्णाध्वना प्रपेदे सा निःशेषक्लेशनाशिनी ॥ 28 ॥
 स्वर्गारोहणनिःश्रेणिमोक्षमार्गाधिदेवता । उदारदुरितोद्गारहारिणी दुर्गतारिणी ॥ 29 ॥
 महेश्वरजटाजूटवासिनी पापनाशिनी । सगरान्वयनिर्वाणकारिणी धर्मधारिणी ॥ 30 ॥
 विष्णुपादोदकोद्भूता ब्रह्मलोकादुपागता । त्रिभिः स्रोतो भिरश्रान्तपुनानाभुवनत्रयम् ॥ 31 ॥
 जातवेदसमायान्तमूर्मिहस्तैः समुत्थितैः । आजुहावार्थसिद्धयै तं सुप्रसादधरेव सा ॥ 32 ॥
 संमिलद्भिर्मरालैः साकलंकूजद्विरुन्मदैः । ददश्रेयांसि दुःखानि निहन्मीतितमभ्यधात् ॥ 33 ॥
 कल्लोलैरुदगतैरर्वाचीनं तटमभिदुतैः । प्रीतेव तमभीयाय स्वर्धुनी जातवेदसम् ॥ 34 ॥
 अथाभ्युपेतस्तापार्तो निमज्जानलः किल । विपदा परिभूताः किंव्यवस्यन्ति विलम्बितुम् ॥ 35 ॥
 गङ्गावारिणिकल्याणकारिणिश्चमहारिणि । स मग्नो निर्वृतिं प्रापपुण्यभारिणि तारिणि ॥ 36 ॥
 तत्र माहेश्वरं धाम संचक्राम हविर्भुजः । गङ्गायामुत्तरंगायामन्तस्तापविपद्भुति ॥ 37 ॥
 कृशानुरेतसो रेतस्यादृते सरिता तथा । निश्चक्राम ततः सौख्यं हव्यवाहो वहन्बहु ॥ 38 ॥
 सुधासारैरिवाम्भोभिरभिषिक्तो हुताशनः । यथागतं जगामाथ परां निर्वृतिमादधत् ॥ 39 ॥
 सा सुदुर्विषहं गङ्गा धाम कामजितो महत् । आदधानापरीतापमवापव्योमवाहिनी ॥ 40 ॥
 बहिरार्ता युगान्तानेस्तप्तानीव शिखाशतैः । हित्वोष्णानि जलान्यस्या निर्जग्मुर्जलजन्तवः ॥ 41 ॥

जब चुप हो गये तब अग्निदेव उनसे विदा होकर गंगा की ओर चल दिए ॥ 27 ॥ और चलकर उस गंगा के तीर पर जा पहुँचे जो सब दुःख मिटा डालती हैं, सीढ़ी बनकर भक्तों को स्वर्ग पहुँचा देती हैं, मोक्ष दे डालती हैं, बड़े-बड़े पाप हर लेती हैं, धर्म की रक्षा करने वाली हैं, विष्णु के चरण से जल के रूप में निकलकर ब्रह्मलोक से आई हैं और अपनी तीव्र धाराओं से तीनों लोकों को सदा पवित्र करती रहती हैं ॥ 28-31 ॥ वहाँ गंगा की जो लहरें उठ रही थीं वे ऐसी लगती थीं मानो दूर से आते हुए अग्निदेव को देखकर वे प्रसन्न मन से अपनी लहरों के हाथों से उनका काम साधने के लिये उन्हें दूरसे ही बुलाए ले रही हों ॥ 32 ॥ वहाँ बहुत से राजहंस एक साथ मिलकर मतवाले बने हुए जो कलकल शब्द कर रहे थे वे ऐसे लग रहे थे मानो अग्नि से गंगा कह रही हों कि मैं सबका भला किया करती हूँ और दुःख हर लिया करती हूँ ॥ 33 ॥ गंगा की ऊँची उठती और हर-हर करके आगे बढ़ती हुई जो तरंगें ढलुवे तटपर बढ़ती चली आ रही थीं वे ऐसी लगती थीं मानो गंगा कुछ आगे बढ़कर अग्निदेव का स्वागत करने चली आ रही हों ॥ 34 ॥ तापसे जलते हुए अग्निदेव ने वहाँ पहुँचकर झट गंगा में जा डुबकी मारी । सच है विपदा के मारे लोगों को कहीं कुछ देर रुककर सोचने की सुध थोड़े ही रहती है ॥ 35 ॥ सबका कल्याण करने वाली, थकावट दूर करने वाली, परम पवित्र तथा सबको तारने वाली गंगा के जल में डुबकी लगाकर अग्निदेव को बड़ी शान्ति मिली ॥ 36 ॥ अपनी ज्वाला से दहकता हुआ शंकर का वीर्य अग्नि की देह से निकलकर ऊँची तरंगों वाली गंगा में जा पहुँचा ॥ 37 ॥ जब गंगा ने बड़े आदर से शंकर का वीर्य ले लिया तब अग्निदेव बहुत प्रसन्न होकर जल से बाहर निकल आए ॥ 38 ॥ और अमृत की धारा के समान गंगा-जल से अत्यन्त शीतल होकर तथा अत्यन्त सुख पाकर वे जहाँ से आए थे वहीं लौट गए ॥ 39 ॥ शंकर के असह्य वीर्य को पाकर आकाश में बहने वाली गंगा भी एकदम उबल उठी ॥ 40 ॥ जैसे प्रलय की आग की सैकड़ों लपटों से तपे हुए गरम जल को छोड़कर जल के सारे जीव पानी से बाहर निकल आते हैं वैसे ही गंगा के तपते हुए जल को छोड़कर सब जीव भी घबराकर बाहर

तेजसा तेन रौद्रेण तप्तानिसलिलान्यपि । समुदञ्चन्ति चण्डानि दुर्धराणि बभार सा ॥ 42 ॥
जगच्चक्षुषि चण्डांशौ किंचिदभ्युदयोन्मुखे । जग्मुः षट्कृत्तिका माघे मासि स्नातुं सुरापगाम् ॥ 43 ॥
शुभ्रैर भ्रंकषैरुर्मिशतैः स्वर्गनिवासिनाम् । कथयन्तीमिवालोकावगाहा चमनादिकम् ॥ 44 ॥
सुस्नातानां मुनीन्द्राणां बलिकर्मो चितैरलम् । बहिः पुष्पोत्करैः कीर्णं तीरां दूर्वाक्षतान्वितैः ॥ 45 ॥
ब्रह्मध्यानपरैर्योगपरैर्ब्रह्मासनस्थितैः । योगनिद्रागतैर्योगपट्टबन्धैरुपाश्रिताम् ॥ 46 ॥
पादाङ्गुष्ठाग्रभूमिस्थैः सूर्यसंबद्धदृष्टिभिः । ब्रह्मर्षिभिः परं ब्रह्म गृणद्गिरुपसेविताम् ॥ 47 ॥
अथ दिव्यां नदीं देवीमभ्यनन्दन्विलोक्य ताः । कं नाभिनन्दयत्येषा दृष्ट्वा पीयूषवाहिनी ॥ 48 ॥
चन्द्रचूडामणिर्देवो यामुद्रहति मूर्ध्नि । यस्या विलोकनं पुण्यं श्रद्धयुक्ता मुदा हृदि ॥ 49 ॥
दिव्यां विष्णुपदीं देवीं निर्वाणपददेशिनीम् । निर्धूतकल्मषां मूर्ध्ना सुप्रह्लास्ताववन्दिरे ॥ 50 ॥
सौभाग्यं खलु सुप्रापं मोक्षप्रतिभुवंसतीम् । भक्त्यात्र तुष्टु वुस्तांताः श्रद्धवानादिवोधुनीम् ॥ 51 ॥
मुक्तिस्त्रीसङ्गदूत्यज्ञैस्तत्रता विमलैर्जलैः । प्रक्षालितमलाः सस्तुः सुस्नातास्तपसांविताः ॥ 52 ॥
स्नात्वा तत्र सुलभ्यायां भाग्यैः परिपचेलिमैः । चरितार्थं स्वमात्मानं बहु तामेनिरे मुदा ॥ 53 ॥
कुशानुरेतसो रेतस्तासामभिकलेवरम् । अमोघं संचचाराथ सद्यो गङ्गावगाहनात् ॥ 54 ॥

निकल भागे ॥ 41 ॥ रुद्र के उस प्रचंड तेज से अत्यन्त तपकर वह भयंकर जल उबलकर ऐसा गरम हो गया कि छुआ-तक नहीं जा रहा था, फिर भी गंगा ने उसे लिये ही रक्खा ॥ 42 ॥ एक दिन माघ के महीने में जब संसार के नेत्र-रूप प्रचंड किरणों वाले सूर्य थोड़े-थोड़े निकल ही रहे थे कि उसी समय छओं कृत्तिकाएँ नहाने के लिये गंगा के तीर पर आ पहुँची ॥ 43 ॥ उस समय गंगा की उजली और आकाश चूमने वाली सैकड़ों तरंगें उछल-उछलकर मानो यह बताए दे रही थीं कि स्वर्ग में रहने वाले देवता लोग यहीं आकर दर्शन, स्नान और आचमन किया करते हैं ॥ 44 ॥ वहाँ तीरपर फूल, दूब, अक्षत आदि वे सब पूजा की सामग्रियाँ विखरी पड़ी थीं जो मुनियों ने भली प्रकार स्नान-पूजा करके वहाँ ला चढ़ाई थीं ॥ 45 ॥ जिस (गंगा) नदी के तीर पर कुश के आसनों पर पद्मासन बाँधकर ब्रह्मका ध्यान करते हुए और समाधि लगाए हुए ऋषि लोग कमरसे घुटनों तक कपड़े ओढ़े सदा बैठे रहते थे ॥ 46 ॥ और पाँव के अँगूठों पर खड़े होकर सूर्य की ओर आँख जमाए हुए ब्रह्मर्षि परम ब्रह्मका ध्यान करते थे, ॥ 47 ॥ उस दिव्य नदी को उन छओं कृत्तिकाओं ने आ प्रणाम किया क्योंकि भला ऐसी अमृत की धारावाली गंगा को देखकर कौन नहीं मुग्ध हो जायगा ॥ 48 ॥ स्वयं भगवान् शंकर, जिन गंगा को मस्तक पर धारण किए रहते हैं और जिनका दर्शन करने से ही बहुत पुण्य होता है उन गंगा को देखकर छहों कृत्तिकाएँ मनमें इतनी प्रसन्न हुई कि उनके मनमें गंगा के लिये बड़ी भारी श्रद्धा जाग उठी ॥ 49 ॥ उन कृत्तिकाओं ने, मुक्ति देने वाली, विष्णु के चरणों से निकलने वाली और पापों का नाश करने वाली गंगा की बड़ी भक्तिसे वन्दना की ॥ 50 ॥ जिन गंगा का बड़े सौभाग्य से दर्शन होता है और जो साक्षात् मुक्ति ही हैं उन गंगा की स्तुति कृत्तिकाओं ने बड़ी भक्ति के साथ की ॥ 51 ॥ और तब उन तपस्विनी कृत्तिकाओं ने जी भरकर मल-मलकर गंगा के उस निर्मल जल में स्नान किया जो ऐसा लगता था मानो मुक्ति के पास ही पहुँचाए दे रहा हो ॥ 52 ॥ जिन गंगा में पिछले जन्म के पुण्यवान लोग ही स्नान कर पाते हैं उन गंगा में बड़े आनन्द के साथ स्नान करके उन कृत्तिकाओं ने बड़ा अपना भाग्य सराहा ॥ 53 ॥ जब वे कृत्तिकाएँ गंगा में स्नान कर रही थीं उसी समय शंकर का अचूक वीर्य गंगा से निकल कर उन कृत्तिकाओं के शरीर में जा पैठा ॥ 54 ॥ तब शिव के उस अत्यन्त असह्य अग्नि के समान

रौद्रं सुदुर्द्धरं धाम दधाना दहनात्मकम् । परितापमवापुस्ता मग्ना इव विषाम्बुधौ ॥ 55 ॥
 अक्षमा दुर्वहं बोद्धुमम्बुनो बहिरातुराः । अग्निं ज्वलन्तमन्तस्ता दधाना इव निर्ययुः ॥ 56 ॥
 अमोघंशांभवंबीजं सद्यो नद्योज्झितं महत् । तासामभ्युदरं दीप्तस्थितं गर्भत्वमागमत् ॥ 57 ॥
 सुज्ञा विज्ञाय ता गर्भीभूतं तद्वोद्धुमक्षमाः । विषादमदधुः सद्यो गाढं भर्तृभिया हिया ॥ 58 ॥
 अकामकरणं जातमकाण्डे भाविनोऽर्थतः । संभूयान्योन्यमात्मानं सुश्रुवुस्तास्तदाविलम् ॥ 59 ॥
 ततः शारवणे सार्धं भयेन व्रीडया च ताः । तद्गर्भजातमुत्सृज्य स्वान्गहानभिनिर्ययुः ॥ 60 ॥
 ताभिस्तत्रामृतकरकलाकोमलं भासमानं तद्विक्षिप्तं क्षणमभिनभोगर्भमभ्युज्जिहानैः ।
 स्वैस्तेजोभिर्दिनपतिशतस्पर्धमानैरमानैर्वक्त्रैः षड्भिः स्मरहरगुरुस्पर्धयेवाजनीव ॥ 61 ॥

॥ इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये

कुमारोत्पत्तिर्नाम दशमः सर्गः ॥



वीर्य के आ जाने से वे ऐसी तप्त हो उठीं मानो विषके समुद्र में ही जा डूबी हों ॥ 55 ॥ निदान उस असह्य तेज को बहुत देर-तक न सह सकने के कारण वे भीतर ही भीतर जलती हुई उस तेज को लिए दिए जल से बाहर आ निकलीं ॥ 56 ॥ शंकर का वह भभकता हुआ अचूक वीर्य गंगा से फूटकर उन कृत्तिकाओं के पेट में पहुँचकर गर्भ बन गया ॥ 57 ॥ जब उन कृत्तिकाओं ने देखा कि वह तेज तो गर्भ बन गया है और हमसे सँभाले नहीं सँभल पा रहा है तब वे बुद्धिमती कृत्तिकाएँ अपने-अपने पतियों के डर और लाज के मारे बड़ी व्याकुल हो उठीं ॥ 58 ॥ फिर भी उस होनहार अनिच्छित और अनवसर-प्राप्त गर्भ की उन छहों कृत्तिकाओं ने परस्पर मिलकर बड़ी रक्षा की ॥ 59 ॥ और तब लज्जा और भय के कारण वे एक सरपत की झाड़ी में अपने-अपने गर्भ छोड़कर अपने-अपने घर लौट गईं ॥ 60 ॥ कृत्तिकाओं ने उस सरपत की झाड़ी में चन्द्रमा की किरणों के समान जो कोमल और तेजस्वी गर्भ छोड़े थे वे देखते-देखते इतने अधिक तेजस्वी बन गए कि उनका तेज उदय होते हुए सैकड़ों सूर्यों से भी ऐसी होड़ करने लगा मानो अपने-छहों मुखों से वे चार मुखवाले ब्रह्मा को भी चुनौती दिए डाल रहे हों ॥ 61 ॥

॥ महाकवि श्री कालिदास के रचे हुए कुमारसंभव महाकाव्य में कुमार के जन्म का वर्णन नामका दसवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥



॥ एकादशः सर्गः ॥

अभ्यर्ध्यमाना विबुधैः समग्रैः प्रहैः सुरेन्द्रप्रमुखैरुपेत्य ।
 तं पाययामास सुधातिपूर्ण सुरापगा स्वं स्तनमाशु मूर्त्ता ॥ 1 ॥
 पिबन्स तस्याः स्तनयोः सुधौघं क्षणं क्षणं साधु समेधमानः ।
 प्रापाकृतिं कामपि षड्भिरेत्य निषेव्यमाणः खलु कृत्तिकाभिः ॥ 2 ॥
 भागीरथीपावककृत्तिकानामानन्दबाष्पाकुललोचनानाम् ।
 तं नन्दनं दिव्यमुपात्तुमासीत्परस्परं प्रौढतरो विवादः ॥ 3 ॥
 अत्रान्तरे पर्वतराजपुत्र्या समं शिवः स्वैरविहारहेतोः ।
 नभो विमानेन विगाहमानो मनोतिवेगेन जगाम तत्र ॥ 4 ॥
 निसर्गवात्सल्यवशाद्विवृद्धचेतःप्रमोदौ गलदश्रुनेत्रौ ।
 अपश्यतां तं गिरिजागिरिशौ षडाननं षड्दिनजातमात्रम् ॥ 5 ॥
 अथाह देवी शशिखण्डमौलिं कोऽयं शिशुर्दिव्यवपुः पुरस्तात् ।
 कस्याथवा धन्यतमस्य पुंसो मातास्य का भाग्यवतीषु धुर्या ॥ 6 ॥
 स्वर्गापगासावनलोऽयमेताः षट्कृत्तिकाः किं कलहायमानाः ।
 पुत्रो ममायं न तवायमित्थं मिथ्येति वैलक्ष्यमुदाहरन्ति ॥ 7 ॥
 एतेषु कस्येदमपत्यमीशाखिलत्रिलोकीतिलकायमानम् ।
 अन्यस्य कस्याप्यथ देवदैत्यगन्धर्वसिद्धोरगराक्षसेषु ॥ 8 ॥

ग्यारहवाँ सर्ग

इन्द्र आदि सब देवताओं ने जब गङ्गा के पास आकर बड़ी नम्रता से प्रार्थना की तब वे स्त्री का रूप धारण करके अपना अमृत से भरा स्तन उस बालक को पिलाने लगीं ॥ 1 ॥ वह छह मुखों वाला बालक अमृत की धारा पी-पीकर पल-पल में बड़े वेग से बढ़ने लगा और जब छहों कृत्तिकाएँ भी आकर उसकी देखभाल करने लगीं तब तो उसका रूप-रंग कुछ अनोखे ही ढंग से सुहावना हो उठा ॥ 2 ॥ उस दिव्य रूप वाले बालक को देखकर, गंगा, अग्निदेव और छहों कृत्तिकाएँ सब आँखों में प्रेम के आँसू भर-भरकर उस बालक को अपना-अपना पुत्र बनाने के लिये आपस में झगड़ने लगीं ॥ 3 ॥ इसी बीच शिव भी पार्वती के साथ यों ही घूमते-घामते मन के समान वेग से चलने वाले विमान पर चढ़े हुए आकाश में उड़ते हुए वहाँ आ पहुँचे ॥ 4 ॥ छह दिनों के उस छह मुँह वाले बालक को देखते ही शिव और पार्वती की आँखें स्वाभाविक पुत्र-प्रेम की प्रसन्नता के मारे छलछला उठीं ॥ 5 ॥ और शंकर से पार्वती पूछने लगीं कि 'यह सामने दिव्य शरीर वाला बालक कौन है? किस बड़भागी का पुत्र है? और कौन सबसे बड़भागी स्त्री इसकी माता है? ॥ 6 ॥ ये अग्निदेव, गङ्गा और छहों कृत्तिकाएँ सब आपस में यह कह-कहकर क्यों झगड़ा कर रही हैं कि यह मेरा पुत्र है, तुम्हारा नहीं। ये इस प्रकार की बेतुकी और झूठी-झूठी बातें क्यों बके जा रही हैं ॥ 7 ॥ ईश! यह तीनों लोकों के तिलक के समान सबका सिरमौर सुन्दर बालक इन तीनों में से सचमुच किसका पुत्र है? या यह इनके अतिरिक्त किसी और ही देव, दैत्य, गन्धर्व, सिद्ध, नाग या राक्षस का पुत्र है' ॥ 8 ॥ अपनी प्राणधारी पार्वती की यह चावभरी बात सुनकर निर्मल कान्ति

श्रुत्वेति वाक्यं हृदयप्रियायाः कौतूहलिन्या विमलस्मितश्रीः ।
 सान्द्रप्रमोदोदयसौख्यहेतुभूतं वचोऽवोचत चन्द्रचूडः ॥ 9 ॥
 जगत्त्रयीनन्दन एष वीरः प्रवीरमातुस्तव नन्दनोऽस्ति ।
 कल्याणि कल्याणकरः सुराणां त्वत्तोऽपरस्याः कथमेष सर्गः ॥ 10 ॥
 देवि त्वमेवास्य निदानमास्ते सर्गे जगन्मङ्गलगानहेतोः ।
 सत्यं त्वमेवेति विचारयस्व रत्नाकरे युज्यत एव रत्नम् ॥ 11 ॥
 अतः शृणुष्ववाहितेन वृत्तं बीजं यदग्नौ निहितं मया तत् ।
 संक्रान्तमन्तस्त्रिदशापगायां ततोऽवगाहे सति कृत्तिकासु ॥ 12 ॥
 गर्भत्वमाप्तं तदमोघमेतत्ताभिः शरस्तम्बमधि न्यधायि ।
 बभूव तत्रायमभूतपूर्वो महोत्सवोऽशेषचराचरस्य ॥ 13 ॥
 अशेषविश्वप्रियदर्शनेन धुर्या त्वमेतेन सुपुत्रिणीनाम् ।
 अलं विलम्ब्याचलराजपुत्रि स्वपुत्रमुत्सङ्गतले निधेहि ॥ 14 ॥
 अथेति वादिन्यमृतांशुमौलौ शैलेन्द्रपुत्री रभसेन सद्यः ।
 सान्द्रप्रमोदेन सुपीनगात्री धात्री समस्तस्य चराचरस्य ॥ 15 ॥
 किरीटबद्धाञ्जलिभिर्नभःस्थैर्नमस्कृता सत्वरनाकिलोकैः ।
 विमानतोऽवातरदात्मजं तं ग्रहीतुमुत्कण्डितमानसाभूत् ॥ 16 ॥
 स्वर्गापगापावककृत्तिकादीन्कृताञ्जलीनानमतोऽपि भूयः ।
 हित्वोत्सुका तं सुतमाससाद पुत्रोत्सवे माद्यति का न हर्षात् ॥ 17 ॥

फैलाने वाली मुस्कराहट के साथ शंकर ने बड़ी प्यारी बात कही- ॥ 9 ॥ 'तीनों लोकों में आनन्द देने वाला यह बालक, तुम वीर माता का ही वीर पुत्र है। कल्याणी! तुम्हें छोड़कर देवताओं का कल्याण करने वाला ऐसा पुत्र भला और कौन दूसरा उत्पन्न कर सकता है ॥ 10 ॥ देवी! संसार भरके मंगल के कामों में जिस बालक की कीर्ति गाई जाया करेगी वह तुम्हारा ही यह पुत्र है। तुम्हीं ठीक-ठीक विचार देखो कि रत्न तो रत्नाकर से ही निकल पा सकता है न! ॥ 11 ॥ देखो पार्वती! सावधान होकर इस बालक के उत्पन्न होने की कथा सुन लो। देखो! मैंने अपना जो अचूक वीर्य अग्नि में रख दिया था, उसे अग्नि ने गंगा में जा छोड़ा। वह फिर इन स्नान करती हुई छहों कृत्तिकाओं के पेट में पहुँचकर गर्भ जा बना और तब उस गर्भ को कृत्तिकाओं ने सरपत की झाड़ी में ले जा डाला। उसी गर्भ से चर और अचर प्राणियों को हर्ष देने वाला यह अनोखा बालक है ॥ 12-13 ॥ देखो पार्वती! सारे संसार के प्यारे इस बालक की माता होने से सब पुत्रवती स्त्रियों में तुम्हीं अपने को श्रेष्ठ समझो। अब देर न करो और अपने पुत्र को गोद में उठा लो' ॥ 14 ॥ शंकर की यह बात सुनकर सारे संसार की माता पार्वती हर्ष से फूली न समाई और झट विमान से उतरकर उस पुत्र-रत्न को गोद में लेने के लिये अधीर हो उठीं। उस समय आकाश में इन्द्र आदि देवता लोग अपने मुकुटों पर हाथ जोड़कर और सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम करने लगे ॥ 15-16 ॥ गंगा, अग्नि देव और कृत्तिकाएँ भी सभी बार-बार झुक झुककर उन्हें प्रणाम कर रही थीं पर पार्वती का ध्यान उधर गया ही नहीं और उन्होंने बड़े भाव से उस पुत्र को अपनी गोद में उठा लिया। भला कौन ऐसी माता होगी जो अपने पुत्र के प्रेम में सुध-बुध न खो बैठती हो ॥ 17 ॥ आँखों में आनन्द के आँसू छलक आने से वे थोड़ी देर तक तो अपने पुत्र को देख ही न पाई और कली के

प्रमोदबाष्पाकुललोचना सा न तं ददर्श क्षणमग्रतोऽपि ।
 परिस्पृशन्ती करकुङ्मलेन सुखान्तरं प्राप किमप्यपूर्वम् ॥ 18 ॥
 सुविस्मयानन्दविकस्वरायाः शिशुर्गलद्वाष्पतरंगितायाः ।
 विवृद्धवात्सल्यरसोत्तराया देव्या दशोर्गोचरतां जगाम ॥ 19 ॥
 तमीक्षमाणा क्षणमीक्षणानां सहस्रमाप्तुं विनिमेषमैच्छत् ।
 सा नन्दनालोकनमङ्गलेषु क्षणं क्षणं तृप्यति कस्य चेतः ॥ 20 ॥
 विनम्रदेवासुरपृष्ठगाभ्यामादाय तं पाणिसरोरुहाभ्याम् ।
 नवोदयं पार्वणचन्द्रचारुं गौरी स्वमुत्सङ्गतलं निनाय ॥ 21 ॥
 स्वमङ्गमारोप्य सुधानिधानमिवात्मनो नन्दनमिन्दुवक्त्रा ।
 तमेकमेषा जगदेकवीरं बभूव पूज्या धुरि पुत्रिणीनाम् ॥ 22 ॥
 निसर्गवात्सल्यसौ धसिक्ता सान्द्रप्रमोदामृतपूरपूर्णा ।
 तमेकपुत्रं जगदेकमाताभ्युत्सङ्गिनं प्रसविणी बभूव ॥ 23 ॥
 अशेषलोकत्रयमातुरस्याः षाण्मातुरः स्तन्यसुधामधासीत् ।
 सुरसवन्त्याः किल कृत्तिकाभिर्मुहुर्मुहुः सस्पृहमीक्ष्यमाणः ॥ 24 ॥
 सुखाश्रुपूर्णेन मृगाङ्गमौलेः कलत्रमेकेन मुखाम्बुजेन ।
 तस्यैकनालोद्गतपञ्चपद्मक्ष्मीं क्रमात्पण्ड्वदनीं चुचुम्बे ॥ 25 ॥
 हैमी फलं हेमगिरेर्लतेव विकस्वरं नाकनदीव पद्मम् ।
 पूर्वैव दिङ्मूतनमिन्दुमाभात् पार्वती नन्दनमादधाना ॥ 26 ॥

समान अपने कोमल हाथ से ही पुत्र को सहलाने भर से ही वे अनोखा सुख लेती रहीं ॥ 18 ॥ उन्हें वह मनोहर बालक तब दिखाई दिया जब उनकी आँखें अचरज और आनन्द से खिली जा रही थीं, जी उमड़ा पड़ रहा था, आँसू बहे जा रहे थे और वात्सल्य-भाव रोम-रोम से छलका पड़ा रहा था ॥ 19 ॥ उस बच्चे की ओर एकटक देखती हुई पार्वती मन में सोचे जा रही थीं कि यदि इस समय मुझे एक सहस्र आँखें मिल पातीं तो कितना अच्छा होता । भला पुत्र के दर्शन से किसका जी भर पाता है ॥ 20 ॥ प्रणाम करने के लिए झुके हुए देवताओं और दैत्यों की पीठ पर अपने जो हाथ रखकर वे आशीष दिया करती थीं उन्हीं हाथों से पार्वती ने पूनों के चन्द्रमा के समान अपने सुन्दर पुत्र को अपनी गोद में ले बिठाया ॥ 21 ॥ चन्द्रमा के समान मुख वाली पार्वती ने संसार में सबसे श्रेष्ठ अपने उस अनोखे वीर पुत्र को गोद में जिस समय इस प्रकार उठा लिया मानो अमृत का कलश ही गोद में उठा रक्खा हो उस समय वे पुत्रवतियों में सबसे श्रेष्ठ पूजनीया हो उठीं ॥ 22 ॥ संसार की माता पार्वती ने जब उस अनोखे पुत्र को गोद में उठा लिया तब वात्सल्य रस की स्वाभाविक धारा उनके रोम-रोम से फूट पड़ी, हर्ष के अमृत की बाढ़ आ गई और उनके स्तनों से दूध की धारा बह चली ॥ 23 ॥ जब कार्तिकेय सब लोगों की माता पार्वती के स्तनों का अमृत पीने लगे तब गंगा और कृत्तिकाएँ बड़े डाह से उनकी ओर बार-बार देखे जा रही थीं ॥ 24 ॥ शंकर की प्यारी पार्वती ने हर्ष के आँसू बहाते हुए अपने कमल के समान एक मुख से उस पुत्र के उन छहों मुखों को चूम लिया जो ऐसे लगते थे मानो कमल की एक डंठल में पाँच सुन्दर कमल निकल आये हों और उन पाँचों के बीच में उन कमलों की ही शोभा छठा कमल बनी निकली चली आई हो ॥ 25 ॥ गोद में सुन्दर पुत्र लिए हुए पार्वती ऐसी सुन्दर लग रही थीं मानो सोने के सुमेरु पर्वत पर उत्पन्न होने वाली सुनहली लता में फल निकल आया हो या आकाशगंगा में कमल खिल उठा

प्रीतात्मना सा प्रयतेन दत्ताहस्तावलम्बा शशिशेखरेण ।
 कुमारमुत्सङ्गतले दधाना विमानमभ्रलिहमारुरोह ॥ 27 ॥
 महेश्वरोऽपि प्रमदप्ररूढरोमोद्गमो भूधारनन्दनायाः ।
 अङ्कादुपादत्त तदङ्गतः सा तस्यास्तु सोऽप्यात्मजवत्सलत्वात् ॥ 28 ॥
 दधानया नेत्रसुधौकसत्रां पुत्रां पवित्रां सुतया तयाद्रेः ।
 संश्लिष्यमाणः शशिखण्डधारी विमानवेगेन गृहाञ्जगाम ॥ 29 ॥
 अधिष्ठितः स्फाटिकशैलशृङ्गे तुङ्गे निजं धाम निकामरम्यम् ।
 महोत्सवाय प्रमथप्रमुख्यान्पृन्धून्गणाञ्शंभुरथादिदेश ॥ 30 ॥
 पृथुप्रमोदः प्रगुणो गणानां गणः समग्रा वृषवाहनस्य ।
 गिरीन्द्रपुत्र्यास्तनयस्य जन्मन्यथोत्सवं संववृते विधातुम् ॥ 31 ॥
 स्फुरन्मरीचिच्छुरिताम्बराणि संतानशाखिप्रसवाश्रितानि ।
 उच्चिक्षिपुः कान्छनतोरणानि गणा वराणि स्फटिकालयेषु ॥ 32 ॥
 दिक्षु प्रसर्पस्तदधीश्वराणामधामराणाभिव मध्यलोके ।
 महोत्सवं शंसितुमाहतोऽन्यैर्दध्वान धीरः पटहः पटीयान् ॥ 33 ॥
 महोत्सवे तत्र समागतानां गन्धर्वविद्याधरसुन्दरीणाम् ।
 संभावितानां गिरिराजपुत्र्या गृहेऽभवन्मङ्गलगीतकानि ॥ 34 ॥
 सुमङ्गलोपायनपात्रहस्तास्तं मातरो मातृवदभ्युपेताः ।
 विधाय दूर्वाक्षतकानि मूर्ध्नि निन्युः स्वमङ्गं गिरिजातनूजम् ॥ 35 ॥

हो या पूर्व दिशा में चन्द्रमा निकल आया हो ॥ 26 ॥ पुत्र को गोद में लिए ही बड़े सुखी मन से शंकर
 के हाथ का सहारा लेकर आकाश चूमने वाले ऊँचे विमान पर पार्वती जा चढ़ी ॥ 27 ॥ वे दोनों पुत्र-प्रेम
 में इतने मगन हो चले थे कि कभी तो पार्वती की गोद से शंकर उस पुत्र को ले लेते थे और कभी उनकी
 गोद से उसे पार्वती ले लेती थीं । इस प्रकार पुत्र-प्रेम में भरे हुए दोनों उसे खेलाए जा रहे थे ॥ 28 ॥
 आँखों को अमृत के समान सुख देने वाले इस परम पवित्र पुत्र को गोद में लिए और अपनी छाती से
 लिपटी हुई पार्वती को साथ लेकर भगवान् शंकर वेग से चलने वाले विमान पर चढ़कर झट घर (कैलास)
 लौट आए ॥ 29 ॥ स्फटिक के बने हुए उस कैलास के ऊँचे शिखर पर अपने सुन्दर भवन में बैठकर
 शंकर अपने मुख्य मुख्य प्रमथ आदि गणों को आज्ञा दी कि जाओ, जाकर पुत्र उत्पन्न होने का बहुत
 उत्सव मनाओ ॥ 30 ॥ बड़े आनन्द और चाव से सभी गुणवान् गण लोग पार्वती और शंकर के पुत्र जन्म
 के उपलक्ष्य में महोत्सव मनाने में जा जुटे ॥ 31 ॥ कुछ गण तो स्फटिक में चमकती हुई किरणों के
 पड़ने से रंग बिरंगे दिखाई देने वाले कपड़ों से और कल्पवृक्ष के फूलों और पत्तों से बनाए हुए सुनहरे
 सुन्दर बन्दनवारों से अपने-अपने स्फटिक के भवन सजाने लगे ॥ 32 ॥ और कुछ गणों ने जो नगाड़े
 बजाए, उनकी गम्भीर ध्वनि जब दसों दिशाओं में जा फैली तब धरती से उठी हुई उसकी धमक मानो
 यह बताने लगी की दिक्पालों और देवताओं के समान ही यहाँ भी पुत्रोत्सव मनाया जा रहा है ॥ 33 ॥
 इस महोत्सव के उपलक्ष्य में गन्धर्वों और विद्याधरों की सुन्दरियों ने घर आकर बधैया गाई और पार्वती
 ने भी बड़े मन से उन सबकी बड़ी आवभगत की ॥ 34 ॥ ब्राह्मी आदि माताएँ भी बधावे की सामग्री
 लेकर बालक के पास चली आई और उसके सिरपर दूब और अक्षत छिड़क कर सब उसे अपनी-अपनी

ध्वनत्सु तूर्येषु सुमन्द्रमङ्ग्यालिङ्गयोर्ध्वकेश्वप्सरसो रसेन ।
 सुसन्धिबन्धं ननृतुः सुवृत्तगीतानुगं भावरसानुविद्धम् ॥ 36 ॥
 वाता ववुः सौख्यकराः प्रसेदुराशा विधूमो हुतभुग्दिदीपे ।
 जलान्यभूवन्विमलानि तत्रोत्सवेऽन्तरिक्षं प्रससाद सद्यः ॥ 37 ॥
 गम्भीरशङ्खध्वनिमिश्रमुच्चैर्गृहोद्भवा दुन्दुभयः प्रणेदुः ।
 दिवौकसां व्योम्नि विमानसंघा विमुच्य पुष्पप्रचयान्प्रससुः ॥ 38 ॥
 इत्थं महेशादिसुतासुतस्य जन्मोत्सवे संमदयाचकार ।
 चराचरं विश्वमशेषमेतत्परं चकम्पे किल तारकश्रीः ॥ 39 ॥
 ततः कुमारः स मुदां निदानैः स बाललीलाचरितैर्विचित्रैः ।
 गिरीशगौर्योर्हृदयं जहार मुदे न हृद्या किमु बालकेलिः ॥ 40 ॥
 महेश्वरः शैलसुता च हर्णात्सतर्णमेकेन मुखेन गाढम् ।
 अजातदन्तानि मुखानि सूनोर्मनोहराणि क्रमतश्चुचुम्ब ॥ 41 ॥
 क्वचित्स्खलद्भिः क्वचिदस्खलद्भिः क्वचित्प्रकम्पैः क्वचिदप्रकम्पैः ।
 बालः स लीलाचलनप्रयोगैस्तयोर्मुदं वर्धयति स्म पित्रोः ॥ 42 ॥
 अहे तुहासच्छुरिताननेन्दुर्गुहाङ्गणाक्रीडनधूलिधूमः ।
 मुहुर्वदन्किञ्चिदलक्षितार्थं मुदं तयोरङ्गतस्ततान ॥ 43 ॥
 गृह्णन्विषाणो हरवाहनस्य स्पृशन्नुमाकेसरिणं सलीलम् ।
 स भृङ्गिणः सूक्ष्मतरं शिखाग्रं कर्षन्बभूव प्रमदाय पित्रोः ॥ 44 ॥

गोदी में उठाए फिरने लगीं ॥ 35 ॥ वहाँ अंक्य, आलिङ्ग्य और ऊर्ध्वक नाम की अनेक प्रकार की तुरहियाँ मीठी-मीठी बज उठीं और भाव तथा रस-भरे अच्छे-अच्छे छन्दों में बँधे हुए गीत गाती हुई अप्सराएँ, बड़े हाव-भाव से नाचने लगीं ॥ 36 ॥ सुख देने वाला पवन बहने लगा, दिशाएँ खिल उठीं, धुआँ मिट जाने से आग चमक उठी और जल निर्मल हो गया, यहाँ-तक कि उस उत्सव में आकाश भी तत्काल खुल गया ॥ 37 ॥ शंख की गम्भीर ध्वनि के साथ-साथ घर-घर के छोटे-छोटे नगाड़े भी बज उठे। देवता लोग भी आकाश में आ आकर विमानों से फूल ला-ला बरसाते और चले जाते ॥ 38 ॥ इस प्रकार शंकर और पार्वती के जन्मोत्सव से संसार के जहाँ सभी चर और अचर प्राणी हर्ष से फूल उठे वहीं तारक राक्षस की राज-लक्ष्मी (भय से) काँप उठी ॥ 39 ॥ धीरे-धीरे वह बालक अपनी मनोहर और अनोखी बाल-लीलाओं से शंकर और पार्वती को आनन्द देने लगा ॥ 40 ॥ वे हर्ष से मतवाले होकर अपने पुत्र के पोपले और मनोहर मुखों को बार-बार बड़े भाव से उठा उठाकर चूमा करते थे ॥ 41 ॥ कहीं लड़खड़ाता हुआ और कहीं सीधे चलता हुआ, कहीं काँपता-सा और कहीं तना हुआ-सा वह बालक अपनी खिलवाड़-भरी चालों से उनका जी लुभाने लगा ॥ 42 ॥ अपने माता-पिता की गोद में बैठा हुआ वह बालक, अनेक प्रकार से उनका जी लुभाया करता था। कभी तो उसका मुखचन्द्र बिना किसी बात के ही हँसी से चमक उठता था, कभी घर के आँगन में खेलों में उसका शरीर धूल से भर जाता था और कभी वह बार-बार तोतली बोली बोल-बोलकर अपने माता-पिता को रिझाया करता था। कभी-कभी तो वह शंकर के बैल के सींग जा पकड़ता, कभी पार्वती के सिंह के केसर जा सहलाता और कभी भृङ्गी की चोटी के महीन बाल जा खींचने लगता। उसके यह सब करतब देख-देखकर उसके माता-पिता हर्ष से फूले

एको नव द्वौ दश पञ्च सप्तेत्यजीगणत्रात्ममुखं प्रसार्य ।
 महेशकण्ठोरगदन्तपङ्क्तिं तदङ्कगः शैशवमौग्ध्यमैशिशः ॥ 45 ॥
 कपर्दिकण्ठान्तकपालदाम्नोऽङ्गुलिं प्रवेश्याननकोटरेषु ।
 दन्तानुपात्तुं रभसी बभूव मुक्ताफलभ्रान्तिकरः कुमारः ॥ 46 ॥
 शंभोः शिरोऽन्तः सरितस्तरंगान्विगाढ्य गाढं शिशिरान्नसेन ।
 स जातजाड्यं निजपाणिपद्मतापयद्भालविलोचनाग्नौ ॥ 47 ॥
 किञ्चित्कलं भङ्गुरकंधरस्य नमज्जटाजूटधरस्य शंभोः ।
 प्रलम्बमानं किल कौतुकेन चिरं चुचुम्बे मुकुटेन्दुखण्डम् ॥ 48 ॥
 इत्थं शिशोः शैशवकेलिवृत्तैर्मनोभिरामैर्गिरिजागिरीशौ ।
 मनोविनोदैकरसप्रसक्तौ दिवानिशं नाविवतां कदाचित् ॥ 49 ॥
 इति बहुविधं बालक्रीडाविचित्रविचेष्टितं ललितललितं सान्द्रानन्दं मनोहरमाचरन् ।
 अलभत परां बुद्धिं षष्ठे दिने नवयौवनं स किल सकलं शास्त्रं विवेद विभुर्यथा ॥ 50 ॥
 ।। इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
 कुमारबाललीलावर्णनं नामैकादशः सर्गः ।।



न समाते ॥ 43-44 ॥ कभी-कभी वह अपने मुँह खोलकर शंकर की गोद में बैठ के बाल-सुलभ भोलेपन के साथ शिव के कण्ठ में पड़े हुए साँपों के मुख फाड़-फाड़कर उनके दाँतों को एक, नौ, दो, दस, पाँच, सात कहकर गिनने लग जाता था ॥ 45 ॥ कभी वह शंकर के कण्ठ में पड़े मुण्डमाल के मुखों में उँगली डाल-डालकर उनके दाँतों को मोती समझकर निकालने लगता था ॥ 46 ॥ कभी वह शंकर के सिर पर बहती रहने वाली गंगा की लहरों में अपना हाथ डाल देता पर जब बहुत ठंड लगने से उसके हाथ सुन्न हो जाते तब वह अपना कमल-सा कोमल हाथ शिव के माथे पर जलते हुए तीसरे नेत्र के आगे ले जा सेंकता ॥ 47 ॥ जब वह देखता कि शिवका कन्धा तनिक नीचा हो रहा है और उनके जटा-जूट झुके पड़ रहे हैं तब वह जटा के साथ लटकने वाले सिर पर के चन्द्रमा को ही बड़ी देर-तक चूमता रहता ॥ 48 ॥ इस प्रकार पुत्र की मनोहर और खिलवाड़ से भरी बाल-लीलाओं का आनन्द लेते हुए शंकर और पार्वती इतने मगन हो जाया करते कि उन्हें यह-तक सुध न रह जाती कि कब दिन चढ़ा और कब रात आई ॥ 49 ॥ यों अनेक प्रकार की मन-लुभावनी और बड़ी सुहावनी बाल-लीलाएँ करते हुए वह बालक छठे दिन बड़ा बुद्धिमान् और जवान हो गया और छह ही दिनों में उसे सब शास्त्र और शस्त्र-विद्याएँ भली प्रकार आ गई ॥ 50 ॥

॥ महाकवि श्री कालिदास के रचे हुए कुमारसम्भव महाकाव्य में कुमार की बाललीला वर्णन नामक ग्यारहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥



॥ द्वादशः सर्गः ॥

अथ प्रपेदे त्रिदशैरशोषैः क्रूरासुरोपप्लवदुःखितात्मा ।
 पुलोमपुत्रीदयितोऽन्धकारिं पत्रीव तृष्णातुरितः पयोदम् ॥ 1 ॥
 दृप्तारिसंत्रासखिलीकृतात्स कथंचिदम्भोदविहारमार्गात् ।
 अबातताराभिगिरिं गिरीशगौरीपदन्यासविशुद्धमिन्द्रः ॥ 2 ॥
 संक्रन्दनः स्यन्दनतोऽवतीर्य मेघात्मनो मातलिदत्तहस्तः ।
 पिनाकिनोऽध्यालयमुच्चवाल शुचौ पिपासाकुलितो यथाम्भः ॥ 3 ॥
 इतस्ततोऽथ प्रतिबिम्बभाजं विलोकमानः स्फटिकाद्रिभूमौ ।
 आत्मानमप्येकमनेकधा स द्रजन्विभोरास्पदमाससाद ॥ 4 ॥
 विचित्रचञ्चन्मणिभङ्गिसङ्गं सौवर्णदण्डं दधतातिचण्डम् ।
 स नन्दिनाधिष्ठितमध्यतिष्ठत्सौधाङ्गणद्वारमनङ्गशत्रीः ॥ 5 ॥
 ततः स कक्षाहितहेमदण्डो नन्दी सुरेन्द्रं प्रतिपद्य सद्यः ।
 प्रतोषयामास सुगौरवेण गत्वा शशंस स्वयमीश्वरस्य ॥ 6 ॥
 भ्रसंज्ञयानेन कृताभ्यनुज्ञः सुरेश्वरं तं जगदीश्वरेण ।
 प्रवेशयामास सुरैः पुरोगः समं स नन्दी सदनं सदस्य ॥ 7 ॥
 स चण्डिभृङ्गिप्रमुखौ गर्गिष्ठैर्गणैरनेकैर्विदिधास्वरूपैः ।
 अधिष्ठितं संसदि रत्नमय्यां सहस्रनेत्रः शिवमालुलोके ॥ 8 ॥

बारहवाँ सर्ग

जैसे प्यास लगने पर पपीहा बादल की शरण में जा पहुँचता है, वैसे ही अत्याचारी तारक के उपद्रवों से दुखी इन्द्र भी, सब देवताओं को साथ लेकर शंकर के पास जा पहुँचे ॥ 1 ॥ उस घमण्डी शत्रु तारक का ऐसा आतंक छाया हुआ था कि देवता लोग किसी भी मार्ग से नहीं आ-जा सकते थे। इसलिये इन्द्र भी बादलों के बीच में छिपते-छिपाते किसी-किसी प्रकार उस कैलास पर जा उतरे जो शंकर और पार्वती के चरण पड़ने से पवित्र हो गया था ॥ 2 ॥ वहाँ मातलि के हाथ का सहारा लेकर इन्द्र भी बादल के रथ से नीचे आ उतरे और शंकर के भवन की ओर उसी प्रकार लपक चले जैसे गर्मी से प्यासा मनुष्य पानी की ओर दौड़े ॥ 3 ॥ स्फटिक से बने हुए कैलास में चारों ओर अपनी बहुत सी परछाइयाँ देखते हुए वे शंकर के भवन पर जा ही पहुँचे ॥ 4 ॥ शंकर के भवन की उस देहली पर पहुँचकर इन्द्र रुक गए जहाँ रंग-बिरंगे मणियों की पच्चीकारी की हुई थी और एक बड़ा-सा सोने का डंडा हाथ में लिए नन्दी बैठे पहरा दे रहे थे ॥ 5 ॥ अपना सोने का डंडा एक कोने में रखकर नन्दीने चट से आगे बढ़कर आवभगत करके इन्द्र का स्वागत किया और स्वयं महादेव को उनके आने की सूचना भीतर जा दी ॥ 6 ॥ शङ्कर ने भीहों से ही उन्हें भीतर लाने का संकेत कर दिया और उनकी आज्ञा पाकर नन्दीने आगे-आगे मार्ग दिखाते हुए इन्द्र और देवताओं को शंकर के पास ले जा पहुँचाया ॥ 7 ॥ इन्द्र ने देखा कि वहाँ रत्न-जड़े सभा-मण्डप में चण्डी, भृङ्गी आदि अनेक रूप-रंग वाले बहुत से बड़े-बड़े गणों से घिरे शिव बैठे हुए हैं ॥ 8 ॥ साँपों से लिपटा हुआ शिव के सिर का जटा-जूट वासुकि आदि बड़े-बड़े साँपों के फनों के मणियों

कपर्दमुद्वहन्महीनमूर्धारत्नांशुभिर्भासुरमुल्लसद्भिः ।
 दधानमुच्चैस्तरमिद्धधातोः सुशुरुशृङ्गस्य समत्वमाप्तम् ॥ 9 ॥
 विभ्राणमुत्तुङ्गतरङ्गमालां गङ्गां जटाजूटतटं भजन्तीम् ।
 गौरीं तदुत्सङ्गजुषं हसन्तीमिव स्वफेनैः शरदभ्रशुभ्रैः ॥ 10 ॥
 गङ्गातरङ्गप्रतिबिम्बितैः स्वैर्बहूभवन्तं शिरसा सुधांशुम् ।
 चलन्मरीचिप्रचयैस्तुषारगौरैरहिमद्योतितमुद्वहन्तम् ॥ 11 ॥
 भालस्थले लोचनमेधमानधामाधारीभूतरवीन्दुनेत्रम् ।
 युगान्तकालोचितहव्यवाहं मीनध्वजप्लोषणमादधानम् ॥ 12 ॥
 महार्हर्त्नाश्रितयोरुदारं स्फुरत्प्रभामण्डलयोः समन्तात् ।
 कर्णस्थिताभ्यां शशिभास्कराभ्यामुपासितं कुण्डलयोश्छलेन ॥ 13 ॥
 स्वबद्ध्या कण्ठिकयेव नीलमाणिक्यमय्या कुतुकेन गौर्याः ।
 नीलस्यकण्ठस्यपरिस्फुरन्त्याकान्त्या महत्यासुविराजमानम् ॥ 14 ॥
 कालार्दितानां त्रिदशासुराणां चितारजोभिः परिपाण्डुराङ्गम् ।
 महन्महे भाजिनमुद्गताभ्रप्रालेयशैलश्रियमुद्वहन्तम् ॥ 15 ॥
 पाणिस्थितब्रह्मकपालपात्रं वैकुण्ठभाजापि निषेव्यमाणम् ।
 नरास्थिखण्डाभरणं रणान्तमूलं त्रिशूलं कलयन्तमुच्चैः ॥ 16 ॥
 पुरातनीं ब्रह्मकपालमालां कण्ठे वहन्तं पुनराश्वसन्तीम् ।
 उद्गीतवेदां मुकुटेन्दुवर्षत्सुधाभरौघाप्लवलब्धसंज्ञाम् ॥ 17 ॥

की किरणों से चमकता हुआ सुमेरु पर्वत की चोटी के समान दिखाई पड़ रहा था ॥ 9 ॥ शिव के जटा-जूट के अगले भाग में बसी हुई ऊँची-ऊँची तरङ्गों वाली गंगा भी शरत् के बादलों के समान उजली फेन उछाल-उछालकर मानो शंकर की गोद में बैठी पार्वती की खिल्ली उड़ाए जा रही हों कि देखो, मैं तो शिव के सिर पर चढ़ी बैठी हूँ ॥ 10 ॥ शिव के सिर के चन्द्रमा की हिम-जैसी उजली किरणों की परछाईं गंगा की तरंगों में बहुत रूपों में नाचती हुई ऐसी जान पड़ती थी मानो उस एक चन्द्रमा के बहुत से चन्द्रमा बन गए हों ॥ 11 ॥ उनके माथे पर कामदेव को जलाने वाला प्रलय की अग्नि के समान वह तीसरा नेत्र भी चमक रहा था जिसके बढ़ते हुए तेज के आगे प्रलय के सूर्य और चन्द्ररूपी नेत्र भी झँप जाते हैं ॥ 12 ॥ उनके कानों में किरणों के घेरे से घिरे हुए अनमोल रत्नों से जड़े दो कुण्डल ऐसे लटक रहे थे मानो इनके बहाने सूर्य और चन्द्र ही शंकर के दोनों कानों पर उनकी सेवा कर रहे हों ॥ 13 ॥ उनका नीला कंठ ठीक वैसा ही चमक रहा था जैसा कभी-कभी खिलवाड़ में नीम का हार पहन लेने पर पार्वती का गला चमक उठता है ॥ 14 ॥ मरे हुए देव-दानवों की चिताओं की भस्म पुते हुए अपने उजले अंग पर हाथी की खाल ओढ़े हुए वे ऐसे दिखाई दे रहे थे मानो बादलों से घिरा हुआ विशाल हिमालय हो ॥ 15 ॥ उनके एक हाँथ में ब्रह्म-कपाल का पात्र था, गले में मरे हुएों की हड्डियों के टुकड़ों के गहने थे और दूसरे युद्ध समाप्त कर डालने वाला ऊपर उठा हुआ त्रिशूल था। इस ऊटपटाँग वेष में होने पर भी वैकुण्ठवासी विष्णु उनकी सेवा किए जा रहे थे ॥ 16 ॥ उनके गले में ब्रह्म-कपालों की एक पुरानी माला पड़ी थी जो सिर पर बसे हुए चन्द्रमा से बरसी हुई अमृत की बूँदें पी-पीकर जीवित-सी हो-होकर वेद गाए जा रही थीं ॥ 17 ॥ सोने की नई लता के समान सुन्दर पार्वती को अपनी गोद में बैठाए हुए

सलीलमङ्गस्थितया गिरीन्द्रपुत्र्या तवाष्टापदवल्लिभासा ।
 विराजमानं शरदभ्रखण्डं परिस्फुरन्त्याचिररोचिषो व ॥ 18 ॥
 दृप्तान्धकप्राणहरं पिनाकं महासुरस्त्रीविधवात्वहेतुम् ।
 करेण गृह्णन्तमगृह्णमन्यैः पुरा स्मरप्लोषणकेलिकारम् ॥ 19 ॥
 भद्रासनं काञ्चनपादपीठं महार्हमाणिक्यविभङ्गिचित्रम् ।
 अधिष्ठितं चन्द्रमरीचिगौरैरुद्दीज्यमानं चमरैर्गणाभ्याम् ॥ 20 ॥
 शस्त्रास्त्रविद्याभ्यसनैकसक्ते सविस्मयैरेत्य गणैः सुदृष्टे ।
 नीराज्यमाने स्फटिकाचलेन सानन्दनिर्दिष्टदृशं कुमारं ॥ 21 ॥
 तथाविधं शैलसुताधिनाथं पुलोमपुत्रीदयितो निरीक्ष्य ।
 आसीत्क्षणं क्षोभपरो नु कस्य मनो न हि क्षुभ्यति धामधाम्नि ॥ 22 ॥
 विकस्वराम्भोजवनश्रिया तं दृशा सहस्रेण निरीक्षमाणः ।
 रोमालिभिः स्वर्गपतिर्बभासे पुष्पोत्कराकीर्ण इवाभ्रशाखी ॥ 23 ॥
 दृष्ट्वा सहस्रेण दृशां महेशमभूत्कृतार्थोऽतितरां महन्द्रः ।
 सर्वाङ्गजातं तदथो विरूपमिव प्रियाकोपकरं विवेद ॥ 24 ॥
 ततः कुमारं कनकाद्रिसारं पुरंदरः प्रेत्य धृतास्त्रशस्त्रम् ।
 महेश्वरोपान्तिकवर्तमानं शत्रोर्जयाशां मनसा बबन्ध ॥ 25 ॥
 श्रीनीलकण्ठं धुपतिः पुरोऽस्ति त्वयि प्रणामावसरं प्रतीच्छन् ।
 सहस्रेनेत्रेऽत्र भव त्रिनेत्र दृष्ट्या प्रसादप्रगुणो महेश ॥ 26 ॥

वे ऐसे दिखाई पड़ रहे थे मानो चमकती हुई बिजली से भरा कोई शरत् का बादल हो ॥ 18 ॥ उनके हाथ में वह पिनाक धनुष था जिसने अन्धक नामके मतवाले दैत्य के प्राण ले डाले थे, बड़े-बड़े दानवों को मारकर उनकी स्त्रियों को विधवा बना दिया था, कामदेव को जलाकर राख कर दिया था और जिसे दूसरा कोई उठा तक नहीं सकता था ॥ 19 ॥ वे ऐसे अनमोल मोती और मणियों की सजावट से रंग-बिरंगे दिखाई देने वाले उस सिंहासन पर बैठे हुए थे जिसके नीचे सोने का पैर-पीढ़ा रक्खा हुआ था और दोनों ओर से दो गण उठकर चन्द्र की किरणों के समान उजले चँवर डुला रहे थे ॥ 20 ॥ वे बैठे हुए बड़े चाव से उन कुमार कार्तिकेय की शस्त्र-विद्या और अस्त्र-विद्या का अभ्यास देख रहे थे, जिन्हें शंकर के गण भी बड़े आश्चर्य से देख रहे थे और वह स्फटिक का पर्वत भी जिसकी आरती उतारे जा रहा था ॥ 21 ॥ ऐसे शंकर को थोड़ी देर के लिये इन्द्र का मन भी ललच उठा क्योंकि अचानक इतनी सुख-सम्पत्ति इकट्ठी देखकर भला किसका मन नहीं ललच उठेगा ॥ 22 ॥ खिले हुए कमलों के समान अपने सुन्दर सहस्त्रों नेत्रों से शंकर को देखते हुए इन्द्र, उस आम के पेड़ के समान सुन्दर लगने लगे जो नीचे से ऊपर तक मञ्जरियों से लदा हुआ हो ॥ 23 ॥ अपनी सहस्त्रों आँखों से शंकर को देखकर इन्द्र ने अपना बड़ा भाग्य सराहा पर इससे उनके शरीर भर में जो रोमाञ्च हो आया उसे देखकर उन्हें यह डर हुआ कि कहीं इन्द्राणी यह न समझ बैठे कि किसी दूसरी सुन्दरी को देखने से रोमांच हो आया है और इसी पर वह सौतिया डाह करके कहीं रूठ न बैठें ॥ 24 ॥ इसके पश्चात् जब उन्होंने शंकर के पास बैठे हुए, सुमेरु के समान बलवाले और अस्त्र-शस्त्र-धारी कुमार को देखा तो उनके मन में आशा होने लगी कि अब हम शत्रु को अवश्य जीत लेंगे ॥ 25 ॥ इतने में अपना सोने का डंडा एक कोने में रखकर, आगे बढ़कर और हाथ जोड़कर, शंकर की कृपा पाने की इच्छा से नन्दी ने शंकर से जा कहा कि

इति प्रबद्धाञ्जलिरेत्य नन्दी निधाय कक्षामभि हेमवेत्रम् ।
 पुसादपात्रं पुरतो भविष्णुरथ स्मरारातिमुवाच वाचम् ॥ 27 ॥
 पुरा सुरेन्द्रं सुरसङ्घसेव्यं त्रिलोकसेव्यस्त्रिपुरासुरारिः ।
 प्रीत्या सुधासारनिधारिणेव ततोऽनुजग्राह विलोकनेन ॥ 28 ॥
 किरीटकोटिच्युतपारिजातपुष्पोत्करेणानमितेन मूर्ध्ना ।
 स्वर्गैकवन्धो जगदेकवन्धं तं देवदेवं प्रणनाम देवः ॥ 29 ॥
 अनेकलोकैकनमस्क्रियार्हं महेश्वरं तं त्रिदशेश्वरः सः ।
 भक्त्या नमस्कृत्य कृतार्थतायाः पात्रं पवित्रं परमं बभूव ॥ 30 ॥
 सुभक्तिभाजामधिपादपीठं प्रान्तक्षितिं नभ्रतरैः शिरोभिः ।
 ततः प्रणेमुः पुरतो गणानां गणाः सुराणां क्रमतः पुरारिम् ॥ 31 ॥
 गणोपनीते प्रभुणोदिष्टः शुभासने हेममये पुरस्तात् ।
 प्रापोपविश्य प्रमुदं सुरेन्द्रः प्रभुप्रसादो हि मुदे न कस्य ॥ 32 ॥
 क्रमेण चान्येऽपि विलोकनेन संभाविताः सस्मितमीश्वरेण ।
 उपाविशस्तोषविशेषमाप्ता दृग्गोचरे तस्य सुराः समग्राः ॥ 33 ॥
 अथाह देवो बलवैरिमुख्यान्गीर्वाणवर्गान्करुणाद्भवेताः ।
 कृताञ्जलीकानसुराभिभूतान्ध्वस्तश्रियः श्रान्तमुखानवेक्ष्य ॥ 34 ॥
 अहो बतानन्तपराक्रमाणां दिवौकसो वीरवरायुधानाम् ।
 हिमोदबिन्दुग्लपितस्य किं वः पद्मस्य दैन्यं दधते मुखानि ॥ 35 ॥

'नीलकण्ठ! देवताओं के स्वामी इन्द्र देव आपको प्रणाम करने की बात जोहते हुए यहाँ खड़े हैं, इसलिये कृपा करके इनकी ओर भी अपनी दृष्टि घुमा लीजिएगा' ॥ 26-27 ॥ यह सुनकर त्रिपुरों का नाश करने वाले, संसार के पूजनीय शंकर ने देवताओं के पूजनीय इन्द्र को अमृत की धारा बरसाती हुई-सी दृष्टि से देखकर अनुगृहीत कर दिया ॥ 28 ॥ स्वर्ग में जिनकी सब पूजा किया करते हैं, वे देवराज इन्द्र, जब सारे संसार के एक साथ पूजनीय और देवताओं के देवता महादेव को प्रणाम करने के लिये झुके तो उनके मस्तक के किरीट की नोक से पारिजात के बहुत से फल नीचे झड़ बिखरे ॥ 29 ॥ सब लोकों के एक मात्र पूजनीय शंकर को भक्ति के साथ प्रणाम करके स्वर्ग के स्वामी इन्द्र ने अपने को परम पवित्र और बहुत धन्य समझा ॥ 30 ॥ दूसरे देवताओं ने भी प्रमथ आदि गणों के देखते-देखते बड़ी भक्ति से शंकर के पैर रखने के पीढ़े के पास धरती पर माथा टेककर बारी-बारी से उन्हें आ प्रणाम किया ॥ 31 ॥ यह सब हो चुकने पर शंकर की आज्ञा से एक गण जाकर एक आसन उठा लाया जिसपर बैठकर इन्द्र को बड़ा आनन्द मिला क्योंकि शंकर का प्रसाद पाकर भला कौन अपने को धन्य नहीं मानेगा ॥ 32 ॥ सब देवताओं की ओर बारी-बारी से मुसकान-भरी दृष्टि से देखकर शंकर ने जब उन सबका भी सम्मान किया तब वे सब भी बड़े प्रसन्न होकर उनकी आँखों के सामने ही जा बैठे ॥ 33 ॥ इन्द्र आदि जो देवता हाथ जोड़े आगे बैठे हुए थे और 'दैत्यों से हार जाने के कारण जिनके मुँह उदास और मुरझाए से दिखाई पड़ रहे थे उनकी ओर देखकर करुणा से पिघले हुए हृदय वाले शिव बोले ॥ 34 ॥ 'कहो देवताओ! इतने बड़े-बड़े वीर होकर, एक से एक बढ़कर अस्त्र-शस्त्रों से सजे होने पर और स्वर्ग में रहकर भी आप लोगों के मुख पाला मारे हुए कमलों के समान उदास क्यों दिखाई दे रहे हैं? ॥ 35 ॥ बताओ देवताओ! इतने

स्वर्गो कसः स्वर्गपरिच्युताः किं स्वपुण्यराशी सुमहत्तमेऽपि ।
 चिह्नं चिरोढं न तु यूयमेते निजाधिपत्यस्य परित्यजध्वम् ॥ 36 ॥
 दिवौकसो देवगृहं विहाय मनुष्यसाधारणतामबाप्ताः ।
 यूयं कुतः कारणतश्चरध्वं महीतले मानभृतो महान्तः ॥ 37 ॥
 अनन्यसाधारणसिद्धमुच्चैस्तद्दैवतं धाम निकामरम्यम् ।
 कस्मादकस्मान्निरगाद्भवद्भयश्चिरार्जितं पुण्यमिवापचारात् ॥ 38 ॥
 दिवौकसो वो हृदयस्य कस्मात्तथाविधं धैर्यमहार्यमार्याः ।
 अगादगाधस्य जलाशयस्य ग्रीष्मातितापादिवशादिवाम्भः ॥ 39 ॥
 सुराः सुराधीशपुरःसराणां समीयुषां वः सममातुराणाम् ।
 तद्ब्रूत लोकत्रयजित्वरार्त्तिकं महासुरात्तारकतो विरुद्धम् ॥ 40 ॥
 पराभवं तस्य महासुरस्य निषेद्धमेकोऽहमलं भविष्युः ।
 दावानलप्लोषविपत्तिमन्यो महाम्बुदार्त्तिकं हरते वनानाम् ॥ 41 ॥
 इतीरिते मन्मथमर्दनेन सुराः सुरेन्द्रप्रमुखा मुखेष्णु ।
 सान्द्रप्रमोदाश्रुतरङ्गितेष्णु दधुः श्रियं सत्वरमाश्वसन्तः ॥ 42 ॥
 ततो गिरीशस्य गिरां विरामे जगाद लब्धावसरः सुरेन्द्रः ।
 भवन्ति वाचोऽवसरे प्रयुक्ता ध्रुवं फलाविष्टमहोदयाय ॥ 43 ॥
 ज्ञानप्रदीपेन तमोपहं नाविनश्चरेणास्खलितप्रभेण ।
 भूतं भवद्भावि च यच्च किञ्चित्सर्वज्ञं सर्वं तव गोचरं तत् ॥ 44 ॥

बड़े-बड़े पुण्य करने पर भी आप लोग स्वर्ग से निकल कैसे आए? देखिए, आप लोग इतने दिनों से जो छत्र-चाँवर आदि राज-चिन्ह साथ रखते चले आ रहे थे उन्हें आप लोग कभी मत छोड़िए ॥ 36 ॥ आप लोग इतने मनस्वी, महिमाशाली और स्वर्ग-निवासी होकर भी स्वर्ग छोड़कर साधारण मनुष्य के समान पृथ्वी-तलपर इधर-उधर क्यों मारे-मारे फिर रहे हैं ? ॥ 37 ॥ जैसे पाप करने से बहुत दिनों से इकट्ठा किया हुआ पुण्य भी हाथ से निकल जाता है, वैसे ही बड़ी-बड़ी सिद्धियों से भरा हुआ बड़ा सुन्दर स्वर्ग भी आप लोगों के हाथ से अचानक कैसे निकल गया ? ॥ 38 ॥ बताओ देवताओ! जैसे बहुत गर्मी पड़ने से गहरा तालाब भी सूख जाता है वैसे ही आप लोगों के हृदय में रहने वाला वह बड़ा भारी अटल धीरज कहाँ चला गया ? ॥ 39 ॥ आज व्याकुल होकर एक साथ आए हुए इन्द्र आदि देवताओ! आप लोग यह तो बताइए कि आप लोगों ने तीनों लोकों को जीतने वाले दैत्यराज तारक से तो कहीं झगड़ा मोल नहीं ले लिया है ? ॥ 40 ॥ देखिए, उस महा-दैत्यने आप लोगों का जो अपमान किया है उसका बदला केवल मैं ही ले सकता हूँ क्योंकि जंगलों में लगी हुई आग, बादलों की बढ़ी घटा को छोड़कर भला और कौन बुझा पा सकता है ? ॥ 41 ॥ शंकर के ऐसा कहने पर इन्द्र आदि सभी देवताओं की आँखों में अत्यन्त आनन्द के आँसू छलछला आए और जब उन्हें यह ढाँढस दे दिया गया कि अब आप लोगों की प्राण-रक्षा अवश्य हो जायगी तब वे सबके सब तत्काल खिल उठे ॥ 42 ॥ भगवान् शंकर के कह चुकने पर ठीक अवसर जानकर इन्द्र ने कहना आरम्भ किया, क्योंकि अवसर पर कही हुई बातका ठीक फल अवश्य मिलता ही है- ॥ 43 ॥ 'प्रभो! आप घट-घट को जानने वाले और अज्ञान मिटाने वाले हैं, आपका कभी नाश नहीं होता और कभी न बुझ सकने वाले ज्ञान के प्रकाश से आप संसार के भूत, भविष्य और वर्तमान

दुर्वारदोरुद्धमदुःसहेन यत्तारकेणमरधस्मरेण ।
 तदीशतमाप्तवता निरस्ता वयं दिवोऽमी वद किं न वेत्ति॥ 45 ॥
 विधेरमोघं स वरप्रसादमासाद्य सद्यस्त्रिजगज्जिगीषुः ।
 सुरानशेषानहकप्रमुख्यान्दोर्दण्डचण्डो मनुते तृणाय॥ 46 ॥
 स्तुत्या पुरास्माभिरुपासितेन पितामहेनेति निरूपितं नः ।
 सेनापतिः संयति दैत्यमेतं पुरः स्मरारातिसुतो निहन्ति॥ 47 ॥
 अहो ततोऽनन्तरमधयावत्सुदुःसहां तस्य पराभवार्तिम् ।
 विणेहिरे हन्त हृदन्तशल्यमाज्ञानिवेशं त्रिदिवौकसोऽमी॥ 48 ॥
 निदाघधामक्लमविकलवानां नवीनमम्भोदमिवौषधीनाम् ।
 सुनन्दनं नन्दनमात्मनो नः सेनान्यमेतं स्वयमादिश त्वम्॥ 49 ॥
 त्रैलोक्यलक्ष्मीहृदयैकशल्यं समूलमुत्खाय महासुरं तम् ।
 अस्माकमेषां पुरतो भवन्सन्दुःखापहारं युधि यो विधत्ते॥ 50 ॥
 महाहवे नाथ तवास्य सूनोः शस्त्रैः शितैः कृत्तशिरोधराणाम् ।
 महासुराणां रमणीविलापैर्दिशो दशैता मुखरीभवन्तु॥ 51 ॥
 महारणाक्षोऽणिपशूपहारीकृतेऽसुरे तत्र तवात्मजेन ।
 बन्दिस्थितानां सुदृशां करोतु वेणीप्रमोक्षं सुरलोक एषः॥ 52 ॥
 इत्थं सुरेन्द्रे वदति स्मरारिः सुरारिदुश्चेष्टितजातरोषः ।
 कृतानुकम्पस्त्रिदशेषु तेषु भूयोऽपि भूताधिपतिर्बभाषे॥ 53 ॥

तीनों कालों की सब बातें जान जाते हैं ॥ 44 ॥ इसलिये नाथ! यह तो आप जानते ही होंगे कि अपने कठोर बाहुबल के पराक्रम से मतवाला होकर, देवताओं को पीडा देने वाले तारक असुर ने स्वर्ग का स्वामी बनकर हम सबको स्वर्ग से निकाल भगाया है ॥ 45 ॥ व तारक असुर ब्रह्मा से अचूक वरदान पाकर अपनी भुजाओं के बल से तुरन्त तीन लोकों को जीत लेना चाहता है और मुझे तथा दूसरे बड़े-बड़े देवताओं को भी तिनके के बराबर तुच्छ समझता है ॥ 46 ॥ भगवान्! हम लोगों ने पहले जब ब्रह्मा की स्तुति की थी तब उन्होंने प्रसन्न होकर हमें बताया था कि जब शंकर का पुत्र देवताओं का सेनापति बनकर उनसे लड़ेगा तभी वह दैत्य मारा जा सकेगा ॥ 47 ॥ तब से आज तक सब देवता लोग तारक असुर के हाथ से हारने की कसक और हाथ में चुभे हुए गाँस के समान कसकने वाली उसकी आज्ञा का अपमान सहते चले आ रहे हैं ॥ 48 ॥ इसलिये भगवान्! जैसे गर्मी के सूर्य की तपन से जले हुए लता-वृक्षों को नये बादल हरा कर देते हैं वैसे ही अपने इस आनन्द-दायक पुत्र को हमारे सेनापति बनने की आज्ञा देकर आप भी हमें जिला लीजिए ॥ 49 ॥ तीनों लोकों के हृदय में काँटे के समान चुभने वाले इस महादैत्य को जब आपके ये पुत्र युद्ध में आगे बढ़कर मार डालेंगे तभी हमारा दुःख मिट पावेगा ॥ 50 ॥ नाथ! ऐसा कीजिए कि जब इस महासंग्राम में आपके पुत्र के नुकीले बाणों से महादैत्यों के सिर कट-कटकर गिरें तब उन दैत्यों की स्त्रियों के विलाप से दसों दिशाएँ गूँज उठें ॥ 51 ॥ और जब आपके पुत्र उस महासमर-भूमि में उन दैत्यों को सियार आदि जन्तुओं की भेंट चढ़ावें तब स्वर्ग में बन्दी बनी हुई अपनी सुन्दर नेत्रों वाली स्त्रियों की उलझी हुई एकलड़ी वाली चोटियों को ये देवता लोग जा जाकर खोल डालें ॥ 52 ॥ इस प्रकार इन्द्र के मुँह से तारक का अत्याचार सुनकर भूतपति शंकर क्रोध से लाल

अहो अहो देवगणाः सुरेन्द्रमुख्याः शृणुध्वं वचनं ममैतत् ।
 विचेष्टते शंकर एष देवकार्याय सज्जो भवतां सुतायैः ॥ 54 ॥
 पुरा मयाकारि गिरीन्द्रपुत्र्याः प्रतिग्रहोऽयं नियतात्मनापि ।
 तत्रैष हेतुः खलु तद्भवेन वीरेण यद्वध्यत एव शत्रुः ॥ 55 ॥
 अत्रोपपन्नं तदमी नियुज्य कुमारमेनं पृतनापतित्वे ।
 निघ्नन्तु शत्रुं सुरलोकमेष भुनक्तु भूयोऽपि सुरैः सहेन्द्रः ॥ 56 ॥
 इत्युदीर्य भगवाँस्तमात्मजं घोरसंगरमहोत्सवोत्सुकम् ।
 नन्दुनं हि जहि देवविद्विषं संयतीति निजगाद शंकरः ॥ 57 ॥
 शासनं पशुपतेः स कुमारः स्वीचकार शिरसावनतेन ।
 सर्वथैव पितृभक्तिरतानामेष एव परमः खलु धर्मः ॥ 58 ॥
 असुरयुद्धविधौ विबुधेश्वरे पशुपतौ वदतीति तमात्मजम् ।
 गिरिजया मुमुदे सुतविक्रमे सति न नन्दति का खलु वीरसूः ॥ 59 ॥
 सुरपरिवृढः प्रौढं वीरं कुमारमुमापतेर्बलवदभरारतिस्त्रीणां दृगञ्जनभञ्जनम् ।
 जगदभयदं सद्यः प्राप्यप्रमोदपरोऽभवद्बुधवमभिमते पूर्णं को वा मुदा न हि माद्यति ॥ 60 ॥
 ।। इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
 कुमारसैनापत्यवर्णनं नाम द्वादशः सर्गः ।।



हो उठे और उन देवताओं पर कृपा करते हुए वे फिर बोले ॥ 53 ॥ 'इन्द्र आदि देवताओ! आप लोग ध्यान से मेरी बातें सुनिए। अब मैं शंकर अपने पुत्रको लेकर देवताओं का काम करने के लिये तैयार हो गया हूँ ॥ 54 ॥ देवो! समाधिमें लगे होने पर भी मैंने पार्वती के साथ इसलिए विवाह किया था कि इनका पुत्र तारक को मार डाले ॥ 55 ॥ इसलिये आपका काम करने वाले इस कुमार को सेनापति बनाकर आप शत्रु का नाश कीजिए और इन्द्र के साथ फिर स्वर्ग का आनन्द लीजिए' ॥ 56 ॥ इतना कहकर शंकर ने उस घोर संग्राम को एक महोत्सव मानकर उसके लिये अपने पुत्र से कहा- 'देखो पुत्र! तुम जाकर देवताओं के शत्रु तारक असुर को युद्धभूमि में मार आओ' ॥ 57 ॥ कुमार कार्तिकेय ने सिर झुकाकर शंकर की आज्ञा स्वीकार कर ली क्योंकि पिता के भक्त पुत्रों का यही सच्चा धर्म है कि पिता की आज्ञा मान लें ॥ 58 ॥ सब देवताओं के स्वामी शिव जब अपने पुत्र को दैत्यों से युद्ध करने की बात समझाने लगे तब पार्वती की छाती दूनी हो गई क्योंकि ऐसी भला कौन वीर माता होगी जो अपने पुत्र की वीरता की बात से प्रसन्न न हो ॥ 59 ॥ बलवान् दैत्यों की स्त्रियों को रुलाकर उनके आँसुओं से उनकी आँखों का आँजन मिटाने वाले तथा संसार को अभय दान देने वाले पराक्रमी कुमार कार्तिकेय को पाकर इन्द्र आनन्द से खिल उठे क्योंकि संसार में ऐसा कौन है जो अपनी इच्छा पूरी हो जाने पर आनन्द से पागल न हो उठता हो ॥ 60 ॥

।। महाकवि श्री कालिदास के रचे कुमारसंभव महाकाव्य में 'कुमार के सेनापति होने का वर्णन' नामका बारहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ।।



॥ त्रयोदशः सर्गः ॥

प्रस्थानकालोचितचारुवेषः स स्वर्गिवर्गैरनुगम्यमानः ।
 ततः कुमारः शिरसा नतेन त्रैलोक्यभर्तुः प्रणनाम पादौ ॥ 1 ॥
 जहीन्द्रशत्रुं समरेऽमरेशपदं स्थिरत्वं नय वीर वत्स ।
 इतशिषा तं प्रणमन्तमीशो मूर्द्धन्युपाध्नाय मुदाभ्यनन्दनत् ॥ 2 ॥
 प्रह्वीभवन्नभ्रतरेण मूर्ध्ना नमश्चकाराङ्घ्रियुगं स्वमातुः ।
 तस्याः प्रमोदाश्रुपयःप्रवृष्टिस्तस्याभवद्वीरवराभिषेकः ॥ 3 ॥
 तमङ्कमारोप्य सुता हिमाद्रेराश्लिष्य गाढं सुतवत्सला सा ।
 शिरस्युपाध्नाय जगाद शत्रुं जित्वा कृतार्थीकुरु वीरसूं माम् ॥ 4 ॥
 उदामदैत्येशविपत्तिहेतुः श्रद्धालुचेताः समरोत्सवस्य ।
 आपृच्छय भक्त्या गिरिजागिरीशौततः प्रतस्थेऽभिदिवंकुमारः ॥ 5 ॥
 देवं महेशं गिरिजां च देवीं ततः प्रणमय त्रिदिवौकसोऽपि ।
 प्रदक्षिणीकृत्य च नाकनाथपूर्वाः समस्तास्तमथानुजग्मुः ॥ 6 ॥
 अथ ब्रजद्विस्त्रिदशैरशेषैः सुरत्प्रभाभासुरमण्डलैस्तैः ।
 नभो बभासे परितो विकीर्णं दिवापि नक्षत्रगणैरिवोग्रैः ॥ 7 ॥
 रराज तेषां व्रजतां सुराणां मध्ये कुमारोऽधिककान्तिकान्तः ।
 नक्षत्रताराग्रहमण्डलानामिव त्रियामारमणो नभोऽन्ते ॥ 8 ॥

तेरहवाँ सर्ग

लड़ाई का वाना पहन कर और सब देवताओं के आगे होकर कुमार ने चलते समय तीनों लोकों के स्वामी शिव के चरणों में आ प्रणाम किया ॥ 1 ॥ प्रणाम करते हुए पुत्र को उठाकर और उसका शिर सूँघकर शिवने यही आशीर्वाद देते हुए कुमार को उत्साहित किया कि 'वीर पुत्र! जाओ युद्ध में इन्द्र के शत्रु को मारो और इन्द्र को उनके पद पर फिर से भली भाँति ले जा बैठो ॥ 2 ॥ जिस समय कुमार अपने पिता के दोनों चरणों में झुककर माथा टेके हुए प्रणाम कर रहे थे उस समय शिव की आँखों से बरसे हुए प्रेम के आँसुओं के जल से ही मानो सेनापति पद के लिये कुमार का अभिषेक हो गया ॥ 3 ॥ अपने पुत्र का लाड़-प्यार करने वाली पार्वती ने कुमार को गोद में लेकर कसकर अपने हृदय से लगा लिया और उसका माथा सूँघकर आशीर्वाद दिया- 'पुत्र! लड़ाई में शत्रु को जीतकर यह बात सच्ची कर दो कि मैं वीर की माता हूँ' ॥ 4 ॥ तब उस बलवान दैत्यराजको मारने और संग्राम रूपी उत्सव मनाने को उतावले बने हुए कुमार बड़ी भक्ति से अपने माता-पिता से आज्ञा लेकर स्वर्ग की ओर चल पड़े ॥ 5 ॥ इन्द्र आदि सब देवता भी शंकर और पार्वती को प्रणाम करके और उनकी प्रदक्षिणा करके कुमार के पीछे-पीछे चल पड़े ॥ 6 ॥ तब चारों ओर फैली हुई कान्ति वाले उन सब देवताओं के एक साथ चलने से आकाश ऐसा जान पड़ने लगा मानो दिन में चमकने वाले बड़े-बड़े तारे चारों ओर आ निकले हों ॥ 7 ॥ आकाश में चलते हुए देवताओं के बीच में अपनी अत्यन्त चमक से सुन्दर दिखाई पड़ने वाले कुमार कार्तिकेय ऐसे सुन्दर लगते थे मानो नक्षत्र और तारों के बीच चन्द्रमा चले जा रहे हों ॥ 8 ॥ कुमार के पीछे-पीछे इन्द्र

गिरीशगौरीतनयेन सार्धं पुलोमपुत्रीदयितादयस्ते ।
 उत्तीर्य नक्षत्रपथं मुहूर्तात्प्रष्टेदिरे लोकमधात्मनीनम् ॥ 9 ॥
 ते स्वर्गलोकं चिरकालदृष्टं महासुरत्रासवशंवदत्वात् ।
 सद्यः प्रवेष्टुं न विषेहिरे तत्क्षणं व्यलम्बन्त सुराः समग्राः ॥ 10 ॥
 पुरो भव त्वं न पुरो भवामि नाहं पुरोगोऽस्मि पुरःसरस्त्वम् ।
 इतथं सुरास्तत्क्षणमेव भीताः स्वर्गं प्रवेष्टुं कलहं वितेनुः ॥ 11 ॥
 सुरालयालोकनकौतुकेन मुदा शुचिस्मेरविलोचनास्ते ।
 दधुः कुमारस्य मुखारविन्दे दृष्टिं द्विषत्साध्वसकातरान्ताम् ॥ 12 ॥
 सहेलहासच्छुरिताननेन्दुस्ततः कुमारः पुरतो भविष्णुः ।
 स तारकापातमपेक्षमाणो रणप्रवीरो हि सुरानवोचत् ॥ 13 ॥
 भीत्यालमद्य त्रिदिवौकसोऽमी स्वर्गं भवन्तः प्रविशन्तु सद्यः ।
 अत्रैव मे दृक्पथमेतु शत्रुर्महासुरो वः खलु दृष्टपूर्वः ॥ 14 ॥
 स्वर्लोकलक्ष्मीकचकर्षणाय दोर्मण्डलं बल्गति यस्य चण्डम् ।
 इहैव तच्छोणितपानकेलिमहाय कुर्वन्तु शरा ममैते ॥ 15 ॥
 शक्तिर्मभासावहतप्रचारा प्रभावसारा सुमहः प्रसारा ।
 स्वर्लोकलक्ष्म्या विपदावहारेः शिरो हरन्ती दिशतान्मुदं वः ॥ 16 ॥
 इतयन्धकारातिसुतस्य दैत्यवधाय युद्धोत्सुकमानसस्य ।
 सर्वं शुचिस्मेरमुखारविन्दं गीर्वाणवृन्दं वचसा ननन्द ॥ 17 ॥

आदि देवता थोड़ी ही देर में आकाश पार करके स्वर्गलोक जा पहुँचे ॥ 9 ॥ दैत्यराज तारक के डर से देवता लोग स्वर्ग में तो जा नहीं पा रहे थे इसलिये वे झिझक के कारण एकदम तो भीतर नहीं जा सके, थोड़ी देर बाहर ही ठिठके रहे ॥ 10 ॥ उस समय वे सब डरे हुए देवता आपस में एक दूसरे को ढकेलते हुए यह झगड़ा करने लगे- 'तुम चलो आगे। मैं आगे नहीं चलूँगा। मैं क्यों आगे चलूँ? तुम्हीं को आगे-आगे चलना चाहिए' ॥ 11 ॥ उस समय स्वर्ग को सामने देखकर मगन हो उठने वाले उन देवताओं की आँखें आनन्द से खिल उठीं पर शत्रु के डर से उनकी आँखें कातर होकर कुमार के मुख-कमल की ओर जा घूमीं ॥ 12 ॥ उस समय कुमार का मुख-चन्द्र खिलवाड़-भरी हँसी से खिल उठा और तारक के भावे की बाट जोहते हुए रणवीर कुमार कार्तिकेय ने आगे होकर देवताओं से कहा- ॥ 13 ॥ 'देवों ! अब डरने की कोई बात नहीं है। आप लोग निडर होकर स्वर्ग में घुस चलिए। मैं चाहता हूँ कि अपने जिस घोर शत्रु तारक को आप लोग देख चुके हैं वह यहीं मेरे आगे आ जाय ॥ 14 ॥ मैं तो चाहता हूँ कि जिस तारक असुर की भुजाएँ बलपूर्वक लक्ष्मी के बाल पकड़कर उन्हें दुर्दशा करते हुए खींचने के लिये मचली रहती हैं, उसका लहू पीने का आनन्द मेरे बाणों को झट से यहीं पर मिल जाय ॥ 15 ॥ और यह चमचमाती अत्यन्त तेजस्विनी, प्रतापशालिनी और स्वर्गलोक की राजलक्ष्मी का कष्ट दूर करने वाली मेरी शक्ति यहीं पर शत्रु का सिर काटकर आप लोगों को आनन्द दे दे' ॥ 16 ॥ दैत्यों का नाश करने की इच्छा से लड़ाई करने पर उतारू होने वाले उन कुमार की ये बातें सुनकर देवताओं के सुन्दर मुख-कमल खिल गए और वे सभी प्रसन्न हो उठे ॥ 17 ॥ अत्यन्त आनन्द के कारण इन्द्र भी इतने

सान्द्रप्रमोदात्पुलकोपगूढः सर्वाङ्गसंफुल्लसहस्रनेत्रः ।
तस्योत्तरीयेण निजाम्बरेण निरुञ्जनं चारु चकार शक्रः ॥ 18 ॥
धानप्रमोदाश्रुतरंगिताक्षौ मुञ्छौ श्रुतुर्भिः प्रचुरप्रसादैः ।
अथो अचुम्बद्विधिरादिवृद्धः षडाननं षट्सु शिरःसु चित्रम् ॥ 19 ॥
तं साधु साध्वित्यभितः प्रशस्य मुदा कुमारं त्रिपुरासुरारेः ।
आनन्दयन्वीर जयेति वाचा गन्धर्वविद्याधरसिद्धसंघाः ॥ 20 ॥
दिव्यर्षयः शत्रुबिजेष्यमाणं तमभ्यनदन्किल नारदाद्याः ।
निरुञ्जनं चक्रुरधोत्तरीयैश्चामीकरीयैर्निजवल्कलैश्च ॥ 21 ॥
ततः सुराः शक्तिधरस्य तस्यावष्टम्भतः साध्वसमुत्सृजन्तः ।
उत्सेहिरे स्वर्गमनन्तशक्तेर्गन्तुं वनं यूथपतेरिवेभाः ॥ 22 ॥
अथाभिपृष्ठं गिरिजासुतस्य पुरंदरारातिवधं चिकीर्षोः ।
सुरा निरीयुस्त्रिपुरं दिघक्षोरिव स्मरारेः प्रमथाः समन्तात् ॥ 23 ॥
सुराङ्गनानां जलकेलिभाजां प्रक्षालितैः संततमङ्गरागैः ।
प्रपेदिरे पिञ्जरवारिपूरां स्वर्गौकसः स्वर्गधुनीं पुरस्तात् ॥ 24 ॥
दिग्दन्तिनां वारिविहारभाजां कराहतैर्भीमतैस्तरंगैः ।
आप्लावयन्तीं मुहुरालवालश्रेणीं तरूणां निजतीरजानाम् ॥ 25 ॥

पुलकित हो उठे कि उनके शरीर की सभी आँखें खिल उठीं । तब इन्द्र और कुमार ने आपस में एक दूसरे के उत्तरीय वस्त्र बदलकर अपनी मित्रता पक्की कर ली ॥ 18 ॥ देवताओं में सबसे बड़े ब्रह्मा की आँखें भी अत्यधिक आनन्द से बहते हुए आँसुओं की लहरों से छल-छला चलीं, उनके चारों मुख प्रसन्नता से खिल उठे और उन्होंने अपने चारों मुखों से कुमार के छहों मुखों का बड़े विचित्र ढंग से चुम्बन कर लिया ॥ 19 ॥ उस समय गन्धर्व, विद्याधर और सिद्धों ने कुमार को 'साधु साधु' कहकर बड़े आनन्द के साथ उनकी बड़ाई करते हुए यह कहकर उन्हें आनंदित किया- 'वीर! तुम्हारी जय हो' ॥ 20 ॥ देवर्षि नारद आदि ने भी शत्रु को जीतने वाले कुमार की बड़ी प्रशंसा की और उनके सुनहले उत्तरीय आदि वस्त्रों से अपने वल्कल बदलकर उनसे भाईपन का नाता जोड़ लिया ॥ 21 ॥ शक्ति लिए हुए कुमार का इस प्रकार सहारा पाकर देवता लोग निडर हो गए और वे उसी उत्साहसे स्वर्ग में जा पैठे जैसे किसी शक्तिशाली बड़े हाथी का सहारा पाकर छोटे हाथी भी जंगल में जा घुसते हैं ॥ 22 ॥ जैसे त्रिपुरासुर को जलाने के लिये जाते समय शंकर के पीछे-पीछे उनके प्रमथ आदि गण चले थे वैसे ही तारक को मारने की इच्छा करने वाले कुमार के पीछे-पीछे देवता लोग भी स्वर्ग में घुस पड़े ॥ 23 ॥ पहले पहल उन्हें वह आकाश गंगा दिखाई दी जिसका जल, जल-विहार करने वाली अप्सराओं के धुले हुए-अङ्गों से छुटे हुए अङ्गराग से रँग जाया करता है, जिसके जल में विहार करते समय दिक्पालों के हाथी, लहरों पर अपनी सँड़ पटका करते हैं, जिसकी लहरों के जल से तीर पर खड़े हुए पेड़ों के धाँवले सदा सिंचे रहते हैं, जहाँ खेल खेलने के लिये आई हुई देवकन्याओं के हाथों की बनी हुई सुनहरे बालू की वे ऊँची-ऊँची वेदिकाएँ दूर-दूर तक बनी हुई हैं जो उन्होंने बीच-बीच में मणि डाल-डालकर अपने खेल के लिये बना रखी हैं, जहाँ सुगन्ध के लोभी भौर सदा गुनगुनाते रहते और सुनहरे हंस किलौले करते रहते हैं, जहाँ ऐसे सोने के कमल खिले रहते हैं जिसके गिरे हुए पराग से वहाँ का जल भी पीला हो उठता है, जहाँ देवताओं की सुन्दरियाँ

लीलारसाभिः सुरकन्यकाभिर्हिरण्ययीभिः सिकताभिरुच्चैः ।
 माणिक्यगर्भाभिरुपाहिताभिः प्रकीर्णतीरां वरवेदिकाभिः ॥ 26 ॥
 सौरभ्यलुब्धाभ्यमरोपगीतैर्हिरण्यहंसावलिकैलिलोलैः ।
 चामीकरीयैः कमलैर्विनिन्द्रेष्यतैः परागैः परिपिङ्गतोयाम् ॥ 27 ॥
 कुतूहलाद्द्रष्टुमुपागताभिस्तीरस्थिताभिः सुरसुन्दरीभिः ।
 अभ्यूर्मिराजिप्रतिबिम्बिताभिर्मुदं दिशन्तीं व्रजतां जनानाम् ॥ 28 ॥
 ननन्दसद्यश्चिरकालदष्टां विलोक्य शकः सुरदीर्घिकां ताम् ।
 अदर्शयत्सादरमदिपुत्रीमहेशपुत्राय ततः पुरोगः ॥ 29 ॥
 स कार्तिकेयः पुरतः परीतः सुरैः समस्तैः सुरनिम्नागां ताम् ।
 अपूर्वदृष्टामवलोकमानः सविस्मयः स्मेरविलोचनोऽभूत् ॥ 30 ॥
 उपेत्य तां तत्र किरीटकोटिन्यस्ताञ्जलिर्भक्तिपरः कुमारः ।
 गीर्वाणवृन्दैः प्रणुतां प्रणुतयन् नम्रेण मूर्ध्ना मुदितो ववन्दे ॥ 31 ॥
 प्रणतितस्मै रसरोजराजिः पुरः परीरम्भमिलन्महोर्मिः ।
 कपोलपालिश्रमवारिहारिभोजे गुहं तं सरितः समीरः ॥ 32 ॥
 ततो व्रजन्नन्दननामधेयं लीलावनं जम्भजितः पुरस्तात् ।
 विभिन्नभग्नोद्धृतशालसंघं प्रेक्षाचकार स्मरशत्रुसूनुः ॥ 33 ॥
 सुरद्विषोऽप्यलुप्तमेवमेतद्वनं बलस्य द्विषतो गतश्चि ।
 इत्थं विचिन्त्यारुणलोचनोऽभूद्भूभङ्गदुरुप्रेक्ष्यमुखः सकोपात् ॥ 34 ॥
 निर्लूनलीलोपवनामपश्यद्दुःसंचरीभूतविमानमार्गाम् ।
 विध्वस्तसीधप्रचयां कुमारी विश्वैकसाराममरावतीं सः ॥ 35 ॥

मन-बहलाव के लिये आ-आकर तट पर बैठी रहती हैं और तरङ्गों में पड़ती हुई जिनकी परछाई उधर से आने-जाने वाले पथिकों का जी भी लुभाती रहती है ॥ 24-28 ॥ इतने दिनों पर उस देव-नदी को देखकर इन्द्र तुरन्त प्रसन्न हो उठे और आगे बढ़कर उन्होंने आदर के साथ कुमार को भी वह बुला दिखलाई ॥ 29 ॥ सब देवताओं से घिरे हुए कार्तिकेय को इस नई नदी को सामने देखकर बड़ा अचरज हुआ और प्रसन्नता से उनकी आँखें खिल उठीं ॥ 30 ॥ सब देवता जिस नदी की स्तुति किया करते रहते हैं, उस मंदाकिनी के तट पर जाकर कुमार कार्तिकेय ने सिर झुकाकर अपने किरीट के सिरों पर हाथ जोड़कर बड़ी भक्ति से प्रसन्न होकर उन्हें प्रणाम किया और उनकी वन्दना की ॥ 31 ॥ उस समय खिले हुए कमलों को नचाने वाले, तरंगों से गले मिलकर चलने वाले और गालों के पसीने को सुखाने वाले मंदाकिनी के मन्द पवन ने वहाँ आए हुए कुमारी की बड़ी सेवा की ॥ 32 ॥ वहाँ से चलकर कार्तिकेय ने इन्द्र के विलास के उस नन्दन उपवन को देखा जहाँ के सब साल के पेड़ या तो तोड़ डाले गए थे या जड़ से ही उखाड़ डाले गए थे ॥ 33 ॥ कार्तिकेय ने समझ लिया कि तारकासुर के अत्याचार से ही इन्द्र के इस सुन्दर वन की यह दुर्दशा हुई है। यह सोचते ही क्रोध से उनका मुँह तमतमा उठा, भौंहें तन गईं और आँखें लाल हो उठीं ॥ 34 ॥ वहाँ से और आगे बढ़कर कुमार ने विश्व की सर्वश्रेष्ठ नगरी अमरावती को देखा जिसके लीला-उपवन तहस-नहस कर डाले गए थे, ऊँचे-ऊँचे भवन गिरा डाले गए थे और सब ओर ऐसा उजाड़ हो गया था कि उधर विमान पर चढ़कर जाने को भी किसी का जी नहीं

गतश्रियं वैरिवराभिभूतां दशां सुदीनामभितो दधानाम् ।
 नारीमवीरामिव तामवेक्ष्य स बाढमन्तः करुणापरोऽभूत् ॥ 36 ॥
 दुश्चेष्टिते देवरिपौ सरोषस्तस्याविषण्णः समराय चोत्कः ।
 तथा विधां तां स विवेश पश्यन्सुरैः सुराधीश्वरराजधानीम् ॥ 37 ॥
 दैतेयदन्त्यावलिदन्तधातैः क्षुण्णान्तरा स्फाटिकहर्म्यपङ्क्तीः ।
 महाहिनिर्मोकपिन्द्वजालाः स वीक्ष्य तस्यां विषसाद सद्यः ॥ 38 ॥
 उत्कीर्णचामीकरपङ्कजानां दिग्दन्तिदानद्रवदूधितानाम् ।
 हिरण्यहंसवज्रजवर्जितानां विदीर्णवैदूर्यमहाशिलानाम् ॥ 39 ॥
 आविर्भवद्वालतृणश्वितानां तदीयलीलागृहदीधिकाणाम् ।
 स दुर्दशां वीक्ष्य विरोधिजातां विषादवैलक्ष्यभरं बभार ॥ 40 ॥
 तद्वन्तिदन्तक्षतहेमभित्ति सुतन्तुजालाकुलरत्नजालाम् ।
 निन्ये सुरेन्द्रेण पुरोगतेन स वैजयन्ताभिधमात्मसौधम् ॥ 41 ॥
 निर्दिष्टवर्त्मा विबुधोऽश्वरेण सुरैः समग्रैरनुगम्यमानः ।
 स प्राविशत्तं विविधाश्रमरश्मिच्छिन्नेन सोपानपथेन सौधम् ॥ 42 ॥
 निसर्गकल्पदुमतोरणं तं स पारिजातप्रसवस्त्रगाढ्यम् ।
 दिव्यैः कृतस्वस्त्ययनं मुनीन्द्रैरन्तः प्रविष्टप्रमदं प्रपदे ॥ 43 ॥
 पादौ महर्षेः किल कश्यपस्य कुलादिवृद्धस्य सुरासुराणाम् ।
 प्रदक्षिणीकृत्य कृताञ्जलिः सन्धुभिः शिरोभिः स नतैर्वन्दे ॥ 44 ॥

करता था ॥ 35 ॥ तारक के हाथों उजाड़ी हुई उस नष्ट-भ्रष्ट और सुनसान नगरी को देखकर कार्तिकेय को उसी प्रकार बड़ी दया आई जैसे किसी नपुंसक की स्त्री को देखकर दया आती है ॥ 36 ॥ अमरावती की वह दुर्दशा देखते ही कुमार उस दुराचारी दैत्य पर बड़े क्रुद्ध हो उठे और युद्ध के लिए बड़े उतावले से होकर वे देवताओं की राजधानी में घुस पड़े ॥ 37 ॥ वहाँ के स्फटिक के बने हुए बड़े-बड़े भवन दैत्यों के दाँतों की टक्करों से तड़क गए थे और जहाँ तहाँ बड़े-बड़े साँपों की कचुलियाँ छुटी पड़ी थीं। यह सब देखकर कुमार को बड़ा दुःख हुआ ॥ 38 ॥ उन्होंने देखा कि देवताओं के विलास-घरों में बनी हुई बावड़ियों में से सोने के कमल उखाड़ डाले गए थे, दिग्गजों के मदसे उनका जल गंदला हो गया था, सुनहरे हंस वहाँ से उड़ गए थे, पत्तियों की बनी-बड़ी पट्टियाँ भी टूट-फूट गई थीं और चारों ओर छोटी-छोटी घास उग आई थी। शत्रुओं के हाथों वहाँ की यह दुर्दशा देखकर उनका मन बड़ा भारी हो उठा ॥ 39-40 ॥ तब कुमार को इन्द्र अपने उस वैजयन्त नाम के भवन में ले गए जहाँ की सुनहरी दिवारें दैत्यों के हाथियों के दाँतों की टक्करों से फट गई थीं और जहाँ मकड़ियों ने जाले तान दिए थे ॥ 41 ॥ वहाँ आगे-आगे इन्द्र चल रहे थे और पीछे-पीछे सब देवता चले जा रहे थे। इस प्रकार रत्नों की चमक से सुहावनी लगने वाली सीढ़ियों पर चढ़कर कुमार उस भवन में जा पहुँचे ॥ 42 ॥ और सब देवता भी उस सुन्दर भवन में जा पहुँचे जहाँ कल्पवृक्ष ही स्वयं बन्दनवार बना हुआ था, जहाँ ढेर के ढेर, पारिजात के फूल बिखरे पड़े थे जहाँ देवर्षियों ने स्वस्ति-वाचन किया था और जहाँ एक से एक बढ़कर सुन्दरी अप्सराएँ रहती थीं ॥ 43 ॥ वहाँ पर देव-दानव वंश के सबसे बड़े-बूढ़े महर्षि कश्यप के चरणों की प्रदक्षिणा करके कुमार ने अपने छहों सिरों से उन्हें जा प्रणाम किया ॥ 44 ॥ कुमार ने बड़ी भक्ति से कश्यप की पत्नी

स देवमातुर्जगदेकवन्धौ पादौ तद्यैव प्रणनाम कामम् ।
 मुनेः कलत्रस्य च तस्य भक्त्या प्रह्वीभवञ्शलसुतातनूजः ॥ 45 ॥
 स कश्यपः सा जननी सुराणां तमेधयामासतुराशिषा द्वौ ।
 तया यथा नैकजगज्जिगीषुं जेता मृधे तारकमुग्रवीर्यम् ॥ 46 ॥
 स्वदर्शनार्थं समुपेयुषीणां सुदेवतानामदितिश्चित्तानाम् ।
 पादौ ववन्दे पतिदेवतास्तमाशीर्वचोभिः पुनरभ्यनन्दन् ॥ 47 ॥
 पुलोमपुत्रीं विबुधाधिभर्तुस्ततः शचीं नाम कलत्रमेषः ।
 नमश्चकार स्मरशत्रुसूनुस्तमाशिषा सा समुपाचरच्च ॥ 48 ॥
 अथादितीन्द्रप्रमदाः समेतास्ता मातरः सप्त धनप्रमोदाः ।
 उपेत्य भक्त्या नमते महेशपुत्राय तस्मै ददुराशिषः प्राक् ॥ 49 ॥
 समेत्य सर्वेऽपि मुदं दधाना महेन्द्रमुख्यास्त्रिदिवीकसोऽथ ।
 आनन्दकल्लोलितमानसं तं समभ्यषिञ्चन्पृतनाधिपत्ये ॥ 50 ॥

सकलविबुधलोकः स्त्रस्तनिःशेषशोकः कृतरिपुविजयाशः प्राप्तयुद्धावकाशः ।

अजनि हरसुतेनानन्तवीर्येण तेनाखिलविबुधचमूनां प्राप्य लक्ष्मीमनूनाम् ॥ 51 ॥

॥ इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये

कुमारसैनापत्याभिषेको नाम त्रयोदशः सर्गः ॥



और देवों की आदि माता अदिति के उन चरणों को भी भली भाँति प्रणाम किया जिन्हें सारा संसार पूजता है ॥ 45 ॥ तब कश्यप और देव-माता अदिति ने कुमार को यह आशीर्वाद देकर उनका साहस बढ़ाया कि तीनों लोकों के जीतने वाले इस शक्तिशाली तारक असुर को तुम युद्ध में अवश्य हराओगे ॥ 46 ॥ वहाँ अदिति के यहाँ और जो देवाङ्गनाएँ रहती थीं वे भी कुमार को देखने के लिये आ पहुँची। कुमार ने उन सबको जा प्रणाम किया और उन सब पतिव्रता स्त्रियों ने भी कुमार को आशीर्वाद देकर उनका बड़ा मान बढ़ाया ॥ 47 ॥ तब कुमार ने इन्द्र की पत्नी शची को जा प्रणाम किया और उन्होंने भी आशीष देकर इनका मान बढ़ाया ॥ 48 ॥ तब कुमार ने कश्यप की उन सातों पत्नियों के पास जाकर बड़ी भक्ति से प्रणाम किया जो बड़े आनन्द से भरी वहीं इकट्ठी बैठी हुई थीं। उन्होंने तो प्रणाम करने से पहले ही कुमार को विजय पाने का आशीर्वाद दे डाला ॥ 49 ॥ उसी समय इन्द्र आदि सभी देवताओं ने आनन्द के साथ इकट्ठे होकर हँसमुख कुमार कार्तिकेय को अपना सेनापति बना दिया ॥ 50 ॥ इस प्रकार जब अनन्त शक्तिशाली कुमार कार्तिकेय, देवताओं की समूची सेना के सेनापति हो गए तब देवताओं को विश्वास हो गया कि अब हम लोग युद्ध में शत्रुओं को अवश्य जीत लेंगे और यह समझकर उनका सब शोक भी जाता रहा ॥ 51 ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदास के रचे हुए कुमारसम्भव महाकाव्य में सेनापति का अभिषेक नामका तेरहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥



॥ चतुर्दशः सर्गः ॥

रणोत्सुकेनान्धकशत्रुसूनुना समं प्रयुक्तैस्त्रिदशैर्जिगीषुणा ।
 महासुरं तारकसंज्ञकं द्विषं प्रसह्य हन्तुं समनद्यतं हतम् ॥ 1 ॥
 स दुनिवारं मनसोऽतिवेगिनं जयश्रियः सन्नयनं सृदुःसहम् ।
 विजित्वरं नाम तदा महारथं धनुर्धरः शक्तिधरोऽध्यरोहयत् ॥ 2 ॥
 सुरालयश्रीविपदां निवारणं सुरारिसंपत्परितापकारणम् ।
 केनापि दधेऽस्य विरोधिदारणं सुचारुचामीकरधर्मवारणम् ॥ 3 ॥
 शरच्चरच्चन्द्रमरीचिपाण्डुरैः स वीज्यमानो वरचारुचामरैः ।
 पुरःसरैः किन्नरसिद्धचारणै रणेच्छुरस्तूयत वाग्भिरोल्लवणैः ॥ 4 ॥
 प्रयाणकालोचितचारुवेणुभृद्भजं वहन्पर्वतपक्षदारणम् ।
 ऐरावतं स्फाटिकशैलसोदरं ततोऽधिरुह्य द्युपतिस्तमन्वगात् ॥ 5 ॥
 तमन्वगच्छद्दिगरिशृङ्गसोदरं मदोद्धतं मेषमधिष्ठितः शिखी ।
 विरोधिविद्वेषरुषाधिकं ज्वलन्महोमहीयस्तरमायुधं दधत् ॥ 6 ॥
 अध्येन्द्रनीलाचलचण्डविग्रहं विषाणविध्वस्तमहापयोधरम् ।
 अधिष्ठितः कासरमुद्धरं मुदा वैवस्वतो दण्डधरस्तमन्वगात् ॥ 7 ॥
 मदोद्धतं प्रेतमथाधिरूढवोस्तमन्धकद्वेधितनजमन्वगात् ।
 महासुरद्वेषविशेषभीषणः सुरोष्णश्चण्डरणाय नैर्ऋतः ॥ 8 ॥

चौदहवाँ सर्ग

विजय की उत्सुकता से लड़ने के लिये उतारू कुमार कार्तिकेय के कहने से सब देवता मिलकर बल-पूर्वक तारक को मार डालने के लिये अपने-अपने अस्त्र-शस्त्र बाँधने लगे ॥ 1 ॥ तब धनुषधारी शक्तिशाली कुमार अपने 'विजित्वर' नामके उस बड़े भारी रथ पर जा चढ़े जो मन से भी अधिक वेग से चलता था, जो किसी के रोके रुकता नहीं था और जिस पर चढ़कर लड़ने से सदा विजय ही विजय मिलती है ॥ 2 ॥ उसी समय किसी ने उन पर सोने का वह शत्रु-नाशक छत्र भी ला लगाया जो स्वर्ग की लक्ष्मी को सुख देने वाला और दैत्यों की संपत्ति उजाड़ देने वाला था ॥ 3 ॥ कुमार के दोनों और शरद् के चन्द्रमा की किरणों के समान उजले सुन्दर चँवर ढुल रहे थे और उनके आगे बड़े-बड़े अखाड़िए किन्नर, सिद्ध और चारुण उन युद्ध-प्रेमी कुमार की बड़ाई के गीत गाते चल रहे थे ॥ 4 ॥ युद्ध का ठाट सजाकर और पर्वतों के पंख काटने वाला वज्र लेकर इन्द्र भी स्फटिक के पर्वत के समान उजले और ऊँचे ऐरावत हाथी पर चढ़कर उनके पीछे-पीछे हो लिए ॥ 5 ॥ क्रोध के मारे शत्रु पर और भी अधिक जलते हुए अग्निदेव भी, पर्वत की चोटी के समान ऊँचे और बिगड़ैल मेंढ़े पर चढ़कर और बड़ा भयंकर दहलाता हुआ अस्त्र हाथ में लेकर कुमार के पीछे-पीछे चल दिए ॥ 6 ॥ हाथ में दंड लेकर यमराज भी अपने नीलम के पहाड़ जैसे ऊँचे और कलूटे उस भैसे पर चढ़कर कुमार के पीछे चल दिए जो अपनी सींगों से बादलों की छाती चीरता चल रहा था ॥ 7 ॥ नैर्ऋत्य दिशा का स्वामी निर्रति राक्षस भी तारक से चिढ़कर बड़ा भयानक हो गया था और शत्रु से लड़ने के लिये मतवाले प्रेत पर चढ़कर कुमार के पीछे चल दिया ॥ 8 ॥ अपना अचूक पाश लिए हुए बड़े बलवान् वरुणदेव भी अपने उस बड़े भारी घड़ियाल पर बैठकर युद्ध के लिये

नवोद्यदम्भो धरघोरदर्शने युद्धाय रूढो मकरे महत्तरे ।
 दुर्वारपाशो वरुणोर णोल्बणसतमन्वियाय त्रिपुरान्तकात्मजम् ॥ 9 ॥
 दिगम्बराधिक्रमणोल्बणं क्षणान्मृगं महीयांसमरुद्धविक्रमम् ।
 अधिष्ठितः संगरकेलिलालसो महन्महेशात्मजमन्वगादद्भुतम् ॥ 10 ॥
 विरोधिनां शोणितपारणैषिणीं गदामनूनां नरवाहनो वहन् ।
 महाहवाम्भो धिविगाहनोद्धतं यियासुमन्वागमदीशनन्दनम् ॥ 11 ॥
 महाहिनिर्बद्धजटाकलापिनो ज्वलत्त्रिशूलप्रबलायुधा युधे ।
 रुद्रास्तुभाराद्रिसखं महावृषं ततोऽधिरूढास्तमयुः पिनाकिनः ॥ 12 ॥
 अन्येऽपि संनह्य महारणोत्सवश्चन्द्रालवः स्वर्गिगणास्तमन्वयुः ।
 स्ववाहनानि प्रबलान्यधिष्ठिताः प्रमोदविस्मेरमुखाम्बुजश्रियः ॥ 13 ॥
 उदण्डहेमध्वजदण्डसंकुलाश्चञ्चद्विचित्रातपवारणोज्ज्वलाः ।
 चलद्घनस्यन्दनघोषभीषणाः करीन्द्रघण्टारवचण्डचीत्कृताः ॥ 14 ॥
 स्फुरद्विचित्रायुधकान्तिमण्डलैरुद्घोषिताशावलयाम्बरान्तराः ।
 दिवौकसां सोऽनुवहन्महाचमूः पिनाकपाणेस्तनयस्तो ययौ ॥ 15 ॥
 कोलाहलेनोच्चलतां दिवौकसां महाचमूनां गुरुभिर्ध्वजव्रजैः ।
 घनैर्निरुच्छ्वासमभूदनन्तरं दिङ् मण्डलं व्योमतलं महीतलम् ॥ 16 ॥
 सुरारिलक्ष्मीपरिकम्पहेतवो दिक्चक्रवालप्रतिनादमेदुराः ।
 नभोन्तकुक्षिभरयो घनाः स्वना निहन्यमानैः पटहैर्वितेतिरे ॥ 17 ॥

कुमार के पीछे चल दिए जो उठी हुई घटा के समान एकदम काला था ॥ 9 ॥ लड़ाई की इच्छा से पवनदेव भी क्षण भर में अपने उस पराक्रमी हरिण पर बैठकर कुमार के पीछे चल दिए जो पृथ्वी और आकाश में सब कहीं बिना रुके चौकड़ी भरता उड़ता चलता था ॥ 10 ॥ जो गदा शत्रुओं का लहू पीकर ही युद्ध का व्रत तोड़ती थी, वह भारी गदा लेकर कुबेर भी उस पालकी पर चढ़कर कुमार के पीछे चले जिसे मनुष्य ढो रहे थे ॥ 11 ॥ अपने-अपने हाथों में पिनाक धनुष और चलते हुए त्रिशूल लेकर तथा अपने जटा-जूटों को बड़े-बड़े साँपों से कसकर हिमालय के समान उजले बैलों पर चढ़ चढ़कर ग्यारहों रुद्र कुमार के पीछे-पीछे हो लिए ॥ 12 ॥ महायुद्ध के इस उत्सव में रुचि रखने वाले दूसरे देवता भी अपने-अपने तगड़े वाहनों पर चढ़-चढ़कर आनन्द से हँस-हँसकर अपना मुख-कमल खिलाते हुए कार्तिकेय के साथ चल पड़े ॥ 13 ॥ इस प्रकार सब ठाठों से सजी हुई, अनगिनत सोने के डंडे ऊपर उठाकर चलती हुई, चमचमाते हुए रङ्ग-बिरंगे छत्र चमकाती हुई, झुण्ड के झुण्ड चलने वाले रथों की घनघनाहट से भयंकर लगती हुई, मतवाले हाथियों के घंटों की टन-टन और उनकी चिंगाड़ों से कान फाड़ती हुई और अनेक प्रकार के झिलमिलाते हुए अस्त्र-शस्त्रों की चमक से चारों दिशाओं और आकाश को चमकाती हुई उस देवताओं की महासेना को लिए हुए वीर कुमार वहाँ से चल पड़े ॥ 14-15 ॥ उछलते-कूदते चलने वाले देवताओं के हल्ले और उस बड़ी भारी सेना की ऊँची-ऊँची और बड़ी-बड़ी ध्वजाओं से, दसों दिशाएँ, आकाश और पृथ्वी सब एक से दिखाई पड़ने लगे ॥ 16 ॥ चारों ओर उनके नगाड़ों की घोर ध्वनि की गूँज सुनकर तो दैत्यों की राज-लक्ष्मी थर्रा उठी ॥ 17 ॥ सेना के चलने से उड़ी हुई धूल से भरा हुआ आकाश ऐसा

प्रमथ्यमानाम्बुधिगर्जितर्जनैः सुरारिनारीगणगर्भपातनैः ।
 नभश्चमूधूलिकुलैरिवाकुलं ररास गाढं पटहप्रतिस्वनैः ॥ 18 ॥
 क्षुण्णं रथैर्वाजिभिराहतं खुरैः करीन्द्रकर्णैः परितः प्रसारितम् ।
 धूतं ध्वजैः काञ्चनशैलजं रजो वातैर्हतं व्योम समारुहत्क्रमात् ॥ 19 ॥
 छातं खुरै रथ्यतुरङ्गपुङ्गवैरुपत्यकाहाटकमेदिनीरजः ।
 गतं दिगन्तान्मुखरैः समीरणैः सुविभ्रमं भूरि बभार भूयसा ॥ 20 ॥
 अधस्तथोर्ध्वं पुरतोऽय पृष्ठतोऽभितोऽपि चामीकरेणुचूचकैः ।
 चमूषु सर्पनमरुदाहतोऽहरन्नवीनसूर्यस्य च कान्तिवैभवम् ॥ 21 ॥
 बलोद्धतं काञ्चनभूमिजं रजो बभौदिगन्तेषु नभःस्थले स्थितम् ।
 अकालसन्ध्याधनरागपिङ्गलं घनं घनानामिव वृन्दमुद्यतम् ॥ 22 ॥
 हेमावनीष प्रतिबिम्बमात्मनो मुहुविलोक्याभिमुखं महागजाः ।
 रसातलोत्तीर्णगजभ्रमात्क्रुधा दन्तप्रकाण्डप्रहतानि तेनिरैः ॥ 23 ॥
 सुजातसिन्दूरपरागपिञ्जरैः कलं चलद्भिः सुरसैन्यसिन्धुरैः ।
 शुद्धासु चामीकरशैलभूमिषु नादृश्यत स्वं प्रतिबिम्बमग्रतः ॥ 24 ॥
 इति क्रमेणामरराजवाहिनी महाहवाम्भोधिविलासलालसा ।
 अवातरत्काञ्चनशैलतो द्रुतं कोलाहलाक्रान्तविधूतकन्दरा ॥ 25 ॥

लगता था मानो मथने के समय के समुद्र के गर्जन से भी अधिक डरावनी ध्वनि वाले और दैत्यों की स्त्रियों के गर्भ गिराने वाले नगाड़ों की धमक सुनकर आकाश रो उठा हो ॥ 18 ॥ वहाँ सुमेरु पर्वत की धूल इस ढंग से आकाश में चढ़ पहुँची कि पहले तो रथों ने वहाँ की मिट्टी उखाड़ी फिर घोड़ों ने अपने सुमों से खूँद-खूँद कर उसे महीन किया, तब हाथियों ने अपने कान फड़-फड़ा कर उसे चारों ओर फैलाया, फिर लहराती हुई झड़ियों ने उस धूल को और भी इधर-उधर बिखेर दिया और तब वायु उसे आकाश में उड़ा ले गया ॥ 19 ॥ इतना ही नहीं, सुमेरु की तलहटी से उठी हुई वह सुनहरी धूल रथ खींचने वाले बढ़िया घोड़ों के सुमों से पिसकर, हरहराते हुए पवन के सहारे सभी दिशाओं में फैलकर चमक उठी ॥ 20 ॥ पवन के सहारे से सेना के ऊपर-नीचे, आगे-पीछे और चारों ओर फैली हुई वह सुनहली धूल ऐसी सुन्दर थी कि निकलते हुए सूर्य की सुनहरी धूप भी उसके आगे पानी भरे ॥ 21 ॥ सेना के चलने से उड़ी हुई सुनहरी धूल सभी दिशाओं और आकाश में भरकर ऐसी सुन्दर दिखाई पड़ने लगी मानो संध्या हुए बिना ही सुनहरे बादलों के झुण्ड के झुण्ड उमड़कर आकाश में आ जाए हों ॥ 22 ॥ सेना के साथ चलते हुए हाथियों ने वहाँ की सुनहरी धरती में अपनी परछाई देखी तो वे समझे कि ये पाताल से निकले हुए बड़े-बड़े हाथी हैं और इसीलिये बहुत बिगड़कर वे उन परछाइयों पर ही अपने बड़े-बड़े दाँतों से टक्कर मारने लगे ॥ 23 ॥ बढ़िया सिन्दूर के चूरे से रंगे हुए और धीरे-धीरे चलने वाले उन देवताओं की सेना के हाथियों की सुमेरु गिरि की चमकदार सोने की धरती पर भी अपनी परछाई ठीक-ठीक नहीं दिखाई पड़ रही थी, क्योंकि दोनों का ही रंग एक-सा था ॥ 24 ॥ इस प्रकार युद्ध के समुद्र में तैरने को उतारू देवराज की सेना अपने हल्ले से गुफाओं की गुजाती हुई सुमेरु पर्वत से बड़े वेग से नीचे उतरी ॥ 25 ॥ देवताओं की इस बड़ी भारी सेना के रथों की घोर घरघराहट और बजते हुए घंटों और बड़े-बड़े हाथियों

महाचमूस्वन्दनचण्डचीत्कृतैर्विलोलघण्टे भपतेश्च बृंहितैः ।
 सुरेन्द्रशैलेन्द्रमहागुहाशयाः सिंहा महत्स्वप्नसुखं न तत्पुनः ॥ 26 ॥
 गम्भीररभोरिध्वनितैर्भयंकरैर्महागुहान्तप्रतिनादमेदुरैः ।
 महारथानां गुरुनेमिनिःस्वनैरनाकुलैस्तैर्मृगराजताडजनि ॥ 27 ॥
 समुत्थितेन त्रिदिवौकसां महाचमूरवेणाद्रितटान्तदारिणा ।
 प्रपेदिरे केसरिणोऽधिकं मदं स्ववीर्यलक्ष्मीमृगराजतावशात् ॥ 28 ॥
 भिया सुरानीकविमर्दजन्मना विदुदुबुदूरतरं दुतं मृगाः ।
 गुहागृहान्तादहिरेत्य हेलया तस्थुर्विशङ्कं नितरां मृगाधिपाः ॥ 29 ॥
 विलोकिताः कौतुकिनाऽमरावतीजनेन जुष्टप्रभदेन दूरतः ।
 सुराचलप्रान्तभुवः प्रपेदिरे सुविस्तृतायाः प्रसरं सुसैनिकाः ॥ 30 ॥
 पीतासितारक्तसितैः सुराचलप्रान्तस्थितैर्धातुरजोभिरम्बरम् ।
 अयत्नगन्धर्वपुरोदयभ्रमं बभार भूमनोत्पतितैरितस्ततः ॥ 31 ॥
 महास्वनः सैन्यविमर्दसंभवः कर्णान्तकूलंकषतामुपेयिवान् ।
 पयोनिधेः क्षुब्धतरस्य वर्धनो बभूव भूम्ना भुवनोदरम्भरिः ॥ 32 ॥
 महागजानां गुरुबृंहितैस्ततैः सुहेषितैर्घोरतरैश्च वाजिनाम् ।
 घनै रथानांगुरुचण्डचीत्कृतैस्तिरोहितोऽभूत्पटहस्य निःस्वनः ॥ 33 ॥

की चिग्घाड़ों की इतनी ध्वनि होते हुए भी सुमेरु पर्वत की लंबी-लंबी गुफाओं में सोने वाले सिंहों ने अपनी नींद के सपनों का सुख नहीं छोड़ा, वे सोए ही पड़े रहे ॥ 26 ॥ गुफाओं में गूँजते हुए नगाड़ों की गंभीर और भयंकर ध्वनि और बड़े-बड़े रथों के पहियों की घड़घड़ाहट गुफाओं से टकराकर दूनी होकर गूँज रही थी, फिर भी वहाँ के सिंह ज्यों के त्यों बैठे रहे और इस प्रकार उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि हम ऐसे वैसे नहीं वरन् सचमुच मृगों के राजा हैं ॥ 27 ॥ सुमेरु की चोटियों को फोड़ने वाली उस देवों की महासेना के चलने से जो हल्ला हो रहा था, उसे सुन-सुनकर वे सब सिंह और भी मतवाले हो उठे जो अपनी शक्ति के बलपर सब पशुओं के राजा बने हुए थे ॥ 28 ॥ वहाँ जितने हरिण थे वे सब तो इस डर से चौकड़ी भर-भरकर दूर भाग गए कि कहीं देवताओं की सेना हमें मार न डाले, पर जितने सिंह थे, वे अपनी गुफाओं के बाहर निडर होकर मस्ती के साथ निकल-निकलकर आ खड़े हुए ॥ 29 ॥ जब वे सैनिक उस ऊँचे सुमेरु पर्वत की तलहटी में उतरे, उस समय अमरावती में रहने वाले सब स्त्री-पुरुष बड़े चाव से उन्हें देखते जा रहे थे ॥ 30 ॥ सुमेरु पर्वत की पीली, नीली, लाल और उजली चट्टानों से उड़ी हुई धूल से भरा हुआ आकाश ऐसा लगने लगा मानो बिना परिश्रम के ही वह अनेक रत्नों से भरा गन्धर्वपुर बन गया हो ॥ 31 ॥ कानों के परदे फाड़ने वाल देवसेना का वह उमड़ा हुआ घोर कोलाहल हड़हड़ाते हुए समुद्र के कोलाहल से भी अधिक बढ़कर सारे ब्रह्माण्ड में गूँजने लगा ॥ 32 ॥ यहाँ तक कि मतवाले हाथियों की भारी चिग्घाड़, चारों ओर घोड़ों की हिनहिनाहट और चलते हुए रथों की घोर घरघराहट में वह गम्भीर और कान फाड़ने वाली नगाड़ों की ध्वनि भी एकदम दब गई ॥ 33 ॥ और क्षण-भर में ही देवसेना के चलने से उड़ी हुई वह धूल धीरे-धीरे दैत्यों की स्त्रियों के बालों, उनकी आँखों, अलकों और उनके स्तनों

महासुराणामबरोधयोषितां कचाक्षिपक्ष्मस्तनमण्डलेषु च ।
 ध्वजेषु नागेषु रथेषु वाजिषु क्षणेन तस्थौ सुरसैन्यजं रजः ॥ 34 ॥
 धनैर्विलोक्य स्थगितार्कमण्डलैश्चमूरजोभिर्निनिचतं नभःस्थलम् ।
 अयायि हंसैरभिमानसं धनध्रमेण सानन्दमनर्ति केकिभिः ॥ 35 ॥
 सान्द्रैः सुरानीकरजोभिरम्बरे नवाम्बुदानकनिमैरभिश्चिते ।
 चकाशिरे स्वर्णमया महाध्वजाः परिस्फुरन्तस्तडितं गणा इव ॥ 36 ॥
 विलोक्य धूलीपटलैर्भृशं भूतं द्यावापृथिव्योरलमन्तरं महत् ।
 किमूर्ध्वतोऽधः किमधस्त ऊर्ध्वतो रजोऽभ्युपैतीति जनैरतर्क्यत ॥ 37 ॥
 नोर्ध्वं न चाधो न पुरो न पृष्ठतो न पार्श्वतोऽभूत्खलु चक्षुषोर्गतिः ।
 सूच्यग्रभेदैः पृतनारजश्चयैराच्छादिता प्राणिगणस्य सर्वतः ॥ 38 ॥
 दिगन्तदन्त्याबलिदानहारिभिर्विमानरन्ध्रप्रतिदानमेदुरैः ।
 अनेकवाद्यध्वनितैरनारतैर्जगज्जगदं गुरुभिर्भस्तलम् ॥ 39 ॥
 भुवं विगाह्य प्रययौ महाचमूः क्वचिन्न मान्ती महतीं दिवं खलु ।
 सुसंकलायामपि तत्र निर्भरात्किं कान्दिशीकत्वमवाप नाकुला ॥ 40 ॥
 उद्दामदानद्विपवृन्दब्धं हितैर्नितान्तमुत्तुङ्गतुरङ्गद्विधितैः ।
 चलद्धनस्पन्दननेमिनिःस्वनैरभून्निरुच्छ्वासमिवाकुलं जगत् ॥ 41 ॥

पर बैठती हुई फिर उनकी पताकाओं, हाथियों, रथों और घोड़ों पर जा जमने लगी ॥ 34 ॥ जब सेना की घनी धूल सूर्य को ढककर आकाश में जा छाई तब हंस समझे कि ये बादल हैं और बरसात जानकर वे तो मानसरोवर की ओर उड़ चले और मोर मस्ती से नाच उठे ॥ 35 ॥ सेना के चलने से उड़ी हुई घनी धूल तो आकाश में नये बादलों की पाँतों-जैसी दिखाई देने लगी और सुनहरी पताकाएँ, चमकती हुई बिजली की लहरों जैसी चमकने लगीं ॥ 36 ॥ आकाश और पृथ्वी के ठीक बीचों बीच छाई हुई उस धूल को देखकर लोग इसी उलझन में पड़े सोचते रह गए कि यह धूल, ऊपर नीचे उतर रही है या नीचे से ऊपर को चढ़ रही है ॥ 37 ॥ सेना के चलने से उठी हुई धूल चारों ओर ऐसी छा गई थी कि सुई की नोंक के बराबर स्थान भी छूटा नहीं रह गया था इसलिये सबकी आँखों के आगे ऐसा अँधेरा आ छाया कि किसी को भी नीचे ऊपर, आगे-पीछे, इधर-उधर कहीं कुछ भी नहीं दिखाई पर रहा था ॥ 38 ॥ सेना में ऐसे बहुत से बाजे निरन्तर बज रहे थे जिनकी घोर ध्वनि सुनकर मतवाले हाथियों का मद भी सूख जाता था और जिनकी ध्वनि विमानों की छतरियों में टकराकर और भी दूनी गूँज उठती थी। उन्हें सुन-सुनकर ऐसा लगता था मानो आकाश ही घनघोर गरज रहा हो ॥ 39 ॥ देवताओं की यह महासेना पहले तो धरती में जा भरी पर वहाँ न समा सकने के कारण आकाश में जा पहुँची और जब वहाँ भी न समा सकी तब मानो वह यह समझकर घबरा उठी कि अब यहाँ से कहाँ चला जाय ॥ 40 ॥ ऊँचे-ऊँचे मतवाले हाथियों की चिंगाड़ से, अत्यन्त ऊँचे-ऊँचे घोड़ों की हिनहिनाहट से और चलने वाले रथों की घड़-घड़ाहटों से सब ऐसे घबरा उठे मानो सबकी साँस घुटी जा रही हो ॥ 41 ॥ बड़े-बड़े हाथियों की घोर चिंगाड़, उनके हिलते हुए युद्ध के घंटों की टन-टनटनाहट और मतवाले वीरों की ललकार की चिल्लपों चारों ओर फैली हुई ऐसी लगती थी मानों दसों दिशाएँ ही कोलाहल मचाए डाल रही हों ॥ 42 ॥ बड़े-बड़े हाथियों का इतना मद वहाँ बहा कि सूखी हुई नदियों में तुरन्त बाढ़ आ गई और फिर घोड़ों

महागजानां गुरुभिस्तु गर्जितैर्विलोलघण्टारणितै रणोल्बणैः ।
 वीरप्रणादैः प्रमदप्रमेदुरैर्वाचालतामादधिरैतरां दिशः ॥ 42 ॥
 दन्तीन्द्रदानद्रववारिवीचिभिः सद्योऽपि नद्यो बहुधा पुपूरिरे ।
 धारारजोभिस्तुरगैः क्षतैर्भृतायाः पङ्कतामेत्य रथैःस्थलीकृताः ॥ 43 ॥
 निम्नाः प्रदेशाः स्थलतामुपागमन्निम्नत्वमुच्चैरपि सर्वतश्च ते ।
 तुरंगमाणां व्रजतां खुरैः क्षतारथैर्गजेन्द्रैः परितः समीकृताः ॥ 44 ॥
 नभो दिगन्तप्रतिघोषभीषणैर्महामहीभृत्तटदारणोल्बणैः ।
 पयोधिनिर्धूननकेलिभिर्जगद्धभूव भेरीध्वनितैः समाकुलम् ॥ 45 ॥
 इतस्ततो वातविधूतचञ्चलैर्नीरन्ध्रिताशागमनैर्ध्वजांशुकैः ।
 लक्षैः क्वणत्काञ्चनकिङ्किणीकुलैरमज्जि धूली-जलधौ नभोगते ॥ 46 ॥
 घण्टारवै रौद्रतरैर्निरन्तरं विसृत्वरैर्गर्जरवैः सुभीरवैः ।
 मत्तद्विपानां प्रथयांबभूविरै न बाहिनीनां पटहस्य निःस्वनाः ॥ 47 ॥
 करालवाचालमुखाश्चमूस्वनैर्ध्वस्ताम्बरा वीक्ष्य दिशो रजस्वलाः ।
 तिरोबभूवे गहनैर्दिनेश्वरो रजोन्धकारैः परितः कुतोऽप्यसौ ॥ 48 ॥
 आक्रान्तपूर्वा रभसेन सैनिकैर्दिगङ्गना व्योमरजोभिर्दूषिता ।
 भेरीरवाणां प्रतिशब्दितैर्घनैर्जगर्ज गाढं घनमत्सरादिव ॥ 49 ॥
 गुरुसमीरसमीरित भूधरा इव गजा गगनं विजगाहिरे ।
 गुरुतरा इव वारिधरा रथा भुवमितीह विवर्त्त इवाभवत् ॥ 50 ॥

के सुमों की खूँद से उठी हुई धूल भर जाने से उन नदियों में कीचड़ ही कीचड़ हो गया और फिर रथों के पहियों से दबकर वहीं फिर ज्यों की त्यों धरती निकल आई ॥ 43 ॥ चलते हुए घोड़ों के सुमों से रौंदी जाने पर और रथों तथा हाथियों के चलने से दब जाने पर गड्ढे तो टीले हो गए और टीले गड्ढे हो गए ॥ 44 ॥ बड़े-बड़े पहाड़ों को फाड़ डालने वाली और समुद्र में हलचल मचा देने वाली वह नगाड़े की ध्वनि जब उठकर आकाश और दिशाओं में जा गूँजी तो उसकी और भी भयानक ध्वनि सुनकर सारा संसार घबरा उठा ॥ 45 ॥ उस सेना की टन-टनाती हुई घुंघरुओं वाली वे लाखों झंडियाँ जो सारे आकाश में छाकर सब मार्ग रोके हुए वायु के झोंकों से फरफरा रही थीं, उस सेना के चलने से उड़ी हुई धूल के समुद्र में जा डूबीं ॥ 46 ॥ मतवाले हाथियों की गूँजती हुई चिंगाड़ और पल-पल में भयंकर होकर बढ़ती हुई घण्टों की ध्वनि के आगे सेना की नगाड़ों की ढमढम सुनाई ही नहीं पड़ रही थी ॥ 47 ॥ जैसे किसी हल्ला मचाने वाली नंगी रजस्वला को देखकर सज्जन लोग आड़ कर लेते हैं वैसे ही सेना के होहल्ले से घोर कोलाहल करती हुई और आकाश-रूपी वस्त्र को फाड़कर रज से भरी हुई दिशा-रूपी नायिका को देखकर फैले हुए धूल के घने जँधरे की ओट करके सूर्य ने अपने को छिपा लिया ॥ 48 ॥ वहाँ जो नगाड़े बज रहे थे उनकी धमक ऐसी लग रही थी मानो आकाश-रूपी नायक, धूल से भरी हुई अपनी दिशारूपी रजस्वला नायिका पर सैनिकों का इतना बड़ा धावा देखकर घोर ईर्ष्या से अचानक गरज उठा हो ॥ 49 ॥ बड़े-बड़े हाथी आकाश में इस प्रकार इधर-उधर घूम रहे थे जैसे किसी बड़ी भारी आँधी से पहाड़ की चट्टानें ऊपर उड़ी जा रही हों और भूमि पर रथ इस प्रकार चल रहे थे मानो बड़े-बड़े बादल उतरकर चल रहे हों इस युद्ध में ऐसा जान पड़ता था मानो पृथ्वी के पहाड़ तो आकाश में उड़ने लगे हों और आकाश में

बलमदसुरलोकानल्पकल्पान्तकाले निरवधय इवाम्भोराशयो घोरघोषाः ।
 गुरुतरपरिमज्जद्भूभृतो देवसेना ववृधुरपि सुपूर्णा व्योमभूम्यन्तराले ॥ 51 ॥
 । इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये
 देवसेनाप्रयाणं नाम चतुर्दशः सर्गः ।।



चलने वाले बादल पृथ्वी पर उतरकर चलने लगे हों ॥ 50 ॥ घोर कोलाहल मचाती हुई बड़े-बड़े राजाओं से भरी वह देवसेना भली प्रकार चारों ओर भरी होने पर भी इस प्रकार और भी अधिक बढ़ चली मानो बलवान् असुरों के इस महाप्रलय के समय घोर रूप से गरजता हुआ महासागर उमड़ा चला जा रहा हो ॥ 51 ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदास के रचे हुए कुमारसम्भव महाकाव्य में देवसेना का प्रस्थान नामक चौदहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥



॥ पञ्चदशः सर्गः ॥

सेनापतिं नन्दनमन्धकद्विषो युधे पुरस्कृत्य बलस्य शात्रवः ।
 सैन्यैरुपैतीति सुरद्विषां पुरोऽभूत्किंवदन्ती हृदयप्रकम्पिनी ॥ 1 ॥
 चमूप्रभुं मन्मथमर्दनात्मजं विजित्वरीभिर्विजयश्रियाश्रितम् ।
 श्रुत्वा सुराणां पृतनाभिरागतं चित्ते चिरं चुक्षुभिरे महासुराः ॥ 2 ॥
 समेत्य दैत्याधिपतेः पुरे स्थितः किरीटबद्धाञ्जलयः प्रणम्य ते ।
 न्यवेदयन्मन्मथशत्रुसूनुना युयुत्सुना जम्भजितं सहागतम् ॥ 3 ॥
 दासीकृताशेषजगत्त्रयं न मां जिगाय युद्धे कतिशः शचीपतिः ।
 गिरीशपुत्रस्य बलेन साम्प्रतं ध्रुवं विजेतेति स काकुतोऽहसत् ॥ 4 ॥
 ततः क्रुधा विस्फुरिताधराधरः स तारको दर्पितदोर्बलोद्धतान् ।
 युधे त्रिलोकीजयकेलिलालसः सेनापतीन्सन्नहनार्थमादिशत् ॥ 5 ॥
 महाचमूनामधिपाः समन्ततः सन्नद्ध सद्यः सुतरामुदायुधाः ।
 तस्थुर्विनम्रक्षितिपालसंकुले तदङ्गनद्वारवरप्रकोष्ठके ॥ 6 ॥
 स द्वारपालेन पुरः प्रदर्शितान्कृतानतीन्बाहुवरानधिष्ठितान् ।
 महाहवाम्भोधिविधूननोद्धतान्ददर्श राजा पृतनाधिपान्बहून् ॥ 7 ॥
 बली बलारातिबलातिशातनं दिग्दन्तिनादद्रवनाशनस्वनम् ।
 महीधराम्भोधिमवारितक्रमं ययौ रथं घोरमथाधिरुद्ध सः ॥ 8 ॥

पन्द्रहवाँ सर्ग

उधर जब दैत्यों के नगर में यह हल्ला मचा कि शंकर के पुत्र कार्तिकेय को सेनापति बनाकर और देवताओं की सेना साथ लेकर दैत्यों के शत्रु इन्द्र यहाँ युद्ध करने के लिये बढ़े चले आ रहे हैं तब दैत्यों में बड़ी खलबड़ी गच गई ॥ 1 ॥ और जब उन्होंने जान लिया कि जयलक्ष्मी के साथ देवताओं की सेना लेकर विजयी कार्तिकेय सचमुच सेनापति बनकर आए हैं तब तो दैत्यों के नगर के रहने वाले बहुत देर तक ऐसे घबराए बैठे रहे मानों उन्हें काठ मार गया हो ॥ 2 ॥ दैत्यों के राजा तारक की नगरी में रहने वाले सब दैत्य मिलकर तारक के पास पहुँचकर उनके आगे सिर झुकाकर प्रणाम करके कहने लगे कि युद्ध करने को उतारू कुमार को साथ लेकर इन्द्र आ पहुँचे हैं ॥ 3 ॥ यह सुनकर तारक ने बढ़े ताने के साथ हँसते हुए कहा- 'पिछले कई युद्धों में जो इन्द्र मुझ त्रैलोक्य विजयी को नहीं जीत पा सका वह अब जब कुमार के भरोसे लड़ने चला है तब भला क्या जीतेगा' ॥ 4 ॥ यह कहते ही तीनों लोकों को खेल ही खेल में जीतने की शक्ति रखने वाले तारक के ओठ काँपने लगे और उसने अपने उन अखाड़िये सेनापति को युद्ध के लिये सजने की आज्ञा दे दी जिन्हें अपने बाहुबल पर बड़ा घमंड था ॥ 5 ॥ तब अस्त्र-शस्त्र बाँधकर बढ़े-बढ़े दैत्य सेनापति तुरंत तारक के उस भारी फाटक वाले आँगन में आ खड़े हुए जहाँ बहुत से आज्ञाकारी राजा पहले से ही पूँछ दबाए आए खड़े थे ॥ 6 ॥ वहाँ द्वार पर पहुँचकर जो जो वीर आकर प्रणाम करते जाते थे उन बड़ी-बड़ी भुजाओं वाले वीरों को द्वारपाल भी तारकासुर के सामने ले जा खड़ा करता जाता था । दैत्यराज ने देखा कि वे अनगिनत सेनापति, महायुद्ध का हलचल मचाने में सब एक से एक बढ़कर हैं ॥ 7 ॥ तब वह बलवान् दैत्य भी स्वयं उस भयंकर रथ पर चढ़कर चल पड़ा जो अकेला ही इन्द्र की सेना को तहस-नहस कर सकता था, जिसकी घरघराहट सुनकर दिग्गजों

युगक्षयक्षुब्धपयोधिनिःस्वनाश्चलत्पताकाकुलवारितातपाः ।
 धरारजोग्रस्तदिगन्तभास्कराः पतिं प्रयान्तं पृतनास्तमन्वयुः ॥ 9 ॥
 चमूरजः प्राप दिगन्तदन्तिनां महासुरस्याभिसुरं प्रसर्पिणः ।
 दन्तप्रकाण्डेषु सितेषु शुभ्रतां कुम्भेषु दानाम्बुधनेषु पङ्कताम् ॥ 10 ॥
 महीभृतां कन्दरदारणोल्लबणैस्तद्वाहिनीनां पटहस्वनैर्धनैः ।
 उद्वेलिताश्चुक्षुभिरे महार्णवा नभःसवन्ती सहसाम्यवर्धत ॥ 11 ॥
 सुरारिनाथस्य महाचमूस्वनैर्विगाह्यामाना तुमुलैः सुरापगा ।
 अभ्युच्छ्रितैरुर्मिश्रितैश्च वारिजैरक्षालयन्नाकनिकेतनावलीम् ॥ 12 ॥
 अथ प्रयाणाभिमुखस्य नाकिनां द्विषः पुरस्तादशुभोपदेशिनी ।
 अगाधदुःखाम्बुधिमध्यमज्जनं बभूव चोत्पातपरम्परा तव ॥ 13 ॥
 आगामिदैत्याशनकेलिकाङ्क्षिणीकुपक्षिणां घोरतरा परम्परा ।
 दधौ पदं व्योम्नि सुरारिवाहिनीरुपर्युपर्येत्यनिवारितातपा ॥ 14 ॥
 मुहुर्विभग्नातपयारणध्वजश्चलद्धराधूलिकलाकुले क्षणः ।
 धूताश्वमातङ्गमहारथाकरानवेक्षणोऽभूत्प्रसभं प्रभञ्जनः ॥ 15 ॥
 सद्योविभिन्नाञ्जनपुञ्जतेजसो मुखैर्विषाग्निं विकिरन्त उच्चकैः ।
 पुरः पथोऽतीत्य महाभुजङ्गमा भयङ्कराकारभृतो भृशं ययुः ॥ 16 ॥

का चिंगाड़ना और मद बहाना बन्द हो जाता था और जो पर्वत तथा समुद्र में कहीं भी बेरोक-टोक चला जा सकता था ॥ 8 ॥ पृथ्वी से उड़ी हुई धूल से सब दिशाओं और आकाश को ढकती हुई दैत्यों की वह सेना भी अपने सेनापति तारकासुर के पीछे-पीछे चल पड़ी, जो प्रलय काल के हरहराते हुए समुद्र के समान बड़ा हल्ला मचाए डाल रही थी और जिसमें इतनी पताकाएँ फहरा रही थीं कि उनसे धूप तक रुक गई थी ॥ 9 ॥ जब देवताओं से लड़ने के लिये महादैत्य तारक की सेना चली तब उसके चलने से उड़ी हुई धूल दिग्गजों के उजले दाँतों पर पड़कर उजली हो उठती थी और जब मद बहते हुए उनके गालों पर पड़ती थी तब कीचड़ बन जाती थी ॥ 10 ॥ उसकी सेना के नगाड़ों की जो गम्भीर ध्वनि पहाड़ों की कन्दराओं को फोड़ सकती थी उसे सुनकर समुद्र भी हिलोरें लेकर अपने तट से ऊपर उठ आया और आकाश गंगा में भी अचानक बाढ़ आ गई ॥ 11 ॥ दैत्यराज की बड़ी भारी सेना का भयंकर हल्ला जो आकाशगंगा में गूँजा तो सुन्दर कमलों से भरी सैकड़ों लहरों के ज्वार ने स्वर्ग के सारे भवन धो डाले ॥ 12 ॥ जब वह दैत्यराज लड़ने के लिये चला तब उसके आगे ऐसे बुरे-बुरे असगुन होने लगे जिनसे जान पड़ने लगा कि वह दैत्य किसी भारी विपत्ति के समुद्र में डूबने वाला है ॥ 13 ॥ उसी समय दैत्यों का माँस पाने की टोह में बहुत से गिद्ध, कौवे आदि भयंकर जीव-जन्तु पाँतें बाँध-बाँधकर दैत्यों की सेना के ऊपर ठीक इस प्रकार मँडराने लगे कि उनकी छाया भी नीचे नहीं पड़ती थी ॥ 14 ॥ आकाश में बार-बार ऐसी आँधियाँ उठने लगीं कि छत्र-चँवर, पताकाएँ, सब टूट-फूट चलीं, धूल उड़-उड़कर सबकी आँखों में आ भरी और घोड़े, हाथी रथ सबको उन आँधियों ने झकझोर डाला ॥ 15 ॥ तुरन्त पारे हुए काजल से टूटकर गिरे हुए टुकड़े के समान काले और विष-भरी आग की ऊँची-ऊँची लपटें उगलने-वाले बड़े भयंकर डील-डौल वाले साँप, सेना का मार्ग काट-काटकर सामने से निकलने लगे ॥ 16 ॥ और बैर के कारण ही मानो सूर्य ने भयंकर साँपों की कुण्डली के समान बड़ा-सा मंडल चारों ओर डाल लिया था जो बता

मिलन्महाभीमभुजङ्गभीषणं प्रभुर्दिनानां परिवेषमादधौ ।
 महासुरस्य द्विणतोऽतिमत्सरादिवान्तमासूचयितुं भयङ्करः ॥ 17 ॥
 त्विषामधीशस्यपुरोऽधिमण्डलं शिवाः समेताः परुषं ववाशिरे ।
 सुरारिराजस्य रणान्तशोणितं प्रसह्य पातुं द्रुतमुत्सुका इव ॥ 18 ॥
 दिवापितारस्तरलास्तरस्विनीः परापतन्तीः परितोऽथ वाहिनीः ।
 विलोक्यलोको मनसाव्यचिन्तयत्प्राणव्ययान्तं व्यसनंसुरद्विषः ॥ 19 ॥
 ज्वलद्भिरुच्चैरभितः प्रभाभरैरुद्भासिताशेषदिगन्तराम्बरम् ।
 रवेण रौद्रेण हृदन्तदारणं पपात वज्रं नभसो निरम्बुदात् ॥ 20 ॥
 ज्वलद्भिरङ्गारचयैर्नभस्तलं ववर्ष गाढं सह शोणितास्थिभिः ।
 धूमं ज्वलन्त्यो व्यसृजन्मुखै रजो दधुर्दिशो रासभकण्ठधूसरम् ॥ 21 ॥
 निर्घातघोषोगिरिशृङ्गशातनो घनोऽम्बराशाकुहरोदरम्भरिः ।
 बभूव भूम्ना श्रुतिभित्तिभेदनः प्रकोपिकालार्जितगर्जितर्जनः ॥ 22 ॥
 स्खलन्महेभं प्रपतत्तुरङ्गमं परस्पराश्लिष्टजनं समन्ततः ।
 प्रक्षुब्धदम्भोधिविभिन्नभूधराद्वलं द्विषोऽभूदवनिप्रकम्पात् ॥ 23 ॥
 ऊर्ध्वीकृतास्या रविदत्तदृष्टयः समेत्य सर्वे सुरविद्विषः पुरः ।
 श्वानः स्वरेण श्रवणान्तशातिना मिथो रुदन्तः करुणेन निर्ययुः ॥ 24 ॥
 अपीति पश्यन्परिणामदारुणां महत्तमां गाढमरिष्टसन्ततिम् ।
 दुर्दैवदष्टो न खलु न्यवर्तत क्रुधा प्रयाणव्यवसायतोऽसुरः ॥ 25 ॥
 अरिष्टमाशङ्क्य विपाकदारुणं निवार्यमाणोऽपि बुधैर्महासुरः ।
 पुरः प्रतस्थे महतां वृथा भवेदसद्ग्रहान्धस्य हितोपदेशनम् ॥ 26 ॥

रहा था कि देवताओं के शत्रु तारक असुर के दिन पूरे हो चले हैं ॥ 17 ॥ युद्ध में तारक असुर का लहू पीने की उतावली में सियारिनियाँ सूर्य-मण्डल के चारों ओर आ-आकर बड़े डरावने स्वर में रोने लगीं ॥ 18 ॥ दिन में निकले हुए तारे उस सेना के चारों ओर बड़े वेग से टूट-टूटकर गिरने लगे और लोगों को विश्वास हो गया कि ये सब उपद्रव तारक के नाश के लिये ही हो रहे हैं ॥ 19 ॥ अपनी घोर और भयंकर तड़प से हृदय फाड़ देने वाली और अपनी जलती हुई चमक से सारी दिशाओं और आकाश को चमका देने वाली बिजली भी बिना बादल के ही आकाश से टूट-टूटकर गिरी जा रही थी ॥ 20 ॥ आकाश से धधकते हुए अंगारों, लहू और हड्डियों की घनघोर वर्षा होने लगी थी और दसों दिशाएँ गधे के गले के रंग-जैसा भूरा-भूरा धुआँ उगले जा रही थीं ॥ 21 ॥ चारों ओर आकाश में और दसों दिशाओं में ऐसा भयंकर हल्ला हो रहा था जो क्रोध में भरे हुए काल की गरज के समान कानों के पर्दे फाड़े डाल रहा था और जिसकी गूँज से पहाड़ की चोटियाँ भी फटी पड़ रही थीं ॥ 22 ॥ इतने में ही ऐसा प्रचंड भूडोल आया कि समुद्र हिलारें लेने लगा, पहाड़ों में दरारें पड़ गईं, तारक के सैनिक एक दूसरे से चिपट गए, बड़े-बड़े हाथी लड़खड़ा उठे और घोड़े जहाँ-तहाँ पटपट गिरने लगे ॥ 23 ॥ सूर्य की ओर देखते हुए मुँह उठाकर एक साथ बहुत से कुत्ते रोते और बुरे ढंग से भूँकते हुए तारक के सामने आ निकले ॥ 24 ॥ इस प्रकार के बुरे-बुरे डरावने असगुन देखकर भी दुर्भाग्य के मारे उस दैत्य ने क्रोध से लड़ाई में जाने से मुँह नहीं मोड़ा ॥ 25 ॥ ऐसे बड़े, डरावने और बुरे असगुन देखकर विद्वानों ने उस महादैत्य को बहुत रोकना चाहा पर वह किसकी सुनने वाला था, वह आगे बढ़ता ही चला गया। जो लोग हठ से अन्धे हो जाते हैं उन्हें बड़े-बूढ़ों का उपदेश कभी अच्छा नहीं लगता ॥ 26 ॥ इतने में ही उलटे बहते हुए वायु

क्षितौ निरस्तं प्रतिकूलवायुना तदीयचामीकरधर्मवारणम् ।
 रराज मृत्योरिव पारणाविधौ प्रकल्पितं हाटकभाजनं महत् ॥ 27 ॥
 विजानता भाविशिरोनिकृन्तनं प्रज्ञेनशोकादिव तस्य मौलिना ।
 मुहुर्गलद्भिस्तरलैरलन्तरामरो दि मुक्ताफलबाष्पबिन्दुभिः ॥ 28 ॥
 निवार्यमाणैरभितोऽनुयायिभिर्ग्रहीतुकामैरिव तं मुहुर्मुहुः ।
 अपाति गृधैरभि मौलिमाकुलैर्भविष्यदेतन्मरणोपदेशिभिः ॥ 29 ॥
 सद्यो निकृत्तं व्रजसोदरघुतिं फलामणिप्रज्वलदं शुमंडलम् ।
 निर्यद्विषोल्कानलग्नमफूत्कृतं ध्वजे जनस्तस्य महाहिमैक्षत ॥ 30 ॥
 रथाश्वके मावलिकर्णचामरं ददाह बाणासनबाणबाणधीन् ।
 अकाण्डतश्चण्डतरो हुताशनस्तस्यातनुस्यन्दनधुर्यगोचरः ॥ 31 ॥
 इत्याद्यरिष्टैरशुभोपदेशिभिर्विहन्यमानोऽप्यसुरः पुनः पुनः ।
 यदा मदान्धो न गतान्यवर्तताम्बरात्तदाभूमरुतां सरस्वती ॥ 32 ॥
 मदान्ध मा गा भुजदण्डचण्डिमावलेपतो मन्मथहन्तृसूनुना ।
 सुरैः सनाथेन पुरन्दरादिभिः समं समन्तात्समरं विजित्वरैः ॥ 33 ॥
 गुहोऽसुरैः षड्दिन जातमात्रको निदाघधामेव निशातमोभरैः ।
 विषह्यते नाभिमुखोहिसंगरे कुतस्त्वया तस्यसमं विरोधिता ॥ 34 ॥
 अश्रुलिहैः शृङ्गशतैः समन्ततो दिक्चक्रवालैः स्थगितस्य भूमृतः ।
 क्रौञ्चस्य रन्ध्रं विशिखेन निर्ममेयेनाहवस्तस्य सह त्वया कुतः ॥ 35 ॥

का ऐसा झोंका आया कि सुनहरा राजछत्र भी भूमि पर आँधा जा गिरा और ऐसा लगने लगा मानो उसकी मृत्यु ने अपना व्रत तोड़ने के समय भोजन करने के लिये वह सोने का थाल सामने ला रक्खा हो ॥ 27 ॥ तारक के किरीट के टूट-टूटकर गिरते हुए मोती ऐसे लग रहे थे मानो तारक का सिर कटने की बात पहले से जानने वाला वह समझदार मुकुट अपने मोती के आँसू बार-बार बरसाकर रोने लग रहा हो ॥ 28 ॥ उनके सिर पर मँडराते हुए गिद्धों को उसके सेवक बराबर भगाए डाल रहे थे पर वे गिद्ध थे कि व्याकुलता के साथ सिर पर ही गिर-गिरकर मानो यह बता रहे हों कि अब तुम्हारे दिन पूरे हो चले हैं ॥ 29 ॥ इतने में लोगों ने देखा कि उसके झंडे पर तुरन्त पारे हुए काजल के समान काला, अपने फण के मणि की किरणों के प्रकाश से चमकते हुए फनों वाला और भयानक विष-भरी आग की फुँकार छोड़ने वाला एक बड़ा भारी साँप आ लिपटा है ॥ 30 ॥ इतने में अचानक उसके रथ के धुरे से आग की ऐसी भारी लपट उठी कि रथ के घोड़ों के बाल, कान और चौरियाँ झुलस गईं और तारक के धनुष, बाण और तूणीर भी जल उठे ॥ 31 ॥ बार-बार ऐसे बुरे-बुरे असगुन होने पर भी जब वह घमंड में चूर दैत्य न लौटा, तब आकाश से वह देववाणी सुनाई दी ॥ 32 ॥ -'अरे घमंड में चूर दैत्य! तू अपने भुजदंडों पर घमंड करके उन कार्तिकेय से युद्ध करने मत जा, जिनके साथ इन्द्र और विजयी देवता बड़े चले आ रहे हैं ॥ 33 ॥ अरे मतवाले दैत्य! छह दिन के बालक कुमार के आगे युद्ध में दैत्यों की वही दुर्दशा होगी जो सूर्य के आगे रात के अँधेरे की होती है। भला तू उनसे क्या लड़ पावेगा! ॥ 34 ॥ देख तारक! जिस क्रौंच पर्वत की सैकड़ों चोटियाँ आकाश चूमती हैं और जो दसों दिशाओं में फैला हुआ है उसे भी जिसने बाणों से छेद डाला उनके साथ तू भला क्या लड़ पावेगा? ॥ जिन परशुराम ने शंकर से

लब्ध्वा धनुर्वेदमनङ्गविद्विषस्त्रिसप्तकृत्वः समरे महीभुजाम् ।
 कृत्वाभिषेकं रुधिराम्बुभिर्घनैः स्वक्रोधवह्निं शमयांबभूव यः ॥ 36 ॥
 न जामदग्न्यः क्षयकालरात्रिकृत्स क्षत्रियाणां समराय वल्गति ।
 येन त्रिलोकीसुभटेन तेन कुतोऽवकाशः सह विग्रहग्रहे ॥ 37 ॥
 त्यजाशु गर्व मदमूढ मा स्म गाः स्मरारिसूनीर्वरशक्तिगोचरम् ।
 तमेव नूनं शरणं ब्रजाधुना जगत्सुवीरं स चिराय जीव तत् ॥ 38 ॥
 श्रुत्वेति वाचं वियतो गरीयसीं क्रोधादहंकारपरो महासुरः ।
 प्रकम्पिताशेषजगत्त्रयोऽपि सन्नकम्पतोच्चैर्दिवमभ्यधाच्च सः ॥ 39 ॥
 किं ब्रूथ रे व्योमचरा महासुराः स्मरारिसूनुप्रतिपक्षवर्तिनः ।
 मदीयबाणव्रणवेदना हि साऽधुना कथं विस्मृतिगोचरीकृता ॥ 40 ॥
 कटुस्वरैः प्रालपथाम्बरस्थिताः शिशोर्बलात्षड्दिनजातकस्य किम् ।
 श्वानः प्रमत्ता इव कार्तिके निशि स्वैरं वनान्ते मृगधूर्तका इव ॥ 41 ॥
 सङ्गेन वो गर्भतपस्विनः शिशुर्वराक एषोऽन्तमवाप्स्यति ध्रुवम् ।
 अतस्करस्तस्करसङ्गतो यथा तद्वो निहन्मि प्रथमं ततोऽप्यमुम् ॥ 42 ॥
 इतीरयत्युग्रतरं महासुरे माहकृपाणं कलयत्यलं ऋधा ।
 परस्परोत्पीडितजानवो भयान्नभश्चरा दूरतरं विदुर्दुबुः ॥ 43 ॥
 ततोऽवलेपाद्विकटं विहस्य स व्यधत्त कोशादसिमुत्तमं बहिः ।
 रथं द्रुतं प्रापय वासवान्तिकं नन्वित्यवोचन्निसजारथिं रथी ॥ 44 ॥

धनुर्विद्या सीखकर इक्कीस बार युद्ध में राजाओं के गढ़े रक्ते में स्नान करके अपना क्रोध ठंडा किया है
 ऐसे क्षत्रियों के नाशकी कालरात्रि बुलानेवाले परशुराम भी जिनसे लड़ने में घबराते हैं, उन त्रिभुवन-प्रसिद्ध
 महायोद्धासे लड़ने का तुममे कहाँ दम है ॥ 36-37 ॥ अरे घमंड से अन्धे दैत्य! तू अपना घमंड छोड़कर
 कुछ ऐसा उपाय कर कि जिससे तू कुमार की शक्ति के आगे न आ पड़े। इस समय तेरे प्राण बच पावेंगे
 तो उन्हीं की शरण में जाने से ही बचे रह पा सकेंगे ॥ 38 ॥ अपने क्रोध से तीनों लोकों को कंपा देनेवाला
 वह घमंडी दैत्य भी ऐसी आकाशवाणी सुनकर एक बार तो स्वयं काँप उठा पर फिर सँभलकर आकाश
 की ओर मुँह करके गरजकर बोला- ॥ 39 ॥ 'अरे कार्तिकेय की बड़ाई करने वाले आकाश में घूमनेवाले
 देवताओ ! क्या आज तुम्हें मेरे बाणों के घावों की पीड़ा भूल गई जो इस प्रकार बक-बक किए जा रहे
 हो ॥ 40 ॥ अरे देवताओ! कार्तिक के महीने में जैसे पागल कुत्ते भूँका करते हैं और रात को वन में
 सियार-लोमड़ी आदि धूर्त पशु बोला करते हैं वैसे ही तुम लोग भी आकाश में चढ़ चढ़कर उस छह दिन
 के बच्चे कुमार के बलकी क्या रिरिया-रिरियाकर झूठी शान बघारे जा रहे हो ॥ 41 ॥ अरे देवताओ!
 तुम लोगों के साथ पड़ने से यह बेचारा तपस्वी बालक कार्तिकेय भी तुम लोगों के साथ वैसे ही मारा
 जायगा वैसे चोरका साथ देनेवाले की भी दण्ड भोगना पड़ जाता है' ॥ 42 ॥ यह कहकर उस महासुर
 ने जो अपना भारी और बड़ा भयावना कृपाण उठाया तो आकाश में खड़े हुए सब देवता एक दूसरे को
 ठेलते ढकेलते हुए भाग खड़े हुए ॥ 43 ॥ तब बड़े घमंड से विकट हँसी हँसकर उसने म्यान से अपना
 करवाल बाहर निकाल लिया और अपने सारथी से कहा कि रथ बढ़ाकर झटपट इन्द्र के सामने बढ़ा
 पहुँचाओ ॥ 44 ॥ मन से भी अधिक वेग से चलने वाले जिस रथ को सारथी बढ़ाए लिए चला जा रहा

मनोतिवेगेन रथेन सारथिप्रणोदितेन प्रचलन्महासुरः ।
 ततः प्रपेदे सुरसैन्यसागरं भयङ्कराकारमपारमग्रतः ॥ 45 ॥
 पुरः सुराणां पृतनां प्रथीयसीं विलोक्य वीरः पुलकं प्रमोदजम् ।
 बभार भूम्नाथ स बाहुदण्डयोः प्रचण्डयोः सङ्गरकेलिकौतुकी ॥ 46 ॥
 ततो महेन्द्रस्य चराश्चमूचरा रणान्तलीलारभसेन भूयसा ।
 पुराः प्रचेलुर्मनसोऽतिवेगिनी युयुत्सुभिः किं समरे विलम्ब्यते ॥ 47 ॥
 पुरःस्थितं देवरिपोश्चमूचरा बलद्विषः सैन्यसमुद्रमभ्ययुः ।
 भुजं समुरिक्षप्य परेभ्य आत्मनोऽभिधानमुच्चैरभितो न्यवेदयन् ॥ 48 ॥
 पुरोगतं दैत्यचमूमहार्णवं दृष्ट्वा परं चुक्षुभिरे महासुराः ।
 पुरारिसूनोर्नयनैककोणके ममुर्भटास्तस्य रणोऽवहेलया ॥ 49 ॥
 द्विषद्वलत्रासविभीषिताश्चमूर्दिवौकसामन्धकशत्रुनन्दनः ।
 अपश्यदुद्दिश्य महारणोत्सवं प्रसादपीयूषधरेण चक्षुषा ॥ 50 ॥
 उत्साहिताः शक्तिधरस्य दर्शनान्मृधे महेन्द्रप्रमुखा मखाशनाः ।
 अहं मृधे जेतुमरीनरीरमन्न कस्य वीर्याय वरस्य संगतिः ॥ 51 ॥
 परस्परं वज्रधरस्य सैनिका द्विषोऽपि योद्धुं स्वकरोद्धतायुधाः ।
 वैतालिकश्चाविततारविक्रमाभिधानमीयुर्विजयैषिणौ रणे ॥ 52 ॥

था उस पर बैठा हुआ वह महादैत्य देवताओं की उस सेना के आगे जा पहुँचा जो अथाह समुद्र के समान भयंकर दिखाई दे रही थी ॥ 45 ॥ देवताओं की बड़ी भारी सेना सामने देखकर उस युद्ध के लिये उतावले वीर के भारी भुजदंडों के रोएँ खड़े हो गए और उसके हृदय में युद्ध का उत्साह उमड़ उठा ॥ 46 ॥ तब इन्द्र के बड़े-बड़े रणबाँकुरे और युद्ध के लिये ललचाए हुए सैनिक मन से भी अधिक वेग से दैत्यों की सेना पर टूट पड़े। सच है, जो लड़ाई के प्यासे होते हैं वे अवसर आने पर आगा-पीछा थोड़े ही देखते हैं? ॥ 47 ॥ और फिर दैत्य-सेना के सैनिक भी आगे खड़ी हुई इन्द्र की सेना के समुद्र पर टूट पड़े आज चारों ओर भुजाएँ उठा-उठाकर ललकार-ललकार कर अपना-अपना नाम शत्रुओं को सुनाने लगे ॥ 48 ॥ अपने आगे समुद्र के समान हिलोरें लेती हुई उस दैत्यसेना को देखकर तो बड़े-बड़े देवताओं के भी छक्के छूट गए, पर उस सारी दैत्य-सेना को एक कनखी से देखकर ही निडर कार्तिकेय ने समझ लिया कि इस सेना में कुछ नहीं धरा है ॥ 49 ॥ दैत्यों की सेना के डर से घबराई हुई देवसेना की ओर अपने आनन्द के अमृत से धुले हुए नेत्रों से देखकर कुमार ने संकेत किया कि 'डरो मत, युद्ध किए जाओ'। जब देवताओं ने रण में शक्तिशाली कार्तिकेय का दर्शन किया तब उनका उत्साह बढ़ चला और इन्द्र आदि सभी देवता यह कह-कहकर प्रसन्नता से उछलने लगे कि 'डरो मत, युद्ध किए जाओ'। जब देवताओं ने रण में शक्तिशाली कार्तिकेय का दर्शन किया तब उनका उत्साह बढ़ चला और इन्द्र आदि सभी देवता यह कह-कहकर प्रसन्नता से उछलने लगे कि मैं शत्रुओं को युद्ध में जीत लूँगा।' ठीक है, भले लोगों का संग्र करने से किसका बल नहीं बढ़ जाता ॥ 50-51 ॥ अपने-अपने शस्त्र उठा-उठाकर देवताओं और दैत्यों के सैनिक अपने-अपने चारणों के गाए हुए अपने नामवाले पराक्रम के गीत सुनते हुए विजय की इच्छा से समर में आ जुटे ॥ 52 ॥ जैसे प्रलय करने के लिये अपनी मर्यादा तोड़कर चारों ओर फैले हुए और सारे संसारको डुबोते बहाते काल का भोजन बनाते हुए दो समुद्र एक दूसरे से टकराते हुए

सङ्ग्रामं प्रलयाय संनिपततो बेलामतिक्रामतो
 वृन्दारासुरसैन्यसागरयुगस्याशोषदिग्द्व्यापिनः ।
 कालातिथ्यभुजो बभूव बहलः कोलाहलः क्रोषणः
 शौ लो तालतटीविघट्टनपट्टर्बभाण्डकुक्षिंभरिः॥ 53 ॥
 ॥ इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
 सुरासुरसैन्यसंघट्टो नाम पञ्चदशः सर्गः ॥



बढ़ चले हों वैसे ही ताड़ के वृक्षों वाले पहाड़ की तलहटी को फाड़ देने वाला यह देवताओं और दैत्यों की सेनाओं के समुद्रों का भारी कोलाहल, यमको न्यूता देता हुआ सारे ब्रह्माण्ड में भर गया ॥ 53 ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदास के रचे हुए कुमारसंभव महाकाव्य में देवता और दैत्यों की लड़ाई नामका पन्द्रहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥



॥ षोडशः सर्गः ॥

अथान्योन्यं विमुक्तास्त्रशस्त्रजालैर्भयंकरैः । युद्धमासीत्सुनासीरसुरारिबलयोर्महत ॥ 1 ॥
 पतिः पत्तिमभीयाय रणाय रथिनं रथी । तुरगस्थं तुरंगस्थो दन्तिस्थं दन्तिनि स्थितः ॥ 2 ॥
 युद्धाय धावतांधीरं वीराणामितरेतरम् । वैतालिकाः कुलाधीशा नामान्यलमुदाहरन् ॥ 3 ॥
 पठतां वन्दिवृन्दानांप्रवीरा विक्रमावलीम् । क्षणं विलम्ब्य चित्तानि ददुर्युद्धोत्सुकाः पुरः ॥ 4 ॥
 संग्रामानन्दवर्धिष्णौ विग्रहे पुलकाञ्जले । आसीत्कवचविच्छेदो वीराणांमिलतां मिथः ॥ 5 ॥
 निर्दयं खड्गभिन्नेभ्यः कवचेभ्यः समुत्थितैः । आसन्व्योमदिशस्तूलैः पलितैरिवपाण्डुराः ॥ 6 ॥
 खड्गा रुधिरसंलिप्ताश्चण्डाशुकरभासुराः । इतस्ततोऽपि वीराणांविद्युतां वैभवं दधुः ॥ 7 ॥
 विसृजन्तोमुखैर्ज्वालाभीमा इवभुजंगमाः । विसृष्टाःसुभटै रुष्टैर्व्योमव्यानशिरेशराः ॥ 8 ॥
 बाढं वपूंषिनिभिधन्विनां निघ्नतांमिथः । अशोणितमुखा भूमिं प्राविशन्दूरमाशुगाः ॥ 9 ॥
 निभिद्य दन्तिनः पूर्वं पातयामासुराशुगाः । पेतुः प्रवरयोधानां प्रीतानामाहवोत्सवे ॥ 10 ॥
 ज्वलदग्निमुखैर्बाणैर्नीरन्ध्रैरितरेतरम् । उच्चैर्वैभानिका व्योम्नि कीर्णं दूरमपासरन् ॥ 11 ॥
 विभिन्नधन्विनांबाणैर्व्ययार्तामिव विह्वलम् । ररासविरसंव्योमश्येनप्रतिरवच्छलात् ॥ 12 ॥

सोलहवाँ सर्ग

इन्द्र और तारक की सेनाएँ एक दूसरे पर भयङ्कर अस्त्र-शस्त्र बरसा-बरसाकर घोर युद्ध करने लगीं ॥ 1 ॥ पैदल से पैदल जा भिड़े, रथवालों से रथवाले जा उलझे, घुड़सवारों से घुड़सवार जा जूझे और हाथीसवार हाथीसवारों पर टूट पड़े ॥ 2 ॥ जो सैनिक होकर बैरियों पर चोट पर चोट किए जा रहे थे उन्हें लड़ने को उभाड़ने के लिये दोनों ओर के चारण लोग उन वीरों को, कुलके उजागर बता-बताकर उनकी बड़ाई करते जा रहे थे ॥ 3 ॥ पर वे वीर तो स्वयं ऐसे जी-जान से लड़ रहे थे कि चारणों के मुँह से अपने पराक्रम के गीत सुननेका उन्हें अवकाश ही कहाँ था, इसलिये जब वे कभी बीच में क्षणभर को रुक जाते थे तभी चारणों के गीत उनके कानों में पड़ पाते थे ॥ 4 ॥ उन्हें लड़ाई में ऐसा आनन्द आ रहा था कि उनके रोएँ-रोएँ उत्साह से फरफरा उठे थे और जब वे आपस में गुत्थम हो जाते तो उनके कवचों के टाँके-तक खुल जाते थे ॥ 5 ॥ वहाँ सैनिक लोग इतने कस-कसकर करवाल चला रहे थे कि कवचों के टूटने से उनके नीचे बँधी हुई रुई भी आकाश और दिशाओं में उड़-उड़कर ऐसी फैल गई कि सब दिशाएँ बूढ़े के बालों-जैसी धौली हो गई ॥ 6 ॥ जहाँ-तहाँ सूर्य की किरणें पड़ने से लहूसे रंगे करवाल तो बिजली के समान चमक-चमक उठते थे ॥ 7 ॥ क्रोध से भर-भरकर वीरों ने जो आग उगलते हुए भयंकर साँपों के समान बाण छोड़े उनसे सारा आकाश छा गया ॥ 8 ॥ वे एक दूसरे पर दूर से जो बाण चला रहे थे वे दूसरी ओर से धनुर्धारियों के शरीरों को ऐसी फुर्ती से बेधते हुए पार निकल-निकलकर पृथ्वी में जा धँसते थे कि उनमें लहूतक नहीं लग पाता था ॥ 9 ॥ उस युद्ध के उत्सव में जो बड़े-बड़े योद्धा जी खोलकर लड़ रहे थे वे हाथियों पर ऐसे करारे बाण चला रहे थे कि हाथियों के सिर तो पहले कटकर गिर जाते थे, बाण पीछे गिरते थे ॥ 10 ॥ जब जलती हुई लपटों वाले बाणों की घनी पाँतें सारे आकाश में भर गई तब विमानों पर चढ़े हुए देवता वहाँ से दूर हट गए कि कहीं हम भी न इनकी चपेट में आ जायें ॥ 11 ॥ धनुर्धारी सैनिकों ने इतने बाण छोड़े कि आकाश की छाती चलनी हो गई और इसीलिये वह भी पीड़ा से व्याकुल होकर बाज पक्षी के डरावने शब्दों में रोने लगा ॥ 12 ॥ लड़ाकू योद्धाओं

चापैराकर्णमाकृष्टैर्विमुक्ता दूरमाशुगाः । अधावन्रुधिरास्वादलुब्धा इव रणैषिणाम् ॥ 13 ॥
 गृहीताः पाणिभिर्विरविकोशाः खड्गराजयः । कान्तिजालच्छलादाजौव्यहसन्संमदादिव ॥ 14 ॥
 खड्गाः शोणितसंदिग्धानृत्यन्तो वीरपाणिषु । रजोधने रणेऽनन्ते विद्युतावैभवं दधुः ॥ 15 ॥
 कुन्ताश्चकाशिरेचण्डमुल्लसन्तोरणार्थिनाम् । जिह्वाभोगायमस्येवलेलिहानारणाङ्गणे ॥ 16 ॥
 प्रज्वलत्कान्तिचक्राणिचक्राणिवरचक्रिणाम् । चण्डांशुमण्डलश्रीणिरणव्योमनिबभ्रमुः ॥ 17 ॥
 केचिद्धीरैः प्रणादैश्च वीराणामभ्युपेयुषाम् । निपेतुः क्षोभतो वाहादपरे मुमुहुर्मदात् ॥ 18 ॥
 कश्चिदभ्यागते वीरे जिघांसौ मुदमादधौ । परावृत्य गते क्षुब्धे विषसादाहवप्रियः ॥ 19 ॥
 बहुभिः सहयुद्ध्वा वा परिभ्रम्य रणोल्बणाः । उद्दिश्य तानुपेयुः केऽपियेपूर्ववृत्तारणे ॥ 20 ॥
 अभितोऽभ्यागतान्योद्धुं वीरान्रणमदोद्धतान् । प्रत्यनन्दन्भुजादण्डरोमोद्गमभृतोभटाः ॥ 21 ॥
 शस्त्रभिन्नेभकुम्भेभ्योमौक्तिकानिच्युतान्यधः । अध्याहवक्षेत्रमुप्तकीतिबीजाङ्क रश्मियम् ॥ 22 ॥
 वीराणांविषमैर्घोर्बैर्विहुतावारणारणे । शास्यमानाअपित्रासाद्भेजुर्धुताङ्क शादिशः ॥ 23 ॥
 रणे बाणगणैभिन्ना भ्रमन्तो भिन्नयोधिनः । निममज्जुर्मिलद्रक्तनिम्नगासु महागजाः ॥ 24 ॥
 अपारेऽसुक्सरित्पूरे रथेषूच्चैस्तरेष्वपि । रथिनोऽभिरिपुं क्रुद्धा हुंकृतैर्व्यसृजञ्शरान् ॥ 25 ॥

ने अपने कानों तक खींच-खींचकर जो बाण छोड़े वे ऐसे जान पड़ते थे मानो रुधिर पीने के लोभ से ही उतनी दूर तक दौड़े चले जा रहे हों ॥ 13 ॥ संग्राम में वीरों के हाथों के नंगे करवाल मतवाले हो-होकर मानो अपनी धारकी चमक के रूप में ही हँस रहे थे ॥ 14 ॥ वीरों के हाथों में नाचने वाले लहू से लथपथ करवाल, धूल से पटे हुए उस दूर तक फैले हुए युद्ध-क्षेत्र में विजली के समान चमक उठते थे ॥ 15 ॥ युद्ध में लड़ने वालों के चमकते हुए भयंकर भाले यमराज की लपलपाती जीभ जैसे दिखाई दे रहे थे ॥ 16 ॥ चकाचौंध करने वाली चमक से घिरे हुए और प्रचंड सूर्य-मण्डल के समान चमक वाले चक्रधारी वीरों के चक्र, उस युद्ध-रूपी आकाश में चारों ओर घूमते हुए चक्कर लगा रहे थे ॥ 17 ॥ जब कोई वीर सामने आकर गरजकर ललकार उठता था तब बहुत से योद्धा उस ललकार को सुनकर ही घोड़ों से नीचे गिर पड़ते थे और बहुत से तो हादसे के मारे ही मूर्च्छित हो-होकर गिर पड़ते थे ॥ 18 ॥ कोई कोई वीर ऐसे भी थे कि जब कोई उन्हें मारने के लिये सामने आता तब वे प्रसन्न हो उठते थे कि चलो इसी से दो-दो हाथ हो जायँ, पर जब वह घबराकर लौट जाता था तब उन्हें इस बात का बड़ा दुःख होता कि हाय! लड़ न पाए ॥ 19 ॥ कुछ ऐसे भी रण-बाँकुरे थे जो बहुतों के साथ लड़-भिड़कर और इधर-उधर घूम-घामकर उन वीरों के पास जा पहुँचते थे, जिनसे लड़ने के लिये वे पहले से ही सोचे बैठे थे ॥ 20 ॥ जब सच्चे योद्धाओं ने देखा कि युद्ध के लिये मतवाले और लड़ने के लिये फरफराती बाँहों वाले वीर चारों ओर आए खड़े हैं तब वे बड़े प्रसन्न हुए कि अब जी भरकर लड़ा तो जायगा ॥ 21 ॥ शस्त्रों से कटे हुए हाथियों के मस्तकों से झड़े हुए मोती वहाँ बिखरे हुए ऐसे शोभा दे रहे थे जैसे रण के खेत में बोए हुए यश के अंकुर फूट निकले हों ॥ 22 ॥ रण में वीरों की भयानक ललकारों से भागे हुए हाथी, हाथीवानों के अंकुश खा-खाकर भी जिधर-तिधर भाग खड़े होते थे ॥ 23 ॥ जिन हाथियों के हाथीवान् युद्ध में शत्रुओं के बाणों से मार डाले गए थे, वे हाथी मनमाने ढंगसे घूमते हुए लहूकी नदी में नहाकर लाल हो उठे ॥ 24 ॥ बड़े ऊँचे रथों पर चढ़े हुए सैनिक लहूकी नदी की अपार धारा में डूबते रहने पर भी क्रुद्ध हो-होकर ललकारते हुए शत्रु के ऊपर बाण छोड़े चले जा रहे थे ॥ 25 ॥ बहुत से ऐसे भी वीर थे जो शत्रु के करवाल से सिर कट जाने पर जब वे अपने घोड़ों से नीचे गिरते थे तो गिरते-गिरते भी

खड्गनिर्लूनमूर्ध्नानोव्यापतन्तोऽपि वाजिनः । प्रथमं पातयामासुरसिना दारितानरीन् ॥ 26 ॥
 वीराणां शस्त्रभिन्नानिशिरंसिनिपतन्त्यपि । अधावन्दन्तदष्टोष्ठभीमान्यभिरिपुंक्रुधा ॥ 27 ॥
 शिरांसि वरयोधानामर्द्धचन्द्रहृतान्यलम् । आददाना भृशं पादैः श्येना व्यानशिरेनभः ॥ 28 ॥
 क्रोधादभ्यापतदन्तिदन्तारूढाः पदातयः । अश्वारोहा गजारोहप्रणान्प्रासैरपाहरन् ॥ 29 ॥
 शस्त्रछिन्नगजारोहा विभ्रमन्त इतस्ततः । युगान्तवातचलिताः शैला इव गजा बभुः ॥ 30 ॥
 मिलितेषु मथोयोद्धुं दन्तिषु प्रसभंभटाः । अगृह्यनुध्यमानाश्चशस्त्रैः प्राणान्परस्परम् ॥ 31 ॥
 रुषा मिथो मिलदन्तिदन्तसंघर्षजोऽनलः । योधाश्शस्त्रहृतप्राणानदहत्सहसारिभिः ॥ 32 ॥
 आक्षिप्ता अपिदन्तीन्द्रैः कोपनैः पतयः परम् । तदसूनहरन्खड्गघातैः स्वस्यपुरः प्रभोः ॥ 33 ॥
 उत्क्षिप्य करिभिर्दूरान्मुक्तानां योधिनादिवि । प्रापिजीवात्मभिर्दिव्यागतिर्वाविग्रहैर्मही ॥ 34 ॥
 खड्गैर्धवलधारालैर्निहत्य करिणां करान् । तैर्भुवापि समं विद्वान्संतोषं न भटा ययुः ॥ 35 ॥
 आक्षिप्याभिदिवनीताः पतयः करिभिः करैः । दिव्याङ्गनाभिरादातुरं क्ताभिर्हुतमीषिरे ॥ 36 ॥
 धन्विनस्तुरगारूढा गजारोहाश्चरैः क्षतान् । प्रत्यैच्छन्मूर्च्छितान्भूयोयोद्धुमाश्वसतश्चिरम् ॥ 37 ॥
 क्रुद्धस्य दन्तिनः पत्तिजिघृक्षोरसिना करम् । निभिद्य दन्तमुसलावारुरोह जिघृक्षया ॥ 38 ॥

अपने करवाल से शत्रु का सिर काट लिया करते थे ॥ 26 ॥ शस्त्रों से कटकर गिरे हुए वीरों के सिर क्रोध से दाँत पीसते हुए शत्रुकी ओर देख रहे थे ॥ 27 ॥ अधचन्दे बाणों ने जो सिर काट दिए थे और जिन्हें बाज अपने पंजों में उड़ा ले गए थे उन बड़े-बड़े वीरों के सिरों से सारा आकाश भर उठा ॥ 28 ॥ पैदल और घुड़सवार सैनिकों ने क्रोध से पागल होकर सामने पड़ने वाले हाथियों के दाँतों पर चढ़-चढ़कर हाथी-सवार सैनिकों को भालों से छेद डाला ॥ 29 ॥ हाथी-सवारों के मार डाले जाने पर उनके मनमाने घूमने वाले हाथी ऐसे लग रहे थे जैसे प्रलय की आँधी से पहाड़ इधर-उधर उड़े चले जा रहे हों ॥ 30 ॥ जब दो हाथी लड़ने के लिये भिड़ते थे तब उनपर बैठे हुए योद्धा आपस में लड़कर बलपूर्वक एक दूसरे को मार डालते थे ॥ 31 ॥ क्रोध से परस्पर टक्करें लेने वाले हाथियों के चोट से ऐसी चिनगारियाँ उठती थीं कि शत्रु के शस्त्रों से मारे हुए सैनिक अचानक जल उठते थे ॥ 32 ॥ पैदल सैनिक ऐसे लड़ रहे थे कि यदि उन्हें अत्यन्त क्रुद्ध हाथी अपनी सूँड़ में उठाकर उछाल भी देते थे तो वे अपने स्वामी के देखते-देखते उसकी सूँड़ अपने करवाल से काट डालते थे ॥ 33 ॥ जिन वीरों को हाथियों ने उठाकर ऊपर उछाल दिया था, उनके प्राण तो स्वर्ग में जाकर दिव्य गति पा गए, केवल उनके शरीर भर पृथ्वी पर आ गिरे ॥ 34 ॥ यद्यपि योद्धा लोग उजली धारवाले अपने करवालों से हाथियों की सूँड़ ऐसे झटके से काटे डाल रहे थे कि उनके करवाल पृथ्वी में आ धँसते थे, फिर भी उनका जी नहीं भर रहा था ॥ 35 ॥ जिन वीरों ने हाथियों की सूँड़ों से उछाले जाने पर वीरगति पाई थी, उन स्वर्ग में पहुँचे हुए सैनिकों को झटपट प्रेम से अपना प्रेमी बनाने के लिये देवाङ्गनाएँ उतावली हो उठती थीं ॥ 36 ॥ जब कोई घुड़सवार धनुर्धारी सैनिक अपने बाणों से किसी हाथी-सवार को बाण मारकर मूर्छित कर देता था तब वह बहुत देर तक इस बाट में खड़ा रह जाता था कि फिर वह चेत उठे तो उससे युद्ध करें, क्योंकि जो मूर्छित हो जाता था उसे वे नहीं मारते थे ॥ 37 ॥ एक बिगड़ैल हाथी एक पैदल सैनिक को अपनी सूँड़ में लपेटना ही चाहता था कि इतने में उसने पहले ही करवाल का एक हाथ जमाकर उसकी सूँड़ ही काट डाली और फिर उसके दाँत उखाड़ने के लिये उसके लम्बे-लम्बे दाँतों पर चढ़ बैठा ॥ 38 ॥ एक दूसरा

खड्गेन मूलतो हत्वादन्तिनो रदनद्वयम् । प्रातिपक्ष्ये प्रविष्टोऽपि पदातिर्निर्गादद्भुतम् ॥ 39 ॥
 करेण करिणा वीरः सुगृहीतोऽपि कोपिना । असिनासूज्जहाराशु तस्यैव स्वयमक्षतः ॥ 40 ॥
 तुरंगी तुरगारूढं प्रसेनाहत्य वक्षसि । पततस्तस्य नाज्ञासीत्प्रासघातं स्वके हृदि ॥ 41 ॥
 द्विषा प्रासहतप्राणो वाजिपृष्ठदृढासनः । हस्तोद्धृतमहाप्रासो भुवि जीवन्निवाभ्रमत् ॥ 42 ॥
 तुरंगसादिनं शस्त्रहतप्राणं गतं भुवि । अबद्धोऽपि महावाजी न साश्रुनयनोऽत्यजत् ॥ 43 ॥
 भल्लेन शितधारेण भिन्नोऽपि रिपुणाश्वगः । नामूर्च्छत्कोपतो हन्तुमियेष प्रपतन्नपि ॥ 44 ॥
 मिथः प्रासाहतौ वाजिच्युतौ भूमिगतौ रुषा । शस्त्र्या युयुधतुः कौचित्केशाकेशि भुजाभुजि ॥ 45 ॥
 रथिनो रथिभिर्बाणैर्हृतप्राणा दृढासनाः । क्षतकार्मुकसंधानाः सप्राणा इव मेनिरे ॥ 46 ॥
 नरथी रथिनं भूयः प्राहरच्छस्त्रमूर्च्छितम् । प्रत्याश्वसन्तमन्विच्छन्नातिष्ठद्युधिलोमतः ॥ 47 ॥
 अन्योन्यं रथिनौ कौचिद्गतप्राणौ दिवं गतौ । एकामप्सरसं प्राप्य युयुधाते वरायुधौ ॥ 48 ॥
 मिथोऽर्द्धचन्द्रनिर्लूनमूर्धानौ रथिनौ रुचा । खेचरौ भुविनृत्यन्तौ स्वकवन्धावपश्यताम् ॥ 49 ॥
 रणाङ्गणे शोणितपङ्कपिच्छिले कथं कथचिन्नन्नृतुर्धृतायुधाः ।

नदत्सु तूर्येषु परेतयोषितां गणेषु गायत्सु कबन्धराजयः ॥ 50 ॥

पैदल सैनिक, शत्रु की सेना में घुसकर अपने करवाल से एक हाथी के दोनों दाँत जड़ तक काटकर झट अपनी सेना में लौट आया ॥ 39 ॥ क्रोध में भरे हुए हाथी की सूँड़ में कसकर लिपट जाने पर भी एक वीर अपनी तलवार से हाथी को मारकर जीता-जागता निकल आया ॥ 40 ॥ एक घुड़सवार दूसरे की छाती में भाला मारकर ऐसा प्रसन्न हुआ कि जब उस घोड़े से गिरते हुए सैनिक ने उलटकर उस पर भाला चलाया तो उसे यह भी जान न पड़ा कि मुझे भी चोट लगी है ॥ 41 ॥ मारने के लिये हाथ में भारी भाला उठाकर पीठ पर जमकर बैठा हुआ एक सैनिक शत्रु के भाले से मारे जाने पर भी ऐसा लग रहा था मानो वह अभी जीता-जागता ही हो ॥ 42 ॥ शस्त्र की चोट से जो घुड़सवार पृथ्वी पर मरा पड़ा था, उसका बड़ा सा घोड़ा डबडवाई आँखों से अपने स्वामी को देखता हुआ वहीं खड़ा रहा, हटा नहीं ॥ 43 ॥ शत्रु के तीखे भाले का घाव खाकर एक घुड़सवार लड़खड़ाता हुआ भी क्रोध के मारे मूर्छित नहीं हुआ और चाहता था कि शत्रु मिले तो उसे अभी मार डालूँ ॥ 44 ॥ दो घुड़सवार आपस में एक दूसरे के भाले की चोट खाकर भूमि में गिरे हुए भी क्रोध के मारे एक दूसरे के बाल पकड़-पकड़कर गुत्थमगुत्था होकर छुरी से ही लड़े जा रहे थे ॥ 45 ॥ एक रथवाले योद्धा को दूसरे रथवाले ने मार भी डाला, फिर भी वह अपना टूटा हुआ धनुष खींचे हुए मरा हुआ ही रथ पर ऐसा जमा बैठा था, मानो अभी जीता जागता हो ॥ 46 ॥ एक रथसवार सैनिक दूसरे रथी को शस्त्र से मूर्छित करके उस पर वार न करके यह बाट जोहने लगा कि यह सचेत हो तो इससे लड़ा जाय ॥ 47 ॥ दो रथसवार और श्रेष्ठ शस्त्रधारी योद्धा एक दूसरे को मारकर जब स्वर्ग में पहुँचे तब वे दोनों वहाँ एक अप्सरा के लिये ही आपस में लड़ाई करने लगे ॥ 48 ॥ अर्धचन्द्र बाणों से एक दूसरे का सिर काटकर दो रथी स्वर्ग में पहुँचकर वहाँ से अपने उन धड़ों का खेल देखते रहे जो बहुत देर तक हाथ में तलवार लिए युद्ध-भूमि में नाच रहे थे ॥ 49 ॥ उस युद्ध-क्षेत्र में जहाँ-तहाँ नगाड़े बज रहे थे और भूत-प्रेतों की स्त्रियाँ गीत गाएँ जा रही थीं । वहाँ युद्धभूमि में लहू के कीचड़ से इतनी फिसलन हो गई थी कि बाण लिए हुए वीरों के धड़ बड़ी कठिनाई से नाच पा रहे थे ॥ 50 ॥ इस प्रकार जब देव-दानवों का युद्ध आरम्भ हो गया और लहूकी नदी के

इति सुररिपुर्वृत्ते युद्धे सुरासुरसैन्ययो रुधिरसरितां मज्जद्वन्तिव्रजेषु तटेष्बलम्।
अरुणनयनः क्रोधाद्भीमघ्नमद्भुकुटीमुखः सपदि ककुभामीशानभ्यागमत्स युयुत्सया॥ 51 ॥

॥ इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
सुरासुरसैन्यसंग्रामवर्णनं नाम षोडशः सर्गः ॥



तीर पर ही वे डूबने लगे तब वह देवताओं का शत्रु तारक क्रोध के मारे भौहें नचाकर और लाल-लाल आँखें करके युद्ध करने के लिए तुरन्त इन्द्र आदि दिक्पालों के सामने आ डटा ॥ 51 ॥

॥ महाकवि श्री कालिदास के रचे कुमारसंभव महाकाव्य में 'देवताओं और दैत्यों की सेनाओं के युद्ध का वर्णन' नामका सोलहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥



॥ सप्तदशः सर्गः ॥

दृष्ट्वाभ्युपेतमथ दैत्यपतिं पुरस्तात्संग्रामकेलिकुतुकेन घनप्रमोदम् ।
 योद्धुं मदेन मिमिलुः ककुभामधीशा बाणान्धकारितदिग्म्बरगर्ममेत्य ॥ 1 ॥
 देवद्विषां परिवृढो विकटं विहस्य बाणावलीभिरमरान्विकटान्वर्ष ।
 शैलानिव प्रवरवारिधरो गरिष्ठानद्भिः पराभिरथ गाढमनारताभिः ॥ 2 ॥
 जम्भद्विषत्प्रभृतिदिक्पतिचापमुक्ता बाणाः शिता दनुजनायकबाणसङ्घान् ।
 अह्नाय ताक्ष्यनिवन्हा इव नागपूगान्सद्यो विविच्छिदुरलं कणशो रणान्ते ॥ 3 ॥
 तान्प्रज्ज्वलत्फलमुखैर्विषमैः सुरारिनामाङ्कितैः पिहितदिग्गगनान्तरालैः ।
 आच्छादितस्तृणचयानिव हव्यवाहश्चिच्छेद सोऽपि सुरसैन्यशराञ्शरौघैः ॥ 4 ॥
 दैत्येश्वरो ज्वलितरोषविशेषमीमः सद्यो मुमोच युधि यान्विशिखान्सहेलः ।
 ते प्रापुरुद्रटमुजंगममीमभावं गाढं बबन्धुरपि तौस्त्रिदशेन्द्रमुख्यान् ॥ 5 ॥
 ते नागपाशविशिखैरसुरेण बद्धाः श्वासानिलाकुलमुखा विमुखा रणस्य ।
 दिङ्नायका बलरिपुप्रमुखाः स्मरारिसूनोः समीपमगमन्विपदन्तहेतोः ॥ 6 ॥
 दृष्टिप्रपातवशतोऽपि पुरारिसूनोस्ते नागपाशघनबन्धविपत्तिदुःखात् ।
 इन्द्रादयो मुमुचिरे स्वयमस्य देवाः सेवां व्यधुर्निकटमेत्य महाजिगीषोः ॥ 7 ॥
 उद्दीप्तकोपदहनोऽथ सुरेन्द्रशत्रुरह्नाय सारथिमवोचत चण्डबाहुः ।
 बद्धा मया सुरपतिप्रमुखाः प्रसह्य बालस्य धूर्जटिसुतस्य निरीक्षणेन ॥ 8 ॥

सत्रहवाँ सर्ग

जिस दैत्यराज के रोम-रोम लड़ाई के चावसे फरफाए जा रहे थे और जिसने धुआँधार बाण
 बरसा-बरसा कर धरती-आकाश सबमें अँधेरा कर दिया था, उसे आते हुए देखकर सब दिक्पाल रण में
 मतवाले होकर एक साथ उससे लोहा लेने के लिये आ जुटे ॥ 1 ॥ जैसे सावन-भादों की घनी घटाएँ
 लगातार जल बरसा-बरसाकर बड़े-बड़े पहाड़ों को नीचे से ऊपर तक भिगो देती हैं वैसे ही वह देवताओं
 का शत्रु तारक भी बड़ी डरावनी हँसी हँसता हुआ देवताओं पर भयंकर रूप से धुआँधार बाण बरसाने लगा
 ॥ 2 ॥ उस रण-क्षेत्र में इन्द्र आदि दिक्पाल जो भी तीखे-तीखे बाण छोड़ते जा रहे थे उन्हें चुन-चुनकर
 दैत्यराज के बाण वैसी ही फुर्ती से काटते चले जा रहे थे जैसे बहुत से गरुड़ मिलकर साँपों के झुण्ड
 को काटते चले जा रहे हों ॥ 3 ॥ देवताओं ने उस पर जो बाणों की झड़ी लगाई उसे उसने अपने नाम
 खुदे हुए, आम के समान जलते हुए तीखे फल वाले और सब दिशाओं और आकाश को पाट देने वाले
 बाणों से उसी प्रकार तहस-नहस कर डाला जैसे अपने ऊपर छाए हुए घास-फूस को धधकती हुई आग
 जलाकर राख कर डालती है ॥ 4 ॥ क्रोध से लाल उस भयंकर दैत्यराज ने उस युद्ध को कुछ भी न समझते
 हुए जो बाण छोड़े वे तुरन्त साँपों की भाँति भयंकर बनकर इन्द्र आदि देवताओं के गलों में कस-कसकर
 जा लिपटे ॥ 5 ॥ उस दैत्यके बाणों की फाँसी गले में पड़ जाने पर सब देवताओं की साँसें ऐसी घुटने
 लगीं कि वे लड़ना-भिड़ना छोड़कर इस विपदा से छुटकारा पाने के लिये कार्तिकेय के पास दौड़ पहुँचे
 ॥ 6 ॥ कार्तिकेय ने उनकी ओर आँख भर देख ही दिया कि इन्द्र आदि देवताओं के गले में कसे हुए
 वे नाग-फाँस के फन्दे अपने आप छूट गिरे और तब वे सब देवता उन कर्तिकेय के पास जा-जाकर उनकी

मुक्ता बभूवुरधुना तदिमान्विहाय कर्तास्म्यमुं समरभूमिपशूपहारम् ।
 तत्स्यन्दनं सपदि वाहय शंभुसूनुं द्रष्टास्मि दर्पितभुजाबलमाहवाय ॥ 9 ॥
 तत्स्यन्दनः सपदि सारथिसम्प्रणुत्रः प्रक्षुब्धवारिधरधीरगभीरघोषः ।
 चण्डश्चचाल दलिताखिलशत्रुसैन्यमांसास्थिशोणितविपङ्कविलुप्तचक्रः ॥ 10 ॥
 दृष्ट्वा रथं प्रलयवातचलन्दिरीन्द्रकल्पं दलद्वलविरावविशेषरौद्रम् ।
 अभ्यागतं सुररिपोः सुरराजसैन्यं क्षोभं जगाम परमं भयवेपमानम् ॥ 11 ॥
 प्रक्षुभ्यमाणमवलोक्य दिगीशसैन्यं शंभोः सुतं कलहकेलिकुतूहलौत्कम् ।
 उद्दामदोः कलितकार्मुकदण्डचण्डः प्रोवाच वाचमुपगम्य स कार्तिकेयम् ॥ 12 ॥
 रे शंभुतापसशिशो बत मुञ्च मुञ्च दोर्दर्पमत्र विरम त्रिदिवेन्द्रकार्यात् ।
 शस्त्रैः किमत्र भवतोऽनुचितैरतीव बालत्वकोमलभुजातुलभारभूतैः ॥ 13 ॥
 एवं त्वमेव तनयोऽसि गिरीशगौर्योः किं यासि कालविषयं विषमैः शरैर्मै ।
 संग्रामतोऽपसर जीव पितुर्जनन्यास्तूर्णं प्रविश्य वरमङ्कतलं विधेहि ॥ 14 ॥
 सम्यक्स्वयं किल विमृश्य गिरीशपुत्रजम्भद्विषोऽस्य जहिहि प्रतिपक्षमाशु ।
 एष स्वयं पयसि मज्जति दुर्विगाह्ये पाषाणनौरिव निमज्जयते पुरा त्वाम् ॥ 15 ॥

बड़ाई करने लगे जो दैत्यों को जीतने के लिये कमर ही कसे बैठे थे ॥ 7 ॥ जब उस बड़ी-चड़ी भुजाओं वाले तारक ने यह सब देखा तब वह क्रोध से जल उठा और उसने तुरन्त अपने सारथी को आज्ञा दी कि मैंने जिन इन्द्र आदि बड़े-बड़े देवताओं को फँदे मैं बाँध लिया था, वे सब कार्तिकेय के देखने भर से छुटकारा पा गए हैं इसलिये इन सब देवताओं को छोड़कर मैं पहले इसी को गिद्ध-सियार आदि की भेंट करता हूँ। तो तुम झटपट रथ बढ़ाकर उस शंकर के पुत्र के ही पास मुझे ले चल पहुँचाओ जिससे मैं भी तो देखूँ कि मुझसे लड़ने के लिये वह अपनी किन भुजाओं के बल पर इतना ऐंठा पड़ रहा है ॥ 8-9 ॥ तत्काल सारथी ने इस वेग से रथ चलाया कि वह रथ प्रलय के उमड़े हुए बादलों के समान धड़धड़ाता हुआ भयंकर वेग से बढ़ चला। वहाँ इतने शत्रु सैनिक कट-कटकर गिरे पड़े थे कि उनके मौस, हड्डी और लहू के कीचड़ में उस रथ के पहिए ऐसे धँसे कि दिखाई तक न दिए ॥ 10 ॥ वह रथ चलता हुआ ऐसा लगता था मानो प्रलय की आँधी में हिमालय उड़ा चला जा रहा हो। उसके नीचे देवताओं की सेना के जो सैनिक पिसे जा रहे थे उनके हाहाकार से वह और भी भयंकर हो उठा था और जब वह रथ देवताओं के एकदम पास आ गया तब तो उसे देखकर देवताओं की सेना के प्राण ही सूख गए ॥ 11 ॥ देवताओं की उस घबराई हुई सेना को देखते हुए और अपनी बढ़ी भारी भुजाओं में धनुष का डंडा पकड़े हुए तारक झट उस कार्तिकेय के पास जा पहुँचा जो ऐसे लगते थे मानो लड़ने के लिये अधीर हुए खड़े हों। वहाँ पहुँचकर तारक ने कार्तिकेय से कहा- ॥ 12 ॥ 'अरे तपस्वी शंकरके पुत्र! तुम अपनी भुजाओं के बल पर इतना मत ऐंठो और छोड़ो इन देवताओं का साथ। बताओ, कहाँ तो तुम्हारी ये छोटी-छोटी बचकानी कोमल भुजाएँ और कहाँ ये भारी-भारी शस्त्र जो तुम्हारे हाथ में जाँच नहीं रहे हैं ॥ 13 ॥ तुम पार्वती और शंकर के इकलौते पुत्र होकर मेरे तीखे बाणों से बिधकर क्यों काल के गले में चले जाना चाहते हो ? जाओ, यहाँ से भागकर अपने प्राण बचाओ और झट से अपने माता-पिता की गोद में जा दुबको ॥ 14 ॥ देखो कार्तिकेय ! तुम स्वयं अपना भला-बुरा सोचकर इन्द्र का साथ छोड़कर अलग हो जाओ क्योंकि जब मैं इस पर बाण बरसाऊँगा, तब पत्थर की बनी नाव के समान यह तो

इत्थं निशम्य वचनं युधि तारकस्य कम्पाधरो विकचकोकनदारुणाक्षः ।
 क्षोभात्रिलोचनसुतोधनुरीक्षमाणः प्रोवाच वाचमुचितां परिमृश्य शक्तिम् ॥ 16 ॥
 दैत्याधिराज भवता यदवादि गर्वात्तत्सर्वमप्युचितमेव तवैव किं तु ।
 द्रष्टास्मि ते प्रवरबाहुबलं वरिष्ठं शस्त्रं गृहाण कुरु कार्मुकमाततज्यम् ॥ 17 ॥
 इत्युक्तवन्तमवदत्त्रिपुरारिपुत्रं दैत्यः ऋधौष्ठमधरं किल निर्विभिद्य ।
 युद्धार्थमुद्रटभुजाबलदर्पितोऽसि बाणान्सहस्व मम सादितशत्रुपृष्ठान् ॥ 18 ॥
 दुःप्रेक्षणीयमरिभिर्धनुराततज्यं सद्यो विधाय विषमान्विशिखान्नयद्यत् ।
 स क्रोधभीमभुजगेन्द्रनिभं स्वचापं चण्डं प्रपञ्चयति जैत्रशरैः कुमारैः ॥ 19 ॥
 कर्णान्तमेत्य दितिजेन विकृष्यमाणं कोदण्डमेतदभितः सुषुवे शरीधान् ।
 व्योमाङ्गणे लिपिकरान्किरणप्ररोहैः सान्द्रैरशेषककुभां पलितं करिष्णून् ॥ 20 ॥
 बाणैः सुरारिधनुषः प्रसूतरनन्तैर्निर्घोषभीषितभटो लसदंशुजालैः ।
 अन्धीकृताखिलसुरेश्वरसैन्य ईशसूनुः कृतोऽपि विषयं न जगाम दृष्टेः ॥ 21 ॥
 देवेन मन्मथरिपोस्तनयेन गाढमाकर्णकृष्टमभितो धनुराततज्यम् ।
 बाणान्सूत निशितान्युधि यान्सुजैत्रास्तैः सायका विभिदिरे सहसा सुरारैः ॥ 22 ॥
 रेजे सुरारिशरदुदिनके निरस्ते सद्यस्तरां निखिलखेचरखेदहेतौ ।
 देवः प्रभाप्रभुरिव स्मरशत्रुसूनुः प्रद्योतनः सुघनदुर्धरधामधामा ॥ 23 ॥

अपने आप गहरे जल में डूबेगा ही, साथ ही तुम्हें भी ले जा डूबोवेगा' ॥ 15 ॥ तारक की ऐसी बातें सुनकर कार्तिकेय के ओठ क्रोध से काँपने लगे और खिले हुए लाल कमल के समान उनकी भयानक लाल-लाल आँखें क्रोध से नाच उठीं। बड़े क्रोध से अपने धनुष की ओर देखते हुए अपने बल को समझकर उन्होंने तारक को मुँहतोड़ उत्तर देते हुए कहा- ॥ 16 ॥ 'अरे दैत्यराज! घमण्ड में चूर होकर तुमने जो कुछ कहा है वह तुम्हें कहना ही चाहिए था, पर आज मुझे भी तुम्हारी इन बड़ी-बड़ी भुजाओं के बल की थाह लेने का मन कर आया है। इसलिये उठाओ अपने शस्त्र और चढ़ाओ अपने धनुषपर डोरी' ॥ 17 ॥ यह सुनकर तारक ने क्रुद्ध होकर कार्तिकेय पर दाँत पीसकर और दाँतों से ओंठ चबाने हुए कहा- 'यदि तुम्हें युद्ध के लिये अपनी इन प्रचण्ड भुजाओं का घमण्ड है तो आओ और शत्रुओं की पीठ को चलनी बना देने वाले मेरे बाणों की चोट चखो' ॥ 18 ॥ जैसे साँप क्रोध से पागल हो जाता है वैसे ही क्रुद्ध होकर कुमार अपने धनुष पर अपना जीतने वाला भयङ्कर बाण चढ़ा ही रहे थे इतने में तारक ने भी वह बाण उठा चढ़ाया जिसकी ओर देखने तक से शत्रु घबरा उठते थे ॥ 19 ॥ अपनी चमक से आकाश को जगमगा देने वाले और सब दिशाओं को चमका देने वाले बाण अपने धनुष पर चढ़ा-चढ़ाकर और धनुष को कान तक खींच-खींचकर तान-तानकर तारक बाण छोड़ने लगा ॥ 20 ॥ उसके धनुष से छूटे हुए चमचमाते हुए अनगिनत बाणों की भयंकर सनसनाहट देखकर तो सब के सब सैनिक काँप उठे, सब देवआओं की आँखों के आगे अँधेरा छा गया और स्वयं कार्तिकेय को भी थोड़ी देर तक कुछ न दिखाई दिया ॥ 21 ॥ तब कार्तिकेय ने भी पूरे बल के साथ धनुष की डोरी कान तक खींचकर अपने तीखे और जीतने वाले बाण बरसा-बरसाकर तारक के बाणों के धुरें उड़ा दिए ॥ 22 ॥ सब देवताओं को दुःख देने वाली तारक के बाणों की घटा फट जाने पर शंकर के पुत्र कार्तिकेय अपने घने और अपार तेज के कारण सूर्य के समान चमकते हुए शोभा देने लगे ॥ 23 ॥ युद्ध में कार्तिकेय का ऐसा प्रबल प्रताप बढ़ता

तत्राथ दुःसहतरं समरे तरस्वी धामाधिकं दधति धीरतरं कुमारे ।
 मायामयं समरमाशु महासुरेन्द्रो मायाप्रचारचतुरो रचयाञ्चकार ॥ 24 ॥
 अह्नाय कोपकलुषो विकटं विहस्य व्यर्था समर्थ्य वरशस्त्रयुधं कुमारे ।
 जिष्णुर्जगद्विजयदुर्ललितः सहेलं वायव्यमस्त्रमसुरो धनुषि न्यधत्त ॥ 25 ॥
 संधानमात्रमपि यस्य युगान्तकालभूतभ्रमं परुषभीषणघोरघोषः ।
 उद्धूतधूलिपटलैः पिहिताम्बराशः प्रच्छन्नचण्डकिरणो व्यसरत्समीरः ॥ 26 ॥
 कुन्दोज्ज्वलानि सकलातपवारणानि धूतानि तेन मरुता सुरसैनिकानाम् ।
 उड्डीयमानकलहंसकुलोपमानि मेघाभधूलिमलिने नभसि प्रसस्त्रुः ॥ 27 ॥
 विध्वंस्य तेन सुरसैन्यमहापताका नीता नभस्थलमलं नवमल्लिकाभाः ।
 स्वर्गापगाजलमहौघसहस्रालीलां व्यातेनिरे दिवि सिताम्बरकैतवेन ॥ 28 ॥
 धूतानि तेन सुरसैन्यमहागजानां सद्यः शतानि विधुराणि दलत्कुथानि ।
 पेतुः क्षितौ कुपितवासवजलून-पक्षस्य भूधरकुलस्य तुलां वहन्ति ॥ 29 ॥
 तास्ताः खरेण मरुता रथराजयोऽपि दोधूयमाननिपतिष्णुतुरंगमाश्च ।
 विस्त्रास्तसारथिकुलप्रवराः समन्ताद्व्यवृत्य पेतुरवनौ सुरवाहिनीनाम् ॥ 30 ॥
 हित्वायुधानि सुरसैन्यतुरङ्गवाहा वातेन तेन विधुराः सुरसैन्यमध्ये ।
 शस्त्राभिघातमनवाप्य निपेतुरुर्व्या स्वीयेषु वाहनवरेषु पतत्सु सत्सु ॥ 31 ॥

हुआ देखकर छलविद्या से युद्ध करने में चतुर और बलवान् तारक ने तुरन्त माया का युद्ध छेड़ दिया ॥ 24 ॥ जो विजयी तारक सारे संसार को मुड्डी में किए बैठे था उसने जब यह समझ लिया कि और कोई अस्त्र लेकर कुमार के साथ लड़कर मैं नहीं जीत पाऊँगा तब उसने बड़े क्रोध के साथ किसी को कुछ न समझते हुए अन्धड़ चलाने वाला वायव्य नामका बाण अपने धनुष पर उठा चढ़ाया ॥ 25 ॥ उस बाण के धनुष पर चढ़ाते ही ऐसे वेग से भयंकर घड़घड़ाती हुई आँधी चलने लगी कि लोग समझने लगे बस प्रलय आ गया। उसकी धूल से सब आकाश और दिशाएँ भर गईं और प्रचण्ड किरणों वाले सूर्य भी उसमें जा छिपे ॥ 26 ॥ देवताओं के सैनिकों के कुन्दन के फूल के समान उजले छत्रों को भी उस भयंकर अन्धड़ ने झकझोर कर उड़ा दिया। वे धूल से भरे हुए आकाश में ऐसे दिखाई देने लगे मानो बादल छाए हुए आकाश में राजहंस उड़े चले जा रहे हों ॥ 27 ॥ उस अन्धड़ ने देवताओं की सेना की सब ध्वजाओं और पताकाओं को नये खिले हुए चमेली के फूलके समान तोड़-फोड़कर आकाश में ऐसा उड़ा दिया कि आकाश में उड़ती हुई वे उजले वस्त्र की पताकाएँ ऐसी दिखाई दीं मानो उस अन्धड़ने आकाश-गंगा की उछलती हुई सहस्रों लहरियाँ आकाश में ला फैलाई हों ॥ 28 ॥ इस भयंकर अंधड़ के झोंके में पड़ी हुई देवसेना के बहुत से बड़े-बड़े हाथी अपनी झूलें मसलते हुए देखते-देखते लड़खड़ाकर गिरते हुए दिखाई पड़ते थे मानो इन्द्र के वज्र से पंख कट जानेपर बहुत से पहाड़ पृथ्वी पर लुढ़कते चले जा रहे हों ॥ 29 ॥ उस प्रचण्ड अन्धड़ की लपेट में आकर देवसेना के रथों के अनगिनत घोड़े लड़-खड़ाकर गिर गए, सारथी भी इधर-उधर जा गिरे और उनके रथ भी उस युद्ध-भूमि में इधर-उधर उलट गिरे ॥ 30 ॥ उस भयंकर अन्धड़ की झकोंरें खाकर देव-सेना के घुड़सवार इतने घबरा उठे कि वे अपने अस्त्र-शस्त्र वहीं देवसेना पर ही फेंकने लगे और बिना किसी शस्त्र से चोट खाए ही अपने उन घोड़ों की पीठ से गिरने लगे जो अन्धड़ की झोंक में लुढ़कते चले जा रहे थे ॥ 31 ॥ उस वायव्य अस्त्र से देवसेना के

तेनाहतास्त्रिदशसैन्यपदातयोऽपि स्त्रस्तायुधः सुविधुराः परुषं रसन्लः ।
 वात्याविवर्तदलवद्भ्रममेत्य दूरं निःपेतुरम्बरतलाद्वसुधातलेऽस्मिन् ॥ 32 ॥
 इत्थं विलोक्य सुरसैन्यमथो अशेषं दैत्येक्षरेण विधुरीकृतमस्त्रयोगाल् ।
 स्वर्लोकनाथकमलाकुशलैकहेतुर्दिव्यं प्रभावमतनोदतनुः स देवः ॥ 33 ॥
 तेनोज्झितं सकलमेव सुरेन्द्रसैन्यं स्वास्थ्यं प्रपद्य पुनरेव युधि प्रवृत्तम् ।
 दृष्ट्वा सृजद्दहनदैवतमस्त्राद्विमुद्दीप्तकोपदहनः सहसा सुरारिः ॥ 34 ॥
 वर्षातिकालजलदद्युतयो नभोन्ते गाढान्धकारितदिशो घनधूमसंधाः ।
 सद्यः प्रसस्तु रसितोत्पलदामभासो दृग्गोचरत्वमखिलं न हि सन्नयन्तः ॥ 35 ॥
 दिक्वक्रवालगिलनैर्मलिनैस्तमोभिलिप्तां नभः स्थलमलं घनवृन्दसान्द्रैः ।
 धूमैर्विलोक्य मुदिताः खलु राजहंसा गन्तुं सरः सपदि मानसमीशुरुच्चैः ॥ 36 ॥
 जज्वाल वह्निरतुलः सुरसैनिकेषु कल्पान्तकालदहनप्रतिमः समन्तात् ।
 आशामुखानि विमलान्याखलानि कीलाजालैरलं कपिलयन्सकलं नभोऽपि ॥ 37 ॥
 उज्जागरस्य दहनस्य निरर्गलस्य ज्वालावलीभिरतुलाभिरनारताभिः ।
 कीर्णं पयोदनिवहैरिव धूमसंघैर्व्योमाभ्यलक्ष्यत कुलैस्तडितामिवोच्चैः ॥ 38 ॥
 गाढाद्रयाद्वियति विदुतखेचरेण दीप्तेन तेन दहनेन सुदुःसहेन ।
 दन्दद्वयमानमखिलं सुरराजसैन्यमत्याकुलं शिवसुतस्य समीपमाप ॥ 39 ॥

पैदल सैनिक भी इतने घबरा उठे कि सब अपने-अपने शस्त्र डालकर व्याकुल होकर रोने-चिल्लाने लगे और ववण्डर की भाँति घुमनी खाते हुए दूर तक आकाश में उड़-उड़कर धरती पर आ गिरने लगे ॥ 32 ॥ दैत्यराज तारक ने जो वायव्य अस्त्र चलाया था उससे देवसेना को इस प्रकार तहस-नहस होते देखकर स्वर्ग की राजलक्ष्मी की नाव चतुराई से खेनेवाले कार्तिकेय ने अपना अनोखा और बड़ा भारी करतब दिखाना आरम्भ कर दिया ॥ 33 ॥ उन्होंने कुछ ऐसा जादू फेरा कि देवसेना पर छाया हुआ अन्धड़ दूर हो गया और सारी सेना हरी-भरी और नई-सी होकर फिर लड़ने के लिए खड़ी हो गई। यह देखकर तो तारक के शरीर में आग-सी लग गई और इस बार उसने अपना सधा हुआ आग बरसाने वाला अग्निबाण चढ़ा चलाया ॥ 34 ॥ उसके चलाते ही बरसात के काले-काले बादलों के समान और नीले कमलों के झुण्ड के समान काला काला घना धुआँ चारों ओर ऐसा आ छाया कि कहीं कुछ सुझाई ही नहीं पड़ता था ॥ 35 ॥ जब उस घने बादलों के समान काले-काले धुएँ से सारा आकाश भर गया तब राजहंसों को यह भ्रम हुआ कि बरसात आ गई और वे प्रसन्न होकर मानसरोवर की ओर चलने की तैयारी करने लगे ॥ 36 ॥ इतने में ही देवसेना के भीतर प्रलयकाल की आग के समान ऐसी भयानक ज्वाला भड़क उठी कि उसकी लपटों से स्वच्छ आकाश और दिशाएँ भी पीली पड़ चलीं ॥ 37 ॥ बिना रुके हुए धधक-धधककर जलती हुई आग की बड़ी-बड़ी लगातार उठती हुई लपटों से ऊपर फैले हुए काले-काले धुएँ से भरा हुआ आकाश ऐसा दिखाई पड़ने लगा मानो वह ऊँचे-ऊँचे बादलों और बिजलियों से भरा हुआ हो ॥ 38 ॥ सब लोग आकाश में फैली हुई इस धधकती आग की झार में झुलसकर इधर-उधर भागने लगे और बार-बार झुलसी हुई सारी देवसेना बहुत घबराकर फिर कार्तिकेय के पास जा पहुँची ॥ 39 ॥ उस भयंकर आग से झुलसी हुई सारी देवसेना को देखकर कार्तिकेय ने हँसते हुए अपने धनुष पर वह

इत्यग्निन घनतरेण ततोऽभिभूतं तद्देवसैन्यमखिलं विकलं विलोक्य ।
 सम्भोरक्षक्त्रमलोऽन्धकशत्रुसूनुर्बाणासनेन समधत्त ल वारुणास्त्रम् ॥ 40 ॥
 घोरान्धकारनिकरप्रतिमो युगान्तकालानलप्रबलधूमनिभो नभोन्ते ।
 गर्जारवैविधटयम्नवनीधराणां शृङ्गाणि मेधनिवहो धनमुज्जगाम् ॥ 41 ॥
 विद्युल्लता वियति वारिददृन्मध्ये गम्भीरभीषणरवैः कपिशीकृताशा ।
 घोरा युगान्तचलितस्य भयंकराऽथ कालस्य लोलरसनेव चमच्चकार ॥ 42 ॥
 कादम्बिनी विरुरुचे विषकण्टिकाभिरुत्तालकालरजनीजलदावलीभिः ।
 व्योम्युष्वकैरचिरक्परिदीपिताशा दृष्टिच्छदा विषमघोषविभीषणा च ॥ 43 ॥
 व्योम्नस्तलं पिदघतां ककुभां मुखानि गर्जारवैरविरतैस्तुदतां मनांसि ।
 अभ्योभृतामतितरामनणीयसीभिर्धारावलीभिरभितो ववृषे समूहैः ॥ 44 ॥
 घोरान्धकारपटलैः पिहिताम्बराणां गम्भीरगर्जनरवैर्व्यथितासुराणाम् ।
 दृष्ट्या तया जलमुचां वरुणास्त्रजानां विष्टोदरंभरिरपि प्रशशाम वह्निः ॥ 45 ॥
 दैत्योऽपि रोषकलुषो निशितैः क्षुरप्रैराकर्णकृष्टधनुरुत्पतितैः स भीमैः ।
 तद्भीतिविद्रुतसभस्तसुरेन्द्रसैन्यो गाढं जघान मकरध्वजशत्रुसूनुम् ॥ 46 ॥
 देवोऽपि दैत्यविशिखप्रकरं सचापं बाणैश्चकर्त कणशो रणकेलिकारी ।
 योगीव योगविधिशुष्कमना यमाद्यैः सांसारिक विषयसंघममोघवीर्यम् ॥ 47 ॥

वारुणास्त्र उठा चढ़ाया जिससे पानी बरसने लगता था ॥ 40 ॥ उसके चलाते ही भयंकर अँधेरा करती हुई प्रलय की आग से उठे हुए धुएँ के समान ऐसी काली-काली घटाएँ आकाश में उमड़ आईं जिनकी गरज से पहाड़ों की चोटियों तक में दरारें पड़ गई ॥ 41 ॥ इन बादलों से बड़ी भयानक घड़घड़ाहट के साथ ऐसी भयंकर बिजली तड़पी और उसकी चमक से सब दिशाएँ ऐसी पीली पड़ गई मानो प्रलयकाल में काल की लपलपाती हुई भयंकर जीभ हो ॥ 42 ॥ अपनी बिजली की चमक से सब दिशाओं में चकाचौंध कर देने वाली और भयंकर गर्जन से भरी भयंकर प्रलय के बादलों के समान अत्यन्त काली और जल से भरी हुई घटाएँ ऊपर आकाश में इस प्रकार अँधेरा करके घिर आईं कि आँखों के आगे कुछ भी दिखाई दे नहीं पा रहा था ॥ 43 ॥ आकाश में छाई हुई लगातार गरज-गरज कर लोगों का जी कँपाती हुई वे घटाएँ चारों ओर मूसलाधार पानी बरसाने लगीं ॥ 44 ॥ कार्तिकेय के चलाए हुए वारुणास्त्र से अँधेरा गुप्प करके आकाश को छिपा देने वाला और अपनी कड़क से दैत्यों को कँपा देने वाले जो बादल आ छाए थे उनकी वर्षा से संसार में फैली हुई सारी आग तत्काल बुझ गई ॥ 45 ॥ तब तारक ने भी क्रोध से लाल होकर कान तक खींच खींचकर पैसे और चमचमाते हुए धुरों वाले भयंकर बाण बरसा-बरसाकर देवसेना को डराकर तितर-बितर कर दिया और कार्तिकेय पर भी बड़ा गहरा प्रहार किया ॥ 46 ॥ कार्तिकेय ने भी तारक के धनुष और बाण एक करके खेल-खेल में ही इस प्रकार काट गिराए जैसे योगी लोग यम, नियम आदि साधकर अपने मन की सब सांसारिक इच्छाएँ मिटा डालते हैं ॥ 47 ॥ यह देखकर दैत्यराज तारक का क्रोध और भी भड़क उठा। अपनी तनी भीड़ों के कारण और भी भयंकर

भूभङ्गभीषणमुखोऽसुरचक्रवर्ती संदीप्तकोपदहनोऽथे रथं विहाय ।
 क्रीडत्करालकरबालकरीऽसुरेन्द्रस्तं प्रत्यधावदभितस्त्रिपुरारिसूनुम् ॥ 48 ॥
 अभ्यापतन्तमसुराधिपमीशपुत्रो दुर्वारबाहुविभवंसुरसैनिकैस्तम् ।
 दृष्ट्वा युगान्तदहनप्रतिमां मुचोच शक्तिं प्रमोदविकसद्वदनारविन्दः ॥ 49 ॥
 उद्धोतिताम्बरदिगन्तरमंशुजालैः शक्तिः पपात हृदि तस्य महासुरस्य ।
 हर्षाश्रुभिः सह समस्तदिगीश्वराणां शोकोष्णबाष्पसलिलैः सह दानवानाम् ॥ 50 ॥
 शक्त्या हृतासुमसेरश्चरमापतन्तं कल्पान्तबातहतभिन्नभिवादिशृङ्गम् ।
 दृष्ट्वा प्ररुढपुलकाञ्चितचारुदेहा देवाः प्रमोदमगम स्त्रदशेन्द्रमुख्याः ॥ 51 ॥
 यत्रापतत्स दनुजाधिपतिः परासुः संवर्तकालनिपतच्छिखरीन्द्रतुल्यः ।
 तत्रादधात्फणिपतिर्धरणीं फणाभिस्तव भूरिभारविधुराभिरधो व्रजन्तीम् ॥ 52 ॥
 स्वर्गापगासलिलसीकरिणी समन्तात्सौरभ्यलुब्धमधुपावलिसेव्यमाना ।
 कल्पहुमप्रसववृष्टिरभून्नमस्तः शंभोः सुतस्य शिरसि त्रिदशारिशत्रोः ॥ 53 ॥
 पुलकभारविभिन्नवारबाणा भुजविभवं बहु तारकस्य शत्रोः ।
 सकलसुरगणा महेन्द्रमुख्याः प्रमदमुखाच्छविसंपदोऽभ्यनन्दन् ॥ 54 ॥

दिखाई देने वाला वह दैत्य रथ छोड़कर हाथ में लपलपाती हुई भयंकर तलवार लेकर कार्तिकेय पर दूट पड़ा ॥ 48 ॥ जब कार्तिकेय ने देखा कि ऐसे भयंकर रूप वाला तारक मुझ पर झपटा आ रहा है और देवताओं के सैनिकों के हराए नहीं हार रहा है तब उन्होंने हँसकर अपना प्रलय की अग्नि के समान भयंकर भाला उस पर फेंक मारा ॥ 49 ॥ अपनी चमक से सब दिशाओं को चमकाती हुई वह शक्ति ठीक तारक के हृदय में ऐसी जाकर लगी कि उसके लगते ही देवताओं की आँखों से हर्ष के आँसू और दैत्यों की आँखों से शोक के आँसू साथ-साथ वह चले ॥ 50 ॥ उस भाले की चोट से मरकर गिरा हुआ तारक ऐसा जान पड़ता था मानो प्रलय की आँधी से दूट कर गिरी हुई पहाड़ की चोटी हो। ज्यों ही इन्द्र आदि देवताओं ने उस तारक दैत्य को गिरा हुआ देखा कि वे सब हर्ष से उछल पड़े और उनके रोम-रोम फरफरा उठे ॥ 51 ॥ जब वह दैत्यराज तारक प्रलयकाल की आँधी से दूटकर गिरे हुए पहाड़ के समान मरकर गिरा तब उसके भारी बोझ से चँपकर जो पृथ्वी नीचे को धंसी तो नागराज वासुकि ने उसे अपने फणों पर किसी-किसी प्रकार उठा सँभाला ॥ 52 ॥ उस समय कार्तिकेय के सिरपर आकाशगंगा के जल की फुहारों से भरे और गन्ध के लोभी भाँरों से घिरे हुए कल्पतरु के फूल आकाश से बरसने लगे ॥ 53 ॥ आनन्द के मारे देवताओं की बाँछें खिल उठीं और वे हर्ष से इतने फूल उठे कि उनकी छातियों पर कसे हुए कवच भी तड़ातड़ा दूट गए। इस प्रकार आनन्द में डूबते हुए इन्द्र आदि सब देवता पास आकर तारक को मारने वाले कुमार की भुजाओं के बल की बड़ाई करने लगे ॥ 54 ॥ इस प्रकार विजयी कार्तिकेय ने जब तीनों लोकों के हृदय में काँटे के समान कसकने वाले तारक राक्षस को मार डाला तब इन्द्र फिर स्वर्ग के स्वामी

इति विषमशरारेः सनुना विष्णुनाजी त्रिभुवनवरशल्ये प्रोद्धते दानवेन्द्रे ।
बलरिपुरथ नाकस्याधिपत्यं प्रपद्य व्यजयत सुरचूडारत्नघृष्टाग्रपादः ॥ 55 ॥

॥ इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये

‘तारकासुरवधो’ नाम सप्तदशः सर्गः ॥

॥ इति कुमारसंभवम् ॥



बन गए और उन्हें अपने में सर्वश्रेष्ठ समझकर सब देवता लोग अपने-अपने मुकुट के मणियों-सहित अपने सिर उसके चरणों में रख रखकर उन्हें प्रणाम करने लगे ॥ 55 ॥

॥ महाकवि श्री कालिदास के रचे हुए कुमारसम्भव महाकाव्य में ‘तारक राक्षस का वध नामका सत्रहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥

॥ कुमारसंभव सम्पूर्ण हुआ ॥



मेघदूतम्

महाराज

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

मेघदूतम्

॥ पूर्वमेघः ॥

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षं भोग्येण भर्तुः ।
पक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥ 1 ॥
तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः कामी नीत्वा मासान्कनकवलयं भ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः ।
आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥ 2 ॥
तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतोरन्तर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ ।
मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति-चेतः कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥ 3 ॥
प्रत्यासन्ने नभसि दयिताजीवितालम्बनार्थं जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन्प्रवृत्तिम् ।
स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहारा ॥ 4 ॥

पूर्वमेघ

अलकापुरी में कुबेर के यहाँ हेममाली नामका एक यक्ष प्रतिदिन मानसरोवर से स्वर्णकमल लाने के काम पर लगाया गया था, पर वह कामी दिन-रात अपनी स्त्री के पीछे ही पागल रहता था। अपनी स्त्री के विछोह में व्याकुल उस यक्षने एक बार अपने काम में ऐसी ढिलाई कर दी कि बस कुबेरने झल्लाकर उसे यह कहकर देश-निकाला दे दिया कि अब एक वर्ष तक तू अपनी पत्नी से नहीं मिलने पायगा। इस शाप से उसका सारा राग-रंग जाता रहा और शाप के दिन काटने के लिये उसने रामगिरि (चित्रकूट)-के उन आश्रमों में डेरा जा डाला जहाँ के कुँडों, तालाबों और बावड़ियों का जल जानकी के स्नान से पवित्र हो गया था और घनी छाया वाले बहुत से वृक्ष जहाँ-तहाँ लहलहा रहे थे ॥ 1 ॥ अपनी पत्नी के बिना जो एक क्षण नहीं रह पाता था, वह यक्ष अपनी पत्नी से बिछुड़ने पर सूखकर काँटा हो गया। उसके हाथ के सोने के कंगन भी ढीले होकर निकल गिरे और यों ही रोते-कलपते उसने कुछ महीने उस पहाड़ी पर जैसे-तैसे काट दिए। पर असाढ़ के पहले ही दिन वह देखता क्या है कि सामने बादलों से लिपटी हुई पहाड़ी की चोटी ऐसी लग रही है मानो कोई हाथी (पहाड़) अपने माथे की टक्कर से मिट्टी के टीले (बादलों) को ढहाने का खेल कर रहा हो ॥ 2 ॥ मन में प्रेम उकसाने वाले उन बादलों को देखकर महाराज कुबेर का वह सेवक अपने आँसू ज्यों-त्यों रोके बहुत देरतक खड़ा सोचता ही रह गया, क्योंकि बादलों को देखकर जब सुखी लोगों-तक का मन डोल जाता है तब उस बिछोही का तो कहना ही क्या, जो दूर देश में पड़ा हुआ अपनी प्यारी के गले लगने के लिये दिन-रात तड़पे जा रहा हो ॥ 3 ॥ बादल को देखते ही उसे ध्यान आया कि असाढ़ बीतते ही जब सावन आ जायगा तब तो मेरी कोमल प्रिया अपने को सँभाल नहीं पावेगी। इसलिये उसने सोचा कि अपनी प्यारी को ढाढ़स बँधाने के लिये और उसके प्राण बचाने के लिये क्यों न इन बादलों के हाथ ही अपना कुशल-समाचार भेज

धूमज्ज्योतिः सलिलमरुतां संनिपातः क्वमेघः सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः ।
 इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन्पुष्पकस्तं ययाचे कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥ 5 ॥
 जातं वंशे भुवन विदिते पुष्करावर्तकानां जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः ।
 तेनार्थित्वयिविधिवशाद्दूरकन्धुर्गतोऽहंयाञ्चामोघा बरम धिगुणे नाधमेलब्धकामा ॥ 6 ॥
 संतप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद प्रियायाः सन्देशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य ।
 गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां बाह्योद्यानसितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ॥ 7 ॥
 त्वामारूढं पवनपदवीमुष्गृहीतालकान्ताः प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिताः प्रत्ययादाश्चसन्त्यः ।
 कः संनद्धे विरहविधुरांत्वय्युपेक्षत जायां न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ॥ 8 ॥
 तां चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नीमव्यापन्नामविहतगततिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम् ।
 आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥ 9 ॥

हूँ। यह ध्यान आते ही तो वह आनन्द से मगन हो उठा। उसने झट वहाँ खिले हुए कुटज (इन्द्रजव) के फूल उतारकर पहले तो मेघ की पूजा की और फिर कुशल-मंगल पूछकर उसका स्वागत करने लगा ॥ 4 ॥ भला बताइए, कहाँ तो धुएँ, अग्नि, जल और वायु के मेल से बना हुआ बादल और कहाँ संदेश की वे बातें, जिन्हें बड़े चतुर लोग ही ले जा पहुँचा सक पाते हैं। पर यक्ष को तो अपने तन-मन की सुध थी ही नहीं, फिर भला उसका ध्यान यहाँ तक कैसे पहुँच पाता! इसीलिये वह यक्ष अपना संदेशा भेजने के लिये उस बादल के आगे ही गिड़गिड़ाने लगा। सच भी है, प्रेमियों को यह जानने की सुध ही कहाँ रह पाती है कि कौन जड़ (बेजान) है और कौन चेतन (जानदार) ॥ 5 ॥ बादल की बड़ाई करते हुए यक्ष कहने लगा- 'देखो मेघ! संसार में पुष्कर और आवर्तक नामक बादलों के जो दो प्रसिद्ध और ऊँचे कुल हैं, उन्हीं में तुमने जन्म लिया है। मैं यह भी जानता हूँ कि तुम इन्द्र के दूत हो और जैसा चाहो वैसा अपना रूप भी बना सकते हो, इसीलिये अपनी प्यारी से इतनी दूर लाकर पटका हुआ मैं अभागा तुम्हारे ही आगे हाथ पसार रहा हूँ, क्योंकि गुणी के आगे हाथ फैला-कर रीते हाथों लौट आना अच्छा है, पर नीच से इच्छा पूरी करा लेना अच्छा नहीं ॥ 6 ॥ अकेले तुम्हीं तो ऐसे हो जो संसार के तपे हुए प्राणियों को ठंडक देते हो, इसलिये मेघ! कुबेर के क्रोध से निकाले हुए और अपनी प्यारी से दूर पटके हुए मुझ बिछोही का संदेसा भी तुम्हीं मेरी प्यारी के पास ले जा पहुँचाओ। देखो! यह संदेशा लेकर तुम्हें बड़े ठाठ-बाट से रहने वाले यक्षों की उस अलका नाम की बस्ती को जाना होगा, जहाँ के भवनों में, बस्ती के बाहर वाले उद्यान में बनी हुई शिव की मूर्ति के सिर पर जड़ी हुई चन्द्रिका से सदा उजाला हुआ रहा करता है ॥ 7 ॥ जब तुम वायु पर पैर रखते हुए ऊपर चढ़ोगे तब परदेशियों की स्त्रियाँ अपनी अलकें ऊपर उठा-उठाकर बड़े भरोसे से ढाढ़स पाकर तुम्हारी ओर एकटक देखेंगी, क्योंकि मुझ-जैसे पराधीन को छोड़कर और कौन ऐसा निर्दयी होगा जो तुम्हें उमड़ा हुआ देखकर भी बिछोह में तड़पने वाली अपनी पत्नी को मिलने को उतावला न हो उठे ॥ 8 ॥ देखो मेघ! ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ तुम्हारी पहुँच न हो सकती हो इसलिये तुम अपनी उस पंतिव्रता भाभी को अवश्य ही पा जाओगे जो वहाँ बैठी मेरे लौटने के दिन गिन रही होगी। क्योंकि देखो, प्रेमियों का फूल-जैसा कोमल हृदय तो बस मिलने की आशा पर ही केवल टँगा रहता है। इसलिये स्त्रियों के जो हृदय, अपने प्रेमियों से बिछुड़ने पर एक क्षण नहीं टिके रह सकते, वे इसी आशा के सहारे तो उन स्त्रियों को जिलाए रखते हैं ॥ 9 ॥ देखो! (सगुन भी सब अच्छे ही अच्छे हो रहे हैं। तुम्हारा साथी वायु धीरे-धीरे तुम्हें आगे बढ़ाए दे रहा

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः ।
 गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः ॥ 10 ॥
 कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्धामवन्ध्यांतच्छु त्वाते श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्काः ।
 आकैलासाद्विसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ॥ 11 ॥
 आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलं वन्द्यैः पुसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु ।
 काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम् ॥ 12 ॥
 मार्गं तावच्छृणु कथयतस्त्वत्प्रयागानुरूपं संदेशं मे तदनु जलद श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम् ।
 खिन्नः खिन्नः शिखरिषु पदं न्यस्य गनतासियत्रक्षीणः परिलघुपयः स्त्रोतसां चोपभुज्य ॥ 13 ॥
 अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभिर्दृष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः ।
 स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ् मुखः खंदिङ् नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान् ॥ 14 ॥
 रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्य मेतत्पुरस्ताद्वल्मीकाग्रोत्प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य ।
 येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते बर्हेण वस्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः ॥ 15 ॥

है। इधर अपनी आन का पक्का यह चातक भी बाई ओर अपनी मीठी बोली बोले जा रहा है। अभी थोड़ी ही देर में तुम्हारा यह आँखों को सुहाने वाला रूप देखकर वगुलियाँ भी समझ लेंगी कि हमारे गर्भ धारण करने का समय आ गया है इसलिये वे पाँत बाँध बाँधकर अपने पंखों से तुम्हें पंखा झलने के लिये अवश्य ही आकाश में उड़-उड़कर अभी आ पहुँचने वाली होंगी ॥ 10 ॥ तुम्हारे जिस गर्जन से कुकुरमुत्ते फूट निकलते हैं और धरती उपजाऊ हो उठती है, वही कानों को भला लगने वाला तुम्हारा गरजना सुनकर, मानसरोवर जाने को उतावले राजहंस भी अपनी चोंचों में कमल की अगली डंठल लिए कैलास पर्वत तक तुम्हारे साथ-साथ आकाश में उड़ते चले जायँगे ॥ 11 ॥ देखो मेघ! जिस पहाड़ पर तुम लिपटे बैठे हो, इसकी ढालों पर भगवान् राम के उन पैरों की छाप जहाँ-तहाँ पड़ी है, जिन्हें सारा संसार पूजा करता है, और जब-जब तुम इससे मिलने आया करते हो, तब-तब यह भी बहुत दिनों पर मिलने के कारण तुम्हारे ही साथ अपने गरम-गरम आँसू बहाकर अपना प्रेम प्रकट किया करता है इसलिये पहले अपने इस प्यारे मित्र पहाड़ की चोटी जी-भर गले मिल लो तब इससे विदा लेना ॥ 12 ॥ अच्छा, पहले, मैं तुम्हें वह मार्ग समझाए देता हूँ जिधर से जाने में तुम्हें कोई कष्ट नहीं हो पावेगा। मार्ग समझा चुकने पर ही मैं अपना प्यारा संदेश भी तुम्हें बता दूँगा। देखो! मार्ग में चलते हुए जब कभी थकने लगे, तब मार्ग में पड़ती हुई पर्वत की चोटियों पर थोड़ा-थोड़ा सुस्ताते जाना और जब-जब तुम पानी की कमी से दुबले पड़ने लगे तब-तब बीच में पड़े हुए झरनों का हलका-हलका पीते जाना ॥ 13 ॥ जब तुम लहलही बेंतों से लदी हुई इस पहाड़ी में ऊपर उड़ते हुए चलोगे तब तुम्हारा उड़ना देखकर सिद्धों की भोली-भाली स्त्रियाँ आँखें फाड़-फाड़कर तुम्हारी ओर देखती हुई यही सोचने लगेंगी कि कहीं पहाड़ की चोटी को ही तो पवन नहीं उड़ाए लिए चला जा रहा है ? इस प्रकार ठाट से उड़ते हुए तुम दिग्गजों की मोटी सूँड़ों की फटकारों को धकेलते हुए उत्तर की ओर घूम जाना ॥ 14 ॥ देखो ! वह सामने बाँबी के ऊपर उठा हुआ इन्द्रधनुष का एक ऐसा सुन्दर टुकड़ा दिखाई पड़ रहा है मानो बहुत से रत्नों की चमक एक साथ वहाँ लाकर इकट्ठी कर धरी गई हो। इस इन्द्र-धनुष से सजा हुआ तुम्हारा साँवला शरीर ऐसा सुन्दर लगने लगा है जैसे मोरमुकुट पहने हुए ग्वाले का वेश बनाए हुए श्री कृष्ण ही आ खड़े हुए हों ॥ 15 ॥ देखो ! खेती का होना न होना भी सब तुम्हारे ही भरोसे तो है, इसलिये किसानों की वे भोली-भाली स्त्रियाँ भी तुम्हें बड़े

त्वय्यायत्तकृषिफलमितिभूविलासानभिज्ञैः प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः ।
 सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं किञ्चित्पश्चाद्ब्रजलघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ॥ 16 ॥
 त्वामासारप्रशमितवनोपप्लवं साधु भूध्ना वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूटः ।
 नक्षुद्रोऽपिप्रथमसुकृतापेक्षयासंश्रयाय प्राप्तेमित्रे भवति विमुखः किंपुनर्यस्तथोच्चैः ॥ 17 ॥
 उन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाग्रैस्त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णः ।
 नूनयास्यत्यमरमिथुन प्रेक्षणीयामवस्थांमध्येश्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः ॥ 18 ॥
 अध्वक्लान्तं प्रतिमुखगतं सानुमानाम्रकूटस्तुङ्गेनत्वांजलदशिरसावक्ष्यतिश्लाध्यमानः ।
 आसारेणत्वमपिशमयेस्तस्यनैदाघमग्निसद्भावाद्वर्धः फलतिनचिरेणोपकारो महत्सु ॥ 19 ॥
 स्थित्वा तस्मिन्वनचरवधुभुक्तकुञ्जे मुहूर्तं तोयोत्सर्गद्वुततरगतिस्तत्परं वर्त्म तीर्णः ।
 रेवाद्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णाभक्तिच्छेदैरिवविरचिताभूतिमङ्गेजस्य ॥ 20 ॥
 तस्यास्तिकैर्वनगजमदैर्वासितं वान्तवृष्टिर्जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः ।
 अन्तः सारंधनतुलयितुंनानिलःशक्ष्यतित्वारिक्तः सर्वो भवति हिलघुः पूर्णतागौरवाय ॥ 21 ॥

प्रेम और आदर से देखेंगी, जिन्हें भीहैं चलाकर रिझाने की कला नहीं आती। वहाँ तुम माल देश के उन खेतों पर जा बरसना जहाँ अभी जोते जाने के कारण धरती से सोंधी-सोंधी सुगन्ध निकल रही होगी। वहाँ से थोड़ा पच्छिम की ओर घूमकर फिर झटपट उत्तर की ओर बढ़ जाना ॥ 16 ॥ जब तुम मूसलाधार पानी बरसाकर आम्रकूट पहाड़ के जंगलों की आग बुझाने लगोगे तब वह तुम्हारा बड़ा उपकार मानकर और तुम्हें थका हुआ समझकर, बड़े-प्रेम से तुम्हें मित्र बनाकर अपनी चोटी पर आदर के साथ ठहरावेगा, क्योंकि जब दरिद्र लोग भी आए हुए मित्र के उपकार का ध्यान करके उसका सत्कार करने में नहीं चूकते तब आम्रकूट-जैसे ऊँचों का तो कहना ही क्या ॥ 17 ॥ देखो पके हुए फलों से लदे आम के वृक्षों से घिरा हुआ आम्रकूट पर्वत पीला-सा हो गया होगा। उसकी चोटी पर जब तुम कोमल बालों के जूड़े के समान साँवला रंग लेकर चढ़ोगे, तब वह पर्वत, देवताओं के दम्पतियों को दूर से ऐसा दिखाई देगा मानो वह पृथ्वी का उठा हुआ ऐसा स्तन हो, जिसके बीच में काला गोला हो और चारों ओर पीला हो ॥ 18 ॥ देखो मेघ! जब तुम थककर आम्रकूट पर्वत पर पहुँचो और वह प्रशंसनीय आम्रकूट पर्वत अपनी ऊँची चोटी पर तुम्हें बड़े आदर से ठहरावे तब तुम भी जल बरसाकर उसके जंगलों में लगी हुई गर्मी के दिनों की आग बुझा देना क्योंकि यदि सच्चे मनसे बड़े लोगों पर उपकार किया जाय तो वे अपने साथ भलाई करने वाले का आदर करने में देर नहीं लगाते ॥ 19 ॥ उस आम्रकूट के जिन घने कुञ्जों में जंगली स्त्रियाँ बराबर घूमा ही करती हैं, वहाँ तुम थोड़ी ही देर ठहरकर डग बढ़ाकर चल देना, क्योंकि जल बरसा चुकने पर तुम्हारी देह का भारी पन भी दूर हो जायगा और तुम्हारी चाल भी बढ़ जायगी। वहाँ से आगे चलने पर तुम्हें विन्ध्याचल के ऊबड़-खाबड़ पठार पर बहुत-सी धाराओं में फैली हुई रेवा (नर्मदा) नदी मिलेगी, जो तुम्हें ऊपर से ऐसी दिखाई देगी मानो किसी ने बड़े से हाथी का शरीर भभूत से उठा चीता हो ॥ 20 ॥ देखो! वहाँ जब जल बरसा चुको, तब जंगली हाथियों के सुगन्धित मद में बसा हुआ और जामुन की कुञ्जों में बहता हुआ रेवा का जल पीकर ही आगे बढ़ना क्योंकि जल पीकर जब तुम भारी हो जाओगे तब वायु तुम्हें इधर-उधर नहीं झुला सकेगा। देखो! जिसके हाथ रीते होते हैं उसको सभी दुरदुराते हैं, और जो भरा-पूरा होता है, उसका सभी आदर किया करते हैं ॥ 21 ॥ देखो! जिस समय तुम जल बरसाते चले जा रहे होंगे उस समय अध-पके हरे-पीले कदम्ब के फूलों पर मँडराते हुए भौर, दलदलों में नई फूली

नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं कैसरैरर्धरूढै राविभूतप्रथममुकुलाः कन्दलीशानुकच्छम् ।
जग्ध्वाऽरण्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाघ्रायचोर्व्याः सारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्तिमार्गम् ॥ 22 ॥
अम्भोबिन्दुग्रहणचतुराँश्चातकान्वीक्षमाणाः श्रेणीभूताः परिगणनयानिर्दिशन्तो बलाकाः ।
त्वामासाद्यस्तनितसमयेमानयिष्यन्ति सिद्धाः सोत्कम्पानिप्रियसहचरीसंभ्रमालिङ्गितानि ॥ 23 ॥
उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थं यियासोः कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते ।
शुक्लापाङ्गैः सजलनयनैः स्वागतीकृत्यकेकाः प्रत्युधातः कथमपिभवान्गन्तुमाशुव्यवस्येत् ॥ 24 ॥
पाण्डुच्छायोपवनवृतयः केतकैः सूचिभिन्नैर्नीडारम्भैर्गृहबलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः ।
त्वय्यासन्नेपरिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताः संपत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसादशार्णाः ॥ 25 ॥
तेषांदिक्षुप्रथितविदिशालक्षणां राजधानींगत्वासद्यः फलमविकलंकामुकत्वस्य लब्ध्वा ।
तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसिस्वाद्युयस्मात्सभ्रभङ्गमुखमिवपयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि ॥ 26 ॥
नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र विश्रामहेतोस्त्वसंपर्कात्पुलकितमिवप्रौढपुष्पैः कदम्बैः ।
यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणामुद्दामानि प्रथयति शिलावेशमभिर्यो वनानि ॥ 27 ॥
विश्रान्तः सन्त्रज वननदीतीरजातानि सिञ्चन्नुद्यानानां नवजलकणैर्युधिकाजालकानि ।
गण्डस्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानांछायादानात्क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम् ॥ 28 ॥

हुई कन्दली (झाड़ीदार घास) की पत्तियाँ चरते हुए हरिण और जंगली धरती का तीखा गन्ध सूँघते हुए हाथी, तुम्हें मार्ग बताते चलेंगे ॥ 22 ॥ ऊपर ही ऊपर ही बूँदे घूँटते हुए चातकों को देखने वाले और पाँत बाँधकर उड़ती हुई बगुलियों को एक-एक करके गिनने वाले जिन सिद्धों की प्यारी स्त्रियाँ तुम्हारा गर्जन सुनकर झट से घबराकर उनके गले लग जायँगी, वे सिद्ध लोग तुम्हारा बड़ा भला मनावेंगे ॥ 23 ॥ मित्र! यह तो मैं जानता ही हूँ कि तुम मेरे काम के लिये बिना रुके झटपट जाना चाहोगे फिर भी मैं समझता हूँ कि कुटज के फूलों से लदे हुए उन सुगन्धित पहाड़ों पर तुम ठहरते ही जाना जहाँ के मोर, अपने नेत्रों में आनन्द के आँसू भरकर अपनी कूकसे तुम्हारा स्वागत कर रहे होंगे। पर मुझे आशा है कि तुम जैसे भी होगा वहाँ से झटपट चल दोगे ॥ 24 ॥ देखो मेघ! जब तुम दशार्ण देश के पास पहुँचोगे तब खिले हुए केवड़ों के कारण वहाँ के फूले हुए उपवनों की बाड़ें तुम्हें उजली दिखाई देंगी, गाँव के सब मन्दिर भी कौओं आदि पक्षियों के घोसलों से भरे मिलेंगे, वहाँ के जंगल भी पकी हुई काली जामुनों से लदे मिलेंगे और कुछ हंस भी वहाँ थोड़े दिनों के लिये आ बसे रहे होंगे ॥ 25 ॥ दशार्ण देश की विदिशा (भेलसा) नाम की प्रसिद्ध राजधानी में पहुँचते ही तुम्हें विलास की सारी सामग्री धरी मिल जायगी क्योंकि जब तुम वहाँ की सुहावनी, मनभावनी और नाचती हुई लहरों वाली वेत्रवती (बेतवा) नदी के तीरपर गर्जन करके उसका मीठा जल पीने लगोगे तब तुम्हें ऐसा लगेगा मानो तुम किसी कँटीली भौहों वाली कामिनी के ओठों का रस पी रहे हो ॥ 26 ॥ वहाँ पहुँचकर तुम 'नीच' नाम की पहाड़ी पर अपनी थकावट मिटाने के लिये उतर जाना। वहाँ पर फूले हुए कदंब के वृक्षों को देखकर ऐसा जान पड़ेगा मानो तुमसे भेंट करने के कारण उनके रोम-रोम फरफरा उठें हों। उसी पहाड़ी के गुफा घरों में से उन सुगन्धित पदार्थों की भी गंध गमक रही होगी जो वेश्याओं के साथ रति करते के समय वहाँ के छैले काम में लाया करते हैं। इससे तुम्हें यह ज्ञात हो जायगा कि वहाँ के नागरिक लोग खुल्लम-खुल्ला यौवन का रस लेते ही रहते हैं ॥ 27 ॥ वहाँ अपनी थकावट मिटाकर, तुम जंगली नदियों के तीरों पर उपवन में खिली हुई जूही की कलियों को अपने जल की फुहारों से सींचते हुए और वहाँ की फूल उतारने वाली उन मालिनों के मुँह पर छाया करके थोड़ी सी जान-पहचान बढ़ाते हुए आगे बढ़ जाना, जिनके कानों

वक्रः पन्थायदपिभवतः प्रस्थितस्योत्तराशां सौधोत्सङ्गप्रणय विमुखोमास्मभूरुज्जयिन्याः ।
 विषुद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानांलोलापाङ्ग्यदिनरमसेलोचनैर्वञ्चितोऽसि ॥ 29 ॥
 वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दशितावर्तना भेः ।
 निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाम्यन्तरः सन्निपत्यस्त्रीणामाद्यप्रणयवचनविभ्रमोहिप्रियेषु ॥ 30 ॥
 वेणीभूतप्रतनुसलिलाऽसावतीतस्य सिन्धुः पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णैः ।
 सौभाग्यंतेसुभग विरहावस्थयाव्यञ्जयन्तीकाश्यंयेनत्यजतिविधिनासत्त्वयैवोपपाद्यः ॥ 31 ॥
 प्राप्यावन्तीमुदयनकथा कोविदग्रामवृद्धा नपूर्वोद्दष्टामनुसरपुरीं श्रीविशालाम्विशालाम् ।
 स्वल्पीभूतेसुचरितफलेस्वगिणांगांगतानांशेषैः पुण्यैर्ह तमिवदिवः कान्तिमत्खण्डमेकम् ॥ 32 ॥
 दीर्घाकुर्वन्पटु मदकलं कूजितं सारसानां प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः ।
 यत्रस्त्रीणां हरतिसुरतग्लानिभङ्गानुकूलः शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचादुकारः ॥ 33 ॥
 हारोस्तारोस्तारलगुटिकान्कोटिशः शङ्खशुक्तीः शष्पश्यामान्भरकतमणीनुन्मयूखप्ररोहान् ।
 दृष्ट्वायस्याविपणिरचितान्विहमाणां चभङ्गान्संलक्ष्यन्तेसलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः ॥ 34 ॥

में लटके हुए कमल की पंखड़ियों के कनफूल उनके गालों पर बहते हुए पसीने को लग-लगकर मैले हो गए होंगे ॥ 28 ॥ उत्तर की ओर जाने में यद्यपि उज्जयिनी वाला मार्ग कुछ टेढ़ा तो पड़ेगा पर तुम उस नगर के राजभवनों को देखना कभी न भूलना । तुम्हारी बिजली की चमक से डरकर वहाँ की स्त्रियाँ जो चंचल चितवन चलावेंगी उन पर यदि तुम न रीझे, तो समझ लो कि तुम्हारा जन्म अकारण ही गया ॥ 29 ॥ उज्जयिनी की ओर जाते हुए तुम उतरकर उस निर्विन्ध्या नदी का भी रस ले लेना जिसकी उछलती हुई लहरों पर पक्षियों की चहचहाती हुई पातें ही करधनी सी दिखाई देंगी और जो इस सुन्दर ढंग से रुक रुककर बह रही होगी कि उसमें पड़ी हुई भँवर तुम्हें उसकी नाभि जैसी दिखाई देगी, क्योंकि स्त्रियाँ तो चटक-मटक दिखाकर ही अपने प्रेमियों को अपना प्रेम जताया करती हैं ॥ 30 ॥ देखो! निर्विन्ध्या नदी की धारा तुम्हारे बिछोह में चोटी के समान पतली हो गई होगी और तीर के वृक्षों के पीले पत्तों के झड़-झड़कर गिरने से उसका रंग भी पीला पड़ गया होगा । इस प्रकार बड़भागी मेघ! अपनी वियोग की दशा दिखाकर वह यही बता रही होगी कि मैं तुम्हारे वियोग में सूखी चली जा रही हूँ । देखो, तुम ऐसा उपाय करना कि उस बेचारी का दुबलापन दूर हो जाय (जल बरसाकर उसे भर देना) ॥ 31 ॥ अवन्ति देश (मालवा) में पहुँचकर तुम धन-धान्य से भरी हुई उस विशाला (उज्जयिनी) नगरी की ओर चले जाना जिसकी चर्चा मैं पहले ही कर चुका हूँ और जहाँ गाँव के बड़े-बूढ़े लोग, महाराजा उदयन की कथा भली प्रकार जानते-बूझते हैं । वह नगरी ऐसी लगती है मानो स्वर्ग में अपने पुण्य के बदले स्वर्ग का कोई चमकीला भाग अपने साथ धरती पर उतार लाए हों ॥ 32 ॥ उन नगरी में, मतवाले सारसों की मीठी बोली को दूर-दूर तक फैलाता हुआ, तड़के खिले हुए कमलों की गन्ध में बसा हुआ शरीर को सुहाने वाला शिप्रा का वायु, स्त्रियों के संभोग की थकावट उसी प्रकार दूर कर रहा होगा जैसे चतुर प्रेमी, मीठी-मीठी बातें बताकर, फुलेल सुँधाकर और पंखा झलकर संभोग से थकी हुई अपनी प्यारी की थकावट दूर कर देता है ॥ 33 ॥ उज्जयिनी की हाटों में तुम्हें कहीं तो करोड़ों मोतियों की ऐसी मालाएँ सजी दिखाई देंगी जिनके बीच-बीच में बड़े-बड़े रत्न गुँथे हुए होंगे, कहीं करोड़ों शंख और सीपियाँ रक्खी मिलेंगी और कहीं नई घास के समान नीले और चमकीले नीलम बिछे दिखाई देंगे । उन्हें देखकर यही जान पड़ेगा कि जितने रत्न थे वे तो सब यहाँ निकाल ला रखे गए हैं और समुद्र में केवल पानी ही पानी बचा छोड़ दिया गया है ॥ 34 ॥ वहाँ के जानकार लोग, यह कथा सुना-सुनाकर बाहर से आए हुए अपने

प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्ने हैमं तालद्रुमवनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः ।
 अत्रोद्भ्रान्तः किलनलगिरिःस्तम्भमुत्पाट्यदर्पादित्यागन्तुन्मयतिजनोयत्र बन्धूनभिज्ञः ॥ 35 ॥
 जालोद्गीर्णैरुप चितवपुः केशसंस्कारधूपैर्बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः ।
 हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखेदंनयेथाक्ष्मीं पश्येत्ललितवनितापादरागाङ्कितेषु ॥ 36 ॥
 भर्तुःकण्ठच्छविरितिगणैः सादरं वीक्ष्यमाणः पुण्यंयायास्त्रिभुवनगुरोर्धामचण्डीश्वरस्य ।
 धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्यास्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिकैर्मरुद्भिः ॥ 37 ॥
 अप्यन्यस्मिञ्जलधरमहाकालमासाद्यकालेस्थातव्यंतेनयनविषयंयावदत्येति भानुः ।
 कुर्वन्संध्याबलिपटहतांशूलिनःश्लाघनीयामामन्द्राणांफलमविकलंलप्स्यसेगर्जितानाम् ॥ 38 ॥
 पादन्यासैःक्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतैरत्नछायाखचितबलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः ।
 वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्यवर्षाग्रबिन्दूनामोक्ष्यन्तत्त्वयिमधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान् ॥ 39 ॥
 पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः ।
 नृत्तारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या ॥ 40 ॥

संबन्धियों का मन बहला रहे होंगे कि यहाँ पर वत्स देश के राजा उदयन ने उज्जयिनी के महाराज प्रद्योत की प्यारी वासवदत्ता को हरा था, यहीं उनका बनाया हुआ ताड़ के पेड़ों का सुनहरा उपवन था और यहीं पर मद में भरा हुआ नलगिरि नाम का हाथी, खूँटा उपाड़कर इधर-उधर पागल हुआ घूमता फिरा करता था ॥ 35 ॥ अगर की धूप का जो धुआँ वहाँ की स्त्रियों के बालों को सुगंधित करके झरोंखों से निकलता होगा उससे तुम्हारा शरीर बढ़ेगा ही और तुम्हें अपना समझकर जब वहाँ के पालतू मोर भी नाच-नाचकर तुम्हारा सत्कार करने लगें तब तुम फूलों के गन्ध से महकते हुए वहाँ के उन भवनों की सजावट देखकर अपनी थकावट दूर कर लेना जिनमें सुन्दरियों के चरणों में लगी हुई महावर से उनके लाल पैरों की छाप बनी होगी ॥ 36 ॥ वहाँ से तुम तीनों लोकों के स्वामी और चंडी के पति महाकाल के पवित्र मन्दिर की ओर बढ़ जाना। वहाँ तुम्हें भी अपने स्वामी शिव के कंठ के समान ही नीला देखकर शिव के गण तुम्हें बड़े आदर से निहारेंगे। वहाँ देखोगे कि जल-बिहार करने वाली युवतियों के स्नान करने से महकता हुआ और कमल के गंध में बसी हुई गंधवती नदी की ओर से आने वाला पवन, उस मन्दिर के उपवन को बार-बार हिलाए झुलाए डाल रहा होगा ॥ 37 ॥ देखो मेघ! यदि तुम महाकाल के मंदिर में साँझ होने से कुछ पहले ही पहुँच जाओ तो वहाँ तब तक ठहरे रहना जब तक सूर्य भली प्रकार आँखों से ओझल न हो जाय। वहाँ जब महादेव की साँझ की सुहावनी आरती होने लगे तब तुम भी अपने गर्जन का नगाड़ा बजाने लगना। इससे तुम्हें अपने मंद गंभीर गर्जन का पूरा-पूरा फल मिल जायगा ॥ 38 ॥ सन्ध्या के नाच में पैरों पर थिरकती हुई जिन वेश्याओं की करधनी के घुँघरू बड़े मीठे स्वर में बज रहे होंगे और कंगन के नगों की चमक से दमकते हुए डंडों वाले चंवर दुलाते-दुलाते जिनके हाथ थक चले होंगे, उन वेश्याओं के नख-क्षतों पर जब तुम्हारी ठंडी-ठंडी फुहारें पड़ेंगी तब वे बड़े प्रेम से अपनी भौरों की पाँतों के समान बड़ी-बड़ी चितवनों से तुम्हें देखेंगी ॥ 39 ॥ साँझ की पूजा हो चुकने पर जब महाकाल ताण्डव नृत्य करने लगे, तब तुम साँझ की ललाई लेकर उन वृक्षों पर जा छाना जो उनकी ऊँची उठी हुई बाँहों के समान वहाँ खड़े होंगे। ऐसा करने से हाथी की खाल ओढ़ने की शिव के मत की इच्छा भी पूरी हो जायेगी और यह देखकर पहले तो पार्वती डर जायँगी कि यह हाथी की खाल आ कहीं से गई, पर फिर तुम्हें पहचानकर उनका डर दूर हो जायगा और वे एकटक होकर शिव में तुम्हारी यह भक्ति देखती रह जायँगी ॥ 40 ॥ वहाँ पर जो स्त्रियाँ अपने प्यारों से मिलने के लिए घनी अँधेरी रात में निकली होंगी,

गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेदैस्तमोभिः ।
 सौदामन्याकनकनिकषस्निग्धयादर्शयोर्वीतोयोत्सर्गस्तनितमुखरोमास्म भूर्विक्लावास्ताः ॥ 41 ॥
 तां कस्याचिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायांनीत्वारात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः ।
 दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान्वाहयेदध्वशेषं मन्दातन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ॥ 42 ॥
 तस्मिन्काले नयनसलिलं योषितां खंडितानां शान्तिं नेयं प्रणयिभिरतो वर्त्मभानोस्त्यजाशु ।
 प्रालेयास्त्रं कमलवदनात्सोऽपि हर्तुं नलिन्याः प्रत्यावृत्तस्त्वयिकररुधिस्यादनल्पाभ्यसूयः ॥ 43 ॥
 गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव सन्नेछायात्माऽपि प्रकृति सुभगोलप्स्यते ते प्रवेशम् ।
 तस्मादस्याः कुमुदविशदान्यहंसि त्वं न धैर्यान्मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि ॥ 44 ॥
 तस्याः किंचित्करधूतमिव प्राप्तवानीरशाखं हत्वानीलं सलिलवसनं मुक्तरोधो नितम्बम् ।
 प्रस्थानं ते कथमपि सखेलम्बमानस्य भाविज्ञातास्वादो विवृतजघनांको विहातुं समर्थः ॥ 45 ॥
 त्वन्निष्पन्दोऽप्यवसितवसुधागन्धसंपर्करम्यः स्त्रोतोरन्ध्रध्वनित सुभगं दन्तिभिः पीयमानः ।
 नीचैर्वास्यत्युपजिगमिषोर्देवपूर्वं गिरिं ते शीतो वायुः परिणमयिता काननो दुम्बराणाम् ॥ 46 ॥

उन्हें जब सड़कों पर अँधेरे के मारे कुछ भी न सूझता होगा, तब तुम कसौटी में सोने के समान दमकने वाली अपनी बिजली चमकाकर उन्हें ठीक-ठीक मार्ग दिखा देना पर देखो तुम गरजने-बरसने मत लगना नहीं तो वे सब घबरा उठेंगी ॥ 41 ॥ बहुत देर तक चमकते-चमकते थकी हुई अपनी प्यारी बिजली को लेकर तुम किसी ऐसे मकान के छज्जे पर रात जा बिताना जिसमें बहुत से कबूतर सोए पड़े हों और फिर दिन निकलते ही वहाँ से चल देना, क्योंकि जो अपने मित्रों का काम करने का बीड़ा उठाता है, वह अलसेट नहीं किया करता ॥ 42 ॥ देखो! उस समय बहुत से प्रेमी लोग अपनी उन प्यारियों के आँसू बैठे पोंछ रहे होंगे जिन्हें रात को अकेली छोड़कर वे कहीं दूसरी ठौर पर जा रहे होंगे। इसलिये उस समय तुम सूर्य को भी मत ढक देना क्योंकि वे भी उस समय अपनी प्यारी कमलिनी के मुख-कमल पर पड़ी हुई ओस की बूँदें पोंछने के लिये आ पहुँचे होंगे। उस समय तुम उनके हाथ (किरणें) न रोक बैठना, नहीं तो वे बुरा मान जायँगे ॥ 43 ॥ देखो मेघ! तुम्हारे सहज सलोने शरीर की परछाहीं गंभीरा नदी के उस जल में अवश्य पड़ी दिखाई देगी, जो चित्त-जैसा निर्मल है। उसमें किलोलें करती हुई कुमुद के समान उजली मछलियों को देखकर तुम यही समझना कि वह नदी ही तुम्हारी ओर अपनी प्रेम-भरी चंचल चितवनें चला रही हैं। उस समय अपनी रुखाई से कहीं तुम उसके प्रेम का निरादर न कर बैठना ॥ 44 ॥ जब तुम गंभीरा नदी का जल पी लोगे और उसका जल कुछ कम होने से उसके दोनों तट नीचे तक दिखाई देने लगेंगे तब वहाँ जल में झुकी हुई बेंत की लताओं को देखने से जान पड़ेगा मानो गंभीरा नदी अपने तटरूपी नितम्बों पर अपने जल के वस्त्र खिसक जाने पर लज्जा से अपनी बेंत की लताओं के हाथों से ही अपने जल का वस्त्र धामे हुए हों। यह सब देखकर भैया मेघ! उसपर झुके हुए तुम वहाँ से जा न पाओगे, क्योंकि जनानी का रस ले चुकने वाला ऐसा कौन रंगीला होगा जो कामिनी की खुले हुए जघन (पेड़) को देखकर उसका रस लिए बिना ही वहाँ से चल दे ॥ 45 ॥ वहाँ से चलकर जब तुम देवगिरि पहाड़ की ओर बढ़ोगे तब वहाँ धीरे-धीरे बहता हुआ वह शीतल पवन भी तुम्हारी सेवा किया करता चलेगा जिसमें तुम्हारे बरसाए हुए जल से आनन्द की साँस लेती हुई धरती की गंध भरी होगी जिसे चिन्घाड़ते हुए हाथी अपनी सूँड़ों से पी रहे होंगे और जिसके चलने से वन के गूलर भी पकने लग गए होंगे ॥ 46 ॥ उसी देवगिरि पर्वत पर स्कन्द भगवान् भी सदा निवास किया करते हैं। इसलिये वहाँ पहुँचकर तुम फूल बरसाने वाले बादल बनकर उनपर आकाश गंगा के जल से भीगे हुए फूल

तत्र स्कन्दनियतवसतिपुष्पमेधीकृतात्मापुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगङ्गाजलाद्रैः ।
 रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूनामत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः॥ 47 ॥
 ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बह्वं भवानी पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्रापि कर्णेकरोति ।
 धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरं पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गजितैर्नर्तयेथाः॥ 48 ॥
 आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लङ्घिताध्वा सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वीणिभिर्मुक्तमार्गः ।
 व्यालम्बेथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन्स्त्रोतोमूर्त्या भुविपरिणतारन्तिदेवस्य कीर्तिम्॥ 49 ॥
 त्वय्यादातुंजलमवनतेशार्ङ्गिणोवर्णचौरेतस्याः सिन्धोः पृथुमपितनुं दूरभावात्प्रवाहम् ।
 प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्यं दृष्टीरेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम्॥ 50 ॥
 तामुत्तीर्यव्रजपरिचितभूलताविभ्रमाणां पक्ष्मोत्क्षेपादुपरि विलसत्कृष्णशारप्रभाणाम् ।
 कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुष्णामात्मबिम्बं पात्रीकुर्वन्शपुखधूनेत्रकौतूहलानाम्॥ 51 ॥
 ब्रह्मावर्तं जनपदमथ छायाया गाहमानः क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद्व्रजेथाः ।
 राजन्यानांसितशरशतैर्यत्रगाण्डीवधन्वाधारापातैस्त्वमिवकमलान्यभ्यवर्षन्मुखानि॥ 52 ॥

वरसाकर उन्हें स्नान करा देना । देखो! स्कन्द भगवान को तुम ऐसा वैसा देवता मत समझ बैठना । इन्द्र की सेनाओं को बचाने के लिये शिवने सूर्य से भी बढ़कर जलता हुआ अपना जो तेज अग्नि में डालकर इकट्ठा किया था, उसी तेज से तो स्कन्दका जन्म हुआ है ॥ 47 ॥ वहाँ पहुँचते ही तुम अपनी गरज से पर्वत की गुफाओं को गुँजा देना जिसे सुनकर स्वामी कार्तिकेय का वह मोर नाच उठेगा जिसके नेत्रों के कोने सदा शिव के सिरपर धरे हुए चन्द्रमा की चमक से दमकते रहते हैं । उस मोर के झड़े हुए उन पंखों से चमकीली किरणें निकल रही होंगी, जिन्हें पुत्र पर प्रेम दिखाने के लिये पार्वती अपने उन कानों पर सजा लेती हैं, जिनपर वे कमल की पंखड़ियाँ सजाया करती थीं ॥ 48 ॥ स्कन्द की पूजा करके जब तुम आगे बढ़ोगे तब हाथों में वीणा लिए हुए वे सिद्ध लोग अपनी स्त्रियों के साथ तुम्हें घूमते मिलेंगे जो अपनी वीणा भीगकर बिगड़ जाने के डर से तुमसे दूर ही दूर रहना चाहेंगे । तब तुम कुछ दूर जाकर उस चर्मण्वती (चंबल) नदी का आदर करने के लिये नीचे उतर जाना जो राजा रन्तिदेव के गवालंभ यज्ञ करने की कीर्ति बनकर धरती पर बही चली जा रही है ॥ 49 ॥ देखो मेघ! जब तुम विष्णु का साँवला रूप चुराकर चर्मण्वती का जल पीने के लिये झुकोगे, उस समय आकाश में विचरने वाले सिद्ध, गन्धर्व आदि को दूर से पतली दिखाई देने वाली उस नदी की चौड़ी धारा के बीच तुम ऐसे दिखाई दोगे मानो पृथ्वी के गले में पड़े हुए एकलड़े हार के बीच बड़ी मोटी-सी इन्द्रनीलमणि ला पोही गई हो ॥ 50 ॥ चर्मण्वती नदी पार करके तुम दशपुर की ओर बढ़ जाना अपना रूप दिखाकर वहाँ की उन रमणियों को जा रिझाना, जिनकी काली-काली कँटीली भौहें ऐसी जान पड़ेगी मानो उन्होंने कुन्द के फूलों पर मँडराने वाले भौरों की सारी चमक चुरा धरी हो ॥ 51 ॥ वहाँ से चलकर ब्रह्मावर्त (सरस्वती और दृषद्वती के बीच) देशपर छाया करते हुए तुम उस कुरुक्षेत्र पर जा पहुँचना जो कौरवों और पाण्डवों की घरेलू लड़ाई के कारण आज तक बदनाम है और जहाँ गाण्डीवधारी अर्जुन ने अपने शत्रु राजाओं के मुखों पर उसी प्रकार अनगिनत वाण बरसाए थे जैसे कमलों पर तुम अपनी जलधारा बरसाया करते हो ॥ 52 ॥ देखो! कौरव और पाण्डव दोनोंपर एक-सा प्रेम करने वाले जो बलराम, महाभारत के युद्ध में किसी की ओर से भी नहीं लड़े, वे अपनी प्यारी रेवती के नेत्रों की छाया पड़ी हुई प्यारी मदिरा छोड़कर जिस सरस्वती नदी का

हित्वाहालामभिमतरसारेवतीलोचनाङ्गाबन्धुप्रीत्यासमरविमुखोलाङ्गलीयाः सिन्धेवे ।
 कृत्वातासामभिममपां सौम्यसारस्वतीनामन्तः शुद्धस्त्वमपिभवितावर्णमात्रेण कृष्णः॥ 53 ॥
 तस्माद्रच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां जहोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम् ।
 गौरीवक्त्रभृकुटिरचनां या विहस्येवफेनैः शंभोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोमिहस्ता॥ 54 ॥
 तस्याः पातुंसुरगजइवव्योम्नि पश्चार्द्धलम्बीत्वंचेदच्छस्फटिकविशदंतर्कयेस्तिर्यग्गम्भः ।
 संसर्पन्तयासपदिभवतः स्त्रोतसिच्छाययाऽसौस्यादस्थानोपगतयमुनासङ्गमेवाभिरामा॥ 55 ॥
 आसीनानां सुरभितशिलं नाभिमन्धैर्मृगाणांतस्या एव प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुषारैः ।
 वक्ष्यस्यध्वश्रमविनयनेतस्यशृङ्गेनिषण्णः शोभांशुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्क्तोपमेयाम्॥ 56 ॥
 तं चेद्वायौ सरति सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा बाधेतोल्काक्षपितचमरीबालभारो दवाग्निः ।
 अहस्येनं शमयितुमलं वारिधारासहस्रै रापन्नार्तिप्रशमनफलाः संपदो ह्युत्तमानाम्॥ 57 ॥
 येसंरम्भोत्पतनरभसाः स्वाङ्गभंगागतस्मिन्मुक्ताध्वानंसपदिशरभालङ्घयेयुर्भवन्तम् ।
 तान्कुर्वीथास्तुमुलकरकावृष्टिपाता वकीर्णानूके वानस्युः परिभवपदनिष्फलारम्भयत्नाः॥ 58 ॥
 तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौलेः शङ्खत्सिद्धैरुपचितबलिं भक्तिनम्रः परीयाः ।
 यस्मिन्दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्धतपापाः कल्पिष्यन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्धधानाः॥ 59 ॥

जल पीया करते थे, वही जल यदि तुम भी पी डालोगे तो बाहरसे काले होने पर भी तुम्हारा मन उजला हो जायेगा ॥ 53 ॥ कुरुक्षेत्र से चलकर तुम कनखल जा पहुँचना। वहाँ तुम्हें हिमालय की घाटियों से उतरी हुई वे गंगा मिलेंगी जिन्होंने सीढ़ी बनकर सगर के पुत्रों को स्वर्ग ले जा पहुँचाया और जिनकी उजली फेन ऐसी लगती है मानो वे इस फेनकी हँसी से खिल्ली उड़ाती हुई उन पार्वती जीका निरादर कर रही हों जो सौतिया-डाह से गंगा पर भीहें तरेर रही हों, और अपनी लहरों के हाथ चन्द्रमा पर टेककर शिव के केश पकड़कर पार्वती को बता रही हों कि तुमसे बढ़कर शिव मेरी मुड़ी में हैं ॥ 54 ॥ यदि वहाँ पहुँचकर तुम दिग्गजों के समान अपना पिछला भाग ऊपर उठाकर और आगे का भाग झुकाकर, गंगा का स्फटिक के समान उजला जल तिरछे होकर पीना चाहोगे, तो गंगा की धारा में पड़ी तुम्हारी चलती हुई छाया ऐसी सुन्दर लगेगी मानो प्रयाग पहुँचने के पहले ही गंगा से यमुना आ मिली हों ॥ 55 ॥ वहाँ से चलकर जब तुम हिमालय की उस हिम से ढकी चोटी पर बैठकर थकावट जा मिटाओगे जहाँ से गंगा निकली हैं और जिसकी शिलाएँ कस्तूरी हरिणों के सदा बैठने से मह-मह महकती रहती हैं, तब उस चोटी पर बैठे हुए तुम वैसे ही दिखलाई दोगे जैसे महादेव के उजले साँड़ के सींगों पर मिट्टी के टीलों पर टक्कर मारने से कीचड़ आ जमा हो ॥ 56 ॥ देखो मेघ! अंधड़ चलने पर देवदार के वृक्षों के आपस में रगड़ने से जब जंगल में आग लग जाय और उसके उड़ते हुए अंगारे, सुरागाय के लंबे-लंबे रोएँ जलाने लगें, तब तुम धुआँधार पानी बरसा कर उसे बुझा देना क्योंकि भले लोगों के पास जो कुछ भी होता है वह दीन-दुखियों का दुःख मिटाने के लिये ही तो होता है ॥ 57 ॥ देखो ! हिमालय पर जब शरभ (आठ पैरों वाला जीव जो सिंह को भी मार डालता है) तुम्हारे दूर होने पर भी तुमपर बिगड़कर उछलने के लिये मचलें और अपने हाथ-पैर तुड़वाने के लिये सींग चलाने को झपटें, तब तुम उनके ऊपर धुआँधार ओले बरसाकर उन्हें तितर-बितर कर देना, क्योंकि जो बेकाम का काम करने चलते हैं, उन्हें ऐसे ही ठीक करना चाहिए ॥ 58 ॥ वहीं हिमालय की एक शिलापर तुम्हें शिव के पैर की वह छाप भी मिलेगी जिसकी सिद्ध लोग बराबर पूजा किया करते हैं। तुम भी भक्ति भाव से झुककर उसकी प्रदक्षिणा कर लेना क्योंकि

शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः ।
 निह्निदिस्ते मुरजइव चेत्कन्दरेषु ध्वनिः स्यात्संगीतार्थोननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः॥ 60 ॥
 प्रालेयाद्रेरुपतटमतिक्रम्य तांस्तान्विशेषान् हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रम् ।
 तेनोदीचीं दिशमनुसरेस्तिर्यागयामशोभी श्यामः पादोबलिनियमनाभ्युद्यतस्येवविष्णोः॥ 61 ॥
 गत्वा चोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसंधेः कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः ।
 शृङ्गोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्योवितत्य स्थितः खराशीभूतः प्रतिदिनं मिवत्र्यम्बकस्याट्टहासः॥ 62 ॥
 उत्पश्यामि त्वयि तटगते स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे सद्यः कृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य तस्य ।
 शोभाभद्रेः स्तिमितनयनप्रेक्षणीयां भवित्रीमंसन्यस्ते सति हलभूतो मेचके वाससीव॥ 63 ॥
 हित्वा तस्मिन्भुलगवलयं शंभुना दत्तहस्ता क्रीडाशैले यदि च विचरेत्पादचारेण गौरी ।
 भङ्गीभक्त्याविरचितवपुः स्तम्भितान्तर्जलौघः सोपानत्वंकुरुमणितटारोहणयाग्रायायी॥ 64 ॥
 तत्रावश्यं वलयकुलिशोद्धट्टनोद्गीर्णतोयं नेष्यन्ति त्वां सुरयुवतयो यन्त्रधारागृहत्वम् ।
 ताभ्यो मोक्षस्तवयदि सखे धर्मलब्धस्यनस्यात् क्रीडालीलाः श्रवणपरुषैर्गर्जितैर्भीषयेस्ता॥ 65 ॥

श्रद्धा-भरे लोगों का पाप उसके दर्शन से ही धुल जाता है और वे शरीर त्याग देने पर सदा के लिये शिव के गण हो जाते हैं ॥ 59 ॥ देखो मेघ! वहाँ के पोले वासों में जब वायु भरने से उनमें से मीठे-मीठे स्वर निकलने लगते हैं और किन्नरों की स्त्रियाँ भी उनसे स्वर मिलाकर त्रिपुर-विजय का गीत गाने लगती हैं तब यदि तुम भी गरज कर पहाड़ की खोहों को गुँजाकर मृदंग के समान गड़गड़ा उठोगे तो शिव के संगीत के सारे अंग पूरे हो जायेंगे ॥ 60 ॥ हिमालय के आस-पास जितने सुहावने स्थान हैं, उन सबको देखते हुए तुम उस क्रौञ्च रंध को होते हुए उत्तर की ओर निकल जाना जिसमें से होकर हंस भी मानसरोवर की ओर जाया करते हैं और जिसे परशुराम ने अपने बाण से छेदकर अपना नाम अमर कर लिया है । उस सँकरे मार्ग में तुम वैसे ही लम्बे और तिरछे होकर जाना जैसे बलि को छलने के समय विष्णु का साँवला चरण लम्बा और तिरछा हो गया था ॥ 61 ॥ वहाँ से ऊपर उठकर तुम उस कैलास पर्वत पर जा पहुँचोगे जिसकी चोटियों के जोड़-जोड़ रावण के बाहुओं ने हिला डाले थे; जिसमें देवताओं की स्त्रियाँ अपना मुँह देखा करती हैं और जिसकी कुमुम-जैसी उजली चोटियाँ आकाश में इस प्रकार फैली हुई हैं मानो वह दिन-दिन इकट्ठा किया हुआ कैलास है तुरन्त काटे हुए हाथी-दाँत के समान उजला, इसलिये जब तुम कैलास के ऊपर पहुँचोगे उस समय तुम मेरी समझ में बलराम के कंधों पर पड़े हुए चटकीले (नीले) वस्त्र के समान ऐसे मनोहर लगोगे कि आँखें एकटक तुम्हें ही देखती रह जायँ ॥ 62-63 ॥ उस कैलास पर जब पार्वती अपने पति उन महादेव के हाथ में हाथ डाले टहल रही होंगी जिन्होंने पार्वती के डरके मारे अपने साँपों के कड़े हाथ से उतार दिए होंगे और वे मणि-शिखरों पर चढ़ रही होंगी तब तुम बरसना मत, वरन् आगे बढ़कर सीढ़ी के समान बन खड़े होना जिससे उन्हें ऊपर चढ़ने में सुविधा हो ॥ 64 ॥ देखो मित्र! उस पर्वत पर की बहुत-सी अप्सराएँ अपने नग-जड़े कंगनों की नोक तुम्हारे शरीर में चुभो-चुभो कर तुम्हारे शरीर से जल-धाराएँ निकाल-निकालकर तुम्हें फुहारे का घर बना डालेगी । उस समय यदि वे अपने गर्म शरीर को तुमसे ठंडक मिलते रहने के कारण तुम्हें न छोड़ें तो तुम उन खिलाड़ी देवांगनाओं से छुटकारा पाने के लिये कान फाड़ने वाला अपना गर्जन सुनाकर झट उन्हें डरा देना ॥ 65 ॥ देखो! वहाँ पहुँचकर पहले तो तुम उस मानसरोवर का जल जा पीना जिसमें सुनहरे कमल खिले रहते हैं । तब ऐरावत के मुँह पर थोड़ी देर कपड़े-सा छाकर उनका मन जा बहलाना और फिर

हेमाम्भोजप्रसवि सलिलं मानसस्याददानः कुर्वन्कामं क्षणमुखपटप्रीतिमैरावतस्य ।
 धुन्वन्कल्पद्रुमकिसलयान्यंशुकानीव वातैर्नानाचेष्टैर्जलद ललितैर्निर्विशोस्तं नगेन्द्रम् ॥ 66 ॥
 तस्यात्सङ्गे प्रणयिन इव सस्तगंगादुकूलां न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन् ।
 यावः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ॥ 67 ॥
 ।। इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ मेघदूते काव्ये

पूर्वमेघः समाप्तः ।।



कल्पद्रुम के कोमल पत्तों को महीन कपड़े की भाँति जा हिलाना। ऐसे-ऐसे बहुत से खेल करते हुए तुम कैलास पर्वत पर जी भरकर चक्कर जा लगाना ॥ 66 ॥ उसी कैलास पर्वत की गोद में अलकापुरी वैसे ही बसी हुई है जैसे अपने प्यारे की गोद में कोई कामिनी बैठी हुई हो और वहाँ से निकली हुई गंगा की धारा ऐसी लगती है मानो उस कामिनी के शरीर पर से सरकी हुई उसकी साड़ी हो। यह नहीं हो सकता कि ऐसी अलका को देखकर तुम पहचान न पाओ। ऊँची-ऊँची अटारियों वाली उस अलका पर वर्षा के दिनों में बरसते हुए बादल ऐसे छाए रहते हैं जैसे कामिनियों के सिर पर मोती गुँथे हुए जूड़े ॥ 67 ॥

॥ महाकवि श्री कालिदास के रचे हुए मेघदूत काव्य में पूर्वमेघ पूर्ण हुआ ॥



॥ उत्तरमेघः ॥

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः

संगीताय प्रहृतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम् ।

अन्तस्तोयं मणिमयध्रुवस्तुङ्गमग्नलिहाग्राः

प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥ 1 ॥

हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं

नीता लोघप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः ।

चूडापाशे नवकुरबकं चारु कर्णे शिरीषं

सीमन्ते च त्वत्पुगमजं यत्र नीपं वधूनाम् ॥ 2 ॥

यत्रोन्मत्तध्रुमरमुखराः पादपा नित्यपुष्पा

हंसश्रेणीरचितरशना नित्यपद्मा नलिन्यः ।

केकोत्कण्ठा भवनशिखिनो नित्यभास्वत्कलापा

नित्यज्योत्स्नाः प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः प्रदोषाः ॥ 3 ॥

आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तै

नान्यस्तापः कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात् ।

नाप्यन्यस्मात्प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्ति-

र्वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति ॥ 4 ॥

उत्तर मेघ

देखो मेघ! अलकापुरी के ऊँचे-ऊँचे भवन सब बातों में तुम्हारे जैसे ही हैं। यदि तुम्हारे साथ बिजली है तो उन भवनों में भी एक से एक बढ़कर चटकीली नारियाँ हैं। यदि तुम्हारे पास इन्द्रधनुष है तो उन भवनों में भी रंग-बिरंगे चित्र लटके हुए हैं। यदि तुम मृदु-गम्भीर गर्जन कर सकते हो तो वहाँ भी संगीत के साथ मृदंग बजते हैं, यदि तुम्हारे भीतर नीला जल है तो उनकी धरती भी नीलम से जड़ी हुई है और यदि तुम ऊँचे चढ़े बैठे हो तो उनकी अटारियाँ भी आकाश चूमे ले रही हैं ॥ 1 ॥ देखो ! वहाँ की कुलवधुएँ हाथों में कमल के आभूषण पहना करती हैं, अपनी चोटियों में नये खिले हुए कुन्दन के फूल गूँथा करती हैं, अपने मुँह को लोध के फूलों का पराग मलकर गोरा किया करती हैं, अपने जूड़े में नये कुरबक के फूल खोंसा करती हैं, अपने कानों पर सिरस के फूल टाँगे रखती हैं और वर्षा में फूल उठने वाले कदंब के फूलों से अपनी माँग सँवारा करती हैं ॥ 2 ॥ वहाँ पर सदा फूलने वाले ऐसे बहुत से वृक्ष मिलेंगे, जिन पर मतवाले भौरे गुनगुनाते रहते होंगे। वहाँ के बारहमासी कमलों और कमलिनियों को हंसों की पाँतें बराबर घेरे रहती हैं। वहाँ सदा चमकीले पंखों वाले पालतू मोर ऊँचा सिर किए रात-दिन बोलते रहते हैं और वहाँ की रातें सदा चाँदनी बनी रहने से बड़ी उजली और मनभावनी लगा करती हैं ॥ 3 ॥ वहाँ रहने वाले यक्षों की आँखों में आँसू भी केवल आनन्द के ही आते हैं। प्यारे के दूर होने पर उसके विरह की जलन को छोड़कर और किसी प्रकार की जलन वहाँ नहीं होती। प्रेम में रुठने को छोड़कर और कभी किसी का किसी से वहाँ बिछोह नहीं होता और जवानी की अवस्था को छोड़कर दूसरी कोई अवस्था ही वहाँ नहीं होती ॥ 4 ॥ वहाँ के यक्ष अपनी अलबेली नवेलियों को साथ ले लेकर स्फटिक की बनी अपनी उन अटारियों पर जा बैठते हैं जिनकी गवों पर पड़ी हुई तारों की छाया ऐसी जान पड़ती है मानो फूल

यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि
 ज्योतिश्छायाकुसुमरचितान्युत्तमस्त्रीसहायाः ।
 आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं
 त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वहतेषु ॥ 5 ॥
 मन्दाकिन्याः सलिलशिशिरैः सेव्यमाना मरुद्भि
 मन्दाराणमनुतटरुहा छायया वारितोष्णाः ।
 अन्वेष्यैः कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैः
 संक्रीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः ॥ 6 ॥
 नीवीबन्धोच्छ्वसितशितिलं यत्र बिम्बाधराणां
 क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वक्षिपत्सु प्रियेषु ।
 अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपान्
 हीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः ॥ 7 ॥
 नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमि
 रालेख्यानां नवजलकणैर्दोषमुत्पाद्य सद्यः ।
 शङ्कास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशा जालमार्गै
 धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति ॥ 8 ॥
 यत्र स्त्रीणां प्रियतमभुजालिङ्गनोच्छ्वासिताना
 मङ्गलानिं सुरतजनितां तन्तुजालावलम्बाः ।
 त्वत्सरे धापगमविशवैश्चन्द्रपादैर्निशीथै

व्यालुम्पन्ति स्फुटजललवस्यन्दिनश्चन्द्रकान्ताः ॥ 9 ॥

ला टाँके गए हों। वहाँ बैठकर वे लोग कामदेव को उभारने वाला वह मधु पी रहे होंगे जो उन बाजों के मन्द-मन्द बजने पर कल्पवृक्ष से रिस निकलता है जो तुम्हारे गंभीर गर्जन के समान ही गूँजा करते हैं ॥ 5 ॥ वहाँ की कन्याएँ इतनी सुन्दर हैं कि देवता भी उन्हें पाने के लिये तरसते रहते हैं। वे कन्याएँ मंदाकिनी के जल की फुहार से ठंडाए हुए पवन में, तट पर खड़े हुए कल्पवृक्षों की छाया में अपनी तपन मिटाती हुई, अपनी मुद्रियों में रत्न ले लेकर उनको सुनहरे बालू में डाल डालकर छिपाने और ढूँढ़ने का खेल खेला करती हैं ॥ 6 ॥ वहाँ के प्रेमी लोग संभोग के लिये अपने चंचल हाथों से अपनी प्यारियों को कमर की गाँठें खोलकर जब उनकी ढीली साड़ियों को हटाने लगते हैं तब वे लाज से इतनी सकुचा जाती हैं कि वे और कुछ न पाकर मुड़ी में गुलाल भरकर ही जगमगाते हुए रत्न-दीपों पर उठा फेंकने लगती हैं, पर उनका वह गुलाल फेंकना सब अकारथ ही जाता है ॥ 7 ॥ देखो मेघ! तुम्हारे जैसे बहुत से बादल वायु के झोंके के साथ वहाँ के सत-खंडे भवनों के ऊपरी खंडों में घुसकर भीत पर टंगे हुए चित्रों को पहले तो अपने जलकणों से भिगोकर मिटा दिया करते हैं और फिर वे धुएँ का रूप बनाने में चतुर बादल, डर के मारे झट से झरोखों की जालियों में से छितरा-छितराकर निकल भागते हैं ॥ 8 ॥ वहाँ आधी रात के समय, खुली चाँदनी में, झालरों में लटके हुए चन्द्रकान्त मणियों से टपकता हुआ जल उन स्त्रियोंकी थकावट दूर करता रहता है जिनके शरीर प्रियतम की भुजाओं में कसे रहने से ढीले पड़ जाते रहते हैं ॥ 9 ॥ वहाँ अथाह संपत्ति वाले कामी लोग, अप्सराओं के साथ बातें करते हुए और ऊँचे स्वर में मीठे गलों से कुबेर का यश गाने वाले किन्नरों के साथ बैठे हुए वैभ्राज नामके बाहरी उपवन

अक्षय्यान्तर्भवननिधयः प्रत्यहं रक्तकण्ठैः

रुद्रगायद्भिर्धनपतियशः किंनरैर्यत्र सार्धम् ।

वैभ्राजाख्यं विबुधवनितावारमुख्यासहाया

बद्धालापा बहिरुपयनं कामिनो निर्विशन्ति ॥ 10 ॥

गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पैः

पत्रच्छेदैः कनककमलैः कणविभ्रंशिभिश्च ।

मुक्ताजालैः स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हरै-

नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम् ॥ 11 ॥

वासश्चित्रं मधु नयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं

पुष्पोद्भेदं सह किसलयैर्भूषणानां विकल्पान् ।

लाक्षारारुं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्या

मेकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः ॥ 12 ॥

पत्रश्यामा दिनकरहयस्पर्धिनो यत्र वाहाः

शैलोदग्रास्त्वमिव करिणो वृष्टिमन्तः प्रभेदात् ।

योधाग्रण्यः प्रतिदशमुखं संयुगे तस्थिवांसः

प्रत्यादिष्टाभरणरुचयश्चन्द्रहासव्रणा ः ॥ 13 ॥

मत्वा देवं धनपतिसखं यत्र लाक्षाद्वसन्तं

प्रायश्चार्यं न वहति भयान्मन्मथः षट्पदज्यम् ।

सम्भूभंगप्रहितनयनैः कामिलक्ष्येष्वमोघै-

स्तस्यारम्भश्चतुरवनिताविभ्रमैरेव सिद्धः ॥ 14 ॥

में रात-दिन विहार करते रहते हैं ॥ 10 ॥ वहाँ की कामिनी स्त्रियाँ जब रात को अपने प्रेमियों के पास जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाकर जाने लगती हैं, तब उनकी चोटियों में गुँथे हुए कल्पवृक्ष के फूल और पत्ते खिसक-खिसककर निकले पड़ते हैं, कानों पर धरे हुए सोने के कमल गिर-गिर जाते हैं और हारों से टूटे हुए मोती भी इधर-उधर बिखर जाते हैं। दिन निकलने पर इन वस्तुओं को मार्ग में बिखरा हुआ देखकर ही लोग समझ लेते हैं कि वे कामिनी स्त्रियाँ किधर-किधर से होकर अपने प्रेमियों के पास पहुँची हैं ॥ 11 ॥ वहाँ रंग-विरंगे वस्त्र, नेत्रों में बाँकापन बढ़ाने वाली मदिरा, कोमल पत्ते और फूल, ढंग-ढंग के आभूषण और पैरों में लगाने का महावर आदि स्त्रियों के सिंगार की जितनी वस्तुएँ हैं सब अकेले कल्पवृक्ष से ही मिल जाया करती हैं ॥ 12 ॥ पत्ते के समान साँवले वहाँ के घोड़े अपने रंग और अपनी चाल में सूर्य के घोड़ों को भी कुछ नहीं समझते। पहाड़-जैसे ऊँचे-ऊँचे डील-डौल वाले वहाँ के हाथी वैसे ही मद बरसाते हैं जैसे तुम पानी बरसाते हो और वहाँ के लड़ाके अपने सब आभूषण छोड़कर बस उन घावों के चिन्हों को ही अपना आभूषण समझते हैं जो घाव उन्होंने रावण से लड़ते हुए उसकी चन्द्रहास नाम की करवाल से खाए थे ॥ 13 ॥ वहीं पर कुबेर के मित्र शिव भी रहा करते हैं इसलिये डर के मारे कामदेव अपना भौंरों की डोरी वाला धनुष वहाँ नहीं चढ़ाता वरन् वहाँ की छबीली चतुर स्त्रियाँ जो अपने प्रेमियों की ओर बाँकी चितवन चलाती हैं उसी से कामदेव अपना धनुष का काम निकाल लिया करता है ॥ 14 ॥ वहीं कुबेर के भवन से उत्तर की ओर इन्द्रधनुष के समान सुन्दर गोल फाटक वाला हमारा घर तुम्हें दूरसे ही दिखाई पड़ जायेगा। उसी के पास मेरी स्त्री ने जो पुत्र के समान एक छोटा-सा कल्पवृक्ष पाल रक्खा है वह फूलों के गुच्छों से इतना झुक गया होगा कि नीचे खड़े-खड़े ही वे गुच्छे हाथ से तोड़े

तत्रागारं धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीयं

दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन ।

मस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे

हस्तप्राप्यस्तवकनमितो बालमन्दारवृक्षः ॥ 15 ॥

वापी चास्मिन्मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा

हैमैश्छन्ना विकचकमलैः स्निग्धवैदूर्यनालैः ।

यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं संनिकृष्टं

नाध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसाः ॥ 16 ॥

तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः

क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः ।

मद्गेहिण्याः प्रिय इति सखे चेतसा कातरेण

प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि ॥ 17 ॥

रक्ताशोकश्ललकिसलयः केसरश्चात्र कान्तः

प्रत्यासन्नौ कुरबकवृतेर्माधवीमण्डपस्य ।

एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी

काङ्क्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छदनास्याः ॥ 18 ॥

तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टि-

मूले बद्धा मणिभिरनतिप्रौढवंशप्रकाशैः ।

तालैः शिञ्जावलयसुमगैर्नर्तितः कान्तया मे

यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृदः ॥ 19 ॥

जा सकते हैं ॥ 15 ॥ भीतर घर में जाने पर तुम्हें एक बावड़ी मिलेगी जिनकी सीढ़ियों पर पन्ना जड़ा हुआ है और जिसमें चिकने नीलम की सी डण्ठल वाले बहुत से सुनहरे कमल खिले होंगे। उसके जल में बसे हुए हंस इतने सुखी हैं कि मानसरोवर के इतने पास होते हुए भी और तुम्हें देखकर भी वे वहाँ नहीं जाना चाहेंगे ॥ 16 ॥ उस बावड़ी के तीर पर एक बनावटी पहाड़ है जिसकी चोटी नीलम की बनी है और जो चारों ओर से सोने के केलों से घिरा होने के कारण देखते ही बनता है। देखो मित्र! यह पर्वत मेरी घरवाली को बड़ा प्यारा है इसलिये जब मैं तुम्हें बिजली के साथ देखता हूँ तब मेरा मन अकेला होने से उदास हो उठता है और वह पहाड़ मेरी आँखों के आगे नाचने लगता है ॥ 17 ॥ उस बनावटी पर्वत पर कुरबक (लाल कर-सरैन) के वृक्षों से घिरे हुए माधवी-मंडप के पास ही एक तो चंचल पत्तों वाला लाल अशोक का वृक्ष खड़ा है और दूसरा मौलसिरी का पेड़ है। जैसे मैं तुम्हारी सखी (अपनी पत्नी) के पैर की ठोकर खाने के लिये तरसा पड़ रहा हूँ वैसे ही वह अशोक भी फूल उठने के बहाने मेरी पत्नी के बाएँ पैर की ठोकर खाने के लिये तरसा रहा होगा और दूसरा मौलसिरी का पेड़ भी उसके मुँह से निकले हुए मदिरा के छँटे पाने के लिये बरस रहा होगा ॥ 18 ॥ उन दोनों वृक्ष के बीच नये बाँस के समान चमकीले मणियों से बनी एक चौकी है, जिस पर लगी स्फटिक की एक चौकोर पटिया पर जड़ी हुई एक सोने की छत पर तुम्हारा मित्र वह मोर नित्य साँझ को आ बैठा करता है जिसे मेरी स्त्री अपने घुँघरुदार कड़े वाले हाथों से तालियाँ बजा बजाकर नचाया करती है ॥ 19 ॥ देखो साधु! यदि तुम मेरे बताए हुए ये चिन्ह भली भाँति स्मरण रखोगे और मेरे द्वार पर शंख और पद्म के चित्र बने देख लोगे

एभिः साधो हृदयनिहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथा
 द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ च दृष्ट्या ।
 क्षामच्छायं भवनमधुना मद्भियोगेन नूनं
 सूर्योपाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम् ॥ 20 ॥
 गत्वा सद्यः कलभतनुतां शीघ्रसंपातहेतोः
 क्रीडाशैले प्रथमकथिते रम्यसानौ निषण्णः ।
 अर्हस्यन्तर्भवनपतितां कर्तुमल्पाल्पभासं
 खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम् ॥ 21 ॥
 तन्वी श्यामा¹ शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
 मध्ये क्षामा चकितहारिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः ।
 श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
 या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥ 22 ॥
 तां जानीथाः परिमिकथां जीवितं मे द्वितीयं
 दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम् ।
 गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
 जातां मन्ये शिशिरमथितां पथिनीं वान्यरूपाम् ॥ 23 ॥
 नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियाया
 निःश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम् ।
 हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा-

दिन्दोर्देन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति ॥ 24 ॥

तब तुम मेरा घर अवश्य पहचान जाओगे । मेरे बिना वह भवन बड़ा सूना-सूना और उदास-सा दिखाई देगा क्योंकि सूर्य के छिप जाने पर तो कमल उदास हो ही जाता है ॥ 20 ॥ देखो! यदि तुम्हें मेरे घर में झटपट पैठना ही हो तो चट से हाथी के बच्चे-जैसे छोटे बनकर घर में खेल के लिए बनाई हुई पहाड़ी की सुहावनी चोटी पर जा बैठना और अपनी बिजली की आँखें जुगनुओं के समान थोड़ी-थोड़ी-सी मिलकाकर मेरे घर के भीतर झाँक लेना ॥ 21 ॥ वहाँ जो दुबली-पतली सब ऋतुओं में सुख देने वाली, नन्हें, नन्हें दाँतों वाली, पके हुए बिंबाफल के समान लाल ओठों वाली, पतली कमरवाली, डरी हुई हरिणी के समान आँखों वाली, गहरी नाभि वाली, नितम्बों के बोझ से धीरे-धीरे चलने वाली और स्तन के भार से कुछ आगे को झुकी हुई युवती तुम्हें दिखाई दे वही मेरी पत्नी होगी । उसकी सुन्दरता देखकर यही जान पड़ेगा मानो ब्रह्मा की सबसे बढ़िया कारीगरी कोई है तो वही है ॥ 22 ॥ अपने साथी से बिछुड़ी हुई चकवी के समान अकेली रहने वाली और कम बोलने वाली उस सुन्दरी को देखकर ही तुम समझ लोगे कि वह मेरा दूसरा प्राण ही है । विरह के कठोर दिन बड़ी ललकसे बिताते-बिताते उसका रूप इतना बदल गया होगा कि उसे देखकर तुम्हें यह भी धोखा हो सकता है कि यह कोई बाला है या पाले से मारी हुई कोई कमलिनी है ॥ 23 ॥ देखो मेघ ! मेरे बिछोह में रोते-रोते मेरी प्यारी की आँखें सूज गई होंगी, गर्म साँसों से उसके ओठों का रंग फीका पड़ गया होगा, चिन्ता के कारण गालों पर हाथ धरने

1. श्यामाः शीते सुखोष्णसर्वाङ्गी, ग्रीष्मे या सुखशीतला ।
 तप्तकाञ्चनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेति कथयते ।।

आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा
 मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती ।
 पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां
 कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति ॥ 25 ॥
 उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
 मद्गोत्राङ्गं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।
 तन्त्रीमाद्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचि-
 द्भू यो भूयः स्वयमग्नि कृतां मूर्च्छानां विस्मरन्ती ॥ 26 ॥
 शेषान्मासान्विरहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा
 विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पैः ।
 मत्सङ्गं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती
 प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः ॥ 27 ॥
 सव्यापारामहनि न तथा पीडयेन्मद्वियोगः
 शङ्के रात्रौ गुरुतरशुचं निर्विनोदां सखीं ते ।
 मत्संदेशैः सुखयितुमलं पश्य साध्वीं निशीथे
 तामुन्निद्रामवनिशयनां सौधवातायनस्थः ॥ 28 ॥
 स्निग्धाः सख्यः कथमपि दिवा तां न मोक्षयन्ति तन्वी-
 मेकप्रख्या भवति हि जगत्पङ्कनानां प्रवृत्तिः ।
 स त्वं रात्रौ जलद शयनासन्नवातायनस्थः
 कान्तां सुप्तो सति परिजने वीतनिद्रामुपेयाः ॥ 29 ॥

से और बालों के मुँह पर आ जाने से उसका अधूरा दिखाई देने वाला मुँह मेघ से ढके हुए चन्द्रमा के समान धुँधला और उदास दिखाई दे रहा होगा ॥ 24 ॥ देखो मेघ! या तो वह तुम्हें वहाँ देवताओं को पूजा चढ़ाती मिलेगी या अपनी कल्पना से मेरे इस विरह से दुबले शरीर का चित्र बनाती मिलेगी या पिजड़े में बैठी हुई मिठबोली मैना से यह पूछती मिलेगी कि 'मैना! तुम अपने जिस पति की प्यारी हो, उसे भी कभी स्मरण करती हो?' ॥ 25 ॥ या भैया ! वह मैले कपड़े पहने हुए, गोद में वीणा लिए, ऊँचे स्वर से मेरे नाम वाले गीत गाती मिलेगी । उस समय वह अपनी आँखों के आँसुओं से भीगी हुई वीणा को तो जैसे-तैसे पोंछ लेगी पर मेरा स्मरण आ जाने से वह ऐसी बेसुध हो उठेगी कि अपने सधे हुए स्वरों के उतार-चढ़ाव को भी वह बारबार भूल जा रही होगी ॥ 26 ॥ या यह भी हो सकता है कि मेरे विरह के दिन से ही वह देहली पर जो फूल नित्य रखती चलती है उन्हें धरती पर फैलाकर गिनती जा रही हो कि अब विरह के कितने महीने बच गए हैं । या फिर वह मेरे साथ किए हुए संभोग के आनन्द का ही मन ही मन रस लेती हुई बैठी हो, क्योंकि अपने प्यारों के बिछोह में स्त्रियाँ प्रायः ऐसी ही बातों में अपने दिन काटा करती हैं ॥ 27 ॥ देखो मित्र । तुम्हारी सखी (मेरी पत्नी) के इन कामों में लगे रहने के कारण दिन में तो उसे मेरा बिछोह कुछ नहीं खलता होगा पर मुझे डर है कि रात के लिये कुछ काम न होने से उसकी रातें बड़े कष्ट से कटती होंगी । इसलिये मेरा संदेश सुनाकर उसे सुख देने के लिये तुम आधी रात को मेरे भवन के झरोखों पर बैठकर उसे जा देखना क्योंकि उस समय वह तुम्हें धरती पर ही उनींदा-सी पड़ी मिलेगी ॥ 28 ॥ देखो! उसकी प्यारी सखियाँ उस कोमल देहवाली को दिन में कभी अकेली नहीं छोड़ेंगी, क्योंकि संसार में सभी स्त्रियाँ अपनी सखियों के दुःख में कभी उनका साथ

अन्वेष्टव्यामवनिशयने सन्निकीर्णैकपश्वा
 तत्पर्यङ्कप्रगलितनवैशिष्ट्यहरैरिवाद्यैः ।
 भूयो भूयः कठिनविषमां सादयन्तीं कपोला-
 दामोक्तव्यामयमितनखेनैकवेणी करेण ॥ 30 ॥
 आधिक्षानां विरहशयने संनिषण्णैकपाश्वा
 प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः ।
 नीता रात्रिः क्षण इय मया सार्धमिच्छारतैर्या
 तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम् ॥ 31 ॥
 पादानिन्दोरमृतशिशिराञ्जालमार्गप्रविष्टा
 न्पूर्वप्रीत्या गतमभिमुखं संनिवृत्तं तथैव ।
 चक्षुः खेदात्सलिलगुरुभिः पक्षमभिश्छादयन्तीं
 साध्रेऽस्तीव स्थलकमलिनीं न प्रबुद्धां न सुप्ताम् ॥ 32 ॥
 निःश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्तीं
 शुद्धस्नानात्पुरुषमलकं नूनमागण्डलम्बम् ।
 मत्संभोगः कथमुपनयेत्स्वप्नजोऽपीति निद्रा-
 माकाङ्क्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम् ॥ 33 ॥

नहीं छोड़तीं। इसलिये तुम उसके पलंग के पास वाली खिड़की पर बैठकर थोड़ी देर परखते रहना और जब वे सखियाँ पड़कर सो रहें तब तुम रात चढ़ने पर मेरी जागती हुई प्यारी के पास जा पहुँचना ॥ 29 ॥ वहाँ तुम मेरी प्यारी को ढूँढ़ ही लोगे जो वहीं कहीं धरती पर एक करवट लिए पड़ी होगी, उसके आस-पास मोतियों के हार के टूटे हुए टुकड़ों के समान आँसू बिखरे पड़े होंगे और वह अपने बड़े हुए नखों वाले हाथ से अपनी इकहरी चोटी के उन रूखे और उलझे हुए बालों को अपने गालों पर से बार-बार हटाए डाल रही होगी जो अब बीतने पर ही सुलझाए जा सकेंगे ॥ 30 ॥ देखो! जो मेरी प्यारी, मेरे साथ जी भरकर संभोग करके पूरी रात क्षण भर के समान बिता देती थी वही आज बिछोह की चिन्ता से सूखी हुई और सूने पलंग पर एक करवट लेटी हुई पूरब के क्षितिज पर पहुँचे हुए एक कला भर बचे हुए चन्द्रमा के समान दुबली होकर अपनी रातें गर्म आँसू बहा-बहाकर बिता रही होगी ॥ 31 ॥ खिड़की की जालियों में से छनकर चन्द्रमा की जो किरणें वहाँ आ रही होंगी उन्हें वह समझती होगी कि पहले सुख के दिनों में वे जैसी अमृत के समान ठण्डी थीं वैसी ही अब भी होंगी और यही समझकर जब वह उन किरणों की ओर मुँह करके और फिर विरह के कारण जब वे किरणें उसे जलाने लगेंगी तब वह अपनी आँसू-भरी आँखें झट पलकों से ढक लेगी। उस समय मेरी प्यारी ऐसी दिखाई देगी जैसे बदली के दिन धरती पर खिलने वाली कोई अधखिली कमलिनी पड़ी हो ॥ 32 ॥ मेरे विरह में वह आजकल कोरे जल से ही नहाती होगी इसलिये उसके रूखे और बिना सँवारे हुए बाल, उसके गालों पर लटककर उसके पतले ओठों को तपाने वाली साँसों से हिलते जा रहे होंगे। वह बारबार यह सोचकर अपनी आँखों में नींद बुला रही होगी कि किसी प्रकार स्वप्न में ही प्यारे से संभोग हो जाय, पर आँखों से लगातार बहते हुए आँसू, उसकी आँखें भी नहीं लगने देते होंगे ॥ 33 ॥ बिछुड़ने के दिन से ही उसने अपने जूड़े की माला खोलकर जो वह इकहरी चोटी बाँध ली थी जिसे छूने में भी उसे पीड़ा होती है और जिसे शाप बीतने पर मैं ही सुख से खोलकर बाँधूँगा, उसी उलझी और बिखरी हुई रूखी चोटी को वह अपने बड़े हुए नखों वाले हाथों से

आधे बद्धा विरहदिवसे या शिखा दाम हित्वा
 शापस्यान्ते विगलितशुचा तां मयोद्वेष्टनीयाम् ।
 स्पर्शविलिष्टामयमितनखेनासकृत्सारयन्तीं
 गण्डाभोगात्कठिनविषमामेकवेणीं करेण ॥ 34 ॥
 सा संन्यस्ताभरणमबला पेशलं धारयन्ती
 शय्योत्सङ्गे निहितमसकृद्दुःखदुःखेन गात्रम् ।
 त्वामप्यस्रं नवजलमयं मोचयिष्यत्यवश्यं
 प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिराद्रान्तरात्मा ॥ 35 ॥
 जाने सख्यास्तव मयि मनः संभृतस्नेहमस्मा-
 दित्यंभूतां प्रथमविरहे तामहं तर्कयामि ।
 वाचालं मां न खलु सुभगम्मन्यभावः करोति
 प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद्भ्रातरुक्तं मया यत् ॥ 36 ॥
 रुद्धापाङ्गप्रसरमलकैरञ्जनस्नेहशून्यं
 प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम् ।
 त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शङ्के मृगाक्ष्या
 मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति ॥ 37 ॥
 वामश्चास्याः कररुहपदैर्मुच्यमानो मदीयै-
 र्मुक्ताजालं चिरपरिचितं त्याजितो दैवगत्या ।
 संभोगान्ते मम समुचितो हस्तसंवाहनानां
 यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम् ॥ 38 ॥

अपने भरे हुए गालों पर से बार-बार हटाए डाल रही होगी ॥ 34 ॥ जब तुम देखोगे कि वह बेचारी बार-बार दुःख से पछाड़ खा-खाकर पलँग के पास पड़ी हुई, किसी-किसी प्रकार अपने बिना आभूषणों वाले कोमल शरीर को सँभाले हुए है तब तुम भी उसकी दशा पर अपने नये जल के आँसू बहाए बिना न रह सकोगे क्योंकि दूसरों का दुःख देखकर कौन ऐसा कोमल हृदय वाला है जो पसीज न उठे ॥ 35 ॥ मैं जानता हूँ कि तुम्हारी सखी (मेरी पत्नी) मुझे जी भरकर प्यार करती है इसलिये मैं सोचता हूँ कि वह इस पहले पहल के बिछोह से बहुत दुबली हो गई होगी। यह न समझो कि ऐसी पतिव्रता स्त्री का पति होने के सौभाग्य से मैं इतना बढ़-बढ़कर बोल रहा हूँ, वरन् भैया ! मैंने जो कुछ कहा है वह सब स्वयं तुम्हारी ही आँखों के सामने आ जायगा ॥ 36 ॥ जब तुम उसके पास पहुँचोगे तब उस मृगनयनी की वह बाई आँख फड़क उठेगी जिसपर बाल फैले हुए होंगे, जो आँजन न लगने से रूखी होगी और जो बहुत दिनों से मदिरा न पीने के कारण भौंहे चलाना भी भूल गई होगी। उस समय फड़कती हुई वह बाँई आँख उस नीले कमल-जैसी सुन्दर दिखाई देगी जो मछलियों के इधर-उधर आने-जाने से काँप उठा करता है ॥ 37 ॥ तुम्हारे पहुँचते ही, नये केले के खंभे के समान, उसकी वह गोरी-गोरी बाँई जाँघ भी फड़क उठेगी जिसे मैं संभोग कर चुकने पर अपने हाथ से पलोटा करता था। उस जाँघ पर न तो तुम्हें मेरे हाथ के नखचिन्ह ही बने मिलेंगे और न दुर्भाग्यवश उस पर वह मोतियों की करधनी ही पड़ी मिलेगी जिसे वह बहुत दिनों से पहनती चली आ रही थी ॥ 38 ॥ देखो मेघ! तुम्हारे पहुँचने पर यदि उसे कुछ नींद आने लगे तो तुम उसके पीछे चुपचाप एक पहर ठहरे रहना जिससे यदि मेरी प्यारी कहीं स्वप्न में कसकर लिपटी हुई

तस्मिन्काले जलद यदि सा लब्धनिद्रासुखा स्या-
 दन्वास्यैनां स्तनितविमुखो याममात्रं सहस्व ।
 माम्भूदस्याः प्रणयिनि मयि स्वप्नलब्धे कथंचि-
 त्सद्यःकण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि गाढोपगूढम् ॥ 39 ॥
 तामुत्थाप्य स्वजलकणिकाशीतलेनानिलेन
 प्रत्याश्वस्तां सममभिनवैर्जालकैर्मालतीनाम् ।
 विद्युद्गर्भः स्तिमितनयनां त्वत्सनाथे गवाक्षे
 वक्तुं धीरः स्तनितवचनैर्मनिर्नीं प्रक्रमेथाः ॥ 40 ॥
 भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे विद्धि मामम्बुवाहं
 तत्संदेशैर्हृदयनिहितैरागतं त्वत्समीपम् ।
 यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां
 मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ॥ 41 ॥
 इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा
 त्वामुत्कण्ठाच्छ्वसितहृदया वीक्ष्य संभाव्य चैवम् ।
 श्रोष्यत्यस्मात्परमवहिता सौम्य सीमन्तिनीनां
 कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः संगमात्किंचिदूनः ॥ 42 ॥
 तामायुष्मन्मम च वचनादात्मनश्चोपकर्तुं
 ब्रूयादेवं तव सहचरो रामगिर्याश्रमस्थः ।
 अव्यापन्नः कुशलमबले पृच्छति त्वां वियुक्तः
 पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव ॥ 43 ॥

हो तो मेरे कंठ में पड़ी हुई उसकी भुजाएँ अचानक नींद टूटने से छूट न पड़ें ॥ 39 ॥ एक पहर ठहरने पर भी आँखें न खोले तो तुम अपने जल की फुहारों से ठण्डा किया हुआ वायु चलाकर मालती के नये फूलों के समान कोमल मेरी उस प्यारी को जगा उठाना । आँखें खोलने पर जब वह झरोखे से तुम्हारी ओर एकटक होकर देखे तो तुम अपनी बिजली को छिपाकर अपने धीने गर्जन के शब्दों में उस मानिनी से बात छेड़ देना ॥ 40 ॥ उससे कहना- 'देखो सौभाग्यवती! मैं तुम्हें बता देना चाहता हूँ कि मैं तुम्हारे पति का प्रिय मित्र मेघ, तुम्हारे पास उनका संदेश लेकर आया हुआ हूँ। मैं अपने धीमे और मीठे गर्जन से उन थके हुए बटोहियों के मन में भी घर लौटने की हड़बड़ी मचा देता हूँ जो अपनी स्त्रियों की उलझी हुई इकहरी चोटियाँ सुलझाने के लिये उतावले हुए रहते हैं' ॥ 41 ॥ यह सुनकर मेरी प्यारी तुम्हारी ओर मुँह करके बड़े चाव से, बड़े लिखे हुए जी से और बड़े आदर से कान लगाकर तुम्हारा सब संदेश उसी प्रकार सुनेगी जिस प्रकार सीता ने हनुमान की बातें सुनी थीं क्योंकि भैया! मित्र के मुँह से पति का संदेश पाकर स्त्रियों को अपने प्रिय के मिलन के सुख से कुछ कम सुख थोड़े ही मिलता है ॥ 42 ॥ देखो आयुष्मन्! तुम मेरे कहने से दूसरे की भलाई करने का पुण्य लेने के लिये उससे जाकर कहना- 'देखो अबले! तुम्हारा बिछुड़ा हुआ साथी इस समय रामगिरि के आश्रम में बहुत कुशल से है और तुम्हारी कुशल जानना चाहता है क्योंकि देखो! जिन लोगों पर अचानक विपत्ति आ पड़ी हो, उनसे पहले-पहल यही पूछना ठीक होता है' ॥ 43 ॥ उससे कहना- 'दूर बैठे हुए तुम्हारे प्यारे साथी का मार्ग तो बैरी ब्रह्मा

अङ्गेनाङ्गं प्रतनु तनुना गाढतप्तेन तप्तं
 सास्त्रेणाश्रुद्रुतमविरतोत्कण्ठमुष्कण्ठितेन ।
 उष्णोष्वासं समधिकतरोच्च्वासिना दूरवर्ती
 संकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः ॥ 44 ॥
 शब्दाख्येयं यदपि किल ते यः सखीनां पुरस्ता-
 त्कर्णे लोलः कथयितुमभूदाननस्पर्शलोभात् ।
 सोऽतिक्रांतः श्रवणविषयं लोचनाभ्यामदृष्ट-
 स्त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं मन्मुखेनेदमाह ॥ 45 ॥
 श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
 वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ।
 उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु ध्रुविलासान्
 हतैकस्मिन्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति ॥ 46 ॥
 त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
 मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
 अत्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
 ऋरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥ 47 ॥
 (धारासिक्तस्थलसुरभिणस्त्वन्मुखस्यास्य बाले
 दूरीभूतं प्रतनुमपि मां पञ्चबाणः क्षिणोति ।
 धर्मान्तेऽस्मिन्विगणय कथं वासराणि ब्रजेयु-
 दिक्संसक्तप्रविततधनव्यस्तसूर्यातपानि) ॥ 48 ॥

रोके बैठा है, इसलिये वह तुमसे मिल भले ही न सके, फिर भी वह अपने दुबलेपन, तपन, लगातार बहते हुए आँसू मिलने का चाव और अपनी गर्म उसाँसों को देख-देखकर ही मन में समझ लेता है कि तुम भी वैसे ही बिछोह में दुबली हुई जा रही होगी, विरह से तप रही होगी, आँखों से झर-झर आँसू बहा रही होगी, मिलने को उतावली होगी और दिन-रात लम्बी-लम्बी गर्म उसाँसे भर रही होगी ॥ 44 ॥ देखो अबले! तुम्हारे प्यारे को जब तुमसे कोई ऐसी भी बात कहनी होती थी तो तुम्हारी सखियों के आगे ऊँचे स्वर से भी कही जा सकती थी तब भी वह तुम्हारा मुँह छूने के लोभ से वह बात भी तुम्हारे कान में ही कहने को तुला रहता था। अब तुम अपने उस प्यारे की न तो बातचीत ही सुन सकती हो और न उसे आँख-भर देख ही सकती हो, इसलिये उसने बड़े चाव से मेरे मुँह से यह कहला भेजा है ॥ 45 ॥ कि- 'प्यारी! मैं यहाँ बैठा, प्रियंगु की लता में तुम्हारा शरीर, डरी हुई हरिणी की आँखों में तुम्हारी चितवन, चन्द्रमा में तुम्हारा मुख, मोरों के पंखों में तुम्हारे बाल और नदी की छोटी-छोटी लहरियों में तुम्हारी कटीली भौंहें बैठा देखा करता हूँ। तो भी चण्डी! मुझे दुःख है कि इनमें से कोई एक भी पूरे ढंग से तुम्हारी बराबरी नहीं कर पाता ॥ 46 ॥ जब मैं पत्थर की पटिया पर गेरू से तुम्हारी स्टी हुई मूर्ति के चित्र में यह बनाने चलता हूँ कि तुम्हें मनाने के लिये मैं तुम्हारे पैरों पड़ा हूँ तब आँसू ऐसे उमड़े पड़ते हैं कि उसे भर आँख देखने भी नहीं देते। निर्दयी काल को चित्र में भी हमारा तुम्हारा मिलना नहीं सुहाता ॥ 47 ॥ (देखो बाले! एक तो मैं यों ही तुम्हारे उस मुख से दूर रहने के कारण सूखा जा रहा हूँ जिसमें से ऐसी सोंधी गंध आती है जैसे पानी पड़ने पर धरती में से आती है, उस पर यह पाँच बाणों वाला कामदेव मुझे और

मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो-

लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसंदेशिनेषु ।

पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां

मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ॥ 49 ॥

भित्वा सद्यः किसलयपुटान्देवदारुद्विमाणां

ये तत्क्षीरमृत्तिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः ।

आलिङ्ग्यन्ते गुणवति मया ते तुषाराद्रिवाताः

पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति ॥ 50 ॥

संक्षिप्येत क्षण इव कथं दीर्घयामा त्रियामा

सर्वावस्थास्वहरपि कथं मन्दमन्दातपं स्यात् ।

इत्थं चेतश्चटुलनयने दुर्लभप्रार्थनं मे

गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्वियोगव्यथाभिः ॥ 51 ॥

नन्वात्मानं बहु विगणयन्नात्मनैवावलम्बे

तत्कल्याणि! त्वमपि नितरां मा गमः कातरत्वम् ।

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा

नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥ 52 ॥

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ

शेषान्मासान्नामय चतुरो लोचने मीलयित्वा ।

पश्चादावां विरहगणितं तं तमात्माभिलाषं

निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ॥ 53 ॥

भी सताए डाल रहा है। अब तुम्हीं सोच लो कि गर्मी के वीतने पर जब चारों ओर उमड़ी हुई घने बादलों की घटा सूर्य पर आ छाएगी तब बताओ मैं किसके सहारे अपने दिन काट पाऊँगा ॥ 48 ॥) जब कभी मैं स्वप्न में तुम्हें देखकर कसकर छाती से लगाने के लिये अपने हाथ ऊपर फैलाता हूँ, तब वन के देवता भी मेरी दशा पर तरस खाकर अपने मोती के समान बड़े-बड़े आँसू वृक्षों के कोमल पत्तों पर बहुधा आ दुलकाते हैं ॥ 49 ॥ देखो गुणवती! देवदार के कोमल पत्तों को अपने झोंकों से तत्काल तोड़कर और उसके रस की गंध लेकर हिमालय के जो पवन दक्षिण की ओर चले आ रहे हैं उन्हें मैं यही समझकर अपने हृदय से लगाए ले रहा हूँ कि ये उधर से तुम्हारा शरीर छूकर आ रहे होंगे ॥ 50 ॥ देखो चंचल नैनों वाली! मैं मन से यही मनाया करता हूँ कि किसी प्रकार रात के लंबे-लंबे तीन पहर क्षण भर के समान छोटे हो जायँ और दिन की तपन भी किसी प्रकार सदा के लिये जाती रहे। पर मेरी यह दुर्लभ प्रार्थना सदा बेकार ही हो जाती है। उस पर इस तिल-तिल जलाने वाली बिछोह की जलन से तो मेरा जी और भी बैठा जा रहा है ॥ 51 ॥ पर कल्याणी! बहुत कुछ सोच विचारकर मैं अपने मन को अपने से ही ढाढ़स बँधा देता हूँ, इसलिये तुम भी अपने जी में बहुत दुखी मत होना। देखो! दुःख या सुख किसी पर सदा नहीं रहा करते। ये तो पहिए की हाल के समान कभी नीचे कभी ऊपर यों ही आया-जाया करते हैं ॥ 52 ॥ देखो! अगली देवउठनी एकादशी को जब शेषनाग की शय्या से विष्णु उठेंगे उसी दिन

भूयश्चाहं त्वमपि शयने कण्ठलग्ना पुरा मे
 निद्रां गत्वा किमपि रुदती सस्वनं विप्रबुद्धा ।
 सान्तर्हासिं कथितमसकृत्पृच्छतश्च त्वया मे
 दृष्टः स्वप्ने कितव रमयन्कामपि त्वं मयेति ॥ 54 ॥
 एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद्विदित्वा
 मा कौलीनाच्चकितनयने मध्यविश्वासिनी भूः ।
 स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
 दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ॥ 55 ॥
 आश्वास्यैवं प्रथमविरहोदग्रशोकां सखीं ते
 शैलादाशु त्रिनयनवृषोत्खातकूटान्निवृत्तः ।
 साभिज्ञानप्रहितकुशलैस्तद्वचोभिर्ममापि
 प्रातः कुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथाः ॥ 56 ॥
 कच्चित्सौम्य व्यवसितमिदं बन्धुकृत्यं त्वया मे
 प्रत्यादेशात्र खलु भवतो धीरतां कल्पयामि ।
 निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः
 प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीत्सितार्थक्रियैव ॥ 57 ॥

मेरा शाप भी बीत जायगा। इसलिये इन बचे हुए चार महीनों को भी तुम किसी-किसी प्रकार आँख मूँदकर काट डालो। फिर तो हम दोनों, बिछोह के दिनों में सोची हुई अपने मन की सब साधें शरद् की सुहावनी चौदनी रात में पूरी कर ही डालेंगे ॥ 53 ॥ देखो अबले! तुम्हारे प्यारे ने यह भी कहलाया है कि एक बार जब तुम मेरे गले से लगी हुई मेरे पलँग पर सो रही थी, उस समय तुम अचानक चिल्लाकर रोती हुई जाग पड़ी थीं और जब मैंने बार-बार तुमसे रोने का कारण पूछा तब तुमने मीठी मुस्कान के साथ उत्तर दिया था कि छली! मैंने स्वप्न में देखा कि तुम किसी दूसरी स्त्री के साथ रमणकर रहे हो, इसीलिये मैं रो पड़ी थी ॥ 54 ॥ अजी काली काली कजरारी आँखों वाली! बस इसी पहचान से तुम समझ लेना कि मैं कुशल से हूँ। लोगों के बहकाने से तुम मेरे प्रेम में संदेह न कर बैठना। न जाने लोग यह क्यों कहा करते हैं कि विरह में प्रेम कम हो जाता है। सच्ची बात तो यह है कि जब चाही हुई वस्तुएँ नहीं मिल पातीं तब उन्हें पाने के लिये और भी अधिक प्यास बढ़ जाती है और ढेरों प्रेम आ इकट्ठा होता है ॥ 55 ॥ देखो मेघ! पहली बार के बिछोह से दुखी अपनी भाभी को इस प्रकार ढाढ़स बँधाकर उससे कुशल समाचार पाकर और पहचान लेकर तुम मेरे पास जल्दी ही उस कैलास पर्वत से लौट आना जिसकी चोटियाँ महादेव के साँड़ ने उखाड़ दी हैं और फिर यहाँ प्रातःकाल खिले हुए कुन्द के फूल के समान चू पड़ने वाले मेरे प्राणों की आ रक्षा करना ॥ 56 ॥ क्यों भैया! तुमने मेरा यह प्यारा काम करने की ठान ली है या नहीं! इस पूछने से यह न समझ बैठना कि मैं तुमसे हुँकारी भरवाने पर ही तुम्हें इस काम के योग्य समझूँगा। तुम्हें मैं जानता हूँ कि जब पपीहे तुमसे जल माँगते हैं, तब बिना उत्तर दिये ही तुम उन्हें जल दे देते हो। सज्जनों की रीति ही यह है कि जब कोई उनसे कुछ माँगे तो वे मुँह से कुछ न कहकर, काम पूरा करके ही उसका उत्तर दे डालते हैं ॥ 57 ॥ देखो मेघ! मैंने जो तुमसे काम बताया है वह तुमसे कराना बड़ी ढिठाई होगी, पर चाहे मित्रता के नाते, चाहे मुझ बिछोही पर तरस खाकर तुम

एतत्कृत्वा प्रियमनुचितप्रार्थनावर्तिनो मे
 सौहार्दाद्वा विधुर इति वा मय्यनुक्रोशबुद्ध्या ।
 इष्टान्देशाञ्जलद विचर प्रावृषा संभृतश्री-
 र्मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः॥ 58 ॥
 (तस्मादद्रर्निगदितमथो शीघ्रमेत्यालकायां
 यक्षागारं विगलितनिभं दृष्टि चिह्नैर्विदित्वा ।
 मत्संदिष्टं प्रणयमधुरं गुह्यकेन प्रयत्नात्
 तद्गोहिन्या सकलमवदत्कामरूपी पयोदः॥ 59 ॥
 इत्याख्याते सुरपतिसखः शैलकुल्यापुरीषु
 स्थित्वा स्थित्वा धनपतिपुरीं वासरैः कैश्चिदाप ।
 मत्वागारं कनकरुचिरं लक्षणैः पूर्वमुक्तैः
 तस्योत्संगे क्षितितलगतं तां च दीनां ददश॥ 60 ॥
 तं संदेशं जलधरवरो दिव्यवाचाऽऽचक्षे
 प्राणांस्तस्या जनहितरतो रक्षितुं यक्षवध्वाः ।
 प्राप्योदन्तं प्रमुदितमना सापि तस्थी स्वभर्तुः
 केषां न स्यादभिमतफला प्रार्थना ह्युत्तमेषु॥ 61 ॥
 श्रुत्वा वार्ता जलदकथितां तां धनेशोऽपि सद्यः
 शापस्यान्तं सदयहृदयः संविधायास्तकोपः ।
 संयोज्यैतौ विगलितशुचौ दंपती हृष्टचित्तौ
 भोगानिष्टानविरतसुखं भोजयामास शश्वत्)॥ 62 ॥

पहले मेरा प्यारा काम कर देना और फिर अपना बरसाती रूप लेकर जहाँ मन चाहे वहाँ घूमते-घूमते फिरना । मैं यही मानता हूँ कि प्यारी बिजली से एक क्षण के लिये भी तुम्हारा वैसा वियोग न हो, जैसा मैं भोग रहा हूँ ॥ 58 ॥ (यक्ष की ये बातें सुनकर मनचाहा रूप धारण करने वाला वह बादल, रामगिरि से चलकर अलका जा पहुँचा और बताए हुए चिह्नों को देखकर उसने यक्ष का वह भवन पहचान लिया जिसकी सारी शोभा फीकी पड़ गई थी । वहाँ उसने यक्ष की प्यारी से वह प्यार-भरा मधुर सन्देश जा सुनाया, जिसे यक्ष ने बड़े जतन से भेजा था ॥ 59 ॥ यह सुनकर बादल वहाँ से चल दिया और कभी पहाड़ियों पर, कभी नदियों के पास और कभी नगरों में ठहरता हुआ थोड़े ही दिनों में कुबेर की राजधानी अलका में जा पहुँचा । वहाँ अपने मित्र के बताए चिह्नों से उसने वियोगी यक्ष का वह सोने के समान चमकता हुआ भवन पहचान लिया जहाँ उसने देखा कि यक्ष की स्त्री बेचारी उस भवन में धरती पर लेटी पड़ी है ॥ 60 ॥ वहाँ पहुँचकर सबका भला करने वाले उस भले मेघ ने दैवी शब्दों में यक्ष की स्त्री के प्राण बचाने के लिये सारा सन्देश कह सुनाया । यक्ष की स्त्री भी, अपने प्यारे का कुशल-समाचार पाकर फूली न समाई । सच है, अच्छे लोगों से कोई काम करने को कहा जाय तो वह अवश्य पूरा होता ही है ॥ 61 ॥ जब कुबेर ने यह बात सुनी कि बादल ने यक्ष की स्त्री को ऐसा संदेश दिया है तब उनके मन में बड़ी दया उमड़ आई, उनका क्रोध उतर गया और उन्होंने अपना शाप लौटाकर उन दोनों पति-पत्नी को फिर मिला दिया । इस मिलन से उनका सारा दुःख जाता रहा और वे फिर बड़े प्रसन्न हो उठे । कुबेर

इत्थंभूतं सुरचितपदं मेघदूताभिधानं

कामक्रीडाविरहितजने दिप्रयुक्ते विनोदः ।

मेघस्यास्मिन्नतिनिपुणता बुद्धिभावः कवीनां

नत्वार्यायाश्चरणकमलं कालिदासश्चकार ॥ 62 ॥

। इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ मेघदूते

काव्ये उत्तरमेघः समाप्तः ।।



ने उन दोनों के लिये सुख लूटने का ऐसा प्रबन्ध कर दिया कि उन्हें फिर कभी दुःख मिला ही नहीं ॥ 62 ॥ कवि कालिदास ने आर्या देवी काली के चरण-कमलों में प्रणाम करके सुन्दरता से सजाए हुए शब्दों में यह ऊपर कही हुई मेघदूत नाम की कविता रची है। यह कविता वियोग के समय उन लोगों का भी मन बहलावेगी जिन्हें विलास मिला ही नहीं, साथ ही इसमें मेघ की अत्यन्त चतुराई का और कवियों की कल्पना का परिचय भी मिल जायगा ॥ 63 ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदास के रचे हुए मेघदूत काव्य में उत्तरमेघ पूर्ण हुआ ॥



ऋतुसंहारम्

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

ऋतुसंहारम्

॥ प्रथमः सर्गः ॥

ग्रीष्मवर्णनम्

प्रचण्डसूर्यः स्पृहणीयचन्द्रमाः सदावगाहक्षमवारिसञ्चयः ।
दिनान्तरम्योऽभ्युपशान्तमन्मथो निदाघकालोऽयमुपागतः प्रिये ॥ 1 ॥
निशाः शशाङ्कक्षतनीलराजयः क्वचिद्विचित्रं जलयन्त्रमन्दिरम् ।
मणिप्रकाराः सरसं च चन्दनं शुचौ प्रिये यान्ति जनस्य सेव्यताम् ॥ 2 ॥
सुवासितं हर्म्यतलं मनोहरं प्रियामुखोच्छ्वासविकम्पितं मधु ।
सुतन्त्रिगीतं मदनस्य दीपनं शुचौ निशीथेऽनुभवन्ति कामिनः ॥ 3 ॥
नितम्बबिम्बैः सदुकूलमेखलैः स्तनैः सहाराभरणैः सचन्दनैः ।
शिरोरुहैः स्नानकषायवासितैः स्त्रियो निदाघं शमयन्ति कामिनाम् ॥ 4 ॥
नितान्तलाक्षारसरागरञ्जितैर्नितम्बिनीनां चरणैः सपूपुरैः ।
पदे पदे हंसरुतानुकारिभिर्जनस्य चित्तं क्रियते समन्मथम् ॥ 5 ॥
पयो धराश्चन्दनपङ्कचर्चितास्तुषारगौरार्पितहारशेखराः ।
नितम्बदेशाश्च सहेममेखलाः प्रकुर्वते कस्य मनो न सोत्सुकम् ॥ 6 ॥

गर्मी का वर्णन

लो प्रिये! गर्मी के दिन आ गए हैं, धूप बड़ी कड़ी हो गई है और चन्द्रमा बड़ा सुहावना लगने लगा है। कोई चाहे तो आजकल दिन-रात गहरे जल में स्नान किया जा सकता है। इन दिनों साँझ बड़ी लुभावनी होती है और कामदेव तो एक-दम ठंडा पड़ गया है ॥ 1 ॥ देखो प्यारी! आजकल तो लोग यही चाहते हैं कि चारों ओर खिले हुए चन्द्रमा की चाँदनी छिटकी हुई हो, रंग-बिरंगे फव्वारों के तले हम लोग बैठे हुए हों, ढंग-ढंग के रत्न इधर-उधर बिखरे पड़े हों और सुगन्धित चन्दन चारों ओर छिड़का हुआ हो ॥ 2 ॥ और, प्रेमियों को भी इन दिनों मन बहलाने के लिये काम को उभारने वाली ऐसी-ऐसी वस्तुएँ चाहिए जैसे सुन्दर सुगन्धित जल, धुले हुए भवन का तल, प्यारी के मुँह की भाप से उफनती हुई मदिरा और सुन्दर वीणा के साथ गाए हुए गीत ॥ 3 ॥ इन दिनों सब प्रेमिकाएँ गर्मी से सताए हुए अपने प्रेमियों की तपन मिटाने के लिये उन्हें अपने उन नितम्बों पर बुला लिटाती हैं जिन पर हार और दूसरे गहने पड़े होते हैं और अपने उन जूड़ों की गन्ध ला सुँघाती हैं जो उन्होंने स्नान के समय सुगन्धित फुलेलों में बसा लिए थे ॥ 4 ॥ आजकल स्त्रियों के उन महावर से रंगे पैरों को देखकर लोगों का जी मचल उठता है जिनमें हंसों की बोली के समान रुनझुन करने वाले पायल (पाजेब, पैजनी) बचा करते हैं ॥ 5 ॥ इन दिनों स्त्रियों के हिम के समान उजले और अनूठे हारों से सजे हुए चन्दन-पुते स्तन देखकर

समुद्गतस्वेदचिताङ्गसंधयो विमुच्य वासंसि गुरुणि साम्प्रतम् ।
 स्तनेषु तन्वंशुकमुन्नतस्तना निवेशयन्ति प्रमदाः सयौवनाः ॥ 7 ॥
 सचन्दनाम्बुव्यजनोद्भवानिलैः सहारयष्टिस्तनमण्डलार्पणैः ।
 सवल्लकीकाकलिगीतनिस्वनैर्विबोध्यते सुप्त इवाद्य मन्मथः ॥ 8 ॥
 सितेषु हर्म्येषु निशासु योषितां सुखप्रसुप्तानि मुखानि चन्द्रमाः ।
 विलोक्य नूनं भृशमुत्सुकश्चिरं निशाक्षये याति ह्रियेव पाण्डुताम् ॥ 9 ॥
 असह्यवातोद्धतरेणुमण्डला प्रचण्डसूर्यातिपतापिता मही ।
 न शक्यते द्रष्टुमपि प्रवासिभिः प्रियावियोगानलदग्धमानसैः ॥ 10 ॥
 मृगाः प्रचण्डातपतापिता भृशं तृषा महत्या परिशुष्कतालवः ।
 वनान्तरे तोयमिति प्रधाविता निरीक्ष्य भिन्नाञ्जनसन्निभं नभः ॥ 11 ॥
 सविभ्रमैः सस्मितजिह्ववीक्षितैर्विलासवत्यो मनसि प्रवासिनाम् ।
 अनङ्गसंदीपनमाशु कुर्वते यथा प्रदोषाः शशिचारुभूषणाः ॥ 12 ॥
 रवेर्मयूखैर भितापितो भृशं विदह्यमानः पथि तप्तपांसुभिः ।
 अवाङ् मुखो जिह्वगतिः श्वसन्मुहुः फणी मयूरस्य तले निषीदति ॥ 13 ॥
 तृषा महत्या हतविक्रमोद्यमः श्वसन्मुहुर्दूर विदारिताननः ।
 न हन्त्यदूरेऽपि गजान्मृगेश्वरो विलोलजिह्वश्चलिताप्रकेसरः ॥ 14 ॥

और सुनहरी करधनी से बँधे हुए नितम्ब देखकर भला किसका मन नहीं ललच उठेगा ॥ 6 ॥ ऊँचे-ऊँचे स्तनों वाली जिन युवतियों के अंगों के जोड़-जोड़ से गर्मी के मारे पसीना छूटा करता है वे सब इस गर्मी में अपने मोटे-मोटे वस्त्र उतारकर महीन कपड़े पहनने लगी हैं ॥ 7 ॥ आजकल लोग कामदेव को उसी प्रकार जगाया करते हैं जैसे कोई स्त्री, अपने सोए हुए प्रेमी को चन्दन में बसे हुए ठंडे जल से भींगे हुए पंखों की ठंडी बयार झलकर या मोतियों के हारों की लटकती हुई झालरों से सजे हुए अपने गोल-गोल स्तन प्रेमी की छाती पर रखकर या वीणा के साथ अपने मीठे गले से गीत गा-गाकर जगाया करती है ॥ 8 ॥ रात के समय उजले भवन में सुख से सोई हुई युवती का मुख निहारने को उतावला रहने वाला चन्द्रमा जब बहुत देर तक उनका मुँह देख चुकता है तब लाज के मारे वह रात के पिछले पहर में उदास हो जाता है ॥ 9 ॥ परदेस में गए हुए जिन प्रेमियों का हृदय अपनी प्रेमिकाओं के बिछोह की तपन से झुलस गया है, वे आँधी के झोंकों से उठी हुई धूल के बवंडरों वाली और कड़ी धूप की लपटों से तपी हुई धरती की ओर जब देखते हैं तब उनसे देखा नहीं जाता ॥ 10 ॥ जलते हुए सूर्य की किरणों से झुलसे हुए जिन जंगली पशुओं की जीभ प्यास से बहुत सूख गई है वे धोखे में उन जंगलों की ओर दौड़े चले जा रहे हैं जहाँ के आँजन के समान नीले आकाश को ही वे पानी समझ बैठते हैं ॥ 11 ॥ चमकते हुए चन्द्रमा वाली साँझ के समान जो सुन्दरियाँ चन्द्रमा जैसे उजले चन्द्रहार आदि आभूषणों से सजी हुई बड़ी प्यारी लग रही हैं वे बड़ी चटक-मटक और मुसकराहट के साथ अपनी चितवन चलाकर परदेसियों के मन में झट से कामदेव जगा देती हैं ॥ 12 ॥ देखो! धूप से एकदम तपा हुआ और पैंडे की गर्म धूल से झुलसा हुआ यह सर्प अपना मुँह नीचे छिपाकर बार-बार फुफकारता हुआ आकर मोर की छाया में कुंडल मारे आया बैठा है पर गर्मी के मारे मोर भी उसे कुछ नहीं कह रहा है ॥ 13 ॥ देखो! हाथियों के पास होने पर भी यह सिंह उन्हें मार नहीं रहा है क्योंकि गर्मी इतनी पड़ रही है कि बहुत प्यास के

विशुष्ककण्ठोद्गतसीकराम्भसो गभस्तिभिर्भानुमतोऽनुतापिताः ।
 प्रवृद्धतृष्णोपहता जलार्थिनो न दन्तिनः केसरिणोऽपि बिभ्यति ॥ 15 ॥
 हुताग्निक्लृपैः सबितुर्गभतिस्तभिः कलापिनः क्लान्तशरीरचेतसः ।
 न भोगिनं ध्नन्ति समीपवर्तिनं कलापचक्रेषु निवेशिताननम् ॥ 16 ॥
 सभद्रमुस्तं परिशुष्ककर्दमं सरः खनन्नायतपोतृमण्डलैः ।
 रवेर्मयूखैरभितापितो भृशं वराहयूथो विशतीव भूतलम् ॥ 17 ॥
 विवस्वता तीक्ष्णतरांशुमालिना सपङ्क्तोयात्सरसोऽभितापितः ।
 उत्प्लुत्य भेकस्तृषितस्य भोगिनः फणातपत्रस्य तले निषीदति ॥ 18 ॥
 समुद्धताशेषमृणालजालकं विपन्नमीनं द्रुतभीतसारसम् ।
 परस्परोत्पीडनसंहतैर्गजैः कृतं सरः सान्द्रविमर्दकर्दमम् ॥ 19 ॥
 रविप्रभोद्भिन्नशिरोमणिप्रभो विलोलजिह्वाद्वयलीढमारुतः ।
 विषाग्निसूर्यातपतापितः फणी न हन्ति मण्डूककुलं तृषाकुलः ॥ 20 ॥
 सफेनलालावृतवक्त्रसंपुटं विनिःसृतालोहितजिह्वमुन्मुखम् ।
 तृषाकुलं निःसृतमद्रिगह्वरादवेक्षमाणं महिषीकुलं जलम् ॥ 21 ॥
 पटुतरदवदाहोच्छुष्कसस्यप्ररोहाः परुषपवनवेगोत्क्षिप्तसंशुष्कपर्णाः ।
 दिनकरपरितापक्षीणतोयाः समन्ताद्विदधति भयमुच्चैर्वोक्ष्यमाणा वनान्ताः ॥ 22 ॥

मारे इसका सब साहस ठंडा पड़ गया है, अपना पूरा मुँह खोलकर यह बार-बार हाँफे जा रहा है, अपनी जीभ से अपने ओठ चाटे जा रहा है और हाँफने से इसके कंधे के बाल हिलते जा रहे हैं ॥ 14 ॥ जो हाथी, धूप और प्यास से बेचैन होकर अपने सूखे मुँह से झाग फेंकते हुए पानी की खोज में इधर-उधर घूम रहे हैं, उन्हें इस समय सिंह से भी डर नहीं लग रहा है ॥ 15 ॥ हवन की अग्नि के समान जलते हुए सूर्य की किरणों से जिन मोरों के शरीर और मन दोनों सुस्त पड़ गए हैं, वे अपने पास कुंडल मारकर बैठे हुए साँपों को भी नहीं मार रहे हैं वरन् उलटे धूप से अपना मुँह बचाने के लिये अपना गला उनकी पूँछ की कुंडल में डाले चुप-चाप बैठे हुए हैं ॥ 16 ॥ धूप से एकदम झुलसा हुआ यह जंगली सूअरों का झुंड अपने लंबे-लंबे थूथनों से नागरमोथे से भरे हुए बिना कीचड़ वाले गड्डे को खोदता हुआ ऐसा लग रहा है मानो यह धरती में ही घुसा चला जा रहा हो ॥ 17 ॥ धूप से तपे हुए मेंढक, गँदले जल वाले पोखरे से बाहर निकल निकलकर प्यासे साँपों के फन की छतरी के नीचे ही आ-आकर बैठ रहे हैं ॥ 18 ॥ यह देखो, यहाँ पर हाथियों ने इकट्ठे होकर आपस में लड़-भिड़कर इस ताल के सब कमल उखाड़ डाले, मछलियों को रौंद डाला और सब सारसों को डरा-डराकर भगा दिया है ॥ 19 ॥ जिस प्यासे साँप का मणि सूर्य की चमक से और भी चमक उठा है वह अपनी लपलपाती हुई दोनों जीभों से पवन पीए जा रहा है और धूप की तपन तथा अपने विष की झार के जलने के कारण मेंढकों को नहीं मार रहा है ॥ 20 ॥ जुगाली करने से जिन भैंसों के मुँह से झाग निकली पड़ रही है और लार बह रही है वे अपना मुँह खोल खोलकर अपनी लाल-लाल जीभें बाहर निकाले हुए प्यास के मारे ऊपर मुँह उठाए पहाड़ की गुफा से निकल निकलकर जल की ओर लपकी चली जा रही हैं ॥ 21 ॥ आजकल वन तो और भी डरावने लगने लगे हैं, क्योंकि जंगल की आग की बड़ी-बड़ी लपटों से सब वृक्षोंकी टहनियाँ झुलस गई हैं, अंधड़ में पड़कर सूखे हुए पत्ते ऊपर उड़े चले जा रहे हैं और सूर्य की तपन से चारों ओर का

वसितिविहगवर्गः शीर्णपर्णद्वयस्थः कपिकुलमुपयातियलान्तमद्रेर्निकुञ्जम् ।
 भ्रमति गवययूथः सर्वतस्तोयमिच्छश्चरभकुलमजिह्वां प्रोद्धरत्यम्बुकूपात् ॥ 23 ॥
 विकचनवकुसुभ्यस्वच्छसिन्दूरभासा प्रबलपवनवेगोद्भूतवेगेन तूर्णम् ।
 तटवितपलताग्रालिङ्गनव्याकुलेन दिशि परिदग्धा भूमयः पावकेन ॥ 24 ॥
 ज्वलति पदनवृद्धः पदतानां दरीषु स्फुटति पटुनिनादैः शुष्कवंशस्थलीषु ।
 प्रसरति तृणमध्ये लब्धवृद्धिः क्षणेन ग्लपयति मृगवर्गं प्रान्तलग्नो ददाग्निः ॥ 25 ॥
 बहुतर इव जातः शाल्मलीनां वनेषु स्फुरति कनकगौरः कोटरेषु द्रुमाणाम् ।
 परिणतदलशाखानुत्पतन्प्रांशुवृक्षान्भ्रमति पवनधूतः सर्वतोऽग्निर्वनान्ते ॥ 26 ॥
 गजगवयमृगेन्द्रा वह्निसंतप्तदेहा सुहृद इव समेता द्वन्द्वभावं विहाय ।
 हुतवहपरिखेदादाशु निर्गत्य कक्षाद्विपुलपुलिनदेशां निम्नगां संविशन्ति ॥ 27 ॥
 कमलवनचिताम्बुः पाटलामोदरम्यः सुखसलिलनिषेकः सेव्यचन्द्रांशुहारः ।
 ब्रजतु तव निदाघः कामिनीभिः समेतो निशिसुललितगीते हर्म्यपृष्ठे सुखेन ॥ 28 ॥

।। इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ ऋतुसंहारे

ग्रीष्मवर्णनं नाम प्रथमः सर्गः ।।



जल सूख गया है ॥ 22 ॥ जिन वृक्षों के पत्ते झड़ गए हैं उन पर बैठी हुई सभी चिड़ियाँ हाँफ रही हैं, उदास बंदरों के झुंड पहाड़ की गुफाओं में घुसे चले जा रहे हैं, नील गायों के रेवड़ चारों ओर पानी की खोज में घूम रहे हैं और आठ पैरों वाले शरभों का झुंड एक कुएँ से गटागट पानी पीए जा रहा है ॥ 23 ॥ पूरे खिले हुए नये कुसुम्भी के फूल के समान और स्वच्छ सिन्दूर के समान लाल-लाल चमकने वाली, आँधी से और भी धधक उठने वाली और तीर पर खड़े हुए वृक्षों और लताओं की फुनगियों को चूमती चलने वाली जंगल की आग से जहाँ-तहाँ धरती जल गई है ॥ 24 ॥ वन के बाड़े से उठती हुई और वायु से और भी भड़की हुई अग्नि की लपट, पहाड़ की घाटियों में फैलती हुई सभी पशुओं को जलाए डाल रही है, सूखे बाँसों में चटचटा रही है और क्षण भर में आगे बढ़कर घास की ढेर पकड़े ले रही है ॥ 25 ॥ पवन से भड़काई हुई और सेमर के वृक्षों की कुंजों में फैली हुई आग, वृक्षों के खोखलों में अपना सुनहला पीला प्रकाश चमकाती और उन ऊँचे वृक्षों पर उछलती हुई वन में चारों ओर घूम रही है जिनकी डालियों के पत्ते बहुत गर्मी पड़ने से पक-पककर झड़ते चले जा रहे हैं ॥ 26 ॥ आग से घबराए और झुलसे हुए हाथी, नील गाय और सिंह, आज मित्र बनकर साथ-साथ इकट्ठे होकर घास के जंगल से निकल-निकलकर झपटे हुए नदी के चौड़े और बलुए तीर पर आ आकर विश्राम कर रहे हैं ॥ 27 ॥ जिस गर्मी की ऋतु में कमलों से भरे हुए और खिले हुए गुलाब की गंध में बसे हुए जल में स्नान करना बहुत सुहाता है और जिन दिनों चन्द्रमा की चाँदनी और मोती के हार बहुत सुख देते हैं, वह ऋतु आपकी ऐसी बीते कि रात को आप अपने घर की छत पर लेटे हों, सुन्दरियाँ आपको घेरे बैठी हों और मनोहर संगीत छिड़ा हुआ हो ॥ 28 ॥

।। महाकवि श्रीकालिदास के रचे हुए ऋतुसंहार नामके महाकाव्य में गर्मी का वर्णन नामका पहला सर्ग पूर्ण हुआ ॥



॥ द्वितीयः सर्गः ॥

प्रावृड्वर्णनम्

ससीकराम्भो धरमतकुञ्जरस्तडित्पताकोऽशनिशब्दमर्दलः ।
 समागतो राजवदुद्धतद्युतिर्धनागम कामिजनप्रियः प्रिये ॥ 1 ॥
 नितान्तनीलोत्पलपत्रकान्तिभिः क्वचित्प्रभिन्नाञ्जनराशिसन्निभैः ।
 क्वचित्सगर्मप्रमदास्तनप्रभैः समाचितं व्योम घनैः समन्ततः ॥ 2 ॥
 तृणाकुलैश्चातकपक्षिणां फुलैः प्रयाचितास्तोयभरायलम्बिनः ।
 प्रयान्ति मन्दं बहुधारवर्षिणो बलाहकाः श्रोत्रमनोहरस्वनाः ॥ 3 ॥
 बलाहफाश्याशनिशब्दमर्वलाः सुरेन्द्रचापं दधतस्तडिद्गुणम् ।
 सुतीक्ष्णयारापतनोप्रसायकैस्तुदन्ति चेतः प्रसभं प्रवासिनाम् ॥ 4 ॥
 प्रभिन्नवैदूर्यनिभैस्तृणाङ्कुरैः समाचिता प्रोत्थितकन्दलीदलैः ।
 दिभाति शुभलेतररत्नभूषिता वराङ्गनेव क्षितिरिन्द्रगोपकैः ॥ 5 ॥
 सदा मनोज्ञं स्वनदुत्सवोत्सुकं विकीर्णविस्तीर्णक्लापिशोभितम् ।
 सतंभमालिङ्गनधुम्बनाकुलं प्रवृत्तृत्यं कुलमद्य बर्हिणाम् ॥ 6 ॥
 निपातयन्त्यः परितस्तटद्मान्प्रवृद्धवेगैः सलिलैरनिर्मलैः ।
 स्त्रियः सुदुष्टा इव जातिविभ्रमाः प्रयान्तिनद्यस्त्वरितं पयोनिधिम् ॥ 7 ॥

दूसरा सर्ग

वर्षा का वर्णन

देखो प्यारी! जल फुहारों से भरे हुए बादलों के मतवाले हाथी पर चढ़ा हुआ, चमकती हुई बिजलियों की झड़ियों को फहराता हुआ और बादलों की गरज के नगाड़े बजाता हुआ यह कामियों का प्यारा पावस राजाओं-सा ठाट-बाट बनाए यहाँ पहुँचा है ॥ 1 ॥ कहीं तो अत्यन्त नीले कमल की पँखड़ी-जैसे नीले, कहीं गर्भिणी के स्तनों के समान पीले और कहीं घुटे हुए आँजन की पिंडी के समान काले-काले बादल आकाश में इधर-उधर आ जाए हैं ॥ 2 ॥ देखो! जिन बादलों से पपीहे पिउ-पिउ करके पानी माँग रहे हैं ऐसे, पानी के भार से नीचे झुके हुए, धुआँधार पानी बरसाने वाले और कानों को भली लगने वाली गड़गड़ाहट करते हुए, बादल धीरे-धीरे घिरे चले जा रहे हैं ॥ 3 ॥ मृदंग के समान गड़गड़ाते हुए और बिजली की डोरी वाला इन्द्रधनुष चढ़ाए हुए ये बादल अपनी तीखी धारों के पाने बाण बरसा-बरसाकर परदेस में पहुँचे हुए लोगों का मन कसमसाए डाल रहे हैं ॥ 4 ॥ छितराए हुए वैदूर्यमणि (नीलम) के समान दिखाई देने वाली, घास के कोमल अँकुवों से भरी हुई ऊपर निकले हुए कन्दली के पत्तों से लदी हुई और वीरबहूटियों से छाई यह धरती उस नायिका-जैसी दिखाई दे रही है जो उजले रत्न को छोड़कर अन्य सभी रंगों के रत्नों वाले आभूषणों से सजी हुई हो ॥ 5 ॥ देखो! सदा मीठी बोली बोलने वाले, गरजते हुए बादलों की शोभा पर रीझकर मगन हो उठने वाले और अपने पंख खोलकर फैलाने से सुहावने लगने वाले ये मोरों के झुंड के झुंड, झटपट अपनी प्यारी मोरनियों को गले लगाते और चूमते हुए आज नाच उठे हैं ॥ 6 ॥ जैसे कुलटा स्त्रियाँ प्रेम में अन्धी होकर बिना सोचे-विचारे अपने को खो बैठती हैं, वैसे ही ये नदियाँ भी अपने मतमैले पानी की बाढ़ से जहाँ-तहाँ अपने किनारे के वृक्षों को ढहाती हुई वेग

तृणोत्करैरुद्गतकोमलाङ्कुरैश्चितानि नीलैर्हरिणीमुखक्षतैः ।
 वनानि वैन्ध्यानि हरन्ति मानसं विभूषितान्युद्गतपल्लवैर्दुर्गैः ॥ 8 ॥
 विलोलनेत्रोत्पलशोभिताननैर्मृगैः समन्तादुपजातसाध्वसैः ।
 समाचिता सैकतिनी वनस्थली समुत्सुकत्वं प्रकरोति चेतसः ॥ 9 ॥
 अभीक्ष्णमुज्ज्वैर्ध्वनता पयोमुचा धनान्धकारीकृतशर्वरीष्वपि ।
 तडित्प्रभादधितमार्गभूमयः प्रयान्ति रागादभिसारिकाः स्त्रियः ॥ 10 ॥
 पयोधरैर्भीमगभीर निस्वनैस्तडिद्भिरुद्वेजितचेतसो भृशम् ।
 कृतापराधानपि योषितः प्रियान्परिष्वजन्ते शयने निरन्तरम् ॥ 11 ॥
 विलोचनेन्दीवरवारिविन्दुभिनिषिक्तविम्बाधरचारुपल्लवाः ।
 निरस्तमाल्याभरणानुलेपनाः स्थिता निराशाः प्रवासिनाम् ॥ 12 ॥
 विपाण्डुरं कीटरजस्तृणान्वितं भुजंगवद्वक्रगतिप्रसर्पितम् ।
 ससाध्वसैर्भेककुलैर्निरीक्षितं प्रयाति निम्नाभिमुखं नवोदकम् ॥ 13 ॥
 विपन्नपुष्पां नलिनीं समुत्सुका विहाय भृङ्गाः श्रुतिहारिनिस्वनाः ।
 पतन्ति मूढाः शिखिनां प्रनृत्यतां कलापचक्रेषु नवोत्पलाशया ॥ 14 ॥
 वनद्विपानां नववारिदस्वनैर्मदान्वितानां ध्वनतां मुहुर्मुहुः ।
 कपोलदेशा विमलोत्पलप्रभाः सभृङ्गयूथैर्मदवारिभिश्चितः ॥ 15 ॥
 सितोत्पलाम्बुदचुम्बितोपलाः समाचिताः प्रस्त्रवणैः समन्ततः ।
 प्रवत्तनृत्यैः शिखिभिः समाकुलाः समुत्सुकत्वं जनयन्ति भूधराः ॥ 16 ॥

से समुद्र की ओर दौड़ी जा रही हैं ॥ 7 ॥ हरिणियों के मुँह से चबाई हुई हरी-हरी घासों और नई कोपलों वाले वृक्षों से छाप हुए विन्ध्याचल के जंगल भला किसका मन नहीं लुभा लेते ॥ 8 ॥ कमल के समान सुहावनी और चंचल आँखों के कारण सुन्दर मुखवाले इन डरे हुए हरिणों से भरा हुआ रेतीला जंगल बरबस हृदय को खींचे ले रहा है ॥ 9 ॥ देखो! लुक-छिपकर अपने प्यारे के पास प्रेम से जाने वाली कामिनियाँ, गरजते हुए बादलों से घिरी हुई इस घनी अँधेरी रात में भी बिजली की चमक से आगे का मार्ग देखती हुई बढ़ी चली जा रही हैं ॥ 10 ॥ बादलों की घोर कड़क और बिजली की तड़पन से चौंकी हुई स्त्रियाँ सोते समय अपने दोषी प्रेमियों से भी जा लिपटती हैं ॥ 11 ॥ परदेस में गए हुए लोगों की स्त्रियाँ अपने विवाफल-जैसे लाल और नई कोंपलों-जैसे कोमल होठों पर अपनी कमल जैसी आँखों से आँसू बरसाती हुई अपनी माला, आभूषण, तेल, फुलेल, उबटन आदि सब कुछ छोड़कर अपने गालों पर हाथ धरे बैठी हैं ॥ 12 ॥ छोटे-छोटे कीड़ों धूल और घास को बहाता हुआ जो मटमैला बरसाती पानी, साँप के समान टेढ़ा-मेढ़ा घूमता हुआ, ढाल से बहा आ रहा है उसे देख-देखकर और उसे साँप समझकर बेचारे मेंढक डरे जा रहे हैं ॥ 13 ॥ कानों को सुहाने वाली मीठी तानें लेकर गुँजते हुए भैंर, उस कमल को तो छोड़-छोड़कर चले जा रहे हैं जिसके पत्ते और फूल झड़ गए हैं और हड़बड़ी में भूल से, नाचते हुए मोरों के खुले पंखों को ही नये कमल समझकर उन्हीं पर जा टूटे पड़े हैं ॥ 14 ॥ नये-नये बादलों के गरजने से जब बनैले हाथी मस्त हो जाते हैं और उनके माथे से बहते हुए मद पर भैंर आ लिपटते हैं, तब उन हाथियों के माथे स्वच्छ नीले कमल-जैसे दिखाई देने लगते हैं ॥ 15 ॥ धौले कमल के समान उजले बादल जिन पहाड़ी चट्टानों को घूमते चल रहे हैं और जिन पर मोर नाच रहे हैं उन चट्टानों पर से बहने वाले

कदम्बसर्जार्जुनकेतकीवनं विकम्पयँस्तत्कुसुमाधिवासितः ।
 ससीकराम्भोधरसङ्गशीतलः समीरणः कं न करोति सोत्सुकम् ॥ 17 ॥
 शिरोरुहैः श्रोणितटावलम्बिभिः कृतावतंसैः कुसुमैः सुगन्धिभिः ।
 स्तनैः सहारैर्वदनैः ससीधुभिः स्त्रियो रतिं संजनयन्ति कामिनाम् ॥ 18 ॥
 वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति व्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्रयन्ति ।
 नद्यो घना मत्तगजा वनान्ताः प्रियाविहीनाः शिखिनः प्लवङ्गाः ॥ 19 ॥
 तडिल्लताशक्रधनुर्विभूषिताः पयोधरास्तोयभरावलम्बिनः ।
 स्त्रियश्च काङ्क्षीमणिकुण्डलोज्ज्वला हरन्ति चेतो युगपत्प्रवासिनाम् ॥ 20 ॥
 मालाः कदम्बनवकेसरकेतकीभिरायोजिताः शिरसि विभ्रति योषितोऽद्य ।
 कर्णान्तरेषु ककुभद्गुममञ्जरीभिरिच्छानुकूलरचितानवतंसकौंश्च ॥ 21 ॥
 कालागुरुप्रचुरचन्दनचर्चिताङ्गयः पुष्पावतंससुरभीकृतकेशपाशाः ।
 श्रुत्वा ध्वनिं जलमुचां त्वरितं प्रदोषे शय्यागृहं गुरुगृहाद्यविशन्ति नार्यः ॥ 22 ॥
 कुवलयदलनीलैरुन्नतैस्तोयनम्रैर्मृदुपवनविधूतैर्मन्दमन्दं चलद्भिः ।
 अपहृतमिव चेतस्तोयदैः सेन्द्रचापैः पथिकजनवधूनां तद्वियोगाकुलानाम् ॥ 23 ॥
 मुदित इव कदम्बैर्जातपुष्पैः समन्तात्पवनचलितशाखैः शाखिभिर्नृत्यतीव ।
 हसितमिव विधत्ते सूचिभिः केतकीनां नवसलिलनिषेकच्छिन्नतापो वनान्तः ॥ 24 ॥

सैकड़ों झरनों को देखकर प्रेमियों के मन में हलचल मच जाती है ॥ 16 ॥ कदम्ब, सर्ज, अर्जुन और केतकी से भरे हुए जंगल को कैपाता हुआ, उन वृक्षों के फूलों की सुगन्ध में बसा हुआ और चन्द्रमा की किरणों तथा बादलों से ढंका होकर बहने वाला वायु किसे मस्त नहीं कर देता ॥ 17 ॥ आजकल स्त्रियाँ, अपने भारी-भारी नितम्बों पर केश लटकाकर, अपने कानों में सुगन्धित फूलों के कनफूल पहनकर, छाती पर माला डालकर और मदिरा पीकर अपने प्रेमियों के मन में प्रेम उकसाए दे रही हैं ॥ 18 ॥ बरसात में नदियाँ बह रही हैं, बादल बरस रहे हैं, मस्त हाथी चिगड़ा रहे हैं, जंगल हरे-भरे हुए जा रहे हैं, अपने प्यारों से बिछुड़ी हुई स्त्रियाँ रो-कलप रही हैं, मोर नाच रहे हैं और बन्दर चुप मारकर गुफाओं में जा छिपे हैं ॥ 19 ॥ इन्द्रधनुष और बिजली से सजी तथा पानी के भार से झुकी हुई काली-काली घटाएँ और करधनी तथा रत्न-जड़े कुण्डलों से सजी हुई स्त्रियाँ, दोनों ही परदेस में बैठे हुए लोगों का मन एक साथ हरे ले रही हैं ॥ 20 ॥ इन दिनों नई केसर, केतकी और कदम्ब के नये फूलों की मालाएँ गूँथकर स्त्रियाँ अपने जूड़ों में बाँधे ले रही हैं और ककुभ (अर्जुन) के फूलों के मनचाहे ढंग से बनाए हुए कर्णफूल अपने कानों में पहने ले रही हैं ॥ 21 ॥ जिन स्त्रियों के अंगों पर अगर-मिला चन्दन लगा हुआ है, जिनके बाल फूलों के गुच्छों से महक रहे हैं, वे बादलों की गड़गड़ाहट सुनकर झट अपने घर के बड़े-बूढ़ों के पास से उठकर सही साँझ को ही अपने शयनघर में जा घुस रही हैं ॥ 22 ॥ कमल के पत्तों के समान साँवले, पानी के भार से झुक जाने के कारण बहुत थोड़ी जूँचाई पर ही छाप हुए और धीमे-धीमे पवन के सहारे धीरे-धीरे चलने वाले जिन बादलों में इन्द्रधनुष निकल आया है उन्होंने परदेस में गए हुए लोगों की उन स्त्रियों की सब सुध-बुध हर ली है जो अपने प्यारों के बिछोह में व्याकुल हुई बैठी हैं ॥ 23 ॥ वन में चारों ओर खिले हुए कदम्ब के फूल ऐसे लग रहे हैं मानो वर्षा के नये जल से गर्मी दूर हो जाने पर सारा जंगल ही मगन हो डठा हो । पवन से झूमती हुई शाखाओं को देखकर ऐसा लगता है मानो पूरा

शिरसि बकुलमालां मालतोभिः समेतां विकसितनवपुष्पैर्युथिकाकुङ्कुमलैश्च ।
 विकचनवकदम्बैः कर्णपूरं वधूनां रचयति जलदौघः कान्तवत्काल एषः ॥ 25 ॥
 दधति वरकुचाग्रैरुन्नतैर्हरयष्टि प्रतनुसितदुकूलान्यायतैः श्रोणिबिम्बैः ।
 नवजलकणसेकादुद्गतां रोमराजीं ललितवलिबिम्बैर्मध्यदेशं नार्यः ॥ 26 ॥
 नवजलकणसङ्गाच्छीततामादधानः कुसुमभरनतानां लासकः पादपानाम् ।
 जनितरुचिरगन्धः केतकीनां रजोभिः परिहरति नभस्वान्प्रोषितानां मनांसि ॥ 27 ॥
 जलभरनमितानामाश्रयोऽस्माकमुच्चैरयमिति जलसेकैस्तोयदास्तोयनभ्राः ।
 अतिशयपरुषाभिर्ग्रीष्मवह्नेः शिखभिः समुपजनिततापं ह्लादयन्तीव विन्ध्यम् ॥ 28 ॥
 बहुगुणरमणीयः कामिनीचित्तहारी तरुविटपलतानां बान्धवो निर्विकारः ।
 जलदसमय एष प्राणिना प्राणभूतो दिशतु तव हितानि प्रायशो वाञ्छितानि ॥ 29 ॥

॥ इति महाकविश्रीकालिदास कृतौ ऋतुसंहारे

प्रावृद्धवर्णनं नाम द्वितीयः सर्गः ॥



का पूरा जंगल ही अपने हाथ मटका-मटकाकर नाच रहा हो, और केतकी की उजली कलियों को देखकर ऐसा लगता है मानो सारा जंगल खिलखिलाकर हँस रहा हो ॥ 24 ॥ जैसे कोई प्रेमी अपनी प्यारी के लिये ढंग-ढंग के फूलों के आभूषण बनावे वैसे ही वर्षा-काल भी ऐसा लगता है मानो वह अपनी प्रेमिका के लिये जूही की नई-नई कलियों तथा मालती और मौलसिरी के फूलों की माला गूँथे डाल रहा हो और उनके कानों के लिये खिले हुए नये कदम्ब के फूलों के कर्णफूल बना रहा हो ॥ 25 ॥ इन दिनों स्त्रियाँ, अपने बड़े-बड़े गोल-गोल उठे हुए सुन्दर स्तनों पर मोती की मालाएँ पहनती हैं, अपने भारी-भारी गोल-गोल नितम्बों पर महीन उजली रेशमी साड़ी पहनती हैं और जब उनके पेट पर दिखाई पड़ने वाली सुन्दर तिहरी सिकुड़नों पर वर्षा की नई फुहार पड़ने लगती है तो वहाँ के नन्हें-नन्हें रोएँ खड़े हो जाते हैं ॥ 26 ॥ वर्षा के नये जल की फुहारों से ठंडा बना हुआ पवन, फूलों के बोझ से झुके हुए पेड़ों को नचा डाल रहा है, केतकी के फूलों का पराग लेकर चारों ओर मनभावनी सुगंध फैलाए दे रहा है और परदेश गए हुए प्रेमियों के मन चुराए ले रहा है ॥ 27 ॥ ये पानी के बोझ से झुके हुए बादल, गरमी की आग की लपटों से झुलसे हुए विन्ध्याचल की तपन को अपने ठंडे जल की फुहार से मानो यह समझकर बुझाए दे रहे हैं कि जब हम पानी के बोझ से लदकर आते हैं तब यही तो हमें सहारा दिया करता है ॥ 28 ॥ अपने बहुत से सुन्दर गुणों से सुहावनी लगने वाली, स्त्रियों का जी खिलाने वाली, पेड़ों की टहनियों और बेलों की सच्ची सखी तथा जीवों का प्राण बनी हुई यह वर्षा ऋतु आपके मन की सब साधें पूरी करे ॥ 29 ॥

॥ महाकवि कालिदास के रचे हुए ऋतुसंहार काव्य में वर्षा का वर्णन नामका दूसरा सर्ग पूर्ण हुआ॥



॥ तृतीयः सर्गः ॥

शरद्वर्णनम्

काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या ।
 आपववशालिरुचिरानतगात्रयष्टिः प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या ॥ 1 ॥
 काशैर्मही शिशिरदीधितिना रजन्यो हंसैर्जलानि सरितां कुमुदैः सरांसि ।
 सप्तच्छदैः कुसुमभारनतैर्वनान्ताः शुक्लीकृतान्युपवनानि च मालतीभिः ॥ 2 ॥
 धञ्चन्मनोज्ञशफरीरसनाकलापाः पर्यन्तसंस्थितसिताण्डजपङ्क्तिहारः ।
 नद्यो विशालपुलिनान्तनितम्बबिम्बा मन्दं प्रयान्ति समदाः प्रमदा इवाद्य ॥ 3 ॥
 व्योम क्वचिद्व्रजतशङ्खमृणालगौरैस्त्यक्ताम्बुभिर्लघुतया शतशः प्रयातैः ।
 संलक्ष्यते पवनवेगचलैः पयोदै राजेव चामरशतैरुपवीज्यमानः ॥ 4 ॥
 भिन्नाञ्जनप्रचयकान्ति नभो मनोज्ञं बन्धूकपुष्परजसाऽरुणिता च भूमिः ।
 वप्राश्च पवकलमावृतभूमिभागाः प्रोत्कण्ठयन्ति न मनो भुवि कस्य यूनः ॥ 5 ॥
 मन्दानिलाकुलितचारुतराग्रशाखः पुष्पोद्गमप्रचयकोमलपल्लवाग्रः ।
 मत्तद्विरेफपरिपीतमधुप्रसेकश्चित्तं विदारयति कस्य न कोविदारः ॥ 6 ॥
 तारागणप्रवरभूषणमुद्वहन्ती मेघावरोधपरिमुक्तशशाङ्कवक्त्रा ।
 ज्योत्स्नादुकूलममलं रजनी दधाना वृद्धिं प्रयात्यनुदिनं प्रमदेव बाला ॥ 7 ॥

तीसरा सर्ग

शरत् का वर्णन

लो, फूले हुए काँस की साड़ी पहने, मस्त हंसों की बोली के झनझनाते हुए सुहावने पायल पहने, पके हुए धान के मनोहर शरीर वाली और खिले हुए कमल के सुन्दर मुख वाली शरद् ऋतु, नई ब्याही हुई रूपवती बहू के समान अब आ पहुँची ॥ 1 ॥ काँस की झाड़ियों ने धरती को, चन्द्रमा ने रातों को, हंसों ने नदियों के जल को, कमलों ने तालों को, फूलों के बोझ से झुके हुए छतिवन के वृक्षों ने जंगल को और मालती के फूलों ने फलवारियों को बड़ा उजला बना डाला है ॥ 2 ॥ इस ऋतु में नदियाँ भी उसी प्रकार धीरे-धीरे बही जा रही हैं जैसे करधनी और माला पहने हुए बड़े-बड़े नितम्बों वाली कामिनियाँ चली जा रही हों क्योंकि उछलती हुई सुन्दर मछलियाँ ही उन नदियों की करधनी हैं, तीर पर बैठी हुई उजली चिड़ियों की पाँते ही उनकी मालाएँ हैं और ऊँचे-ऊँचे रेतीले टीले उनके गोल नितम्ब हैं ॥ 3 ॥ चाँदी, शंख और कमल के समान उजले जो सहस्रों बादल पानी बरसने से हलके होकर, पवन के सहारे इधर-उधर घूम रहे हैं उनसे भरा हुआ आकाश कहीं-कहीं ऐसा लगने लग रहा है मानो किसी राजा पर सैकड़ों चँवर ढुलाए जा रहे हों ॥ 4 ॥ घुटे हुए आँजन की पिंडी जैसा नीला सुन्दर आकाश, दुपहरिया के फूलों से लाल बनी हुई धरती और पके हुए धान से लदे हुए सुन्दर खेत, इस संसार में किस युवक का मन डाँवाँडोल नहीं कर देते ॥ 5 ॥ जिसकी शाखाओं की सुन्दर फुनगियों को धीमा-धीमा पवन झुलाए डाल रहा है, जिस पर बहुत से फूल खिले हुए हैं, जिसकी पत्तियाँ बड़ी कोमल हैं और जिसमें से बहते हुए मधु की धार को मस्त भौर धीरे-धीरे चूसे चले जा रहे हैं, ऐसा कोबिदार (कचनार) का वृक्ष भला किसका हृदय टूक-टूक नहीं किए डालता ॥ 6 ॥ बादल हटे हुए चन्द्रमा के मुँह वाली, तारों के सुहावने

कारण्डवाननविघटितवीचिमालाः कादम्बसारसकुलाकुलतीरदेशाः ।
 कुर्वन्ति हंसविरूतैः परितो जनस्य प्रीतिं सरोरुहरजोरुणितास्तटिन्यः ॥ 8 ॥
 नेत्रोत्सवो हृदयहारिमरीचिमालः प्रह्लादकः शिशिरसीकरवारिवर्णो ।
 पत्युर्वियोगविषदग्धशरक्षतानां चन्द्रो दहत्यतितरां तनुमङ्गनानाम् ॥ 9 ॥
 आकम्पयन्फलभरानतशालिजालान्यानर्तयैस्तरुवरान्कुसुमावनध्रान् ।
 उत्फुल्लपङ्कजवनां नलिनीं विधुन्वन्यूनां मनश्चलयति प्रसभं नभस्वान् ॥ 10 ॥
 सोन्मादहंसमिधुनैरुपशोभितानि स्वच्छप्रफुल्लकमलोत्पलभूषितानि ।
 मन्दप्रभातपवनोद्गतवीचिमालान्युत्कण्ठयन्ति सहसा हृदयं सरांसि ॥ 11 ॥
 नष्टं धनुर्बलमिदो जलदोदरेषु सौदामिनी स्फुरति नाथ वियत्पताका ।
 धुन्वन्ति पक्षपवनैर्न नभो बलाकाः पश्यन्ति नोन्नतमुखा गगनं मयूराः ॥ 12 ॥
 नृत्यप्रयोगरहिताब्शिखिनो विहाय हंसानुपैति मदनो मधुरप्रगीतान् ।
 मुक्त्वा कदम्बकुटजार्जुनसर्जनीपान्सप्तच्छदानुपगता कुसुमोद्गमश्रीः ॥ 13 ॥
 शोफालिकाकुसुमगन्धमनोहराणि स्वस्थस्थिताण्डजकुलप्रतिनादितानि ।
 पर्यन्तसंस्थितमृगीनयनोत्पलानि प्रोत्कण्ठयन्त्युपवनानि मनांसि पुंसाम् ॥ 14 ॥
 कङ्कारपद्मकुमुदानि मुहुर्विधुन्वैस्तत्संगमादधिकशीतलतामुपेतः ।
 उत्कण्ठयत्यतितरां पवनः प्रभाते पत्रान्तलग्नतुहिनाम्बुविधूयमानः ॥ 15 ॥

गहनों वाली और चाँदनी की उजली साड़ी वाली आजकल की रातें भी अलबेली छोरी के समान दिन-दिन बढ़ती चली जा रही हैं ॥ 7 ॥ जिन नदियों का जल कमल के पराग से लाल हो गया है, जिन पर हंस कूज रहे हैं, जिनकी लहरें जल-पक्षियों की चोंचों से टकराती जा रही हैं, और जिनके तीर पर कदम्ब (हंस) और सारस पक्षियों के झुंड घूम रहें हैं, वे नदियाँ लोगों को बड़ी सुहावनी लगने लगी हैं ॥ 8 ॥ सबकी आँखों को भला लगने वाले जिस चन्द्रमा की किरणें मन को बरबस अपनी ओर खींचे लेती हैं, वही सुहावना और ठण्डी फुहारें बरसाने वाला चन्द्रमा, उन स्त्रियों के अंग बहुत भूने डाल रहा है जो अपने पतियों के विछोह के विष-बुझे बाणों से घायल हुई घरों में पड़ी-पड़ी कलप रही हैं ॥ 9 ॥ अन्न भरी हुई बालियों से झुके धान के पौधों को कँपाता हुआ, फूलों से लदे हुए सुन्दर वृक्षों को नचाता हुआ और खिले हुए कमलों से भरे तालों की कमलिनियों को झुलाता हुआ शीतल वायु सब युवकों का मन झकझोरे डाल रहा है ॥ 10 ॥ जिन तालों के तीर पर मस्त हंसों के जोड़े घूम रहे हैं, जिनमें स्वच्छ खिले हुए उजले और नीले कमल शोभा दे रहे हैं और जिनमें प्रातःकाल के धीमे-धीमे पवन से लहरें उठ रही हैं, वे ताल, अचानक हृदय को मस्त बनाए डाल रहे हैं ॥ 11 ॥ आजकल न तो बादलों में इन्द्रधनुष रह गए हैं, न बगले ही अपने पंख हिला-हिलाकर आकाश को पंखा झल रहे हैं और न मोरों के झुंड ही मुँह उठाकर आकाश की ओर देख रहे हैं ॥ 12 ॥ जिन मोरों ने नाचना छोड़ दिया है उन्हें छोड़कर अब कामदेव उन हंसों के पास जा पहुँचा है जो बड़ी मीठी बोली में रुनझुन-रुनझुन कर रहे हैं। फूलों की सुन्दरता भी कदम्ब, कुटज, अर्जुन, सर्ज और अशोक के वृक्षों को छोड़कर छतिवन के पेड़ पर जा बसी है ॥ 13 ॥ जिन उपवनों में शोफालिका के फूलों की मनभावनी सुगन्ध फैली हुई है, जिनमें निश्चिन्त बैठी हुई चिड़ियों की चहचहाहट चारों ओर गूँज रही है, जिनमें कमल-जैसी आँखों वाली हरिणियाँ जहाँ-तहाँ बैठी पगुरा रही हैं, उन्हें देख-देखकर लोगों के मन हाथ से निकल निकल जाते हैं ॥ 14 ॥ प्रातःकाल पत्तों

संपन्नशालिनिचयावृतभूतलानि स्वस्थस्थितप्रचुरगोकुलशोभितानि ।
 हंसैः ससारसकुलैः प्रतिनादितानि सीमान्तराणि जनयन्ति नृणां प्रमोदम् ॥ 16 ॥
 हंसैर्जिता सुललिता गतिरङ्गनानामम्भोरुहैविकसितैर्मुखचन्द्रकान्तिः ।
 नीलोत्पलैर्मदकलानि विलोचनानि ध्रुविभ्रमाश्च रुचिरास्तनुभिस्तरङ्गैः ॥ 17 ॥
 श्यामा लताः कुसुमभारनतप्रवालाः स्त्रीणां हरन्ति धृतभूषणबाहुकान्तिम् ।
 दन्तावभासविशदस्मितचन्द्रकान्तिं कङ्कलपुष्परुचिरा नवमालती च ॥ 18 ॥
 केशात्रितान्तधननीलविकुञ्चिताग्रानापूरयन्ति वनिता नवमालतीभिः ।
 कर्णेषु च प्रवरकाञ्चनकुण्डलेषु नीलोत्पलानि विविधानि निवेशयन्ति ॥ 19 ॥
 हारैः सचन्दनरसः स्तनमण्डलानि श्रोणीतटं सुविपुलं रसनाकलापैः ।
 पादाम्बुजानि कलनूपुरशेखरैश्च नार्यः प्रदृष्टमनसोऽद्य विभूषयन्ति ॥ 20 ॥
 स्फुटकुमुदचितानाराजहंसाश्रितानां मरकतमणिभासावारिणा भूषितानाम् ।
 श्रियमतिशयरूपव्योमतोशशयानां वहति विगतमेघं चन्द्रतारावकीर्णम् ॥ 21 ॥
 शरदिकुमुदसङ्गाद्वायवोवान्तिशीताविगतजलदवृन्दा दिग्विभागामनोज्ञाः ।
 विगतकलुषमम्भः श्यानपङ्काधरित्रीविमलकिरणचन्द्रं व्योमताराविचित्रम् ॥ 22 ॥
 करकमलमनोज्ञाः कान्तसंसक्तहस्ता वदनविजितचन्द्राः काश्चिदन्यास्तरुण्यः ।
 रचितकुसुमगन्धि प्रायशो यान्ति वेश्म प्रबलमदनहेतोस्त्यक्तसंगीतरागाः ॥ 23 ॥

पर पड़ी हुई ओस की बूँदें छितराता हुआ और कोकाबेल, कमल तथा कुमुद से छू-छूकर ठंडक लेता हुआ धीमे-धीमे बहने वाला पवन किसे नहीं मस्त बना देता? ॥ 15 ॥ जहाँ के खेतों में भरपूर धान के पौधे लहलहा रहे हों, जहाँ घास के मैदान में बहुत सी गौएँ चर रहीं हों, जहाँ बहुत से सारसों और हंसों के जोड़े अपनी मीठी बोली बोल रहे हों, बस ऐसे ही स्थान लोगों को आजकल बड़े अच्छे लगते हैं ॥ 16 ॥ इन दिनों हंसों ने सुन्दरियों की मनभावनी चाल को, कमलिनियों ने उनके चन्द्रमुख की चमक को, नीले कमलों ने उनकी मदभरी आँखों को और छोटी लहरियों ने उनकी भाँहों की बाँकी मटक को हरा दिया है ॥ 17 ॥ जिन हरी बेलों की टहनियाँ फूलों के बोझ से झुकी पड़ी हैं, उनकी सुन्दरता से स्त्रियों की गहनों से सजी हुई बाँहों की सुन्दरता छीन ली है और कंकेलि (चाँदनी) तथा नई मालती के सुन्दर फूलों ने दाँतों की चमक से खिल उठने वाली स्त्रियों की मुसकराहट की चमक को लजा दिया है ॥ 18 ॥ स्त्रियाँ अपनी घनी घुँघराली काली लटों में नये मालती के फूल गुँथे ले रही हैं और अपने जिन कानों में वे सोने के बढ़िया बाले पहना करती थीं, उनमें उन्होंने अनेक प्रकार के नीले कमल लटका पहने हैं ॥ 19 ॥ आजकल स्त्रियाँ बड़ी उमंग से अपने स्तनों पर मोतियों के हार पहनती और चन्दन पोतती हैं, अपने भारी-भारी नितम्बों पर करधनी बाँधती हैं और अपने कमल-जैसे कोमल सुन्दर पैरों में छम-छम बजने वाली पायल पहनती हैं ॥ 20 ॥ खिले हुए चन्द्रमा और छितके हुए तारों से भरा हुआ आजकल का खुला आकाश उन तालों के समान दिखाई पड़ रहा है जिनमें पन्ने के समान चमकता हुआ जल भरा हुआ हो, जिनमें एक-एक राजहंस बैठा हुआ हो और जिनमें यहाँ-वहाँ बहुत से कुमुद खिले हुए हों ॥ 21 ॥ आजकल कमलों को फूटा हुआ शीतल पवन बह रहा है, बादलों के उड़ जाने से चारों ओर सब सुहावना ही सुहावना दिखाई दे रहा है, पानी का गँदलापन दूर हो गया है, धरती पर सारा कीचड़ सूख गया है और आकाश में स्वच्छ किरणों वाला चन्द्रमा और तारे निकल आए हैं ॥ 22 ॥ चन्द्रमा

सुरतरसविलासाः सत्सखीभिः समेता असमशरविनोदं सूचयन्ति प्रकामम् ।
 अनुपममुखरागा रात्रिमध्ये विनोदं शरदि तरुणकान्ताः सूचयन्ति प्रमोदान् ॥ 24 ॥
 दिवसकरमयूखैर्बाध्यमानं प्रभाते वरयुवतिमुखाभं पङ्कजं जृम्भतेऽथ ।
 कुमुदमपि गतेऽस्तं लीयते चन्द्रबिम्बे हसितमिव वधूनां प्रोषितेषु प्रियेषु ॥ 25 ॥
 असितनयनलक्ष्मीं लक्षयित्वोत्पलेषु क्वणितकनककाञ्चीं मत्तहंसस्वनेषु ।
 अधररुचिरशोभां बन्धुजीवे प्रियाणां पथिकजन इदानीं रोदिति भ्रान्तचित्तः ॥ 26 ॥
 स्त्रीणां विहाय वदनेषु शशाङ्कलक्ष्मीं काम्यं च हंसवचनं मणिनूपुरेषु ।
 बन्धूककान्तिमधरेषु मनोहरेषु क्वापि प्रयाति सुभगा शरदागमश्रीः ॥ 27 ॥
 विकचकमलवस्त्रा फुल्लनीलोत्पलाक्षी विकसितनवकाशश्वेतवासो वसाना ।
 कुमुदरुचिरकान्तिः कामिनीवोन्मदेयं प्रतिदिशतु शरद्वश्चेतसः प्रीतिमग्याम् ॥ 28 ॥

॥ इति महाकवि श्रीकालिदास कृतौ ऋतुसंहारे

शरद्वर्णनं नाम तृतीयः सर्गः ॥



से भी अधिक सुन्दर मुख वाली युवतियाँ अपना सब गाना-बजाना छोड़कर अत्यन्त कामातुर होकर अपने सुन्दर कमल जैसे हाथ अपने प्रेमी के हाथों में डालकर उन घरों में चली जा रही हैं जिनमें सुगन्धित फूलों की सेज बिछी हुई है ॥ 23 ॥ शरद् में संभोग का रस लेने वाली और अनूठे प्रकार से मुँह रँगने वाली युवतियाँ जब अपनी सखियों के साथ बैठती हैं तब आपस में एक दूसरे की सब बातें बता डालती हैं कि रात में कैसे-कैसे आनन्द लूटा गया ॥ 24 ॥ प्रातःकाल जब सूर्य अपने करों (किरणों) से कमल को जगाता है तब वह कमल सुन्दरी युवती के मुख के समान खिल उठता है और जैसे प्रिय के परदेस चले जाने पर स्त्रियों की मुस्कराहट चली जाती है वैसे ही चन्द्रमा के छिप जाने पर कोई भी सकुचा जाती है ॥ 25 ॥ जब परदेस में गए हुए लोग नीले कमलों में अपनी प्रियतमा की काली आँखों की सुन्दरता देखते हैं, मस्त हंसों की ध्वनि में उनकी सुनहरी करधनी की रुनझुन सुनते हैं और बन्धुजीव के फूलों में उनके निचले ओठों की चमकती हुई सुन्दरता की चमक पाते हैं, तब तो वे बेचारे सब सुध-बुध भूलकर रोते ही रह जाते हैं ॥ 26 ॥ शरत् की सुन्दर शोभा कहीं तो चन्द्रमा की चमक को छोड़कर स्त्रियों के मुँह पर आ चढ़ी है, कहीं हंसों की मीठी बोली छोड़कर नवेलियों के रतन-जड़े बिछुओं में जा पहुँची है और कहीं बन्धूक फूलों की लाली को छोड़कर उनके निचले ओठों में जा समाई है ॥ 27 ॥ भगवान् करे, यह कामिनी के समान खिले हुए उजले कमल के मुख वाली, फूले हुए नील कमल की आँखों वाली, कोई के समान सुन्दर शरीर वाली और फूले हुए काँस की साड़ी पहनने वाली मस्त शरद् ऋतु आप लोगों के मन में नई-नई उमंगें भरती चले ॥ 28 ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदास के रचे ऋतुसंहार काव्य में शरत् का वर्णन नामका तीसरा सर्ग पूर्ण हुआ॥



॥ चतुर्थः सर्गः ॥

हेमन्तवर्णनम्

नवप्रवालौद्गमसस्यरम्यः प्रफुल्ललोधः परिपक्वशालिः ।
 विलीनपद्मः प्रपतत्तुषारो हेमन्तकालः समुपागतोऽयम् ॥ 1 ॥
 मनोहरैश्चन्दनरागगौरैस्तुषारकुन्देन्दु निभैश्च हारैः ।
 विलासिनीनां स्तनशालिनीनां नालंक्रियन्ते स्तनमण्डलानि ॥ 2 ॥
 न बाहुयुग्मेषु विलासिनीनां प्रयान्ति सङ्गं बलयाङ्गदानि ।
 नितम्बबिम्बेषु नवं दुकूलं तन्वंशुकं पीनपयोधरेषु ॥ 3 ॥
 काञ्चीगुणैः काञ्चनरत्नचित्रैर्नो भूषयन्ति प्रमदा नितम्बान् ।
 न नूपुरैर्हसरुतं भजद्भिः पादाम्बुजान्यम्बुजकान्तिभाञ्जि ॥ 4 ॥
 गात्राणि कालीयकचर्चितानि सपत्रलेखानि मुखाम्बुजानि ।
 शिरांसि कालागुरुधूपितानि कुर्वन्ति नार्यः सुरतोत्सवाय ॥ 5 ॥
 रतिश्रमक्षामविपाण्डुवक्त्राः संप्राप्तहर्षाभ्युदयास्तरुण्यः ।
 हसन्ति नोच्चैर्दशनाग्रभिन्नान्प्रपीड्यमानानधरानवेक्ष्य ॥ 6 ॥
 पीनस्तनोरःस्थलभागशोभामासाद्य तत्पीडनजातखोदः ।
 तृणाग्रलग्नैस्तुहिनैः पतद्भिराक्रन्दतीवोषसि शीतकालः ॥ 7 ॥

चौथा सर्ग

हेमन्त वर्णन

देखो! पाला बिछाती हुई यह हेमन्त ऋतु आ पहुँची है, जिसमें गेहूँ, जो आदि के नये-नये अंकुरों के निकल आने से चारों ओर हरा-भरा दिखाई देने लगा है, लोध के पेड़ फूलों से लद गए हैं, धान पक चला है और कमल दिखाई नहीं देते ॥ 1 ॥ इन दिनों अलबेली स्त्रियाँ अपने बड़े-बड़े गोल-गोल स्तनों पर हिम, कोई और चन्द्रमा के समान उजले और कुंकुम के रंग में रंगे हुए मनोहर हार नहीं पहनती हैं ॥ 2 ॥ आजकल न तो ये कामिनियाँ अपनी दोनों बाँहों पर कंगन और भुजबन्ध ही पहनती हैं, न अपने गोल-गोल नितंबों पर नये रेशमी वस्त्र ही लपेटती हैं और न अपने मीठे मोटे स्तनों पर महीन कपड़े ही बाँधती हैं ॥ 3 ॥ न वे अपने नितम्बों पर सोने और रत्नों से जड़ी हुई करधनी पहनती हैं और न कमल की शोभा को भी घटाने वाले अपने सुन्दर पैरों में हंस के समान रुनझुन करने वाले पायल ही डालती हैं ॥ 4 ॥ आजकल अपने पति से संभोग की तैयारी में युवतियाँ, अपने शरीर पर चन्दन मलती हैं, अपने कमल जैसे मुँह पर अनेक प्रकार के बेल-बूटे चीतती हैं और कालागुरु की धूप देकर अपने केश सुगन्धित करती हैं ॥ 5 ॥ संभोग की थकान से नीले और मुरझाए हुए मुखों वाली युवतियाँ, हँसने की बात पर भी यह समझकर मुँह खोलकर नहीं हँसती कि कहीं प्यारे के पैने दाँतों से काटे हुए ओठ दुखने न लगे ॥ 6 ॥ प्रातःकाल घास पर फैली हुई ओस की बूँदों को देखकर ऐसा लगता है मानो युवतियों के मोटे-मोटे स्तनों को उनकी छातियों पर देखकर सुख पाने वाला हेमन्त, उन स्तनों को प्रेमियों के हाथों से मले हुए देखकर दुखी होकर आँसू बहाने लग रहा हो ॥ 7 ॥ गाँव के बाहर जिन खेतों में भरपूर धान लहलहा

प्रभूतशालिप्रसवैश्चितानि मृगाङ्गनायूधविभूषितानि ।
 मनोहरकौञ्चनिनादितानि सीमान्तराण्युत्सुकयन्ति चेतः ॥ 8 ॥
 प्रफुल्लनीलोत्पलशोभितानि सोन्मादकादम्बविभूषितानि ।
 प्रसन्नतोयानि सुशीतलानि सरांसि चेतांसि हरन्ति पुंसाम् ॥ 9 ॥
 मार्गं समीक्ष्यातिनिरस्तनीरं प्रवासखिन्नं पतिमुद्वहन्त्यः ।
 अवैक्ष्यमाणा हरिणोक्षणाक्ष्यः प्रबोध्यन्तीव मनोरथानि ॥ 10 ॥
 पाकं व्रजन्ती हिमजातशीतैराधूयमाना सततं मरुद्भिः ।
 प्रिये प्रियङ्गुः प्रियविप्रयुक्ता विपाण्डुतां याति विलासिनीव ॥ 11 ॥
 पुष्पासवामोदसुगन्धिवक्त्रो निःश्वासवातैः सुरभीकृताङ्गः ।
 परस्पराङ्गव्यतिषङ्गशायी शोते जनः कामरसानुविद्धः ॥ 12 ॥
 दन्तच्छदः सद्रणदन्तचिन्हैः स्तनैश्च पाण्यग्रकृताभिलेखैः ।
 संसूच्यते निर्दयमङ्गनानां रतोपभोगो नवयौवनानाम् ॥ 13 ॥
 काचिद्विभूषयति दर्पणसक्तहस्ता बालातपेषु वनिता वदनारविन्दम् ।
 दन्तच्छदं प्रियतमेन निपीतसारं दन्ताग्रभिन्नमवकृष्य निरीक्षते च ॥ 14 ॥
 अन्या प्रकामसुरतश्रमखिन्नदेहा रात्रिप्रजागरविपाटलनेत्रपद्मा ।
 स्त्रस्तांसदेशलुलिताकुलकेशपाशा निद्रां प्रयाति मृदुसूर्यकराभितप्ता ॥ 15 ॥
 निर्माल्यदाम परिभुक्तमनोज्ञगन्धं मूर्ध्नोऽपनीय घननीलशिरोरुहान्ताः ।
 पीनोन्नतस्तनभरानतगात्रयष्ट्यः कुर्वन्ति केशरचानामपरास्तरुण्यः ॥ 16 ॥

रहा है, हरिणियों के झुंड के झुंड चौकड़ियाँ भर रहे हैं और सारस कूक रहे हैं, उन खेतों को देखते ही मन हाथ से निकल जाता है ॥ 8 ॥ जिन तालों में खिले हुए नीले कमल फैले हुए हैं, मस्त कलहंस इधर-उधर तैर रहे हैं और ठंडा निर्मल जल भरा हुआ है, उन्हें देखकर लोगों का जी खिल खिल उठता है ॥ 9 ॥ जिनके पति परदेस चले गये हैं, वे मृगनयनी स्त्रियाँ जब सूखे हुए मार्ग को देखती हैं तब परदेस में पड़े हुए अपने दुखी पतियों के आने की बात जोहती हुई यह सोचने लगती हैं कि जब हमारे पति आवेंगे तब हम यों मिलेंगी, यों बातें करेंगी और यों रूठेंगी ॥ 10 ॥ देखो प्यारी! पाले से भरे ठंडे वायु से हिलती हुई यह पकी हुई प्रियंगु की लता वैसी ही पीली पड़ गई है जैसे अपने पति से अलग होने पर युवती पीली पड़ जाती है ॥ 11 ॥ फूलों के गन्ध की भीनी और मीठी सुगन्ध वाले मुँह से अपने मुँह लगाकर और एक दूसरे की साँसों से सुगन्धित अंगों से अंग मिलाकर सब स्त्री-पुरुष एक दूसरे से लिपट लिपटकर सम्भोग करते हुए सो रहे हैं ॥ 12 ॥ इस समय प्यारों ने अपनी नवयुवतियों के ओठों पर जो दाँतों से घाव कर दिए हैं और उनके स्तनों पर अपने नखों से चिह्न बना दिए हैं इससे जान पड़ रहा है कि उनके प्यारे उनका जी-जान से संभोग कर रहे हैं ॥ 13 ॥ देखो, एक स्त्री, हाथ में दर्पण लिए हुए प्रातःकाल की धूप में बैठी अपने कमल-जैसे मुँह का सिंगार किए डाल रही है और अपने जिन ओठों पर प्यारे ने रस पी लिया है और जिन पर प्यारे के दाँतों के घाव बने हुए हैं, उन ओठों को खींच-खींचकर देखे जा रही है ॥ 14 ॥ अत्यन्त सम्भोग से थक जाने के कारण एक दूसरी स्त्री की कमल-जैसी आँखें रात भर जागने से लाल हो गई हैं, उसके कंधे झूल गए हैं, उसके बाल इधर-उधर बिखर गए हैं और वह प्रातःकाल के सूर्य की कोमल किरणों में धूप खाती हुई वहीं सो गई है ॥ 15 ॥

अन्या प्रियेण परिभुक्तमवेक्ष्य गात्रं हर्षान्दिता विरचिताधरचारुशोभा ।
 कूर्पासकं परिदधाति नखक्षताङ्गी व्यालम्बिनीलललितालककुञ्चिताक्षी ॥ 17 ॥
 अन्याश्चिरं सुरतकेलिपरिश्रमेण खेदं गताः प्रशिथिलीकृतगात्रयष्टयः ।
 संहृष्यमाणपुलकोरुपयोधरान्ता अभ्यञ्जनं विदधति प्रमदाः सुशोभाः ॥ 18 ॥
 बहुगुणरमणीयो योषितां चित्तहारी परिणतबहुशालिव्याकुलग्रामसीमा ।
 विनिपतिततुषारः क्रौञ्चनादोपगीतः प्रदिशतु हिमयुक्तः काल एषः सुखंवः ॥ 19 ॥
 ॥ इति महाकविकालिदासकृतौ ऋतुसंहारे हेमन्तवर्णनं
 नाम चतुर्थः सर्गः ॥



॥ मोटे और ऊँचे स्तनों के कारण जिन लम्बे, काले और घने केशों वाली स्त्रियों के शरीर झुक गए हैं, वे अपने सिर से वह मुरझाई हुई माला उतारे दे रही हैं जिसकी मधुर सुगन्ध का आनंद रात में ले चुकने पर वे सबेरे फिर से केश सँवारे डाल रही हैं ॥ 16 ॥ नखों के घावों से भरे अंगों वाली और लटकती हुई सुन्दर अलकों से ढकी आँखों वाली एक दूसरी स्त्री, अपने प्यारे से उपभोग किए हुए शरीर को देख-देखकर बड़ी मगन होती हुई अपने अधरों को फिर पहले की नाई सुन्दर बनाकर अपनी चोली पहनने लगी है ॥ 17 ॥ इसी प्रकार बहुत देर तक संभोग करते-करते जो युवतियाँ थक गई हैं, जिनके कोमल और लचकीले शरीर ढीले पड़ गए हैं और जिनकी जाँघों और स्तनों पर रोमाश्च हो आया है, वे युवतियाँ बैठी अपने शरीर पर तेल मलवा रही हैं ॥ 18 ॥ भगवान् करे यह हेमन्त ऋतु आपको बहुत सुख दे जो अनेक गुणों से मन को मुग्ध करने वाली है, स्त्रियों का चित्त लुभाने वाली है, जिसमें गाँवों के आस-पास पके हुए धानों के खेत लहलहाते हैं, चारों ओर पाला पड़ता है और सारस बोलते हैं ॥ 19 ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदास के रचे हुए ऋतुसंहार काव्य में हेमन्त वर्णन नामका चौथा सर्ग पूर्ण हुआ

॥



॥ पञ्चमः सर्गः ॥

शिशिरवर्णनम्

प्ररूढशालीक्षुचयावृतक्षितिं क्वचित्स्थितक्रीडनिनादराजितम् ।
 प्रकामकामं प्रमदाजनप्रियं वरोरु कालं शिशिराह्वयं शृणु ॥ 1 ॥
 निरुद्धवातायनमन्दिरोदरं हुताशनो भानुमतो गभस्तयः ।
 गुरुणि वासस्थिबलाः सयौवनाः प्रयान्ति कालेऽत्र जनस्य सेव्यताम् ॥ 2 ॥
 न चन्दनं चन्द्रमरीचिशीतल न हर्म्यपृष्ठं शरदिन्दुनिर्मलम् ।
 न वायवः सान्द्रतुषारशीतला जनस्य चित्तं रमयन्ति सांप्रतम् ॥ 3 ॥
 तुषारसंघातनिपातशीतलाः शशाङ्कभाभिः शिशिरीकृताः पुनः ।
 विपाण्डुतारागणचारुभूषणा जनस्य सेव्या न भवन्ति रात्रयः ॥ 4 ॥
 गृहीतताम्बूलविलेपनस्त्रजः पुष्पासवामोदितवक्षत्रपङ्कजाः ।
 प्रकामकालागुरुधूपवासितं विशन्ति शय्यागृहमुत्सुकाः स्त्रियः ॥ 5 ॥
 कृतापराधान्बहुशोऽभितर्जितान्सवे पथान्साध्वसलुप्तचेतसः ।
 निरीक्ष्य भतृन्सुरतामिलाषिण स्त्रियोऽपराधान्समदा विसस्मरुः ॥ 6 ॥
 प्रकामकामैर्युवभिः सुनिर्दयं निशासु दीर्घास्वभिरामिताश्चिरम् ।
 घ्नन्ति मन्यं श्रमखेदितोरवः क्षपावसाने नवयौवनाः स्त्रियः ॥ 7 ॥

पाँचवाँ सर्ग

शिशिर का वर्णन

अरी सुन्दर जाँघों वाली! सुनो जिस ऋतु में धान और ईख के खेत लहलहा उठते हैं, जिसमें कभी-कभी सारस की बोली भी गूँज जाती है और काम भी बहुत बढ़ जाता है, वह स्त्रियों की प्यारी शिशिर ऋतु अब आ पहुँची है ॥ 1 ॥ आजकल लोग अपने घरों के भीतर खिड़कियाँ बन्द करके, आग तापकर, धूप खाकर, मोटे-मोटे कपड़े पहनकर और युवती स्त्रियों से लिपटकर अपने दिन बिताते हैं ॥ 2 ॥ इन दिनों न किसी को चन्द्रमा की किरणों से ठंडाया हुआ चन्दन ही अच्छा लगता, न शरत्के समान निर्मल छतें ही सुहातीं और न घनी ओससे ठंडा बना हुआ वायु ही मन को भाता ॥ 3 ॥ इन दिनों घने पाले से कड़कड़ाते जाड़ों वाली, चन्द्रमा की किरणों से और भी ठंडी बनी हुई तथा पीले-पीले तारों वाली रातों में कोई भी घर से बाहर नहीं निकलता ॥ 4 ॥ फूलों के आसव पीने से जिनका कमल-जैसा मुँह सुगन्धित हो उठा है वे स्त्रियाँ अब पान घुलाकर, फुलेल लगाकर और मालाएँ पहनकर, काले अगर के धुएँ से महकने वाले अपने शयन-घरों में बड़े चावसे चली जा रही हैं ॥ 5 ॥ मदमाती स्त्रियों ने अपने जिन पतियों को अपराध करने पर डाँटा-फटकारा था, वे जब काँपते हुए और डरसे घबराए हुए उनके पास संभोग करने के लिये आते हैं तब उन्हें देखते ही वे स्त्रियाँ उनका सब अपराध भूलकर उनसे संभोग करने लगती हैं ॥ 6 ॥ जिन नवयुवतियों ने युवकों के साथ आजकल की लम्बी रातों में बहुत देरतक जी भरकर और कसकर संभोग का आनन्द लूटा है, वे स्त्रियाँ, रात के परिश्रम से दुखती हुई जाँघों के कारण प्रातःकाल बड़े धीरे-धीरे चल पा रही हैं ॥ 7 ॥ सुन्दर चोलियों से अपने स्तन कसे हुए, जाँघोंपर रेशमी साड़ियाँ

मनोज्ञकूपसिकपीडितस्तनाः सरागकौशोयकभूषितोरवः ।
 निवेशितान्तः कुसुमैः शिरोरुहैर्विभूष्यन्तीव हिमागम स्त्रियः ॥ 8 ॥
 पयोधरैः कंकमरागपिञ्जरैः सखोपसेव्यैर्नवयौवनोष्मभिः ।
 विलासिनीभिः परिपीडितोरसः स्वपन्ति शीतं परिभूय कामिनः ॥ 9 ॥
 सुगन्धिनिःश्वासविकम्पितोत्पलं मनोहरं कामरतिप्रबोधकम् ।
 निशास हृष्टा सह कामिभिः स्त्रियः पिबन्ति मधं मदनीयमुत्तमम् ॥ 10 ॥
 अपगतमदरागा योषिदेका प्रभाते कृतनिविडकुचाग्रा पत्युरालिङ्गनेन ।
 प्रियतमपरिभुक्त वीक्षमाणा स्वदेह व्रजति शयनवासाद्वासमन्यं हसन्ती ॥ 11 ॥
 अगुरुसुरभिधूपामोदितं केशपाशं गलितकुसुममाल कुञ्चिताग्र वहन्ती ।
 त्यजति गुरुनितम्बा निम्ननाभिः सुमध्या उषसि शयनमन्या कामिनी चारुशोभाम् ॥ 12 ॥
 कनककमलकान्तैश्चारुताम्राधरोष्ठैः श्रवणतटनिषक्तैः पाटलोपान्तनेत्रैः ।
 उषसि वदनविम्बैरसंसक्तकेशैः श्रिय इव गृहमध्ये संस्थिता योषितोऽद्य ॥ 13 ॥
 पृथुजघनभरार्ताः किञ्चिदानम्रमध्याः स्तनभरपरिखेदान्मन्दमन्दं व्रजन्त्यः ।
 सुरतसमयवेषं नैशमाशु प्रहाय दधति दिवसयोग्यं वेशमन्यास्तरुण्यः ॥ 14 ॥
 नखपदचितभागान्वीक्षमाणाः स्तनान्तानधरकिसलयाग्रं दन्तभिन्नं स्पृशन्त्यः ।
 अभिमततरवेष नन्दयन्त्यस्तरुण्यः सवितुरुदयकाले भूषयन्त्यानानि ॥ 15 ॥

लपेटे हुए और कानों में फूल गूँथे हुए स्त्रियाँ ऐसी लग रही हैं मानो वे जाड़े के स्वागत का उत्सव मनाने के लिये सिंगार किए डाल रही हों ॥ 8 ॥ इन दिनों प्रेमी लोग, केसर से रंगे हुए लाल स्तनों वाली और सुख से लूटी जा सकने वाली जवानी की गर्मी से भरी हुई कामिनियों को कस कसकर छाती से लिपटाए हुए जाड़ा भगाकर सोते हैं ॥ 9 ॥ इन दिनों स्त्रियाँ बड़े हर्ष से अपने प्रेमियों के साथ रात को वह रुचिकर, बढ़िया, मद बहाने-वाली और काम-वासना जगानेवाली मदिरा पीती हैं, जिसमें पड़े हुए कमल, उन कामिनियों की सुगंधित साँसे बराबर हिलते रहते हैं ॥ 10 ॥ देखो! प्रातःकाल होनेपर एक स्त्री अपने प्रियतम के द्वारा उपभोग किए हुए अपने शरीरको देखती हुई अपने शयन-घर से दूसरे घर में बढ़ी चली जा रही है। इस समय इसके मुख पर मदकी लाली भी नहीं रह गई और पति की छाती से लगे रहने के कारण उसके स्तनों की घुण्डियाँ भी कड़ी हो गई हैं ॥ 11 ॥ एक दूसरी भारी नितम्बवाली, गहरी नाभिवाली, लचकदार मकरवाली और मनभावनी सुन्दरतावाली स्त्री, अगर के धुएँ में बसी हुई अपनी बिना मालावाली घनी घुंघराली लटें हाथ में थामे प्रातःकाल पलंग छोड़कर उठ रही है ॥ 12 ॥ इन दिनों प्रातःकाल के समय स्त्रियों के, सुन्दर लाल-लाल ओठों वाले, लाल कोरों से सजी हुई बड़ी-बड़ी आँखों वाले, कन्धों पर फैले हुए बालों वाले और सुनहले कमल के समान चमाचम चमकने वाले गोल-गोल मुखों को देखकर ऐसा लगता है मानो घर-घर में लक्ष्मी ही लक्ष्मी आई बसी हुई हों ॥ 13 ॥ अपने मोटे नितम्बों के बोझसे दुखी, अपने स्तनों के बोझ से झुकी हुई कमरवाली और थकान के कारण बहुत धीरे-धीरे चलने वाली बहुत-सी स्त्रियाँ रात के संभोग वाले वस्त्र उतार उतार-कर दिन में पहनने के कपड़े पहने ले रही हैं ॥ 14 ॥ अपने प्यारे के नखों के घावों से भरी अपनी छाती देखती हुई, प्यारे के दाँतों से काटे हुए अपने कोंपलों के समान कोमल अधरों को छूती हुई और इस प्रकार अपने मनचाहे संभोग के वेश पर खिलखिलाती हुई स्त्रियाँ प्रातःकाल अपने मुँह सजाए ले रही हैं ॥ 15 ॥ जिस शिशिर ऋतु में मिठाइयाँ

प्रचुरगुडविकारः स्वादुशालीक्षुरम्यः प्रबलसुरतके लिजातकन्दर्पदर्पः ।

प्रियजनरहितानां चित्तसंतापहेतुः शिशिरसमय एष श्रेयसे वोऽस्तु नित्यम् ॥ 16 ॥

।। इति महाकविश्री कालिदास विरचिते ऋतुसंहारकाव्ये

शिशिरवर्णनं नाम पञ्चमः सर्गः ।।



बहुतायत से मिलती हैं, स्वाद लगने वाले चावल और ईख चारों ओर फैले सुहाते हैं, लोग बहुत जमकर संभोग करते हैं, कामदेव भी पूरे वेग से बढ़ जाता है और प्यारों के बिना अकेले दिन काटने वाले लोग मन मसोसकर रह जाते हैं, वह शिशिर ऋतु आप लोगों का भला करे ॥ 16 ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदास के रचे हुए ऋतुसंहार काव्य में शिशिर ऋतु का वर्णन नामका पाँचवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥



॥ षष्ठः सर्गः ॥

वसन्तवर्णनम्

प्रफुल्लधूताङ्क रतीक्ष्णसायको द्विरेफमालाविलसद्धनुर्गुणः ।
 मनांसि भेतुं सुरतप्रसङ्गिनां वसन्तयोद्धा समुपागतः प्रिये ॥ 1 ॥
 दुमाः सपुष्पाः सलिलं सपङ्कं स्त्रियः सकामाः पवनः सुगन्धिः ।
 सुखाः प्रदोषा दिवसाश्च रम्याः सर्वं प्रिये चारुतरं वसन्ते ॥ 2 ॥
 ईषत्तुष्टारैः कृतशीतहर्म्यः सुवासितं चारुशिरश्च चम्पकैः ।
 कुर्वन्ति नार्योऽपि वसन्तकाले स्तनं सहारं कुसुमैर्मनोहरैः ॥ 3 ॥
 वापीजलानां मणिमेखलानां शशङ्कभासां प्रमदाजाननाम् ।
 चूतदुमाणां कुसुमान्वितानां ददाति सौभाग्यमयं वसन्तः ॥ 4 ॥
 कुसुम्भरागारुणितैर्दुकूलैर्नितम्बबिम्बानि विलासिनीनाम् ।
 तन्वंशुकैः कुङ्कुमरागगौरैरलंक्रियन्ते स्तनमण्डलानि ॥ 5 ॥
 कर्णेषु योग्यं नवकर्णिकारं चलेषु नीलेष्वलकेष्वशोकम् ।
 पुष्पं च फुल्लं नवमल्लिकायाः प्रयान्ति कान्तिं प्रमदाजनानाम् ॥ 6 ॥
 स्तनेषु हाराः सितचन्दनाद्राः भुजेषु सङ्गं वलयाङ्गदानि ।
 प्रयान्त्यनङ्गातुरमामासानां नितम्बिनीनां जघनेषु काञ्च्यः ॥ 7 ॥

छठा सर्ग

वसन्त का वर्णन

लो प्यारी! फूले हुए आम की मञ्जरियों के पैने बाण लेकर और अपने धनुष पर भीरों की पाँतों की डोरी चढ़ाकर यह वीर वसन्त संभोग करने वाले रसिकों को बेधने आ पहुँचे हैं ॥ 1 ॥ देखो प्यारी! वसन्त के आते ही सब वृक्ष फूलों से लद गए हैं, जल में कमल खिल गए हैं, स्त्रियाँ मतवाली हो चली हैं, वायु में सुगन्ध आने लगी है, साँझें सुहावनी हो चली हैं और दिन लुभावने हो गए हैं। सचमुच सुन्दर वसन्त में सब कुछ सुहावना ही सुहावना लगने लगता है ॥ 2 ॥ वसन्त में घरों की छतों पर ठंडी ओस छा गई है, चम्पे के फूलों से सबके जूड़े महकने लगे हैं और स्त्रियाँ भी अपने स्तनों-पर मनोहर फूलों की मालाएँ पहनने लगी हैं ॥ 3 ॥ वसन्त के आने से बावड़ियों का जल, मणियों से जड़ी करधनियाँ, चाँदनी, स्त्रियाँ और मञ्जरी से लदी आमों की डालें सबकी सब और भी सुहावनी लगने लगी हैं ॥ 4 ॥ कामिनियों ने अपने गोल-गोल नितम्बोंपर कुसुम के लाल फूलों से रंगी रेशमी साड़ी उठा पहनी है और स्तनों पर केशर में रंगी हुई महीन कपड़े की चोली पहन ली है ॥ 5 ॥ स्त्रियों के कानों में लटके हुए सजीले कनैर के फूल बड़े सुहावने दिखाई पड़ रहे हैं और उनकी चंचल, काली, घुँघराली लटों में अशोक के फूल और नव-मल्लिका की खिली हुई कलियाँ बड़ी सुहावनी लगने लगी हैं ॥ 6 ॥ अपने प्रेमी से संभोग करने को उतावली नारियों ने अपने स्तनों पर धौले चन्दन से भीगे हुए मोती के हार उठा पहने हैं, हाथों में भुजबन्ध और कंगन डाल लिए हैं और अपने नितम्बोंपर करधनी बाँध ली है ॥ 7 ॥

सपत्रलेसेषु विलासिनीनां वक्त्रेषु हेमाम्बुरुहोपमेषु ।
 रत्नान्तरे मौक्तिकसङ्गरम्यः स्वेदागमो विस्तरतामुपैति ॥ 8 ॥
 उच्छवासयन्त्यः श्लथबन्धनानि गात्राणि कंदर्पसमाकुलानि ।
 समीपवर्तिष्वघुना प्रियेषु समुत्सुका एक भवन्ति नार्यः ॥ 9 ॥
 तनूनि पाण्डूनि मदालसानि मुहुमुहुजम्भणतत्पराणि ।
 अङ्गान्यनङ्ग प्रमदाजमस्य करोति लावण्यससंभ्रमाणि ॥ 10 ॥
 छायां जनः समभिवारुहति पादपानां नक्तं तथेच्छतिपुनः किरणंसुधांशोः ।
 हर्म्यं प्रयाति शयितुं सुखशीतलं च कान्तां च गाढमुपगूहति शीतलत्वात् ॥ 11 ॥
 नेत्रेषु लोलो मदिरालसेष गण्डेषु पाण्डुः कठिनः स्तनेषु ।
 मध्येषु निम्नो जघनेष पीनः स्त्रीणामनङ्गो बहुधा स्थितोऽद्य ॥ 12 ॥
 वङ्गानि निदालसविभ्रमाणि वाक्यानि किञ्चिन्मबिरालसानि ।
 भ्रूक्षेपजिहानि च वीक्षितानि चकार कामः प्रमदाजनानाम् ॥ 13 ॥
 प्रियङ्गकालीयककुङ्कुमाक्तं स्तनेषु गौरुषु विलासिनीभिः ।
 अलिप्यते चन्दनमङ्गनाभिर्मदालसाभिर्मृमनाभियुक्तम् ॥ 14 ॥
 गुरुणि वासांसि विहाय तूर्णं तनूनि लाक्षारसरञ्जितानि ।
 सुगन्धिकालागुरुधूपितानि धाते जनः काममदालसाङ्गः ॥ 15 ॥

सुनहरे कमल के समान सुहावने और वेलबूटों से चीते हुए स्त्रियों के मुखों पर फैली हुई पसीने की बूँदें ऐसी दिखाई पड़ती हैं मानो अनेक प्रकार के रत्नों के बीच बहुत से मोती ला जड़े गए हों ॥ 8 ॥ कामवासना से पीड़ित स्त्रियाँ अपने प्रेमियों के सामने अंग उधाड़ती हुई उन्हें ललचा भी रही हैं और अपनी अधीरता भी दिखा रही हैं ॥ 9 ॥ इन दिनों स्त्रियों में इतनी कामवासना भर आती है कि उनके अंग दुबले, पतले और पीले पड़ जाते हैं, वे मंद से अलसाई-सी हो जाती है, बार-बार जँभाइयाँ लेती हैं और उनके सारे शरीर में कुछ अनोखा ही रसीलापन आ जाता है ॥ 10 ॥ इन दिनों लोग दिन में तो वृक्षों की शीतल छाया में रहना चाहते हैं, रात में चन्द्रमा की किरणों का आनन्द लेना चाहते हैं, सोने के लिये सुहावनी ठंडी कोठी में पहुँच जाते हैं और थोड़ी-थोड़ी ठंड पड़ने के कारण अपनी प्यारियों को कसकर छाती से लिपटाए रहते हैं ॥ 11 ॥ इन दिनों कामदेव भी स्त्रियों की मदमाती आँखों में चञ्चलता, उनके गालों में पीलापन, स्तनों में कठोरता, कमर में गहरापन और नितम्बों में मोटापा बनकर आ बैठा है ॥ 12 ॥ काम से स्त्रियाँ अलसा जाती हैं, मद से उनका चलना-बोलना भी कठिन हो जाता है और टेढ़ी भौहों से उनकी चितवन बड़ी कँटीली जान लगती है ॥ 13 ॥ मदसे अलसाई हुई रसीली स्त्रियाँ प्रियङ्ग, कालीयक और केसर के घोल में कस्तूरी मिलाकर अपने गोरे-गोरे स्तनों पर चन्दन का लेप कर रही हैं ॥ 14 ॥ इन दिनों कामदेव के मदमें अलसाई हुई स्त्रियाँ अपने मोटे वस्त्र उतार-उतारकर महावर से रंगे और कालागुरु के धुँए से सुगन्धित महीन कपड़े पहनने लगी हैं ॥ 15 ॥ देखो। यह नर कोयल आम की मञ्जरियों के रसमें मद-मस्त होकर अपनी प्यारी को बड़े प्रेम से प्रसन्न होकर चूमे जा रहा है। कमल

पुंस्कोकिलश्चूतरसासवेन मत्तः प्रियां चम्बति रागद्वष्टः ।
 कूजद्विरेफाऽप्ययमम्बुजस्थः प्रियं प्रियायाः प्रकरोति चादु ॥ 16 ॥
 तापप्रवालस्तबकावनभाश्चूतदुमाः पुष्पितचारुशाखाः ।
 कुर्वन्ति कामं पवनावधूताः पर्युस्सुकं मानसमङ्गनानाम् ॥ 17 ॥
 आमलतो विदुमरागताम्रं सपल्लवाः पुष्पचयं दधानाः ।
 कुर्वन्त्यशोका हृदयं सशोकं निरीक्ष्यमाणा नवयौवनानाम् ॥ 18 ॥
 मत्तद्विरेफपरिचुम्बितचारुपुष्पा मन्दानिलाकुलितनम्रमृदुप्रवालाः ।
 कुर्वन्ति काममनसां सहसोत्सुकत्वं बालातिमुक्तलतिकाः समवेक्ष्यमाणाः ॥ 19 ॥
 कान्तामुखद्यु त्रिजुषामचिरोदगतानां शोभां परां कुरबकहुममञ्जरीणाम् ।
 दृष्ट्वा प्रिये सहृदयस्य भवेन्न कस्य कंदर्पबाणपतनव्यथितं हि चेतः ॥ 20 ॥
 आदीप्तवह्निसदृशीर्मरुताऽवधूतैः सर्वत्र किंशुकवनैः कुसुमावनम्रैः ।
 सद्यो वसन्तसमयेन समाचितेयं रक्तांशुका नववधूरिव भाति भूमिः ॥ 21 ॥
 किं किंशुकैः शुक्लमुखच्छविभिर्न भिन्नं किं कणिकारकुसुमैर्न कृतं मुदग्धम् ।
 यत्कोकिलः पुनरयं मधुरैर्वचोभिर्यूनं मनः सुवदनानिहितं निहन्ति ॥ 22 ॥
 पुस्कोकिलैः कलवचोभिरुपात्तहृषैः कूजद्विरुन्मदकलानि वचांसि भृङ्गैः ।
 लज्जान्वितं सविनयं हृदयं क्षणेन पर्याकुलं कुलगृहेऽपि कृतं वधूनाम् ॥ 23 ॥

पर बैठकर गुनगुनाता हुआ यह भौरा भी अपनी प्यारी का मनचाहा काम किए डाल रहा है ॥ 16 ॥
 लाल-लाल कोंपलों के गुच्छों से झुके हुए और सुन्दर मञ्जरियों से लदी हुई शाखाओं वाले आम के पेड़
 जब पवन के झोंके में हिलने लगते हैं तब उन्हें देख-देख कर स्त्रियों के मन भी उछलने लगते हैं ॥
 17 ॥ अशोक के जिन वृक्षों में कोंपलें फूट निकली हैं और जिनमें मूँगे जैसे लाल-लाल फूल नीचे से
 ऊपर तक खिल आए हैं, उन अशोक के वृक्षों की देखते ही नवयुवतियों के हृदय में शोक होने लगता
 है ॥ 18 ॥ जिन छोटी-छोटी अतिमुक्त लताओं के फूलों को मतवाले भौर चूसे जा रहे हैं और जिनके
 नये कोमल पत्ते मन्द-मन्द पवन में झूल रहे हैं उन्हें देख-देखकर कामिनियों का मन अचानक डौँवाँडोल
 हो जाता है ॥ 19 ॥ देखो प्यारी! अभी खिले हुए और स्त्रियों के सुख के समान सुन्दर लगने वाले कुरबक
 के फूलों की अनोखी शोभा देखकर किस रसिक का मन कामदेव के बाण से घायल नहीं हो जाता ?
 ॥ 20 ॥ वसन्त के दिनों में पवन के झोंके से हिलती हुई जिन पलास के वृक्षों की फूली हुई शाखाएँ
 जलती हुई आग की लपटों के समान दिखाई देती हैं, उन पलास के जंगलों से ढकी हुई पृथ्वी ऐसी लग
 रही है मानो लाल साड़ी पहने हुए कोई नई दुलहिन आई बैठी हो ॥ 21 ॥ अपनी प्यारियों के मुखड़ों
 पर रीझे हुए प्रेमियों के हृदय को सुग्गे की ठोर के समान लाल टेसू के फूलों ने ही क्या कुछ कुछ कम
 टूक-टूक कर रक्खा था या कनैर की फूलों ने ही क्या कुछ कम जला रक्खा था कि यह नर कोयल भी
 अपनी मीठी कुक सुना-सुनाकर उन्हें और मार डालने को उतारू हो बैठा है ॥ 22 ॥ मगन होकर मीठे
 स्वर में कूकने वाले नर कोयलों ने और मस्ती से गूँजते हुए भौरों ने सती स्त्रियों के लाज और मर्यादा
 भरे हृदयों को भी थोड़ी देर के लिये झकझोर डाला है ॥ 23 ॥ वसन्त में पाला तो पड़ता ही नहीं है,

आकम्पयन्कुसुमिताः सहकारशाखा विस्तारयन्परभृतस्य वचांसि दिक्षु ।
 वायुर्विवाति हृदयानि हरन्नराण नीहारपातविगमात्सुभगो वसन्ते ॥ 24 ॥
 कुन्दैः सविभ्रमवधूहसितावदातैरुदयोतितान्युपवनानि मनोहराणि ।
 चितं मुनेरपि हरन्ति निवृत्तरागं प्रागेव रागमलिनानि मनांसि यूनाम् ॥ 25 ॥
 आलम्बिहेमरसनाः स्तनसक्तहाराः कन्दर्पदर्पशिथिलीकृतगात्रयष्ट्यः ।
 मासे मधौ मधुरकोकिलभृङ्गनादैर्नार्या हरन्ति हृदयं प्रसभं नराणाम् ॥ 26 ॥
 नानामनोज्ञकुसुमद्रुमभूषितान्तान्दृष्टान्यपुष्टनिनादकुलसानुदेशान् ।
 शैलेयजालपरिणद्धशिलातलान्तान्दृष्ट्वा जनः क्षितिभृतो मुदमेति सर्वः ॥ 27 ॥
 नेत्रे निमीलयति रोदितियातिशोकघ्राणं करेणविरुणद्धिविरौति चोच्चैः ।
 कान्तावियोगपरिखेदितचित्तवृत्तिर्दृष्ट्वाऽध्वगः कुसुमितान्सहकारवृक्षाव् ॥ 28 ॥
 समदमधुकराणां कोकिलानां च नादैः कुसुमितसहकारैः कर्णिकारैश्च रम्यः ।
 इषुभिरिव सुतीक्ष्णमनिसं मानिनीनां तुदति कुमुममासो मन्मथोद्दीपनाय ॥ 29 ॥
 रुचिरकनककान्तीन्मुञ्चतः पुष्पराशीन्मृदुपवनविधूतान्युषितांश्चूतवृक्षान् ।
 अभिमुखमभिवीक्ष्य क्षामदेहोऽपि मार्गे मदनशरनिधातैर्भोमेति प्रवासी ॥ 30 ॥
 परभृतकलगीतैर्द्वादिभिः सद्वाचांसि स्मितदशनमयूखान्कुन्दपुष्पप्रभाभिः ।
 करकिसलयकान्ति पल्लवैर्विदुमामैरुपहसति वसन्तः कामिनीनामिदानीम् ॥ 31 ॥

इसलिये आजकल मञ्जरियों से लदी आम की डालों को हिलाने वाला और कोयल के संदेशों को चारों ओर फैलाने वाला सुन्दर वसन्ती पवन लोगों का मन हरता हुआ बह रहा है ॥ 24 ॥ कामिनियों की मस्तानी हैंसी के समान उजले कुन्द के फूलों से चमकते हुए मनोहर उपवन जब मोह-माया से दूर रहने वाले मुनियों तक का मन हरे ले रहे हैं तब नवयुवकों के प्रेमी हृदय की तो बात ही क्या है ? ॥ 25 ॥ चैत में जब नर कोयल की कूक सुनाई देने लगती है, भौरें गूँजने लगते हैं, उस समय कमर में सोने की करधनी बाँधे, स्तनों पर मोती के हार लटकाए और काम की उत्तेजना से ढीले शरीर वाली स्त्रियाँ बलपूर्वक लोगों का मन अपनी ओर खींचे लेती हैं ॥ 26 ॥ जिन पर्वतों की चोटियों के ओर-छोर पर सुन्दर फूलों के पेड़ खड़े हैं, जिन पर कोयलों की कूक और भौरों की गूँज सुनाई दे रही है और जिनपर इधर-उधर चट्टानें फैली पड़ी हुई हैं, उन पथरीले पहाड़ों को देख-देखकर सबको बड़ा आनन्द मिलता है ॥ 27 ॥ अपनी स्त्रियों से दूर रहने के कारण जिनका जी बेचैन हो रहा है, वे यात्री जब मञ्जरियों से लदे हुए आम के पेड़ों को देखते हैं तब अपनी आँखें बन्द करके रोते हैं, पछताते हैं, अपनी नाक बन्द कर लेते हैं कि कहीं मञ्जरियों की भीनी-भीनी महक नाक में पहुँचकर स्त्रीकी याद न दिला दे और फूट-फूटकर रोने लगते हैं ॥ 28 ॥ कोयल और मदमाते भौरों के स्वरों से गूँजने वाले बौरें हुए आम के पेड़ों से भरा हुआ यह वसन्त मनोहर कनैर के फूलों वाले अपने पैने बाणों से मानिनी स्त्रियों के मन इसलिये बाँधे डाल रहा है कि उनमें प्रेम जग जाय ॥ 29 ॥ परदेस में पड़ा हुआ यात्री एक तो यों ही बिछोह से दुबल-पतला हुआ रहता है तिस पर जब वह मन्द-मन्द बहने वाले पवन के झोंके से हिलते हुए और सुन्दर सुनहले बौर गिराने वाले, बौरें हुए आम के वृक्षों को अपने सामने मार्ग में देखता है तब तो वह कामदेव के बाणों की चोट खाकर मूर्छित ही होकर गिर पड़ता है ॥ 30 ॥ इस समय जी हुलसाने

कनककमलकान्तराननैः पाण्डुगण्डैरुपरिनिहितहारैश्चन्दनार्द्रैः स्तनान्तैः ।
 मदजनितविलासैर्दृष्टिपातैर्मुनीन्द्रान्स्त्रनभरनतनार्यः कामयन्ति प्रशान्तान् ॥ 32 ॥
 मधुसुरभि मुलाब्जं लोचने लोघताम्रे नवकुरवबकपूर्णः केशपाशो मनोज्ञः ।
 गुरुतरकुचमुग्मं श्रोणिबिम्बं तथैव न भवति किमिदानीं योषितां मन्मथाय ॥ 33 ॥
 आकम्पितानि हृदयानि मगस्विनीनां वातैः प्रफुल्लसहकारकृताधिवासैः ।
 उत्कूजितैः परभृतस्य मदाकुलस्य श्रोत्रप्रियैर्मधुकरस्य च गोतनादैः ॥ 34 ॥
 रम्मः प्रदोषतमयः स्फुटचन्द्रभासः पुँस्कोकिलस्य विरुतं पवनः सुगन्धिः ।
 मतालियूथविरुतं निशि सीधुपानं सर्व रसायनमिदं कुसुमायुधस्य ॥ 35 ॥
 रक्ताशोकविकल्पिताधरमधुमर्तद्विरेफस्वनः

कुन्दापीडविशुद्धदन्तनिकरः प्रोत्कुलपद्माननः ।

चूतामोदसुगन्धिमन्दपवनः शृङ्गारदीक्षागुरुः

कल्पान्तं मदनप्रियो दिशतु वः पुष्पागमो मङ्गलम् ॥ 36 ॥

मलयपवनविद्धः कोकिलालापरम्यः

सुरभिमधुनिषेकाल्लब्धगन्धप्रबन्धः ।

विविधमधुपयूथैर्वेष्ट्यमानः समन्ता

द्रवतु तव वसन्तः श्रेष्ठकालः सुखाय ॥ 37 ॥

वाले कोकिल के गीत सुना सुनाकर यह वसन्त सभी सुन्दरियों की रस भरी बातों की खिल्ली उड़ा रहा है। अपने कुन्द के फूलों की चमक दिखाकर यह वसन्त स्त्रियों की मुस्कान पर चमक उठने वाले दाँतों की दमक की हँसी उड़ा रहा है और मूँगे-जैसी लाल-लाल कोमल पत्तों की ललाई दिखाकर कामिनियों की कोंपलों-जैसी कोमल और लाल हथेलियों को लजा रहा है ॥ 31 ॥ स्तनों के बोझ से झुकी हुई स्त्रियाँ अपने स्वर्ण कमल के समान सुनहरे गालों वाले मुँह से, गीले चन्दन से पुते और मोतियों के हार पड़े हुए स्तन से और मतवाली चंचलता-भरी चितवन से, शान्त चित्तवाले तपस्वियों का मन भी डिगाए डाल रही हैं ॥ 32 ॥ आसव से महकता हुआ स्त्रियों का कमल के समान मुख, लोध-जैसी उनकी लाल-लाल आँखें, नए कुरबक के फूलों से सजे हुए उनके सुन्दर जूड़े, उनके बड़े-बड़े गोल-गोल स्तन और वैसे ही बड़े-बड़े गोल-गोल नितम्ब क्या लोगों के मनमें कामदेव को नहीं जगा रहे हैं ? ॥ 33 ॥ बौरे हुए आम के पेड़ों में बसे हुए पवन से गदमस्त कोकिल की कूक से और भौरों की मनभावनी गुँजारों से तो बड़ी-बड़ी मनस्विनी स्त्रियों तक के मन भी डिग जाते हैं ॥ 34 ॥ लुभावनी साँझें, छिटकी हुई चाँदनी, कोयल की कूक, सुगन्धित पवन, मतवाले भौरों की गुँजार और रात में आसव पीना, ये सब कामदेव को जगाए रखने वाले रसायन ही तो हैं ॥ 35 ॥ अमृत-भरे अधरों के समान लाल अशोक से मतवाले भौरों की गुँज से दाँतों की चमकती हुई पाँतों-जैसे उजले कुन्द के हारों से भली-भाँति खिले हुए कमल के समान मुखों से और आम के बौरों की सुगन्ध में बसे हुए मन्द-मन्द पवन से यह शृंगार की शिक्षा देने वाला और काम का मित्र वसन्त आप लोगों को सदा प्रसन्न रखे ॥ 36 ॥ मलय के वायु वाला, कोकिल की कूक से जी लुभाने वाला, सदा सुगन्धित मधु बरसाने वाला और चारों ओर भौरों से घिरा हुआ वसन्त आपको सुखी और प्रसन्न रखे ॥ 37 ॥ आम के बौर ही जिनके बाण हैं, टेसू के फूल ही धनुष हैं, भौरों की पाँत ही डोरी है, मलयाचल से आया हुआ पवन ही मतवाला हाथी है, कोयल ही गायक है और शरीर न रहते

आग्नी मञ्जुलमञ्जरी वरशरः सत्किशुकं यद्धनु
 ज्या यस्यालिकुलं कलङ्करहितं छत्रं सितांशुः सितम् ।
 मत्तेभो मलयानिलः परभृता यद्वन्दिनो लोकजि
 त्सोऽयं वो वितरीतरीतु वितनुर्भद्रं वसन्तान्दितः ॥ 38 ॥
 ॥ इति महाकवि श्रीकालिदास विरचिते ऋतुसंहार काव्ये
 वसन्तवर्णनं नाम षष्ठः सर्गः



भी जो सारे संसार को जीते बैठा है, वह कामदेव अपने साथी वसन्त के साथ आपका कल्याण करें
 ॥ 38 ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदास के रचे हुए ऋतुसंहार काव्य में वसन्त-वर्णन नामका छठा सर्ग पूर्ण
 हुआ ॥



॥ ऋतुसंहार काव्य पूर्ण हुआ ॥

द्वितीयं खण्डम्
(दूसरा खण्ड)

महाकविश्रीकालिदासस्य नाटकानि [महाकवि श्रीकालिदास के नाटक]



॥ अभिज्ञानशाकुन्तलम् ॥

(नाटकम्)

(नाटक की कथा इतिहास-प्रसिद्ध होती है, उसका नायक उदात्त, धीर गंभीर, प्रतापी, उत्साही राजा, राजर्षि, देवता या दिव्यादिव्य पुरुष होता है, उसके चार या पाँच कार्य-सहायक होते हैं। नाटक में पाँच से दस अंक तक होते हैं। पाँच से अधिक अंकों वाले नाटक को महानाटक कहते हैं। नाटक की रचना गी की पूँछ की तरह हो, अर्थात् अंक उत्तरोत्तर छोटे होते चलते हैं। निर्वहण या अन्त अद्भुत ढंग से होता है। यह कथा महाभारत से ली गई है किन्तु उसके इतिवृत्त का नाटकीय संविधानक कालिदास ने अपने कौशल से बनाया है।)

पात्र-परिचयः

पुरुषाः-

सूत्रधारः—नाटकस्य प्रबन्धकर्त्ता (नाटक का प्रबन्धकर्त्ता)

दुष्यन्तः—हस्तिनापुरस्य सम्राट् (हस्तिनापुरका सम्राट्)

भद्रसेनः—सेनापतिः ।

मादव्यः—विदूषकः ।

सर्वदमनः—दुष्यन्तस्य पुत्रः [भरतः] (दुष्यन्त का पुत्र भरत)

सोमरातः—राज्ञः धर्मगुरुः । (राजा का धर्मगुरु)

रैवतकः—दौवारिकः । (द्वारपाल)

करभकः—राजसेवकः । (राजसेवक)

पार्वतायनः—कञ्चुकी । (रनिवासका सेवक)

वैतालिकौः—राजचारणौ । (दो चारण)

वैखानसः, शार्ङ्गरवः,] कण्व ऋषेरन्तेवासिनः ।

शारद्वतः, हारीतः, गौतमः] (कण्व ऋषि के आश्रमवासी)

श्यामलः—दुष्यन्तस्य श्यालः, प्रधान राजपुरुषः । (दुष्यन्त का साला, कोतवाल)

धीवरः—मत्स्यग्राही । (मछुहारा)

सूचकः, जानुकः—राजपुरुषौ । (सिपाही)

मातलिः—इन्द्रस्य सारथिः । (इन्द्र का सारथी)

मारीचः—(कश्यपः) प्रजापतिः । (मरीचि के पुत्र प्रजापति कश्यप)

दुर्वासा—ऋषिः ।

स्त्रियः-

नटीः—सूत्रधारस्य पत्नी । (सूत्रधार की पत्नी)

शकुन्तलाः—कण्वस्य पालिता कन्या । (कण्व की पालिता कन्या)

अनसूया, प्रियंवदा—शकुन्तलायाः सख्यौ । (शकुन्तला की सखियाँ)

गौतमी—एका तपस्विनी । (तपस्विनी)

चतुरिका-

परभृतिका-

मधुकरिका-

] राजसेविकाएँ
(मालिनें)

प्रतिहारी, यवनी—परिचारिके । (सेविकाएँ)

सानुमती—एका अप्सरा । (अप्सरा)

अदितिः—कश्यपस्य पत्नी । (कश्यप की पत्नी)

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

॥ अभिज्ञानशाकुन्तलम् ॥

प्रथमोऽङ्कः

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या यहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री

ये द्वे कालं विपसः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम् ।

यामाहुः सर्वबीजप्रकृतितिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः

प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरयतु वस्ताभिरष्टाभरीशः ॥१॥

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधारः—अन्नमतिविस्तरेण । (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) आर्ये! यदि नेपथ्यविधानमवतितम्
इतस्तावदागम्यताम् ।

(प्रविश्य)

नटी—बज्जुत्त इअं म्हि । आणवेदु अज्जो को णिठोओ अणुचिट्ठिअदुत्ति । [आर्यपुत्र इयमस्मि ।
आज्ञापयतु आर्यः को नियोगोऽनुष्ठीयतामिति ॥]

प्रथम अंक

शिवजी उस जल के रूप में हमें प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं जिसे ब्रह्मा ने सबसे पहले बनाया उस अग्नि के रूप में दिखाई देते हैं जो मंत्र-विधि के साथ दी हुई हवन-सामग्री ग्रहण करती है; उस होता के रूप में दिखाई देते हैं जिसे यज्ञ करने का काम मिला हुआ है; उन चन्द्र और सूर्य के रूप में दिखाई देते हैं जो दिन और रात का समय निश्चित करते हैं; उस आकाश के रूप में दिखाई देते हैं जिसका गुण शब्द है और जो संसार भर में रमा हुआ है; उस पृथ्वी के रूप में दिखाई देते हैं जो सब बीजों को उत्पन्न करने वाली बताई जाती है और उस वायु के रूप में दिखाई देते हैं जिसके कारण सब जीव जी रहे हैं । जल, अग्नि, होता, सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी और वायु के आठ प्रत्यक्ष रूपों में जो भगवान् शिव सबको दिखाई देते हैं वे आप लोगों का कल्याण करें ॥ १ ॥

(मंगलाचरण हो चुकने पर)

सूत्रधार—अब इतना बहुत हो गया । (नेपथ्य की ओर देखकर) आर्ये! यदि सजावशृंगार पूरा हो चुका हो तो इधर चली आओ ।

(प्रवेश करके)

नटी—आ गई आर्यपुत्र! आज्ञा कीजिए आज कौन-सा नाटक खेला जाय ।

सूत्रधार—आर्ये! इयं हि रसभावविशेषदीक्षागुरोर्विक्रमादित्यस्याभिरूपभूयिष्ठा परिषत् । अस्याञ्च कालिदासग्रथितवस्तुनाऽभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नवेन नाटकेनो-पस्थातव्यमस्माभिः । तत्प्रतिपात्रमाधीयतां यत्नः ।

नटी—सुविहिदम्पजोअदाए अज्जस्य ण किं वि परिहावइस्तदि । (सुविहितप्रयोगताऽऽर्यस्य न किमपि परिहापयिष्यते ।)

सूत्रधार—(सस्मितम्) आर्ये! कथयामि ते भूतार्थम्-

आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ।

बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ।। 2 ।।

नटी—(सविनयम्) अज्ज एव एदम् । अणन्तरकरणिज्जं दाव अज्जो आणवेदु ।

(आर्य एवमेतत् । अनन्तरकरणीयं तावदार्य आज्ञापयतु ।)

सूत्रधार—आर्ये! किमन्यदस्याः परिषदः श्रुतिप्रमोदहेतोर्गीतात्करणीयमस्ति ।

नटी—अध कदमं उण उदुं अधिकरिअ गाइस्सम् । (अथ कतमं पुनर्कृतुं अधिकृत्य गास्यामि ।)

सूत्रधार—आर्ये! नन्विममेव तावदचिरप्रवृत्तमुपभोगक्षमं ग्रीष्मसमयमधिकृत्य गीयताम् । सम्प्रति हि-

सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्गिसुरभिवनवाताः ।

प्रच्छायमुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः ।। 3 ।।

सूत्रधार—आर्ये! रस और भाव का चमत्कार दिखाने वाले कलाकारों के आश्रयदाता महाराज विक्रमादित्य की इस सभा को आज विशेष रूप से बड़े-बड़े विद्वानों ने सुशोभित किया है इसलिये इन्हें कालिदास का नया रचा हुआ अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटक ही दिखाना चाहिए । तो जाकर सब पात्रों को ठीक-ठाक कर डालो !

नटी—आपने तो पहले से ही सबको ऐसा अच्छा सिखाकर पक्का कर दिया है कि कोई उँगली नहीं उठा सकता ।

सूत्रधार—(मुस्कराकर) आर्ये! सच्ची बात तो यह है कि 'जबतक विद्वान् लोग ही न मान लें कि नाटक बढ़िया है तब तक मैं नाटक को सफल नहीं समझता क्योंकि पात्रों को चाहे जितने भी अच्छे ढंगसे सिखा दिया जाय फिर भी मन को पूरा सन्तोष नहीं हो पाता ।। 2 ।।

नटी—(विनय के साथ) जी हाँ, यह तो ठीक है आर्य! तो आप जो आज्ञा दें वही अब किया जाय ।

सूत्रधार—आर्ये! इस सभा के सदस्यों के कानों को आनन्द देने वाला कोई बढ़िया गीत छेड़ने से बढ़कर और क्या होगा ।

नटी- तो किस ऋतुपर गीत छेड़ा जाय ।

सूत्रधार—ग्रीष्म ऋतु अभी-अभी आई है और बड़ी सुहावनी भी लग रही है । इसलिये इस समय ग्रीष्म ऋतु पर ही कोई गीत छेड़ सुनाओ । देखो-

इन दिनों नहाने में जल बड़ा सुहाता है, पाटल में बसा हुआ वन का पवन भी बड़ा अच्छा लगता है, वृक्षों की घनी छाया में नींद भी अच्छी आती है और आजकल की सन्ध्या तो इतनी सुहावनी होती है कि कुछ पूछो मत ।। 3 ।।

नटी—तह। (तथा) (इति गायति)

ईसीसिचुं बिआइँ भमरेहिँ सुउमारदरकेसरसिहाइँ।

ओदंसअंति दअमाणा पमदाओ सिरीसकुसुमाइँ ॥ 4 ॥

(ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारतरकेसरशिखानि।

अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि ॥)

सूत्रधार—आर्ये! साधु गीतम्। अहो रागनिविष्टचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रङ्ग। तदिदानीं कतमं प्रयोगमाश्रित्यैनमाराधयामः।

नटी—णं अज्जमिस्सेहिँ पढकं एव्व आणत्तं अहिण्णाणसाउन्द लं णाम अपुव्वं णाडअं पओए अधिकरीअदत्ति। (नन्वार्यमिश्रैः प्रथममेवाज्ञप्तमभिज्ञानशाकुन्तलं नामापूर्वं नाटकं प्रयोगेऽधिक्रियतामिति।)

सूत्रधार—आर्ये! सम्यगनुवोधितोऽस्मि। ननु अस्मिन्क्षणे विस्मृतं खलु मया। कुत-

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हतः।

(कर्ण दत्वा)

एष राजेव दुष्यन्तः सारंगेणातिरंहसा ॥ 5 ॥

(इति निष्क्रान्तो)

॥ इति प्रस्तावना ॥

(ततः प्रविशति मृगानुसारी सशरचापहस्तो राजा रथेन सूतश्च।)

नटी—जी अच्छा। (गाती है)

जिन शिरीष-सुमनों के कोमल केसर-दलकी मधुर शिखाएँ।

चूम-चूमकर रसमय भौरि फिर-फिर बैठ-बैठ उड़ जाएँ।

दया-भाव से उनको चुनकर सहृदयता से लेकर सत्वर।

कर्णफूल रचकर कानों में पहन रहीं उनको प्रमदाएँ ॥ 4 ॥

सूत्रधार—वाह आर्ये वाह! बहुत बढ़िया गाया। देखो! तुम्हारे राग से लोग ऐसे बेसुध हो उठे हैं कि सारी रंगशाला चित्र-लिखी-सी जान पड़ने लगी है। तो अब कौन-सा नाटक दिखाकर इनका मन बहलाया जायगा।

नटी—आपने ही तो अभी-अभी कहा था न कि अभिज्ञानशाकुन्तल नाम का नया नाटक खेला जाय।

सूत्रधार—ओह, ठीक स्मरण दिलाया आर्ये! मैं तो भूल ही गया था, क्योंकि-तुम्हारे गीत के मनोहर राग ने मेरे मन को बलपूर्वक वैसे ही खींच लिया-

(कान लगाकर सुनते हुए)

जैसे यह वेग से दौड़ता हुआ हरिण, राजा दुष्यन्त को यहाँ-तक खींचे ले आया है ॥ 5 ॥

(दोनों का प्रस्थान)

(प्रस्तावना पूर्ण हुई)

(सारथि के साथ रथ पर बैठे हुए धनुष-बाण-धारी राजा दुष्यन्त, मृग का पीछा करते हुए प्रवेश करते हैं।)

सूतः—(राजानं मृगं चावलोक्य) आयुष्मन्!

कृष्णसारे ददच्चक्षुस्त्वयि चाधिज्यकार्मुके।

मृगानुसारिणं साक्षात्पश्यामीव पिनाकिनम् ॥ 6 ॥

राजा—सूत! दूरभमुना सारङ्गेण वयमाकृष्टाः। अयं पुनरिदानीमपि-

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः

पशुचार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् यसा पूर्वकायम्।

दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखम्रशिभिः कीर्णवल्ग्व

पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्या प्रयाति ॥ 7 ॥

(सविस्मयम्)—तदेष कथमनुपतत एव मे प्रयत्नप्रेक्षणीयः संवृत्तः।

सूतः—आयुष्मन्! उद्घातिनी भूमिरिति मया रश्मिसंयमनाद्रषस्य गन्दीकृतो वेगः। तेन मृग एष विप्रकृष्टान्तरः संवृत्तः। संप्रति समदेशवर्तिनस्ते नस्ते न दुरासदो भविष्यति।

राजा—तेन हि मुच्यन्तामभीषवः।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान्! (रथवेगं निरूप्य) आयुष्मन्! पश्य पश्य-

मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकाया निष्कम्पचामरशिखा निभृतोर्ध्वकर्णाः।

आत्पोद्धतैरपि रजोभिरलङ्घनीया धावन्त्यमी मृगजवाक्षमयेव रथ्याः ॥ 8 ॥

सारथि—(राजा और मृग को देखकर) आयुष्मन्!

इस काले मृग पर आँखें जगाए और धनुष की डोरी चढ़ाए हुए तो आप ऐसे दिखाई पड़ रहे हैं मानों मृग के पीछे दौड़ते हुए साक्षात् महादेव ही हों ॥ 6 ॥

राजा—सूत ! यह हरिण तो हमें बहुत दूर खींच लाया है। और अब भी यह-

बार—बार पीछे मुड़कर इस रथ को एकटक देखते हुए सुन्दर लगने वाला यह हरिण बाण लगने के डर से अपने पिछले आधे शरीर को सिकोड़कर आगे के भाग से मिलाता हुआ कैसा चौकड़ी भरता चला जा रहा है। थकावट के कारण इसके खुले हुए मुँह से आधी चबाई हुई कुशा मार्ग में ही गिरती चली जा रही है और देखो! यह इतनी लम्बी कुलाचें भर रहा है कि इसके पाँव भी धरती पर नहीं पड़ रहे हैं ऐसा लगता है मानो यह आकाश में उड़ा चला जा रहा हो ॥ 7 ॥

(आश्चर्य के साथ) अरे! हम ठीक इसके पीछे-पीछे लगे चले आ रहे हैं फिर भी हरिण आँख से ओझल कैसे हो गया।

सारथि—आयुष्मन्! ऊँची-नीची भूमि के कारण मैंने रास खींचकर रथ का वेग कम कर दिया था, इसीलिये मृग बहुत दूर निकल गया है। पर आगे समथल है, अब आप उसे हाथ में आया ही समझिए।

राजा—तो करो रास ढीली।

सारथि—जैसी आयुष्मान् की आज्ञा। (रथ का वेग देखकर) देखिए आयुष्मान्-

रास ढीलते ही अपने आगे का शरीर फैलाकर और माथे की चौरी सीधी खड़ी करके ये घोड़े इतने वेग से सरपट दौड़ रहे हैं कि इनकी टापों से उठी हुई धूल भी इन्हें छू पा रही है। ऐसा जान पड़ता है मानों ये हरिण की दौड़ से ही होड़ कर रहे हों ॥ 8 ॥

राजा—(सहर्षम्) नूनमतीत्य हरितो हरींश्च वत्तन्ते वाजिनः। तथा हि-

यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद्विपुलतां

यदर्धं विच्छिन्नं भवति कृतसंधानमिव तत्।

प्रकृत्या यद्वक्त्रं तदपि समरेखं नयनयो-

न मे दूरे किञ्चित्संशयमपि न पार्श्वे रयजवात् ॥ 9 ॥

सूत! पश्यैनं व्यापाद्यमानम्। (इति शरसंधानं नाटयति)।

(नेपथ्ये)

भो भो राजन्! आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः।

सूतः—(आकर्ण्यवलोक्य च) आयुष्मन्! अस्य खलु ते बाणपातवर्तिनः कृष्णसारस्यान्तरे तपस्विन उपस्थिताः।

राजा—(ससंभ्रमम्) तेन हि प्रगृह्यान्तां वाजिनः।

सूतः—तथा। (इति रथं स्थापयति)।

(ततः प्रविशत्यात्मना तृतीयो वैखानसः)

वैखानसः—(हस्तमुद्यम्य) राजन्! आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः।

न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्

मृदुनि मृगशरीरे तुलराशाविवाग्निः।

दव दत हरिणकानां जीवितञ्चातिलोलं

क्व च निशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते ॥ 10 ॥

राजा—(प्रसन्न होकर) सचमुच इन घोड़ों ने तो सूर्य और इन्द्र के घोड़ों को भी दौड़ में पछाड़ डाला है क्योंकि—जो वस्तु दूर से पतली दिखाई देती थी वह तुरन्त मोटी हो ही जा रही है, जो बीच से कटी जान पड़ती थी वह झट ऐसी जान पड़ने लगी है मानो उसे किसी ने जोड़ दिया हो और जो स्वभावतः टेढ़ी वस्तुएँ हैं वे आँख को सीधी-सी दिखाई देने लगी हैं। रथ इतने वेग से दौड़ रहा है कि कोई वस्तु न तो मुझसे दूर ही पा रही है न समीप ही ॥ 9 ॥

सारथी! लो, देखो, अभी मारे डालता हूँ हरिण को। (बाण चढ़ाने का अभिनय करता है।)

(नेपथ्य में)

हैं! हैं! राजन्! यह आश्रम का मृग है। इसे मत मारना। मत मारना।

सारथि—(सुनकर और देखकर) आयुष्मन्! जिस काले हरिण पर आप अभी बाण चला रहे हैं उसके बीच में तो कई तपस्वी आए खड़े हैं।

राजा—(घबराकर) तो रोको घोड़ों को।

सारथि—अच्छी बात है (रथ खड़ा कर लेता है।)

(दो शिष्यों के साथ वैखानस का प्रवेश।)

वैखानस.....(हाथ उठाकर) राजन्! यह आश्रम का मृग है। इसे नहीं मारना होगा! नहीं मारना होगा!

इस पर कभी बाण न चलाइएगा। आपका बाण इसके कोमल शरीर के लिये वैसा ही भयंकर है जैसे रूई के गट्ठे के लिये अग्नि। बताइए, कहाँ तो बेचारे हरिणों के कोमल प्राण और कहाँ वज्र के समान कठोर आपके नोकीले बाण ॥ 10 ॥

तत्साधुकृतसंधानं प्रतिसंहर सायकम् ।

आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि ॥ 11 ॥

राजा—एष प्रतिसंहतः (इति यथोक्तं करोति ।)

वैखानसः सदृशमेतत्पुरुवंशप्रदीपस्य भवतः ।

जन्म यस्य पुरोर्वशे युक्तरूपमिदं तव ।

पुत्रमेवं गुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि ॥ 12 ॥

इतरौ—(हस्तमुद्यम्य) सर्वथा चक्रवर्तिनं पुत्रमाप्नुहि ।

राजा—(सप्रणामम्) प्रतिगृहीतम् ।

वैखानसः—राजनृ! समिदाहरणाय प्रस्थिता वयम् । एष खलु कण्वस्य कुलपतेरनुमालिनीतोरमाश्रमो दृश्यते । न चेदन्यकार्यातिपातः तत्प्रविश्य प्रतिगृह्यतामातिथेयः सत्कारः । अपि च-

रम्यास्तपोधनानां प्रतिहतविघ्नाः क्रियाः समवलोक्य ।

ज्ञास्यसि कियद्भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणाङ्क इति ॥ 13 ॥

राजा—अपि संहितोऽत्र कुलपतिः ।

वैखानसः—इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य देवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः ।

इसलिये यह जो आपने तानकर बाण चढ़ा रक्खा है इसे उतार लीजिए क्योंकि आपके शस्त्र तो पीड़ितों की रक्षा के लिये हैं निरपराधों को मारने के लिये नहीं ॥ 11 ॥

राजा—लीजिए, उतारे लेता हूँ (बाण उतारता है ।)

वैखानस—आप जैसे पुरुवंश के दीपक को यही शोभा देता है ।

जिसने पुरुवंश में जन्म लिया हो उसे यही करना ही चाहिए । भगवान् करे आपको ऐसे ही गुणों वाला चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त हो ॥ 12 ॥

दोनों शिष्य—(हाथ उठाकर) हाँ! निश्चय ही चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त हो ।

राजा—(प्रणाम करके) आपका आशीर्वाद सिरमाथे ।

वैखानस—राजनृ! हम लोग तो समिधा लेने निकले हैं । यह सामने मालिनी नदी के तीर-पर कुलपति कण्वका आश्रम है । यदि आपके काम-काज में कोई अड़चन न होती हो तो चलकर अतिथि-सत्कार ग्रहण कर लीजिएगा । और फिर-

वहाँ जब आप देखेंगे कि ऋषि लोग निर्विघ्न होकर सब अपनी-अपनी क्रियाएँ किए जा रहे हैं तब आप जान भी जायेंगे कि धनुष की डोरी की फटकार से बने घड़ोंवाली आपकी भुजा कहाँ-कहाँ तक पहुँचकर रक्षा किए डाल रही है ॥ 13 ॥

राजा—क्या कुलपति जी हैं यहाँ ?

वैखानस—अभी थोड़ी देर पहले ही अपनी पुत्री शकुन्तला को अतिथि-सत्कार का काम सौंपकर उसके छोटे ग्रहों की शान्ति के लिये सोमतीर्थ चले गए हैं ।

राजा—भवतु, तामेव द्रक्ष्यामि। सा खलु विदित भक्तिं मां महर्षेः करिष्यति।

वैखानसः साधयामस्तावत्। (इति सशिष्यो निष्क्रान्तः।)

राजा—सूत! तूर्णं चोदयाश्वान्। पुण्याश्रमदर्शनेन तावदात्मानं पुनीमहे।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान्। (इति भूयो रथवेगं निरूपयति।)

राजा—(समन्तादवलोक्य) सूत! अकथितोऽपि ज्ञायत एव यथाऽयमाश्रमाभोगस्तपोवनस्येति।

सूतः। कथमिव।

राजा—किं न पश्यति भवान्। इह हि-

नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः

प्रसिन्ध्याः क्वचिदिंगुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।

विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-

स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः॥14॥

अपि च

कुल्याम्भोभिः प्रसृतिचपलैः शाखिनो धौतमूलाः

भिन्नो रागः किसलयरुचामाज्यधूमोद्गमेन।

एते चार्वागुपवनभुविच्छिन्नदर्भाकुरायौ

नष्टाशङ्का हरिणशिशवो मन्दमन्दं चरन्ति॥15॥

सूतः—सर्वमुपपन्नम्।

राजा—अच्छी बात है। मैं उन्हीं से मिले लेता हूँ। वे ही महर्षि को बता देंगी कि मेरी उनमें कितनी भक्ति है।

वैखानस—तो हम लोग चलते हैं। (शिष्यों के साथ प्रस्थान)

राजा—सारथी! घोड़े बढ़ाओ। चलें, पवित्र आश्रम के दर्शन से आत्मा पवित्र कर लें।

सारथि—जैसी आयुष्मान की आज्ञा। (फिर रथ को वेग से दौड़ाता है।)

राजा—(चारों ओर देखकर) देखो सारथी! बिना बताए ही जान पड़ने लगा है कि हम आश्रम के तपोवन में पहुँच गए हैं।

सारथि—जी, कैसे ?

राजा—देख नहीं रहे हो? यहाँ-

कहीं तो वृक्षों के तले सुगों के घासलों से गिरे हुए तिन्नी के दाने बिखरे पड़े हैं, कहीं इधर-उधर पड़े हुए चिकने पत्थर बता रहे हैं कि इन पर हिंगोट के फल कूटे गए हैं, कहीं निडर खड़े हुए मृग इस विश्वास से रथ का शब्द सुन रहे हैं कि आश्रम में कोई हमें छेड़ेगा नहीं और कहीं नदी-तालाबों पर आने-जाने की बटियाओं में मुनियों के वल्कलों के छोरों से टपकते हुए जल की रेखाएँ बनी हुई हैं॥ 14॥

और देखो ! वायु के कारण लहरें लेने वाली पानी की गूलों से यहाँ के वृक्षों की जड़ें धुल गई हैं, घी के धुएँ से नई चमकीली कोंपलों का रंग धुँधला पड़ गया है और जहाँ-जहाँ उपवन से कुश उपाड़ ली गई हैं, वहाँ मृग-छौने निडर होकर धीरे-धीरे चरते चले जा रहे हैं॥ 15॥

सारथि—जी हाँ, यह सब तो अवश्य है।

राजा—(स्तोकमन्तरं गत्वा) तपोवननिवासिनामुपरोधो मामूत् । एतावत्येव रथं स्थापय यावदवतरामि ।

सूतः—धृताः प्रग्रहाः अवतरत्वायुष्मान् ।

राजा—(अवतीर्य) सूत विनितयेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम । इदं तावद् गृह्यताम् । (इति सूतस्याभरणानि धुनश्चोपनीयार्पयति ।) सूत ! यावदाश्रमनासिनः प्रत्वपेक्ष्याहमुपावर्ते तावदार्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः ।

सूतः—तथा (इति निष्क्रान्तः ।)

राजा—(परिक्रम्यावलोक्य च) इदमाश्रमद्वारम् यावत्प्रविशागि ।

(प्रविश्य निमित्त सूचयन्)

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य ।

कथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ॥ 16 ॥

(नेपथ्ये) इदो इदो सहीवो । (इत इतः सख्यौ)

राजा—(कर्ण दत्त्वा) अये? दक्षिणेन वृक्षावाटिकामालाप इव श्रूयते । वानदत्र गच्छामि । (परिक्रम्यावलोक्य च) अये! एतास्तपस्विकन्यकाः स्वप्रमाणानुरूपैः सेवनघटैर्बलिपादपेभ्यः पयो दातुमित एवाथिवर्तन्ते । (निपुणं निरूप्य) अहो मधुरमासां दर्शनम्—

राजा—(कुछ आगे बढ़कर) हम लोगों के आ जाने से कहीं तपोवन-नियसियों को कष्ट न हो, इसलिये रथ यहीं रोक लो । मैं उतरा जाता हूँ ।

सारथि—लीजिए, मैंने रास खींच ली है । आयुष्मान् उत्तर जायँ ।

राजा—(उतरकर) देखो सारथी! आश्रम में सीधे-सादे वेश से ही जाना चाहिए । इसलिये तबतक ये सब यहीं रक्खे रहो । (अपने आभूषण और धनुष उतारकर सारथी को देते हुए) और देखो सारथी! जब तक हम उधर से आश्रम-वासियों से मिलकर लौटते हैं तब तक तुम भी घोड़ों को ठंडा कर रक्खो ।

सारथी—जी, अच्छा । (प्रस्थान)

राजा—(घूमकर और देखकर) यही तो आश्रम का द्वार जान पड़ता है । इधर से ही भीतर चला चलता हूँ ।

(प्रवेश करके अच्छे शकुन देखकर)

इस शान्त तपोवन की भूमि में मेरी दाहिनी भुजा क्यों फड़की पड़ रही है । यहाँ भला क्या मिलने-जुलने वाला है । पर हाँ, जो होनी होती है (वह तो कहीं भी होकर रहती है) उसके द्वार तो सब कहीं होते हैं ॥ 16 ॥

(नेपथ्य में) अरी सखियों! इधर आओ, इधर ।

राजा—(सुनकर) अरे! फुलवारी की दाहिनी ओर किसी की बातचीत-जैसी सुनाई पड़ रही है । तो इधर ही चला चलता हूँ । (घूमकर और देखकर) आ हा! ये तपस्वियों की कन्याएँ अपने-अपने मेल के घड़े ले-लेकर छोटे-छोटे पौधों को सींचने के लिये इधर ही बढ़ी चली आ रही है ।

(ध्यान से देखकर) ओ हो! ये तो बड़ी ही सुन्दर हैं—

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य ।

दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः ॥ 17 ॥

यावदिमां छायामाश्रित्य प्रतिपालयामि । (इति विलोकयन्स्थितः ।)

(ततः प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह सखीभ्यां शकुन्तला ।)

शकुन्तला—हला सउन्दले! तुधत्तो वि तादकण्णस्स अस्समरुक्खआ पिअदरेत्ति तल्केशि केण णोमालिवाकुसुमपेलवा तुमं वि एदाणं आलवालपूरणे णिउत्ता । [हला शकुन्तले! त्वतोपि तातकण्वस्याश्रमवृक्षकाः प्रियतरा इति तर्कयामि येन नवगालिकाकुसुमपेलवा त्वगम्येतेषां भालवालपूरणे नियुक्ता ।]

शकुन्तला—ण केवलं तादणिओवो एव्व । अत्थि गे सोदरवणेहो वि एदेसु । (न केवलं तातनियोग एव । अस्ति गे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु ।) (इति वृक्षसेचनं रूपयति ।)

राजा—कथमियं सा कण्वदुहिता । असाधुदर्शी खलु तत्र भवान् कण्वः य इमायाश्रमधर्मे नियुक्ते ।

इदं किलाव्याजभनोहरं वपुस्तपःक्षयं साधयितुं य इच्छति ।

ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेतुमृविर्व्यवस्पति ॥ 18 ॥

भवतु । वादपान्तर्हित एव विश्रब्धं तावदेनां पश्यानि । (इति तथा करोति ।)

रनिवास की रानियों में भी जो सुन्दरता कठिनाई से देखने को मिलती है वह यदि इन आश्रम-वासिनी कन्याओं को मिली है तो यही समझना चाहिए कि जंगल की लताओं ने अपने गुणों से उद्यान की लताओं को भी लजा दिया है ॥ 17 ॥

अच्छा, इनके आने तक मैं यहीं ओट में खड़ा हो रहता हूँ । (देखता हुआ खड़ा रहता है ।)

(अपनी सखियों के साथ पौधों को सींचती हुई शकुन्तला का प्रवेश ।) शकुन्तला—अरी सखियो! इधर आओ, इधर ।

अनसूया—अरी शकुन्तला! मैं तो समझती हूँ कि पिता कण्व इन आश्रम के पौधों को तुझसे अधिक प्यार करते हैं, नहीं तो भला चमेली की कली—जैसे कोमल अंगवाली तुझको वे थाँवले भरने का काम क्यों सौंप जाते ।

शकुन्तला—मैं केवल पिता जी की आज्ञा से ही इन्हें नहीं सींच रही हूँ, मैं स्वयं भी इन्हें अपने सगे-जैसा प्यार करती हूँ ।

(पौधों में पानी देने का नाट्य करती है ।)

राजा—क्या यही कण्व ऋषिकी कन्या है ! पूज्य कण्व की यह बात सचमुच ठीक नहीं लगती कि इसे भी उन्होंने आश्रम के काम में जोत लगाया है । जो ऋषि इसके सहज सुन्दर शरीर को तपस्या के लिये साधना चाह रहे हैं वे सचमुच नीले कमल की पंखड़ी की धार से शमी का पेड़ काटने पर उतारू हुए बैठे हैं ॥ 18 ॥

अच्छा, तबतक निश्चिन्त होकर वृक्षों की ओट से इसे आँख भर देख तो लेता ही हूँ ।

(ऐसा ही करता है ।)

शकुन्तला—सहि अणसूए! अदिपिणद्धेण वक्कलेण पिअंवदाए णिअन्तिदह्मि। सिदिलेहि दाव णं।
[सखि अनसूये! अतिपिणद्धेन वल्कलेन प्रियंवदया नियन्त्रिताऽस्मि। शिथिलय तावदेतत्।]

अनसूया—तह। (तथा) (इति शिथिलयति।)

प्रियंवदा—(सहासम्) एत्थ पओहरवित्थारइत्तअं अतणो जोच्चणं उवालह। मं किं उवालंभेसि। (अत्र पयोधरविस्तारयितु आत्मनो यौवनमुपालभस्व। मां किमुपालभसे।)

राजा—काममनुरूपमस्या वपुषो वल्कलं न पुनरलंकारश्चियं न पुष्यति कुलः-

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।

इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥ 19॥

शकुन्तला—(अग्रतोऽवलोक्य) एसो वादेरिदपल्लवांगुलीहिं तुवरेदि विअ मं केसररुक्खओ। जाव णं संभावेमि। (एष वातेरितपल्लवांगुलीभिस्त्वरयतीव मां केसरवृक्षकः। यावदेनं संभावयामि।) (इति परिक्रामति।)

प्रियंवदा—हला सउन्दले! एत्थ एव्व दाव मुहुत्तअं चिट्ठ जाव तुए उवगदाए लदासणाहो विअ अअं केसररुक्खओ पडिभादि। (हला शकुन्तले! अत्रैव तावन्मुहूर्तं तिष्ठ यात्त्वक्योपगतया लतासनाथ इवायं केसरवृक्षकः प्रतिभाति।)

शकुन्तला—अदो कखु पिअंवदाशि तुमं (अतः खलु प्रियंवदाऽसि त्वम्।)

राजा—प्रिवमपि तथ्यमाह शकुन्तलां प्रियंवदा। अस्याः खलु-

अधरः किसलयरागः कोयलविटपानुकारिणौ बाहू।

कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु संनद्धम्॥ 20॥

शकुन्तला—सखी अनुसूया! इस प्रियंवदा ने यह वल्कल ऐसा कसकर बाँध दिया है कि मैं हिलडुल तक नहीं पा रही हूँ। आकर इसे ढीला तो कर दे।

अनसूया—अच्छा (ढीला करती है।)

प्रियंवदा—(हँसते हुए) मुझे क्या उलाहना दिए दे रही हो। अपनी उस चढ़ती जवानी की क्यों नहीं उलाहना देती जो तुम्हारी छाती इतना उभारे चली जा रही है।

राजा—यद्यपि इसका कोमल शरीर वल्कल के योग्य नहीं है, फिर भी इसके शरीर पर वे अलंकारों के समान ही सुशोभित हो रहे हैं, क्योंकि जैसे सेवार से घिरा होने पर भी कमल सुन्दर लगता है और चन्द्रमा में पड़ा हुआ कलंक भी उसकी शोभा ही बढ़ाता है वैसे ही यह सुन्दरी भी वल्कल पहने हुए बड़ी सलोनी दिखाई पड़ रही है। सच्ची बात तो यह है कि सुन्दर शरीर पर भला क्या नहीं शोभा देने लगता॥ 19॥

शकुन्तला—(सामने देखकर) देखो, यह केसर का वृक्ष पवन के झोंकों से हिलती हुई पत्तियों की उँगलियों से मुझे बुलाए ले रहा है। चलो, इसका भी मन रख लूँ। (उधर घूमती है।)

प्रियंवदा—अरी शकुन्तला! क्षणभर वहीं खड़ी तो रह जा। जब तू पेड़ से लगकर खड़ी होती है तब यह केसर का वृक्ष ऐसा लगता है जैसे कोई लता लिपटी हुई हो।

शकुन्तला—इन्हीं बातों से तो तेरा नाम प्रियंवदा पड़ा है।

राजा—प्रियंवदा ने शकुन्तला से बड़ी प्यारी पर सच्ची ही बात तो कही है, सचमुच-

अनसूया—हला सउन्दले! इअ सअंवरवहू बालसहआरस्स तुए किदणामहेआ वणजोसिणित्ति णोमालिआ । णं विसुमरिदासि । (हला शकुन्तले! इयं स्वयंवरवधूः बालसहकारस्य त्वया कृतनामधेया वनज्योत्स्नेति नवमालिका एनां विस्मृतासि ।)

शकुन्तला—तदा अताणं वि विसुमरिस्सं । (लतामुपेत्याक्लोक्य च) हला! रमणीए क्खु काले इमस्स लदापाअविमहुणस्स बइअरो संवुत्तो । णवकुसुमजोव्वणा वणजोसिणी बद्ध फलदाए उवभोअक्खमो सहआरो । (तदा आत्मानमपि विस्मरिष्यामि । हला, रमणीये खलु काले एतस्य लतापादपमिथुनस्य व्यतिकरः संवृत्तः । नवकुसुमयौवना वनज्योत्स्ना बद्धफलतयोपभोगक्षमः सहकारः ।) (इति पश्यन्ती तिष्ठति ।)

प्रियंवदा—(सस्मितम्) अणसूए! जाणासि किं णिमित्तं सउन्दला वणजोसिणी अदिमेत्तं पेक्खदित्ति? (अनसूये! जानासि किं निमित्तं शकुन्तला वनज्योत्स्नामतिमात्रं प्रेक्षत इति?)

अनसूया—ण क्खु विभावेमि । कहेहि । (न खलु विभावयामि कथय ।)

प्रियंवदा—जह वणजोसिणी अणुरूवेण पाअवेण संगदा अवि णाम एव्वं अहं वि अत्तणो अणुरूवं वरं लहेअत्ति । (यथा वनज्योत्स्ना अनुरूपेण पादपेन संगता अपि नमैवमहमप्यात्मनोऽनुरूपं करं लभेयेति ।)

शकुन्तला—एसो णूणं तुह अत्तगदो मणोरहो । (एष नूनं तवात्मगतो मनोरथः)

(इति कलशमावर्जयति)

इसके लाल-लाल ओठ लता की कोंपलों-जैसे लगते हैं, दोनों भुजाएँ कोमल-शाखाओं-जैसी जान पड़ती हैं और इसके अंगों में खिला पड़ता हुआ नया यौवन लुभावने फूल के समान दिखाई दे रहा है ।। 20 ।।

अनसूया—शकुन्तला, यह वही नई चमेली है न, जिसने आम के वृक्ष से स्वयंवर कर लिया है और जिसका नाम तूने वनज्योत्स्ना (वनकी चाँदनी) रख छोड़ा है । इसे तो तू भूले ही चली जा रही थी ।

शकुन्तला—वाह! इसे भूलूँगी तब तो मैं अपने को भी भूल जाऊँगी, (लता के पास जाकर और देखकर) सखी, सचमुच इस लता और वृक्ष का मेल बड़े अच्छे दिनों में हुआ है । इधर यह वनज्योत्स्ना खिले हुए फूल लेकर नवयौवना हुई खड़ी है, उधर फलसे लदी हुई शाखाओं वाला आम का वृक्ष भी उभारपर आया हुआ है । (उसे देखती हुई खड़ी रह जाती है ।)

प्रियंवदा—(मुस्कराकर) अनसूया! जानती हो यह शकुन्तला इतनी मगन होकर वनज्योत्स्ना को क्यों देख रही है ?

अनसूया—नहीं सखी! मैं तो नहीं जानती, तू ही बता डाल ।

प्रियंवदा—देख यह सोच रही है कि जैसे यह वनज्योत्स्ना अपने योग्य वृक्ष से जा लिपटी है वैसे ही मुझे भी मेरे योग्य वर मिल जाय ।

शकुन्तला—यह तो तू अपने मन की बात कहे डाल रही है ।

(घड़े का जल पेड़ की जड़ में छोड़ती है ।)

राजा—अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसंभवा स्यात्। अथवा कृतं संदेहेन।

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।

लतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।। 21।।

तथापि तत्त्वत एनामुपलप्स्ये।

शकुन्तला—(ससंभ्रमम्) अम्भो! सलिलसेअसंभ्रमुग्गदो गोमलिअं उज्झिअ वअणं मे महुअरो अहिवट्ठद। (अम्भो! सलिलसेकसंभ्रमोद्गतो नवमालिकामुज्झित्वा वदनं मे मधुकरोऽभिवर्तते।) (इति भ्रमरवाधां रूपयति।)

राज—(सस्पृहम्)

चलापाङ्गं दृष्टि स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं

रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।

करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं

वर्यं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती।। 22।।

शकुन्तला—ण एसो दुड्डो विरमदि। अण्णदो गमिस्सं (पदान्तरे स्थित्वा सदृष्टिक्षेपम्) कहं इदो वि आअच्छदि। हला परित्तअह मं इमिणा दुव्विणीदेण महुअरेण अहिहूअमाणं। (न एव दुष्टो विरमति। अन्यतो गमिष्यामि। कथमितोऽप्यागच्छति। हला परित्रयेथां मामनेन दुर्विनीतेन मधुकरेण अभिभूयमानाम्।)

उभे—(सस्मितम्) का वअं परित्तादुं। दुस्सन्दं एव्व अक्कन्द। राअरक्खिदप्पाइँ सवोवणाइँ णाम। (के आवां परित्रातुम्। दुष्यन्तमेवाक्रन्द। राजरक्षितव्यानि तपोवनानि नाम।)

राजा—यह ऋषि की कन्या कहीं दूसरे वर्ण की स्त्री से तो नहीं उत्पन्न हुई है। पर सन्देह किया ही क्यों जाय। क्योंकि—

जब मेरा भी शुद्ध मन इस पर रीझ उठा है तब यह निश्चय है कि इसका क्षत्रिय से विवाह हो सकता है। क्योंकि सज्जनों के मन में जिस बातपर शँका हो वहाँ जो कुछ उनका मन कहे वही ठीक मान लेना चाहिए।। 21।।

फिर भी मैं इसे ठीक-ठीक जानने का प्रयत्न करता हूँ।

शकुन्तला—(घबराकर) अरे रे, जल पड़ने से घबराकर उड़ा हुआ यह भौंरा चमेली को छोड़कर बार-बार मेरे ही मुँह पर आ आकर मँडराने लगा है। (भौर से पीड़ित होने का नाट्य करती है।)

राजा—(ललचता हुआ।) अरे भौर! तू सचमुच बड़ा भाग्यवान् है। इधर हम तो सच्ची बात की खोज में ही लुट गए, उधर इसकी चञ्चल चितवन से लिपटा हुआ तू इस काँपती हुई बाला को बार-बार छूए चला जा रहा है, उसके कानों के पास जा जाकर ऐसे धीरे-धीरे गुनगुनाए जा रहा है मानो कोई बड़े भेद की बात उसे सुनाना चाहता हो और बार-बार उसके हाथों से झटके जाने पर भी तू उसके रस-भरे अधरों का रस पीता ही चला जा रहा है।। 22।।

शकुन्तला—अरे, यह दुष्ट मानता ही नहीं है। चलूँ, कहीं और हट चलूँ। (दूसरे स्थान पर जाकर और दृष्टि फेरकर।) अरे, क्या यहाँ भी आ पहुँचा? अब क्या करूँ? अरी सखियो! बचाओ, बचाओ इस दुष्ट भौर से! इसने तो मुझे बड़ा तंग कर डाला है।

दोनों—(मुसकराकर।) हम कौन होती हैं बचाने वाली! राजा दुष्यन्त को ही क्यों नहीं पुकार बुलाती हो! तपोवन की रक्षा करना तो राजा का काम है न।

राजा—अवसरोऽयमात्मानं प्रकाशयितुम् । न भेतव्यं न भेतव्यम्—(इत्यर्धोक्ते स्वगतम्) राजभावस्त्वभिज्ञातो भवेत् । भवतु, एवं तावदभिधास्ये ।

शकुन्तला—(पदान्तरे स्थित्वा सदृष्टिक्षेपम्) कहां इंदोवि मं अणुसरदि । (कथमितोऽपि मामनुसरति)

राजा—(सत्वरमुपसृत्य) आः ।

कः पौरवे वासुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम् ।

अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्विकन्यकासु ।। 23 ।।

(सर्वा राजानं दृष्ट्वा किंचदिव संप्रान्ताः ।)

अनसूया—अज्ज ण क्खु किंवि अच्चाहिदं । इअं णो पिअसही दुट महुअरेण अहिहूअमाणा कादरीभूदा । (आर्य! न खलु किमप्यत्याहितम् । इयं नौ प्रियसखी दुष्टमधुकरेणाभिभूयमाना कातरीभूता ।) (इति शकुन्तलां दर्शयति ।)

राजा—(शकुन्तलाभिमुखो भूत्वा) अपि तपो वर्द्धते ।

(शकुन्तला साध्वसावनतमुखी तिष्ठति)

अनसूया—दाणिं अदिहिविसेसलाहेण । हला सउन्दले! गच्छ उडअं फलमिस्सं अगं उवहर, इदं पादोदअं भविस्सदि । (इदानीमतिथिविशेषलाभेन । हला शकुन्तले! गच्छोत्तजं फलमिश्रमर्घमुपहर । इदं पादोदकं भविष्यति ।)

राजा—भवतीनां सूनृतयैव गिरा कृतमातिथ्यम् ।

राजा—अपना परिचय देने का यह अच्छा अवसर है । डरो मत ! डरो मत ! (आधी बात कहकर फिर मन ही मन) किन्तु इससे तो ये समझ जायेंगी कि मैं राजा हूँ । अच्छा मैं फिर यों कहता हूँ ।

शकुन्तला—(थोड़ी दूर जाकर खड़ी होकर फिर दृष्टि फेरती है ।) क्या करूँ, यह तो यहाँ भी मेरा पीछा नहीं छोड़ रहा है ।

राजा—(झट से प्रकट होकर) ओह! जब तक दुष्टों को दण्ड देने वाला पुरुवंशी दुष्यन्त पृथ्वी पर राज्य कर रहा है तब तक कौन ऐसा है जो भोली-भाली ऋषि-कन्याओं से छेड़छाड़ कर सके ।। 23 ।।

(राजा को देखकर सभी सकपका जाती हैं ।)

अनसूया—आर्य! ऐसी कोई बड़ी भारी विपत्ति की बात नहीं है । हमारी इस प्यारी सखी को भौर ने तङ्ग कर रक्खा था, इसी से यह कुछ घबरा-सी गई है । (शकुन्तला की ओर संकेत करती है ।)

राजा—(शकुन्तला के सामने जाकर) आपकी तपस्या तो ठीक चल रही है न ?

(शकुन्तला नीचा मुँह करके चुप रह जाती है ।)

अनसूया—जी हाँ, आप-जैसे अनूठे अतिथि के आ जाने से तपस्या ठीक ही चलती समझिए । अच्छा, सखी शकुन्तला! जा कुटी से कुछ फल-फूल के साथ अर्घ्य तो ले आ । चरण धोने का जल तो यही हो जायगा ।

राजा—आपकी तो मीठी-मीठी बातों से ही मेरा अतिथि-सत्कार पूरा हो गया ।

प्रियंवदा-तो आर्य! चलिए घनी छाया वाले छतिवन के तले जो शीतल चौतरा है, वहीं क्षणभर बैठकर अपनी थकान मिटा लीजिए ।

प्रियंवदा—तेण हि इमस्सि दाव पच्छाअसीअलाए सत्तवण्णवेदिआए मुहुत्तअं उवविसिअ परिस्समविणोदं करेदु अज्जो। (तेन ह्यस्यां तावत् प्रच्छायशीतलाया सप्तपर्ण वेदिकायां मुहूर्तमुपविश्य परिश्रमविनोदं करोत्वार्यः।)

राजा—नूनं यूयमप्यनेन कर्मणा परिश्रान्ताः।

अनसूया—हला सउन्दले! उइदं णो पज्जुवासणं अदिहीणं। ता एहि एत्थ उवविसम्ह। (हला शकुन्तले! उचितं नः पर्युपासनमतिथीनाम्। तदेहि अत्रोपविशामः।)

(इति सर्वे उपविशन्ति)

शकुन्तला—(आत्मगतम्) किं णु क्खु इमं जणं पेक्खिअ तवोवणविरोहिणो विआरस्सं गमणीअम्हि संवुत्ता। (किं नु खल्विमं जनं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनां विकारस्य गमनीयाऽस्मि संवृत्ता।)

राजा—(सर्वा विलोक्य) अहो समवयोरूपरमणीयं भवतीनां सौहार्दम्।

प्रियंवदा—(जनान्तिकम्) अणसूए! को णु क्खु एसो चउरगम्भीरकिदी महुरं पिअं आलबन्दो पहाववन्दो बिअ लक्खीअदी। (अनसूये! को नु खल्वेष चतुरगम्भीराकृतिर्मधुरं प्रियमालपन्प्रभाववानिव लक्ष्यते।)

अनसूया—सहि! मम वि अत्थि कोदूहलं। पुच्छिअं दाव णं (प्रकाशम्) अज्जस्स महुरालावजणिदो वीसम्भो मं मन्तावेदि कदमो अज्जेण राएसिणो वंसो अलंकरीअदि। कदमो वा विरहपज्जुस्सुअजणो किदो देसो। किं णिमित्तं वा सुउमारदरो वि तवोवणगमणपरिस्समस्स अत्त पदं उवणीदो। (सखि ममाप्यस्ति कौतूहलम्। पृच्छामि तावदेनम्। आर्यस्य मधुरालापजनितो विश्रम्भो मां मन्त्रयते कतम आर्येण राजर्षेर्वशोऽलंक्रियते, कतमो वा विरहपर्युत्सुकजनः कृतो देशः किंनिमित्तं वा सुकुमारतरोऽपि तपोवनगमनपरिश्रमस्यात्मा पदमुपनीतः।)

राजा—आप सब भी तो काम करते-करते थक गई होंगी।

अनसूया—शकुन्तला! अतिथि की बात तो रखनी ही होगी। आओ, चलो वहीं चलकर बैठ लिया जाय। (सभी बैठ जाती हैं।)

शकुन्तला—(मन ही मन) इन्हें देखकर मेरे मन में न जाने क्यों ऐसी धुक-धुकी हुई जा रही है जैसी तपोवन के निवासियों के मनमें कभी नहीं होनी चाहिए।

राजा—(सबको देखकर) आप सभी एक-सी रूपवाली और एक-सी अवस्था वाली हैं। आप सबका यह आपसका प्रेम मुझे बड़ा प्यारा लगता है।

प्रियंवदा—(धीरे से) अनसूया, ये चतुर और गम्भीर दिखाई देने वाले तथा प्रिय और मधुर बोलने वाले कोई बड़े भारी पुरुष जान पड़ते हैं।

अनसूया—(प्रियंवदा से धीरे से) सखी, मुझे भी यही जानने की बड़ी उत्कण्ठा है। चलो इन्हीं से पूछ देखा जाय। (प्रकट) आर्य! आपकी मीठी-मीठी बातों से जो हमें आप में विश्वास उत्पन्न हो गया है वह हमें आपसे यह पूछने को उकसाए दे रहा है कि आर्य ने किस राजवंश को सुशोभित किया है, किस देश की प्रजा को अपने विरह से व्याकुल छोड़कर आर्य यहाँ पधारे हैं और ऐसा कौन-सा काम आ पड़ा है जिसने आपके इस सुकुमार शरीर को इस तपोवन तक लाने का कष्ट दिया है।

शकुन्तला—(मन ही मन) अरे हृदय ! बहुत उतावले मत बनो ! तुम्हारे ही मन की बात तो अनसूया पूछे ले रही है।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) हिअअ मा उत्तम्म। एषा तुए चिन्तिदाई अणसूया म तेदि। (हृदय मा उत्ताम्य। एषा त्वया चिन्तितान्यनसूया मन्त्रयते।)

राजा—(आत्मगतम्) कथमिदानीमात्मानं निवेदयामि कथं वा आत्मापहारं करोमि। भवतु एवं तावदेनां वक्ष्ये—(प्रकाशम्) भवति, यः पौरवेण राज्ञा धर्माधिकारे नियुक्तः। सोऽहमाश्रमिणामविघ्नक्रियोपलम्भाय धर्मारण्यमिदमायातः।

अनसूया—सणाहा दार्णि धम्मआरिणो। (सनाथा इदानीं धर्मचारिणः।)

(शकुन्तला शृङ्गारलज्जां रूपयति)

सख्यौ—(उभयोराकारं विदित्वा जनान्तिकम्) हला सउन्दले! जइ एत्थ अज्ज तादो सणिहिदो भवे। (हला शकुन्तले! यद्यत्राद्य तातः संनिहितो भवेत्।)

शकुन्तला—तदो किं भवे। (ततः किं भवेत्।)

सख्यौ—इमं जीविदसव्यस्सेण वि अदिहिविसेसं किदत्थं करिस्सदि। (इमं जीवितसर्वस्वेनाप्यतिथिविशेषं कृतार्थं करिष्यति।)

शकुन्तला—तुम्हे अवेधं। किं वि हिअए करिअ मन्तेध। ण वो वक्षणं सुणिस्सं। (युवामपेतम्। किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयेथे। न यवयोर्वचनं श्रोष्यामि।)

राजा—वयमपि तावद्भवत्योः सखीगतं किञ्चित् पृच्छामः।

सख्यौ—अज्ज! अनुगहो विअ इअं अब्भत्थणा। (आर्य! अनुग्रह इवेयमभ्यर्थना।)

राजा—भगवान्कण्वः शाश्वते ब्रह्मणि स्थित इति प्रकाशः। इयं च वः सखी तदामजेति कथमेतत्।

राजा—(मन ही मन) अब अपना क्या तो परिचय दूँ और कैसे अपने को छिपाऊँ? अच्छा मैं इनसे यही कहे देता हूँ। (प्रकट) भद्रे! पुरुवंशी राजा ने मुझे ही अपने राज्य की धार्मिक क्रियाओं की देख-भाल का काम सौंप रक्खा है। इसलिये मैं यही देखने आया हूँ कि आश्रम में रहने वाले तपस्वियों के कार्य में कोई विघ्न तो नहीं पड़ता।

अनसूया—आर्य! धर्म-क्रिया करने वाले लोगों पर आपने बड़ी कृपा की है।

(शकुन्तला प्रेम और लज्जा का नाट्य करती है)

दोनों—(शकुन्तला और दुष्यन्त के मन की बात ताड़कर धीरे से) शकुन्तला! यदि आज पिता जी घर होते-

शकुन्तला—तो क्या होता!

दोनों—इस अनूठे अतिथिको अपने जीवन का सर्वस्व देकर इन्हें निहाल कर देते।

शकुन्तला—चलो हटो, तुम लोग न जाने क्या-क्या मन में ले लेकर बोला करती हो। अब मैं तुम्हारी बातें सुनूँगी ही नहीं।

राजा—(अनसूया और प्रियंवदा से) हम भी आपकी सखी के विषय में कुछ पूछना चाहते हैं।

दोनों—पूछिए आर्य, यह तो आपकी कृपा ही है।

राजा—हमने तो सुन रक्खा था कि महर्षि कण्व जन्म से ही ब्रह्मचारी हैं, फिर आपकी ये सखी उनकी कन्या कैसे हो गई ?

अनसूया—सुणादु अज्जो । अत्थि को वि कोसिओत्ति गोत्तणामहेओ महाप्पहावो राएसी । (शृणोत्वार्यः । अस्ति कोऽपि कौशिक इति गोत्रनामधेयो महाप्रभावो राजर्षिः ।)

राजा—अस्ति श्रूयते ।

अनसूया—तं णो पिससहीए पहवं अवगच्छ । उज्झिआए सरीरसंवड्ढणादिहि तादकण्णो से पिदा । (तमावयोः प्रियसख्याः प्रभवमवगच्छ । उज्झितायाः शरीरसंवर्धनादिभिस्तातकण्वोऽस्याः पिता ।)

राजा—उज्झितशब्देन जनितं मे कौतूहलम् । आमूलाच्छेतुमिच्छामि ।

अनसूया—सुणादु अज्जो । गोदमीतीरे पुरा किल तस्स राएसिणो उग्गे तवसि वट्ठमाणस्स किंवि जादसङ्केहिं देवेहिं मेणआ णाम अच्छरा पेसिदा णिमविग्घकालिणी । (शृणोत्वार्यः । गौतमीतीरे पुरा किल तस्य राजर्षेरुपे तपसि वर्तमानस्य किमपि जातशङ्कैर्देवैर्मनका नाम अप्सरा प्रेषिता नियमविघ्नकारिणी ।)

राजा—अस्त्येतदन्यसमाधिभीरुत्वं देवानाम् ।

अनसूया—तदो वसन्तोदारसमए से उम्मादइत्तअं रूवं पेक्खिअ—(ततो वसन्तोदारसमये तस्या उन्मादयितृ रूपं प्रेक्ष्य—) (इत्यर्धोक्ते लज्जया विरमति ।)

राजा—परस्ताज्जायत एव । सर्वथा अप्सरः संभवैषा ।

अनसूया—अह इं । (अथ किम् ।)

राजा—उपपद्यते-

मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य संभवः ।

न प्रमातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ।। 24 ।।

अनसूया—मैं बताती हूँ आर्य! कौशिक गोत्र के एक बड़े प्रतापी राजर्षि हो गए हैं न! राजा-हाँ, हाँ हैं, मैंने सुन रक्खा है ।

अनसूया—तो बस यही समझिए कि हमारी सखी उन्हीं की कन्या हैं । उसकी माता जब इसे छोड़कर चल दीं तो कण्व ऋषिने ही इसे पाल-पोसकर बड़ा किया है । इसीलिये वे इसके पिता कहलाते हैं ।

राजा—छोड़कर चल देने की बात सुनकर तो मेरी उत्कंठा और भी बढ़ गई है । मैं इसकी पूरी कथा सुनना चाहता हूँ ।

अनसूया—हाँ सुनिए आर्य! बहुत दिनों की बात है । गौतमी (गोदवरी) के तटपर बैठे हुए वे राजर्षि एक बार घोर तपस्या कर रहे थे । ऐसा कहा जाता है कि उनके तप से कुढ़कर देवताओं ने उनका तप डिगाने के लिये मेनका नामकी अप्सरा भेज दी ।

राजा-हाँ, यह तो है ही । औरों की तपस्या देखकर देवता लोग ती कुढ़ा ही करते हैं ।

अनसूया—तो वसन्त के आरम्भ में उसका यौवन देखकर.....(आधा कहकर ही लजा जाती है ।)

राजा—बस-बस, आगे मैं सब समझ गया । तो ये अप्सरा की कन्या हैं ।

अनसूया—जी हाँ ।

राजा—ठीक है, ठीक है । नहीं तो भला मनुष्यों में भला ऐसा रूप कहाँ मिल पाता है ? चञ्चल चमक वाली बिजली पृथ्वी तल से थोड़े ही निकला करती है ।। 24 ।।

(शकुन्तला अधोमुखी तिष्ठति ।)

राजा—(आत्मगतम्) हन्त । लब्धावकाशो मे मनोरथः । किन्तु सख्याः परिहासोदाहृतां वरप्रार्थनां श्रुत्वा धृतद्वैधीभावकातरं मे मनः ।

प्रियंवदा—(सस्मितं शकुन्तलां विलोक्य नायकाभिमुखी भूत्वा) पुणो वि वक्तुकामो विअ अज्जो । (पुनरपि वक्तुकाम इवार्यः ।)

(शकुन्तला सखीमङ्गुल्या तर्जयति ।)

राजा—सम्यगुपलक्षितं भवत्या । अस्ति नः सच्चरितश्रवणलोभादन्यदपि प्रष्टव्यम् ।

प्रियंवदा—अलं विआरिअ । अणिअन्तणानुओओ तवस्सिअणो णाम । (अलं विचार्य । अनियन्त्रणानुयोगस्तपस्विजनो नाम ।)

राजा—इति सखीं ते ज्ञातुमिच्छामि-

वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानाद्व्यापारोधि मदनस्य निषेवितव्यम् ।

अत्यन्तमेव मदिरैक्षणवल्लभाभिराहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः ॥ 25 ॥

प्रियंवदा—अज्ज ! धम्माचरणे वि परवसो अअं जणो । गुरुणो उण से अणुरूवरप्पदाणे संकप्पो । (आर्य ! धर्माचरणेऽपि परवशोऽयं जनः । गुरोः पुनरस्या अनुरूपवरप्रदाने संकल्पः ।)

(शकुन्तला सिर झुका लेती है ।)

राजा—(मन ही मन) चलो, मेरे मनोरथ को कुछ तो सहारा मिला । पर इसकी सखी प्रियंवदा ने हँसी हँसी में कुछ इसके वर मिलने की भी बात कही थी । इसी से मेरा मन अभी बड़ी दुविधा में ही पड़ा हुआ है ।

प्रियंवदा—(मुसकराकर पहले शकुन्तला की ओर और फिर राजा की ओर देखकर) क्या आर्य कुछ और भी पूछना चाहते हैं ?

(शकुन्तला सखी को ऊँगली से बरजती है ।)

राजा—आपने हमारे मन की बात ठीक ताड़ ली है । इनकी मनभावनी कथा सुनने के लोभ से हम कुछ और पूछना चाहते हैं ।

प्रियंवदा—तो संकोच न कीजिए ! तपस्वियों से तो आप बिना झिझक के कुछ भी पूछ सकते हैं ।

राजा—आपकी सखी के सम्बन्ध में हम यह जानना चाहते हैं कि इन्होंने कामदेव की गति को रोकने वाला यह जो तपस्वियों का-सा बाना बना रक्खा है यह विवाह होने तक ही रहेगा अथवा ये अपना सारा जीवन, मदभरी आँखों के कारण प्यारी लगने वाली हरिणियों के बीच में रहकर यों ही बिता डालेंगी ॥ 25 ॥

प्रियंवदा—आर्य ! धर्म का भी कोई काम ये अपने मन से तो कर नहीं सकती । फिर भी पिता जी का संकल्प तो यही है कि यदि इसके योग्य कोई वर मिल जाय तो विवाह कर दिया जाय ।

राजा—(मन ही मन) इस सङ्कल्पका पूरा होना तो कठिन नहीं जान पड़ता । हृदय ! तू आशा न छोड़ । जो दुविधा थी वह तो जाती रही क्योंकि जिसे तू अग्नि समझकर छूने से डरता था वह तो छूने के योग्य

राजा—(आत्मगतम्) न दुरवापेयं खलु प्रार्थना ।

भाव हृदय साभिलाषं संप्रति संदेहनिर्णयो जातः ।

आशङ्कसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम् ॥ 26 ॥

शकुन्तला—(सरोषमिव) अणसूए! गमिस्सं अहं । (अनसूये । गमिष्याम्यहम् ।)

अनसूया—किं णिमित्तं । (किं निमित्तम् ।)

शकुन्तला—इमं असंबद्धप्पलाविणि पिअंवदं अज्जाए गोदमीए णिवेदइस्सं ।

(इमामसंबद्धप्रलापिनीं प्रियंवदामार्यायै गौतम्यै निवेदयिष्यामि ।)

अनसूया—सहि! ण जुत्तं अस्समवासिणो अकिदसक्कारं अदिहिविसेसं विसज्जिअ सच्छन्ददो गमणं ।
(सखि! न युक्तमकृतसत्कारामतिथिविशेषं विसृज्य स्वच्छन्दतो गमनम् ।)

(शकुन्तला न किंचिदुक्त्वा प्रस्थितैव ।)

राजा—(स्वगतम्) आः, कथं गच्छति । (ग्रहीतुमिच्छन्निनग्रह्यात्मानम्)

अनुयास्यन्मुनितनयां सहसा विनयेन वारितप्रसरः ।

स्थानादनुच्चलन्नपि गत्वेव पुनः प्रतिनिवृत्तः ॥ 27 ॥

प्रियंवदा—(शकुन्तलां निरुध्व) हला! ण दे जुत्तं गन्तुं । हला! न ते युक्तं गन्तुम् ।

शकुन्तला—(सभ्रूभङ्गम्) किं णिमित्तं । (किं निमित्तम्)

प्रियंवदा—रुक्खसेअणे दुवे धारेसि मे । एहि जाव अत्ताणं मोचिअ तदो गमिस्ससि । (वृक्षसेचने द्वे धारयति मे । एहि तावत् आत्मानं मोचयित्वा ततो गमिष्यसि ।)

(इति बलादेनां निवर्तयति ।)

रत्न निकल आया ॥ 26 ॥

शकुन्तला—(खीझकर) देख अनसूया! अब मैं चली जा रही हूँ ।

अनसूया—क्यों ! क्यों !

शकुन्तला—इस अटपट बकने वाली प्रियंवदा की सारी बातें जाकर आर्या गौतमी से कहे आती हूँ ।

अनसूया-सखी ! ऐसे बड़े अतिथिका सत्कार किए बिना उन्हें छोड़कर ऐंठते चले जाना ठीक नहीं है ।

(शकुन्तला बिना उत्तर दिए चलने को प्रस्तुत होती है ।)

राजा—(मन ही मन) अरे, जाती क्यों हो? (उसे रोकने को उठते हैं फिर अपने को रोक लेते हैं ।)—
इस मुनि-कन्या के पीछे जाते-जाते लाज के कारण ही मैं सहसा रुक गया हूँ और यद्यपि मैं अपने स्थान से हिला-तक नहीं, फिर भी मुझे ऐसा लग रहा है मानो मैं कुछ दूर चलकर लौट आया होऊँ ॥ 27 ॥

प्रियंवदा—(शकुन्तला को रोककर) सखी! तुम्हारा इस प्रकार चल देना ठीक नहीं है ।

शकुन्तला—(भौंह चढ़ाकर) क्यों ?

प्रियंवदा—क्योंकि तुम अभी दो पौधे और सींचने का काम मुझे हार चुकी हो । अपना ऋण चुका लेना तब जाना । (बलपूर्वक इसे रोकती है ।)

राजा—भद्रे! वृक्षसेचनादेव परिश्रान्तामत्रत्भवतीं लक्षये। तथा ह्यस्याः—

सस्तांसावतिमात्रलोहिततलौ बाहू घटोत्क्षेपणा-

दद्यापि स्तनवेपथुं जनयति श्वासः प्रमाणाधिकः।

वद्धं कर्णशिरीषरोधि वदने धर्माभिसां जालकं

बन्धे संसिनि चैकहस्तयमिताः पर्याकुला मूर्धजाः।।28।।

तदहमेनामनृणां करोमि। (इत्यंगुलीयं दातुमिच्छति।)

(उभे नाममुद्राक्षराण्यनुवाच्य परस्परमवलोकयतः।)

राजा—अलमस्मानन्यथा संभाव्य। राज्ञः परिग्रहोऽवमिति राजपुरुषं मामवगच्छथ।

प्रियंवदा—तेण हि णारिहदि एदं अंगुलीअअं अंगुलिविओअं। अज्जस्स वअणेण अणिरिणा दाणिं एसा। (किंचिद्विहस्य) हला सउन्दले! मोहदासि अणुअम्पिणा अज्जेण अहवा महाराएण। गच्छ दाणिं। (तेन हि नार्हत्येतदंगुलीमककंगुलिवियोगम्। आर्यस्य वचनेनानृगा इदानीमेषा। हला शकुन्तले! मोचितास्यनुकम्पिना आर्येण अथवा महाराजेन। गच्छेदानीम्।)

शकुन्तला—(आत्मगतम्) जइ अतणो पहविस्सं। (प्रकाशम्) का तुमं विसज्जिदव्वस्स रुधिदव्वस्स वा। (यद्यात्मनः प्रभविष्यामि। का त्वं विसर्जितव्यस्य रोद्धव्यस्य वा।)

राजा—(शकुन्तला विलोक्य आत्मगतम्) किं नु खलु यथा वयमस्यामेवमियमप्यस्मान्प्रति स्यात्। अथवा लब्धावकाशा मे प्रार्थना। कुतः।

राजा—भद्रे, पौधों को सींचने से ही तो आपकी सखी थकी हुई दिखाई पड़ रही है। क्योंकि-घड़े उठाते-उठाते इनके कंधे ढीले पड़ गए हैं, हथेलियाँ लाल हो गई हैं, इनके बार-बार उठते हुए स्तन बता रहे हैं कि थकान से इनकी साँस फूल गई है, कानों में पहने हुए सिरस के फूल भी नहीं हिल रहे हैं क्योंकि पसीने की बूँदों से उनकी पंखड़ियाँ गालों पर आ चिपकी हैं और जूड़े के खुल जाने से ये अपनी बिखरी हुई लटें एक हाथ से किसी-किसी प्रकार सँभाल पा रही हैं।। 28।।

इसलिये लीजिए इनका ऋण मैं ही चुकाए देता हूँ।

(अपनी अँगूठी देना चाहता है। दुष्यन्त का नाम अँगूठी पर पढ़कर दोनों एक दूसरी की ओर देखने लगती हैं।)

राजा—मुझे आप कोई और न समझ बैठिएगा। यह अँगूठी मुझे राजा से पुरस्कार में मिली है। मुझे आप लोग राज-पुरुष ही समझिए।

प्रियंवदा—तब तो इस अँगूठी को आप की उँगली से अलग करना ठीक नहीं है। आपके कहने भर से ही इसका ऋण चुकता हो गया। (कुछ मुसकराकर) शकुन्तला! इनकी या यों कहो कि महाराज की कृपा से तुम ऋण से मुक्त हो गई हो। अब जा सकती हो।

शकुन्तला—(मन ही मन) अपना मन हाथ में हो तब तो जाऊँ। (प्रकट) मुझे जाने देने या रोक रखने वाली तुम होती कौन हो ?

राजा—(शकुन्तला को देखकर आप ही आप) कहीं यह भी तो हमपर बैसे ही नहीं रीझ गई है जैसे हम इस पर रीझे? या फिर जान पड़ता है कि हमारे मनोरथों के फलने के दिन आ गए। क्योंकि—यद्यपि यह स्वयं मुझसे बातचीत नहीं करतीं फिर भी जब मैं बोलने लगता हूँ तब यह कान लगाकर मेरी बातें

वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्बचोभिः कर्णं ददात्यभिमुखं मयि भाषमाणे ।
 कामं न तिष्ठति मदाननसंमुखीना भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः ॥ 29 ॥
 (नेपथ्ये)

भो भोस्तपस्विनः संनिहितास्तपोवनसत्त्वरक्षायै भवत । प्रत्यासन्नः किल मृगयाविहारी पार्थिवो
 दुष्यन्त ।

तुरगखुरहतस्तथा हि रेणुर्विटपनिषक्तजलार्द्रवल्कलेषु ।
 पतति परिणतारुणप्रकाशः शलभसमूह इवाश्रमदुग्धेषु ॥ 30 ॥

अपि च-

तीव्राघातप्रतिहततरुः स्कन्धलग्नैकदन्तः
 पादाकृष्टव्रततिवलयसङ्गसंजातपाशः ।
 मूर्तो विघ्नस्तपस इव नो भिन्न सारङ्गयूथो
 धर्मारण्यं प्रविशति गजः स्यन्दनालोकभीतः ॥ 31 ॥
 (सर्वाः कर्णं दत्वा किंचिदिव संभ्रान्ताः ।)

राजा—(आत्मगतम्) अहो धिक् । सैनिका अस्मदन्वेषिणस्तपोवनमुपरुन्धन्ति । भवतु ।
 प्रतिगमिष्यामस्तावत् ।

सख्यौ—अज्ज! इमिणा आरण्णअवुत्तन्तेण पज्जाउल म्हा । अणुजाणीहि णो उडअगमणस्स । (आर्य!
 अनेनारण्यकवृत्तान्तेन पर्याकुलाः स्मः । अनुजानीहि न उटजगमनाय ।)

राजा—(ससंभ्रमम्) गच्छन्तु भवत्यः । वयमप्याश्रमपीडा यथा न भवति तथा प्रयतिष्यामहे ।
 (सर्वे उत्तिष्ठन्ति ।)

सुनने लगती हैं और यद्यपि मेरे सामने यह मुँह करके नहीं बैठती फिर भी इसकी आँखें मुझपर ही टँगी
 रहती हैं ॥ 29 ॥

(नेपथ्य में)

अरे तपस्वियो! आकर झटपट तपोवन के प्राणियों को बचाओ । आखेट का प्रेमी राजा दुष्यन्त पास
 ही आ पहुँचा है । उसके घोड़ों की टापोँ से उठी और साँझ की ललाई के समान लाल-लाल धूल टिड्डी-दल
 के समान उड़कर आश्रम के उन वृक्षों पर फैली पड़ रही है जिनकी शाखाओं पर गीले वल्कल के वस्त्र
 सूखने के लिये फैलाए हुए हैं ॥ 30 ॥

और देखो—राजा के रथ से डरा हुआ यह जंगली हाथी हमारी तपस्या के लिये साक्षात् विघ्न बना
 हुआ हरिणों के झुण्ड को तितर-बितर करता हुआ तपोवन में घुसा चला आ रहा है । इसने अपनी करारी
 टक्कर से एक वृक्ष उखाड़ लिया है जिसमें उसका एक दाँत अब भी फँसा हुआ है और दूटी हुई लताएँ
 फन्दे के समान उसके पैरों में उलझी हुई हैं ॥ 31 ॥

(सब कुमारियाँ सुनकर कुछ घबरा जाती हैं ।)

राजा—(मन ही मन) अरे, धिक्कार है इन सैनिकों को । जान पड़ता है हमें ढूँढ़ने के फेर में ये तपोवन
 को रौंदे डाल रहे हैं । अब हमें उधर चलना ही चाहिए ।

सख्यौ—अज्ज! असंभवाविदअदिहिसक्कारं भूओ वि पेक्खपणिमित्तं लज्जेमो अज्जं विण्णविदुं।
(आर्य! असंभावितानिधिसत्कारं भूयोऽपि प्रेक्षणनिमित्तं लज्जावहे आर्यं विज्ञापयितुम्।)

राजा—मा मैवम्। दर्शनेनैव भवतीनां पुरस्कृतोऽस्मि।

(शकुन्तला राजानमवलोकयन्ती सव्याजं विलम्ब्य सह सखीभ्यां निष्क्रान्ता।)

राजा—मन्दोत्सुक्योऽस्मि नगरगमनं प्रति यावदनुयात्रिकान्समेत्य नातिदूरे तपोवनस्य निवेशयेयम्।
न खलु शक्नोमि शकुन्तलाव्यापारादात्मानं निवर्तयितुम्। मम हि—

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः।

चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य।।32।।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

॥ इति प्रथमोऽङ्कः॥



दोनों—आर्य! इस जंगली हाथी की वात सुनकर हम लोग बहुत डर गई हैं। हमें कुटी में जाने की आज्ञा दीजिए।

राजा—(शीघ्रता से) आप लोग चलें। मैं भी प्रयत्न करता हूँ कि तपोवन में कोई विघ्न न हो।

दोनों—(सब उठती हैं।) आर्य! हम लोगों ने आपका कुछ भी सत्कार नहीं किया इसलिये आर्य यह प्रार्थना करते हुए बड़ा संकोच हो रहा है कि हमें फिर दर्शन दें।

राजा—नहीं ऐसा न कहिए। आप लोगों को देख लिया इसी से हमारा सत्कार हो गया।

(शकुन्तला राजा को देखती हुई कुशा चुभने और एक शाखा में साड़ी का छोर फँसने का बहाना करके थोड़ा रुकती है और फिर सखियों के साथ चल देती है।)

राजा—नगर में जाने का तो सारा हुलास ठंडा पड़ गया है। इसलिये आश्रम के पास ही सैनिकों के साथ डेरा डाले लेता हूँ। जान पड़ता है शकुन्तला के इस प्रेम-व्यवहार से मैं छुटकारा न पा सकूँगा। क्योंकि—जैसे पवन के सामने झण्डा ले चलने पर उसकी रेशमी झण्डी पीछे को फहराती चलती है वैसे ही ज्यों-ज्यों मेरा शरीर आगे बढ़ता चलता है त्यों-त्यों मेरा चञ्चल मन पीछे को दौड़ता चल रहा है॥ 32॥

(सबका प्रस्थान)

॥ पहला अंक पूर्ण॥



द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति विषण्णो विदूषकः)

विदूषकः—(निःश्वस्य) भो! दिट्ठं एदस्स मअआसीलस्स रण्णो वअस्सभावेण णिविण्णो म्हि। अअं मओ अअं वराहो अअं सदुल्लोत्ति मज्झण्णे वि गिम्हविरलपाअवच्छाआसु वणराईसु आहिंडीअदि अडवीदो अडवी। पत्तसंकरकसाआई कडुआई गिरिणईजलाई पीअन्ति, अणिअदवेलं सुल्लमंसभूइट्ठो आहारो अण्णीअदि तुरगानुधावणकंडिदसंधिणो रत्तिम्मि वि णिकामं सइदव्वं णत्थि। तदो महंते एव्व पच्चूसे दासीएपुतेहिं सउणिलुद्धएहिं वणग्गहणकोलाहलेण पडिबोधियो म्हि। एत्तएण दाणिं वि पीडा ण णिवक्कमदि। तदो गण्डस्स उवरि पिण्डआ संवुत्तो। हिओ किल अम्हेसु ओहीणेसु ततहोदो मआणुसारेण अस्समपदं पविठुसस तावसकण्णआ सउन्दला मम अधण्णदाए दंसिदा। संपदं णअरगमणत्स मणं कहं वि ण करेदि। अज्ज वि से तं एव्व चिंतअंतस्स अक्खीसु पमादं आसि। का गदी। आव णं किदाचारपरिवक्कमं पेक्खामि। (इति परिक्रम्यावलोक्य च) एसो बाणासणहत्थाहिं जवणीहिं वणपुप्फमालाधारिणीहिं पडिवुदो इदो एव्व आअच्छति पिअवअस्सो। होदु। अंगभंगविअलो विअ भविअं चिट्ठिठस्सं। जइ एव्वं वि णाम विस्तमं लहेअं। (भो दृष्टम्। मृगयाशीलस्य राज्ञो वयस्यभावेन निर्विण्णोऽस्मि। अयं मृगोऽयं वराहोऽयं शार्दूल इति मध्याह्नेऽपि ग्रीष्मविरल पादपच्छायासु वनराजीष्वाहिण्ड्यतेऽटबीतोऽटवी। पत्रसंकरकषायाणि कटूनी गिरिर्नदीजलानि पीयन्ते। अनियतवेलं शूल्यमांसभूयिष्ठ आहारो भुज्यते। तुरगानुधावनकण्डितसंघे रात्रावपि निकामं शयितव्यं

दूसरा अंक

(उदास मन से विदूषक का प्रवेश।)

विदूषक—(लम्बी साँसें भरता हुआ) बस बस समझ लिया। इस अहेरी राजा की मित्रता से तो जी भिन्ना उठा है! भरी दुपहरी में भी एक वन से दूसरे वन में भटकते हुए उन जंगली प्रदेशों में होकर चलना पड़ता है जहाँ गर्मी के कारण पेड़ों में छाँह तक नहीं रह गई है और दिन-रात यही हल्ला कान फोड़े डालता है—यह मृग आया, वह सुअर निकला, यह रहा सिंह। फिर सड़े हुए पत्तों से मिले हुए जलवाली नदियों का कसैला और कडुवा पानी पीना पड़ता है और अबेर-सबेर लोहे की सीकों पर भुना हुआ माँस खाने को मिलता है। घोड़े के पीछे दौड़ते-दौड़ते शरीर के जोड़-जोड़ ऐसे ढीले पड़ गए हैं कि रात में आँख भी ठीक नहीं लग पाती। तिस पर ये दासी-पुत्र चिड़ीमार तड़के-तड़के चलो वन को, चलो वन को-चिल्ला-चिल्लाकर ऐसा हल्ला मचाते हैं कि आई-अवाई नौद उचट जाती है। अभी यह विपत्ति टली नहीं थी कि उधर फोड़े के ऊपर फुन्सी के समान दूसरी विपत्ति आ धमकी है। सुनते हैं कि हम लोगों का साथ छूट जाने पर मृग का पीछा करते-करते राजा वहाँ तपस्वियों के उस आश्रम में जा पहुँचे जहाँ मेरे दुर्भाग्य से उन्हें कोई मुनि-कन्या शकुन्तला नाम की दिखाई दे गई। बस अब किसी भी प्रकार उनका मन नगर लौटने को कर ही नहीं रहा है। आज भी रात भर उसी की चिन्ता में जागते हुए उनकी आँखों ने सबेरा कर दिया। क्या कहूँ? चलूँ, वे नित्य-कर्म कर चुके हों तो उनसे दो-दो बातें हो जायें (धूमकर और देखकर) अरे, यह लो मेरे मित्र तो स्वयं ही इधर लपके चले आ रहे हैं जिनके साथ हाथ में धनुष लिए और गले में जंगली फूलों की माला डाले बहुत सी यवनी सेविकाएँ भी चली आ रही हैं। अच्छी

नास्ति । ततो महत्येव प्रत्यूषे दास्याः पुत्रैः शकुनिलुब्धकैर्वनग्रहणकोलाहलेन प्रतिबोधितोऽस्मि । इयतेदानीमपि पीडा न निष्कामति । ततो गण्डस्योपरि पिण्डकः संवृतः । ह्यः किलास्मास्ववहीनेषु तत्रभवतो मृगानुसारेणाश्रमपदं प्रविष्टस्य । तापसकन्यका शकुन्तला ममाधन्यतया दर्शिता । सांप्रतं नगरगमनस्य मनः कथमपि न करोति । अद्यापि तस्य तामेव चिन्तयतोऽक्ष्णोः प्रभातमासीत् । का गतिः । यावत्तं कृताचारपरिक्रमं पश्यामि । एष बाणासनहस्ताभिर्यवनीभिर्वनपुष्पमालाधरिणीभिः परिवृत इत एवागच्छति प्रियवयस्यः । भवतु । अङ्गभङ्गविकल इव भूत्वा स्थास्यामि । यद्येवमपि नाम विश्रामं लभेय । (इति दण्डकाष्ठमवलम्ब्य स्थितः ।)

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टपरिवारो राजा ।)

राजा—

कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनाशवासि ।

अकृतार्थोऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते ॥ १ ॥

(स्मितं कृत्वा) एवमात्माभिप्रायसंभावितेष्टजनचित्तवृत्तिः प्रार्थयिता विडम्ब्यते ।

तथा हि—

स्निघं वीक्षितमन्यतोऽपि नयने यत्प्रेरयन्त्या तया

यातं यच्च नितम्बयोगुरुतवया मन्दं विलासाविव ।

मा गा इत्युपरुद्धया यदपि सा सासूयमुक्ता सखी

सर्वं तत्किल मत्परायणमहो कामी स्वतां पश्यति ॥ २ ॥

विदूषकः—(तथास्थित एव) भो वअस्स! ण मे हत्थपाआ पसरन्ति । ता वाआमत्तएण जई करीयसि । जेदु जेदु भवं (भो वयस्य! न मे हस्तपादाः प्रसरन्ति । तद् वाचा मात्रेण जयीक्रियते । जयतु-जयतु भवान् ।)

वात है, मैं भी लुंज-पुंज सा बनकर खड़ा हुआ जाता हूँ । कौन जाने इसी बहाने थोड़ा विश्राम मिल जाय । (लाठी के सहारे टिककर खड़ा हो जाता है ।)

(जैसा ऊपर कहा गया है, वैसी सेविकाओं के साथ राजा का प्रवेश ।)

राजा—यद्यपि प्यारी का मिलना है तो बड़ा कठिन पर उसकी चाल-ढाल से मन को सहारा बहुत मिल रहा है । हम दोनों का मिलन भले ही न हो पावे पर इतना तो सन्तोष है कि मिलने का चाव दोनों ओर एक-सा ही है ॥ १ ॥

(मुसकराकर) जो प्रेमी अपनी प्रियतमा के मन को अपने मन से परखता है वह इसी प्रकार धोखा खाया करता है । और देखो—

जब वह अपनी आँखें घुमाती थी तब मैं यहीं समझता था कि उसने मुझपर ही प्यार-भरी चितवन डाली है । नितम्बों के भारी होने के कारण जब वह धीरे-धीरे चलती थी तब मैं समझता था कि वह मुझे अपनी चटक-मटक भरी चाल दिखा रही है । जब उसकी सखियों ने उसे जाने से रोका तब अपनी सखियों पर जो वह लाल-पीली हुई तब मैं समझा कि यह सब मेरे ही प्रेम के लिये हो रहा है । आह ! कामी को सब बातें अपने ही मन की दिखाई पड़ती हैं ॥ २ ॥

विदूषक—(उसी मुद्रा में खड़ा हुआ) हाथ-पैर तो मेरे खुला नहीं रहे हैं, इसलिये मैं केवल मुँह से ही आपकी जय-जयकार किये दे रहा हूँ । आपकी जय हो ।

राजा—कुतोऽयं गात्रोपघातः।

विदूषकः—कुदो किल, सअ अच्छी आउलीकरिअ अस्सुकारणं पुच्छेसि। (कुतः किल, स्वयमक्ष्याकुलीकृत्याश्रुकारणं पृच्छसि।)

राजा—न खल्ववगच्छामि।

विदूषकः—भो वअस्स। जं वेदसो कुञ्जलीलं विडंबेदि तं किं अत्तणो पहावेण उदणईवेअस्स। (भो वयस्य! यद्वेतसः कुञ्जलीलां विडम्बयति तत्किमात्मनः प्रभावेण उत नदीवेगस्य।)

राजा—नदीवेगस्तत्र कारणम्।

विदूषकः—मम वि भवं। (ममापि भवान्।)

राजा—कथमिव।

विदूषकः—एवं राअकज्जाणि उज्झिअ तारिसे आउलप्पदेसे वणचरवृत्तिणा तुए होदव्वं। जं सच्चं पच्चहं सावदसमुच्छारणेहिं संखोहिअसंधिबंधाणं मम गत्ताणं अणीसो म्हि संवु तो। ता पसादइस्सं विसज्जितुं मं एक्काहं वि दाव विस्समितुं। (एवं राजकार्याण्युज्झित्वा तादृशे आकुलप्रदेशे वनचरवृत्तिना त्वया भवितव्यम्। यत्सत्यं प्रत्यहं श्वापदसमुत्सारणैः संशोभितसंधिबंधानां मम गात्राणामेनीशोऽस्मि संवृतः। तत्प्रसादयिष्यामि विसर्जितुं मामेकाहमपि तावद्विश्रमितुम्।)

राजा—(स्वगतम्) अयं चैवमाह। ममापि कण्वसुतामनुस्मृच्च मृगयाविकलयं चेतः।

कुतः—

न नमयितुमधिज्यमस्मि शक्तो धनुरिदमाहितसायकं मृगेषु।

सहवसतिमुपेत्य यैः प्रियायाः कृत इव मुग्धविलोकितोपदेशः॥ ३॥

राजा—यह तुम्हारा अंग-भंग कैसे हो गया!

विदूषक—कैसे क्या? आँखों में उँगली कोंचकर पूछ रहे हो कि आँसू कहाँ से आए ?

राजा—नहीं, नहीं, मैं तो कुछ भी नहीं समझ पाया।

विदूषक—अच्छा मित्र, यह तो बताइए कि नदी में जो बेंत की लता कुबड़ी बनी खड़ी रहती है वह अपने मन से वैसी रहती है या नदी के वेग के कारण ?

राजा—नदी के वेग के कारण।

विदूषक—तो मेरे अंग-भंग के कारण भी कोई हैं तो आप ही हैं।

राजा—कैसे ?

विदूषक—आप तो सारे राज्य-कार्य को तिलांजलि देकर यहाँ के इस बीहड़ प्रदेश में जंगलियों के समान चकराड़ लगा रहे हैं। यहाँ जंगली पशुओं का पीछा करते-करते मेरे अंगों के सारे जोड़-जोड़ ऐसे टूट गए हैं कि हिला तक नहीं जा रहा है। इसलिये अब आप कृपा करके कम से कम मुझे तो एक दिन विश्राम करने की आज्ञा दे ही दीजिए।

राजा—(मन ही मन) इधर यह भी कह रहा है, उधर कण्व की कन्या का ध्यान बने रहने से मेरा मन भी आखेट से ऊब-सा चला है। क्योंकि जिन हरिणियों ने शकुन्तला के साथ रहकर उसे भोली चितवन सिखाई है उन्हें मारने के लिये यह बाण चढ़ाया हुआ धनुष मुझसे खींचते ही नहीं बनता॥ ३॥

विदूषकः—(राज्ञो मुखं विलोक्य) अत्तभवं किं वि हिअए करिअ मन्तेदि। अरण्णे मए रुदिअं आसि।
(अत्रभवन्किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयते। अरण्ये मया रुदितमासीत्।)

राजा—(सस्मितम्) किमन्यत् अनतिक्रमणीयं मे सुहृद्वाक्यमिति स्थितोऽस्मि।

विदूषकः—चिरं जीअ। (चिरं जीव।) (इति गन्तुमिच्छति।)

राजा—वयस्य! तिष्ठ। सावशेषं मे वचः।

विदूषकः—आणवेदु भवं। (आज्ञापयतु भवान्।)

राजा—विश्रान्तेन भवता ममाप्यनायासे कर्मणि सहायेन भवितव्यम्।

विदूषकः—किं मोद प्रखण्डिआए। तेण हि अअं सुगहीदो खणो। (किं मोदकखण्डिकायाम्। तेन ह्ययं सुगृहीतः क्षणः।)

राजा—यत्र वक्ष्यामि। कः कोऽत्र भोः।

(प्रविश्य)

दौवारिकः—(प्रणम्य) आणवेदु भट्टा। (आज्ञापयतु भर्ता।)

राजा—रैवतक! सेनापतिस्तावदाहूयताम्।

दौवारिकः तह। (इति निष्क्रम्य सेनापतिना सह पुनः प्रविश्य) एसो अण्णावअणु व्कण्ठो भट्टा इदो दिण्णदिट्ठी एव्व चिट्ठदि। उपसप्पदु अज्जो। (तथा। एष आज्ञावचनात्कण्ठो भर्ता इतो दत्तदृष्टिरेव तिष्ठति। उपसर्पत्यार्यः।)

विदूषक—(राजा का मुँह देखकर) आप तो न जाने क्या मन ही मन बड़बड़ा रहे हैं। मैं इतना सब कहकर क्या जंगल में ही रोता रहा ?

राजा—(मुसकराकर) नहीं, नहीं, मैं भी यही सोच रहा था कि मित्र की बात कभी नहीं टालनी चाहिए। इसीलिये मैं चुप हो गया था।

विदूषक—जीते रहिए, जीते रहिए। (जाना चाहता है।)

राजा—ठहरो, ठहरो मित्र, अभी मेरी बात पूरी कहाँ हो पाई है?

विदूषक—अच्छा तो वह भी कह डालिए, महाराज!

राजा—देखो, विश्राम कर चुको तो आकर एक काम में भी सहायता आ देना जिसके लिये तुम्हें कहीं आना-जाना नहीं पड़ेगा।

विदूषक—क्या लड़्डू खाने हैं? उसके लिये इससे बढ़कर और कौन-सा अच्छा अवसर होगा।

राजा—ठहरो, बताए देता हूँ। अरे, कोई है ?

(प्रवेश करके)

दौवारिक—(प्रणाम करके।) आज्ञा कीजिए स्वामी !

राजा—अरे रैवतक! जाकर सेनापति को तो बुला लाओ।

दौवारिक—जी, अच्छा। (बाहर जाकर सेनापति को साथ लिए लौट आता है।) देखिए, यह सामने कुछ कहने के लिये इधर दृष्टि किए हुए स्वामी बैठे हुए हैं। आगे बढ़ चलिये आर्य!

सेनापतिः—(राजानमवलोक्य स्वगतम्) दृष्टदोषाऽपि स्वामिनि मृगया केवलं गुण एव संवृत्ता। तथा हि देवः—

अनधरतषनुज्यस्फालनक्रूरपूर्वं रविकिरणसहिष्णु स्वेदलेशैरभिन्नम्।

अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति॥ 4॥

(उपेत्य) जयतु जयतु स्वामी गृहीतश्वापदमरण्यम्। किमद्याप्यवस्थीयते।

राजा—मन्दोत्साहः कृतोऽस्मि मृगयापवादिना माढव्येन।

सेनापतिः—(जनान्तिकम्) सखे! स्थिरप्रतिबन्धो भव। अहं तावत्स्वामिनश्चित्तमनुवर्तिष्ये। (प्रकाशम्) प्रलपत्वेष्ट वैधेयः। ननु प्रभुरेव निदर्शनम्।

मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः

सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः।

उत्कर्षः स च धन्विनां यदिवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले

मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः॥ 5॥

विदूषकः—अवेहि रे उत्साहहेतुः अतः भवं पकिदिं आपण्णो। तुमं दाव अडवीदो अडवीं आहिण्डन्तो णरणासिआलोलुवस्स जिण्णरिच्छस्स कस्स वि मुहे पडिस्ससि। (अपेहि रे उत्साहहेतुक! अत्रभवान्प्रकृति-मापन्नः। त्वं तावदटवीतोऽटवीमाहिण्डमानो नरनासिका-लोलुपस्य जीर्णक्षस्य कस्यापि मुखे पतिष्यसि।)

राजा—भद्र सेनापते! आश्रमसन्निकृष्टे स्थिताः स्मः। अतस्ते वाचोनाभिनन्दामि।

सेनापति—(राजा को देखकर, मन ही मन) लोग आखेट की इतनी बुराई करते हैं पर स्वामी को तो इससे बड़ा लाभ हुआ दिखाई दे रहा है। क्योंकि—

पहाड़ों में घूमने वाले हाथी के समान इनके बलवान् शरीर के आगे का भाग निरन्तर धनुष की डोरी खींचने से ऐसा कड़ा हो गया है कि उस पर न तो धूप का ही प्रभाव पड़ता है और न पसीना ही छूटता है। बहुत दौड़-धूप से यद्यपि ये दुबले पड़ गए हैं पर पुड़ों के पक्के होने के कारण इनका दुबलापन दिखाई नहीं पड़ता॥ 4॥

(पास जाकर) स्वामी की जय हो। हमने आखेट के पशुओं को वन में घेर लिया है। अब बिलम्ब किसलिये है !

राजा—इस आखेट के निन्दक माढव्य ने तो मेरा सारा उत्साह ठण्डा कर दिया है।

सेनापति—(अलग विदूषक से) अच्छा मित्र, तुम भी डटकर विरोध करके देख लो और मैं भी देखो स्वामी के मन को कैसे पलटे देता हूँ। (प्रकट) इस मूर्ख को बकने दीजिए महाराज! स्वामी स्वयं ही देख रहे हैं कि—

आखेट से चर्बी घट जाती है तोंद छट जाती है, शरीर हलका और फुर्तीला हो जाता है; पशुओं के मुँह पर जो भय और क्रोध दिखाई देता है उसका ज्ञान हो जाता है और चलते हुए लक्ष्यों पर बाण चलाने में हाथ सध जाते हैं जो धनुर्धारियों के लिये बड़े गौरव की बात है। लोग झूठ-मूठ ही आखेट को बुरा बताते हैं, नहीं तो इतना अच्छा मन-बहलाव और मिल कहाँ सकता है॥ 5॥

विदूषक—अरे चल-चल उत्साह दिखाने वाले! महाराज अब फिरसे मनुष्य बन गए हैं। तुझे तो एक दिन इसी प्रकार इस वन से उस वन में घूम-घूम कर आखेट करते करते हुए कभी न कभी मनुष्य की नाक के लोभी किसी बूढ़े भालू के मुँह में पड़ना ही है।

अद्य तावत्—

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्ध्रमभ्यस्यतु ।
विश्रब्धं क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्लवे
विश्रामं लभतामिदं च शिशिलज्याबन्धमस्मद्भुः ॥ 6 ॥

सेनापतिः—यत्प्रभविष्णवे रोचते ।

राजा—तेन हि निवर्तय पूर्वगतान्वनग्राहिणः । यथा न मे सैनिकास्तपोवनमुपरुन्धन्ति तथा निषेद्धव्याः
पश्य—

शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः ।
स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तदन्यतेजोऽभिभवाद्भवन्ति ॥ 7 ॥

सेनापतिः—यथाज्ञापयति स्वामी ।

विदूषकः—धंसदु दे उच्छाहवृत्तन्तो । (ध्वंसतां ते उत्साहवृत्तान्तः ।)

(निष्क्रान्तः सेनापतिः)

राजा—(परिजनं विलोक्य) अपनयन्तु भवन्तो मृगयावेषम् । रैवतक! त्वमपि रदं नियोगमशून्यं कुरु ।

परिजनः—जं देवो आणवेदि । (यद्देव आज्ञापयति) ।

(इति निष्क्रान्तः ।)

राजा—भद्र सेनापति! देखो, हम लोग तपोवन के पास ठहरे हुए हैं। इसलिये तुम्हारी बात इस समय मुझे जैच नहीं रही है। आज तो—

भैसों को छोड़ दो कि वे अपनी सींगों से पानी को हलोड़ते हुए तालों में तैरें, हरिणों के झुण्ड पेड़ों की घनी छाया में घेरा बनाकर बैठे जुगाली करें, बड़े-बड़े सूअर निडर होकर छिछले तालों में नागरमोथे की जड़ें खोदें और मेरे धनुष की ढीली डोरी भी कुछ देर विश्राम कर ले ॥ 6 ॥

सेनापति—जैसी महाराज की इच्छा ।

राजा—तो जिन हँकवों को आगे भेज दिया है उन्हें लौटा बुलाओ और सैनिकों को समझा दो कि कोई ऐसा काम न कर बैठें जिसमें तपोवन के काम में बाधा पड़े। देखो—

सूर्यकान्तमणि यों तो छूने में ठण्डा लगता है पर जब सूर्य उसपर अपना प्रकाश डालता है तब वह भी आग उगलने लगता है। उसी प्रकार ऋषि लोग यद्यपि होते तो बड़े शान्त हैं पर उनका तेज भी इतना प्रचंड होता है कि यदि कोई उन्हें कष्ट दे तो उसे जलाकर भस्म भी कर डालते हैं ॥ 7 ॥

सेनापति—जैसी स्वामी की आज्ञा ।

विदूषक—नाश हो तुम्हारी उत्साह की बातों का ।

(सेनापति चला जाता है)

राजा—(अपने सेवकों की ओर देखकर) अब तुम लोग भी अपने आखेट के कपड़े उतार डालो । और रैवतक! जाओ, तुम भी अपना काम देखो ।

सेवक—जैसी देव की आज्ञा ।

(सब चले जाते हैं ।)

विदूषकः किदं भवदा गिम्मच्छिअं संपदं एदस्सि पादवच्छाआए विरइदलदा—विदाणदंसणी आसणे णिसीददु भवं जाव अहं वि सुहासीणे होमि । (कृतं भवता निर्मक्षिकम् । सांप्रतमेतस्यां पादपच्छायायां विरचितलतावितानदर्शनीयायामासने निषीदतु भवान् यावदहमपि सुखासीनो भवामि ।)

राजा—गच्छाग्रतः ।

विदूषकः—इदु भवं । (एतु भवान् ।)

(इत्युभौ परिक्रम्योपविष्टौ ।)

राजा—माढव्य । अनवाप्तचक्षुः फलोऽसि येन त्वया दर्शनीयं न दृष्टम् ।

विदूषकः—णं भवं अगगदो मे वट्टदि । (ननु भवानग्रतो मे वर्तते ।)

राजा—सर्वः खलु कान्तमात्मानं पश्यति । अहं तु तामाश्रमललामभूतां शकुन्तलामधिकृत्य ब्रवीमि ।

विदूषकः—(स्वगतम्) होदु । से अवसरं ण दाइस्सं । (प्रकाशम्) भो वअस्स । ते तावस-कण्णआ अब्भत्थणीआ दीसदि । (भवतु । अस्यावसरं न दास्ये । भो वयस्य ! ते तापसकन्यकाऽभ्यर्थनीया दृश्यते ।)

राजा—सखे ! न परिहार्ये वस्तुनि पौरवाणां मनः प्रवर्तते ।

सुरयुवतिसंभवं किल मुनेरपत्यं तदुज्जिताधिगतम् ।

अकस्योपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालिकाकुसुमम् ॥ ४ ॥

विदूषकः—(विहस्य) जह कस्स वि पिण्डखज्जुरेहिं उब्बेजिदस्स तित्तिणीए अहिलासो भवे तह इत्थिआरअणपरिभाविणो भवदो इअं अब्भत्थणा (यथा कस्यापि पिण्डखज्जूरुद्वेजितस्य तित्तिण्यामभिलाषो भवेत् तथा स्त्रीरत्नपरिभाविनो भवत् इयमभ्यर्थना ।)

विदूषक—चलो अच्छा किया जो सब मक्खियाँ उड़ा दीं आपने । अब चलिए, वृक्षों की घनी छाया वाले लता-मण्डप के नीचे सुन्दर आसन पर आप भी चलकर जम बैठिए और मैं भी घोड़ा सुस्ता लेता हूँ ।

राजा—अच्छा चलो आगे-आगे ।

विदूषक—आप भी आइए । (दोनों घूमकर बैठते हैं ।)

राजा—माढव्य ! यदि तुमने देखने के योग्य वस्तुएँ नहीं देखीं तो आँख होने से तुम्हें लाभ क्या हुआ ।

विदूषक—आप तो मेरी आँखों के आगे रहते ही हैं न !

राजा—अपने लोगों को तो सभी सुन्दर जँचते हैं, पर इस समय तो मैं शकुन्तला की बात कहा रहा हूँ जो इस आश्रम की शोभा है ।

विदूषक—(आप ही आप) अच्छा, मैं इस बातको यहीं पलटे देता हूँ (प्रकट) क्यों मित्र जान पड़ता है उस तपस्वी की कन्या के फेर में जा फँसे हैं ।

राजा—देखो मित्र ! पुरुषवंशियों का मन कुपंथ की ओर बढ़ता ही नहीं है—सुना है, उसकी माँ कोई अप्सरा थी । वह जब इसे वनमें छोड़कर चली गई तब कण्व मुनि इसे वहाँ से उठा लाए । यह ठीक वैसा ही हुआ मानो नवमल्लिका का फूल अपनी डाली से चूकर मदार (आखे के पेड़) पर आ टपका हो ॥ ४ ॥

विदूषक—(हँसकर) जैसे कोई मीठा छुहारा खाते-खाते ऊबकर इमली पर जा टूटे वैसे ही आप भी रनिवास की एक-से-एक बढ़कर सुन्दरियों को भूलाकर इस पर लट्ठ हो बैठे हैं ।

राजा—न तावदेनां पश्यसि येनैवमवादीः।

विदूषकः—तं क्व रमणिज्जं जं भवदो विम्हअं उप्पादेदि। (तत्खलु रमणीयं यद्भवतोऽपि विस्मयमुत्पादयति।)

राजा—वयस्य! किं बहुना—

चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।

स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः॥९॥

विदूषकः—जइ एव्वं पच्चादेसो दाणिं रुववदीणां। (यद्येवम् प्रत्यादेश इदानीं रूपवतीनाम्।)

राजा—इदं च मे मनसि वर्तते—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहैरनाविद्धं रत्नं मधु नवभनास्वादितरसन्।

अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः॥ 10॥

विदूषकः—तेण हि लहु परिताअदु णं भवं। मा कस्सवि तवस्सिणो इगुदीतेल्लमिस्सचिक्कणसीस्सस्स आरण्णअस्स हत्थे पडिस्सदि। (तेन हि लघु परित्रायतामेनां भवान्। मा कस्यापि तपस्विन इङ्गुदीतैलमिश्रचिक्कणशीर्षस्य हस्ते पतिष्यति।)

राजा—परवती खलु तत्रभवती। न च सनिहितोऽत्र गुरुजनः।

विदूषकः—अत्तभवन्तं अन्तरेण कीदिसो से दिट्ठिराओ। (अत्रभवन्तमन्तरेण कीदृशस्तस्या दृष्टिरागः।)

राजा—तुमने अभी उसे देखा नहीं है न, इसीलिये यह सब कह रहे हो।

विदूषक—तो ठीक है। जब आप भी उसे देखकर सुध-बुध भूले बैठे हैं तब वह सचमुच रूपवती होगी।

राजा—मित्र! और तो क्या कहूँ। तुम बस यही समझ लो कि-ब्रह्मा ने जब उसे बनाया होगा तब पहले उसका चित्र बनाकर या मनमें संसार की सभी सुन्दरियों के रूपों को इकट्ठा करके उनमें प्राण डाले होंगे। क्योंकि ब्रह्माकी कुशलता और शकुन्तला की सुन्दरता दोनों पर बार-बार विचार करने से यही जान पड़ता है कि यह कोई निराले ही ढंग की सुन्दरी उन्होंने गढ़ खड़ी की है॥ 9॥

विदूषक—ऐसी बात है तब तो इसने सभी सुन्दरियों को पछाड़ मारा।

राजा—मेरी समझ में तो उसका रूप वैसा ही पवित्र है जैसे बिना सूँघा हुआ फूल, नखों से अछूते पत्ते, बिना बिंधा हुआ रत्न, बिना चखा हुआ नया मधु और बिना भोगा हुआ पुण्यों का फल। पर यह नहीं समझ में आता कि इस रूपको भोगने के लिये ब्रह्माने चुन किसे रक्खा है॥ 10॥

विदूषक—ओ हो ! तब आप चटपट इसे हथिया लीजिए क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि वह हिंगोट के तेल से चिकनी खोपड़ी वाले किसी तपस्वी के हाथ में जा पड़े।

राजा—अरे! यह कोई उसके हाथ की बात थोड़े ही है और फिर उसके पिता भी तो यहाँ नहीं हैं।

विदूषक—अच्छा, यह तो बताइए कि वह आपकी ओर देख किस भाव से देख रही थी।

राजा—मित्र! ऋषियों की कन्याएँ स्वभाव से ही बड़ी भोली-भाली होती हैं। फिर भी जब मैं उसकी ओर मुँह करता था तब वह आँखें चुरा लेती थी और किसी न किसी बहाने मुसकरा भी देती थी। वह

राजा—वयस्य । निसर्गदिवाप्रगल्भस्तपस्विकन्याजनः । तथापि तु—

अभिमुखे मयि संहतमीक्षितं हसितमन्यनिमित्तकृतोवयम् ।

विनयवारितवृत्तिरतस्तया न विवृतो मदनो न च संवृतः ॥ 11 ॥

विदूषकः—(विहस्य) णं क्खु दिड्ढमेत्तस्स तुह अंकं समारोहदि । (न खलु दृष्टमात्रस्य तवाङ्क समारोहति ।)

राजा—राजा मिथः प्रस्थाने पुनः शालीनतयाऽपि काममाविष्कृतो भावस्तत्रभवत्या । तथा हि—

दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा ।

आसीद्विवृतवदना च विमोचयन्ती शाखासु वल्कलमसक्तमपि हुमाणाम् ॥ 12 ॥

विदूषकः—तेण हि गदीदपाहेओ होहि । किदं तुए उववणो तवोवणंति पेक्खामि । (तेन हि गृहीतपाथेयोभव । कृतं त्वयोपवनं तपोवनमिति पश्यामि ।)

राजा—सखे ! तपस्विभिः कैश्चत्परिज्ञातोऽस्मि । चिन्तय तावत्केनापदेशेन सकृदप्याश्रमे वसामः ।

विदूषकः—को अवरो अवदेसो तुह रण्णो । णीवारच्छट्ठभाअं अह्माणं उवहरन्तु त्ति । (कोऽपरोऽपदेशस्तव राज्ञः । नीवारषष्ठभागमस्माकमुपहरन्त्विति ।)

राजा—मूर्ख ! अन्यद्वागधेयमेषां रक्षणे निपतति यद्रत्नराशीनपि विहायाभिनन्द्यम् पश्य—

यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम् ।

तपःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः ॥ 13 ॥

शील से इतनी दबी हुई थी कि अपने प्रेम को तो वह छिपा ही पा रही थी और न खुल कर प्रकट ही कर पा रही थी ॥ 11 ॥

विदूषक—(हँसकर) तो क्या समझते हो कि वह आपको देखते ही आपकी गोदमें आ बैठती ।

राजा—अरे सुनो तो । जब वह जाने लगी उस समय शिष्टता की रक्षा करते हुए भी उसने अपना प्रेम जता ही दिया । क्योंकि—कुछ दूर चलनेपर वह सुन्दरी सहसा यह कह कर रुक गई—अरे, मेरे पाँव में दाभ का काँटा चुभ गया है । और यद्यपि उसका वल्कल कहीं उलझा नहीं था फिर भी धीरे-धीरे बल्कल सुलझाने का बहाना करके वह मेरी ओर देखती हुई कुछ देर खड़ी रह ही गई ॥ 12 ॥

विदूषक—तब आप ऐसा कीजिए कि अपना सारा साज-समाज यहीं मँगवा धरिए, क्योंकि मैं देख रहा हूँ कि आप इस तपोवन को एकदम प्रमोदवन बनाए बिना न छोड़ेंगे ।

राजा—देखो मित्र ! कुछ ऋषि मुझे पहचान भी गए हैं । अब सोच-विचारकर कोई ऐसा उपाय बताओ कि कमसे कम एक बार तो किसी बहाने आश्रम में हो आऊँ ।

विदूषक—आप जैसे राजाओं के लिये कोई बहाना ढूँढ़ने की क्या आवश्यकता है ? जाकर कहिए कि आप लोग राज-करके रूप में हमें तिन्नी का छठा भाग दे डालिए ।

राजा—तू तो एकदम मूर्ख है । अरे, इन ऋषियों की रक्षा के बदले तो हमें ऐसा अनूठ कर मिलता है कि उसके आगे रत्नों का ढेर भी तुच्छ है । देख-चारों वर्णों से राजाओं को जो कर मिलता है उसका फल तो नष्ट हो जाता है पर ये वनवासी ऋषि लोग अपने तप का जो छठा भाग हमें देते रहते हैं वह कभी नष्ट नहीं होता ॥ 13 ॥

(नेपथ्ये)

हन्त सिद्धार्थो स्वः ।

राजा—(कर्ण दत्त्वा) अये धीरप्रशान्तस्वरैस्तपस्विभिर्भवितव्यम् ।

(प्रविश्य)

दौवारिकः—जेदु जेदु भट्टा । एदे दुवे इसिकुमारआ पडिहारभूमिं उवडिदा । (जयतु जयतु भर्ता । एतौ द्वौ ऋषिकुमारौ प्रतिहारभूमिमुपस्थितौ ।)

राजा—तेन ह्यविलम्बितं प्रवेशय तौ ।

दौवारिकः—एसो पवेसेमि । (इति निष्क्रम्य, ऋषिकुमाराभ्यां सह प्रविश्य) इदो इदो भवन्तौ । (एष प्रवेशयामि । इत इतो भवन्तो ।)

(उभौ राजानं विलोकयतः ।)

प्रथमः—अहो दीप्तिमतोऽपि विश्वसनीयताऽस्य वपुवः अथवोपपन्नमेतदृषिभ्यो नातिभिन्ने राजनि ।
कुतः—

अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाऽप्याश्रमे सर्वभोग्ये

रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं संचिनोति ।

अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीतः

पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः ॥ 14 ॥

(नेपथ्य में)

अहा, हम लोगों के सब काम बन गए ।

राजा—(कान लगाकर) अरे, यह गम्भीर और शान्त स्वर तो ऋषियों का-सा जान पड़ रहा है ।

(प्रवेश करके)

द्वारपाल—महाराज की जय हो । दो ऋषिकुमार द्वार पर पधारे हैं ।

राजा—उन्हें तुरन्त यहाँ ले आओ ।

द्वारपाल—अभी लाया । (प्रस्थान और ऋषिकुमारों को साथ लेकर फिर प्रवेश) इधर से आइए भगवन्, इधर से ।

(दोनों ऋषिकुमार राजा को देखते हैं ।)

पहला—अहा ये इतने तेजस्वी हैं कि इन्हें देखकर हमारे मनको बड़ा संहारा मिला जा रहा है । क्यों न हो! —ये राजा भी तो ऋषियों के समान ही रहते हैं । जैसे ऋषि लोग आश्रम में रहते हैं वैसे ही ये भी अपना नगर छोड़कर सबको सुख देने वाले इस आश्रम में आ टिके हैं । अपनी प्रजा की रक्षा करके ये भी नित्य तपस्या ही करते हैं और चारण-चारणियाँ, इन जितेन्द्रिय राजर्षि के जो गीत गाती हैं वे गीत प्रायः स्वर्ग तक सुनाई पड़ते हैं ॥ 14 ॥

द्वितीयः—गौतम ! अयं स बलभित्सखो दुष्यन्तः ?

प्रथमः—अथ किम् ।

द्वितीयः—तेन हि-

नैतच्चित्रं यदयमुदधिश्यामसीमां धरित्रीमेकः कृत्स्नां नगरपरिघप्रांशुबाहुर्भुनक्ति ।

आशंसन्ते सुरयुवतयो बद्धवैरा हि दैत्यैरस्माधिज्ये धनुषि विजयं पौरुहूते च वज्रे ॥ 15 ॥

उभौ—(उपगम्य) विजयस्व राजन् ।

राजा—(आसनादुत्थाय) अभिवादये भवन्तौ ।

उभौ—स्वस्ति भवते । (इति फलान्युपहरतः ।)

राजा—(सप्रणामं परिगृह्य) आज्ञापयितुमिच्छामि ।

उभौ—विदितो भवानाश्रमसदामिहस्थः । तेन भवन्तं प्रार्थयन्ते ।

राजा—किमाज्ञापयन्ति ।

उभौ—तत्रभवतः कण्वस्य महर्षेरसानिध्याद्रक्षांसि न इष्टिविघ्नमुत्पादयन्ति । तत्कतिपयरात्रं सारथिद्वितीयेन भवता सनाथीक्रियतामाश्रम इति ।

राजा—अनुगृहीतोऽस्मि ।

विदूषकः—(अपवार्य) एसा दाणिं अणुऊला ते अब्भत्थणा । (एषेदानीमनुकूला तेऽभ्यर्थना ॥)

दूसरा—गौतम ! क्या इन्द्र के मित्र राजा दुष्यन्त ये ही हैं ?

पहला—हाँ, ये ही हैं ।

दूसरा—इसीलिये हमें यह देखकर तनिक भी आश्चर्य नहीं होता कि नीले समुद्र से घिरी हुई सारी पृथ्वी पर ये नगर के फाटक की अर्गला के समान अपनी लम्बी भुजाओं से अकेले शासन करते हैं, और दैत्यों से बैर बाँधने वाली, देवताओं की स्त्रियाँ इन्हीं के चढ़े हुए धनुष और इन्द्र के वज्र पर अपने विजय की आशा बाँधे रखती हैं ॥ 15 ॥

दोनों—(पास जाकर) राजन्, आपकी जय हो ।

राजा—(आसन से उठकर) आप लोगों को प्रयाम करता हूँ ।

दोनों—आपका कल्याण हो । (फल भेंट करते हैं ।)

राजा—(प्रणाम करके फल लेकर) आज्ञा कीजिए ।

दोनों—सब आश्रमवासी जान गए हैं कि आप यहाँ ठहरे हुए हैं । इसलिये उनकी एक प्रार्थना है ।

राजा—क्या आज्ञा है उनकी ।

दोनों—उन्होंने कहलाया है कि आदरणीय महर्षि कण्व के न रहने के कारण राक्षस लोग हमारे यज्ञ में बड़ा विघ्न डाले दे रहे हैं । इसलिये आप अपने सारथी के साथ यहाँ कुछ रातें बिताकर इस आश्रम को सनाथ किए रखें ।

राजा—बड़ी कृपा है उनकी ।

विदूषक—(अलग) यही तो आप चाहते भी थे ।

राजा—(स्मितं कृत्वा) रैवतक ! मद्रचमादुच्यतां सारथिः सबाणासनं रथमुपस्थापयेति ।

दौवारिकः—जं देवो आणवेदि । (यदेव आज्ञापयति ।)

(इति निष्क्रान्तः)

उभौ—(सहर्षम्)-

अनुकारिणि पूर्वेषां युक्तरूपमिदं त्वयि ।

आपन्नाभयसन्नेषु दीक्षिताः खलु पौरवाः ॥ 16 ॥

राजा—(सप्रणामम्) गच्छतां पुरो भवन्तौ । अहमप्यनुपदमागत एव ।

उभौ—विजयस्य । (इति निष्क्रान्तौ)

राजा—माढव्य । अप्यस्ति शकुन्तलादर्शने कुतूहलम् ।

विदूषकः—पठमं सपरीवाहं आसि, दाणिं रक्खसवुत्तन्तेण बिन्दू वि णावसेसिदो (प्रथम सपरीवाहमासीत् ।
इदानीं राक्षसवृत्तान्तेन बिन्दुरपि नावशेषितः ।)

राजा—मा भैषीः । ननु मत्समीपे वर्तिष्यसे ।

विदूषकः—एसा रक्खसादो रक्खिदो म्हि । (एष राक्षसाद्रक्षितोऽस्मि ।)

(प्रविश्य)

दौवारिकः—सज्जो रधो भट्टिणो विजअप्त्थाणं अवेक्खदि । एसा उण णअरादो देवीणं आणत्तिहरओ
करभओ आअदो । (सज्जो रथो भर्तुर्विजयप्रस्थानमपेक्षते एष पुनर्नगराद्देवीनामाज्ञाप्तिहरः करभक आगतः ।)

राजा—(सादरम्) किमम्बाभिः प्रेषितः ।

दौवारिकः—अह इं । (अथ किम् ।)

राजा—(मुस्कराकर) रैवतक ! सारथी से कहना कि रथ के साथ धनुष्-बाण लेता आवे ।

द्वारपाल—जो आज्ञा महाराज की । (प्रस्थान)

दोनों—(प्रसन्न होकर) राजन् ! आप वही तो कर रहे हैं जो आपके पूर्वज लोग करते चले आये हैं ।
आश्रम की रक्षा करना तो आपका धर्म ही है क्योंकि यह तो सभी जानते हैं कि शरण में आए हुआँ को
अभयदान देने में पुरुवंशी कभी पीछे नहीं हटते ॥ 16 ॥

राजा—आप लोग चलिए । मैं भी पीछे पीछे आ ही रहा हूँ ।

दोनों—आपकी विजय हो । (प्रस्थान)

राजा—माढव्य ! शकुन्तला को देखने की कुछ इच्छा है ?

विदूषक—पहले तो इच्छा की बाढ़ आ गई थी, पर जब से राक्षसों का नाम सुना है तबसे तो बूँद
भर भी नहीं बची रह पाई है ।

राजा—डरो मत । तुम्हें हम अपने साथ रक्खेंगे ।

विदूषक—हाँ, तब तो राक्षसों से प्राण बचें रहेंगे ।

द्वारपाल—(प्रवेश करके) महाराज ! रथ तैयार है और आपकी विजय-यात्रा के लिये पलने की प्रतीक्षा
कर रहा है । और हाँ, राजमाता की आज्ञा लेकर नगर से करभक भी आया है ।

राजा—(आदर के साथ) क्या माता जीने भेजा है ?

द्वारपाल—जी हाँ ।

राजा—ननु प्रवेश्यताम् ।

दौवारिकः—तह । (इति निष्क्रम्य करभकेण सह प्रविश्य) एसो भट्टा । उवसप्प । (तथा । एष भर्ता । उपसर्प ।)

करभकः—जेदु भट्टा । देवी आणवेदि—आआमिणि चउत्थदिअहे पउत्तपारणे मे उववासो भविस्सदि । तहिं दीहाउणा अवस्स संभाविदव्वा त्ति । (जयतु भर्ता । देव्याज्ञापयति—आगामिनि चतुर्थदिवसे प्रवृत्तपारणो मे उपवासो भविष्यति । तत्र दीर्घायुषाऽवश्यं संभावितव्येति)

राजा—इतस्तपस्विकार्यम् उतो गुरुजनाज्ञा । द्वयमप्यनतिक्रमणीयम् । किमत्र प्रतिविधेयम् ।

विदूषकः—तिशङ्कू विअ अन्तराले चिट्ठ । (त्रिशङ्कुरिवान्तराले तिष्ठ ।)

राजा—सत्यमाकुलीभूतोऽस्मि—

कृत्ययोर्भिन्नदेशत्वाद्वैधीभवति मे मनः ।

पुरः प्रतिहतं शैले स्रोतः स्रोतोवहो यथा ॥ 17 ॥

(विचिन्त्य) सखे ! त्वमम्बया पुत्र इति प्रतिगृहीतः अतो भवानितः प्रतिनिवृत्य तपस्विकार्यव्यग्रमानसं मामावेद्य तत्रभवतीनां पुत्रकृत्यमनुष्ठानुमर्हति ।

विदूषकः—ण खखु मं रक्खोभीरुअं गणेसि । (न खलु मां रक्षोभीरुकं गणयसि ।)

राजा—(सस्मितम्) कथमेतद्भवति संभाव्यते ।

विदूषकः—जह राआणुएण गन्तव्वं तह गच्छामि । (यथा राजानुजेन गन्तव्यं तथा गच्छामि ।)

राजा—तो उसे यहीं लेते आओ ।

द्वारपाल—जो आज्ञा । (प्रस्थान । करभक को साथ लेकर फिर प्रवेश) महाराज ये बैठे हैं । आगे बढ़ जाओ ।

करभक—महाराज की विजय हो । माताजी ने कहलाया है कि आज से चौथे दिन मेरे व्रत का पारण होगा । उस अवसर पर चिरञ्जीवी भी अवश्य उपस्थित रहें ।

राजा—इधर तो ऋषियों का काम, उधर बड़ों की आज्ञा । दोनों ही नहीं टाले जा सकते । क्या करूँ ?

विदूषक—त्रिशङ्कु के समान बीच में जा लटको ।

राजा—मैं तो सचमुच बड़ी उलझन में पड़ गया हूँ । क्या बताऊँ ? दोनों कार्य दो अलग-अलग स्थानों में पड़ रहे हैं । इसलिये इस समय दुविधा में पड़े हुए मेरे मन की वही दशा हुई जा रही है जो पहाड़ से रुकी हुई नदी की धारा की होती है ॥ 17 ॥

(सोचकर) मित्र ! देखो ! माता जी तुम्हें भी पुत्र के ही समान मानती हैं । इसलिये तुम चले जाओ और माता जी से कह देना कि मैं ऋषियों की रक्षा में लगा हुआ हूँ । और वहाँ जो कुछ मेरे करने का काम हो सब तुम्हीं कर डालना ।

विदूषक—यह न समझिए कि मैं राक्षसों से डरता हूँ ।

राजा—(मुस्कराकर) भला तुम्हारे विषय में क्या कभी ऐसा सोचा जा सकता है ?

विदूषक—तो मैं वैसे ही ठाट-बाट से जाऊँगा जैसे राजा का छोटा भाई जाता है ।

राजा—ननु तपोवनोपरोधः परिहरणीय इति सर्वानानुयात्रिकाँस्त्वयैव सह प्रस्थापयामि ।

विदूषकः—(सगर्वम्) तेण हि जुवराओ म्हि दाणिं संवुत्तो । (तेन हि युवराजोऽस्मीदानीं संवृत्तः ।)

राजा—(स्वगतम्) चपलोऽयं बटुः । कदाचिदस्मत्प्रार्थनामन्तःपुरेभ्यः कथयेत् । भवतु । एनमेवं वक्ष्ये—
(विदूषकं हस्ते गृहीत्वा प्रकाशम्) वयस्य ! ऋषिगौरवादाश्रमं गच्छामि । न खलु सत्यमेव तापसकन्यकायां
ममाभिलाषः । पश्य—

क्व वयं परोक्षमन्मथो मृगशावैः सममेधितो जनः ।

परिहासविजल्पितं सखे परमार्थेन न गृह्यतां वचः ॥ 18 ॥

विदूषकः—अह इं । (अथ किम् ।)

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति द्वितीयोऽङ्कः ।



राजा—ठीक है, ऐसे ही जाना जहाँ तक हो तपोवन से सब बखेड़ा दूर ही रखना चाहिए । इसलिये सेना को भी तुम्हारे ही साथ भेजे देता हूँ ।

विदूषक—(गर्व के साथ) तब तो इस समय मैं पक्का युवराज ही बना दिया गया हूँ !

राजा—(मन ही मन) वह ब्राह्मण बड़ा ही खटपटी है । कहीं रनिवास में जाकर यह मेरी पोल न खोल डाले । अच्छा, इसे यों समझाता हूँ—(विदूषक का हाथ पकड़कर । प्रकट) मित्र, मैं ऋषियों का बड़ा आदर करता हूँ इसीलिये उनके आश्रम में जाया करता हूँ । और उस ऋषिकन्या-के लिये तो मेरे मनमें तनिक भी प्रेम नहीं है । क्योंकि-कहाँ तो हम, और कहाँ प्रेम की बातों से एकदम अनजान, मृगछौनों के साथ पली हुई वह कन्या मित्र हमने हँसी में जो इतनी बातें तुमसे कह दी हैं उन्हें तुम सत्य न समझ बैठना ॥ 18 ॥

विदूषक—नहीं, नहीं । ठीक है ।

(सब चले जाते हैं ।)

॥ दूसरा अङ्क पूर्ण ॥



तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति कुशानादाय यजमानशिष्यः ।)

शिष्यः—अहो महानुभावः पार्थिवो दुष्यन्तः प्रविष्टमात्रे एवाश्रमं तत्रभवति राजनि निरुपद्रवाग्निः कर्माणि प्रवृत्तानि भवन्ति ।

का कथा बाणसंधाने ज्याशब्देनैव दूरतः ।

हुंकारेणैव धनुषः स हि विघ्नानपोहति ॥ १ ॥

यावदिमान्वेदिसंस्तरणार्थं दर्भानृत्विग्न्य उपनयामि (परिक्रम्यावलोक्य च आकाशे) प्रियंवदे! कस्येदमुशीरानुलेपनं मृणालवन्ति च नलिनीपत्राणि नीयन्ते । (आकर्ण्य) किं ब्रवीषि । आतपलङ्घनाब्दलवदस्वस्था शकुन्तला तस्याः शरीरनिर्वापणायेति । तहि त्वरितं गम्यताम् । सा खलु भगवतः कण्वस्य कुलपतेरुख्यसितम् । अहमपि तावद्वैतानिकं शान्त्युदकमस्यै गौतमीहस्ते विसर्जयिष्यामि । (इति निष्क्रान्तः ।)

(विष्कम्भकः ।)

(ततः प्रविशति कामयमानावस्थो राजा ।)

राजा—(सचिन्तं निःश्वस्य)

जाने तपसो वीर्यं सा बाला परवतीति मे विदितम् ।

अलमस्मि ततो हृदयं तथापि नेदं निवर्तयितुम् ॥ २ ॥

तीसरा अङ्क

(हाथ में कुशा लिए कण्व के शिष्यका प्रवेश ।)

शिष्यः—महाराज दुष्यन्त का प्रताप तो देखिए कि जब से वे इस आश्रम में पधारे हैं तभी से हमारे सब काम बेरोक-टोक हुए चले जा रहे हैं—बाण चढ़ाने की तो बात ही दूर, केवल अपने धनुष की टंकार से ही वे विघ्नों को दूर भगा डालते हैं ॥ १ ॥ तो चलो, ऋत्विजों के लिये वेदी पर बिछाने की कुशा ले जा पहुँचा आऊँ । (धूमकर आकाश की ओर देखते हुए ।) अरी प्रियंवदा, ये डंठल वाले कमल के पत्ते और खस मिला हुआ लेप किसके लिये लिए चली जा रही हो । (सुनने का नाट्य करते हुए) क्या कहा कि शकुन्तला लू लग जाने से बड़ी बेचैन हो उठी है, उसके शरीर को ठंडक पहुँचाने के लिये ही यह सब ले जा रही हूँ ! तो तुरन्त चली जाओँ क्योंकि वह तो भगवान कुलपति कण्व के प्राण के ही समान है । मैं भी तब तक उसके लिये गौतमी के हाथ यज्ञका शान्ति-जल भेजे दे रहा हूँ । (प्रस्थान)

(विष्कम्भकः)

(काम से पीडित अवस्था में राजा दुष्यन्त का प्रवेश ।)

राजा—(उससँ भरकर) मैं तपस्विनियों की शक्ति को भली भाँति जानता हूँ, इसलिये मैं उसे हरकर तो ले नहीं जा सकता और साथ-साथ यह भी जानता हूँ कि विवाह करना न करना भी उस कुमारी के हाथ की बात नहीं है इसलिये वह स्वयं भी मेरे साथ नहीं चल सकती । फिर भी न जाने क्या बात है कि मैं अपना मन उसपर से हटा नहीं पा सक रहा हूँ ॥ २ ॥

(मदनवाधां निरूप्य) भगवन्कुसुमायुध! त्वया चन्द्रमसा च विश्वसनीयाभ्यामतिसंधीयते कामिजनसार्थः ।
कुतः-

तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दोर्द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्भिषेषु ।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखैस्त्वमपि कुसुमबाणान्वज्रसारीकरोषि ॥ 3 ॥

अथवा-

अनिशमपि मकरकेतुर्मनसो रुजमावहन्ममिमतो मे ।
यदि मदिरायतनयनां तामधिकृत्य प्रहरतीति ॥ 4 ॥

(सखेदं परिक्रम्य) क्व नु खलु संस्थिते कर्मणि सदस्यैरनु ज्ञातः श्रमक्लान्तमात्मानं विनोदयामि ।
(निःश्वस्य) किं नु खलु मे प्रियादर्शनादृते शरणामन्यत् । यावदेनामन्विष्यामि । (सूर्यमवलोक्य) इमामुग्रातपवेलानां
प्रायेण लतावलयवत्सु मालिनीतीरेषु ससखीजना शकुन्तला गमयति । तत्रैव तावद्गच्छामि (परिक्रम्य
संस्पर्श रूपयित्वा) अहो प्रवातसुभगोऽयमुद्देशः ।

शक्यमरविन्दसुरभिः कणवाही मालिनीतरङ्गाणाम् ।
अङ्गैरनङ्गतप्तैरविरलमालिङ्गितुं पवनः ॥ 5 ॥

(परिक्रम्यावलोक्य च) अस्मिन्चेतसपरिक्षिप्ते लतामण्डपे संनिहितया शकुन्तलया भवतिव्यम । तथा
(अधो विलोक्य)

अभ्युन्ता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात्पश्चात् ।
द्वारेऽस्य पाण्डुसिकते पदपङ्क्तिर्दृश्यतेऽभिनवा ॥ 6 ॥

(काम-पीड़ा का नाट्य करते हुए)—अजी फूलों के धनुष-बाण धारण करने वाले कामदेव! तुम और
चन्द्रमा दोनों ने उन सब बेचारे कामियों को बड़ा धोखा दे डाला है जो तुमपर विश्वास किए बैठे थे ।
क्योंकि-तुम फूलों के बाण लिए रहते हो और चन्द्रमा ठण्डी किरणें बरसाता रहता है ये दोनों बातें
मुझ-जैसे विरहियों को तो झूठी ही जान पड़ती हैं, क्योंकि उधर चन्द्रमा तो अपनी ठण्डी किरणों से आग
बरसाए डाल रहा है और तुम भी अपने फूलों के बाणों में वज्र की-सी कठोरता भरे बैठे हो ॥ 3 ॥

पर हाँ यदि तुम उस बड़ी-बड़ी मदभरी, आँखों वाली शकुन्तला के कारण ही मेरा जी बार-बार दुखाए
जा रहे हो तब तो कोई बात नहीं, तुम ठीक ही कर रहे हो ॥ 4 ॥

(दुखी होकर घूमता हुआ) यज्ञ-पूर्ण हो जाने पर जब ऋषि लोग मुझे विदा कर देंगे तब मैं अपने
ये दुखी प्राण लेकर कहाँ मन बहला पाऊँगा? (ठण्डी साँस भरकर) प्रिया का दर्शन छोड़कर अब और
दूसरा सहारा ही क्या रह गया है ? चलूँ चलकर उसी को ढूँढ़ता हूँ । (सूर्य को देखकर) ऐसी भरी दुपहरी
में तो शकुन्तला अपनी सखियों के साथ मालिनी के तट पर बने लता मण्डपों में ही जाकर प्रायः बैठा
करती है । तो वहीं चला चलता हूँ । (घूमकर और वायु का स्पर्श होने का अभिनय करता हुआ) वाह,
यहाँ कैसा अच्छा पवन बह रहा है-कमल में बसा हुआ और मालिनी की लहरों की फुहारों से लदा हुआ
यह पवन, काम से तपे हुए अंगों को बड़ी ठंडक दिए डाल रहा है ॥ 5 ॥

(घूमकर और देखकर) शकुन्तला तो बेंतों से घिरे हुए इस लतामण्डप में ही कहीं बैठी होनी चाहिए ।
क्योंकि (नीचे देखकर) इस कुंज के द्वार की पीली रेती में भारी नितंबवाली सखियों के पैरों की नई पड़ी
हुई छाप दिखाई दे रही है जो एड़ी की ओर गहरी और आगे की ओर उठी हुई हैं ॥ 6 ॥

यावद्विद्विपान्तरेणावलोकयामि । (परिक्रम्य तथा कृत्वा सहर्षम्) अये लब्धं नेत्र निर्वारणम् । एषा मे मनोरथप्रियतमा सुकुसुमास्तरणं शिलापट्टमधिशयाना सखीभ्यामन्वास्यते । भवतु । श्रोष्याम्यासां त्रिम्भकथितानि । (इति विलोकयन् स्थितः ।)

(ततः प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह सखीभ्यां शकुन्तला)

सख्यौ—(उपजीज्य सस्नेहम्) हला सउन्दले! अवि सुहेदि दे णलिणीपत्तवादो? (हला शकुन्तले! अपि सुखयति ते नलिनीपत्रवातः?)

शकुन्तलाः—किं वीअअन्ति मं सहीओ । (किं वीजयतो मां सख्यौ ।)

(सख्यौ विषादं नाटयित्वा परस्परमवलोकयतः ।)

राजा—बलवदस्वस्थशरीरा शकुन्तला दृश्यते । (सवितर्कम्) तत्किमयमातपदोषः स्यात् उत यथा मे मनसि वर्तते । (साभिलाषं निर्वर्ण्य) अथवा कृतं संदिहेन ।

स्तनन्यस्तोशीरं शिथिलितमृणालैकवलयं

प्रियायाः साबाधं किमपि कमनीयं वपुरिदम् ।

समस्तापः कामं मनसिजनिदाघप्रसरयो-

नं तु ग्रीष्मस्यैवं सुभगमराद्धं युवतिषु ॥ ७१ ॥

प्रियंवदा—(जनान्तिकम्) अणसूए! तस्स राएसिणो पढमदंसणादो आरहिअ पज्जुस्सुआ विअ सउन्दला । किं णु ख्खु से तण्णिमित्तो अअं आतङ्को भवे । (अनसूये! तस्य राजर्षेः प्रथमदर्शनादारभ्य पर्युत्सुकेव शकुन्तला । किं नु खलु तस्यास्तन्निमित्तोऽयमातंको भवेत् ।)

अच्छा! इन वृक्षों की ओट से ही झाँके लेता हूँ । (धूमकर और प्रसन्न होकर) वाह वाह! मेरी तो आँखें ठण्डी हो गई ! मेरी प्यारी यहीं पर सुन्दर फूलों के बिछौने वाली पत्थर की पटिया पर लेटी पड़ी है और दोनों सखियाँ इसकी सेवा में लगी हुई हैं । अच्छा! सुनूँ तो सही कि आपस में ये बातें क्या कर रही हैं । (खड़ा होकर सुनता है ।)

(जैसा ऊपर कहा गया है उस दशा में शकुन्तला के साथ सखियाँ दिखाई देती हैं ।)

सखियाँ—(बड़े प्यार से पंखा झलती हुई) क्यों सखी शकुन्तला! कमल के पते झलने से कुछ ठण्डक मिल रही है ?

शकुन्तला-ऐ! सखियो! क्या तुम मुझे पंखा झल रही हो ?

(सखियाँ दुखी होने का अभिनय करती हुई एक दूसरी की ओर देखती हैं ।)

राजा—शकुन्तला तो बड़ी बेचैन दिखाई पड़ रही है । (सोचकर) इसे क्या लू लग गई है ? या कहीं ऐसा तो नहीं है कि जो दशा मेरे मनकी हुई जा रही है वही इसके मनकी भी हो । (ललचाई आँखों से देखता हुआ) पर सन्देह किया ही क्यों जाय । क्योंकि-

इसके स्तनों पर तो खस का लेप लगाया हुआ है और एक हाथ में कमल की नाल का ढीला कंगन ला बाँधा गया है । पर इतना बेचैन होने पर भी इसका शरीर कुछ कम सुन्दर नहीं लग रहा है । यद्यपि लू लगने और प्रेम में पड़ने पर बेचैनी तो एक-सी होती है किन्तु लू लग जाने पर युवतियों में इतनी सुन्दरता नहीं बच रह जाती है ॥ ७१ ॥

प्रियंवदा—(अलग) अनसूया! जबसे शकुन्तला की उन राजर्षि से चार आँखें हुई हैं तभी से यह उनपर लट्ठू हो बैठी है । कौन जाने उन्हीं के कारण यह बेचैनी हो रही हो ।

अनसूया—सहि! मम वि ईदिसी आसंका हिअअस्स। होदु। पुच्छिस्सं दाव णं। (प्रकाशम्) सहि पुच्छिदव्वासि किं पि। बलवं क्खु दे संदावो। (सखि ममापिदृश्याशङ्का हृदयस्य। भवतु। प्रक्ष्यामि तावदेनाम्। सखि प्रष्टव्याऽसि किमपि। बलवान्खलु ते संतापः।)

शकुन्तला—(पूर्वार्धेन शयनादुत्थाय) हला! किं वक्तुकामासि? (हला! किं वक्तुकामासि?)

अनसूया—हला सउन्दले! अणब्भन्तरा क्खु अम्हे मदणगदस्स वृत्तन्तस्स। किंदु जादिसी इदिहासणिबन्धेसु कामाअमाणाणं अवत्था सुणीअदि तादिसीं दे पेक्खामि। कहेहि किं णिमित्तं संदावो। विआरं क्खु परमत्थदो अजाणिअ अणारम्भो पडिआरस्स। (हला शकुन्तले! अनभ्यन्तरे खल्वावां मदनगतस्य वृत्तान्तस्य। किंतु यादृशी इतिहासनिबन्धेषु कामयमानानामवस्था श्रूयते तादृशीं ते पश्यामि। कथय किं निमित्तं ते संतापः। विकारं खलु परमार्थतः अज्ञात्वाऽनारम्भः प्रतीकारस्य।)

राजा—अनसूयामप्यनुगतो मदीयस्तर्कः। न हि स्वाभिप्रायेण मे दर्शनम्।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) बलवं क्खु मे अहिणिवेसो। दाणिं वि सहसा एदाणं ण सक्कणोभि णिवेदिदुं। (बलवान्खलु मेऽभिनिवेशः। इदानीमपि सहसैतयोर्न शक्नोमि निवेदयितुम्।)

प्रियंवदा—सहि सउन्दले! सुट्ठु एसा भणादि किं अत्तणो आतंकं उवेक्खसि। अणुदिअहं क्खु परिहीयसि अंगेहिं केवलं लावण्णमई छाया तुमं ण मुंचदि। (सखि शकुन्तले! सुष्ठु एषा भणति। किमात्मन आतङ्कमुपेक्षसे। अनुदिवस खलु परिहीयसेऽङ्गैः। केवलं लावण्यमयी छाया त्वां न मुञ्चति।)

अनसूया—हाँ सखी! मैं भी कुछ ऐसा ही सोचती हूँ। अच्छा! इसी से पूछ देखती हूँ। (प्रकट) सखी, मैं तुमसे कुछ पूछना चाहती हूँ क्योंकि देखो, तुम्हारी बेचैनी बहुत बढ़ चली है।

शकुन्तला—(बिछौने पर आधी उठेंग कर) क्या पूछना चाहती हो सखी ?

अनसूया—शकुन्तला! हम लोग प्रेम-वेम की तो बातें कुछ जानती नहीं फिर भी कथा कहानियों में जो हमने प्रेमियों की बातें सुनी हैं, ठीक वैसी ही कुछ तुम्हारी भी दशा दिखाई पड़ रही है। तो बताओ, तुम इतनी बेचैन हुई पड़ी हो तो किसके लिये हो क्योंकि जबतक रोग का निदान न हो पावे तबतक उसका उगाय कैसे किया जा सकता है ?

राजा—मैं जो कारण समझे बैठा था वही अनुसूया भी सोच रही है। तो मैंने जो कुछ सोचा था वह केवल मेरे ही मनकी बात नहीं थी।

शकुन्तला—(मन ही मन) सचमुच मेरा प्रेम इतना अधिक आगे बढ़ चुका है कि मुझसे एकाएक कुछ कहते नहीं बन पा रहा है।

प्रियंवदा—हाँ सखी शकुन्तला! अनसूया ठीक ही तो कह रही है। तुम क्यों अपना रोग बढ़ाए चली जा रही हो। दिन पर दिन तुम इतनी कुम्हलाई चली जा रही हो कि तुम्हारे शरीर पर सुन्दरता की बस झलक भर बची रह गई है।

राजा—अवितथमाह प्रियंवदा । तथा हि-

क्षामक्षामकपोलमाननमुरः काठिन्यमुक्तस्तनं

मध्यः क्लान्ततरः प्रकामविनतावंसौ छविः पाण्डुरा ।

शोच्या च प्रियदर्शना च मदनक्लिष्टेयमालक्ष्यते

पत्राणामिव शोषणेन मरुता स्पृष्टा लता माधवी ॥ 8 ॥

शकुन्तला—सहि! कस्स वा अण्णुस्स कहइस्सं । आआसइत्तिआ दाणिं वो भविस्सं । (सखि! कस्स वाऽन्यस्य कथयिष्यामि । आयासयित्रीदानीं वां भविष्यामि ।)

उभे—अदो एव्व खु णिब्बन्धो । सिणिद्धजणसंविभत्तं हि दुक्खं सज्जवेदणं होदि । (अत एव खलु निर्बन्धः । स्निग्धजनसंविभक्त हि दुःखः सद्भववेदनं भवति ।)

राजा-

पृष्टा अनने समदुःखसुखेन बाला नेयं न वक्ष्यति मनोगतमाधिहेतुम् ।

दृष्टो विवृत्य बहुशोऽप्यनया सतृष्णमत्रान्तरे श्रवणकातरतां गतोऽस्मि ॥ 9 ॥

शकुन्तला—सहि! जदो पहुदि मम दंसणपहं आअदो सो तवोवणरक्खिदा राएसी तदो आरहिअ तग्गदेण अहिलासेण एतदवस्थमिह संवुत्ता (सखि! यतः प्रभृति मम दर्शनपथमागतः स तपोवनरक्षिता राजर्षिः तत आरभ्य तद्गतेनाभिलाषेणैतदवस्थाऽस्मि संवृत्ता ।)

राजा—(सहर्षम्) श्रुतं श्रोतव्यम् ।

स्मर एव तापहेतुर्निर्वापयिता स एव मे जातः ।

दिवस इवार्धश्यामस्तपात्यये जीवलोकस्य ॥ 10 ॥

राजा—प्रियंवदा सच कहती है । क्योंकि-इसके गाल बैठ गए हैं, मुँह सूख गया है, स्तनों की कठोरता जाती रही है, कमर और भी पतली हो चली है, कंधे झुक गए हैं और सारी देह पीली पड़ गई है । वायु के परस से मुरझाई हुई पत्तियों वाली माधवी लताके समान यह सुन्दर तो लग रही है पर इस पर दया भी आ रही है ॥ 8 ॥

शकुन्तला—बताओ, तुमसे न कहूँगी तो और किससे कहूँगी? सखी! अब तुम दोनों को मेरे लिये कुछ थोड़ा-सा कष्ट करना ही पड़ेगा ।

दोनों—इसीलिये तो हम तुमसे इतना आग्रह किए डाल रही हैं । देखो, अपने स्नेहियों से दुःख बाँट लेने पर वह कम ही हो जाता है ।

राजा—दुख-सुख में साथ देने वाली अपनी इन सखियों के पूछने पर तो यह बाला अवश्य ही अपने मन की बात खोल बता देगी । यद्यपि शकुन्तला ने उस समय बड़े प्यार से बार-बार मेरी ओर ललचाई आँखों से देखा था फिर भी मेरे जी में बड़ी धुकधुकी मची जा रही है कि देखें यह अपनी बेचैनी का क्या कारण बताती है ॥ 9 ॥

शकुन्तला—सखी, आश्रम की रक्षा करने वाले वे राजर्षि जब से मेरी आँखों में आ समाए हैं तभी से उन्हीं के प्रेम में मेरी यह दशा हुई जा रही है ।

राजा—(हर्ष से) यही सुनने को तो मैं तरस् रहा था । जो कामदेव मुझे पीड़ा दिए डाल रहा था, उसी ने मुझे वैसे ही जिला लिया जैसे गर्मी का दिन पहले तो जीवों को व्याकुल कर डालता है पर दिन ढल जानेपर वही सबका जी हरा भी कर देता है ॥ 10 ॥

शकुन्तला—तं जइ वो अणुमदं । ता तह वट्टह जइ तस्स राएसिणो अणुकम्पणिज्जा होमि । अण्णहा अवस्सं सिञ्चध मे तिलोदअं । (तद्यदि वामनुमतम् तदा तथा वर्तयाम् यथा तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामि । अन्यथा अवश्यं सिञ्चत ये तिलोदकम् ।)

राजा—संशयच्छेदि वचनम् ।

प्रियंवदा—(जनान्तिकम्) अणसूए! दूरगममन्महा अक्खमा इअं कालहरणस्स । जस्सि बद्धभावा ऐसा सो ललामभूदो पोरवाणं । ता जुत्तं से अहिलासो अहिणन्दिदुं । (अनसूये! दूरगतमन्मथा अक्षमेयं कालहरणस्य । यस्मिन् बद्धभावैषा स ललामभूतः पौरवाणाम् तद्युक्तमस्या अभिलाषोऽभिनन्दितुम्)

अनसूया—तह जइ भणसि । (तथा यथा भणसि ।)

प्रियंवदा—(प्रकाशम्) सहि! दिट्ठिआ अणुरुवो दे अहिणिवेसो । साअरं उज्झिअ कहिं वा महाणइ ओदरइ को दाणिं सहआरं अन्तरेण अदिमुत्तलदं पल्लविदं सहेदि । (सखि! दिष्ट्याऽनुरूपस्तेऽभिनवेशः । सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति कं इदानीं सहकारमन्न्रेणातिमुत्तलतां पल्लवितां सहते ।)

राजा—किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशाङ्कलेखमानुवर्तते ।

अनसूया—को उण उवाओ भवे जेण अविलम्बिअं णिहुअं अ सहीए मनोरह संपादेम्ह । (कः पुररुपायो भवेद्येनाविलम्बितं निभृतं च सख्या मनोरथं संपादयावः ।)

प्रियंवदा—णिहुअं ति चिन्तणिज्जं भवे । सिग्घं ति सुअरं । (निभृतमिति चिन्तनीयं भवेत् शीघ्रमिति सुकरम् ।)

अनसूया—कहं विअ । (कथमिव ।)

शकुन्तला—यदि तुम दोनों ठीक समझो तो कोई ऐसा उपाय सोच निकालो कि उन राजर्षि की मुझपर कृपा हो आय । यह नहीं हो पाया तो मुझे तिलान्जलि देने के लिये तैयार हो जाओ ।

राजा—(मन ही मन) बस, यह सुनकर अब मेरा सारा सन्देह जाता रहा ।

प्रियंवदा—(अनसूया से अलग) सखी, इसकी प्रेम-व्यथा इतनी अधिक बढ़ गई है कि कोई न कोई उपाय शीघ्र ढूँढ़ निकालना ही होगा । सचमुच, इस बात की तो सराहना करनी ही पड़ेगी कि शकुन्तला ने भी प्रेम किया तो पुरुवंश के भूषण दुष्यन्त से ही किया ।

अनसूया—हाँ, यह बात तो है ।

प्रियंवदा—(प्रकट) सखी, तू बड़ी सौभाग्यशालिनी है कि तू ऐसे योग्य पुरुष से प्रेम कर बैठी है । बता तो, भला सागर को छोड़कर महानदी और जायगी कहाँ ? आम के वृक्ष को छोड़कर नये पत्तों वाली माधवी भला और किसके सहारे चढ़ेगी ?

राजा—यदि विशाखा के दोनों नक्षत्र चन्द्रकला के पीछे-पीछे चलें तो आश्चर्य ही क्या ?

अनसूया—तो कोई ऐसा उपाय निकाल बताओ कि इसकी इच्छा भी तुरन्त पूरी हो जाय और कोई जान भी न पावे ।

प्रियंवदा—तुरन्त वाला उपाय तो हो सकता है, पर बात छिपी रह जाय इसी के लिये थोड़ा सोचना पड़ेगा ।

अनसूया—क्यों ?

प्रियंवदा—णं सो राएसी इमस्सिं सिणिद्धदिट्ठीए सूइदाहिल सो इमाइँ दिअहाइँ पजाअरकिसो लक्खीअदि। (ननु स राजर्षिरितस्यां स्निग्धदृष्ट्या सूचिताभिलाष एतान्दिवसान्। प्रजागरकृशो लक्ष्यते।)

राजा—सत्यमित्थंभूत एवास्मि। तथा हि-

इदमशिशिरैरन्तस्तापाद्विवर्णमणीकृतं

निशि निशि भुजन्यस्तापाङ्गप्रसारिभिरश्रुभिः।

अनभिलुलितज्याघाताङ्कं मुहुर्मणिबन्धना

कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया प्रतिसार्यते॥ 11॥

प्रियंवदा—(विचिन्त्य) हला! मअणलेहो से करीअदु। इमं देवप्पसादस्सावदेसेण सुमणोगोविदं करिअ से हत्यअं पावइस्सं। (हला! मदनलेखोऽस्य क्रियताम्। इमं देवप्रसादस्यापदेशेन सुमनोगोपितं कृत्वा तस्य हस्तं प्रापयिष्यामि।)

अनसूया—रोअइ मे सुउमारो पओओ। किं वा सउन्दला भणादि। (रोचते मे सुकुमारः प्रयोगः। किं वा शकुन्तला भणति।)

शकुन्तला—को णिओओ विकप्पीअदि। (को नियोगो विकल्प्यते।)

प्रियंवदा—तेण हि अत्तणो उवण्णासपुव्वं चिन्तेहि दाव ललिअपदबंधणं। (तेन ह्यात्मन उपन्यासपूर्वं चिन्तय तावल्ललितपदबन्धनम्।)

शकुन्तला—हला! चिन्तेमि अहं। अवहीरणभीरुअं पुणो वेवइ मे हिअअं। (हला! चिन्तयाम्यहम्। अवधीरणभीरुकं पुनर्वपते मे हृदयम्।)

प्रियंवदा—सच्ची बात यही है कि राजर्षि भी शकुन्तला से उतना ही प्रेम करते हैं। तभी तो दिन-रात जागते रहने से इधर वे कुछ दुबले से दिखाई पड़ने लगे हैं।

राजा—मेरी दशा सचमुच ऐसी ही हो चली है। मैं इतना दुबला हो गया हूँ कि सिर के तले लगी हुई भुजापर बँधा हुआ और रात-रात भर मेरी आँखों की कोरों से छन-छनकर गिरे हुए गरम आँसुओं से मैले रत्नों वाला यह सोने का भुजबन्ध इतना ढीला पड़ गया है कि बार-बार ऊपर सरकाते चलने पर भी यह गद्दे पर खिसक उतरता है यहाँ तक कि धनुष् की डोरी की फटकार से पड़े हुए घड़ों तक पर भी नहीं ठहर पाता॥ 11॥

प्रियंवदा—(सोचकर) सखी! ऐसा किया जाय कि इससे एक प्रेम-पत्र लिखवा लिया जाय और उसे फूलों में छिपाकर देवता का प्रसाद कहकर उन्हें दे आया जाय।

अनसूया—हाँ SS, यह उपाय तो मुझे भी बड़ा सुन्दर जँचा, पर शकुन्तला से भी पूछ लिया जाय।

शकुन्तला—तुम्हारी बात में भला मैं क्या मीन-मेख निकाल सकती हूँ।

प्रियंवदा—तब अपनी दशा का वर्णन करते हुए एक सुन्दरी-सी कविता बना डालो। शकुन्तला-कविता तो मैं बना लूँगी। पर मेरा हृदय यही सोच-सोचकर काँपे जा रहा है कि कहीं वे अस्वीकार न कर बैठे।

राजा—(सहर्षम्)

अयं स तिष्ठति संगमोत्सुको विशङ्कसे भीरु यतोऽवधीरणाम् ।

लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत् ॥ 12 ॥

सख्यौ—अत्तगुणावमाणिणि! को दाणिं सरीरणिंवावत्तिअं सारदिअं जोसिणिं पयन्तेण वारेदि ।
(आत्मगुणावमानिनि! क इदानीं शरीरनिर्वापयित्रीं शारदीं ज्योत्स्नां पटान्तेन वारयति ।)

शकुन्तला—(सस्मितम्) णिओइआ दाणि म्हि । (नियातितेदानीमस्मि ।)

(इत्युपविष्टा चिन्तयति ।)

राजा—स्थाने खलु विस्मृतनिमेषेण चक्षुषा प्रियामवलोकयामि । यतः—

उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्याः पदानि रचयन्त्याः ।

कष्टकितेन प्रथयति मय्यनुरागं कपोलेन ॥ 13 ॥

शकुन्तला—हला! चिन्तितं मए गीदवत्थु । ण व्खु सण्णिहिदाणि उण लेहणसाहणाणि । (हला! चिन्तितं मया गीतवस्तु । न खलु संहितानि पुनर्लेखनसाधनानि ।)

प्रियंवदा—इमस्मि सुओदरसुउमारे णलिणीपत्ते णहेहिं णिक्खित्तवण्णं करेहि । (एतस्मिन्नुकोदरसुकुमारे नलिनीपत्रे नखैर्निक्षिप्तवर्णं कुरु ।)

शकुन्तला—(यथोक्तं रूपयित्वा) हला! सुणुद दाणिं संगदत्थ ण वेति । (हला! शृणुतमिदानीं संवतार्थं न वेति ।)

उभे—अवहिदे म्ह । (अवहिते स्वः ।)

राजा—(हर्ष से) तुम जिससे निरादर की आशँका किए जा रही हो वह तो स्वयं तुमसे मिलने को उतावला हुआ खड़ा है। जो लक्ष्मी पाने के फेर में पड़ा हो उसे लक्ष्मी भले ही न मिले पर जिसे स्वयं चाहे वह लक्ष्मी को न मिले, यह कैसे हो सकता है ॥ 12 ॥

दोनों—अपने को इतना बुरा समझने वाली ! भला बता तो ऐसा कौन मूर्ख होगा जो शरीर को शान्ति देने वाली शरत् की चाँदनी को रोकने के लिये सिरपर कपड़ा तान बैठे ।

शकुन्तला—(मुस्कराकर) अच्छा, जो कहती हो वही किए डालती हूँ । (यह कहकर बैठी हुई सोचती है ।)

राजा—(मन ही मन) प्यारी को आँखभर देखने का यह अच्छा अवसर मिला है, क्योंकि-लता के समान चढ़ी हुई एक भौंहवाला और हर्ष से पुलकित गालों वाला इस गीत बनाने वाली का मुखड़ा ही बताए डाल रहा है कि यह मुझे कितना प्यार करती है ॥ 13 ॥

शकुन्तला—सखी! गीत तो मैंने सोच लिया है पर लिखने की सामग्री तो यहाँ कुछ भी नहीं है ।

प्रियंवदा—सुग्गे की छाती के समान कोमल इस कमलिनी के पत्ते पर अपने नखों से ही क्यों नहीं लिख डालती ?

शकुन्तला—(ऐसा ही करती हुई) सुनो सखी! यह ठीक भी बन पाया है या नहीं ।

दोनों—हाँ, कहो हम सुन रही हैं ।

शकुन्तला—(वाचयति)-

तुज्झ ण आणे हिअअं मम उण कामो दिवावि रत्तिम्भि ।

णिगिधण! तवइ बलीअं तुइ बुत्तमणोरहाइँ अंगाइँ ॥ 14 ॥

(तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवाऽपि रात्रिमपि ।

निर्घृण! तपसि बलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथान्यङ्गानि ॥)

राजा—(सहसोपसृत्य)

तपति तनुगात्रि मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव ।

ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथा हि कुमुद्वतीं दिवसः ॥ 15 ॥

सख्यौ—(सहर्षम्) साअदं अविलम्बिणो मणोरहस्स । (स्वागतमविलम्बिनो बनोरथस्य ।)

(शकुन्तलाऽभ्युत्थातुमिच्छति ।)

राजा—अलमलमायासेन ।

संदष्टकुसुमशयनान्याशुक्लान्तबिसभङ्गसुरभीणि ।

गुरुपरितापानि न ते गात्राण्युपचारमर्हन्ति ॥ 16 ॥

अनसूया—इदो सिलातलेक्कदेसं अलंकरेदु वअस्सो । (इतः सिलातलैकदेशमलंकरोतु वयस्यः ।)

(राजोपविशति । शकुन्तला सलज्जा तिष्ठति)

शकुन्तला—(बाँचती है ।) -

रे निर्दय ! मैं नहीं जानती, तेरे मनकी माया ॥

पर तेरे ही प्रेम-पाश में पड़कर यह फल पाया ।

कामदेव दिन-रात तपाता मेरी कोमल काया ॥ 14 ॥

राजा—(शीघ्रता से आगे बढ़कर ।) सुन्दरी! तुम्हें तो कामदेव सताता भर है पर यहाँ तो वह निरन्तर जलाए ही डाल रहा है क्योंकि दिन निकलने पर कुमुदिनी उतनी नहीं कुम्हलाती जितना चन्द्रमा कुम्हला जाता है ॥ 15 ॥

सखियाँ—(हर्ष से) स्वागत है आपका! हम लोग आपके दर्शन की बात अभी सोच ही रही थीं कि आप स्वयं ही आ गए ।

(शकुन्तला उठना ही चाहती है ।)

राजा-बस बस, कष्ट करने की आवश्यकता नहीं। विरहके अत्यन्त तापसे फूल के बिछौने पर तुमने जो इधर-उधर करवटें ली थीं उसके कारण फूलों की पङ्क्तियाँ तुम्हारे शरीर में पसीने से चिपट गई हैं। तुमने कमल की नाल के जो आभूषण पहन रखे हैं वे भी मुरझा गए हैं। इससे जान पड़ता है कि तुम्हारा शरीर अभी बहुत विकल है और तुम इस योग्य नहीं हो पाई हो कि उठकर आदर-सत्कार कर सको ॥ 16 ॥

अनसूया—(राजा से) मित्र! आप भी इसी पत्थर की पाटी के एक कोने को सुशोभित कीजिए ।

(राजा बैठ जाते हैं । शकुन्तला सकुचा जाती है ।)

प्रियंवदा—दुवेणं णु वो अण्णोण्णाणुराओ पच्चक्खो । सहीसिणेहो मं पुणरुत्तवादिणिं करेदि । (द्वयोर्ननु युवयोरन्योन्यानुरागः प्रत्यक्षः । सखीस्नेहो मां पुनरुक्तवादिनीं करोति ।)

राजा—भद्रे ! नैतत्परिहार्यम् । विवक्षितं ह्यनुक्तमनुतापं जनयति ।

प्रियंवदा—आवण्णस्स विसअणिवासिणो जणस्स अत्तिहरेण रण्णा होदव्वं त्ति एसो वो धम्मो । (आपन्नस्य विषयनिवासिनो जनस्यार्तिहरेण राज्ञा भवितव्यमित्येष युष्माकं धर्मः ।)

राजा—नास्मात्परम् ।

प्रियंवदा—तेण हि इअं णो पिअसही तुमं उद्दिसिअ इमं अवत्यन्तरं भअवता मअणेण आरोविदा । ता अरहसि अब्भुववत्तीए जीविदं से अवलम्बिदुं । (तेन हीयं नो प्रियसखी त्वामुद्दिश्येदमवस्थान्तरं भगवता मदनेनारोपिता । तदर्हस्यभ्युपपत्त्या जीवितं तस्या अवलम्बितुम् ।)

राजा—भद्रे ! साधारणोऽयं प्रणवः सर्वथाऽनुगृहीतोऽस्मि ।

शकुन्तला—(प्रियंवदामवलोक्य) हला ! किं अन्तेउरविरहपज्जुस्सुअस्स राएसिणो उवरोहेण । (हला ! किमन्तःपुरविरहपर्युत्सुकस्य राजर्षेरुपरोधेन ।)

राजा—सुन्दरि !

इदमनन्यपरायणमन्यथा हृदयसंनिहिते हृदयं मम ।

यदि समर्थयसे मदिरेक्षणे मदनबाणहतोऽस्मि हतः पुनः ॥ 17 ॥

अनसूया—वअस्स ! बहुवल्लहा राआणो सुणीअन्ति । जह णो पिअसही बन्धुअण सोअणिज्जा ण होइ तह णिवत्तहि । (वयस्य ! बहुवल्लभा राजानः श्रूयन्ते । यथा नौ प्रियसखी बन्धुजनशोचनीया न भवति तथा निर्वर्तय ।)

प्रियंवदा—यद्यपि यह बात तो प्रत्यक्ष है कि आप दोनों एक दूसरे से प्रेम करते हैं, फिर भी अपनी सखी के प्रेम के नाते मैं आपसे कुछ कहना चाहती हूँ ।

राजा—भद्रे ! अपने मनकी बात कह डालिए । क्योंकि मन में आई हुई बात यदि मनमें ही रह जाने दी जाती है तो पीछे बड़ा पछतावा होता है ।

प्रियंवदा—राजा होने के कारण आपका यह धर्म हो जाता है कि अपने राज्य में रहने वाले लोगों का कष्ट दूर करें ।

राजा—मैं कहाँ इससे हटता हूँ ।

प्रियंवदा—तो भगवान् कामदेव ने आपके ही कारण हमारी सखी की यह दशा कर डाली है । अब आप ही कृपा करें तो उसके प्राण बचें ।

राजा—भद्रे ! यह तो आपकी बड़ी कृपा है क्योंकि मेरी भी तो यहाँ यही दशा हो चली है ।

शकुन्तला—(प्रियंवदा को देखकर) सखी ! ये राजर्षि तो रनिवास की रानियों के विरह में व्याकुल हो रहे होंगे, इन्हें इस फेर में क्यों डाले दे रही हो ।

राजा—सुन्दरी ! मेरा हृदय तुम्हें छोड़कर और किसी को प्यार नहीं करता । फिर भी मदभरी चितवनवाली हृदयेश्वरी ! यदि तुम इसका विश्वास नहीं करती तो मैं यही समझूँगा कि कामदेव के बाणों से एक बार घायल हुए को अब तुम भी दुबारा घायल किए डाल रही हो ॥ 17 ॥

अनसूया—वयस्य ! सुनते हैं कि राजाओं के बहुत सी रानियाँ होती हैं । तो हमारी प्यारी सखी के लिये कुछ ऐसा प्रबन्ध कर दीजिएगा कि हम सगे-साथियों को फिर पछताना न पड़ जाय ।

राजा—भद्रे! किं बहुना।

परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे।

समुद्रवसना चोर्वी सखी च युवयोरियम् ॥ 18 ॥

उभे—णिबुदे म्हा। (निर्वृते स्वः।)

प्रियंवदा—(सदृष्टिक्षेपम्) अणसूए! जह एसो इदो दिण्णदिड्डी उस्सुओ मिअपोदओ मादरं अण्णेसदि। एहि। संजोएम णं। (अनसूये! यथैष इतो दत्तदृष्टिरुत्सुको मृगपोतको मातरमन्विष्यति। एहि। संयोजनाव एनम्।) (इत्युभे प्रस्थिते।)

शकुन्तला—हला! असरण म्हि। अण्णैदरावो आअच्छदु। (हला! अशरणाऽस्मि। अन्यतरा युवयोरगच्छतु।)

उभे—पुहवीए जो सहणं सो तुह समीवे वट्टइ। (पृथिव्या यः शरणं स तव समीपे वर्तते।)

(इति निष्क्रान्ते।)

शकुन्तला—कहं गदाओ एव्व। (कथं गते एव।)

राजा—अलमावेगेन। नन्वयमाराधयिता जनस्तव समीपे वर्तते।

किं शीतलैः क्लमविनोदिभिरार्द्रवाता-

न्संचारयामि नलिनीदलतालवृन्तैः।

अङ्गे निधाय करभोरु यथासुखं ते

संवाहयामि चरणानुत पद्मताम्रौ ॥ 19 ॥

शकुन्तला—ण माणणीएसु अत्ताणंअवराहइस्सं। (न माननीयेष्वात्मानमपराधयिष्ये।)

राजा—भद्रे! और तो मैं क्या कह सकता हूँ। बस इतना ही कह देता हूँ कि रनिवास में इतनी रानियों के होते हुए भी मेरे कुलमें दो ही बड़ी समझी जायँगी—एक तो सागरसे धिरी हुई पृथ्वी और दूसरी तुम्हारी सखी शकुन्तला ॥ 18 ॥

दोनों—अब हमें सन्तोष है।

प्रियंवदा—(बाहर देखकर) अनसूया! देख, वह मृगछीना इधर देखता हुआ अपनी माँ को ढूँढ़ रहा है। चल, इसे इसकी माँ के पास पहुँचा आवें। (चलने को उद्यत)

शकुन्तला—अरी सखियों! मुझे किसके सहारे छोड़े जा रही हो ! दोनों में से एक तो ठहरी रहो।

दोनों—सारी पृथ्वी को सहारा देने वाले तो तेरे पास बैठे ही हैं।

(प्रस्थान।)

शकुन्तला—अरे! क्या चली गई?

राजा—घबराती क्यों हो? तुम्हारी सेवा करने वाला यह सेवक तो यहाँ बैठा ही है : हाथी की सूँड़ के समान ढलवाँ जाँघों वाली ! इस समय जो तुम्हें सुहाता हो, मैं वही करने को तत्पर हूँ। कहो तो इन थकावट दूर करने वाले ठंडे कमलिनी के पत्तों से पैंखा झलूँ या कहो तो तुम्हारे लाल कमलों जैसे चरण अपनी गोद में रखकर धीरे-धीरे बैठा पलोढूँ ॥ 19 ॥

शकुन्तला—पूज्य लोगों से सेवा कराकर मैं अपने सिर पाप नहीं लूँगी।

(इत्युत्थाय गन्तुमिच्छति।)

राजा—सुन्दरि! अनिर्वाणो दिवसः इयं च ते शरीरावस्था।

उत्सृज्य कुसुमशयनं नलिनीदलकल्पितस्तनावरणम्।

कथमातपे गमिष्यसि परिबाधपेलवैरङ्गैः ॥ 20 ॥

(इति बलादेनां निवर्तयति)

शकुन्तला—पौरव! रक्ख अविणअं। मअणसंतत्तावि ण सु अत्तणो पहवामि। (पौरव! रक्षाविनयम्। मदन संतप्ताऽपि न खल्वात्मनः प्रभवामि।)

राजा—भीरु! अलं गुरुजनभयेन। दृष्ट्वा ते विदितधर्मा तत्रभावान्नात्र दोषं ग्रहीष्यति कुलपतिः। पश्य-

गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो राजर्षिकन्यकाः।

श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः ॥ 21 ॥

शकुन्तला—मुञ्च दाव मं। भूओ वि सहिजणं अणुमाणइस्सं। (मुञ्च तावन्माम्। भूयोऽपि सखीजनमनुमानयिष्ये।)

राजा—भवतु मोक्षयामि।

शकुन्तला—कदा। (कदा)

राजा—

अपरिक्षतकोमलस्य यावत्कुसुमस्येव नवस्य षट्पदेन।

अधरस्य पिपासता मया ते सदयं सुन्दरि गृह्यते रसोऽस्य ॥ 22 ॥

(उठकर जाना चाहती है।)

राजा—सुन्दरी! अभी दिन भी नहीं ढला है और इधर तुम्हारे शरीर की भी यह दशा बनी हुई है। इस दुपहरी में फूलों का बिस्तर छोड़कर और कमल के पत्तों से स्तन ढककर, विरह में तपे हुए अपने दुर्बल अंग लेकर तुम कहाँ जाओगी? ॥ 20 ॥

(शकुन्तला का हाथ पकड़कर उसे रोक लेता है।)

शकुन्तला—पौरव! कुछ तो शील का ध्यान रखिए। प्रेम से व्याकुल होने पर भी मैं अपने मन से कुछ नहीं कर सकती।

राजा—अरी डरपोक! गुरुजनों से तो डरने की कोई बात है नहीं। पूज्य कुलपति धर्म को भली भाँति जानते हैं। यदि वे सब बातें जान भी लेंगे तब भी इसे बुरा नहीं कहेंगे। देखो—सुना जाता है कि जिन बहुत से राजर्षियों की कन्याओं ने अपना-अपना गान्धर्व विवाह किया है उनके पिताओं ने उनका सदा समर्थन ही किया ॥ 21 ॥

शकुन्तला—अच्छा, अभी तो मुझे छोड़ दीजिए। मैं कम से कम अपनी सखियों से तो पूछ लूँ।

राजा—अच्छा, छोड़ दूँगा।

शकुन्तला—कब!

राजा—जैसे नये कोमल फूल का रस भौरा बड़े चाव से पीता है वैसे ही जब मुझ प्यासे को तुम्हारे कोमल अधरों का रस पीने को मिल जायगा तब छोड़ दूँगा ॥ 22 ॥

(इति मुखमस्याः समुन्मयितुमिच्छति । शकुन्तला परिहरति नाट्येन ।)

(नेपथ्ये)

चक्कवाकबहुए! आमन्तेहि सहअरं । उवट्ठिआ रअणी (चक्रवाकवधु के आमन्त्रयस्व सहचरम् । उपस्थिता रजनी ।)

शकुन्तला—(ससंभ्रमम्) पोरव! असंसअं मम सरीरवृत्तन्तोवलम्भस्स अज्जा गोदमी इदो एव्व आअच्छदि ता विडवन्तरिदो होहि । (पौरव! असंशयं मम शरीरवृत्तान्तोपलम्भायार्या गौतमीत एवागच्छति तद्विटपान्तरितो भव ।)

राजा—तथा । (इत्यात्मानमावृत्य तिष्ठति ।)

(ततः प्रविशति पात्रहस्ता गौतमी सख्यौ च ।)

सख्यौ—इदो इदो अज्जा गोदमी । (इत इत आर्या गौतमी ।)

गौतमी—(शकुन्तलामुपेत्य) जादे! अवि लहुसंदावाइँ दे अंगाइँ । (जाते! अपि लघुसंतापानि तेऽङ्गानि ।)

शकुन्तला—अज्जे! अत्थि मे विसेसो । (आर्ये! अस्ति मे विशेषः ।)

गौतमी—इमिणा दम्भोदएण णिराबाधं एव्व दे शरीरं भविस्सदि । (शिरसि शकुन्तलामभ्युक्ष्य) वच्छे! परिणदो दिअहो । एहि । उडजं एव्व गच्छम्ह । (अनेन दर्भोदकेन निराबाधमेव ते शरीरं भविष्यति । वत्से, परिणतो दिवसः । एहि । उटजमेव गच्छामः ।) (इति प्रस्थिताः ।)

शकुन्तला—(आत्मगतम्) हिअअ! पढमं एव्व सुहोवणदे मणोरहे कादरभावं ण मुञ्चसि । साणुसअविहडिदस्स कहं दे संपदं संदावो । (पदान्तरे स्थित्वा प्रकाशम्) लदावलअ! संदावहारअ! आमन्तेमि तुवं भूओ वि परिभोअस्स! (हृदय! प्रथममेव सुखोपनते मनोरथे कातरभावं न मुञ्चसि । सानुशयविघटितस्य

(ऐसा कहकर उसका मुँह ऊपर उठाना चाहता है । शकुन्तला रोकने का अभिनय करती है ।)

(नेपथ्य में)

अरी चकवी ! अब अपने प्यारे से झट बिदा ले । रात आ पहुँची है ।

शकुन्तला—(सिटपटाकर) पौरव! जान पड़ता है मेरे शरीर की दशा जानने के लिये आर्या गौतमी यहीं आ रही हैं । इसलिये आप झटपट इस वृक्षकी ओट में आ छिपिए ।

राजा—अच्छा । (छिप जाता है ।)

(हाथ में एक पात्र लिए हुए दोनों सखियों के साथ गौतमी का प्रवेश ।)

सखियाँ—इधर आइए आर्या गौतमी, इधर ।

गौतमी—(शकुन्तला के पास जाकर ।) वत्से! तुम्हारे शरीर का ताप कुछ कम हुआ?

शकुन्तला—हाँ आर्ये! अब तो कुछ ठीक है । गौतमी—लो, इस कुशा के जल से तुम तत्काल अच्छी हो जाओगी । (शकुन्तला के सिरपर जल छिड़कती है ।) वत्से! दिन ढल गया है । आओ चलो, कुटी में उठ चला जाय । (जाती है ।)

शकुन्तला—(मन ही मन) अरे हृदय! जब तुम्हारा प्यारा अपने आप तुम्हारे पास आ पहुँचा था तब तो तुम डरपोक बने रहे । अब बिछुड़ जाने पर पछताते हुए क्यों इतना रो-कलप रहे हो । (कुछ पग चलती है, फिर खड़ी होकर, प्रकट में) मेरा सन्ताप हरने वाले लताकुंज! विहार के लिये मैं तुम्हें फिर निमन्त्रण

कथं ते साप्रतं संतापः। लतावलय! संतापहारक! आमन्त्रये त्वां भूयोऽपि परभिगाय।) (इति दुःखेन निष्क्रान्ता शकुन्तला सहेतराभिः।)

राजा—(पूर्वस्थानमुपेत्य सनिःश्वासम्) अहो विघ्नवत्यः प्रार्थितार्थसिद्धयः।

मया हि—

मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम्।

मुखमसंविर्वर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु॥ 23॥

क्व न खलु संप्रति गच्छामि। अथवा इहैव प्रियापरिभुक्तमुक्ते लतावलये मुहूर्तं स्थास्यामि। (सर्वतोऽवलोक्य)

तस्याः पुष्पमयी शरीरलुलिता शय्या शिलायामियं

क्लान्तो मन्मथलेख एष नलिनीपत्रे नखैरर्पितः।

हस्ताद्भ्रष्टमिदं बिसाभरणमित्यासज्यमानेक्षणो

निर्गन्तुं सहसा न वेतसगृहाच्छक्नोमि शून्यादपि॥ 24॥

(आकाशे)

राजन्!

सायंतने सवनकर्मणि संप्रवृत्ते वेदीं हुताशनवतीं परितः प्रयस्ताः।

छायाश्चरन्ति बहुधा भयमादधानाः संध्यापयोदकपिशाः पिशिताशनानाम्॥ 25॥

राजा—अयमयमागच्छामि। (इति निष्क्रान्तः।)

॥ इति तृतीयोऽङ्कः॥



दे जाती हूँ। (भारी मन से शकुन्तला का प्रस्थान।)

राजा—(पहले के स्थान पर पहुँच कर, आह भरकर) आह ! मन की साधें पूरी होने में कितनी बाधाएँ आ कूदती हैं। क्योंकि-सुन्दर पलकों वाली शकुन्तला के उस मुख को उठा कर मैं चूम भी नहीं पाया जिसके ओठ को वह बार-बार अपनी उँगलियों से ढके जा रही थी, जो बार-बार नहीं-नहीं कहते हुए भी बड़ा प्यारा लग रहा था और जिसे वह बार-बार अपने कंधे की ओर मोड़े चली जा रही थी॥ 23॥

अब जाऊँ तो कहाँ जाऊँ ? अच्छा इसी लता-कुंज में थोड़ी देर ठहरा जाता हूँ जहाँ मेरी प्यारी इतनी देर तक रहकर चली गई है। (चारों ओर देखकर) इस पटिया पर उसके शरीर से मसला हुआ यह फूलों का बिछावन भी पड़ा है। कमलिनी के पत्ते पर नखों से लिखा हुआ और मुरझाया हुआ यह प्रेम-पत्र भी रक्खा है। उसके हाथों से सूखकर गिरे हुए ये कमलनाल के आभूषण भी बिखरे पड़े हैं। इसलिये अपने नेत्रों को उलझाने वाली इतनी वस्तुओं के होते हुए मैं इस बेंतों से घिरे हुए सूने लता-मण्डप को इतनी शीघ्र छोड़कर कहीं भी जा नहीं पा रहा हूँ॥ 24॥

(आकाश में)

राजन्-सायंकाल का यज्ञ-कर्म आरम्भ होते ही जलती हुई अग्निवाली वेदियों के चारों ओर सौंझ के बादलों के समान काले-काले और लाल-लाल डरावने राक्षस इधर-उधर फेरी देने लगे हैं॥ 25॥

राजा—मैं अभी आ पहुँचता हूँ। (प्रस्थान।)

॥ तीसरा अङ्क पूर्ण॥



चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशतः कुसुमावचयं नाटयन्त्यौ सख्यौ ।)

अनसूया—पिअंवदे! जइ वि गन्धर्वेण विहिणा णिव्वुत्तकल्लाणा सउन्दला अणुरूवभत्तुगामिणी संवुत्तेति णिव्वुदं मे हिअअं तह वि एत्तिअं चिन्तणिज्जं । (प्रियंवदे! यद्यपि गान्धर्वेण विधिना निर्वृत्तकल्याणा शकुन्तलाऽनुरूपभर्तृगामिनी संवृत्तेति मे हृदयं तथाप्येतावच्चिन्तनीयम् ।)

प्रियंवदा—कहं विअ । (कथमिव ।)

अनसूया—अज्ज सो राएसी इट्ठिं परिसमाविअ इसीहिं विसज्जिओ अत्तणो णअरं पविसिअ अन्तेउरसमागदो इदोगदं वुत्तन्तं सुमरदि वा ण वेत्ति । (अद्य स राजर्षिरिष्टि परिसमाप्य ऋषिभिर्विसर्जित आत्मनो नगरं प्रविश्यान्तःपुरसमागत इतोगतं वृत्तान्तं स्मरति वा न वेति ।)

प्रियंवदा—वीसद्धा होहि । ण तादिसा आकिदिविसेसा गुणविराहिणो होन्ति । तादो दाणिं इमं वुत्तान्तं सुणिअ ण जाणे किं पडिवज्जिस्सदि ति । (विस्मयः भव । न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिना भवन्ति । तात इदानीमिमं वृत्तान्तं श्रुत्वा न जाने किं प्रतिपस्यत इति ।)

अनसूया—जह अहं देक्खामि तह तस्स अणुमदं भवे । (यथाऽहं पश्यामि तथा तस्यानुमत भवेत् ।)

प्रियंवदा—कहं विअ । (कथमिव ।)

अनसूया—गुणवदे कण्णआ पडिवादणिज्जेत्ति अअं दाव पढमो संकप्पो । तं जई देव्वं एव्व सपादेदि णं अप्पआसेण किदत्थो गुरुअणो । (गुणवते कन्यका प्रतिपादनीयेत्ययं तावत्प्रथमः संकल्पः तं यदि दैवमेव संपादयति नन्वप्रयासेन कृतार्थो गुरुजनः ।)

चौथा अङ्क

(फूल बीनने का अभिनय करती हुई दोनों सखियों का प्रवेश)

अनसूया—प्रियंवदा! इस बात से तो जीको बड़ा संतोष हुआ कि शकुन्तला का गान्धर्व विवाह हो गया और उसे योग्य पति भी मिल गया, पर सबसे बड़ी एक यही चिन्ता है ।

प्रियंवदा—क्या ?

अनसूया—यही कि आज यज्ञ पूर्ण हो चुकने पर जब ऋषियों से बिदा लेकर ये राजा अपने नगर के रनिवास में जा पहुँचेंगे तब यहाँ की सुध उन्हें रह भी पावेगी या नहीं ।

प्रियंवदा—इसकी क्या चिन्ता किए डाल रही हो ? ऐसी अच्छी चाल-ढाल के लोग कपटी नहीं हुआ करते । पर ये सब बातें सुनकर पिता जी न जाने क्या करेंगे ?

अनसूया—मैं जहाँ तक समझती हूँ, वे इसका समर्थन ही करेंगे ।

प्रियंवदा—क्यों ?

अनसूया—क्यों क्या ? उनका तो संकल्प ही था कि कोई योग्य वर मिल जायगा तो इसका विवाह कर देंगे और जब दैवने ही वह काम पूरा कर दिया है तब तो बिना परिश्रम के ही उनकी बात बन गई ।

प्रियंवदा—(पुष्पभाजनं विलोक्य) सहि! अवइदाई बलिकम्मपज्जत्तई कुसुमाई। (सखि! अवचितानि बलिकर्मपर्याप्तानि कुसुमानि।)

अनसूया—णं सहीए सउन्दलाए सोहग्गदेवआ अच्चणीआ। (ननु सख्याः शकुन्तलायाः सौभाग्यदेवताऽर्वनीया।)

प्रियंवदा—जुज्जदि। (युज्जते।) (इति तदेव कर्मारभते।)
(नेपथ्ये)

अयमहं भोः।

अनसूया—(कर्णं दत्त्वा) सहि! अदिधीणं विअ णिवेदिदं। (सखि! अतिथिनामिव निवेदितम्।)

प्रियंवदा—णं उडजसंणिहिदा सउन्दला। (आत्मगतम्) अज्ज उणहिअएण असं णिहिदा। (ननूटज संनिहिता शकुन्तला। अद्य पुनर्हृदयेनासंनिहिता।)

अनसूया—होदु। अलं एत्तिएहिं कुसुमेहिं। (भवतु। अलमेतावद्भिः कुसुमैः।)
(इति प्रस्थिते)

(नेपथ्ये)

आः अतिथि परिभाविनि!

विचिन्तयन्तौ यमनन्यमानसा तपोधनं वेत्ति न मामुपस्थितम्।

स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन् कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ॥ १॥

प्रियंवदा—(फूलों की पिटारी) सखी, बलि-कर्म के लिये इतने फूल तो बहुत होंगे न !

अनसूया—क्यों ? अभी शकुन्तला के सौभाग्य-देवता की भी तो पूजा करनी है।

प्रियंवदा—हाँ, हाँ, ठीक कहती हो। (फूल बीनने लग जाती है।)

(नेपथ्य में)

अरे! मैं आया हुआ हूँ।

अनसूया—(कान लगाकर) यह तो किसी अतिथि की बोली जान पड़ती है।

प्रियंवदा—शकुन्तला तो कुटी में है ही। (मन ही मन) पर आज वह कुछ अनमनी-सी हो रही है।

अनसूया—चलो, इतने फूलों से काम हो जायगा।

(प्रस्थान)

(नेपथ्य में)

अरी ओ, अतिथि का अपमान करने वाली। जिसके ध्यान में इतनी मग्न होकर तू मुझ जैसे तपस्वी के आने की भी सुध नहीं ले रही है वह बहुत स्मरण दिलाने पर भी तुझे उसी प्रकार भूल जायगा जैसे पागल मनुष्य अपनी सारी पिछली बातें भूल जाया करता है ॥ १॥

प्रियंवदा—हस्ती हस्ती। अप्पिअं एव संवुत्तं। कस्सि पि पूआरुहे अवरद्धा सुण्णहिअआ सउन्दला। (पुरोऽवलोक्य) ण हि जस्सि कस्सि पि। एसो दुव्वासो सुलहकोवो महेसी तह सविअ वेअवलुप्फुल्लाए दुब्बाराए गईए पडिणिवुत्तो। को अण्णो हुदवहादो दहिदुं पहवदि। (हा धिक् हा धिक्। अप्रियमेव संवृत्तम्। कस्मिन्नपि पूजार्हेऽपराद्धा शून्यहृदया शकुन्तला। न खलु यस्मिन्-कस्मिन्नपि। एष दुर्वासाः सुलभकोपो महर्षिस्तथा शप्त्वा वेगबलोत्फुल्लया दुर्वारया गत्या प्रतिनिवृत्तः। कोऽन्यो हुतवहाद्गन्धुं प्रभवति।)

अनसूया—गच्छ पादेसु पणमिय णिवत्तेहि णं जाव अहं अग्घोदअं उपकप्पेमि। (गच्छ, पादयोः प्रणम्य निवर्तयैनम् यावदहमर्घोदकमुपकल्पयामि।)

प्रियंवदा—तह। (तथा) (इति निष्क्रान्ता।)

अनसूया—(पदान्तरे स्खलितं निरूप्य) अव्यो आवेअक्खलिदाए गईए पढ्ढं मे अग्गहत्थादो पुप्फभाअणं। (अहो आवेगस्खलितया गत्या प्रभ्रष्टं ममाग्रहस्तात्पुष्पभाजनम्।) (इति पुष्पोच्ययनं रूपयति।)

(प्रविश्य)

प्रियंवदा—सहि! पकिदिवक्को सो कस्स अणुणअं पडिगेण्हदि। किं वि उण साणुक्कोसो किदो। (सखि! प्रकृतिवक्रः स कस्यानुनयं प्रतिगृह्णाति। किमपि पुनः सानुक्रोशः कृतः।)

अनसूया—(सस्मितम्) तस्सि बहु एदं पि। कहेहि। (तस्मिन्वहेतदपि। कथय।)

प्रियंवदा—जदा णिवत्तिदं ण इच्छदि तथा विष्णाविदो मए। भअवं पढ्ढं ति पेक्खिअ अविष्णादतवप्पहावस्स दुहिदुजणस्स भअवदा एक्को अवरारो मरिसिदव्यो ति। (यदा निवर्तितुं नेच्छति तदा विज्ञापितो मया। भगवन् प्रथम इति प्रेक्ष्य अविज्ञाततपः प्रभावस्य दुहितृजनस्य भगवतैकोऽपराधो मर्षयितव्य इति।)

प्रियंवदा—हाय हाय! यह तो बड़ा बुरा हुआ। जान पड़ता है कि अपने बेसुधपन में शकुन्तला किसी पूजनीय महात्मा का अपमान कर बैठी है। (सामने देखकर) और वह भी किसी ऐसे-वैसे का नहीं! ये तो तनिक सी बातपर बिगड़ खड़े होने वाले महर्षि दुर्वासा ही हैं जो शाप देकर क्रोध से काँपते हुए पैरों से वेग से लौटे चले जा रहे हैं। भला आग को छोड़कर जलाने का काम और दूसरा कौन करेगा?

अनसूया—जा, उनके पैरों पड़कर किसी प्रकार उन्हें लौटा ला। तबतक मैं अर्घ्य का जल लिए आती है।

प्रियंवदा—अच्छी बात है।

अनसूया—(दो एक पग चलकर ठोकर खा जाती है।) हाय हाय! झपटकर चलने से ऐसे ठोकर लग गई कि हाथ से फूल की पिटारी ही छूट पड़ी। (फूल बीनने का अभिनय करती है।)

प्रियंवदा—(प्रवेश करके) सखी, वे तो बड़े टेढ़े व्यक्ति हैं। वे क्या किसी की सुनकर देते हैं? फिर भी किसी-किसी प्रकार मैंने उन्हें थोड़ा बहुत मना ही लिया।

अनसूया—(मुस्कराकर) इतना भी क्या कम है। कहो क्या किया?

प्रियंवदा—जब वे किसी प्रकार भी लौटने को तैयार न हुए तब मैंने प्रार्थना की कि भगवन्! एक तो आपकी बेटी शकुन्तला का यह पहला-पहला अपराध है, फिर वह आपके तप का प्रभाव भी नहीं पहचानती थी इसलिये कमसे कम इस बार तो उसे क्षमा कर ही दीजिए।

अनसूया—तदो तदो । (ततस्ततः)

प्रियंवदा—ततो ण मे वअणं अण्णाहाभविदुं अरिहदि किंदु अहिण्णणाभरणदंसणेण सावो णिवत्तिस्सदि ति मन्तअन्तो सअं अन्तरिहदो । (ततो न मे वचनमन्यथा भवितुमर्हति किंत्वभिज्ञानाभरणदर्शनेन शापो निवर्तिष्यते इति मन्त्रयन्स्वयमन्तहितः ।)

अनसूया—सक्कं दाणिं अस्ससिदुं । अत्थि तेण राएसिणा संपत्थिदेण सणामहेअकिअं अंगुलीअअं सुमरणीअं ति असं पिणद्धं । तस्सि साहीणोवाआ सउन्दला भविस्सदि । (शक्यमिदानीमाश्वसितुम् । अस्ति तेन राजर्षिणा संप्रस्थितेन स्वनामधेयाङ्कितमङ्गुलीयकं स्मरणीयमिति स्वयं पिनद्धम् । तस्मिन्स्वाधीनोपाया शकुन्तला भविष्यति ।)

प्रियंवदा—सहि! एहि, देवकज्जं दाव से णिव्यत्तेम्ह । (सखि! एहि, देवकार्यं तावदस्या निर्वर्तयावः ।) (इति परिक्रामतः ।)

प्रियंवदा—(विलोक्य) अणसूए! पेक्ख दाव । वामहत्थोवहिदवअणा आलिहिदा विअ पिअसही । भत्तुगदाए चिंताए अत्ताणं पि ण एसो विभावेदि किं उण आअन्तुअं । (अनसूये! पश्य तावत् । वामहस्तोपहितवदनाऽऽलिखितेव प्रियसखी । भर्तृगतया चिन्तयाऽऽत्मानमपि नैषा विभावयति किं पुनरागन्तुकम् ।)

अनसूया—पिअंवदे! दुवेणं एव्व णं णो मुहे एसो वुत्तन्तो चिट्ठदु । रक्खिदव्वा क्खु पकिदिपेलवा पिअस्त्रही । (प्रियंवदे! द्वयोरेव ननु नौ मुख एष वृत्तान्तस्तिष्ठतु । रक्षितव्या खलु प्रकृतिपेलवा प्रियसखी ।)

प्रियंवदा—को णाम उण्होदएण पोमालिअं सिञ्चेदि । (को नामोष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति ।) (इत्युभे निष्क्रान्ते)

॥ विष्कम्भकः ॥

अनसूया—तब ?

प्रियंवदा—तब वे इतना ही कहकर अन्तर्धान हो गए कि मेरा वचन तो झूठा हो नहीं सकता । हाँ, इतना हो सकता है कि यदि यह कन्या अपने प्रेमी को कोई पहचान का आभूषण दिखला दे तो मेरा शाप छूट जायगा ।

अनसूया—चलो, कुछ तो जी हलका हुआ क्योंकि उस राजर्षि ने चलते समय अपने नामवाली जो अँगूठी अपने हाथ से उठा पहनाई वह अँगूठी ही शकुन्तला के शाप छूटने का सहज उपाय है ।

प्रियंवदा—चलो सखी! तब तक देव-पूजन का काम पूरा कर डाला जाय । (धूमती है ।)

प्रियंवदा—(देखकर) देखो तो, बाएँ हाथपर गाल रक्खे प्यारी सखी कैसी चित्र-लिखी सी दिखाई दे रही है । पति की चिन्ता में जब यह अपनी ही सुध-बुध खोए बैठी है, तब अतिथि की उसे क्या सुध हो सकती है ?

अनसूया—प्रियंवदा ! देखो, यह बात हमारे तुम्हारे कान तक ही रह जानी चाहिए क्योंकि शकुन्तला है बड़े कोमल स्वभाव की । उसकी रक्षा तो करनी ही होगी ।

प्रियंवदा—हाँ हाँ, यह तो है ही । नवमल्लिका की लहलहाती लताको भला कौन खोलते हुए पानी से सींचेगा ।

(प्रस्थान ।)

॥ विष्कम्भकः ॥

(ततः प्रविशति सुप्तोत्थितः शिष्यः ।)

शिष्यः—वेलोपलक्षणार्थमादिष्टोऽस्मि तत्रभवता प्रवासादुपावृत्तेन कण्वेन । प्रकाशं निर्गतस्तावदवलोकयामि कियदवशिष्टं रजन्या इति । (परिक्रम्यावलोक्य च) हन्त प्रभातम् ।

तथा हि—

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनामाविष्कृतोऽरुणपुरःसरः एकतोऽर्कः ।

तेजो द्वयस्य युगपद्व्यसनोदयार्थ्यां लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ॥ 2 ॥

अपि च—

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे दृष्टि न नन्दयति संस्मरणीयशोभा ।

इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि ॥ 3 ॥

(प्रविश्यापटीक्षेपेण)

अनसूया—जइ वि णाम विसअपरम्मुहस्स वि जणस्स एदं ण विदिअं तह वि तेण रण्णा सउन्दलाए अणज्जं आररिदं । (यद्यपि नाम विषयपराङ्मुखस्यापि जनस्यैतत्र विदितं तथापि तेन राज्ञा शकुन्तलायामनार्यमाचरितम् ।)

शिष्यः—यावदुपस्थितां होमवेलां गुरवे निवेदयामि । (इति निष्क्रान्तः ।)

अनसूया—पट्टिबुद्धा वि किं करिस्सं । ण मे उइदेसु वि णिअकरणिज्जेसु हत्थपाआ पसरन्ति । कामो दाणिं सकामो होदु जेण असच्चसंधे जणे अणण्हिअआसही पदं कारिदा । अहवा दुष्वाससो कोवो एसो

(सोकर उठे हुए एक शिष्य का प्रवेश ।)

शिष्य—बाहर से अभी लौटे हुए पूज्य कण्व ने मुझे यह देखने को कहा है कि अभी रात कितनी रह गई है । इसलिये चलूँ बाहर चलकर देखूँ । (इधर-उधर घूमकर और आकाश की ओर देखकर ।) अरे, यह तो दिन निकल आया । क्योंकि-एक ओर औषधियों के पति चन्द्रमा अस्ताचल को चले जा रहे हैं और दूसरी ओर अपने सारथि अरुण को आगे किए हुए सूर्य निकले चले आ रहे हैं । इन दो तेजस्वियों के एक साथ उदय और अन्त को देखकर संसार को यही शिक्षा मिलती है कि दुःख के पीछे सुख और सुख के पीछे दुःख लगा ही रहता है ॥ 2 ॥

और भी देखो-चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर अब कुमुदिनी आँखों को नहीं भाती । उसकी शोभा केवल कल्पना में ही रह गई है । सचमुच जिन स्त्रियों के पति परदेश चले जाते हैं वे वियोग का दुःख कैसे सह पाती होंगी ॥ 3 ॥

(परदे को झटके से हटाकर अनसूया आती है ।)

अनसूया—(आप ही आप) यद्यपि मैं प्रेम की बातें कुछ भी नहीं जानती फिर भी इतना तो अवश्य ही कह सकती हूँ कि उस राजा ने शकुन्तला के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया ।

शिष्य—चलूँ, गुरुजी से चलकर बता दूँ कि हवन का समय हो गया है । (प्रस्थान)

अनसूया—मैं जाग तो गई हूँ, पर क्या बताऊँ, यहाँ अपने नित्य के काम के लिये भी हाथ-पैर नहीं उठ रहे हैं । अब कामदेव का जी तो भर ही गया होगा कि मेरी सच्ची सखी उस झूठे का इतना विश्वास

विआरेदि। अण्णहा कहं सो राएसी तारिसाणि मन्तिअ एत्तिअस्स कालस्स लेहमत्तं पि ण विजज्जेदि ता इदो अहिण्णणं अंगुलीअअं सेविजज्जेम। दुक्खसीले तपस्सिजणे को अब्भत्थीअदु। णं सहीगामी दोसो ति व्ववसिदा वि ण पारेमि पवासपद्धिणिउतस्स तादकण्णस्य दुस्सन्तपरिणीदं आबण्णसत्तं सउन्दलं णिवेदिदुं। इत्थंगए अम्हेहिं किं करणिज्जं। (प्रतिबुद्धाऽपि किं करिष्ये। न मे उचितेष्वपि निजकार्येषु हस्तपादं प्रसरति। काम इदानीं सकामो भवतु येनासत्यसंधे जने अनन्यहृदया सखी पदं कारिता। अथवा दुर्वाससःकोप एष विकारयति। अन्यथा कथं स राजर्षिस्तादृशानि मन्त्रयित्वैतावत्कालस्य लेखमात्रमपि न विसृजति। तदितोऽभिज्ञानमङ्गुलीयकं तस्य विसृजावः। दुःखशीले तपस्विजने कोऽभ्यर्थ्यताम्। ननु सखीगामी दोष इति व्यवसिताऽपि न पारयानि प्रवासप्रतिनिवृत्तस्य तातकण्वस्य दुष्यन्तपरिणीतामापन्नसत्त्वां शकुन्तलां निवेदयितुम्। इत्थंगतेऽमाभिः किं करणीयम्।)

(प्रविश्य)

प्रियंवदा—(सहर्षम्) सही! तुवर तुवर सउन्दलाए पत्थानकोदुअं णिव्वत्तिदुं। (सखि! त्वरस्व त्वरस्व शकुन्तलायाः प्रस्थानकौतुकं निर्वर्तयितुम्।)

अनसूया—सहि! कहं एदं। (सखि! कथमेतत्।)

प्रियंवदा—सुणाहि। दाणिं सुहसइनपुच्छिआ सउन्दलासआसं मदम्हि। (शृणु। इदानीं सुखशयनपृच्छिका शकुन्तलासकाशं गताऽस्मि।)

अनसूया—तदो तदो। (ततस्ततः।)

प्रियंवदा—तदो जाव एणं लज्जावणदमुहिं परिस्सजिअ तादकण्णेण एव्वं अहिणन्दिदं—दिड्डिआ धूमाउलिददिड्डिणो वि जअमाणस्स पाअए एव्व आहुदी पडिदा। वच्चे! सुसिस्स परिदिण्णा विज्जा विअ असोअणिज्जा संवुत्ता। अज्ज एव्व इसिरक्खिदं तुमं भत्तुणो सआसं विसज्जेमि ति। (ततो यावदेनां

कर बैठी। या कौन जाने दुर्वासा के शाप का ही फल हो, नहीं तो वैसी मीठी-मीठी बातें करने वाला वह राजर्षि इतने दिन बीत जाने पर भी क्या एक पत्र-तक न लिख भेजता ? अब उसे सुध दिलाने के लिये उसके पास अँगूठी भेजनी ही पड़ेगी। पर कठोर जीवन बिताने वाले इन तपस्वियों में से किससे अँगूठी पहुँचाने को कहा जाय। बाहर से लौटे हुए तात कण्व से मैं सखी के अपराध की बात तो कह सकती हूँ पर उनसे यह नहीं कह पाऊँगी कि शकुन्तला का राजा दुष्यन्त से विवाह हो गया है और उसे गर्भ भी है। बात इतनी आगे बढ़ जाने पर अब क्या किया जाय।

(आकर)

प्रियंवदा—(हर्ष से) अरी सखी! चल झपटकर। शकुन्तला की विदाई का प्रबन्ध करना होगा।

अनसूया—अरे! यह सब कैसे हो गया ?

प्रियंवदा—तो सुन! मैं अभी शकुन्तला के पास पूछने गई थी कि तू रात को सुख से सोई या नहीं!

अनसूया—तब-तब?

प्रियंवदा—तब तक तात कण्व आ पहुँचे और लाज में गड़ी शकुन्तला को गले से लगा कर यह आनन्द की बात बोले-वत्से! आज आँखों में धुआँ भर जाने पर भी सौभाग्य से यजमान की आहुति ठीक अग्नि के बीच में ही पड़ी। इसलिये जैसे योग्य शिष्य को विद्या देने से मन में दुःख नहीं होता वैसे ही तुझे

लज्जावनतमुखीं परिष्वज्य तातकण्वेनैवमभिनन्दितम्—दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता । वत्से । सुशिश्यपरिदत्ता विधैवाशोचनीया संवृत्ता । अद्यैव ऋषिरक्षितां त्वां मर्तुः सकाशं विसर्जयामीति ।)

अनसूया—अह केण सूइदो तादकण्णस्स वुत्तन्तो । (अथ केन सूचितस्तावकण्वस्य वृत्तान्तः ।)

प्रियंवदा—अग्गिसरणं पविट्ठस्स सरीरं विणा छन्दोमईए वाणिआए । (अग्निशरणं प्रविष्टस्य शरीरं विना छन्दोमय्या बाण्या ।)

अनसूया—(सविस्मयम्) कहं विअ । (कथमिव ।)

प्रियंवदा—(संस्कृतमाश्रित्य)

दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः ।

अवेहि तनयां ब्रह्मात्रग्निगर्भा शमीमिव ॥ 4 ॥

अनसूया—(प्रियंवदामाश्लिष्य) सहि! पिअं मे । किंदु अज्ज एव्व सउन्दला णीअदि त्ति उक्कंठासाहारणं परितोसं अणुहोमि । (सखि! प्रियं मे । किं त्वद्यैव शकुन्तला नीयत इत्युत्कण्ठासाधारणं परितोषमनुभवामि ।)

प्रियंवदा—सहि वअं दाव उक्कठं विणोदइस्सामो । सा तवस्सिणी णिब्वुदा होदु । (सखि! आवां तावदुत्कण्ठां विनोदयिष्यावः । सा तपस्विनी निर्वृत्ता भवतु ।)

अनसूया—तेण हि एदस्सि चूदसाहावलम्बिदे णरिएरसमुग्गए एतण्णिमित्तं एव्वं कालन्तरक्खमा णिक्खित्ता मए केसरमालिआ । ता इमं हत्थसंणिहिदं करेहि जाव अहं पि से मअलोअणं तित्थमितिअं दुव्वाकिसलआणि त्ति मंगलसमालम्भणाणि विरएमि । (तेन ह्येतस्मिंश्चूतशाखावलम्बिते नारिकेलसमुद्गके

भी योग्य पति के हाथ में देते हुए मुझे भी दुःख नहीं है । मैं आज ही तुझे ऋषियों के साथ तेरे पति के पास भेजे दे रहा हूँ ।

अनसूया—और तात कण्वको यह बताया किसने !

प्रियंवदा—जैसे ही तात कण्व यज्ञशाला में पहुँचे वैसे ही छन्द में बैधी यह आकाशवाणी सुनाई दी—

अनसूया—(आश्चर्य से ।) क्या ?

प्रियंवदा—(संस्कृत में बोलती है ।)

जैसे शमी-वृक्ष के भीतर होता है पावक का वास ।

वैसे ब्रह्मन्! इस कन्या में जग-हित पौरव-तेज-निवास ॥ 4 ॥

अनसूया—(प्रियंवदा से गले लगकर ।) सखी! मैं तो फूली वहीं समा रही हूँ पर इस हर्ष में दुःख की बात बस इतनी ही है कि शकुन्तला आज ही चली जा रही है ।

प्रियंवदा—चलो, हम लोग तो जैसे-तैसे अपना मन समझा लेंगी, पर वह बेचारी तो किसी प्रकार सुखी रहे ।

अनसूया—वह जो आम की डाली पर नारियल लटक रहा है न, उसमें मैंने बहुत दिनों तक सुगन्धित रह सकने वाली बकुल की माला आज के ही लिये रख छोड़ी है । जा, उसे उतार तो ले आ तब तक मैं गौरोचन, तीर्थ की मिट्टी और कोमल दूब के अंकुश आदि सारी मंगल-सामग्रियाँ जुटाए लाती हूँ ।

भृगुरोचनां तीर्थमृतिकां दूर्वाक्सलयानीति मंगलसमालम्भनानि विरचयामि ।)

प्रियंवदा—तह करीअदु । (तथा क्रियताम् ।)

(अनसूया निष्क्रान्ता । प्रियंवदा नाट्येन सुमनसो गृह्णाति ।)

(नेपथ्ये)

गौतमी! आदिश्यन्तां शाङ्गरवमिश्राः शकुन्तलानयनाय ।

प्रियंवदा—(कर्ण दत्त्वा) अणसूए! तुवर तुवर! एदे कख हत्थिणाउरगामिणो इसीओ सदावीअन्ति ।

(अनसूये! त्वरस्व त्वरस्व, एते खलु हस्तिनापुरगामिन ऋषयः शब्दापयन्ते ।)

(प्रविश्य समालम्भनहस्ता ।)

अनसूया—सहि! एहि गच्छम्ह । (सखि! एहि गच्छावः) (इति परिक्रामतः ।)

प्रियंवदा—(विलोक्य) एसा सुज्जोदए एव्व सिहामज्जिदा पडिट्ठीदणीवारहत्थाहिँ सोत्थिवाअणिकाहिक्र तावसीहिँ अहिणन्दीअमाणा सउन्दला चिट्ठइ । उवसप्पम्हणं । (एषा सूर्योदय एव शिखामज्जिता प्रतिष्ठितनिवारहस्ताभिः । स्वस्तिवाचनिकाभिस्तापसीभिरभिनन्द्यमाना शकुन्तला तिष्ठति । उपसर्पाव एनाम् ।) (इत्युपसर्पतः)

(ततः प्रविशति यथोद्दिष्टव्यापाराऽऽसनस्था शकुन्तला ।)

तापसीनामन्यतमा—(शकुन्तलां प्रति) जादे! भत्तुणो बहुमाणसूअअं महादेइसदं महेहि । (जाते! भर्तुर्वहुमानसूचकं महादेवीशब्दं लभस्व ।)

द्वितीया—वच्छे! वीरप्पसविणी होहि । (वत्से! वीरप्रसविनी भव ।)

तृतीया—वच्छे! भत्तुणो बहुमदा होहि । (वत्से! भर्तुर्वहुमता भव)

(इत्याशिषो दत्त्वा गौतमीवर्ज निष्क्रान्ता ।)

प्रियंवदा—अच्छा जाओ, यही कर डालो ।

(अनसूया जाती है । प्रियंवदा माला उतारने का नाट्य करती है ।)

(नेपथ्य में)

गौतमी! शाङ्गरव आदि से कह दो कि शकुन्तला को पहुँचा आने के लिये तैयार हो जायँ ।

प्रियंवदा—(कान लगाकर) अरी अनसूया! चल चल, हस्तिनापुर जाने वाले ऋषियों की बुलाहट हो रही है ।

(हाथ में सामग्री लिए हुए अनसूया का प्रवेश ।)

अनसूया—आओ सखी, चला जाय । (दोनों घूमती हैं ।)

प्रियंवदा—(देखकर) यह लो । शकुन्तला तो दिन निकले ही नहा-धोकर तैयार हुई बैठी है और ये सब तपस्विनियाँ भी हाथ में तिन्नी के दाने लेकर उसे आशीर्वाद दिए जा रही हैं! चलो, हम भी वहीं चली चले । (आगे बढ़ती हैं ।)

(जैसा ऊपर कहा गया है उस रूप में शकुन्तला दिखाई देती है ।)

पहली तपस्विनी—(शकुन्तला से) वत्से! तुम पति से आदर पाने वाली पटरानी बनो ।

दूसरी तपस्विनी—वत्से! तुम वीर पुत्र की माता बनो ।

तीसरी तपस्विनी—वत्से! तू पति की प्यारी हो ।

(यह आशीर्वाद देकर गौतमी को छोड़कर और सब चली जाती हैं ।)

सख्यौ—(उपसृत्य) सही! सुहमज्जणं दे होदु। (सखि! सुखमज्जनं ते भवतु।)

शकुन्तला—साअदं मे सहीणं। इदो णिसीदह। (स्वागतं मे सख्योः। इतो निषीदतम्।)

उभे—(मङ्गलपात्रावयादाय उपविश्य) हला! सज्जा होहि, जाव दे मङ्गलसमालम्भणं विरएम। (हला! सज्जा भव, यावत्ते मङ्गलसमालम्भनं विरचयावः।)

शकुन्तला—इदं पि बहु मन्तव्यं दुल्लहं दारिणं मे सहीमण्डणं भविस्सदि ति। इदमपि बहु मन्तव्यं दुर्लभमिदानीं मे सखीमण्डनं भविष्यतीति। (इति बाष्पं विसृजति।)

उभे—सहि! उइअं ण दे मङ्गलकाले रोइदं। (सखि! उचितं न ते मङ्गलकाले रोदितुम्।) (इत्यश्रूणि प्रमृज्य नाट्येन प्रसाधयतः।)

प्रियंवदा—आहरणोइदं रूवं अस्समसुलहेहिं पसाहुणेहिं विप्पआरीअदि [आभरणोचित रूपमाश्रमसुलभैः प्रसाधनैर्विप्रकार्यते।]

(प्रविश्योपायनहस्तावृषिकुमारकौ।)

उभौ—इदमलंकरणम्। अलंक्रियतामत्रभवती।

(सर्वा विलोक्य विस्मिताः।)

गौतमी—वच्छ णारअ! कुदो एदं। (वत्स नारद! कुत एतत्।)

प्रथमः—तातकण्वप्रभावात्।

गौतमी—कि माणसी सिद्धी। (कि मानसी सिद्धिः।)

द्वितीयः—न खलु। श्रूयताम्। तत्रमवता वयमाज्ञप्ताः शकुन्तला हेतोर्वनस्पतिभ्यः कुसुमान्याहरतेति।

तत इदानीं—

दोनों सखियाँ—(शकुन्तला के पास जाकर) सखी! तुम्हारा यह नहाना-धोना फले-फूले।

शकुन्तला—आओ सखियों! स्वागत करती हूँ। आओ यहाँ बैठो।

दोनों—(मंगल-पात्र लिए हुए बैठती हैं।) अच्छा सखी! तैयार हो जाओ। अब हम तुम्हारा मंगल-शृङ्गार करेंगी।

शकुन्तला—यह तो बड़े सौभाग्य की बात है, क्योंकि सखियों के हाथ का सिंगार अब मुझे भला कहाँ मिल पावेगा? (सिसकने लगती है।)

दोनों—देखो सखी! ऐसे शुभ अवसर पर रोया नहीं जाता। (आँसू पोंछकर उसे सजाने का नाट्य करती हैं।)

प्रियंवदा—सखी! तुम्हारे रूप के लिये तो और अच्छे-अच्छे आभूषण होने चाहिए थे। आश्रम से जुटाई हुई इन सिंगार की सामग्रियों से तो तुम अच्छी नहीं लगती हो।

(हाथों में उपहार लिए हुए दो ऋषि-कुमारों का प्रवेश।)

दोनों ऋषिकुमार—यह लीजिए आभूषण, देवी को इनसे सजाइए।

(देखकर सब चकित होती हैं।)

गौतमी—क्यों वत्स नारद यह सब तुम कहाँ से पा गए!

पहला—पिता कण्व के प्रभाव से।

गौतमी—क्या उनके तप के बल से?

दूसरा—नहीं जी! सुनिए तो सही। पूज्य कण्व ने हमें आज्ञा दी थी कि शकुन्तला के लिये लता-वृक्षों से फूल-पत्ते ले आओ। इस पर-

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्कृत्युतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित् ।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-
र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभितः ॥ ५ ॥

प्रियंवदा—(शकुन्तलां विलोक्य) हला हमाए अब्भुवतत्तीए सूइया दे भत्तुणी गेहे अणुहोदव्या राअलच्छित्ति ।
(हला! अनयाऽभ्युपपत्त्या सूचिता ते भर्तुगेहेऽनुभक्तिव्या राजलक्ष्मीरिति ।)

(शकुन्तला व्रीडां रूपयति ।)

प्रथमः—गौतम! एहोहि अभिषेकोत्तीर्णाय कण्वाय वनस्पतिसेवां निवेदयावः ।

द्वितीयाः तथा ।

(इति निष्क्रान्ताः)

सख्यौ—अए! अणुवजुत्तभूसणो अअं जणों । चित्तकम्मपरिअएण अङ्गेसु दे आहरणविणिओअं करेम्ह ।
(अये! अनुपयुक्तभूषणोऽयं जनः । चित्रकर्मपरिचयेनाङ्गेषु ते आभरण-विनियोगं कुर्वः ।)

शकुन्तला—जाणे वो णेउणं । (जाने वां नैपुणम्)

(उभे नाट्येनालङ्कुरुतः ।)

(ततः प्रविशति स्नानोत्तीर्णः कण्वः ।)

किसी वृक्ष ने शुभ्र माँगलिक वस्त्र दे दिए, किसी ने पैर में लगाने की महावर दे दी और वनदेवियों ने तो कोंपलों से होड़ करके वृक्षों में से कलाई तक अपने हाथ निकाल निकालकर बहुत से आभूषण दे डाले हैं ॥ ५ ॥

प्रियंवदा—(शकुन्तला को देखकर) सखी! ये लक्षण बता रहे हैं कि पति के घर में तुम राजलक्ष्मी बनकर सुख भोगोगी ।

(शकुन्तला लजाने का नाट्य करती है ।)

पहला—चलो, गौतम! गुरुजी भी स्नान करके आ गए होंगे । इन पेड़-पौधों ने जो वस्तुएँ दी हैं इसका समाचार उन्हें भी चलकर सुना आवें ।

दूसरा—चलो ।

(दोनों का प्रस्थान)

दोनों सखियाँ—सखी! हमने तो कभी आभूषण पहने नहीं हैं, पर चित्रों में जैसा देखा और सीखा है उसी ढंग से तुम्हारे शरीर पर भी आभूषण सजाए देती हैं ।

शकुन्तला—तुम दोनों की चतुरता तो भली-भाँति मैं जानती हूँ न!

(दोनों आभूषण पहनाने का नाट्य करती हैं ।)

(स्नान करके लौटे हुए कण्व का प्रवेश ।)

कण्वः—(प्रथमः श्लोकः)

यास्यत्वद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया

कण्ठः स्तम्भितवाष्पवूतिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम् ।

वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्योकसः ।

पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनमाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥ 6 ॥

(इति परिक्रामति)

सख्यो—हला सउन्दले! अवसितमण्डणासि परिधेहि संपदं खोमजुअलं । (हला शकुन्तले! अवसितमण्डनासि । परिषत्स्व सांप्रतं क्षौमयुगलम् ।)

(शकुन्तलोत्पाथाय परिधत्ते)

गौतमी—जादे! एसो दे आणन्दपरिवाहिणा चक्खुणा परिस्सजन्तो विअ गुरू उवट्टिदो । आआरं दाव पडिवजजस्स । (जाते! एष ते आनन्दपरिवाहिणा चक्षुषा परिष्व-जनाय इव गुरुरुपस्थितः । आचारं तावत्प्रतिपद्यस्व ।)

शकुन्तला—(सव्रीहम्) ताद! वन्दामि । (तात! वन्दे ।)

कण्वः—वत्से!

ययातेरिव शमिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव ।

सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि ॥ 7 ॥

गौतमी—चअवं वरो वखु एसो, ण आसिंसा । (भगवन् वरः खल्वेषः । नाशिषः ।)

कण्व—आज शकुन्तला चली जायगी, यह सोचते ही जी बैठा जा रहा है । आँसू रोकने से गला इतना रुँध गया है कि मुँह से शब्द नहीं निकल रहे हैं । इसी चिन्ता में मेरी आँखें भी धुँधली पड़ गई हैं । जब मुझ-जैसे वनवासी को इतनी व्यथा हुई जा रही है तब उन बेचारे गृहस्थों को तो कितना कष्ट होता होगा जो पहले-पहल अपनी कन्या विदा करते होंगे ॥ 6 ॥

(धूमते हैं ।)

सखियाँ—ले शकुन्तला! तेरा सिंगार तो पूरा हो गया । ले, यह रेशमी वस्त्रों का जोड़ा भी पहन ले ।

(शकुन्तला उठकर पहनती है ।)

गौतमी—वत्से! तात कण्व इधर ही चले आ रहे हैं । आनन्द के आँसुओं से छलकती हुई उनकी आँखें देखकर जान पड़ता है मानो वे अपनी आँखों से ही तुझे गले लगाए ले रहे हों । उन्हें प्रणाम तो कर ले ।

शकुन्तला—(लजाती हुई) प्रणाम करती हूँ पिताजी!

कण्व—वत्से! जैसे ययाति अपनी पत्नी शर्मिष्ठा का आदर करते थे वैसे ही तेरे पति भी तेरा आदर करें और शर्मिष्ठा के पुत्र पुरु के समान ही तुझे भी चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त हो ॥ 7 ॥

गौतमी—भगवन्! यह तो आपने वरदान दिया है, आशीर्वाद नहीं ।

कण्वः! इतः सद्योहुताग्नीन्द्रदक्षिणीकुरुष्व ।

(सर्वे परिक्रामन्ति ।)

कण्वः—(ऋक्छन्दसाऽऽशास्ते ।)

अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णवर्भाः ।

अपघ्नन्तो बुरितं हव्यगन्धैर्वैतानास्त्वां वद्वयः पावयन्तु ॥ 8 ॥

प्रतिष्ठिस्वेदानीम् । (सदृष्टिक्षेपम्) क्व ते शार्ङ्गरवमिश्राः ।

(प्रविश्य)

शिष्यः—भगवन्! इमे स्मः ।

कण्वः—भगिन्यास्ते मार्गमादेशय ।

शार्ङ्गरवः—इत इतो भवती ।

(सर्वे परिक्रामन्ति ।)

कण्वः—(द्वितीयः श्लोकः) भो भोः सनिहितदेवतास्तपोवनतरवः ।

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या

नादत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् ।

आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः

सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥ 9 ॥

(कोकिलरवं सूचयित्वा)

कण्व—वत्से! चल, जिस अग्नि में अभी तत्काल आहुति पड़ी है, चलकर उसकी प्रदक्षिणा कर ले ।

(सब प्रदक्षिणा करते हैं ।)

कण्व—(ऋग्वेद के छन्द में आशीर्वाद देते हैं ।)

बिछी कुशा से यथास्थान वेदी पर समिधा से जलती ।

हव्य गन्ध की गन्धभरी कर दें पवित्र ये अग्नि तुझे ॥ 8 ॥

अब चल । (इधर-उधर देखकर) अरे! वे सब शार्ङ्गरव आदि कहाँ हैं?

शिष्य—(प्रवेश करके) भगवन्! ये रहे हम लोग ।

शार्ङ्गरव—इधर से आओ देवी, इधर से ।

(सब घूमते हैं)

कण्व—वन देवताओं से भरे हुए तपोवन के वृक्षों!—जो शकुन्तला पहले तुम्हें पिलाए बिना स्वयं जल नहीं पीती थी, जो आभूषण पहनने का प्रेम होने पर भी, तुम्हारे स्नेह के कारण तुम्हारे कोमल पत्तों को हाथ नहीं लगाती थी, जो तुम्हारी नई कलियों को देख-देखकर फूली नहीं समाती थी, वही शकुन्तला आज अपने पति के घर चली जा रही है । तुम सब इसे प्रेम से विदा तो कर दो ॥ 9 ॥

(कोयल की कूक की ओर संकेत करके)

अनुमतगमनाशकुन्तला तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः ।

परभृतविरुतं कलं यथा प्रतिवचनीकृतमेभिरीदृशम् ॥ 10 ॥

(आकाशे)

रम्यान्तरः कमलिनौहरितैःसरोभि-

श्रृङ्गायाद्भूमैनियमितार्कमपूखतापः ।

भूयात्कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्याः

शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्याः ॥ 11 ॥

(सर्वे सविस्मयमाकर्णयन्ति)

गौतमी—जादे! ण्णादिजणसिणिद्धाहिं अणुण्णदगमणासि तणोवणदेवदाहिं । पणम भअवदीणं । (जाते! तातिजनस्निग्धाभिरनुज्ञातगमनाऽसि तपोवनदेवताभिः । प्रणत भगवतीः ।)

शकुन्तला—(सप्रणामं परिक्रम्य जनान्तिकम् । हला पिअंवदे! णं अज्जउत्तंसणुस्सुआए वि अस्समपदं परिच्चअन्तीए दुक्खेण में चलणो पुरदो पवड्ढदि । (हला प्रियंवदे! नन्वार्य-पुत्रदर्शनोत्सुकाया अप्याश्रमपदं परित्यजन्त्या दुःखेन में चरणौ पुरः प्रवर्तते ।)

प्रियंवदा—ण केवलं तवोवणविरहकादरा सही एव्व तुए उवट्ठिदविओअस्स तवोवणस्स वि दाव समवत्था दीसइ । पेक्ख—(न केवलं तपोवनचिरहकातरा सख्येव त्वयोपस्थितवियोगस्य तपोवनस्यापि तावत्समवस्था दृश्यते । पश्य-)

उगगलिअदब्बकवला मिआ परिच्चत्तणच्चणा मोरा ।

ओसरिअण्डुपत्ता मुअंति अस्सू विअ लदाओ ॥ 12 ॥

शकुन्तला के वन के साथी वृक्षों ने कोयल के शब्द में उसे जाने की आज्ञा दे दी है ॥ 10 ॥

(आकाश में)

कल्याणमय हो इस शकुन्तला की यात्रा । इसके मार्ग में बीच-बीच में नीली कमलिनियों से भरे हुए ताल हों, नियम से थोड़ी-थोड़ी दूरी पर लगे हुए, धूप से बचाने वाली घनी छाँह वाले वृक्ष हों, धूल में कमल के पराग की कोमलता हो और मार्ग-भर सुख देने वाला पवन बहता चले ॥ 11 ॥

(सब आश्चर्य से सुनते हैं ।)

गौतमी—वत्से! जो वन-देवियाँ तुझे सगे-सम्बन्धियों के समान प्यारी हैं वे तुझे आशीर्वाद दे रही हैं । इन्हें प्रणाम तो कर ले ।

शकुन्तला—(प्रणाम करती हुई घूमकर, अलग प्रियंवदा से) सखी प्रियंवदा! यद्यपि इस समय मुझे आर्यपुत्र के दर्शन की बड़ी उतावली हो रही है । फिर भी आश्रम को छोड़ते हुए मेरे पैर ही नहीं बढ़ पा रहे हैं ।

प्रियंवदा—तपोवन के विरह से केवल तुम्हीं दुखी नहीं हो । ज्यो-ज्यों तुम्हारी विदाई की घड़ी पास आती जा रही है त्यों-त्यों तपोवन भी उदास दिखाई पड़ता जा रहा है । देखो—हरिणियाँ चबाई हुई कुश के कौर उगले दे रही हैं, मोरों ने नाचना बन्द कर दिया है और लताओं से पीले-पीले पत्ते इस प्रकार झड़े पड़ रहे हैं मानों उनके आँसू टपक रहे हों ॥ 12 ॥

(उद्गलितदर्भकवला मृगाः परित्यक्तनर्तना मयूराः।

अपसृपाण्डुवत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः।।)

शकुन्तला—(स्मृत्वा) ताद! लदाबहिणिअं वणजोसिणिं दाव आमन्तइस्सं। (तात! लताभगिनी वनज्योत्सनां तावदामन्त्रियिष्ये।)

कण्वः—अवैमि ते तस्यां सोदर्यस्नेहम्। इयं तावदक्षिणेन।

शकुन्तला—(उपेत्य लतामालिङ्ग्य) वणजोसिणि! चूदसंगता वि मं पञ्चालिङ्ग इदोगदाहिं साहावाहाहिं। अज्जप्पहुदि दूरपरिवत्तिणी दे वखु भविस्सं। (वनजयोतने! चूतसंगताऽपि मां प्रत्यालिङ्ग इतो गताभिः शाखावाहुभिः। अद्यप्रभृति दूरपरिवर्तिनी ते खलु भविष्यामि।

कण्वः—

संकल्पितं प्रथममेव मया तवार्थं

भर्तारमात्मसदृशं सुकृतैर्गता त्वम्।

चूतेन संश्रितवती नवमालिकेय-

मस्यामहं त्वयि च संप्रति वीतचिन्तः।। 13।।

इतः पन्थानं प्रतिपद्यस्व।

शकुन्तला—(सख्यौ प्रति) हला! एसा दुवेणं वो हत्थे णिक्खेओ। (हला! एषा द्वयोर्युवयोर्हस्ते निक्षेपः।)

सख्यौ—अअं जणो कस्स हत्थे समप्पिदो। (अयं जनः कस्य हस्ते समर्पितः।) (इति वाष्पं विसृजतः।)

कण्वः—अनसूये! अलं रुदित्वा। ननु भवतीभ्यामेव स्थिरीकर्तव्या शकुन्तला।

(सर्वे परिक्रामन्ति।)

शकुन्तला—(स्मरण करके।) तात! मैं अपनी बहन वन-ज्योत्सना लता से भी मिल लेना चाहती हूँ।

कण्व—मैं जानता हूँ कि तू उसे सगी बहन-जैसा प्यार करती है। यह रही वह, दाहिनी ओर।

शकुन्तला—(लता के पास जाकर और उससे लिपटकर।) प्यारी वनज्योत्सना! आम के वृक्ष से लिपटी होने पर भी अपनी इधर फैली हुई शाखा की बाहों से तू मुझसे भेंट तो ले क्योंकि आज से तो मैं तुझसे बहुत दूर जा पड़ूँगी।

कण्व—मैंने तेरे लिये जैसा पति का संकल्प किया था, तूने अपने पुण्य-प्रभाव से वैसा ही पति पा लिया और इस वन-ज्योत्सना को भी आम का ठीक सहारा मिल गया है। अब मैं तुम दोनों की चिन्ता से छूट गया हूँ।। 13।।

शकुन्तला—(सखियों से) सखियाँ! इस वन-ज्योत्सना को मैं तुम्हीं दोनों के हाथ सौंपे जा रही हूँ।

दोनों—और हम लोगों को किसके हाथ सौंपे जा रही हो? (रोने लगती हैं।)

कण्व—रोओ मत अनसूया! उलटा तुम्हें तो चाहिए कि शकुन्तला को ही और धीरज बँधाओ।

(सब घूमते हैं।)

शकुन्तला—ताद! एसा उडजपज्जन्तचारिणी गब्भमन्थरा महवहू जदा अणघप्पसवा होइ तदा में कपि पिअणिवेदइतअं षिसज्जइस्सह। (तात! एषोऽजपर्यन्तचारिणी गर्भमन्थरा मृगवधूर्यदाऽनघप्रसवा भवति तदा महां कर्मर्षि प्रियनिवेदयितृकं विसर्जयिष्यथ।)

कण्वः—नेदं विस्मरिष्यामः।

शकुन्तला—(गतिभङ्ग रूपगित्वा) को णु कखु! एसो णिवसणे में सज्जइ। (को नु खल्वेष निवसने मे सज्जते।) (इति परावर्तते।)

कण्वः—वतसे!

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां

तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।

श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति

सोऽयं न पुत्रकतकः पदवीं मृगस्ते ॥ 14 ॥

शकुन्तला—वच्छ! कि सहवासपरिच्चाइणिं मं अणुसरसि। अचिरप्पसूदाए जणणीए विणा वडिढदो एव्व। दाणिं पि मए विरहिदं तुमं तादो चिन्तइस्सदि। णिवत्तेहि दाव। (वत्स! कि सहवासपरित्यागिनी मामनुसरसि। अचिरप्रसूतया जनन्या विना वर्धित एव। इदानीमपि मया विरहितं त्वां तातश्चिन्तयिष्यति। निवर्तस्व तावत्। (इति रुदती प्रस्थिता।)

कण्वः—

उत्पक्ष्मणोर्नयनयोरुपरुद्धवृत्तिं बाष्पं कुरु स्थिरतया विहतानुबन्धम्।

अस्मिन्नलक्षितनतोनतभूमिभागे मार्गे पदानि खलु ते विषमीभवन्ति ॥ 15 ॥

शकुन्तला—तात! गर्भ के भार से आश्रम में चारों ओर अलसाती चलने वाली इस हरिणी को जब सुख से बच्चा हो जाय तब किसी के हाथ यह प्यारा समाचार मेरे पास अवश्य भिजवा दीजिएगा।

कण्व—ठीक है, यह नहीं भूलेंगे।

शकुन्तला—(चलने में रुकावट का अनुभव करती हुई-सी।) अरे! मेरा आँचल कौन पकड़े खींचे जा रहा है? (पीछे घूमकर देखती है।)

कण्व—वत्से! कुशा के कॉटे से छिदे हुए जिसके मुँह को अच्छा करने के लिये तू उस पर हिंगोट का तेल लगाया करती थी वही तेरे हाथ के दिए हुए मुड़ी भर साँवों के दानों से पला हुआ तेरा पुत्र के समान प्यारा हरिण तेरा मार्ग रोके खड़ा है ॥ 14 ॥

शकुन्तला—वत्स! मुझ साथ छोड़कर जाने वाली के पीछे-पीछे तू कहाँ चला आ रहा है? तेरी माँ जब तुझे जन्म देकर चल बसी थी तब मैंने ही तुझे पाल-पोसकर बड़ा किया था। अब मेरे पीछे पिताजी तेरी देखभाल किया करेंगे। जा, लौट जा। (रोती हुई आगे बढ़ती है।)

कण्व—वत्से! धीरज धरकर अपने आँसू पोंछ डाल। इन आँसुओं के कारण तेरी उठी हुई बरौनियाँ वाली आँखें ठीक से देख नहीं पा रही हैं। इसीलिये यहाँ की उबड़-खाबड़ धरती पर तेरे पैर उलटे-सीधे पड़ते जा रहे हैं ॥ 15 ॥

शाङ्गरव-भगवन्! ओदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्य इति श्रूयते। तदिदं सरस्तीरम्। अव संदिश्य प्रतिगन्तुमर्हसि।

कण्वः—तेन हीमां क्षीरवृक्षच्छायामाश्रयामः।

(सर्वे परिक्रम्य स्थिताः)

कण्वः—(आत्मगतम्) किं न खलु तत्रंभवतो दुष्यन्तस्य युक्तरूपमस्माभिः संदिष्टव्यम्।

(इति चिन्तयति।)

शकुन्तला—(जनान्तिकम्) हला पेक्ख! णलिणीपत्तन्तरिदं वि सहअरं अदेक्खन्ती आदुरा चक्कवाई आरडिदि दुक्करं अहं केमिति तक्केमि। (हला पश्य! नलिनीपत्रान्त—रितमपि सहचरमपश्यन्त्यातुरा चक्रवाक्यारटति दुष्करमहं करोमीति तर्कयामि।)

अनुसूया—सही! मा एव्यं मन्तेहि।

एसा वि पिण्ण विणा गमेइ रअणिं विसाअदीहअरं।

गरुअं पि विरहदुक्खं आसाबन्धो सहावेदि॥ 16॥

(सखि! मैवं मन्त्रयस्व।

एषाऽपि प्रियेण बिना गमयति रजनीं विषाददीर्घतराम्।

गुर्वपि विरहदुःखमाशाबन्धः साहयति।।)

कण्वः—शाङ्गरव! इति त्वया मद्बचनातस राजा शकुन्तलां पुरस्कृत्य वक्तव्यः।

शाङ्गरव—आज्ञापयतु भवान्।

शाङ्गरव—भगवन्! सुना है कि प्रियजनों को विदा देते समय जलाशय तक पहुँचाकर लौट जाना चाहिए। अब सरोवर का तट आ गया है इसलिये जो कुछ सन्देश कहलाना हो वह यहीं बताकर आप लोग आश्रम को लौट जाएँ।

कण्व—तो चलो इस बरगद की छाया में थोड़ा बैठ लिया जाय।

(सब घूमकर बैठ जाते हैं।)

कण्व—(अपने ही आप) माननीय राजा दुष्यन्त के पास कौन-सा सन्देश भेजना ठीक होगा। (सोचते हैं।)

शकुन्तला—(सखी से अलग) सखी! देख तो। कमलिनी के पत्ते की ओट में छिपे हुए अपने चकवे को न देख सकने से यह चकवी कैसी घबराकर चिल्लाए जा रही है। इसलिये मैं जिस काम से जा रही हूँ वह पूरा होता नहीं दिखाई देता।

अनुसूया—ऐसा नहीं सोचना चाहिए सखी! जानती हो, यह चकवी विरह की लंबी-लंबी रातें पति के बिना अकेली ही काट देती है, क्योंकि विरह के समय भी इसे यह आशा बनी रहती है कि प्रातःकाल तो मिलन हो ही जायेगा॥ 16॥

कण्व—शाङ्गरव! शकुन्तला को दुष्यन्त के हाथ सौंपते हुए मेरी ओर से कहना—

शाङ्गरव—जी, आज्ञा हो।

कण्वः—(तृतीयः श्लोकः)

अस्मान्साधु विचित्य संयमधनानुच्चैः कुलं चाप्मन-
स्त्वय्यस्याः कथमप्यबान्धवकृतां स्नेहप्रवृत्तिं च ताम् ।
सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया
भाग्यायत्तमतः परं न खलु ताद्वाच्यं बधूबन्धुभिः ॥ 17 ॥

शार्ङ्गरवः—गृहीतः संदेशः ।

कण्वः—वत्से! त्वमिदानीमनुशासनीयाऽसि । वनौकसोऽपि सन्तो लौकिकज्ञा वयम् ।

शार्ङ्गरवः—न खलु धीमतां कश्चिदविषयो नाम ।

कण्वः—सा त्वमितः पतिकुलं प्राप्य (चतुर्थः श्लोकः)

शुश्रुषस्व गुरुन्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
पत्युर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भागयेष्वनुत्सेकिनी
यान्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥ 18 ॥

कथं वा गौतमी मन्यते ।

गौतमी—एतिओ बहूजणस्य उवदेसो । जादे! एदं क्खु सव्वं ओधारेहि । (एता-वान्वधूजनस्योपदेशः ।
जाते! एतत्खलु सर्वमवधारय ।)

कण्व—कहना कि—राजन्! कहाँ तो हम लोग सीधे-सीधे संयमी तपस्वी लोग और कहाँ आप ऊँचे घराने के राजा । फिर भी आपने अपने आप इस कन्या से विवाह कर लिया है । इन सब बातों का ध्यान करके आप कम से कम इतना अवश्य कीजिएगा कि दूसरी रानियों के समान शकुन्तला का भी आदर हो । इससे बढ़कर इसे जो सौभाग्य मिले वह तो इसके भाग्य की बात है । उसके लिये हम कन्या के बान्धव लोग भला क्या कह सकते हैं ॥ 17 ॥

शार्ङ्गरव—जी, ठीक है, संदेश समझ गया ।

कण्व—वत्से! आओ! तुम्हें कुछ सीख देनी है । देखो, वन में रहते हुए भी साँसारिक व्यवहार हम लोग भली भाँति जानते हैं ।

शार्ङ्गरव—जी हाँ, ऐसी कौन-सी बात है जो विद्वान लोग न जानते हों ।

कण्व—देखो! यहाँ से पति के घर पहुँचकर घर के सब बड़े-बूढ़ों की सेवा करना । अपनी सौतों से सखियों-जैसा प्रेम रखना । पति निरादर भी करें तो क्रोध करके उनसे झगड़ा मत कर बैठना । दास-दासियों को बड़े प्यार से रखना और अपने सौभाग्य पर बहुत ऐंठना मत । जो स्त्रियाँ घर में इस प्रकार चला करती हैं वे ही सच्ची गृहिणियाँ होती हैं और जो इसका उलटा करती हैं वे खोटी स्त्रियाँ तो अपनी कुल की नागिन होती हैं ॥ 18 ॥

क्यों गौतमी! ठीक है न!

गौतमी—कुलवधुओं के लिये इससे बढ़कर और क्या उपदेश होगा! वत्से! ये बस बातें गाँठ बाँध

कण्वः—वत्से! परिष्वजस्व मां सखीजनञ्च ।

शकुन्तला—ताद! इदो एव्य किं पिअंवदाअणसूआओ सहीओ णिवत्तिस्सन्ति । (तात! इत एव किं प्रियंवदानसूये सख्यौ निवर्तिष्येते ।)

कण्वः—वत्से! इमें अपि प्रदेये । न युक्तमनयोस्तम गन्तुम् । त्वया सह गौतमी यास्यति ।

शकुन्तला—(पितरमाश्लिष्य) कहं दाणिं तादस्स अंकादो परिब्भट्ठा मलअतरुन्मूलिआ चंदणलदा विअ देसंतरे जीविअंधारइस्सं । (कथमिदानीं तातास्याङ्गात्परिभ्रष्टा मलयतरुन्मूलिता चन्दनलतेव देशान्तरे जीवितं धारयिष्यामि ।)

कण्वः—वत्से! किमेवं कातरासि ।

अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे

विभवगुरुभिः कृत्यैस्तस्य प्रतिक्षणमाकुला ।

तनयमचिरात्प्राचीवाकं प्रसूय च पावनं

मम विरहजां न त्वं वतसे शुचं गणयिष्यसि ॥ 19 ॥

(शकुन्तला पितुः पादयोः पतति ।)

कण्वः—यदिच्छामि ते तदस्तु ।

शकुन्तला—(सख्यावुपेत्य) हला! दुवे वि मं समं एव्य परिस्सजह । (हला द्वे अपि मां सममेव परिष्वजेथाम् ।)

सख्यौ—(तथा कृत्वा) सहि! जइ णाम सो राआ पच्चहिण्णणमन्थरो भवे तदो से इमं अत्तणामहेअअकिअं अणुलीअअं दंसेहि । (सखि! यदि नाम स राजा प्रत्यभिज्ञानमन्थरो भवेत्तत्तस्येदमात्मनामधेयाङ्कितमंगुलीयकं दर्शय ।)

लो ।

कण्व—आओ वत्से! मुझसे और अपनी सखियों से गले तो मिल लो ।

शकुन्तला—तात! क्या प्रियंवदा आदि सखियाँ यहाँ से लौट जायँगी?

कण्व—वत्से! इनका भी तो विवाह करना है न! इसलिये इनका वहाँ जाना ठीक नहीं है । तेरे साथ गौतमी तो जा ही रही हैं ।

शकुन्तला—(पिता से गले लगकर) पिताजी की गोद से अलग होकर मलय पर्वत से उखाड़े हुए चन्दन के पौधे के समान मैं परदेश में पहुँचकर कैसे जी पाऊँगी?

कण्व—वत्से! इतनी क्यों अधीर हुई जा रही हो । जब तुम ऊँचे कुलवासी पति की पटरानी होकर उनके घर के कामों में दिन-रात फँसी रहोगी और, जैसे पूर्व दिशा से सूर्य उत्पन्न होता है वैसे ही जब पवित्र पुत्र उत्पन्न कर लोगी, तब तुम मुझसे बिछुड़ने का सारा दुख भूल जाओगी ॥ 19 ॥

(शकुन्तला पिता के पैरों पड़ती है ।)

कण्व—तुम्हारे लिये मैं जो-जो चाहता हूँ वह सब तुम्हें मिल जाय ।

शकुन्तला—(सखियों के पास जाकर) सखियो! आओ, तुम दोनों एक साथ मेरे गले आ मिलो ।

सखियाँ—(गले लगकर) सखी, देखो! यदि वे राजा तुम्हें पहचानने में कहीं भूल कर बैठें तो यह

शकुन्तला—इमिणा संदेहेण वो आकमिपदम्हि । (अनेन संदेहेन वामाकम्पितास्मि ।)

सख्यौ—मा भाआहि । सिणेहो पावसङ्की । (मा भैषी । स्नेहः पापशङ्की ।)

शार्ङ्गरवः—युगान्तरमारूढः सविता । त्वरतामत्रभवती !

शकुन्तला—(आश्रमाभिमुखी स्थित्वा) ताद ! कदा णु भूओ तवोवणं पेक्खिस्सं ।

(तात ! कदा नु भूयस्तपोवनं प्रेक्षिष्ये ।)

कण्वः—श्रुयताम्-

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी

दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य ।

भर्त्रा तदपितकुटुम्बभरेण सार्ध

शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥ 20 ॥

गौतमी—जादे ! परिहीअदि गमणवेला । णिवत्तेहि पितरं । अहवा चिरेण विपुणो पुणो एसा एव्वं मन्तइस्सदि । णिवत्तदु भवं । (जाते ! परिहीयते गमनवेला । निवर्तय पितरम् । अथवा चिरेणापि पुनः पुनरेषैवं मन्त्रयिष्यते । निवर्ततां भवान्)

कण्वः—वत्से उपरुध्यते तपोऽनुष्ठानम् ।

शकुन्तला—(भूयः पितरमाश्लिष्य) तवच्चलणपीडितं तादसरीरं ता मा अदिमेत्तं मम किदे उक्कण्ठिदुम् । (तपश्चरणपीडितं तातशरीरं तन्माऽतिमात्रं मम कृते उत्कण्ठितुम् ।)

कण्वः—(सनिःश्वासम्) —

शममेष्यति मम शोकः कथं नु वत्से त्वया रचितपूर्वम् ।

उटजद्धारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः ॥ 21 ॥

उनके नामवाली अँगूठी तुम उन्हें दिखला देना ।

शकुन्तला—तुम्हारी इस सन्देह-भरी बात ने मेरे जी में बड़ा खटका डाल दिया है ।

सखियाँ—नहीं नहीं, डरने की क्या बात है । प्रेम में तो खटका हुआ ही करता है ।

शार्ङ्गरव—देवी ! दिन बहुत चढ़ आया है । अब शीघ्रता करनी चाहिए ।

शकुन्तला—(आश्रम की ओर मुँह करके) तात ! अब आश्रम के फिर कब दर्शन हो सकेंगे ?

कण्व—सुनो ! बहुत दिनों तक इस पृथ्वी की सौत बनकर और अपने अद्वितीय वीर पुत्र को राज्य और कुटुम्ब का भार सौंपकर जब तुम अपने पति के साथ आओगी तब आकर इस शान्त आश्रम में सुख से रहने लगना ॥ 20 ॥

गौतमी—वत्से ! विदा की घड़ी बीती जा रही है । जाने दो पिताजी को (कण्व से) आप अब लौट जायँ नहीं तो यह बहुत देर तक यों ही कुछ-न-कुछ कहती ही रहेगी ।

कण्व—वत्से ! अब जाओ । हमारी तपस्या के कामों में देर हो रही है ।

शकुन्तला—(पिता से फिर भेंट करके) आप तो तप के कारण बहुत दुबले हो गए हैं इसलिये आप मेरी बहुत अधिक चिन्ता न कीजिएगा ।

कण्व—(लम्बी साँस लेकर) वत्से ! तुमने बलि के लिये जो तिन्नी के धान छीटे थे उनके अंकुर जब तक कुट के द्वार पर दिखाई देते रहेंगे तब तक मेरा शोक कैसे कम होगा ॥ 21 ॥

गच्छ! शिवास्ते पन्थानः सन्तु।

(निष्क्रान्ता शकुन्तला सहयायिनश्च।)

सख्यौ—(शकुन्तलां विलोक्य) हृद्धी हृद्धी, अंतर्हिदा सउन्दला वणराईए। (हा धिक् हा धिक् अन्तहिता शकुन्तला वनराज्या।)

कण्वः—(सनिःश्वासम्) अनसूये! गतवती वां सहधर्मचारिणी। निगृह्य शोकमनु—यच्छत मां प्रस्थितम्।

उभे-ताद! सउन्दलाविरहिदं सुण्णं विअ तवोवणं कहं पविसावो। (तात! शकुन्तला विरहितं शून्यमिव तपोवनं कथं प्रविशावः)

कण्वः—स्नेहप्रवृत्तिरेवंदर्शिनी। (सविमर्शं परिक्रम्य) हन्त भोः शकुन्तलां पतिकुलं विसृज्य लब्धमिदानीं स्वास्थ्यम्। कुतः-

आर्यो हि कन्या परकीय एव तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः।

जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा।।22।।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे।)

।। इति चतुर्थोऽङ्कः।।



जाओ! तुम्हारा मार्ग मंगलमय हो।

(साथियों के साथ शकुन्तला जाती है।)

दोनों सखियाँ—(शकुन्तला को देखकर) हाय, हाय! शकुन्तला तो वृक्षों की ओट में ओझल हो गई।

कण्व—(लम्बी साँस लेकर।) अनसूया! देख तेरी सखी तो अब चली गई। अब यह रोना-धोना छोड़ और मेरे साथ लौट चल।

दोनों—हाय, शकुन्तला के बिना सूने आश्रम को हम कैसे जा पावेंगी।

कण्व—प्रेम में ऐसा हुआ ही करता है। (कुछ विचारते हुए घूमकर) ओह! शकुन्तला को उसके पति के घर भेजकर अब जाकर मेरे मन को छुट्टी मिल पाई है। क्योंकि—कन्या तो सचमुच पराई सम्पत्ति ही होती है। आज उसे पति के घर भेजकर मेरा मन वैसे ही निश्चिन्त हो गया है। जैसे किसी की धरोहर लौटाने पर होता है।। 22।।

(सब जाते हैं)

।। चौथा अंक पूर्ण।।



पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्यासनस्थो राजा विदूषकश्च)

विदूषकः—(कर्ण दत्त्वा) भो वअस्स! संगीतसालंतरे अवधानं देहि। कलविसुद्धाए गीदीए सरसंजोओ सुणीअदि। जाणे तत्तहोदी हंसवदिआ वण्णपरिअअ करोदित्ति। (भो वयस्य! संगीतशालान्तरेऽवधानं देहि। कलविशुद्धाया गीतेः सवरसंयोगः श्रूयते। जाने तत्र भवती हंसपदिका वर्णपरिचयं करोतीति।)

राजा—तूष्णीं भव यावदाकर्णयामि।

(आकाशे गीयते।)

अहिणवमधुलोलुवो भवं तह परिचुम्बिअ चूअमज्जरिं।

कमलवसइमेत्तणिब्बुदो महुअर विद्धारिओ सि णं कहं।।१।।

(अभिनवमधुलोलुपो भवाँस्तथा परिचुम्ब्य चूदमज्जरीम्। कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽस्येनां कथम्।।)

राजा—अहो रागपरिवाहिनी गीतिः।

विदूषकः—कि दाव गीदीए अवगओ अक्खरत्थो (कि तावद्गीत्या अवगतोऽक्षरार्थः।)

राजा—(स्मितं कृत्वा) सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः। तदस्या देवीवसुमतीमन्तरेण मधुपा—लम्भमवगतोऽस्मि। सखे माढव्य! मद्बचनादुच्यतां हंसपदिका—निपुणमुपालब्धोऽस्मीति।

पाँचवाँ अङ्क

(राजा आसन पर बैठे हैं और पास ही विदूषक भी बैठा हुआ है।)

विदूषक—(कान लगाकर) सुनो वयस्य! संगीत-शाला की ओर कान लगाकर तो सुनो। बड़े लय-ताल के साथ अत्यन्त मीठे स्वर में किसी का गीत सुनाई दे रहा है। जान पड़ता है महारानी हंसपदिका ही स्वर साध रही हैं।

राजा—अच्छा, चुप हो रहो तभी तो सुनूँ।

(नेपथ्य में गीत)

नये नये मधु के लोभी ओ मधुकर!

एक बार ही नव रसाल की मधुर मंजरी चूम गए तुम।

क्यों निवास कर कमल-कोश में मुझे भूलकर धूम गए तुम।।

नये नये मधु के लोभी ओ मधुकर।। १।।

राजा—वाह, गीत में कैसी प्रेम की धारा बह रही है?

विदूषक—पर इस गीत में जो चोट की गई है, वह भी कुछ समझ पाए हो?

राजा—(मुस्कराते हुए) हाँ, हाँ मैं सब जानता हूँ। इस रानी से मैं पहले कभी प्रेम कर चुका हूँ, पर इधर आजकल तो जो देवी वसुमती से मैं प्रेम करने लगा हूँ उसी पर ये छींटे कसे जा रहे हैं। मित्र माढव्य! मेरी ओर से हंसपदिका से जाकर कहना कि तुमने बड़ी मीठी चुटकी ली है।

विदूषकः—जं भवं आणवेदि । (उत्थाय) भो वअस्स ! गहीदस्स ताए पर कीएहिं हत्थेहि सिंहंडए ताडी अमाणस्स अच्छराए वीदराअस्स विअ णत्थि दाणि में मोक्खो ।

(यद्भवानाज्ञापयति । भो वयस्य ! गृहीतस्य तथा परकीर्यैर्हस्तैः शिखण्डके ताड्यमानस्याप्सरसा वीतरागस्येव नास्तीदानीं में मोक्षः ।)

राजा—गच्छ । नागरिकवृत्त्या संज्ञापयैनाम् ।

विदूषकः—का गई । (का गतिः ।) (इति निष्क्रान्तः ।)

राजा—(आत्मगतम्) किं नु खलु गीताथमाकर्ण्येष्टजनविरहादृतेऽपि बलवदुत्कण्ठितोऽस्मि । अथवा-

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।

तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥ २ ॥

(इति पर्याकुलस्तिष्ठति ।)

(ततः प्रविशति कञ्चुकी ।)

कञ्चुकी—अहो नु खल्वीदृशीमवस्थां प्रतिपन्नोऽस्मि ।

आचार इत्यवहितेन मया गृहीता या वेत्रयष्टिरवरोधगृहेषु राज्ञः ।

काले गते बहुतिथे मम सैव जाता प्रस्थानविक्लवगतेरवलम्बनार्था ॥ ३ ॥

भोः कामं धर्मकार्यमनतिपात्यां देवस्य । तथापीदानीमेव धर्मासनादुत्थिताय पुनरुपरोधकारि कण्वशिष्यागमनमस्मै नोत्सहे निवेदितुम् । अथवाऽविश्रमोऽयं लोकतन्त्राधिकारः । कुतः ।

विदूषक—जैसी आपकी आज्ञा । (खड़ा होकर) पर वयस्य ! जैसे अप्सराओं के हाथों में पड़कर बड़े-बड़े विरागी ऋषि नहीं छूट पाते हैं वैसे ही जब अपनी दासियों से मेरी चोटी पकड़वाकर वे मुझे धुनने लगेंगी तब तो उनसे छुटकारा पाना मेरे लिये भी कठिन हो जायगा ।

राजा—जाओ तो सही, चतुराई के साथ सन्देश देना ।

विदूषक—क्या चारा है? आप कह रहे हैं तो झूठ मारकर जाना ही पड़ेगा । (चला जाता है ।)

राजा—(मन ही मन) मेरे सभी सगे-प्यारे मेरे पास ही हैं फिर भी इस गीत को सुनकर न जाने क्यों मैं इतना अनमना-सा हो उठा हूँ यां-

सुन्दर वस्तुएँ देखकर और मीठे शब्द सुनकर जब सुखी लोग तक भी उदास हो उठते हैं तब यही समझना चाहिए कि उनके मन में पिछले जन्म के प्रेमियों के जो संस्कार बैठे हुए हैं वे ही अपने आप जाग उठे हैं ॥ २ ॥ (यह सोचकर व्याकुल हो उठता है ।)

(कञ्चुकी का प्रवेश)

कञ्चुकी—आह, मेरी भी क्या दशा हो चली है ।—जिस बेंत की छड़ी से कभी मैं रनिवास के द्वारपाल का नियम समझकर हाथ में लिए रहा करता था वही अब इस बुढ़ापे में यह मुझ लड़खड़ाते पैरों वाले का सहारा बन चली है ॥ ३ ॥

यह तो ठीक है कि महाराज को धर्म-कार्य करना ही चाहिए । पर महाराज तो अभी-अभी न्यायासन से उठकर गए हैं । अब उन्हें फिर से कष्ट देने के लिये जो ये कण्व के शिष्य आ धमके हैं, इनकी सूचना पहुँचाने को मेरा तो जी नहीं करता । पर प्रजा के शासन में विश्राम कहाँ धरा है?

भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव रात्रिं दिवं गन्धवहः प्रयाति ।

शेषः सदैवाहितभूमिभारः षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः ॥ 4 ॥

यावन्नियोगमनुतिष्ठामि । (परिक्रम्यावलोक्य च) एष देवः

प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा निषेवते शान्तमना विविक्तम् ।

यूथानि संचार्य रविप्रतप्तः शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्रः ॥ 5 ॥

(उपगम्य) जयतु जयतु देवः । एते खलु हिमगिरेरुपत्यकारण्यवासिनः कण्वसंदेश-मादाय सस्त्रीकास्तपस्विनः संप्राप्तः । श्रुत्वा देवः प्रमाणम् ।

राजा—(सादरम्) किं कण्वसंदेशहारिणः ।

कञ्चुकी—अथ किम् ।

राजा—तेन हि मद्वचनाद्विज्ञाप्यतामुपाध्यायः सोमरातः । अमूनाश्रमवासिनः श्रौतेन विधिना सत्कृत्य स्वयमेव प्रवेशयितुमर्हतीति । अहमप्येतांस्तपस्विदर्शनोचिते प्रदेशे स्थितः प्रतिपालयामि ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः ।)

राजा—(उत्थाय) वेत्रवति! अग्निशरणमार्गमादेशय ।

प्रतीहारी—इदो देवो । (इत इतो देवः ।)

क्योंकि—सूर्य एक ही बार अपने घोड़े जोतकर अब तक चलाए जा रहा है, पवन भी रात-दिन बहता ही रहता है और शेषनाग भी इस पृथ्वी के भार को अपने ऊपर सदा धारण ही किए रहते हैं । ठीक यही दशा उपज का छठा अंश लेने वाले राजा की भी है ॥ 4 ॥

इसलिये चलता हूँ मैं भी अपना कर्तव्य पालन किए डालता हूँ । (इधर-उधर देखकर) ये महाराज— अपनी सन्तान-जैसी प्रजा का काम करके, थक जाने पर यहाँ एकान्त में उसी प्रकार विश्राम कर रहे हैं जैसे दिन की धूप से तपा हुआ गजराज हाथियों के झुण्ड को चरने के लिये छोड़कर स्वयं ठंडे स्थान में विश्राम जा करता है ॥ 5 ॥

(पास जाकर) महाराज की जय हो । हिमालय की तराई में रहने वाले कुछ तपस्वी लोग कण्व का सन्देश लेकर स्त्रियों के साथ आए हुए हैं । अब जैसा देव ठीक समझें ।

राजा—(आदर से) क्या महर्षि कण्व का सन्देश लेकर आए हैं ?

कञ्चुकी—जी हाँ ।

राजा—तो कुल-पुरोहित सोमरातजी को कहला दो कि वे वैदिक रीति से इन आश्रमवासियों का सत्कार करके इन्हें अपने ही साथ लिवा लावें । मैं भी तबतक उधर ही चलकर उनकी बाट देखता हूँ जहाँ ऋषियों से भेंट की जाती है ।

कञ्चुकी—जैसी महाराज की आज्ञा । (प्रस्थान)

राजा—(उठकर) वेत्रवती! चलो हमें यज्ञशाला-तक तो पहुँचा दो ।

प्रतीहारी—इधर से आइए महाराज, इधर से ।

राजा—(परिक्रामति । अधिकारखेदं निरूप्य) सर्वः प्राथितमर्थमधिगम्य सुखी संपद्यते जन्तुः राज्ञां तु चरितार्थता दुःखान्तरेव ।

औस्सुव्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव ।
नातिश्रमापनयनाय च श्रमाय राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ॥ 6 ॥
(नेपथ्ये)

वैतालिकौ—विजयतां देवः

प्रथमः—

स्वसुखनिरभिलाषः सिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव ।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं धायया संश्रितानाम् ॥ 7 ॥

द्वितीयः—

नियमयसि विमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः
प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय ।
अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम
त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम् ॥ 8 ॥

राजा—एते क्लान्तमनसः पुनर्नवीकृताः स्मः । इति परिक्रामति ।)

राजा—(धूमता है । राजकाज की झंझट बताते हुए) अपने मन की साध पूरी हो जाने पर और सब जीवों को तो सुख मिलता है पर हम लोगों की जब राजा बनने की इच्छा पूरी हो जाती है तब कष्ट ही कष्ट हाथ लगता है । राजा बनकर बड़ी प्रतिष्ठा पा लेने से मन की उमंग तो पूरी हो जाती है पर जब राज्य का पालन करना पड़ता है तब छठी का दूध याद आ जाता है । इसलिये राज्य उस छतरी के समान है जिसकी मूठ अपने हाथ में ले लेने से थकावट ही अधिक होती है, सुख कम मिलता है ॥ 6 ॥

(नेपथ्य में)

दो वैतालिक—महाराज की जय हो ।

पहला—अपने सुख की इच्छा छोड़कर आप प्रजा की भलाई में ही लगे रहते हैं । या यों कहना चाहिए कि इस प्रकार आप अपना धर्म ही पाल रहे हैं, क्योंकि वृक्ष अपने सिर पर तो कड़ी धूप सहता रहता है, पर अपने तले बैठे हुए जीवों को छाया ही दिया करता है ॥ 7 ॥

दूसरा—दुष्टों को आप अपने राजदण्ड से ठीक रखते चलते हैं और सबके आपसी झगड़े निपटाकर आप प्रजा की रक्षा करते चलते हैं । प्रजा में जो धनी लोग हैं उनके तो बहुत से सगे सम्बन्धी हो सकते हैं पर साधारण प्रजा के तो माँ-बाप-भाई सब कुछ आप ही हैं ॥ 8 ॥

राजा—मेरा उदास मन इनकी बातें सुनकर फिर हरा हो उठा है ।

(धूमते हैं)

प्रतिहारी—एसो अहिणवसम्मज्जणसस्सिरीओ सण्णिहिदहोमधेणू अग्गिसरणा—लिन्दो। आरोहदु देवो। (एक अभिनवसंमार्जनसश्रीकः संनिहितहोमधेनुरग्निशरणालिन्दः। आरोहतु देवः।)

राजा—(आरुह्य परिजनांसावलम्बी तिष्ठति) वेत्रवति? किमुद्दिश्य भगवता कण्वेच मत्सकाशमृषयः प्रेषिताः स्युः।

किं तावद्भूतिनामुपोढतपसां विध्नैस्तपो दूषितं
धर्मारण्यचरेषु केनचिदुत प्राणिष्वसच्चेष्टितम्।

आहोस्वित्प्रसवो ममापचरितैर्विष्टम्भितो वीरुधा-

मित्यारूढबहुप्रतर्कमपरिच्छेदाकुलं मे मनः॥ ९॥

प्रतिहारी—सुचरिदण्दिणो इसिओ देवं सभा जइदुं अदेति तक्केमि।

(सुचरितनन्दिन ऋषयो देवंसंभाजयितुमागत, इति तर्कयामि।)

(ततः प्रविशन्ति गौतमीसहिताः शकुन्तलां पुरस्कृत्य मुनयः। पुरश्चैषां कञ्चुकी पुरोहितश्च।)

कञ्चुकी—इत इतो भवन्तः।

शार्ङ्गरवः—शारद्वत!

महाभागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरसौ

न कश्चिद्वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि।

तथापीदं शस्त्रत्परिचितविविक्तेन मनसा

जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव॥ १०॥

प्रतीहारी—यह रही झाड़-बुहारकर स्वच्छ की हुई यज्ञशाला की बैठक जहाँ पास ही हवन के लिये धी-दूध देने वाली गौ भी बैधी है। इसी में चढ़ चलें महाराज।

राजा—(चढ़कर परिचारकों के कन्धों के सहारे खड़ा होता है।) वेत्रवती! भगवान् कण्व ने भला ऋषियों को मेरे पास किसलिये भेजा होगा? कहीं उपद्रवी राक्षस बहुत प्रकार की तपस्या करने वाले इन ऋषियों के तप में बाधा तो नहीं डाल रहे हैं! या कहीं कोई तपोवन के प्राणियों को तो नहीं सता बैठा है! या कहीं मेरे पापों के कारण तपोवन की लताओं और वृक्षों का फलना-फूलना तो नहीं रुक गया है! मेरे मन में न जाने कितनी ऐसी बुरी-बुरी आशंकाएँ उठ खड़ी हुई हैं कि कुछ ठीक-ठीक समझ न पाने से मेरे जी में बड़ी खलबड़ी मच उठी है॥ ९॥

प्रतीहारी—देव! मैं तो समझती हूँ कि ये ऋषि लोग महाराज के अच्छे कामों से प्रसन्न होकर बधाई देने आए होंगे।

(शकुन्तला को आगे किए हुए गौतमी के साथ ऋषियों का प्रवेश। आगे-आगे कञ्चुकी और पुरोहित।)

कञ्चुकी—इधर से आइए आप लोग, इधर से।

शार्ङ्गरव—शारद्वत! यह मैं जानता हूँ कि ये राजा इतने धर्मात्मा हैं कि कभी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते और इनके राज्य में जो नीच-से-नीच वर्ण के लोग भी हैं, वे भी कभी कोई अधर्म का काम नहीं करते, पर इतने लोगों से भरे हुए भवन को देखकर ऐसा जान पड़ता है मानो यहाँ आग की लपटें उठ रही हों। मेरा अकेले में रमने वाला मन तो ऐसा करता है कि यहाँ से तत्काल भाग खड़ा हुआ जाय॥ १०॥

शारद्वतः—स्थाने भवान्पुरप्रवेशादित्यंभूतः। अहमपि-

अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम्।

बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमवैमि॥ 11॥

शकुन्तला—(निमित्तं सूचयित्वा) अम्महे! कि मे वामेदरं णअणं विप्फुरदि।

(अहो! कि मे वामेतरं नयनं विस्फुरति।)

गौतमी—अआदे पडिहदं अमङ्गलं! सुहाई दे भत्तुकुलदेवदाओ विवरन्दु। (जाते! प्रतिहतममङ्गलम्। सुखानि ते भत्तु कुलदेवताः वितरन्तु।) (इति परिक्रामति।)

पुरोहितः—(राजानं निदिश्य) भो भोस्तपस्विनः असावत्रभवान्वणश्रिमाणां रक्षिता प्रामेव मुक्तासनो वः प्रतिपालयति। पश्यतैनम्।

शार्ङ्गरवः—भो महाब्राह्मण! काममेतदभिनन्दनीय तथापि वयमत्र मध्यस्थाः। कुतः।

भवन्ति नभ्रास्तरवः फलागमैर्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः।

अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणम्॥ 12॥

प्रतिहारी—देव! पसण्णमुहवण्णा दीसन्ति। जाणामि विसद्धकज्जा इसीओ। (देव प्रसन्नमुखवर्णा दृश्यन्ते। जानामि विश्रब्धकार्या ऋषयः।)

राजा—(शकुन्तलां दृष्ट्वा) अथात्रभवती-

का स्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।

मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्॥ 13॥

शारद्वत—नगर में आने पर ऐसा ही लगा करता है। मैं भी साँसारिक भोगों में पड़े हुए यहाँ के लोगों को वैसा ही हीन समझता हूँ जैसे नहाया हुआ व्यक्ति तेल लगाए हुए को, पवित्र व्यक्ति अपवित्र को, जागता हुआ व्यक्ति सोते हुए को समझता है॥ 11॥

शकुन्तला—(बुरा शकुन बताकर) हैं! यह मेरी दाहिनी आँख क्यों फड़कने लगी?

गौतमी—तेरे असगुन दूर हों, पुत्री! तेरे पति-कुल के देवता सब भला ही करें। (धूमती है)

पुरोहित—(राजा को दिखलाकर) तपस्वियो! देखिए, वर्णाश्रम का पालन करने वाले महाराज पहले से ही आसन छोड़कर खड़े हुए आप लोगों के आने की बाट देख रहे हैं। इन्हें देखिए तो।

शार्ङ्गरव—देखो राजपुरोहित! यह माना कि ये प्रशँसा के योग्य हैं पर हम इसे कोई नई बात नहीं समझते। क्योंकि फल लगने पर पेड़ झुकते ही हैं, नये जल से भरे हुए बादल नीचे झुक ही जाते हैं और सज्जन लोग धन पाकर नम्र होते ही हैं। यह तो परोपकारियों का स्वभाव ही होता है, इसमें नई बात क्या है॥ 12॥

प्रतीहारी—महाराज! ऋषि लोग प्रसन्न दिखाई पड़ रहे हैं। इसलिये मैं समझती हूँ कि ये लोग किसी अच्छे काम से ही आए होंगे।

राजा—(शकुन्तला को देखकर) ये कौन देवी हैं।—इन तपस्वियों के बीच में पीले पत्तों में नई कोंपल के समान दिखाई देने वाली यह कौन हो सकती है जिसके घूँघट के कारण उसकी सुन्दरता ठीक-ठीक खुल नहीं पा रही है॥ 13॥

प्रतिहारी—देव! कुतूलगम्भोपहिदो ण मे तवको पसरदि। णं दंसणीआ उण से आकिदी लक्खीआदि।
(देव कुतूलगम्भोपहितो न मे तर्कः प्रसरति। ननु दर्शनीया पुनरस्या आकृतिर्लक्ष्यते।)

राजा—भवतु। अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्।

शकुन्तला—(हस्तमुरसि कृत्वा आत्मगतम्) हिअअ! कि एव्वं वेवसि। अज्जउत्तस्स भावं ओहाररिअ धीरं दाव होहि। (हृदय! किमेवं वेपसे। आर्यपुत्रस्य भावमवधार्य धीरं तावद्भव।)

पुरोहितः—(पुरो गत्वा) एते विधिवदर्वितास्तपस्विनः। कश्चिदेषामुपाध्याय संदेश। तं देवः श्रोतुमर्हति।

राजा—अवहितोऽस्मि।

ऋषयः—(हस्तानुद्यम्य) विजयस्व राजन्।

राजा—सर्वामभिवादये।

ऋषयः—इष्टेन युज्यस्व।

राजा—अपि निर्विघ्नतपसो मुनयः।

ऋषयः—

कुतो धर्मक्रियाविघ्नः सतां रक्षितरि त्वयि।

तमस्तपति धर्माशौ कथमाविर्भविष्यति॥ 14॥

राजा—अर्थवान्खलु मे राजशब्दः। अथ भगवांल्लोकानुग्रहाय कृशली कण्वः।

प्रतिहारी—महाराज! मैं भी यही जानने को उतावली हो रही हूँ पर ठीक-ठीक समझ नहीं पा रही हूँ। फिर भी लगता है कि यह है बड़ी ही सुन्दर।

राजा—हुआ करे। पराई स्त्री पर आँख नहीं डालनी चाहिए।

शकुन्तला—(हृदय पर हाथ रखकर मन ही मन) इस प्रकार काँपे क्यों जा रहे हो, मेरे हृदय! आर्यपुत्र के प्रेम का ध्यान करके धीरज तो धरो।

पुरोहित—(आगे बढ़कर) महाराज! इन तपस्वियों का ठीक विधि से आदर-सत्कार हो चुका है। ये अपने गुरुजी का कोई सन्देश लाए हैं, उसे देव सुन लें।

राजा—हाँ, हाँ, कहेँ आप लोग, मैं सुन रहा हूँ।

ऋषि लोग—(हाथ उठाकर) महाराज की जय हो।

राजा—मैं आप लोगों को प्रणाम करता हूँ।

ऋषि लोग—आपका मनोरथ पूरा हो।

राजा—कहिए, ऋषियों की तपस्या में कोई विघ्न तो नहीं डाल रहा है?

ऋषि लोग—जहाँ आप जैसे राजा पृथ्वी की रक्षा कर रहे हों वहाँ सज्जनों के धर्म-कार्यों में क्या किसी को विघ्न डालने का साहस हो सकता है? सूर्य की चमक के सामने भला कहीं अँधेरा टिक पाया करता है॥ 14॥

राजा—आज मेरा राजा कहलाना सफल हो गया। अच्छा, यह तो बताइए कि संसार का कल्याण करने वाले भगवान् कण्व तो कुशल से हैं न!

ऋषयः—स्वाधीन कुशलाः सिद्धिमन्तः। स भवन्तमनामयप्रश्न-पूर्वकमिदमाह।

राजा—किमाज्ञापयति भगवान्।

शार्ङ्गरवः यन्मिथः समयादिमां मदीयां दुहितरं भवानुपायैस्त तन्मया प्रीतिमता युवयोरनुज्ञातम्, कुतः।

त्वमर्हतां प्राग्रसरः स्मृतोऽसि नः शकुन्तला मूर्तिमती च सत्क्रिया।

समानयैस्तुल्यगुणं वधूवरं चिरस्य वाच्यं न गतः प्रजापतिः॥ 15॥

तदिदानीमापन्नसत्त्वेयं प्रतिगृह्यतां सहधर्मचरणायेति।

गौतमी—अज्ज! किपि वत्तकामम्हि। ण मे वअणावसरो अत्थि। कहंति।

णावेक्खिओ गुरुअणो इमाए तुए पुच्छिओ ण बन्धुअणो।

एक्कक्कमेव चरिए भणामि कि एक्कमेक्कस्स॥ 16॥

(आर्य! किमपि वक्तुकामाऽस्मि। न मे वचनावसरोऽस्ति। कथमिति।

नापेक्षितो गुरुजनोऽनया। त्वया पृष्टो न बन्धुजनः।

एकैकमेव चरिते भणामि किमेकमेकस्य॥)

शकुन्तला—(आत्मगतम्) कि णु क्खु अज्जउत्तो भणादि। (कि नु खल्वार्यपुत्रो भणति।)

राजा—किमिदमुपन्यस्तम्।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) पावओ क्खु वअणोवण्णासो। (पावकः खलु वचनोपन्यासः।)

शार्ङ्गरवः—कथमिदं नाम भवन्त एवं सुतरां लोकवृत्तान्तनिष्णाताः।

ऋषि लोग—कुशलता तो ऐसे सिद्ध पुरुषों के हाथ में ही बसी रहती है। उन्होंने आपका कुशल पूछते हुए यह कहलाया है—

राजा—हाँ, भगवान कण्व ने क्या आज्ञा दी है?

शार्ङ्गरव—उन्होंने कहलाया है कि आपने जो मेरी कन्या से गुपचुप विवाह कर लिया है उसे मैं प्रसन्न होकर स्वीकार करता हूँ। क्योंकि—आदरणीय व्यक्तियों में आप सबसे प्रधान हैं और इधर शकुन्तला भी पुण्यक्रिया की साक्षात् मूर्ति है। आज बहुत दिनों पर ब्रह्मा ने एक-जैसे गुणवाले वर-वधू की जोड़ी रचकर अपने को दोषी कहलाने से बचा लिया है॥ 15॥

अब आप इस गर्भवती को अपनी धर्मपत्नी बनाकर ग्रहण कर लीजिए।

गौतमी—आर्य! मैं भी कुछ कहना चाहती हूँ यद्यपि मुझे आप लोगों के बीच में कुछ भी बोलना तो नहीं चाहिए क्योंकि—न तो इसी ने अपने बड़ों से कुछ पूछा-ताछा, न आपने ही इसके सगे सम्बन्धियों से कोई बातचीत की। इसलिये जब आप लोगों ने आपस में ही सब कुछ कर डाला है तब मैं आप दोनों से भला कहूँ भी तो क्या कहूँ॥ 16॥

शकुन्तला—(मन ही मन) देखें, इस बात पर आर्यपुत्र क्या कहते हैं?

राजा—आप लोग यह सब कह क्या रहे हैं?

शकुन्तला—(मन ही मन) इन्होंने बात का आरम्भ क्या किया है कि आग उगल दी है।

शार्ङ्गरव—आप तो लोकाचार की सब बातें जानते ही हैं फिर ऐसा क्यों कह रहे हैं। जो सुहागिन

सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते ।

अतः समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः ॥ 17 ॥

राजा—किं चात्रभवती मया परिणीतपूर्वा ।

शकुन्तला—(सविषादम् । आत्मगतम्) हिअअ! संपदं दे आसङ्का । (हृदय! सांप्रतं ते आशङ्का ।)

शार्ङ्गरवः—

किं कृतकार्यद्वेषो धर्म प्रति विमुखता कृतावज्ञा ।

राजा—कृतोऽयमसत्कल्पनाप्रश्नः ।

शार्ङ्गरवः—

मूर्च्छन्त्यमी विकाराः प्रायेणैश्वर्यमत्तेषु ॥ 18 ॥

राजा—विशेषेणाधिक्षिप्तोऽस्मि ।

गौतमी—जादे! मुहुत्तं मा लज्ज । अवणइस्सं दाव दे ओउण्ठण । तदो तुमं भट्ठा अहिजाणिस्सदि । (जाते मुहर्त मा लज्जस्व । अपनेष्यामि तावत्तेऽवगुण्ठनम् । ततस्त्वां भर्ताऽभि—ज्ञास्यति ।) (इति यथोक्तं करोति ।)

राजा—(शकुन्तलां निर्वर्ण्य आत्मगतम्)

इदमुपनतमेवं रूपमकिलष्टकान्ति प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न वेत्यव्यवस्यन् ।

भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषारं न च खलु परिभोक्तुं नैव शवनोभि हातुम् ॥ 19 ॥

(इति विचारयन्स्थितः ।)

स्त्री अपने पिता के घर रहती है वह चाहे कितनी भी पतिव्रता हो फिर भी उसके सम्बन्ध में लोग बड़ी उलटी-सीधी बातें उड़ा दिया करते हैं । इसलिये कोई युवती चाहे सबकी दुलारी ही क्यों न हो, पर उसके भाई-बन्धु लोग तो यही चाहते हैं कि वह अपने पति के पास ही रहे ॥ 17 ॥

राजा—क्या इस देवी से कभी पहले मेरा विवाह हो चुका है?

शकुन्तला—(दुखी होकर, मन ही मन) हृदय! तुम्हें जो खटका हो रहा था वह आगे आया जा रहा है ।

शार्ङ्गरव—यह बताइए कि आपको अपने किए पर पछतावा हो रहा है, या आप अपने कर्तव्य से भाग रहे हैं या जान-बूझकर अपने किए हुए को भुला देना चाह रहे हैं?

राजा—आपने यह कहाँ की बेसिर-पैर की बातें छेड़ दी हैं?

शार्ङ्गरव—(क्रोध से) जो ऐश्वर्य से मतवाले हो जाया करते हैं वे ऐसे ही खोटे काम किया करते हैं ॥ 18 ॥

राजा—मुझे तो आप लोगों ने बड़े फेर में डाल दिया है ।

गौतमी—वस्ते! थोड़ी देर के लिये लाज-संकोच छोड़ दो । आओ, मैं तुम्हारा घूँघट उठाए देती हूँ, तब तुम्हारे पति तुम्हें पहचान लेंगे । (घूँघट हटा देती है ।)

राजा—(शकुन्तला को ध्यान से देखकर मन ही मन) मैं ठीक-ठीक निश्चय ही नहीं कर पा रहा हूँ कि यह जो अत्यन्त सुन्दरी यहाँ अपने आप आ पहुँची है, इसके साथ मैंने पहले कभी विवाह किया भी है या नहीं । और इसीलिये, जैसे प्रातःकाल की ओस पड़े हुए कुन्द के फूल पर भौरा न तो बैठता ही है न उसे छोड़कर ही जाता है, वैसे ही मैं भी, न तो इसे ग्रहण ही कर पा रहा हूँ न छोड़ ही पा रहा हूँ ॥ 19 ॥

(राजा सोचता रह जाता है ।)

प्रतिहारी—(स्वगतम्) अहो धम्मावेक्खिआ भट्टिणो। ईदिसं णाम सुहोवणदं रूवं देक्खिअ को अण्णो विआरेदि। (अहो धमविक्षिता भर्तुः। ईदृशं नाम सुखोपनतं रूपं दृष्ट्वा कोऽन्यो विचारयति।)

शार्ङ्गरवः—भो राजन्! किमिति जोषमास्यते।

राजा—भोस्तपोधनाः चिन्तयन्पि न खलु स्वीकरणमत्रभवत्याः स्मरामि। तत्कथमिमामभिव्यक्तसत्त्वलक्षणां प्रत्यात्मानं क्षेत्रिणमाशङ्कमानः प्रतिपत्ये।

शकुन्तला—(अपवार्य) अज्जस्स परिणए एव्व सदेहो। कुदो दाणिं मे दूरादिरोहिणी आसा। (आर्यस्य परिणय एव सदेहः। कुत इदानीं मे दूराधिरोहिण्याशा।)

शार्ङ्गरवः—मा तावत्-

कृताभिमर्शमनुमन्यमानः सुतां त्वया नाम मुनिविमान्यः।

मुष्टं प्रतिग्राहयता स्वमर्थं पात्रीकृतो दस्युरिवासि येन॥ 20॥

शारद्वतः—शार्ङ्गरव! विरम त्वमिदानीम्। शकुन्तले! वक्तव्यमुक्तमस्माभिः। सोऽयमत्र भवानेवमाह। दीयतामस्मै प्रत्ययप्रतिवचनम्।

शकुन्तला—(अपवार्य) इमं अवत्थन्तरं गदे तारिसे अणुराए किं वा सुमराविदेण। अता दाणि मे सोअणीओ त्ति ववसिदं एदं। (प्रकाशम्) अज्जउत्त! (इत्यर्धोक्ते) संसइदे दाणि ण एसो समुदाआरो। पोरव ण जुत्तं णाम दे तह पुरा अस्समपदे सहावुत्ताणहिअअं इमं जणं समअपुव्वं पतारिअ ईदिसेहिं अक्खरोहिं

प्रतीहारी—(मन ही मन) हमारे महाराज धर्म का कितना ध्यान रखते हैं। नहीं तो, अपने आप आए हुए ऐसे रूप को पाकर भला कौन इतना आगा-पीछा सोचेगा!

शार्ङ्गरव—क्यों महाराज! आप चुप क्यों हो गए?

राजा—तपस्वियों! बार-बार स्मरण करने पर भी इस देवी के साथ विवाह करने की बात मुझे स्मरण ही नहीं हो पा रही है, तब बताइए कि इस गर्भवती के स्पष्ट लक्षणों वाली देवी को स्वीकार करके दूसरे से गर्भ धारण करने वाली स्त्री का पति कहलाने का अपजस मैं कैसे ले सकता हूँ?

शकुन्तला—(अलग) आर्यपुत्र को जब विवाह में ही सन्देह हो रहा है तब मैंने जो और भी बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँध रखी थीं उनका तो फिर ठिकाना ही कहाँ रह जाता है।

शार्ङ्गरव—हाँ-हाँ, मत करो स्वीकार। तुमको ऋषि का अपमान करना ही चाहिए क्योंकि उन्होंने तुम्हारे साथ यह भलमनसाहत की है न, कि उनकी जिस कन्या को तुमने छल से दूषित कर दिया है उसे वे तुम्हें योग्य पात्र समझकर उसी प्रकार सौंप रहे हैं जैसे कोई अपनी चोरी गई हुई वस्तु मिलने पर फिर चोर को ही लौटा दे॥ 20॥

शारद्वत—अच्छा शार्ङ्गरव! अब तुम चुप हो जाओ। (शकुन्तला से) देखो शकुन्तला! हमें जो कुछ कहना था, कह चुके। इधर राजा भी ऐसी बातें कर रहे हैं। अब तुम्हीं इन्हें विश्वास दिलाओ।

शकुन्तला—(मन ही मन) जब बात यहाँ तक बढ़ चुकी है तब मैं उस प्रेम की सुध दिलाकर ही क्या करूँगी। अब तो मुझे अपने भाग्य को कोसना भर ही रह गया है। (प्रकट) आर्यपुत्र! (आधा कहकर रुक जाती है।) पर जब इन्हें विवाह में ही सन्देह हो रहा है तब इस प्रकार सम्बोधन करना भी ठीक

पच्चाचक्खिदुं। (इदमवस्थान्तरं गते तादृशेऽनुरागे किं वा स्मारितेन। आत्मेदानीं मे शोचनीय इति व्यवसितमेतत्। आर्यपुत्र! संशयित इदानीं नैषु समुदाचारः पौरव! न युक्तं नाम ते तथा पुराऽऽश्रमपदे स्वभावोत्तान हृदयमिमं जनं समयपूर्वं प्रतार्येदृशैरक्षरैः प्रत्याख्यातुम्।)

राजा—(कर्णो पिधाय) शान्तं पापम्।

व्यपदेशमाविलयितुं किमीहसे जनमिमं च पातयितुम्।

कूलकषेव सिन्धुः प्रसन्नमम्भस्तटतरुं च ॥ 21 ॥

शकुन्तला—होदु! जइ परमत्थतो परपरिग्गहसङ्किणा तुए एव्वं वत्तु पउत्तं ता अहिण्णाणेण इमिणा तुह आसकं अवणइस्सं। (भवतु! यदि परमार्थतः परपरिग्रहसङ्किणा त्वयैव वक्तुं तदभिज्ञानेनानेन तवाशंकामपनेष्यामि।)

राजा—उदारः कल्पः।

शकुन्तला—(मुद्रास्थानं परामृश्य।) हद्धी अंगलीअसुण्ण मे अंगुली।

(हा धिक् हा धिक् अंगुलीयकशून्या मेऽगुलिः।) (इति सविषादं गौतमीमवेक्षते।)

गौतमी-पूर्णं दे सक्कावदारब्धन्तरे सचीतित्थसलिलं वन्दमाणाए पब्भाट्ठं अंगुलीअअं। (नूनं ते शक्रावताराभ्यन्तरे शचीतीर्थसलिलं वन्दमानायाः प्रभ्रष्टमंगुलीयकम्।)

राजा—(सस्मितम्) इदं तत्प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणमिति यदुच्यते।

शकुन्तला—एत्थ दाव विहिणा दंसिदं पढुत्तणं। अवरं दे कहिस्सं। (तत्र तावद्विधिना दर्शितं प्रभुत्वम्। अपरं ते कथयिष्यामि।)

नहीं है। पौरव! मुझ भोली-भाली को आश्रम में अपनी मीठी-मीठी बातों के जाल में फाँसकर अब इस प्रकार मेरा निरादर करना आपको शोभा नहीं देता।

राजा—(कान मूँदकर) शिव! शिव! ऐसी बुरी बात मुँह से न निकालो। अपने स्वच्छ जलको गँदला करने के लिये तीरपर खड़े वृक्ष को ढाहने और तट को बहा ले जाने वाली नदी के समान आप अपना भी कुल क्यों कलंकित करना चाहती हो और मुझे भी क्यों विनाश की ओर ले जाना चाहती हो॥ 21 ॥

शकुन्तला—अच्छा, यदि आप सचमुच मुझे पराई स्त्री समझे बैठे हैं तो आपका सन्देह दूर करने के लिये यह पहचान दिखाती हूँ।

राजा—हाँ, ठीक है। दिखाइए।

शकुन्तला—(उँगली टटोलकर) हाय हाय, मेरी उँगली से अँगूठी कहाँ निकल गई?

(रुआँसी-सी होकर गौतमी की ओर देखती है।)

गौतमी—जान पड़ता है शक्रावतार में शचीतीर्थ के जल को प्रणाम करते समय तुम्हारी अँगूठी निकल गई होगी।

राजा—(मुस्कराकर) इसी को कहते हैं स्त्रियों की तुरत-बुद्धि।

शकुन्तला—यहाँ भी मेरे दुर्भाग्यने मेरा पीछा न छोड़ा। अच्छा, मैं दूसरी बात भी बताती हूँ।

राजा—श्रोतव्यमिदानीं संवृतम्।

शकुन्तला—णं एकस्मिन् दिने गेमालिआमण्डवे णलिणीपत्तभाअणगअं उअअं तुह हत्थे सण्हिदं आसि। (नन्वेकस्मिन्दिवसे नवमालिकामण्डपे नलिनीपत्रभाजनगतमुदकं तव हस्ते संनिहितमासीत्।)

राजा—शृणुमस्तावत्।

शकुन्तला—तक्खणं सो मे पुत्तकिदओ दीहापङ्गो णाम मिअपोदओ उवट्ठिओ। तुए अअं दाव पढमं पिअउ त्ति अणुअम्पिणा उवच्छन्दिदो उअएण। ण उण दे अपरि-चआदो हत्थम्भासं उवगदो। पच्छा तस्सि एव्व मए गहिदे सलिलेणेण किदो पणओ। तदा तुमं इत्थं पहसिदो सि। सव्वो सगन्धेसु विस्ससिदि। दुवेवि एत्थ आरण्णात्ति।

(तत्क्षणं स मे पुत्रकृतको दीर्घापाङ्गो ना मृगपोतक उपस्थितः। त्वया अयं तावत्प्रथमं पिवत्वित्य—नुकम्पिनोपच्छन्दित उदकेन। न पुनस्ते अपरिचयाद्धस्ताभ्यासमुपगतः। पश्चात्तस्मिन्नेव मया गृहीते सलिलेऽनेन कृतः प्रणयः। तदा त्वमित्थं प्रहसितोऽसि। सर्वः सगन्धेषु विश्वसिति। द्वावप्यत्रारण्य-काविति।)

राजा-एवमादिभिरात्मकार्यनिर्वर्तिनीनामनृतमयवाङ्मधुभिराकृष्यन्ते विषयिणः।

गौतमी—महाभाअ! ण अरुहसि एव्वं मन्तिदुं। तवोवणसंवड्ढिदो अणभिण्णो अअं जणो कइदवस्स। (महाभाग! नार्हस्येवं मन्त्रयितुम्। तपोवनसंवर्धितोऽनभिज्ञोऽयं जनः कैतवस्य।)

राजा—तापसवृद्धे।

स्त्रीणामशिक्षितपदुत्वममानुषीषु संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः।

प्रागन्तरिक्षगमनात्स्वमपत्यजातमन्यैर्द्विजैः पर भृताः खलु पोषयन्ति॥ 22॥

राजा—अच्छा, अब सुनानेपर उतर आई हो?

शकुन्तला—आपको स्मरण होगा कि एक दिन आप नवमालिका के कुञ्ज में अपने हाथ में पानी से भरा कमल के पत्ते का दोना लिए हुए थे।

राजा—कहती चलिए! मैं सब सुन रहा हूँ।

शकुन्तला—इतने में ही वहाँ मेरा पुत्र के समान पाला हुआ दीर्घापाङ्ग नाम का मृग-छैना भी आ पहुँचा। आपने उस पर दया करके कहा-पहले इसे जल पी लेने दो। यह कह कवआप उसे जल पिलाने लगे। पर परिचित न होने के कारण वह आपके पास गया तक नहीं। तब मैंने आपके हाथ से दोना ले लिया और वह मेरे हाथ से गटागट जल पीने लगा। उस समय आपने हँसकर कहा था कि अपने सगे-सम्बन्धियों को सभी पहचानते हैं। तुम दोनों ही वनवासी हो न!

राजा—अपना काम साधने वाली स्त्रियों की ऐसी झूठी और मीठी-मीठी बातों में कामी लोग ही फँसते हैं। समझी!

गौतमी—महाभाग! आपको ऐसी बातें नहीं कहनी चाहिए। तपोवन में पली हुई कन्या भला छल-बल की बातें क्या जाने!

राजा—बूढ़ी तपस्विनी जी! जो मानवी स्त्रियाँ नहीं हैं वे भी बिना सिखाए-पढ़ाए बड़ी चतुर हो जाती हैं फिर इन समझवाली स्त्रियों का तो पूछना ही क्या। जानती हो! जब तक कोयलियों के बच्चे उड़ना नहीं सीख जाते तब तक वे दूसरे पक्षियों से ही उनका पालन कराती रहती है॥ 22॥

शकुन्तला—(सरोषम्) अणज्ज! अतणो हिअआणुमाणेण पेक्खसि। को दाणिं अण्णो धम्मकंचुअप्पवेसिणो तिणच्छण्णकूवोवमस्स तव अणुकिदिं पडिवदिस्सदि। (अनार्य! आत्मनो हृदयानुमानेन प्रेक्षसे। क इदानीमन्यो धर्मकञ्चुकप्रवेशिनस्तृणच्छन्नकूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रतिपत्स्यते।)

राजा—(आत्मगतम्) संदिग्धबुद्धिं मां कुर्वन्नकैतव इवास्याः कोपो लक्ष्यते। तथा ह्यनया-

मय्येव विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ वृत्तं रहाः प्रणयमप्रतिपद्यमाने।

भेदाद्भ्रुवो कुटिलयोरतिलोहिताक्ष्या भग्नं शरासनमिवातिरुषा स्मरस्य ॥ 23 ॥

(प्रकाशम्)—भद्रे! प्रथितं दुष्यन्तस्य चरितम्। तथापीदं न लक्ष्ये।

शकुन्तला—सुदु दाव अत्त सच्छन्दचारिणी किदम्हि जा अहं इमस्स पुरुवंसप्प-च्चएणमुहमहुणो हिअअट्ठिअविसस्स हत्थब्भासं उवगदा। (सुष्ठु तावदत्र स्वच्छन्दचारिणी कृताऽस्मि याऽहमस्य पुरुवंशप्रत्ययेन मुखमधोर्हं दयस्थितविषस्य हस्ताभ्याशमुपगता। (इति पटान्तेन मुखमावृत्य रोदिति।)

शार्ङ्गरवः—इत्यमात्मकृतं प्रतिहतं चापलं दहति।

अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्संगतं रहः।

अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम् ॥ 24 ॥

राजा-अयि भौः! किमत्रभवतीप्रत्ययादेवास्मान्संवृततदोषाक्षरेण क्षिणुथ।

शार्ङ्गरवः—(सासूयम्) श्रुतं भवद्भिरधरोत्तरम्।

शकुन्तला—(क्रोध से) अनार्य तुम सबके हृदय को अपने ही हृदय के समान खोटा समझते हो! तुम्हें छोड़कर और कौन ऐसा नीच होगा जो घास-फूस से ढँके हुए अंधे कुएँ के समान धर्म का ढोंग रचकर ऐसा खोटा काम कर सके।

राजा—(मन ही मन) इसके क्रोध में तो सच्चाई दिखाई पड़ रही है, इसलिये मेरा मन और भी सन्देह में पड़ता जा रहा है। ठीक स्मरण न आने से अकेले में किए हुए प्रेम को जो मैंने इतनी कठोरता से अस्वीकार कर दिया है, उसपर लाल-लाल आँखें करके अत्यन्त क्रोध से शकुन्तला ने जो भौंहे चढ़ा ली हैं उन्होंने इस समय कामदेव के धनुष को भी दो टूक कर डाला है ॥ 23 ॥ (प्रकट) भद्रे! दुष्यन्त के स्वभाव को सारा संसार जानता है। पर ऐसी बात तो आजतक नहीं सुनी गई।

शकुन्तला—तुमने ठीक ही किया जो मुझे कुचाली स्त्री बना डाला, क्योंकि ऊँचे कुल के धोखे में आकर ऐसे नीच के हाथ में जा पड़ी जिसके मुँह में मधु और हृदय में विष भरा हुआ है। (आँचल से मुँह ढँककर रोने लगती हैं।)

शार्ङ्गरव—बिना सोचे-समझे जो काम किया जाता है उसमें ऐसा ही दुःख मिला करता है। इसलिये गुप्त प्रेम बहुत सोच-विचार कर करना चाहिए क्योंकि बिना जाने-बूझे स्वभाव वाले के साथ जो मित्रता की जाती है वह एक न एक दिन शत्रुता बनकर रहती ही है ॥ 24 ॥

राजा—सुनिए तो! इस देवी की बात का विश्वास करके आप उलटी-सीधी बातें कह कहकर हमपर दोष क्यों लगाए जा रहे हैं?

शार्ङ्गरव—(अपने साथियों से क्रोध से) आपने सुनी इनकी उलटी बातें! जिसने जन्म से लेकर अबतक छल का नाम भी सुना हो, उसकी बातें झूठ समझी जायँ और जिन्होंने दूसरों को धोखा देने की

आजन्मनः शाठ्यमशिक्षितो यस्तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य ।

परातिसंधानमधीयते यैर्विधेति ते सन्तु किलाप्तवाचः ॥ 25 ॥

राजा—भौः सत्यवादिन्! अभ्युपगतं तावदस्माभिरेवम् । किं पुनरिमामतिसंधाय लभ्यते ।

शार्ङ्गरवः—विनिपातः ।

राजा—विनिपातः पौरवैः प्रार्थयत इति न श्रद्धेयम् ।

शारद्वतः—शार्ङ्गरव! किमुत्तरेण । अनुष्ठितो गुरोः संदेशः । प्रतिनिवर्तमहे वयम् (राजानं प्रति)–

तदेषा भवतः कान्ता त्यज वानां गृहाण वा ।

उपपन्न हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ॥ 26 ॥

गौतमि! गच्छाग्रतः ।

(इति प्रस्थिताः)

शकुन्तला—कहं इमिणा किदवेण विप्पलद्धम्हि । तुम्हे वि मं परिच्चअह । (कथमनेन कितवेन विप्रलब्धाऽस्मि । यूयमपि मां परित्यजथ ।) (इत्यनुप्रतिष्ठते ।)

गौतमी—(स्थित्वा) वच्छ सङ्गरव अणुगच्छदि इअं क्खु णो करुणपरिदेविणी सउन्दला । पच्चादेसपरुसे भत्तुणि किं वा मे पुत्तिआ करेदु । (वत्स शार्ङ्गरव! अनुगच्छतीयं खलुनः करुणपरिदेविनी शकुन्तला । प्रत्यादेशपरुषे भर्तरि किं वा मे पुत्रिका करोतु ।)

शार्ङ्गरवः—(सरोषं निवृत्य) किं पुरोभागे स्वातन्त्र्यमवलम्बसे ।

(शकुन्तला भीता वेपते ।)

चालें विद्या के समान सीखी हों, वे सत्यवादी समझे जायें ॥ 25 ॥

राजा—अच्छा सत्यवादी जी! मान लीजिए हम ऐसे ही हैं । पर यह तो बताइए कि इसे छलकर हमें मिल क्या जायगा?

शार्ङ्गरव—पतन, विनाश ।

राजा—मैं नहीं मानता कि पुरुवंशी को पतन की ओर जाना चाहिए ।

शारद्वत—शार्ङ्गरव! इस कहा-सुनी से लाभ क्या है? गुरु जी का सन्देश हम इन्हें दे ही चुके । चलो, अब लौट चला जाय । (राजा से) राजन्! यह आपकी पत्नी है । इसे चाहे रखिए, चाहे निकालिए । क्योंकि पति का तो अपनी स्त्रियों पर पूरा अधिकार होता ही है ॥ 26 ॥

चलो गौतमी, चलो आगे-आगे । (चलते हैं ।)

शकुन्तला—इस धूर्त ने तो मुझे छला ही है; अब क्या आप लोग भी मुझे छोड़कर चले जा रहे हैं? (उनके पीछे-पीछे जाती है ।)

गौतमी—(खड़ी होकर) वत्स शार्ङ्गरव! यह शकुन्तला रोती हुई हम लोगों के पीछे-पीछे चली आ रही है । बताओ, अब ऐसे निर्दयी से ठुकराई हुई मेरी बच्ची भला कहाँ जाय?

शार्ङ्गरव—(क्रोध से लौटकर) क्योंरी दुष्टे! क्या तू अपनी मनमानी करना चाहती है ।

(शकुन्तला भय से काँप उठती है ।)

शार्ङ्गरवः—शकुन्तले ।

यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा त्वमसि किं पितुरुत्कुलया ।

अथ तु वेत्सि शुचिचित्रमात्मनः पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम् ।। 27 ।।

तिष्ठ । साधयामो वयम् ।

राजा—भोस्तपस्विन् ! किमत्रभवतीं विप्रलभसे ।

कुमुदान्येव शशाङ्कः सविता बोधयति पङ्कजान्येव ।

वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः ।। 28 ।।

शार्ङ्गरवः—यदा तु पूर्ववृत्तमन्यसङ्गाद्विस्मृतो भवांस्तदा कथमधर्मभीरुः ।

राजा—भवन्तमेवात्र गुरुलाघवं पृच्छामि ।

मूढः स्यामहमेषा वा वदेन्मिथ्येति संशये ।

दारत्यागी भवाम्याहो परस्त्रीस्पर्शपांसुलः ।। 29 ।।

पुरोहितः—(विचार्य) यदि तावदेवं क्रियताम् ।

राजा—अनुशास्तु मां भवान् ।

पुरोहितः—अत्रभवती तावदाप्रसवादस्मद्गृहे तिष्ठतु । कुत इदमुच्यत इति चेत् । त्वं साधुभिरुद्दिष्टः प्रथममेव चक्रवर्तिनं पुत्रं जनयिष्यसीति । स चेन्मुनिदौहिवस्तल्लक्षणो पपन्नो भविष्यति अभिनन्द्य शुद्धान्तमेनां

शार्ङ्गरव—सुन शकुन्तला ! यदि राजा की सत्य है, तो तुझ जैसी कुल-कलंकिनी का पिता के घर भी कोई काम नहीं है और यदि तू अपने को पवित्र समझती है तो तुझे दासी बनकर भी अपने पति के घर में ही रहना चाहिए ।। 27 ।।

बस यहीं रह; हम जाते हैं ।

राजा—तपस्वी ! आप इसे क्यों झूठ-मूठ धोखे में डाले दे रहे हैं—क्योंकि जैसे चन्द्रमा केवल कुमुदों को और सूर्य केवल कमलों को ही खिलाता है वैसे ही जितेन्द्रिय लोग भी पराई स्त्री को छूने तक की इच्छा नहीं करते ।। 28 ।।

शार्ङ्गरव—जब तुम अपनी दूसरी रानियों के पास आकर अपनी पिछली बात भूल सकते हो तब तुम्हें अधर्म से क्या डर है ।

राजा—(पुरोहित से) अब मैं आपसे ही पूछता हूँ कि ऐसी दुविधा में मैं क्या करूँ क्योंकि या तो मैं भूल गया हूँ या ये झूठ कह रही हैं । अब मैं अपनी पत्नी को छोड़ने का पाप करूँ या पराई स्त्री को छूने का पाप सिरपर लूँ ।। 29 ।।

पुरोहित—(सोचकर) जब ऐसी दुविधा है तो आप एक काम कीजिए ।

राजा—हाँ, हाँ, बतलाइए ।

पुरोहित—पुत्र उत्पन्न होने के समय तक ये मेरे घरपर रहें । आप पूछें क्यों ? तो इसलिये कि आप को ऋषियों ने पहले ही आशीर्वाद दे दिया है कि आपके चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न होगा । यदि कण्व मुनि के नाती में चक्रवर्ती के लक्षण मिल जायें तब तो इन्हें आदर के साथ रनिवास में रख लीजिएगा और

प्रवेशयिष्यसि। विपर्यये तु पितुरस्याः समीपं नयनमवस्थितमेव।

राजा—यथा गुरुभ्यो रोचते।

पुरोहितः—वत्से! अनुगच्छ मास।

शकुन्तला—भगवदि वसुधे! देहि मे विवरं। (भगवति वसुधे! देहि मे विवरम्) (इति रुदती प्रस्थिता। निष्क्रान्ता सह पुरोधसा तपस्विभिश्च।)

(राजा शापव्यवहितस्मृतिः शकुन्तलागतमेव चिन्तयति।)

(नेपथ्ये) आश्चर्यम्।

राजा—(आकर्ण्य) किं नु खलु स्यात्।

(प्रविश्य)

पुरोहितः—(सविस्मयम्) देव! अद्भुतं खलु संवृत्तम्।

राजा—किमिव।

पुरोहितः—देव! परावृत्तेषु कण्वशिष्येषु-

सा निन्दन्ती स्वानि भाग्यानि बाला बाहूत्क्षेपं क्रन्दितुं च प्रवृत्ता।

राजा—किं च।

पुरोहितः-

स्त्रीसंस्थानं चाप्सरस्तीर्थमारारुक्षिष्यैनां ज्योतिरेकं जगाम॥ ३०॥

यदि लक्षणं न मिले तो इन्हें इनके पिता के पास भेज दिया जायगा।

राजा—जैसा गुरुजी ठीक समझें।

पुरोहित—वत्से! आजो मेरे साथ चली आओ।

शकुन्तला—भगवती वसुधरे! तू फट जा और मुझे गोदमें ले ले। (रोती हुई शकुन्तला पुरोहित और ऋषियों के पीछे चली जाती हैं।)

(शाप के कारण भूला हुआ राजा शकुन्तला के सम्बन्ध में विचार करता है।)

(नेपथ्य में) आश्चर्य है! आश्चर्य है!

राजा—(सुनते हुए) अरे, क्या हुआ!

(पुरोहित का प्रवेश।)

पुरोहित—(आश्चर्य से) महाराज, बड़े आश्चर्य की बात हो गई है।

राजा—क्या हुआ?

पुरोहित—महाराज! कण्व के शिष्यों के चले जाने पर वह ऋषिकन्या, ज्यों ही अपने भाग्य को कोसती हुई बाँहें पसार कर रोने लगी-

राजा—तब क्या हुआ?

पुरोहित—त्यों ही स्त्री के जैसी एक ज्योति आई और अप्सरातीर्थ की ओर उसे अपनी गोद में उठाए लिए चली गई॥ ३०॥

(सर्वे विस्मयं रूपयन्ति ।)

राजा—भगवन्! प्रागपि सोऽस्माभिरर्थः प्रत्यादिष्ट एवं । किं वृथा तर्केणान्विष्यते । विश्राम्यतु भवान् ।

पुरोहितः—(विलोक्य) विजयस्व । (इति निष्क्रान्तः)

राजा—वेत्रवति! पर्याकुलोऽस्मि । शयनभूमिमार्गमादेशय ।

प्रतिहारी—इदो इदो देवो । (इत इतो देवः) (इति प्रस्थिता ।)

राजा—

कामं प्रत्यादिष्टां स्मरामि न परिग्रहं मुनेस्तनयाम् ।

बलवन्तु दूयमानं प्रत्याययतीव मे हृदयम् ॥ ३१ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति पञ्चमोऽङ्कः ।



(सब आश्चर्य प्रकट करते हैं ।)

राजा—हमने तो उसे पहले ही छोड़ दिया है फिर उस पर व्यर्थ सोचने-विचारने से क्या लाभ? अब आप भी जाकर विश्राम करें ।

पुरोहित—(दिखकर) महाराज की जय हो । (जाता है ।)

राजा—वेत्रवती! मैं कुछ अनमना-सा हो चला हूँ । मुझे शयनघर में तो पहुँचा दो ।

प्रतीहारी—इधर से आइए महाराज, इधर से । (चलती है ।)

राजा—यद्यपि विवाह की सुध न होने से मैंने उसका अत्यन्त तिरस्कार तो कर दिया है फिर भी मेरा अत्यन्त कसकता हुआ हृदय न जाने क्यों रह-रहकर उसकी बातों में विश्वास करने को मचले चला जा रहा है ॥ ३१ ॥

(सब चले जाते हैं ।)

पाँचवाँ अंक पूर्ण ।



षष्ठोऽङ्कः

(ततः प्रविशति नागरिकः श्यालः पश्चाद्वद्धं पुरुषमादाय रक्षिणौ च ।)

रक्षिणौ—(ताडयित्वा) अले कुम्भीलआ! कहेहि कहिं तुए एशे मणिबन्धबन्धणुविकण्णणामहेए लाअकीए अंगुलीअए शमाशादिए। (अरे कुम्भीरक! कथय कुत्र त्वयैतन्मणिबन्धनोत्कीर्णनामधेयं राजकीयमंगुलीयकं समासादितम् ।)

पुरुषः—(भीतिनाटितकेन) पशीदन्तु भावमिश्रे। हगे ण ईदिशवम्मकाली।

(प्रसीदन्तु भावमिश्राः। अहं नेदृशकर्मचारी ।)

प्रथमः—किं शोहणे बम्हणोत्ति कलिअ रज्जा पडिग्गहे दिण्णे। (किं शोभनो ब्राह्मण इति कलयित्वा राज्ञा प्रतिग्रहो दत्तः ।)

पुरुषः—सुणुध दाणिं। हगे शक्कावदालब्धन्तरालवाशी धीवले। (शृणुतेदानीम्। अहं शक्रावताराभ्यन्तरालवासी धीवरः ।)

द्वितीयः—पाडच्चल! किं अम्हेहि जादी पुच्छिदा। (पाटच्चर! किमस्माभिर्जातिः पृष्टा ।)

श्यालः—सूअअ! कहेदु शव्वं अणुक्कमेण। मा णं अन्तरा पडिबंघह। (सूचक! कथयतु सर्वमनुक्रमेण। मैमन्तरा प्रतिबन्धय ।)

उभौ—ज आवुत्तो आणवेदि। कहेहि। (यदावुत आज्ञापयति। कथय ।)

पुरुषः—अहंके जालुग्गालादिहिं मच्छबन्धणोवाएहिं कुटुम्बभलण कलेमि। (अहं जालोद्गालादि-भिर्मत्स्यबन्धनोपायैः कुटुम्बभरणं करोमि ।)

छठा अङ्क

(राजा का साला नगर-रक्षक और उसके पीछे-पीछे दो रखवाले एक पुरुषको बाँधे हुए प्रवेश करते हैं ।)

दोनों—(बन्दी को पीटते हुए) बोल रे चोर! यह राजा के नाम वाली जड़ाऊ अँगूठी तुझे हाथ कहाँ से लगी?

पुरुष—(डरने का नाट्य करता हुआ) दया करो महाराज! मैं ऐसा काम कभी किया ही नहीं करता।

पहला—तो क्या तुझे कोई सुपात्र ब्राह्मण समझकर राजा ने यह दान में दे डाली है?

पुरुष—सुनिए तो सही! मैं शक्रावतार गाँव के पास रहने वाला एक मछुआ हूँ।

दूसरा—अरे चोर! हमने क्या तेरी जाति पूछी थी?

श्याल—सूचक! इसे सब बातें ठीक से कह तो लेने दो, बीच में मत टोको।

दोनों—जैसी आपकी आज्ञा। हाँ, बता रे!

पुरुष—मैं जाल, काँटिया और बंसी डालकर मछली फँसाया करता हूँ और उसी से अपने बाल-बच्चों का पेट पालता हूँ।

श्यालः—(विहस्य) विसुद्धो दाणिं आजीवो। (विशुद्ध इदानीमाजीवः।)

पुरुष—भट्टा! मा एव्यं भण।

शहजे किल जे विणिन्दिए ण हु दे कम्म विवज्जणीअए।

पशुमालणकम्मदालुणे अणुकंपामिदु एव्य शोत्तिए।।।।

(भर्तः! मैवम् भण।

सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्।

पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामदुरेव श्रोत्रियः।।)

श्यालः—तदो तदो (ततस्ततः।)

पुरुषः—एककश्चिद्विशेः खण्डशो लीहिअमच्छे मए कप्पिदे। जाव तश्श उदलब्धन्तले एदं लदणभाशुलं अंगुलीअअं देखिअ पच्छा अहके शे विक्कआअ दंशअन्ते गहीदे भावमिश्शेहिं। मालेहि वा मुज्जेहि वा। अअं शे आअमवुत्तन्ते। (एकस्मिन्दिवसे खण्डशो रोहितमत्स्यो मया कल्पितो यावत् तस्योदराभ्यन्तर इदं रत्नभासुरमङ्गुलीयकं दृष्ट्वा पश्चादहं तस्य विक्रयार्थं दर्शयन्गृहीतो भावमिश्रैः मारयत वा मुञ्चत वा। अयमस्यागमवृत्तान्तः।)

श्यालः—जाणुअ! विस्सगन्धी गोहादी मच्छबन्धो एव्य णिस्संसअ। अंगुलीअअ दंसणं शे विमरिसिदव्वं। राअउलं एव्य गच्छामो। (जानुक! विस्त्रगन्धी गोधादी मत्स्यबन्ध एव निसंशयम्। अङ्गुलीयकदर्शनमस्य विमर्शयितव्यम्। राजकुलमेव गच्छामः।।

रक्षिणौ—तह। गच्छ अले गण्डभेदअ। (तथा। गच्छ अरे गण्डभेदक।)

(सर्वे परिक्रामन्ति।)

श्याल—(हँसकर) बड़ा अच्छा काम ले रक्खा है।

पुरुष—ऐसा न कहिए, स्वामी!—जिस जाति को भगवान् ने जो बुरा-भला काम सौंप दिया है, वह छोड़ा थोड़े ही जाता है। देखिए पशुओं को मारना है तो बड़ा बुरा काम, पर बड़े-बड़े दयावान् और वेद जानने वाले ब्राह्मण भी यज्ञ के लिये पशुओं को मारते ही हैं।।।।

श्याल—अच्छा, अच्छा, आगे बता क्या हुआ?

पुरुष—एक दिन ज्यों ही मैं एक रोहू मछली काट रहा था त्यों ही उसमें यह जड़ाऊँ चमकीली अँगूठी दिखाई पड़ गई। उसे बेचने के लिये लाकर मैं दिखला ही रहा था कि आपने मुझे बाँध लिया। बस इतनी ही इस अँगूठी के मिलने की कथा है। अब चाहे आप मुझे मारिए, चाहे छोड़िए।

श्याल—जानुक! इसमें तो सन्देह नहीं कि यह गोह खाने वाला मछुआ ही है क्योंकि इसके शरीर से भी कच्चे माँस की दुर्गन्ध आ रही है। यह अँगूठी मिलने की बात बता रहा है उसकी चलकर ठीक जाँच कर लेनी चाहिए। इसलिये चलो, राजा के पास पहुँच चला जाय।

दोनों—बहुत अच्छा। चल रे गँठकटे! चल।

(सब घूमते हैं।)

श्यालः—सूअअ! इमं गोपुरदुआरे अप्पमत्ता पडिबालह जाव इमं अंगुलीअअं जहागमणं भट्टिणो गिवेदिअ तदो सासणं पडिच्छिअ णिक्कमामि । (सूचक! इमं गोपुर द्वारेऽप्रमत्तौ प्रतिमालयतं यावदिदमङ्गुलीयकं यथाऽऽगमनं भर्तुनिवेद्य ततः शासनं प्रतीक्ष्य निष्कयामि ।)

उभौ—पविशदु आवुत्ते शामिपशादशश । (प्रविशत्वावुत्तः स्वामिप्रसादाय ।)

(इति निष्क्रान्तः श्यालः ।)

प्रथमः—जाणुअ! चिलाअदि क्खु आवुत्ते । (जानुक! चिरायते खत्वावुत्तः ।)

द्वितीयः—णं अवशलोवशम्पणीआ लाआणो । (नन्ववसरोपसर्पणीया राजानः ।)

प्रथमः—जाणुअ! फुल्लन्ति मे हत्था इमशश वहस्स शुमणा पिणद्धुम् । (जानुक! प्रस्फुरतो मम हस्तावस्य वधस्य सुमनसः पिनद्धुम् ।) (इति पुरुषं निदिशति ।)

पुरुषः—ण अलुहदि भावे अकालणमालणं भविदुं । (नार्हति भावोऽकारणमारणो भवितुम् ।)

द्वितीयः—(विलोक्य) एशे अम्हाणं शामी पत्तहहत्थे लाअशाशणं पडिच्छिअ इदोमुहे देक्खीअदि । गिद्धवली भविशशशि, शुणो मुहं वा देक्खिशशशि । (एष नौ स्वामी पत्रहस्तो राजशासनं प्रतीक्ष्येतोमुखो दृश्यते । गृध्रबलिर्भविष्यसि शुनो मुखं वा द्रक्ष्यसि ।)

(प्रविश्य)

श्यालः—सूअअ! मुज्जेदु ऐसो जालोअजीवी । उववण्णो क्खु अंगुलीअअस्स आअमो । (सूचक! मुच्यतामेष जालोपजीवी । उत्तपन्नः खल्वङ्गुलीयकस्यागमः ।)

सूचकः जह आवुत्ते भणादि । (यथाऽऽवुत्तो भणति ।)

श्याल—सूचक! जब तक मैं महाराज को अँगूठी मिलने का समाचार सुनाकर और उनकी आज्ञा लेकर लौट न आऊँ तब तक तुम दोनों नगर के फाटक पर सँभालकर इसकी चौकसी करते रहना ।

दोनों—हाँ, हाँ, जाइए जाइए, स्वामी की कृपा पाइए ।

(श्याल जाता है ।)

पहला—जानुक! बड़ी देर लगा दी उन्होंने तो ।

दूसरा—अरे भाई! राजा के पास अवसर देखकर ही तो जाया जाता है ।

पहला—जानुक! इसे मारने के लिये लाल फूलों की माला पहनाने को मेरे हाथ बड़े खुजला रहे हैं । (मछुए की ओर संकेत करता है ।)

पुरुष—भाई, बिना बात के मुझे क्यों मार डालने पर उतारू हो रहे हो?

दूसरा—(देखकर) वह देखो! हमारे स्वामी हाथ में राजा का आज्ञा-पत्र लिए चले आ रहे हैं । अब या तो तू गिद्धों का भोजन बनेगा या कुत्तों से नोचा जायगा ।

(श्याल का प्रवेश)

श्याल—सूचक! छोड़ दो इस मछुए को । अँगूठी मिलने का ठीक विवरण मिल गया ।

सूचक—जैसी स्वामी की आज्ञा ।

द्वितीय—एशे जमशदणं पविशिअ पडिणिवृत्ते । (एष यमसदनं प्रविश्य प्रतिनिवृत्तः ।)

(इति पुरुषं परिमुक्तबन्धनं करोति ।)

पुरुषः—(श्यालं प्रणम्य) भट्टा! अह कीलिशे मे आजीवे । (भर्तः! अथ कीदृशो मे आजीवः ।)

श्यालः—एसो भट्टिणा अंगुली अमुल्लसम्मिदो पसादो वि दाविदो । (एष भर्ताङ्गुलीयकमूल्यसंमितः प्रसादोऽपि दापितः ।) (इति पुरुषाय स्वं प्रयच्छति ।)

पुरुषः—(सप्रणामं प्रतिगृह्य) भट्ट! अणुगहीदम्हि । (भर्तः! अनुगृहीतोऽस्मि ।)

सूचकः—एशे णाम अनुगहे जे शूलादो अवदालिअ हत्थिक्कन्धे पडिट्ठाविदे । (एष नामानुग्रहो यच्छूलादवतार्य हस्तिस्कन्धे प्रतिष्ठापितः ।)

जानुकः—आवुत्त! पलिदोशं कहेहि तेण अंगुलअएण भट्टिणो शम्मदेण होदव्वं । (आदुन परितोषं कथय तेनाङ्गुलीयकेन भर्तुः संमतेन भवितव्यम् ।)

श्यालः—ण तस्सि महारुहं रदणं भट्टिणो बहुमदंति तक्केमि । तस्स दंसणेण भट्टिणो अभिमदो जणो सुमराविदो । मुहुत्तअं पकिदिगंभीरो विपज्जुस्सुअणअणो आसि । (न तस्मिन्महर्म्म रत्नं भर्तुर्बहुमतमिति तर्कयामि । तस्य दर्शनेन भर्तुरभिमतो जनः स्मारितः । मुहूर्तं प्रकृतिगम्भीरोऽपि पर्युत्सुकनयन आसीत् ।)

सूचकः—शेविदं णाम आवुत्तेण । (सेवितं नामावुत्तेन ।)

जानुकः णं भणाहि इमश्श कए मच्छिआभत्तुणोत्ति । (ननु भण अस्य कृते मात्स्यिकभर्तुरिति ।) (इति पुरुषमसूयया पश्यति ।)

दूसरा—अरे, यह तो यमराज के घर गया-गवाया लौट आया ।

(उसका बन्धन खोलता है ।)

पुरुष—(श्याल को प्रणाम करके) कहिए स्वामी! मेरा काम कैसा निकला?

श्याल—ले! महाराज ने इस अँगूठी के मोल के बराबर धन भी तुझे प्रसाद में दिया है ।

(मछुए को धन देता है ।)

पुरुष—(हाथ जोड़कर धन लेता है ।) बड़ी दया है आपकी, स्वामी!

सूचक—हाँ, सचमुच दया तो इसी का नाम है कि तुझे शूली से उतारकर हाथी की पीठ पर ले जा बैठाया ।

जानुक—स्वामी! इसे प्रसाद नहीं, पारितोषिक कहिए । क्योंकि जान पड़ता है कि वह अँगूठी स्वामी को बड़ी अच्छी जँची है ।

श्याल—महाराज ने इस अँगूठी के रत्नों के कारण उसका आदर नहीं किया वरन् उसे देखते ही उन्हें अपने किसी प्यारे का स्मरण हो आया । क्योंकि यद्यपि स्वामी स्वभाव से ही बड़े गम्भीर हैं फिर भी अँगूठी को देखकर वे थोड़ी देर के लिये कुछ अनमने-से हो गए थे ।

सूचक—तब तो सचमुच आपने राजा का बड़ा उपकार कर डाला ।

जानुक—यों कहो कि इस मछुए ने राजा का उपकार किया है । (मछुए को ईर्ष्या की दृष्टि से देखता है ।)

पुरुषः—भट्टालक! इदो अद्धं तुम्हाणं शुभणोमुल्लं होदु। (भट्टारक इतोऽर्धयुष्माकं सूमनोमूल्यं भवतु।)

जानुकः—एत्तके जुज्जई। (एतावद्युज्यते।)

श्यालः—धीवर! महत्तरो तुमं पिअवअस्सओ दाणि में संवुत्तो। कादम्बरीसक्खिअं अम्हाणं पढमसीहिदं इच्छीअदि। ता सोण्डिआपणं एव्व गच्छामो। (धीवर! महत्तरस्त्वं प्रिववफस्यक इदानीं में संवृत्तः कादम्बरीसाक्षिकमस्माकं प्रथमसौहृदमिष्यते। तच्छौण्डिकापणमेव गच्छामः।)

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे।)

॥ प्रवेशकः ॥

(ततः प्रविशत्याकाशयात्रेण सानुमति नामाप्सराः।)

सानुमती—णिब्वट्ठिदं मए पज्जाअणिब्वत्तणिज्जं अछरातिथ्यसण्णिज्जं जाव साहुजणस्स अभिसेअकालो ति। संपदं इमस्स राएसिणो उदन्तं पच्चक्खीकरिस्सं। मेणआ संबंधेण सरिरभूदा मे सउन्दला। ताए अ दुहिदुणिमित्तं आदि दृपुव्वम्हि। (समन्तादवलोक्य) किं णु क्खु उदूच्छवे वि णिरुच्छवारम्भं विअ राअउलं दीसइ। अत्थि मे विहवो पणिधाणेण सव्वं परिण्णादुं। किं दु सहीए आदरो मए माणइदव्व होदु। इमाणं एव्वं उज्जाणपालि—आणं तिरक्खरिणीपडिच्छण्णा पस्सवत्तिणी भविअ उवलहिस्सं। (निर्वर्तितं मया पर्यायनिर्वर्तनौयमप्सरस्तीर्थसांनिध्यं यावत्साधुजनस्याभिषेककाल इति। सांप्रतमस्य राजर्षेरुदन्तं प्रत्यक्षी करिष्यामि। मेनकासम्बन्धेन शरीरभूता मे शकुन्तला। तया च दुहितृनिमित्तमादिष्टपूर्वाऽस्मि। नु खलु ऋतृत्सवेऽपि निरुत्सवारम्भमिव राजकुलं दृश्यते। अस्ति मे विभवः प्रणिधानेन सर्वं परिज्ञातुम्। किं तु सख्या आदरो मया मानयितव्यः। भवतु अनयोरेवोद्यानपालिकयोस्तिरस्करिणी प्रतिच्छन्ना पाश्वर्वर्तिनी भूत्वोपलप्स्ये।) (इति नाट्येनावतीर्य स्थिता।)

(ततः प्रविशति चूतांकुरमवलोकयन्ती चेटी। अपरा च पृष्ठतस्तस्याः।)

मछुआ—स्वामी! इसमें से आधा आप अपने पान-फूल के लिये ले लीजिए।

जानुक—यह तो इनका पद ही है।

श्याल—मछुए! आज से तुम हमारे बड़े प्यारे मित्र हो गए। चलो, हम-तुम चलें और मदिरा के आगे अपनी मित्रता पक्की कर लें। चलो, कलवरिया में चल जाय। (सब जाते हैं।)

॥ प्रवेशकः ॥

(आकाश में विमान पर चढ़ी हुई सानुमती अप्सरा का प्रवेश।)

सानुमती—साधुजनों के स्नान के समय अप्सरातीर्थ की देख-भाल करने की जो आज मेरी बारी थी वह काम तो मैं कर चुकी। चलूँ, अब चलकर अपनी आँखों से उस राजर्षि की दशा तो देखती चलूँ क्योंकि मेनका की कन्या होने के नाते तो शकुन्तला मेरी भी कन्या ही हुई न! उसी मेनका ने अपनी कन्या के लिये कुछ उपाय करने को मुझे बहुत पहले से ही कह रक्खा है। (चारों ओर देखकर) अरे! वसन्त के उत्सव का दिन आ पहुँचा और यहाँ राज-भवन में एकदम सन्नाटा! यद्यपि दिव्य दृष्टि से मैं सब कुछ जान सकती हूँ, फिर भी अपनी सखी की बात तो रखनी ही होगी। अच्छा, तिरस्करिणी विद्या से अपने को छिपाकर इन मालिनियों के साथ-साथ चल फिरकर यहाँ का सारा समाचार लिए लेती हूँ।

(विमान से उतरने का नाट्य करके नीचे खड़ी हो जाती है।)

प्रथमा-

आतम्महरिअपण्डुर जीविदसव्वं वसन्तमासस्स ।

विट्ठो सि चूदकोरअ उदुमङ्गल तुमं पसाएमि ।। २ ।।

(आताम्रहरितपाण्डुर जीवितसर्व वसन्तमासस्य ।

दृष्टोऽसि चूतकोरक ऋतुमङ्गल त्वां प्रसादयामि ।।)

द्वितीया—परहुदिए! कि एआइणी मन्तेसि । (परभृतिके! किमेकाकिनी मन्त्रयसे ।)

प्रथमा—महुअरिए! चूदकलिअं देखिअ उम्मत्तिआ परहुदिआ होदि । (मधुकरिके! चूपकलिकां दृष्ट्वोन्मत्ता परभृतिका भवति ।)

द्वितीया—(सहर्ष त्वरयोपगम्य) कहं उवट्ठिदो महुमासो । (कथमुपस्थितो मधुकरिके! तवेदानीं काल एष मदविभ्रमगीतानाम् ।)

द्वितीया—सहि! अवलम्ब मं जाव अगगपादट्ठिआ भविअ चूदकलिअं गेण्हिअ काम—देवच्चणं करेमि । (सखि! अवलम्बस्व मां यावदग्रपादस्थिता भूत्वा चूतकलिकां गृहीत्वा काम देवार्चनं करोमि ।)

प्रथमा—जइ मम वि क्लु अद्धं अच्चणफलस्स । (यदि ममापि खल्वर्धमर्चनफलस्य ।)

द्वितीया—अकहिदे वि एवं संपज्जइ जदो एक्कं एव्व णो जीविदं दुधाट्ठिदं सरिरं । (सलीमवलम्ब्य स्थिता चूताङ्गरं गृह्णाति) अए! अप्पडिबुद्धो वि चूदप्पसवो एत्थ वंधणभंग सुरभी होदि । (अकथितेऽप्येतत्संपत्ते यत एकमेव नौ जीवितम् द्विधा स्थितं शरीरम् । अये! अप्रतिबुद्धोऽपि चूतप्रसवोऽत्र बन्धनभङ्गसुरभिर्भवति ।)

(आम के पेड़ की बौर देखती हुई एक परिचारिका आती है । उसके पीछे दूसरी परिचारिका है ।)

पहली—अरे वसन्त ऋतु में जीवन-सर्वस्व! वसन्त के मंगल-स्वरूप! अरे लाल, हरे, पीले रंग वाले बौर! आज पहले-पहल तुम्हारा दर्शन हो रहा है । तुम हमपर प्रसन्न हो जाओ जिससे हम लोगों का वसन्त सुख से बीते ।। २ ।।

दूसरी—अरी परभृतिका (कोयल)! तू अकेले-अकेले क्या कूके जा रही है?

पहली—मधुकरिका (भौंरी)! आम की बौर देखकर परभृतिका (कोयली) तो मतवाली हो ही जाती है ।

दूसरी—(उल्लास से भरी हुई शीघ्रता से पास जाती है) क्या वसन्त आ गया?

पहली—अरी मधुकरिका (भौंरी)! तेरे भी तो मस्ती के गीत गाने के ये ही दिन हैं ।

दूसरी—सखी! मुझे थोड़ा-सा सहारा दे दे तो पंजों के बल खड़ी होकर पूजा के लिये आम की बौर उतार लूँ ।

पहली—यदि पूजन का आधा फल मुझे भी मिलने वाला हो तो ला सहारा दे दूँ ।

दूसरी—वह तो बिना कहे ही मिल जाता क्योंकि हम तुम तो दो शरीर और एक प्राण हैं । (सखी के सहारे से आम का बौर उतारती हैं ।) वाह! यद्यपि अभी बौर खिल नहीं पाया है फिर भी डाल से तोड़ते ही कैसी सुगन्ध फूटी पड़ रही है । (अञ्जली बाँधकर)

अरी आम की मज्जरी! मैं तुझे धनुर्धारी कामदेव के लिये भेंट करती हूँ । परदेस में गए हुए लोगों

(इति कपोतहस्तकं कृत्वा)-

तुमं सि मए चूदंकुर दिण्णो कामस्य गहीदघणुअस्स ।

पहिअजणजुवइलक्खो पंचम्महिओ सरो होही ।। ३ ।।

(त्वमसि मया चूतांकुर! दत्तः कामाय गृहीतधनुषे ।

पथिकजनयुवतिलक्ष्यः पञ्चाभ्यधिकः शरो भव ।।)

(इति चूताङ्कुरं क्षिपति ।)

(प्रविश्यापटीक्षेपेण कुपितः)

कंचुकी मा तावत् अनात्मज्ञे! देवेन प्रतिपिद्धे वसन्तोत्सवे त्वमाभ्रकलिकाभङ्गं किमारभसे ।

उभे—(भीते) पसीददु अज्जो । अगगहीदत्थाओ वअं । (प्रसीदत्वार्यः । अगृहीतार्थे आवाम् ।)

कंचुकी—न किल श्रुतं युवाभ्यां यद्वासन्तिकैस्तरुभिरपि देवस्य शासनं प्रमाणीकृतं तदाश्रयिभिः पत्रिभिश्च । तथा हि-

चूतानां चिरनिर्गताऽपि कलिका बध्नाति न स्वं रजः

सनद्धं यदपि स्थितं कुरबकं तत्कोरकावस्थया ।

कण्ठेषु खलितं गतेऽपि शिशिरे पुंस्कोकिलानां रुतं

शङ्के संहरति स्मरोऽपि चकितस्तूणार्धकृष्टं शरम् ।। ४ ।।

सानुमती—णत्थि संदहो । महाप्पहाओ राएसी । (नास्ति संदेहः । महाप्रभावो राजर्षिः ।)

प्रथमा—अज्ज! कति दिअहाइं अम्हण मित्तावसुणा रड्डिएण भट्टिएण भट्टिणीपाअमूलं पेसिदाणं एत्थ अ णो पमदवणस्स पालणकम्म समप्पिदं । ता आअंतुदाए अस्सुदपुब्बो अम्हेहि एसो वुत्तंतो । (आर्य! कति की युवती स्त्रियों को काम-पीड़ा देने के लिये तुम कामदेव के पाँचों बाणों में सबसे अधिक पैनी बन जाओ ।। ३ ।।

(आम की मंजरी डाल देती है ।)

(परदा झटक कर क्रोधित कञ्चुकी का प्रवेश)

कंचुकी—(क्रोधित होकर) हैं, हैं! यह क्या कर रही हो नासमझ छोकरियो! जब राजा ने इस वर्ष वसन्तोत्सव रोक दिया है तब तुम लोग आम की मञ्जरी क्यों तोड़े ले रही हो?

दोनों—(डरी हुई-सी) क्षमा कीजिए आर्य! हमें इसका ज्ञान नहीं था ।

कंचुकी—क्या तुम लोगों ने नहीं सुना कि वसन्त में फूलने-फलने वाले वृक्षों ने और उनपर बसेरा लेने वाले पक्षियों ने भी महाराज की आज्ञा मान ली है । देखो-आम के बौर बहुत पहले फूट आए थे, पर उनमें पराग अभी-तक नहीं आ पाया है । कुरबकका फूल खिलना ही चाहता था, पर अभी ज्यों-का त्यों बँधा पड़ा है । जाड़ा बीत जाने पर भी कोयल की कूक उसके गले तक आकर ही रुक गई है । कामदेव भी अपने तूणीर से बाण निकालता तो है पर डरकर फिर उसी में रख लेता है, छोड़ नहीं पाता ।। ४ ।।

सानुमती—इसमें क्या सन्देह है! राजर्षि का बड़ा भारी प्रताप है ।

पहली—आर्य! नगर-रक्षक मित्रावसु ने हम लोगों को अभी थोड़े दिन पहले ही महाराज की सेवा में प्रमद-वनकी रखवाली करने को भेजा है । इसलिये नई होने के कारण हम लोगों को इस बात का कोई

दिवसान्यावयोर्मित्रावसुना राष्ट्रियेण भट्टिनीपादमूलं प्रेषितयोः अत्र च नौ प्रमदवनस्य पालनकर्म समर्पितम् । तदागन्तुकतयाऽश्रुतपूर्वं आवाभ्यामेष वृत्तान्तः ।)

कंचुकी—भवतु । न पुनरेवं प्रवर्तितव्यम् ।

उभे—अज्ज! कोदूहलं णो । जइ इमिणा जणेण सोदव्वं कहेदु अज्जो किणिमित्तं भट्टिणा वसन्तुस्सवो पडिसिद्धो । (आर्य कौतूहलं नौ । यद्यनेन जनेन श्रोतव्यं कथयत्वार्थः किं निमित्तं भर्त्रा वसन्तोत्सवः प्रतिषिद्धः ।)

सानुमती—उत्सवप्पिआ क्खु मणुस्सा । गुरुणा कारणेण होदव्वं । (उत्सवप्रियाः खलुः मनुष्याः । गुरुणा कारणेन भवितव्यम् ।)

कंचुकी—बहुलीभूतमेतत्किं न कथ्यते । किमत्रभवत्योः कर्णपथं नायातं शकुन्तला—प्रत्यादेशककौलीनम् ।

उभे—सुदं रड्डिअमुहादो जाव अंगुली अदस्सणं (श्रुतं राष्ट्रियमुखाद्यावदंगुलीयक दर्शनम् ।)

कंचुकी—तेन ह्यल्पं कथयितव्यम् । यदैव खलु स्वांगुलीयकदर्शनादनुस्मृतं देवेन सत्यमूढपूर्वा मे तत्रभवती रहसि शकुन्तला मोहात्प्रत्यादिष्टेति । तदा प्रभृत्येव पश्चात्तापमुपगतो देवः । तथा हि—

रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिर्न प्रत्यहं सेव्यते

शय्याप्रान्तविवर्तनैविगमयत्युन्निद्र एवं क्षपाः ।

दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचितामन्तःपुरेभ्यो यदा

गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च वोडाविलक्षश्चिरम् ॥ ५ ॥

सानुमती—पिअं मे । (प्रियं मे ।)

ज्ञान ही नहीं था ।

कंचुकी—अच्छा, अब फिर कभी ऐसा काम न कर बैठना ।

दोनों—आर्य! हम भी एक बात जानना चाहती हैं । यदि बताने में कोई अड़चन न हो तो कृपा कर बतला दीजिए कि महाराज ने वसन्तोत्सव क्यों रोक दिया है ।

सानुमती—मनुष्यों को तो मेले-उत्सवों का बड़ा चाव होता है, इसलिये उत्सव रोक देने का कोई बहुत बड़ा कारण हुआ होगा ।

कञ्चुकी—अच्छा, यह बात जब चारों ओर फैल गई है तब मैं भी क्यों न बता डालूँ । क्या शकुन्तला के छोड़े जाने की बात तुम लोगों के कान में नहीं पड़ी है?

दोनों—हाँ, राजा को अँगूठी मिलने-तक की बात तो नगर रक्षक के मुँह से हम सुन चुकी हैं ।

कञ्चुकी—तब तो थोड़ा ही सुनाना रह गया है । उस अँगूठी को देखते ही महाराज को स्मरण हो उठा कि मैंने शकुन्तला से एकान्त में विवाह किया था और भूल से उसका निरादर कर दिया । तभी से उन्हें बड़ा पछतावा हो रहा है और उनके मन को न तो अब कोई सुन्दर वस्तु ही भाती है और न वे पहले के समान मंत्रियों के ही साथ नित्य बैठते हैं । पलँग पर करवटें बदलते हुए वे पूरी रातें जाग-जागकर बिता डालते हैं । जब रनिवास की रानियाँ उनसे हठ करके इस उदासीका कारण पूछने लगती हैं तब झोंक में उनके मुँह से शकुन्तला का नाम निकल जाता है और वे बड़ी देरतक लजाए रह जाते हैं ॥ ५ ॥

सानुमती—यही तो मैं सुनना चाहती थी ।

कञ्चुकी—अस्मात्प्रभवतो वैमनस्यादुत्सवः प्रत्याख्यातः ।

उभे—जुज्जइ । (युज्यते ।)

(नेपथ्ये) एदु एदु भवं (एतु एतु भवान् ।)

कञ्चुकी—(कर्ण दत्त्वा) अये! इत एवाभिवर्तते देवः । स्वकर्मानुष्ठीयताम् ।

उभे—तह । (तथा ।) (इति निष्क्रान्ते)

(ततः प्रविशति पश्चात्तापसदृशवेधो राजा विदूषकः प्रतीहारी च ।)

कञ्चुकी—(राजानमवलोक्य) अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम् । एवमुत्सुकोऽपि प्रियदर्शनो देवः । तथा हि—

प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिर्वामप्रकोष्ठापितं

बिभ्रत्कान्धनमेकमेव वलयं द्वांसोपरक्ताधरः ।

चिन्ताजागरणप्रतान्तनयनस्तेजोगुणादात्मनः

संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते ॥ 6 ॥

सानुमती—(राजानं दृष्ट्वा) ठाणे क्खु पच्चादेसविमाणिदा वि इमस्स किदे सउन्दला किलम्मदि त्ति । (स्थाने खलु प्रत्यादेशविमानिताऽप्यस्य कृते शकुन्तला क्लाम्यतीति ।)

राजा—(ध्यानमन्दं परिक्रम्य)–

प्रथमं सारङ्गाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम् ।

अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं संप्रति विबुद्धम् ॥ 7 ॥

कञ्चुकी—बस, इसी दुःख के कारण वसन्तोत्सव रोक दिया गया है ।

दोनों—तब तो ठीक ही है ।

(नेपथ्य में) आइए महाराज, आइए ।

कञ्चुकी—(कान लगाकर) अरे! महाराज तो इधर ही चले आ रहे हैं । अब जाओ, तुम लोग जाकर अपना-अपना काम देखो ।

दोनों—बहुत अच्छा । (दोनों जाती हैं ।)

(विदूषक और प्रतीहारी के साथ पछताते हुए राजा आते हैं ।)

कञ्चुकी—(राजा को देखकर) अहा! जो सुन्दर होते हैं वे सभी दशाओं में अच्छे ही लगते हैं । देखो, उदास होते हुए भी महाराज कैसे अच्छे लग रहे हैं । क्योंकि—केवल बाएँ हाथ-पैर के सोने के एक कड़े को छोड़कर उन्होंने शोभा बढ़ाने वाले सभी गहने उतार डाले हैं, उनकी उसाँसों से नीचे का ओठ भी लाल हो गया है और चिन्ता के कारण रात भर जागने से उनकी आँखें भी अलसा गई हैं । पर इस प्रकार दुखी होने पर भी वे उसी प्रकार दुबले नहीं लगते जैसे खराद कर काटा हुआ वह महामणि (हीरा), जो छोटा हो जाने पर भी अपनी चमक के कारण छोटा नहीं लगता ॥ 6 ॥

सानुमती—(राजा को देखकर) यद्यपि शकुन्तला को छोड़कर इन्होंने उसका बड़ा भारी अपमान किया है तिस पर भी शकुन्तला का इनके लिये तड़पना ठीक ही जँचता है ।

राजा—(चिन्ता में घूमता हुआ) उस समय जब वह मृग के समान आँखों वाली मेरी प्यारी शकुन्तला

सानुमती-णं ईदिसाणि तवस्सिणीए भाअहेआणि । (नन्वीदृशानि तपस्विन्या भागधेयानि)

विदूषकः—(अपवार्य) लंघिदो एसो भूओ वि सउन्दलावाहिणा । ण आणे कहं चिकिच्छिदव्यो भविस्सदि न्ति (लङ्घित एष भूयोऽपि शकुन्तलाव्याधिना । न जाने कथं चिकिस्सितव्यो भविष्यतीति ।)

कंचुकी—(उपगम्य) जयतु देवः । महाराज ! प्रत्यवेक्षिताः प्रमदवनभूमयः । यथाकाममध्यास्तां विनोदस्थानानि महाराज ।

राजा—वेत्रवति ! मद्वचनादमात्यमार्यपिशुनं बूहि । चिरप्रबोधनान्म संभावितम् स्माभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम् । यत्प्रत्यवेक्षितं पौरकार्यमार्येण तत्पन्नमारोप्य दीयतामिति ।

प्रतीहारी—जं देवो आणवेदि । (यद्देव आज्ञापयति ।) (इति निष्क्रान्ता ।)

राजा—वातायन ! त्वमपि स्वं नियोगमशून्यं कुरु ।

कंचुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः ।)

विदूषकः—किदं भवदा णिम्मच्छिअं । संपदं सिसिरातवच्छेअरमणीए इमस्सि पमदवणुदे से अत्ताणं रमइस्ससि । (कृतं भवता निर्मक्षिकम् । सांप्रतं शिशिरातपच्छेदरमणीयेऽस्मिन्प्रमदवनोद्देशे आत्मानं रमयिष्यसि ।)

राजा—वयस्य ! यदुच्यते रन्ध्रोपनिपातिनोऽनर्था इति तदव्यभिचारि वचः कुतः ।

मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना मम च मुक्तमिदं तमसा मनः ।

मनसिजेन सखे प्रहरिष्यता धनुषिचूतशरश्च निवेशितः ॥ ८ ॥

बार-बार समझा रही थी तब तो मेरी आँखें खुली नहीं, अब केवल पछतावे का दुःख सहने के लिये मेरा यह अभाग्य हृदय जाग उठा है ॥ ७ ॥

सानुमती—क्या करें, बेचारी शकुन्तला के भाग्य ही ऐसे हैं ?

विदूषक—(अलग) ओह ! शकुन्तला के रोग ने इन्हें फिर आ घेरा है । न जाने यह रोग कैसे मिट पावेगा ?

कञ्चुकी—(पास जाकर) महाराज की जय हो । प्रमद-वन की भूमि झाड़-बुहारकर ठीक कर दी गई है । अब आप जब तक चाहें तब तक उस मन बहलाव की भूमि में चलकर विश्राम कर सकते हैं ।

राजा—प्रतीहारी ! जाकर मेरी ओर से अमात्य आर्य पिशुन से कह आओ कि आज मैं देर से उठा हूँ, इसलिये न्याय कार्य के लिये सभा-भवन में नहीं पहुँच पाऊँगा । प्रजा का जो कुछ भी काम हो वह आप लिखकर मेरे पास भिजवा दीजिएगा । समझी ।

प्रतीहारी—जैसी महाराज की आज्ञा । (जाती है ।)

राजा—जाओ वातायन ! तुम भी जाकर अपना काम देखो ।

कञ्चुकी—जैसी देवकी आज्ञा (जाता है ।)

विदूषक—अच्छा किया सब मक्खियाँ फुर से उड़ा दीं । अब आप उस प्रमदवन में चलकर मन बहलाइए जहाँ न तो जाड़े की ठंडक ही है न गर्मी की तपन ही ।

राजा—वयस्य ! किसी ने बहुत ठीक कहा है कि विपत्ति सदा अवसर की ताक में रहा करती है । देखो—अभी मेरे मन से शकुन्तला को भुला देने वाला मोह उतरा भी नहीं था कि मुझे मारने के लिये अपने धनुष पर आम के बौर का यह नया बाण चढ़ा कर कामदेव भी आ धमका ॥ ८ ॥

विदूषकः—चिट्ठ दाव । इमिणा दण्डकट्टेण कन्दप्पबाणं णासइस्सं । (तिष्ठ तावत् । अनेन दण्डकाष्टेन कन्दर्पबाणं नाशयिष्यामि ।) (इति दण्डकाष्टमुद्यम्य चूतांकुरं पातयितुमिच्छति ।)

राजा—(सस्मितम्) भवतु, दृष्टं ब्रह्मवर्चसम् । सखे! क्वोपविष्टः प्रियायाः किञ्चिदनुकारिणीषु लतासु दृष्टं विलोभयामि ।

विदूषकः—णं आसण्णपरिआरिआ चदुरिआ भवदा संदिट्ठा माहवीमण्डवे इमं वेलं अदिवाहिस्सं । तहि मे चित्तफलअगदं सहत्थलिहिदं तत्तहोदीए सउन्दलाए पडिकिदिं आणेहि ति । (नन्धासन्नपरिचारिका चतुरिका भवता संदिष्टा माधवीमण्डप इमां वेलामति-वाहयिष्ये । तत्र मे चित्रफलकगतां स्वहस्तलिखितां तत्रभवत्याः शकुन्तलायाः प्रतिकृतिमानयेति ।)

राजा—ईदृशं हृदयविनोदनस्थानम् । तत्तमेव मार्गमादेशय ।

विदूषकः—इदो इदो भव । (इत इतो भवान् ।)

(उभौ परिक्रामतः । सानुमत्यनुगच्छति ।)

विदूषकः—एसो मणिसिलापट्टअसणाहो माहवीमण्डवो उवआररमणिज्जदाएणिस्संसंसा अअदेण विअ णो पडिच्छदि । ता पविसिअ णिसीददु भवं । (एष मणिशिला—पट्टकसनाथा माधवीमण्डप उपचाररमणीयतया निःसंशयं स्वागतेनेव नौ प्रतीच्छति । तत्रविष्य निषीदतु भवान् ।)

(उभौ प्रवेशं कृत्वोपविष्टौ)

सानुमती—लदासस्सिदा देखिस्सं दाव सहीए पडिकिदिं । तदो से भत्तुणो बहुमुहं अणुराअं णिवेदइस्सं (लतासंश्रिता द्रक्ष्यामि तावत्सख्याः प्रतिकृतिम् । ततोऽस्या भर्तुर्बहुमुख—मनुरागं निवेदयिष्यामि ।) (इति तथा कृत्वा स्थिता ।)

विदूषक—अच्छा रुकिए । मैं अभी अपने डंडे से काम के बाण को तोड़े डालता हूँ न । (अपना डंडा उठाकर बौर झाड़ने चलता है ।)

राजा—(हँसते हुए) अच्छा-अच्छा, रहने दो । देख लिया तुम्हारा ब्रह्मतेज । अब चलो मित्र, कोई ऐसा स्थान बताओ जहाँ बैठकर प्रियासे कुछ-कुछ मिलती-जुलती लताओं को देखकर अपनी आँखें ठण्डी की जा सकें ।

विदूषक—पर आपने तो अभी रनिवास की दासी चतुरिका को कहा है न, कि हम माधवी-मंडप में जाकर जी बहलाते हैं और तुम हमारे हाथ का खींचा हुआ शकुन्तला का चित्र वहीं लेती आना ।

राजा—हाँ, वह स्थान तो है मनबहलाव का । तो चलो उधर ही लिवाते लिए चलो । विदूषक-तो इधर से आइए महाराज, इधर से ।

(दोनों मुड़ते हैं, सानुमती पीछे हो लेती है ।)

विदूषक—देखिए! फूलों से सजी हुई मणिशिला की सुन्दर चौकी बिछाकर यह माधवी की कुंज मानो आपका स्वागत करने की बाट ही देख रही है । इसलिए चलिए वहीं चलकर जा बैठा जाय ।

(दोनों प्रवेश करके बैठते हैं ।)

सानुमती—अच्छा, तब तक मैं लता की ओट से देखती हूँ कि मेरी सखी का चित्र कैसा बना है । क्योंकि तभी तो मैं जाकर उससे बता सकूँगी कि तुम्हारे पति तुमपर कितने प्रकार से प्रेम दिखा रहे हैं । (वैसा ही करती है ।)

राजा—सखे, सर्वमिदानीं स्मरामि शकुन्तलायाः प्रथमवृत्तान्तम्। कथितवानस्मि भवते च। स भवान्प्रत्यादेशवेलायां मत्समीपगतो नासीत्। पूर्वमपि न त्वया कदाचित्संकीर्तितं तत्रभवत्या नाम। कच्चिदहमिव विस्मृतवानसि त्वम्।

विदूषकः—ण विसुमरामि। किंतु सव्यं कहिअ अवसाणे उण तुए परिहास—विअप्पओ एसो ण भूदत्यो त्ति आचा किखदं। मए वि मिप्पिण्डबुद्धिणा तह एव्व बहीदं। अहवा अविदव्व दा क्खु बलवदी। (न विस्मरामि। किंतु सर्वं कथयित्वाऽवसाने पुनस्त्वया परिहासविजल्प एष न भूतार्थ इत्याख्यातम्। मयापि मृत्पिण्डबुद्धिना तथैव ग्रहीतम्। अथवा भवितव्यता खलु बलवती।)

सानुमती—एव्वं णेदं। (एवं नु एतत्।)

राजा—(ध्यात्वा) सखे! त्रायस्व माम्।

विदूषकः—भो, किं एदं। अपुववण्णं क्खु ईदिसं तुइ। कदा वि सप्पुरिसा सोअ वतव्व ण होन्ति। णं पवादेवि णिक्कम्मा गिरिओ। (भोः, किमेतत्। अनुपपन्नं खल्वीदृशं त्वयि। कदाऽपि सत्पुरुषाः शोकवक्तव्या न भवन्ति। ननु प्रवातेऽपि निष्कम्पा गिरयः)

राजा—वयस्य! निराकरणविकलवायाः प्रियाया समवस्थामनुस्मृत्य बलवद शरणोऽस्मि। सा हि-

इतः प्रत्यादेशात्स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता

स्थिता तिष्ठेत्युच्चैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे।

पुनर्दृष्टिं वाष्पप्रसरकलुषामर्पितवती।

मयि क्रूरे यत्तत्सविषमिव शल्यं दहति माम्।। 9।।

राजा—वयस्य! अब शकुन्तला की सारी बातें स्मरण होती जा रही हैं और तुमसे तो मैं सब बता ही चुका हूँ। जब मैंने शकुन्तला को यहाँ से लौटाया था उस समय न तो तुम वहाँ थे ही और न तुमने वे सब बातें ही स्मरण दिलाईं। जान पड़ता है मेरे ही समान तुम भी भूल गए थे।

विदूषक—भूला तो नहीं था। पर सब कुछ कह चुकने पर आपने अन्त में जब यह कह डाला कि ये सब बातें तो मैंने हँसी में कही थीं तब मेरी मट्टी की पिंडी वाली खोपड़ी भी वही सच समझ बैठी। या फिर यों कहिए कि जो होने वाला होता है वह होकर ही रहता है।

सानुमती—यही बात है।

राजा—(सोचकर) अब तो किसी प्रकार बचाओ मुझे मित्र!

विदूषक—अरे यह आप क्या कर रहे हैं? यह आपको शोभा नहीं देता। सज्जन लोग कभी ऐसे अधीर नहीं हुआ करते। देखिए, आँधी से पहाड़ नहीं हिला करते।

राजा—मित्र! जिस समय मैंने अपनी प्यारी को यहाँ से लौटाया उस समय उसकी जो दशा थी उसे स्मरण करके ही मैं आप में नहीं रह पाता। क्योंकि, उस समय वह-जब यहाँ से लौटा दी गई और अपने साथियों के पीछे चलने लगी तब गुरु के समान पूज्य गुरु-शिष्यों ने उसे डाँटकर कहा कि तुमको यहीं रहना होगा। वस, वह खड़ी की खड़ी रह गई। उस समय आँखों में आँसू भरकर मुझ निष्ठुर की ओर उसने जो देखा था वह मुझे ऐसी पीड़ा दे रहा है जैसे किसी ने विष-बुझे शस्त्र से मेरे शरीर में घाव कर दिया हो।। 9।।

सानुमती—अम्महे । ईदिसी स्वकज्जपरदा । इमस्स संदावेण अहं रमामि ।

(अहो ! ईदृशी स्वकार्यपरता । अस्य संतापेनाहं रमे ।)

विदूषकः—भो, अत्थि मे तक्को केण वि तत्तहोदी आआसचारिणा णीदे त्ति ।

(भोः अस्ति मे तर्कः केनापि तत्रभवती आकाशचारिणा नीतेति ।)

राजा—कः पतिदेवतामन्यः परमर्षुमुत्सहेत । मेनका किं सख्यास्ते जन्म-प्रतिष्ठति श्रुतवानस्मि । तत्सहचारिणीभिः सखी ते हतेति मे हृदयमाशङ्कते ।

सानुमती—संमोहो क्खु विम्हअणिज्जो ण पडिबोहो । (संमोहः खलु विस्मयनीयो न प्रतिबोधः ।)

विदूषकः—जइ एव्वं अत्थि क्खु समाअमो कालेण तत्तहोदीए । (यद्येवम् अस्ति खलु समागमः कालेन तत्रभवत्या ।)

राजा—कथमिव ।

विदूषकः—ण क्खू मादापिदरा भत्तु विओअदुक्खिअं दुहिदरं चिरं देख्खिदुं पारेन्ति । (न खलु मातापितरौ भर्तृवियोगदुः खितां दुहितरं चिरं द्रष्टुं पारयतः ।)

राजा—वयस्य ।

स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु क्लिष्टं नु तावत्फलमेव पुण्यम् ।

असंनिवृत्तै तदतीतमेते मनोरथानामतटप्रपाताः ॥ १० ॥

विदूषकः—मा एव्वं । अंगुलीअअं एव्व णिदंसणं अवस्संभावी अचिन्तणिज्जो समाअमो होदि त्ति । (मैवम् । नन्वङ्गुलीयकमेव निदर्शनमवश्यंभाव्यचिन्तनीयः सभागमो भवतीति ।)

सानुमती—अच्छा ! अपने किएपर इतना पछतावा ! इनका दुःख देखकर मेरे जीको बड़ा भारी सन्तोष मिल रहा है ।

विदूषक—महाराज ! मुझे ऐसा लगता है कि देवी शकुन्तलाको कोई स्वर्गीय दूत उठा ले गया ।

राजा—अरे, उस पतिव्रता को भला कौन दूसरा छू सकेगा । पर सुना है कि उसकी माँ मेनका है । मुझे यही डर है कि कहीं उसकी सखियाँ ही उसे न उठा ले गई हों !

सानुमती—इस समय राजा को जो इतनी बातें स्मरण हो आ रही हैं उन्हें सुनकर मुझे इतना अचरज नहीं हो रहा है जितना इस बातपर कि उस समय वे भूल कैसे गए थे ।

विदूषक—यदि उसकी सखियाँ उठा ले गई होंगी तब तो उसे थोड़े ही दिनों में पाया समझिए ।

राजा—कैसे ?

विदूषक—पति से बिछुड़ी हुई अपनी कन्या के दुःख को माता-पिता अधिक दिनों-तक नहीं देख सकते ।

राजा—मित्र ! मैं ठीक-ठीक समझ ही नहीं पा रहा हूँ कि शकुन्तला का वह मिलाप सपना था, या भ्रम था, या किसी ऐसे पुण्य का फल था जिसका भोग पूरा हो चला था । सचमुच इन बातों ने मेरी सारी आशाओं को खड़े पहाड़ से गिराकर चूर-चूर कर डाला है ॥ १० ॥

विदूषक—ऐसा न कहिए । यह अँगूठी ही बताए दे रही है कि उससे भेंट अवश्य होगी ।

राजा—(अंगुलीयकं विलोक्य) अये! इदं तावदसुलभस्थानभ्रंशि शोचनीयम्।

तव सुचरितमङ्गलीय नूनं प्रतनु ममेव विभाव्यते फलेन।

अरुणनखमनोहरासु तस्याश्च्युतमसि लब्धपदं यदङ्गुलीषु ॥ 11 ॥

सानुमती—जह अण्णहत्थमदं भवे सच्चं एव्व सोअणिजजं भवे। (यद्यन्यहस्तगतं भवेत् सत्यमेव शोचनीयं भवेत्।)

विदूषक—भो! इअं णाममुद्दा केण उग्घादेण तत्तहोदिए हत्थाब्भासं पाविदा। (भो! इवं नाममुद्दा केनोद्धातेन तत्रभवत्याहस्ताभ्याशं प्रापिता।)

सानुमती—मम वि कोदूहलेण आरिदो एसो। (ममापि कौतूहलेनाकारितः एषः।)

राजा—श्रूयताम्! स्वनगराय प्रस्थितं मां प्रिया सबाष्पमाह—कियच्चिरेणार्यपुत्रः प्रतिपत्तिं दास्यतीति।

विदूषक—तदो तदो। (ततस्ततः।)

राजा—प्रश्नादिमां मुद्रां तदङ्गुलौ निवेशयता मया प्रत्यभिहिता-

एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं नामाक्षरं गणय गच्छति यावदन्तम्।

तावत्प्रिये मदवरोधगृहप्रवेशं नेता जनस्तव समीपमुपैष्यतीति ॥ 12 ॥

तच्च दारुणात्मना मया मोहान्नानुष्ठितम्।

सानुमती—रमणीओ क्खु अवही विहिणा विसंवादिदो। (रमणीयः खल्ववधिर्विधिना विसंवादितः।)

विदूषक—अध कहं धीवलकप्पिअस्स लोहिअमच्छस्स उदलबीन्तले आसि। (अथ कथं धीवरकल्पितस्य रोहितमत्स्यस्योदराभ्यन्तर आसीत्।)

राजा—(अँगूठी देखकर) हाय! इसपर भी मुझे बड़ा तरस आता है कि इतने सुन्दर स्थान पर पहुँच कर भी यह निकलकर कैसे गिर पड़ी। अरी अँगूठी! तेरी इस दशा से ही ज्ञान हो जाता है कि मेरे ही समान तेरे पुण्यों का भी भोग पूरा हो चला था। नहीं तो शकुन्तला के लाल नखोंवाली उँगलियों से भला तू निकल क्यों गिरती ॥ 11 ॥

सानुमती—हाँ, यदि यह किसी दूसरे के हाथ लग लई होती तब तो सचमुच इसपर दया आती।

विदूषक—अच्छा, यह तो बताइए कि आपकी यह अँगूठी देवी शकुन्तला के पास पहुँच कैसे गई?

सानुमती—इनके मनमें भी यह जानने का वैसा ही चाव है जैसा मेरे मन में है।

राजा—अच्छा सुनो। जब मैं वन से अपनी राजधानी को लौट रहा था उस समय प्यारी ने विदूषक—तब-तब।

राजा—तब उसकी उँगली में यह अँगूठी पहनाते हुए मैंने कहा था प्यारी! इस अँगूठी पर लिखे हुए मेरे नाम के अक्षरों को प्रतिदिन गिनती रहना! जब सभी अक्षर गिन चुकोगी तब रनिवास का कोई न कोई सेवक तुम्हें बुलाने के लिये यहाँ आ ही पहुँचेगा ॥ 12 ॥

पर मैं ऐसा कठोर-हृदय निकला कि मुझसे इतना तक करते न बन पड़ा।

सानुमती—बात तो बड़ी अच्छी थी पर दैवने सब चौपट कर दिया।

विदूषक—पर जिस रोहू मछली को उस मछुए ने चीरा था उसके पेट में यह अँगूठी कहाँ से जा पहुँची?

राजा—शचीतीर्थं वन्दमानायाः सख्यास्ते हस्ताद्गङ्गास्रोतसि परिभ्रष्टम् ।

विदूषकः—जुज्जइ । (युज्यते ।)

सानुमती—अदो एव तवस्सिगीए सउन्दलाए अधम्मीरुणो इमस्स राएसिणो परिणए सदिहो आसि । अहवा ईदिसो अणुराओ अहिण्णणं अवेक्खदि । कहं विअ एदं । (अत एव तपस्विन्याः शकुन्तलाया अधर्मभीरोरस्य राजर्षेः परिणये सन्देह आसीत् । अथवेदृशोऽनुरागोऽभिज्ञानमपेक्षते । कथमिवैतत् ।)

राजाः—उपालप्स्ये तावदिदमङ्गुलीयकम् ।

विदूषकः—(आत्मगतम्) गहीदो णेण पंथा उम्मत्तआणम् । (ग्रहीतोऽनेन पन्था उन्मत्तानाम् ।)

राजा—

कथं नु तं बन्धुरकोमलाङ्गुलिं करं विहायासि निमग्नमम्भसि ।

अथवा—

अचेतनं नाम गुणं न लक्षयेन्मयैव कस्मादवधीरिता प्रिया ।। 13 ।।

विदूषकः—(आत्मगतम्) अहं क्खु बुभुक्खाए खादिदव्वत्ति । (अहं खलु बुभुक्षया खादितव्य इति ।)

राजा—अकारणपरित्यागानुशयतप्तहृदयस्तावदनुकम्प्यतामयं जनः पुनर्दर्शनेन ।

(प्रविश्यापटीक्षेपेण चित्रफलकहस्ता)

चतुरिका—इअं चित्तगदा भट्टिणी । (इयं चित्रगता भट्टिनी ।)

(इति चित्रफलक दर्शयति ।)

राजा—जब शकुन्तला हाथ जोड़कर शचीतीर्थ को प्रणाम कर रही थी तभी वह अँगूठी उँगली से निकल कर गंगा की धारा में जा गिरी ।

विदूषक—अच्छाऽऽ? यह बात है?

सानुमती—जान पड़ता है इसीलिये इन राजर्षि ने अधर्म के डर से बेचारी शकुन्तला के साथ विवाह होने की बातों में सदेह किया था । नहीं तो भला ऐसे प्रेम में क्या किसी पहचान की आवश्यकता पड़ती है?

राजा—मैं अभी इस अँगूठी को डाँटता हूँ न ।

विदूषक—(आप ही आप) अरे, ये तो अब पागल हो चले हैं ।

राजा—बता री अँगूठी! उन सुन्दर उँगलियों को छोड़कर तू जल में क्यों कूदने गई! पर अँगूठी में तो जीव था नहीं इसलिये उसने गुण की परख न की हो तो ठीक है, पर मनुष्य होकर मैंने उसका निरादर कैसे कर डाला ।। 13 ।।

विदूषक—(आप ही आप) यदि थोड़ी देर और इनकी यही दशा रही तब तो मेरी भूख मुझे ही खा डालेगी ।

राजा—प्यारी! तुम्हें बिना कारण छोड़ देने की जलन से मैं बहुत जला जा रहा हूँ । मुझे अपना दर्शन देकर दया करके जिला तो लो ।

(परदा उठाकर चित्रफलक लिए हुए प्रवेश करके)

चतुरिका—यह रहा देवी का चित्र । (चित्रफलक दिखाती है ।)

विदूषकः—साहु वअस्स । महुरावत्थाणदंसणिज्जो भावाणुप्पेवेसो । खलदि विअ मे दिट्ठी णिणुण्ण अप्पेसेसु । (साधु वयस्य ! मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रवेशः स्खलतीव मे दृष्टिर्निम्नोन्नतप्रदेशेषु ।)

सानुमती—अम्मो एसाराएसिणो णिउणदा । णाणे सही अग्गदो में वट्ठदि ति । (अहो एषा राजर्षेर्निपुणता । जाने सख्यग्रतो मे वर्तत इति ।)

राजा—

यद्यतसाधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा ।

तथापि तस्या लावण्यं रेखया किंचिदन्वितम् ॥ 14 ॥

सानुमती—सरिसं एदं पच्छादावगुरुणो सिणेहस्स अणवलेवस्स अ । (सदृशमेतत्पश्चात्तापगुरोः स्नेहस्यानवलेपस्य च ।)

विदूषकः—भो दाणिं तिणिण ओ तत्तहोदीओ दीसन्ति । सव्वाओ अ दंसणीआओ । कदमा एत्थ तत्तहोदी सउन्दला । (भोः इदानीं तिस्रस्तत्र भवत्यो दृश्यन्ते । सर्वाश्च दर्शनीयाः । कमतमाऽत्र तत्रभवती शकुन्तला ।)

सानुमती—अणभिण्णे कखु ईदिसस्स रूवस्स मोहदिट्ठी अअं जणो । (अनभिज्ञः खल्वीदृशस्य रूपस्य मोघदृष्टिरयं जनः ।)

राजा—त्वं तावत्कतमां तर्कयसि ।

विदूषकः—तवर्कमि जा एसा सिढिलकेसबन्धणुव्वन्तकुसुमेण केसन्तेण उब्भिाणस्से—अविन्दुणावअणेण विसेसदो ओसरिआहिं बाहाहिं अवसेअसिणिद्धतरुणपल्लवस्स चूअपाअवस्स पासे इसिपरिस्सन्ता विअ आलिहिदा सा सउन्दला । इदराओ सहीओ ति । (तर्कयामि यैषा शिथिलकेशबन्धनोद्धान्तकुसुमेन

विदूषक—वाह, मित्र ! वाह ! इसके तो अंग-अंग आपने ऐसे सुन्दर बना दिए हैं कि इसके मन के भाव तक ठीक-ठीक आ उतरे हैं । मेरी आँखें तो इस चित्र में बने हुए ऊँचे-नीचे स्थलों में जैसे ठोकरें खाती चली जा रही हैं ।

सानुमती—अरे ! राजर्षि तो बड़े चतुर चित्रकार है । चित्र तो ऐसा जान पड़ता है मानो सखी शकुन्तला सामने ही आई खड़ी हो ।

राजा—यद्यपि मैंने इस चित्रके सब दोष दूर कर डाले हैं फिर भी इन रेखाओं में देवी की बहुत थोड़ी-सी ही सुन्दरता उभर पाई है ॥ 14 ॥

सानुमती—पछतावे और नम्रता से भरे इस प्रेमी को ऐसा ही कहना शोभा देता है ।

विदूषक—क्यों ! इस चित्र में तो तीन-तीन देवियाँ दिखाई पड़ रही हैं और तीनों एक से एक बढ़कर चटकली हैं । बताओं तो, इसमें देवी शकुन्तला कौन-सी हैं ?

सानुमती—इस असूझे को सुन्दरता की तनिक-सी भी परख नहीं है ।

राजा—अच्छा, तुम इनमें से किसको शकुन्तला समझ रहे हो ?

विदूषक—मैं तो समझता हूँ कि पानी के छिड़काव से जो यह आम का पेड़ चमक रहा है उसी से सटकर कुछ थकी हुई-सी जो खड़ी दिखाई देती है वही शकुन्तला है, जिसके ढीले जूड़ों से फूल गिरे पड़ रहे हैं, मुँह पर पसीने की बूँद झलकी पड़ रही हैं और दोनों कन्धे झुके हुए हैं । इसके साथवाली ये दोनों

केशान्तेनोद्विन्नस्वेदविन्दुना वदनेन विशेषतोऽपसृताभ्यां बाहुभ्यामवसेकस्निग्धतरुणपल्लवस्य चूतपादपस्य पार्श्व ईषात्परिश्रान्तेवाललिखिता सा शकुन्तला। इतरे सख्याविति।)

राजा—निगुणो भवान्। अस्त्यत्र में भावचिह्नम्।

स्विन्नाङ्गुलिबिनिवेशो रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिनः।

अश्रु च कपोलपतितं दृश्यमिदं वर्तिकोच्छ्वासात्॥ 15॥

चतुरिके! अर्धलिखितमेतद्विनोदस्थानम्। गच्छ। वर्तिकां तावदानय।

तुरिका—अज्ज माढव्य! अवलंब चित्तफलं जाव आअच्छामि। (आर्य माढव्य! अवलम्बस्य चित्रफलकं यावदागच्छामि।)

राजा—अहमेवैतदवलम्बे। (इति यथोक्तं करोति।)

(निष्क्रान्ता चेटी।)

राजा—(निःश्वस्य) अहं हि—

साक्षात्प्रियामुपगतामपहाय पूर्वं चित्रर्पितां पुनरिमां बहुमन्यमानः।

स्रोतोवहां पथि निकामजलामतीत्य जातः सखे प्रणयवान्मृगतृष्णिकायाम्॥ 16॥

विदूषकः—(आत्मगतम्) एसो अत्तभवं णदिं अदिक्कमिय मिअतिण्हिआं संकंतो। (प्रकाशम्) भो अवरं किं एत्थ लिहिदव्वं। (एषोऽत्रभवान्नदीमतिक्रम्य मृगतृष्णिकां सक्रान्तः। भोः अपरं किमत्र लिखितव्यम्)

सानुमती—जो जो पदेसो सहीए में अहिरूवो तं तं आलिहिदुकामो भवे। (यो यः प्रदेशः सख्या मेऽभिरूपस्तं तमालिखितुकामो भवेत्॥)

इसकी सखियाँ होगी।

राजा—तुम तो सचमुच बड़े चतुर हो। इसमें मेरे प्रेम के चिन्ह भी बने हुए हैं। चित्र की कोरों पर मेरी पसीजी हुई उँगलियों के काले धब्बे पड़ गए हैं और मेरी आँखों से जो आँसू टपका, उससे शकुन्तला के गाल पर का रंग उभर आया है॥ 15॥ अरी चतुरिका। अभी इस विनोद-स्थान का चित्र पूरा नहीं बन पाया है। जा, चित्र बनाने की कूँचियाँ तो लेती आ।

चतुरिका—आर्य माढव्य! इस चित्रपटको थोड़ा थामे तो रहिए, मैं अभी आई जाती हूँ।

राजा—ला, मैं इसे थामें लेता हूँ। (चित्र-फलक ले लेता है।)

(चेटी जाती है।)

राजा—(उसाँस भरकर) मित्र! मेरी दशा तो देखो कि जब वह स्वयं मेरे पास आई थी तब तो मैंने उसे निरादर करके लौटा दिया और अब उसके चित्रपर मैं इतना प्रेम दिखाने चला हूँ। यह तो ऐसा ही है जैसे कोई भरी भराई नदी छोड़कर मृगतृष्णा की ओर जा लपके॥ 16॥

विदूषक—(आप ही आप) यहाँ महाराज तो नदी छोड़कर मृगतृष्णा के पीछे दौड़े पड़ रहे हैं। (प्रकट) कहो मित्र! अब इस चित्र में और क्या बनाना रह गया है?

सानुमती—मैं सोचती हूँ कि राजा इस चित्र में अब वे स्थान बनावेंगे जो मेरी सखी को बहुत प्यारे थे।

राजा—श्रूयताम्-

कार्या सैकतलीनहंसमिथुनास्रोतोवहा मालिनी

पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः ।

शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातिमिच्छाम्यधः

शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥ 17 ॥

विदूषकः—(आत्मगतम्) जह अहं देखामि पूरिदव्वं णेण चित्तफलअं लम्बकुच्चाणं तावसाणं कदम्बेहिं । (यथाऽहं पश्यामि पूरितव्यमनेन चित्रफलकं लम्बकूर्वानां तापसानां कदम्बैः ।)

राजा—वयस्य! अन्यच्च शकुन्तलायाः प्रसाधनमभिप्रेतमत्रविस्मृतमस्माभिः ।

विदूषकः—किं विअ । (किमिव ।)

सानुमती—वणवासस्स साउमारस्स अ जं सरिसं भविस्सदि । (वनवासस्य सौकुमार्यस्य च यत्सदृशं भविष्यति ।)

राजा—

कृतं न कर्णापितबन्धनं सखे शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम् ।

न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे ॥ 18 ॥

विदूषकः—भो! किं णु तत्तहोदी रत्तकुवलअपल्लवसोहिणा अग्हत्थेण मुहं ओवारिअ चइदचइदा विअ ट्ठिआ । (सावधानं निरूप्य दृष्ट्वा) आ एसो दासीएपुत्तो कुसुमरसपाडच्चरो तत्तहोदीए वअणं अहिलंघं दि महुअरो । (भौः! किं नु तत्रभवती रत्तकुवलपल्लवशोभिनाऽग्रहस्तेन मुखमपवार्य चकितचकितेव स्थिता । आः एष दास्याः पुत्रः कुसुमरसपाटच्चरस्तत्रीवत्या वदनमभिलङ्घति मधुकरः ।)

राजा—सुनो! अभी मालिनी नदी बनानी है जिसकी रेती में हैंस के जोड़े बैठे हों। उसके दोनों ओर हिमालय की वह तलहटी दिखानी है जहाँ हरिण बैठे हुए हों। मैं एक ऐसा पेड़ भी खींच देना चाहता हूँ जिसपर वल्कल के वस्त्र टंग हुए हों और जिनके नीचे एक हरिणी काले हरिण-को सींग से रगड़कर अपनी बाईं आँख खुजला रही हो ॥ 17 ॥

विदूषक—(आप ही आप) मैं तो समझता हूँ कि इन्हें इस चित्र को लम्बी दाढ़ी वाले तपस्वियों से भर डालना चाहिए ।

राजा—वयस्य! और अभी तो मैं शकुन्तला को जो आभूषण पहनाना चाहता था वे ही बनाना भूल गया हूँ ।

विदूषक—वे कौन-कौन से?

सानुमती—वे ही जो उस जैसी सुकुमारी वननासिनी कुमारियाँ पहना करती हैं ।

राजा—वयस्य, अभी तो मैं वह सिरका फूल भी नहीं बना पाया जिसकी डंठल उसने कानों पर धर रखी थी और जिसका पराग उसके गालों पर आ फैला था । और अभी तो उसके स्तनों के बीच चन्द्रमा की किरण के समान पतले कमल के तन्तुओं की माला भी नहीं बना पाया हूँ ॥ 18 ॥

विदूषक—क्यों मित्र! देवी अपनी कमल की पंखड़ी के समान कोमल और लाल हथेलियों से अपना मुँह ढके बहुत डरी हुई-सी खड़ी क्यों दिखाई दे रही हैं? (ध्यान से देखकर) अरे! देखिए, यह फलों के रसका चोर नीच भौंरा देवी के मुँह पर मँडराए जा रहा है ।

राजा—भगाओ तो इस ढीठ को ।

राजा—ननु वार्यतामेष धृष्टः।

विदूषक—भवं एव्य अविणीदाणं सासिदा इमस्स वारणे पहविस्सदि। (भवानेवाविनीतानां शासिताऽस्य वारणे प्रभविष्यति।)

राजा—युज्यते। अपि भोः कुसुमलताप्रियातिथे! किमत्र परिपतनखेदमनुभवसि।

एषा कुसुमनिषण्णा तृषिताऽपि सती भवन्तमनुरक्ता।

प्रतिपालयति मधुकरी न खलु मधु बिना तवया पिबति॥ 19॥

सानुमती—अज्ज वि अभिजादं क्खु एसो वारिदो। (अद्याप्यभिजातं खल्लेष वारितः।)

विदूषक—पडिस्सिद्धा वि वामा एसा जादी। (प्रतिषिद्धापि वामेषा जातिः।)

राजा—एवं भो न मे शासने तिष्ठसि। श्रूयतां तर्हि संप्रति—

अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं पीतं मया सदयमेव रतोत्सवेषु।

बिम्बाधरं स्पृशसि चेद्भ्रमर प्रियायास्त्वां कारयामि कमलोदरबनधनस्थम्॥ 20॥

विदूषक—एवं विक्खणदण्डस्स किं ण भाइस्सदि। (प्रहस्य आत्मगतम्) एसो दाव उम्मत्तो। अहं पि एदस्स संगेण ईदिसवण्णे विभ संवुतो। (प्रकाशम्) भो चित्तं क्खु एदं। (एवं तीक्ष्णदण्डस्य किं न भेष्यति। एष तावदुन्मत्तः। अहमप्येतस्य सङ्गनेदृशवर्ण इव संयुतः। भोः चित्रं खल्वेतत्।)

राजा—कथं चित्रम्?

सानुमती—अहं पि दाणिं अवगदत्या। किं उण जहालिहिदाणुभावी एसो। (अहमपीदानीमवगतास्थां किं पुनर्ययालिखितानुभाव्येषः।)

विदूषक—दुष्टों को दण्ड देना तो आपका काम है, इसलिये भगाना हो तो अब आप ही इसे भगाइए।

राजा—अच्छी बात है! ओ रे फूल और लताओं के प्यारे अतिथि! तू क्यों इसके मुँह पर मँडराने का कष्ट किए डाल रहा है। तेरे प्रेम की प्यासी भौरी तो तेरी ओर आँख लगाए उस फूल पर बैठी तेरे बिना मकरन्द नहीं पी सक रही है॥ 19॥

सानुमती—इस अवस्था में भी ये कितनी कोमलता से भौर को चले जाने के लिये कह रहे हैं।

विदूषक—लात के देवता बात से थोड़े ही मानते हैं।

राजा—क्यों रे! तू मेरा कहना नहीं मान रहा है? तो ले सुन-मेरी प्यारी का जो ओठ अछूने नन्हे पौधे की कोमल कोपलों के समान लाल है और जिसे मैंने रति के समय भी बहुत बचा—बचाकर पीया था उसे यदि तैने छुआ तो तुझे कमल के कोश में डालकर बन्दी करा रखूँगा॥ 20॥

विदूषक—क्या तू ऐसे कठोर दण्ड देने वाले से भी नहीं डरता? (हँसकर आप ही आप) ओ हो, ये तो पागल हो ही गए हैं। इनके साथ रहने से मैं भी कुछ-कुछ वैसा ही हो चला हूँ। (प्रकट) अरे महाराज! यह तो चित्र है।

राजा—ऐं! क्या चित्र है?

सानुमती—स्वयं मैं ही जब अभी समझ पाई कि यह चित्र है, तब भला उसका तो पूछना ही क्या जिसने शकुन्तला में तल्लीन होकर चित्र बनाया है।

राजा—यह तुमने क्या दुष्कर्म कर डाला मित्र! मैं तो बड़ा मगन होकर सामने खड़ी हुई शकुन्तला

राजा—वयस्य! किमिदमनुष्ठितं पौरोभाग्यम्।

दर्शनसुखमनुभवतः साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन।

स्मृतिकारिणा त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता ॥ 21 ॥

(इति वाष्पं विहरति)

सानुमति—पुष्पावरविराही अपुष्पो एसो विरहमग्गो। (पूर्धापरविरोध्यपूर्व एष विरहमार्गः।)

राजा—वयस्य! कथमेवमविश्रान्तदुःखमनुभवामि।

प्रजागरात्खिलीभूतस्तस्याः स्वप्ने समागमः।

वाष्पस्तु न ददातयेनां द्रष्टुं चित्रगतामपि ॥ 22 ॥

सानुमती—सच्यहा पमज्जिदं तुएपच्चादेसदुक्खं सउन्दलाए। (सर्वथाप्रमार्जितं त्वया प्रतयादेशदुःखं शकुन्तलायाः।)

(प्रविश्य)

चतुरिका—जेदु जेदु भट्टा। बट्टिवाकरंडअं गेण्हिअ इदोमुहं पत्थिद म्हि। (जयतु जयतु भर्ता।
वर्तिकाकरण्डकं गृहीत्वेतोमुखं प्रस्थिताऽस्मि।)

राजा—किं च।

चतुरिका—सो मे हत्यादो अनतरा तरखिआदुदीआए देवीए वसुमदीए अहं एव्व अज्जउतस्य उवणइस्सं त्ति सबलक्कारं गहीदो। (स मे हस्तावन्तरान्तरलिकाद्वितीयया देव्या वसुमत्याऽहमेवार्य-पुत्रस्योपनेष्यामीति सबलात्कारं गृहीतः।)

विदूषकः—दिट्ठिआ तुमं मुक्का। (दिष्टया त्वं मुक्ता।)

के दर्शन का आनन्द ले रहा था। पर तुमने स्मरण दिलाकर मेरी प्यारी को चित्र ही बना डाला ॥ 21 ॥

(ऐसा कहकर आँसू बहाने लगता है।)

सानुमती—विरह का मार्ग सचमुच कुछ निराला ही होता है, जिसमें पहले कुछ होता है, पीछे कुछ और ही होने लगता है।

राजा—वयस्य! जानते हो, इस समय मेरे हृदय पर कैसी बीत रही है? नींद न लगने के कारण न तो मैं उससे स्वप्न में ही मिल पाता और न सदा बहते रहने वाले ये आँसू उसे चित्र में ही देखने देते ॥ 22 ॥

सानुमती—शकुन्तला को दुतकार कर तुमने हम लोगों के मन में जो कसक भर दी थी वह आज तुमने सब धो डाली।

(प्रवेश करके)

चतुरिका—जय हो, महाराज की जय हो। चित्र-सामग्री का डब्बा लिए हुए मैं इधर ही चली आ रही थी कि-

राजा—तो क्या हुआ?

चतुरिका—बीच में ही तरलिका के साथ आती हुई महारानी वसुमती ने यह कहकर मुझसे बलपूर्वक यह डब्बा छीन लिया कि मैं स्वयं इसे आर्यपुत्र के पास पहुँचाए आती हूँ।

विदूषक—तू अपना बड़ा भाग समझ कि उनके हाथ से बिना पिटे ही बची निकल आई।

चतुरिका—जाव देवीए विडवलगं उत्तरीअं तरलिआमोचेदि ताण भए णिव्वाहिदो अता । (यावद्देव्या विटपलग्नमुत्तरीयं तरलिका मोचयति तावन्मया निर्वाहित आत्मा ।)

राजा—वयस्य! उपस्थिता देवी बहमागर्विता च । भवानिमां प्रतिकृतिं रक्षतु ।

विदूषकः—अत्ताणं ति भणाहि । (चित्रफलकमादायोत्थाय च) जह भवं अंतेउरकालकूडादो मुंचीअदि तदो मं मेहप्पडिच्छन्दे पासादे सद्दावेहि । (आत्मानमिति भण । यदि भवानन्तः पुरकालकूटान्मोक्षयते तदा मां मेघप्रतिच्छन्दे प्रसादे शब्दापय ।) (इति द्रुतपदं निष्क्रान्तः ।)

सानुमती—अण्णसंकंतहिअओवि पढमसंभावणं अवेक्खदि । अदिसिढिलसोहदो दाणिं एसो । (अन्यसंक्रान्तहृदयोऽपि प्रथमसंभावनामपेक्षते । अतिशयिलसोहार्द इदानीमेवः ।)

(प्रविष्य पत्रहस्ता)

प्रतीहारी—जेदु जेदु देवो । (जयतु जयतु देवः ।)

राजा—वेत्रवति! न खल्वन्तरा दृष्ट्वा त्वया देवी ।

प्रतीहारी—अह इं । पत्तहत्थं मं देखिखअ पडिणिउत्ता । (अथ किम् । पत्रहस्ता मां प्रेक्ष्य प्रतिनिवृत्ता ।)

राजा—कार्यज्ञा कार्योपरोधं मे परिहरति ।

प्रतीहारी—देव! अमच्चो विण्णवेदि—अत्थजादस्य गणणाबहलदाए एक्कं एव्व पोरकज्जं अवक्खिदं तं देवो पतारूढं पच्चकखीकरेदु ति । (देव अमात्यो विज्ञापयति अर्थजातस्य गणनाबहुलतयैकमेव पौरकार्यमवेक्षितं)

चतुरिका—उधर तरलिका वृक्ष की डाली में उलझी हुई महारानी की ओढ़नी छुड़ाने में लगी, इधर मैं धीरे से यहाँ खिसक आई ।

राजा—जान पड़ता है महारानी बड़ा मुँह फुलाए इधर ही चली आ रही है, इसलिये अब इस चित्र को कहीं और ले जा छिपाओ ।

विदूषक—यह क्यों नहीं कहते कि हमें ही ले जा छिपाओ? (चित्रपट लेकर उठकर) अच्छा, जब आपको रनिवास के चंगुल से छुटकारा मिल जाय तब मेघप्रतिच्छन्द भवन में मुझे पुकार बुलाइएगा । (झपटकर निकल जाता है ।)

सानुमती—इन्होंने दूसरे को हृदय दे डाला है सही, पर ये अपनी पहली रानी के प्रेम को भी ठेस नहीं लगने देना चाहते । पर सच्ची बात तो यह है कि रानी के लिये राजा के मन में कुछ भी प्रेम बचा नहीं रह पाया है ।

(हाथ में पत्र लिए हुए प्रतीहारी का प्रवेश)

प्रतीहारी—जय हो, महाराज की जय हो ।

राजा—वेत्रवती! तुम्हें बीच में महारानी तो नहीं मिली थीं?

प्रतीहारी—जी हाँ, मिली थीं । पर मेरे हाथ में यह पत्र देखकर अभी उलटे पाँवों लौट गई हैं ।

राजा—वे समय-कुसमय पहचानती हैं इसलिये मेरे काम में बाधा नहीं बनना चाहती होंगी ।

प्रतीहारी—महाराज! अमात्य ने कहलाया है कि आज का सारा दिन तो कई विभागों के रुपये-पैसे का जोड़ लगाने में ही बीत गया । इसलिये प्रजा का केवल एक ही काम मैं देख पाया हूँ । उसे पत्र में

तद्देवः पन्नारूढं प्रत्यक्षीकरोत्विति ।)

राजा—इतः पत्रिकां दर्शय ।

(प्रतीहार्युपनयति ।)

राजा—(अनुवाच्य) कथम् । समुद्रव्यवहारीसार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः । अनपत्यश्च किल तपस्वी । राजगामी तस्यार्थसंचय इत्येतदमातयेन लिखितम् । कष्टं खल्ववपत्यता । वेत्रवति ! बहुधनत्यादृबहुपत्नीकेन तत्रभवता भवितव्यम् । विचीयतां यदि काचिदापन्नसत्त्वा तस्य भार्यासु स्यात् ।

प्रतिहारी—देव ! दाणिं एव साकेदअस्मं सेट्टिणो दुहिआ णिव्वुत्तपुंसवणा जाआ से सुणीअदि । (देव ! इदानीमेव साकेतस्य श्रेष्ठिनो दुहिता निर्वृत्तपुंसवना जायाऽस्य श्रूयते ।)

राजा—ननु गर्भः पित्र्यं रिक्थमर्हति । गच्छ । एवममात्यं ब्रूहि ।

प्रतीहारी—जं देवो आणवेदि । (यद्देव आज्ञापयति ।) (इति प्रस्थिता ।)

राजा—एहि तावत् ।

प्रतहारी—इअम्हि । (इयमस्मि ।)

राजा—किमनेन संततिरति नास्तीति ।

येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना ।

स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति धुष्यताम् ॥ 23 ॥

पढ़कर ही देव समझ लें ।

राजा—लाओ, पत्र इधर दो ।

(प्रतीहारी पत्र ले जाकर देती है ।)

राजा—(बाँचकर) अरे ! क्या नाव डूबने से समुद्र के व्यापारी धनमित्र की मृत्यु हो गई । बेचारे के कोई सन्तान भी नहीं थी । और प्रधान मंत्री लिखते हैं कि उसका सब धन राज-कोष में आ जाना चाहिए । निःसन्तान होना भी कितना कष्टदायक होता है । अच्छा वेत्रवती ! सेठ के पास कोई कमी तो थी नहीं इसलिये उनके बहुत सी सेठनियाँ होंगी । जाकर पता तो लगाओ कि उनमें से कोई गर्भवती भी है ?

प्रतीहारी—हाँ देव ! सुना जाता है कि अयोध्यावाले सेठ की जो कन्या उनसे ब्याही थी उसने अभी थोड़े दिन हुए पुंसवन संस्कार कराया है ।

राजा—तब जाकर अमात्य से कह देना कि वह गर्भ का बालक ही सेठ के सारे धनका स्वामी होगा ।

प्रतीहारी—जैसी महाराज की आज्ञा । (यह कहकर चली जाती है ।)

राजा—अच्छा, इधर तो सुनो !

प्रतीहारी—जी, आई ।

राजा—किसी के सन्तान होने या न होने से क्या ? जाकर डौंडी पिटवा दो कि पापियों को छोड़कर हमारी प्रजा के जितने लोग हैं उनके जो जो कुटुम्बी न रहें उनका कुटुम्बी दुष्यन्त समझा जाय ॥ 23 ॥

प्रतीहारी—जी, यही डौंडी पिटवा दी जायगी । (लौटकर) महाराज की यह आज्ञा सुनकर प्रजा वैसे ही मगन हो उठी है जैसे समय पर पानी बरसने से खेती लहलहा उठती है ।

प्रतीहारी—एवं णाम घोसइदव्वं। (निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य) काले पवुडुं विअ अहिणंदिदं देवस्स सासणम्। (एवं नाम घोषयितव्यम्। काले प्रवृष्टमिवाभिनन्दितं देवस्य शासनम्।)

राजा—(दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य) एवं भोः संततिच्छेदनिरवलम्बानां कुलानां मूलपुरुषावसाने संपदः परमुपतिष्ठन्ति। ममाप्यन्ते पुरुवंशश्चिय एष एव वृत्तान्तः।

प्रतीहारी—पडिहदं अमंगलम्। (प्रतिहतममङ्गलम्।)

राजा—धिङ्मामुपस्थिसश्रेयोऽवमानिनम्।

सानुमती—असंसअं सहिं अव्व हिअए करिअ णिंदिदो णेण अप्पा। (असंशयं सखीमेव हृदये कृत्वा निन्दितोऽनेनात्मा।)

राजा— संरोपितेऽत्यात्मनि धर्मपत्नी त्यक्ता मया नाम कुलप्रतिष्ठा।

कल्पिष्यामाण बहते फलाय बसुन्धरा काल इवोप्तबीजा॥ 24॥

सानुमती—अपरिच्छिन्ना दाणिं दे संददी भविस्सदि। (अपरिच्छिन्नेदानीं ते सन्तति-भैविष्यति।)

चतुरिका—(जनान्तिकम्) अए इमिणा सतथवाहवुत्तन्तेण दिसणुव्वेओ भट्टा। णं अस्सासिदुं मेहप्पडिच्छन्दादो अज्जं माढव्वं गेण्हअ आअच्छेहि। (अपि अनेन सार्थवाह-वृत्तान्तेन द्विगुणोद्वेगो भर्ता। एनमाश्वासयितुं मेघ प्रतिच्छन्दादार्य माढव्यं गृहीत्वागच्छ।)

प्रतीहारी—सुट्ठा भणासि। (सुष्टु भणसि।) (इति निष्क्रान्ता।)

राजा—अहो दुष्यन्तस्य संशयमारूढः पिण्डभाजः। कुतः।

राजा—(लम्बी साँस लेकर) इसी प्रकार निपूतों का कुल धन उनके न रहने पर दूसरों के हाथ चला जाया करता है। मेरे पीछे पुरुवंश की राज्य-लक्ष्मी की भी यही दशा होने वाली है।

प्रतीहारी—भगवान् ऐसे बुरे दिन न दिखावें।

राजा—घर आई लक्ष्मी का निरादर करने वाले मुझ अभागे को धिक्कार है।

सानुमती—इसमें सन्देह नहीं कि राजा ने शकुन्तला वाली बात पर ही अपने को धिक्कारा है।

राजा—जैसे समय पर बोई हुई पृथ्वी फल देती है वैसे ही मुझसे गर्भ धारण करके जो मेरे कुल को चलाने वाली धर्म-पत्नी थी उसे ही मैंने निरादर के साथ छोड़ दिया॥ 24॥

सानुमती—तुम्हारी सन्तान तुम्हारा वंश चलाने वाली होगी।

चतुरिका—(अलग) अरी प्रतीहारी! यह सेठ वाली बात सुनकर तो राजा का दुःख दूना बढ़ गया है। इसलिये इनका मन बहलाने को आर्य माढव्य को मेघप्रतिच्छन्दभवन से बुला तो ले आ।

प्रतीहारी—यह ठीक कहती हो। (जाती है।)

राजा—दुष्यन्त के पितर भी बेचारे बड़े सदेह में पड़ गए होंगे, क्योंकि—वे विकल होकर सोच रहे होंगे कि दुष्यन्त के पीछे कौन हमारा वैदिक विधि से तर्पण करेगा और इसी सोच में वे मेरे हाथ से तर्पण

अस्मात्परं बत यथाश्रुति संभृतानि को नः कुले निवपनानि करिष्यतीति ।

नूनं प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं धौताश्रुशेषमुदकं पितरः पिबन्ति ॥ 25 ॥

(इति मोहमुपगतः)

चतुरिका—(ससंभ्रममवलोक्य) समस्ससदु समस्ससदु भट्टा । (समाश्वसितु समाश्वसितु भर्ता ।)

सानुमती—हृद्धी हृद्धी । सदि क्खु दीवे ववधानदोसेण एसो अंधआरदोसं अणुहोदि । अहं दाणिं एव्व णिव्वदं करेमि । बहवा सुदं मए सउन्दलं समत्सासअन्तीए महेंदजणोए मुहादो जण्णभावोस्सुआ देवा एव्व तह अणुचिद्धिस्सन्ति जइ अइरेण धम्मपदिणिं भट्टा अहिणन्दिस्सदि ति । ता ण जुत्तं एदं कालं पडिपालिदुं । जाव इमिणा वुत्तान्तेण पिअसहिं समस्सासेमि । (हा धिक् । हा धिक् । सति खलु दीपे व्यवधानदोषेणैषोऽन्धकारदोषमनुभवति । अहमिदानीपमेव निर्वृतं करोमि । अथवा श्रुतं मया शकुन्तलां समाशवासयन्त्या महेन्द्रजनन्या मुखात्-यज्ञभागोत्सुका देवा एव तथानुष्ठास्यन्ति यथाऽचिरेण धर्मपत्नीं भर्ताऽभिनन्दिष्यतीति । तन्न युक्तं कालं प्रतिपालयितुम् । यावदनेन वृत्तान्तेन प्रियसखीं समाशवासयामि ।) (इत्युद्भ्रान्तकेन निष्क्रान्ता ।)

(नेपथ्ये) अब्बम्हण्णम् । [अब्रह्मण्यम्]

राजा—(प्रत्यागतः कर्णदत्त्वा) (अये माधव्यस्येवार्तस्वरः । कः कोऽत्र भोः ।

(प्रविश्य)

प्रतीहारी—(ससंभ्रमम्) परिताअदु देवो संसअगदं वअस्सम् । (परित्रायता देवः संशयगतं वयस्यम् ।)

राजा—केनात्तगन्धो माणवकः ।

किए हुए जल के कुछ भाग से तो अपने आँसू धोते होंगे और जो बच रहता होगा बस उतना ही पी पाते होंगे ॥ 25 ॥

(ऐसा कहकर मूर्च्छित हो जाते हैं ।)

चतुरिका—(घबराहट के साथ देखकर) धीरज धरिए महाराज! धीरज धरिए ।

सानुमती—हाय हाय! जैसे दीपक होते हुए भी बीच में ओट पड़ जाने से अंधेरा हो जाता है वैसे ही इस राजा को मोह हो भी गया है । मैं तो अभी इसकी चिन्ता मिटा डालती पर इन्द्र की माता अदिति ने शकुन्तला को समझाते हुए कहा था कि यज्ञ में भाग पाने को उत्सुक देवता ही तुम्हारा और दुष्यन्त का मिलन करावेंगे । तो अब देर नहीं करनी चाहिए । चलो, शकुन्तला को ये सब बातें सुना आऊँ तो उसे बड़ा धीरज हो जाय ।

(झटके से ऊपर उड़ जाती है ।)

(नेपथ्य में) अरे मार डाला ब्राह्मण को, मार डाला ।

राजा—(सजग होकर कान लगाकर) अरे! यह तो माधव्य का-सा रोना सुनाई पड़ रहा है । अरे! कोई है?

(प्रवेश करके)

प्रतीहारी—(घबराहट के स्वर में) महाराज! आपके मित्र बड़े संकट में पड़ गए हैं । बचाइए चलकर उन्हें ।

राजा—माधव्य को किसने सता रक्खा है?

प्रतीहारी—अदिट्ठरूवेण केण वि सत्तेण अदिक्कमिअ मेहप्पडिच्छन्दस्य पासादस्स अग्गभूमिं आरोविदो ।
(अदृष्टरूपेण केनापि सत्त्वेनातिक्रमय मेघप्रतिच्छन्दस्याग्रभूमिमारोपितः)

राजा— (उत्थाय) मा तावत् । ममापि सत्त्वैरभिभूयन्ते गृहाः ।

अथवा-

अहन्यइन्यात्मन एव तावज्जातुं प्रमादस्खलितं न शक्यम् ।

प्रजासु कः केन पथा प्रयातीत्यशेषतो वेदितुमिस्ति शक्तिः ॥ 26 ॥

(नेपथ्ये)

भो वअस्स! अविहा अविहा । (भो वयस्य! अविहा अविहा ।)

राजा—(गतिभेदेन परिक्रामन्) सखे! न भेतव्यं न भेतव्यम् ।

(नेपथ्ये)

(पुनस्तदेव पठित्वा) कहं ण भाइस्सं । एस मं को वि पच्चवणदसिरोहरं इक्खुं विअ तिण्णभंगं करेदि ।
(कथं न भेष्यामि । एष मां कोऽपि प्रत्यवनतशिरोधरमिभूमिव त्रिभङ्गं करोति)

राजा—(सदृष्टिक्षेपम्) धनुस्तावत् ।

(प्रविश्य शार्ङ्गहस्ता)

यवनी—भट्टा एदं हत्वावावसहिदं सरासणं । (भर्तः एतद्धास्तावाप सहितं शरासनम् ।)

(राजा सशरं धनुरादत्ते ।)

प्रतीहारी—किसी छिपे भूत-प्रेत ने उन्हें पकड़कर मेघ-प्रतिच्छन्द-भवन के मुंडरे पर ले जा टाँगा है ।

राजा—(उठकर) यह कैसे हो सकता है? क्या मेरे घर में भी भूत-प्रेत अड़्डा जमाने लगे हैं? पर यह हो भी सकता है—क्योंकि जब मनुष्य यही नहीं जानता कि वह स्वयं भूल से नित्य कितने पाप कर बैठता है तब यह कैसे जाना जा सकता है कि प्रजा में कौन किस समय क्या कर रहा है ॥ 26 ॥

(नेपथ्य में)

दुहाई है मित्र, दुहाई!

राजा—(वेग से घूमता हुआ) डरो मत मित्र, डरो मत ।

(नेपथ्य में)

हाय, हाय! डरूँ क्यों नहीं! यहाँ कोई मेरे गले को ईख के समान मरोड़कर तीन टुकड़े किए डाल रहा है ।

राजा—(चारों ओर देखता हुआ) अरे, धनुष् तो ले आओ ।

(हाथ में धनुष् लिए हुए प्रवेश करके)

यवनी—महाराज! यह लीजिए धनुष् और हथरखा । (राजा धनुष-बाण ले लेते हैं ।)

(नेपथ्य में)

(नेपथ्ये)

एष त्वामभिनवकण्ठशोणितार्थी शार्दूलः पशुमिव हन्मि चेष्टमानम् ।

आर्तानां भयमपनेतुमातधन्वा दुष्यन्तस्तव शरणं भवत्विदानीम् ॥ 27 ॥

राजा—(सरोषम्) कथं मामेवोद्दिशति । तिष्ठ कुणपाशन ! त्वमिदानीं न भविष्यसि । (शङ्कमारोप्य) वेत्रवति ! सोपानमार्गमादेशय ।

प्रतिहारी—इदो इदो देवो । (इत इतो देवः ।)

(सर्वे सत्वरमुपसर्पन्ति)

राजा—(समन्ताद्विलोक्य) शून्यं खल्विदम् ।

(नेपथ्ये)

अविहा अविहा । अहं अत्त अवन्तं पेक्खमि । तुमं मं ण पेक्खसि । विडालग्गहीदो मूसओ विअ गिरासो म्हि जीविदे संवुत्तो । (अविहा अविहा । अहमवभन्तं पश्यामि । त्वं मां न पश्यसि । विडालग्रहीतो मूषक इव निराशोऽस्मि जीविते संवृतः ।)

राजा—भोस्तिरस्करिणीगवित ! मदीयमस्त्रं त्वां द्रक्ष्मति । एष तमिषुं संदधे ।

यो हनिष्यति वध्यं तवां रक्ष्यं रक्षिव्यति द्विजम् ।

हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः ॥ 28 ॥

(इत्यसं संधते)

(ततः प्रविशति विदूषकमुत्सृज्य मातलिः ।)

तेरे कंठ के गरम रुधिर का प्यासा मैं तेरा उसी प्रकार वध किए डालता हूँ जैसे तड़पते हुए पशु को सिंह मार डालता है । अब आवें न पीड़ितों के रक्षक धनुर्धारी दुष्यन्त तुझे बचाने ॥ 27 ॥

राजा—क्या तू मुझे भी चुनौती दिए डाल रहा है ? तो ठहर सड़ा माँस खाने वाले पिशाच ! मैं अभी तुझे मारे डालता हूँ । (धनुष चढ़ाकर) वेत्रवती ! चल तो आगे-आगे सीढ़ी पर ।

प्रतिहारी—इधर से आइए देव, इधर से ।

(सबका वेग से प्रस्थान)

राजा—(चारों ओर देखकर) यहाँ तो कहीं कोई नहीं दिखाई दे रहा है ।

(नेपथ्य में)

हाय ! हाय ! मैं आपको देख रहा हूँ, पर आप मुझे नहीं देख रहे हैं । मैं तो बिल्ली के पंजों में पड़े हुए चूहे के समान अपने प्राणों से हाथ धोए बैठा हूँ ।

राजा—अच्छा रे छल-विद्या के घमँडी ! अब मेरा बाण ही तुझे देख लेगा । देख ! मैं यह बाण चढ़ाता हूँ और जैसे पनियल दूध में से हँस दूध-दूध पी जाता है और पानी-पानी छोड़ देता है वैसे ही यह भी तुझ मारे जाने वाले को मार डालेगा और इस बचाए जाने वाले ब्राह्मण को बचा लेगा ॥ 28 ॥

(बाण चढ़ाता है)

(विदूषक को छोड़कर मातलिका प्रवेश)

मातलि:-

कृताः शरव्यं हरिणा तवासुराः शरासनं तेषु विकृष्यतामिदम् ।

प्रसादसौम्यानि सतां सुहृज्जने पतन्ति चक्षूषि न दारुणाः शराः ॥ 29 ॥

राजा—(संसभ्रममस्त्रमुपसंहरद्) अये मातलिः । स्वागतं महेन्द्रसारथे !

(प्रविश्य)

विदूषक—अहं जेण इट्ठिपसुमारं मारिदो सो इमिणा साअदेण अहिणन्दीअदि । (अहं येनेष्टिपशुमारं मारितः सोऽनेन स्वातेनाभिनन्दते ।)

मातलिः—(सस्मितम्) आयुष्मन् ! श्रूयतां यदर्थमस्मि हरिणा वत्सकाशं प्रेषितः ।

राजाः—अवहितोऽस्मि ।

मातलिः—अस्ति कालनेमिप्रसूतिर्दूर्जयो नाम दानवगणः ।

राजा अस्ति । श्रुतपूर्वं मया नारदात् ।

मातलि:-

सख्युस्ते स किल शतक्रतोरजय्यस्तस्य त्वं रणशिरसि स्मृतो निहन्ता ।

उच्छेतुं प्रभवति यत्र सप्तसप्तिस्तन्नैशं तिमिरमपाकरोति चन्द्रः ॥ 30 ॥

स भवानात्तशस्त्र एव इदानीं तमैन्द्ररथमारुह्य विजयाय प्रतिष्ठताम् ।

मातलि—इन्द्र ने राक्षसों के मारने का काम आपको सौंपा है । अब आप चलकर उस राक्षसों पर ही अपने बाण चलाइए क्योंकि सज्जन लोग अपने मित्रों पर बाण नहीं, अपनी कृपा बरसाया करते हैं ।। 29 ।।

राजा—(बाण उतारता हुआ) कौन ? मातलि ! आओ, आओ, स्वागत है इन्द्र के सारथि !

विदूषक—(प्रवेश करके) अरे ! जो मुझे बलि-पशु के समान अभी मारे डाल रहा था उसका यहाँ स्वागत किया जा रहा है ।

मातलि—(मुस्कराकर) आयुष्मन् ! इन्द्र ने मुझे जिस काम से आपके पास भेजा है वह पहले सुन लीजिए ।

राजा—हाँ हाँ कहिए, मैं सुन रहा हूँ ।

मातलि—कालनेमि के वंश वाले दानवों का एक ऐसा दल उठ खड़ा हुआ है जो हराए नहीं हार पा रहा है ।

राजा—हाँ, नारद मुनि ने बहुत दिन हुए मुझसे बताया था ।

मातलि—आपके मित्र इन्द्र उन्हें जीत नहीं पा रहे हैं । अब यही समझा गया है कि आप ही रणक्षेत्र में उन दानवों को पछाड़ सकते हैं क्योंकि रात के जिस अँधेरे को सूर्य नहीं दूर कर सकता उसे चन्द्रमा ही हर पाता है ।। 30 ।।

अब आप यह धनुष-बाण लिए-दिए इसी इन्द्र के रथ पर चढ़े विजय के लिये चले चलिए ।

राजा—अनुगृहीतोऽहमनया मघवतः संभावनया । अथ माधव्यं प्रति भवता किमेवं प्रयुक्तम् ।

मातलिः—तदपि कथ्यते । किञ्चित्रिमित्तादपि मनःसंतापादायुष्मान्मया विक्लवो दृष्टः । पश्चात्कोपवितुमायुष्मनतं तथा कृतवानस्मि । कुतः ।

ज्वलित चलितेन्धनोऽग्निर्विप्रकृतः पन्नगः फुणां कुरुते ।

प्रायः स्वं महिमानं क्षोभात्प्रतिपद्यते हि जनः ॥ 31 ॥

राजा—(जनान्तिकम्) वयस्य ! अनतिक्रमणीया दिवस्पते राजा । तदत्र परिगतार्थं कृत्वा मद्बचनादमात्यपिशुनं ब्रूहि-

त्वन्मततिः केवला तावत्परिपालयतु प्रजाः ।

अधिज्यभिदमन्यस्मिन्कर्मणि व्यापृतं धनुः ॥ 32 ॥

इति ।

विदूषकः—जं भवं आणवेदि । (यद्भवानाज्ञापयति) (इति निष्क्रान्तः ।)

मातलिः—आयुष्मान् ! रथमारोहतु ।

(राजा रथाधिरोहणं नाटयति ।)

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

॥ इति षष्ठोऽङ्कः ॥



राजा—भगवान् इन्द्र ने यह सम्मान देकर मुझ पर बड़ा अनुग्रह किया है । पर यह तो बताइए कि आपने माधव्य के साथ ऐसा व्यवहार क्यों किया ।

मातलि—वह भी बताता हूँ । मैंने आकर देखा कि आपका मन न जाने क्यों बड़ा दुखी हो रहा है । इसलिये आपका क्रोध जगाने के लिए मैंने यही ठीक समझा । क्योंकि आग तभी जगती है जब ईंधन को हिला-डुला दिया जाय और साँप भी अपना फन उठाकर तभी फुफकारता है जब उसे कोई छेड़ दे । इसी प्रकार मनुष्य को भी जब तक कोई उकसाकर भड़का न दे तब तक वह अपना तेज नहीं दिखला पाता ॥ 31 ॥

राजा—(विदूषक से) वयस्य ! इन्द्र भगवान् की आज्ञा तो टाली नहीं जा सकती । इसलिये अमात्य पिशुन को यह सब समाचार सुना देना और मेरी ओर से उनसे कह देना कि—जब तक मेरा धनुष उधर दूसरे काम में फँसा हुआ है तब-तक अपनी बुद्धि से ही प्रजा का पालन करें ॥ 32 ॥

विदूषक—जैसी आपकी आज्ञा । (जाता है ।)

मातलि—चलें, आयुष्मान् रथ पर चढ़ जायें ।

(राजा रथ पर चढ़ने का नाट्य करते हैं ।)

(सबका प्रस्थान)

॥ छठा अंक पूर्ण ॥



सप्तमोऽङ्कः

(ततः प्रविशव्याकाशयानेन रथाधिरूढो राजा मातलिश्च ।)

राजा—मातले! अनुष्ठितनिदेशोऽपि मघवतः सत्क्रियाविशेषादनुपयुक्तमिवात्मानं समर्थये ।

मातलिः—(सस्मितम्) आयुष्मन्! उभयमप्यपरितोषं समर्थये ।

प्रथमोपकृतं मरुत्वतः प्रतिपत्त्या लघु मन्यते भवान् ।

गणयत्यवदानविस्मितो भवतः सोऽपि न सत्क्रियागुणान् ॥ १ ॥

राजा—मातले! मा मैवम् । स खलु मनोरथानामप्यभूमिर्विसर्जनावसरसत्कारः मम हि दिवौकसां समक्षमर्धासनोपवेशितस्य-

अन्तर्गतप्रार्थनमन्तिकस्यं जयन्तमुद्दीक्ष्य कृतस्मितेन ।

आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्गा मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा ॥ २ ॥

मातलिः—किमिव नामायुष्मानमरेश्वरान्नाहति । पश्य-

सुखपरस्य हरेरुभयेः कृतं त्रिदिवसुद्धतदानवकष्टकम् ।

तव शरैरधुना नप्तपर्वभिः पुरुषकेसरिणश्च पुरा नखैः ॥ ३ ॥

सातवाँ अङ्क

(आकाश में रथ पर चढ़े हुए राजा दुष्यन्त और मातलि आते हैं ।)

राजा—मातलि! यद्यपि मैंने तो भगवान् इन्द्र की आज्ञा मात्र का पालन किया था, पर जैसी धूम-धाम से उन्होंने मेरा स्वागत-सत्कार किया उसके सामने तो मेरी सेवा कुछ भी नहीं थी ।

मातलि—(मुस्कराकर) आयुष्मान्! मैं तो समझता हूँ कि आप दोनों का ही मन एक दूसरे का आदर करके भर नहीं पाया । राजन्! इन्द्र का इतना बड़ा काम करके भी आप जो अपनी सेवा को तुच्छ समझे जा रहे हैं, उसका कारण यही है कि आप भगवान् इन्द्र को ही बड़प्पन देना चाहते हैं । और वे भी आपकी वीरता से इतने अचरज में भर गए हैं कि आपका इतना सम्मान करके भी वे समझ रहे हैं कि जैसा होना चाहिए था वैसा आपका ठीक-ठीक आदर हो नहीं पाया ॥ १ ॥

राजा—नहीं मातलि! यह बात नहीं है! वहाँ से चलते समय मेरा जो सत्कार हुआ है उतने सम्मान की तो कोई कल्पना भी नहीं कर सकता । उन्होंने देवताओं के सामने ही मुझे अपने आधे सिंहासन पर बुला बिठाया और अपनी छाती पर शोभा देती हुई हरिचन्दन लगी वह मन्दार की माला भी अपने गले से उतारकर मुस्कराते हुए मेरे गले में उठा पहनाई जिसे पाने के लिये जयन्त भी ललचाई आँखों से बैठा देख रहा था ॥ २ ॥

मातलि—मुझे बताइए ऐसा कौन सा सम्मान है जो देवराज इन्द्र के हाथ आप नहीं पा सकते । देखिए—सदा सुख का जीवन बिताने वाले इन्द्र के लिये दो ही तो ऐसे हुए हैं जिन्होंने राक्षस-रूपी काँटे स्वर्ग से उखाड़ फेंके हैं—एक तो नृसिंह भगवान् थे जिन्होंने अपने नखों से देवताओं के शत्रु हिरण्यकशिपु का पेट चीर फेंका था और दूसरे आप हैं जिन्होंने इस बार अपने चिकने-चिकने पोर वाले बाणों से शत्रुओं को मार भगाया है ॥ ३ ॥

राजा—अत्र खलु शतक्रतोरेव महिमा स्तुत्यः ।

सिध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः

संभावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम् ।

किं वाऽभविष्यदरुणस्तमसां विभेत्ता

तं चेत्सहस्रैरुणो धुरि नाकरिष्यत् ॥ 4 ॥

मातलिः—सदृशमेवैतत् । (स्तोकमन्तरमतीत्य) इतः पश्य नाकपृष्ठप्रतिष्ठितस्य सौभाग्यमात्मयशसः ।

विच्छित्तिशेषैः सुरसुन्दरीणां वर्णरमी कल्पलतांऽशुकेषु ।

विचिन्त्य गीतक्षममर्थजातं दिवौकसस्त्वच्चरितं लिखन्ति ॥ 5 ॥

राजा—मातले! असुरसंप्रहारोत्सुकेन पूर्वद्युर्दिवमधिरोहता मया न लक्षितः

मातलिः—

त्रिन्नोतसं वहति यो गगनप्रतिष्ठां ज्योतीषि वर्तयति च प्रविभक्तश्चिः ।

तस्य द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कं वायोरिमं परिवहस्य वदन्ति मार्गम् ॥ 6 ॥

राजा—मातले! अतः खलु सवाह्यान्तःकरणो ममान्तरात्मा प्रसीदति । (रथाङ्गमवलोक्य) मेघपदवीमवतीणौ स्वः ।

मातलिः—कथमवगम्यते ।

राजा—यह सब तो भगवान् इन्द्र की महिमा का फल है। यदि सेवक कोई बहुत बड़ा काम करे चला आवे तो यही समझना चाहिए कि स्वामी ने वह काम सौंपकर उसे जो बड़ा भारी सम्मान दे दिया था उसी का वह फल है। यदि सूर्य अपने आगे-आगे अरुण को न ले चले तो भला अरुण में इतनी शक्ति कहाँ कि वह अँधेरा मिटा सके ॥ 4 ॥

मातलि—ऐसी बातें कहना आपका बड़प्पन ही है। (थोड़ी दूर चलकर) आयुष्मान! इधर स्वर्ग में फैली हुई अपनी कीर्ति का प्रताप तो देखिए।—देवता लोगा कल्पवृक्ष के कपड़ों पर उन रंगों से आपके पराक्रम के गीत बना-बनाकर लिखते जा रहे हैं जो अप्सराओं के सिंगार से बचे रह गए हैं ॥ 5 ॥

राजा—मातलि! मैं जब आया था तब तो राक्षसों से युद्ध करने के ध्यान में इतना मग्न था कि उस बार स्वर्ग का मार्ग भली भाँति देख ही नहीं पाया था। अच्छा, यह तो बताओ कि हम लोग इस समय पवन के किस तल में चल रहे हैं?

मातलि—यह वही तल है जिसे लोगों के कथनानुसार वामन भगवान् ने अपने दूसरे पग से मापकर पवित्र कर दिया है। यहाँ परिवह नामका वह पवन बहा करता है जिसमें आकाश-गंगा बहा करती है और जो अपनी वायु-धाराओं से नक्षत्रों को ठीक-ठीक चलाया करता है ॥ 6 ॥

राजा—मातलि! यही कारण है कि मेरी भीतरी और बाहरी सब इन्द्रियों के साथ-साथ मेरा अन्तरात्मा भी प्रसन्न हो उठा है। (रथ के पहियों को देखते हुए) अब हम आकाश के उस भाग पर उतर आए हैं जिसमें बादल चला करते हैं।

मातलि—यह आपने कैसे जाना?

राजा-

अमरविवरेभ्यश्चातकैर्निष्पतद्भिर्हरिभिरुचिरभासां तेजसा चानुलिप्तैः।

गतमुपरि घनानां वारिगर्मोदराणां पिशुनयति रयस्ते शीकरक्लिन्नेमिः॥ 7॥

मातलिः—क्षणादायुष्मान्स्वाधिकारभूमौ वर्तिष्यते।

राजा—(अधोऽवलोक्य) मातले! वेगावतरणादाश्चर्यदर्शनः संलक्ष्यते मनुष्यलोकः। तथा हि-

शैलानामवरोहतीव शिखराबुन्मज्जतां मेदिनी

पर्णस्वान्तरलीनतां विजहति स्कन्धोदयात्पादपाः।

संतानैस्तनुभावनष्टसलिला व्यक्ति भजन्त्यापगाः

केनाप्युत्क्षिपतेय पश्य भुवनं मत्पाश्वर्यमानीयते॥ 8॥

मातलिः—साधु दृष्टम्। (सबहुमानमवलोक्य) अहो उदार रमणीया पृथिवी।

राजा—मातले! कतमोऽयं पूर्वापरसमुद्रावगाढः कनकरसनिष्यन्दी सांध्य इव मेघपरिधः सानुमानालोकयते।

मातलिः—आयुष्मन् एष खलु हेमकूटो नाम किंपुरुषपर्वतस्तपः ससि द्विक्षेत्रम् पश्य-

स्वायंभुवान्मरीचैर्यः प्रवभूव प्रजापतिः।

सुरासुरगुरुः सोऽत्र सपत्नीकस्तपस्यति॥ 9॥

राजा—तेन ह्यनतिक्रमणीयानि। श्रेयांसि प्रदक्षिणीकृत्य भगवन्तं गन्तुमिच्छामि।

राजा—जल-कणों से भीगा हुआ आपके रथ का धुरा ही यह बतलाए दे रहा है कि हम जल भरे मेघों के ऊपर से चले जा रहे हैं क्योंकि बिजली की चमक से घोड़े भी चौंक-चौंक उठ रहे हैं और रथ के पहियों के अरों के बीच में से निकल-निकलकर चातक भी इधर-उधर उड़ते फिर रहे हैं॥ 7॥

मातलि—आयुष्मान्, बस क्षण भर में ही आप अपने राज्य की भूमि पर उतर पहुँचे जाते हैं।

राजा—(नीचे देखकर) मातलि! वेग से उतरने के कारण नीचे का मनुष्य लोक कितना विचित्र दिखाई पड़ रहा है। क्योंकि—देखो! जान पड़ता है मानों धरती पहाड़ों की ऊँची चोटियों से नीचे उतर रही हो, पत्तों में छिपी हुई वृक्षों की शाखाएँ भी अब स्पष्ट दिखाई देने लगी हैं, दूर से पतली दिखाई देने वाली नदियाँ भी चौड़ी होती जा रही हैं और यह पृथ्वी इस प्रकार हमारी ओर उठी चली आ रही है मानो कोई इसे ऊपर को उछाले दे रहा हो॥ 8॥

मातलि—ठीक देखा आपने। (आदर देखकर) वाह! धरती कैसी सुहावनी दिखाई पड़ रही है!

राजा—मातलि! बताओ तो, यह पूर्व और पश्चिम के समुद्रों तक फैला हुआ, सुनहरी धारा बहाने वाला और सन्ध्या के मेघों की भीत के समान लम्बा-चौड़ा कौन-सा पहाड़ दिखाई दे रहा है?

मातलि—आयुष्मान्! यह तो हेमकूट नाम का वह पहाड़ है जिसमें किन्नर लोग रहा करते हैं और जहाँ तपस्या करने वालों को बात की बात में सिद्धि मिल जाया करती है। देखिए, यहाँ देवताओं और दानवों के पिता स्वयम्भू मरीचि के पुत्र प्रजापति कश्यप अपनी पत्नी के साथ बैठे तपस्या कर रहे हैं॥ 9॥

राजा—तब तो हाथ में आया-अवाया सौभाग्य छोड़ना नहीं चाहिए। मैं चाहता हूँ कि भगवान् कश्यप की प्रदक्षिणा कर लूँ तब जाऊँ।

मातलिः—प्रथमः कल्पः ।

(नाट्येनावतीर्णो)

राजा—(सविस्मयम्)

उपोढशब्दा न रथाङ्गनैमयः प्रवर्तमानं न च दृश्यते रजः ।

अभूतलस्पर्शतयानिरुन्धतस्तवावतीर्णोऽपि रथो न लक्ष्यते ॥ 10 ॥

मातलिः—एतावानेय शतक्रतोरायुष्मतश्च विशेषः ।

राजा—मातले! कतरस्मिन्प्रदेशे मारीचाश्रमः ।

मातलिः—(हस्तेन दर्शयन्) -

वल्मीकार्थनिमग्नमूर्तिरुरसा संदष्टसर्पत्वधा

कण्ठे जीर्णलताप्रतानवलयेनात्यर्थसंपीडितः ।

असंब्यापि शकुन्तनीडनितितं बिभ्रज्जटामण्डलं

यत्रस्थाणुरिवाचलो मुनिरसावभ्यर्कबिम्बं स्थितः ॥ 11 ॥

राजा—नमोऽस्मै कष्टतपसे ।

मातलिः—(संयतप्रग्रहं रथं कृत्वा) महाराज एतावदितिपरवधितमन्दारवृक्षं प्रथापतेराश्रमं प्रविष्टौ स्वः ।

राजा—स्वर्गादधिकतरं निर्वृतिस्थानम् । अमृतन्हृदमिवावगाढोऽस्मि ।

मातलिः—(रथं स्थापयित्वा) अवतरचायुष्मान् ।

राजा—(अवतीय) मातले! भवान्कथमिदानीम् ।

मातलि—यह तो आपने ठीक सोचा ।

(दोनों उतरने का नाट्य करते हैं।)

राजा—(आश्चर्य से) अरे! तुम्हारा रथ कब नीचे उतर आया यह तो जान ही नहीं पड़ा क्योंकि पृथ्वी से छूने के कारण न तो इसके पहियों की घरघराहट ही सुनाई दी, न धूल ही उड़ी और न तुमने रास ही खींची ॥ 10 ॥

मातलि—आयुष्मान् के और इन्द्र के रथ में बस यही तो अन्तर है ।

राजा—मातलि! मरीचि के पुत्र कश्यप का आश्रम किधर है ।

मातलि—(हाथ से दिखलाते हुए) वह रहा कश्यप ऋषि का आश्रम, जहाँ वे ऐसी तपस्या कर रहे हैं कि उनके आधे शरीर तक तो दीमकों ने बाँबी उठा ली है, छाती पर साँप की केंचुलियाँ छूटी पड़ी हैं, गले में सूखी हुई बेलें उलझी पड़ी हैं, कन्धों तक लटकी हुई जटाओं में चिड़ियों ने घोंसले बना लिए हैं और सूखे पेड़ के टूँठ के समान अचल होकर वे सूर्य पर आँखें जमाए बैठे हैं ॥ 11 ॥

राजा—ऐसी कठोर तपस्या करने वाले महात्मा को मैं प्रणाम करता हूँ ।

मातलि—(रास खींचकर और रथ रोककर) महाराज! हम लोग प्रजापति कश्यप के आश्रम में पहुँच गए हैं । यह देखिए, यह सुन्दर मन्दार के वृक्षों की पौत अदिति ने स्वयं अपने हाथ से लगाई है ।

राजा—यहाँ तो स्वर्ग से भी बढ़कर शान्ति फैली हुई है । जान पड़ता है मानो मैं अमृत-कुण्ड में आ पड़ा होऊँ ।

मातलिः—संयन्ति मया रथः। वयमप्यवतरामः। (तथा कुत्वा) इत आयुष्मन्।

(परिक्रम्य) दृश्यन्तामत्रभवतामृषीणां तपोवनभूमयः।

राजा—ननु विस्मयादवलोकयामि।

प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने

तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशो धर्माभिषेकक्रिया।

ध्यानं रत्नशिलातलेषु विबुधस्त्रीसन्निधौ संयमो

✕

यत्काङ्क्षन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिस्तपस्यन्त्यमी॥ 12॥

मातलिः—उत्सर्पिणी खलु महतां प्रार्थना। (परिक्रम्य आकाशे) अये वृद्धशाकलय!

किमनुतिष्ठति भगवान्मारीचः। किं ब्रवीषि। दाक्षायण्या पतिव्रताधर्ममधिकृत्य पृष्टस्तस्यै महर्षिपत्नीसहितायै कथयतीति।

राजा—(कर्णं दत्वा) अये प्रतिपाल्यावसरः खलु प्रस्तावः।

मातलिः—(राजानमवलोक्य) अस्मिन्नशोकवृक्षमूले तावदास्तामायुष्मान् यावत्त्वामिन्द्रगुरुवे निवेदयितुमन्तरान्वेषी भवामि।

राजा—यथा भवान्मन्यते। (इति स्थितः।)

मातलिः—आयुष्मन्। साधयाम्यहम्। (इति निष्क्रान्तः।)

मातलि—(रथं रोककर) उत्तरं आयुष्मान्।

राजा—(उत्तरकर) मातलि! अब आप क्या करेंगे?

मातलि—मैंने भली भाँति रथ को रोक लिया है। मैं भी आपके साथ ही उतरा जा रहा हूँ। (उत्तरकर) इधर से आइए आयुष्मान्! (घूमते हुए) आइए, यहाँ ऋषियों की तपोभूमि आ देखिए।

राजा—सचमुच मुझे तो यह देखकर बड़ा अचरज हो रहा है कि यहाँ ये तपस्वी लोग उन वस्तुओं के बीच बैठकर तपस्या कर रहे हैं जिन्हें पाने के लिये दूसरे ऋषि लोग तप साधा करते हैं। यहाँ पर ये लोग कल्पवृक्षों के वन का वायु पी-पीकर जीते हैं, सुनहरे कमल के पराग से सुवासित जल में स्नान करके पूजा-पाठ करते हैं, रत्न-शिलाओं पर बैठकर समाधि लगाते हैं और अप्सराओं के बीच बैठकर तपस्या साधते हैं॥ 12॥

मातलि—ऐसे महापुरुषों की इच्छाएँ भी तो वैसी ही बड़ी होती हैं। (घूमकर आकाश में) कहिए वृद्ध शाकल्य जी! इस समय महात्मा कश्यप क्या कर रहे हैं? क्या कहा कि दाक्षायणी ने पतिव्रत धर्म के सम्बन्ध में जो प्रश्न किया था उसका उत्तर वे उन्हें और ऋषिपत्नियों को बैठे सुना रहे हैं?

राजा—(कान लगाकर) अरे, यह तो ऐसा कथा-प्रसंग छिड़ गया है कि अब इसके समाप्त होने तक रुकना ही होगा।

मातलि—(राजा को देखकर) जब तक मैं इन्द्र के पिता महर्षि कश्यप को आप के आने की सूचना देने का कोई अवसर ढूँढ़ निकाँलूँ, तब तक आप इस अशोक के वृक्ष के नीचे ही चलकर बैठे रहिएगा।

राजा—(निमित्तं सूचयित्वा)-

मनोरथाय नाशंसे किं बाहो स्पन्दसे वृथा ।

पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्धते ॥ 13 ॥

(नेपथ्ये)

मा क्खु चावलं करेहि । कहं गदो जेव अत्तणो पकिदिं । (मा खलु चापलं कुरु । कथं गत एवात्मनः प्रकृतिम् ।)

राजा—(कर्णं दत्त्वा) अभूमिरियमविनयस्य । को नु खल्वेष निषिध्यते । (शब्दानुसारेणावलोक्य सविस्मयम्) अये! को नु खल्वयमनुबध्यमानस्तपस्विनीभ्याम-वालसत्त्वो बालः ।

अर्धपीतस्तनं मातुरामर्दविनष्टकेसरम् ।

प्रक्रीडितुं सिंहशिशुं बलात्कारेण कर्वति ॥ 14 ॥

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टकर्मा तपस्विनीभ्यां सह बालः ।)

वालः—जिम्भ सिंघ दन्ताइं दे गणइस्सं । (जृम्भस्व सिंह दन्तांस्ते गणयिष्ये)

प्रथमा—अविणीद! किं णो अपच्चणिविसेसाणि सत्ताणि विप्पअरेसि । हन्त बड्डइ दे संरम्भो । ठाणे क्खु इसिजणेण सच्चदमणो त्ति किदणामहेओ सि । (अविनीत! किं नोऽत्यनिविशेषाणि सत्त्वानि विप्रकरोषि । हन्त, वर्धते तव संरम्भः । स्थाने खलु ऋषिजनेन सर्वदमन इति कृतनामधेयोऽसि ।)

राजा—जैसा आप ठीक समझें । (बैठता हूँ ।)

मातलि—अच्छा तो मैं जा रहा हूँ आयुष्मान्! (चला जाता है ।)

राजा—(अच्छा शकुन देखकर) अपने मनोरथ पूरे होने की तो मुझे कोई आशा ही नहीं है फिर तुम व्यर्थ ही क्यों फड़क रही हो मेरी भुजा! सच है, जो आई हुई लक्ष्मी को ठुकरा देता है उसे पीछे ऐसे ही रोना-झींकना पड़ता है ॥ 13 ॥

(नेपथ्य में)

बस, नटखटपन बन्द कर । क्यों! तू फिर अपने स्वभाव पर उतर आया?

राजा—(कान लगाकर) अरे, यहाँ तो नटखटपन होना ही नहीं चाहिए फिर यहाँ कौन किसे डाँटे दे रहा है? (जिधर से बोली सुनाई देती है उधर देखकर आश्चर्य से) अरे, यह कौन पराक्रमी बालक है जिसके पीछे-पीछे दो तपस्विनियाँ चली आ रही हैं और जो-अपने खेलने के लिये सिंहिनी के स्तनों से आधा दूध पिए हुए सिंहिनी के उस बच्चे को बलपूर्वक घसीटे लिए चला जा रहा है जिसके केसर इस खींचा-तानी में बहुत छितरा गए हैं ॥ 14 ॥

(ऊपर कही हुई दशा में तपस्विनियों के साथ बालक का प्रवेश)

बालक—खोल ले (रे) छिंघ (सिंह) अपना मुँह! मैं तेले (तेरे) दाँत गिन्नूंगा ।

पहली—अरे नटखट! जिन पशुओं को हम लोगों ने अपनी सन्तान के समान पाल रक्खा है उन्हें तू क्यों इतना सताया करता है? क्या कहें, तेरा नटखटपन दिन-दिन बढ़ता ही चला जा रहा है । ऋषियों ने तेरा नाम ठीक ही सर्वदमन रखा छोड़ा है ।

राजा—कि न खलु बालेऽस्मिन्नौरस इव पुत्रे स्निह्यति मे मनः। नूनमनपत्यता मां वत्सलयति।

द्वितीया—एषा क्व खलु केसरिणी तुमं लघेदि जइ से पुत्तअं ण मुंचेसि। (एषा खलु केसरिणी त्वां लङ्घयिष्यति यदि तस्या। पुत्रकं न मुञ्चसि।)

बालः—(सस्मितम्) अम्हहे! बलिअं क्व भीदो म्हि। (अहो! बलीयः खलु भीतीऽस्मि।) (इत्यधरं दर्शयति।)

राजा— महत्तस्तेजसो बीजं बालोऽयं प्रतिभाति मे।

स्फुलिङ्गावस्थया वह्निरेधापेक्ष इव स्थितः॥ 15॥

प्रथमा—वच्छ! एदं बालमिदं मुंच। अवरं दे कीलणअं दाइस्सं। (वत्स! एवं बालमृगेन्द्रं मुञ्च। अपरं ते क्रीडनकं दास्यामि।)

बालः—कहिं। देहि णं। (कुत्र। देहेतत्।) (इति हस्तं प्रसारयति।)

राजा—कथम्। चक्रवर्तिलक्षणमप्यनेन धार्यते। तथा ह्यस्य-

प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितो विभाति जालग्रथिताइ गुलिः करः।

अलक्ष्यपत्रान्तरभिद्धरागया नवोषसा भिन्नमिवैकपङ्कजम्॥ 16॥

द्वितीया—सुव्वदे। ण सक्को एसो वाआमत्तेण विरमयिदुं। गच्छ तुमं। ममकेरए उडए मक्कण्डेअस्स इसिकुमारअस्स वण्णचित्तिदो मित्तिआमोरओ चिट्ठदि। तं से उवहर। (सुव्रते! न शक्य एष वाचामात्रेण

राजा—इस बालक पर मेरे मन में वैसा ही प्रेम उमड़ पड़ रहा है मानो यह मेरा अपना ही पुत्र हो। पर जान पड़ता है कि पुत्र न होने के कारण ही मेरे मन में यह वात्सल्य प्रेम उमड़ा पड़ रहा है।

दूसरी—इसके बच्चे को तू नहीं छोड़ेगा तो यह सिंहिनी तेरे ऊपर झपट पड़ेगी।

बालक—(मुस्कराते हुए) अले (अरे) मैं तो बला (बड़ा) दल (डर) गया हूँ। (ओठ निकालकर मुँह बनाता है।)

राजा—यह बालक तो मुझे किसी बड़े तेजस्वी का पुत्र जान पड़ता है और उस चिनगारी के रूप में रहने वाली अग्नि के समान दिखाई पड़ रहा है जो भड़क उठने के लिये बस ईंधन की बाट देख रही हो॥ 15॥

पहली—वत्स! इस सिंह के बच्चे को तू छोड़ दे। मैं तुझे और खिलौना लाए देती हूँ।

बालक—कहाँ है! लाओ, दो।

(हाथ फैलाता है)

राज-अरे, इसके हाथ में तो चक्रवर्तियों के से लक्षण दिखाई दे रहे हैं। क्योंकि—खिलौने के लोभ से फैलाया हुआ यह जाल के समान मिली हुई उँगलियों वाला इसका हाथ उस अकेले कमल के जैसा दिखाई दे रहा है जो प्रातःकाल की लाली से चमक उठा हो और जिसकी पंखुड़ियाँ अभी पूरी खुल भी न पाई हों॥ 16॥

दूसरी—सुव्रता! इसे बातों से नहीं फुसलाया जा सकता। तू जा, मेरी कुटी में जो ऋषि-कुमार मार्कण्डेय का रँगा हुआ मिट्टी का मोर रक्खा है, उसे उठाती ला।

विरमयितुम् । गच्छ त्वम् । मदीये उटजे मार्कण्डेयस्यर्षिकुमारस्य वर्णचित्रितो मृत्तिकामयूरस्तिष्ठति । तमस्योपहर ।)

प्रथमान्तह । (तथा) (इति निष्क्रान्ता ।)

बालः—इमिणा एव दाव कीलिसं । (अनेनैव तावक्रीडिष्यामि) (इति तापसीं विलोक्य हसति ।)

राजा—स्पृहयामि खलु दुर्ललितायास्मै ।

आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासैरव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन् ।

अङ्गाश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्ती धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति ॥ 17 ॥

तापसी—होदु ण मं अअं गणेदि । (पार्श्वमवलोकयति) को एत्थ इसिकुमाराणं । (राजानमवलोक्य) भद्दमुह ! एहि दाव । मोएहि इमिणा दुम्मोअहत्थग्गहेण डिम्भलीलाए वाही अमाणं बालमिइन्दअं । (भवतु । न मामयं गणयति । कोऽत्र ऋषिकुमाराणाम् । भद्रमुख ! एहि तावत् । मोचयानेन दुर्मोकहस्तग्रहेण डिम्भलीलया बाध्यमानं बालमृगेन्द्रम् ।)

राजा—(उपगम्य । सस्मितम्) अयि भो महर्षिपुत्र !

एवमाश्रमविरुद्धवृत्तिना संयमः किमिति जन्मतसत्त्वया ।

सत्त्वसंश्रयसुखोऽपि दूष्यते कृष्णसर्पशिंशुनेव चन्दनः ॥ 18 ॥

तापसी—भद्दमुह ! ण क्खु अअं इसिकुमारओ । (भद्रमुख ! न खल्वयमृषिकुमारः ।)

राजा—आकारसदृशं चेष्टितमेवास्य कथयति । स्थानप्रत्ययात्तु वयमेवं तर्किणः ।

पहली—अच्छा । (जाती है)

बालक—औल (और) तब तक मैं इछीछे (इसी से) खेलता हूँ । (यह कहकर तपस्विनी को देखकर हँस देता है ।)

राजा—मुझे तो यह नटखट बालक न जाने क्यों बड़ा प्यारा लगने लगा है । वह भाग्यवान् धन्य है जिसकी गोद में बैठकर यह स्वभाव से हँसमुख, कली के समान कुछ-कुछ झलकते हुए दाँतों वाला और तुतला-तुतला कर बातें करने वाला बालक अपने अंग की धूल उसके अंग में लगाता होगा ॥ 17 ॥

तपस्विनी—अरे ! यह तो मेरी बात सुनता ही नहीं । (इधर-उधर देखकर) अरे कोई ऋषिकुमार यहाँ है ? (राजा को देखकर) भद्र ! तनिक आप ही आकर इस बालक के हाथ से इस सिंह के बच्चे को छुड़ा दीजिए । इसने इसे ऐसा कसकर जकड़ रक्खा है कि मेरे हाथ से तो छुड़ाए नहीं छूटता ।

राजा—(पास जाकर मुस्कराहट के साथ) अरे, ए महर्षिकुमार ! तुम यहाँ आश्रम के नियमों से उल्टा काम क्यों किए डाल रहे हो ? ये बेचारे जीव जो जन्म से ही सीधे-सादे रहकर सुखी जीवन बिता रहे हैं, उन्हें तुम वैसे ही क्यों सताए डाल रहे हो जैसे काले सर्प का बच्चा चन्दन के पेड़ को सताया करता है ॥ 18 ॥

तपस्विनी—भद्र ! यह ऋषिकुमार नहीं है ।

राजा—इसके रूप और कामों से ही जान पड़ रहा है कि यह ऋषिकुमार नहीं है । पर यहाँ तपोवन में देखकर मैंने ऋषिकुमार ही समझ लिया था । (जी भरकर बालक के शरीर पर हाथ फेरकर आप-ही-आप)

(यथाऽभ्यर्थितमनुतिष्ठनवालस्पर्शमुपलभ्य, आत्मगतम्)

अनेन कस्यापि कुलाङ्कुरेण स्पृष्टस्य गात्रेषु सुखं ममैवम् ।

कां निर्वृतिं चेतसि तस्य कुर्याद्यस्यायमङ्गात्कृतिनः प्ररूढः ॥ 19 ॥

तापसी—(उभौ निर्वर्ण्य) अच्छरिअं । अच्छरिअं । (आश्चर्यम् । आश्चर्यम् ।)

राजा—आर्ये किमिव ।

तापसी—इमस्स वालअस्स दे वि संवादिणी आकिदी त्ति तिम्हाविदम्हि । अपरिइद स वि दे अप्पडिलोमो संवुत्तो त्ति । (अस्य बालकस्य तेऽपि संवादिन्याकृतिरिति विस्मापिताऽस्मि । अपरिचितस्यापि तेऽप्रतिलोमः संवृत्त इति ।)

राजा—(बालकमुपलालयन्) न चेन्मुनिकुमारोऽयमथ कोऽस्य व्यपदेशः ।

तापसी—पुरुवंसो । (पुरुवंशः ।)

राजा—(आत्मगतम्) कथमेकान्वयो मम । अतः खलु मदनुकारिणमेनमत्रभवती मन्यते । अस्त्येतत्पौरवाणामन्यं कुलव्रतम् ।

भवनेषु रसाधिकेषु पूर्व क्षितिरक्षार्थमुशन्ति मे निवासम् ।

नियतैकपतिव्रतानि पश्चात्तरुमूलानि गृहीभवन्ति तेषाम् ॥ 20 ॥

(प्रकाशम्) न पुनरात्मगत्या मानुषाणामेष विषयः ।

तापसी—जह भद्दमुहो भणादि । अच्छरासंबन्धेण इमस्स जणणी एत्थ देवगुरुणो

न जाने यह बालक किस वंश का है । इसे एक बार ही सू लेने से जब मेरे शरीर को इतना सुख मिल रहा है तब उस भाग्यवान् को कितना आनन्द मिलता होगा जिसका यह सगा पुत्र होगा ॥ 19 ॥

तपस्विनी—(दोनों को देखकर) आश्चर्य है, आश्चर्य है ।

राजा—आश्चर्य की क्या बात है, आर्ये !

तपस्विनी—तुम्हारा और इस बालक का एक-दम मिलता-जुलता रूप देखकर मैं तो बड़े अचरज में भर गई हूँ और देखिए कि अनजान होते हुए भी इसने आपका कहना नहीं टाला ।

राजा—(बच्चे को दुलारते हुए तपस्विनी से) अच्छा, यह तो बताइए कि यह ऋषिकुमार नहीं है तो फिर किस वंश का है ?

तपस्विनी—पुरुवंश का ।

राजा—(मन ही मन) अरे, क्या यह मेरे ही वंश का है ? तभी ये तपस्विनी मुझे इससे मिलता-जुलता बता रही है ।

पर पुरुवंशियों की तो यह बँधी हुई रीति है कि वे—युवावस्था में पृथ्वी की रक्षा के लिये विलास की सामग्रियों से भरे भवनों में रहना चाहते हैं और बुढ़ापे में अपनी पतिव्रता स्त्री को साथ लेकर वृक्ष के नीचे कुटिया बनाकर रहने लगते हैं ॥ 20 ॥

(प्रकट) पर अपनी शक्ति से तो कोई मनुष्य यहाँ पहुँच नहीं पा सकता ।

तपस्विनी—आप ठीक कह रहे हैं । इसकी माँ अप्सरा की कन्या है । इसलिये उसने यहाँ मरीचि के आश्रम में ही इसे जन्म दिया है ।

पसूदा । (यथा भद्रमुखो भणति । अप्सरः संबन्धेनास्य जनन्यत्र देवगुरोस्तपोवने प्रसूता)

राजा—(अपवार्य) हन्त द्वितीयमिदमाशाजननम् । (प्रकाशम्) अथ सा तत्रभवती किमाख्यस्य राजर्षेः पत्नी ।

तापसी—को तस्स धम्मदारपरिच्चाइणो णाम संकीर्तिदुं चिन्तिस्सदि । (कसतस्य धर्मदारपरित्यागिनो नाम संकीर्तयितुं चिन्तयिष्यति ।)

राजा—(स्वगतम्) इयं खलु कथा मामेव लक्ष्यीकरोति । यदि तावदस्य शिशोर्मातरं नामतः पृच्छामि अथवाऽनार्यः परदारव्यवहारः ।

(प्रविश्य मृण्मयूरहस्ता)

तापसी—सव्वदमण! सउन्दलावण्णं पेक्ख । (सर्वदमन! शकुन्त-लावण्यं प्रेक्षस्व ।)

बालः—(सदृष्टिक्षेपम्) कहि वा मे अज्जू । (कुत्र वा मम माता)

उभे-णामसारिस्सेण वंचिदो मा उवच्छलो । (नाम सादृश्येन वञ्चितो मातृवत्सलः ।)

द्वितीया—वच्छ! इमस्स मितिआमोरअस्स रम्मत्तणं देक्खत्ति भणिदो सि । (वत्स ! अस्य मृत्तिकामयूरस्य रम्यत्वं पश्येति भणितोऽसि ।)

राजा—(आत्मगतम्) किं वा शकुन्तलेत्यस्य मातुराख्या । सन्ति पुननपिधेयसादृश्यानि । अपि नाम मृगतृष्णिकेव नाममात्रप्रस्तावो मे विषादाय कल्पते ।

बालः—अज्जुए! रोअदि मे एसो भद्मोरओ । (मातः! रोचते म एष भद्रमयूरः ।)

राजा—(अपने आप) अरे! यह तो मेरी आशा की दूसरी सीढ़ी मिल गई । (प्रकट) अच्छा यह तो बताइए कि वे देवी किन राजर्षि की पत्नी हैं?

तपस्विनी—जिसने अपनी धर्म-पत्नी को छोड़ दिया हो, भला ऐसे पापी का भी कोई अपने मुँह से नाम लिया करता है ।

राजा—(आप ही आप) यह कथा तो पूरी-पूरी मुझ पर ही लागू हो रही है! अच्छा, माता-पिता का ही नाम पूछ देखूँ । किन्तु पराई स्त्री के विषय में कुछ पूछना भलमनसाहत नहीं है ।

(हाथ में मिट्टी का मोर लिए हुए तपस्विनी आती है ।)

तपस्विनी—सर्वदमन! शकुन्त-लावण्य (इस पक्षी की सुन्दरता) तो देख!

बालक—(शकुन्तला-वर्णशकुन्तला रूप समझकर चारों ओर देखता हुआ) कहाँ है मेरी माँ?

दोनों—अपनी माँ का इसे ऐसा मोह है कि उसके नाम के अक्षर सुनने भर से ही इसे धोखा हो गया ।

दूसरी—वत्स! मैं तो यह कह रही थी कि तुम इस मिट्टी के मोर की सुन्दरता देखो!

राजा—(आप ही आप) तो क्या इसकी माँ का नाम शकुन्तला है? पर संसार में एक-जैसे बहुतों के नाम होते हैं । कहीं यह नाम भी मेरे दुःख को और बढ़ाने के लिये मृग-तृष्णा के समान ही न आ गया हो ।

बालक—माँ । यह मोल (मोर) तो बला (बड़ा) अच्छा है । (खिलौना लेता है ।)

(इति क्रीडनकमादत्ते ।)

प्रथमा—(विलोक्य सोद्वेक्य सोद्वेगम्) अम्हहे! रक्खाकरण्डअं से मणिबन्धे ण दीसदि ।

(अहो! रक्षाकरण्डकमस्य मणिबन्धे न दृश्यते ।)

राजा—अलमलमावेगेन । नन्विदमस्य सिंहशावविमर्दात्परिभ्रष्टम् । (इत्यादा तुमिच्छति ।)

उभे—मा क्खु एदं अवलम्बिअ । कहं गहीद णेण । (मा खल्विदमवलम्बय । कथम् गृहीतमनेन ।)
(इति विस्मयादुरोनिहितहस्ते परस्परमवलोकयतः ।)

राजा—किमर्थं प्रतिनिषिद्धाः स्मः ।

प्रथमा—सुणादु महाराओ । एसा अवराजिदा णाम ओसही इमस्स जातकम्मसमए भअवदा मारीएण दिण्णा । एदं कित मादापिदरो अप्पाणं च वज्जिअ अवरो भूमिपडिदं ण गेण्हादि । (शृणोतु महाराजः । एषाऽपराजिता नामौषधिरस्य जातकर्मसमये भगवता मारीचेन दत्ता । एतां किल मातापित रावात्मानं च वर्जयित्वाऽपरो भूमिपतितां न गृह्णाति ।)

राजा—अथ गृह्णाति ।

प्रथमा—तदो तं सप्पो भविअदंसइ । (ततस्तं सर्पो भूत्वा दंशति ।)

राजा—भवतीभ्यां कदाचिदस्याः प्रत्यक्षीकृता विक्रिया ।

उभे—अणेअसो । (अनेकशः ।)

राजा—(सहर्षम् । आत्मगतम्) कथमिव संपूर्णमपि मे मनोरथं नाभिनन्दामि ।

(इति बालं परिष्वजते ।)

पहली—(देखकर घबराहट के साथ) अरे, इसके पहुँचे पर बैधा हुआ रक्षा का गंडा नहीं दिखाई दे रहा है ।

राजा—घबराइए मत! सिंह के बच्चे से खींचा-तानी करते समय वह यहीं निकल गिरा था ।

(उठाना चाहता है ।)

दोनों—हैं हैं! छूड़एगा मत! अरे; इन्होंने तो उसे उठा भी लिया! (आश्चर्य से छाती पर हाथ रखकर एक दूसरी की ओर देखती हैं ।)

राजा—क्यों क्यों? आप लोगों ने उठाने से मुझे रोका क्यों?

पहली—सुनिए महाराज! जब इसका जात-कर्म संस्कार हो रहा था उस समय कश्यप जी ने अपराजिता नामक यह जड़ी का गंडा इसके हाथ में बाँधकर कहा था कि यदि यह धरती पर गिर पड़े तो इसे, इसके माता-पिता को और इसको छोड़कर दूसरा कोई न उठावे ।

राजा—और यदि दूसरा कोई उठा ले तो?

पहली—तो यह साँप बनकर तत्काल उसे डस लेगा ।

राजा—आप लोगों ने कभी इसका ऐसा करतब देखा है?

दोनों—बहुत बार देखा है ।

राजा—(हर्ष के साथ, आप ही आप) तब मैं अपने मनोरथ पूरे होने पर क्यों न फूला समाऊँ ।

(बालक को छाती से लगाता है ।)

द्वितीया-सुव्वदे! एहि। इमं वुत्तन्तं णिअमव्वावुदाए सउन्दलाए णिवेदेम्ह। (सुव्रते! एहि। इमं वृत्तान्तं नियमव्यापृतायै शकुन्तलार्यं निवेदयावः।)

(इति निष्क्रान्ते।)

बालः—मुंच मं। जाव अज्जुए सआसं गमिस्सं। (मुञ्च मां, यावन्मातुः सकाशं गमिष्यामि।)

राजा—पुत्रक! मया सहैव मातरमभिनन्दिष्यसि।

बालः—मम क्खु तादो दुस्सन्दो, ण तुमं। (मम खलु तातो दुष्यन्तः, न त्वम्।)

राजा—(सस्मितम्) एष विवाद एवं प्रत्याययति।

(ततः प्रविशत्येकवेणीधरा शकुन्तला।)

शकुन्तला—विआरआले वि पकिदित्थं सव्वदमणस्स ओसहिं सुणिअ ण मे आसा आसि अत्तणो भाअहेएसु। अहवा जह साणुमदीए आचक्खिदं तह संभावीअदि एदं। (विकारकालेऽपि प्रकृतिस्थां सर्वदमनस्यौषधिं श्रुत्वा न म आशाऽऽसीदात्मनो भागधेयेषु। अथवा यथा सानुमत्याऽऽख्यातं तथा संभाव्यत एतत्।)

राजा—(शकुन्तलां विलोक्य) अये सेयमत्रकवती शकुन्तला। यैषा-

वसने परिधूसरे वसाना नियमक्ष्यमुखी धृतैकवेणिः।

अतिनिष्करूपस्य शुद्धशीला मन दीर्घ धिरहवतं विभर्ति॥ 21॥

शकुन्तला—(पश्चात्तापविवर्णं राजानं दृष्ट्वा) ण क्यु अज्जउत्तो विअ। तदो को एसो दाणि किदरक्खामंगलं दारअं मे गतसंसरणेण दूसेदि। (न खल्वार्यपुत्र इव। ततः क एष इदानीं कृतरक्षामङ्गलं दारकं मे गात्रसंसर्गेण दूषयति।)

दूसरी—अरी सुव्रते! आओ, यह समाचार उस तपस्विनी शकुन्तला को तो सुना आवें।

(दोनों चली जाती हैं।)

बालक—छेलो छेलो (छोड़ो छोड़ो)। हम अपनी माँते (के) पास दायेंगे (जायेंगे)।

राजा—वत्स! चलो मेरे ही साथ चलकर अपनी माता को आनन्द देना।

बालक—मेले (मेरे) पिता तुम नहीं दुष्यन्त (दुष्यन्त) हैं।

राजा—(मुस्कराकर) यह विरोध ही मेरे विश्वास को पक्का किए दे रहा है।

(अपने बालों को एक लट में बाँधते हुए शकुन्तला आती है।)

शकुन्तला—यह सुनकर भी मुझे अपने भाग्य पर भरोसा नहीं हुआ कि सर्वदमन के हाथ से गिरी हुई रक्षा की जड़ी उनके छूने पर साँप नहीं बनी। या फिर सानुमती ने जो बताया है, कौन जाने वही ठीक हो।

राजा—(शकुन्तला को देखकर) अरे! ये ही तो वे देवी शकुन्तला हैं, जिनके शरीर पर मैले कपड़ों का जोड़ा पड़ा हुआ है, तप करते-करते जिनका मुँह सूख गया है, जिनके बाल एक लट में उलझे पड़े हैं, और जो शुद्ध मन से मुझ-जैसे निर्दयी के वियोग में इतने दिनों से तप करती चली आ रही हैं॥ 21॥

शकुन्तला—(पछतावे से पीले पड़े हुए राजा को देखकर) ये तो आर्यपुत्र-जैसे नहीं जान पड़ते। तब ये कौन हैं जो रक्षा बाँधे हुए मेरे पुत्र को अपने शरीर से लगा-लगाकर मैला किए डाल रहे हैं?

बालः—(मातरमुपेत्य) अज्जुए! एसो कोवि परिसो मं पुत्त त्ति आलिङ्गदि।

(मातः! एष कोऽपि पुरुषो मां पुत्र इत्यालिङ्गति।)

राजा—प्रिये! क्रौर्यमपि मे त्वयि प्रयुक्तमनुकूलयरिणाम संयुतं काहमिदानीं त्वयाऽप्रत्यमिज्ञातमात्मानं पश्यामि।

शकुन्तला (आत्मगतम्) हिअअ समस्सस समस्सस। परिच्चच्छरैण अणुअपिअ म्हि देव्वेण। अज्जउत्तो क्खु एसो। (हृदय समाश्वसिहि। समाश्वसिहि यरित्युत्तमत्सरेणानुकम्पिताऽस्मि दैवेन। आर्यपुत्र खल्वेषः।)

राजा—प्रिये।

स्मृतिभिन्नमोहतमसो दिष्टया प्रमुखे स्थिताऽसि मे सुमुखि।

उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणीयोगम्॥ 22॥

शकुन्तला—जेदु जेदु अज्जउत्तो.....। (जयतु जयत्वार्यपुत्र.....) इत्यर्धोक्ते बाष्पकण्ठी विरमति।)

राजा—सुन्दरि!

वाष्पेण प्रतिषिद्धेऽपि जयशब्दे जितं मया।

यत्ते दृष्टमसंस्कारपाटलोष्ठपुटं मुखम्॥ 23॥

बालः—अज्जुए। को एसो। (मातः! क एषः।)

शकुन्तला—वच्छ!दे भाअहेआई पुच्छेहि। (वत्स! ते भागधेयानि पृच्छ।)

राजा—(शकुन्तलायाः पादयोः प्रणिपत्य)–

बालक—(माता के पास आकर) देखो माँ, ये कोई पुलुछ (पुरुष) मुदे (मुझे) बेता (बेटा) कहकल (कहकर) गले लगा लहे (रहे) हैं।

राजा—प्रिये! मैंने जो तुम्हारे साथ निठुराई की थी उसका यही ठीक दंड है कि तुम अभी तक मुझे पहचान नहीं पा रही हो।

शकुन्तला—(आप ही आप) धीरज धरो, मेरे हृदय! धीरज धरो, आज दैव ने पिछला सब बैर छोड़कर मेरी सुन ली है, सचमुच ये ही तो हैं आर्यपुत्र।

राजा—प्रिये! आज मेरा बड़ा सौभाग्य है कि मेरी स्मृति पर पड़ा हुआ मोह का परदा हट गया और तुम सुन्दरी आज मुझे वैसे ही मिल गई जैसे चन्द्र-ग्रहण बीत चुकने पर चन्द्रमा से रोहिणी आ मिलती है॥ 22॥

शकुन्तला—जय हो आर्यपुत्र, जय.....(इतना आधा ही कहने पर गला भर आने से रुक जाती है।)

राजा—सुन्दरी! तुमने अपने रूँधे हुए गले से जो 'जय' शब्द कहा उसी से मेरी जीत हो गई। क्योंकि आज आँखें तुम्हारे उस मुख को फिर से देख पाई हैं जिसके ओठ, रंग न जाने के कारण पीले पड़ गए हैं॥ 23॥

बालक—क्यों माँ! ये कौन हैं?

शकुन्तला—अपने भाग्य से पूछ बेटा!

राजा—(शकुन्तला के पैरों पर गिरकर) सुन्दरी! मैंने तुम्हारा जो निरादर किया था उसकी सारी कसक

सुतनु हृदयात्प्रत्यादेशव्यलोकमपैतु ते

किमपि मनसः संमोहो मे तदा बलवानभूत् ।

प्रबलतमसामेवंप्रायाः शुभेषु हि वृत्तयः

अजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनौत्यहिशङ्कया ॥ 24 ॥

शकुन्तला—उड्डे अज्जउत्तो । णूणं मे सुअरिअप्पडिबन्धअं पुराकिदं तेसु दिअहेसु परिणाममुदं आसि जेण साणुक्कोसो वि अज्जउत्तो मइ विरसो संवृत्तो । (उत्तिष्ठत्वार्य-पुत्रः । नूनं मे सुचरितप्रतिबन्धकं पुराकृतं तंषु दिवसेषु परिणाममुखमासीद्येन सानुक्रोशोऽप्यार्यपुत्रे मयि विरसः संवृत्तः ।)

(राजोत्तिष्ठति)

शकुन्तला—अह कहं अज्जउत्तेण सुमरिदो दुक्खभाई अअं जणो । (अथ कथमार्य-पुत्रेण स्मृतो दुःखभाग्यं जनः ।)

राजा—उद्धृतविषादशल्यः कथयिष्यामि ।

मोहान्मया सुतनु पूर्वमुपेक्षितस्ते यो बाष्पबिन्दुरधरं परिबाधमानः ।

तं तावदाकुटिलपक्ष्मविलग्नमद्य बाष्पं प्रमृज्य विगतानुशयो भवेयम् ॥ 25 ॥

(इति यथोक्तमनुतिष्ठति ।)

शकुन्तला—(नाममुद्रां दृष्ट्वा) अज्जउत्त! एदं दे अंगुलीअअं । (आर्यपुत्र । पुत्र! इदं तेऽङ्गुलीयकम् ।)

राजा—अस्मादङ्गुलीयोपलम्भात्खलु स्मृतिरुपलब्धा ।

तुम अपने मन से निकाल डालो, क्योंकि उस समय न जाने कहाँ से मेरे मन में वह अज्ञान का अँधेरा आ छाया था । सचमुच जो तमोगुणी लोग होते हैं वे अच्छे कामों में भी बड़ी भूलकर बैठते हैं, क्योंकि अन्धे के गले में कोई माला भी पहनावे तो भी वह उसे साँप ही समझकर झटके से उतार फेंकता है ॥ 24 ॥

शकुन्तला—उठिए आर्यपुत्र! उन दिनों कोई पिछले ही जन्म का पाप-फल रहा होगा कि इतने दयालु आर्यपुत्र भी मुझ पर इतने कठोर हो गए थे ।

(राजा उठते हैं ।)

शकुन्तला—पर यह तो बताइए कि आर्यपुत्र को इस दुखिया का स्मरण कैसे हो आया?

राजा—पहले मैं अपने जी की गॉस निकाल डालूँ तब कहूँ । सुन्दरी! तुम्हारी आँखों के आँसुओं की जो बूँदें उस दिन गालों पर से ढुलकर अधरों को चोट पहुँचाए डाल रही थीं और जिनका मैंने उस दिन अनजाने निरादर कर दिया था वे आज भी तुम्हारी टेढ़ी बरौनियों में उलझी दिखाई दे रही हैं । उन्हें जब तक मैं अपने हाथ से पोंछ न लूँगा तब तक मन को शान्ति नहीं मिलेगी ॥ 25 ॥

(अपने हाथ से शकुन्तला के आँसू पोंछते हैं ।)

शकुन्तला—(दुष्यन्त के हाथ में उनके नामवाली अँगूठी देखकर) आर्यपुत्र! यही तो आपकी वह अँगूठी है ।

राजा—इसी अँगूठी के मिल जाने पर तो मुझे सारी बातें स्मरण हो पाईं ।

शकुन्तला—विसमं किदं णेण जं तदा अज्जउत्तस्स पच्चमकाले दुल्लहं आसि। (विषमं कृतमनेन यत्तदाऽऽर्यपुत्रस्य प्रत्ययकाले दुर्लभमासीत्।)

राजा—तेन हि ऋतुसमवायचिन्हं प्रतिपद्यतां लताकुसुमम्।

शकुन्तला—ण से विस्ससामि। अज्जउत्तो एव्व णं धारेदु। (नास्य विश्वसिमि। आर्यपुत्र एवैतद्धरायतु।)
(ततः प्रविशति मातलिः)

मातलिः—दिष्ट्या धर्मपत्नीसमागमेन पुत्रमुखदर्शनेन चायुष्मान्वर्धते।

राजा—अभूत्संपादितस्वादुफलो मे मनोरथः। मातले! नखलु विदितोऽयमा-खण्डलेन वृत्तान्तः स्यात्।

मातलिः—(सस्मितम्) किमीश्वराणां परोक्षम्। एत्वायुष्यमानु! भगवान्मारीचस्ते दर्शनं वितरति।

राजा—शकुन्तले! अवलम्ब्यतां पुत्रः। त्वां पुरस्कृत्य भगवन्तं द्रष्टुमिच्छामि।

शकुन्तला—हिरिआमि अज्जउत्तेण सह गुरुसमीवं गंतु। (जिन्हेम्यार्यपुत्रेण सह गुरुसमीपं गन्तुम्।)

राजा—अप्याचरितव्यमभ्युदयकाले। एहोहि। (सर्वे परिक्रामन्ति।) (ततः प्रविशत्यदित्या सार्धमासनस्थो मारीचः।)

मारीचः—(राजानमवलोक्य) दाक्षायणि!

पुत्रस्य ते रणशिरस्ययमग्रयायी दुष्यन्त इत्याभिहितो भुवनस्य भर्ता।

चापेन यस्य विनिवर्तितकर्म जातं तत्कोटिमत्कुलिशमभरणं मघोनः॥ 26॥

शकुन्तला—इसने सचमुच बड़ा खोटा काम किया था कि जब मैं आर्यपुत्र को यह दिखाकर विश्वास दिलाने चली ठीक उसी समय यह न जाने कहाँ चली गई।

राजा—(अँगूठी उतारकर शकुन्तला हो देते हुए) अच्छा, तो जैसे लता में फूल लगने से यह जान लिया जाता है कि लता का वसन्त से मिलन हो गया, वैसे ही तुम भी मुझसे मिलने की पहचान के लिये यह अँगूठी पहन लो।

शकुन्तला—(हाथ उठाती हुई) नहीं, नहीं अब मैं इसका विश्वास नहीं करती। आर्यपुत्र ही इसे पहने रहें।

(मातलि आता है।)

मातलि—धर्मपत्नी से मिलने और पुत्र का मुँह देखने की आयुष्मान् को बधाई है।

राजा—मेरे मनोरथ का तो सचमुच बड़ा मीठा फल हुआ है मातलि! पर इन्द्र भगवान् तो यह बात जानते नहीं होंगे।

मातलि—(हँसकर) भला देवताओं से भी क्या कोई बात छिपी रहती है? आइए आयुष्मन्! भगवान् कश्यप आपको दर्शन देना चाहते हैं।

राजा—शकुन्तला! बालक की उँगली थाम लो! मैं तुम्हें ही साथ लेकर भगवान् के दर्शन के लिये चलना चाहता हूँ।

शकुन्तला—बड़ों के पास आर्यपुत्र के साथ जाने में मुझे बड़ी लाज लग रही है।

राजा—हर्ष के अवसर पर तो साथ ही चला जाता है। आओ, आओ! (सब घूमते हैं)

(अदिति के साथ आसन पर बैठे हुए कश्यप दिखाई देते हैं।)

मारीच (कश्यप)—(राजा को देखकर) दाक्षायणी! ये ही संसार का पालन करने वाले राजा दुष्यन्त हैं जो तुम्हारे पुत्र इन्द्र की लड़ाई में सबसे आगे रहते हैं और जिनके धनुष ने ही इतना काम कर डाला है कि इन्द्र का तीखी धार वाला वज्र भी उनका आभूषण-भर बना बैठा रह गया॥ 26॥

अदितिः—संभावणीआणुभावा से आकिदी। (संभावनीयानुभावाऽस्याकृतिः।

मातालिः—आयुष्मन्! एतौ पुत्रप्रीतिपिशुनेन चक्षुषा दिवौकसां पितरावायुष्मन्त मबलोकयतः। तावुपसर्प।

राजा—मातले एतौ-

प्राहुद्विदिशधा स्थितस्य मुनयो यत्तेजसः कारणं

भर्तारं भुतनत्रयस्य सुषुवे यद्यज्ञभागेश्वरम्।

यस्मिन्नात्मभुवः परोऽपि पुरुषश्चक्रे भवायास्पदं

द्वन्द्वं दक्षमरीचिसंभवमिदं तत्पशुरेकान्तरम्॥ 27॥

मातलिः—अथ किम्।

राजा—(उपगम्य) उभाभ्यामपि वासवनियोज्यो दुष्यन्तः प्रणमति।

मारीचः—वत्स! चिरंजीव। पृथिवीं पालय।

अदितिः—वच्छ! अप्पडिरहो होहि। (वत्स अप्रतिरथो भव।

शकुन्तला—दारअसहिदा वो पादवन्दनं करोमि। (दारकसहिता वां पादवन्दनं करोमि।)

मारीचः—वत्से!

आखण्डलसमो भर्ता जयन्तप्रतिमः सुतः।

आशीरन्या न ते योग्या पौलोमीसदृशी भव॥ 28॥

अदितिः—जादे! भत्तुणो अभिमदा होहि! अवस्सं दीहाऊ बच्छओ उहअकु-लणन्दणो होदु। उववि।

(जाते! भर्तुरभिमता भव। अवश्यं दीर्घायुर्वत्सक उभयकुलनन्दनो भवतु। उपविशत।)

(सर्वे प्रजापतिमभित उपविशन्ति।)

अदिति—इनके तो डील-डौल से ही इनके पराक्रम का ज्ञान हो रहा है।

मातलि—आयुष्मन्! देखो! ये ही हैं देवताओं के माता-पिता, जो आपकी ओर वैसे ही प्यार से देख रहे हैं, जैसे माता-पिता अपने बच्चों की ओर देखा करते हैं। जाओ, उनके पास तक बढ़ जाओ।

राजा—मातलि! क्या वे ही वे स्त्री-पुरुष हैं जो ब्रह्मा से एक पीढ़ी पीछे दक्ष और मरीचि से उत्पन्न हुए हैं, जिन्हें ऋषि लोग बारहों आदित्यों के माता-पिता मानते हैं, यज्ञ में भाग लेने वाले इन्द्र ने जिनसे जन्म लिया है और अपने में से अपने आप उत्पन्न होने वाले ब्रह्मा भी संसार का कल्याण करने के लिये जिनकी गोद में जन्म लिया करते हैं॥ 27॥

मातलि—हाँ, हाँ वे ही हैं ये।

राजा—(पास पहुँचकर) सदा इन्द्र की आज्ञा मानने वाला यह दुष्यन्त आप दोनों को प्रणाम करता है।

मारीच—बहुत दिनों तक जीओ वत्स! और पृथ्वी का पालन किया करो।

अदिति—वत्स! तुम इते बलवान् होओ कि कोई शत्रु तुम्हारे आगे न टिक सके।

शकुन्तला—मैं अपने पुत्र के साथ आपके चरणों में प्रणाम करती हूँ।

मारीच—वत्से! तुम्हारा पति इन्द्र के समान और तुम्हारा पुत्र जयन्त के समान है। इसलिये यही समझ में नहीं आता कि तुम्हें आशीर्वाद क्या दूँ। फिर भी यही आशीर्वाद देता हूँ कि तुम इन्द्राणी के समान तेजस्वी बनो॥ 28॥

अदिति—बेटी! अपने पति का आदर पाओ और तुम्हारा बेटा चिरंजीवी होकर दोनों कुलों को सुख दे। आओ, बैठ जाओ।

(सब प्रजापति के चारों ओर बैठ जाते हैं।)

मारीचः—(एकैकं निर्दिशन्) -

दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान् ।

श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत्समागतम् ॥ 29 ॥

राजा—भगवन्! प्रागभिप्रेतसिद्धिः पश्चाद्दर्शनम् । अतोऽपूर्वः खलु वोऽनुग्रहः । वृतः—

उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं धनोदयः प्राक्तदनन्तरं पयः ।

निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रमस्तव प्रसादस्य पुरस्तु संपदः ॥ 30 ॥

मातलिः—एवं विधातारः प्रसीदन्ति ।

राजा-भगवन्! इमामाज्ञाकरिं वो गान्धर्वेण विवाहविधिनोपयम्य कस्यचित्कालस्य बन्धुभिरानीतां स्मृतिशैथिल्यात्पत्यादिशत्रुपराद्धोऽस्मि तत्रभवतो युष्मत्सगौत्रस्य कण्वस्य । पश्चावङ्गुलीयकदर्शनादूढपूर्वा तद्दुहित रमवगतोऽहम् । तच्चित्रमिव मे प्रतिभाति ।

यथा गजो नेति समक्षरूपे तस्मिन्नपक्रामति संशयः स्यात् ।

पदानि दृष्ट्वा तु भवत्प्रतीतिस्तथाविधो मे मनसो विकारः ॥ 31 ॥

मारीचः—वत्स! अलमात्मापराधशङ्कया । संमोहोऽपि त्वय्युपपन्नः श्रूयताम्

राजा—अवहितोऽस्मि ।

मारीच—(अलग-अलग सबको संकेत करते हुए) आज सौभाग्य से यह पतिव्रता शकुन्तला, यह श्रेष्ठ बालक और तुम ये तीनों ऐसे इकट्ठे मिल गए हो जैसे श्रद्धा, धन और क्रिया तीनों एक साथ मिल जायें ॥ 29 ॥

राजा—भगवन्! आपकी कृपा तो सचमुच अनोखी है जिसमें दर्शन से पहले ही मनचाहा फल मिल जाय क्योंकि—कार्य और कारण का तो यही क्रम है कि पहले फूल लगता है तब फल आता है, पहले बादल उठते हैं तब वर्षा होती है, पर आपके यहाँ तो सारे सुख आपकी कृपा के आगे-आगे चलते जा रहे हैं ॥ 30 ॥

मातलि—जो स्वयं भाग्य बनाने वाले हैं उनकी कृपा ऐसी ही हुआ करती है ।

राजा—भगवन्! आपकी इस आज्ञाकारिणी कन्या से मैंने गन्धर्व विधि से विवाह कर लिया था । फिर कुछ दिनों पीछे जब इनके सगे सम्बन्धी लोग इन्हें मेरे पास ले आए तब मेरी स्मृति को न जाने क्या हो गया था कि मैं इन्हें एकदम भूल गया और मैंने इनको लौटा दिया । ऐसा करके मैंने आपके गोत्र वाले कण्वजी का बड़ा भारी अपमान कर डाला । फिर जब मैंने अँगूठी देखी तब मुझे स्मरण हुआ कि मैंने तो कण्व जी की कन्या से विवाह किया था । ये सब बातें मुझे बड़ी विचित्र सी जान पड़ रही हैं । मुझे अपनी यह भूल ठीक वैसी ही लग रही है जैसे आँख के सामने से चले जाते हुए हाथी को देखकर मन में यह सन्देह हो कि यह हाथी है या नहीं और फिर उसके निकल जाने पर उसके पैरों की छाप देखकर यह विश्वास किया जाय कि हाँ, यह सचमुच हाथी ही था ॥ 31 ॥

मारीच—वत्स! तुम अपने अपराध की बात अपने मन से एकदम निकाल डालो क्योंकि इस प्रकार की भूल तुमसे हो ही नहीं सकती । सुनो, मैं बताता हूँ जो हुआ है ।

राजा—जी, सुन रहा हूँ ।

मारीचः—यदैवाप्सरस्तीर्थावतरणात्प्रत्यक्षवैक्लव्यां शकुन्तलामादाय मेनका दाक्षायणीमुपगता तदैव ध्यानादवगतोऽस्मि दुर्वाससः शापादियं तपस्विनी सहधर्मचारिणी त्वया प्रत्यादिष्टा नान्यथेति । स चायमगुडलीयकदर्शनावसामः ।

राजा—(सोच्छ्वासम्) एष बचनीयान्मुक्तोऽस्मि ।

शकुन्तला—(स्वगतम्) दिट्टिआ अकारणपच्चादेसी ण अज्जउत्तो । ण हु सत्तं अत्ताणं सुमिरेमि अहवा पतो मए स हि साबो विरहसुण्णहिअआए ण विदिदो । अदो सहीहि संदिट्ठमिह भत्तुणो अंगुलीअजं दंसइदव्वं ति । (दिष्ट्याऽकारणप्रत्यादेशी नार्यपुत्रः । न खलु शप्तमात्मानं स्मरामि । अथवा प्राप्तो मया स हि शापो विरहशुन्यहृदयया न विदितः । अतः सखीभ्यां संदिष्टाऽस्मि भर्तुरंगुलीयकं दर्शयितव्यमिति ।

मारीचः—वत्से! विदितार्थाऽसि । तदिदानीं सहधर्मचारिणं प्रति न त्वया मन्युः कार्यः । पश्य-

शापादसि प्रतिहता स्मृतिरोधरूक्षे भर्तार्यपेततमसि प्रभुता तवैव ।

छाया न मूर्च्छति मलीपहतप्रसादे शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा ॥ 32 ॥

राजा—यथाऽऽह भगवान्!

मारीचः—वत्स! कच्चिदभिनन्दितस्त्वया विधिवदस्माभिरनुष्ठितजातकर्मा पुत्र एष शाकुन्तलेयः ।

राजा—भगवन्! अत्र खलु मे वंशप्रतिष्ठा (इति बालं हस्तेन गृह्णाति ।)

मारीचः—जब मेनका बिलखती हुई शकुन्तला को लेकर, अप्सरा तीर्थ से उतरकर यहाँ दाक्षायणी के पास आई तभी मैंने ध्यान से जान लिया था कि दुर्वासा के शाप से ही तुमने अपनी इस तपस्विनी धर्मपत्नी को छोड़ दिया है और वह शाप तब तक के लिये है जब तक तुम अँगूठी न देख लो ।

राजा—(सन्तोष की साँस लेकर) चलो, दोष से छुटकारा तो मिला ।

शकुन्तला—(मन ही मन) यह बड़े भाग्य की बात है कि आर्यपुत्र ने मुझे बिना कारण नहीं छोड़ा था । पर यह तो स्मरण ही नहीं आ रहा है कि मुझे शाप मिला कब? या यह भी हो सकता है कि मुझे शाप मिला हो और अपने विरह की धुन में पड़े रहने के कारण मुझे उसका ज्ञान ही न हुआ हो । अब मेरी समझ में आ रहा है कि चलते समय मेरी सखियों ने यह क्यों कहा था कि पति को अँगूठी अवश्य दिखला देना ।

मारीचः—वत्से? तुम ठीक समझी हो । अब तुम अपने पति पर क्रोध न करना । देखो! जैसे, दर्पण पर धूल पड़ी रहने से उसमें ठीक छाया नहीं दिखाई देती और वही जब पोंछ दिया जाता है तब छाया बड़ी सरलता से दिखाई पड़ने लगती है वैसे ही शाप के कारण स्मृति धुँधली पड़ जाने से उन्होंने तुम्हें छोड़ दिया था पर अब शाप छूट जाने से उन्होंने तुम्हें भली भाँति पहचान लिया है । 32 ॥

राजा—भगवान् ठीक कहते हैं ।

मारीचः—वत्स! शकुन्तला के जिस पुत्र के संस्कार हमने ठीक विधि से कर दिए हैं उसे तुमने अपनाया या नहीं?

राजा—यही बालक तो हमारा वंश चलाने वाला है ।

(यह कहकर बालक को गोद में उठा लेते हैं ।)

मारीचः—तथा भाविनमेनं चक्रवर्तिनमवगच्छतु भवान्। पश्य,

रथेनानुद्धातस्तिमितगतिना तीर्णजलधिः

पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः।

इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात्सर्वदमनः

पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात्॥ 33॥

राजा—भगवता कृतसंस्कारे सर्वमस्मिन्वयमाशास्महे।

अदितिः—भअवं! इमाए दुहिदुमणोरहसंपत्तीए कण्णो वि दाव सुदवित्यारो करी अदु। दुहिदुवच्छला मेणआ इह एव्व उपचरन्ती चिद्धिदि। (भगवन्! अनया दुहितृमनोरथ-संपत्त्या कण्वोऽपि तावच्छु तविस्तारः क्रियताम्। दुहितृवत्सला मेनकेहैवोपचरन्ती तिष्ठति।)

शकुन्तला—(आत्मगतम्) मणोरहो क्व मे भणिदो भअवदीए। (मनोरथः खलु मे भणितो भगवत्या।)

मारीचः—तपःप्रभावात्प्रत्यक्षं सर्वमेव तत्रभवतः।

राजा—अतः खलु मम नातिक्रद्धो मुनिः।

मारीचः—तथाप्यसौ प्रियमस्माभिः प्रष्टव्यः। कः कोऽत्र भोः।

(प्रविश्य)

शिष्यः—भगवन! अयमस्मि।

मारीचः—गालव! इदानीमेव विहायसा गत्वा मम वचनात्तत्रभवते कण्वाय प्रिय मावेदय यथा पुत्रवती शकुन्तला तच्छापनिवृत्तौ स्मृतिमता दुष्यन्तेन प्रतिगृहीतेति।

मारीच—यह तुम्हारा वंश तो चलावेगा ही, साथ ही चक्रवर्ती राजा भी होगा। देखो! यह बालक अपने दृढ़ और सीधे चलने वाले रथ पर चढ़कर समुद्र पार करके सातों द्वीपों वाली पृथ्वी को इस प्रकार अकेला जीत लेगा कि संसार का कोई वीर इसके सामने टिक न सकेगा। यहाँ इसने सब जीवों को तंग कर रक्खा था, इसीलिये इसका नाम सर्वदमन पड़ गया था। पर आगे चलकर यह सारे संसार का भरण-पोषण करेगा इसलिये इसका नाम भरत होगा॥ 33॥

राजा—जिसके संस्कार आपने किए हों उससे तो हमें ऐसी आशा है ही।

अदिति—भगवन्! इस कन्या के मनोरथ पूरे होने की सारी बात कण्व जी को भी कहला भेजनी चाहिए क्योंकि इसे प्यार करने वाली इसकी माँ मेनका ने यहाँ रखकर हम लोगों की बड़ी सेवा की है।

शकुन्तला—(मन में) देवी ने तो मेरे ही मन की बात कह दी है।

मारीच—तप के प्रभाव से कण्व ऋषि तो सब कुछ जानते हैं।

राजा—इसलिये उन्होंने मुझ पर क्रोध नहीं किया।

मारीच—फिर भी यह प्यारी बात उनके पास कहला ही भेजनी चाहिए। अरे कोई है?

(एक शिष्य आता है।)

शिष्य—मैं हूँ भगवन्!

मारीच—गालव! अभी आकाश-मार्ग से जाकर मेरी ओर से कण्वजी को यह प्यारा समाचार सुना आना कि शाप छूटने पर दुष्यन्त ने सब स्मरण करके शकुन्तला और उसके पुत्र को ग्रहण कर लिया है।

शिष्यः—यदाज्ञापयति भगवान्। (इति निष्क्रान्तः।)

मारीचः—वत्स! त्वमपि स्वापत्यदारसहितः सख्युराखण्डलस्य रथमारुह्य ते राजधानीं प्रतिष्ठस्व।

राजा—यदाज्ञापयति भगवान्।

मारीचः—अपि च।

भवतु तब बिडौआः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु

त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं भावयेथाः।

गणशतपरिवतैरेवमन्योन्यकृत्यै-

नियतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः॥ 34॥

राजा—भगवन् यथाशक्ति श्रेयसे यतिष्ये।

मारीचः—वत्स! किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि।

राजा—अतः परमपि प्रियमस्ति? यदिह भगवान्प्रियं कर्तुमिच्छति तर्हीदमस्तु।

(भरतवाक्यम्)

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पाथिवः सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्।

ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्बवं परिगतशक्तिरात्मभूः॥ 35॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे।)

॥ इति सप्तमोऽङ्कः॥

॥ सम्पूर्णमिदमभिज्ञानशाकुन्तलं नाम नाटकम्॥.



शिष्य—जैसी भगवान् की आज्ञा। (चला जाता है।)

मारीच—वत्स! तुम भी अब अपने पुत्र और पत्नी को साथ लेकर अपने मित्र इन्द्र के रथ पर चढ़कर अपनी राजधानी को लौट जाओ।

राजा—जैसी भगवान् की आज्ञा।

मारीच—और सुनो! तुम्हारी प्रजा के लिये इन्द्र सदा भरपूर वर्षा किया करें और तुम भी सैकड़ों गण-तन्त्रों पर राज्य करते हुए बहुत यज्ञ करके इन्द्र को प्रसन्न करते रहो। इस प्रकार एक दूसरे के लिये ऐसे अच्छे-अच्छे काम करते रहो कि दोनों लोक सुखी रहें॥ 34॥

राजा—भगवन्! मैं भरसक अच्छे ही काम करने का जतन करूँगा।

मारीच—वत्स! और कुछ तुम्हारी इच्छा हो तो कह डालो।

राजा—इससे बढ़कर भी क्या और कोई बात हो सकती है? फिर भी यदि आप मुझपर कुछ और कृपा करना ही चाहते हैं तो ऐसा कीजिए कि-

(भरतवाक्य) राजा सदा अपनी प्रजा की भलाई में लगे रहें, बड़े-बड़े विद्वान् कवियों की वाणी का सब कहीं आदर हो और अपने से उत्पन्न होने वाले तथा चारों ओर अपनी शक्ति फैलाने वाले महादेवजी ऐसी कृपा करें कि मुझे अब फिर कभी जन्म न लेना पड़े॥ 35॥

(सब चले जाते हैं।)

॥ सातवाँ अङ्क पूर्ण॥

॥ महाकवि श्रीकालिदास का रचा हुआ अभिज्ञान-शाकुन्तल नामका नाटक संपूर्ण हुआ॥



॥ विक्रमोर्वशीयम् ॥

[त्रोटकम्]

[त्रोटक उपरूपक में पाँच, सात, आठ या नौ अंक होते हैं, देवता या मनुष्य पात्र होते हैं। प्रधान रस शृंगार होता है और प्रत्येक अंक में विदूषक की प्रमुखता रहती है। शेष लक्षण नाटक के समान होते हैं।]

पात्र-परिचयः

पुरुषाः-

सूत्रधारः—नाटकस्य प्रबन्धकर्ता (नाटक का प्रबन्धक)

पारिपार्श्वकः—सूत्रधारस्य सहचरः । (सूत्रधार का साथी)

पुरूरवस्—प्रतिष्ठानदेशस्य राजा, नाटकस्य नायकः । (प्रतिष्ठान देश का राजा, नाटक का नायक)

माणवकः—विदूषकः ।

आयुसः—पुरूरवसः पुत्रः । (पुरूरवा का पुत्र)

नारदः—देवर्षिः

चित्ररथः—गन्धर्वेश्वरः ।। (गन्धर्वों का राजा)

लातव्यः—राजपरिचारकः । (राजा का सेवक, कंचुकी)

पल्लवः] भरतमुनेः शिष्यौ । (भरतमुनि के दो शिष्य)
गालवश्च]

स्त्रियः-

उर्वशीः—एक अप्सरा । नाटकस्य नायिका । (एक अप्सरा, नाटक की नायिका)

चित्रलेखाः—द्वितीया अप्सरा । उर्वश्याः सखी । (दूसरी अप्सरा, उर्वशी की सखी)

सहजन्या,
रम्भा,
मेनका] अप्सरसः । (अप्सराएँ)

देवी—राज्ञी, काशिराजस्य कन्या । (रानी, काशीराज की पुत्री)

निपुणिका—राज्ञ्याः परिचारिका । (रानी की दासी)

तापसी—तपस्विनी ।

परिजनः—राज्ञ्याः परिचारिकाः । (रानी की सेविकाएँ)

यवनीः—राज्ञः परिचारिका । (राजा की सेविका)

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

विक्रमोर्वशीयम्

प्रथमोऽङ्कः

वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी
यस्मिन्नन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः ।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः ॥ १ ॥

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधारः—अलमतिविस्तरेण । (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य ।) मारिष! इतस्तावत् ।

(प्रविश्य)

पारिपार्श्वकः—भाव! अयमस्मि ।

सूत्रधारः—मारिष! परिषदेषा पूर्वेषां कवीनां दृष्टरसप्रबन्धा । अहमस्यां कालिदासग्रथितवस्तुना नवेन विक्रमोर्वशीयनामधेयेन त्रोटकेनोपस्थास्ये । तदुच्यतां पात्रवर्गः स्वेषु पाठेष्ववहितैर्भवितव्यमिति ।

पारिपार्श्वकः—यथाज्ञापयति भावा । (इति निष्क्रान्तः ।)

प्रथम अङ्क

वेदान्ती लोग जिन्हें ऐसा अकेला पुरुष बताते हैं जो पृथ्वी और आकाश में रमा हुआ होने पर भी सबसे अलग बना रहता है, जिनका ईश्वर नाम ऐसा सटीक और सच्चा है कि और किसी को भी इस नाम से नहीं पुकारा जा सकता और मोक्ष पाने की इच्छा करने वाले लोग जिनमें प्राणायाम साधकर अपने हृदय के भीतर खोजा करते हैं, वे सच्ची भक्ति से मिलने वाले शिव आप सब लोगों का कल्याण करें ॥ १ ॥

(नान्दी हो चुकने पर)

सूत्रधार—अच्छा, अब इतना बहुत है । (नेपथ्य की ओर देखकर) अरे भाई मारिष! इधर तो आओ ।

(पारिपार्श्वक आता है ।)

पारिपार्श्वक—लीजिए, आ गया, आर्य!

सूत्रधार—देखो मारिष! यह सभा पुराने कवियों के तो बहुत से नाटक देख चुकी है । आज मैं इन्हें श्रीकालिदास का बनाया हुआ विक्रमोर्वशीय नामका एक नया त्रोटक दिखलाना चाहता हूँ इसलिये सब अभिनेताओं को जाकर समझा दो कि बड़ी सावधानी से अपनी-अपनी भूमिका का निर्वाह करें ।

पारिपार्श्वक—जैसी आपकी आज्ञा । (चला जाता है ।)

सूत्रधारः—यावदिदानीमार्यविदग्धमिश्रान्विज्ञापयामि । (प्रणिपत्य)

प्रणयिषु वा दाक्षिण्यादथवा सद्बस्तुपुरुषबहुमानात् ।

शृणत जना अवधानात्क्रियामिमां कालिदासस्य ॥ 2 ॥

(नेपथ्ये)

अज्जा! परिताबध परिताअध जो सुरपक्खवादी जस्स वा बम्बरअले गई अत्थि । (आर्याः! परित्रायध्वं परित्रायध्वं यः सुरपक्षपाती यस्य वाम्बरतले गतिरस्ति।)

सूत्रधारः—कर्णदत्त्वा अये किं नु खलु मद्भिज्ञापनानन्तरमार्तानां कुररीणामिवाकाशे शब्दः श्रूयते ।

मत्तानां कुसुमरसेन षट्पदानां शब्दोऽयं परभृतनाद एष धीरः ।

आकाशे सुरगणसेविते समन्तात्किं नार्यः कलमधुराक्षरं प्रगीताः ॥ 3 ॥

(विचिन्त्य) भवतु । ज्ञातम् ।

ऊरुद्धवा नरसखस्य मुनेः सुरस्त्री कैलासनाथमनृत्य निवर्तमाना ।

बन्दोकृता विबुधशत्रुभिरर्धमार्गे क्रन्दत्यतः करुणमप्सरसां गणोयम् ॥ 4 ॥

(इति निष्क्रान्तः)

॥ प्रस्तावना ॥

(ततः प्रविशन्त्यप्सरसः।)

अप्सरसः—अज्ज परिताअध परिताअध, जो सुरपक्खवादी वस्स या अंबरअले गई अत्थि । (आर्याः परित्रायध्वं परित्रायध्वम्, यः सुरपक्षपाती यस्य वाम्बरतले गतिरस्ति।)

सूत्रधार—तब तक मैं अपने विद्वान् दर्शकों से कुछ निवेदन कर लूँ । (सिर झुकाकर) सज्जनो! आप लोगों से प्रार्थना है कि हम नम्र सेवकों पर कृपा करके या इस नाटक के नायक का आदर करके आप लोग कालिदास की इस रचना को सावधान होकर सुनें ॥ 2 ॥

(नेपथ्य में)

आर्यों! बचाओ! बचाओ!! जो भी कोई देवताओं का हित चाहने वाला हो और जो आकाश में भी आ-जा सकता हो, वह आकर हमें बचा ले ।

सूत्रधार—(सुनकर) अरे! यह क्या? मेरी प्रार्थना समाप्त होते ही आकाश में यह कैसा कुररी के रोने-जैसा शब्द सुनाई देने लगा—(सोचकर) क्या यह फूलों का रस पीकर मतवाले बने हुए भौरों का गुंजार है? या कहीं कोयल की मस्तानी कूक तो नहीं है? या कहीं आकाश में देवताओं के साथ आई हुई अप्सराएँ तो मीठी तान नहीं छेड़े हुए हैं? ॥ 3 ॥

(सोचकर) अच्छा, समझ गया । नर के मित्र नारायण की जाँघ से जो उर्वशी नाम की अप्सरा उत्पन्न हुई थी उसे कुबेर की सेवा करके लौटते समय राक्षस बीच से ही पकड़ ले गए हैं, उसी पर ये अप्सराएँ इतनी रो-चिल्ला रही हैं ॥ 4 ॥

(चला जाता है।)

॥ प्रस्तावना ॥

(अप्सराएँ प्रवेश करती हैं।)

अप्सराएँ—आर्यों! बचाओ, बचाओ! जो भी कोई देवताओं का हित चाहने वाला हो और जो आकाश में भी आ-जा सकता हो, वह आकर हमें बचा ले ।

(ततः प्रविश्य पटीक्षेपेण राजा पुरुरवा रथेन सूतश्च ।)

राजा—अलमाक्रन्दितेन । सूर्योपस्थाननिवृत्तं पुरुरवसं मामेत्य कथ्यतां कुतो भवत्यः परित्रासव्या इति ।

रम्भा—असुरावलेवादी । (असुरावलेपात् ।)

राजा—किं पुनरसुरावलेपेन भवतीनामपराद्धम् ।

रम्भा—सुणादु महाराओ । जा तवोविसेससंकिदस्स सुअमारं पहरणं महेंदस्स पच्चादेसो रूवगव्विदाए सिरिगोरिए अलंकारो सग्गस्स, सा णो पिअसही उव्वसी कुबेरभवणादो णिघत्तमाणा केणावि दाणवेण चित्तलेहादुदीआ अद्धपथं ज्जेव बंदिग्गाहं गिहीदा । (शृणोतु महाराजः । याः तपोविशेषशङ्कितस्य सुकुमारं प्रहरणं महेन्द्रस्य प्रत्यादेशो रूपगर्वितायाः श्रीगौर्याः अलंकारः सर्गस्य सा नः प्रियसख्युर्वशी कुबेरभवनान्निवर्तमाना केनापि दानवेन चित्रलेखा द्वितीया अर्धपथ एव बन्दिग्राहं गृहीता ।)

राजा—अपि ज्ञायते कतमेन दिग्विभागेन गतः स जाल्मः ।

अप्सरसः—ईसाणीए दिसाए । (ऐशान्या दिशा ।)

राजा—तेन हि मुच्यतां विषादः । यतिष्ये वः सखीप्रत्यानयनाय ।

अप्सरसः—सरिसं एदं सोमवंससंभवस्स । (सदृशमेतत्सोमवंशसंभवस्य ।)

राजा—दव पुनर्मा भवत्यः प्रतिपालयिष्यन्ति ।

अप्सरसः—एदस्सि हेमकूडसिहरे । (एतस्मिन्हेमकूटशिखरे ।)

राजा—सूत! ऐशानीं दिशं प्रति चोदयाश्वानाशुगमनाय ।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान् । (इति यथोक्तं करोति ।)

(रथ पर चढ़े हुए राजा पुरुरवा और सारथी का प्रवेश)

राजा—बस, बस, रोओ मत! मैं पुरुरवा हूँ और अभी भगवान् सूर्य की उपासना करके लौट रहा हूँ । आप लोग मेरे पास आकर बताइए कि आप लोगों को किससे बचाना होगा ।

रम्भा—राक्षसों के अत्याचार से ।

राजा—राक्षसों ने आप लोगों पर क्या अत्याचार किया है?

रम्भा—सुनिए महाराज! किसी की बड़ी तपस्या से डरकर उसका तप डिगाने के लिये जिसे अपना सुकुमार शस्त्र बनाकर इन्द्र भेजते हैं, जिसके सुन्दर रूप के आगे अत्यन्त रूप वाली लक्ष्मी भी पानी भरती हैं और जो स्वर्ग की शोभा बनी हुई है, वही हमारी प्यारी सखी उर्वशी जब कुबेर के भवन से लौट रही थी तब बीच में ही कोई राक्षस उसे और चित्रलेखा को पकड़ ले गया ।

राजा—क्या आप लोग बता सकती हैं कि वह दुष्ट दैत्य गया किस ओर है?

सहजान्या—ईशान (पूर्व-उत्तर के कोने) की ओर ।

राजा—तो आप लोग चिन्ता न कीजिए । मैं आपकी प्यारी सखी को अभी लौटा लाने का जतन करता हूँ ।

रम्भा—आप चन्द्रवंशी हैं, आप सब कुछ कर सकते हैं ।

राजा—आप लोग कहाँ मेरी बाट देखेंगी?

अप्सरसः—इसी हेमकूट की चोटी पर ।

राजा—सारथि! ईशान (उत्तर-पूर्व की) ओर रास मोड़कर घोड़ों को हाँको तो वेग से ।

सारथि—जैसी आपकी आज्ञा (वैसा ही करता है ।)

राजा—(रथवेगं रूपयित्वा ।) साधु साधु । अनेन रथवेगेन पूर्वप्रस्थितं वैनतेयमप्यासादयेयम् किं पुनस्तमपकारिणं मघोनः । मम—

अग्रे यान्ति रथस्य रेणुपदवीं चूर्णीभवन्तो घना—
श्चक्रभ्रान्तिररान्तरेषु वितनोत्यन्यामिवारावलीम् ।
चित्रारम्भविनिश्चलं हरिशिरस्यायामवच्चारं
यन्मध्ये समवस्थितो ध्वजपटः प्रान्ते च वेगानिलात् ॥ 5 ॥

(निष्क्रान्तो रथेन राजा सूतश्च ।)

सहजन्या—हला! गदो राएसी । ता अम्हे वि जधासदिङ् पदेसं गच्छम्ह । (हला! गतो राजर्षिः । तद्वयमपि यथासदिष्टं प्रदेशं गच्छामः ।)

मेनका—सहि एवं करेम्ह (सखि! एवं कुर्मः ।)

(इति हेमकूटशिखरे नाट्येनाधिरोहन्ति ।)

रम्भा—अवि णाम सो राएसी उद्धरदि णो हिअअसल्लम् । (अपि नाम स राजर्षिस्वरति नो हृदयशल्यम् ।)

मेनका—सहि! मा दे संसओ भोदु । (सखी! मा ते संशयो भवतु ।)

रम्भा—णं दुज्जआ दाणवा (ननु दुर्जया दानवाः ।)

मेनका—उवड्ढिदसंपराओ महिंदो वि मज्झमलोआदो सबहुमाणं आणाविअ तं एव्व विबुधविजआअ सेणामुहे णिओजेदि । (उपस्थितसंपरायो महेन्द्रोऽपि मध्यमलोकात्सबहुमानमानाय्य तमेव विबुधविजयाय सेनामुखे नियुङ्क्ते ।)

राजा—(रथ की चाल देखकर) वाह! वाह! जब चलते ही रथ इतने वेग से दौड़ने लग रहा है तब तो मैं गरुड़ को भी पछाड़ सकता हूँ, फिर इन्द्र के शत्रु राक्षस तो हैं किस गिनती में। मेरा रथ इतने तीव्र वेग से दौड़ रहा है कि उसकी रगड़ से घने बादल भी पिस-पिसकर धूल-जैसे बने चले जा रहे हैं। इसके पहिए भी इतने वेग से घूम रहे हैं मानो पहियों के अरों के बीच में और भी बहुत से अरे बनते चले जा रहे हों। घोड़ों के सिरों पर चौंरियाँ ऐसी खड़ी हो गई हैं कि जान पड़ता है मानो ये चित्र में खिंची हुई हों और वेग से चलने के कारण जो पवन उठ रहा है उसकी झोंक से झंडी का कपड़ा, ध्वजा के डंडे और अपने बाहरी छोर के बीच में सीधा जा फैला है, तनिक भी हिलता-डुलता नहीं ॥ 5 ॥

(राजा तथा सारथि निकल जाते हैं ।)

सहजन्या—सखियो! राजर्षि तो चले गए। चलो, हम लोग भी उधर चली चलें जहाँ उनसे मिलने के लिये अभी कह चुकी हैं।

मेनका—चलो सखी! चलो!

(सब हेमकूट पर्वत पर चढ़ने का नाट्य करती हैं ।)

रम्भा—क्या वे राजर्षि सचमुच हम लोगों के मन की कसक दूर कर सकेंगे?

मेनका—इनमें सन्देह न करो सखी!

रम्भा—पर उन दैत्यों को कोई जीत थोड़े ही सकता है।

मेनका—जानती हो, जब देवताओं को विजय के लिये युद्ध करना होता है उस समय इन्द्र भी इन्हीं को तो मध्यलोक से बड़े सम्मान के साथ बुलाकर अपना सेनापति बनाते हैं। समझी?

रम्भा—सब्यहा विअई भोदु। (सर्वथा विजयी भवतु।)

मेनका—(क्षणमात्रं स्थित्वा) हला समस्ससध समस्ससध। एस उल्लसिदहरिणकेदणो तस्स राएसिणो सोमदत्तो र्हो दीसदि। ण एसो अकिदत्थो पडिणिउत्तिस्सदि ति तवकेमि। (सख्यः समाश्वसित समाश्वसित। एष उल्लसितहरिणकेतनस्तस्य राजर्यः सोमदत्तो रथो दृश्यते। नैषोऽकृतार्थः प्रतिनिवर्तिष्यति इति तर्कयामि।)

(निमित्तं सूचयित्वावलोकन्त्यः स्थिताः।)

(ततः प्रविशति रथारूढो राजा सूत्रश्च)

(भयनिमीलिताक्षी चित्रलेखा दक्षिणहस्तावलम्बिका उर्वशी च।)

चित्रलेखा—सहि समस्स समस्सस। (सखि समाश्वसिहि समाश्वसिहि।)

राजा—सुन्दरि! समाश्वसिहि।

गतं भयं भीरु सुरारिसंभवं त्रिलोकरक्षी महिमा हि वज्रिणः।

तदेतदुन्मोलय चक्षुरायतं निशावसाने नलिनीव पङ्कजम्॥ 6॥

चित्रलेखा—अम्महे! कहं उस्ससिदमेत्तसीआविदजीविदा अज्ज वि एसा सण्णां ण पडिवज्जदि। (अहो कथमुच्छ्वसितामात्रसंभावितजीविता अद्याप्येषा संज्ञां न प्रतिपद्यते।)

राजा—बलबदत्र भवती परित्रस्ता। तथाहि।

मन्दारकुसुमदाम्ना गुरुरस्याः सूच्यते हृदयकम्पः।

मुहुरुच्छ्वलता मध्ये परिणाहवतोः पयोधरयोः॥ 7॥

रम्भा—अच्छा, मैं तो मनाती हूँ कि सब प्रकार उनकी जीत हो।

मेनका—(थोड़ी देर ठहरकर) सखियो! चुप हो जाओ, धीरज रक्खो! वह देखो, राजर्षि के सोमदत्त रथ की वह झंडी फहराती दिखाई दे रही है जिस पर हरिण बना हुआ है। मैं समझती हूँ कि काम पूरा किए बिना वे नहीं लौटे होंगे।

(सब सखियाँ उतावली होकर उधर देखती हैं।)

(रथ पर बैठे हुए राजा और सारथि का प्रवेश।)

(उसी रथ पर चित्रलेखा के दाहिने हाथ पर सहारा देकर डर से आँखें बन्द किए पड़ी उर्वशी दिखाई देती है।)

चित्रलेखा—धीरज धरो सखी! धीरज धरो।

राजा—सुन्दरी! धीरज धरो। अब राक्षसों का कोई डर नहीं रहा, क्योंकि इन्द्र का बल तो तीनों लोकों की रक्षा कर सकता है, इसलिये तुम अपनी बड़ी-बड़ी आँखें उसी प्रकार खोल दो जैसे प्रातःकाल होने पर कमलिनी अपना फूल खोल देती है॥ 6॥

चित्रलेखा—यह बड़े अचरज की बात है कि जिसकी चलती हुई साँस ही देखकर विश्वास हो पाता है कि यह जी रही है वह अभी तक अपनी आँखें नहीं खोल पा रही है।

राजा—भद्रे! तुम्हारी सखी बहुत ही डर गई है, क्योंकि इसके बड़े-बड़े स्तनों के बीच में जो मन्दार की माला पड़ी हुई है उसके बराबर हिलने से यह जान पड़ रहा है कि इसका हृदय डर के मारे अभी तक बहुत धड़क रहा है॥ 7॥

चित्रलेखा—(समरुणम्) हला उव्वसि! पज्जवत्थावेहि अत्तणम्। अणच्छरा विअ पडिभासि। (सखि उर्वशी! पर्यवस्थापयात्मानम्। अनप्सरेव प्रतिभासि।)

राजा-

मुञ्चति न तावदस्या भयकम्पः कुसुमकोमलं हृदयम्।
सिचयान्तेन कथंचित्तनमध्योच्छ्वासिना कथितः॥ 8॥
(उर्वशी प्रत्यागच्छति।)

राजा—(सहर्षम्) चित्रलेखे! दिष्ट्या वर्धसे। प्रकृतिमापन्ना ते प्रियसखी। पश्य।

आविर्भूते शशिनि तमसा मुच्यमानेव रात्रि-
नैशस्यार्चिर्हुतभुज इव च्छिन्नभूयिष्ठधूमा।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुक्तकल्पा
गङ्गारोधःपतनकलुषा गच्छतीव प्रसादम्॥ 9॥

चित्रलेखा—सहि उव्वसि! वीसद्धा भव। आवण्णाणुकम्पिणा महाराएण पडिहदा क्खु दे तिदसपरिपन्थिणो हदासा दाणवा। (सखि उर्वशी! विश्रब्धा भव आपन्नानुकम्पिना महाराजेन प्रतिहताः खलु ते त्रिदशपरिपन्थिनो हताशदानवाः।)

उर्वशी—(चक्षुषी उन्मील्य।) किं पहावदंसिणा महिंदेण अब्भुवपहम्हि। (किं प्रभावदर्शिना महेन्द्रेणाभ्युपपन्नास्मि।)

चित्रलेखा—ण महिंदेण। महिंदसरिसाणुभावेण राएसिणा पुरुरवसेण। (न महेन्द्रेण। महेन्द्रसदृशानुभावेन राजर्षिणा पुरुरवसा।)

उर्वशी—(राजानमवलोक्य। आत्मगतम्।) उव्वकिदं क्खु दाणवेदसरंभेण। (उपकृतं खलु दानवेन्द्रसरंभेण।)

चित्रलेखा—(दुखी होकर) सखी उर्वशी! धीरज धरो। यह सब करके तुम अप्सरा-जैसी नहीं जान पड़ती।

राजा—इनके स्तनों के ऊपर हिलने वाले वस्त्र से ही जान पड़ रहा है कि डर से जो धड़कन हुई थी वह अभी तक इनके फूल जैसे कोमल हृदय को छोड़ नहीं पा रही है॥ 8॥

(उर्वशी आँखें खोलती है।)

राजा—(प्रसन्न होकर) बधाई है चित्रलेखाजी! आपकी सखी ने आँखें खोल दी हैं। देखो—मूर्च्छा दूर होने पर आपकी सखी ऐसी लगती हैं जैसे चन्द्रमा के निकल जाने पर अँधेरे से छूटी हुई रात हो, या रात के समय बिना धुएँ वाली अग्नि की लपट हो, या गंगा की वह धारा हो जो कगार के गिरने से गँदली होकर फिर स्वच्छ हो गई हो॥ 9॥

चित्रलेखा—सखी उर्वशी! विश्वास करो, दुखियों पर कृपा करने वाले महाराज ने देवताओं के शत्रु सब दुष्ट राक्षसों को मार भगाया है।

उर्वशी—(आँखें खोलकर) क्या बलशाली इन्द्र ने मुझे बचाया है?

चित्रलेखा—महेन्द्र ने नहीं, इन्द्र के ही समान वीर राजर्षि ने।

उर्वशी—(राजा को देखकर मन में) तो राक्षसों के उपद्रव ने उपकार ही किया है।

राजा—(उर्वशीं विलोक्य । आत्मगतम्) स्थाने खलु नारायणमृषिं विलोभयन्त्य-स्तदूरुसंभावामिमां विलोक्य व्रीडिताः सर्वा अप्सरस इति । अथवा नेयं तपस्विनः सृष्टिरित्येवमि । कुतः ।

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः

शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।

वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो

निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥ 10 ॥

उर्वशी—हला चित्तलेहे! सहीअणो कहि क्खु भवे । (सखि चित्रलेखे । सखीजनः कुत्र खलु भवेत् ।)

चित्रलेखा—सहि! अभअप्पदाई महाराओ जाणादि । (सखि! अभयप्रदायी महाराजो जानाति ।)

राजा—(उर्वशीं विलोक्य) महति विषादे वर्तते सखीजनः । पश्यतु भवती ।

यदृच्छया त्वं सकृदप्यबन्ध्योः पथि स्थिता सुंदरि यस्य नेत्रयोः ।

त्वया विना सोऽपि समुत्सुको भवेत्सखीजनस्ते किमुदार्रसौहृदः ॥ 11 ॥

उर्वशी (आत्मगतम्) । अमिअं क्खु दे वअणम् । अहवा चन्दाओ अमिअं ति किं अच्चरिअम् । (प्रकाशम्) अदो एव्व मे पेक्खिदुं तुवरदि हिअअम् । (अमृतं खलु ते वचनम् । अथवा चन्द्रादमृतमिति किमाश्चर्यम् । अत एव मे प्रेक्षितुं त्वरते हृदयम् ।)

राजा—(हस्तेन दर्शयन्) ।

एताः सुतानु मुखं ते सख्यः पश्यन्ति हेमकूटगताः ।

उत्सुकनयना लोकाश्चन्द्रमिवोपल्लवान्मुक्तम् ॥ 12 ॥

(उर्वशी साभिलापं पश्यति ।)

राजा—(उर्वशी को देखकर मन ही मन) नारायण ऋषि को लुभाने के लिये जो अप्सराएँ गई थीं, उन्होंने जब ऋषि की जंघा से उत्पन्न होने वाली इस उर्वशी के रूप को देखा तो वे सब झेंप गईं । यह ठीक ही था, क्योंकि ऐसा सुन्दर रूप कोई तपस्वी तो उत्पन्न कर नहीं सकता । इसे बनाने के लिये या तो चाँदनी देने वाले चन्द्रमा ही स्वयं ब्रह्मा बने होंगे या शृङ्गार रस के देवता कामदेव ने ही स्वयं इसे बनाया होगा, या फिर वसन्त ने ही इसकी रचना की होगी । नहीं तो बताइए, भला वेद पढ़-पढ़कर पथराए हुए और भोग-विलास से दूर रहने वाले वे बूढ़े ऋषि (ब्रह्म) ऐसा सुन्दर रूप कैसे गढ़ सकते थे ॥ 10 ॥

उर्वशी—सखी चित्रलेखा! हमारी सब सखियाँ कहाँ होंगी?

चित्रलेखा—हमें बचाने वाले महाराज ही जानते होंगे ।

(उर्वशी को देखकर)

राजा—आपकी सखियाँ बड़ी ही दुखी दिखाई दे रही हैं । देखिए, यदि आपको कोई एक बार भी दैवयोग से देख ले तो वह भी आपके वियोग से विकल हो उठेगा, फिर, आपके प्रेम में पगी हुई सखियों की तो बात ही क्या है? ॥ 11 ॥

उर्वशी—(मन ही मन) आपके वचन तो अमृत हैं । पर चन्द्रमा से यदि अमृत बरसे तो आश्चर्य ही क्या । (प्रकट) इसीलिये तो मेरा हृदय उन्हें देखने के लिये इतनी उतावली कर रहा है ।

राजा—(हाथ से दिखाता हुआ) वह देखिए, आपकी सखियाँ हेमकूट पर बैठी हुई आपकी ओर वैसी ही उत्सुकता से देख रही हैं जैसी उत्सुकता से लोग ग्रहण से छूटे हुए चन्द्रमा को देखा करते हैं ॥ 12 ॥

(उर्वशी राजा को चाह के साथ देखती है ।)

चित्रलेखा—हला! किं पेक्खसि। (सखि! किं प्रेक्षसे।)

उर्वशी—णं समदुक्खगदो पिवीअदि लोअणेहि। (ननु समदुःखगतः पीयते लोचनाभ्याम्।)

चित्रलेखा—(सस्मितम्) अइ को। (अयि कः।)

उर्वशी—णं पणइअणो। (ननु प्रणयिजनः।)

रम्भा—(सहर्षमवलोक्य) हुला! चित्तेहादुदीअं पिअसहीं उव्वसीं गेण्हअ विसाहासहिदो विअ भअवं सोमो समुवटिठदो राएसी। (सखि! चित्रलेखाद्वितीयां प्रियसखीमुर्वशीं गृहीत्वा विशाखासहित इव भगवान्सोमः समुपस्थितो राजर्षिः।)

मेनका—(निर्वर्ण्य) हुला! दुवे वि णो एत्थ प्पिआ उवणदा। इअं पच्चाणीदा पिअसही। अअं च अपरिक्खदसरीरो राएसी दीसदि। (सखि! द्वे अपि नोऽत्र प्रिये उपनते। इयं प्रत्यानीता प्रियसखी। अयं चापरिक्तशरीरो राजर्षिः)

सहजन्य—सहि जुत्तं भणासि दुज्जओ दाणओ त्ति। (सलि! युक्तं भणसि दुर्जयो दानव इति।)

राजा—सूत! इदं तच्चैलशिखरम्। अवतारय रथम्।

सूतः—यदाज्ञापयात्यायुष्मान्। (इति तथा करोति।)

(उर्वशी रथावतारक्षोभं नाटयन्ती सत्रासं राजानमवलम्बते)

राजा—(स्वगतम्) हन्त सफलो में विषमावतारः।

यदिवं रथसंक्षोभावङ्गेनाङ्ग ममायतेक्षणया।

स्पृष्टं सरोथकष्टकमङ्कुरितं मनसिनेव॥ 13॥

चित्रलेखा—इतने ध्यान से क्या देख रही हो सखी?

उर्वशी—जो अपने दुःख में काम आवें उन्हें आँखों से पीए डाल रही हूँ।

चित्रलेखा—(हँसकर) अरी किन्हें?

उर्वशी—अपने प्रियजन को।

रम्भा—(हर्ष से देखकर) चित्रलेखा और प्यारी सखी उर्वशी को साथ लेकर यह राजर्षि उसी प्रकार इधर चले आ रहे हैं जैसे विशाखा के दो तारों के साथ चन्द्रमा चले आ रहे हों।

मेनका—(विचारकर) सखी, ये दोनों बातें अच्छी ही हुई कि हमारी सखी भी लौटकर आ गई और राजा को भी किसी प्रकार की चोट-चपेट नहीं आई।

सहजन्या—यह तो तुम ठीक कह रही हो सखी! नहीं तो भला इन राक्षसों को क्या कोई कभी जीत पा सकता है?

राजा—सारथी! यही है वह पर्वत की चोटी। रथ यहीं उतार लो।

सारथी—जैसी आयुष्मान् की आज्ञा। (रथ उतारता है।)

(रथ के उतरने के झटके का नाट्य करती हुई उर्वशी, राजा के शरीर से जा लगती है।)

राजा—(मन ही मन) इस ऊबड़-खाबड़ भूमि पर रथ का उतरना मेरे लिये अच्छा ही हुआ, क्योंकि रथ के हिलने-डुलने से इस बड़ी-बड़ी आँखों वाली सुन्दरी के शरीर से मेरे शरीर के बार-बार छूने पर शरीर में जो रोमाँच हो आया है वह ऐसा जान पड़ता है मानो प्रेम के अंकुर फूट आए हों॥ 13॥

उर्वशी—हला! किं वि परदो ओसर। (सखि! किमपि परतोऽपसर।)

चित्रलेखा—णाहां सककेमि। (नाहं शक्नोमि।)

रम्भा—एत्थ पिअआरिणं संभावेम्ह राएसिं। (अत्र प्रियकारिणं संभावयामो राजर्षिम्।
(सर्वा उपसर्पन्ति)

राजा— सूत! उपश्लेषय रथम्।

यवित्पुनरियं सुधूरुत्सुकाभिः समुत्सुकुका।

सखीभिर्याति संपर्कं लताभिः श्रीरिवार्तवी॥ 14॥

(सूतो रथं स्थापयति।)

अप्सरसः दिट्ठिआ महाराओ विअएण वड्ढदि। (दिष्टया महाराजो विजयेन वर्धते।)

राजा—भर्वत्यश्चं सखीसमागमेन।

उर्वशी—(चित्रलेखावत्तहस्तावलम्बा रथादवतीर्य) हला! अधिअं परिस्सजह। ण क्खु में आसी आसासों
जहां पुणो वि सहीअणं पेक्खिस्सन्ति। (सख्यः अधिकं परिष्वजध। न खलु में आसीदाश्वासो यथा पुनरपि
सखीजनं प्रेक्षिष्य इति।)

(सख्यः परिष्वजन्ते।)

मेनका—(साशंसम्) सव्वहा कप्पसदं महाराओ पुहविं पालअन्तो होदु। (सर्वथा कल्पशतं महाराजः
पृथिवीं पालयन्भवतु।)

सूतः—आयुष्मन् पूर्वस्यां दिशि महता रथवेगेनोपदर्शितः शब्दः।

अयं च गगनात्कोऽपि तप्तचामीकराङ्गदः।

अधिरोहति शैलाग्रं तडित्वानिव तोयदः॥ 15॥

उर्वशी—सखी! थोड़ा उधर को हट जाओ।

चित्रलेखा—मुझसे तो नहीं हटा जाता।

रम्भा—चलो, अपना भला करने वाले इन राजर्षि का हम लोग आगे बढ़कर स्वागत तो कर लें।
(सब आगे बढ़ती हैं।)

राजा—सारथी! रथ को इनके पास-तक तो बढ़ा ले चलो, जिससे ये अधीर सुन्दरी अपनी घबराई
हुई सखियों से उसी प्रकार मिल लें जैसे लताओं से वसन्त की शोभा जा मिलती है॥ 14॥

(सारथी रथ खड़ा कर लेता है।)

अप्सराएँ—इस विजय पर महाराज को बधाई है।

राजा—आप सबको भी अपनी प्यारी सखी से मिलने की बधाई है।

उर्वशी—(चित्रलेखा के हाथ के सहारे उतरकर) सखियों! मुझसे कसकर गले मिल लो। मैं तो तुम
सबसे मिलने की आशा ही छोड़ बैठी थी।

(सखियाँ गले मिलती हैं।)

मेनका—(प्रशंसा करते हुए) महाराज सैकड़ों कल्पों तक पृथ्वी का पालन करते रहें।

सारथी—महाराज! पूर्व की ओर से किसी वेग से आते हुए रथ की घड़घड़ाहट सुनाई दे रही है।
देखिए, तपे हुए सोने का भुजबन्ध पहने कोई इसी पर्वत के शिखर पर आकाश से उसी प्रकार उतरा
चला आ रहा है जैसे कोई बिजली वाला बादल हो॥ 15॥

अप्सरसः—(पश्यन्त्यः) अम्मो चित्ररहो । (अहो चित्ररथः ।)

(ततःप्रविशति चित्ररथः ।)

चित्ररथः—(राजानं दृष्ट्वा सबहुमानम् ।) दिष्टभा महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रम-महिम्ना वर्धते भवान् ।

राजा—अये गन्धर्वराजः । (स्थादवतीर्थ ।) स्वागतं प्रियसुहृदे ।

(परस्परं हस्तौ स्पृशतः ।)

चित्ररथः—वयस्य! केशिना हतामुर्वशीं नारदादुपश्रुत्य प्रत्याहरणार्थमस्याः शतक्रतुना गन्धर्वसेना समाविष्टा । ततो वयमन्तरा चारणेभ्यस्त्वदीयं जयोदाहरणं श्रुत्वा त्वामिहस्थमुपागताः । स भवानिमां पुरस्कृत्य सहास्माभिर्मघवन्तं द्रष्टुमर्हति । महत्खलु तन्नीवतो मघोनः प्रियमनुष्ठितं भवता । पश्य ।

पुरा नारायणेनेयमतिसृष्टा मरुत्वते

दैत्यहस्तादपाच्छिद्य सुहृदा संप्रति त्वया ॥ 16 ॥

राजा—सखे! मैवम् ।

मनु वज्रिण एव वीर्णमेतद्विजयन्ते द्विषतो यदस्य पक्ष्याः ।

वसुधाधरकंवराविसर्पी प्रतिशब्दो हि हरेर्हिनस्ति नागान् ॥ 17 ॥

चित्ररथः—युक्तमेतत् । अनुत्सेकः खलु विक्रमालंकारः ।

राजा—सक्षे! नायमवसरो मम शतक्रतुं द्रष्टुम् । अतस्त्वमेवात्रभवतीं प्रभोरन्तिकं प्रापय ।

अप्सराएँ—(देखती हुई) अरे! ये तो चित्ररथ हैं ।

(चित्ररथ का प्रवेश)

चित्ररथ—(राजा को देखकर आदर से) इन्द्र का उपकार करने की शक्ति रखने वाले महाराज! आपको बधाई है ।

राजा—अरे आप! गन्धर्वराज! (रथ से उतरकर) प्रिय मित्र का स्वागत करता हूँ!

(दोनों आपस में हाथ मिलाते हैं ।)

चित्ररथ—वयस्य! नारद ने अभी-अभी इन्द्र को बताया है कि उर्वशी को केशी हर ले गया है । यह सुनकर इन्द्र ने गन्धर्वों की सेना को आज्ञा दी कि जाकर उसे छुड़ा लाओ । इसी बीच हमने मार्ग में देखा कि चारण लोग आपकी विजय के गीत गाते चले आ रहे हैं । बस यह सुनकर हम लोग इधर चले आए । अब आप उर्वशी को लेकर स्वयं हमारे साथ भगवान् इन्द्र से चलकर मिल लीजिए आपने सचमुच इन्द्र का बड़ा भारी उपकार किया है । देखिए—जैसे पहले तपस्वी नारायण ने इन्हें उत्पन्न करके इन्द्र को सौंप दिया था वैसे ही अब दैत्यों के हाथ से छुड़ाकर आप मित्र के नाते इन्द्र को भेंट कर दीजिए ॥ 16 ॥

राजा—नहीं नहीं ऐसा न कहो! यह सब इन्द्र भगवान् के ही पराक्रम का तो फल है कि उनके मित्र अपने शत्रुओं को उसी प्रकार मार भगाते हैं जैसे पर्वत की गुफा से टकरा-कर गूँजती हुई सिंह की दहाड़ हाथियों को डरा भगाती है ॥ 17 ॥

चित्ररथ—ठीक है । जो पराक्रमी होते हैं उन्हें विनय ही शोभा देता है ।

राजा—मित्र! इस समय तो मैं भगवान् इन्द्र का दर्शन कर नहीं सकूँगा, इसलिये आप ही इस समय इन्हें स्वामी के पास पहुँचा आइए ।

चित्ररथः—यथा भवान्मन्यते। इत इतो भवतयः।

(सर्वाः प्रस्थितः।)

उर्वशी—(जनान्तिकम्।) हला चित्तलेहे! उवआरिणं राएसिं ण सक्कणोमि आमन्तेदुम्। ता तुमं एव्व में मुहं होहि। (सखि चित्रलेखे! उपकारिणं राजर्षिं न शक्नोम्यामन्त्रयितुम्। तस्वमेव मे मुखं भव।)

चित्रलेखा—(राजानमुपैत्य।) महाराज! उव्वसी विण्णवेदि—महाराएणा अब्भणुण्णदा इच्चांमि पिअसहिं विअ महाराअस्स कित्तिं सुरलोअं णेदुं। (महाराज! उर्वशी विज्ञापयति—महाराजेनाभ्यनुज्ञातेच्छामि प्रियसखीमिव महाराजस्य कीर्तिं सुरलोकं नेतुम्।)

राजा—गम्यतां पुनर्दर्शनाय।

(सर्वाः सगन्धर्वा आकाशोत्पतनं रूपयन्ति।)

उर्वशी—(उत्पतनभङ्गं रूपयित्वा।) आम्मो! लदाविडवे एसा एआवली वैआअन्तिआ मे लग्गा। (सव्याजमुपसृत्यं राजानं पश्यन्ती।) सहि चित्तलेहे! मोआवेहि दाव णं। (अहो लताविटप एपैकावली वैजयन्तिका में लग्गा। सखि चित्रलेखे। मोचय तावदेनाम्।)

चित्रलेखा—(विलोक्य विहस्य च।) आं दिढं क्खु लग्गा सा। असक्का मोआविदुं। (आम् दृढं खलु लग्गा। स। अशक्यं मोचयितुम्।)

उर्वशी—अलं पडिहासेन। मोआवेहि दाव णं। (अलं परिहासेन। मोचय तावदेनाम्।)

चित्रलेखा—आं दुम्मोआ विअ मं पडिहादि। तहा वि मोआकस्सं दाव। (आम् दुर्मोच्येव मे प्रतिभाति। तथापि मोचयिष्ये तावत्।)

उर्वशी—(स्मितं कृत्वा) पिअहि! सुमिरेहि क्खु एदं अत्तणो वअणम्। (प्रियसखि! स्मरस्व खल्वेतदात्मनो वचनम्।)

चित्ररथः—जैसी आपकी इच्छा। इधर से आइए देवियो! इधर से।

(सब चली जाती हैं।)

उर्वशी—(अलग) सखी चित्रलेखा! अपने ऊपर इतना उपकार करने वाले राजर्षि से चलते हुए विदा लेने में मुझे तो बड़ी लाज लग रही है, इसलिये तुम्हीं मेरी ओर से विदा माँग लो।

चित्रलेखा—(राजा के पास पहुँचकर) महाराज! उर्वशी कह रही है कि यदि महाराज की आज्ञा हो तो महाराज की कीर्ति को अपनी सखी बनाकर मैं इन्द्रलोक में लेती जाऊँ।

राजा—जाइए, पर फिर दर्शन अवश्य दीजिएगा।

(सब अप्सराएँ गन्धर्व के साथ आकाश में उड़ने का नाट्य करती हैं।)

उर्वशी—(उड़ने में बाधा पड़ने का नाट्य करती हुई।) अरे लो। लता की शाखा में मेरी इकहरी बैजयन्ती की माला ही जा फँसी! (धूमकर राजा को देखती है।) सखी चित्रलेखा! इसे छुड़ाओ तो आकर।

चित्रलेखा—(देखकर हँसते हुए) हाँ, यह तो बड़ी बुरी जा फँसी है। यह क्या छुड़ाए छूटने वाली है?

उर्वशी—अच्छा ठिठोली रहने दो, पहले छुड़ाओ तो इसे।

चित्रलेखा अरे! यह छूटती तो दिखाई नहीं देती, फिर भी देखती हूँ छुड़ाकर।

राजा—(स्वगतम्)

प्रियमाचरितं लते त्वया में गमनेऽस्याः क्षणविघ्नमाचरन्त्या ।

यदिवं पुनरप्यपाङ्गनेत्रा परिवृत्तार्धमुखी मया हि दृष्टा ॥ 18 ॥

(चित्रलेखा मोचयति । उर्वशी राजानमालोकयन्ती सनिःश्वासं सखीजनमुत्पतन्तं पश्यति ।)

सूतः—आयुष्मन् !

अदः सुरेन्द्रस्य कृतापराषान्प्रक्षिप्य दैत्याल्लवणाम्बुराशौ ।

वायव्यमस्त्रं शरधिं पुनस्ते महोरगः श्वभ्रमिव प्रविष्टम् ॥ 19 ॥

राजा—तेन ह्यु पश्लेषय रथम् । यावदारोहामि ।

(सूतस्तथा करोति । राजा वाट्येन रथमारोहति ।)

उर्वशी—(सस्पृहं राजानमवलोकयन्ती) अवि णाम पुणो वि उअआरिणं एदं पेक्खिस्स । (अपि नाम पुनरप्युपकारिणमेनं प्रेक्षिष्ये ।)

(इति सगन्धर्वा सह सखीभिर्निष्क्रान्ता ।)

राजा—(उर्वशीवत्सोन्मुखः ।) अहो दुर्लभाभिलाषी मदनः ।

एषा मनो मे प्रसभं शरीरात्पितुः एवं मध्यममुत्पतन्तो ।

सुराङ्गजा कर्षति खण्डिताग्रात्सूत्रं मृणालादिव राजहंसी ॥ 20 ॥

(इति निष्क्रान्ते ।)

॥ इति प्रथमोऽङ्कः ॥



उर्वशी—(हँसती हुई) प्यारी सखी! देख, अपने ये शब्द स्मरण रखना, भूलना मत ।

राजा—(मन ही मन) अरी लता । तुमने इसे रोककर मुझ पर बड़ी ही कृपा की है कि इधर को आधा मुँह फेरकर देखती हुई इस बड़े-बड़े नेत्रवाली को मैंने इसी बहाने आँख भर देख तो लिया ॥ 18 ॥

(चित्रलेखा माला छुड़ा देती है । उर्वशी राजा को देखकर लम्बी साँसें लेकर ऊपर उड़ती हुई सखियों को देखती है ।)

सूत—आयुष्मान् ! शत्रु राक्षसों को खारे समुद्र में झोंककर आपका वायव्य बाण आपके तूणीर में उसी प्रकार आ पैठा है जैसे कोई साँप अपने बिल में आ पैठे ॥ 19 ॥

राजा—रथ को थोड़ा पास तो बढ़ा लाओ जिससे मैं चढ़ पा सकूँ ।

(सारथी रथ को पास ले आता है और राजा रथ पर चढ़ने का नाट्य करता है ।)

उर्वशी—(बड़ी चाह के साथ राजा को देखती हुई) क्या मैं अपने ऊपर उपकार करने वाले इन राजर्षि को फिर कभी देख पाऊँगी?

(गन्धर्व और सखियों के साथ उर्वशी चली जाती है ।)

राजा—(जिधर उर्वशी गई उधर को देखते हुए) ओह! कामदेव भी उसी की ओर खींच ले जाता है जिसका मिलना बड़ा कठिन होता है—यह अप्सरा आकाश में उड़कर जाती हुई मेरे मन को शरीर से उसी प्रकार बलपूर्वक खींचे लिए चली जा रही हैं, जैसे कोई राज-हँसी दूटे हुए कमल की डंठल से उसका तंतु खींचे लिए चली जा रही हो ॥ 20 ॥

(चले जाते हैं ।)

॥ पहला अंक पूर्ण ॥



द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति विदूषकः।)

विदूषकः—ही ही भो गिमन्तणिओ परमण्णेण विअ राअरहस्सेण फुटुमाणोण सक्कणोमि जणाइण्णे अइण्णेण अतणो जीहं धारिदुम्। ता जाव सो राआ धम्मासणगदो इदो आअच्छइ दाव इमस्सि विरलजण-संवादे देवच्छन्दअप्पासारै आरुहिअ चिट्ठिस्सम। (परिक्रम्योपविश्य पाणिभ्यां मुखं पिधाय धितः।) (ही ही भोः निमन्त्रणिकः परमान्नेनेव राजरहस्येन स्फुटन्न सक्कोमि जनाकीर्णेऽकीर्तनेनात्मनो जिह्वां धारयितुम्! तद्यावत्स राजा धर्मासनगत इव आति तावदेतस्मिन्विरलजनसंपाते देवच्छन्दकप्रसाद आरुह्य स्थास्ये।)

(ततः प्रविशति चेटी)

चेटी—आणत्तम्हि देवीए कासि राअदुहिदाए जथा—हंजे णिउणिए! जदो पहुदि भअअदो सुज्जस्स उअत्थाणं कदुअ पडिणिउत्ते महाराओ तदो पहुदि सुण्णहिअओ विअ लक्खीअदि। ता तुमं वि दाव अजजमाणवआदो जाणाहि से उक्कण्डकालणं ति। ता कहं सो बम्हवंधु असिंधादव्वो। अहवा तणगगलगं विअ अवस्साअसलिलं ण तस्सि राअरहस्सं चिरं चिट्ठिदि ति तक्केमि। ता जाव णं अण्णेसामि। (परिक्रम्यावलोक्य चा।) अम्मो आलेखवाणरो विअ किपि मन्तअन्तो णिहदो अज्जमाणअवो चिट्ठिदि। ता जाव णं उवसप्पामि। (उपसृत्य।) अजज! वन्दामि। (आशप्तास्मि देव्या काशिराजदुहित्रा यथा—हज्जे निपुणिके! यतः प्रभृति भगवतः सूर्यस्योपस्थानां कृत्वा प्रतिनिवृतो महाराजस्ततः प्रभृति शून्य हृदय इव लक्ष्यते। तत्त्वमपि तावदार्यमाणवकाज्जानीह्यस्योत्कण्ठाकारणमिति। तत्कथं स ब्रह्मबन्धुरतिसंधातव्यः। अथवा तृणाग्रलग्नमिवावश्यायसखिलं न तस्मिन् राजरहस्यं चिरं तिष्ठतीति तर्कयामि। तद्यावदेनमन्वेषयामि। अहो आलेखवानर इव किमपि मन्त्रयन्निभृत आर्यमाणवकस्तिष्ठति। तद्यावदेनमुपसर्पामि। आर्य वन्दे।

द्वितीय अङ्क

(विदूषक प्रवेश)

विदूषक—हिः हिः! जैसे न्यौता जीमने वाले पेटू ब्राह्मण का पेट फटा पड़ता है, वैसे ही राजा के प्रेम की बात कहने को मेरा भी जी ऐसा फटा पड़ रहा है कि मैं अपनी जीभ को इतने लोगों के बीच बोलने से रोक नहीं पा रहा हूँ। तो जबतक मेरे माननीय मित्र महाराज, राजसभा से लौटें तब तक मैं इस देवच्छन्दक नाम के भवन में ही चलकर बैठता हूँ जहाँ लोगों की पहुँच भी बहुत कम हो पाती है। (हाथ से मुख बन्द कर बैठता है।)

(इतने में चेटी आती है।)

चेटी—काशी—नरेश की कन्या ने मुझे आज्ञा दी है कि—निपुणिका! भगवान् सूर्य की उपासना करके जब से महाराज लौटे हैं तभी से वे कुछ अनमने से दिखाई दे रहे हैं। इसलिये तू जाकर उनके प्यारे मित्र माणवक से उनकी सारी उदासी का कारण पूछ तो आ। अब मैं उस ओछे बाम्हन को कैसे फोड़ूँ? पर मैं समझती हूँ कि जैसे घास पर पड़ी ओस की बूँद बहुत देर-तक नहीं ठहर पाती वैसे ही उसके पेट में राजा की गुप्त बातें बहुत देर तक नहीं पच सकेंगी।

विदूषकः—सत्थि भोदीए। (आत्मगतम्) एदं दुट्टचेडिअं पेक्खिअ तं राअरहस्सं हिअअं भिन्दिअ णिक्कमदि विअ (किंचिन्मुखं संवृतय। प्रकाशम्।) भोदि णिउणिए! संगीदवावारं उज्जिअ कहिं पत्थिदासि। (स्वस्ति भवत्यै। एतां दुष्टचेटिकां प्रेक्ष्य तद्राजरहस्यं हृदयं भित्वा निष्क्रामतीव। भवति निपुणिके! संगीतव्यापारमुज्झित्वा कुत्र प्रस्थितासि।)

चेटी—देवीए वअणेण अजजं एव्व पेक्खिदुम्। (देव्या वचनेनार्यमेव प्रेक्षितुम्।)

विदूषकः—किं तत्तभोदी आणवेदि। (किं तत्रभवत्याज्ञापयति।)

चेटी—देवी भणादि जथा—अज्जस्स मम उअरि अदक्खिण्णं। ण मं अणुइदवेअणं दुक्खिदं अवलोअदि ति। (देवी भणति यथा—आर्यस्य ममोपरि अदाक्षिण्य। न मामनुचितवेदनां दुःखितामनलोकयतीति।)

विदूषकः—णिउणिए! किं वा पिअवअस्सेण तत्तभोदीए पडिऊलं किंवि समाचारिदम्। (निपुणिके! किं वा प्रियवयस्येन तत्रभवात्याः प्रतिकूलं किमपि समाचरितम्।)

चेटी—जं णिमित्तं उण भट्ठा उक्कठिदो ताए इत्थिआए णामेण भट्ठिणा देवी आलविदा। (यन्निमित्तं पुनर्भर्ता उत्कण्ठितः तस्याः स्त्रिया नामना भर्त्रा देवी आलपिता।)

विदूषकः—(स्वगतम्) कह सअं एव्व तत्तभोदा वअस्सेण रहस्सभेदो किदो। किं दाणिं अहं ब्रह्मणो जहं रक्खिदुं समत्थोमिहि। (प्रकाशम्।) किं तत्तभोदा उब्बसीं णामधेएण आमंदिदा। (कथं स्वममेव तत्रभवता वयस्येन रहस्यभेदः कृतः। किमिदानीमहं ब्राह्मणो जिह्वां रक्षितुं समर्थोऽस्मि। किं तत्र भवता उर्वशीनामधेयेनामन्त्रिता।)

चेटी—अज्ज! का सा उव्वसी? (आर्य! का सा उर्वशी?)

इसीलिये चलती हूँ, उसे खोज देखती हूँ (घूमकर और देखकर) अरे, आर्य माणवक तो यहाँ चित्र में बने हुए बन्दर के समान कुछ सोचते हुए—से चुपचाप बैठे हुए हैं। तो चलूँ इनके पास। (पास जाकर) आर्य! प्रणाम करती हूँ।

विदूषक—कल्याण हो आपका। (मन ही मन) इस दुष्ट दासी को देखकर तो राजा के प्रेम की गुप्त बातें जैसे हृदय फोड़कर निकलना चाह रही हैं। (प्रकट) कहो निपुणिका! तुम अपना गाना-बजाना छोड़कर कहाँ इधर निकली चली आ रही हो?

चेटी—देवी की आज्ञा से आपके ही दर्शन के लिये तो आ रही थी।

विदूषक—कहो कहो, महारानी ने क्या कहलाया है?

चेटी—देवी ने कहलाया है कि आज कल आप हम पर कृपा नहीं कर रहे हैं और अकारण इतनी बड़ी चिन्ता में जलती हुई को देखने तक नहीं आते।

विदूषक—निपुणिका! क्या इधर महाराज देवी के मन के विरुद्ध कोई काम कर बैठे हैं?

चेटी—हाँ! आजकल महाराज जिसे प्यार करते हैं, उसी का नाम लेकर उन्होंने देवी को पुकार दिया।

विदूषक—(मन में) अरे! तो क्या स्वयं महाराज ने ही सब भँडा फोड़ दिया। तब मैं ब्राह्मण होकर अपनी जीभ कैसे बाँधे रख सकता हूँ। (प्रकट) क्या महाराज ने उर्वशी कहकर पुकारा था!

निपुणिका—क्यों आर्य! यह उर्वशी है कौन?

विदूषकः—अत्थि उव्वसि ति अच्छरा । ताए दंसणेण उम्मादिदो ण केवलं तं आआसेदि मं वि बम्हणं असिदव्वविमुहं दिदं पीडेदि । (अस्त्युर्वशीत्यप्सराः । तस्या दर्शनेनोन्मादितो न केवलं तामायासयति यामपि ब्राह्मणमशितव्यविमुखं दृढं पीडयति ।)

चेटी—(स्वगतम् ।) उव्वादिदो मए भेओ भट्ठिणो रहस्सदुग्गस्स । ता गदुअ देवीए एवं णिवेदेमी । (उत्पादितो मया भेदो भर्तु रहस्यदुर्गस्य । तद्गत्वा देव्यै एतन्निवेदयामि ।) (इति प्रस्थिता ।)

विदूषकः—णिउणिए! विण्णवेहि मम वअणेण कासिराअदुहिदरम्—परिरसन्तमिहं इमाए मिअतिणिहआए वअस्सं णिअत्तावेदुम् । जइ भोदीए मुहकमलं पेक्खिस्सदि तदो णिप्रतिसदि ति । (निपुणि के! विज्ञापय मम वचनेन काशिराजदुहितरम्—परिश्रान्तोऽस्म्येतस्या मृगतृणिकाया वयस्यं निवर्तयितुम् । यदि भवत्या मुखकमलं प्रेक्षिष्यते ततो निवर्तिष्यत् इति ।)

चेटी—जं अज्जो आणवेदि । (यदार्य आज्ञापयति) (इति निष्क्रान्ता ।)

(नेपथ्ये वैतालिकः ।) जयतु जयतु देवः ।

आ लोकान्तात्प्रतिहततमीवृत्तिरासां प्रजानां

तुल्योद्योगस्तव च सवितुश्चाधिकारो मतो नः ।

तिष्ठत्येकः क्षणमधिपतिर्ज्योतिषां व्योममध्ये

षष्ठे काले त्वमपि लभसे देव विश्रान्तिमहः ॥ १ ॥

विदूषकः—(कर्ण दत्वा) एसो उण विअवअस्सो धम्मासणसमुत्थिदो इदो एव आअच्छदि । ता जाव पासपडिवती होमि । (इति निष्क्रान्तः ।) (एष पुनः प्रियवयस्यो धर्मासनसमुत्थित इत एवागच्छति । तद्यावत्पार्श्वपरिवर्ती भवामि ।)

॥ प्रवेशकः ॥

विदूषक—अरे यह उर्वशी एक अप्सरा है । उसे देखकर महाराज ऐसी सुध-बुध खो बैठे हैं कि उन्होंने केवल देवी का ही जी नहीं दुखा रक्खा है वरन् भोजन-पानी छोड़े हुए इस ब्राह्मण को भी साँसत दे रक्खी है ।

निपुणिका—(मन में) स्वामी के भेद का दुर्ग तो मैंने फोड़ लिया । तो मैं जाकर देवी को यही सब बताए देती हूँ । (चल देती है ।)

विदूषक—सुनो सुनो निपुणिका! देखो मेरी ओर से काशिराज की पुत्री से कहना कि मैं तो अपने मित्र को इस मृगतृणा से बचाने की बात समझाते-समझाते थक गया । हाँ, यदि वे आपका मुख-कमल देख लें तो उनका मन उर्वशी से अवश्य फिर जायगा । समझी!

निपुणिका—जैसी आर्य की आज्ञा । (चली जाती है ।)

(नेपथ्य में वैतालिक ।) महाराज की जय हो! जय हो!

हम समझते हैं कि आप और सूर्य दोनों अपना नित्य का काम ठीक एक जैसा ही करते रहते हैं, क्योंकि सूर्य भी संसार का अँधेरा मिटाते हैं और आप भी अपनी प्रजा का कष्ट दूर करते हैं । नक्षत्रों के अकेले राजा सूर्य भी जिस प्रकार अपने काम से छुट्टी पाकर आकाश में विश्राम लेते हैं वैसे ही आप भी अपने राज-काज से छुट्टी पाकर तीसरे पहर विश्राम जा करते हैं ॥ १ ॥

विदूषक—(सुनते हुए) लो, न्यायासन से उठे हुए मेरे प्रिय मित्र इधर ही बढ़े चले आ रहे हैं । तो चलो, मैं भी उनकी सेवा के लिये जा पहुँचूँ । (निकल जाता है ।)

॥ प्रवेशक पूर्ण हुआ ॥

(ततः प्रविशत्युत्कण्ठितो राजा विदूषकश्च ।)

राजा—

आ दर्शनात्प्रविष्टा सा मे सुरलोकसुन्दरी हृदयम् ।

बाणेन मकरकेतोः कृतमार्गमवन्ध्यपातेन ॥ २ ॥

विदूषकः—सपीडा खलु वादा तत्तभोदी कासिराअदुहिदा । (सपीडा खलु जाता तत्रभवती काशिराजदुहिता ।)

राजा—(निरीक्ष्य) अपि रक्षते भवता रहस्यपिक्षेपः ।

विदूषकः—(आत्मगतम्) हन्त्री हन्त्री वंचिदोम्हि दुङ्ग दासीए णिउणिआए । अण्णधा कथं एवं पुच्छदि वअस्सो । (हा धिक् हा धिक् पञ्चितोऽस्मि दुष्ट दास्या निपुणिकया । अन्यथा कथमेवं पृच्छति वयस्यः ।)

राजा—किं भर्वास्तूष्णीमास्ते ।

विदूषकः—भो! एवं मए जहा संजन्तिदा जेण भवदो वि णत्थि पदिवअणम् । (भो: एवं मया जिह्वा संयन्त्रिता येन भवतोऽपि नास्ति प्रतिवचनम् ।)

राजा—युक्तम् । अद्य केनेदानीमात्मानं विनोदयामि ।

विदूषकः—भो महाणसं गच्छम्ह । (भो महानसं गच्छावः ।)

राजा—किं तत्र ।

विदूषकः—तहि पंजविहस्य अब्भवहारस्स उवणदसंभारस्स जोअणां पेवखमाणेहि सक्कं उक्कंठां विणोदेदुम् । (तत्र पञ्चविधस्याभ्यवहारस्योपनतसंभारस्य योजनां प्रेक्षमाणाभ्यां शक्यमुत्कण्ठां विनोदयितुम् ।)

(अनमने से राजा आते हैं, साथ में विदूषक भी हैं ।)

राजा—मेरे जिस हृदय में कामदेव ने अपने बाण मारकर उस स्वर्गलोक की सुन्दरी के आने के लिये द्वार बना दिया था, उसमें वह केवल देखने भर से ही आ समाई है ॥ २ ॥

विदूषक—(मन ही मन) सचमुच काशी-नरेश की पुत्री के तो भाग फूट गए ।

राजा—(देखकर) कहो, तुमने मेरी बात किसी को बताई तो नहीं ।

विदूषक—(मन ही मन) हाय हाय! उस दुष्ट दासी निपुणिका ने तो मुझे बड़ा धोखा दिया, नहीं तो मित्र मुझसे इस प्रकार क्यों पूछते?

राजा—क्यों चुप क्यों हो गए?

विदूषक—देखिए, मैंने अपनी जीभ को ऐसा बाँध लिया है कि आपकी बात का भी एकाएक उत्तर नहीं निकल पाया ।

राजा—ठीक है । पर यह तो बताओ कि यह अपना मन मैं कैसे बहलाऊँ?

विदूषक—चलिए रसोई-घर में चला जाय !

राजा—वहाँ क्या धरा है ।

विदूषक—वहाँ पाँच ढङ्ग के पकवानों की सामग्री देखने भर से ही हम लोगों की सारी उदासी जाती रहेगी ।

राजा—(सस्मितम्) तत्रेप्सितसंनिधानाद्भवान् रंस्यते । मया खलु दुर्लभप्रार्थनाः कथमात्मा विनोदयितव्यः ।

विदूषकः—णं भवं वि तत्तभोदि ए उव्वसीए दंसणपहं गदो । (ननु भवानपि तत्रभवत्या उर्वश्या दर्शनपथं गतः ।)

राजा—ततः किम् ।

विदूषकः—ण वखु दे दुल्लह ति तककेमि । (न खलु ते दुर्लभेति तर्कयामि ।)

राजा—पक्षपातोऽपि तस्यां सद्रूपस्यालौकिक एव ।

विदूषकः—एव्यं मन्तअन्तेण मे वड्डिदं कोदूहलम् । किं तत्तभोदी उव्वसी अदुदुदीआ रूवेण अहं वि विरूवदाए । (एवं मन्त्र्यता मम वर्धितं कौतूहलम् । किं तत्रभवत्यु-र्वश्यद्वितीया रूपेण अहमिव विरूपतया ।)

राजा—माणवक! प्रत्यययवमशक्यिवर्णनां तामवेहि । तेन हि समासतः श्रूयताम् ।

विदूषकः—भो! अबहिदो म्हि । (भो! अवहितोऽस्मि ।)

राजा—

आभारणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः ।

उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः ॥ ३ ॥

विदूषकः—अदो दाव तुए दिव्वरसाहिलासिणा चादअव्वदं गहीदम् । ता दाव तुमं कहिं पत्थिदो । (अतस्तावत्वया दिव्वरसाभिलाषिणा चातकव्रतं गृहीतम् । तत्तवत्वं कुत्र प्रस्थितः ।)

राजा—(हँसकर) जी हाँ, वहाँ आपको तो अपने मन बहलाने की सारी सामग्री मिल जायगी, पर बड़ी कठिनाई से हाथ लगने वाली वस्तु के लिये तड़पने वाले मुझ जैसे को वहाँ मन-बहलाव के लिये क्या हाथ लगेगा?

विदूषक—पर आपको भी तो उर्वशी ने देखा होगा न?

राजा—उससे क्या?

विदूषक—तब तो मैं समझता हूँ कि उसका मिलना कठिन नहीं होगा ।

राजा—अरे! वह इतनी अधिक सुन्दरी है कि उसे बड़ी सुन्दरी कहना भी एक अनोखी सी ही बात लगती है ।

विदूषक—आपकी इन बातों से तो मेरा कुतूहल और भी अधिक बढ़ चला है । क्या सुन्दरता में उर्वशी उतनी ही बड़ी-चढ़ी है जितना मैं कुरूपता में हूँ?

राजा—मित्र माणवक! बस यह समझ लो कि उसके अंग-अंग का वर्णन तो कोई कर ही नहीं सकता, इसलिये थोड़े में ही जो बताता हूँ वही सुन लो ।

विदूषक—हाँ! मैं सुन रहा हूँ बड़े ध्यान से ।

राजा—उसका शरीर आभूषणों का भी आभूषण है, शृङ्गार की सामग्रियों का भी शृङ्गार है और उपमा की वस्तुओं की भी उपमा उससे दी जा सकती है ॥ ३ ॥

विदूषक—हूँऽऽ! इसीलिये आप उस स्वर्गीय जल के प्यासे चातक बन बैठे हैं? अच्छा, आप अभी जा किधर रहे हैं?

राजा—विविक्तादृते नान्यदुत्सुकस्यशरणमस्ति । तद्भवान्प्रमदवनमार्गमादेशयतु ।

विदूषकः—(आत्मगतम्) का गदी । (प्रकाशम्) इदो इदो भवं । (का गतिः । इत इतो भवान् ।)
(इति परिक्रामतः ।)

विदूषकः—एसो पमदवणपरिसरो । आणमिअ पच्चुवगदो भवं आअन्तुओ दक्खिण-मारुदेण । एष प्रमदवनपरिसरः । आवम्य प्रतयुपगतो भगवानागन्तुको दक्षिणमारुतेन ।

राजा—(विलोक्य) उपपन्नं विशेषणमस्य वायोः । अयं हि ।

निषिञ्चन्माधवीं लक्ष्मीं लतां कौन्दीं च लासयन् ।

स्नेहवादिक्षिण्यमोर्योगात्कामीव प्रतिभाति मे ॥ ४ ॥

विदूषकः—सरिसो एव्व से अहिणिवेसो । (इति परिक्रामन् ।) एदं पमदवणम् । पविसदु भवं । (सदृश एवास्याभिनिवेशः । एतत्प्रमदवनम् । प्रविशतु भवान् ।)

राजा—वयस्य ! प्रविशाग्रतः ।

(उभौ प्रवेशं नाटयतः ।)

राजा—(त्रसं रूपयित्वा ।) वयस्य ! साधु मनसा समर्थित आपत्प्रतीकारः किल ममोद्यानपप्रवेशः तच्चान्यथैवोपपन्नम् ।

विविक्षोर्यदिदं नूनमुद्यानं तापशान्तये ।

स्रोतसेवोद्भूतमानस्य प्रतीपतरणं महत् ॥ ५ ॥

विदूषकः—कहं विअ । (कथमिव ।)

राजा—प्रेमी लोग एकान्त छोड़कर और जा ही कहाँ सकते हैं ? चलो, मुझे प्रमदवन की ओर लिवाते ले चलो ।

विदूषक—(मन ही मन) क्या चारा है ? (जहाँ कहिए लिवाता ले चलूँ ।) (प्रकट) इधर से आइए महाराज इधर से ।

(दोनों घूमते हैं)

विदूषक—लीजिए पहुँच गए हम प्रमदवन के पास । आपके आते ही उद्यान की ओर से बहता आता हुआ दक्खिनी पवन बड़ी नम्रता से आपकी अगवानी कर रहा है ।

राजा—(देखकर) इस वायु का दक्षिण कहलाना ठीक ही है क्योंकि माधवी-लता को सींचता हुआ और कुन्दलता को नचाता हुआ, यह पवन मुझे ऐसा जान पड़ रहा है मानो यह कोई कामी हो जो सबसे प्रेम करता और सबको एक साथ प्रसन्न किए रखता चलता है ॥ ४ ॥

विदूषक—हाँ, यह भी आपके ही समान प्रेम करता चल रहा है । (घूमता हुआ) लीजिए, यह आ गया प्रमदवन ! चलिए, भीतर चले चलिए ।

राजा—चलो वयस्य ! आगे-आगे तुम्हीं चलो । (दोनों प्रवेश करने का नाट्य करते हैं ।)

राजा—(डरने का नाट्य करते हुए) वयस्य ! मैं तो यहाँ उद्यान में यह अच्छी बात सोचकर आया था कि यहाँ जी हलका हो जायगा पर यहाँ तो उलटा ही हो रहा है । अपने मन की पीड़ा मिटाने के लिये इस उद्यान में मेरा आना वैसा ही हुआ, जैसे बहाव के साथ तैरने वाले को अचानक चढ़ाव की ओर तैरना पड़ जाय ॥ ५ ॥

विदूषक—यह कैसे ?

राजा-

इदमसुलभवस्तुप्रार्थनादुर्निवारं प्रथममपि मनो मे पञ्चबाणः क्षिणोति ।

किमुत मलयवातोन्मूलिता पाण्डुपत्रैः उपवनसहकारैर्दशितेष्वङ्कुरेषु ॥ 6 ॥

विदूषकः—अलं परिदेबिदेण । अइरेण दे इइसंपादणेण अणंगो एव्व दे सहाओ भविस्सदि । (अलं परिदेवितेन । अचिरेण तवेष्टसम्पादनेनानङ्ग एव ते सहायो भविष्यति ।)

राजा—प्रतिगृहीतं ब्राह्मणवचनम् ।

(इति परिक्रामतः ।)

विदूषकः—पेक्खदु भवं वसंतावदार सूअअं अहिरामत्तणं पमदवणास्स । (प्रेक्षतां भवान्वसन्तावतारसूचकमभिरामत्वं प्रमदवनस्य ।)

राजा—ननु प्रतिपादपमेवावलोकयामि । अत्र हि-

अग्रे स्त्रीनखपाटलं कुरबकं श्यामं द्वयोर्भागयोः

रक्ताशोकमुपोढरागसुभगं भेदोन्मुखं तिष्ठति ।

ईषद्बद्धरजः कणाग्रकपिशो चूते नवा मञ्जरी

मुग्धत्वस्य च यौवनस्य च सखे मध्ये मधुश्री स्थिता ॥ 7 ॥

विदूषकः—भो एसो क्खु मणिसिलापट्टअसणाहो अदिमुत्तलदामंडवो भमरसंघट्टपडिदेहिं कुसुमेहिं सअं विअ किदोवआरो भवंतं पडिच्छति । ताअणुणेणिअदु दाव एसो ।

(भोः एष मणिशिलापट्टकसनाथोऽतिमुक्तलतामण्डपो भ्रमरसङ्घट्टपतितैः कुसुमैः स्वयमिव कृतोपचारो भवन्तं प्रतीच्छति । तदनुगृह्यतां तावदेषः ।)

राजा—बड़ी कठिनाई से हाथ आने वाली वस्तु के लिये जो मेरा मन मचला पड़ रहा है, इसे एक तो कामदेव ने पहले ही बींधकर चलनीं बना रक्खा था उस पर यहाँ देख रहे हैं कि उद्यान के उन आम के पेड़ों में कौंपलें भी फूट आई हैं जिनके पीले पत्ते मलय-पवन ने झाड़कर गिरा दिए हैं। तब बताओ हमारे मन को शान्ति मिले भी तो कहाँ से मिले? ॥ 6 ॥

विदूषक—चिन्ता न कीजिए। आपकी प्रियतमा से आपको शीघ्र ही मिलाकर यही कामदेव आपका सहायक बन जायगा ।

राजा—ब्राह्मण का आशीर्वाद सिरमाथे । (दोनों घूमते हैं ।)

विदूषक—इस प्रमदवन की शोभा को तो देखिए जो बताए दे रही है कि बसन्त आ पहुँचा है ।

राजा—मैं एक-एक पेड़ को देख रहा हूँ। यह है कुरबक का फूल, जिसका सिरा स्त्री के नख के समान लाल है और जिसके दोनों छोर साँवले रंग के हैं। अपनी ललाई से सुन्दर लगने वाला यह लाल अशोक का फूल ऐसा लगता है कि बस अब खिलने ही वाला हो। आम के पेड़ में कुछ-कुछ दिखाई न देने वाले पराग के कारण पीला-सा लगने वाला नया बौर फूटने लगा है। मित्र! इस प्रकार यह वसन्त की शोभा ऐसी लगती है मानो वह अपने बचपन और जवानी के बीच में आई खड़ी हो ॥ 7 ॥

विदूषक—देखिए, यहाँ अतिमुक्त लता के मंडप के नीचे रतनजड़ी पत्थर की चौकी पर जो फूल भौरों के उड़ने से गिर-गिरकर बिखरे पड़े हैं, वे ऐसे लगते हैं मानो सारी सजावट करके यह मंडप बड़े आदर से आपका स्वागत कर रहा हो। तो चलिए इसका भी मन रख लीजिए ।

राजा—यथा भवते रोचते ।

(परिक्रम्योपविशतः ।)

विदूषकः—दाणिं इह सुहासीणोभवं ललितलदाविलोहीअमाणणअणो उव्वसीगदं सक्कठं विणोदेदु ।
(इदानौमिह सुखासीनी भवौल्ललितलताविलोभ्यमाननयन उर्वशीगतामुत्कण्ठां विनोदयतु ।)

राजा—(निःश्वस्य)

मम कुसुमितास्वपि सखे नोपवनलतासु नम्रविटपासु ।

चक्षुर्बध्नाति धृतिं तद्रूपालोकदुर्ललितम् ॥ ८ ॥

तदुपायश्चिन्त्यतां यथा सफलप्रार्थनो भवेयम् ।

विदूषकः—(विहस्य) भो अहल्लाकामुअस्य महिंदस्य वेज्जो सचिवो शववसीपज्जुच्छुअस्म अ भवदो
अहं दुबेवि एत्थ उम्मत्तआ । (भोः अहल्याकामुकस्य महेन्द्रस्य वैद्यः सचिवः उर्वशीपर्युत्सुकस्य च भवतोऽहं
द्वावप्यत्रोन्मतौ ।)

राजा—मा मैवम् । अतिस्नेहः खलु कार्यदर्शी । तदुपायश्चिन्त्यताम् ।

विदूषकः—एसो चित्तेमि । मा उण परिदेविदेण मम समाधिं भिन्धि । (एष चिन्तयामि । मा पुनः
परिदेवितेन मम समाधिं भिन्धि ।) (इति चिन्तां नाटयति ।)

राजा—(निमित्तं सूचयित्वा । स्वगतम् ।)

न सुलभा सकलेन्दुमखी च सा किमपि चेदमनङ्गविचेष्टितम् ।

अभिमुखीविष्वक्काङ्क्षितसिद्धिषु व्रजति निर्वृतिमेकपदे मनः ॥ ९ ॥

राजा—जैसा तुम्हें अच्छा लगे ।

(दोनों घूमकर बैठते हैं ।)

विदूषक—अब आप यहाँ सुख से बैठकर सुन्दर लताओं में अपने नयन उलझाकर उर्वशी की चिन्ता
ही मिटा डालिए ।

राजा—(साँस भरकर) उसकी सुन्दरता ने तो मेरी आँखों पर कुछ ऐसा जादू ला फेरा है कि उन्हें
इस उपवन की फूली हुई लताएँ और कोमल पौधे आँखों पर चढ़ते ही नहीं हैं ॥ ८ ॥

इसलिये कोई ऐसा उपाय सोचो कि मेरे मन की साथ पूरी हो सके ।

विदूषक—(हँसकर) देखिए, जैसे अहल्या को पाने की इच्छा करने वाले इन्द्र की सहायता करते
समय चन्द्रमा की बुद्धि मारी गई थी, वैसे ही प्रेम में पड़े हुए आपका सहायक होकर मैं भी अपनी सारी
बुद्धि खो बैठा हूँ ।

राजा—ऐसा न कहो । जो अधिक स्नेह करता है वही तो ठीक उपाय सुझा सकता है । इसलिये कोई
न कोई उपाय सोच ही निकालो ।

विदूषक—अच्छा मैं सोचने तो बैठता हूँ पर आप बीच में ही रोना-कलपना मचाकर मेरा ध्यान न
उचाट दीजिएगा । (सोचने का नाट्य करता है ।)

राजा—(अच्छे शकुन की सूचना देता हुआ मन ही मन) पूर्ण चन्द्रमा के समान मुखवाली उस सुन्दरी
के मिलने की कोई आशा तो नहीं है पर न जाने क्यों कामदेव मुझे बड़े अच्छे सगुन दिखा रहा है । मेरा
मन अचानक ऐसा खिल उठा है, मानो मेरा काम बस बनने ही वाला हो ॥ ९ ॥

(इति जाताशस्तिष्ठति)

(ततः प्रविशत्याकाशयानेनोर्वशी चित्रलेखा च ।)

चित्रलेखा—हला! कहिं दाणिं अणिदिट्ठकालणं गच्छीअदि । (हला! क्वेदानी मनिर्दिष्टकारणं गम्यते ।)

उर्वशी—(मदनवेदनामभिनीय सलज्जम्) सहि! तदा हेमऊडसिहारे लदाविडवेण खणविग्घिदआआसगमणं मं ओहसिअ किं दाणिं पुच्छसि कहिं गच्छीअदि त्ति । (सखि! तदा हेमकूटशिखरे लताविटपेन क्षणविघ्नताकाशगमनां मामुपहस्य किमिदानीं पृच्छसि क्व गम्यते इति ।)

चित्रलेखा—किं णु क्खु तस्स राएसिगो पुरुरवस्स सआसं पत्थिदासि । (किं न खलु तस्य राजर्षेः पुरुरवसः सकाशं प्रस्थितासि ।)

उर्वशी—अह इं । अअं मे अवहत्थिदलज्जो ववआसो । (अथ किम् । अयं मेऽपहस्तितलज्जो व्यवसायः ।)

चित्रलेखा—को उण सहीए तहिं पुढमं पेसिदो । (कः पुनः सख्या तत्र पुरतः प्रेषितः ।)

उर्वशी—णं हिअअं । (ननु हृदयम् ।)

चित्रलेखा—तथा वि सअं एव्व साहु संपधारिअदु दाव । (तथापि स्वयमेव साधु सम्प्रधार्यतां तावत् ।)

उर्वशी—सहि मअणो क्खु म णिओएदि । किं एत्थ संपधारीअदि । (सखि मदनः खलु नियोजयति । किमत्र सम्प्रधार्यते ।)

चित्रलेखा—अदोवरं गत्थि मे अवणम् । (अतः परं नास्ति मे वचनम् ।)

उर्वशी—तेण हि आदिसीअदु मग्गो जेण तहिं गच्छन्तीणं अंतराओ ण भवे । (तेन ह्यादिश्यतां मार्गो येन तत्र गच्छन्त्योरन्तरायो न भवेत् ।)

(बड़ी आशा लगाकर बैठता है ।)

(विमान पर चढ़ी हुई उर्वशी और चित्रलेखा दिखाई देती हैं ।)

चित्रलेखा—क्यों सखी! बिना सोचे-समझे किधर बड़ी चली जा रही हो?

उर्वशी—(काम-पीड़ा का नाट्य करती हुई लज्जा के साथ) सखी! जब हेमकूट पर्वत की चोटी पर, लता की शाखा में मेरी माला जा उलझी थी और मेरा उड़ना थोड़ी देर के लिये रुक गया था, उस समय मुझसे ठिठोली करके भी अब तुम पूछ रही हो कि मैं कहाँ जा रही हूँ?

चित्रलेखा—तो क्या तुम राजर्षि पुरुरवा के पास जा रही हो?

उर्वशी—और क्या? आज मैंने सब लाज छोड़कर यही जी में ठान लिया है ।

चित्रलेखा—तो वहाँ तुमने किसके द्वारा पहले संदेश भेजा है?

उर्वशी—क्यों? अपने हृदय के द्वारा ।

चित्रलेखा—फिर भी इसका भला-बुरा भली प्रकार सोच-विचार लो ।

उर्वशी—सखी! मुझे तो कामदेव ने ही इस झंझट में ला झोंका है, फिर इसमें सोच-विचार करना ही क्या है?

चित्रलेखा—तुमने तो ऐसी बात कह दी कि मेरा मुँह ही बन्द हो गया ।

उर्वशी—तो अब मुझे ऐसा उपाय बात दो कि मैं वहाँ बेरोकटोक पहुँच जाऊँ ।

चित्रलेखा—सहि! विस्सद्धा होहि। णं भअवदा देवगुरुणा अवराइदं णाम सिहाबंधणविज्जं उवदिसंतेण त्तिदसपडिवक्खस्स अलंघाणिज्जा कदम्ह। (सखि विश्रब्धा भव। ननु भभवता देवगुरुणा अपराजिता नाम शिखाबन्धनविद्यामुपदिशता त्रिदशप्रतिपक्षस्यालङ्घनीये कृते स्वः।)

उर्वशी—(सलज्जम्) अहो विसुमरिदं मे हिअअं। (अहो! विस्मृतं मे हृदयम्।)

(उभे भ्रमणं रूपयतः।)

चित्रलेखा—सहि! पेक्ख पेक्ख। एदं भअवदीए भाईरहीए जमुणासंगमविसेसपावणेसु सलिलेसु अत्ताणअं ओलोअंतस्स विअ पड्डाणस्स सिहाभरणभूदं तस्स राएसिणो भवणं उवड्ढिदम्ह। (सखि! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व। एतद्भगवत्याः भागीरथ्याः यमुनासङ्गमविशेषपावनेषु सलिलेष्वामावलोकयत इव प्रतिष्ठानस्य शिखाभरणभूतं तस्य राजर्षेर्भवनमुपस्थिते स्वः।)

उर्वशी—(सस्पृहमवलोक्य) णं वत्त्वं ठाणंतरगदो सग्गो ति। (विमृश्य) सहि! कहिं णु क्खु सो आवण्णाणुकंपी भवे। (ननु वक्तव्यं स्थानान्तरगतः स्वर्ग इति। सखि! क्व नु खलु स आपन्नानुकम्पी भवेत्।)

चित्रलेखा—हला! एदस्सि णंदणवणेक्कदेसे विअ पमदवणे ओदरिअ जाणिस्सामो। (हला एतस्मिन्नन्दनवनैकदेश इव प्रमदवने अवतीर्य ज्ञास्यावः।)

(उभे अवतरतः।)

चित्रलेखा—(राजानं दृष्ट्वा सहर्षम्) सहि! एसो क्खु पदमोदिदो विअ चंदो कोमुदिं विअ तुम पडिच्छदि। (सखि! एष खलु प्रथमोदित इव चन्द्रः कौमुदौमित्र त्वां प्रतीच्छति।)

उर्वशी—(विलोक्य) हला! दाणिं पढमदंसणादो सविसेसं पिअदंसणो महाराओ पडिहादि। (हला! इदानीं प्रथमदर्शनात्सविशेष प्रियदर्शनो महाराजः प्रतिभाति।)

चित्रलेखा—चिन्ता न करो सखी! देवगुरु बृहस्पति ने अपराजिता नाम की, चोटी बाँधने की विद्या सिखाते समय हमें ऐसी शक्ति दे दी है कि देवों के शत्रु भी हम लोगों का बाल बाँका नहीं कर सकते।

उर्वशी—(लजाती हुई) अरी! यह बात तो मेरे ध्यान से ही उतर गई थी।

(दोनों घूमती हैं।)

चित्रलेखा—अरी, देख देख सखी! हम लोग राजर्षि के उस भवन पर जा पहुँची हैं जिसकी जोड़ का दूसरा कोई भवन प्रतिष्ठानपुरी में है ही नहीं और जो ऐसा दिखाई पड़ रहा है मानो गंगा यमुना के संगम के कारण और भी अधिक पवित्र बने हुए जल में अपना मुँह देख रहा हो।

उर्वशी—(चाव से देखती हुई) यह क्यों नहीं कहती कि स्वर्ग ही यहाँ उतरा चला आया है। (विचाकर) अच्छा सखी! दुखियों पर दया करने वाले वे राजा इस समय कहाँ होंगे भला?

चित्रलेखा—चलो सखी! नन्दन वन के समान सुहावने इस प्रमदवन में उतरकर उनकी खोज कर ली जाय।

(दोनों उतरती हैं।)

चित्रलेखा—(राजा को देखकर प्रसन्नता से) सखी! जैसे नया-नया निकला हुआ चन्द्रमा चाँदनी के आने की बाट देखा करता है, वैसे ही ये भी यहाँ बैठे हुए तेरे आने की बाट देख रहे हैं।

उर्वशी—(देखकर) सखी! आज तो महाराज उस पहले वाले दिन से भी अधिक सुन्दर जैच रहे हैं।

चित्रलेखा—जुज्जदि। ता एहि उवसप्पम्ह। (युज्यते। तदेहि उपसर्पावः।)

उर्वशी—ण दाव उवसप्पिस्सं। तिरक्खरिणीपडिच्छाण्णा पासगदा से भविअ सुणिस्सं दाव पासवत्तिण वअस्सेण सह विअणे किं मंतअंतो चिट्ठदि ति। (न तावदुपसर्पिष्ये। तिरस्करिणीप्रतिच्छन्ना पार्श्वगतास्य भूत्वा श्रोष्यामि तावत् पार्श्ववर्तिना वयस्येन सह विजने किं मन्त्रयमाणस्तिष्ठतीति।)

चित्रलेखा—जं दे रोअहि। (यत्ते रोचते।)

(उभे यथोक्तमनुतिष्ठतः)

विदूषकः—भो चिंतितो मए दुल्लहप्पणइणीसमावमोवाओ। (भोः चिंतितो मया दुर्लभ प्रणयिनीसमागमोपायः।)

(राजा तूष्णीमास्ते।)

उर्वशी—(सेष्यम्) का णु क्खु धण्णा इत्थिआ जा इमिणा पत्थिअमाणा अत्ताणअं किदित्थेइ। (का नु खलु धन्या स्त्री या अनेन प्रार्थ्यमानात्मानं कृतार्थयति।)

चित्रलेखा—किं उण माणुस्सअं विडंबीअदि। (किं पुनर्मनुष्यं विडम्ब्यते।)

उर्वशी—सहि! भीआमि सहसापभावादो विण्णादुं। (सखि! विभेमि सहसा प्रभावाद्विज्ञातुम्।)

विदूषकः—भो णं भणामि चिंतितो मए उवासो ति। (भोः ननु भणामि चिन्तितो ममा उपाय इति।)

राजा—तेन हि कथ्यताम्।

विदूषकः—सिविणसमाअमआरिणिं णिदं सेवदु भवं। अहवा तत्तभोदीए उव्वसीए पडिकिदि चित्तफलए आलिहिअ ओलोअंतो चिट्ठदु। (स्वप्नसमागमकारिणीं निद्रां सेवतां भवान्। अथवा तत्रभवत्या उर्वश्याः प्रतिकृतिं चित्रफलकं आलिख्यावलोकयंस्तिष्ठतु।)

चित्रलेखा—ठीक कहती हो! तो आओ, चलें उनके पास।

उर्वशी—नहीं नहीं, मैं अभी उनके पास नहीं जाऊँगी। मैं तो माया की ओढ़नी में छिपी हुई इनके पास खड़ी होकर सुनती हूँ कि ये अपने पास बैठे हुए मित्र से अकेले में क्या बातें कर रहे हैं।

चित्रलेखा—जो तुम ठीक समझो।

(दोनों वैसा ही करती हैं।)

विदूषक—सुनिए! अपनी जिस प्यारी का मिलन आप कठिन समझे बैठे हैं, उससे मिलने का मैंने बढ़िया उपाय सोच निकाला है।

(राजा चुप रह जाते हैं।)

उर्वशी—(डाह से) ऐसी और कौन-सी बड़भागी सुन्दरी निकल आई, जो इनकी चहेती बनकर अपना भाग सराहती होगी।

चित्रलेखा—तुम फिर क्या मानुषी स्त्रियों जैसी बातें करने लगी हो?

उर्वशी—सखी! मैं अपनी दैवी शक्ति से सब बातें एक साथ जान लेने में थोड़ा डरती हूँ।

विदूषक—अरे सुनिए! मैं कह रहा हूँ कि मैंने उपाय सोच निकाला है।

राजा—तो फिर बताओ न!

विदूषक—या तो आप ऐसी गहरी नींद में जाकर सो रहिए कि सपने में उससे भेंट हो जाय या फिर चित्र-फलक पर ही उर्वशी का चित्र बनाकर उन्हें एकटक बैठे निहारा कीजिए।

उर्वशी—(सहर्षमात्मगतम्) हीणसत्त हिअअ। समस्सस समस्सस। (हीनसत्त्व हृदय समाश्रसिहि।)
राजा—उभयमप्यनुपपन्नम्। पश्य।

हृदयमिषुभिः कामस्यान्तः सशल्यमिदं सदा
कथमुपलभे निद्रां स्वप्ने समागमकारिणीम्।

न च सुवदनामालेख्येऽपि प्रियामसमाप्य तां
मम नयनयोरुद्बाष्पत्वं सखे न भविष्यति॥ 10॥

चित्रलेखा—सुदं तुए वअणं। (श्रुतं त्वया वचनम्।)

उर्वशी—सहि सुदं। ण उण पज्जतं हिअअस्स। (सखि श्रुतं। न पुनः पर्याप्तं हृदयस्य।)

विदूषकः—एत्तिओ एव्व मे महिविहओ। (एतावानेव मे मतिविभवः।)

राजा—(निःश्वस्य)

नितान्तकठिनां रुजं मम न वेदं सा मानसीं
प्रभावविदितानुरागमवमन्यते वापि माम्।

अलब्धफलनीरसं मम विधाय तस्मिञ्जने
समागममनोरथं भवतु पञ्चबाणः कृती॥ 11॥

चित्रलेखा—सहि! सुदं तुए। (सखि! श्रुतं त्वया।)

उर्वशी—हृद्धी हृद्धी। मं एवं अवगच्छदि। (सखीमवलोक्य) सहि! असमत्थमिह अगगदो भविअ से पडिवअणस्स। ता पहावणिम्मिदेण भुज्जवत्तेण संपादिदउत्तरा होदु इच्छामि। (हा धिक् हा धिक्। मामेवमवगच्छति। सखि! असमर्णस्म्यग्रतो भूत्वास्य प्रतिवचनस्य। तत्प्रभावनिर्मितेन भूर्जपत्रेण संपादितोत्तरां

उर्वशी—(हर्ष से मन ही मन) अरे पापी हृदय! धीरज धर, धीरज धर।

राजा—दोनों ही बातें नहीं हो सकतीं। देखो! कामदेव तो दिन-रात मेरे हृदय को अपने बाणों से बेधता रहता है। इसलिये ऐसी नींद भला मुझे कहाँ आ पावेगी कि प्यारी से भेंट हो जाय, और फिर चित्र भी नहीं बन पा सकता क्योंकि बीच में आँखें डबडबा आने से वह भी अधूरा ही रह जायगा॥ 10॥

चित्रलेखा—अब तो तुमने सब सुन लिया न!

उर्वशी—हाँ सखी, सुन तो लिया, पर अभी तक मेरे जी को पूरा-पूरा भरोसा नहीं हो पा रहा है।

विदूषक—मेरी बुद्धि की पहुँच तो यहीं तक थी।

राजा—(लम्बी साँस लेकर) मैं समझता हूँ कि या तो वह मेरे मन की इस बेकली को जानती ही न होगी या फिर उसे अपने अप्सरा होने का ऐसा घमंड है कि वह जान-बूझकर मेरे प्रेम को ठुकराए दे रही है। जान पड़ता है मेरे मन में उस सुन्दरी से मिलने की जो चाह है, उसे चूरचूर कर देने और मेरे जीवन को बेकाम बना देने पर ही कामदेव का जी भरेगा॥ 11॥

चित्रलेखा—तुमने सुना सखी!

उर्वशी—हाय, हाय! ये मुझे ऐसा नीच समझे ले रहे हैं। (सखी को देखकर) सखी! इनके आगे पहुँचकर तो मुझसे उत्तर देते बनेगा नहीं, इसलिये मैं अपनी दैवी शक्ति से एक भोजपत्र उत्पन्न करके

भवितुमिच्छामि ।)

चित्रलेखा—हला! अणुमदं मे । (हला! अनुमतं मे ।)

(उर्वशी नाट्येन ससंभ्रममभिलिख्यान्तरा क्षिपति ।)

विदूषकः—(दृष्ट्वा ससंभ्रमम्) अविहा अविहा । भो! किं णु क्खु एदं भुअंगणिम्मोअं मं खादिदुं णिवडिदो । (अविधा अविधा । भो: किंनु खलु एतत् भुगङ्गनिर्मोकः किं मा खादितुं निपतितः ।)

राजा—(विभाव्य विहस्य च ।) वयस्य! नायं भुजङ्गनिर्मोकः भूर्जपत्रगतोऽयमक्षरविन्यासः ।

विदूषकः—णं अदिट्ठाए उव्वसीए भवदो परिदेविदं सुणिअ समाणानुराअसूअआई अक्खराई विसज्जिआई होन्ति । (ननु अदृष्टयोर्वश्या भवतः परिदेवितं श्रुत्वा समानानुराग-सूचकान्यक्षराणि विसृष्टानि स्युः ।)

राजा—नास्त्यगतिर्मनोरथानाम् । (गृहीत्वानुवाच्य च महर्षम्) सखे! प्रसन्नस्ते तर्कः ।

विदूषकः—ही ही भो! किं ब्रह्मणवअणाणि अण्णघा होन्ति । दाणिं पसीददु भवं । जं एत्थ लिहिदं तं सुणिदुं इच्छामि । (ही ही भो: । किं ब्राह्मणवचनान्यन्यथा भवन्ति । तदिदानीं प्रसीदतु भवान् । यदत्र लिखितं तच्छ्रोतुमिच्छामि ।)

उर्वशी साहु । अज्ज णाअरिओसि । (साधु । आर्य नागरिकोऽसि ।)

राजा—वयस्य! श्रूयताम् ।

विदूषकः—अवहिदो म्हि । (अवहितोऽस्मि ।)

उसी पर उत्तर लिख देना चाहती हूँ ।

चित्रलेखा—हाँ सखी! मैं भी यही ठीक समझती हूँ ।

(उर्वशी बड़े हाव-भाव से भोजपत्र पर लिखने का नाट्य करती है और उसे फिर राजा के आगे फेंक देती है ।)

विदूषक—(देखकर घबराता हुआ) हाय! मुझे निगलने के लिये यह साँप की केंचुली कहाँ से आ टपकी?

राजा—(देखकर और हैसकर) मित्र! यह साँप की केंचुली नहीं है, यह तो लिखा हुआ भोजपत्र है ।

विदूषक—मैं समझता हूँ कि उर्वशी ने ही छिपे-छिपे तुम्हारा रोना-धोना सुनकर अपना प्रेम जताने के लिये यह पत्र लिखकर यहाँ डाल दिया होगा ।

राजा—मन की दौड़ भी कितनी दूर तक पहुँचती है । (पत्र को उठाकर और पढ़कर) हाँ मित्र! बात तो तुम्हारी ही ठीक निकली ।

विदूषक—हः हः! ब्राह्मण की बात भी क्या कभी झूठी होती है? अब आप खिल उठिए । अच्छा, मैं भी तो सुनूँ, इसमें क्या लिखा है ।

उर्वशी—धन्य है, तुम सचमुच बड़े अच्छे नागरिक हो ।

राजा—सुनो मित्र!

विदूषक—हाँ, सुन रहा हूँ ।

राजा—श्रूयताम् । (वाचयति)

सामिअ संभाविआ जह अहं तुएअणुमिआ

तह अणुरत्तस्स जइ णाम तुह उवरि ।

किं मे ललिअपारिजाअसणिज्जयम्मि होन्ति

णंदणवणवादा दि अच्चुण्हआ सरीरए ॥ 12 ॥

(स्वामिन्संभाविता यथाहं त्वयाऽज्ञाता तथानुरक्तस्य यदि नाम तवोपरि । किं में ललितपारिजातशयनीये भवन्ति नन्दनवनवाता अप्यत्युष्णकाः शरीरके ।)

उर्वशी—किं णु क्खु संपदं भणिस्सदि । (किं नु खलु सम्प्रतं भणिष्यति ।)

चित्रलेखा—णं भणिदं एव्व मिलाणकमलणालाअमाणेहिं अंगेहिं । (ननु भणितमेव म्लानकमलनालायमानैरङ्गैः)

विदूषकः—दिट्ठिआ गए द्दुिक्खिदेण सोत्थिवाअणं विअ उवलद्धं भवदा उक्कठिदेण समासासणं । (दिष्टयाः मया बुभुक्षितेन स्वस्तिवायनमिवोपलब्धं भवतोत्कण्ठितेन समाश्वासनम् ।)

राजा—समाश्वासनमिति किमुच्यते ।

तुल्यानुरागपिशुनं ललितार्थबन्धं पत्रे निवेशितमुदाहरणं प्रियायाः ।

उत्पक्षमणा मम सखे मदिरेक्षणायाः तस्याः समागतमिवाननमाननेत ॥ 13 ॥

उर्वशी—एत्थ णो समविभाआ पीदी । (अत्रवयोः समविभागा प्रीतिः ।)

राजा—सुनो! (बाँचता है ।)

स्वामि! आप क्या जानें मन यह रोता कैसी साँसत सहते ।

इतना प्रेम बढ़ाया फिर भी मान रहे क्यों जैसा कहते ॥

मुझे बताओ पारिजात की कोमल शय्या पर जब सोती ।

नन्दन वन की शीत बयारें अनल-सदृश क्यों दाहक होती ॥

(महाराज! आप मेरे मन की बात क्या जानें । यदि आप मुझे इतना प्रेम करने पर भी मुझे वैसी ही समझते हैं जैसी आप अभी बता रहे थे, तब यह तो बताइए कि जब मैं कोमल पारिजात के फूलों की सेज पर जाकर लेटती हूँ तब नन्दन वन का शीतल पवन मेरे शरीर को जलाने क्यों लगता है ॥ 12 ॥)

उर्वशी—देखें, इस पर ये क्या कहते हैं!

चित्रलेखा—उनके मुरझाए हुए कमल-नाल के समान अंगों ने ही सब कुछ कह डाला है ।

विदूषक—यह बड़े भाग्य की बात है कि आपकी बेकली मिटाने को वैसा ही सहारा मिल गया जैसे भूख लगने पर मुझे कहीं न कहीं से भोग लगाया हुआ बायना मिल जाता है ।

राजा—इसे केवल सहारा बताते हो? मैं तो जब उस मद-भरे नयनों वाली के मन की बातें, इन सुन्दर अर्थों से भरे हुए और उनके मन में भी मेरे मन के ही जैसा प्रेम जतलाने वाले प्रेम-पत्र को पढ़ता हूँ तब मुझे ऐसा लगता है मानो हम दोनों आमने-सामने खड़े होकर एक दूसरे से बातें कर रहे हों ॥ 13 ॥

उर्वशी—हम दोनों का प्रेम अब जाकर बराबर-बराबर बैठा है ।

राजा—वयस्य! अंगुलिस्वेदेन दूष्येरत्रक्षराणि धार्यतामयं मम प्रियायाः स्वहस्तः।

विदूषकः—(गृहीत्वा) किं दाणिं तत्तभोदी उव्वसी भवदो मणोरहाणं कुसुमं दसिअ फले विसंवददि। (किमिदानीं तत्रभवत्युर्वशी भवतो मनोरथानां कुसुमं दर्शयित्वा फले विसंवदति।)

उर्वशी—सहि! जाव उवगमणकादरं हिअअं पजजवत्थावेमि दाब तुमं से अत्ताणं दंसिअ जं में खमं तं भणाहि। (सखि! यावदुपगमनकातरं हृदयं पर्यवस्थापयामि तावत्त्वमस्मात्मानं दर्शयित्वा यन्मय क्षमं तद्गण।)

चित्रलेखा—तह। (तथा) (तिरस्करिणीमपनीय राजानमुपेत्य) जेदु जेदु महाराओ। (जयतु जयतु महाराजः।)

राजा—(दृष्ट्वा सहर्ष) स्वागतं भवत्यै। (पार्श्वमवलोक्य) भद्रे!

न तथा नन्दयसि मां सख्या विरहिता तथा।

सङ्गमे दृष्टपूर्वेव यमुना गङ्गया विना॥ 14॥

चित्रलेखा—णं पढमं मेहराई दीसदि पच्छा विजजुल्लदा। (ननु प्रथमं मेघराजिर्दृश्यते पश्चाद्विद्युल्लता।)

विदूषकः—(अपवार्य) कहं ण एसा उव्वसी। ताए तत्तहोदीए अहिमदा सहअरी। (कथं नैषोर्वशी। तस्यास्तत्रभवतया अभिमता सहचरी।)

राजा—एतदासनमास्यताम्।

चित्रलेखा—उव्वसी महाराअं सिरसा पणमिअ विण्णवेदि। (उर्वशी महाराजं शिरसा प्रणमय विज्ञापयति।)

राजा—मित्र! मेरी प्रिया की यह प्रेम-पाती तुम्हीं लिए रहो, कहीं मेरी उँगलियों के पसीने से इसके अक्षर मिट न जाएँ।

विदूषक—(पत्र लेकर) जिन उर्वशी ने यह पत्र भेजकर आपके मनोरथों में फूल लगा दिए हैं, वे क्या आपकी समझ में फल देने में अलसेट करेंगी?

उर्वशी—सखी! अभी तो मेरा हृदय उनके पास जाने में बड़ा झिझक रहा है। इसलिये जब तक मैं अपना जी सँभालूँ तब तक तुम इनके पास जाकर मेरी ओर से जो कुछ कहना ठीक समझो, कह डालो।

चित्रलेखा—अच्छा। (माया की ओढ़नी हटाकर और राजा के पास पहुँचकर।) महाराज की जय हो।

राजा—(देखकर प्रसन्नता से) आइए आइए! स्वागत है आपका। (इधर-उधर देखकर) क्यों भद्रे! जैसे प्रयाग का संगम देखने वाले को गंगा के बिना अकेली यमुना नहीं भाती वैसे ही अपनी सखी के बिना तुम भी मुझे नहीं भा रही हो॥ 14॥

चित्रलेखा—पर महाराज! पहले तो बदली दिखाई देती है न, बिजली पीछे चमकती है।

विदूषक—(अलग) अरे! तो क्या ये उनकी प्यारी सखी हैं, उर्वशी नहीं हैं।

राजा—आइए, इस आसन पर आ बैठिए।

चित्रलेखा—उर्वशी ने महाराज को सिर नवाकर प्रणाम करते हुए कहलाया है-

राजा—किमाज्ञापयति ।

चित्रलेखा—तस्मिं सुरारिसंभवे दुज्जादे महाराओ एव्व सरणं आसि । सा अहं संपदं तुह दंसणसमुत्थेण मअणेण बलिअं वाहीअमाणा भूओवि महाराएण अणुकंपणीअत्ति । (तस्मिन्सुरारिसंभवे दुर्जाति महाराज एव मम शरणमासीत् । साहं साम्प्रतं तव दर्शन समुत्थेन मदनेन बलवद्वाध्यमाना भूयोऽपि महाराजस्वानुकम्पनीया भवामि इति ।)

राजा—अयि भद्रमुखि !

पर्युत्सुकां कथयसि प्रियदर्शनां तां

आर्तं न पश्यसि पुरुरवसं तदर्थे ।

साधारणोऽयमुभयोः प्रणयः स्मरस्य

तप्तेन तप्तमयसा घटनाय योग्यम् ॥ 15 ॥

चित्रलेखा—(उर्वशीमुपेत्य) एहि! एहि! तुवतोवि णिहअदरं मअणं पेक्खिब पिअअमस्स दे दूदिम्हि संकुत्ता । (सखि! एहि! त्वत्तोऽपि निर्दयतरं मदनं प्रेक्ष्य प्रियतमस्य ते दूत्यस्मि संवृत्ता ।)

उर्वशी—(तिरस्करिणीमपनीय) अम्महे! लहुअं तुए अणवेक्खिदं उज्जिअदम्हि । (अहो! लक्षु त्वयानवेक्षितमुज्जितास्मि ।)

चित्रलेखा—(सस्मितम्) सहि! इदो मुहुतादो जाणिस्सं का कं उज्जिअस्सदि । आआरं दाव पडिवज्ज (सखि! इतो मुहुतदिव ज्ञास्यामि का कामुज्जिष्यतीति । आचारं तावत्प्रतिपद्यस्व ।)

उर्वशी—(ससाध्वसं राजानमुपेत्य प्रणम्य च सवीडम्) जेदु जेदु महाराओ । (जयतु जयतु महाराजः ।)

राजा—हाँ, क्या आज्ञा दी है?

चित्रलेखा—यही कि उस बार जब दैत्य मुझे पकड़ ले गए थे तब महाराज ने ही मेरी रक्षा की थी । अब आपको देख लेने पर मेरे मन में प्रेम की बड़ी पीड़ा उठ खड़ी हुई है, इसलिये चाहती हूँ कि इस बार भी मुझ पर आपकी कृपा हो जाय ।

राजा—अरी सुन्दरी! अपनी सखी को तो तुम इतना प्रेम में व्याकुल बता रही हो, पर यह नहीं देख रही हो कि यह पुरुरवा भी उसके प्रेम में पागल हुए बैठा है । हम दोनों का प्रेम, दोनों ओर एक जैसा ही बढ़ा हुआ है, इसलिये अब तो एक तपे हुए लोहे को दूसरे तपे हुए लोहे से जोड़ देना ही ठीक होगा ।।

15 ॥

चित्रलेखा—(उर्वशी के पास जाकर) आओ आओ, सखी! कामदेव ने तुमसे भी अधिक इनको सता मारा है । इसलिये अब मैं अब तुम्हारे प्रियतम की दूती बनकर ही तुम्हारे पास आई हूँ ।

उर्वशी—(माया की ओढ़नी हटाकर) वाह! क्या झट से तू मुझे छोड़कर उधर जा पहुँची?

चित्रलेखा—(मुसकराकर) सखी, अभी थोड़ी ही देर में देखती हूँ न, कि कौन किसे छोड़कर जाती है । अच्छा, पहले महाराज को प्रणाम तो कर लो ।

उर्वशी—(हड़बड़ी में राजा के पास पहुँचकर लजाती हुई प्रणाम करके) महाराज की जय हो ।

राजा—(सहर्षम्) सुन्दरि!

मया नाम जितं यस्य त्वयायं समुदीर्यते ।

जयशब्दः सहस्राक्षादगतः पुरुषान्तरम् ॥ 16 ॥

(हस्ते गृहीत्वेनामुपदेशयति ।)

विदूषक—भोदि! रण्णे पिअवअस्सो ब्रह्मणो किं ण वन्दीअदि । (भवति! राज्ञः प्रियवयास्यो ब्राह्मणः किं न वन्द्यते ।)

(उर्वशी सस्मितं प्रणमति ।)

विदूषकः—सत्थिं भोदीए । (स्वस्ति भवत्यै ।)

(नेपथ्ये देवदूतः) चित्रलेखे! त्वरय त्वरयोर्वशीम् ।

मुनिना भरतेन यः पयोगो भवतोष्वष्टरसाश्रयो नियुक्तः ।

ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः ॥ 17 ॥

(सर्वे कर्णं ददति । उर्वशी विषादं रूपयति ।)

चित्रलेखा—सुदं पिअसहीए देवदूदस्स वअणं । ता अणुमाणीअदु महाराओ । (श्रुतं प्रियसख्या देवदूतस्य वचनम् । तदनुमान्यतां महाराजः ।)

उर्वशी—णत्थि मे वाआ । (नास्ति मे वाचा ।)

चित्रलेखा—महाराज! उव्वसी विण्णवेदि—परवसो अअं जणो । ता महाराएण अव्वणुण्णवा इच्छामि देवेषु अणवरुद्धं अत्ताणअं कादुत्ति । (महाराज! उर्वशी विज्ञापयति परवशोऽयं जनः । तन्महाराजेनाभ्यनुज्ञाता इच्छामि देवेष्वनपराद्धमात्मानं कर्तुम् इति ।)

राजा—(प्रसन्न होकर) सुन्दरी! जो 'जय' शब्द तुमने सहस्र आँख वाले इन्द्र को छोड़कर आज तक किसी दूसरे पुरुष के लिये नहीं कहा था, वह आज तुमने मेरे लिये कह दिया, इसलिये आज सचमुच मुझे जय मिल गई ॥ 16 ॥

(दोनों हाथ पकड़कर बैठते हैं ।)

विदूषक—देवी जी! क्या महाराज के प्रिय मित्र ब्राह्मण को आप प्रणाम नहीं कीजिएगा?

(उर्वशी मुस्कराती हुई प्रणाम करती है ।)

विदूषक—आपका कल्याण हो ।

(नेपथ्य में देवदूत कहता है ।) चित्रलेखा! उर्वशी को झटपट लेती आओ । भरत मुनि ने तुम लोगों को, जो आठों रसों से भरा हुआ नाटक सिखा रक्खा है उसी का सुन्दर अभिनय, भगवान् इन्द्र और लोकपाल देखना चाहते हैं ॥ 17 ॥

(सब सुनते हैं । उर्वशी दुखी होने का नाट्य करती है ।)

चित्रलेखा—प्यारी सखी! तुमने देवदूत के वचन सुने? तो अब महाराज से बिदा ले लो ।

उर्वशी—मुझसे तो बोला नहीं जा रहा है ।

चित्रलेखा—महाराज! उर्वशी प्रार्थना करती है कि मैं तो पराधीन हूँ, इसलिये महाराज की आज्ञा हो तो चली जाऊँ और देवताओं का अपराध करने से बच जाऊँ ।

राजा—(कथं कथमपि वार्यं व्यवस्थाप्य ।) नास्मि भवत्योरीश्वरनियोगप्रत्यर्थी । स्मर्तव्यस्त्वयं जनः ।
(उर्वशी वियोगदुःखं रूपयित्वा राजानं पश्यन्ती सह सख्या निष्क्रान्ता ।)

राजा—(निःश्वस्य) सखे! वैयर्थ्यमिव में चक्षुषोः संप्रति ।

विदूषकः—(पत्रं दर्शयितुं कामः) पं एद । (इति अर्धोक्ते सविषादमात्मगतम् ।)हृद्धी हृद्धी
उव्वसीदंसणविम्हिदेण मए तं भुज्जवत्तं पट्टट्टं वि हत्पादो पमादेण ण विण्णदं । ननु एतत्. . . हा
धिक् हा धिक् उर्वशीदर्शनविस्मितेन मया तद्-भूर्जपत्रकं प्रभ्रष्टमपि हस्तात्प्रमादेन न विज्ञातम् ।

राजा—भद्र! छिमसि वक्तुकाम इव ।

विदूषकः—एवम् वक्तुकामोऽहम्—मा भवं अंगाई मुंचदु । दिढं क्खु तुइ बद्धभावा उव्वसी ण सा इदीगदं
अणुराअं सिद्धिलेदि ति । (एव वक्तुकामोऽस्मि—मा भवानङ्गानि मुञ्चतु । दृढं खलु त्वयि बद्धभावा उर्वशी
न सा इतोगतमनुरागं शिथिलयति इति ।)

राजा—ममाप्येतदाशंसि मनः । तया खलु प्रस्थाने ।

अनीशया शरीरस्य स्ववशं हृदयं मयि ।

स्तनकम्पक्रियालक्ष्यैर्न्यस्तं निःश्वसितैरिव ॥ 18 ॥

विदूषकः—(स्वगतम्) वेवदि में हिअअं इमं वेलं अतभवदा तस्स भुज्जवत्तस णाम गेण्हिदव्वं ति ।
(वेपते मे हृदयमिमां वेलामत्रभवता तस्य भूर्जपत्रस्य नाम ग्रहीतव्यमिति ।)

राजा—वयस्य! केनेदानीं दृष्टि विलोभयामि । (स्मृत्या) आः उपनयतु भवान्भूर्जपत्रम् ।

राजा—(बड़ी कठिनाई से बोलते हुए) मैं आपके स्वामी की आज्ञा का भला कैसे विरोध कर सकता हूँ । पर मुझे भूलिएगा मत ।

(उर्वशी वियोग का भाव प्रकट करती हुई और राजा की ओर देखती हुई सखी के साथ चली जाती है ।)

राजा—(लम्बी साँस लेकर) मित्र! अब तो मेरी आँखों का होना न होना बराबर हुआ जा रहा है ।

विदूषक—(पत्र दिखाने की इच्छा से) पर यह..... (इतना ही कहकर रुक जाता है । दुःख के साथ मन ही मन) हाय हाय! उस उर्वशी को देखने में मैं ऐसा बेसुध हो गया कि मुझे यह भी ध्यान न रहा कि मेरे हाथ से भोजपत्र कब निकल गिरा ।

राजा—क्या कह रहे थे मित्र?

विदूषक—मैं यही कह रहा था कि आप निराश न हों, क्योंकि उर्वशी आपसे इतना गहरा प्रेम करती है कि अब उसके प्रेम में ढिलाई आ नहीं सकती ।

राजा—मेरा मन भी यही कहता है । अपने शरीर पर तो उसका वश था ही नहीं इसलिये अपने जिस हृदय पर उसका अधिकार था उसे तो चलते समय वह अपनी उन उसाँसों के साथ मुझे सौंप गई जो उसके स्तनों के काँपने से भली प्रकार प्रकट हो रही थीं ॥ 18 ॥

विदूषक—(मन ही मन) मुझे यही डर हो रहा है कि महाराज कहीं भोजपत्र न माँग बैठें ।

राजा—मित्र! बताओ अब मैं अपनी आँखें कैसे ठंडी करूँ । (स्मरण करके) अरे हाँ! यह भोजपत्र तो लाओ ।

विदूषकः—(सर्वतो दृष्ट्वा विषादं नाटयति) हंत, ण दिस्सदि। भो दिव्यं क्व तं भुज्जवत्तं गदं उव्वसीए मग्गेण। (हन्त, न दृश्यते। भोः दिव्यं खलु तदभूर्जपत्रं गतमुर्वश्या मार्गेण।)

राजा—(सासूयम्) अहो, सर्वत्र प्रमादी वैधेयः। ननु विचिनोतु भवान्।

विदूषकः—(उत्थाय) ण इदो भवे। इह वा भवे। इह वा भवे। (ननु इतो भवेत्।) इह या भवेत्। इह वा भवेत् (इति विचेतव्यं नाटयति)

(ततः प्रविशति सपरिवारा काशिराजपुत्री देवी चेटी च)

देवी—हंजे णिउणिए! सच्चं तुए भणिदं इमं लदागेहं पविसंतो अज्जमाणवअसहाओ अज्जउत्तो दिट्ठो ति। (हज्जे निपुणिके! सत्यं त्वया भणितमिदं लतामेहं प्रविशन्नार्यमाणवकसहाय आर्यपुत्रो दृष्ट इति।)

निपुणिका—किं अण्णहा भट्ठिणी मए कदावि विण्णविदपुव्वा। (किमन्यथा भट्टिनी मया कदापि विज्ञापितपूर्वा।)

देवी—तेण हि लदाविडवंतरिदा सुणिस्सं दाव से विस्सद्धा मंत्तिदाणि जं तुए कहिदं तं सच्चं ण वेदि। (तेन हि लताविटपान्तरिता श्रोष्यामि तावदस्य विश्रब्धा मन्त्रितानि यत्त्वया कथितं तत्सत्यं न वेति।)

निपुणिका—जं पट्ठिणीए रच्चदि। (यद्भट्टिन्यै रोचते।)

देवी—(परिक्रम्य पुरस्तादवलोक्य च) हंजे णिउणिए! किं णु क्खु एदं जिण्णचीअरं विअ इदोमुहं दक्खिणमारुदेण आणीअदि। (हज्जे निपुणिके! किं नु खल्वेतज्जीर्णचीवरमिवेतोमुखं दक्षिणमारुतेनानीयते।)

निपुणिका—(विभाव्य) भट्ठिणी! पडिवत्तणविभाविदक्खरं भुज्जवत्तं क्खु एदं। हंत भट्टिणीए एव्व

विदूषक—(चारों ओर दूँढता हुआ, दुखी होने का नाट्य करता है) हाय, हाय! वह तो कहीं मिलता ही नहीं। मित्र! वह भोजपत्र तो स्वर्ग का था न, इसलिये वह भी उर्वशी के साथ ही उड़ गया होगा।

राजा—(क्रोध से) मूर्ख! तुम सदा ऐसे ही बेसुध रहा करते हो। जाओ, दूँढो उसे।

विदूषक—(उठकर) बस-बस यहाँ होगा, या यहाँ होगा, या यहाँ होगा। (इस प्रकार खोजने का नाट्य करता है।)

(इसी बीच काशी-नरेश की पुत्री महारानी अपनी दासियों के साथ आती हैं।)

देवी—सखी निपुणिका! तूने सच कहा था कि आर्य माणवक के साथ आर्यपुत्र लतामंडप में गए हैं।

निपुणिका—मैंने क्या आज तक कभी आपसे झूठ बोला है?

देवी—अच्छा तो मैं इन लता-वृक्षों की ओट में खड़ी होकर इनकी गुप-चुप बातें सुनकर देखती हूँ कि तूने जो कुछ कहा है वह सच है या नहीं।

निपुणिका—जैसा भट्टिनी ठीक समझें।

देवी—(धूमकर सामने देखकर) सखी निपुणिका! देखो तो यह दक्खिणी पवन के साथ फटे कपड़े, जैसा क्या इधर को उड़ा चला आ रहा है।

निपुणिका—(देखकर) भट्टिनी! यह तो भोजपत्र है और उलटा-पलटा उड़ा आता हुआ ऐसा लगता है कि इस पर कुछ लिखा हुआ हो। लीजिए, यह तो भट्टिनी के बिछुए में ही आ अटका। (उठाकर)

गेउरकोडीए लग्गं । (गृहीत्वा) णं वाईअंदु एदम् । (भट्टिनि! परिवर्तनविभाविताक्षरं भूर्जपत्रं खल्वेतत् । हन्त, भट्टिन्या एव नूपुरकोट्या लग्नम् । ननु वाच्यतामेतत् ।)

देवी—अणुवाएहि दाव एदं । जदि अविरुदं तदो सुणिस्सं । (अनुवाचय तावदेतत् । यद्यविरुद्धं ततः श्रोष्यामि ।)

निपुणिका—(तथा कृतवा) भट्टिणी! तं एव्व कोलीणं विअ पडिहादि । भट्टारअं उडिसिअ उव्वसीए कव्वबंधो ति तवकेमि । अजजमाणवअप्पमादेण अ अम्हाणं हत्थं आगदो ति । (भट्टिनि! तदेव कौलीनमिव प्रतिभाति । भट्टारकमुद्दिश्योर्वश्याः काव्यबन्ध इति तर्क्यामि । आर्यमाणवकप्रमादेन चावयोर्हस्तमागत इति ।)

देवी—तेण हि से गहीदत्था होमि । (तेन ह्यस्य गृहीतार्था भवामि ।)

(निपुणिका वाचयति)

देवी—(श्रुत्वा) एत्थ इमिणा एव्व उवाअणेण दं अच्छराकामुअं पेक्खामि । (अत्रानेनैवोपायनेन तमप्सरः कामुकं प्रेक्षे ।)

निपुणिका—तह! (तथा ।)

(इति परिजनसहिते लतागृहं परिक्रामतः ।)

विदूषकः—(विलोक्य) भो वअस्स! किं एदं पवणवसगामि पमदवणसमीवगद-कीलापव्वदपज्जं ते दीसदि । (भो वस्य! किमेतत्पवनवशगामि प्रमदवनसमीपगतक्रीडापर्वतपर्यन्ते दृश्यते ।)

राजा—(उत्थाय) भमवन्वसन्त-प्रिय दक्षिणवायो!

वासार्थ हर संभृतं सुरभिणा पौष्पं रजो वीरुधां

किं कार्यं भवतो हतेन दयितास्नेहस्वहस्तेन मे ।

जानीते हि मनोविनोदनशतैरेव विधैर्धारितं

कामार्तं जनमज्जनां प्रति भवानालक्षितप्रार्थनः ॥ 19 ॥

लीजिए बाँचिए तो ।

देवी—तुम्हीं बाँच लो । यदि कोई मेरे मन की बात हो तो सुना देना ।

निपुणिका—(बाँचकर) यह तो वही प्रेम वाली बात जान पड़ती है, जिसका चारों ओर इतना हल्ला हो रहा है । मैं समझती हूँ कि उर्वशी ने स्वामी को यह कविता लिखकर भेजी होगी और आर्य माणवक की असावधानी से यह हम लोगों के हाथ आ लगी है ।

देवी—अच्छा पढ़ो तो इसमें क्या लिखा है?

(निपुणिका बाँचती है ।)

देवी—(सुनकर) तो चलो यही भेंट लेकर हम उस अप्सरा के प्रेमी से चलकर जा मिलें ।

निपुणिका—चलिए ।

(दासियों के साथ लता-मण्डप की ओर घूम जाती हैं ।)

विदूषक—(देखकर) क्यों मित्र! यह प्रमदवन के पास वाले क्रीडा पर्वत पर पवन के झोके में हिलता-सा क्या दिखाई दे रहा है?

राजा—(उठकर) वसन्त के प्यारे मित्र दक्षिण पवन! तुम्हें अपना शरीर सुगन्धित करना हो तो तुम लताओं पर खिले हुए और वसन्त के हाथों से इकट्ठे किए हुए फूलों का पराग उठाकर क्यों नहीं ले आते ।

निपुणिका—भट्टिणि! पेक्श पेक्ख। एदस्स एव्व अण्णेसणा वट्ठदि। (भट्टिनी! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व। एतस्यैवान्वेषणा वर्तते।)

देवी—णं पेक्खामि दाव तुण्हि चिट्ठ। (ननु पश्यामि तावत्। तूष्णीं तिष्ठ।)

विदूषकः—(सविषादम्) हट्टी हट्टी भो मिलाअमाणकेसरच्छविणा मोरपिच्छेण विप्लद्धोऽस्मि। (हा धिक् हा धिक् भोः म्लायमानकेशरच्छविना मयूरपिच्छेन विप्रलबधोऽस्मि।)

राजा—सर्वथा हतोऽस्मि।

देवी—(सहसोपसृत्य।) अज्जभुत्त अलं आवेएण। एदं तं भुज्जवत्तं। (आर्यपुत्र! अलमावेगेन। एतत्तद्भूर्जपत्रम्)

राजा—(ससंभ्रमम्) अये देवी! स्वागतं देव्यै।

विदूषकः—(अपवार्य) दुरागदं दाणिं संवुत्तं। (दुरागतमिदानीं संवृत्तम्)

राजा—(जनान्तिकम्) वयस्य! किमत्र प्रतिविधेयम्।

विदूषकः—(अपवार्य) लोत्थेण गहीदस्स कुंभीलअस्स अत्थि वा पड्डिवअणं। (लोत्रेण गृहीतस्य कुंभीरकस्यास्ति वा प्रतिवचनम्।)

राजा—(जनान्तिकम्) मूढ! नायं परिहासकालः। (प्रकाशम्) देवि! नेदं मया मृग्यते। अयं खलु परान्वेषणार्थमारम्भः।

देवी—जुज्जदि अत्तणो सोहगं पच्छेदुं। (युज्यो आत्मनः सौभाग्यं प्रच्छादयितुम्।)

विदूषकः—भोदि! तुवरेहि से भोअणं जं पित्तोवसमणसमत्थं होदि। (भवति! त्वरयास्य भोजनं यत्पित्तोपशमनसमर्थं भवति।)

मेरी प्यारी के हाथ का लिखा हुआ पुत्र भला तुम्हारे किस काम आवेगा? तुम तो स्वयं अञ्जनासे प्रेम कर चुके हो इसलिये जानते ही होगे कि ऐसी मन बहलाने वाली वस्तुओं को देखकर ही तो प्रेमी लोग जिया करते हैं।। 19।।

निपुणिका—देखिए देखिए, भट्टिनी! ये लोग इसी पत्रको खोज रहे हैं।

देवी—चुप चुप! देखें तो सही, ये क्या-क्या करते हैं।

विदूषक—(दुःख के साथ) हाय, हाय! इस मोर-पंखको देखकर मुझे मुरझाए हुए केशर-के फूल का धोखा हो गया, क्योंकि दोनों एक जैसे ही लगते थे।

राजा—मैं तो सब प्रकार लुट गया।

देवी—(एकाएक आगे बढ़कर) घबराइए मत आर्यपुत्र! यह रहा वह भोजपत्र।

राजा—(घबराकर) अरे आप हैं देवी? आइए, आइए! भली आ गई आप।

राजा—(अलग) क्यों मित्र! अब क्या होगा?

विदूषक—(अलग) चोरी के माल के साथ पकड़ा हुआ चोर अब कह ही क्या सकता है।

राजा—(अलग) अरे मूर्ख! यह हँसी का समय नहीं है। (प्रकट) मैं इसे नहीं खोज रहा था देवी! मैं तो कुछ और ही खोजने में लगा हुआ था।

देवी—हाँ हाँ, आपको तो अपने सौभाग्य की बात छिपानी ही चाहिए।

विदूषक—देवी! जाकर महाराज के भोजन का प्रबन्ध कीजिए जिससे इनका पित्त तो शांत हो।

देवी—णिउणिए! सोहणं क्खु बम्हणेण आसासिदो वअस्सो। (निपुणिके! शोभनं खलु ब्राह्मणेनाश्वसितो वयस्यः।)

विदूषकः—भोदि! णं पेक्ख आसासिदो पिसाचोदि भोअणेण। (भवति! ननु पश्य आश्वसितः पिशाचोऽपि भोजनेन।)

राजा—मूर्ख! बलादपराधिनं मां प्रतिपादयसि।

देवी—णत्थि क्खु मवदो अवराहो। अहं एव् एत्थ अवरद्धा जा पडिऊलदंसणा भविअ अग्गदो दे चिट्ठामि। इदो अहं गमिस्सं। णिउणिए, एहि गच्छम्ह। (नास्ति खलु भवतोऽपराधः। अहमेवात्रापरद्धा या प्रतिकूलदर्शना भूत्वाग्रतस्ते तिष्ठानि। इतोऽहं गमिष्यामि। निपुणिके! एहि गच्छामः।) (इति कोपं नाटयित्वा प्रस्थिता।)

राजा—(अपसृत्य।)

अपराधी नामाहं प्रसीद रंभोरु विरम संरम्भात्।

सेव्यो जनश्च कुपितः कयं नु दासो निरपराधः॥ 20॥

(इति पादयोः पतति।)

देवी—(स्वगतम्) मा क्खु लहुहिअआ अहं अणुणअं बहु मण्णे। किं दु अदक्खिण्ण-किदस्स पच्छादावस्स भाएमि। (मा खलु लघुहृदयीहमनुनयं बहु मन्ये। किंत्वदाक्षिण्यकृतात्पश्चा तापाद्विभेमि।)

(इति राजानमपहाय सपरिवारा निष्क्रान्ता)

विदूषकः—पाउसणदी विअ अप्पसण्ण गदा देवी। ता उट्ठेहिं उट्ठेहि। (प्रावृण्णदीवाप्रसन्ना गता देवी। तदुत्तिष्ठ उत्तिष्ठ।)

देवी—निपुणिका! इस ब्राह्मण ने अपने मित्रको अच्छा बचा लिया।

विदूषक—देखिए, देवी! भोजन देकर तो भूत-पिशाच-तक शान्त कर दिए जाते हैं।

राजा—क्यों रे मूर्ख! तू बिना बात के ही मुझे अपराधी बनाने पर तुला हुआ है?

देवी—यह आपका नहीं मेरा ही अपराध है कि मैं ऐसे बेढंगे समय में आपके काम में बाधा डालने आ पहुँची। लीजिए, मैं चली जाती हूँ। चलो निपुणिका, चली चलें।

(क्रोध का नाट्य करके चली जाती है।)

राजा—(पीछे-पीछे जाता हुआ) सुनिए तो देवी, मैं ही अपराधी हूँ। अरे मान जाओ सुन्दरी! इतना मत बिगड़ो। जब स्वामिनी ने क्रोध किया है तो इस सेवकने कुछ न कुछ अपराध अवश्य ही किया होगा॥ 20॥

(पैरों पर गिरते हैं।)

देवी—(मन ही मन) मुझे ऐसी भोली-भाली न समझ बैठिएगा कि मैं आपकी इन चिकनी-चुपड़ी बातों में आ जाऊँगी। पर मैं तो यही डरती हूँ कि यदि मैं आपसे कुछ कड़ा बर्ताव कर भी बैटूँगी तो पीछे मुझे ही पछतावा होगा।

(राजा को छोड़कर अपनी दासियों के साथ चली जाती हैं।)

विदूषक—वर्षा की नदी के समान अप्रसन्न (गंदले, मैले) मनवाली देवी चली गई। अब उठिए; उठ जाइए।

राजा—(उत्थाय) वयस्य, नेदमनुपपन्नम्। पश्य

प्रियवचनकृतोऽपि योषितां दयितजनानुनयो रसादृते।

प्रविशति हृदयं न तद्विदां मणिरिव कृत्रिमरागयोजितः॥ 21॥

विदूषकः— अणुऊलं एव्य एत्थ भवदो एदं। ण क्खु अक्खिदुक्खिदो अहिमुहे दीव सिंह सहेदि।
(अनकूलमेवात्र भवत एतत्। न खल्लवक्षिदुःखितोऽभिमुखे दीपशिखां सहते।)

राजा—मा मैवम्! उर्वशीगतमनसोऽपि मे स एव देव्यां बहुमानः। किन्तु प्रणिपातलङ्घनादहमस्यां धैर्यमवलम्बयिष्ये।

विदूषकः—भो! चिट्ठु दाव भवदो धीरदा। बुभुक्खिदस्स बम्हणस्स जीविदं अवलंवदु भवं। समओ क्खु ण्हाणभोअणं सेवितुं। (भो! तिष्ठतु तावद्भवतो धीरता। बुभुक्षितस्य ब्राह्मणस्य जीवितमवलम्बतां भवान्। समयः खलु स्नानभोजनं सेवितुं।)

राजा—(ऊर्ध्वमवलोक्य) गतमर्धं दिवस्सय। अतः खलु-

उष्णालुः शिशिरे निषीदति तरोर्मूललवाले शिखो

निर्भिद्योपरि कर्णिकारमुकुलान्यालीयते षट्पदः।

तप्तं वारि विहाय तीरनलिनीं कारण्डवः सेवते

क्रीडावेश्मनि चैष पञ्जरशुकः क्लान्तो जलं याचते॥ 22॥

(इति निष्क्रान्तौ।)

॥ इति द्वितीयोऽङ्कः॥



राजा—(उठकर) मित्र! इसमें उनका कोई दोष नहीं है। देखो,- यदि कोई पति ऊपरी मन से केवल चिकनी-चुपड़ी बातें करके ही अपनी प्यारी को मनाने लगता है तो उसकी बातें स्त्रियों के हृदय में उसी प्रकार नहीं बैठती जैसे सच्चे पारखी को बनावटी रंग से रंगा हुआ मणि नहीं जैचता॥ 21॥

विदूषक—पर आप तो यह चाहते ही थे। जिसकी आखें आ गई हों उसे सामने रखे हुए दीये की लौ थोड़े ही भाती है।

राजा—नहीं नहीं! ऐसा न कहो। उर्वशी से प्रेम करने पर भी मैं इन देवी को पहले-जैसा ही प्यार करता हूँ पर मेरे इतने हाथ-पैर जोड़ने पर भी वे मुझे ठुकराकर चल दीं इसलिये अब मैं भी उनसे ऐंठा जाता हूँ।

विदूषक—ऐंठिएगा पीछे। पहले इस भूखे ब्राह्मण के प्राण तो बचाइए। चलिए, स्नान-भोजन का समय हो गया।

राजा—(ऊपर देखकर) अरे, यह तो आधा दिन चढ़ आया! इसलिये-यह मोर गर्मी से घबराकर पेड़ की जड़ के ठंडे थॉंवले में आ बैठा है, यह भौरा कनैरकी कलीका मुँह खोलकर उसी में जा छिपने का व्यौत कर रहा है, यह जल-कुक्कुट, तालका गरम पानी छोड़कर तटपर खिली हुई कमलिनी की छाया में जा बैठा है और मनबहलाववाले भवन के पिंजड़े में पड़ा हुआ यह प्यासा सुग्गा भी पानी की रट लगाए जा रहा है॥ 22॥

(दोनों चले जाते हैं।)

॥ दूसरा अंक समाप्त



तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशतो भरतशिष्यौ)

गालवः—सखे पेलव ! महेन्द्रभवनं गच्छता भगवतोपाध्यायेन त्वमासनं प्रतिग्राहितः । अग्निशरणसंरक्षणाय स्थापितोऽहम् । अतः खलु पृच्छामि—अपि गुरोः प्रयोगेण दिव्या परिषदाराधिता ।

पेलवः—गालव ! ण जाणे आराहिदा ण वत्ति । तस्सिं उण सरस्सईकिदकव्वबंधे लच्छीसअंवरे तेसु तेसु रसंतरेसु तम्मई आसि । किंतु— । (गालव न जाने आराधिता न वा इति । तस्मिन्पुनः सरस्वतीकृतकाव्यबन्धे लक्ष्मीस्वयंवरे तेषु तेषु रसान्तरेषु तन्मयी आसीत् । किन्तु)

गालवः—सदोषावकाश इव ते वाक्यशेषः ।

पेलवः—आम्, तस्सिं उव्वसीए वअणं पमादक्खलितं आसि । (आम्, तस्मिन्नुर्वश्या वचनं प्रमादस्खलितमासीत् ।)

गालवः—कथमिव ।

पेलवः—लच्छीभूमिआए वट्टमाणा उव्वसी वारुणीभूमिआए वट्टमाणाए मेणआए पुच्छिदा—सहि समागता एदे तेलोक्कसुपुरिसा सकेसवा अ लोअवाला । कदमस्सिं दे भावाहिणिवेसोत्ति । (लक्ष्मीभूमिकायां वर्तमानोर्वशी वारुणीभूमिकायां वर्तमानया मेनकया पृष्टा—सखि ! समागता एते त्रैलोक्यसुपुरुषाः सकेशवाश्च लोकपालाः कतमस्मिंस्ते भावाभिनिवेश इति ।)

गालवः—ततस्ततः ।

तीसरा अङ्क

(भरत मुनि के दो शिष्य प्रवेश करते हैं ।)

गालव—मित्र पेलव ! इन्द्र-भवन को जाते समय गुरु जी ने अपना आसन ले चलने के लिये तुम्हें तो अपने साथ ले लिया था और मुझे यहाँ अग्निहोत्र का काम सौंप दिया था । इसीलिये मैं पूछता हूँ कि गुरुजी के नाटक से देवताओं की सभा प्रसन्न तो हुई न ?

पेलव—गालव ! यह तो मैं नहीं जानता कि देवसभा प्रसन्न हुई या नहीं, पर वहाँ जो लक्ष्मी-स्वयंवर नाम का नाटक हुआ था और जिसके गीत स्वयं सरस्वती ने बनाए थे, उसमें जो-जो रस जब-जब दिखाए जाते थे तब-तब उन-उन रसों में वह पूरी की-पूरी सभा मगन हो उठती थी । पर.....

गालव—जान पड़ता है तुम कुछ कहते-कहते रुक गए ।

पेलव—हाँ, यही कि उस नाटक में उर्वशी ने बोलने में कुछ भूल कर दी ।

गालव—क्या भूल कर दी ?

पेलव—उस नाटक में वारुणी बनी हुई मेनकाने, लक्ष्मी बनी हुई उर्वशी से पूछा- सखी ! यहाँ तीनों लोकों से एक से एक सुन्दर पुरुष, लोकपाल और स्वयं विष्णु भगवान् आए हुए हैं, इसमें तुम्हें कौन सबसे अधिक भाता है ?

गालव—तब तब !

पेलवः—तदो ताए पुरुसोत्तमे त्ति भणिदव्ये पुरुरवसि त्ति ताए निग्गदा वाणी। (ततस्तया पुरुषोत्तमे इति भणितव्ये पुरुरवसीति तस्या निर्गता वाणी)

गालवः—भवितव्यतानुविधायीनि इन्द्रियाणि। न खलु तामभिक्रुद्धो गुरुः।

पेलवः—सा क्खु सत्ता उनज्झाएण। महिंदेण उण अणुगहीदा। सा खलु शप्तोपाध्यायेन। महेन्द्रेण पुनरनुगृहीता।

गालवः—कथमिव।

पेलवः—जेणमन उवदेसो तुइ लंघिदो तेण ण दे दिव्वं ठाणं हविस्सदि त्ति उवज्झाअस्स सावो। महिंदेण उण पेक्खणावसाणे लज्जावणदमुही सा एव्वं भणिदा—जस्सिं तुमं बद्धभावासि तस्स मे रणसहाअस्स राएसिणो पिअं एत्थ कराणिज्जं। ता दाव तुमं जहाकामं पुरुरवसं उवचिद्ध जाव सौ तुइ दिट्ठसंताणो भोदि त्ति। (येन ममोपदेशस्त्वया लङ्घितस्तेन न ते दिव्यं स्थानं भविष्यति इति उपाध्यायस्य शापः। महेन्द्रेण पुनः प्रेक्षणावसाने लज्जावनतमुखी सा एवं भणिता—यस्मिंस्त्वं बद्धभावासि तस्य मे रणसहायस्य राजर्षेः प्रियमत्र करणीयम्। तत्तावत्त्वं यथाकामं पुरुरवसमुपतिष्ठस्व यावत्स त्वयि दृष्टसन्तानो भवेदिति।)

गालवः—सदृशमेतत्पुरुषान्तरविदो महेन्द्रस्य।

पेलवः—(सूर्यमवलोक्य) कथापसंगेण अम्हेहिं अवरुद्धा अहिसेअवेला क्खु उवज्झाअस्स। ता एहि। से पासवत्तिणो होम। (कथाप्रसंगेनास्माभिरपराद्धाभिषेकवेला खलु उपाध्यायस्य। तदेहि। अस्य पार्श्ववर्तिनौ भवावः।)

गालवः—तथा। (इति निष्क्रान्तौ)

॥ मिश्र विष्कम्भकः ॥

पेलव—उस समय उसे कहना तो चाहिए था 'पुरुषोत्तम' पर भूल से उसके मुँह से निकल गया, 'पुरुरवा'।

गालव—भाई! जैसी होनी होती है वैसे ही मनुष्य के अंग भी काम करने लगते हैं। क्या गुरु जी इस बात पर बिगड़े नहीं?

पेलव—अरे, गुरु जीने तो उसे शाप ही दे दिया था, पर भगवान् इन्द्र ने उसे जैसे-तैसे बचा लिया।

गालव—कैसे?

पेलव—गुरु जीने तो यह शाप दे दिया था कि तूने जो मेरे सिखाए पाठ के अनुसार काम नहीं किया इस पर तुझे यही दण्ड दिया जाता है कि तू स्वर्ग में नहीं रहने पावेगी। पर ज्योंही नाटक समाप्त हुआ त्योंही लज्जा से सिर नीचा किए खड़ी उर्वशी से इन्द्र ने आकर कहा- देखो! रण—क्षेत्र में सदा मेरी सहायता करने वाले जिस राजर्षि से तुम प्रेम करती हो उनके मन का भी कुछ कर देना चाहिए इसलिये जब तक वे तुम्हारी संतान का मुँह न देखें तब तक तुम मनचाहे समय तक पुरुरवा के साथ जाकर रह सकती हो।

गालव—सबके मनकी बात जानने वाले इन्द्र को यही शोभा देता है।

पेलव—(धूपकी ओर देखकर) बातें करते-करते गुरु जी के स्नान का समय भी निकल गया। आओ चलो, उनके पास चले चलें।

गालव—अच्छा चलो। (दोनों चले जाते हैं।)

॥ मिश्र विष्कम्भकः ॥

(ततः प्रविशति कञ्चुकी)

कञ्चुकी—(विनिःश्वस्य)

सर्वः कल्ये वयसि यतते लघुमर्यान्कुटुम्बी

पश्चात्पुत्रैरपहतभरः कल्पते विश्रमाय ।

अस्माकं तु प्रतिदिनाभियं साधयन्ती प्रतिष्ठां

सेवाकरा-परिणतिमभूत्स्त्रीषु कष्टोऽधिकारः ॥ १ ॥

(परिक्रम्य) आदिष्टोस्मि सनियमया काशिराजपुत्र्या—व्रतसम्पादनार्थं मया मानमुत्सृज्य निपुणि कामुखेन पूर्वं याचितो महाराजः । तदेव त्वं मद्बचनाद्विज्ञापय इति । यावदहमिदानीमवसितसन्ध्याजाप्यं महाराजं पश्यामि । (परिक्रम्यावलोक्य च) रमणीयः खलु दिवसावसानवृत्तान्तो राजवेश्मवः । इह हि-

उत्कीर्णा इव वासयष्टिषु निशानिद्रालसा बर्हिणो

धूपैर्जालिविनिःसृतैर्वलभयः सन्दिग्धपारावताः ।

आचारप्रयतः सपुष्पबलिषु स्थानेषु चार्चिष्मतीः

सन्ध्यामङ्गलदीपिका बिभ्रजते शुद्धान्तवृद्धो जनः ॥ २ ॥

(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) अये! इत एव प्रस्थितो देवः

(कञ्चुकी आता है।)

कञ्चुकी—(लम्बी-लम्बी साँस लेकर) जो लोग बड़े कुटुम्ब वाले होते हैं वे युवावस्था में तो धन बटोरने के फेर में पड़े रहते हैं पर बुढ़ापे में अपना सब भार पुत्रों पर सौंप कर विश्राम करते हैं, किन्तु यहाँ तो ऐसी दशा हो गई है कि रात-दिन नौकरी के चक्कर में पड़े-पड़े बूढ़े हो चले हैं । सचमुच स्त्रियों की सेवा करना बड़ा टेढ़ा काम होता है ॥ १ ॥

(धूमकर) आजकल काशिराज की पुत्री महारानी व्रत कर रही हैं । उन्होंने मुझे आज्ञा दी है कि मैं सब मान छोड़कर निपुणिका से महाराज को कहला चुकी हूँ कि वे आकर मेरा व्रत सफल करें, इसलिये तुम मेरी ओर से जाकर महाराज को बुला लाओ । इस समय महाराज सायंकालीन जप-संध्या करके बैठे होंगे, इसीलिये चलता हूँ वहीं उनके दर्शन जा करता हूँ । (धूमकर और देखकर)—संध्या के समय राज-द्वार भी कैसा सुहावना लग रहा है । यहाँ-

नींद में अलसाए हुए और अपने अङ्गों पर बैठे हुए मोर, ऐसे दिखाई पड़ रहे हैं जैसे पत्थर में खुदे हुए हों । छतों से बाहर निकले हुए मोखों में बैठे हुए कबूतरों और उन मोखों के छेदों से निकलने वाले धुएँ, दोनों में यही नहीं जान पड़ता कि कौन धुआँ है कौन कबूतर । रनिवास के बूढ़े नौकर नहा-धोकर, फूलों से सजे हुए भवनों में, सन्ध्या के पूजन के लिये जलते हुए दीपक ला-लाकर यथास्थान सजाए दे रहे हैं ॥ २ ॥

(नेपथ्य की ओर देखकर।) अरे! महाराज तो इधर ही चले आ रहे हैं ।

परिजनबनिताकरार्पिताभिः परिवृत एष विभाति दीपिकाभिः ।

गिरिरिव गतिमानपक्षलोपात् अनुतटपुष्पितकर्णिकारयष्टिः ॥ 3 ॥

यावदेनमवलोकनमार्गं स्थितः प्रतिपालयामि । (परिक्रम्य स्थितः)

(ततः प्रविशति यथा निर्दिष्टो राजा विदूषकश्च ।)

राजा—(स्वगतम्) आः ।

कार्यान्तरितोत्कण्ठं दिनं मया नीतमनतिकृच्छ्रेण ।

अविनोददीर्घयामा कथं नु रात्रिर्गमयितव्या ॥ 4 ॥

कञ्चुकी—(उपसृत्य) जयतु जयतु देवः । देव! देवी विज्ञापयति—मणिहर्म्यपृष्ठे सुदर्शनश्चन्द्रः । तत्र संनिहितेन देवेन प्रतिपालयितुमिच्छामि यावद्रोहिणीसंयोग इति ।

राजा—आर्य लातव्य! विज्ञाप्यतां देवी यस्ते छंद इति ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः ।)

राजा—वयस्य! किं परमार्थत एव देव्या व्रतनिमित्तोऽयमारम्भः स्यात् ।

विदूषकः—भो! त्वकेमि संजादपच्छादावा तत्तभोदी वदावदेसेण भवदो पणिपादलंघणं पमज्जिदुकाम ति । (भोः! तर्कयामि सज्जातपश्चात्तापा तत्रभवती व्रतापदेशेन भवतः प्रणिपातलङ्घनं प्रमार्ष्टुकामेति ।)

राजा—उपपन्नं भवानाह ।

अवधूतप्रणिपाताः पश्चात्संतप्यमानमनसो हि ।

विविधैरनुतप्यन्ते दयितानुनवैमनस्विभ्यः ॥ 5 ॥

महाराज के चारों ओर हाथों में दीपमाला लिए हुए जो बहुत सी दासियाँ चली आ रही हैं, उनसे महाराज उस पर्वत के समान चमक रहे हैं जो पंख न कटने से उड़ा चला आ रहा हो और जिसके दोनों ढालों पर पीले कनैर के फूले हुए पेड़ खड़े हुए हों ॥ 3 ॥

तब तक मैं आगे उनके दृष्टिपथ पर खड़ा होकर उनके आने की बाट जोहता हूँ । (धूमकर खड़ा हो जाता है ।)

(राजा और विदूषक आते हैं ।)

राजा—(मन ही मन) ओह! दिन भर काम में लगे रहने से दिन तो बीतता नहीं जान पड़ा, पर मन-बहलाव की सामग्री के बिना रात की लम्बी-लम्बी घड़ियाँ कैसे कट पावेंगी ॥ 4 ॥

कञ्चुकी—(आगे बढ़कर) जय हो महाराज! आपकी विजय हो । देव! देवी निवेदन करती हैं कि मणिहर्म्य-भवन से चन्द्रमा भली भाँति दिखलाई पड़ जायेंगे । इसलिये मेरी इच्छा है कि मैं वहीं पर महाराज के साथ ही चन्द्रमा और रोहिणी का मिलन देखूँ ।

राजा—आर्य लातव्य! देवी से कहना कि जो कहेंगी वही करूँगा ।

कञ्चुकी—जैसी देव की आज्ञा । (चला जाता है ।)

राजा—वयस्य! क्या देवी ने इतनी धूम-धाम सचमुच व्रत के लिये ही की है?

विदूषक—मैं तो समझता हूँ कि उस दिन जब आप उनके पैरों पड़े थे और वे ऐंठकर चल दी थीं, उससे उन्हें पछतावा हुआ होगा । इसीलिये उन्होंने यह व्रत ठाना होगा ।

राजा—ठीक कहा तुमने । क्योंकि—स्त्रियाँ जब रूठी रहती हैं तब तो पैरों पड़ने पर भी अपने पति की बात नहीं मानतीं पर पीछे इसी बात पर वे बैठी पछताया करती हैं ॥ 5 ॥

तदादेशय मणिहर्म्य-पृष्ठमार्गम् ।

विदूषकः—इदो इदो भवं । इमिणा गंगातरंगसस्सिरीएण फडिअमणिसोवाणेण अरोहदु भवं पदोसावसररमणिजं मणिहम्मिअपिट्ठं । (इतो इतो भवान् । एतेन गङ्गातरङ्गसश्रीकेण स्फटिकमणिसोपानेनारोहतु भवान्प्रदोषावसररमणीयं मणिहर्म्यपृष्ठम् ।)

राजा—आरोहाग्रतः ।

(सर्वे सोपानारोहणं नाटयन्ति ।)

विदूषकः—(निरूप्य) भो ! पच्चासण्णेण चंदोदएण होदव्वं जह तिमिररेईअवाणं पुव्वदिसामुहं आलोअसुहअं दीसदि । (भो ! प्रत्यासन्नेन चन्द्रोदयेन भवितव्यम् यथा तिमिररिच्यमानं पूर्वदिखामुखमालोकसुभगं दृश्यते ।)

राजा—सम्यग्भावान्मन्यते ।

उदयगूढशशङ्कमरीचिभिस्तमसि दूरतरं प्रतिसारिते ।

अलकसंयमनादिव लोचने हरति मे हरिवाहनदिङ्मुखम् ॥ 6 ॥

विदूषकः—(विलोक्य) ही ही भो एसो क्खु खंडमोदअसस्सिरीओ उदितो राजा दुआदीणं । (ही ही भोः एष खलु खण्डमोदकसश्रीक उदितो राजा द्विजातीनाम् ।)

राजा—(सस्मितम्) सर्वत्रौदरिकस्याभ्यवहार्यमेव विषयः । (प्राञ्जलिः प्रणम्य) भगवन् क्षपानाथ ।

रविमावसते सतां क्रियायै सुधया तर्पयते सुरान्पितृंश्च ।

तमसां निशि मूर्च्छतां निहन्त्रे हरचूडानिहितात्मने नमस्ते ॥ 7 ॥

(इति उपतिष्ठते ।)

तो चलो मुझे मणिहर्म्य-भवन में ले जा पहुँचाओ ।

विदूषक—इधर से आइए आप, इधर से । गंगा की लहरों के समान उजली स्फटिक मणि की सीढ़ियों से चढ़कर, सन्ध्या को सुहावने लगने वाले इस मणिहर्म्य-भवन पर पहुँच जाइए ।

राजा—तुम चढ़ो आगे-आगे ।

(दोनों सीढ़ियों पर चढ़ने का नाट्य करते हैं ।)

विदूषक—(देखकर) जान पड़ता है चन्द्रमा बस निकलने ही वाले हैं । देखो ! अंधेरा मिट जाने से पूर्व दिशा का मुँह कैसा सुहावना लगने लगा है ?

राजा—ठीक कह रहे हो । उदयाचल के पीछे छिपे चन्द्रमा की किरणों से जो अंधकार मिटता जा रहा है वह सचमुच मेरे मनको ऐसा लुभा रहा है मानो जूड़ा बँधा हुआ पूर्व दिशा का मुँह हो ॥ 6 ॥

विदूषक—देखकर हैं हैं हैं हैं ! यह ऊपर उठता हुआ द्विजों का राजा चन्द्रमा ऐसा सुन्दर लग रहा है जैसे खौड़का लड्डू हो ।

राजा—(मुसकराकर) भोजन-भट्टको सब स्थानों पर भोजन की सामग्री ही दिखाई पड़ती है । (हाथ जोड़कर) भगवन् चन्द्रमा ! सज्जनों की धार्मिक क्रियाओं में सूर्य के साथ-साथ स्मरण किए जाने वाले ! अमृत पिलाकर देवता और पितरों को तृप्त करने वाले ! रात के चारों ओर फैले हुए अँधेरे को हटाने वाले ! शिव के जटा-जूटपर रहने वाले ! आपको प्रणाम है ! ॥ 7 ॥

(पूजा करता है ।)

विदूषकः—भो बम्हणसंक्रामिदक्खरेण दे पिदामहेण अब्भणुष्णादोसि । ता आसणद्धिदो होहि जाव अहं वि सुहासीणो होमि । (भोः ब्राह्मणसंक्रामिताक्षरेण ते पितामहेनाभ्यनुज्ञातोऽसि । तदासनस्थितो भव यावदहमपि सुखासीनो भवामि ।)

राजा—(विदूषकवचनं परिगृह्योपविष्टः परिजनं विलोक्य ।) अभिव्यक्तायां चन्द्रिकायां किं दीपिकापौनरुक्त्येन । दद्विश्राम्यन्तु भवत्यः ।

परिजनः—जं देवो आणवेदि । (यद्देव आज्ञापयति ।) (इति निष्क्रान्तः ।)

राजा—(चन्द्रमससमवलोक्य विदूषकं प्रति) वयस्य ! परं मुहूर्तादागमनं देव्याः । तद्विविक्ते कथयिष्यामि स्वामवस्थाम् ।

विदूषकः—णं दीसदि एव्व सा । किंदु तारिसं अणुराअं पेक्खिअ सक्कं क्खु आसाबंधेण अताणं धारेदुं । (ननु दृश्यत एव सा । किन्तु तादृशमनुरागं प्रेक्ष्य शक्यं खल्वाशाबन्धेनात्मानं धारयितुम् ।)

राजा—एवमेतत् । बलवान्पुनर्मे मनसोऽभितापः ।

नद्या इव प्रवाहो विषमशिलासङ्कटस्खलितवेगः ।

विधित्तसमागमसुखो मनसिशयः शत्रुगुणी भवति ॥ ८ ॥

विदूषकः—भो ! जहा परिहीअमाणेहि अंगेहिं अहिअं सोहसि तहा अदूरे पिआसमागमं दे पेक्खामि । (भोः ! यथा परिहीयमाणैरङ्गैरधिकं शोभसे तथाऽदूरे प्रियासमागमं ते प्रेक्षे ।)

राजा—(निमित्तं सूचयन् ।) वयस्य ।

वचोभिराशाजननैर्भवानिव गुरुव्यथम् ।

अयं मां स्पन्दितर्बाहुराश्वासयति दक्षिणः ॥ ९ ॥

विदूषक—महाराज ! आपके दादा चन्द्रमा मुझ ब्राह्मण के मुँह से आपको यह आज्ञा दे रहे हैं कि आप चलकर बैठिए जिससे मैं भी सुख से बैठ सकूँ ।

राजा—(विदूषक के कहने से बैठकर और अपनी सेविकाओं को देखकर ।) जब चारों ओर इतनी चाँदनी छिटीकी हुई है तब ये दीपक क्यों जला रखे हैं । जाइए, आप सब भी विश्राम कीजिए ।

परिजन—जैसी देवकी आज्ञा । (सब सेविकाएँ चली जाती हैं ।)

राजा—(चन्द्रमा को देखकर विदूषक से) वयस्य ! अभी देवी के आने में तो बहुत देर है, इसलिये चलो अकेले में बैठकर तुम्हें अपने मन की व्यथा सुना समझाऊँ ।

विदूषक—समझाओगे क्या, वह तो दिखाई ही दे रही है । पर उर्वशी आपपर अपना जैसा प्रेम जता चुकी है उसके भरोसे तो आपको अपना मन सँभाले रहना चाहिए ।

राजा—यह तो है, पर मेरे मन में तो ऐसा ताप भरा हुआ है कि वह सँभाले नहीं सँभाल पा रहा है । जैसे ऊबड़ खाबड़ चट्टानों के बीच में आ जाने से नदी और अधिक वेग से बहने लगती है, वैसे ही जब अपने प्यारे से मिलने के सुख में बाधाएँ आ कूदती हैं तब प्रेम की जलन भी सौ गुनी बढ़ जाती है ॥ ८ ॥

विदूषक—यह जो आप दिन-दिन दुबले हो होकर निखरते जा रहे हैं, इससे जान पड़ता है कि अब प्यारी के मिलने में देर नहीं है ।

राजा—(अच्छे सगुन होने की सूचना देते हुए) वयस्य ! आशाभरी बातें कह-कहकर मुझे प्रेम के घायल को जैसे तुम ढाढ़स बँधा रहे हो वैसे ही यह मेरी दाहिनी भुजा भी फड़ककर मुझे आशा बँधा रही है ॥ ९ ॥

विदूषकः—ण क्खु अण्णहा बम्हणस्स वअणं । (न खल्वन्यथा ब्राह्मणस्य वचनम् ।)

(राजा सप्रत्याशस्तिष्ठति ।)

(ततः प्रविशति आकाशयानेनाभिसारिकावेषा उर्वशी चित्रलेखा च ।)

उर्वशी—(आत्मानमवलोक्य) हला चित्तलेहे! अवि रोअदि दे अअं मम अप्पाभरणभूसिदो णीलंसुअपरिग्गहो अहिसारिआवेसो । (हला चित्रलेखे! अपि रोचते तेऽयं ममाल्पाभरणभूषितो नीलांशुकपरिग्रहोऽभिसारिकावेपः ।)

चित्रलेखा—सहि! णत्थि मे वाआविहवो पसंसिदुं । इदुं तु चिंतेमि अवि णाम अहं पुरुरवा भवेअं ति । (सखि! नास्ति मे वाग्विभवः प्रशंसितुम् । इदं तु चिन्तयामि अपि नामाहं पुरुरवा भवेयमिति ।)

उर्वशी—सहि! मदणो क्खु तुमं आणवेदि । ता सिग्घं णेवि मं तस्स सुहअस्स वसदिं । (सखि! मदनः खलु त्वामाज्ञापयति । तच्छीघ्रं नय मां तस्य सुभगस्य वसतिम् ।)

चित्रलेखा—(विलोक्य) णं एदं परिवत्तिदं विअ केलाससिखरं पिअदमस्स दे भवणं उवगदे म्ह । (नन्वेतत्परिवर्तितमिव कैलासशिखरं प्रियतमस्य ते भवनमुपगते स्वः ।)

उर्वशी—तेण हि पहावदो जाणीहि दाव कहिं सो मम हिअअचोरो किं वा अणुचिद्धिदि ति । (तेन हि प्रभावाज्जनानीहि तावत्क्व स मम हृदयचौरः किं वानुतिष्ठतीति ।)

चित्रलेखा—(ध्यात्वा विहस्यात्मगतम्) भोदु कीलिस्सं दाव एदाए । (प्रकाशम्) हला दिद्धो मए एसो मणोरहलद्विपिआसमाअमसुहं अणुहवंतो उवहोअक्खमे ओआसे चिद्धिदि ति । (भवतु । क्रीडिष्यामि तावदेतया । हला! दृष्टो मया एष मनोरथलब्धप्रियासमागमसुखमनुभवन्नुपभोगक्षमेऽवकाशे तिष्ठतीति ।)

विदूषक—ब्राह्मण का वचन झूठा थोड़े ही होता है ।

(राजा बड़ी आशा से बैठता है ।)

(इसी बीच विमान में बैठी अभिसारिका के वेश में उर्वशी और चित्रलेखा आती है ।)

उर्वशी—(अपनी ओर देखकर) क्यों सखी चित्रलेखा! यह थोड़े से आभूषण पहने हुए और नीली रेशमी चादर से शरीर ढके हुए जो मैं अभिसारिका बनकर आई हूँ, यह वेश क्या तुझे अच्छा लगता है?

चित्रलेखा—मेरे पास इतना पाँडित्य कहाँ कि प्रशंसा कर सकूँ । मैं तो यही सोचती हूँ कि कहीं मैं ही पुरुरवा बन सकती?

उर्वशी—सखी! मेरा प्रेम तुम्हें आज्ञा दे रहा है कि तुम मुझे शीघ्र ही उस भाग्यवान् के भवन में ले जा पहुँचाओ ।

चित्रलेखा—(देखकर) हम लोग तो तुम्हारे प्रियतम के उस भवन पर जा ही पहुँची हैं जो ऐसा सुन्दर लग रहा है मानो कैलास की चोटी ही यहाँ उठी चली आई हो ।

उर्वशी—तब दैवी शक्ति से ही यह खोजो कि वह मेरे हृदय का चोर है कहाँ और क्या कर रहा है ।

चित्रलेखा—(ध्यान करके हँसकर, आप ही आप) इससे थोड़ी ठिठोली की जाय । (प्रकट) मैंने देख लिया सखी! वे अपनी मनचाही प्यारी से मिलने का सुख लूटते हुए आनन्द के स्थान में बैठे हुए हैं ।

उर्वशी—(विषादं नाटयति । निःश्वस्य) धण्णो सो जणो जो एव्वं भवे । (धन्यः स जनो य एवं भवेत् ।)

चित्रलेखा—मुद्धे! का उण चिंता तुए विणा अण्णापिआसमाअमस्स । (मुग्धे! का पुनश्चिन्ता त्वया विनान्यप्रियासमागमस्य ।)

उर्वशी—(सोच्छ्वासम्) सहि! अदक्खिणं सदेहदि मे हिअअं । (सखि! अदक्षिणं संदिग्धं मे हृदयम् ।)

चित्रलेखा—(विलोक्य) एसो मणिहम्मिअप्पासादपिड्ढगदो वअस्समेत्तसहाओ राएसी । ता एहि उवसप्पाअणं । (एष मणिहर्म्यप्रासादपृष्ठगतो वयस्यमात्रसहायो राजर्षिः । तदेहि उपसर्पाव एनम् ।)

(उभे अवतरतः)

राजा—वयस्य! रजन्या सह विजृम्भते मदनबाधा ।

उर्वशी—अणिब्भिण्णत्थेण इमिणा वअणेण आकंपिदं मे हिअअं । ता अंतरिदा एव्व सुणाम से सेरालावं जाव णो संसअच्छेदो होदि । (अनिर्भिन्नाथेनानेन वचनेनाकम्पितं मे हृदयम् । तदन्तर्हिते शृणुवोऽस्य स्वैरालापं यावदावयोः संशयच्छेदो भवति ।)

चित्रलेखा—जं दे रोअदि । (यत्ते रोचते ।)

विदूषकः—णं इमे अभिअगग्ग्हा सेवीअंदु चंदवादा । (नन्वेतेऽमृतगर्भाः सेव्यन्तां चन्द्रपादाः ।)

उर्वशी—(दुखी होने का नाट्य करती है । लम्बी साँस लेकर) धन्य है वह स्त्री जो ऐसी बड़भागिनी है ।

चित्रलेखा—अरी पगली! तुझे छोड़कर वे और कौन-सी दूसरी प्रेमिका से मिलने की बात सोचेंगे ।

उर्वशी—(लंबी साँस लेकर) सखी! मेरा भोला-भाला हृदय तो यही सदेह कर बैठा था ।

चित्रलेखा—(देखकर) वह देख! वे राजर्षि यहाँ मणिहर्म्य भवन की छतपर अपने मित्र-के साथ आए बैठे हैं । आ, इनके पास बढ़ चला जाय ।

(दोनों उतरती हैं ।)

राजा—वयस्य! ज्यों-ज्यों रात बढ़ती चली जा रही है, त्यों-त्यों मेरी काम-पीड़ा भी बढ़ती चल रही है ।

उर्वशी—इन गोलमोल वचनों को सुनकर तो मेरा जी काँप उठा है । चलो, छिपकर इनकी गुपचुप बातें तो सुनें जिससे जीका सन्देह जाता रहे ।

चित्रलेखा—जैसी तुम्हारी इच्छा ।

विदूषक—लो, अमृत से भरी हुई चन्द्रमा की किरणों में बैठ नहाओ ।

राजा— वयस्य! एवमादिभिरनुपक्रम्योऽयमातङ्क । पश्य-

कुसुमशयनं न प्रत्यग्रं न चन्द्रमरीचयो ।

न च मलयजं सर्वाङ्गीणं न वा मणियष्टयः ।

मनसिजरुजं सा वा दिव्या ममालमपोहितुं...

उर्वशी—(उरसि हस्तं बत्वा ।) का वा अवरा । (का वा अपरा ।)

राजा—.....रहसि लघयेदारब्धा वा तदाश्रयिणी कथा ।। 10 ।।

उर्वशी—हिअअ! मं उज्झिअ इदो संकंतेण तुए दाणिं फलं उवलद्धं । (हृदय! मामुज्झित्वा इतः संक्रान्तेन त्वयेदानीं फलमुपलब्धम् ।)

विदूषकः—आम् ।। हं वि पत्थयंतो जदा मिट्टहरिणीमंसभोअणं ण लहे तदा णं संकित्तअंतो आसासेमि अत्ताणं । (आम् । अहमपि प्रार्थयमानो यदा मिष्टहरिणीमांसभोजनं न लभे तर्दतत्सङ्कीर्तयन्नाश्वासयाम्यात्मानम् ।)

राजा—सम्पद्यते पुनरिदं भवतः ।

विदूषकः—भवं वि तं अइरेण पाविस्सदि । (भवानपि तामचिरेण प्राप्स्यसि ।)

राजा—सखे! एवं मन्ये.....

चित्रलेखा—सुणु असंदुडे! सुणु (शृणु, असन्तुष्टे! शृणु ।)

विदूषकः—कहं विअ । (कथमिव)

राजा—.....

अयं तस्या रथक्षोभादसेनांसो निपीडितः ।

एकः कृती शरीरेऽस्मिन् शेषमङ्गं भुवो भरः ।। 11 ।।

राजा—वयस्य! यह पीड़ा इन सब उपायों से जाने वाली नहीं है । देखो! मेरे इस प्रेम के रोग को न तो फूलों की शय्या ही दूर कर पा सकती है, न चन्द्रमा की किरणें ही हटा पा सकती हैं, न सारे शरीर में लेप किया हुआ चन्दन ही मिटा पा सकता है तो बस वही एक स्वर्ग वाली..... ।

उर्वशी—थ्थ(हृदयपर हाथ रखकर) यह दूसरी कौन होगी?

राजा—.....या फिर एकान्त में कही हुई उसके प्रेम की बातें ।। 10 ।।

उर्वशी—अरे हृदय! तुम सचमुच बड़े भाग्यशाली हो कि मुझे छोड़कर उनके पास जा पहुँचे हो ।

विदूषक—हाँ! मुझे भी जब कभी माँगने पर हरिनी के मीठे माँस का भोजन नहीं मिलता तब मैं भी उसी का नाम लेकर ही अपना पेट भर लेता हूँ ।

राजा—पर तुम्हें यह सब मिल तो जाता है ।

विदूषक—आप भी बस उसे मिला ही समझिए ।

राजा—वयस्य! मैं सोचता हूँ कि.....

चित्रलेखा—सुन री पगली!

विदूषक—हाँ, क्या सोचते हो?

राजा—यही की मेरे शरीर के सब अङ्गों में यह कन्धा ही धन्य है कि वह रथ के हिलने डुलने के समय मेरे साथ बैठी हुई उर्वशी के कन्धे को छूता चलता था । शरीर के दूसरे अङ्गों को तो बस धरती

चित्रलेखा—सहि! किं दाणिं विलंबीअदि। (सखि! किमिदानीं विलम्ब्यते।)

उर्वशी—(सहसोपसृत्य) हला! अगगदो वि मम ड्डिदाए उदासीणो विअ महाराओ। (हला! अग्रतोऽपि मम स्थिताया उदासीन इव महाराजः।)

चित्रलेखा—(सस्मितम्) अह अदितुवरिदे! अणक्खित्तिरक्खरिणी आसि। (अयि अतित्वरिते! अनाक्षिप्ततिरस्करिणिकासि।)

(नेपथ्ये) इदो इदो भट्टिणी (इतो इतो भट्टिनी)

(सर्वे कर्ण ददति। उर्वशी सह सख्या विषण्णा।)

विदूषकः—(सविस्मयम्) अइ भो! उवड्डिदा देवी। ता वाचंजमो होहि। (अयि भोः! उपस्थिता देवी। तद्वाचंयमो भव।)

राजा—भवानपि संवृताकारमास्ताम्।

उर्वशी—सहि! किं एत्थ करणिज्जं। (सखि! किमत्र करणीयम्।)

चित्रलेखा—अलं आवेएण। अंतरिदा दाणिं वयं। विहिदणिअमवंसा राएसिमहिही दीसदि। ता ण एसो इह चिरं चिट्ठिसदि। (अलमावेगेन। अन्तर्हिते इदानीमावाम्। विहितनियमवेषा राजर्षिमहिषी दृश्यते। तन्नैषेह चिरं स्थास्यति।)

(ततः प्रविशति औपहारिकहस्तपरिजना देवी चेटी च)

देवी—(परिक्रम्य चन्द्रमसमवलोक्य च) हंजे णिउणिए! एसो रोहिणीसंजोएण अहिअं सोहदि भअवं मिअलंछणों। (हज्जे निपुणिके! एष रोहिणीसंयोगेनाधिकं भगवान् शोभते मृगलाञ्छनः।)

का बोझ ही समझो ॥ ११ ॥

चित्रलेखा—क्यों सखी! अब क्यों देर करती हो?

उर्वशी—(सहसा आगे बढ़कर) सखी, मैं महाराज के सामने आकर खड़ी भी हो गई हूँ, फिर भी वे मुझसे बोल क्यों नहीं रहे हैं?

चित्रलेखा—(मुसकराकर) अरी हड़बड़ाने वाली! तैने अभी अपनी माया की ओढ़नी तो उतारी ही नहीं।

(नेपथ्य में) इधर से आइए स्वामिनी! इधर से।

(सब सुनते हैं।) उर्वशी और उसकी सखी उदास हो जाती है।

विदूषक—(आश्चर्य से) अरे वयस्य! लो, देवी आ पहुँची हैं। अब चुप हो बैठो।

राजा—तुम भी सँभलकर बैठ जाओ।

उर्वशी—अब बताओ सखी! क्या किया जाय।

चित्रलेखा—घबराओ मत। हम दोनों तो छिपी ही हुई हैं। महारानी के वेश से जान पड़ता है कि वे कोई व्रत कर रही हैं, इसलिये वे यहाँ बहुत देर नहीं ठहरेंगी।

(हाथ में पूजा की सामग्री लिए हुए दासियाँ और उनके साथ महारानी आती हैं।)

देवी—(चन्द्रमा को देखकर) सखी निपुणिका! देख रोहिणी के साथ चन्द्रमा कैसे अच्छे लग रहे हैं।

चेटी—णं भट्टिणीसहिदो भट्टा विसेसरमणिज्जो। (ननु भट्टिनीसहितो भर्ता विशेषरमणीयः।) (इति परिक्रामतः।)

विदूषकः—(दृष्ट्वा) भो! ण जानामि सोत्थिवाअणं मे देइ त्ति आदु वदव्ववदेसेण मुक्करोसा भवदो पणिपादलंघणं पमज्जिदुकाम त्ति। अज्ज मे अक्खीणं सुहदंसणा देवी। (भोः! न जानामि स्वस्तिवायनं मे ददातीति अथवा व्रतव्यपदेशेन मुक्तरोगा भवतः प्रणिपातलङ्घनं प्रमार्ष्टुकामेति। अद्य मेऽक्ष्णोः शुभदर्शना देवी।)

राजा—(सस्मितम्) उभयमपि घटते! तथापि भवता यत्पश्चादमिहितं तन्मां प्रतिभाति यदत्रभवती!

सितांशुका मङ्गलमात्रभूषणा पवित्रदूर्वाङ्कुरलाञ्छितालका।

व्रतापदेशोज्झितगर्ववृत्तिना मयि प्रसन्ना वपुषैव लक्ष्यते॥ 12॥

देवो—(उपसृत्य) जेदु जेदु अज्जउत्तो। (जयतु जयतु आर्यपुत्रः।)

परिजनः—जेदु जेदु भट्टारओ। (जयतु जयतु भट्टारकः।)

विदूषकः—सत्थि भोदीए। (स्वस्ति भवत्यै।)

राजा—स्वागतं देव्यै। (तां हस्तेन गृहीत्वोपवेशयति।)

उर्वशी—हला! ठाणे क्खु इअं देवीसद्वेण उवअरीअदि। ण किं वि परिहीअदि सचीए ओजस्सिदाए। (हला स्थाने खलु इयं देवीशब्देनोपचर्यते। न किमपि परिहीयते शच्या ओजस्वितया।)

चित्रलेखा—साहु असूआपरम्महं मंतिदं तुए। (साधु असूयापराङ्मुखं मन्त्रितं त्वया।)

देवी—अज्जउत्तं पुरोकरिअ को वि वदविसेसो मए संपादणीओ। ता मुहुत्तं उवरोधो सहीअदु। (आर्यपुत्रं पुरस्कृत्य कोऽपि व्रतविशेषो मया संपादनीयः। तन्मुहूर्तमुपरोधः सन्नताम्।)

चेटी-ठीक वैसे ही जैसे स्वामिनी के साथ महाराज बड़े सुन्दर दिखाई देते हैं। (धूमती है।)

विदूषक—(देखकर) वयस्य! यह समझ में नहीं आ रहा है कि ये मुझे पूजा का बायना देने आ रही हैं या व्रत के बहाने ये अपना मान छोड़कर उस दिनका दोष धोने चली आ रही हैं जब ये आपके मनाने पर भी रूठकर चल दी थीं। कुछ भी हो आज तो देवी मेरी आँखों को बड़ी सुन्दर जैच रही हैं।

राजा—(हँसकर) दोनों ही बातें हो सकती हैं, पर तुमने अन्त में जो बात कही, वही अधिक ठीक जान पड़ती है, क्योंकि उजला रेशमी वस्त्र पहने शरीर पर केवल सुहाग के गहने डाले और पवित्र दूबके अँकुवों से अपनी बाँहें सजाए आती हुई देवी के रंग-ढंग से यही जैचता है कि ये व्रतके बहाने मान छोड़कर मुझपर प्रसन्न हो गई हैं॥ 12॥

देवी—(आगे बढ़कर) जय हो आर्यपुत्र की, जय हो।

दासी—जय हो भट्टारक की, जय हो।

विदूषक—आपका कल्याण हो।

राजा—देवी का स्वागत है। (देवीका हाथ पकड़कर उन्हें पास बैठाता है।)

उर्वशी—सखी! इस समय तो देवी शब्द इनके लिये बड़ा सटीक बैठ रहा है क्योंकि इनका तेज इन्द्राणी से किसी भी प्रकार कम नहीं है।

चित्रलेखा—तुमने डाह छोड़कर यह बड़ी सच्ची बात कही है।

देवी—मैं आर्यपुत्र को साथ लेकर एक विशेष व्रत करना चाहती हूँ इसलिये प्रार्थना है कि मेरे लिये कुछ देर कष्ट सहन करने की कृपा करें।

राजा—मा मैवम् । अनुग्रहः खलु अयं नोपरोधः ।

विदूषकः—ईरिसो सोत्थिवाअणवंतो उवरोहो बहुसो होदु । (इदृशः स्वस्तिवायनवानुपरोधो बहुशो भवतु ।)

राजा—किं नामधेयमेतद्देव्या व्रतम् ।

(देवी निपुणिकामुखमवेक्षते ।)

निपुणिका—भट्टा पिआणुप्पसादणं णाम । (भर्तः प्रियानुप्रसादनं नाम ।)

राजा—(देवीं विलोक्य) यधेवम् ।

अनेन कल्याणि मृणालकोमलं व्रतेन गात्रं ग्लपयस्यकारणम् ।

प्रसादमाकाङ्क्षति यस्तवोत्सुकः स किं त्वयादासजनः प्रसाद्यते ॥ 13 ॥

उर्वशी—महंतो खलु से इमस्सि बहुमाणो । (महान्खलु अस्य एतस्यां बहुमानः ।)

चित्रलेखा—अइ मुद्धे अण्णसंकंदप्पेमाणो णाअरिआ भारिआए अहिअं दक्खिणा होन्ति । (अयि गुधे! अन्य संक्रांतप्रेमाणो नागरिका भर्यायामधिकं दक्षिणा भवन्ति ।)

देवी—(सस्मितम्) णं इमस्स वदपरिगहस्स अअं पहावो जं एत्तिअं मंताविदो अज्जउत्तो । (नन्वेतस्य व्रतपरिग्रहस्यायं प्रभावो यदेतावन्मन्त्रित आर्यपुत्रः ।)

विदूषकः—विरमदु भवं न जुतं सुहासिदं पच्चाचरिदुं । (विरमतु भवान् । न युक्तं सुभाषितं प्रत्याचरितुम् ।)

देवी—दारिआओ! आणेध ओवहारिअं जाव मणिहम्मिअपिड्ढगदे चंदपादे अच्चेमि । (दारिकाः! आनयतौपहारिकं यावन्मणिहर्म्यपृष्ठगतांश्चन्द्रपदादानर्चामि ।)

राजा—नहीं, नहीं ऐसा न कहो । इसमें कष्ट किस बात का? यह तो आपकी कृपा है ।

विदूषक—जिस कष्ट में पूजा का बायना मिलता चले, ऐसे कष्ट सदा मिलते रहा करें ।

राजा—आप कौन-सा व्रत कर रही हैं देवी?

(देवी निपुणिकाका मुँह देखती हैं ।)

निपुणिका—महाराज! इसे प्रियको प्रसन्न करने वाला व्रत कहते हैं ।

राजा—(देवी को देखकर) कल्याणी! यदि इतनी-सी ही बात हो तब तो अपने कमल के समान कोमल शरीर को तुम व्यर्थ ही व्रत करके सुखाए डाल रही हो क्योंकि आपका जो दास स्वयं आपको प्रसन्न देखने के लिये अधीर हो रहा हो उसे भी क्या कहीं प्रसन्न करने की आवश्यकता हुआ करती है ॥ 13 ॥

उर्वशी—लगता है इन देवी को महाराज बहुत मानते हैं ।

चित्रलेखा—अरी पगली! जो चतुर नागरिक किसी दूसरी स्त्री से प्रेम करने लगते हैं वे अपनी पहली पत्नी का और भी अधिक आदर करने लगा करते हैं ।

देवी—(मुसकराकर) सचमुच यह व्रत का ही प्रभाव है कि आर्य पुत्र ने इतना तो कहा । विदूषक—अच्छा रहने दीजिए अपनी बातें । व्रत-पूजा की बातों में मीन-मेख निकालना ठीक नहीं होता ।

देवी—दासियों! पूजा की सामग्री तो ले आओ जिससे मैं मणिहर्म्य-भवन पर बिखरी हुई चन्द्रमा की किरणों की पूजा तो कर लूँ ।

परिजनः—जं भट्टिणी आगवेदी। एसो गंधकुसुमादि उवहारो। (यद्भट्टिनी आज्ञापयति। एष गन्धकुसुमाद्युपहारः।)

देवी—उवणेध। (नाट्येन गंधपुष्पादिभिश्चन्द्रपादानभ्यर्च्य।) हंजे णिउणिए! इमे ओहारिअमोदए अज्जमाणवअं लंभावेहि। (उपनयत। हज्जे निपुणिके! एतानौपहारिकमोदकानपर्यमाणवकं लम्भय।)

निपुणिका—जं भट्टिणी आणवेदी। अज्ज माणवअ! एवं दाव दे। (यद्भट्टिन्याज्ञापयति। माणवक! इदं तावत्ते।)

विदूषकः—(मोदकशरावं गृहीत्वा) सोत्थि भोदीए। बहुफलो दे एसो वदो भोदु। (स्वस्ति भवत्यै। बहुफलं तवैतद्भ्रतं भवतु।)

देवी—अज्जउत। इदो दाव। (आर्यपुत्र! इतस्तावत्।)

राजा—अयमस्मि।

देवी—(राज्ञा-पूजामभिनीय प्राञ्जलिः प्रणम्य) एसा अहं देवदामिहुणं रोहिणीमिअलंछणं सक्खीकरिअ अज्जउत्तं अणुप्पसादेमि--अज्जप्पहुदि ज इत्थिअं अज्जउत्तो पत्थेदि जा अ अज्जउत्तसस समाअमप्पणयिणी ताए सह मए पीदिबंघेण वत्तिदच्चं ति। (एषाहं देवतामिधुनं रोहिणौमृगलाञ्छनं साक्षीकृत्यार्यपुत्रमनुप्रसादयामि--अद्यप्रभृति यां स्त्रियमार्यपुत्रः प्रार्थयते या चार्यपुत्रस्य समागमप्रणयिनी तया सह मया प्रीतिवन्धेन वर्तितव्यम् इति।)

उर्वशी—अम्महे! ण आणे किं परं से वअणं ति। मम उण विस्सासविसदं हिअअं संवुत्तं। (अहो! न जाने किमपरमस्या वचनमिति। ममपुनर्विश्वासविशदं हृदयं संवृत्तम्।)

चित्रलेखा—सहि! महानुहावाए पदिव्वदाए अब्भणुणादो अणंतराओ दे पिअसमाअमो हविस्सदि। (सखि! महानुभावया पतिव्रतयाभ्यनुज्ञातः अनन्तरायस्ते प्रियसमागमो भविष्यति।)

दासियाँ—जैसी भट्टिनी की आज्ञा। लीजिए, यह है चन्दन-फूल आदि पूजा की सामग्री।

देवी—लाओ। (सामग्री लेकर गन्ध-फूल आदि से चन्द्रमा की किरणों की पूजा करने का नाट्य करती है।) सखी निपुणिका! ये पूजा के लड्डू आर्य माणवक को दे डालो।

निपुणिका—जैसी भट्टिनी की आज्ञा! लीजिए आर्य माणवक! ये आपके लिये हैं।

विदूषक—(लड्डू का पात्र लेते हुए) आपका कल्याण हो। आपका यह व्रत बहुत फले-फूले।

देवी—आर्य पुत्र! इधर तो आइए।

राजा—लीजिए, आ गया।

देवी—(राजा की पूजा का नाट्य करके और हाथ जोड़कर) आज मैं रोहिणी और चन्द्रमा के दैवी जोड़े को साक्षी बनाकर आर्य पुत्र को प्रसन्न कर रही हूँ। आज से जिस किसी स्त्री को भी आर्य पुत्र चाहेंगे और जो भी स्त्री आर्य पुत्र की पत्नी बनना चाहेगी उसके साथ मैं बड़े प्रेम से रहा करूँगी।

उर्वशी—अरी! न जाने ये किस दूसरी स्त्री के लिये कह रही हैं। पर कम से कम इससे मेरे हृदय को भरोसा तो मिला।

चित्रलेखा—सखी! इस उदार हृदय वाली पतिव्रता की बातों से एक बात तो पक्की हो गई कि अब तुम्हें अपने प्यारे से मिलने में कोई बाधा नहीं पड़ेगी।

विदूषकः—(अपवार्य) भिण्णहत्थे मच्छे पलायिदे णिविण्णो धीवरो भणादि-गच्छ, धम्मो मे हयिस्सदि त्ति । (प्रकाशम्) भोदि! किं तारिस्सो दे पिओ तत्तभवं । (भिन्नहस्ते मत्स्ये पलायिते निर्विण्णो धीवरो भणति—गच्छ, धर्मो मे भविष्यतीति । भवति! किं तादृसस्ते प्रियस्तत्रभवान् ।)

देवी—मूढ! अहं वखु अत्तणो सुहावसाणेण अज्जउत्तं णिव्वुदसरीरंकातुं इच्छामि । एत्तिएण चिंतेहि दाव पिओ ण वत्ति । (मूढ! अहं खलु आत्मनः सुखावसानेनार्यपुत्रं निर्वृतशरीरं कर्तुमिच्छामि । एतावता चिंतय तावत्प्रियो न वेति ।)

राजा— दातुं वा प्रभवसि मामन्यस्मै कर्तुमेव वा दासम् ।

नाहं पुनस्तया त्वयि यथा हि मां शंकसे भीरु ।। 14 ।।

देवी—होहि वा मा वा । जघाणिद्विद्वं संपादिदं मए पिआणुप्पसादणं णाम वदं । दारिआओ एध गच्छह्म । (भव वा मा वा । यथानिर्दिष्टं संपादितं मया प्रियानुप्रसादनं नाम व्रतन् । दारिकाः एत गच्छामः ।)

(इति प्रस्थिता)

राजा—प्रिये! न खलु प्रसादितोऽस्मि यदि संप्रति विहाय गम्यते ।

देवी अज्जउत्त! अलंघिदुपुव्वो मए णिअमो । (आर्यपुत्र! अलंघितपूर्वो मया नियम ।)

(इति सपरिवारा निष्क्रान्ता)

उर्वशी—रहि! पिअकलत्तो राएसी । ण उण हिअअं णिवत्तेदुं सक्केमि । (सखि! प्रियकलत्रो राजर्षिः । ग पुनर्हृदयं निवर्तयितुं शक्नोमि ।)

चित्रलेखा—हिरण तुए णिरासाए णिवत्तीअदि । (किं पुनस्त्वया निराशया निवर्त्यते ।)

विदूषक—(अलग, राजा से) जब मझुए के हाथ से निकलकर मछली पानी में जा कूदती है तब वह भी निराश होकर यही कहता है- 'जा! मुझे पुण्य ही होगा।' (प्रकट) देवी! क्या महाराज आपको इतने प्यारे हैं?

देवी—अरे मूर्ख! मैं अपने सुखका बलिदान करके भी आर्यपुत्र को सुखी देखना चाहती हूँ। इसी से समझ ले कि वे मुझे प्यारे हैं या नहीं।

राजा—देवी! चाहो तो तुम मुझे किसी दूसरे को दे डालो या चाहो अपना ही दास बनाकर रख छोड़ो, पर तुम मुझे अपने से जैसा समझे बैठी हो वैसी बात है नहीं ।। 14 ।।

देवी—दूर हो या न हों, पर मैंने प्रिय को प्रसन्न करने वाला जो व्रत ठाना था वह पूरा कर ही लिया । आओ दासियो! चलो चला जाय । (चलने को प्रस्तुत होती हैं ।)

राजा—यदि मुझे छोड़कर चली जाओगी तो समझ लो कि मैं प्रसन्न नहीं हुआ ।

(दासियों के साथ चली जाती है ।)

उर्वशी—सखी! राजा अपनी पत्नी को इतना प्यार करते हैं तिसपर भी मैं उनपर से अपना मन हटा नहीं पा रही हूँ।

चित्रलेखा—तो क्या तुम निराश होकर लौट जाना चाहती हो?

राजा—(आसनमुपेत्य) वयस्य! न खलु दूरं गता देवी ।

विदूषकः—भण विस्सद्धं जं सि वत्तुकामो । असज्जो त्ति वेज्जेण आदुरो विअ सेरं मुत्तो भवं तत्तहोदीए । (भण विश्रब्धं यदसि वत्तुकामः । असाध्य इति वैधेनातुर इव स्वैरं मुक्तो भवांस्तत्रभवत्या ।)

राजा—अपि नामोर्वशी..... ।

उर्वशी—.....अज्ज किदत्या भवे । (अद्य कुतार्था भवेत् ।)

राजा—

गूढा नूपूरशन्दमात्रमपि मे कान्तं श्रुतौ पातयेत्

पश्चादेत्य शनैः कराम्बुजवृते कुर्वीत वा लोचने ।

हर्म्येऽस्मिन्नवतीर्य साध्वसवशान्मन्दायमाना बलात्

आनयेत पदात्पदं चतुरया सख्या ममोपान्तिकम् ॥ 15 ॥

चित्रलेखा—सहि उव्वसि! इमं दाव से मणोरहं संपादेहि । (सखि उर्वशी! इमं तावदस्य मनोरथं सम्पादय ।)

उर्वशी—(ससाध्वसम्) भोदु । कीजिस्सं दाव । (भवतु, क्रीडिष्यामि तादत् ।) (इति तिरस्करणीमपनीय पृष्ठतो गत्वा राज्ञो नयने संतुणाति ।)

(चित्रलेखा तिरस्करिणीमपनीय विदूषकं संज्ञापयति ।)

विदूषकः—भो वअस्स! का उण एसा । (भो वयस्य! का पुनः एषा ।)

राजा—(स्पर्श रूपयित्वा) सखे! नारायणोरुसंभवा सेयं वरोरुः ।

राजा—(अपने आसन पर बैठकर) वयस्य! अभी देवी दूर तो नहीं पहुँची होंगी ।

विदूषक—जो कहना हो जी खोलकर कह डालो । जैसे रोगी को असाध्य समझकर वैद्य उसे छोड़ देता है वैसे ही आपको भी देवी ने यह समझकर छोड़ दिया कि अब आप सुधर नहीं सकते ।

राजा—क्या अच्छा हो यदि उर्वशी..... ।

उर्वशी—.....आज कृतार्थ हो जाय?

राजा—क्या अच्छा हो यदि उर्वशी इस समय छिपे-छिपे आकर अपने बिछुए की मीठी छनन-छनन ही सुना जाय या पीछे से आकर अपने कमल के समान कोमल हथेलियों से मेरी आँखें बन्द कर ले या इस भवन पर उतरकर वह डरती हुई-सी धीरे-धीरे आगे बढ़े और उसकी चतुर दासी उसे खींचकर मेरे पास ला पहुँचा दे ॥ 15 ॥

चित्रलेखा—आओ सखी उर्वशी! अब इनके मनकी हुलास पूरी कर दो ।

उर्वशी—(अधीरता से) अच्छा! पहले मैं इनसे कुछ ठिठोली करती हूँ ।

(मायाकी ओढ़नी उतारकर पीछे से पहुँचकर राजा की आँखें ढक लेती है ।)

विदूषक—क्यों वयस्य! ये कौन हैं ।

राजा—(स्पर्श से पहचानता हुआ) मित्र! यह वही सुन्दर जाँघों वाली उर्वशी है जो नारायण की जाँघ से उत्पन्न हुई है ।

विदूषकः—कहं भवं अवगच्छदि । (कथं भवानवगच्छति ।)

राजा—किमत्र ज्ञेयम् ।

अङ्गमनङ्गक्लिष्टं सुखयेदन्या न मे करस्पशात् ।

नोष्वसिति तपनकिरणैश्चन्द्रस्यैवांशुभिः कुमुदम् ॥ 16 ॥

उर्वशी—(हस्तो अपनीय उत्तिष्ठति । किञ्चिदपसृत्य) जेदु जेदु महाराओ (जयतु जयतु महाराजः ।)

राजा—सुन्दरि! स्वागतम् । (इत्येकासन उपवेशयति ।)

चित्रलेखा—अति सुहं वअस्सस्स । (अपि सुखं वस्यस्य)

राजा—नन्वेतदुपपन्नम् ।

उर्वशी—हला! देवीए दिण्णो महाराओ । अदो से पणअवदी विव सरीरसंपक्कं गदम्हि । मा क्खु मं पुरोभाइणं समत्थेहि । (हला देव्या दत्तो महाराजः । अतोऽस्य प्रणय—वतीत शरीरसम्पर्कं गतास्मि । मा खलु मां पुरोभागिनीं समर्थयस्व!)

विदूषकः—कहं इह ज्जेव दुम्हाणं अत्थमिदो सुज्जो । (कथं इहैव युवयोरस्तमितः सूर्यः ।)

राजा—(उर्वशीमवलोकयन्)

देव्या दत्त इति यदि व्यापारं व्रजसि मे शरीरेऽस्मिन् ।

प्रथमं कस्यानुमते चोरितमयि मे त्वया हृदयम् ॥ 17 ॥

चित्रलेखा—वअस्स! णिरुत्तरा एसा । संपदं मह विण्णवणा सुणीअदु । (वयस्य! निरुत्तरा एषा । साम्प्रतं मम विज्ञापना श्रूयताम् ।)

राजा—अवहितोऽस्मि ।

विदूषक—आपने पहचान कैसे लिया?

राजा—इसमें पहचानने की क्या बात है । दूसरी कोई ऐसी स्त्री है ही नहीं जो मेरे काम-पीड़ित शरीर को अपने हाथ से छूकर सुखी कर दे । चन्द्रमा की किरणों से खिल उठने वाला कुमुद सूर्य की किरणों से नहीं खिला करता ॥ 16 ॥

उर्वशी—(हाथ हटाकर खड़ी हो जाती है । कुछ हटकर) जय हो, महाराज की जय हो ।

राजा—स्वागत करता हूँ सुन्दरी! आओ (अपने ही आसन पर बैठा लेता है ।)

चित्रलेखा—कहिए, आप प्रसन्न तो हैं ।

राजा—प्रसन्नता तो अभी-अभी हाथ लगी है ।

उर्वशी—सखी! देवी ने महाराज को मेरे हाथ दान दे डाला है इसलिए मैं इनकी विवाहिता स्त्री के समान ही इनसे सटकर बैठी हूँ । तुम मुझे कुलटा न समझ बैठना ।

विदूषक—क्या आप लोगों की साँझ यहीं बीतेगी ।

राजा—(उर्वशी की ओर देखकर) आज तो यह कहकर मुझसे सम्बन्ध जोड़े ले रही हैं कि देवी ने मुझे आपके हाथ सौंप दिया है, पर यह तो बताइए कि आप पहले ही जो मेरा हृदय चुराए बैठी थीं वह किससे पूछकर चुराया था ॥ 17 ॥

चित्रलेखा—वयस्य! इस बात का इनके पास कोई उत्तर नहीं है । अब आप मेरी बात सुनिए ।

राजा—कहिए मैं सुन रहा हूँ ।

चित्रलेखा—वसन्ताण्तरं उण्हसमए भअवं सुज्जो मए उवचरिदव्वो। ता वहा इअं मे पिससही सग्गस्स ण उक्कठेदि तहा अवस्सेण कादव्वं। (वसन्तान्तरमुष्णसषये भगवान्सूर्यो मयोपचरितव्यः तद्यथेयं मे प्रियसखी स्वर्गाय नोत्कण्ठते तथा वयस्येन कर्तव्यम्।)

विदूषकः—किं वा सम्ये सुमरिदव्वं। ण वा तत्थ अण्हीअदि ण वा पीअदि। केवलं अणिमिसेहिं णअणेहिं मीणा विडंबीअति। (किं वा स्वर्गे स्मर्तव्यम्। न वा तत्राश्नीयते न वा पीयते। केवलमनिमिषैर्यनैर्मना विडम्ब्यन्ते।)

राजा—भद्रे!

अनिर्देश्यसुखः स्वर्गः कस्तं विस्मारयिष्यति।

अनन्यनारीसामान्यो दासस्त्वस्याः पुरुरवाः॥ 18॥

चित्रलेखा—अणुगहीदमिह। हला उव्वसि! अकादरा भविअ विसज्जेहि मं। (अनुगृहीतास्मि। हला उर्वशी! अकातरा भूत्वा विसर्जय माम्।)

उर्वशी—(चित्रलेखां परिष्वज्य सकरुणम्) सहि, मा क्खु मं विसुमरेहि। (सखि, मा खलु मां विस्मर।)

चित्रलेखा—(ससिमतम्) वअस्सेण संगदा तुमं एव्व एदं मए जाचिदव्वा। (वयस्येन सङ्गता त्वैवमेतन्मया याचितव्या।) (इति राजानं प्रणम्य निष्क्रान्ता।)

विदूषकः—दिट्ठिआ मणोरहसंपदीए वड्ढदि भवं। (दिष्ट्या मनोरथसम्पत्त्या वर्धते भवान्।)

राजा—इयं तावद्वृद्धिर्मम। पश्य-

सामन्तमौलिमणिरञ्जितपादपीठं एकातपत्रमवनेन तथा प्रभुत्वम्।

अस्याः सखे चरणयोरहमद्य कान्तं आज्ञाकरत्वमधिगम्य यथा कृतार्थः॥ 19॥

चित्रलेखा वसन्त बीतने पर गर्मी में मुझे सूर्य की सेवा करनी है। इसलिये आप इन्हें ऐसा बाँध रखिए कि ये प्यारी सखी स्वर्ग जाने के लिए न घबरा उठें।

विदूषक—स्वर्ग में धरा ही क्या है जिसे ये स्मरण करके घबरायेंगी। न वहाँ कुछ खाने को है न पीने को। वहाँ के लोग तो बस दिन-रात मछली के समान सदा आँख फाड़े बैठे रहते हैं।

राजा—भद्रे! स्वर्ग में ऐसे-ऐसे सुख भरे पड़े हैं कि उनका वर्णन नहीं हो सकता। इसलिये उन्हें भला कौन भुला सकता है, पर मैं इतना ही कह सकता हूँ कि मैं पुरुरवा, सब स्त्रियों से मन हटाकर केवल आपकी सखी की ही सेवा करता रहूँगा॥ 18॥

चित्रलेखा—यह तो आपकी कृपा है। सखी उर्वशी! अब मुझे जी खोल कर बिदा दे दो।

उर्वशी—(चित्रलेखा से गले मिलकर करुणा के साथ।) सखी! मुझे भूल न जाना।

चित्रलेखा—(मुसकराकर) तुम तो अब मित्र के पास आ पहुँची हो इसलिये यह बात तो मुझे कहनी चाहिए थी। (राजा को प्रणाम करके चली जाती है।)

विदूषक—मनोरथ पूरे होने की मैं आपको बधाई देता हूँ।

राजा—यह तो मेरी सबसे बड़ी जीत है। देखो- इनकी आज्ञा पालन करने में मैं अपने को जितना धन्य समझता हूँ उतना मैं सारी पृथ्वी का स्वामी होने तथा अपने पैर के पीढ़े के सीमान्त के राजाओं के मुकुट के मणियों से रँगाने को भी अच्छा नहीं समझता॥ 19॥

उर्वशी—णत्थि मे वाआविहंबो अदो पिअदरं मंतिदुं। (नास्ति मे वाग्विभवोऽतः प्रियतरं मन्त्रयितुम्।)

राजा—(उर्वशीं हस्तेनावलम्ब्य) अहो, विरुद्धसंवर्धन ईप्सितलाभो नाम। यतः-

पादास्त एव शशिनः सुखयन्ति गात्रं बाणास्त एव मदनस्य मनोनुकूलाः।

संरम्भरूक्षमिव सुन्दरि! यद्यदातीत् त्वत्सङ्गमेन ममततदिवानुनीतम्॥ 20॥

उर्वशी—अवरद्धमिह चिरकारिआ अज्जउत्तस्स। (अपराद्धास्मि चिरकारिकार्यपुत्रस्य।)

राजा-सुन्दरि! मा मैवम्।

यदेवोपनतं दुःखात्सुखं तद्रसवत्तरम्।

निर्वाणाय तरुच्छाया तप्तस्य हि विशेषतः॥ 21॥

विदूषकः—भो! सेविदा पदोसरमणीआ चंदवादा। समओ क्खु दे वासघरपवेसस्स। (भोः। सेविताः प्रदोषरमणीयाश्चन्द्रपादाः। समयः खलु ते वासगृहप्रवेशस्य।)

राजा—तेन हि सख्यास्ते मार्गमादेशय।

विदूषकः—इदो भवदी। (इत इतो भवती।)

(इति सर्वे परिक्रामन्ति।)

राजा—सुन्दरि! इयमिदानीं मेऽभ्यर्थना।

उर्वशी—कीरिसी सा (कीदृशी सा)

उर्वशी—इससे बढ़कर प्यारी बात तो मुझे सूझ ही नहीं पा रही है।

राजा—(उर्वशी को हाथ से पकड़ कर) जब चाही हुई वस्तु मिल जाती है तब विरोधी वस्तुएँ भी अच्छी लगने लगती हैं क्योंकि चन्द्रमा की वे ही किरणें आज मुझे सुख दिए डाल रही हैं और कामदेव के वे ही बाण आज मनको भाए जा रहे हैं। सुन्दरी! जो-जो वस्तुएँ क्रोध भरी या कठोर जान पड़ती थीं वे सब तुम्हारे मिलते ही कोमल हो चली हैं॥ 20॥

उर्वशी—मैंने आने में इतनी देर करके आर्य पुत्र का बड़ा अपराध किया है।

राजा—ऐसी बात न कहो सुन्दरी! दुःख के पीछे जो सुख मिलता है वह बड़ा रसीला होता है। पेड़ की छाया उसी मनुष्य को अच्छी लगती है जो धूप में तपकर आया हो॥ 21॥

विदूषक—चलिए! साँझ के चन्द्रमा की किरणों का बहुत आनन्द ले चुके। अब आप के शयन घर जाने का समय हो गया है।

राजा—तो अपनी सखी उर्वशी को भी वहीं लिवा ले चलो।

विदूषक—इधर से आइए देवी! इधर से।

(सब घूमते हैं।)

राजा—सुन्दरी! मेरी एक इच्छा है।

उर्वशी—क्या?

राजा—

अनुपमतमनोरथस्य पूर्व शतगुणितेव गता मम त्रियामा ।

यदि तु तव समागमे तथैव प्रसरति सुभ्रु ततः कृती भवेयम् ॥ 22 ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

॥ इति तृतीयोऽङ्कः ॥



राजा—यही कि मेरा मनोरथ पूरे होने के पहले, रातें जैसी सौगुनी लम्बी जान पड़ती थीं यदि वे अब तुम्हारे मिल जाने पर भी वैसी ही लम्बी हो जायें तो मैं अपने को बड़ा भाग्यवान् समझूँ ॥ 22 ॥

(सब चले जाते हैं।)

॥ तीसरा अंक पूर्ण ॥



चतुर्थोऽङ्कः

(नेपथ्ये सहजन्याचित्रलेखे प्रावेशिक्याक्षितिका)

पिअसहिविओअविमणा सहिसहिआ व्वाउला समुल्लवइ।

सूरकरफंसविअसिअतामरसे

सरवरुच्छंगे ॥ १ ॥

(प्रियसखीवियोगविमनाः सखीसहिता व्याकुला समुल्लपति। सूर्यकरस्पर्शविकसिततामरसे सरोवरोत्संगे।।)

(ततः प्रविशति विमनस्का चित्रलेखा सहजन्या च)

चित्रलेखा—(प्रवेशानन्तरं द्विपदिकया दिशोऽवलोक्य)

सहअरि दुक्खालिद्धअं सरवरअम्मि सिणिद्धअं।

वाहोवग्गिअणअणअं तम्मइ हंसीजुअलअं ॥ २ ॥

(सहचरी दुखाः लीढं सरोवरे स्निग्धम्। वाष्पापवल्गितनयनं ताम्र्यति हंसीयुगलम्।।)

सहजन्या—(चित्रलेखां विलोक्य सखेदम्) सहि चित्तलेहे। मिलाअमाणसदवत्तस्स बिअ दे मुहस्स छाआ हिअअस्स अस्सत्यदं सूएदि। ता कहेहि मे णिव्वेदकारणं। दे समदुक्खा भक्षिदुं इच्छामि। (सखि चित्रलेखे! म्लायमानशतपत्रस्येव ते मुखस्य छाया हृदयस्यास्वस्थतां सूचयति। तत्कवन मे निर्वेदकारणम्। ते समदुःखा भवितुमिच्छामि।)

चौथा अङ्क

(नेपथ्य में सहजन्या तथा चित्रलेखा का प्रवेश सूचित करने वाली आक्षितिका गीति गाई जाती है।)

प्रिया सखी की विरह-व्यथा से व्याकुल हँसी सरसी-जल में।

बैठी रोती, जहाँ खिल उठे कमल सूर्य की किरणें झूकर ॥ १ ॥

(अपनी प्यारी सखी के लिये बिछोह से अनमनी और घबराई हुई हँसी, उसी तालाब के जल में अपनी सखी के लिये रो रही है, जिसमें सूर्य की किरणों के छूने से कमल खिल उठे हैं ॥ १ ॥)

(सहजन्या के साथ उदास चित्रलेखा का प्रवेश)

चित्रलेखा—(प्रवेश करके द्विपदिका नामक गीति के साथ चारों ओर देखकर।

दो हँसिनियाँ सखी-व्यथा से अश्रु बहातीं सरसी-तटपर।

सिसक रही हैं व्याकुल होकर, जिनमें अतिशय प्रेम परस्पर ॥ २ ॥

(अपनी सखी के दुःख में घबराई हुई और एक दूसरी को प्यार करने वाली दो हँसिनियाँ आँखों से आँसू बहाती हुई तालाब के तीर पर बैठी सिसक रही हैं ॥ २ ॥)

सहजन्या—(चित्रलेखा को देखकर दुःख के साथ) सखी चित्रलेखा! मुरझाए हुए कमल के समान तेरा उदास मुँह बताए दे रहा है कि तेरा जी ठीक नहीं है। तू मुझे अपनी व्यथा का कारण तो बता। मैं भी तेरा दुःख बाँट लेना चाहती हूँ।

चित्रलेखा—(सकरुणम्) सहि! अच्छरोवारपज्जाएण इह भअवदो सुज्जस्स पादमूलोवट्ठणे वट्ठदि ति बलिअं क्खु उव्वसीर उक्कंठिदहि। (सखि! अप्सरोवारपर्यायेषह भगवतः सूर्यस्य पादमूलोपस्थाने वर्तन इति बलवत्खलु उर्वश्यायुत्कण्ठितास्मि।)

सहजन्या—सहि! जाणे वो अण्णोणसिणेहं। तदो तदो। (सखि! जाने युवयोरन्यो—न्यस्नेहम्। ततस्ततः।)

चित्रलेखा—तदो इमाइँ दिबसाइँ को णु क्खु वुत्तांतो ति पणिधानट्ठिदाए मए अच्चाहिदं उवलद्धं (ततः एतेषु दिवसेषु को न खलु वृत्तान्तः इति प्रणिधानस्थितया मयात्याहितमुपमलब्धम्।)

सहजन्या—(सावेगम्) सहि कीरिसं तं। (सखी कीदृशं वत्।)

चित्रलेखा—(सकरुणम्) उव्वसी किल तं रदिसहाअं राएसि अमच्चेसु णिवेसिद—रज्जधुरं गेण्हिअ गंधमावणवणं विहरिदुं गदा। (उर्वशी किल तं रतिसहायं राजर्षिममात्येषु निवेशितराज्यधुरं गृहीत्वा गन्धमादनवनं विहर्तुं गता।)

सहजन्या—(श्लाघम्।) सो णाम संभोओ जो तारिसेसु पदेसेसु। तदो तदो। (स नाम संभोगो यस्तादृशेषु प्रदेशेषु। ततस्ततः।)

चित्रलेखा—तहिँ क्खु मंदाइणीए पुलिणेसु गदा सिअदापब्बद केलीहिं कीलमाणा विज्जाधरदारिआ उदयवदी णाम देण राएसिणा णिज्झााइद ति कुविदा उव्वसी। (तत्र खलु मन्दाकिन्याः पुलिनेषु गता सिकतापर्वतकेलिभिः क्रीडन्ती विद्याधरदारिकोदयवती नाम तेन राजर्षिणा निष्यातेति कुपिता उर्वशी।)

सहजन्या—होदव्वं। दूरारूढो क्खु पणओ असहणो। तदो तदो। (भवितव्यम्। दूरारूढः खलु प्रणयाऽसहनः ततस्ततः।)

चित्रलेखा—(दुखी होकर) सखी! भगवान् सूर्य की सेवा के लिये यहाँ सब अप्सराओं की पारी बैधी हुई है। आज मैं भी अपनी पारी पर आई थी और इसीलिये—आज उर्वशी को स्मरण करके मेरा जी बड़ा व्याकुल हो उठा है।

सहजन्या—हाँ सखी, यह तो मैं जानती हूँ कि तुम दोनों एक दूसरी को बड़ी प्यार करती हो। हाँ तब!

चित्रलेखा—यह सोचकर जब मैंने उसका कुशल-समाचार जानने को ध्यान लगाया तो जान पड़ा कि वह बड़े संकट में जा पड़ी है।

सहजन्या—(घबराकर) संकट कैसा सखी?

चित्रलेखा—(रुआँसी-सी होकर) विहार करने के लिये उर्वशी गंधमादन पर्वत पर अपने प्रेमी राजा पुरुरवा के साथ चली गई थी, जो राज्यका काम मंत्रियों को सौंप कर उसके साथ ही चले गए थे।

सहजन्या—(प्रशंसा करती हुई) ऐसे ही सुन्दर प्रदेश में संभोग करना तो सच्चा संभोग कहलाता है। हाँ, तो फिर क्या हुआ?

चित्रलेखा—वहाँ जब वह मन्दाकिनी के तटपर जाकर बालू के टीले बना-बनाकर खेल रही थी, उस समय वह देखती क्या है कि उदयवती नाम की एक विद्याधर की कन्या को राजा बैठे घुर रहे हैं। बस इसी बात पर उर्वशी बिगड़ खड़ी हुई।

सहजन्या—हाँ, यह होता ही है। जब प्रेम बहुत बढ़ जाता है तब ऐसी बातें सही नहीं जाया करतीं। हाँ तब!

चित्रलेखा—तदो सा भट्टिणो अणुणअं अप्पडिवज्जमाणा गुरुसावसंमूढहिअआ विसुमरिद्वेदेवदाणिअमा इत्थिआजणपरिहरणिज्जं कुमारवणं पविट्ठा। पवेसाणंतरं अ काणणोवंतवत्तिलदा भावेण परिणदं से रूवम्। (ततः सा भर्तुरनुनयमप्रतिपद्यमाना गुरुशापसंमूढहृदया विस्मृतदेवतानियमा स्त्रीजनपरिहरणीयं कुमारवनं प्रविष्टा। प्रवेशानन्तरं च काननोपान्तवर्ति लताभावेन परिणतमस्या रूपम्।)

सहजन्या—(सशोकम्) सब्बधा णत्थि विहिणो अलंघणिज्जं णाम जेण तारिसस्स अणुराअस्स अअं एव्व एक्कवदे अण्णारिसो पलिणामो संवुतो। अह किमवत्थो सो राजसी। (सर्वथा नास्ति विधेरलङ्घनीयं नाभ येन तादृशस्यानुरागस्यायमेवैकपदेऽन्यादृशः परिणामः संवृत्तः। अथ किमवस्थः स राजर्षिः।)

चित्रलेखा—सो वि तस्सिं एव्व काणणे पिअदमं विचिण्णतो अहो—रत्ते अदिवाहेदि। (नभोवलोक्य) इमिणा उण णिव्वुदाणं वि उक्कंठाकारिणा मेहोदएण अणत्थाहीणो हविस्सदि। (सोऽपि तस्मिन्नेव कानने प्रियतमां विचिन्वन्नहोरात्रानतिवाहयति। एतेन पुनर्निर्वृतानामप्युत्कण्ठाकारिणा मेघोदयेनामर्थाधीनो भविष्यति।)

(नेपथ्ये जम्भलिका)

सहअरिदुक्खालिद्धअं सरवरअंसिणिद्धअं।

अविरलवम्हजलोल्लअं तम्मइ हंसी-जुअलअं॥ ३॥

(सहचरीदुःखालीढं सरोवरे स्निग्धम्।)

अविरलबाष्पजलाद्रं ताम्यति हंसीयुगलम्॥)

सहजन्या—सहि! ण क्खु तारिसा आकिदिविसेसा चिरं दुक्खभाइणो होन्ति। तां अवस्सं किंपि अणुग्गहणिमित्तं भूवोवि समाअमकारणं हविस्सदि। (प्राचीदिशं विलोक्य) ता एहि। उदअंमुहस्स भअवदो

चित्रलेखा—भरत मुनि के शाप से उसकी बुद्धि ऐसी मारी गई कि राजा की मनुहार को उसने ठुकरा भी दिया और कार्तिकेय के नियम का ध्यान छोड़कर वह उस कुमार वन में जा ही तो पैठी जहाँ स्त्रियों के जाने की रोक है। वस, ज्योंही वह उसमें घुसी त्योंही वह कुमार-वन के बाड़े पर ही लता जा बनी।

सहजन्या—(शोक के साथ) सचमुच भाग्य किसी को नहीं छोड़ता। बताइए, कहाँ तो ऐसा प्रेम और कहाँ उसका ऐसा उलटा फल। अच्छा, अब उन राजर्षि की क्या दशा है?

चित्रलेखा—वे भी उसी वन में प्यारी को दिन-रात खोजते हुए अपने दिन बिताए डाल रहे हैं। (आकाश की ओर देखकर) सुखी लोगों के मन में भी चाह जगा उठाने वाले इन बादलों को देखकर तो उनका जी ही टूट गया होगा।

(नेपथ्य में जम्भलिका नामक गीति)

दो हंसिनियाँ सखी-व्यथा से अश्रु बहातीं सरसी-तटपर।

सिसक रही हैं व्याकुल होकर जिनमें अतिशय प्रेम परस्पर॥ ३॥

(अपनी सखी के दुःख में घबराई हुई और एक दूसरी को प्यार करने वाली दो हंसिनियाँ आँखों से आँसू बहाते हुए तडाग के तीर पर बैठी सिसक रही हैं॥ ३॥)

सहजन्या—देखो सखी! ऐसे भाग्यवान् पुरुष बहुत दिनों तक दुखी नहीं रहा करते। इसलिये कोई न कोई ऐसा कारण आ ही जायगा कि वे दोनों फिर मिल जायेंगे (पूर्व दिशा की ओर देखकर) लो, सूर्य

सुज्जस्स उवट्ठाणं करेम्ह । (सखि! न खलु तादृशा आकृतिविशेषाश्चिरं दुःखभागिनो भवन्ति । तदवश्यं किमप्यनुग्रहनिमित्तं भूयोऽपि सभागमकारणं भविष्यति । तदेहि । उदयोन्मुखस्य भगवतः सूर्यस्योपस्थानं कुर्वः ।)

(नेपथ्ये खण्डधारा)

चिन्तादुम्भिममाणसिआ सहअरिदंसण लालसिआ ।

विअसिअ कमलमणोहरए विहरइ हंसी सरवरए ॥ 4 ॥

(चिन्तादूनमानसिका सहचरिदर्शनलालसिका ।

विकसितकमलनोहरे विहरति हंसी सरोवरे ।)

(इति निष्क्रान्ते)

॥ प्रवेशकः ॥

(नेपथ्ये पुरुरवसः प्रावेशिक्याक्षिप्तिका)

गहणं गइंदणाहो पिअविरहुम्माअपअलिअविआरो ।

विबइ तरुकुसुमकिसलअभूसिअणि अवेहपम्मारो ॥ 5 ॥

(गहनं गजेन्द्रनाथः प्रियाविरहोन्मदप्रकटविकारः ।

विशति तरुकुसुमकिसलयभूषितनिजदेहप्राग्भारः ।)

(ततः प्रविशति आकाशबद्धलक्ष्यः उन्मत्तवेषो राजा)

निकल आए हैं । आओ हम लोग सूर्य की पूजा कर लें ।

(नेपथ्य में खण्ड धारा गीति)

चिन्ता भावित प्रिया सखी से मिलने को अतिशय उत्कण्ठित ।

दो हैंसिनियाँ कमल-सुसज्जित सरसी-जल में विहर रही हैं ॥ 4 ॥

(चिन्ता से अनमनी और अपनी सखी से मिलने को अधीर हैंसी, खिले हुए कमलों से लुभावने लगने वाले तालाब में बिहार कर रही हैं ॥ 4 ॥

(दोनों जाती हैं ।)

॥ प्रवेशकः ॥

(नेपथ्य में पुरुरवा के प्रवेश के लिए आक्षिप्ति का गीत का गान)

वह विशाल गज प्रिया-विरहमें अतिशय व्याकुल चला आ रहा ।

कोमल सुमन और किसलय से देह सजाकर व्यथा गा रहा ॥ 5 ॥

(यह बड़ा-सा हाथी अपनी प्यारी के बिछोह में पागल होने के कारण अपने मन की व्यथा प्रकट करता हुआ-सा पेड़ों के फूलों और कोमल पत्तों से अपनी विशाल शरीर को सजाता हुआ इधर वन की ओर चला आ रहा है ॥ 5 ॥

(आकाश की ओर मुँह उठाए और पागल-जैसा वेश बनाए राजा का प्रवेश)

राजा—(सक्रोधम्) आः दुरात्मन् रक्षः! तिष्ठ तिष्ठ। मे प्रियतमामादाय गच्छसि। (विलोक्य) हन्त! शैलशिखराद्गगनमुत्पत्य वाणैर्मामभिवर्षति।

(नेपथ्ये)

हिजआहिअपिअदुक्खओ सरबरए धुदपक्खओ।

वाहोवग्गिअणअणओ तम्मइ हंसजुआणओ॥ 6॥

(हृदयाहितप्रियादुःखः सरोवरे धुतपक्षः।

वाष्पापवल्गितनयनस्ताम्यति हंसयुवा।)

(लोष्ठं गृहीत्वा हन्तुं धावन् विभाव्य सकरुणम्)

कथम्--

नवजलधरः संनद्धोऽयं न वृष्टनिशाचरः सुरधनुरिदं दुराकृष्टं न नाम शरासनम्।

अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरंपरा कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी॥ 7॥

(नेपथ्ये)

मई जाणिअँ मिअलोअणी, णिसअरु कोइ हरेइ।

जाव णु णवतडसामलि, धाराहन वरिसेइ॥ 8॥

(मया ज्ञातं मृगालोचनां निशाचरः धाराधरो कोऽपि हरति।

यावन्नु नव तडिच्छ्यामलो धाराधरो वर्षति।।)

राजा—(क्रोध से) अरे, खड़ा तो रह दुष्ट राक्षस! खड़ा रह! तू मेरी प्रियतमा को उठाए लिए चला जा रहा है? (देखकर) अरे! यह तो पहाड़ की चोटी से आकाश में उड़कर मुझपर बाण बरसाने लगा।

(नेपथ्य में)

युवा हंस यह प्रिया-विरह से सरसी-जल में व्याकुल होकर।

निज नयनों से नीर बहाकर पंख फड़फड़ा सिसक रहा है॥ 6॥

(यह जवान हंस अपनी प्यारी के बिछोह में पंख फड़फड़ाता हुआ आँखों में आँसू भरे तालाब में बैठा सिसक रहा है॥ 6॥)

(एक ढेला लेकर मारने दौड़ता है, पर फिर ठीक समझकर करुणा के साथ)

अरे, यह तो अभी-अभी बरसने वाला बादल है, राक्षस नहीं। इसमें खिंचा हुआ यह इन्द्रधनुष है, राक्षस का धनुष नहीं। और ये जो टप-टप बरसे जा रहे हैं ये बाण नहीं हैं, बूँदे हैं और यह जो कसौटी पर बनी हुई सोने की रेखा के समान धमक रही है, यह भी मेरी प्रिया उर्वशी नहीं है, बिजली है॥ 7॥

(नेपथ्य में)

मैंने समझा कोई निशिचर हर ले जाता है प्यारी को।

पर यह काला धन बरसाता जल है बिजली भी चमकाता॥ 8॥

(मैंने समझा था कि मृग के समान आँखों वाली मेरी प्यारी को कोई राक्षस हरे लिए चला जा रहा है, पर यहाँ बिजली को चमकाता हुआ काला बादल केवल पानी बरसाए डाल रहा है॥ 8॥)

(विचिन्त्य सकरुणम्) क्व नु खलु सा रम्भोरुगता स्यात्।

तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति।

स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावाद्वर्मस्या मनः।

तां हतुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं।

सा चात्यन्तमदर्शनं नयनयोयतेति कोऽयं विधिः॥ 9॥

(इति दिशोऽवलोक्य सनिःश्वासम्।) अये! परावृत्तभागधेयानां दुःखं दुःखानुबन्धि कुतः। —

अयमेकपदे तथा वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे।

नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः॥ 10॥

जलहर संहर एह कोपई आढत्तओ

अविरलधारासारदिसामुहकंतओ ।

ए मई पुहविं भमतो जइ पिअं पेक्खिमि

तव्वे जं जु करीहिसि तं तु सहीहिमि॥ 11॥

(जलधर संहरैतं कोपमाज्ञप्तः अविरलधारासारदिशामुखकान्तः।

ए अहं पृथ्वीं भ्रमन्यदि प्रियां प्रेक्षे तदा यद्यत्करिष्यसि तत्तत्सहिष्ये॥)

(विहस्य) मुधैव खलु मया मनसः परितापवृद्धिरुपेक्ष्यते। यथा मुनयोऽपि व्याहरन्ति—राजा कालस्य कारणमिति। तत्किमहं जलदसमयं न प्रत्यादिशामि।

गंधुम्माइअमहुअरगीएहिं

वज्जंतेहिं

परहुअतूरेहिं।

पसरिअपवणुव्वेलिअपल्लवणिअरुसुललिअविविहपआरेहिं णच्चइ कप्पअरु॥ 12॥

(दुःख से सोचकर) वह केले के समान जाँघों वाली सुन्दरी कहाँ चली गई होगी।

कहीं वह क्रोध में आकर अपने दैवी प्रभाव से छिप न गई हो, पर उसने आज तक तो इतनी देर कभी नहीं की थी या कहीं वह स्वर्ग ही न चली गई हो। पर यह तो हो नहीं सकता क्योंकि मुझे तो वह जी जान से प्यार करती है। उसे तो मेरे सामने से देवताओं के शत्रु राक्षस भी हरकर नहीं ले जा सकते, फिर भी न जाने क्यों मुझे वह कही नहीं दिखाई दे रही है। यह कैसा दुर्भाग्य है॥ 9॥

(चारों ओर देखकर लम्बी साँस लेकर) अरे! फूटे भाग वालों के लिये तो आपत्ति पर आपत्ति आया ही करती है। क्योंकि—कहाँ एक ओर तो प्रिया का ऐसा बिछोह जो सहा नहीं जा रहा है और कहाँ दूसरी ओर ऐसा सुहावना दिन, जो बादलों के उठने और धूप के छिप जाने से और भी लुभावना हो गया है॥ 10॥

चारों ओर गगन में व्यापक वारिद! अब निज कोप रोक लो।

स्वीय प्रिया को पाकर तब मैं सह लूँगा सब साँसत जी भर॥ 11॥

(लगातार बरसने से चारों ओर फैले हुए अरे बादल! इस समय मेरे कहने से तुम अपना क्रोध रोक लो। पृथ्वी पर घूमकर जब मैं अपनी प्रिया को पा जाऊँ, तब तुम जो भी करोगे वह मैं सिर माथे लेकर सहूँगा॥ 11॥

(हँसकर) मैं अकारण ही अपने मन की पीड़ा को यों ही बढ़ाए जा रहा हूँ। क्योंकि मुनि लोग भी कहते हैं कि राजा जैसा समय चाहे, वैसा समय ला सकता है, तो मैं इस वर्षा के समय को ही क्यों न आज्ञा दे दूँ।

गन्ध-मत्त भ्रमरों का गुञ्जन और कोकिला-वंशी रव ले।

गुञ्जित पवन हिलाता किसलय, कल्पवृक्ष मानो नर्तन-रत॥ 12॥

(गन्धोन्मादितमधुकरगीतैः, वाद्यमानैः परभृततूर्यैः।

प्रसूतपवनोद्वेल्लितपल्लवनिकरः सुललितविविधप्रकारैः नृत्यति कल्पतरुः।।)

अथवा न प्रत्यादिशामि जलदसमयं यत्प्रावृषेण्यैरेव लिङ्गैर्मम राजोपचारः सम्प्रति। कथामिव—

विद्युल्लेखा कनकरुचिरं श्रीवितानं ममाग्रं

व्याधूयन्ते निचुलतरुभिर्मञ्जरीचामराणि।

धर्मच्छेदात्पदुत्तरगिरो वन्दिनो नीलकण्ठाः

धाराहारोपनयनपरा नैगमाः सानुमन्तः।। 13।।

भवतु। किमेवं परिच्छदश्लाघया। यावदस्मिन्कानने तां प्रियामन्वेषयामि।

(नेपथ्ये)

दइआरहिओ अहिअं दुहिओ बिरहाणुगओ परिमंथरओ।

गिरिकाणणए कुसुमुञ्जलए गजजहवई बहुझीणगई।। 14।।

(दयितारहितोऽधिकं दुःखितो विरहानुगतः परिमन्थरः।

गिरिकानने कुसुमोज्ज्वले गजयूथपतिर्बहुक्षीणगतिः।।)

(परिक्रम्यावलोक्य च) हन्त हन्त! व्यवसितस्य मे संदीपनमिव संवृत्तम्। कुतः—

आरक्तराजिभिरियं कुसुमैर्नवकन्दलीसलिलगर्भैः।

कोपादन्तर्वाष्पे स्मरयति मां लोचने तस्याः।। 15।।

(सुगन्ध से झूमने वाले भौरों के गाने के साथ-साथ और कोयल की बोली में बजने वाली बंसियों की ध्वनि से गूँजते हुए पवन से जिस कल्पवृक्ष के कोमल पत्ते हिल रहे हैं, वह देखो कैसी सुन्दरता से अनेक प्रकार के हाव-भाव के साथ नाचे जा रहा है।। 12।।)

पर इस वर्षा के समय को कुछ कहना ही व्यर्थ है, क्योंकि वर्षाकाल के जो चिह्न दिखाई दे रहे हैं, उन्हीं के कारण तो मैं आज भी राजा के समान शोभा दे रहा हूँ। क्योंकि देखो-बिजली के सोने से बना हुआ यह बादल ही मेरा छत्र है। निचुल के पेड़ ही मेरे ऊपर अपनी मञ्जरियों के चँवर डुला रहे हैं। गर्मी समाप्त हो जाने के कारण मधुर गान करने वाले ये मोर ही भाटों का काम कर रहे हैं और झरनों के मोती भेंट करती हुई वे पहाड़ियाँ ही मेरी प्रजा हैं।। 13।।

अच्छा, जाने दो, अपने ठाट-बाट की बड़ाई करने से लाभ ही क्या? चलूँ, इसी वन में प्रिया को खोज देखूँ।

(नेपथ्य में)

सुमनोज्ज्वल पर्वत पर यह गज। मन्द घूमता प्रिया-विरह में।। 14।।

(प्यारी के विरह से अत्यन्त दुखी होने से यह बड़ा-सा हाथी फूलों के कारण उजली बनी हुई इस पहाड़ी में धीरे-धीरे घूम रहा है।। 14।।)

(घूमकर और देखकर) हाय! हाय! उसे ढूँढते-ढूँढते मेरी पीड़ा को और भी अधिक बढ़ा देने वाला यह एक और दूसरा आ मिला। क्योंकि इस नये कन्दली के पेड़ के जल भरे लाल फूलों को देखकर मुझे उर्वशी के उन नेत्रों का स्मरण हो आया, जो क्रोध से लाल हो उठे थे और जिनमें आँसू छलक आये थे।। 15।।

इतो गतेति कथं नु तत्रभवति मया सूचयितव्या । यतः—

पद्भ्यां स्पृशेद्वसुमतीं यदि सा सुगात्री मेघाभिवृष्टसिकतासु वनस्थलीषु ।

पश्चात्रता गुरुनितम्बतया ततोऽस्याः दृश्येत चारुपदपङ्क्तिरलक्तकाङ्का ॥ 16 ॥

(परिक्रम्यावलोक्य च सहर्षम्) उपलब्धमुपलक्षणं येन तस्याः कोपनाया मार्गोऽनुमीयते ।

द्वतोष्ठरागैर्नयनोदविन्दुभिः निमग्ननाभेर्निपतद्भिरङ्कितम् ।

च्युतं रुषाभिन्नगतेरसंशयं शुकोदरश्याममिदं स्तनांशुकम् ॥ 17 ॥

भवतु । आदास्ये तावत् (परिक्रम्य विभाव्य च सास्रम्) कथं सेन्द्रगोपं नवशाद्वशमिदम् । कुतो नु खलु निर्जने वने प्रिया-प्रवृत्तिरवगमयितव्या । (शिखिनं दृष्ट्वा) अये! अयमासारोच्छ्वसितशैलेयस्थलीपाषाणमारूढः—

आलोकयति पयोदान्प्रबलपुरोवातताडितशिखण्डः ।

केका गर्मेण शिखी दूरोन्नमितेन कण्ठेन ॥ 18 ॥

(उपेत्य) भवतु । यावदेनं पृच्छामि ।

(नेपथ्ये)

संपत्तविसूरणजो तुरिअं परवारणजो ।

पिअअम-दंसण-लालसओ गअवरु विम्हिअ-माणसओ ॥ 19 ॥

फिर, यह मुझे कैसे जान पड़ेगा कि वह किधर से गई है। यदि वह सुन्दर वर्षा से भीगी हुई बालू वाले इस वन की धरती पर चलती होती तो महावर से रंगे हुए उसके सुन्दर पैरों की ऐसी छापें दूर तक अवश्य दिखाई देती, जो उसके नितम्बों के भारी होने के कारण एड़ी की ओर अधिक गहरी होती ॥ 16 ॥

(इधर-उधर घूमकर हर्ष के साथ) मुझे कुछ तो ऐसे चिह्न मिल रहे हैं, जिनसे मैं कुछ-कुछ अनुमान लगा सकता हूँ कि वह क्रोधित देवी किधर से गई होगी-क्योंकि सुग्गे के पेट—जैसे हरे रंगवाली उसकी चोली यही है; जिस पर उसके आँसुओं से धुलकर ओठों से गिरे हुए लाल रंग की बुँदकियाँ दिखाई दे रही हैं और जो क्रोध में हड़बड़ी से चलने के कारण खिसककर नीचे गिर गई होगी ॥ 17 ॥

अच्छा, तो मैं इसे उठाए लेता हूँ। (घूमकर उसे देखकर रोता हुआ) अरे! यह तो हरी घास पर बीरबहूटियाँ फैली हुई हैं। अब इस सुनसान वन में प्यारी का ठिकाना कहाँ से मिल पावेगा। (मोर को देखकर) अरे! वर्षा से भाप छोड़ने वाली चट्टान पर बैठा हुआ और सामने के प्रचण्ड पवन से छितराती हुई कलंगी वाला यह मोर अपनी ग्रीवा ऊँचे उठाकर क्रें-क्रें करता हुआ बादलों को देख रहा है ॥ 18 ॥

(पास जाकर) अच्छा, चलो इसी से पूछ देखता हूँ।

(नेपथ्य में)

व्यथा-भरित निज प्रिया-मिलन को यह अधीर गज शत्रु-निकन्दन ।

बड़े वेग से चला आ रहा घबराया-सा मन में सत्त्वर ॥ 19 ॥

(दुःख से भरा, अपनी प्रियतमा को देखने के लिये अधीर और अपने शत्रु को पछाड़ देने वाला यह बड़ा-सा हाथी मन में घबराया हुआ सा बड़े वेग से बढ़ा चला जा रहा है ॥ 19 ॥

(सम्प्राप्तविसूरणः त्वरितं परवारणः ॥

प्रियतमदर्शनलालसो गजवरो विस्मितमानसः ॥)

(अञ्जलिं बद्ध्वा)

बंहिण पई इअ अब्भत्थिअम्मि ओअक्खहि मं ता

एत्थ वणे भम्मंते जइ पई दिट्ठी सा महु कंता ।

णिसम्महि मिअंकसरिसवअणा हंसगई

ए चिण्हे जाणीहिसि आआक्खिउ तुज्झ मई ॥ 20 ॥

(बंहिण त्वामित्यभ्यर्थये आचक्ष्व मे तत्

अत्र वने भ्रमता यदि त्वया दृष्टा सा मम कान्ता ।

निशामय मृगाङ्गसदृशवदना हंसगतिः

अनेन चिह्नेन ज्ञास्यस्यारूपातं तव मया ॥)

नीलकण्ठ ममोत्कण्ठा वनेऽस्मिन्वनिता त्वया ।

दीर्घापाङ्गा सितापाङ्ग दृष्टा दृष्टिक्षमा भवेत् ॥ 21 ॥

(विलोक्य) कथमदत्तैव प्रतिवचनं नर्तितुं प्रवृत्तः । किं नु खलु हर्षकारणमस्य । (विचिन्त्य) आं

ज्ञातम्--

मृदुपवनविभिन्नो मत्प्रियाया विनाशात्

घनरुचिरकलापो निःसपत्नोऽस्य जातः ।

रतिविगलितबन्धे केशपाशे सुकेश्याः

सति कुसुमसनाथे कं हरेदेष बर्ही ॥ 22 ॥

(हाथ जोड़ते हुए)

अरे मोर! है विनति, यदि कहीं देखा हो मेरी प्यारी को ।

चन्द्रमुखी, हँसी- गति है वह, इतने से पहचान सकोगे ॥ 20 ॥

(अरे मोर! मैं तुझसे प्रार्थना करता हूँ कि यदि घूमते-फिरते तुमने मेरी खोई हुई प्यारी कहीं देखी हो तो मुझे बता दो । सुनो! उसका मुँह चन्द्रमा के समान है और उसकी चाल हंस-जैसी है । बस, मैं जो चिह्न तुम्हें बता रहा हूँ, उतने से ही तुम उसे पहचान पा लोगो ॥ 20 ॥)

उजले कोनों की आँखों वाले मोर! क्या तुमने मेरी वह प्रियतमा इस वन में देखी है, जिसकी आँखें बड़ी-बड़ी हैं, जिसके लिये मैं व्याकुल हूँ और जो ऐसी सुन्दर हैं कि बस, उसे देखते ही बनता है ॥ 21 ॥

(देखकर) क्या, बिना उत्तर दिए ही यह नाचने लग गया । यह इतना मगन क्यों हो रहा है? (सोचकर) हाँ समझ गया—मेरी प्रिया के खो जाने से मन्द मन्द पवन से छितराए बादलों के समान इसके सुन्दर पंखों को लजाने वाला आज कोई नहीं रह गया है । आज यदि कहीं वह सुन्दर बालों वाली यहाँ होती, जिसके खुले हुए बालों में फूल गुँथे हुए होते तो उसके आगे इस मोर की शोभा को पूछता कौन ॥ 22 ॥

भवतु । परव्यसननिवृत्तं न खलु एनं पृच्छामि । (परिक्रम्यावलोक्य च) अये, इयमात्तपान्त संधुक्षितमदा जम्बूवितपमध्यास्ते परभृता विहङ्गमेषु पण्डिता जातिरेषा । यावदेनामभ्यर्थये ।

(नेपथ्ये)

विज्जञ्जरकाणलीणओ दुक्खविणिग्गअबाहुप्पीडओ ।

दूरो सारिअ हिअ आणंदओ अंबरमाणेण भमइ गइंदओ ॥ 23 ॥

(विद्याधरकाननलीनो दुःखविनिर्गतवाष्पोत्पीडः ।

दूरोत्सारितहृदयानन्दोऽम्बरमानेन भ्रमति गजेन्द्रः ।)

(इति नतित्वा वलन्तिकयोपसृत्य जानुभ्यां च स्थित्वा) हेले हेले ।

परहुअ महुअरपलाविणि कंती णंदणबण सच्छंद भमंती ।

जइ पई पिअजम महु दिडी ता आजक्खहि महु परपुट्टी ॥ 24 ॥

(परभृते! मधुरप्रलापिनि कान्ते नन्दनवने स्वच्छन्दं भ्रमन्ती ।

यदि त्वया प्रियतमा सा मम दृष्टा तर्ह्यचक्ष्व मे परपुष्टे ।)

भवति!

त्वां कामिनो मदनदूतिमुदाहरन्ति मानावभङ्गनिपुणं त्वममोघमस्त्रम् ।

तामानय प्रियतमां मम वा समीपं मां वा नयाशु कलभाषिणि यत्र कान्ता ॥ 25 ॥

किमाह भवती । कथं त्वामेवमनुरक्त । विहाय गता इति । (अग्रतोऽवलोक्य) शृणोतु भवती ।

अच्छा! दूसरों के दुख-सुख पर ध्यान न देने वाले इस मोर से अब मैं बात नहीं करूँगा । (घूमकर और देखकर) अरे! यह गर्मी बीतने से मतवाली कोयल जमुना की शाखा पर बैठी हुई है । पक्षियों में कोयल ही सबसे चतुर समझी जाती है । चलूँ, इसी से पूछ देखूँ ।

(नेपथ्य में)

विद्याधर कानन में गजवर निरानन्द हो भ्रमण कर रहा

सतत दुःख से अश्रु बहाता सुखका सब सँभार खो रहा ॥ 23 ॥

(विद्याधरों के वन में छिपा हुआ, दुःख से आँसू बहाता हुआ और हृदय का सारा आनन्द खोकर यह बड़ा-सा हाथी बादल के समान इधर उधर घूम रहा है ॥ 23 ॥)

(वलन्तिका राग के साथ नाचता हुआ आगे बढ़कर घुटने टेककर)

अरी मधुर कूजन-रत कौकिल! इस वन में उड़ते फिरते यदि ।

देखा हो प्यारी को तुमने तो तुम मुझको शीघ्र बता दो ॥ 24 ॥

(अरे रे रे! मीठी-मीठी कूकने वाली सुन्दर कोयल! यदि इस नन्दन-वन में चनचाहे ढंग से उड़ते-फुदकते हुए तुमने कहीं मेरी प्रिया देखी हो तो बता दो ॥ 24 ॥)

देखो! कामी लोग तुम्हें मदन की दूती बताते हैं और मानिनी स्त्रियों का रूठना दूर करने के लिये तुम अचूक हथियार समझी जाती हो । इसलिये या तो मेरी प्रियतमा को मेरे पास ही ले आओ या फिर अरी मिठबोली! मुझे ही उसके पास झटपट ले जा पहुँचाओ ॥ 25 ॥

कुपिता न तु कोपकारणं सकृदप्यात्मगतं स्मराम्यहम् ।

प्रभुता रमणेषु योषितां नहि भावस्खलितान्यपेक्षते ॥ 26 ॥

(ससंभ्रममुपविश्य अनन्तरं जानुभ्यां स्थित्वा कुपिता इति पुनः पठित्वा उत्थाय विलोक्य च) कथं कथाविच्छेदकारिणी स्वकार्य एव व्यासक्ता ।

अथवा

महदपि परदुःखं शीतलं सम्यगाहुः प्रणयमगणयित्वा यन्ममापदगतस्य ।

अधरमिव मदान्धा पातुमेषा प्रवृत्ता फलमभिमुखपाकं राजजम्बूदुमस्य ॥ 27 ॥

एवंगतेऽपि प्रियेव मे मञ्जुस्वनेति न मे कोपोऽस्याम् । सुखमास्तां भवती । इतो वर्थ साधयामस्तावत् (परिक्रम्य कर्णे दत्त्वा ।) अये दक्षिणेन वनधारां प्रियाचरणनिक्षेपशंसीं नूपुररवः श्रूयते यावदेनमनुगच्छामि (परिक्रम्य)

(नेपथ्ये)

पिअअमविरहकिलामिअवअणओ अविरलवाहजलाउलणअणओ ।

दूसहदुक्खविसंदुलगमणओ पसरिअउरुतावदिविअजंगओ ।

अहिअं दुम्मिअ-माणसओ काणण भमइ गइंदओ ॥ 28 ॥

(प्रियतमा विरहक्लान्तवदनोऽविरलबाष्पजलाकुलनयनः ।

दुःसहं दुःसविसंष्टुलगमनः प्रसृतगुरुतापदीप्ताङ्गः ।

अधिकं दूनमानसः कानने भ्रमति गजेन्द्रः ॥)

(अनन्तरे द्विपदिकया दिशोऽवलोक्य)

क्या कहा तू ने? कि तुम्हारे इतना प्यार करने पर भी वह तुम्हें छोड़कर क्यों चली गई? (आगे देखकर) सुनो! तुझे एक भी बात ऐसी स्मरण नहीं आती जिस पर वह मुझसे रूठकर चली जा सके। देखो! स्त्रियाँ तो वैसे ही अपने पतियों पर धाक जमाए रखती हैं, इसलिये यह आवश्यक नहीं कि पति के अपराध करने पर ही वे क्रोध करें ॥ 26 ॥

(झट बैठकर घुटने टेककर ऊपर वाली बात फिर से कहता है, फिर उठकर देखता हुआ) जितना भी अधिक क्यों न हो, पर लोग उसे कम ही समझते हैं। इसलिये मुझ विपत्ति के मारे की बात अनसुनी करके यह कोयल भी उसी प्रकार आँख मूँदकर पकी हुई फरैना जामुनों का रस पीने में लगी हुई है, जैसे कोई मतवाला अपनी प्यारी के ओठों का रस पीने लग रहा हो ॥ 27 ॥

पर सब कुछ होने पर भी यह गाती है मेरी प्यारी के समान ही, इसलिये मैं इस पर क्रोध नहीं करता। तुम बैठी रहो सुख से। हम ही यहाँ से चले जाते हैं। (घूमकर सुनता हुआ) अरे! इस वन के दक्खिन की ओर से प्यारी के बिछुओं की सी झन-झन सुनाई दे रही है। चलूँ उधर भी चलकर देख लूँ। (घूमता है।)

(नेपथ्य में)

प्रिया-विरह से व्याकुल यह गज, निज नयनों से नीर बहाता ।

तीव्र व्यथा से मन्दगति हो, शोकदग्ध वन में है फिरता ॥ 28 ॥

(प्यारी के बिछोह से थका हुआ नयनों से आँसुओं की धारा बहाता हुआ, नये अपार दुःख के कारण रुक-रुककर चलने वाला अत्यन्त शोक से जलते हुए शरीर वाला यह दुखी हाथी वन में इधर-उधर घूमे

(नेपथ्ये)

पिअकरिणी-विच्छोइअओ गुरुसोआणल-दीविअओ ।

वाहजलाउललोअणओ करिवरु भमइ समाउलओ ॥ 29 ॥

(प्रियकरिणीवियुक्तो गुरुशोकानलदौप्तः ।

वाष्प-जलाकुल-लोचनः करिवरो भ्रमति समाकुलः ॥)

(सकरुणम्) हा धिक् कष्टम् ।

मेघश्यामा दिशोदृष्ट्वा मानसोत्सुकचेतसाम् ।

कूजितं राजहंसानां नेदं नूपुरशिचिज्जतम् ॥ 30 ॥

भवतु । यावदेते मानसोत्सुकाः पतत्रिणः सरसोऽस्मान्नोत्पतन्ति तावदेतेभ्यः प्रियावृत्तिरवगमयितव्या ।
(उपसृत्य) भो! भो! जलविहङ्गराज ।

पश्चात्सरः प्रतिगमिष्यसि मानसं तत् पाथेयमुत्सृज बिसं ग्रहणाय भूयः ।

मां तावदुद्धर शुचो दयिताप्रवृत्त्या स्वार्थात्सतां गुरुतरा प्रणयिक्रियैव ॥ 31 ॥

अये! तथोन्मुखो विलोकयति यथा मानसोत्सुकेन मया न लक्षितेत्येवं वचनमाह ।

रे रे हंसा किं गोइज्जइ गइअणुसारें मईं लक्खिज्जइ ।

कईं पईं सिक्खिउ ए गइ लालस सा पईं दिट्ठी जहणभरालस ॥ 32 ॥

(रे! रे! हंस! किं गोप्यते गत्यनुसारेण मया लक्ष्यते ।

केन तव शिक्षिता एषा गतिललिसा सा त्वया दृष्टा जघनभरालसा ॥)

जा रहा है ॥ 28 ॥ (इसके पश्चात् द्विपदिका गति के साथ चारों ओर देखकर)

(नेपथ्य में)

निज प्यारी गजिनी-वियोग की प्रबल अग्नि में दग्ध हस्तिवर

अश्रु बहाता, रोता व्याकुल घूम रहा एकाकी वन में (अपनी प्यारी हथिनी के बिछोह की भयंकर आग में जलता हुआ और रोता हुआ यह हाथी व्याकुल हुआ घूम रहा है ॥ 29 ॥)

(दुःख के साथ) हाय, हाय! कैसे दुःख की बात है कि जिसे मैं अपनी प्यारी के बिछुओं की झन झन समझ रहा था वह उन राजहंसों की कूक है, जो उठे हुए बादलों की अँधियारी देखकर मानसरोवर जाने को उतावले हो रहे हैं ॥ 30 ॥

अच्छा, जबतक ये मानसरोवर जाने को उतावले पक्षी उड़ नहीं जाते उससे पहले ही मैं इनसे अपनी प्यारी का ठिकाना पूछे देखता हूँ । (पास जाकर) अरे जल-पक्षिराज! तुम मानसरोवर पीछे जाना और यह जो संबल के लिये तुमने कमलनालें तोड़ ली हैं, इन्हें भी अभी छोड़कर फिर ले लेना । उससे पहले तुम मुझे मेरी प्यारी का समाचार देकर मेरा उद्धार कर दो, क्योंकि सज्जन लोग अपने मित्रों को सहायता देना अपने स्वार्थ से बढ़कर समझा करते हैं ॥ 31 ॥

अरे! यह तो केवल अपनी चोंच ऊपर उठाए टुकुर-टुकुर देखे जा रहा है, मानो कह रहा हो कि मानसरोवर जाने की उतावली में मैंने उसे देखा ही नहीं ।

अरे हंस! मत छिपा, समझता हूँ मैं लखकर तेरी गति को ।

बता कहाँ सीखी है यह गति, कहाँ मन्दगति श्रोणि-भार-तन ॥ 32 ॥

(अरे हंस! तुम छिपा क्या रहे हो? तुम्हारी चाल से ही मैं सब कुछ समझ गया । बताओ यह सुन्दर चाल तुमने सीखी कहाँ से? उस प्यारी को तुमने अवश्य ही देखा है, जो नितम्बों के भार से धीरे-धीरे चला करती है ॥ 32 ॥)

यदि हंस गता न ते नतभूः सरसो रोधसि दर्शनं प्रिया मे ।

मदखेलपदं कथं नु तस्याः सकलं चौर गतं त्वया गृहीतम् ॥ 33 ॥

अतश्च (इति अञ्जलिं बद्ध्वा)

हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिरस्यास्त्वया हृता ।

विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते ॥ 34 ॥

(विहस्य) एष चौरानुशासी राजेति भयादुत्पतितः यावदन्यमवकाशमवगाहिष्ये । (परिक्रम्यावलोक्य च) अयमिदानीं प्रियासहायश्चक्रवाकः । तावदेनं पृच्छामि ।

(नेपथ्ये)

मर्मररणिमणोहरं कुसुमिअतरुवरपल्लवम् ।

दइआविरहुम्माइअओ काणण भमइ गईदओ ॥ 35 ॥

(मर्मररणिमतमनोहरे कुसुमिततरुवरपल्लवे ।

दयिता विरहोन्मादितः कानने भ्रमति गजेन्द्रः ॥)

गोरोअणा-कंकुमवण्णा चक्का भणइ मई ।

महुवासर-कीलती धणिआ ण दिडी पई ॥ 36 ॥

(गोरोचनाकुङ्कुमवर्ण चक्र भण माम् ।

मधुवासरे क्रीडन्ती धन्या न दृष्टा त्वया ॥)

रथाङ्गनामन् वियुतो रथाङ्गश्रोणिबिम्बया ।

अर्थं त्वां पृच्छति रथी मनोरथशतैर्वृतः ॥ 37 ॥

यदि तैने उस बाँकी चितवन वाली सुन्दरी को इस सरोवर के तीर पर नहीं देखा, तो बता रे चोर! उसकी वह मद से इठलाती चलने वाली सुन्दर चाल तू पा कहाँ से गया है ॥ 33 ॥

इसलिये (हाथ जोड़कर) अरे हंस! मेरी जिस प्यारी की हाल तू चुराए बैठा है, उसे मुझे लौटा दे, क्योंकि यदि चोर के पास चोरी का थोड़ा भी माल मिले तो उसे पूरा माल देना ही पड़ता है ॥ 34 ॥

(हँसकर) यह देखो, इसने समझ लिया न, कि मैं चोरों का दण्ड देने वाला राजा हूँ। बस इसी डर से उड़ भागा। चलो, कहीं और खोजूँ। (धूमकर और देखकर) यहाँ अपनी प्यारी के साथ यह चकवा बैठा है, चलो इसी से पूछ देखता हूँ।

(नेपथ्य में)

किसलय-मर्मररव परिपूरित पुष्पसमन्वित तरुवर-वन में ।

निज प्यारी से हो वयुक्त यह भ्रमण कर रहा गजपति व्याकुल ॥ 35 ॥

गोरोचन केशर-वर्णी रे चक्रवाक! क्या देखा तुमने ।

सरस बसन्त समय में क्रीड़ा करती मेरी मधुर प्रिया को ॥ 36 ॥

(पत्तों की मधुर खड़खड़ाहट से भरे और फूलों से लदे हुए वृक्षों के पत्तों वाले इसवन में प्यारी के बिछोह से पागल यह बड़ा सा हाथी इधर-उधर घूमे जा रहा है ॥ 35 ॥

गोरोचन और केशर के रंगवाले अरे चकवे! बता कहीं तूने वसन्त के दिनों में खेलती हुई मेरी सौभाग्यवती पत्नी देखा है ॥ 36 ॥

अरे चकवे! पहिए के समान बड़े-बड़े नितम्बों वाली प्यारी से बिछुड़ा हुआ और मन में सैकड़ों मनोरथ लिए हुए मैं महारथी तुझसे ही पूछ रहा हूँ ॥ 37 ॥)

कथं कः क इत्याह माम् । मा तावत् । न खलु विदितोऽहमस्य ।

सूर्याचन्द्रमसौ यस्य मातामहपितामहौ ।

स्वयं वृतः पतिर्द्वाभ्यामुर्वश्या च भुवा च यः ॥ 38 ॥

कथं तूष्णीं स्थितः । भवतु । उपालभे तावदेनम् ।

सरसि नलिनीपत्रेणापि त्वमावृतविग्रहाम्

ननु सहचरीं दूरे मत्वा विरौषि समुत्सुकः ।

इति च भवतो जाया स्नेहात्पृथक्स्थितिभीरुता

मयि च विधुरे भावः कान्ताप्रवृत्तपराङ्मुखः ॥ 39 ॥

सर्वथा मदीयानां भागधेयानां विपर्यायेण प्रभावप्रकाशः । यावदन्यमवकाशमवगाहिष्ये । (पदान्तरे स्थित्वा) भवतु न तावद्गच्छामि । (परिक्रम्यावलोक्य च)

इदं रुणद्धि मां पद्ममन्तःकूजितषट्पदम् ।

मया दष्टाधरं तस्याः ससीत्कारमिवाननम् ॥ 40 ॥

भवतु । इतो गतस्य मेऽनुशयो मा भूदित्यस्मिन्नपि कमलसेविनि मधुकरे प्रणयित्वं करिष्ये ।

(नेपथ्ये)

एकवक्त्रमवह्निअगुरुअरपेम्मरसे ।

सरे हंसजुआणओ कीलइ कामरसे ॥ 41 ॥

क्या यह मुझे पूछ रहा है-कौन है? कौन है? बस रहने दे । क्या यह मुझे जानता नहीं है? सूर्य और चन्द्रमा जिसके नाना और दादा है और जिसे उर्वशी और धरणी ने अपने आप अपना स्वामी बना लिया है, मैं वही पुरुरवा हूँ ॥ 38 ॥

क्यों? चुप क्यों हो गया? अच्छी बात है, मैं इसे डँटता हूँ न । जब तालाबों में तेरी प्यारी चकवी कमल के पत्तों की ओट में भी हो जाती है तब तू उसे दूर गई समझकर घबराकर चिल्लाने लगता है । अपनी प्यारी से तो तू इतना प्रेम करता है कि इतना बिछोह भी तुझे नहीं सहा जाता और फिर भी अपनी ऐंठ तो देख कि मुझ प्यारी से बिछुड़े हुए से तू बात तक करने को तैयार नहीं है । 39 ॥

मेरा भाग्य ही ऐसा है कि सब कहीं मुझे उलटा ही फल मिला जा रहा है । चलो, कहीं और चलकर ढूँढता हूँ (कुछ चलकर रुककर) अच्छा अभी मैं नहीं जाऊँगा (घूमकर और देखकर) यह भौरों की गूंज से भरा हुआ कमल मुझे बरस रोके डाल रहा है, क्योंकि यह उर्वशी के उस मुख के समान दिखाई दे रहा है जो ओठ पर मेरे दाँत लगने पर सी-सी कर रहा हो ॥ 40 ॥

अच्छा! कमलपर मँडराते हुए इन भौरों से ही पूछ देखूँ जिससे यहाँ से चले जाने पर मुझको यह तो पछतावा न रह जाय कि उनसे नहीं पूछा ।

(नेपथ्य में)

एक हंस सरसी के जल में खेल रहा है प्रेम-मदाकुल ।

जिसके मन में सहसा आकर बसा प्रेम का भाव मधुरतम ॥ 41 ॥

(एक ऐसा हंस तालाब में प्रेम के मद में भरा खेल रहा है, जिसके मन में प्रेम का भाव अचानक आ बसा है ॥ 41 ॥)

(एकक्रमवर्धितमुरुतरप्रेमरसेन ।

सरसि हंसयुवा क्रीडति कामरसेन ।।)

मधुकर मदिराक्ष्याः शंस तस्याः प्रवृत्तिं

(विभाव्य)

वरतनुरथवासौ नैव दृष्ट्वा त्वया मे ।

यदि सुरभिमवाप्स्यस्तन्मुखोच्छ्वासगन्धं

तव रतिरभविष्यत्पुण्डरीके किमस्मिन् ।। 42 ।।

साधयामस्तावत् । (इति परिक्रम्यावलोक्य च) अये! एष नीपस्कंधनिषण्णहस्तः करिणीसहायो नागराजस्तिष्ठति । अस्मात्प्रियोदन्तमुपलप्स्ये । यावदेनमुपसर्पामि ।

(नेपथ्ये)

करिणीविरहसंतापिअओ ।

काणणे गंधुद्धुअ महुअरु ।। 43 ।।

(करिणीविरहसंतापितः ।

कानने गन्धोद्धतमधुकरः ।।)

(विलोक्य) अथवा न त्वरा कार्या । न तावदयमुपसर्पणकालः ।

अयमचिरोद्गतपल्लवमुपनीतं प्रियकरेणुहस्तेन ।

अभिलवतु तावदासवसुरभिरसं शल्लकीभङ्गम् ।। 44 ।।

(क्षणमात्रं स्थित्वा । अवलोक्य) हन्त कृताह्निकः संवृत्तः । भवतु । समीपमस्य गत्वा पृच्छामि ।

अरे भैर! उस मद-भरे नैनों वाली मेरी प्यारी का समाचार तो कह सुनाओ । (सोचकर) या कौन जाने तुमने उसे देखा ही न हो, क्योंकि यदि तुम्हें मेरी प्रियतमा के मुख की सुगन्धित साँस मिल गई होती तो तुम इस कमल से थोड़े ही प्यार करते होते ।। 42 ।।

चलें यहाँ से । (धूमकर और देखकर) अरे, इस कदम्बकी डाल पर अपनी सूँड़ टेके हुए हथिनी के साथ यह एक बड़ा-सा हाथी खड़ा हुआ है । चलूँ, उसी के पास चलता हूँ ।

(नेपथ्य में)

निज गजिनी वियोग से व्याकुल घूम रहा है यह गज वन में ।

जिस पर मँडराते हैं भैर दान-गन्ध पर हो मतवाले ।। 43 ।।

(हथिनों के विछोह से तपा हुआ यह हाथी जंगल में घूम रहा है, जिस पर गन्ध से मतवाले भैर मँडरा रहे हैं ।। 43 ।।)

(देखकर) पर हड़बड़ी नहीं करनी चाहिए । अभी उसके पास जाना ठीक नहीं है, क्योंकि हथिनी ने अभी-अभी अपनी सूँड़ से यह पत्तों वाली और सुराके समान गन्ध-भरी जो शल्लकी की शाखा पकड़ तोड़ी है, उसे यह हाथी खा ले तब मैं इससे पूछूँगा ।। 44 ।।

(थोड़ी देर रुककर देखकर) अच्छा, अब तो इसने भरपेट भोजन कर लिया । तो अब पास चलकर पूछता हूँ ।

हउँ पुच्छिमि आजक्खहि गजवरु ललिअपहारै णासिअतरुवरु ।
 दूरविणिज्जिअ ससरुक्कती दिट्ठी पिअ पई सम्मुह जंती ॥ 45 ॥
 (अहं पृच्छामि आचक्ष्व गजवर! ललितप्रहारेण नाशिततरुवर ।
 दूरविनिर्जितशशधरकान्तिर्दृष्टा प्रिया त्वया सम्मुखं यान्ती ॥)
 (पदद्वये पुरतः उपसृज्य)

मदकल युवतिशशिकला गजयूथप यूथिकाशबलकेशी ।
 स्थिरयौवना स्थिता ते दूरालोके सुखालोका ॥ 46 ॥

(आकर्ण्य सहर्षम्) अहह, अनेन भवतः स्निग्धमन्त्रेण गर्जितेन प्रियोपलम्भशंसिना समाशवासितोऽस्मि ।
 साधर्म्याच्च त्वयि मे भूयसी प्रीतिः ।

मामाहुः पृथिवीभूतामषिपतिं नागाधिराजो भवान्
 अव्युच्छिन्न-पृथुप्रवृत्ति भवतो दानं ममाप्यर्थिषु ।
 स्त्रीरत्नेषु ममोर्वशी प्रियतमा यूथे तवेयं वशा
 तर्ष मामनु ते प्रियाविरहजां त्वं तु व्यथां मानुभूः ॥ 47 ॥

सुखमास्तां भवान् । साधयामस्तावत् । (परिक्रम्य पार्श्वतो दृष्टिं दत्वा) अये! अयमसौ सुरभिकन्दरो
 नाम विशेषरमणीयः सानुमानालोक्यते । प्रियश्चायमप्सरसाम् । अपि नाम सा सुतनुरस्योपत्यकायामुपलभ्येत ।
 (परिक्रम्यावलोक्य च ।) कथमन्धकारः । भवतु विद्युत्प्रकाशेनावलोकयामि । हन्त मदीयैर्दुरितपरिणामैर्मर्घोऽपि
 शतहृदाशून्यः संवृतः तथापि शिलोच्चयमेनमपृष्ट्वा न निवर्तिष्ये ।

सहज भाव से वृक्ष-विभंजक गजवर! तुमसे यही पूछता ।

क्या देखा प्यारी को जो है करती धँधली चन्द्र-चन्द्रिका ॥ 45 ॥

(खेल-खेल में ही बड़े-बड़े वृक्षों को सहज में उखाड़ फेंकने वाले गजराज! मैं तुम्हीं से पूछ रहा हूँ ।
 बताओ, क्या तुमने मेरी उस प्रिया को इधर जाते देखा है, जो अपनी चमक से चन्द्रमा की चाँदनी को
 भी लजाए डालती है ॥ 45 ॥

(दो पग आगे बढ़कर) अरे मतवाले हाथी! क्या तूने अपनी दूर तक देखने वाली आँखों से उस सदा
 युवती उर्वशी को कहीं देखा है, जो युवतियों में चन्द्रमा की नई किरण के समान चमकती है और जिसके
 बालों में जूही के फूल गूँथे हुए हैं ॥ 46 ॥

(सुनकर हर्ष से) आहा! इस तुम्हारे कोमल, मन्द और प्रिया का ठिकाना बताने वाली चिन्हाड़ से
 मेरे जीको बड़ा सहारा मिला है । तुम भी मेरे ही समान बलवान् हो, इसीलिये तुमसे मेरा बड़ा स्नेह हो
 गया है । मुझे तो लोग राजाओं का स्वामी कहते हैं और तुम्हें गजों का स्वामी । तुम भी दिन-रात अपना
 दान (मद) बहाया करते हो तो मेरे यहाँ भी दिन-रात मंगनों को दान देने का काम चलता रहता है ।
 जैसे स्त्रियों में रत्न के समान सुन्दर उर्वशी मेरी प्रियतमा है वैसे ही यह हथिनी भी तुम्हारी प्यारी है ।
 इस प्रकार हम दोनों सब बातों में एक से ही हैं, पर मैं यही मनाता हूँ कि प्रिया के बिछोह का दुःख
 तुम्हें कभी न सता पावे ॥ 47 ॥

तुम सुखी रहो । हम जा रहे हैं । (घूमकर एक ओर देखकर) अरे यह सुरभिकन्दर नामका बड़ा
 सुहावना पर्वत दिखाई दे रहा है और अप्सराओं को यह पर्वत बड़ा प्यारा भी है । कहीं वह सुन्दरी इस

पसरिअखरखुरदारिअमेइणि वणगहणे अविचल्लु ।

परिसप्पइ पेच्चह अइ लीणो णिअकज्जुज्जुअ कोलु ॥ 48 ॥

(प्रसृतखरदारितमेदिनिर्वनगहनेऽविचलः ।

परिसपति पश्यत अति लीनो निजकार्योद्युतः कोलः ॥)

अपि वनान्तरमल्पकुचान्तरा श्रयति पर्वत-पर्वसु संनता ।

इदमनङ्गपरिग्रहमङ्गना पृथुनितम्ब-नितम्बवती तव ॥ 49 ॥

कथं तूष्णीमेवास्ते । शङ्के विप्रकर्षात्र शृणोतीति । भवतु । समीपेऽस्य गत्वा पुनरेनं पृच्छामि ।

फलहसिलाअलणिम्मलणिज्झर बहुविहकुसुमें विरइअसेहरु ।

किंनरमहुरुग्गीअमणोहरु देक्खावहि महु पिअअम महिहरु ॥ 50 ॥

(स्फटिकशिलातलनिर्मलनिर्झर ! बहुविधकुसुमैर्विरचितशेखर ।

किंनरमधुरोद्गीतमनोहर दर्शय मम प्रियतमां महीधर ॥)

(इति परिक्रम्य अञ्जलिं वद्ध्वा)

सर्वक्षितिभृतां नाथ दृष्ट्वा सर्वाङ्गसुन्दरी ।

रामा रम्ये वनान्तेऽस्मिन्मया विरहिता त्वया ॥ 51 ॥

(नेपथ्ये तदेवाकर्ण्य सहर्षम्) कथं यथाक्रमं दृष्ट्वा इत्याह । भवानपि अतः प्रियतरं शृणोतु । क्व तर्हि मे प्रियतमा । (पुनरेव सर्वक्षितिभृतां नाथ इति पठति । नेपथ्ये तदेव आकर्ण्य विभाव्य च ॥) हा धिक् ।

पर्वत की तलहटी में ही न आ मिले ! (घूमकर और देखकर) अरे ! यहाँ कितना अँधेरा है । अच्छा, बिजली चमके तो मैं देखूँ-हाय ! हाय ! मेरे दुर्भाग्य से बादलों में भी बिजली नहीं रह गई । फिर भी इस पर्वत से पूछे बिना तो मैं यहाँ से टलूँगा नहीं ।

पैने खुर से धरा खूँदता अड़ा टेक पर यह वनशूकर ।

अपनी धुन में मस्त बना यह घूम रहा इस वन में निर्भय ॥ 48 ॥

(अपने बड़े-बड़े और पैने पैने खुरों से पृथ्वी को खूँदता और अपनी टेकपर अड़ा हुआ, एक जंगली सूअर अपनी धुन में मस्त होकर इस घने जंगल में घूमे जा रहा है ॥ 48 ॥

अरे बड़ी-बड़ी ढालों वाले पहाड़ ! अपने इस कामदेव के वन में क्या तुमने सुन्दर नितम्बों वाली और पोर-पोरपर झुकी हुई सी उस सुन्दरी को देखा है, जिसके दोनों स्तन उभर कर आपस में जा सटे हैं ॥ 49 ॥

अरे ! यह चुप क्यों हो गया ! या कौन जाने दूर होने के कारण ही वह सुन न सक रहा हो ! अच्छा, इसके पास जाकर पूछता हूँ ।

रंगभरे सुम शिखर सुसज्जित स्फटिक शिला पर बहते झरने ।

किन्नर-मिथुन गीत-रव मुखरित मुझे प्रिया की झलक दिखा दे ॥ 50 ॥

(अरे अपनी स्फटिक की चट्टानों पर बहते हुए उजले झरनों वाले ! अरे रंग-विरंगे फूलों से अपनी चोटियाँ सजाने वाले ! अरे किन्नरों के मधुर गीतों से सुहावने लगने वाले पर्वत ! एक झलक मेरी प्यारी की भी तो मुझे दिखा दे ॥ 50 ॥

(घूमकर और देखकर) अरे पर्वतों के स्वामी ! क्या तुमने वन के इस सुन्दर छोर में मुझसे बिछुड़ी हुई उस निराली सुन्दरी उर्वशी को कहीं देखा है ? ॥ 51 ॥

(नेपथ्य से वैसे ही शब्द सुनकर सहर्ष) अरे ! क्या यह कह रहा है कि—हैं ठीक वैसे ही देखा है,

ममैवायं कन्दरमूखविसर्पी प्रतिशब्द (इति मूर्च्छति। उत्थाय सविषादम्।) अहह! श्रान्तोऽस्मि।
अस्यास्तावदिगरिनद्यास्तीरे स्थितस्तारङ्गवातमासेविष्ये। (परिक्रम्यावलोक्य च) इमां नवाम्बुकलुषामपि स्रोतोवहां
पश्यन्तो मे रमते मनः। कुतः—

तरङ्गभ्रूमङ्गा क्षुभितविहगश्रेणिरशना

विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम्।

यथाबिद्धं याति स्खलितमभिसन्धाय बहुशो

नदीभावेनयं ध्रुवमसहना सा परिणता॥ 52॥

भवतु। प्रसादयामि तावदेनाम्। (अञ्जलिं बद्ध्वा।)

पसीअ पिअअम सुंदरिए णए खुहिआकरुणविहंगमए णए।

सुरसरितीरसमुसए णए अलिउलशङ्कारिए णए॥ 53॥

(प्रसीद प्रियतमे सुन्दरि नदि क्षुभिताकरुणविहङ्गमे नदि।

सुरसरितीरसमुत्सुके नदि अलिकुलशङ्कारिते नदि॥)

(नेपथ्ये)

पुव्वदिसापवणाहअकल्लोलुग्गअबाहओ

मेहंगे णच्चइ सललिअे जलणिहिणाहओ।

हंसविहंगमकुंकुम संखकआभरणु

करिमअराउलकसणकमलकुआवरणु ।

जैसा मैंने कहा था। तब तुम इससे भी प्यारी बात सुनो और बताओ कि मेरी प्रियतमा है कहाँ? (फिर से 51वाँ श्लोक पढ़ता है और नेपथ्य में फिर यही सुनकर और समझकर) हाय रे भाग्य! यह तो पहाड़ की गुफा से टकराकर निकलनेवाले मेरे ही शब्दों की गूँज है। (मूर्च्छित हो जाता है। फिर उठकर दुःख के साथ) अरे! अब तो मैं थक गया हूँ। इसलिये इस झरने के तीर पर तरंगों की ठंडी बयार में चलकर बैठ लेता हूँ। (घूमकर और देखकर) तत्काल बरसे हुए पानी से गंदले झरने को देखकर भी मेरा मन प्रसन्न हो रहा है, क्योंकि मार्ग में आने वाली चट्टानों से बचने के लिये यह ढेढ़ा-मेढ़ा होकर बह रहा है, इसकी लहरें चढ़ी हुई भौंहो-जैसी हैं, व्याकुल पक्षियों की पातें ही इसकी तगड़ी है, इसका फेन ही मानो वह वस्त्र है, जो चलने से ढीला पड़ गया है और जिसे वह खींचती लिए चली जा रही है। इससे मुझे ऐसा लग रहा है कि मेरी क्रोधी प्रिया ही नदी बनी बह रही है॥ 52॥ अच्छा, चलता हूँ मैं इसी को चलकर मनाता हूँ।

(हाथ जोड़कर)

चल विहगों के कर्कश रवयुत गंग-समागम उत्सुक सरिते।

भ्रमर-पक्षि गुंजरित मनोहर! मुझपर तुम प्रसन्न हो जाओ॥ 53॥

(उड़ते और कर्कश स्वरों में चहचहाते हुए पक्षियों वाली गंगा से मिलने को उतावली और भौरों की पाँतों से गूँजने वाली अरी सुन्दर नदी! तुम मुझ पर प्रसन्न हो जाओ॥ 53॥

(नेपथ्य में)

देखो सागरपतिका नर्तन जलमय बन छाया उसका तन।

पवन-प्रवशिति लहर हस्त हैं, शंख हंस आदिक आभूषण॥

वेलासलिलुव्येल्लिअहत्थदिण्णातालु

ओत्थरइ दसदिस रुंघेविणु णवमेहआलु ॥ 54 ॥

(पूर्वदिक्पवनाहतकल्लोलोद्गतबाहुः मेघाङ्गैर्नृत्यति सललितं जलनिधिनाथः।

हंसविहङ्गमकुङ्कुमशङ्ककृताभरणः करिमकराकुलकृष्णकमलकृतावरणः।

वेला सलिलोद्वेल्लितदत्तहस्ततालोऽवस्तृणाति दशदिशो रुद्ध्वा नवमेघकालः॥)

त्वयि निबद्धरतौ प्रियवादिनी प्रणयभङ्गपराङ्मुखचेतसि।

कमपराधलवं मयि पश्यसि त्यजसि मानिनि दासजनं यतः॥ 55 ॥

कथं तूष्णीमेवास्ते (विचिन्त्य) अथवा परमार्थसरिदैवेपा। न खलूर्वशी पुरुरवसमपहाय समुद्राभिसारिणी भविष्यति। भवतु। अनिर्वेदप्राप्याणि श्रेयांसि। यावत्तमेव प्रदेशं गच्छामि यत्र मे नयनयोः सा सुनयना तिरोहिता। (परिक्रम्य विलोक्य च) इमं तावत्प्रियाप्रवृत्तये सारङ्गमासीनमभ्यर्थये।

(नेपथ्ये)

अभिनवकुसुमस्तबकिततरुवरस्य परिसरे।

मदकलकोकिलकूजितरवझङ्कारमनोहरे।

नन्दनविपिने निजकरिणीविरहानलेन संतप्तो

विचरति गजाधिपतिरैरावतनामा ॥ 56 ॥

हस्ति-मकर-कुल नील वस्त्र हैं नील कमल उनकी मालाएँ।

तटाघात ही ताल मनोहर, उस पर वर्षा दिग्दिगन्त भर ॥ 54 ॥

(यह देखो! समुद्र ही जिसका स्वामी है उस नदी का कैसा अच्छा नृत्य हो रहा है। जल में पड़ी हुई मेघों की परछाई ही उसका शरीर है। पुरवैया पवन से उठी हुई लहरें ही मानों नृत्य लिये उठाए हुए उसके हाथ हैं। शंख और हंस आदि पक्षी ही उसके पैरों के घुँघरू और आभूषण हैं। हाथियों और मगरों के झुण्ड ही उसके नीले वस्त्र हैं, नीले कमल ही उसकी मालाएँ हैं और तीर से टकराती हुई लहरें ही मानो ताल दे रही है और इसी बीच वर्षाकाल भी आकर सब दिशाओं को ढँक ले रहा है ॥ 54 ॥

अरी नदी! बता तो तुझसे इतना प्रेम करने वाले, सदा मीठी बातें करने वाले और प्रेम में कभी कोई कमी आने की बात ही न सोचने वाले इस प्रेमी में तुमने कौनसा ऐसा छोटे-से छोटा भी दोष ढूँढ पाया है कि तुम इस दासको इस प्रकार छोड़े दे रही हो ॥ 55 ॥

अरे, यह चुप क्यों है? (सोचकर) या फिर यह सचमुच नदी ही होगी। क्योंकि यदि वह उर्वशी होती हो पुरुरवा को छोड़कर समुद्र की ओर जाने के लिये इतनी उतावली न होती। अच्छा, बिना दुःख उठाए सुख मिल भी तो नहीं सकता, चलूँ, अब मैं उसी स्थान पर जा पहुँचूँ जहाँ वह सुन्दर नयनों वाली मेरी आँखों से ओझल हो गई थी (घूमकर और देखकर) चलूँ, इस बैठे हुए हरिण से ही प्यारी का पता पूछ देखता हूँ।

(नेपथ्य में)

नन्दन वन के नये फूलों के गुच्छों से लदे हुए और मदमाते कोयल की मीठी कूक से सुहावने लगने वाले वृक्ष के पास यह हाथियों का राजा ऐरावत अपनी प्यारी हथिनी के बिछोह की आँच में तपा हुआ इधर-उधर घूमे जा रहा है ॥ 56 ॥

कृष्णसारच्छविर्योऽसौ दृश्यते काननश्रिया ।

नवशष्पावलोकाय कटाक्ष इव पातितः ॥ 57 ॥

(विलोक्य) किं नु खलु मामवधीरयन्निवान्यतो मुखः संवृतः । (दृष्ट्वा)

अस्यान्तिकमायान्ती शिशुना स्तनपायिना मृगी रुद्धा ।

तामयमनन्यदृष्टिर्भुङ्गनग्रीवो विलोकयति ॥ 58 ॥

सुरसुन्दरि जहणभरालस पीणुत्तुङ्गघणत्पणि

थिरजोव्वण तणुसरीरि हंसगई ।

गअणुज्जलकाणणे मिअलोअणि भमंती

दिङ्गी पई तह विरहसमुद्गन्तरे उत्तारहि मई ॥ 59 ॥

(सुरसुन्दरी जघनभरालसा पीनोत्तुङ्गघनस्तनी

स्थिरयौवना तनुशरीरा हंसगतिः

गगनोज्ज्वलकानने मृगलोचना भ्रमन्ती

दृष्ट्वा त्वया तहि विरहसमुद्रान्तरादुत्तारय माम् ॥)

(उपसृत्य अञ्जलिं बद्ध्वा) हंहो हरिणीपते!

अपि दृष्टवानसि मम प्रियां वने कथयामि ते तदुपलक्षणं शृणु ।

पृथुलोचना सहचरी यथैव ते सुभगं तथैव खलु सापि वीक्षते ॥ 60 ॥

कथमनादृत्य मदचनं कलत्राभिमुखं स्थितः । उपपद्यते परिभवास्पदं दशाविपर्ययः ।
यावदितोऽहमन्यमवकाशमवगाहिष्ये । (परिक्रम्यावलोक्य च) हन्त दृष्टमुपलक्षणं तस्या मार्गस्य ।

इस हरिण के शरीर पर बनी हुई काली-काली बुँदकियाँ ऐसी लगती हैं, मानो वन की नई हरियाली निहारने के लिये वनलक्ष्मी ने ही इस पर अपनी चितवन ला डाली हो ॥ 57 ॥

(देखकर) इसने तो मेरी बात ही अनसुनी करके अपना मुँह दूसरी ओर फेर लिया है । (देखकर) इसके पास जो इसकी हरिणी चली आ रही थी और जिसे दूध पीने वाले मृगछौने ने बीच में ही रोक लिया है, उसकी ओर आँख लगाए यह एकटक देखता जा रहा है ॥ 58 ॥

श्रोणि-भार से मन्दगतिक हो मृथुल समुन्नत पीन पयोधर ।

सदा युवा, तन्वी, हँसी-गति मृगनयनी अप्सरा सदृश जो ।

यदि तुमने नभ-उज्ज्वल वन में देखा हो मेरी प्यारी को ।

तो मुझको बतलाकर सत्वर विरह-सिन्धु से तुम उबार लो ॥ 59 ॥

(नितम्बों के भारी होने के कारण धीरे-धीरे चलने वाली और ऊँचे उठे हुए मोटे-मोटे स्तनों वाली, सदा जवान रहने वाली, पतली कमर वाली और हंस जैसी चाल वाली उस मृगनैनी अप्सरा को यदि तुमने इस आकाश के समान उजले वन में घूमते हुए कहीं देखा हो तो उसका ठिकाना बताकर मुझे इस विरह के समुद्र से उबार लो ॥ 59 ॥

(पास जाकर हाथ जोड़कर) क्यों जी हरिणी के स्वामी! क्या तुमने मेरी प्यारी को कहीं वन में देखा है? मैं तुम्हें उसका सब रूप रंग भी बताए देता हूँ। सुनो! ठीक जैसे तुम्हारी हरिणी अपनी बड़ी बड़ी आँखों से सुन्दर चितवन चलाती है, वैसे ही वह भी चलाती है ॥ 60 ॥

क्या यह मेरी बात अनसुनी करके अपनी हरिणी की ओर मुँह करके बैठ गया? ठीक ही है—जब

रक्तकदम्ब सोऽयं प्रियया धर्मान्तशंसि यस्यैकम् ।
कुसुममसमग्रकेसरविषममपि कृतं शिखाभरणम् ॥ 61 ॥

(परिक्रम्याशोकमवलोक्य च)

रक्तशोक कृशोदरी क्व नु गता त्यक्त्वानुरक्तं जनं.....
(पवनधूयमानमूर्धानमवलोक्य सक्रोधम्)

नो दृष्टेति मुधैव चालयसि किं वाताभिभूतं शिरः ।

उत्कण्ठाघटमानषट् पदघटासङ्घट्टदष्टच्छदः

तत्पादाहतिमन्तरेण भवतः पुष्पोद्गमोऽयं कुतः ॥ 62 ॥

भवतु । सुखमास्तां भवान् । (परिक्रम्यावलोक्य च) किं नु खलु एतच्छिलाभेदान्तरगतं
नितान्तरक्तमवलोक्यते ।

प्रभालेपी नायं हरिहतगजस्यामिषलवः

स्फुर्लिङ्गो वा नाग्नेर्गहनमभिवृष्टं यत इदम् ।

(विभाव्य)

अये रक्ताशोकप्रसवसमरागो मणिरयं

यमुद्धतुं पूषा व्यवसित इवालम्बितकरः ॥ 63 ॥

अहो, अयं हरति मे मनः । भवतु । आदास्ये तावदेनम् ।

(नेपथ्ये)

पण्डिणिबद्धासाइअओ वाहाउलणिअणअणओ ।

गअवइ गहणे दुहिअओ भमइ क्खामिअवअणओ ॥ 64 ॥

दिन छोटे आते हैं, तब सभी दुरदुराने लगते हैं । तो फिर यहाँ से कहीं और चलकर उसे ढूँढता हूँ । (धूमकर और देखकर) यह लो ! मैंने उसके मार्ग का ठिकाना पा लिया । यह वही लाल अशोक का पेड़ है, जिसमें फूले हुए फूल बता रहे थे कि गर्मी बीत गई । उसी का एक ऐसा फूल लेकर प्यारी ने अपने जूड़े का सिंगार किया था, जिसमें केसर न फूट आने के कारण वह उस समय तक कड़ा ही था । 61 ॥

(धूमकर अशोक की ओर देखता हुआ) अरे लाल अशोक ! बता इस प्रेमी को छोड़कर वह सुन्दरी कहाँ चली गई ? (पवन से हिलती हुई अशोक की चोटी देखकर क्रोध से) पवन से झूमता हुआ अपना सिर हिलाकर यह क्यों कह रहे हो कि मैंने नहीं देखा । यदि तुमने उसे न देखा होता तो बताओ मधु के लालच में इकट्ठे होने वाले भौरों से कुतरी जाने वाली पंखड़ियों वाले तुम्हारे फूल उसकी लात खाए बिना फूल कैसे उठते ॥ 62 ॥

अच्छा, तुम सुखी रहो । (धूमकर और देखकर) पत्थर की दरार के भीतर बड़ा गहरा लाल मणि सा दिखाई दे रहा है ? यह इतना चमक रहा है कि सिंह से मारे हुए हाथी के मौस का टुकड़ा भी नहीं हो सकता । यह आग की चिनगारी भी नहीं हो सकती, क्योंकि अभी-अभी घनघोर वर्षा भी हो चुकी है । (देखकर) अरे, यह तो लाल अशोक के फूलों के समान लाल-लाल मणि है जिसे उठाने के लिये सूर्य भी मानो अपने किरण रूपी हाथ वहाँ तक बढ़ाए हुए हैं ॥ 63 ॥

अरे ! यह तो मेरे मन को बड़ा लुभा रहा है । अच्छा, चलता हूँ इसे निकाले लेता हूँ ।

(नेपथ्य में)

प्रिया मिलन की आशा लेकर घूम रहा है वन में करिवर

अति दुःखित हो अश्रु बहाता सूखे मुँहवाला व्याकुल यह ॥

(अपनी प्यारी को पाने की आशा लगाए, आँखों में आँसू भरे यह सूखे मुँह वाला हांथी इस वन में दुखी होता हुआ घूम रहा है ॥ 64 ॥

(प्रणयिनिबद्धाशाको वाष्पाकुलनिजनयनः ।

गजपतिर्गहने दुखितः भ्रमति क्षामितवदनः ॥)

(ग्रहणं नाटयति । गृहीत्वा) अथवा

मन्दारपुष्पैरधिवासितायां यस्याः शिखायामयर्पणीयः

सैव प्रिया सम्प्रति दुर्लभा मे किमेनमस्रोपहतं करोमि ॥ 65 ॥

(इत्युत्सृजति ।)

(नेपथ्ये)

वत्स! गृह्यतां गृह्यताम् ।

सङ्गमनीय इति मणिः शैलसुता-चरणरागयोनिरयम् ।

आवहति धार्यमाणः सङ्गमचिरात्प्रियजनेन ॥ 66 ॥

राजा—(कर्णं दत्वा) को न खलु मामेवमनुशास्ति । (अवलोक्य) अये! अनुकम्पते मां कश्चिन्मृगचारी मुनिर्भगवान् । भगवन्! अनुगृहीतोऽस्मि अहमुपदेशाद्भवतः । (मणिमादाय) हंहो सङ्गमनीय!

तया वियुक्तस्य विलग्नमध्यमा भविष्यति त्वं यदि सङ्गमाय मे ।

ततः करिष्यामि भवन्तमात्मनः शिखामणिं बालमिवेन्दुमीश्वरः ॥ 67 ॥

(परिक्रम्यावलोक्य च) अये! किं न खलु कुसुमरहितामपि लतामिमां पश्यतो मे मनो रमते । अथवा स्थाने मनोरमा ममेयम् । इयं हि ।

तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः ।

शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद्विश्रान्तपुष्पोद्गमा ।

(मणि निकालने का नाटय करता है । उसे पकड़कर) पर मन्दार के फूलों से सुगन्धित मेरी प्यारी की जिस चोटी में यह बँधनी चाहिए, वही जब नहीं मिल रही है, तब मैं इसे ही लेकर क्यों अपने आँसुओं से इसे मैला करूँ ॥ 65 ॥ (वहीं उसे छोड़ देता है ।)

(नेपथ्य में)

वत्स! इसे ले लो, ले लो । यह प्रिय से मिलाने वाली संगमनीय मणि है, जो पार्वती के चरणों की ललाई से बनी है । इसे जो अपने पास रखता है, उसे वह शीघ्र ही प्रिय से मिलवा देती है ॥ 66 ॥

राजा—(सुनकर) अरे! यह कौन मुझे इस प्रकार आज्ञा दे रहा है । (देखकर) जान पड़ता है, हरिण के समान वन में रहने वाले किसी मुनि ने मुझ पर कृपा की है । भगवन्! आपके इस उपदेश के लिये मैं आपका आभारी हूँ । (मणि उठाकर) अरे संगमनीय मणि! यदि मुझे उस पतली कमरवाली सुन्दरी से मिला दोगे तो मैं तुम्हें उसी प्रकार अपने मुकुट में उठा लगाऊँगा, जैसे शिव ने अपने सिर की जटाओं में बाल चन्द्रमा को रख लिया है ॥ 67 ॥

(घूमकर और देखकर) अरे! इस बिना फूलवाली लता को देखकर भी मेरा मन न जाने क्यों इतना उछला पड़ रहा है! पर इसे देखकर तो मेरे मन को सुख मिलना ही चाहिए क्योंकि—बादल के जल से धुले हुए कोमल पत्तों के कारण उस सुन्दरी के समान दिखाई दे रही है, जिसके ओठ आँसुओं से धुल गए हों, फूलने का समय न होने से न फूली हुई भी यह ऐसी लगती है मानो इसने आभूषण उतार दिए

चिन्तामौनमिवास्थिता मधुलिहां शब्दैर्विना लक्ष्यते

चण्डीमामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा ॥ 68 ॥

लए पेक्ख विणु हिअएँ भमामि । जइ विहि जोएँ पुणि तहिँ पाविमि ।

ता रण्णें विणु करीम णिभंती । पुण णइ मेल्लुई ताह कअन्ती ॥ 69 ॥

(लते प्रेक्षस्व विना हृदयेन भ्रमामि । यदि विविधयोगेन पुनस्तां प्राप्नोमि ।

तदारण्येन विना करोमि निभ्रांति । पुनर्न प्रवेशयामि तां कृतान्ताम् ॥)

(इति उपसृत्य लतां आलिङ्गति । ततः प्रविशति तत्स्थानं एव उर्वशी ।)

राजा—(निमीलिताक्ष एव स्पर्श रूपयित्वा ।) अये! उर्वशीगात्रसंस्पर्शादिव निर्वृतं मे शरीरम् । तथापि नास्ति विश्वासः । कुतः—

समर्थये यत्प्रथमं प्रियां प्रति क्षणेन तन्मे परिवर्ततेऽन्यथा ।

अतो विनिद्रे सहसाविलोचने करोमि न स्पर्शविभावितप्रियः ॥ 70 ॥

(शनैश्चक्षुष्युन्मील्य) कथं सत्यमेव प्रियतमा । (इति मूर्च्छितः । पतति ।)

उर्वशी—(वाष्पं विसृज्य) समस्ससदु समस्ससदु महाराओ । (समाश्वसितु समाश्वसितु महाराजः ।)

राजा—(संज्ञां लब्ध्वा) प्रिये! अद्य जीवितम् ।

त्वद्वियोगोद्भवे तन्वि मया तमसि मज्जता ।

दिष्ट्या प्रत्युपलब्धासि चेतनेव गतासुना ॥ 71 ॥

हों । इस पर भौर भी नहीं गूँज रहे हैं, इसलिये यह ऐसी जान पड़ती है मानो इसने मौन व्रत ले रक्खा हो । इस प्रकार यह ऐसी जान पड़ती है मानो अब उसने क्रोध किया था और मैं उसे मनाने के लिये उसके पैरों पड़ा था, तब जो वह रूठकर चल दी थी उसका पछतावा किए डाल रही हो ॥ 68 ॥

तो चलूँ, अपनी प्रिया के समान दिखाई देने वाली इस लता को ही तब तक गले से जा लगाऊँ ।

अरी लते! ले देख खोलकर हृदय, यहाँ मैं घूम रहा हूँ ।

पाकर उसको ले जाऊँगा दूर, न फिर मैं आने दूँगा ॥ 69 ॥

(अरी लता! देख! मैं यहाँ हृदय खोलकर घूम रहा हूँ । यदि दैवयोग से मैं उसे पा जाऊँ तो इस वन से उसे इतनी दूर लिवा ले जाऊँगा कि फिर उसे यहाँ कभी आने ही न दूँगा ॥ 69 ॥)

(आगे बढ़कर लता को गले लगाता है । उर्वशी प्रकट हो जाती है ।)

राजा—(आँखें बन्द होने पर भी स्पर्श करने का नाट्य करता हुआ) अरे! मेरे शरीर को ऐसा सुख मिल रहा है मानो उर्वशी ही मेरे शरीर से आ लिपटी हो । फिर भी विश्वास नहीं हो रहा है, क्योंकि—मैं जिस भी वस्तु को अपनी समझ बैठता हूँ, वही क्षण भर में बदल जाती है । इस लता को छूने से तो मुझे अपनी प्यारी से मिलने का इतना सुख मिल रहा है कि मैं अपनी आँखें खोलूँगा ही नहीं ॥ 70 ॥

(धीरे से आँखें खोलकर) अरे! यह तो सचमुच मेरी प्यारी ही है । (मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है ।)

उर्वशी—(आँसू बहाती हुई) धीरज धरिए महाराज! धीरज धरिए ।

राजा—(मूर्च्छा से जागकर) आज मैं जी गया प्यारी! सुन्दरी! तुम्हारे बिछोह के अँधेरे में डूबते हुए मैंने भाग्यवश तुम्हें उसी प्रकार पा लिया है जैसे मेरे हुए को प्राण मिल गए हों ॥ 71 ॥

उर्वशी—अर्भतरकरणाए मए पच्चक्खीकदवुत्तन्तो खलु महाराओ। (अभ्यन्तरकरणया मया प्रत्यक्षीकृतवृत्तान्तः खलु महाराजः।)

राजा—अभ्यन्तरकरणयेति न खलु ते वचनार्थमवैमि।

उर्वशी—कइइस्सं। इदं दाव पसीददु महाराओ जं मए कोववसं गदाए एदं अवत्थन्तरं पाविदो महाराओ। (कथयिष्यामि। एतत्तावत्पसीदतु महाराजो यन्मया कोपवशं गतया एतदवस्थान्तरं प्रापितो महाराजः।)

राजा—कल्याणि! न तावदहं प्रसादयितव्यः। त्वद्दर्शनादेवप्रसन्नवाह्यानन्तःकरणोऽन्तरात्मा। तत्कथय कथमियन्तं कालमवस्थिता मया विना भवती।

मोरा परहुअ हंस रहंगो अलि गअ पव्वअ सरिअ कुरंगम।

तुज्झह कारण रण्ण भमन्ते को ण हु पुच्छिअ मई रोअंते ॥ 72 ॥

(मयूरः परभृता हंसो रथाङ्ग अलिर्गजः पर्वतः सरित्कुरङ्गमः।

तव कारणेनारण्ये भ्रमता को न खलु पृष्टो मया रुदता।।)

उर्वशी—एव्वं अंतक्करणपच्चक्खीकदुवुत्तन्तो महाराओ। (एवमन्तःकरणप्रत्यक्षीकृतवृत्तान्तो महाराजः।)

राजा—प्रिये। अन्तःकरणमिति न खल्ववगच्छामि।

उर्वशी—सुणादु महाराओ। पुरा भअवदा कुमारेण सासदे कुमारवदं गेण्हअ अकलुसो णाम गंधमादनकच्छो अज्झासिदो। किदो अ एस विही। (शृणोतु महाराजः। पुरा भगवता कुमारेण शाश्वतं कुमारव्रतं गृहीत्वाकलुपो नाम गंधमादनकच्छोऽध्यासितः। कृतश्चैष विधि.....।)

राजा—क इव।

उर्वशी—मैंने अपनी भीतरी इन्द्रियों से महाराज की सब बातें जान ली थीं।

राजा—मैं तुम्हारे “भीतरी इन्द्रिय” शब्द का अर्थ नहीं समझा।

उर्वशी—मैं बताती हूँ उसका अर्थ। पर आपसे यह प्रार्थना है कि पहले मुझे क्षमा कर दीजिए, क्योंकि मैंने ही क्रोध करके आपको इतना कष्ट पहुंचाया है।

राजा—कल्याणी! तुम्हें मुझसे नहीं क्षमा माँगनी चाहिए। तुम्हारे दर्शन से ही मेरी अंतरात्मा और बाहरी इन्द्रियाँ सब प्रसन्न हो गई हैं पर यह तो बताओ कि इतने दिनों तक तुम मेरे बिना रही कैसे? बताओ।

मोर, कोकिला, हंस, चक्रसे, भ्रमर, हस्ति, पर्वत, सरिता से।

सूर्य किरण से रोकर मैंने घूम घूमकर पूछा तुमको ॥ 72 ॥

(मोर, कोयल, हंस, चकवा, भौरा, हाथी, पहाड़, नदी, किरण में से कौन ऐसा रह गया, जिससे मैंने वन में घूम-घूमकर रोते हुए तुम्हारे लिये नहीं पूछा ॥ 72 ॥)

उर्वशी—मैंने अपनी भीतरी इन्द्रियों से महाराज की सब बातें जाल ली थीं।

राजा—प्यारी! मैं सचमुच तुम्हारे इस “भीतरी इन्द्रिय” शब्द का अर्थ नहीं समझ सका हूँ।

उर्वशी—सुनिए महाराज! बहुत दिन हुए भगवान् कार्तिकेय ने सदा के लिये ब्रह्मचर्य लेकर इस पवित्र गंधमादन पर्वत पर अपना डेरा आ जमाया और यह नियम बना दिया।

राजा—क्या?

उर्वशी—जा मिल इत्थिआ इमं पदेसं पविसदि सा लदाभावेण परिणमिस्सदित्ति । किदो अ अअं सावान्तो गोरीचरणराअसंभवं मणिं विणा तदो ण मुच्चिस्सदि त्ति । तदो अहं गुरुसावसंमूढहिअआ देवदासमअं विसुमरिअ अगहिदाणुणआ इत्थिआजणपरिहरणीयं कुमारवणं पविट्ठा । पवेसानन्तरं एव्व अ काणणोवंतवत्तिवासंतीलदाभाएण परिणदं मे स्वम् । (या किल स्त्री इमं प्रदेशं प्रविशति सा लताभावेन परिणस्यतीति । कृतश्चायं शापान्तः गौरीचरणरागसंभव-मणिं विना ततो न मोक्ष्यत इति । ततोऽहं गुरुशापसंमूढहृदया देवतासमयं विस्मृत्यागृहीतानुनया स्त्रीजनपरिहरणीयं कुमारवनं प्रविष्टा । प्रवेशानन्तरमेव च काननोपान्तवर्तिवासन्तीलताभावेन परिणतं मे रूपम् ।)

राजा—प्रिये! सर्वमुपपन्नम् ।

श्रमखेदसुप्तमपि मां शयने या मन्यसे प्रवासगतम् ।

सा त्वं प्रिये सहेयाः कथं मदीयं चिरवियोगम् ॥ 73 ॥

इदं तद्यथाकथितं त्वत्सङ्गमनिमित्तं मुनेरुपलभ्य मणिप्रभावादासादिता त्वमस्माभिः । (इति मणिं दर्शयति ।)

उर्वशी—अम्मो, संगमणीओ अअं मणी । अदो क्खु महाराएण आलिङ्गिदमेत्त ज्जेव्व पकिदित्य म्हि संवुत्ता । (अहो, सङ्गमनीयोऽयं मणिः । अतः खलु महाराजेनालिङ्गितमात्रैव प्रकृतिस्यास्मि संवृत्ता ।) (मणिमादाय मूर्धनि वहति ।)

राजा—एवमेव सुन्दरि क्षणमात्रं स्थीयताम् ।

स्फुरता विच्छुरितमिदं रागेण मणेरललाटनिहितस्य ।

श्रियमुद्रहति मुखं ते बालातपरक्तकमलस्य ॥ 74 ॥

उर्वशी—कि जो भी स्त्री यहाँ आवेगी वह लता के रूप में बदल जायेगी । पर इस शाप का उन्होंने यह उपाय भी बता दिया था कि पार्वती जी के चरणों की ललाई से उत्पन्न होने वाले मणि के पाए बिना इस शाप से छुटकारा नहीं हो सकता । गुरुजी के शाप से मेरी बुद्धि ऐसी मारी गई कि मैं देवताओं के नियम को भूल गई और आपकी मनुहार को ठुकराकर कार्तिकेय के उस वन में जा पैठी जहाँ स्त्रियों को नहीं जाना चाहिए । पैठते ही वन के बाड़े पर ही मैं वासन्ती लता बन गई ।

राजा—ओ हो प्रिये! अब मेरी समझ में सब बात आई । नहीं तो जब तुम मेरे थक कर सो जाने पर भी मुझे दूर गया हुआ समझ लेती थीं, तब भला तुम मुझसे इतने दिनों तक कैसे अलग रह सकती थी ॥ 73 ॥

देखो, अभी तुम जिस मणिकी बात कह रही थी, वह तुमसे मिलाने वाला मणि यही है, जिसे मुनि से पाकर मैंने तुम्हें पा लिया है । (मणि दिखलाते हैं ।)

उर्वशी—क्या यही संगमनीय मणि है? इसलिये महाराज के गले लगाते ही मैं फिर जैसी की तैसी बन गई । (मणि लेकर सिर चढ़ाती है ।)

राजा—सुन्दरी! क्षण भर इसी प्रकार खड़ी तो रहो । सिरपर रक्खी हुई इस मणि से चमकता हुआ तुम्हारा मुखड़ा प्रातःकाल के सूर्य की किरणों से चमकते हुए कमल के समान सुहावना लग रहा है ॥ 74 ॥

उर्वशी—पिअंवद! महंतो क्खु कालो तुए पइड्डाणदो णिग्गदस्स। कदाइ सअूइस्संति मं पकिदिओ। ता एहि णिवुत्तम्ह। (प्रियंवद! महान्खलु कालस्तव प्रतिष्ठानात्रिगतस्य। कदाचिदसूयिष्यन्ति मह्यं प्रकृतयः। तदेहि मिवर्तावहे।)

राजा—यदाह भवती।

(इति उत्तिष्ठतः)

उर्वशी—अध कधं महाराओ गंतुं इच्छदि। (अथ कथं महाराजा गन्तुमिच्छति।)

राजा—

अचिरप्रभाविलसितैः पताकिना सुरकार्मुकाभिनवचित्रशीभिना।

गमितेन खेलगमने-विमानतां नय मां नवेन वसतिं पयोमुचा।। 75।।

(नेपथ्ये)

पायिअसहअरिसंगमवो पुलअपसाहिअअँगअओ।

सेच्छोपत्तविमाणओ विहरइ हंसजुआणओ।। 76।।

(प्राप्तसहचरीसङ्गमः पुलकप्रसाधिताङ्ग।

स्वेच्छाप्राप्तविमानो विहरति हंसयुवा।।)

(इति निष्क्रान्तौ)

।। इति चतुर्थोऽङ्कः।।



उर्वशी—अजी मिठबोले! आप बहुत दिनों से प्रतिष्ठान नगरी से बाहर आए हुए हैं? क्या जाने आप की प्रजा मुझे ही इसके लिये कोसे जा रही हो। इसलिये आइए चलिए लौट चलें।

राजा—जैसा तुम चाहो। (दोनों उठते हैं।)

उर्वशी—तो महाराज कैसे जाना चाहते हैं?

राजा—मैं चाहता हूँ कि बिजली की झंडियों वाले और इन्द्रधनुष के नये चित्रों वाले विमान से बने हुए मेघ पर चढ़कर ही मैं अपने नगर को पहुँच जाऊँ।। 75।।

(नेपथ्य में)

निज प्यारी से मिलकर पुलकित युवा हंस यह।

उड़ा जा रहा चढ़ विमान पर निज मनचाहे।।

(अपनी प्यारी से मिलकर पुलकित शरीर वाला यह जवान हंस अपने मनचाहे विमान पर चढ़ा उड़ा चला जा रहा है।। 76।।)

(दोनों चले जाते हैं।)

।। चौथा अंक पूर्ण हुआ।।



पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति हृष्टो विदूषकः ।)

विदूषकः—ही ही भो दिड्डिआ चिरस्स कालस्स उब्बसीसहाओ णंदणवणप्पमुहेसु देवदारण्णेषु विहरिअ पडिणिवुत्तो पिअवअस्सो । पविसिअ णअरं दाणि ससक्कारोवआरेहिं पकिदीहिं अणुरज्जंतो रज्जं करेदि । संताणत्तणं वज्जिअ ण किविं से हीणं । अज्ज तिहि विसेसो त्ति भअवदीणं गंगाजउणाणं संगमे देवीहिं सह किदाहिसेओ संपदं उवआरिअं पविट्ठो । ता जाव तत्तभवदो अलंकरीअमाणस्स अणुलेवणमल्ले अग्गभागी होमि । (ही ही भोः दिष्ट्या चिरस्य कालस्योर्वशीसहायो नन्दनवनप्रमुखेषु देवतारण्येषु विहृत्य प्रतिनिवृत्तः प्रियवयस्यः । प्रविश्य नगरमिदानीं ससत्कारोपचारैः प्रकृतिभिरनुरज्यमानो राज्यं करोति । सन्तानत्वं वर्जयित्वा न किमप्यस्य हीनम् । अद्य तिथिविशेष इति भगवतोर्गङ्गायमुनयोः सङ्गमे देवीभिः सह कृताभिषेकः साम्प्रतमुपकार्या प्रविष्टः । तद्यावत्तत्रभवतोऽलंक्रियमाणस्यानुलेपमाल्येऽग्रभागी भवामि ।)

(इति परिक्रामति)

(नेपथ्ये)

हस्ती हस्ती । दुकूलुतुरच्छदे तालवेटाधारे णिक्खिविअ णीअमाणो मए भट्ठिणो अब्भंतरविलासिणीमोलिर-अणवोग्गो मणि आमिससंकिणा गिद्धेण अक्खित्तो । (हा धिक् हा धिक् दुकूलोत्तरच्छदे लालवृन्ताधारे निक्षिप्य नीयमानो मया भर्तुरभ्यन्तरविलासिनीमौलिरत्नयोग्यो मणिरामिषशङ्किना गृध्रेणाक्षितः ।)

विदूषकः—(कर्णं दत्त्वा) अच्चाहिदं अच्चाहिदं । परमबहुमदो क्खु सो अवस्सस्स संगमणीओ णाम चूणाम गी । अदो क्खु असमत्तणेवच्छो एव्व तत्तभवं आसणादो उट्ठिअ इदो आअच्छदि । जाव णं

पाचवाँ अङ्क

(प्रसन्न मन से विदूषक आता है ।)

विदूषक—हि हि हि हि ! यह तो बड़े आनन्द की बात हुई कि नन्दन वन आदि देवताओं के वनों में उर्वशी के साथ विहार करके मेरे प्रिय मित्र लौट आए हैं और अब अपने नगर में आकर लोगों से पाई हुई आदर भेंट से प्रसन्न होकर राज करने लगे हैं । अब एक सन्तानको छोड़कर इन्हें किसी बात की कमी नहीं रह गई । आज पर्व का दिन होने से वे देवियों के साथ गंगा और यमुना के संगम में स्नान करके अभी रनिवास में लौटे हैं । इसलिये जब-तक महाराज अपना साज-सिंंगार पूरा करें, तब तक चलता हूँ मैं भी उनकी चन्दन-माला आदि में अपना भाग पहले ही निकाले लेता हूँ ।

(धूमता है)

(नेपथ्य में)

हाय हाय ! ताड़की पिटारी में रेशम का टुकड़ा बिछाकर उसपर मैं महारानी के माथे का मणि लिए चला जा रहा था कि इतने में एक गिद्ध झपटकर उसे मौस का टुकड़ा समझकर उठा ले उड़ा ।

विदूषक—(सुनते हुए) यह तो बड़ा बुरा हुआ, बड़ा बुरा हुआ । यह मणियों में अनोखा संगमनीय मणि महाराज को बड़ा प्यारा था । इसीलिये महाराज अधूरा सिंगार किए हुए ही आसन छोड़े इधर चले

उवसप्पामि । (अत्याहितमत्याहितम् । परमबहुमतः खलु स वयस्यस्य सङ्गमनीयो नाम चूड़ामणिः । अतः खल्वसमाप्त-नेपथ्य एव एत्र भवानासनादुत्थायेत आगच्छति । यावदेनमुपसर्पामि ।)

(इति निष्क्रान्तः ।)

॥ प्रवेशकः ॥

(ततः प्रविशति सावेगपरिजनो राजा ।)

राजा—वेधक! वेधक!

आत्मनो वधमहर्ता क्वासौ विहगतस्करः ।

येन तत्प्रथमं स्तेयं गोप्तुरेव गृहे कृतम् ॥ १ ॥

किरातः—एसो एसो क्खु मुहकोडिलग्गहेमसुत्तेण मणिणा आलिहंतो विअ वाआसं पडिब्भमदि । (एष एष खलु मुखकोटिलग्नहेमसूत्रेण मणिनालिखन्निवाकाशं परिभ्रमति ।)

राजा—पश्याम्येनम् ।

असौ मुखालंबितहेमसूत्रं बिभ्रन्मणिं मंडलचारशीघ्रः ।

अलातचक्रप्रतिमं विहंगस्तद्रागलेखावलयं तनोति ॥ २ ॥

किं नु खल्वत्र कर्तव्यम् ।

विदूषकः—(उपेत्य) भो! अलं एत्थ घिणाए । अवराही सासणीओ । (भोः! अलमत्र घृणया । अपराधी शासनीयः ।)

राजा—सम्यगाह भवान् । धनुर्धनुस्तावत्

यवनी—एसा अणियस्सं (एषाऽनेष्यामि ।) (इति निष्क्रान्ता ।)

राजा—वयस्य! न दृश्यते स विहगाधमः । क्व नु खलु गतः ।

आ रहे हैं । चलता हूँ । (उन्हीं के पास जाता है ।)

॥ प्रवेशकः ॥

(सेवकों के साथ घबराए हुए राजा आते हैं)

राजा—अरे वेधक! वेधक! अपने आप अपनी मृत्यु बुलाने वाला वह चोड़ा पक्षी कहाँ चला गया, जिसने रक्षा करने वाले के घर में ही यह पहली चोरी आ की है ॥ १ ॥

किरात—मैं उसे देख रहा हूँ! अपनी चोंच में सोने का डोरा पकड़े हुए यह पक्षी ऐसे चक्कर लगाए जा रहा है मानो मणि से आकाश में लिखे जा रहा हो ।

राजा—हाँ, दिखाई दे गया । मणि के सोने के डोरे को पकड़े हुए वेग से चक्कर काटता हुआ यह इस प्रकार मणि के रंग का कुंडल बनाए डाल रहा है, जैसे कोई चक्कर देकर आग की लूक घुमाए डाल रहा हो ॥ २ ॥ अब क्या करना चाहिए?

विदूषक—(पास जाकर) देखिए! अब अपनी दया रहने दीजिए । अपराधी को दण्ड देना ही चाहिए ।

राजा—ठीक कहा तुमने! अरे धनुष तो ले आओ ।

यवनी—अभी लाई (चली जाती है ।)

राजा—मित्र! अब तो वह दुष्ट पक्षी कहीं दिखाई ही नहीं दे रहा है । न जाने किधर उड़ा चला गया?

विदूषकः—भो । इदो दक्खिणत्तेण अवगदो सो सासणीओ कुणवभोअणो । (भोः । इतो दक्षिणान्तेनापगतः स शासनीयः कुणपभोजनः ।)

राजा—(परिवृत्यावलोक्य च ।) दृष्ट इदानीम् ।

प्रभापल्लवितेनासौ करोति मणिना खगः ।

अशोकस्तबकेनेव दिङ्मुखस्यावतंसकम् ॥ ३ ॥

यवनी—(चापहस्ता प्रविश्य ।) भट्टा! एदं हत्थावावसहिदं सरासणं । (भर्तः! एतद्धस्तावापसहितं शरासनम् ।)

राजा—किमिदानीं शरासनेन । बाणपथमतीतः स क्रव्यभोजनः । तथा हि ।

आभाति मणिविशेषो दूरमिदानीं पतत्रिणा नीतः ।

नक्तमिव लोहिताङ्गः परुषघनच्छेदसंयुक्तः ॥ ४ ॥

(कञ्चुकिनं विलोक्य) आर्य लातव्य!

कञ्चुकी—आज्ञापयतु देवः ।

राजा—मद्वचनादुच्यतां नागरिकः । सायं निवासवृक्षाश्रयी विचीयतां स विहमदस्युरिति ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः ।)

विदूषकः—भो । उवविसदु भवं संपदं! कहिं गदो सो अणकुम्भीलओ भवदो सासणादो मुच्चिस्सदि । (भोः । उपविशतु भवान् साम्प्रतम् । क्व गतः स रत्नकुम्भीरको भवतः शासनान्मोक्ष्यते ।)

राजा—(विदूषकेण सहोपविश्य) वयस्य ।

रत्नमिति न मे तस्मिन्मणौ प्रियत्वं विहङ्गमाक्षिप्ते ।

प्रियया तेनास्मि सखे सङ्गमनीयेन सङ्गमितः ॥ ५ ॥

विदूषक—वह मार डालने-योग्य माँसखौआ पक्षी दक्खिन की ओर गया है ।

राजा—(धूमकर देखता है ।) वह दिखाई दे रहा है । चमकते हुए मणि को धर-उधर चोंच में लेकर उड़ता हुआ यह पक्षी ऐसा लग रहा है मानो दिशा के माथे पर चूड़ामणि बाँधे दे रहा हो ॥ ३ ॥

यवनी—(हाथ में धनुष लिए आकर) यह लीजिए हथरखा और धनुष ।

राजा—अब क्या होगा धनुष का! वह गिद्ध तो मेरे बाण की पहुँच से बाहर निकल गया । उस मणि को दूर उड़ा ले जाकर वह ऐसा लगने लगा है मानो घने बादल की टुकड़ी के साथ रात को मंगल तारा चमक रहा हो ॥ ४ ॥

(कञ्चुकी को देखकर) आर्य लातव्य!

कञ्चुकी—आज्ञा महाराज!

राजा—मेरी आज्ञा से नगर में डुगी पिटवा दो कि जब यह चोर संध्या को अपने घोंसले में पहुँचे, तब उसे खोज लिया जाय ।

कञ्चुकी—जैसी महाराज की आज्ञा (चला जाता है ।)

विदूषक—अब आप बैठ जाइए महाराज! वह रत्नका चोर आपके दण्ड से बचकर जायगा कहाँ?

राजा—(विदूषक के साथ बैठकर) मित्र! उस पक्षी ने जो रत्न चुराया है, उसका मैं रत्न होने के नाते नहीं, वरन् इसलिये आदर करता हूँ कि उस संगमनीय मणि ने ही मुझे मेरी प्यारी से मिलाया था ॥ ५ ॥

विदूषकः—णं परिगदत्यो म्हि किदो भवता । (ननु परिगतार्थोऽस्मि कृतो भवता ।)
(ततः प्रविशति सशरं मणिमादाय कञ्चुकी ।)

कञ्चुकी—जयतु जयतु देवः ।

अनेन निभिन्नतनुः स वध्यो रोपेण ते मार्गणतां गतेन ।

प्राप्तापराधोचितमन्तरिक्षात्समौलिरत्नः पतितः पतन्त्री ।। 6 ।।

(सर्वे विस्मयं रूपयन्ति ।)

कञ्चुकी—अद्भिः प्रक्षालितोऽयं मणिः कस्मै प्रदीयताम् ।

राजा—वेधक! गच्छ । अग्निशुद्धमेनं कृत्वा पेटकं प्रवेशय ।

किरातः—जं भट्टा आणवेदि । (यद्भर्ताज्ञापयति ।) (इति मणिं गृहीत्वा निष्क्रान्तः ।)

राजा—आर्य लातव्य! जानीते भवान् कस्यायं बाण इति ।

कञ्चुकी—नामाङ्कितोऽयं दृश्यते । न तु मे वर्णविचारक्षमा दृष्टिः ।

राजा—तेन हि उपनय शरं यावदहं निरूपयामि ।

(कञ्चुकी तथा करोति । राजा नामाक्षराण्यनुवाच्य विचारयति ।)

कञ्चुकी—यावदहं नियोगशून्यं करोमि । (इति निष्क्रान्तः ।)

विदूषकः—किं भवं विआरेदि । (किं भवान्विचारयति ।)

राजा—शृणु तावत्प्रहर्तुर्नामाक्षराणि ।

विदूषक—महाराज! यह तो आप मुझे पहले ही बता चुके हैं ।

(बाण के साथ मणि लिए हुए कञ्चुकी का प्रवेश)

कञ्चुकी—जय हो, महाराज की जय हो, इस मारने-योग्य पक्षी को आपके क्रोध ने बाण बनकर मार डाला और यह अपने अपराध का ठीक दण्ड पाकर आकाश से इस रत्न के साथ ही नीचे गिर पड़ा ।। 6 ।।

(सब आश्चर्य करते हैं ।)

कञ्चुकी—मैं इस मणि को पानी से धो लाया हूँ । कहिए किसे दे दूँ?

राजा—वेधक! जाओ, इसे आग में शुद्ध करके पेटी में रख आओ ।

किरात—जैसी महाराज की आज्ञा । (मणि लेकर जाता है ।)

राजा—क्यों आर्य लातव्य! कुछ यह भी ज्ञात हुआ कि बाण किसका है?

कञ्चुकी—इस पर नाम तो खुदा दिखाई देता है, पर मेरी आँखों से इसके अक्षर ठीक-ठीक पढ़े नहीं जा रहे हैं ।

राजा—अच्छा, इधर लाओ बाण । मैं ही पढ़ता हूँ ।

(कञ्चुकी बाण देता है । राजा उस बाण पर लिखे हुए नाम के अक्षरों को बाँचकर सोचते हैं ।)

कञ्चुकी—तब तक चलूँ मैं अपना काम देखूँ । (जाता है ।)

विदूषक—आप सोच क्या रहे हैं?

राजा—उस पक्षी को मारने वाले वीरका नाम सुनोगे?

विदूषकः—अवहिदो म्हि। (अवहितोऽस्मि)

राजा—श्रूयताम्। (इति वाचयति।) —

उर्वशीसंभावस्यायमैलसूनोर्धनुष्मतः ।

कुमारस्यायुषो बाणः प्रहर्तुद्विषदायुषाम् ॥ 7 ॥

विदूषकः—(सपरितोषम्।) दिड्ढिआ संतोणेण वड्ढदि भवं। (दिष्ट्या सन्तानेन वर्धते भवान्।)

राजा—सखे! कथमेतत्। अन्यत्र नैमिषेयसत्रादवियुक्तोऽहमुर्वश्या। न च मया कदाचिदपि गर्भव्यक्तिरालक्षिता कुल एव प्रसूतिः। किंतु—

आविलपयोधराग्रं लवलीदलपाण्डुराननच्छायम्।

कानि दिनानि वपुरभूत्केवलमलेसेक्षण। तस्याः ॥ 8 ॥

विदूषकः—मा भवं सर्वं माणुसीधम्मं दिव्यासु संभावेदु। पहावणिगूढाई ताणं चरिदाई। (मा भवान् सर्वं मानुषीधर्मे दिव्यासु संभावयतु। प्रभावनिगूढानि तासां चरितानि।)

राजा—अस्तु तावदेवं यथा भवानाह। पुत्रसंवरणे तु किमिव कारणं तत्र भवत्याः।

विदूषकः—मा बुड्ढि मं राआ परिहरिस्सदित्ति। (मा वृद्धां मां राजा परिहरिष्यतीति।)

राजा—कृतं परिहासेन। चिन्त्यताम्।

विदूषकः—को देवदारहस्साई तक्कइस्सदि। (को देवतारहस्यानि तर्कयिष्यति।)

(प्रविश्य कञ्चुकी)

विदूषक—हाँ, बताइए।

राजा—सुनो। (बाँचता है।) यह बाण पुरुरवा और उर्वशी के धनुर्धारी पुत्र आयु नामके उस राजकुमार का है, जो शत्रुओं के प्राण खींच लिया करता है ॥ 7 ॥

विदूषक—(संतोष के साथ) आपको पुत्र पाने की बधाई।

राजा—पर मित्र! यह हो कैसे सकता है? नैमिषेय यज्ञको छोड़कर मैं कभी उर्वशी से अलग रहा नहीं और इस बीच मैंने उनके शरीर में कभी गर्भ के लक्षण भी नहीं देखे, फिर यह पुत्र उत्पन्न कैसे हो गया? पर हाँ, एक बात है, अभी कुछ दिन पहले मैं उसके शरीर को देखता था तो उसकी आँखें अलसाई रहती थीं, उनका मुँह लवली के पत्तों के समान पीला पड़ गया था और उनके स्तनोंकी घुंडियाँ साँवली पड़ गई थीं ॥ 8 ॥

विदूषक—आप मानुषी स्त्रियों वाली सब बातें अप्सराओं पर लागू न समझिए। वे जो चाहें अपनी देवी शक्तिसे छिपाए रख सकती हैं।

राजा—तो जो तुम कहते हो वही बात होगी। पर उन्होंने पुत्रको छिपा क्यों दिया?

विदूषक—इसलिये कि कहीं राजा मुझे बूढ़ी समझकर छोड़ न दें।

राजा—अच्छा ठिठोली न करो। ध्यान से सोचो।

विदूषक—भला देवताओं की बातों का भेद कोई कैसे पा सकता है?

(कञ्चुकी आता है)

कञ्चुकी—जयतु जयतु देवः । देव च्यवनाश्रमात्कुमारं गृहीत्वा सम्प्राप्ता तापसी देवं द्रष्टुमिच्छति ।

राजा—उभयमप्यविलम्पितं प्रवेशय ।

कञ्चुकी—यादज्ञापयति देवः । (इति निर्गम्य चापहस्तेन कुमारेण तापस्या च सह प्रविष्टः ।)

कञ्चुकी—इत इतो भगवती । (सर्वे परिक्रामन्ति ।)

विदूषकः—(विलोक्य) किं णु क्खु सो एसो तत्तभवं खत्तिअकुमारओ जस्स णामांकिदो गिद्धलक्खवेधी अद्धणाराओ । तह हि बहुअरं भवदो अणुकरेदि । (किं नु खलु स एष तत्रभवान्क्षत्रियकुमारको यस्य नामाङ्कितो गृध्रलयवेध्यर्धनाराचः । तथा हि बहुतरं भवतोऽनुकरोति ।)

राजा—स्यादेवम् । अतः खलु ।

वाष्पायते निपतिता मम दृष्टिरस्मिन् वात्सल्यबन्धि हृदयं मनसः प्रसादः ।

संजातवेपथुभिरुज्झितधैर्यवृत्तिः इच्छामि चैनमदयं परिरब्धुमङ्गैः ॥ १ ॥

कञ्चुकी—भगवति ! एवं स्वीयताम् ।

(तापसीकुमारौ स्थितौ ।)

राजा—अम्ब ! अभिवादये ।

तापसी—महाभाग ! सोमवंसवित्थारइत्तओ होहि । (आत्मगतम्) अम्हो अणाचक्खिदोवि विण्णादो एव्व इमस्स राएसिणो आउसो अओरसो संबंधी (प्रकाशम्) जाद पणम दे गुरुं । (महाभाग ! सोमवंशविस्तारयिता भव । अहो अनाख्यातोऽपि विज्ञात एवास्य राजर्षेरायुषश्च औरसः सम्बन्धः । जात ! प्रणम ते गुरुम् ।)

(कुमारश्चापगर्भमञ्जलिं बद्ध्वा प्रणमति ।)

कञ्चुकी—जय हो, महाराज की जय हो । देव ! च्यवन-ऋषि के आश्रम से एक कुमार को साथ लिए हुए कोई तपस्विनी आई हैं और आपका दर्शन करना चाहती हैं ।

राजा—दोनों को झटपट भीतर ले आओ ।

कञ्चुकी—जैसी देव की आज्ञा । (बाहर जाकर और धनुर्धारी कुमार को और तपस्विनी को साथ लेकर आता है ।)

कञ्चुकी—इधर आइए देवी, इधर से । (सब घूमते हैं ।)

विदूषक—(देखकर) कहीं यह वही क्षत्रिय-कुमार तो नहीं है जिसके नाम वाला गिद्धपर चलाया हुआ यह आधा बाण मिला है और जो आपसे बहुत मिलता-जुलता भी है ।

राजा—हो सकता है । क्योंकि इसे देखते ही आँखे भर आई हैं, वात्सल्य-प्रेम उमड़ा पड़ रहा है, जी खिल उठा है, मेरा शरीर धीरे-धीरे खोकर काँपने लगा है और मेरी ऐसी इच्छा हो रही है कि इसे कसकर अपने गले से उठा लगाऊँ ॥ १ ॥

कञ्चुकी—भगवती ! आइए यहाँ खड़ी हो जाइए । (तपस्विनी और कुमार खड़े हो जाते हैं ।)

राजा—मैं प्रणाम करता हूँ माता जी !

तापसी—बड़भागी ! आपसे चन्द्रवंश बढ़े । (मन ही मन) अरे ! बिना बताए ही ज्ञात हो रहा है कि इस राजा और कुमार का सगा सम्बन्ध है । (प्रकट) बेटा । अपने पिता जी को प्रणाम तो करो ।

(हाथ में धनुष लिए हुए ही कुमार हाथ जोड़कर प्रणाम करता है ।)

राजा—वत्स! आयुष्मान् भव।

कुमारः—(स्वगतम्)

यदि हार्दमिदं श्रुत्वा पिता ममायं सुतोऽहमस्येति।

उत्सङ्गवर्धितानां गुरुषु भवेत्कीदृशः स्नेहः॥ 10॥

राजा—भगवति! किमागमनप्रयोजनम्।

तापसी—सुणादु महाराजो। एसो दीहाऊ आउ जादमेत्तो एव्व उव्वसीए किंवि णिमित्तं अवेक्खिअ मम हत्थे णासीकिदो। जं खत्तिअकुमारअस्सं जादकम्मादि विहाणं तं से भयवदा चवणेण असेसं अणुचिट्ठिदं। गहीदविज्जो धणुव्वेदे अहिविणीदो। (शृणोतु महाराजः। एष दीर्घायुराजुर्जातमात्र एव उर्वक्ष्या किमपि निमित्तमवेक्ष्य मम हस्ते न्यासीकृतः। यत्क्षत्रियकुमारस्य जातकर्मादिविधानं तदस्य भगवता च्यवनेनाशेषमनुष्ठितम्। गृहीतविद्यो धनुर्वेदेऽभिविनीतः।)

राजा—सनाथः खलु संवृतः।

तापसी—अज्ज! पुप्फसमिधकुसणिमित्तं इसिकुमारएहिं सह गदेण इमिणा अस्समविरुद्धं आअरिदं। (अद्य पुष्पसमित्कुशानिमित्तं ऋषिकुमारकैः सहगतेनानेनाश्रमविरुद्धमाचरितम्।)

विदूषकः—(सावेगम्) किं विअ। (किमिव)

तापसी—गहीदामिसो किल गिद्धो पादवसिहरे णिलीअमाणो अणेण लक्खीकिदो वाणस्स (गृहीतामिषः मिल गृध्रः पादपशिखरे निलीयमानोऽनेन लक्ष्यीकृतो वाणस्य।)

(विदूषको राजानमवलोकयति।)

राजा—वत्स! तुम्हारी बड़ी आयु हो।

कुमार—(मन ही मन) जब मुझे केवल यही सुनकर इतना प्रेम उमड़ा पड़ रहा है कि ये मेरे पिता हैं और मैं इनका पुत्र हूँ, तब उन बालकों को अपने माता-पिता से कितना प्रेम होता होगा, जो उन्हीं की गोद में पलकर बड़े होते होंगे॥ 10॥

राजा—कहिए भगवती! कैसे पधारीं?

तापसी—सुनिए महाराज! जब यह चिरञ्जीवी उत्पन्न हुआ तभी कुछ सोच-समझकर उर्वशी इसे मेरे पास छोड़ गई। क्षत्रिय-कुमार के जितने जात-कर्म आदि संस्कार हैं वे सब भगवान् च्यवन ऋषि ने करा दिए और पढ़-लिख चुकने पर इसे धनुष चलाना भी सिखा दिया है।

राजा—तब तो यह बड़ा भाग्यवान् है।

तापसी—आज फूल, समिधा और कुशा लाने के लिये जब यह ऋषिकुमारों के साथ जा रहा था तो इसने आश्रम के नियम से उलटा काम कर डाला।

विदूषक—(घबराकर) क्या? क्या?

तापसी—एक गिद्ध माँसका टुकड़ा लिए हुए पेड़ पर बैठा था। बस उसीपर ताक कर इसने बाण चला दिया।

(विदूषक राजा की ओर देखता है)

राजा—ततस्ततः ।

तापसी—तदो उवलद्धवृत्ततेण भवदा चवणेण अहं समादिदृठा—णिज्जादेहि एदं उव्वसीहत्थे णासं ति । ता इच्छामि देविं उव्वसिं पैक्खिदुं (तत उपलब्धवृत्तान्तेन भगवता च्यवनेनाहं समाविष्टा—निर्यातयैनमुर्वशीहस्ते न्यासमिति । तदिच्छामि देवीमुर्वशीं प्रेक्षितुम् ।)

राजा—तेन ह्यासनमनुगृह्णातु भगवती ।

(तापसी उपनीत आसन उपविशति ।)

राजा—आर्य लातव्य ! आहूयतामुर्वशीम् ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः)

राजा—(कुमारमवलोक्य) एहि एहि वत्स !

सर्वाङ्गीणः स्पर्शः सुतस्य किल तेनमामुपगतेन ।

आह्लादयस्व तावच्चन्द्रकरश्चन्द्रकान्तमिव ॥ 11 ॥

तापसी—जाद ! णदेहि पिदरम् । (जात ! नन्दय पितरम्)

(कुमारो राजानमुपगम्य पादग्रहणं करोति ।)

राजा—(कुमारमालिङ्ग्य पादपीठे चोपवेश्य) वत्स ! इतस्तव पितुः प्रियसखं ब्राह्मणमशङ्कितो वन्दस्व ।

विदूषकः—किति संकिस्सदि । णं अस्समवासरिचिदो एव्व साहामिओ । (किमिति साङ्किष्यते । नन्वाश्रमवासपरिचित एव शाखामृगः ।)

कुमारः—(सस्मितम्) तात् वदे ।

राजा—तब; तब ?

तापसी—जब भगवान् च्यवन ने यह सुना तब उन्होंने आज्ञा दी कि उर्वशी की यह धरोहर उसी को ले जा देकर तत्काल सौंप आओ । इसीलिये मैं देवी उर्वशी से मिल लेना चाहती हूँ ।

राजा—तब तक आप आसन सुशोभित कीजिए ।

(लाए हुए आसन पर तापसी बैठ जाती है ।)

राजा—आर्य ! जाओ उर्वशी को बुला तो लाओ ।

कञ्चुकी—जैसी देव की आज्ञा । (जाता है ।)

राजा—(कुमार को देखकर) इधर आओ वत्स ! इधर आओ । कहते हैं कि पुत्र को छूते ही सारा शरीर सुखी हो जाता है, इसलिये तुम भी मेरे पास आकर मुझे वैसे ही आनन्द दो, जैसे चन्द्रमा की किरणें चन्द्रकान्त मणिको आनन्द देती हैं ॥ 11 ॥

तापसी—जाओ बेटा ! अपने पिता जी का जी सुखी करो ।

(कुमार पास जाकर राजा के पैर छूता है ।)

राजा—(कुमार को गले से लगाकर उसे पैर-पीढ़े पर बैठा कर) वत्स ! अपने पिता के प्रिय मित्र इन ब्राह्मण को भी निडर होकर प्रणाम करो ।

विदूषक—डर काहे का ? आश्रम में रहने वाले बानरों से तो इसकी पहले से ही जान-पहचान हुई रही होगी ।

विदूषकः—सोत्थि भवदो। बड़दु भवं। (स्वस्ति भवतो! वर्धतां भवान्।)

(ततः प्रविशत्युर्वशी कञ्चुकी च।)

कञ्चुकी—इत इतो देवी।

उर्वशी—(कुमारमवलोक्य) को णु क्खु एसो सबाणासनो पादपीछे सअं महाराएण संजमीअमाणसिहंडओ चिइदि। (तापसीं दृष्ट्वा।) अम्मो! सच्चवदी सूइदो अअं मे पुत्तओ आऊ। महंतो क्खु संवुत्तो। (को नु खल्वेष सबाणासनः पादपीछे स्वयं महाराजेन संयम्यमानशिखण्डकस्तिष्ठति। अहो! सत्यवतीसूचितोऽयं ये पुत्रक आयुः। महान् खलु संवृत्तः।)

(इति सहर्ष परिक्रामति।)

राजा—(उर्वशीं दृष्ट्वा) वत्स—

इयं ते जननी प्राप्ता त्वदालोकनतत्परा।

स्नेहप्रस्रवनिर्भिन्नमुद्रहन्ती स्तनांशुकम्॥ 12॥

तापसी—जाद! एहि। पच्चुग्गच्छ मादरं। (जात! एहि। प्रत्युद्गच्छ मातरम्।) (इति कुमारेण सह उर्वशीमुपसर्पति।)

उर्वशी—अंब! पादवंदणं करेमि। (अम्ब! पादवन्दनं करोमि।)

तापसी—वच्छे! धत्तुणो बहुमदा होहि। (वत्से! भर्तुर्बहुमता भव।)

कुमार—अम्ब! अभिवादये।

उर्वशी—(कुमारमुन्नतमुखं परिष्वज्य।) वच्छ! पितरं आराधयित्तओ होहि (राजानमुपेत्य।) जेदु जेदु महाराओ। (वत्स! पितरमाराधयिता भव। जयतु जयतु महाराजः।)

कुमार—(हँसकर) तात! प्रणाम।

विदूषक—तुम्हारा कल्याण हो। तुम फूलो-फलो।

(उर्वशी और कञ्चुकी का प्रवेश)

कञ्चुकी—इधर से आइए देवी! इधर से।

उर्वशी—(कुमार को देखकर) यह हाथ में धनुष लिए हुए कौन है, जिसे पैर-पीढ़े पर बैठाकर स्वयं महाराज उसके बाल सँवारे जा रहे हैं। (तापसी को देखकर) अरे, सत्यवती को देखकर ही मैं समझ गई कि यह मेरा पुत्र आयु है। अरे! यह तो बहुत बड़ा हो गया है। (बड़ी प्रसन्न होकर घूमती है।)

राजा—(उर्वशी को देखकर बालक से) वत्स! लो ये तुम्हारी माँ आ गई, जो तुम्हारी ओर टकटकी लगाए देख रही हैं और जिसकी चोली तुम्हारे प्रेम में टपके हुए दूध से भीग चली है॥ 12॥

तापसी—यहाँ आओ बेटा! आगे बढ़कर माताका स्वागत करो। (कुमार को लेकर उर्वशी से मिलने को आगे बढ़ती है।)

उर्वशी—माता जी! आप के चरणों में प्रणाम करती हूँ।

तापसी—अपने स्वामी की प्यारी बनी रहो।

कुमार—माँ! मैं प्रणाम करता हूँ।

उर्वशी—(कुमार का मुख ऊपर उठाकर उसे शरीर से चिपटाती हुई) वत्स! पिता की सेवा करने वाले बनो। (राजा के पास जाकर) जय हो, महाराज की जय हो।

राजा—स्वागतं पुत्रवत्यै । इत आस्यताम् । (इत्यर्धासनं ददाति ।)

(उर्वशी उपविशति । सर्वे यथोचितमुपविशन्ति ।)

तापसी—वच्छे! एसो गहीदविज्जो आऊ संपदं कवअहरो संवुत्तो । ता एदस्स दे भत्तुणो समक्खं णिज्जादिदो हत्थणिक्खेवो । ता विसज्जेदुं इच्छामि । उवरुज्झइ मह अस्समधम्मो । (वत्से! एष गृहीतविद्य आयुः साम्प्रतं कवचहरः संवृत्तः, तदेतस्य ते भर्तुः समक्ष निर्यातितो हस्त निक्षेपः तद्विसर्जयितुमिच्छामि । उपरुध्यते ममाश्रमधर्मः ।)

उर्वशी—चिरस्स अज्जं देक्खिअ अहिअदरं अवितिण्हमिह । ण सक्कणोमि विसज्जिदुं । अण्णय्यं उण उवरोहिदुं । ता गच्छदु अज्जा पुणो दंसणाअ । (चिरस्यार्या दृष्ट्वाऽधिकतरमवितृष्णास्मि । न शक्नोमि विम्रष्टुम् । अन्याय्यं पुनरुपरोद्धुम् । तद्गच्छत्वार्या पुनर्दर्शनाय ।)

राजा—अम्ब! भगवते च्यवनाय मां प्रणिपातय ।

तापसी—एव्वं भोदु । (एवं भवतु ।)

कुमार—आर्ये! सत्यं यदि निवर्तसे मामप्याश्रमं मेतुमर्हसि ।

राजा—अयि वत्स! उषितं त्वया पूर्वस्मिन्नाश्रमे । द्वितीयमध्यासितुं तव समयः!

तापसी—जाद! गुरुअणो वअणं अणुचिट्ठ । (जात । गुरोर्वचनमनुतिष्ठ ।)

कुमार—तेन हि ।

यः सुप्तवान्मदङ्गे शिखण्डकण्डूयनोपलब्धसुखः ।

तं मे जातकलापं प्रेषय मणिकण्ठकं शिखिनम् ॥ 13 ॥

राजा—पुत्रवती का स्वागत है । आओ, यहाँ बैठो । (अपने आधे आसन पर बैठा लेते हैं ।)

(उर्वशी बैठती है । सब यथास्थान बैठते हैं ।)

तापसी—वत्से! ठीक से पढ़-लिखकर अब यह कुमार कवच धारण करने योग्य हो गया है । इसलिये तुम्हारे स्वामी के सामने ही तुम्हारी धरोहर तुम्हें सौंपे देती हूँ । अब जाना भी चाहती हूँ क्योंकि अभी आश्रम का बहुत-सा काम मेरे बिना रुका पड़ा होगा ।

उर्वशी—इतने दिनोंपर तो आप मिली हैं । अभी तो आप से मिलकर जी ही नहीं भरा इसलिये आपको जाने देने को जी ही नहीं चाहता । पर आपको रोक रखना भी बड़ा अन्याय होगा, इसलिये आप जाना ही चाहती हैं तो जायँ—पर फिर दर्शन अवश्य दीजिएगा ।

राजा—माता जी! भगवान् च्यवन से मेरा प्रणाम कहिएगा ।

तापसी—अच्छी बात है ।

कुमार—आर्ये! यदि आप सचमुच लौटी जा रही हों तो मुझे भी आश्रम लेती चलिए ।

राजा—वत्स! तुम ब्रह्मचर्य आश्रम में रह चुके हो, अब तुम्हें गृहस्थ आश्रम में आ रहना चाहिए ।

तापसी—बेटा! पिता जी का कहना मान लो ।

कुमार—तो आप मेरे उस बड़े-बड़े पंखों वाले मणिकण्ठक नाम के मोर को यहाँ भेज दीजिएगा, जो मेरी गोद में सोया-सोया अपना सिर मेरे हाथों से खुजलाए जानेका आनन्द लिया करता था ॥ 13 ॥

तापसी—(विहस्य ।) एव्यं करेमि । (एवं करोमि ।)

उर्वशी—भगवति! पादवन्दनं करेमि । (भगवति! पादवन्दनं करोमि ।)

राजा—भगवति! प्रणमामि ।

तापसी—सौत्थि भोदु तुम्हाणम् । (स्वस्ति भवतु युष्मभ्यम् ।)

(इति निष्क्रान्ता ।)

राजा—(उर्वशीं प्रति) । कल्याणि!

अद्याहं पुत्रिणामग्यः सत्पुत्रेणामुना तव ।

पौलोमीसंभवेनेव जयन्तेन पुरन्दरः ॥ 14 ॥

(उर्वशी स्मृत्वा रोदिति ।)

विदूषकः—(विलोक्य सावेगम् ।) भो! किं णु क्खु सम्पदं अत्तहोदी एक्कवदे अस्सुमुही संवुत्ता । (भो! किं नु खलु साम्प्रतमत्र भवती एकपदे अश्रुमुखी संवृत्ता ।)

राजा—(सावेगम् ।)

किं सुन्दरि! प्ररुदितासि ममोपनीते वंशस्थितेरधिगमान्महति प्रमोदे ।

पीनस्तनोपरिनिपातिभिरानयन्ती मुक्तावलीविरचनां पुनरुक्तिमसैः ॥ 15 ॥

(इति अस्या वाष्पं प्रमार्ष्टि ।)

उर्वशी—सुणादु महाराओ । पढमं उण पुत्तदंसणसमुत्थेण आणदिण विसुमरिद म्हि । दाणिं महिंदसंकित्तणेण सुमरिओ समओ मह हिअजं आआसेदि । (शृणोतु महाराजः । प्रथमं पुनः पुत्रदर्शनसमुत्थेनान्देन विस्मृतास्मि । इदानीं महेन्द्रसंकीर्तनेन स्मृतः समयो मम हृदयमायासयति ।)

तापसी—(हँसकर) अच्छा भेज दूँगी ।

उर्वशी—भगवती! मैं चरणों में प्रणाम करती हूँ ।

राजा—भगवती! प्रणाम ।

तापसी तुम दोनों का कल्याण हो । (चली जाती है ।)

राजा—(उर्वशी से) कल्याणी! तुम्हारे इस सुपुत्र को पाकर आज मैं सभी पुत्र वालों से उसी प्रकार बढ़ गया हूँ, जैसे इन्द्राणी से उत्पन्न हुए जयन्त को पाकर इन्द्र ॥ 14 ॥

(उर्वशी कोई बात स्मरण करके रो पड़ती है ।)

विदूषक—(देखकर, घबराए हुए) अरे! यह क्या? यह अचानक आपकी आँखों में आँसू क्यों आ झलके?

राजा—(घबराकर) सुन्दरी! तुम ऐसे शुभ अवसर पर रो रही हो जब मेरे वंशको बढ़ाने वाला पुत्र मुझे मिला हो । तुम अपने मोटे स्तनों पर गिरने वाले आँसुओं से दूसरे हार की लड़ी व्यर्थ क्यों बनाए दे रही हो ॥ 15 ॥

(उसके आँसू पोंछता है ।)

उर्वशी—सुनिए महाराज! पहले तो मैं पुत्रका मुँह देखकर ऐसी मगन हो उठी कि सब भूल ही गई थी, पर जब आपने अभी इन्द्रका नाम लिया तो मुझे एक बात स्मरण हो आई है जो मेरे हृदय को कचोटे जा रही है ।

राजा—कथ्यतां समयः ।

उर्वशी—अहं पुरा महाराजगृहीतदहिअआ गुरुसावसंमूढा महिदेण आणत्ता । (अहं पुरा महाराजगृहीतदहदया गुरुशापसंमूढा महेन्द्रेण आज्ञापिता..... ।)

राजा—किमिति ।

उर्वशी—जदा सो मे पिअसहो राएती तुइ समुप्पण्णस्स वंसकरस्स मुहं पेक्खिस्सदि तदा तुए भूओ वि मम समीवं आअंतव्वं त्ति । तदो मए महाराजविओअभीरुदाए जादमेत्तो एव्व विज्जागमणिमित्तं भअवदो चवणस्स अस्समे एसो पुत्तओ अज्जाए सच्चवदीए हत्थे अप्पआसं णिक्खितो । अज्ज पिदुणो आराहणसमत्थे संवुत्तो त्ति कलअंतीए ताए णिज्जादिदो एसो मे दीहाऊ आऊ । ता एत्तिओ मे महाराएण सह संवासो । (यदा स मे प्रियसखो राजर्षिस्त्वयि समुत्पन्नस्य वंशकरस्य मुखे प्रेक्षिष्यते तदा त्वया भूयोऽपि मम समीपमागन्तव्यमिति । ततो मया महाराजवियोगभीरुतया जातमात्र एव विद्यागमनिमित्तं भवतश्च्यवनस्याश्रमे एष पुत्रक आर्यायाः सत्यवत्या हस्तेऽप्रकाशं निक्षिप्तः । अद्य पितुराराधानसमर्थः संवृत इति कलयन्त्या तया निर्यातित एष मे दीर्घायुरायुः । तदेतावान्मे महाराजेन सह संवासः ।)

(सर्वे विषादं नाटयन्ति । राजा मोहमुपगच्छति ।)

विदूषकः—अब्बम्हणं । अब्बम्हणं (अब्रह्मण्यमब्रह्मण्यम् ।)

कञ्चुकी—समाश्वसितु समाश्वसितु महाराजः ।

राजा—(समाश्वस्य सनिःश्वासम् ।) अहो सुखप्रत्यर्थिता दैवस्य ।

आश्वसितस्य मम नाम सुतोपलब्ध्या सद्यस्त्वया सह कृशोदरि विप्रयोगः ।

व्यावर्तितातपरुजः प्रथमाभ्रवृष्ट्या वृक्षस्य वैद्युत इवाग्निरुपस्थितोऽयम् ॥ 16 ॥

राजा—कहो, क्या बात है ।

उर्वशी—बहुत दिन हुए, आपसे प्रेम करने पर भरत मुनिने मुझे शाप दे दिया था । उस शाप से मैं बहुत घबरा गई थी । तब इन्द्र भगवान् ने मुझे आज्ञा दी थी.....राजा क्या?

उर्वशी—यही कि तुम्हारे प्यारे मित्र राजर्षि जब तुमसे उत्पन्न हुए पुत्र का मुँह देख लें, तब तुम फिर मेरे पास लौट आना । इसलिये जैसे ही यह बालक उत्पन्न हुआ, वैसे ही मैंने इस डरसे इसे भगवान् च्यवन के आश्रम में पढ़ाने-लिखाने के बहाने आर्या सत्यवती के पास धरोहर बनाकर रख छोड़ा था कि यदि कहीं आप इसे देख लेंगे तो मेरा आपका बिछोह हो जायगा । आज उन्होंने मेरे इस चिरंजीव पुत्र आयु को पिता की सेवा करने योग्य समझकर आपको ला सौंपा, इसलिये महाराज के साथ बस मैं आजतक ही रह सकती थी ।

(सब दुखी होते हैं और राजा मूर्च्छित हो जाते हैं ।)

विदूषक—यह तो बड़ा बुरा हुआ, बड़ा बुरा हुआ ।

कञ्चुकी—(ढाढस बँधाता हुआ) धीरज धरिए महाराज ! धीरज धरिए ।

राजा—(मूर्च्छा से जागकर लंबी साँस लेते हुए) अरे, दैव मेरे सुखको फूटी आँखों नहीं देखना चाहता । आज ही तो पुत्र को पाकर मेरा जी ठंडा हुआ था और आज ही तुम चली जा रही हो । यह तो ठीक ऐसा ही हुआ जैसे पहली वर्षा से ठंडाए हुए वृक्षपर अचानक बिजली आ दूटी हो ॥ 16 ॥

विदूषकः—अअं सो अत्थो अणत्थाणुबंधो संवुतो । संपदं तक्केमि अत्तभवदा वक्कलं गेण्हिअ तवोवणं गंदव्वं ति । (अयं सोऽर्थोऽनर्थानुबन्धः संवृत्तः । साम्प्रतं तर्कयाम्यत्र भवता वक्कलं गृहीत्वा तपोवनं गन्तव्यमिति ।)

उर्वशी—मं वि मंदभाणिं किदविणअस्स पुत्तस्स लाभाणंतंरं सग्गारोहणेण अवसिदकदज्जं विप्पओअमुहिं महाराओ समत्थइस्सदि । (मामपि मन्दभागिनीं कृतविनयस्य पुत्रस्य लाभानन्तरं स्वर्गारोहणेनावसितकार्या विप्रयोगमुखीं महाराजः समर्थयिष्यति ।)

राजा सुन्दरि ! मा मैवम् ।

न हि सुलभवियोगा कर्तुमात्मप्रियाणि प्रभवति परवत्ता शासने तिष्ठ भर्तुः ।

अहमपि तव सूनावद्य विन्यस्य राज्यं विचरितमृगयूथान्याश्रयिष्ये वनानि ॥ 17 ॥

कुमारः—नार्हति तातः पुङ्गवधारितायां धुरि दम्यं नियोजयितुम् ।

राजा—अयि वत्स । मा मैवम् ।

शमयति गजानन्यान्गन्धद्विपः कलभोऽपि सन्

भवति सुतरां वेगोदग्रं भुजङ्गशिशोर्विषम् ।

भुवमधिपतिर्बालावस्थोऽप्यलं परिरक्षितुं

न खलु वयसा जात्यैवायं स्वकार्यसहो भरः ॥ 18 ॥

आर्य लातव्य ।

कञ्चुकी—आज्ञापयतु देवः ।

राजा—मद्वचनादमात्यपरिषदं ब्रूहि संश्रियतामायुषो राज्याभिषेक इति ।

विदूषक—जान पड़ता है कुछ और भी विपत्तियाँ टूट पड़ने वाली हैं । मुझे तो अब यह खटका हो रहा है कि कहीं वल्कल पहन कर महाराज भी तपोवन को न चल दें ।

उर्वशी—और मेरे जैसी अभागिनी के लिये भी महाराज यही सोचते होंगे कि पढ़ा-लिखा पुत्र पाने से इसका काम हो गया है, इसलिये अब यह स्वर्ग को चली जा रही है ।

राजा—ऐसा न कहो सुन्दरी ! तुम जिस पराधीनता के कारण मुझे छोड़कर जा रही हो, उससे मनचाही वस्तु तो मिल नहीं सकती, इसलिये जाओ, तुम अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करो और मैं भी आज तुम्हारे पुत्र को राज्य सौंपकर इधर-उधर घूमने वाले हरिणों से भरे तपोवन में जा रहता हूँ ॥ 17 ॥

कुमार—पिताजी ! रथ के जिस जुए को बड़ा बैल खींचता हो, उसे छोटे से बछड़े के कन्धे पर डाल देना ठीक नहीं है ।

राजा—ऐसा न कहो वत्स ! जैसे ऊँची जाति के हाथी का बच्चा भी दूसरे हाथियों को पछाड़ दे सकता है और सँपोले का विष भी बड़े साँप के विष जैसा ही भयंकर होता है, वैसे ही बालक होते हुए भी राजा का पुत्र ठीक से पृथ्वी का पालन कर सकता है, क्योंकि अपने-अपने कर्तव्य का पालन करने की शक्ति अवस्था से नहीं वरन् जाति या स्वभाव से ही उत्पन्न हो जाती है ॥ 18 ॥

आर्य लातव्य !

कञ्चुकी—आज्ञा कीजिए महाराज ।

राजा—मेरी ओर से अमात्य-परिषद् को सूचना दे दो कि आयु के राज्याभिषेक का प्रबन्ध किया जाय ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देव । (इति दुःखितो निष्क्रान्तः ।)

(सर्वे दृष्टिविघातं रूपयन्ति ।)

राजा—(आकाशमवलोक्य ।) किं नु खलु निरग्रे विद्युत्संपातः ।

उर्वशी—(विलोक्य ।) अम्मो भअवं णारदो । (अहो भगवान् नारदः ।)

राजा—(निपुणमवलोक्य ।) अये भगवान् नारदः । य एषः—

गोराचनानिकषपिंगजटाकलापः संलक्ष्यते शशिकलामलयीतसूत्रः ।

मुक्तागुणातिशयसंभृतजमण्डनश्रीः हेमप्ररोह इव जङ्गमकल्पवृक्षः ॥ 19 ॥

अर्धं तावदस्मै ।

उर्वशी—(यथोक्तमादाय ।) इअं भअवदे अहिरणा । इयं भगवतेऽर्हणा ।

(ततः प्रविशति नारदः । सर्व उत्तिष्ठन्ति ।)

नारदः—वियजतां विजयतां मध्यमलोकपालः ।

राजा—(उर्वशी हस्तादर्धमादायावर्ज्य च ।) भगवन्नभिवादये ।

उर्वशी—भअवं पणमामि । (भगवन् प्रणमामि ।)

नारदः—अविरहितौ दम्पती भूयास्ताम् ।

राजा—(आत्मगतम् ।) अपि नामैवं स्यात् । (कुमारमाश्लिष्य प्रकाशम् ।) वत्स ! भगवन्तमभिवादयस्व ।

कुमारः—भगवन् ! और्वशेय आयुः प्रणमति ।

नारदः—आयुष्मानेधि ।

कञ्चुकी—जैसी महाराज की आज्ञा । (दुखी मन से जाता है ।)

(सब लोगों की आँखें चौंधिया जाती हैं ।)

राजा—(आकाश की ओर देखकर) खुले आकाश में यह बिजली कैसी ?

उर्वशी—(देखकर) अरे ! ये तो भगवान् नारद है !

राजा—(ध्यान से देखकर) हाँ ये तो सचमुच भगवान् नारद ही हैं जो गोरोचना के समान पीली जटा वाले कन्धे पर चन्द्रमा की कला के समान उजला जनेऊ पहने और मोतियों की माला गले में डाले ऐसे उतरे चले आ रहे हैं, मानो सुनहरी शाखावाला कोई चलता-फिरता कल्पवृक्ष ही उतरा चला आ रहा हो ॥ 19 ॥ लाओ, इनकी पूजा करने के लिये सब सामग्री तो ले आओ ।

उर्वशी—(सब सामग्री लाकर) यह रही देवर्षि की पूजा के लिये सामग्री ।

(नारद प्रवेश करते हैं । सब उठ खड़े होते हैं ।)

नारद—मध्यम लोक की रक्षा करने वाले महाराज की जय हो, जय हो ।

राजा—(उर्वशी के हाथ से पूजा की सामग्री लेकर और पूजा करके) भगवान् ! अभिवादन करता हूँ ।

उर्वशी—भगवन् ! मैं प्रणाम करती हूँ ।

नारद—तुम दोनों का कभी बिछोह न हो ।

राजा—(मन ही मन) यदि कहीं ऐसा हो जाता । (कुमार को) गले लगाकर प्रकट) वत्स ! भगवान् नारद को प्रणाम करो ।

कुमार—भगवन उर्वशी का पुत्र आयु आपको प्रणाम करता है ।

नारद—तुम्हारी बड़ी आयु हो ।

राजा—अयं विष्टरोऽनुगृह्यताम्।

नारदः—तथा। (इत्युपविष्टः।)

(सर्वे नारदमनूपविशन्ति।)

राजा—(सविनयम्) भगवन्! किमागमनप्रयोजनम्।

नारदः—राजन्! श्रूयतां महेन्द्रसन्देशः।

राजा—अवहितोऽस्मि।

नारदः—प्रभावदर्शी मघवा वनगमनाय कृतबुद्धिं भवन्तमनुशास्ति।

राजा—किमाज्ञापयति।

नारदः—त्रिकालदर्शिभिर्मुनिभिरादिष्टो महान्सुरासुरसंगरो भावी। भवौश्च सांयुगीनः सहायो नः। तेन न त्वया शस्त्रं सन्यस्तव्यम्। इयं चोर्वशी यावदायुस्तव सहधर्मचारिणी भवत्विति।

उर्वशी—(अपवार्य।) अम्महे, सल्लं विअ मे हिअआदो अवणीदं। (अहो शल्यमिव मे हृदयादपनीतम्।)

राजा—परवानस्मि देवेश्वरेण।

नारदः—युक्तम्।

त्वत्कार्यं वासवः कुर्यात्त्वं च तस्येष्टमाचरेः।

सूर्यः समेधयत्यग्निमग्नि सूर्यः च तेजसा।। 20।।

(आकाशमवलोक्य।) रम्भे! उपनीयतां स्वयं महेन्द्रेण संभृतः कुमारस्यायुषा यौवराज्याभिषेकः।

(प्रविष्टा यथोक्तहस्ताऽसरसः।)

राजा—देवर्षि! आइए, यह आसन पवित्र कीजिए।

नारद—अच्छी बात है।

(नारद मुनि के बैठने पर सब बैठ जाते हैं।)

राजा—(नम्रता से) कहिए भगवन्! कैसे पधारने की कृपा की?

नारद—अपनी दैवी शक्ति से सबके मन की बातें जानने वाले इन्द्र ने जब देखा कि आप वन जाने की तैयारी कर रहे हैं तब उन्होंने कहलाया है—

राजा—जी हाँ, उन्होंने क्या आज्ञा दी है?

नारद—त्रिकालदर्शी मुनियों ने भविष्यवाणी की है कि देवताओं और राक्षसों में बड़ा भारी संग्राम होने वाला है और संग्राम में कुशल आप, हम लोगों की सदा सहायता करते ही हैं, इसलिये आप शस्त्र न छोड़ें। यह उर्वशी जीवन-भर आपकी संगिनी रहेगी।

उर्वशी—(अलग) मेरे जीका तो जैसे काँटा निकल गया।

राजा—मैं तो इन्द्र का सेवक ही हूँ।

नारद—ठीक ही है—जैसे सूर्य अपने तेज से अग्नि को उकसाता है और अग्नि सूर्य को अपने तेज से बढ़ाता है वैसे ही इन्द्र भी तुम्हारा काम करें और तुम भी इन्द्र का काम किया करो।। 20।।

(आकाश की ओर देखकर) रम्भा! स्वयं इन्द्र ने कुमार आयु के युवराज बनने के उत्सव के लिये जो सामग्रियाँ भेजी हैं, वे सब ले तो आओ।

(ऊपर कही हुई सामग्रियाँ लिए हुए अप्सराएँ आती हैं।)

अप्सरसः—भअवं इमे! अभिसेअसंभारा। (भगवन्नेतेऽभिषेकसंभाराः।)

नारदः—उपवेश्यातामयमायुष्मान्भद्रपीठे।

रम्भा—इदो वच्छ। (इतो वत्स।) (इति कुमारं भद्रपीठ उपवेशयति।)

नारदः—(कुमारस्य शिरसि कलशमावज्यं।) रम्भे! निर्वर्त्यतां शेषो विधिः।

रम्भा—(यथोक्तं निर्वर्त्य) वच्छ! प्रणम भअवंतं पिदरो अ। (वत्स! प्रणम भगवन्तं पितरौ च।)
(कुमारो यथाक्रमं प्रणमति।)

नारदः—स्वस्ति भवते।

राजा—कुलधुरंधरो भव।

उर्वशी—पिदुणो आराहओ होहि। (पितुराराधको भव।)

(नेपथ्ये वैतालिकद्वयम्।)

वैतालिको—विजयतां युवराजः।

प्रथमः—

अमरमुनिरिवात्रिर्ब्रह्मणोऽन्नेरिवेन्दुः

बुध इव शिशिराशोर्बोधनस्येव देवः।

भव पितुरनुरूपस्त्वं गुणैर्लोककान्तैः

अतिशयिनि समस्ता वंश एवाशिषस्ते ॥ 21 ॥

अप्सराएँ—महाराज, अभिषेक की सामग्री आ गई।

नारद—आयुष्मान् को भद्र पीढ़े पर ला बैठाओ।

रम्भा—इधर आओ वत्स, इधर। (कुमार को भद्र पीठ पर बैठाती है।)

नारद—(कुमार के सिर पर अभिषेक करके) रम्भा! शेष विधि भी पूरी कर डालो।

रम्भा—(विधि-पूर्वक अभिषेक करती है) वत्स, नारद जी को और माता-पिता को प्रणाम तो करो।

(कुमार क्रम से प्रणाम करते हैं।)

नारद—आपका कल्याण हो।

राजा—कुल के प्रधान बनो।

उर्वशी—पिता के भक्त बनो।

(नेपथ्य में दो वैतालिक)

दोनों—युवराज की विजय हो।

पहला वैतालिक—तुम अपने माता-पिता के वैसे ही योग्य पुत्र बनो, जैसे ब्रह्मा के सुपुत्र अमर मुनि अत्रि हुए, अत्रि मुनि के चन्द्रमा हुए, चन्द्रमा के बुध और बुध के पुरुरवा हुए हैं। तुम्हारे इस जग से निराले वंश में और सब आशीर्वाद तो पहले ही फल चुके हैं ॥ 21 ॥

द्वितीयः-

तव पितरि पुरस्तादुन्नतानां स्थितेऽस्मिन्
स्थितिमति च विभक्ता त्वय्यनाकम्पधैर्ये ।

अधिकतरमिदानीं राजते राजलक्ष्मीः

हिमवति जलधौ च व्यस्ततोयेव गङ्गा ॥ 22 ॥

अप्सरसः—(उर्वशीमुपेत्य ।) दिट्ठीआ पिअसही पुत्तस्स जुवराअसिरीए भत्तुणो अविहरेण अ बड्ढदि ।
(दिष्ट्या प्रियसखी पुत्रस्य युवराजश्रिया भर्तुरविरहेण च वर्धते ।)

उर्वशी—णं साहारणो एसा अब्भुदओ । (कुमारं हस्ते गृहीत्वा) एहि वच्छ! जेट्ठमादरं अभिवदेहि ।
(ननु साधारण एषोऽभ्युदयः । एहि वत्स! ज्येष्ठमातरमभिवन्दस्व ।)

(कुमारः प्रतिष्ठते ।)

राजा—तिष्ठ! सममेव तत्र भवत्याः समीपं यास्यामस्तावत् ।

नारदः-

आयुषो यौवराज्यश्रीः स्मारयत्यात्मजस्य ते ।

अभिषिक्तं महासेनं सेनापत्ये मरुत्वता ॥ 23 ॥

राजा—अनुगृहीतोऽस्मि मघवता ।

नारदः—भो राजन् । किं ते भूयः प्रियमुपकरोतु पाकशासनः ।

राजाः—यदि मे मघवा प्रसन्नः किमतः परमिच्छामि । तथापि—इदमस्तु ।

दूसरा वैतालिक—ऊँचे-ऊँचे लोगों में श्रेष्ठ तो तुम्हारे पिता हैं और उनके ही तुम बड़े साहसी और मर्यादा पालने वाले पुत्र हो । तुम दोनों में एक सी भक्ति रखने वाली यह राज्य लक्ष्मी वैसे ही और भी शोभा देने लगी है जैसे हिमालय पर्वत और समुद्र दोनों में समान रूप से भक्ति करने वाली गंगा शोभा देती है ॥ 22 ॥

अप्सराएँ—(उर्वशी के पास जाकर) सखी उर्वशी! पुत्र के यौवराज्याभिषेक की ओर सदा पति के पास रहने की तुम्हें बधाई ।

उर्वशी—यह सौभाग्य तो हम तुम दोनों का एक-सा ही है । (कुमार का हाथ थामकर) चलो वत्स! बड़ी माँ को प्रणाम कर आओ ।

(कुमार जाने को तैयार होता है ।)

राजा—ठहरो, हम सब लोग साथ ही देवी के पास चलते हैं ।

नारद—तुम्हारे पुत्र आयु का यह यौवराज्याभिषेक उस उत्सव का स्मरण दिला रहा है जिसमें इन्द्र ने कार्तिकेय को सेनापति बनाया था ॥ 23 ॥

राजा—यह सब भगवान् इन्द्र की ही कृपा है ।

नारद—राजन्! इन्द्र आपकी और कौन-सी इच्छा पूरी करें ।

राजा—भगवान् इन्द्र की प्रसन्नता से बढ़कर और मुझे चाहिए ही क्या? फिर भी मैं चाहता हूँ कि-

(भरतवाक्य)

(भरतवाक्यम्)

परस्परविरोधिन्योरेकसंश्रयदुर्लभम् ।

सङ्गतं श्रीसरस्वत्योर्भूतयेऽस्तु सदा सताम् ॥ 24 ॥

अपि च—

सर्वस्तरतुदुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु ।

सर्वः कामानवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु ॥ 25 ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

॥ इति पञ्चमोऽङ्कः ॥

॥ सम्पूर्णमिदं श्रीकालिदासकृतं विक्रमोर्वशीयं नाम त्रोटकम् ॥



जो लक्ष्मी और सरस्वती सदा एक दूसरे से पीठ फेरे रहती हैं और जिनका मिलकर रहना बड़ा कठिन है, वे दोनों, सज्जनों के कल्याण के लिये एक साथ रहने ॥ 24 ॥ और, सबकी आपत्तियाँ दूर हो जायें, सब फलें फूलें, सबके मनोरथ पूरे हों और चारों ओर सुख ही सुख फैल जाय ॥ 25 ॥

(सब चले जाते हैं।)

॥ पाँचवाँ अंक पूर्ण हुआ ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदास का रचा हुआ विक्रमोर्वशीयम् नामका त्रोटक संपूर्ण हुआ ॥



मालविकाग्निमित्रम्

— १११ —

॥ मालविकाग्निमित्रम् ॥

[नाटक]

पात्र-परिचयः

पुरुषाः-

सूत्रधारः—नाटकस्य प्रबन्धकर्त्ता (नाटक का प्रबन्धक)

पारिपाश्वर्कः—सूत्रधारस्य सहचरः। (सूत्रधार का साथी)

राजा-अग्निमित्राख्यो विदिशाधीशः। (विदिशा का राजा अग्निमित्र)

वाहतकः—प्राचीन मन्त्री।

विदूषकः गौतम—राज्ञो मित्रम्। (विदूषक, राजा का मित्र)

कञ्चुकी मौद्गल्य—अन्तःपुराध्यक्षो वृद्धब्राह्मणः। (रनिवास का अध्यक्ष बूढ़ा ब्राह्मण कञ्चुकी)

गणदासः हरदत्तश्च—नाट्याचार्यौ। (दो नाट्याचार्य)

सारसः—कुब्जः, किङ्करविशेषः। (कुबड़ा सेवक)

बैतालिकः—स्तुतिपाठकः।

स्त्रियः-

मालविका—मालवाधीशमाधवसेनस्य भगिनी। (मालवा के राजा माधवसेन की बहिन)

धारिणी—अग्निमित्रस्य प्रधाना महिषी। (अग्निमित्र की पटरानी)

इरावती—अग्निमित्रस्य द्वितीया पत्नी। (अग्निमित्र की दूसरी रानी)

परिव्राजिका कौशिकी—माधवसेनसचिवस्य सुमतेर्विध्वा भगिनी परिव्राजिका। (माधवसेन के सचिव सुमति की विधवा बहिन संन्यासिनी)

बकुलावलिका—धारिण्याः परिचारिका। मालविकायाः सखी। (धारिणी की सेविका और मालविका की सखी)

मधुकरिका—उद्यानपालिका। (मालिन)

कौमुदिका—दासी।

समाहितिका—परिव्राजिकायाः परिचारिका। (परिव्राजिकाकौशिकीकी सेविका)

निपुणिका—इरावत्याः परिचारिका। (इरावती की सेविका)

जयसेना—प्रतीहारी

चेटी—अपरा दासी। (दूसरी दासी)

मदनिका] विदग्धदेशीय

ज्योत्स्निका च] शिल्पिकन्याद्वयम्। (विदर्भ देश की दो शिल्पिकन्याएँ)

मालविकाग्निमित्रम्

प्रथमोऽङ्कः

एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणतबहुफले यः स्वयं कृत्तिवासा
कान्तासंमिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः परस्ताद्यतीनाम् ।
अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः
सन्मार्गलोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः ॥ १ ॥

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधारः—अलमतिविस्तरण । (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) मारिष! इतस्तावत् ।
(प्रविश्य ।)

पारिपाश्वर्कः—भाव! अयमस्मि ।

सूत्रधारः—अभिहितोऽस्मि विद्वत्परिषदा कालिदासग्रथितवस्तुमालविकाग्निमित्रं नाम
नाटकमस्मिन्वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति । तदारभ्यतां संगीतम् ।

पारिपाश्वर्कः—मा तावत् । प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः
कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः ।

पहला अङ्क

अपने भक्तों को मनचाहा फल देने का बेजोड़ भँडार अपने पास होते हुए भी जो केवल हाथी की
खाल ओढ़कर ही अपना काम चला लेते हैं, अपने आधे शरीर में अपनी पत्नी की बसाए रहने पर भी
जो संसार के भोगों से अपना मन दूर हटाए रहते हैं और अपने आठों रूपों से सारे संसार का पालन
करते हुए भी जो अभिमान को पास नहीं फटकने देते, ऐसे संसार के स्वामी महादेव जी, पाप की ओर
ले जाने वाली हमारी बुद्धि को ऐसा मिटा दें कि हमारा मन अच्छे ही काम करने में लगा रहे ॥ १ ॥

(नान्दी हो चुकने पर)

सूत्रधार—बस इतना बहुत है । (नेपथ्य की ओर देखकर) अरे भाई मारिष! इधर तो आओ ।

पारिपाश्वर्क (प्रवेश कर) लीजिए, आ गया हूँ, आर्य ।

सूत्रधार—देखो! विद्वानों की सभा ने कहलाया है कि इस वसन्तोत्सव पर कालिदास का लिखा हुआ
मालविकाग्नि मित्र नाम का नाटक ही खेला जाय । इसलिये चलकर संगीत तो छोड़ो ।

पारिपाश्वर्क—यह नाटक आप क्यों खेल रहे हैं? भास, सौमिल्लक और कविपुत्र—जैसे बड़े-बड़े
प्रसिद्ध कवियों के नाटक छोड़कर आप आजकल के इस नौसिखिए कवि कालिदास के नाटक को इतना
क्यों मान दिए डाल रहे हैं?

सूत्रधारः—अयि! विवेकविश्रान्तमभिहितम्। पश्य।

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवधम्।

सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥ २॥

पारिपाश्वर्कः आर्यमिश्राः प्रमाणम्।

सूत्रधारः—तेन हि त्वरतां भवान्।

शिरसा प्रथमगृहीतामाज्ञामिच्छामि परिषदः कर्तुम्।

देव्या इव धारिण्याः सेवादक्षः परिजनोऽयम्॥ ३॥

(इति निष्क्रान्तौ।)

॥ इति प्रस्तावना ॥

(ततः प्रविशति बकुलावलिका।)

बकुलावलिका—आणतमिह देवीए धारणीए। अइरप्पउत्तोवदेसं छलिअं णाम णट्टअं अन्दरेण कीरिंसी मालविअत्ति णट्टाअरिअं अज्जगणदासं पुच्छिदुं। ता दाव संगीदसालं गच्छमिह। (आज्ञप्तास्मि देव्या धारिण्या। अचिरप्रवृत्तापदेशं छलिकं नाट्यमन्तरेण कीदृशी मालविकेति नाट्याचार्यमार्यगणदासं प्रष्टुम्। तत्तावत्संगीतशालां गच्छामि। (इति परिक्रामति।)

(ततः प्रविशत्याभरणहस्ता कुमुदिनी)

बकुलावलिका—(कुमुदिनीं दृष्ट्वा।) हला कोमुदीए। कुदो दे दाणिं इअं धीरदा जं समीवेण वि अदिक्कमन्ती इदो दिट्ठिं ण देसि। (सखि कौमुदिके! कुतस्त इदानीमियं धीरता यत्समीपेनाप्यतिक्रामन्तीतो दृष्टि न ददासि।)

सूत्रधार—अरे, वाह, यह बात तो तुमने अपनी बुद्धि को विश्राम देकर कह डाली है। देखो—न तो पुराने होने से ही सब अच्छे हो जाते हैं, न नये होने से सब बुरे होते हैं। समझदार लोग तो दोनों को परखकर उनमें से जो अच्छा होता है, उसे अपना लेते हैं और जिन्हें अपनी समझ होती ही नहीं है, उन्हें तो जैसा दूसरे समझा देते हैं, उसे ही वे ठीक मान बैठते हैं॥ २॥

पारिपाश्वर्क—तो जैसा आप ठीक समझें।

सूत्रधार—हाँ, तो अब आप देर न कीजिए। सभा ने मुझे पहले से ही जो आज्ञा दे रखी है, उसका मैं वैसे ही आदर के साथ पालन करना चाहता हूँ, जैसे आदर से यह स्वामिभक्त दासी अपनी स्वामिनी महारानी धारिणी की आज्ञा पालन करने इधर चली आ रही है॥ ३॥

(दोनों चले जाते हैं।)

॥ प्रस्तावना ॥

(बकुलावलिका आती है।)

बकुलावलिका—महारानी धारिणी ने मुझे आज्ञा दी है कि जाकर नाट्याचार्य आर्य गणदास से पूछो कि मालविका ने जो बहुत दिनों से छलिक नामका नाट्य सीखना आरम्भ किया था, उसे वह कहाँ तक सीख पाई है। तो चलती हूँ संगीतशाला की। (धूमती है।)

(हाथ में अँगूठी लिये हुए और उसकी ओर देखते हुए कुमुदिनी आती है।)

बकुलावलिका—(कुमुदिनी को देखकर) क्यों सखी कौमुदिका! ऐसी भी क्या बात है कि तुम मेरे इतने पास से निकली चली जाती हुई भी इधर ताकती तक भी नहीं हो?

कुमुदिनी—अम्हो बउलावलिया? सहि! देवीए इदं सिप्पिसआसादो आणीदंगागमुद्दासणाहं अंगुलीअअं सिणिद्धं णिज्झाअन्ती तुह उवालम्भे पडिदम्हि। (अहो बकुलावलिका? सखि! देव्या इदं शिल्पिसकाशादानीतं नागमुद्दासनाथमङ्गुलीयकं स्निग्धं निध्यायन्ती तवोपालम्भे पतितास्मि।)

बकुलावलिका—(विलोक्य) ठाणे सज्जदि दिट्ठी। इमिणा अंगुलीअएण उब्भिण्णकिरणकेसरेण कुसुमिदो विअ दे अग्गहत्यो पडिभादि। (स्थाने सज्जति दृष्टिः। अनेनाङ्गुलीयकेनोद्भिन्नकिरणकेसरेण कुसुमित इव तेऽग्रहस्तः प्रतिभाति।)

कुमुदिनी—हला! कहिं पत्थिदासि। (सखि! कुत्र प्रस्थितासि)

बकुलावलिका—देवीए एव्व वअणेण णट्ठाअरिअं अज्जगणदासं पुच्छिदुं उवदेसग्गहणे कीरिसी मालबिएत्ति। (देव्या एव वचनेन नाट्याचार्यमार्यगणदासं प्रष्टुमुपदेशग्रहणे कीदृशी मालविकेति।)

कुमुदिनी—सहि! ईरिसेण वावारेण असण्णिहिदा वि सा कहं भट्ठिणा दिट्ठा। (सखी! ईदृशेन व्यापारेणासंनिहितापि सा कथं भर्त्रा दृष्टा।)

बकुलावलिका—आम्, सो जणो देवीए पाससगदो चित्ते दिट्ठो। (आम् स जनो देव्याः पार्श्वगतश्चित्रे दृष्टः।)

कुमुदिनी—कहं विअ। (कथमिव।)

बकुलावलिका—सुणु। चित्तसालं गदा देवी जदा पच्चग्गवण्णराअं चित्तलेहं आआरिअस्स आल्लोअन्ती चिट्ठदि भट्ठा अ उवड्ठिदो। (शृणु। चित्रशालां गता देवी यदा प्रत्यग्रवर्णरागां चित्रलेखामाचार्यस्यालोकयन्ती तिष्ठति भर्ता चोपस्थितः।)

कुमुदिनी—तदो तदो। (ततस्ततः।)

कुमुदिनी—अच्छा! तुम हो बकुलावलिका? सखी! अभी सुनार के यहाँ से महारानी यह नागमुद्रा-जड़ी अँगूठी लिए चली आ रही हूँ। उसी को ध्यान से देख ही रही थी कि तुमने झट ताना कस दिया।

बकुलावलिका—(देखकर) सचमुच बड़ी बाँकी वस्तु पर तुम्हारी आँखें जा उलझी हैं। इस अँगूठी से केशर के समान जो किरणें निकली पड़ रही हैं, उनसे तुम्हारी हथेली मानो फूल उठी है। कुमुदिनी—क्यों सखी! तुम जा किधर रही थी?

बकुलावलिका—मैं भी महारानी के कहने से नाट्याचार्य गणदास जी से यही पूछने जा रही थी कि मालाविका कैसा सीख-पढ़ रही है।

कुमुदिनी—क्यों सखी! इतनी रोक-टोक होते हुए भी महाराज ने उसे देख कैसे लिया?

बकुलावलिका—अरे! वह चित्र में महारानी के पास बैठी हुई है न! उसी को महाराज ने देख लिया।

कुमुदिनी—कैसे?

बकुलावलिका—सुन! जब चित्रशाला में पहुँचकर चित्रकला के आचार्य के हाथ के बनाए हुए गीले चित्रों को महारानी देख रही थीं, उसी समय स्वामी भी वहाँ आ पहुँचे।

कुमुदिनी—तब, तब!

बकुलावलिका—उवआराणन्तरं एक्कासणोवविट्ठेण भट्टिणा चित्तगदाए देवीए परिअणमज्झगदं आसण्णदारिअं देखिअ देवी पुच्छिदा । (उपचारानन्तरमेकासनोपविष्टेन भर्त्रा चित्रगताया देव्याः परिजनमध्यगतामासन्नदारिकां दृष्ट्वा देवी पृष्टा ।)

कुमुदिनी—किं ति । (किमिति ।)

बकुलावलिका—अपुव्वा इअं दारिआ देवीए आसण्णा आलिहिदा किं णामहेएत्ति । (अपूर्वेयं दारिका देव्या आसन्ना आलिखिता किं नामधेयेति ।)

कुमुदिनी—आकिदिविसेसेसु आअरो पदं करोति । तदो तदो । (आकृतिविशेषेष्वारः पदं करोति । ततस्ततः ।)

बकुलावलिका—तदो अवहीरिअवअणो भट्टा संकिदो देवीं पुणोवि अणुबंघिदुं । तदो कुमारीए वसुलच्छीए आअक्खिदम् । अज्ज एसा मालविएत्ति । (ततोऽवधीरितवचनो भर्ता शंकितो देवीं पुनरप्यनुबन्धुम् । ततः कुमार्या वसुलक्ष्म्याख्यातम् । आर्य! एषा मालविकेति ।)

कुमुदिनी—(सस्मितम्) सरिसं क्खु बालभाअस्स । अदो अवरं कहेहि । (सदृशं खलु बालभावस्य । अतोऽपरं कथय ।)

बकुलावलिका—किं अण्णं । संपदं मालविका सविसेसं भट्टिणो दंसणपहादो रक्खीअदि । (किमन्यत् । साम्प्रतं मालविका सविशेषं भर्तुर्दर्शनपथाद्रक्ष्यते ।)

कुमुदिनी—हला! अणु चिट्ठ अत्तणो णिओअं । अहं वि एदं अङ्गुलीदअं देवीए उवणइस्सं । (सखि! अनुतिष्ठान्तमनो नियोगम् । अहमप्येतदङ्गुलीयकं देव्यायुपनेष्यामि ।)

(इति निष्क्रान्ता ।)

बकुलावलिका—(परिक्रम्यावलोक्य ।) एसो णट्ठाअरिओ संगीदसालादो णिग्गच्छदि । जाव से अत्ताणं दंसेमि । (एष नाट्याचार्य संगीतशालातो निर्गच्छति । यावदस्मा आत्मानं दर्शयामि ।) (इति परिक्रामति ।)

बकुलावलिका—तब क्या ? प्रणाम-आशीष हो चुकने पर महाराज भी महारानी के साथ एक ही आसन पर जा बैठे । तब चित्रों में बनी हुई महारानी की दासियों में पास ही बैठी हुई कन्या को देखकर महाराज ने यह पूछा-

कुमुदिनी—क्या ?

बकुलावलिका—कि चित्र में देवी के पास बैठी हुई यह कौन सुन्दर लड़की है ?

कुमुदिनी—सुन्दर की ओर सबका मन खिंच ही जाता है । हाँ, तो फिर क्या हुआ ?

बकुलावलिका—देवी को चुप देखकर स्वामी का माथा ठनका और उन्होंने फिर वही बात कह दुहराई । इसी बीच कुमारी वसुलक्ष्मी बोल उठी- आर्य! यह मालविका है ।

कुमुदिनी—(मुसकराती हुई) बच्ची ही तो ठहरी । हाँ, तो फिर क्या हुआ ?

बकुलावलिका—और होगा क्या ? अब मालविका पर ऐसा कड़ा पहरा पड़ गया है कि उसे महाराज के आगे होने ही नहीं दिया जाता ।

कुमुदिनी—अच्छा सखी! जाओ तुम भी करो अपना काम, और मैं भी जाकर यह अँगूठी महारानी को दिए आती हूँ (चली जाती है ।)

बकुलावलिका—(धूमकर, देखकर) नाट्याचार्य तो संगीतशाला से निकले इधर ही बढ़े चले आ रहे हैं । चलती हूँ, इनसे मिले लेती हूँ । (धूमती है ।)

(प्रविश्य)

गणदासः—कामं खलु सर्वस्यापि कुलविद्या बहुमता । न पुनरस्माकं नाट्यं प्रति मिथ्यागौरवम् ।
तथाहि-

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा ।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नामारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येक समाराधकम् ॥ 4 ॥

बकुलावलिका—(उपेत्य ।) अज्ज! वन्दामि । (आर्य! वन्दे ।)

गणदासः—भद्रे! चिरञ्जीव ।

बकुलावलिका—अज्ज! दैवी पुच्छदि अवि उवदेसग्गहणे णादिकील्लिस्सदि वो सिस्सा मालविएत्ति ।
(आर्य! देवी पृच्छत्यप्युपदेशग्रहणे नातिक्लिश्नाति वः शिष्या मालविकेति ।)

गणदासः—भद्रे! विज्ञाप्यतां देवी परमनिपुणा मेधाविनी चेति । किं बहुना ।

यद्यत्प्रयोगविषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै ।

तत्तद्विशेषकरणात्प्रत्युपदिशतीव मे बाला ॥ 5 ॥

बकुलावलिका—(आत्मगतम् ।) अदिवकमती विअ इरावदिं पेक्खामि । (प्रकाशम्) किदत्था दाणिं वो
सिस्सा जाए गुरुअणो एवं तुस्सदि । (अतिक्रामन्तीमिवेरावतीं पश्यामि । कृतार्थेदानीं वः शिष्या यस्या
गुरुजन एवं तुष्यति ।)

गणदासः—भद्रे! तद्विधामसुलभत्वात्पृच्छामि । कुतो देव्या तत्पात्रमानीतम् ।

गणदास—(आकर) यों तो सभी अपने-अपने घर की विद्या को सबसे अच्छा समझते हैं, पर हम लोग जो
अपनी नाट्य विद्या का इतना अभिमान करते हैं वह झूठा नहीं है, क्योंकि मुनि लोगों का कहना है कि
यह नाट्य तो देवताओं की आँखों को सुहाने वाला शान्त यज्ञ है । स्वयं महादेव ने ही उमासे विवाह करके
अपने शरीर में इसके दो भाग कर दिए हैं, एक ताण्डव और दूसरा लास्य । इसमें सत्व, रज और तम तीनों गुण
भी दिखलाए जाते हैं और अनेक रसों में लोगों के चरित्र भी दिखाई पड़ते हैं, इसीलिये अलग-अलग
रुचिवाले लोगों के लिये भी प्रायः नाटक ही ऐसा उत्सव है जिसमें सबको एक-सा आनन्द मिलता है ॥ 4 ॥

बकुलावलिका—(आगे बढ़कर) आर्य, प्रणाम ।

गणदास—बहुत दिन जिओ भद्रे!

बकुलावलिका—आर्य! महारानी ने पूछा है कि नाट्य सीखने में आपकी शिष्या मालविका आपका
माथा तो बहुत नहीं चाटती ।

गणदास—भद्रे! महारानी को बता देना कि वह तो बड़ी ही चतुर और समझदार है । और क्या कहूँ,
मैं जो जो भाव उसे सिखलाता हूँ, उन्हें जब वह और भी सुन्दरता के साथ करके दिखाने लगती है, तब
ऐसा जान पड़ता है मानो वही उल्टे मुझे सिखा रही हो ॥ 5 ॥

बकुलावलिका—(मन ही मन) जान पड़ता है यह इरावती को पछाड़ ही डालेगी । (प्रकट) धन्य है
आपकी वह शिष्या जिसके गुरु उससे इतने प्रसन्न हैं ।

गणदास—भद्रे! ऐसे शिष्य मिलते कहाँ हैं? इसलिये तो मैं तुमसे पूछता हूँ कि देवी को यह मिल
कहाँ से गई?

बकुलावलिका—अथि देवीए वण्णावरो भादा वीरसेणो णाम। सो भट्टिणा णम्मदातीरे अन्तवालदुग्गे ठाविदो। तेण सिप्पाहिआरे जोग्गा इअं दारिएति भणिअ भइणीए देवीए उवाअणं पेसिदा। (अस्ति देव्या वर्णावरो भ्राता वीरसेनो नाम। स भर्त्रा नर्मदातीरेऽन्तपालदुर्गे स्थापितः। तेन शिल्पाधिकारे योग्येयं दारिकेति भणित्वा भगिन्या देव्या उपायनं प्रेषिता।)

गणदासः—(स्वगतम्) आकृतिविशेषप्रत्ययादेनामनूनवस्तुकां संभावयामि। (प्रकाशम्) भद्रे! मयापि यशस्विना भवितव्यम्। यतः।

पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं ब्रजति शिल्पमाधातुः।

जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य ॥ 6 ॥

बकुलावलिका—अज्ज कहिं दारिणं वे सिस्सा। (आर्य! कुत्रेदानीं व शिष्याः।)

गणदासः—इदानीमेव पञ्चाङ्गादिकमभिनयमुपदिश्य मया विश्रम्यतामित्यभिहिता दीर्घिकावलोकन-गवाक्षगता प्रवातमासेवमाना तिष्ठति।

बकुलावलिका—तेण हि पुणो अणुजाणादु मं अज्जो। जाव से अज्जस्स परितोसणिवेदणेण उस्साहं वड्ढेमि। (तेन हि पुनरनुजानातु मामार्यः। यावदस्या आर्यस्य परितोषनिवेदनेनोत्साहं वर्धयामि।)

गणदासः—दृश्यतां सखी। अहमपि लब्धक्षणः स्वगृहं गच्छामि।

(इति निष्क्रान्तौ।)

॥ मिश्रविष्कम्भकः ॥

बकुलावलिका—देवी के एक वीरसेन नाम के दूर के भाई हैं। उन्हें महाराज ने नर्मदा तीर वाले अन्तपाल दुर्ग की देख-रेख का काम सौंप रक्खा है। उन्होंने ही अपनी बहिन धारिणी देवी के पास इस कन्या को यह कहलाकर भेज दिया है कि यह गाने-बजाने का काम भली भाँति सीख सकेगी।

गणदास—(मन ही मन) पर रूप-रंग से तो यह किसी ऊँचे घराने की जान पड़ती है, क्योंकि सिखाने वाले की कला अच्छे ही शिष्य के पास पहुँचकर उस प्रकार खिलती है, जैसे बादल का जल समुद्र की सीपों में पहुँचकर मोती बन उठता है ॥ 6 ॥

बकुलावलिका—क्यों आर्य! आपकी शिष्या इस समय है कहाँ?

गणदास—अभी उसे पाँचों अंगों का अभिनय सिखाकर मैंने उसे थोड़ा विश्राम करने को कहा है। इसलिये वह सरोवर की ओर खिड़की पर बैठी बयार ले रही है।

बकुलावलिका—तो आप मुझे आज्ञा दीजिए कि मैं उसे यह कहकर उत्साहित करूँ कि आप उससे इतने प्रसन्न हैं।

गणदास—हाँ हाँ, जाओ मिल लो अपनी सखी से। मैं भी छुट्टी पाकर अपने घर जा रहा हूँ।

(दोनों जाते हैं।)

॥ मिश्र विष्कम्भक ॥

(ततः प्रविशत्येकान्तस्थितपरिजनो मन्त्रिणा लेखहस्तेनान्वास्यमानो राजा ।)

राजा—(अनुवाचितलेखममात्यं विलोक्य) वाहतक! किं प्रतिपद्यते वैदर्भः ।

अमात्यः—देव! आत्मविनाशम् ।

राजा—सदेशमिदानीं श्रोतुमिच्छामि ।

अमात्यः—इदमिदानीमनेन प्रतिलिखितम् । पूज्येनाहमादिष्टः । भवतः पितृव्यपुत्रः कुमारो माधवसेनः प्रतिश्रुतसंबन्धो ममोपान्तिकमुपसर्पन्तन्तरा त्वदीयेनान्तपाले नावस्कन्धं गृहीतः । स त्वया मदपेक्षया सकलत्रसोदर्यो मोक्तव्य इति । एतन्ननु वो विदितम् । यत्तुल्याभिजनेषु राज्ञां वृत्तिः । अतोऽत्र मध्यस्थः पूज्यो भवितुमर्हति । सोदरा पुनरस्य ग्रहणविप्लवे विनष्टा । तदन्वेषणाय प्रयतिष्ये । अथवा अवश्यमेव माधवसेनो मया पूज्येन मोचयितव्यः श्रूयतामभिसंधिः ।

मौर्यसचिवं विमुञ्चति यदि पूज्यः संवतं मम श्यालम् ।

मोक्ता माधवसेनस्ततो मया बन्धनात्सद्यः ॥ ७ ॥

इति ।

राजा—(सरोषम्) कथं कार्यविनिमयेन मयि व्यवहरत्यनात्मज्ञः । वाहतक! प्रकृत्यमित्रः प्रतिकूलकारी च मे वैदर्भः । तद्यातव्यपक्षे स्थितस्य पूर्वसंकल्पितसमुन्मूलनाय वीरसेनमुखं दण्डचक्रमाज्ञापय ।

अमात्यः—यदाज्ञापयति देवः ।

(एकान्त में अपने सभासदों के साथ बैठे हुए हैं और मन्त्री अपने हाथ में एक पत्र लिए हुए हैं ।)

राजा—(मन्त्री जब पत्र बाँच चुके तब) क्यों वाहतक । विदर्भ के राजा चाहते क्या हैं?

अमात्य—अपना सत्यानाश, देव!

राजा—अच्छा, पढ़कर तो सुनाओ उनका संदेश ।

अमात्य—उन्होंने लिखकर भेजा है—‘आपने जो मुझे यह आज्ञा दी थी-कि आपके चचेरे भाई कुमार माधवसेन पहले से पक्के किए संबन्ध के अनुसार मुझसे अपनी बहिन ब्याहने के लिये जब चले आ रहे थे, तब बीच में ही आपके राज्य की सीमा के रखवालों ने उन्हें पकड़कर बाँध लिया है; उन्हें आप मेरे कहने से स्त्री और बहिन के साथ छोड़ दीजिए । इस सम्बन्ध में मुझे यह कहना है कि आप बड़े हैं और यह भी आप भली भाँति जानते हैं कि समान वंशवाले राजाओं के झगड़े कैसे निपटाने चाहिए । इसलिये आप चाहें तो हम लोगों का बीच-बचाव कर सकते हैं । हाँ, इस धर-पकड़ में माधवसेन की बहन कहीं खो गई है । मैं उसे खोजने का जतन करूँगा और आप भी यदि माधवसेन को छुड़ाना चाहते हों तो आप मेरी इतनी बात मान लीजिए कि आपने मेरे साले मौर्य सचिव को जो पकड़ रक्खा है, उसे यदि आप छोड़ दें तो मैं भी माधवसेन को अभी छोड़ दूँगा ॥ ७ ॥

राजा—(क्रोध से) क्या वह ढीठ मुझसे इस प्रकार बदले का व्यवहार करना चाहता है । देखो वाहतक ! यह विदर्भका राजा स्वभाव से ही मेरा शत्रु है और जो कुछ मैं कहता हूँ, उसका ठीक उलटा ही किया करता है । इसलिये वीरसेन के नायकत्व में जितनी सेना है उसे आज्ञा दे दो कि जाकर उसे जड़ से उखाड़ फेंके, क्योंकि हम लोग पहले ही संकल्प कर चुके हैं कि ऐसे खोटे शत्रुको उखाड़ फेंकना ही ठीक है ।

अमात्य—जैसी देव की आज्ञा ।

राजा—अथवा किं भवान्मन्यते।

अमात्यः—शास्त्रदृष्टमाह देव!

अचिराधिष्ठितराज्यः शत्रुः प्रकतिष्वरूढमूलत्वात्
नवसंरोपणशिल्पलस्तरुव सुकरः समुद्धर्तुम् ॥ ८ ॥

राजा—तेन ह्यवितथं तन्त्रकारवचनम् इदमेव वचनं निमित्तमुपादाय समुद्योग्यतां सेनाधिपतिः।

अमात्यः—तथा। (इति निष्क्रान्तः)

(परिजनो यथाव्यापारं राजानमभितः स्थितः।)

(प्रविश्य।)

विदूषकः—आणत्तोम्हि तत्तभवदा रण्णा। गोदम! चिन्तेहि दाव उवाअं। जह मे जदिच्छादिट्ठप्पदिकिदी मालविआ पच्चक्खदंसणा होदित्ति। मए अ तं तथा किदं दाव से णिवेदेमि। (आज्ञप्तोऽस्मि तत्र भवता राज्ञा। गौतम! चिन्तय तावदुपायम्। यथा मे यदृच्छादृष्टप्रतिकृतिर्मालविका प्रत्यक्षदर्शना भवतीति। मया च तत्तथा कृतं तावदस्मै निवेदयामि।) (इति परिक्रामति।)

राजा—(विदूषकं दृष्ट्वा।) अयमपंरः कार्यान्तरसचिवोऽस्माकमुपस्थितः।

विदूषकः—(उपगम्य) वड्ढदु भवं। (वर्धतां भवान्।)

राजा—(सशिरःकम्पम्।) इत आस्यताम्।

(विदूषकः उपविष्टः।)

राजा—पर इसमें आपकी क्या सम्मति है?

अमात्य—देवने तो पहले ही शास्त्र की बात कह दी है कि जो शत्रु अभी गद्दी पर आकर बैठा हो और जो भली प्रकार अपनी प्रजा में जड़ भी न जमा सका हो, वह नये रोपे हुए दुर्बल पौधेके समान बड़ी सरलता के साथ जड़ से उखाड़ फेंका जा सकता है ॥ ८ ॥

राजा—तब तो शास्त्र की बात यहाँ ठीक लागू हो रही है। इसलिये शास्त्र के इसी वचन के आधार पर सेनापति को जा तैयार करो।

अमात्य—जी अच्छा। (चला जाता है।)

(सब सेवक राजा के चारों ओर खड़े अपना-अपना काम कर रहे हैं।)

विदूषक—(आकर) मुझे महाराज ने आज्ञा दी थी कि गौतम! कोई ऐसा उपाय सोच निकालो कि जिस मालविका को मैंने अचानक चित्र में देख लिया है, उसे मैं अपनी आँखों से देख पाऊँ। मैंने उसके लिये जो उपाय सोच निकाला है, चलकर उसे अभी महाराज को बताए देता हूँ।

(धूमता है।)

राजा—(विदूषक को देखकर) लो, हमारे दूसरे कामों के मंत्री भी आ पहुँचे।

विदूषक—(पास पहुँच कर) बधाई है।

राजा—(सिर हिलाकर) आओ आओ यहाँ आकर बैठो। (विदूषक बैठ जाता है।)

राजा—अपि कच्चिदुपेयोपायदर्शने व्यापृतं ते प्रज्ञाचक्षुः।

विदूषकः—पओअसिद्धिं पृच्छ। (प्रयोगसिद्धिं पृच्छ।)

राजा—कथमिव।

विदूषकः—(कर्णे) एवमिव। (एवमिव।)

राजा—साधु वयस्स! निपुणमुपक्रान्तम्। इदानीं दुरधिगमसिद्धावप्यस्मिन्नारम्भे वयनाशंसामहे। कुतः-

अर्थ सप्रतिबन्धं प्रमुरधिगन्तुं सहायवानेव।

दृश्यं तमसि न पश्यति दीपेन विना सचक्षुरपि॥ 9॥

(नेपथ्ये)

अद्यं बहु विकल्थ्य। राज्ञः समक्षमेवावयोरधरोत्तरयोर्व्यक्तिर्भविष्यति।

राजा—(आकर्ण्य।) सखे! त्वत्सुनीतिपादपस्य पुष्पमुद्भिन्नम्।

विदूषकः—फलं वि अइरेण दक्खिस्ससि। (फलमप्यचिरेण द्रक्ष्यसि।)

(ततः प्रविशति कञ्चुकी)

कञ्चुकी—देव देव! अमात्यो विज्ञापयति। अनुष्ठिता प्रभोराज्ञा। एतौ पुनर्हरदत्तगणदासौ।

उभावभिनयाचार्यौ परस्परजयैषिणौ।

त्वां द्रष्टुमुद्यतौ साक्षाद्वाविव शरीरिणौ। 10॥

राजा कहो, जिससे मिलने के लिये हम तड़प रहे हैं, उससे मिलने का कोई उपाय तुम्हारी बुद्धि में आया या नहीं?

विदूषक—अजी, यह पूछिए कि हमने काम बनाया कैसे है।

राजा—कैसे, कैसे?

विदूषक—(कान में) ऐसे।

राजा—वाह मित्र! तुमने बड़ी चतुराई का काम किया है। यह काम है तो बड़ा टेढ़ा, पर तुमने जैसा आरम्भ किया है उससे तो कुछ कुछ आशा हो चली है। क्योंकि झंझट वाले कामों में जब कोई साथी मिल जाय तब काम बना ही समझ लेना चाहिए। क्योंकि आँखों वाला मनुष्य भी अँधेरे में बिना दीपक के कुछ नहीं देख पा सकता॥ 9॥

(नेपथ्य में)

वस—बस, अपनी बकवाद रहने दो। अभी महाराज के सामने ठीक-ठीक निर्णय हुआ जाता है न, कि हम दोनों में कौन छोटा है कौन बड़ा।

राजा—(सुनकर) लो मित्र! तुम्हारी नीति के पेड़ में फूल तो दिखाई देने लगे हैं।

विदूषक—अभी क्या, थोड़ी ही देर में फल भी देख लीजिएगा।

(कञ्चुकी आता है।)

कञ्चुकी—देव! मंत्री जी कहते हैं कि आपकी आज्ञा का पालन कर दिया गया। अभिनय के दोनों आचार्य हरदत्त और गणदास आपस में एक दूसरे को हराने की ठानकर आपसे मिलने के लिये बाहर खड़े लग रहे हैं मानो स्वयं नाटक के भाव ही शरीर धारण किए चले आए हों॥ 10॥

राजा—प्रवेश्य तौ ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रम्य ताभ्यां सह प्रविश्य ।) इत इतो भवन्तौ ।

गणदास—(राजानं विलोक्य ।) अहो दुरासदो राजमहिमा ।

न च न परिचितो न चाप्यरम्यश्चकितमुपैमि तथापि पार्श्वमस्य ।

सलिलनिधिरिव प्रतिक्षणं मे भवति स एव नवो नवोऽयमक्ष्णोः ॥ 11 ॥

हरदत्तः—महत्खलु पुरुषाकारमिदं ज्योतिः । तथाहि ।

द्वारे नियुक्तपुरुषाभिमतप्रवेशः सिंहासनान्तिकचरेण सहोपसर्पन् ।

तेजोभिरस्य विनिवर्तितदृष्टिपातैर्वाक्यादृते पुनरिव प्रतिवारितोऽस्मि ॥ 12 ॥

कञ्चुकी—एष देवः । उपसर्पतां भवन्तौ ।

उभौ—(उपेत्य) विजयतां देवः ।

राजा—स्वागतं भवद्भ्याम् । (परिजनं विलोक्य ।) वासने तावदत्रभवतोः ।

(उभौ परिजनोपनीतयोरामनयोरुपविष्टौ ।)

राजा—किमिदं शिष्योपदेशकाले युगपदाचार्याभ्यामत्रोपस्थानम् ।

राजा—ले आओ दोनों को भीतर ।

कञ्चुकी—जैसी देव की आज्ञा (बाहर जाकर दोनों को ले आता है ।) इधर से आइए आप लोग, इधर से ।

गणदास—(राजा को देखकर) वाह, क्या कहने हैं राजा के तेज के भी! इनके तो पास तक पहुँचना दूभर लग रहा है क्योंकि—ऐसी बात नहीं है कि इनसे पहले से जान पहचान न हो या ये देखने में भयंकर लगते हों, फिर भी न जाने क्यों मुझे इनके पास जाते हुए बड़ी हिचक हो रही है । समुद्र के समान ज्यों के त्यों रहते हुए भी ये मेरी आँखों को पल-पल में नये से दिखाई पड़ रहे हैं ॥ 11 ॥

हरदत्त—पुरुष के रूप में राजा का तेज सचमुच बड़ा प्रभावशाली है । क्योंकि यद्यपि द्वारपाल ने मुझे यहाँ तक ला पहुँचाया है और मैं इनके सिंहासन के पास रहने वाले कञ्चुकी के साथ ही भीतर चला भी आया हूँ, फिर भी इनके तेज से मेरी आँखें इतनी चौधियाँ गई हैं मानो बिना रोके ही मैं बढ़ने से रोक दिया गया होऊँ ॥ 12 ॥

कञ्चुकी—लीजिए ये हैं देव! आप लोग आगे बढ़ जाइए ।

दोनों—(आगे बढ़कर) देव की जय हो ।

राजा—आप दोनों का स्वागत है! (सेवक को देखकर) आप लोगों के लिये आसन तो लगाओ ।

(सेवकों के लिए हुए आसनों पर दोनों बैठते हैं ।)

राजा—कहिए, यह तो शिष्यों को पढ़ाने का समय है । इस समय आप दोनों आचार्य एक साथ कैसे आ पहुँचे?

गणदासः—देव! श्रूयताम्। मया सुतीर्थादभिनयविद्या सुशिक्षिता। दत्तप्रयोगश्चास्मि। देवेन देव्या च परिगृहीतः।

राजा—बाढं जाने। ततः किम्।

गणदासः—सोऽहममुना हरदत्तेन प्रधानपुरुषसमक्षमयं मे न पादरजसापि तुल्य इत्यधिक्षिप्तः।

हरदत्तः—देव! अयमेव प्रथमं परिवादकरः। अत्रभवतः किल मम च समुद्रपल्लवयोरिवान्तरमिति तत्रभवानिमं मां च शास्त्रे प्रयोगे च विमृशतु। देव एव नौ विशेषज्ञः प्राश्निकः।

विदूषकः—समर्थं पङ्णादं। (समर्थं प्रतिज्ञातम्।)

गणदासः—प्रथमः कल्पः। अवहितो देवः श्रोतुमर्हति।

राजा—तिष्ठ यावत्। पक्षपातमेत्र देवी मन्यते। तदस्याः पण्डितकौशिकीसहितायाः समक्षमेव न्याय्यो व्यवहारः।

विदूषकः—सुद्धु भवं भणादि। (सुष्ठु भवान्भणति।)

आचार्यो—यद्देवाय रोचते।

राजा—मौद्गल्य! अमुं प्रस्तावं निवेद्य पण्डितकौशिक्या सार्धमाहूयतां देवी।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रम्य सपरिव्राजिकया देव्या सह प्रविष्टः।) इत इतो भवती।

गणदास—सुनिष्ट देव! मैंने ऐसे वैसे से नहीं, बड़े योग्य गुरु से विद्या सीखी है और इतने दिनों से सिखा भी रहा हूँ। देव और देवी ने मेरी विद्या का आदर भी किया है।

राजा—हाँ, यह तो मैं जानता हूँ। तो हुआ क्या है?

गणदास—आज इन हरदत्त जी ने एक बड़े राजपुरुष के आगे यह डींग जा हाँकी है कि गणदास तो मेरे पैरों की धूल के बराबर भी नहीं हूँ।

हरदत्त—देव! पहले इन्होंने ही मेरी निन्दा की है और कहा है कि हमारे और हरदत्त में तो इतना अन्तर है जितना समुद्र में और गढ़ही में है। इसलिये अब आप ही इनके और मेरे शास्त्र ज्ञान और प्रयोग की चतुराई की स्वयं परीक्षा कर लें। क्योंकि आप ही परीक्षक होकर यह बता सकेंगे कि हम दोनों में कौन बढ़कर है।

विदूषक—बात तो ठीक कह रहे हैं।

गणदास—यही सही। तो देव! सावधान होकर सुनें।

राजा—अभी ठहरो। यदि हम निर्णय करेंगे तो देवी समझेंगी कि हमने पक्षपात किया है, इसलिये उनके और पंडित कौशिकी के सामने ही निर्णय किया जाना चाहिए।

विदूषक—यह तो आप ठीक कह रहे हैं।

दोनों आचार्य—जैसा देव ठीक समझें।

राजा—मौद्गल्य! पंडिता कौशिकी और महारानी की सब बातें बताकर यहाँ बुला तो लाओ।

कञ्चुकी—जैसी देवकी आज्ञा। (जाता है, परिव्राजिका तथा महारानी को साथ लेकर आता है।) इधर से आइए देवी इधर से।

धारिणी—(परिव्राजिकां विलोक्य ।) भवदिति! हरदत्तस्स गणदासस्स अ संरम्भं कहं पेक्खसि । (भगवति । हरदत्तस्य गणदासस्य च संरम्भे कथं पश्यसि ।)

परिव्राजिका—अलं स्वपक्षावसादशङ्कया । न परिहीयते प्रतिवादिनो गणदासः ।

धारिणी—जइ वि एवं तह वि राअपरिग्गहो पहाणत्तणं उवहरदि । (यद्यप्येवं तथापि राजपरिग्रहः प्रधानत्वमुपहरति ।)

परिव्राजिका—अयि! राज्ञीशब्दभाजनमात्मानपि चिन्तयतु भवती । पश्य ।

अतिमात्रभासुरत्वं पुष्यति भानोः परिग्रहादनलः ।

अधिगच्छति महिमानं चन्द्रोऽपि निशापरिग्रहीतः ॥ 13 ॥

विदूषकः—अइ उअड्डिदा देवी पीठमहिअं पण्डिअकोसिइं पुरोकरिअ तत्तभोदी धारिणी । (अयि! उपस्थिता देवी पीठमार्दिकां पण्डितकौशिकीं पुरस्कृत्य तत्रभवती धारिणी ।)

राजा—पश्याम्येनाम् । येषा—

मङ्गलालंकृता भाति कौशिक्या यतिवेषया ।

त्रयी विग्रहवत्येव सममध्यात्मविद्यया ॥ 14 ॥

परिव्राजिका—(उपेत्य) विजयतां देवः ।

राजा—भगवति अभिवादये ।

परिव्राजिका—

महासारप्रसवयोः सदृशक्षमयोर्द्वयोः ।

धारिणीभूतधारिण्योर्भव भर्ता शरच्छतम् ॥ 15 ॥

धारिणी—(परिव्राजिका की ओर देखकर) क्यों भगवती! हरदत्त और गणदास के झगड़े से आप किसकी जीत सोचती हैं?

परिव्राजिका—आप अपने पक्ष के हार की तो बात ही न सोचिए । गणदास कभी अपने जोड़ वाले से नहीं हार सकते ।

धारिणी—यद्यपि यही ठीक है फिर भी राजा जिसपर कृपा कर दें, वह तो जीत ही जायगा ।

परिव्राजिका—अजी! आप भी तो यह स्मरण रखिए कि आप महारानी हैं । देखिए—जैसे सूर्य की कृपा से अग्नि में बहुत चमक आ जाती है, वैसे ही रात की कृपा पाकर चन्द्रमा में भी बहुत चमक आ जाती है ॥ 13 ॥

विदूषक—लो, महारानी धारिणी जी अपनी साथिन पंडिता कौशिकी को साथ लिए इधर चली आ रही हैं ।

राजा—हाँ, देख तो रहा हूँ कि साधुनी के वेशवाली कौशिकी के साथ सुन्दर वस्त्र और आभूषणों से सजी हुई महारानी ऐसी दिखाई पड़ रही हैं मानो अध्यात्म-विद्या के साथ तीनों वेदों की देवी शरीर धारण किए चली आ रही हो ॥ 14 ॥

परिव्राजिका—(पास जाकर) देवी की जय हो ।

राजा—भगवती! अभिवादन करता हूँ ।

परिव्राजिका—सैकड़ों शरदों तक, महातेजस्वियों को उत्पन्न करने वाली उन पृथ्वी और धारिणी देवी के आप स्वामी बने रहें, जिन दोनों में सहन करने की शक्ति एक-सी है ॥ 15 ॥

धारिणी—जेदु जेदु अज्जउत्तो। (जयतु जयत्वार्यपुत्रः।)

राजा—स्वागतं देव्यै। (परिव्राजिकां विलोक्य।) भवति! क्रियतामासनपरिग्रहः।

(सर्व उपविशन्ति।)

राजा—भगवत्यत्रभवतोर्हरदत्तगणदासयोः परस्परं विज्ञानसङ्घर्षिणोर्भगवत्या प्रादिनकपदमध्यासितव्यम्।

परिव्राजिका—(सस्मितम्) अलमुपालम्भेन। पत्तने सति ग्रामे रत्नपरीक्षा?

राजा—नैतदेवम् पण्डितकौशिकी खलु भगवती पक्षपातिनावहं देवी च।

आचार्यो—सम्यगाह देवः। मध्यस्था भगवती नौ गुणदोषतः परिच्छेतुमर्हति।

राजा—तेन हि प्रस्तूयतां विवादः।

परिव्राजिका—देव प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रम्। किमत्र वाग्यवहारेण। कथं वा देवी मन्यते।

देवी—जइ मं पुच्चसि तदा एदाणं विवादो एव्व ण मे रोअदि। (यदि मां पृच्छसि तदैतयोर्विवाद एव न मे रोचते।)

गणदासः—देवी! न मां समानविद्यया परिभवनीयमवगन्तुमर्हसि।

विदूषकः—भोदि! पेक्खामो उअरंभरिसंवादं। किं मुहा वेअणदाणेण एदेणं। (भवति! पश्याम उदरंभरिसंवादम्। किं सुधा वेतनदानेनैतेषाम्।)

देवी—णं कलहप्पि ओसि। (ननु कलहप्रियोऽसि।)

धारिणी—जय हो, आर्यपुत्र की जय हो।

राजा—देवी का स्वागत है। (परिव्राजिका की ओर देखकर) आइए, बैठिए भगवती!

(सब बैठते हैं)

राजा—भगवती! आचार्य हरदत्त और गणदास आज एक झगड़ा ले आए हैं कि हम दोनों में कौन अधिक योग्य है। अब आप ही इनका झगड़ा निपटाइए।

परिव्राजिका—(मुसकराकर) ठिठोली न कीजिए। भला नगर के होते हुए कहीं रत्न की परख गाँव में की जाती है?

राजा—नहीं, ऐसी बात नहीं है। आप ठहरीं पंडिता कौशिकी, और हम तथा देवी ठहरे आचार्यों के पक्षपाती।

दोनों आचार्य—यह तो देव ने ठीक कहा। पक्षपात से दूर रहने वाली भगवती ही हमारे गुण-दोष ठीक-ठीक जाँच सकेंगी।

राजा—तो आप लोग शास्त्रार्थ चलाइए।

परिव्राजिका—देव! नाट्यशास्त्र की जाँच तो करके दिखाने से होती है। इसलिये कोरी बात-चीत से क्या लाभ होगा? क्यों देवी! ठीक है न?

देवी—मुझसे पूछा जाय तो मुझे इनका झगड़ा ही नहीं सुहाता है।

गणदास—देवी! आप यह न समझें कि नाट्य-विद्या में किसी से पीछे रह जाऊँगा।

विदूषक—तो देवी! देख ही क्यों न लिया जाय इन दोनों पेटुओं का करतब? नहीं तो इन्हें इतना वेतन दे-देकर पालने से लाभ ही क्या है?

विदूषकः—मा एव्यं। चण्डि! अण्णोण्णकलहप्पिआणं मत्तहत्थीणं एक्कदरस्सि अणिज्जिदे कुदो उवसमो। (मैवम्। चण्डि! अन्योन्यकलहप्रियमोपत्तस्तिनोरेकतरस्मिन्ननिजिते कुत उपशमः।)

राजा—ननु स्वाङ्गसौष्ठवातिशयमुभयोर्दृष्टवती भगवती।

परिव्राजिका—अथ किम्!

राजा—तदिदानीमतः परं किमाभ्यां प्रत्याययितव्यम्।

परिव्राजिका—तदेव वक्तुकामास्मि।

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।

यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव।। 16।।

विदूषकः—सुदं अज्जेहिं भअवदीए वअणं। एसो पिण्डितत्थो उवदेसदंसणादो णिण्णओ ति। (श्रुतमार्याभ्यां भगवत्या वचनम्। एष पिण्डितार्थ उपदेशदर्शनान्निर्णय इति।)

हरदत्तः—परमभिमतं नः।

गणदासः—देवी! एवं स्थितम्।

देवी—जदा उण मन्दमेधा सिस्सा उवदेसं मलिणेन्ति तदा आअरिअस्स ण दोसो। (यदा पूनर्मन्दमेधा शिष्या उपदेशं मलिनयन्ति तदाऽऽचार्यस्य न दोषः।)

राजा—देवी! एवमापठ्ययते। विनेतुरद्रव्यपरिग्रहोऽपि बुद्धिलाघवं प्रकाशयतीति।

देवी—हाँ, हाँ तुम्हें तो लड़ाई-झगड़ा अच्छा लगता ही है।

विदूषक—नहीं, ऐसा न कहिए चंडी! इन दो लड़ाकू हाथियों में से जब तक एक की हार नहीं हो जायगी, तब तक ये ठंडे कैसे होंगे?

राजा—भगवती! आपने तो इन लोगों के अभिनय की चतुरता देखी ही होगी?

परिव्राजिका—हाँ, देखी है।

राजा—तब इससे बढ़कर ये अपनी कुशलता का और क्या प्रमाण देंगे।

परिव्राजिका—मैं बताती हूँ न! देखिए! कोई गुणी तो ऐसे होते हैं जो अपने गुण को अपने आप भली भाँति जानते हैं। और कुछ ऐसे होते हैं जो अपने गुण दूसरों को सिखाने में बड़े चतुर होते हैं, पर सच्चा गुणी वही है जिसमें ये दोनों बातें हों। और ऐसे ही गुणी को सबसे अच्छा समझना भी चाहिए।। 16।।

विदूषक—(दोनों आचार्यों से) आप लोगों ने भगवती की बातें सुन लीं न! इसका अर्थ यह निकला कि आप लोगों ने अपने शिष्यों को जैसा सिखाया है, वही देखकर आप लोगों की अच्छाई की जाँच की जायगी।

हरदत्त—यही तो हम भी चाहते हैं।

गणदास—तो यही रहे देवी!

देवी—पर यदि कोई मोटी समझवाली शिष्या सिखाए हुए प्रयोग बिगाड़ दे तो इसमें आचार्य का क्या दोष है?

राजा—देवी! हमने कहीं पढ़ा है कि यदि गुरु अपनी विद्या देने के लिये निकम्मा शिष्य चुने तो समझ लेना चाहिए कि गुरु को भी कुछ नहीं आता-जाता।

देवी—(जनान्तिकम् ।) कहं दाणिं । (गणदासं विलोक्य प्रकाशम् ।) अलं अज्जउत्तसस्स ऊसाहकरणं मणोरहं पुरिअ । विरम णिरत्थआदो आरंभादो । (कथमिदानीम् । अलामर्यपुत्रस्योत्साहकारणं मनोरथं पूरयित्वा । विरम निरर्थकादारम्भात् ।)

विदूषकः—सुद्ध भोदी भणादि । भो गणदास ! संगीतपदं लम्भिअ सरस्सईए उवाअणमोदआणं खादमाणस्स किं दे मुहणिगहेण विवादेण । (सुष्ठु भवती भणति । भो गणदास ! संगीतपदं लब्ध्वा सरस्वत्युपायनमोदकान्खादतः किं ते मुखनिग्रहेण विवादेन ।)

गणदासः—सत्यसमयमेवार्थो देवीवाक्यस्य । श्रूयतामवसरप्राप्तमिदानीम् ।

लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभिरोस्ति तत्तिक्षमाणस्य परेण निन्दाम् ।

यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति ।। 17 ।।

देवी—अइरोवणीदा दे सिस्सा । अवरिणिट्ठिदस्य उवदेसस्स उण अण्णाय्यं पआसणं । (अचिरोपनीता ते शिष्या । अपरिनिष्ठतस्योपदेशस्य पुनरन्याय्यं प्रकाशनम् ।)

गणदास—अत एव मे निर्वन्धः ।

देवी—तेण हि दुवेवि भअवदीए उवदेसं दंसेध । (तेन हि द्वावपि भगवत्यायुपदेशं दर्शयतम् ।)

परिव्राजिका—देवि ! नैतन्याय्यम् । सर्वज्ञस्याप्येकाकिनो निर्णयाभ्युपगमो दोषाय ।

देवी—(जनान्तिकम् ।) मूढे परिव्वाजिए ! मं जागगतिंपि सुत्तं विअ करेसि । (मूढेपरिव्राजिके ! मां जाग्रतीमपि सुप्तामिव करोषि ।) (इति सासूयं परावर्तते ।)

(राजा देवी परिव्राजिकायै दर्शयति ।)

देवी—(अलग) अब क्या हो ? (गणदास को देखकर प्रकट) आर्यपुत्र को उत्साह दिलाने वाला टंटा छोड़ो । तुम क्यों यह बेकाम का काम सिर लिए ले रहे हो ?

विदूषक—आप ठीक कहती हैं । देखो गणदास ! जब तुम बैठे-बैठे संगीत के अध्यापक बने हुए, सरस्वती को चढ़ाए हुए लड़खे खा ही रहे हो, तब तुम ऐसी ठाँय-ठाँय मोल ही क्यों लेते हो, जिससे तुम्हारा मुँह बन्द हो जाय ।

गणदास—महारानी की बात का तो सचमुच यही अर्थ निकलता है, जब बात आ ही पड़ी है तो मैं भी कहे देता हूँ सुनिए—जो अध्यापक नौकरी पा लेने पर शास्त्रार्थ से भागता है, दूसरों के उँगली उठाने पर भी चुप रह जाता है और केवल पेट पालने के लिये विद्या पढ़ाता है ऐसे लोग पंडित नहीं, वरन् ज्ञान बेचने वाले बनिए कहलाते हैं ।। 17 ।।

देवी—तुम्हारी शिष्य अभी थोड़े ही दिनों से तो सीखने लगी है । इसलिये बिना उसे पक्का किए यहाँ प्रयोग कराने के लिये लाना सचमुच बड़ा अन्याय होगा ।

गणदास—पर इन्हीं कारणों से तो मैं और भी उसे यहाँ लाने का हठ कर रहा हूँ ।

देवी—तो तुम दोनों अपने-अपने सिखाने की चतुराई अकेले भगवती को ही दिखाओ ।

परिव्राजिका—यह ठीक नहीं होगा देवी ! कोई कितना भी बड़ा पंडित क्यों न हो, पर यदि वह अकेले न्याय करने बैठता है तो उसके निर्णय में भूल हो ही जाती है ।

देवी—(अलग) अरी मूर्ख परिव्राजिका ! तू मुझ जागती हुई को भी सोती हुई बना देने पर तुली बैठी है । (डाहसे मुँह फेर लेती है ।)

(राजा परिव्राजिका को संकेत से रानी का भाव दिखाता है ।)

परिव्राजिका—

अनिमित्तमिन्दुवदने किमत्र भवतः पराङ्मुखी भवसि।

प्रभवन्त्योऽपि हि भर्तृषु कारणकोपाः कुटुम्बिन्यः॥ 18॥

विदूषकः—एण सकारणं एव्व। उत्तणो पक्खो रक्खिदव्वो। (गणदासं विलोक्य।) दिट्ठिआ कोवव्वाजेण देवीए परितादो भवं। सुसिक्खिदो वि सब्बो उवदेसदंसणेण णिण्हादो होदि। (ननु सकारणमेव। आत्मनः पक्षो रक्षितव्यः। दिष्ट्या कोपव्याजेन देव्या परित्रातो भवान् सुशिक्षितोऽपि सर्व उपदेशदर्शनेन निष्णातो भवति।)

गणदासः—देवि! श्रूयताम्। एवं जनो गृह्णाति। तदिदानीम्।

विवादे दर्शयिष्यामि क्रियासंक्रान्तिमात्मनः।

यदि मां नानुजानासि परित्यक्तोऽस्म्यहं त्वया॥ 19॥

(इत्यासनादुत्थातुमिच्छति।)

देवी—(स्वगतम्) का गई। (प्रकाशम्।) पहवदि आआरिओ सिस्सअणस्स। (का गतिः। प्रभवत्याचार्यः शिष्यजनस्य।)

गणदासः—चिरमपदेशशङ्कितोऽस्मि। (राजानमवलोक्य) अनुज्ञातं देव्या। तदाशापयतु देवः कस्मिन्नाभिनयवस्तुनि प्रयोगं दर्शयिष्यामि।

राजा—यदादिशति भगवती।

परिव्राजिका—किमपि देव्या मनसि वर्तते ततः शङ्कितास्मि।

परिव्राजिका—अरी चन्द्रमा के समान मुखवाली! तुम बिना बात के ही महाराज से क्यों मुँह फेरे बैठी हो। जो अच्छे कुलवाली स्त्रियाँ होती हैं, उन्हें यद्यपि अपने पतियों पर सभी अधिकार होते हैं, फिर भी जब उन्हें रूठना होता है, तब वे कोई न कोई कारण निकालकर ही अपने पति से रूठ करती हैं॥ 18॥

विदूषक—वे कारण से ही तो रूठ रही हैं। उन्हें अपने पक्ष की तो रक्षा करनी ही चाहिए। (गणदास को देखकर) जाइए बड़ा भाग्य है आपका कि महारानी ने रूठने के बहाने आपको बचा लिया। पर देखो, चाहे कोई कितना भी बड़ा पंडित क्यों न हो, उसकी चतुराई उसके शिष्यों का करतब देखकर ही जानी जाती है।

गणदास—सुनिए देवी! जब ऐसी-ऐसी बातें कही जा रही हैं तो अब मैं यही दिखला देना चाहता हूँ कि मैंने अपने शिष्यों को अपनी विद्या कैसे सिखाई है। और यदि आप मुझे इस समय आज्ञा नहीं देंगी तो मैं यही समझूँगा कि आपने मुझे अपने यहाँ से निकाल दिया॥ 19॥

(अपने आसन से उठना चाहता है।)

देवी—(मन ही मन) अब और चारा ही क्या है! (प्रकट) शिष्य तो आचार्य के ही हाथ में है।

गणदास—मैं इतनी देर से डर रहा था कि महारानी कहीं रोक न दें (राजा को देखकर) देवी ने आज्ञा दे दी है, इसलिये अब देव भी आज्ञा दें कि मैं आपको कौन सा अभिनय दिखलाऊँ।

राजा—जो भगवती कहें।

परिव्राजिका—देवी कुछ कहना चाहती हैं, इसी से मैं हिचक रही हूँ।

देवी—भण वीवद्धं । पहवदि प्पहू अत्तणो परिअणस्स । (भण विस्रब्धम् । प्रभवति प्रभुरात्मनः परिजनस्य ।)

राजा—मम चेति ब्रूहि ।

देवी भवदि ! भणेदानीम् । (भगवति ! भणेदानीम् ।)

परिव्राजिका—देव ! शर्मिष्ठायाः कृतिं चतुष्पादोत्थं छलिकं दुष्प्रयोज्यमुदाहरन्ति । तत्रैकार्थसंश्रयमुभयोः प्रयोगं पश्यामः । तावता ज्ञायत एवात्रभवतोरूपदेशान्तरम् ।

आचार्यो—यदाज्ञापयति भगवती ।

विदूषकः—तेण हिं दुवे वि वग्गो पेक्खाघरे संगीदरअणं करिअ तत्तभवदो दूदं पेसअह । अहवा मुदङ्गसद्दो एव्व णो उत्थावइस्सदि । (तेन हि द्वावपि वर्गो प्रेक्षागृहे संगीतरचनां कृत्वा तत्रभवतो दूतं प्रेषयतम् । अथवा मृगङ्गशब्द एव न उत्थापयिष्यति ।)

हरदत्तः—तथा । (इत्युत्तिष्ठति ।)

(गणदासो धारिणीमवलोकयति ।)

देवी—(गणदासं विलोक्य ।) विअई भोदु अज्जा । णं विजअव्वत्थिणी अहं अज्जस्स । (विजयी भवत्वार्थः । ननु विजयाभ्यर्थिन्यहमार्थस्य ।)

(आचार्यो प्रस्थितौ ।)

परिव्राजिका—इतस्तावत् ।

आचार्यो—(परिवृत्य ।) इमौ स्वः ।

देवी—नहीं, आप निडर होकर कहिए । सेवकों को तो अपने स्वामी की आज्ञा माननी ही होती है ।

राजा—और मुझे आपकी आज्ञा माननी है, यह भी जोड़ दीजिए ।

देवी—भगवती ! अब आप कह डालिए ।

परिव्राजिका—महाराजा ! शर्मिष्ठा का बनाया हुआ चौपदों वाला छलिक नामक अभिनय बड़ा कठिन बताया जाता है । उसी के किसी एक भाव में दोनों का अभिनय देख लेंगे और उसी से यह जान लिया जायगा कि आप लोगों ने अपने-अपने शिष्यों को कैसा सिखलाया है ।

दोनों आचार्य—जैसी भगवती की आज्ञा ।

विदूषक—तो आप दोनों नाटक-घर में चलकर सब संगीत का साज जुटाइए और सब हो चुकने पर किसी दूत से यहाँ कहला दीजिए । या फिर मृदंग की धमक सुनकर हम लोग ही उठे चले आवेंगे ।

हरदत्त—अच्छी बात है । (उठता है ।)

(गणदास धारिणी की ओर देखता है ।)

देवी—(गणदास को देखकर) आपकी विजय हो । मैं सचमुच चाहती हूँ कि आपकी विजय हो ।

(दोनों आचार्य जाने को उद्यत ।)

परिव्राजिका—इधर तो सुनिए ।

दोनों आचार्य—(लौटकर) कहिए, आ गए हम लोग ।

परिव्राजिका—निर्णयाधिकारे ब्रवीमि। सर्वाङ्गसौष्ठवाभिव्यक्तये विगतनेपथ्ययोः पात्रयोः प्रवेशोऽस्तु।
आचार्यो—नेदमावयोरुपदेश्यम्। (इति निष्क्रान्तौ।)

देवी—(राजानमवलोक्य) जइ राअकज्जेसु ईरिसी उवाअणिउणदा अज्जउत्तस्स तदो सोहणं भवे। (यदि राजकार्येस्वीदृश्युपायनिपुणतार्यपुत्रस्य ततः शोभनं भवेत्।)

राजा—

अलमन्यथा गृहीत्वा न खलु मनस्थिनि मया प्रयुक्तमिदम्।

प्रायः समानविद्याः परस्परयशः पुरोभागाः॥ 20॥

(नेपथ्ये मृदङ्गध्वनिः। सर्वे कणौ ददति।)

परिव्राजिका—हन्त। प्रवृत्तं संगीतम्। तथा ह्येषा—

जीमूतस्तनितविशङ्किभिर्मयूरैरुद्ग्रीवैरनुरसितस्य पुष्करस्य।

निहादिन्युपहितमध्यमस्वरोत्था मायूरो मदयति मार्जना मनांसि॥ 21॥

राजा—देवि! तस्याः सामाजिका भवामः।

देवी—(स्वगतम्) अहो अविणओ अज्जउत्तस्स। (अहो अविनय आर्यपुत्रस्य।)

(सत्रे उत्तिष्ठन्ति।)

विदूषकः—(अपवार्य। भो! धीरं गच्छ। तत्तमोदी धारिणी विसंवादइस्सदि।) (भोः धीरं गच्छ। तत्रभवती धारिणी विसंवादयिष्यति।)

परिव्राजिका—देखिए, मुझे निर्णय का अधिकार दिया गया है, इसलिये मैं यह बता देना चाहती हूँ कि पात्रों के सब अंगों के हाव-भाव ठीक दिखाए जाने चाहिएँ, इसलिये आप लोग अपने पात्रों को बहुत अधिक सजा-धजाकर न लाइएगा।

दोनों आचार्य—यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं थी। (चले जाते हैं)

देवी—(राजा को देखकर) यदि आर्यपुत्र इतनी कला अपने राज्य की देखभाल करने में लगाते तो कितना अच्छा होता!

राजा—देवी! तुम कुछ और न समझ बैठना! इसमें मेरा कोई हाथ नहीं है। देखो, जो लोग एक-सी विद्यावाले होते हैं, वे कभी एक दूसरे की बढ़ती नहीं सह पाते॥ 20॥

(नेपथ्य में मृदंग की ध्वनि। सब सुनते हैं।)

परिव्राजिका—अरे लो! उन्होंने तो सङ्गीत छेड़ भी दिया। देखो! मृदंग की थापको मेघों की गरज समझकर ये मोर ऊपर मुँह करके देखने लगे और दूरतक गूँजने वाली यह मध्यम स्वर से उठी हुई मायूरी नामकी गमक मन को मतवाला बनाए डाल रही है॥ 21॥

राजा—चलिए देवी! चलकर देख लिया जाय।

देवी—(मन ही मन) ओह! आर्यपुत्र भी कैसे ढीठ हैं!

(सब उठ खड़े होते हैं।)

विदूषक—(अलग) अजी, धीरे-धीरे चलिए। कहीं देवी धारिणा सब गड़बड़-घोटाला न कर दें।

राजा—

धैर्यावलम्बिनमपि त्वरयति मां मुरजवाधरागोऽयम् ।

अवतरतः सिद्धिपथं शब्दः स्वमनोरथस्येव ॥ 22 ॥

(इति निष्क्रान्ता सर्वे ।)

॥ इति प्रथमोऽङ्कः ॥



राजा—मैं तो बहुत धीरे ही चल रहा हूँ फिर भी मुरज से निकला हुआ यह राग मुझे इस प्रकार हड़बड़ चला रहा है, मानो मेरा मनोरथ ही मुझे पुकारकर बुला रहा हो कि आओ तुम्हारा काम बन गया है ॥ 22 ॥

(सब चले जाते हैं ।)

॥ पहला अंक पूर्ण हुआ ॥



द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति संगीतरचनायां कृतायामासनस्थो राजा सवयस्यो धारिणी परिव्राजिका विभवतश्च परिवारः ।)

राजा—भववत्यत्रभवतोराचार्ययोः प्रथमं कतरस्योपदेशं द्रक्ष्यामः ।

परिव्राजिका—ननु समानेऽपि ज्ञानवृद्धभावे वयोवृद्धत्वाद् गणदासः पुरस्कारमर्हति ।

राजा—तेन हि मौद्गल्य! एवमत्रभवतोरावेद्य स्वनियोगमशून्यं कुरु ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः ।)

(प्रविश्य)

गणदासः—देव! शर्मिष्ठाया कृतिर्लयमध्या चतुष्पदास्ति । तस्यास्तु छलिकप्रयोगमेकमना श्रोतुमर्हति देवः ।

राजा—आचार्य । बहुमानादवहितोऽस्मि ।

(निष्क्रान्तो गणदासः)

राजा—(जनान्तिकम्) वयस्य ।

नेपथ्यपरिगतायश्चक्षुर्वर्शनसमुत्सुकं तस्याः ।

संहर्तुमधीरतया व्यवसितमिव मे तिरस्करिणीम् ॥ १ ॥

दूसरा अङ्क

(संगीतशाला में विदूषक के साथ राजा, परिव्राजिका, रानी धारिणी (और सारा राज-परिवार दिखाई देता है ।)

राजा—इन दोनों आचार्यों में से पहले किसका सिखाया हुआ नाटक देखा जाय ।

परिव्राजिका—यद्यपि दोनों को नाट्यशास्त्र का एक-सा ही ज्ञान है, फिर भी आचार्य गणदास अवस्था में बड़े हैं, इसलिये पहले उन्हीं को अवसर मिलना चाहिए ।

राजा—तो मौद्गल्य! जाओ, आचार्यों को यह बात बताकर तुम अपना काम देखो ।

कञ्चुकी—जैसी देव की आज्ञा । (चला जाता है ।)

(गणदास का प्रवेश)

गणदास—देव! शर्मिष्ठा ने मध्य-लय में एक चौपदी बनाई है । प्रार्थना है कि देव उसमें के छलिकवाले अभिनय को मन लगाकर सुनें देखें ।

राजा—आचार्य! मैं बड़े आदर से ध्यान लगाए हुए हूँ ।

(गणदास चला जाता है ।)

राजा—(अलग) मित्र! परदे के पीछे जो मेरी प्यारी खड़ी है, उसे देखने के लिये मेरी आँखें ऐसी तरसी जा रही हैं, मानो वे इस अधीरता में परदे को ही हटाने पर तुल बैठी हों ॥ १ ॥

विदूषकः—(अपवार्य) उवड्डिदं णअणमहु संणिहिदमक्खिअं अ। ता अप्पमत्तो दाणिं पेक्ख। (उपस्थितं नयनमधु सन्निहितमक्षिकं च। तदप्रमत्त इदानीं पश्य।)

(ततः प्रविशत्याचार्यप्रत्यवेक्ष्यमाणाङ्गसौष्ठवा मालविका।)

विदूषकः—(जनान्तिकम्), पेक्खदु भवं। ण क्खु से पडिच्छन्दादो परिहीअदि मधुरदा। (पश्यतु भवान्! न खल्वस्याः प्रतिच्छन्दात्परिहीयते मधुरता।)

राजा—(अपवार्य।) वयस्य!

चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशङ्कि मे हृदयम्।

सम्प्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता।। 2।।

गणदासः—वत्से! मुक्तसाध्वसा सत्त्वस्था भव।

राजा—(आत्मगतम्) अहो सर्वस्थानानवद्यता रूपविशेषस्य। तथाहि।

दोर्ध्वाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं वाहूनतावंसयोः।

संक्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव।।

मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालाङ्गुली।

छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसिश्लिष्टं तथास्या वपुः।। 3।।

मालविका—(उपगानंकृत्वा चतुष्पदवस्तु गायति।)

दुल्लहो पिओ मे तस्सि भव हिअअ गिरासं।

अम्हो अपङ्गोअ मे परिप्फुरइ किं वि वामओ।।

स्सो सो चिरविट्ठो कहँ उण उवणइदब्बो।

णाह! मं पराहीणं तुइ परिगणअ सतिण्हम।। 4।।

विदूषक—(अलग) लीजिए न! आपकी आँखों का मधु तो आ गया, पर मधुमक्खी भी पास ही बैठी है, इसलिये थोड़ी सावधानी से उधर देखिएगा।

(मालविका आती है। उसके अंगों के हाव-भाव की देखभाल आचार्य कर रहे हैं।)

विदूषक—(अलग) देखिए, देखिए। यह जैसी चित्र में सुन्दर लगती थी, उससे यह किसी भी बात में कम सुन्दर नहीं है।

राजा—(अलग) वयस्य! चित्र में इसकी सुन्दरता देखकर मैं अपने मन में यह समझ रहा था कि यह सचमुच इतनी सुन्दरी नहीं होगी, पर इसे देखकर तो मैं यही सोचने लगा हूँ कि चित्रकार ने ही ठीक ध्यान से इसका चित्र नहीं बनाया।। 2।।

गणदास—(मालविका से) घबराओ मत वत्से! सँभली रहो।

राजा—(मन ही मन) वाह! यह तो सिर से पैर तक एकदम सुन्दर है, क्योंकि इसकी बड़ी-बड़ी आँखें, चमकता हुआ शरद् के चन्द्रमा—जैसा मुख, कन्धों पर थोड़ी झुकी हुई भुजाएँ, उभरते हुए कड़े स्तनों से जकड़ी हुई छाती, चिकनी-चिकनी काँखें, मुड़ी भरकी कमर, मोटी-मोटी जाँघें और थोड़ी-थोड़ी झुकी हुई दोनों पैरों की उंगलियाँ, बस ऐसी जान पड़ती हैं, मानो इसका शरीर इसके नाट्य गुरु गणदास के कहने पर ही गढ़कर बनाया गया हो।। 3।।

मालविका—(पहले आलाप भरकर चार पदों वाला गीत गाती है।)

(गीत)

(दुर्लभः प्रियो ये तस्मिन्भव हृदय निराश-
महो अपाङ्गो मे परिस्फुरति किमपि वामः ।
एष स चिरदृष्टः कथं पुनरुपनेतव्यो
नाथ! मां पराधीनां त्वयि परिगणय सतृष्णाम् ।।)
(ततो यथारसमभिव्यति ।)

विदूषकः—(जनान्तिकम् ।) भो अवस्स! चउप्पदवत्थुअं दुवारीकरिअ तुई उवठाविदो अप्पा तत्तहोदीए ।
(भो वयस्य! चतुष्पदवस्तुकं द्वारीकृत्य त्वय्युपस्थापित आत्मा तत्रभवत्या ।)

राजा—सखे! एवमेव ममापि हृदयम् । अनया खलु ।

अनभिममनुरक्तं विद्धि नाथेति गेये वचनमभिनयन्त्याः स्वाङ्गनिर्देशपूर्वम् ।

प्रणयगतिमदृष्ट्वा धारिणीसंनिकर्षाददहमिव सुकुमारप्रार्थनाव्याजमुक्तः ।। 5 ।।

(मालविका गीतान्ते निष्क्रमितुमारब्धा ।)

विदूषकः—भोदि चिद्ध । किंवि वो विसुमरिदो कम्मभेदो । तं दाव पुच्छिस्सम् । (भवति विष्ट । किमपि
वो विसृतः कर्मभेदः । तं तावत्प्रक्ष्यामि ।)

गणदासः—वत्से! क्षणमात्रं स्थित्वोपदेशविशुद्धा यास्यसि ।

(मालविका निवृत्य स्थिता ।)

राजा—(आत्मगतम्) अहो! सर्वास्ववस्थासु चारुता शोभान्तरं पुष्यति तथा हि—

वामं संधिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे

कृत्वा श्यामाविटप सदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम् ।

दुर्लभ प्रिय है, हृदय! छोड़ दे तू मिलने की आशा ।

पर क्यों बाँयों नयन फड़कता; कुछ-कुछ लेकर आशा ।।

बहुत दिनोंपर देख रही हूँ, पर कैसे अपनाऊँ ।

नाथ! विवश हूँ, पर अपनी ही समझो, मैं बलि जाऊँ ।। 4 ।।

(गीत के भाव के अनुसार नाट्य करती है ।)

विदूषक—(अलग) लो वयस्य! इन्होंने तो इस चार चरण वाले गीत के बहाने आप पर अपने को
न्यौछावर कर डाला ।

राजा—मैं भी यही समझता हूँ कि इसने 'नाथ! विवश हूँ, पर अपनी ही समझो'—गीत गाते हुए
अपनी ओर संकेत करके जो अभिनय किया है, वह इसीलिये कि महारानी धारिणी को पास देखकर इसने
समझ लिया कि प्रेम दिखाने का कोई दूसरा उपाय तो है नहीं! वास्तव में एक सुकुमार युवक से प्रेम
की भीख माँगने के भाव वाला यह गीत गाकर इसने यह सब मुझसे ही कहा है ।। 5 ।।

(गा चुकने पर मालविका चली जाना चाहती है ।)

विदूषक—ठहरिए देवी! आप बीच में कुछ भूल गई हैं, वही मैं पूछना चाहता हूँ ।

गणदास—वत्से! थोड़ी देर रुक जाओ और जब यहाँ सब लोग भली-भाँति समझ लें कि तुमने ठीक
से सीख लिया है तभी जाना ।

(मालविका लौटकर खड़ी हो जाती है ।)

राजा—(मन ही मन) अहा! इसे जिधर से देखो, उधर से ही यह मनोहर लगने लगती है । इसने
अपना बाँयों हाथ कमर पर टेक लिया है, इसलिये हाथ का कड़ा पहुँची पर रुक कर चुप हो गया है ।

पादाङ्गष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं ।

नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम् ॥ 6 ॥

देवी—णं गोदमवअणं वि अज्जो हिअए करेदि । (ननु गौतमवचनमप्यार्यो हृदये करोति ।)

गणदासः—देवी! मा मैवम् । दैव प्रत्ययात्संभाव्यते सूक्ष्मदर्शिता गौतमस्य । पश्य ।

मन्दोऽप्यमन्दतामेति संसर्गेण विपश्चितः ।

पङ्कच्छिदः फलस्येव निकषेणाविलं पयः ॥ 7 ॥

(विदूषकं विलोक्य) तच्छणुमो वयं विवक्षितमार्यस्य ।

विदूषकः—(गणदासं विलोक्य ।) कोसिइँ दाव पुच्छ । पच्छा जो मए कम्मभेदो दिठ्ठो तं भणिस्सं ।
(कौशिकीं तावत्पृच्छ । पश्चाद्यो मया कर्मभेदो दृष्टस्तं भणिष्यामि ।)

गणदासः—भगवति! यथा दृष्टमभिधीयतां गुणो वा दो वेति ।

परिव्राजिका—यथादृष्टं सर्वमनवद्यम् । कुतः—

अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः

पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।

शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तादृक्विकल्पानुवृत्तौ

भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव ॥ 8 ॥

गणदासः—देवः कथं वा मन्यते ।

दूसरा हाथ श्यामा की डाली के समान ढीला लटका हुआ है । नीची आँखें किए हुए यह अपने पैर के अँगूठे से धरती पर बिखरे हुए फूल सरका रही है । इस प्रकार खड़ी होने से इसके ऊपर का शरीर लम्बा और सीधा हो गया है । नाचने के समय भी यह उतनी सुन्दर नहीं लग रही थी, जितनी अब लग रही है ॥ 6 ॥

देवी—क्या आर्य गणदास भी गौतम की बात सच मान बैठे हैं?

गणदास—ऐसा न कहिए देवी! महाराज के साथ रहते-रहते गौतम की आँखें भी भले बुरे की ठीक पहचान करने लगी हैं । सुनिए, विद्वानों की संगति में बैठकर मूर्ख भी उसी प्रकार विद्वान बन जाता है, जैसे निर्मली के बीज से मटमैला पानी भी स्वच्छ हो जाता है ॥ 7 ॥

(विदूषक को देखकर) हम भी तो सुनें आप क्या पूछना चाहते थे?

विदूषक—(गणदास को देखकर) आप पहले कौशिकी जी से पूछ देखिए, मैं पीछे बतलाऊँगा कि भूल कहाँ हुई है ।

गणदास—भगवती! आपने जहाँ जैसा गुण या दोष देखा हो, सब कह डालिए ।

परिव्राजिका—मैंने तो जितना देखा, उसमें मुझे कहीं कोई दोष नहीं दिखाई दिया । क्योंकि गीत के सब भावों का ठीक-ठीक अर्थ अंगों के अभिनय से भली भाँति दिखा दिया गया है । इनके पैर भी लय के साथ चल रहे थे । फिर गीत के रस में भी ये तन्मय हो गई थीं । और इनके नृत्य ने भी हमें प्रेम में मग्न कर दिया, क्योंकि ताल के साथ होने वाले अभिनय में अनेक प्रकार से अंग चलाकर जो भाव दिखाए जा रहे थे, वे ऐसे आकर्षक थे कि मन किसी ओर जाने ही नहीं पाता था ॥ 8 ॥

गणदास—देव! आप इसे कैसा समझते हैं ।

राजा—वयं स्वपक्षशिथिलाभिमानाः संवृत्ताः ।

गणदासः—अद्य नर्तयितास्मि । कुतः—

उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुददेशिनः ।

श्यामायते न युष्मासु या काञ्चनमिवाग्निषु ॥ 9 ॥

देवी—दिट्ठिआ अपरिक्खदाराहणेण अज्जो बड्ढइ । (दिष्ट्याऽपरिक्षिताराधनेनार्यो वर्धते ।)

गणदासः—देवी परिग्रह एव मे वृद्धिहेतुः । (विदूषकं विलोक्य ।) गौतम! वदेदानीं यत्ते मनसि वर्तते ।

विदूषकः—पढमोवदेसदंसणे पढमं बम्हणस्स पूजा कादव्वा । सा णं वो विसुमरिदा । (प्रथमोपदेशदर्शने प्रथमं ब्राह्मणस्य पूजा कर्तव्या । सा ननु वो विस्मृता ।)

परिव्राजिका—अहो! प्रयोगाभ्यन्तरः प्रश्नः ।

(सर्वे प्रहसिताः मालविका स्मितं करोति ।)

राजा—(आत्मगतम्) उपात्तसारश्चक्षुषा मे स्वविषयः । यदनेन-

स्मयमानमायताक्ष्याः किञ्चिदभिव्यक्तदशनशोभि मुखम् ।

असमग्रलक्ष्यकेसरमुखश्चसदिव पङ्कजं दृष्टम् ॥ 10 ॥

गणदासः—महाब्राह्मण! न खलु प्रथमं नेपथ्यदर्शनमिदम् । अन्यथा कथं त्वां दक्षिणीयं नार्चयिष्यामः ।

राजा—इसे देखकर तो हमें अपने पक्षका अभिमान कम होने लगा है ।

गणदास—आज मैं सच्चा नृत्यकला का पंडित हुआ, क्योंकि जैसे आग में डालने से सोना काला नहीं पड़ता, वैसे ही जिस शिक्षक के सिखाने में किसी प्रकार की भूल न दिखाई पड़े, उसी की शिक्षा ठीक कहला सकती है ॥ 9 ॥

देवी—अपने परीक्षकों को सन्तुष्ट करने के लिये आपको बधाई है ।

गणदास—देवी की कृपा से ही मुझे यह यश मिला है । (विदूषक को देखकर) गौतम! अब आप भी अपने मनकी बात कह डालिए ।

विदूषक—जब पहले-पहल अपनी सिखाई हुई विद्या लोगों के आगे दिखाई जाती है, तब सबसे पहले ब्राह्मण की पूजा करनी चाहिए, वह तो आप लोग भूल ही गए ।

परिव्राजिका—वाह, क्या नाट्यकला के भीतर की बात पूछ डाली है?

(सब हँसते हैं, मालविका मुसकराती है ।)

राजा—(मन ही मन) मेरी आँखों को तो चाही हुई वस्तु देखने को मिल गई, क्योंकि आज मेरी आँखों की इस बड़े बड़े नेत्रों वाली के मुस्कराते हुए उस मुख का दर्शन मिल गया, जिसमें कुछ-कुछ दाँत झलके पड़ रहे थे और जो उस खिलते हुए कमल के समान जान पड़ता है, जिसमें के केसर पूरे पूरे उभरे दिखाई दे रहे हों ॥ 10 ॥

गणदास—अरे ब्राह्मण देवता! हम लोग यह पहली बार नाटक नहीं दिखा रहे हैं । ऐसा होता तो तुम्हारे-जैसे भेंट-पूजा पर जीने वाले ब्राह्मण की हम अच्छी पूजा क्यों न कर डालते ।

विदूषकः—मए णाम सुखवणगज्जिदे अन्तरिक्षे जलपाणं इच्छिदा चादआइदम् । अहवा पंडितसंतोसपच्छआ णं मूढ जादी । जदि अत्तहोदीए सोहणं भणिदं तदो इमं ते पारितोसिअं पअच्छामि । (मया नाम शुष्कघनगर्जितेऽन्तरिक्षे जलपानमिच्छता चातकायितम् । अथवा पण्डितसन्तोषप्रत्यया ननु मूढजातिः यतोऽत्रभवत्या शोभनं भणितं तत इदं ते पारितोषिकं प्रयच्छामि ।)

(इति राज्ञो हस्तात्कटकमाकर्षति ।)

देवी—चिद्द दाव । गुणन्तरं अजाणन्ती किणिमित्तं तुम आहणं देसि । (तिष्ठ तावत् । गुणान्तरमजानन् किंनिमित्तं त्वमाभरणं कदासि ।)

विदूषकः—परक्रेरअंति करिअ । [परकीयमिति कृत्वा ।]

देवी—(आचार्य विलोक्य ।) अज्ज गणदास ! णं दंसिदोवदेसा दे सिस्सा । (आर्य गणदास ! ननु दर्शितोपदेशा ते शिष्या ।)

गणदासः—वत्से ! एहि गच्छाव इदानीम् ।

(सहाचार्येण निष्क्रान्ता मालविका ।)

विदूषकः—(जनान्तिकम्) एत्तिओ मे मदिविहवो भवन्तं सेविदुं । (एतावान्मे मतिविभणो भवन्तं सेवितुम् ।)

राजा—बलमलं परिच्छेदेन । अद्य हि—

भाग्यास्तमयमिवाक्ष्णोर्हवस्य महोत्सवावसानमिव ।

द्वारपिधानमिव धृतेर्मन्ये तस्यास्तिरस्करणम् ।। 11 ।।

विदूषकः—(जनान्तिकम्) दलिहो विअ आदुरो वेज्जेण ओसदं दीअमाणं इच्छसि । (दरिद्र दवातुरो वैद्येनौषधं दीयमानमिच्छसि ।)

विदूषक—तो क्या मैं कोरे गरजने वाले बादलों से प्यास मिटाने की आशा करने वाला पपीहा ही बना रह गया? पर भाई! हमारे जैसे मूर्खों की तो ऐसी बात है कि यदि पण्डितों को सन्तोष हो गया तो समझो हमें भी सन्तोष हो गया । जब भगवती कौशिकी ने इसे सुन्दर बता दिया तो लाओ मैं भी तुम्हें यह पारितोषिक दिए डालता हूँ । (राजा के हाथ से कंगन निकालता है ।)

देवी—ठहरो तो । दूसरे का अभिनय बिना देखे तुम अभी से इसे आभूषण क्यों दिए डाल रहे हो?

विदूषक—दूसरे का है न, यही समझकर दिए डाल रहा हूँ ।

देवी—(आचार्य को देखकर) कहिए, आपकी शिष्या अपना अभिनय दिखा चुकी न?

गणदास—आओ वत्से! चलो, हम लोग चलें ।

(आचार्य के साथ मालविका चली जाती है ।)

विदूषक—अलग राजा से (जहाँ तक मेरी बुद्धि की पहुँच थी वहाँ तक तो मैंने आपका काम कर डाला ।

राजा—बहुत मत बनो । उसका पर्व के पीछे छिपना मुझे ऐसा लग रहा है मानो मेरी आँखों का भाग्य फूट गया हो, जी का सारा हुलास ही ठंडा पड़ गया हो और धीरज पर भी ताला ला ठोका गया हो ।। 11 ।।

विदूषक—(अलग) तो क्या बिना पैसे वाले रोगी के समान यह चाहते हो कि आपको वैद्य ही औषध भी अपने पास से दे दे ।

(प्रविश्य)

हरदत्तः—देव! मदीयमिदानीं प्रयोगमवलोकयितुं क्रियतां प्रसादः।

राजा—(आत्मगतम्) अवसितो दर्शनार्थः। (दाक्षिण्यमवलम्ब्य प्रकाशम्) ननु पर्युत्सुका एव वयम्।

हरदत्तः—अनुगृहीतोऽस्मि।

(नेपथ्ये)

वैतालिकः—जयतु जयतु देवः। उपारूढो मध्याह्नः। तथाहि—

पत्रच्छायासु हंसा मुकुलितनयना दीर्घिका पथिनीनां

सौधान्यत्यर्थतापाद्बलमिपरिचयद्वेषिपारावतानि ।

बिन्दुक्षेपान्पिपासुः परिसरति शिखी भ्रान्तिमद्वारियन्त्रं

सर्वैरुच्चैः समग्रैस्त्वमिव नृपगुणैर्दीप्यते सप्तसप्तिः॥ 12॥

विदूषकः—अविहा अविहा। अम्हाणं उण भोअणवेला उवड्डिदा। अत्तभवदौ उदइवेलादिक्कमे चिइच्छआ दोसं उदाहरन्ति। (हरदत्तं विलोक्य) हरदत्त! किं दाणिं भणसि। (अविधा अविधा। अस्माकं पुनर्भोजनवेलोपस्थिता। अत्रभवत उचितवेलातिक्रमे चिकित्सका दोषमुदाहरन्ति। हरदत्त! किमिदानीं भणसि।)

हरदत्तः—अस्ति वचनस्यान्यस्यावकाशोऽत्र!

राजा—तेन हि त्वदीयमुपदेशं श्रो वयं द्रक्ष्यामः। विरमतु भवान्।

हरदत्तः—यदाज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रान्तः।)

हरदत्त—(आकर) देव! अब मेरा सिखाया हुआ अभिनय भी देखने की कृपा कीजिएगा।

राजा—(मन ही मन) जो देखना था वह तो देख चुके। (उदारता दिखाने के लिये प्रकट) हाँ-हाँ, हम लोग तो देखने को उत्सुक बैठे ही हैं।।

हरदत्त—बड़ी कृपा है मुझ पर।

(नेपथ्य में)

वैतालिक—जय हो, देव की जय हो। दोपहर हो गया है, क्योंकि बावड़ियों में कमल की पंखड़ियों की छाया में हंस आँख मूँद कर विश्राम करने लगे हैं, धूप से भवन ऐसा तप गया है कि छज्जों पर कबूतर तक नहीं बैठ रहे हैं। चलते हुए रहट से उछलती हुई पानी की बूँदें पीने के लिये मोर उसके चारों ओर चक्कर काट रहे हैं और सूर्य अपनी सब किरणों के साथ उसी प्रकार चमक रहा है, जिस प्रकार आप अपने राजसी गुणों से चमकते रहते हैं॥ 12॥

विदूषक—हाय हाय! अब तो हम लोगों के भोजन का समय हो गया है। वैद्यों का कहना है कि समय पर भोजन न करने से बड़ी हानि हो जाती है। (हरदत्त को देखकर) कहो हरदत्त! क्या कहते हो?

हरदत्त—अब कुछ कहने की बात ही कहाँ रह जाती है?

राजा—तो अब आपका प्रदर्शन हम लोग कल देखेंगे। आप जाकर विश्राम करें।

हरदत्त—जैसी देव की आज्ञा। (चला जाता है।)

देवी—णिव्वट्टेदु अज्जउत्तो मज्जणविहिम्। (निर्वर्तयत्वार्यपुत्रो मज्जनविधिम्।)

विदूषकः—भोदि! विसेसेण पाणभोअणं तुवरावेहि। (भवति! विशेषेण पानभोजनं त्वरय।)

परिव्राजिका—(उत्थाय) स्वस्ति भवते। (इति सपरिजनया देव्या सह निष्क्रान्ता।)

विदूषकः—भो वयस्स! ण केवलं रूपे सिप्पे वि अदुदीआ मालविआ। (भो वयस्य! न केवलं रूपे, शिल्पेऽप्यद्वितीया मालविका।)

राजा—वयस्य!

अव्याजसुन्दरीं तां विधानेन ललितेन योजयता।

परिकल्पितो विधात्रा बाणः कामस्य विषदग्धः॥ 13॥

किं बहुना सखे! चिन्तयितव्योऽस्मि।

विदूषकः—भवदा वि अहं। दिढं विपणिकन्दू विअ मे उअरब्भन्तरं दज्झइ। (भवता प्यहम्। दृढं विपणिकन्दुरिव मे उदराभ्यन्तरं दह्यते।)

राजा—एवमेव भवान्सुहृदर्थेऽपि त्वरताम्।

विदूषकः—गहीददक्खिणोमिह। किं तु मेहावलीणिरुद्धा जोण्हा विअ पराहीणदंसणा तत्तहोदी मालविआ। भवं वि सूणापरिसरचरो विअ गिद्धो आमिसलोलुओ भीरुओ अ। अच्चंतादुरो विअ कज्जसिद्धिं पत्थन्तो मे रोअसि। (गृहीतदक्षिणोऽस्मि। किं तु मेघावलीनिरुद्धा ज्योत्स्नेव पराधीनदर्शना तत्रभवती मालविका। भवानपि सूनापरिसरचर इव गृध्रे आविषलोलुपो भीरुकश्च। अत्यन्तातुर इव कार्यसिद्धिं प्रार्थयमानो मे रोचसे।)

देवी—तो आर्यपुत्र! चलकर अब नहा-धो लीजिए।

विदूषक—देवी! भोजन-पानी का अब झटपट कुछ बढ़िया प्रबन्ध कराइए।

परिव्राजिका—(उठकर) आपका कल्याण हो। (सेविकाओं और रानी के साथ चली जाती है।)

विदूषक—वयस्य! सुन्दरता में ही नहीं कला में भी मालविका एक ही है।

राजा—सच पूछो वयस्य! तो विधाता ने इस सहज सुन्दरी मालविका को ललित कला का ज्ञान क्या दिया, मानो उसने इसके हाथ में कामदेव का विष-बुझा बाण ही ला थमा दिया हो॥ 13॥

और क्या कहूँ मित्र! अब तुम जाकर कुछ मेरी चिन्ता करो।

विदूषक—आप भी मेरी चिन्ता कीजिए। मेरा पेट इस समय हलवाई की कड़ाही की भाँति बड़ा खोला जा रहा है।

राजा—तुम भी अब अपने मित्र के लिये शीघ्र ही उपाय सोच निकालो।

विदूषक—उसके लिये तो मैं आपसे पहले ही दक्षिणा पा चुका हूँ, पर गड़बड़ तो यह है कि बादलों में छिपी हुई चाँदनी के समान मालविका का दर्शन भी तो दूसरों के हाथ में है। इधर आप हैं कि माँस बेचने वाले व्याध के घर पर मँडराने वाले गिद्ध के समान उस पर ताक तो लगाए बैठे हैं पर साथ ही डरते भी हैं। इतनी अधीरता के साथ मुझे काम करने को कहते हुए आप लगते बड़े अच्छे हैं।

राजा—कथमनातुरो भविष्यामि ।

सर्वान्तःपुरवनिताव्यापारप्रतिनिवृत्तहृदयस्य ।

सा वामलोचना मे स्नेहस्यैकायनीभूता ॥ 14 ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

॥ इति द्वितीयोऽङ्कः ॥



राजा—बताओ, अधीरता क्यों न हो? वह तिरछी चितवन वाली तो मेरे हृदय में ऐसी आन वसी है कि रनिवास की सभी रानियों से मेरा मन एकदम उचट चला है । 14 ॥

(सब चले जाते हैं ।)

॥ दूसरा अंक पूर्ण हुआ ॥



तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति परिव्राजिकायाः परिचारिका समाहितिका ।)

समाहितिका—आणतम्हि भगवदीए—समाहिदिए! देवस्स उवावणत्थं बौअऊरअं गेण्हअ आअच्छ त्ति । जाव पमदवणपालिअं महुअरिअं अण्णेसामि । (परिक्रम्यावलोक्य) एसा तवणीआसोअं ओलोअन्ती महुअरिआ चिट्ठदि । ता जाव णं उपसप्पामि । (आज्ञप्तास्मि भगवत्या—समाहितिके! देवस्योपवनस्थं बीजपूरकं गृहीत्वागच्छेति । तद्यावत्प्रमदवनपालिकां मधुरिकामन्विष्यामि । एषा तपनीयाशोकमवलोकयन्ती मधुकरिका तिष्ठति । तद्यावदेनामुपसर्पामि ।)

(ततः प्रविशत्युद्यानपालिका ।)

समाहितिका—(उपसृत्य) महुअरिए! अवि सुहो दे उज्जाणव्वावारो । (मधुकरके! अपि सुखस्त उद्यानव्यापारः ।)

मधुकरिका—अम्हो समाहिदिआ! सहि! सागदं दे । (अहो समाहितिका सखि! स्वागतं ते ।)

समाहितिका—हला! भगवदी आणवेदि । अरित्तपाणिणा अम्हारिसजणेण तत्तहोदी देवी देखिखदव्या । ता वीअपूरएण सुस्सूसिदुं इच्छामि त्ति । (सखि भगवत्याज्ञापयति । अरित्तपाणिनास्मादृशजनेन तत्रभवती देवी द्रष्टव्या । तद्वीजपूरकेण शश्रूषितुमिच्छामीति ।)

मधुकरिका—णं सणिहिदं बीजपूरअं । कहेहि दाव अण्णोण्णासंघरिरिसदाणं णट्ठाअरिआणं उवदेसं

तीसरा अंक

(परिव्राजिकाकी दासी समाहितिका आती है ।)

समाहितिका—भगवती कौशिकी ने मुझे आज्ञा दी है कि समाहितिका! जाओ, महाराज के उपवन से एक बिजौरिया नीबू तो ले आओ । तो चलती हूँ, प्रमदवन की मालिन मधुकरिका का पता लगाती हूँ! (धूमकर देखती है ।) अरे, सुनहरे अशोक की ओर टकटकी लगाए यह क्या खड़ी है, तो चलती हूँ इसके पास ।

(मालिन मधुकरिका आती है ।)

समाहितिका—(पास जाकर) कहो मधुकरिका! तेरे उपवन का काम तो ठीक-ठीक चल रहा है न?

मधुकरिका—अरे! तुम हो समाहितिका! आओ सखी, आओ, तुम्हारा स्वागत है ।

समाहितिका—सखी! भगवती कौशिकी ने कहा है कि हमें छूँछे हाथ महारानी से मिलने नहीं जाना चाहिए, इसलिये नीबू ही भेंट करके उनसे मिले लेती हूँ ।

मधुकरिका—लो, नीबू तो पास ही है । हाँ, यह तो बताओ कि वह जो दोनों नाट्याचार्यों का झगड़ा चल रहा था, उनमें से भगवती ने किसे अच्छा बताया ।

समाहितिका—यों तो दोनों ही शास्त्र के पण्डित और अभिनय कला में चतुर हैं, पर गणदास ने अपनी शिष्या मालविका को जैसा अच्छा सिखाया है, उसे देख लेने पर गणदास ही आज दोनों में अच्छे

देखिअ कदरो भअवदीए पसंसिदो । (ननु संनिहितं बीजपूरकम् । कथय तावदन्योन्संघर्षितयो-
नार्त्थाचार्ययोरुपदेशं दृष्ट्वा कतरो भगवत्या प्रशंसितः ।)

समाहितिका—दुवे वि किल आगमिणा पओअणिउणा अ । किंतु सिस्साए मालविआए गुणविसेसेण
गणदासस्स उवदेसो पसंसिदो । (द्वावपि किलागमिनौ प्रयोगनिपुणौ च । किंतु शिष्याया मालविकाया
गुणविशेषेण गणदासस्योपदेशः प्रशंसितः ।)

मधुकरिका—अह मालविआगदं कौलीणं कीरिसं सुणीअदि । (अथ मालविकागतं कौलीनं कीदृशं श्रूयते ।)

समाहितिका—बाढं किल तस्सि साहिलासो भट्टा । किंतु केवलं देवीए धारिणीए चित्तं रक्खन्तो ण
अत्तणो पहुत्तणं दंसेदि । मालविआ वि इमेसु दिअसेसु अणुहूदमुत्ता विअ मालदीमाला मिलाणा लक्खीअदि ।
अदो अवरं ण जाणे विसज्जेहि मं (बाढं किल तस्यां साभिलाषो भर्ता । किन्तु केवलं देव्या धारिण्याश्चित्तं
रक्षन्नात्मनः प्रभुत्वं दर्शयति । मालविकाप्येषु दिवसेष्वनुभूतमुक्तेव मालतीमाला म्लाना लक्ष्यते । अतः परं
न जाने । विसृज माम् ।)

मधुकरिका—एदं साहावलम्बिदं बीअपूरअं गेण्ह । एतच्छाखावलम्बितं बीजपूरकं गृहाण ।

समाहितिका—तह । (इति नाट्येन बीजपूरकं गृहीत्वा) हला! तुमं वि अदो पेसलदरं साहूजणसुस्सुसाए
फलं पावेहि । (तथा । सखि! त्वमप्यतः पेशलतरं साधुजनशुश्रूषायाः फलं प्राप्नुहि ।) (इति प्रस्थिता ॥)

मधुकरिका—हला! समं जेव्व गच्छम्ह । अहं वि इमस्स चिराअमाणकुसुमोग्गमस्स तवणीआसोअस्स
दोहदणिमित्तं देवीए णिवेदेमि । (सखि! सममेव गच्छादः अहमप्यस्य चिरायमाणकुसुमोद्गमस्य तपनयाशोकस्य
दोहदनिमित्तं देव्यै निवेदयामि ।)

समाहितिका—जुज्जइ । अहिआरो क्खु तुइ । (युज्यते । अधिकारः खलु तव ।)

(इति निष्क्रान्ते)

॥ इति प्रवेशकः ॥

ठहराए गए हैं ।

मधुकरिका—और कहो, मालविका के संबंध में ये कैसी-कैसी बातें उड़ाई जा रही हैं?

समाहितिका—हाँ, महाराज उसे चाहने तो बहुत लग गये हैं, पर रानी धारिणी का मन रखने के
लिये वे खुलकर प्रेम नहीं दिखला पाते । इधर मालविका भी इन दिनों पहनकर उतारी हुई मालती की
माला के समान कुम्हलाई जा रही है । बस इससे अधिक तो मैं कुछ जानती नहीं । अच्छा, तो छुट्टी दो ।

मधुकरिका—हाँ, लो, यह डालपर झूलता हुआ नींबू तोड़ती ले जाओ ।

समाहितिका—अच्छा, (नींबू तोड़ने का अभिनय करके) भगवान् करे सखी! साधुओं की सेवा करने
का तुम्हें इससे भी अच्छा फल मिले । (चलती है ।)

मधुकरिका—चलो सखी! हम दोनों साथ ही चली चलें । मुझे भी चलकर महारानी से निवेदन करना
है कि वह जो सुनहरा अशोक अभी तक फूल नहीं रहा है, इसके फूलने का कोई उपाय किया ही जाना
चाहिए ।

समाहितिका—ठीक ही है, यह बात तुम न कहोगी तो कौन कहेगा?

(दोनों चली जाती हैं ।)

॥ प्रवेशकः ॥

(ततः प्रविशति कामयमानावस्थो राजा विदूषकश्च।)

राजा—(आत्मानं विलोक्य।)

शरीरं क्षामं स्यादसति दयितालिङ्गनसुखे

भवेत्सार्धं चक्षुः क्षणमपि न सा दृश्यत इति।

तथा सारङ्गाक्ष्या त्वमसि न कदाचिद्विरहितं

प्रसक्ते निर्वाणे हृदय परितपं व्रजसि किम्॥ १॥

विदूषकः—अलं भवदो धीरं उज्जिअ परिदेविदेण। दिट्ठा मए तत्तहोदीए मालविआए पिअसही बउलावलिआ। सुणाविदा अ अत्थं जो भवदा संदिट्ठो। (अलं भवतो धीरतामुज्जिता परिदेवितेन। दृष्टा मया तत्रभवत्या मालविकायाः प्रियसखी बकुलावलिका। भाविता चार्थं यो भवता संदिष्टः।)

राजा—ततः किमुक्तवती।

विदूषकः—विण्णावेहि भद्दारअम्। अणुगहीदमिह इमिणा णिओएण। किंदु सा तवस्सिणी देवीए अहिअं रक्खन्तीए णाअरक्खिदो विअ णिही ण सुहं समासादइदव्या। तहवि वइस्सं। (विज्ञापय भट्टारकम्। अनुगृहीतास्म्यनेन नियोगेन। किन्तु सा तपस्विनी देव्याधिक रक्षन्त्या नागरक्षित इव निधिर्न सुखं समासादयितव्या। तथापि यतिष्ये।)

राजा—भगवान् संकल्पयोने! प्रतिबन्धवत्स्वपि विषयेष्वभिनिवेश्य किं तथा प्रहरसि यथा जनोऽयं न कालान्तरक्षमो भवति। (सविस्मयम्।)

क्व रुजा हृदयप्रमाथिनी क्व च ते विश्वसनीयमायुधम्।

मृदु तीक्ष्णतरं यदुच्यते तदिदं मन्मथ दृश्यते त्वयि॥ २॥

(विदूषक के साथ काम-पीड़ित अवस्था में राजा बैठे दिखाई पड़ते हैं।)

राजा—(अपनी ओर देखकर) प्यारी को छाती न लगा पाने से मेरे शरीर का सूखना भी ठीक ही है और उसे पल भर के लिये भी देख न पाने की चिन्ता में आँखों का डबडवाए रहना भी ठीक ही है, पर मेरे हृदय! यह तो बताओ कि उस हरिणी की सी आँखों वाली और मेरा जी ठण्डा कर देने वाली प्यारी के सदा पास रहते हुए भी तुम इस प्रकार क्यों जले जा रहे हो। १॥

विदूषक—यह सब अधीर होकर रोना कलपना छोड़िए। मैं मालविका की प्यारी सखी बकुलावलिका से मिला था और मैंने आपका पूरा संदेश सुना भी दिया है।

राजा—इस पर वह क्या बोली?

विदूषक—उसने कहा—स्वामी से निवेदन कर देना कि यह काम सौंपकर स्वामी ने मुझ पर बड़ी कृपा की है, पर वह बेचारी महारानी की वैसी ही कड़ी देख-रेख में है, जैसे सौंप की देख-रेख में कोई निधि रखी हो। इसलिये वह सहज में हाथ लगने वाली नहीं है, फिर भी मैं जतन करूँगा।

राजा—भगवान् कामदेव! पग-पग पर बाधाओं से भरे हुए कामों में मुझे फँसाकर तुम मुझ पर ऐसी चोटें क्यों किए जा रहे हो कि समय भी काटे न कटे। (अचरज के साथ) देखो कामदेव! कहाँ तो एक ओर जी को ढाढ़स बँधाने वाला तुम्हारा कोमल फूलों का धनुष और कहाँ यह हृदय को मथ डालने वाला प्रेम का रोग। यह कहावत तुम पर तो पूरी-पूरी घटती दिखाई दे रही है कि बाहर से जो जितने कोमल दिखाई पड़ते हैं, वे भीतर से उतने ही कठोर होते हैं॥ २॥

विदूषकः णं भणामि तस्सि साहणिज्जे कज्जे किदो मए उवाओवक्खेओ। ता पज्जवत्थावेदु भवं अप्पाणं। (ननु भणामि तस्मिन्साधनीये कार्ये कृतो मयोपायोपक्षेपः तत्पर्यवस्थापयतु भवानात्मानम्।)

राजा—अथेमं दिवसशेषमुचितव्यापारविमुखेन चेतसा क्व नु खलु यापयामि।

विदूषकः—अज्ज एव्व पढमावदारसुहआणि रत्तकुरवआणि उवाक्षणं पेसिअ णववसन्तावदारव्ववदेसेण इरावदीए णिउणिआमुहेण पत्थिदो भवं—इच्छामि अज्जतेण सह दोलाहिरोहणं अणुहविदुं त्ति। भवदा वि से पडिण्णादं ता पमदवणं एव्व गच्छम्ह। (अद्यैव प्रथमावतारसुभगानि रत्तकुरवकाण्युपायनं प्रेष्य नववसन्तावतारव्यपदेशेनेरावत्या निपुणिकामुखेन प्रार्थितो भवान्—इच्छाम्यार्यपुत्रेण सह दोलाधिरोहणमनुभवितुमिति। भवताप्यस्यै प्रतिज्ञातम्। तत्प्रमदवनमेव गच्छावः।)

राजा—न क्षममिदम्।

विदूषकः—कहं विअ। (कथमिव।)

राजा—वयस्य! मिसर्गनिपुणाः स्त्रियः। कथमन्संक्रान्तहृदयमुपलालयन्तमपि ते सखी न मां लक्षयिष्यति। अतः पश्यामि।

उचितः प्रणयो वरं विहन्तुं बहवः खण्डनहेतयो हि दृष्टाः।

उपचारविधिर्मनस्विनीनां न तु पूर्वाभ्यधिकोऽपि भवशून्यः॥ ३॥

विदूषकः—णारिहदि भवं अन्दंउरट्ठिदं दक्खिण्णं एक्कपदे पिट्ठो कादुं! (नार्हति भवानन्तःपुरस्थितं दक्षिण्यमेकपदे पृष्ठतः कर्तुम्।)

राजा—(विचिन्त्य।) तेन हि प्रमदवनमार्गमादेशय।

विदूषक—मैं कह तो रहा हूँ कि आपका मनोरथ पूरा करने का मैं सब उपाय कर चुका हूँ इसलिये आप चिन्ता न कीजिए।

राजा—अपने तो किसी काम में मेरा जी लग नहीं रहा है, इसलिये यह बताओ कि आजका यह बचा हुआ दिन बिताया कहाँ जाय?

विदूषक—नये खिले हुए सुहावने लाख कुरबक के फूल आपके पास भेंट में भेजकर रानी इरावती ने आज ही निपुणिका के मुँह से नये वसंत के आने का बहाना लेकर कहलाया है कि मैं आज आर्यपुत्र के साथ झूला झूलना चाहती हूँ, और आपने भी उनकी बात मान ली है! इसलिये चलिए, उधर प्रमदवन की ओर ही उठ चला जाय।

राजा—पर वहाँ चलना ठीक होगा नहीं।

विदूषक—क्यों?

राजा—देखो मित्र! स्त्रियाँ स्वभाव से ही बड़ी चंट होती हैं। वहाँ चलकर यदि मैं उसी के मन का काम करने लगूँ तो क्या वह भाँप न लेगी कि मेरा मन कहीं और उलझा हुआ है? इसलिये मैं समझता हूँ कि बहुत से इधर-उधर के बहाने बनाकर प्रेम की उचित बात भी टाल जाना अच्छा होता है, पर चतुर स्त्रियों के आगे बनावटी प्रेम दिखलाना अच्छा नहीं होता॥ ३॥

विदूषक—पर इस प्रकार रनिवास की रानियों के प्रेम का एकाएक निरादर करना भी तो ठीक नहीं होगा।

राजा—(सोचकर) तो चलो। प्रमदवन की ओर ही लिवाते ले चलो।

विदूषकः—इदो इदो भवं। (इत इतो भवान्।)

(उभौ परिक्रामतः।)

विदूषकः—णं एदं पमदवणं पवणवलचलाहिं पल्लवङ्गुलीहिं तुवरेदि विअ भवन्तं पवेसिदुं।
(नन्वेतत्प्रमदवणं पवनवलचलाभिः पल्लवाङ्गुलीभिस्त्वरयतीव भवन्तं प्रवेष्टुम्।)

राजा—(स्पर्श रूपयित्वा) अभिजातः खलु वसन्तः। सखे पश्य—

उन्मत्तानां श्रवणसुभगैः कूजितैः कोकिलानां

सानुक्रोशं मनसिजरुजः सद्भतां पृच्छतेव।

अङ्गे चूतप्रसवसुरभिर्दक्षिणो मारुतो मे

सान्द्रस्पर्शः करतल इव व्यापृतो माधवेन॥ 4॥

विदूषकः—पविस णिव्बुदिलाहाअ। (प्रविश निर्वृत्तिलाभाय।)

(उभौ प्रविशतः।)

विदूषकः—अवहाणेण दिट्ठिं देहि। एदं क्खु भवन्तं विअ विलोहइदुकामाए पमदवणलच्छीए जुवदीवेसलज्जावइत्तिअं वसंतकुसुमणेवत्थं गहीदं। (अवधानेन दृष्टिं देहि। एतत्खलु भवन्तमिव विलोभयितुकामया प्रमदवनलक्ष्म्या युवतिवेषलज्जापयितृकं वसन्तकुसुमनेपत्थं गृहीतम्।)

राजा—ननु विस्मयादवलोकयामि।

रक्ताशोकरुचा विशेषितगुणो बिम्बाधरालक्तकः

प्रत्याख्यातविशेषकं कुरबकं श्यामावदातारुणम्।

आक्रान्ता तिलकक्रिया च तिलकैर्लग्नद्विरेफाञ्जनैः

तावज्ञैव सुखप्रसाधनविधौ श्रीर्माधवी योषिताम्॥ 5॥

विदूषक—इधर से आइए देव! इधर से। (दोनों घूमते हैं)

विदूषक—लीजिए, यह रहा प्रमदवन। देखिए वायु से हिलते हुए पत्तों की उँगलियों से यह प्रमदवन मानो आपको बुलाए ले रहा है कि झटपट भीतर बढ़े चले आइए।

राजा—(वायु लगने के सुख का नाट्य करते हुए) वसन्त सचमुच आ पहुँचा है। देखो मित्र! कान को सुहाने वाली मतवाले कोकिलों की कूकों में मानो वसन्त ऋतु मुझपर बड़ी दया दिखलाते हुए पूछ रहा हो—क्यो? प्रेम की पीड़ा सही जा रही है? इधर खिली हुई आम की मञ्जरियों की गन्ध में बसा हुआ दक्षिण पवन मेरे शरीर से लगता हुआ ऐसा जान पड़ता है मानो वसन्त ने अपना अत्यन्त सुख देने वाला हाथ मेरे ऊपर ला रक्खा हो॥ 4॥

विदूषक—चलिए, भीतर चलकर आनन्द लीजिए।

(दोनों प्रवेश करते हैं।)

विदूषक—तनिक ध्यान से तो देखिए! इस प्रमदवन की लक्ष्मी ने आपको लुभाने के लिये ही युवतियों के साज-सिंगार को भी लजाने वाला यह वसन्त के फूलों का सिंगार कर बनाया है।

राजा—मैं भी अचरज के साथ आँखें फाड़कर देख रहा हूँ कि—यह लाल अशोक की ललाई तो स्त्रियों के बिम्बाधरों की ललाई को लजा रही है। काले उजले और लाल रंगों के कुरबक के फूल, स्त्रियों के मुखों पर चीती हुई चित्रकारी को फीकी किए डाल रहे हैं। काले भौरों से लिपटे हुए तिलक के फूल स्त्रियों के माथे पर के तिलक को नीचा दिखाए डाल रहे हैं। जान पड़ता है मानो वसन्त की शोभा आज स्त्रियों के मुख के सारे साज-सिंगार का निरादर करने पर ही तुली बैठी हो॥ 5॥

(उभौ नाट्येनोद्यानशोभां निर्वर्णयतः ।)

(ततः प्रविशति पर्युत्सुका मालविका ।)

मालविका—अविष्णादहिअअं भट्टारअं अहिलसंदी अप्पणो वि दाव लज्जेमि । कुदो विहदो सिणिद्धस्स सहीजणस्स इमं वुत्तन्तं आचक्खिदुं । ण जाणे अप्पडिआरगरुअं वेअणं केत्तिअं कालं मअणो मं णइस्सदि त्ति । आः कहिं क्खु पड्डिदम्हि? (इति स्मृतिमभिनीय) आदिदम्हि देवीए--मालविए! गोदमचापलादो दोलापरिभट्टाए सरुऔ मह चलणौ । तुमं दाव गदुअ तवणीआसोअस्स दोहलं णिवट्टेहि त्ति । जइ सो पंचरतब्भंतरे कुसुमं दंसेदि तदो अहं अहिलासपूरइत्तअं पसादं दावइस्सं त्ति । ता जाव णिओअभूमिं पढमं गदा होमि दाव अणुपदं मह चलणालंकारहत्थाए बउलावलिआए आअंदव्वं । ता परिदेवइस्सं ताव वीसद्धं मुहुत्तअं । (अविज्ञातहृदयं भर्तारमभिलषन्त्यात्नोऽपि तावल्लज्जे । कुतो विभवः स्निग्धस्य सखीजनस्येयं वृत्तान्तमाख्यातुम् । न जानेऽप्रतिकारगुरुकां वेदनां कियन्तं कालं मदनो मां नेष्यतीति । आः कुत्र खलु प्रस्थितास्मि? आदिष्टास्मि देव्या--मालविके! गौतमचापलाद्दोलात्परिभ्रष्टायाः सरुजौ मम चरणौ । त्वं तावद्गत्वा तपनीयाशोकस्य दोहदं निवर्तयेति । यद्यसौ पञ्चरात्राभ्यन्तरे कुसुमं दर्शयति तातोऽहमभिलाषपुरयितृकं प्रसादं दापयिष्यामीति । तद्यावन्त्रियोयभूमिं प्रथमं गता भवामि तावदनुपदं मम चरणालङ्कारहस्तया बकुलावलिकयाऽगन्तव्यम् । तत्परिदेवयिष्ये तावद्विषयं मुहूर्तकम् ।)

(इति परिक्रामति ।)

विदूषकः—(दृष्ट्वा) ही ही । वअस्स! एदं क्खु सीहुपाणुव्वेजिदस्स मच्छडिआ उवणदा । (आश्चर्यमाश्चर्यम् । वयस्य! एतत्खलु सीधुपानोद्वेजितस्य मत्स्यण्डिकोपनता ।)

राजा—अये! किमेतत् ।

(दोनों उस उपवन की शोभा निहारने का नाट्य करते हैं ।)

(बड़ी चिन्ता में पड़ी हुई मालविका आती है ।)

मालविका—जिस प्रियतम के मन की मैं थाह नहीं पा सक रही हूँ उससे प्यार करके मुझे अपने ऊपर बड़ी लाज आ रही है । अपनी प्यारी सखियों से भी मैं यह बात खुलकर नहीं कह पा रही हूँ । वह प्रेम की पीड़ा न जाने कब तक कामदेव मुझे देता रहेगा जिसकी कोई औषधि भी नहीं है । (दो चार पग चलकर) अरे! मैं कहाँ के लिये चली थी? (स्मरण करने का नाट्य करती हुई ।) हाँ ठीक है । मुझसे देवी धारिणी ने कहा है कि-मालविका! गौतम के नटखटपन से मैं झूले से गिर पड़ी हूँ और मेरे दोनों पैरों में चोट आ गई है इसलिये तुम्हीं जाकर सुनहरे अशोक के फूलने का उपाय कर आओ । यदि पाँच दिनों के भीतर वह फूल उठेगा तो तुम्हें मुँह-माँगा पुरस्कार दूँगी । मैं वहाँ पहले से ही पहुँची जाती हूँ क्योंकि बकुलावलिका भी मेरे पीछे-पीछे बिछुए लेकर आ ही रही होगी । तब तक मैं अकेले जी भरकर रो भी लूँगी ।

(घूमती है ।)

विदूषक—(उसे देखकर) हिः हिः! कैसे अचरज की बात है मित्र! कि मदिरा से मतवाले मनुष्य को और अधिक मतवाला बनाने वाली कच्ची खाँड़ भी आ पहुँची ।

राजा—अरे कौन—सी वस्तु है?

विदूषक—यह क्या पास ही अधमैले कपड़े पहने मालविका अकेली उदास बैठी हुई है ।

राजा—(प्रसन्न होकर) क्या मालविका है?

विदूषकः—एसा णादिपरिक्खिदवेसा ऊसुअवअणा एआइणी मालविआ अदूरे वट्टदि। (एषा नातिपरिष्कृतवेपोत्सुकवदनैकाकिनी मालविकाऽदूरे वर्तते।)

राजा—(सहर्षम्) कथं मालविका?

विदूषकः—अहं ई। (अथ किम्।)

राजा—शक्यमिदानीं जीवितमवलम्बयितुम्।

त्वदुपलभ्य समीपगतां प्रियां हृदयमुच्छ्वसितं मम विक्लवम्।

तरुवृतां पथिकस्य जलार्थिनः सरितमारसितादिव सारसात्॥ 6॥

अथ क्व तत्र भवती?

विदूषकः—एसा तरुआइमज्झादो णिक्कन्ता इदो ज्जेव्व परिवट्ठन्ती दीसइ। (एषा तरुराजिमध्यान्निष्क्रान्तेत एव परिवर्तमाना दृश्यते।)

राजा—(विलोक्य सहर्षम्) वयस्य! पश्याम्येनाम्।

विपुलं नितम्बदेशे मध्ये क्षामं समुन्नतं कुचयोः।

अत्वायतं नयनयोर्मम जीवितमेतदायाति॥ 7॥

सखे! पूर्वस्मादतिमनोहरावस्थान्तरमुपारूढा तत्रभवती। तथा हि—

शराकाण्डपाण्डु गण्डस्थलेयमाभाति परिमिताभरणा।

माधवपरिणतपत्रा कतिपयकुसुमेव कुन्दलता॥ 8॥

विदूषकः—एसा वि भवं विअ मअणव्वाहिणा परिमिट्ठा भविस्सदि। (एषापि भवानिव मदनव्याधिना परिमृष्टा भविष्यति।)

राजा—सौहार्दमेवं पश्यति।

विदूषक—और क्या?

राजा—तब समझो कि मेरे प्राण अब बच जायेंगे। जैसे सारस का शब्द सुनकर प्यासे पथिक को भरोसा हो जाता है कि पेड़ की झुरमुट के पीछे कोई नदी होगी वैसे ही तुम्हारे मुँह से यह बात सुनकर मेरे व्याकुल मनको बड़ा धीरज मिला है कि मालविका पास ही है॥ 6॥

पर, वह है कहाँ?

विदूषक—वह क्या वृक्षों के बीच से होती हुई इधर ही चली आती दिखाई दे रही है।

राजा—(देखकर प्रसन्नता से) देख रहा हूँ मित्र! यह बड़े-बड़े नितम्बों वाली, पतली कमर वाली, उठे हुए स्तनों वाली और बड़ी-बड़ी आँखों वाली मानो मेरी जान ही चली आ रही हो॥ 7॥

जैसा इसे मैंने पहले देखा था उससे कहीं बढ़कर सुन्दर तो यह अब लग रही है। और देखो—इने-गिने आभूषण पहने हुए और सरकंडे के पीले गालों वाली यह सुन्दरी वैसी ही दिखाई दे रही है जैसे वसंत से पके हुए पत्तों वाली किसी कुन्दलता में इने-गिने फूल बचे रह गए हों॥ 8॥

विदूषक—तो इन्हें भी आपके जैसा ही कोई प्रेमका रोग लग गया होगा।

राजा-मित्रों को सदा ऐसा ही सूझा करता है।

मालविका—अअं सो ललितसुउमालदोहलापेक्खी अगिहीदकुसुमणेवत्थो उवकठिदाए मह अणुकरेदि असोसो । जाव एदस्स पच्छाअसीदले सिलापट्टए णिसण्णा अस्माकं विणोदेमि । (अयं स ललितसुकुमारदोहदापेक्षी अगृहीतकुसुमनेपथ्य उत्कण्ठिताया ममाऽनुकरोत्यशोकः । यावदस्य प्रच्छायशीतले शिलापट्टके निषण्णात्मानं विनोदयामि ।)

विदूषकः—सुदं भवदा उक्कठिदम्हि त्ति तत्तहोदी मन्तेदि । (श्रुतं भवता उत्कण्ठितास्मीति तत्रभवती मन्त्रयते ।)

राजा—नैतावता भवन्तं प्रसन्नतर्कं मन्ये । कुतः—

वोढा कुरबकरजसां किसलयपुटभेदशीकरानुगतः ।

अनिमित्तोत्कण्ठामपि जनयति मनसो मलयवातः ॥ 9 ॥

(मालविकोपविष्टा ।)

राजा—सखे ! इतस्तावदावां लतान्तरितौ भवावः ।

विदूषकः—इरावदिं विअ अदूरे पेक्खामि । (इरावतीमिवादूरे प्रेक्षे ।)

राजा—नहि कमलिनीं दृष्ट्वा ग्राहमवेक्षते मतङ्गजः । (इति विलोकयन्स्थितः ।)

मालविका—हिअअ ! णिरवलम्बणादो अदिभूमिलंघिणो दे मणोरहादो विरम । किं मं आआसिअं । (हृदय ! निरलम्बनादतिभूमिलङ्घिनो तव मनोरथाद्विरम । किं मामायास्य ।)

(विदूषको राजानां वीक्षते ।)

राजा—प्रिये ! पश्यु वामत्वं स्नेहस्य ।

औत्सुक्यहेतुं विवृणोषि न त्वं तत्त्वावबोधैकफलो न तर्कः ।

तथापि रम्भोरु करोमि लक्ष्यमात्मानमेषां परिदेवितानाम् ॥ 10 ॥

मालविका—फूलों की सजावट से सूना यह अशोक वृक्ष भी अपने मन की सुहावनी और प्यारी साध पूरी कराने के लिये मेरे ही समान अधीर हुआ जा रहा है तो चलती हूँ तब तक इसी की ठंडी छाया के तले पत्थर की पटिया पर बैठकर जी बहलाए लेती हूँ ।

विदूषक—सुना आपने? वे कह रही हैं कि मैं अधीर हो रही हूँ ।

राजा—केवल इतनी-सी बात से मैं यह नहीं मान सकता कि तुम ठीक समझ गए हो । क्योंकि कुरवक के पराग में बसा हुआ और खिली हुई कोंपलों से जल की बूँदें उड़ा ले जाने वाला मलय का पवन बिना कारण यों ही मन में चाह भरे डाल रहा है ॥ 9 ॥

(मालविका बैठा जाती है ।)

राजा—आओ मित्र ! चलो, हम लोग भी लता के पीछे छिप चलें ।

विदूषक—इरावती जी भी अब आ ही रही होंगी ।

राजा—हाथी जब कमलिनी को देख लेता है तब उसे जल में छिपे हुए घड़ियाल नहीं सुझा करते । (देखता रहता है ।)

मालविका—अरे हृदय ! तू ऐसी चाह क्यों किए डाल रहा है जिस पर न तो अपना कोई वश ही है और न जहाँ तक अपनी पहुँच ही है । मुझे सताने में तुझे मिल क्या रहा है ?

(विदूषक राजा की ओर देखता है ।)

राजा—प्यारी ! प्रेम की यह उलटी चाल तो देखो कि यद्यपि अभी तक न तो तुम्हीं ने अपनी व्याकुलता का कारण खोलकर बताया और न अनुमान से ही मुझे तुम्हारे मन की ठीक ठीक थाह लग पाई फिर भी मैं तो यही समझ रहा हूँ कि तुम मेरे ही लिये इतना रो-कलप रही हो ॥ 10 ॥

विदूषकः—संपदं भवदो णिस्ससअं भविस्सदि । एसा अप्पिदमअणसंदेसा विवित्ते णं बउलावलिआ उवट्ठिदा । (सांप्रतं भवतो निःसंशयं भविष्यति । एषार्पितमदनसंदेशा विवित्ते ननु बकुलाचलिकोपस्थिता ।)

राजा—अपि स्मरेदसावस्मदभ्यर्थनाम् ।

विदूषकः—किं दाणिं एसा दासीए दुहिता तुह गरुअं संदेसं विसुमरेदि । अहं दाव ण विसुमरेमि । (किमिदानीमेषा दास्या दुहिता तव गुरुकं संदेशं विस्मरति । अहं तावन्न विस्मरामि ।)

(प्रविश्य चरणालङ्कारहस्ता बकुलावलिका ।)

बकुलावलिका—अवि सुहं सहीए । (अपि सुखं सख्याः ।)

मालविका—अम्हो बउलावलिआ उवट्ठिदा । सहि! साअदं दे । उवविस । (अहो बकुलावलिकोपस्थिता । सखि! स्वागतं ते । उपविश ।)

बकुलावलिका—(उपविश्य) हला तुमं दाणिं जोग्गदाए णिउत्ता । ता एक्कं दे चलणं उवणेहि जाव सालत्तअं सणूउरं अ करोमि । (सखि! त्वमिदानीं योग्यतया नियुक्ता । तस्मादेकं ते चरणमुपनय यावत्सालत्तकं सन्नूपुरं च करोमि ।)

मालविका—(आत्मगतम्) हिअअ! अलं सुहिदाए उवट्ठिदो अअं विहवो । कहं दाणिं अत्ताणं मोचेअं । अहवा एदं एव्व मे मित्तुमण्डणं भविस्सदि । (हृदय! अलं सुखितया उपस्थितोऽयं विभवः । कथं वेदानीमात्मानं मोचयेयम् । अथवा एतदेव मे मृत्युमण्डनं भविष्यति ।)

बकुलावलिका—किं विआरेसि । ऊसुआ क्खु इमस्स तवणीआसोअस्स कुसुमोग्गमे देवी । (किं विचारयसि । उत्सुका खल्वस्य तपनीयाशोकस्य कुसुमोद्गमे देवी ।)

राजा—कथमशोकदोहदनिमित्तोऽयमारम्भः ।

विदूषक—आपका सन्देश अभी दूर हुआ जाता है । लीजिए, जिसके हाथ आपने सन्देश भेजा था वह बकुलावलिका भी यहाँ अकेले में उसके पास आ पहुँची है ।

राजा—पर उसे क्या हमारी बात स्मरण होगी?

विदूषक—जब मैं-तक नहीं भूल पाया हूँ, तब भला यह दासी की बच्ची कहीं ऐसी आवश्यक बात भूल पा सकती है?

(पैर सजाने की सारी सामग्री हाथ में लिए बकुलावलिका आती है ।)

बकुलावलिका—कहो सखी, अच्छी तो हो?

मालविका—अरे बकुलावलिका! तुम आ गई! स्वागत है सखी, आओ बैठो ।

बकुलावलिका—(बैठकर) सखी! तुम्हें जो काम दिया गया है उसके लिये तुम्हीं योग्य थीं । लाओ अपना एक पैर इधर ला बढ़ाओ तो मैं उसमें महावर लगाकर बिछुए पहनाए देती हूँ ।

मालविका—(मन ही मन) मेरे हृदय! यह सम्मान देखकर बहुत फूलो मत । पर मैं इससे बच भी कैसे सकती हूँ? यह न करूँ तो कहीं इसी से मेरा अन्तिम सिंगार न हो जाय ।

बकुलावलिका—सोच क्या रही हो? जानती हो, इस सुनहरे अशोक के फूलने की देवी को बड़ी चिन्ता है ।

राजा—अच्छा तो क्या यह सब सजावट अशोक के फूलने के लिए की जा रही है?

विदूषकः—किं णु क्खु जानासि तुमं मह कालणादो देवी मं अन्तेउरणेवच्छेण योजइस्सदि ति । (किं नु खलु जानासि त्वं मम कारणादेवी मामन्तःपुरनेपथ्येन योजयिष्यद्भीति ।)

मालविका—हला! मरिसेहि दाव णं । (सखि! मर्षय तावदेनम् ।) (इति पादमुपहरति ।)

बकुलावलिका—अइ सरीरअ सि मे । (अयि शरीरमसि मे ।)

(इति नाट्येन चरणसंस्कारमारभते ।)

राजा-

चरणान्तनिवेशितां प्रियायाः सरसां पश्य वयस्य रागलेखाम् ।

प्रथमामिव पल्लवप्रसूतिं हरदग्धस्य मनोभवद्वयस्य ॥ 11 ॥

विदूषकः—चलणाणुरूवो तत्तहोदीए अहिआरो उवक्खितो । (चरणानुरूपस्तत्र भवत्या अधिकार उपक्षिप्तः ।)

राजा—सम्यग्गाह भवान् ।

नवकिसलयरागेणान्नपादेन बाला स्फुरितनखरुचा द्वौ हन्तुमर्हत्यनेन ।

अकुसुमितमशोकं दोहदापेक्षया वा प्रणमितशिरसं वा कान्तमाद्रपिराधम् ॥ 12 ॥

विदूषकः—पहरिस्सदि तत्तहोदी तुमं अवरद्धम् । (प्रहरिष्यति तत्रभवती त्वामपराधम् ।)

राजा—मूर्ध्ना प्रतिगृहीतवचः सिद्धिदर्शिनो ब्राह्मणस्य ।

(ततः प्रविशति युक्तमदा इरावती चेटी च ।)

इरावती—हंजे णिउणिए! सुणामि बहुसो मदो किल इत्थिआजणस्य विसेसमंडणं ति । अवि बच्चो एसो लोबवाओ । (चेटि निपुणि के! शृणोमि बहुशो मदः किल स्त्रीजनस्य विशेषमण्डनमिति । अपि सत्य एष लोकवादः ।)

विदूषक—तो क्या आप समझ बैठे थे कि महारानी ने मेरे लिये इसे रनिवास के सिंगारों से सजाया होगा ।

मालविका—लो सखी! पर मुझे इसके लिये क्षमा कर देना । (पैर आगे करती है ।)

बकुलावलिका—वाह री! तू कोई दूसरी है । मैं तो तुझे अपनी देह-जैसी ही प्यारी समझती हूँ ।

(पैर रंगने का नाट्य करती है ।)

राजा—मित्र! प्यारी के पैर में महावर की जो गीली लकीरें बनी हैं वे ऐसी दिखाई पड़ रही हैं मानो महादेव जी के क्रोध से जले हुए कामदेव के वृक्ष में नई कोपलें फूट आई हों ॥ 11 ॥

विदूषक—और फिर जैसे इनके पैर हैं वैसा ही काम भी तो इन्हें सौंपा गया है ।

राजा—यह तो ठीक कहा तुमने! चमचमाते हुए नखों वाले और नई कोपलों के से पंजों वाले इस सुन्दरी के चरण या तो फूलने की इच्छा करने वाले इस अनफूले अशोक पर पड़ने योग्य हैं या प्रेम में अपराध करने वाले सिर झुकाए हुए पति के सिर पर पड़ने योग्य हैं ॥ 12 ॥

विदूषक—तो समझ लीजिए कि आप भी अपराध करेंगे तो ये ही चरण आप पर भी आ पड़ेंगे ।

राजा—मनचाहा भविष्य बताने वाले ब्राह्मण का आशीर्वाद सिरमाथे ।

(दासी के साथ मदिरा पिए हुए रानी इरावती आती हैं ।)

इरावती—निपुणिका! मैं बहुतों से सुना करती हूँ कि मदिरा पीने से स्त्रियाँ बहुत सुन्दर लगने लगती हैं । यह कहावत सच है क्या?

निपुणिका—पढमं लोअवाओ एव्व अज्ज सच्चो संयुत्तो। (प्रथमं लोकवाद एवाद्य सत्यः।)

इरावती—अलं मयि सिणेहेण। कहेहि कुदो दाणि ओगमिदव्वं दोलाघरं पढमं गदो भट्टा ण वेत्ति।
(अलं मयि स्नेहेन। कथय कुत इदानीमवगन्तव्यं दोलागृह प्रथमं गतो भर्ता न वेति।)

निपुणिका—भट्टिणीए अखंडिदादो पणआदो। (भट्टिन्या अखण्डितात्प्रणयात्।)

इरावती—अलं सेवाए। मज्झत्यदं परिगहिअ भणाहि। (अलं सेवया। मध्यस्थतां परिगृह्य भण।)

निपुणिका—वसन्तोस्सवुवाअणलुवेण अज्जगोदमेण कहिअं तुवरदु भट्टिणी ति। (वसन्तोत्सवोपायन-लोलुपेनार्यगौतमेन कथितं त्वरतां भट्टिनीति।)

इरावती—(अवस्थासदृशं परिक्रम्य।) हंजे! मदेण किलाअमाण अत्ताणं अज्ज-उत्तस्स दंसणे हिअअं तुवरेदि। चलणा उण ण मह पसरन्ति। (चेटि! मदेन क्लाम्यमान-मात्मानमार्यपुत्रस्य दर्शने हृदयं त्वरयति। चरणौ पुनर्न मम प्रसरतः।)

निपुणिका—णं संपत्ते मह दोलाघरं। (ननु संप्राप्ते स्वं दोलागृहम्।)

इरावती—णिउणिए! अज्जउत्तो एत्थ ण दीसदि। (निपुणि के! आर्यपुत्रोऽत्र न दृश्यते।)

निपुणिका—णं भट्टिणीए ओलोअदु। परिहासणिमित्तं कहि वि अदिट्ठेण भत्तुणा होदव्वं। अम्हे वि पिअंगुलदापरिक्खित्तं असोअसिलापट्टअं पविसामो। (ननु भट्टिन्यवलोकयतु। परिहासनिमित्तं कुत्राप्यदृष्टेन भर्ता भवितव्यम्। आवामपि प्रियङ्गुलतापरिक्षिप्तमशोकशि—लापट्टकं प्रविशावः।)

निपुणिका—पहले तो यह कहावत ही थी, पर आज तो यह सच दिखाई दे रही है।

इरावती—चल, चल, मुँह-देखी मत कह। अच्छा बता कि यह कैसे जाना जाय कि स्वामी झूले घर में पहुँच गए हैं या नहीं।

निपुणिका—आपका अखण्ड प्रेम ही यह बताए दे रहा है।

इरावती—ठकुरसुहाती रहने दे। लल्लो-चप्पो छोड़कर सच-सच बता।

निपुणिका—वसन्तोत्सव-पूजा की भेंट पाने के लोभी आर्य गौतम ने ही कहलाया है कि देवी को झटपट भेज दो।

इरावती—(मद में झूमकर घूमती हुई) दासी! मद इतना चढ़ गया है कि आर्यपुत्र को देखने की अकुलाहट होने पर भी मेरे पैर आगे नहीं बढ़ पा रहे हैं।

निपुणिका—लीजिए, झूलेघर में तो आप पहुँच गईं।

इरावती—अरी निपुणिका! आर्यपुत्र तो यहाँ कहीं दिखाई ही नहीं पड़ रहे हैं।

निपुणिका—ध्यान से देखिए स्वामिनी! आपसे ठिठोली करने के लिये स्वामी यहीं कहीं छिपे बैठे होंगे। आइए, हम लोग भी चलकर प्रियंगु के लता-मण्डप में चलकर अशोक के तले पत्थर की पटियापर जा बैठें।

इरावती—तह। (तथा।)

निपुणिका—(विलोक्य) आलोअदु भट्टिणी चूदकुरं विविण्णन्तीर्ण पिपीलिआहिं दंसिदं। (अवलोकयतु भट्टिनी चूताङ्कुरं विचिन्वत्योः पिपीलिकाभिर्दष्टम्।)

इरावती—कहं विअ एदं। (कथमिवेदम्।)

निपुणिका—एसा असोअपादवच्छाआए मालविआए वउलावलिआ चलणालंकारं णिव्वड्ढेदि। (एषाशोकपादपच्छायायां मालविकाया वकुलावलिका चरणालङ्कारं निवर्तयति।)

इरावती—(शङ्कां रूपयित्वा) अभूमी इअं मालविआए! कहांथ तक्केसि। (अभूमिरियं मालविकायाः। कथमत्र तर्कयसि।)

निपुणिका—तक्केमि दोलापरिव्वंसिदाए सरुअचलणाए देवीए असोभदो—हलाहिआरे मालविआ णिउत्तेत्ति। अण्णहा कहं देवी सअं धारिअं णूउरजुअलं परिअणस्स अब्भणुजाणिस्सदि। (तर्कयामि दोलापरिव्वन्ध्या सरुजचरणया देव्याऽशोकदोहदाधिकारे मालविका नियुक्तेति। अन्यथा कथं देवी स्वयं धारितं नूपुरयुगलं परिजनस्याभ्यनुज्ञास्यति।)

इरावती—महदी क्खु से संभावणा। (महती खल्वस्याः संभावना।)

निपुणिका—कि ण अण्णेसीअदि भट्टा। (कि नान्विष्यते भर्ता।)

इरावती—हला! ण मे चलणा अण्णदोपवट्टन्ति। मदोमं विआरेदि! आसंकिदस्स दाव अन्तं गमिस्सं। (मालविक निर्वर्ण्य। निरूप्यात्मगतम्।) ठाणे क्खु कादरं मे हिअअं। (सखि! न मे चरणावन्यतः प्रवर्तेते। मदो मां विकारयति। आशङ्कितस्य तावदन्तं गमिष्यामि। स्थाने खलु कातरं मे हृदयम्।)

इरावती—ठीक है।

निपुणिका—(देखकर) देखिए तो स्वामिनी! हम तो चली थीं आम की कोपलें ढूँढ़ने और काट लिया चींटियों ने।

इरावती—कैसे रे?

निपुणिका—देखिए न। यहाँ वकुलावलिका, अशोक की छाया में बैठी हुई मालविका के पैर रंगे दे रही है।

इरावती—(कुछ सन्देह करके) मालविका तो इधर आने नहीं पाती, आज क्या बात हो गई है?

निपुणिका—मैं समझती हूँ कि झूले पर से गिर जाने के कारण महारानी के पैरों में चोट आ गई है इसलिये अशोक के फूलने के लिये उस पर लात मारने का काम मालविका को ही सौंपा गया होगा। नहीं तो क्या महारानी कभी अपने पैर के बिछुए उतारकर अपनी दासियों को पहनने के लिये देने वाली है?

इरावती—हाँ, यही बात हो सकती है।

निपुणिका—तो क्या महाराज को न ढूँढ़िएगा?

इरावती—सखी, मेरे पैर ही आगे नहीं बढ़ पा रहे हैं। इधर मद भी मुझे बेहाल किए डाल रहा है, पर मेरे मन में जो खटका आ बैठा है, वह तो मिटाना ही होगा। (मालविका को देखकर और समझकर मन ही मन) इन्हीं सब बातों से तो मेरा जी जल उठता है।

बकुलावलिका—(मालविकायै चरणं दर्शयन्ती ।) अवि रोअदि दे राअरेहाविण्णासो । (अपि रोचते ते रागरेखाविन्यासः ।)

मालविका—हला अत्तणो चलणं ति लज्जेमि णं पसंसिदुं । केण पसाहणकलाए अहिणीदासि । (सखि ! आत्मनश्चरण इति लज्जे एवं प्रशंसितुम् । केन प्रसाधमकलायामभिवी—तासि ।)

बकुलावलिका—एत्थ क्खु भत्तुणो सीसम्हि । (अत्र खलु भर्तुः शिष्यास्मि ।)

विदूषकः—तुवरेहि दाव णं गुरुदक्खिणाए । (त्वरय तावदेनां गुरुदक्षिणायै ।)

मालविका—दिट्ठिआ ण गव्विदासि । (दिष्ट्या न गर्वितासि ।)

बकुलावलिका—उवदेसाणुरूवा चलणा लंभिअ अज्ज दाव गव्विदा भविस्सं । (रागं विलोक्यात्मगतम्) इन्त ! सिद्धो मे दप्पो । (प्रकाशम्) सहि ! एकस्स दे चलणस्स अवसिदो राअणिकखेवो । केवलं मुहमारूदो लम्भइदव्वो ! अहवा पवादं एदं ठाणं । (उपदेशानुरूपौ चरणौ लब्ध्वाद्य तावद्गर्विता भविष्यामि । हन्त सिद्धो मे दपः । सखि एकस्य ते चरणस्यावसितो रागनिक्षेपः । केवलं मुखमारुतो लम्भयितव्यः । अथवा प्रवातमेतत्स्थानम् ।)

राजा—सखे पश्य ।

आर्द्रालक्तकमस्याश्चरणं मुखमारुतेन शोषयितुम् ।

प्रतिपन्नः प्रथमतः संप्रति सेवावकाशो मे ॥ 13 ॥

विदूषकः—कुदो ते अणुसओ । एदं भवदा चिरक्कमेण अणुभविदव्वं । (कुत तेऽनुशयः । एतावद्भवता चिरक्रमेणानुभवितव्यम् ।)

बकुलावलिका—सहि ! अरुणसत्तपत्तं विअ सोहदि दे चलणं । सव्वहा भत्तुणोअंक परिवट्ठिणी होहि । (सखि अरुणशतपत्रमिव शोभते ते चरणम् । सर्वथा भर्तुरङ्कपरिवर्तिनी भव ।)

बकुलावलिका—(मालविका को उसका रँगा हुआ पैर दिखलाती है ।) कहो महाबर की रँगई तुझे अच्छी लगी ?

मालविका—सखी ! अपने पैर की प्रशंसा करते मुझे लाज लगती है पर यह तो बताओ कि इतनी बढ़िया सिंगार की कला तुम्हें सिखाई किसने ?

बकुलावलिका—अरी ! यह कला तो मैंने स्वयं महाराज से ही सीखी है ।

विदूषक—जाइए जाइए, झपटकर इससे गुरुदक्षिणा माँग लीजिए ।

मालविका—बड़ी भाग्यवान् हो कि इतने पर भी तुम्हें अभिमान छू-तक नहीं गया है । बकुलावलिका—पर मैंने कुछ सीखा है वैसी कला दिखलाने के योग्य तुम्हारे चरण पाकर आज तो मुझे अवश्य अभिमान हो रहा है । (रँगई को देखकर मन ही मन) वाह ! आज ही तो मेरा अभिमान सच्चा हुआ है । (प्रकट) लो सखी ! तुम्हारा एक पैर तो रँग गया है अब इसे मुँह से फूँककर सुखाना भर रह गया है, पर यहाँ तो बयार भी चल रही है ।

राजा—देखो मित्र ! गीले महावर से रँगे हुए इसके पैर को मुँह की फूँक से सुखाकर इसकी सेवा करने का यह सबसे अच्छा अवसर मेरे हाथ लगा है ॥ 13 ॥

विदूषक—तो पछताते क्यों हैं ? ऐसी सेवा आपको बहुत दिनों तक करने को मिलती रहेगी ।

बकुलावलिका—अरी सखी ! तेरा पैर तो लाल कमल के समान खिला पड़ रहा है । मैं तो मनाती हूँ कि तू सदा महाराज की गोद में ही लेटी रहा करे ।

(इरावती निपुणिकामवेक्षते ।)

राजा—अयमेयमाशीः ।

मालविका हला! मा अवअणीअं मंतेहि । (सखि मा अवचनीयं मन्त्रयस्व ।)

बकुलावलिका—मंतदूदव्वं एव्व मंतिदं मए । (मन्त्रयितव्यमेव मन्त्रितं मया ।)

मालविका—पिआ क्खु अहं तव । (प्रिया खल्वहं तव ।)

बकुलावलिका—ण केवलं मह । (न कवलं मम ।)

मालविका—कस्स वा अण्णस्स । (कस्य वान्यस्य ।)

बकुलावलिका—गुणेषु अहिणिवेसिणो भत्तुणो वि । (गुणेष्वभिनिवेशिनो भर्तुरपि ।)

मालविका—अलीअं मन्तेसि । एदं एव्व मइ णत्थि । (अलीकं मन्त्रयसे । एतदेव मयि नास्ति ।)

बुलावलिका सच्चं तुई णत्थि । भत्तुणो किसेसु सुन्दरपांडुरेसु दीसइ अंगेसु । (सत्वं त्वयि नास्ति । भर्तुः कृशेषु सुन्दरपाण्डुरेषु दृश्यतेऽङ्गेषु ।)

निपुणिका—पढम गणिदं विअ हदासए उत्तरं । (प्रथम गणितमिव हताशाया उत्तरम् ।)

बकुलावलिका—अणुराओ अणुराएण परिक्खिदव्वो त्ति सुअणवअणं पमाणीकरेहि ।

(अनुरागोऽनुरागेण परिक्षितव्य इति सुजनवचनं प्रमाणीकुरु ।)

मालविका—किं अत्तणो छदेण मंतेसि (किमात्मनश्छन्देन मन्त्रयसि ।)

बकुलावलिका—णहि णहि । भत्तुणो क्खु एदाइं पणअमिदुलाइं अक्खरां वत्तन्त—रिताइं । (नहि नहि । भर्तुः खल्वेतानि प्रणयमृदुलान्यक्षराणि वक्त्रान्तरितानि ।)

(इरावती निपुणिका की ओर देखती है ।)

राजा—मैं यही आशीर्वाद देता हूँ ।

मालविका—सखी! ऐसी बे-सिरपैर की बातें न कहा करो ।

बकुलावलिका—जो कहना चाहिए वही तो मैं कह रही हूँ ।

मालविका—मैं तुम्हारी प्यारी हूँ न? इसीलिये ।

बकुलावलिका—केवल मेरी ही नहीं ।

मालविका—और दूसरे किसकी ।

बकुलावलिका—तेरे गुणों पर रीझे हुए महाराज की भी ।

मालविका—तू झूठ कहती है । मुझ पर उनका तनिक भी प्रेम नहीं है ।

बकुलावलिका—हाँ, सचमुच तुमपर तो नहीं, पर महाराज के दुर्बल, पीले सुन्दर अंगों पर वह प्रेम अवश्य दिखाई देता है ।

निपुणिका—इस छोटी ने ऐसा उत्तर दिया है मानो पहले से ही सोचे बैठी हो ।

बकुलावलिका—अच्छा सज्जनों की एक बात तो तुम मान लो कि प्रेम की परीक्षा प्रेम से ही होती है ।

मालविका—यह सब क्या अपने मन से गढ़े चली जा रही हो?

बकुलावलिका—नहीं, अपने मन से नहीं । ये प्रेम भरे कोमल अक्षर स्वयं महाराज ने अपने मुँह से कहे हैं ।

मालविका हला! देवीं चिन्तिअ ण मे हिअअं विस्ससदि। (सखि! देवीं चिन्तयित्वा न मे ददयं विश्वसति।)

बकुलावलिका—मुद्धे! भ्रमरसंपादो भविस्सदि ति वसन्तावदारसव्वस्सं किं ण चूदप्पसवो ओदंसिदव्वो। (भ्रमरसंपातो भविष्यतीति वसन्तावतारसर्वस्वं किं न चूतप्रसवोऽवतंसितव्यः।)

मालविका—तुमं दाव दुज्जादे गच्छतस्स सहायिणी होहि। (त्वं तावद् दुर्जाते गच्छतः सहायिनी भव।)

बकुलावलिका—विमदसुरही बउलावलिआ क्खु अहं। (विमर्दसुरभिर्बकुलावलिका खल्वहम्।)

राजा—साधु बकुलावलिके! साधु।

भावज्ञानान्तरं प्रस्तुतेन प्रत्याखाने दत्तयुक्तोत्तरेण।

वाक्येनेयं स्थापिता स्वे निदेशे स्थाने प्राणाः कामिनां दूत्याधीनाः॥ 14॥

इरावती—हंजे! पेक्ख कारिदं एव्व वउलावलिआए एदस्सि पदं मालविआए। (सखि। पश्य कारितमेव बकुलावलिकयैतस्मिन्पदं मालविकायाः।)

निपुणिका—भट्टिणि! अहिआरस्स उइदो उवदेसो। (भट्टिनि! अधिकारस्योचित उपदेशः।)

इरावती—ठाणे क्खु संकिदं मे हिअअं। गहीदत्था अणंतरं चिन्तिइस्सं। (स्थाने खलु शङ्कितं मे हृदयम्। गृहीतार्थानन्तरं चिन्तयिष्यामि।)

बकुलावलिका—एसो दुदीओ वि दे णिव्वुत्तपरिकम्पा चलणो। जाव णं सणूउरं करेमि। (इति नाट्येन नूपुरयुगलमामुच्य।) हला! उट्टेहि। असोअविआसइत्तअं देवीए णिओअं अणुचिट्ठ। (एष द्वितीयोऽपि त निर्वृत्तपरिकर्मा चरणः। यावदेनं सूनपुरं करोमि। हला! उत्तिष्ठ। अशोकविकासयितृकं देव्या नियोगमनुतिष्ठ।)

मालविका—पर सखी! उधर महारानी का व्यवहार देखती हूँ तो सारी आशा पर पानी फिर जाता है।

बकुलावलिका—अरी पगली! तो क्या भौरों के डर से लोग अपने कानों में वसन्त की रानी आम की मंजरी पहनें ही नहीं?

मालाविका—मुझपर कोई विपदा आवे तो तुम मुझे छोड़ न देना।

बकुलावलिका—अरी, मेरा तो नाम ही बकुलावलिका है। मैं तो जितनी ही अधिक मसली जाऊँगी उतनी ही अधिक सुगन्ध दूँगी।

राजा—वाह री बकुलावलिका, वाह—इस समय इसके मन की ठीक-ठीक थाह ले लेने पर जो मेरे प्रेम का प्रस्ताव करके और इसके नहीं नहीं करने पर भी इसे जोड़-तोड़ का उत्तर देकर जो तुमने इसे पक्का कर लिया है इससे मुझे विश्वास हो गया कि सचमुच प्रेमियों के प्राण दूतियों की मुट्ठी में ही रहते हैं॥ 14॥

इरावती—देख सखी! मालविका को इतना सम्मान इस बकुलावलिका ने ही दिलाया है।

निपुणिका—स्वामिनी! इसे जैसा सिखाया गया होगा वैसा ही तो किए डाल रही है।

इरावती—मुझे जो खटका था वह सब सच ही निकला। सब बातों का ठीक-ठीक ब्यौरा लेकर मैं इसका कोई न कोई उपाय सोच निकालती हूँ।

बकुलावलिका—लो, तुम्हारा दूसरा पैर भी रँग गया। लाओ, इसमें भी बिछुए डाल दूँ।

(दोनों बिछुए पहनाने का नाट्य करती है।) अब उठो सखी! महारानी ने अशोक के फूलने के निमित्त जो काम तुम्हें सौंपा है वह पूरा कर डालो। (दोनों उठ खड़ी होती हैं।)

(उभे उत्तिष्ठतः)

इरावती—सुदो देवीए णिओओ। होदु दाणिं। (श्रुतो देव्या नियोगः। भवत्विदानिम्।)

बकुलावलिका—एसो उवारूढराओ उअभोअक्खमो पुरदो दे वट्टइ। (एष उपारूढराग उपभोगक्षमः पुरतस्ते वर्तते।)

मालविका—(सहर्षम्) किं भट्टा (किं भर्ता।)

बकुलावलिका—(सस्मितम्) ण दाव भट्टा। एसो असोअसाहावलंबी पल्लवगुच्छओ। ओदसेहित णं। (न तावद्भर्ता। एषोऽशोकशाखावलम्बी पल्लवगुच्छः। अवतंसयैनम्।)

(मालविका विषादं नाटयति)

विदूषकः—सुदं भवदा (श्रुतं भवता।)

राजा—सखे। पर्याप्तमेतावता कामिनाम्।

अनातुरोत्कण्ठितयोः प्रसिद्धयता समागमेनापि रतिर्न मां प्रति।

परस्परप्राप्तिनिराशयोर्वरं शरीरनाशोऽपि समानुरागयोः॥ 15॥

(मालविका रचितपल्लवावतंसा पादमशोकाय प्रहिणोति)

राजा—वयस्य।

आदाय कर्णकिसलयमस्मादियमत्र चरणमर्पयसि।

उभयोः सदृशविनिमयादात्मानं वञ्चितं मन्ये॥ 16॥

इरावती—तुमने महारानी का काम सुन लिया न! अच्छा इसे हो जाने दो।

बकुलावलिका—लो, यह राग-रंग से भरा और आनन्द लूटने योग्य तुम्हारे आगे ही तो है।

मालविका—(प्रसन्न होकर) कौन महाराज?

बकुलावलिका—(मुसकराकर) अरे महाराज नहीं! यह अशोक की शाखा में लटकने वाले पत्तों का गुच्छा! लो इसे कानों पर उठा सजाओ।

(मालविका दुखी होती है।)

विदूषक.....सुना आपने।

राजा—मित्र! प्रेमियों के लिए इतना भी बहुत है। देखो! जहाँ पर एक तो मिलने के लिए व्याकुल हो और दूसरा मिलना ही न चाहता हो वहाँ उनका मिलना न मिलना दोनों बराबर बैठे हों वहाँ प्राण भी दे देना पड़े तो बुरा नहीं है॥ 15॥

(मालविका पत्तों का गुच्छा कानपर लटकाकर अशोक पर लात जमाती है।)

राजा—मित्र! देखो इसने अपने कानों पर सजाने के लिए जो अशोक से पत्ते लिये हैं उसके बदले इसने अपना पत्तों-जैसा चरण भी उसे भेंट में दे डाला। इन दोनों ने एक जैसी वस्तु का अदला-बदला करके मुझे तो सचमुच कहीं का न छोड़ा क्योंकि अब मैं इससे इस प्रकार प्रेम की वस्तुओं की अदला-बदली कैसे कर पा सकूँगा॥ 16॥

बकुलावलिका—हला! णत्थि दे देसो णिग्गुणो अअं असोओ जइ कुसुमोब्भेदमन्थरो भवे जो दे चलणसक्कार लम्भिअ। (सखि नास्ति ते दोषः निर्गुणोऽयमशोको यदि कुमुदोद्भेदमन्थरो भवेत् यस्ते चरणसत्कारं लब्ध्वा।)

राजा--

अनेन तनुमध्या मुखरनूपुराराविणा

अनाम्बुरुहकोमलेन चरणेन संभावितः।

अशोक यदि सद्य एव मुकुलैर्न संपत्स्यसे

वृथा वहसि दोहदं ललितकामिसाधारणम् ॥ 17 ॥

सखे! वचनानुसरणपूर्वकं प्रवेष्टुमिच्छामि।

विदूषकः—एहि। णं परिहासइस्सं। (एहि एनां परिहासयिष्यामि।)

(उभौ प्रवेशं कुरुतः।)

निपुणिका—भट्टिणि भट्टिणि। भट्टा एत्थ पविसदि। (भट्टिनि भट्टिनि! भर्ताऽत्र प्रविशति।)

इरावती—इदं मम पदमं चिन्तिदं हिअएण। (एतन्मम प्रथमं चिन्तितं हृदयेन।)

विदूषकः—(उपेत्य) भोदि! जुत्तं णाम अत्तहोदि पिअवअस्सो अअं असोओ णं वामपादेण ताडिदं। (भवति! युक्तं नाम अत्रभवति प्रियवयस्योऽयमशोको ननु वामपादेन ताडयितुम्।)

उभे—(सम्रभ्रमम्) अम्हो भट्टा। (अहो भर्ता।)

विदूषकः—बउलावलिए! गहीदत्थाए तुइ अत्तहोदी ईरिसं अविणअं करन्ती कीस णं णिवारिदा। (बकुलावलिके! गृहीतार्थया त्वयात्रभवतीदृशमविनयं कुर्वन्ती कस्मात्र निवारिता।)

बकुलावलिका—सखी! यदि तुम्हारे चरणों की पूजा पाकर भी यह अशोक न फूले तो इसमें तुम्हें दोष नहीं लगेगा वरन् यह अशोक ही निकम्मा समझा जायगा।

राजा—इस पतली कमरवाली सुन्दरी का जो नये कमल के समान कोमल चरण बिछुओं की झंकार से गूँज रहा है, उससे आदर पाकर भी यदि तुममें कलियाँ न फूट आईं तो मैं यही समझूँगा कि सुन्दरी की लात से फूल उठने की जो चाह मस्त प्रेमियों के मन में होती है वह तुम्हारे मन में व्यर्थ ही उत्पन्न हुई ॥ 17 ॥ मित्र! हम लोगों की कोई बात चले तो हम भी आगे बढ़ चलें।

विदूषक—आइए। मैं इसे चलकर छेड़ता हूँ न।

(दोनों आगे बढ़ते हैं।)

निपुणिका—स्वामिनी! स्वामिनी! महाराज आ रहे हैं।

विदूषक—(पास जाकर) कहिए देवी! क्या हमारे प्यारे अशोक पर अपनी बाईं लात जमाकर आपने कोई अच्छा काम किया है?

दोनों—(घबराकर) अरे! महाराज!

विदूषक—क्यों बकुलावलिका! सब कुछ जान-बूझकर भी तुमने इन्हें ऐसी छिठाई करने से रोका क्यों नहीं?

(मालविका भयं रूपयति ।)

निपुणिका—भट्टिणि! पेक्ख। किं पउत्तं अज्जगोदमेण। (भट्टिनि! पश्य। किं प्रवृत्तमार्यगौतमेन ।)
इरावती—कहं क्खु ब्रह्मबन्धू अण्णहा जीविस्सवि। (कथं खलु ब्रह्मबन्धुरन्यथा जीविष्यति ।)

बकुलावलिका—अज्ज! एसा देवीए णिओअं अणुचिद्धदि। एवस्सि अदिक्कमे परवदी इअं। पसीददु भट्टा। (आर्य! एषा देव्या नियोगमनुतिष्ठति। एतस्मिन्नतिक्रमे परवतीयम्। प्रसीदतु भर्ता) (इत्यात्मना सहेनां प्रणिपातयति ।)

राजा—यद्येवमनपराद्वासि। उत्तिष्ठ भद्रे। (हस्तेन गृहीत्वैनामुत्थापयति ।)

विदूषकः—जुज्जइ देवी एत्थ माणइदव्वा। (युज्यते देव्यत्र मानवितव्या ।)

राजा—(विहस्य)

किसलयमृदोर्विलासिनि कठिने निहतस्य पादपस्कन्धे ।

चरणस्य न ते बाधा संप्रति वामोरु वामस्य ॥ 18 ॥

(मालविका लज्जां नाटयति ।)

इरावती—अहो णवणीदकम्पहिअओ अज्जउत्तो। (अहो नवनीतकल्पहृदय आर्यपुत्रः ।)

मालविका—बउलावलिए! एहि। अणुद्धिदं अत्तणो णिओअं देवीए णिवेदम्ह। (बकुलावलिके! एहि। अनुष्ठितमात्मनो नियोगं देव्यै निवेदयावः ।)

बकुलावलिका—विण्णावेहि भट्टारं विसज्जेहि त्ति। (विज्ञापय भर्तारं विसर्जयेति ।)

राजा—भद्रे! यास्यसि। मम तावदुत्पन्नावसरमर्थित्वं श्रूयताम् ।

(मालविका डरने का नाट्य करती है ।)

निपुणिका—स्वामिनी! आपने आर्य गौतम की चाल देखी?

इरावती—यह ऐसा न करे तो इस बंभनौटेका पेट कैसे पले?

बकुलावलिका—आर्य! यह तो महारानी की ही आज्ञा का पालन हो रहा है। इसलिये यह ऐसी ठिठाई करने को विवश थी। महाराज क्षमा करें।

(अपने साथ मालविका को भी उनके पैरों में झुकाती है ।)

राजा—अच्छ, यह बात है तो कोई दोष नहीं। उठो भद्रे! (हाथ से पकड़कर मालविका को उठाता है ।)

विदूषक—ठीक है, महारानी की बात तो माननी ही चाहिए थी।

राजा—(देखकर) क्यों विलासिनी! तुम्हारा यह पत्तों के समान कोमल बाँयाँ पैर अशोक पर लगने से कहीं दुखने तो नहीं लगा है? ॥ 18 ॥

(मालविका लजाने का नाट्य करती है ।)

इरावती—वाह, इस समय तो आर्यपुत्र का हृदय मक्खन के समान कोमल बन गया है।

मालविका—आओ बकुलावलिका! महारानी को सूचना दे आवें कि आपकी आज्ञा पूरी कर दी गई है।

बकुलावलिका—पहले महाराज से तो प्रार्थना करें कि वे तुम्हें छोड़ दें।

राजा—तुम जा सकती हो भद्रे! पर एक और ऐसे ही अवसर की बात सुनती जाओ।

बकुलावलिका—अवहिदा सुणाहि। आणवेदु भट्टा। (अवहिता शृणु। आज्ञापयतु भर्ता।)

राजा—

धृतिपुष्पमयमपि जनो बध्नाति न तादृशं चिरात्प्रभृति।

स्पशामृतेन पूरय दोहदमस्याप्यनन्यरुचेः॥ 19॥

इरावती—(सहसोपसृत्य) पूरेहि पूरेहि। असोओ कुसुमं ण दंसेदि! अअं उण पुप्फदि एव्व। (पूरय पूरय। अशोकः कुसुमं न दर्शयति। अयं पुनः पुष्पत्येव।)

(सर्वे इरावतीं दृष्ट्वा संभ्रान्ताः।)

राजा—(अपवार्य) वयस्य! का प्रतिपत्तिरत्र।

विदूषकः—किं अण्णं। जंघाबलं एव्व। (किमन्यत् जङ्घाबलमेव।)

इरावती—बउलावलिए! तुए साहु उवक्कन्तं। दाणिं सफलब्धत्थणं करेहि अज्जउत्तं। (बकुलावलिके। त्वया साधूपक्रान्तम्। इदानीं सफलाभ्यर्थिनं कुर्वार्यपुत्रम्।)

उभे—पसीददु भट्टिटणि। काओ अम्हे भत्तुणो पणअपरिगहस्स। (प्रसीदतु भट्टिनी। के आबां भर्तुः प्रणयपरिग्रहस्य।) (इति निष्क्रान्ते।)

इरावती—अविस्ससणीआ पूरिसा। अत्तणो वंचणवअणं पमाणीकरिअ आविखताए वाहजणगीदगहीदचित्ताए विअ हरिणीए एदं ण विण्णादं मए। (अविश्वसनीयाः पुरुषाः। आत्मनो वञ्चनावचनं प्रमाणीकृत्याक्षिप्तया व्याधजनीगीतगृहीतचित्तयैव हरिण्यैतत्र विज्ञातं मया।)

बकुलावलिका—देखो, ध्यान देकर सुनो। हाँ महाराज! आज्ञा कीजिए।

राजा—देखो सुन्दरी! बहुत दिनों से इसी अशोक के समान ही मुझमें भी धीरज के फूल नहीं आ रहे हैं। इसलिये तुम्हें छोड़कर और किसी से प्रेम न करने वाले मुझ सेवक के मन की साध भी अपने स्पर्श का अमृत पिलाकर आज तुम पूरी कर दो॥ 19॥

इरावती—(सहसा आगे बढ़कर) हाँ हाँ, पूरी कर दे, पूरी कर दे। अशोक में तो अभी फूल नहीं आए हैं पर ये तो अभी से फूले पड़ रहे हैं।

(इरावती को देखकर सब घबरा जाते हैं।)

राजा—(अलग) कहो मित्र! अब क्या किया जाय।

विदूषक—और क्या किया जायगा! चलिए पैरों का सहारा लिया जाय (भाग चला जाय)।

इरावती—क्यों री बकुलावलिका! यह तो तूने बड़ा अच्छा काम ले लिया है? जा, अब कर न आर्य-पुत्र की साध पूरी!

दोनों—क्रोध न कीजिए महारानी! भला हम कौन होती हैं महाराज की साध पूरी करने वाली।

(दोनों चली जाती हैं।)

इरावती—सचमुच पुरुषों का कोई विश्वास नहीं है। मैं क्या जानती थी कि जैसे व्याधों के गीत सुनकर हरिणी सब सुध-बुध खोकर जाल में जा फँसती है वैसे ही मैं भी इनकी चिकनी-चुपड़ी बातों पर विश्वास करके फन्दे में जा फँसूंगी।

विदूषकः—(जनान्तिकम्) भो पडिपज्जेहि किंपि उत्तरम् । कम्मग्गहीदेण वि कुम्भीलएण संधिच्छेदे सिक्खिओम्हि त्ति वत्तव्वं होदि । (भो प्रतिपद्यस्व किमप्युत्तरम् । कर्मगृहीतेनापि कुम्भीलकेन संधिच्छेदे शिक्षितोऽस्मीति वक्तव्यं भवति ।)

राजा—सुन्दरि! न मे मालविकया कश्चिदर्थः । मया त्वं चिरयसीति यथाकथंचिदात्मा विनोदितः ।

इरावती—विस्ससणीओसि । ण मए विण्णादं ईरिसं विणोदवुत्तन्तं अज्जउत्तेण उवलद्ध त्ति । अण्णहा दुक्खभाइणीए एव्वं ण करीअदि । (विश्वसनीयोऽसि । न मया विज्ञात ईदृश विनोदवृत्तान्त आर्यपुत्रेणोपलब्ध इति । अन्यथा दुःखभागिन्यैवं न क्रियते ।)

विदूषकः—मा दाव अत्तभोदो दक्खिण्णस्स उवरोहं करेहि । समीवदिट्ठेण देवीय परिचारिइत्थिआजणेन संकहावि जइ वारीअदि एत्थ तुमं एव्व पमाणं । (मा तावदन्नभवतो दाक्षिण्यस्योपरोधं कुरु । समीपदृष्टेन देव्याः परिचारिस्त्रीजनेन संकथापि यदि वार्यते अत्र त्वमेव प्रमाणम् ।)

इरावती—णं संकहा णाम होदु । किंति अत्ताणं आआसइस्सं । (ननु संकथा नाम भवतु । किमित्यात्मानमायासयिष्यामि) (इति रुषा प्रस्थिता ।)

राजा—(अनुसरन् ।) प्रसीदतु भवती ।

(इरावती रशनासंधारितचरणा व्रजत्येव ।)

राजा—(अनुसरन् ।) प्रसीदतु भवती ।

(इरावती रशनासंधारितचरणा व्रजत्येव ।)

राजा—सुन्दरि! न शोभते प्रणयिनि जने निरपेक्षता ।

इरावती—सठ । अविस्ससणीअहिअओसि । (शठ । अविश्वसनीयहृदयोऽसि ।)

विदूषक—(अलग) अजी, कुछ तो बात बनाइए । चोरी करते पकड़ा हुआ चोर भी कह देता है कि मैं चोरी करने के लिये सेंध नहीं लगा रहा था वरन् यही देखना चाहता था कि मैंने भीत फोड़ने की विद्या ठीक-ठीक सीख पाई है या नहीं ।

राजा—सुन्दरी! मालविका से हमें क्या लेना-देना है । तुम्हारे आने में देर हो रही थी इसलिये थोड़ा-बहुत जी बहला रहे थे ।

इरावती—जी हाँ! बड़े सच्चे हैं आप! मैं नहीं जानती थी कि आर्य पुत्र को मन बहलाने के लिये यही वस्तु मिली है, नहीं तो मैं अभागिन बीच में पड़ती ही क्यों!

विदूषक—देखिए, आप महाराज को साधारण शिष्टाचार दिखाने से मत रोकिए । यदि आप चाहती हैं कि पास आई हुई महारानी की दासियों से भी महाराज बात-चीत न करें तो ठीक है, वही सही ।

इरावती—अच्छा तो होने दीजिए बात-चीत, मैं क्यों अपना जी दुखाऊँ । (क्रोध में भरी चली जाती है ।)

राजा—(पीछे-पीछे जाते हुए) अरे, मान जाओ देवी ।

(इरावती पैर में फँसी हुई तगड़ी को घसीटती हुई चलने को होती है ।)

राजा—सुन्दरी! अपने प्यारे से रूठना तुम्हें शोभा नहीं देता ।

इरावती—अरे शठ! तेरा मुझे तनिक भी विश्वास नहीं है ।

राजा—

शठ इति मयि तावदस्तु ते परिचयवत्यवधीरणा प्रिये ।

चरणयतितयन चण्डि! तां विसृजसि मेखलयापि यायिता ॥ 20 ॥

इरावती—इअं पि हदासा तुमं एव्व अणुसरदि । (इयमपि हताशा स्वामेवानुसरति ।)

(इति रशनामादाय राजानं ताडयितुमिच्छति ।)

राजा—वयस्य! इयमिरावती-

बाब्बातारा हेमकाञ्चोगुणेन श्रोणीबिम्बादप्युपेक्षाच्युतेन ।

चण्डी चण्डं हन्तुमम्युद्यता यां विधद्मान्ना मेघराजीव विन्ध्यम् ॥ 21 ॥

इरावती—किं मं एव्व भूओ वि अवरद्धं करेसि । (किं मामेव भूयोऽप्यपराद्धां करोषि ।)

राजा—(सरशनं हस्तमवलम्बयति ।)

अपराधिनि मयि दण्डं संहरसि किमुद्यतं कुटिलकेशि ।

वर्धयसि विलसितं त्वं दासननायाद्य कुप्यसि च ॥ 22 ॥

नूनमिदमनुज्ञातम् । (इति पादयोः पतति ।)

इरावती—ण क्खु इमे मालविआचलणा जा दे हरिसदोहलं पूरयिस्सन्ति । (न खल्विमौ मालविकाचरणौ यो ते हर्षदोहदं पूरयिष्यतः ।)

(इति निष्क्रान्ता सह चेट्या ।)

विदूषकः—उट्ठेहि अकिदप्पसादोऽसि । (उत्तिष्ठ । अकृतप्रसादोऽसि)

राजा—तुमने शठ कह कर जो मेरा निरादर किया है, यह तो कोई नई बात नहीं है। पर चंडी! जब तुम्हारी तगड़ी भी तुम्हारे पैरों पड़कर क्षमा माँग ले रही है तब भी क्या तुम अपना क्रोध न छोड़ोगी ॥ 20 ॥

इरावती—लो, यह निगोड़ी भी तुम्हारे पीछे पीछे चली जा रही है।

(तगड़ी लेकर राजा को मारना चाहती है ।)

राजा—मित्र! आँखों में आँसू भरे, क्रोध से लाल और अपने नितम्बों पर से अनादर के कारण झूटी हुई करधनी की डोरी से मुझको पीटती हुई यह इरावती, इस समय ऐसी लग रही है मानो विन्ध्याचल पर बिजली गिराकर घनी बदली उसे फाड़ डालने पर उतारू हो चली हो ॥ 21 ॥

इरावती—अच्छा! तो तुम मुझी पर दोष लगाने चले हो?

राजा—(तगड़ी-सहित हाथ पकड़ लेता है ।) अरी घुँघराले बालों वाली! तुम मुझ अपराधी को दण्ड देते-देते रुक क्यों गई? इस समय मुझ दास पर जो तुम क्रोध कर रही हो इससे तुम्हारी शोभा और भी बढ़ गई है ॥ 22 ॥

तो आपने मेरी बात मान ली? (पैरों पर गिरता है ।)

इरावती—ये मालविका के पैर नहीं हैं जो तुम्हारे मन की साध पूरी कर देंगे । (दासी के साथ चली जाती है ।)

विदूषक—उठिए! आप तो ठन-ठन गोपाल ही रह गए ।

राजा—(उत्थायेरावतीमपश्यन्) तत्कथं गतैव प्रिया ।

विदूषकः—वअस्स ! दिट्ठिआ इमस्स अविणअस्स अप्पसण्णा गदा एसा । ता वअं सिग्घं अवक्कमाम जाव अंगारओ रासिं विअ अणुवक्कं परिगमणं ण करेदि । (वयस्य ! दिष्ट्यानेनाविनयेनाप्रसन्ना गतैषा । तद्वयं शीघ्रमपक्रमामः यावदङ्गारको राशिमिवानुवक्रं प्रतिगमनं न करोति ।)

राजा—अहो मदनस्य वैषम्यम् ।

मन्ये प्रियाहृतमनास्तस्याः प्रणिपातलङ्घनं सेवाम् ।

एवं हि प्रणयवती सा शक्यमुपेक्षितुं कुपिता ॥ 23 ॥

(इति निष्क्रान्तः सह वयस्येन)

॥ इति तृतीयोऽङ्कः ॥



राजा—(उठकर इरावती को न देखकर) तो क्या प्यारी चली ही गई?

विदूषक—मित्र ! यह अपना बड़ा भाग्य समझो कि वे आपकी ढिठाई पर केवल बिगड़-कर ही चल दीं । चलिए, हम लोग भी यहाँ से नौ-दो-ग्यारह हो जायँ कहीं वे मंगल ग्रह के समान उलटी चाल-चलकर फिर इसी राशि पर न लौट आवें ।

राजा—आह ! प्रेम भी कैसा कष्टकर होता है । ऐसे समय जबकि मालविका मेरा मन हर ले गई हो, उस समय मेरे हाथ-पैर जोड़ने पर भी उसका रूठकर चला जाना अच्छा ही हुआ क्योंकि अब तो यह मुझसे रूठ ही बैठी हैं इसलिये थोड़े दिनों तक तो इस प्रेमिका से अलग रहा ही जा सकता है ॥ 23 ॥

(अपने मित्र विदूषक के साथ चला जाता है ।)

॥ तीसरा अंक पूर्ण ॥



चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशति पर्युत्सुको राजा प्रतीहारी च ।)

राजा—(आत्मगतम्)

तामाश्रित्य श्रुतिपथगतामाशया बद्धमूलः

संप्राप्तायां नयनविषयं रूढरागप्रवालः ।

हस्तस्पर्शैर्मुकुलित इव व्यक्तरोमोद्गमत्वा-

त्कुर्यात्कान्तं मनसिजतरुर्मा रसज्ञ फलस्य ॥ १ ॥

(प्रकाशम्) सखे गौतम!

प्रतीहारी—जेदु जेदु भट्टा । असंणिहिदो गोदमो । (जयतु जयतु भर्ता । असंनिहितो गौतमः ।)

राजा—(आत्मगतम्) आः मालविकावृत्तान्तज्ञानाय मया प्रेषितः ।

विदूषकः—(प्रविश्य) बड़दु भवं । (वर्धतां भवान् ।)

राजा—जयसेने! जानीहि तावत्त्वव देवी धारिणी सरुजचरणत्वाद्विनोद्यत इति ।

प्रतीहारी—जं देव आणवेदि । (यदेव आज्ञापयति ।) (इति निष्कान्ता ।)

राजा—गौतम! को वृत्तान्तस्तत्रभवत्यास्ते सख्याः ।

विदूषकः—जो विडालगहीदाए परहुदिआए । (यो विडालगृहीतायाः परभृतिकायाः)

चौथा अङ्क

(अनमने—से होकर राजा आते हैं और साथ में प्रतीहारी आती है ।)

राजा—(मन ही मन) अपनी प्यारी के सम्बन्ध की बातों से बढ़ी हुई आशा ही जिसकी जड़ है, प्यारी को देखने से जगा हुआ प्रेम ही जिसके पत्ते हैं और प्यारी के हाथ के स्पर्श से शरीर में उठे हुए रोंगटे ही जिसके फूल हैं, वह प्रेमका वृक्ष ही मुझे उसका मीठा फल भी चखावे ॥ १ ॥

(प्रकट) मित्र गौतम!

प्रतीहारी—जय हो, महाराज की जय हो । गौतम जी यहाँ नहीं हैं ।

राजा—(मन ही मन) हाँ, ठीक है । मैंने ही तो उन्हें मालविका की टोह लेने के लिये भेज रक्खा है ।

विदूषक—(आकर) बधाई है आपको ।

राजा—जयसेना! जाओ, देखो तो देवी धारिणी अपना चोट लगा हुआ पैर लिए कहाँ जी बहला रही हैं ।

प्रतीहारी—जैसी देव की आज्ञा । (चली जाती है ।)

राजा—कहो गौतम! तुम्हारी सखी मालविका के क्या समाचार हैं?

विदूषक—वही जो बिल्ली के पंजे में पड़ी हुई कोयल के होते हैं ।

राजा—(सविषादम्) कथमिव ।

विदूषकः—सा क्व तु तवस्सिणी ता ए पिलगच्छीए सारभंडभूधरए गुहाए विअ णिक्खिता । (सा खलु तपस्विनी तया पिङ्गलाक्ष्या सारभाण्डभूगृहे गुहायामिव निक्षिप्ता ।)

राजा—ननु मत्संपर्कमुपलभ्य ।

विदूषकः—अह इं । (अथ किम् ।)

राजा—क एवं विमुखोऽस्माकं येन चण्डीकृता देवी ।

विदूषकः—सुणादु भवं परिव्याजिआए मे कहिदं । हिओ किल तत्तहोदी इरावती रुअक्कन्तचलणं देविं सुहपुच्छिआ आअदा । (श्रुणोतु भवान् परिव्राजिकया मे कथितम् । ह्यः किल तत्रभवतीरावती रुजाक्रान्तचरणां देवीं सुखपृच्छिकागता ।)

राजा—ततस्ततः ।

विदूषकः—तदो सा देवीए पुच्छिदा । किं णु ओलोइदो वल्लहजणो ति । ताए उत्तं । मन्दो वो उपआरो जं परिजणे संकतं वल्लहतणं ण जाणाअदि । (ततः सा देव्या पृष्टा । किञ्चवलोकितो वल्लभजन इति । तयोक्तम् । मन्दो व उपचारः यत्परिजने संक्रान्तं वल्लभत्वं न ज्ञायते ।)

राजा—अहो निर्भेदादृतेऽपि मालविकायामयमुपन्यासः शङ्कयति ।

विदूषकः—तदो ताए अणुबन्धिज्जमाणा सा भवदो अविणअं अंतरेण परिगदत्था किदा देवी । (ततस्तयानुबन्ध्यमाना सा भवतोऽधिनयमन्तरेण परिगतार्था कृता देवी ।)

राजा—अहो दीर्घरोषता तत्रभवत्याः! अतः परं कथय ।

राजा—(दुखी होकर) कैसे?

विदूषक—बेचारी तपस्विनी को उस पीली आँख वाली ने नीचे के भण्डार वाली कालकोठरी में ले जा मूँदा है ।

राजा—मेरे प्रेम की बात जानने के कारण ही उसे बन्द किया होगा ।

विदूषक—और क्या?

राजा—ऐसा कौन हमारा बैरी है जिसने देवी को इतना भड़का दिया है ।

विदूषक—सुनिए! मुझसे परिव्राजिकाजी कह रही थी कि कल पैर में चोट खाई हुई देवी धारिणी से कुशल-मंगल पूछने इरावती वहाँ पहुँची थी ।

राजा—तब तब?

विदूषक—तब उनसे महारानी ने पूछा-कहो, प्रियतम से इधर भेंट हुई थी? इस पर वे बोलीं-अब उन्हें प्रियतम न कहिए! क्या आप नहीं जानतीं कि वे अब दासियों से प्रेम करने लगे हैं?

राजा—यद्यपि बात खोलकर नहीं कही गई, फिर भी जान पड़ता है कि उन्होंने मालविका को लक्ष्य करके ही यह बात कही होगी ।

विदूषक—इस पर जब उन्होंने बहुत हठ किया तब इरावती ने महारानी के आगे आपका सारा कच्चा चिट्ठा खोलकर रख दिया ।

राजा—जान पड़ता है इरावती बहुत कुपित हो गई हैं । अच्छा फिर क्या हुआ?

विदूषकः—किं अवरं। मालविआ बउलावलिआ अ पातालवासं णिगलपदीओ अदिइसुज्जपादं णागकण्णआओ विअ अण्होन्ति। (किमपरम्। मालविका बकुलावलिका च पातालवासं निगडपद्यावदृष्टसूर्यपादं नागकन्यके इवानुभवतः।)

राजा—कष्टं कष्टम्।

मधुरस्वरा परभृता भ्रमरी च विबुद्धचूतसङ्गिन्यौ।

कोटरमकालवृष्ट्या प्रबलपुरोवातया गमिते॥ 2॥

अप्यत्र कस्यचिदुपक्रमस्थ गतिः स्यात्।

विदूषकः—कहं भविस्सदि। जं सारभाण्डघरव्वावारिदा मालविआ देवीए सदिट्ठो मह अंगुली अअमुहिअं अदेक्खि अ ण मोतव्वा तुए हदासा मालविआ बउलावलिआ अ ति। (कथं भविष्यति। यत्सारभाण्डगृहव्यापारिता मालविका देव्या सदृष्टा मामांगुलीयक मुद्रिकामदृष्टा न मोक्तव्या त्वया हताशा मालविका बकुलावलिका चेति।)

राजा—(निःश्वस्यः सपरामर्शम्।) सखे! किमत्र कर्तव्यम्।

विदूषकः—(विचिन्त्य) अत्थि एत्थ उवाओ। (अस्त्यत्रोपायः।)

राजा—क इव।

विदूषकः—(सदृष्टिक्षेपम्) को वि अदिट्ठो सुणिस्सदि। कण्णे दे कहेमि। (इत्युपश्लिष्य कर्णे) एव्वं विअ। (कोप्यदृष्टः श्रोष्यति। कर्णे ते कथायामि। एवमिव।) (इत्यावेदयति।)

राजा—(सहर्षम्) सुण्ठु। प्रयुज्यतां सिद्धये।

(प्रविश्य)

प्रतीहारी—देव! पवाद सअणे देवी णिसण्णा रत्तचन्दणधारिणा परिअणहत्थागदेण चलणेण भअवदीए

विदूषक—और क्या होना था? मालविका और बकुलावलिका के पैरों में बेड़ी डालकर नागकन्याओं के समान उन्हें ऐसे पाताल में ले जा डाला है जहाँ सूर्य की किरणें भी नहीं पहुँच पा सकतीं।

राजा—यह तो बड़ा बुरा हुआ कि बौरे हुए आम के साथ रहने वाली मिठबोली कोयल और भौरी दोनों को, प्रचण्ड पुरवाई और असमय की वर्षा ने पेड़ के खोखले में ले जा बन्द कर दिया॥ 2॥

कहो, अब उन्हें छुड़ाने का कोई उपाय हो सकता है या नहीं?

विदूषक—उपाय क्या होगा? उस निचले भँडार की रखवाली माधविका को देवी ने कह दिया है कि इन अभागिनी मालविका और बकुलावलिका को मेरी अँगूठी देखे बिना कभी न छोड़ना।

राजा—(लम्बी साँस लेते हुए कुछ सोचकर) क्यों मित्र! अब क्या किया जाय?

विदूषक—(सोचकर) एक उपाय है।

राजा—क्या?

विदूषक—(इधर-उधर देखकर) कोई छिपकर सुन न रहा हो? आइए कान में बताता हूँ। (पास सटकर कान में) यह हो सकता है। (कान में कह देता है।)

राजा—(प्रसन्न होकर) बहुत बढ़िया। बस कर ही डालो।

प्रतीहारी—(आकर) देव! इस समय महारानी बयार वाले भवन में पलँग पर बैठी हुई हैं,

कहाहिं विणोदिज्जमाणा चिट्ठदि। (देव! प्रवातशयने देवी निषण्णा रक्तचन्दनधारिणा परिजनहस्तगतेन चरणेन भगवत्या कथाभिर्विनोद्यमाना तिष्ठति।)

राजा—तस्मादस्मत्प्रवेशयोग्योऽयमवसरः।

विदूषकः—भो! गच्छतु भवं। अहं वि देविं पेक्खिदुं अरित्तपाणी भविस्सं। (भो! गच्छतु भवान्! अहमपि देवीं द्रष्टुमरित्तपाणिभविष्यामि।)

राजा—जयसेनायास्तावदस्मद्रहस्यं विदितं कुरु।

विदूषकः—तह। (इति कर्णे) एव्वं विअ होदि। (तथा। एवमिव भवति।) (इत्यावेद्य निष्क्रान्तः।)

राजा—जयसेने! प्रवातशयनमार्गमादेशय।

प्रतीहारी—इदो इदो देवो। (इत इतो देवः।)

(ततः प्रविशति शयनस्था देवी परिव्राजिका विभवतश्च परिवारः।)

धारिणी—भअवदि! रमणिज्जं कहावत्थु। तदो। (भगवति। रमणीयं कथावस्तु। ततस्ततः।)

परिव्राजिका—सट्ठिक्खेमम्) देवी! अतः परं पुनः कथयिष्यामि। अत्र भगवान्वि-दिशेश्वरः संप्राप्तः।

धारिणी—अम्हो भट्ठा (अहो भर्ता।) (इत्युत्थातुमिच्छति।)

राजा—अलमलमुपचारयन्त्रणया।

अनुचितनूपुरविरहं नार्हसि तपनीयपीठिकालम्बि।

चरणं रुजापरीतं कलभाषिणि! मां व पीडयितुम्॥ ३॥

उनके पैर में लाल चन्दन लगा हुआ है, दासियाँ पैर सँभाले हुए हैं और परिव्राजिकाजी कथा सुनाकर उनका जी बहला रही हैं।

राजा—तो हमारे लिये भी वहाँ जाने का यह अच्छा अवसर है।

विदूषक—अच्छा, आप चलिए। मैं भी हाथ में कुछ भेंट लेकर महारानी को देखने चला आ रहा हूँ।

राजा—जयसेना को भी अपनी सब बातें समझा देना।

विदूषक—अच्छा। (जयसेना के कान में) देखो! ऐसे करना होगा।

(सब बताकर चला जाता है।)

राजा—जयसेना! बयारवाले भवन तक ले तो चलो।

प्रतीहारी—इधर से आइए देव! इधर से।

(पलँग पर बैठी हुई देवी दिखाई देती हैं। पास में परिव्राजिका और बहुत सी दासियाँ बैठी हैं।)

धारिणी—यह तो बड़ी सुन्दर कथा कही आपने। हाँ भगवती, तो आगे क्या हुआ?

परिव्राजिका—(आँख घुमाकर) देवी! अब इससे आगे फिर कभी कहूँगी। लीजिए, विदिशा के महाराज आ पधारे हैं।

धारिणी—अरे! स्वामी! (उठना चाहती हैं।)

राजा—वस, वस शिष्टाचार दिखाने का कष्ट न करो। सोने की चौकी पर रखे हुए अपने उस चोट वाले पैर को कष्ट देकर मुझे कष्ट न पहुँचाओ जिसे बिना कारण ही बिछुओं का बिछोह सहना पड़ रहा है॥ ३॥

धारिणी—जेदु जेदु अज्जरत्तो । (जयतु जयत्यार्यपुत्रः ।)

परिव्राजिका—विजयतां देवः ।

राजा—(परिव्राजिकां प्रणम्योपविश्य ।) देवि! अपि सद्मा वेदना ।

धारिणी—अज्ज अत्थि मे विसेसो । (अद्यास्ति मे विशेषः ।)

(ततः प्रविशति यज्ञोपवीतबद्धांगुष्ठः संभ्रान्तो विदूषकः ।)

विदूषकः—परित्ताअदु परित्ताअदु भवं । सप्पेणम्मिह दट्ठो । (परित्रायता परित्रायतां भवान् । सवेणास्मि दष्टः ।) (सर्वे विषण्णः ।)

राजा—कष्टं कष्टम् । क्व भवान्परिभ्रान्तः ।

विदूषकः—देवि देक्खिखस्सं त्ति आआरपुप्फग्गहणकारणादो पमदवणं गदोम्मिह । (देवी द्रक्ष्यामीत्याचारपुष्पग्रहणकारणात्प्रमदवनं गतोऽस्मि ।)

धारिणी—हद्धी हद्धी । अहं एव्व वम्हणस्स जीविदसंसअणिमित्तं जादम्मिह । (हा धिक् हा धिक् । अहमेव ब्राह्मणस्य जीवितसंशयनिमित्तं जातास्मि ।)

विदूषकः—तहिं असोअत्थवअकालणादो पसारिदो दक्खिणहत्थो । तदो कोडरणि ग्गदेव सप्परूवेण कालेणा दट्ठोम्मिह । णं एदाणि दुवे दंसणपदाणि । (तस्मिन्शोकस्तवक कारणात्प्रसारितो दक्षिणहस्तः । ततः कोटरनिर्गतेन सर्परूपेण कालेन दष्टोऽस्मि । नन्वेते द्वे दंशनपदे ।) (इति दंशे दर्शयति ।)

परिव्राजिका—तेन हि दंशच्छेदः पूर्वकर्मेति श्रूयते । स तावदस्य क्रियताम् ।

छेदो दंशस्य दाहो वा क्षतेर्वा रक्तमोक्षणम् ।

एतानि दष्टमात्राणामायुष्याः प्रतिपत्तयः ॥ ४ ॥

धारिणी—जय हो, आर्यपुत्र की जय हो ।

परिव्राजिका—आपकी विजय हो देव !

राजा—(परिव्राजिका को प्रणाम करके बैठते हुए ।) कहो देवी ! कुछ पीड़ा कम हुई ।

धारिणी—हाँ, आज तो बहुत कम है ।

(अपने हाथ के अँगूठे को जनऊ से बाँधे हुए घबराया हुआ विदूषक आता है ।)

विदूषक—अरे बचाइए महाराज ! बचाइए ! मुझे साँप ने डस लिया है ।

(सभी दुःखित हो जाते हैं ।)

राजा—यह तो बड़ा बुरा हुआ । कहाँ घूम रहे थे ?

विदूषक—मैं देवी को देखने आने लगा तो सोचा कि भेंट के लिये दो-चार फूल ही लेता चलूँ । उसी के लिये मैं प्रमदवन चला गया था ।

धारिणी—हाय ! हाय !! मेरे ही कारण बेचारे ब्राह्मण के प्राण संकट में जा पड़े हैं ।

विदूषक—वहाँ ज्यों ही मैंने अशोक के फूलों का गुच्छा तोड़ने के लिये दाहिना हाथ फैलाया त्यों ही उसके खोखले में से निकलकर साँप बने हुए काल ने मुझे आ डसा । यह देखिए उसके दाँतों के चिन्ह । (चिन्ह दिखाता है ।)

परिव्राजिका—साँप के डसने पर जो पहला काम किया जाता है वह कर डालो । जहाँ साँपने डसा हो, वह अंग ही यदि काट दिया जाय या जला दिया जाय या घाव में से लहू निकाल दिया जाय तो साँप से डसे हुए मनुष्य के प्राण बच सकते हैं ॥ ४ ॥

राजा—संप्रति विषवैद्यानां कर्म । जयसेने! ध्रुवसिद्धिः क्षिप्रमानीयताम् ।

प्रतीहारी—जं देवो आणवेदि । (यद्देव आज्ञापयति ।) (इति निष्क्रान्ता ।)

विदूषकः—अहो पावेण मिच्चुणा गहीदोम्हि । (अहो पापेन मृत्युना गृहीतोऽस्मि ।)

राजा—मा कातरो भूः । अविषोऽपि कदाचिदंशो भवेत् ।

विदूषकः—कहं ण भाइस्सं । सिमसिमाअन्ति मे अङ्गाइँ । (कथं न भेष्यामि । सिमसिमायन्ति मेऽङ्गानि ।) (इति विषवेगं रूपयति ।)

धारिणी—हा दंसिदं असुहं विआरेण, अवलम्बथ वम्हण । (हा दर्शितमशुभं विकारेण, अवलम्बध्वं ब्राह्मणम् ।)

(परिव्राजिका ससंभ्रममवलम्बते ।)

विदूषकः—(राजानं विलोक्य) भो! भवदो बाल्लादो वि पिअवअस्सोम्हि । तं विआरिअ अपुत्ताए मे जणणीए जोगक्खमं वहेहि । (भोः! भवतो बाल्यादपि प्रियवयस्योऽस्मि । तं विचार्यापुत्रया मे जनन्या योगक्षेमं वह ।)

राजा—मा भैषीगौतम । स्थिरो भव । अचिरात्त्वां वैद्यश्चिकित्सिष्यति ।

(प्रविश्य)

जयसेना—देव! आणाविदो ध्रुवसिद्धी विष्णावेदि इह एव्व आणीअदु सो गोदमो त्ति । (देव! आज्ञापितो ध्रुवसिद्धिविज्ञापयति—इहैवानीयतां स गौतम इति ।)

राजा—तेन हि प्रतिगृहीतमेनं तत्रभवतः सकाशं प्रापय ।

जयसेना—तहा । (तथा ।)

राजा—अब तो विष उतारने वाले वैद्य आयें तभी काम चल सकता है । जयसेना! जाओ झटपट ध्रुवसिद्धि को तो बुला आओ ।

प्रतीहारी—जी देवकी आज्ञा! (चली जाती है ।)

विदूषक—हाय रे! यह पापी मौत मुझे जकड़कर पकड़े बैठी है ।

राजा—घबराओ मत । कौन जाने साँप विषैला न भी हो ।

विदूषक—क्यों न घबराऊँ, मेरे अंग-अंग पथराए जा रहे हैं ।

(विष चढ़ने का नाट्य करता ह ।)

धारिणी—हाय! हाय!! इसकी दशा तो बिगड़ती जा रही है! कोई संभालो इस ब्राह्मण को ।

(परिव्राजिका घबराकर संभालती हैं ।)

विदूषक—(राज की ओर देखकर) देखिए/ मैं बचपन से आपका प्रिय मित्र रहा हूँ, इस नाते मेरी निपूती माँ की देखभाल करते रहिएगा ।

राजा—डरो मत गौतम! धीरज धरो । वैद्य अभी तुम्हें अच्छा कर देंगे ।

जयसेना—(आकर) देव! मैंने ध्रुवसिद्धि को आपकी आज्ञा सुना दी । उन्होंने कहा है कि गौतम को यहीं ले आया जाय ।

राजा—तो इन्हें संभालकर उनके पास लेते जाओ ।

जयसेना—अच्छा ।

विदूषकः—(देवीं विलोक्य) भोदि! जीवेअं वा ण वा। जं मए अत्तभवन्तं सेवमाणेण ते अवरद्धं तं मरिसेहि। (भवति! जीवेयं वा न वा। यन्मयात्रभवन्तं सेवमानेन तेऽपराद्धं तन्मृष्यस्व।)

धारिणी—दीहाऊ होहि। (दीर्घायुर्भव।)

(निष्क्रान्तो विदूषकः प्रतीहारी च।)

राजा—प्रकृतिभीरुस्तपस्वी ध्रुवसिद्धिमपि यथार्थनामानं सिद्धिमन्तं न मन्यते।

(प्रविश्य)

जयसेना—जेदु जेदु भट्टा। ध्रुवसिद्धी विण्णावेदि—उदकुम्भविहाणेण सप्पमुद्दिअं किंपि कप्पिदव्वं। तं अण्णेसीअदुत्ति। (जयतु जयतु भर्ता। ध्रुवसिद्धिर्विज्ञापयति—उदकुम्भ विधानेन सर्पमुद्रितं किमपि कल्पयितव्यम्। तदन्विष्यतामिति।)

धारिणी—इदं सप्पमुद्दिअं अंगुलीअं। पच्छा मम हत्थे देहि णं। (इदं सर्पमुद्रित मङ्गुलीयकम्। पश्चान्मम हस्ते देहेतत्।) (इत्यंगुलीयकं ददाति।)

(प्रतीहारी गृहीत्वा प्रस्थिता।)

राजा—जयसेने! कमसिद्धावासु प्रतिपत्तिमानय।

प्रतीहारी—जं देवो आणवेदि। (यदेव आज्ञापयति।) (इति निष्क्रान्ता)

परिव्राजिका—यथा मे हृदयमाचष्टे तथा निर्विषो गौतमः।

राजा—भूयादेवम्।

जयसेना—जेदु देवो भट्टा। णिवृत्तविसवेगो गोदमो मुहुत्तेण पकिदित्थो संवुत्तो। (जयतु देवो भर्ता। निवृत्तविषवेगो गौतमौ मुहूर्तेन प्रकृतिस्थः संवृत्तः।)

विदूषक—(महारानी को देखकर) देवी! कौन जाने मैं जीऊँ या न जीऊँ। सेवा करते हुए मुझसे जो कुछ भूल-चूक हुई हो वह क्षमा कीजिएगा।

धारिणी—भगवान् करे तुम बहुत दिन जीओ।

(विदूषक और प्रतीहारी चले जाते हैं।)

राजा—यह बेचारा स्वभाव से ही इतना डरपोक है कि जैसा नाम वैसे गुण वाले ध्रुवसिद्धि पर भी इसे भरोसा नहीं हो रहा है।

जयसेना—(आकर) जय हो, स्वामी की जय हो। ध्रुवसिद्धि ने कहा है कि पानी के घड़े के सहारे किसी ऐसी वस्तु से विष उतारा जायगा जिसमें नागमुद्रा जड़ी हुई हो इसलिये कोई ऐसी वस्तु ढूँढ़कर लाओ।

धारिणी—लो लो। मेरी इस अँगूठी में नागमुद्रा जड़ी हुई है। काम हो जाने पर मुझे ही लौटा जाना। (अँगूठी निकालकर देती है।)

(प्रतीहारी लेकर चलती है।)

राजा—जयसेना! काम हो जाने पर शीघ्र ही समाचार देना।

प्रतीहारी—जैसी देव की आज्ञा। (चली जाती है।)

परिव्राजिका—मेरा मन तो कह रहा है कि गौतम का विष उतर गया होगा।

राजा—आपकी ही बात सच्ची हो।

जयसेना—(आकर) देव की जय हो। गौतम का विष थोड़ी ही देर में उतर गया और अब वे भले-चंगे हो गए हैं।

(प्रविश्य)

धारिणी—दिडिआ वअणीआदो मुत्तम्हि । (दिष्ट्य वचनीयान्मुक्तास्मि ।)

प्रतीहारी—एसो उण वाहतओ अमच्चो विण्णवेदि—राअकज्जं बहु मंतिदव्वं दंसणेण अणुग्गहं इच्छामि त्ति । (एष पुनर्वाहतकोऽमात्यो विज्ञापयति—राजाकार्यं बहु मन्त्रयितव्यं दर्शनानुग्रहमिच्छामीति ।)

धारिणी—गच्छदु अज्जउत्तो कज्जसिद्धीए! (गच्छत्वार्यपुत्रः कार्यसिद्धये ।)

राजा—देवि! आतपाक्रन्तोऽयमुद्देशः शीतक्रिया चास्या रुजः प्रशस्ता । तदन्यत्र नीयतां शयनम् ।

धारिणी—बालिगाओ! अज्जउत्तवअणं अणुचिड्डह । (बालिकाः आर्यपुत्रवचनमनुतिष्ठत ।)

परिजनः—तह । (तथा ।)

(निष्क्रान्ता देवी परिव्राजिका परिजनश्च ।)

राजा—जयसेने! मां गृहेन पथा प्रमदवनं प्रापय ।

जयसेना—इदो इदो देवो । (इत इतो देवः ।)

राजा—जयसेने! ननु समाप्तकाम्यो गौतमः ।

जयसेना—अह इं । (अथ किम् ।)

राजा—

इष्टाधिगमनिमित्तं प्रयोगमेकान्तसाध्यमपि मत्वा ।

संदिग्धमेव सिद्धौ कातरमाशङ्कते हृदयम् ॥ 5 ॥

धारिणी—बड़ी बात हुई कि मैं कलंक से वच गई ।

प्रतीहारी—मंत्री वाहतक ने कहलाया है कि राज-काज की बहुत-सी बातों पर विचार करना है, इसलिये दर्शन की कृपा चाहता हूँ ।

धारिणी—जाइए आर्यपुत्र! राज-काज देखिए ।

राजा—देवी! यहाँ तो धूप आ गई है । ऐसे रोग में ठंड ही अच्छी होती है । इसलिये अपना पलंग दूसरी ओर उठवा लगवाइए ।

धारिणी—लड़कियों! आर्यपुत्र जैसा कह रहे हैं वैसा ही कर डालो ।

दासियाँ—अच्छा ।

(महारानी, परिव्राजिका और दासियाँ सब चली जाती हैं ।)

राजा—जयसेना! मुझे चोर-मार्ग से प्रमदवन तो ले चलो ।

जयसेना—इधर से आइए देव, इधर से ।

राजा—जयसेना! गौतम ने अपना काम पूरा कर लिया होगा न?

जयसेना—जी हाँ ।

राजा—अपनी प्यारी को पाने के लिये हमने जो उपाय रचा है उसे पक्का समझते हुए भी मेरा हृदय ऐसा सन्देही और अधीर है कि उसे अभी तक काम पूरे होने में खटका ही बना हुआ है ॥ 5 ॥

(प्रविश्य)

विदूषकः—वड्ढदु भवं। सिद्धाणि दे मङ्गलकम्माणि। (वर्धतां भवान्। सिद्धानि ते मङ्गलकर्माणि।)
राजा—जयसेने! त्वमपि स्वं नियोगमशून्यं कुरु।

जयसेना—जं देवो आणवेदि। (यद्देव आयापयति।) (इति निष्क्रान्ता)

राजा—गौतम! धुद्रा माधविका। न खलु किञ्चिद्विचारितमनया।

विदूषकः—देवीए अंगुलीअमुदिदअं देखिअ कहं विआरेदि। (देव्या अङ्गुलीयक मुद्रां दृष्ट्वा कथं विचारयति।)

राजा—न खलु मुद्रामधिकृत्य ब्रवीमि। एतयोर्द्वयोः किंनिमित्तो मोक्षः। किं वा देव्याः परिजनमतिक्रम्य भवान्संदिष्ट इत्येवमनया प्रष्टव्यम्।

विदूषकः—णं पुच्छिदोम्हि! पुणो मन्दस्य मे तस्सिं पच्चुप्पण्णा मदी। (ननु पृष्टोऽस्मि। पुनर्मन्दस्य मे तस्मिन्प्रत्युत्पन्ना मतिः।)

राजा—कथ्यताम्।

विदूषकः—भणिदं मए। देव्यचिन्तएहिं विण्णाविदो राआ—सोवसग्गं वो णक्खत्तं। ता अवस्सं सव्वबन्धमोक्खो करीअदु ति। (भणितं मया। दैवचिन्तकैर्विज्ञापितो राजा—सोपसगँ वो नक्षत्रम्। तदवश्यं सर्वबन्धमोक्षः क्रियतामिति।)

राजा—(सहर्षम्) ततस्ततः।

विदूषकः—तं सुणिअ देवीए इरावदीए चित्तं रक्खन्तीए राआ किल मोएदि ति अहं संदिट्ठो ति। तदो जुज्जदि ति ताए एव्वं संपादिदो अत्थो। (तच्छ्रुत्वा देव्या इरावत्याश्चित्तं रक्षन्त्या राजा किल मोचयतीत्यहं संदिष्ट इति। ततो युज्यत इति तथैवं सम्पादितोऽर्थः।)

विदूषक—(आकर) बधाई है आपको। आपके सब काम सध गए।

राजा—जयसेना! आओ तुम भी अपना काम देखो।

जयसेना—जेसी देव की आज्ञा। (चली जाती है।)

राजा—कहो गौतम! माधविका तो बड़ी ही चंट हैं उसने कुछ आनाकानी तो नहीं की?

विदूषक—देवी की अँगूठी देख लेने पर वह क्या आनाकानी करती?

राजा—मैं अँगूठी की बात नहीं पूछ रहा हूँ। उन दोनों को तुमने छुड़ाया क्या कहकर! उसने यह तो पूछा ही होगा कि इतने सेवकों के रहते हुए भी देवी ने आपको ही क्यों भेजा?

विदूषक—हाँ, यह तो पूछा था। पर उसी समय मुझ मूर्ख की बुद्धि चेत गई और मेरे मुँह से अचानक एक अच्छी बात निकल पड़ी।

राजा—क्या?

विदूषक—मैंने कहा कि ज्योतिषियों ने महाराज से कहा है कि आपके ग्रह बिगड़े हुए हैं इसलिये इस समय सब बन्धियों को छुड़ा दीजिए।

राजा—(प्रसन्न होकर) तब तब?

विदूषक—जब देवी ने ज्योतिषियों की यह बात सुनी, तब उन्होंने सोचा कि यदि हम अपने सेवकों को छुड़ाने के लिये किसी और को भेजेंगे तो इरावती जी बुरा मान जायेंगी। इसीलिये उनका मन रखने के लिये उन्होंने मुझे ही बुलाकर यह काम सौंप दिया, जिससे इरावती यह समझें कि राजा ही बन्धियों को छुड़ा रहे हैं, मैं नहीं छुड़ा रही हूँ। माधविका इसे सच मान बैठी और उसने उन्हें छोड़ दिया।

राजा—(विदूषकं परिष्वज्य) सखे! प्रियोऽहं खलु तव।

नहि बुद्धिगुणेनैव सुहृदामर्थदर्शनम्।

कार्यसिद्धिपथः सूक्ष्मः स्नेहेनाप्युपलभ्यते ॥ 6 ॥

विदूषकः—तुवरदु भवं समुद्रघरए सहीसहिदं मालविअं ठाविअ भवन्तं पच्चुग्गदोम्हि। (त्वरतां भवान्। समुद्रगृहे सखीसहितां मालविकां स्थापयित्वा भवन्तं प्रत्युद्गतोऽस्मि।)

राजा—अहमेनां संभावयामि। गच्छाग्रतः।

विदूषकः—एदु भवं। (परिक्रम्य) एदं समुद्रघरं। (एतु भवान्। इदं समुद्रगृहम्।)

राजा—(साशङ्कम्) वयस्य! कुसुमावचयव्यग्रहस्ता सख्यास्ते परिचारिका चन्द्रिका संनिक्वृष्टमागच्छति। इतस्तावदावां भित्तिगूढौ भवावः।

विदूषकः—अहो। कुम्भीलएहिं कामुएहिं च परिहरणीआ क्खु चन्दिआ। (अहो कुम्भीरकैः कामुकैश्च परिहरणीया खलु चन्द्रिका)

(उभौ यथोक्तं कुरुतः।)

राजा—गौतम! कथं नु ते सखी मां प्रतिपालयति। एहि। एनां गवाक्षमाश्रित्य विलोकयावः।

विदूषकः—तह। (तथा।)

(उभौ विलोकयन्तौ तिष्ठतः)

(ततः प्रविशति मालविका बकुलावलिका चं।)

राजा—(विदूषक को गले लगाकर) मित्र! सचमुच तुम मेरे बड़े प्यारे हो। क्योंकि केवल बुद्धि के बल से ही कोई अपने मित्र का काम नहीं कर देता। अपने सिर कोई काम लेकर उसे अन्त तक निभा देना ही सचमुच ऐसा टेढ़ा होता है कि वह तभी पूरा हो पाता है जब काम करने वाला अपने मित्र से पक्का स्नेह भी करता हो ॥ 6 ॥

विदूषक—अच्छा, अब आप झटपट चले चलिए क्योंकि मैं बकुलावलिका और मालविका को समुद्र घर में बैठाकर तब आपके पास आया था।

राजा—चलो, मैं अभी उसे चलकर मनाए लेता हूँ। चलो आगे-आगे।

विदूषक—आइए आप। (घूमकर) यह रहा समुद्रघर।

राजा—(डरते हुए) देखो मित्र! तुम्हारी सखी इरावती की दासी चन्द्रिका फूल चुनती हुई इधर ही बढ़ी चली आ रही है। चलो, इस भीत के पीछे छिप रहा जाय।

विदूषक—हाँ, चोरों और जारों को चन्द्रिका से बचते ही रहना चाहिए।

(दोनों भीत के पीछे छिप जाते हैं।)

राजा—आओ गौतम! इस खिड़की में से झाँक देखा जाय कि तुम्हारी सखी मालविका मेरे लिये कैसे वाट जोह रही है।

विदूषक—अच्छा

(दोनों खिड़की में से झाँकते हैं।)

(मालविका और बकुलावलिका दिखाई पड़ती हैं।)

बकुलावलिका—सहि! पणम भट्टारं। (सखि। प्रणम भर्तारम्।)

मालविका—णमो दे। (नमस्ते।)

राजा—शङ्के मे प्रतिकृतिं निदिशति।

मालविका—(सहर्षं द्वारमवलोक्य सविषादम्) हला! मं विष्पलम्भेसि। (सखि मां विप्रलम्भयसि।)

राजा—हर्षविषादाभ्यामत्रभवत्याः प्रीतोऽस्मि।

सूर्योदये भवति या सूर्यास्तमये च पुण्डरीकस्य।

वदनेन सुवदनायास्ते समवस्थे क्षणादूढे।। 7।।

बकुलावलिका—णं एसो चित्तगदो भट्टा। (नन्वेप चित्रगतो भर्ता।)

उभे—(प्रणिपत्य) जेदु भट्टा। (जयतु भर्ता।)

मालविका—हला! तदा संभमदिद्वे भट्टिणो रूवे जहा ण वितिण्हम्हि तहा अज्जवि मए भाविदो अवि-
तिण्हदंसणो भट्टा। (सखि! तदा संभ्रमदृष्टे रूपे यथा न वितृष्णास्मि तथाद्यापि मया भावितोऽवितृष्णदर्शनो भर्ता।)

विदूषकः—सुदं भवदा। तत्तहोदि—चित्ते जहा दिट्ठो ण तहा दिट्ठो भवत्ति मन्तेदि। मुहा दाणिं मंजूसा
विअ रअणभंडअ जोव्वणगव्वं वहसि। (श्रुतं भवता। तत्र भवती—चित्रे यथा दृष्टो न तथा दृष्टो भवानिति
मन्त्रयति। मुधेदानीं मञ्जूषेव रत्नभाण्डं यौवनगर्वं वहसि।)

राजा—सखे। कुतूहलवानपि निसर्गशालीनः स्त्रीजनः। पश्य-

कात्स्न्येन निर्वर्णयितुं च रूपमिच्छन्ति तत्पूर्वसमागमानाम्।

न च प्रियेष्वायतलोचनानां समग्रवृत्तीनि विलोचनानि।। 8।।

बकुलावलिका—सखी! स्वामी को प्रणाम करो।

मालविका—आपको प्रणाम है।

राजा—जान पड़ता है यह मेरा चित्र दिखा रही है।

मालविका—(प्रसन्नता के साथ द्वार खोलती है, फिर दुखी होकर) अच्छा सखी! तुम भी मुझे बना
रही हो?

राजा—इस समय इनका प्रसन्न होना और दुखी होना दोनों मुझे बड़े प्यारे लगते हैं। सूर्य के निकलते
और छिपते समय कमल जैसे-जैसे खिलता और मुरझाता है, ठीक वैसी ही झलक क्षण भर में इस सुन्दरी
के मुँह पर दिखाई दे गई है।। 7।।

बकुलावलिका—पर चित्र में भी तो स्वामी ही हैं।

दोनों—(प्रणाम करती हुई) स्वामी की जय हो!

मालविका—सखी! उस दिन हड़बड़ी में महाराज को मैं जितना नहीं देख पाई उतना आज इस चित्र
में जी भरकर महाराज का रूप देखकर भी मैं अघा नहीं रही हूँ।

विदूषक—आप कुछ समझे? उनके कहने का अर्थ यह है कि जैसे सुन्दर आप चित्र में दिखाई दे
रहे हैं वैसे आप सचमुच नहीं दिखाई दिए थे। इसलिये जैसे रत्न की छूँछी पिटारी भी अपने को रत्नों
की कहकर झूठे ही ऐंठती है वैसे ही आपमें भी कुछ है—मैं नहीं, आप झूठे ही अपने यौवन की डींग
हाँकते रहे हैं।

राजा—मित्र! अपने प्यारों से मिलने के लिये उतावली होती हुई स्त्रियाँ स्वभाव से ही बड़ी लजीली
होती हैं। देखो—स्त्रियाँ जिस पुरुष से पहले पहल मिलती हैं उसे वे जी भरकर देख तो लेना चाहती हैं पर उन
बड़ी-बड़ी आँखों वाली सुन्दरियों की आँखें अपने प्यारे की ओर ठीक से उठ ही नहीं पातीं।। 8।।

मालविका—हला! का ऐसा पासपरिउत्तमुहेण भट्टिणा सिणिद्धाए दिट्ठीए णिज्झाईअदि। (सखि! कैषा मार्श्वपरिवृत्तमुखेन भर्त्रा मे स्निग्धया दृष्ट्या निध्यायते।)

बकुलावलिका—णं इअं पासगदा इरावदी। (नन्वियं पार्श्वगतेरावती।)

मालविका—सहि! अदक्खिणो विअ भट्टा मे पडिमादि जो सव्वं देवीजणं उज्झिअ एक्काए मुहे वद्धलक्खो। (सखि अदक्षिण इव भर्ता मे प्रतिभाति यः सर्वं देवीजनमुज्झित्वैकस्या मुखे वद्धलक्ष्यः।)

बकुलावलिका—(आत्मगतम्) चित्तगदं भट्टारअं परमत्थदो संकप्पिअ असूअदि। होदु। कीडिस्सं दाव एदाए। (प्रकाशम्) हला! भट्टिणो वल्लहा एसा। (चित्रगतं भर्तारं परमार्थतः संकल्प्यासूयति। भवतु। क्रीडिष्यामि तावदेतया। सखि! भर्तुर्वल्लभैषा।)

मालविका—तदो कि दाणि अत्ताणं आआसइस्सं। (ततः किमिदानीमात्मानमायासयिष्यामि।) (इति सासूयं परावर्तते।)

राजा—सखे! पश्य।

भूमङ्गभिन्नतिलकं स्फुरिताधरोष्ठं सासूयमाननमितः परिवर्तयन्त्या।

कान्तापराधकुपितेष्वनया विनेतुः संदर्शितेव ललिताभिनयस्य शिक्षा।। 9।।

विदूषकः—अणुणअसज्जो दाणिं होहि। (अनुनयसज्ज इदानी भव।)

मालविका—अज्जगोदमो एत्थ एव संसेवदि णं। (आर्यगौतमोऽत्रैव संसेवत एनाम्।)

(पुनः स्थानान्तराभिमुखी भवितुमिच्छति।)

मालविका—क्यों सखी! ये कौन देवी हैं जिनकी ओर महाराज मुँह घुमाकर बड़ी प्रेम-भरी चितवन से देख रहे हैं।

बकुलावलिका—महाराज के पास ये इरावती जी बैठी हुई हैं।

मालविका—क्यों सखी! महाराज का प्रेम सब पर एक-सा नहीं दिखाई पड़ता, क्योंकि वे सब रानियों को छोड़कर बस एक का ही मुँह देखे जा रहे हैं।

बकुलावलिका—(मन ही मन) चित्र में बने हुए महाराज को सचमुच महाराज समझकर यह भोली, व्यर्थ उन पर रूठी पड़ रही है। अच्छी बात है। मैं भी इसे बनाती हूँ। (प्रकट) सखी! ये ही तो महाराज की प्यारी है।

मालविका—तब मैं अपनी देह तिल-तिल क्यों जलाऊँ। (डाह से मुँह फेर लेती है।)

राजा—देखो मित्र! इसने डाह से अपना मुख घुमा लिया है। भौंहों के चढ़ाने से हटी हुई इसके माथे की बिन्दी और इसके फड़कते हुए निचले ओठ को देखने से ऐसा जान पड़ता है मानो स्वामी के अपराध पर रूठने की जो शिक्षा इसने अपने गुरु से सीखी है वही अभिनय करके दिखला रही हो।। 9।।

विदूषक—तो चलिए। अब मनाने के लिये तैयार हो जाइए।

मालविका—आर्य गौतम भी तो यहाँ बैठे इनकी सेवा कर रहे हैं।

(वहाँ से फिर कहीं और हट जाना चाहती है।)

बकुलावलिका—(मालविकां रुद्ध्वा ।) न क्व कुविदा दाणि तुमं । (न खलु कुपितेदानीं त्वम् ।)

मालविका—जइ चिरं कुविदं एव्यं मं मण्णेसि एसो पच्चाणीअदि कोवो । (यदि चिरं कुपितामेव मां मन्यसे एव प्रत्यानीयते कोपः ।)

राजा—(उपेत्य)

कुप्यसि कुवलयनयने चित्रार्पितचेष्टया किमेतन्मे ।

ननु तव साक्षादयमहमनन्यसाधारणो दासः ॥ 10 ॥

बकुलावलिका—जेदु जेदु भट्टा । (जयतु जयतु भर्ता ।)

मालविका—(आत्मगतम्) कंहं चित्तगदो भट्टा मए असूइदो । (कथं चित्रगतो भर्ता मयासूयितः ।) (प्रकाशं सव्रीडवदनमञ्जलिं करोति ।)

(राजा मदनकातर्यै रूपयति ।)

विदूषकः—किं भवं उदासीणो विअ दीसइ । (किं भवानुदासीन इव दृश्यते ।)

राजा—अविश्वसनीयत्वात्सख्यास्तव ।

विदूषकः—अतहोदीए अअं कंहं तुइ अविस्सासो । (अत्रभवत्यामयं कथं तवाविश्वासः ।)

राजा—श्रूयताम् ।

पथि नयनयोः स्थित्वा स्थित्वा तिरोभवति क्षणा-

त्सरति सहसा बाह्योर्मध्यं गतापि सखी तव ।

मनसिजरुजा क्लिष्टस्यैवं समागममायया

कथमिव सखे विस्त्रब्धं स्यादिमां प्रति मे मनः ॥ 11 ॥

बकुलावलिका—सहि! बहुसो क्व भट्टा विप्पलद्धो । ता तुए अत्ता विस्सणिज्जो

करीअदु । (सखि! बहुशः किल भर्ता विप्रलब्धः । तत्त्वयात्मा विश्वसनीयः क्रियताम् ।)

बकुलावलिका—(मालविका को रोककर) अरे, तुम रुठकर तो नहीं जा रही हो ?

मालविका—यदि तुम समझती हो कि मैं बहुत रूठी ही रहती हूँ तो लो मैं रूठ ही बैठती हूँ ।

राजा—(पास पहुँचकर) कमलनयनी! चित्र में बने हुए मेरे भाव को देखकर ही तुम मुझसे क्यों रूठी जा रही हो! तुम्हारा यह अनन्य दास तो तुम्हारे सामने ही खड़ा है ॥ 10 ॥

बकुलावलिका—जय हो, स्वामी की जय हो ।

मालविका—(मन ही मन) तो क्या मैं सचमुच चित्र में बने हुए स्वामी से रूठी हुई थी ।

(लजाती हुई हाथ जोड़ती है । राजा प्रेम से व्याकुल होने का नाट्य करते हैं ।)

विदूषक—आप चुपचाप क्यों खड़े हो गए हैं?

राजा—भाई! तुम्हारी सखी पर भरोसा नहीं हो रहा है?

विदूषक—क्यों, इन पर भरोसा क्यों नहीं हो रहा है?

राजा—सुनो! ये मेरी आँखों में बैठी-बैठी देखते-देखते ओझल हो जाती हैं और मेरी बाहों में आकर भी अचानक सरक निकलती हैं । इस मिलन की माया में फँसे हुए मेरे प्रेम के रोगी मन को इन पर कैसे भरोसा हो ॥ 11 ॥

बकुलावलिका—सखी, तुमने महाराज को बहुत छकाया है । अब कुछ ऐसा तो करो कि वे तुम पर भरोसा करने लगे ।

मालविका—सहि! मह उण मन्दभग्गाए सिविणसमाअमो वि भट्टिणो दुल्लहो। आसि। (सखि! मम पुनर्मन्दभाग्यायाः स्वप्नसमागमोऽपि भर्तुर्दुर्लभ आसीत्।)

बकुलावलिका—भट्टा! कहेदु से उत्तरं। (भर्ता! कथयत्वस्या उत्तरम्।)

राजा—

उत्तरेण किमालैव पञ्चबाणाग्निसाक्षिकम्।

तव सख्यै मया दत्तो न सेव्यः सेविता रहः॥ 12॥

बकुलावलिका—अणुगहीदग्धि। (अनुगृहीतास्मि।)

विदूषकः—(परिक्रम्य ससंभ्रमम्) बउलावलिए! एसो बालासोअरुवखस्स पल्लवाइँ लंघेदि हरिणो। एहि णिवारेम णं। (बकुलावलिके! एष बालशोकवृक्षस्य पल्लवानि लङ्घयति हरिणः। एहि, निवारयाम एनम्।)

बकुलावलिका—तह। (तथा।) (इति प्रस्थिता।)

राजा—वयस्य! एवमेवास्मिन्क्षणक्षणेऽवहितेन त्वया भवितव्यम्।

विदूषकः—एव्यं वि गोदमो सन्दिसेअदि? (एवमपि गौतमः सन्दिष्यते?)

बकुलावलिका—(परिक्रम्य) अज्ज गोदम। अहं अप्पआसे चिड्ढामि। तुमं दुवाररक्खओ होहि। (आर्य गौतम। अहमप्रकाशे तिष्ठामि। त्वं द्वाररक्षको भव।)

विदूषकः—जुज्ज। (युज्यते।)

(निष्क्रान्ता बकुलावलिका।)

विदूषकः—इमं दाव फलिहक्खंभं अस्सिदो होमि। (इति तथा कृत्वा) अहो सुहप्परिसदा सिलाविसेसस्स। (इमं तावत्स्फटिकस्तम्भमाश्रितो भवामि। अहो सुखस्पर्शंता शिलाविशेषस्य।) (इति निद्रायते।)

मालविका—सखी! मुझ अभागिनी की तो स्वप्न में भी महाराज से भेंट नहीं हुई।

बकुलावलिका—महाराज! इसका तो आप ही उत्तर दे सकते हैं।

राजा—उत्तर क्या, मैं तुम्हारी सखी से सेवा नहीं कराना चाहता। मैं तो प्रेम की अग्नि को साक्षी बनाकर अकेले में ही उनकी सेवा करने के लिए अपने को ही इनके हाथ सौंपे देता हूँ॥ 12॥

बकुलावलिका—बड़ी कृपा हुई मुझपर।

विदूषक—(धूमकर घबराहट के साथ) अरी बकुलावलिका! देख-देख, इन नन्हें-नन्हें अशोक के वृक्षों के पत्ते हरिण चरे जा रहा है। चल, इसे भगा तो दें।

बकुलावलिका—चलिए। (जाना चाहती है।)

राजा—देखो मित्र! तुम इसी प्रकार सावधानी से हमारी देखभाल करते रहना।

विदूषक—क्या यह बात भी गौतम को समझानी होगी?

बकुलावलिका—(धूमकर) आर्य गौतम! मैं इधर छिपकर बैठती हूँ। तुम जाकर द्वार पर चौकसी करो।

विदूषक—ठीक है।

(बकुलावलिका चली जाती है।)

विदूषक—तब तक इसी स्फटिक के खँभे के सहारे चलकर बैठता हूँ। (बैठता है) वाह! कैसी ठंडी और चिकनी शिला है।

(ऊँघने लगता है।)

(मालविका ससाध्वसा तिष्ठति।)

राजा-

विसृज सुन्दरि संगमसाध्वसं तव चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे।

परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरितं मयि॥ 13॥

मालविका—देवीए भएण अत्तणो वि पिअं कादुं ण पारेमि। (देव्या भयेनात्मनोऽपि प्रियं कर्तुं न पारयामि।)

राजा—अयि! न भेतव्यम्।

मालविका—(सोपालम्भम्) जो ण भाअदि सो मए भट्टिणीणे दिट्ठसावतथो भट्टा। (यो न विभेति य मया भट्टिनीदर्शने दृष्टसामर्थ्यो भर्ता।)

राजा—

दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि नायकानां कुलव्रतम्।

तन्मे दीर्घाक्षि! ये प्राणास्ते त्वदाशानिबन्धनाः॥ 14॥

तदनुगृह्यतां चिरानुज्ञक्तोऽयं जनः। (इति संश्लेषमुपजनयति।)

(मालविका नाट्येन परिहरति।)

राजा—(आत्मगतम्) रमणीयः खलु नवाङ्गनानां मदनविषयावतारः तथा हि इयम्—

हस्तं कम्पयते रुणद्धि रशनाव्यापारलोलाङ्गुलीः

स्वी हस्तौ नयति स्तनावरणतामालिङ्ग्यमाना बलात्।

पातुं पक्ष्मलनेत्रमुन्नमयतः साचीकरोत्पाननं

व्याजेनाप्यमिलाषपूरणसुखं निर्वर्तयत्येव मे॥ 15॥

(मालविका डरी-सी खड़ी रहती है)

राजा—सुन्दरी! मेरे गले लगने से डरो मत। न जाने कितने दिनों से मैं तुमसे मिलने को अधीर हो रहा था। देखो! जैसे माधवी लता आम से लिपट जाती है वैसे ही आओ, तुम भी मुझसे लिपट जाओ॥ 13॥

मालविका—मुझे महारानी से बड़ा डर लगता है इसलिये चाहते हुए भी ऐसा नहीं कर सक रही हूँ।

राजा—अजी! डरने की क्या बात है?

मालविका—(उलाहना देते हुए) जी हाँ, आज जो नहीं डर रहे हैं, उन महाराज का साहस, उस दिन देवी इरावती जी के जाने पर मैं भली भाँति देख चुकी हूँ।

राजा—अजी बिंबाके के समान लाल-लाल ओठों वाली! प्रेमी लोग यों दिखाने के लिये तो सभी से प्रेम बनाए रखना करते हैं, पर देखो बड़ी-बड़ी आँखों वाली! मेरे प्राण तो तुम्हें ही पाने की आशा पर अटके हुए हैं॥ 14॥

इसलिये इतने दिनों अपने प्रेम में डूबे हुए इस दास पर अब तो कृपा करो। (गले लगने को बढ़ते हैं, मालविका नाट्य से अपने को छुड़ाती है।)

राजा—(मन ही मन) नई नवेलियों की प्रेमभरी चटक-मटक भी कितनी सुन्दर होती है। क्योंकि इनके हाथ काँप रहे हैं, अपनी खुली हुई तगड़ी को ये अपनी चंचल अँगुलियों से धामे जा रही हैं। जब मैं बलपूर्वक गले लगाने चलता हूँ तो दोनों हाथों से ये अपने स्तन ढक लेती हैं और जब मैं इनके सुन्दर पलकों की आँखों वाला मुँह चूमने को बढ़ता हूँ तब ये अपना मुँह फेर लेती हैं। इस हाथा-पाई में यद्यपि मेरे हाथ कुछ भी नहीं लग रहा है, फिर भी मुझे वैसा ही सुख मिल रहा है मानो सब इच्छाएँ पूरी होती चली जा रही हों॥ 15॥

(ततः प्रविशतीरावती निपुणिका च ।)

इरावती—हज्जे निपुणिण! सच्चं तुमं परिगदत्था चन्दिआण । समुद्घरअलन्दिसइदो एआई अज्जगोदमो दिठ्ठो त्ति । (हज्जे निपुणिके! सत्थं त्वं परिगतार्था चन्द्रिकया । समुद्रगृहाल्लिन्दशयित एकाकी आर्यगौतमो दृष्ट इति ।)

निपुणिका—अण्णहा कहं भट्ठिणीए विण्णावेमि । (अन्यथा कथं भट्टिन्यै विज्ञापयामि ।)

इरावती—तेण हि तहिं एव्व गच्छम्ह संसआदो मुत्तं पिअवअस्सं पुच्छिदुं अ । (तेन हि तत्रैव गच्छामः संशयान्मुक्तं प्रियवयस्यं प्रष्टुं च ।)

निपुणिका—सावसेसं विअ भट्टिणीए वअणं । (सावशेषमिव भट्टिन्या वचनम् ।)

इरावती—अण्णं अ चित्तगदं अज्जउत्तं पसादेदुं । (अन्यच्च चित्रगतमार्यपुत्रं प्रसादयितुम् ।)

निपुणिका—अह दाणिं कहं णु भट्टा एव्वं अणुणीअदि । (अथेदानीं कथं नु भर्तेवमनुनीयते ।)

इरावती—मुद्धे! आरिसो चि तगदो णं तारिसो एव्व अण्णसंकन्तहिंअओ अज्जउत्तो । केवलं उवआरादिवक्कमं पमज्जिदुं अअं आरम्भो । (मुग्धे! यादृशश्चित्रगतो ननु तादृश एवान्यसंक्रान्तहृदय आर्यपुत्रः । केवलमुपचारातिक्रमं प्रमार्जितुमयमारम्भः ।)

निपुणिका—इदो इदो भट्टिणी । इत इतो भट्टिनी ।

(उभे परिक्रामतः)

(इरावती और निपुणिका आती हैं ।)

इरावती—क्यों री निपुणिका! क्या चन्द्रिका ने सचमुच तुझसे कहा था कि आर्य गौतम, समुद्र-घर के बाहर अकेले सोए पड़े हैं ।

निपुणिका—मैं स्वामिनी से झूठ थोड़े ही बोलती!

इरावती—तो चलो वहीं चलकर मित्र विदूषक से पूछ लिया जाय कि अब वे ठीक हो गए हैं या नहीं और.....

निपुणिका—स्वामिनी! आप कुछ और कहना चाहती थीं ।

इरावती—हाँ, यही कि वहाँ चलकर चित्र में बने हुए आर्य पुत्र को भी मना लिया जाय ।

निपुणिका—तो आप चलकर महाराज को ही क्यों नहीं मना लेतीं ।

इरावती—अरी पगली! दूसरों से प्रेम करने वाले आर्यपुत्र हमारी लिये वैसे ही हैं जैसे उनका मित्र । उस दिन मैंने उनके मनाने पर भी जो उनकी बात न मानने की ढिठाई कर दी है उसी को धोने के लिये मैं यह सब किए डाल रही हूँ ।

निपुणिका—इधर से आइए स्वामिनी, इधर से ।

(दोनों धूमती हैं ।)

(प्रविश्य)

चेटी—जेदु जेदु भट्टिणी! भट्टिणि! देवी भणादि—ण मे मच्छरस्स एसो कालो। तेण क्खु बहुमाण वड्डेदुं वअस्साए सह णिअलवन्धणं किदा मालविआ। जइ अणुमण्णसि अज्जउत्तस्य पिअं कादुं तहा करेमि। ज तुह इच्छिअं तं मे भणाहि ति। (जयतु जयतु भट्टिनी। भट्टिनि! देवी भणति—न मे मत्सरस्येष् कालः। तेन खलु बहुमानं वर्धयितुं वयस्यया सह निगडवन्धने कृता मालविका। यद्यनुमन्यसे आर्यपुत्रस्य प्रियं कर्तुं तथा करोमि। यत्तवेष्टं तन्मे भणेति।)

इरावती—णाअरिए! विण्णावेहि देवीं—का वअं भट्टिणी णिओजेदुं। परिअणणिग्गहेण दंसिदो मइ अणुग्गहो। कस्स वा पसादेण अअं जणो वड्डिद्वि ति। (नागरिके! विज्ञापय देवीम्—का वयं भट्टिनीं नियोजयितुम्। परिजननिग्रहेण दर्शितो मय्यनुग्रहः। कस्य वा प्रसादेनायं जनो वर्धति इति।)

चेटी—तह। (तथा) (इति निष्क्रान्ता।)

निपुणिका—(परिक्रम्यावलोक्य च) भट्टिणी! दसो दुआरुद्देसे समुद्वरअस्स विपणिगदो विअ बलीवद्दो अज्जगोदमो आसीणो एव्व णिद्वाअदि। (भट्टिनि! एष द्वारोद्देशे समुद्रगृहस्य विपणिगत इव बलीवर्द आर्यगौतम आसीन एव निद्रायते।)

इरावती—अच्चाहिदं। ण क्खु सावसेसो विसविआरो हवे। (अत्याहितम्। न खलु सावशेषो विषविकारो भवेत्।)

निपुणिका—पसण्णमुहवण्णो दीसइ। अवि अ धुवसिद्धिणा चिइच्छदो। त से असंकणिज्जं पावं। (प्रसन्नमुखवर्णो दृश्यते। अपि च ध्रुवसिद्धिना चिकित्सितः। तदस्याशङ्कनीयं पापम्।)

विदूषकः—(उत्स्वप्नायते) भोदि मालविए! (भवति मालविके।)

चेटी—(आकर) जय हो, स्वामिनी की जय हो। महारानी ने कहलाया है कि अब हम लोगों को महाराज से रूठे नहीं रहना चाहिए। मैंने तुम्हारी बात रखने के लिए ही मालविका और उसकी सखी को बाँध रक्खा है। यदि आर्यपुत्र को मनाने की बात तुम्हें भी जँचती हो तो मैं उसका उपाय करूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो वह मुझे कहला देना।

इरावती—देखो नागरिका! महारानी से जाकर कह देना कि उनसे काम कराने वाली हम कौन होती हैं। अपनी दासियों को बाँधकर उन्होंने मुझ पर कृपा दिखाई है। उनकी कृपा न हो तो हम लोगों का इतना नाम कैसे हो।

चेटी—अच्छा। (चली जाती है।)

निपुणिका—(धूमकर और देखकर) यह देखिये स्वामिनी! जैसे हाट में लेटा हुआ साँड़ नींद लेता है वैसे ही आर्य गौतम भी समुद्र घर के द्वार पर बैठे खरटि भर रहे हैं।

इरावती—यह तो बड़ा बुरा हुआ? कहीं विषका विकार अभी बचा न रह गया हो।

निपुणिका—पर इनका गुँह तो बड़ा प्रसन्न दिखाई दे रहा है और फिर स्वयं ध्रुवसिद्धि ने इनका विष उतारा है। इसलिए घबराने की कोई बात नहीं है।

विदूषक—(स्वप्न में बड़बड़ाता हुआ) हे देवी मालविका।

निपुणिका—सुदं भट्टिणीए। कस्स एसो अत्तणिओअसंपादणे विस्ससणिज्जो ह्दासो। सव्वकालं इदो एव्व सोत्थिवाअणमोदएहिं कुक्खिं पूरिअ संपदं मालविअं सिविणावेदि। (श्रुतं भट्टिन्या। कस्यैष आत्मनियोगसम्पादने विश्वसनीयो हताशः। सर्वकालमित एव स्वस्तिवाचवमोदकैः कुक्षिं पूरयित्वा साम्प्रतं मालविकां स्वप्नायते।)

विदूषकः—इरावतीं अदिक्कमन्ती होहि। (इरावतीमतिक्रमान्ती भव।)

निपुणिका—एदं अच्चाहिदं। इमं भुअंगभीरुअं ब्रह्मबन्धुं इमिणा भुअंगकुडिलेण दंडकट्टेण खभंतरिदा भाअइस्सं। (एतदत्याहितम्। इमं भुजंगभीरुं ब्रह्मबन्धुमनेन भुजङ्गकुटिलेन दण्डकाष्ठेन स्तम्भान्तरिता भाषयिष्यामि।)

इरावती—अरिहदि एव्व किदग्घो उवहवस्स। (अर्हत्येव कृतघ्न उपद्रवस्य।)

(निपुणिका विदूषकस्योपरि दण्डकाष्ठं पातयति।)

विदूषकः—(सहसा प्रबुध्य) अविहा अविहा। भो वअस्स। सप्पो मे उवरि पडिदो। (अवधि अवधि। भो वयस्य। सर्पो में उपरि पतितः।)

राजा—(सहसोपसृत्य) सखे! न भेतव्यं न भेतव्यम्।

मालविका—(अनुसृत्य) भट्टा! मा दाव सहसा णिक्कम। सप्पो त्ति भणीअदि। (भर्तः। मा तावत्सहसा निष्काम। सर्प इति भण्यते।)

इरावती—हन्दी हन्दी। भट्ट! इदो एव्व धावदि। (हा धिक् हा धिक्। भर्ता इत एव धावति।)

विदूषकः (सप्रहासम्) कहं दंडकट्ठं एदं। अहं उण जाणे जं मए देकईकंटएहिं डंसं करिअ सप्पस्स उवरि अअसो किदं तं मे फलिदं त्ति। (कथं दण्डकाष्ठमेतत्। अहं पुनर्जनि यन्मया केतकीकण्टकैर्दशं कृत्वा सर्पस्योपर्ययशः कृतं तन्मे फलितमिति।)

निपुणिका—सुना स्वामिनी! अपना काम कराने के लिए इस अभागे का कौन विश्वास करेगा। सदा तो यह आपके लिए हुए पूजा के लड्डुओं से पेट भरता रहा है, आज स्वप्न में इसे मालविका सूझ रही है।

विदूषक—तुम इरावती से भी आगे बढ़ आओ।

निपुणिका—यह तो बड़ी बुरी बात है। साँप से डरने वाले इस बाँभन को अब इसी साँप-जैसी टेढ़ी लकड़ी से ओट में खड़ी होकर डराती हूँ।

इरावती—ऐसे कृतघ्न के साथ ऐसी ही कुचाल करनी चाहिए।

(निपुणिका विदूषक के ऊपर लकड़ी फेंक देती है।)

विदूषक—(सहसा जागकर) हाय, हाय! अरे मित्र! मुझपर साँप आ गिरा है।

राजा—(सहसा आगे बढ़कर) डरो मत मित्र! डरो मत।

मालविका—(पीछे-पीछे) स्वामी! ऐसे अचानक मत जाइए। वहाँ साँप बताते हैं।

इरावती—हाय, हाय! स्वामी इधर ही दौड़े चले आ रहे हैं।

विदूषक—(हँसकर) अरे! यह तो लकड़ी है। मैं तो समझा था कि मैंने केतकी के काँटे से साँप के दाँतों का चिह्न बनाकर जो साँप पर कलंक लगाया था उसी का मुझे फल मिल रहा है।

(प्रविश्य पटाक्षेपेण)

बकुलावलिका—मा दाव भट्टा पविसदु। इह कुडिलगई सप्पो विअ दीसदि। (मा तावद्धर्ता प्रविशतु। इह कुटिलगतिः सर्प इव दृश्यते।)

इरावती—(स्तम्भान्तरिता राजानं सहसोपेत्य) अवि णिविग्घमणोरहो दिवासंकेदो मिहुणस्स। (अपि निर्विघ्नमनोरथो दिवासङ्केतो मिथुनस्य।)

(सर्वे इरावतीं दृष्ट्वा संभ्रान्ताः।)

राजा—प्रिये! अपूर्वोऽयमुपचारः।

इरावती—वउलावलिए! दिड्डिआ वूच्चाहिआरविसआ संपुण्णा दे पइण्णा। (बकुलावलिके! दिष्ट्या दूत्याभिसारविषया संपूर्णा ते प्रतिज्ञा।)

बकुलावलिका—पसीददु भट्टिणी! किं मए किदं ति देवो पुच्छिदव्वो। ददुदुराः वाहरन्ति ति किं देवो पुहवीएँ वरिसिदुं विरमदि। (प्रसीदतु भट्टिनी! किं मया कृतमिति देवः प्रष्टव्यः दुर्दुरा व्याहरन्तीति किं देवः पृथिव्यां वर्षितुं विरमति।)

विदूषकः—मा दाव। भोदीए दंसणमत्तेण अत्तभवं पणिवादलंघणं विसुमरिदो। तुमं उण अज्जवि पसादं ण गेण्हसि। (मा तावत्। भवत्या दर्शनमात्रेणात्रभवान्प्रणिपातलंघनं विस्मृतः। त्वं पुनरद्यापि प्रसादं न गृह्णासि।)

इरावती—कुविदा दाणिं अहं किं करिस्सं। (कुपितेदानीमहं किं करिष्यामि।)

राजा—एवमेतदस्थाने कोप इत्यनुपपन्नं त्वयि। तथा हि

कदा मुखं वरतनु कारणादृते तवागतं क्षणमपि कोपपात्रताम्।

अपर्वणि ग्रहकलुषेन्दुमण्डला विभावरी कथय कथं भविष्यति॥ 16॥

बकुलावलिका—(पर्दा हटाते हुए आकर) स्वामी! उधर न जाइए। वहाँ टेढ़ा चलता हुआ कुछ साँप-जैसा दिखाई दे रहा है।

इरावती—(खँभे के पीछे छिपी हुई राजा के पास आकर) कहिए! दिन में मिलने का संकेत करने वाले जोड़ों के मन की साध पूरी हो गई न!

(सब इरावती को देखकर घबरा जाते हैं।)

राजा—प्यारी! यह तुम कैसी अनोखी बात कर रही हो?

इरावती—बकुलावलिका! तुझे बधाई है कि इन दोनों को मिलाने की जो तूने प्रतिज्ञा की थी वह आज पूरी हो गई।

बकुलावलिका—क्रोध न करें स्वामिनी! मैंने क्या किया है? देव से ही पूछ लीजिए। पृथ्वी पर पानी बरसाने के लिये दैव कहीं मेंढकों की टर्-टर् की बाट थोड़े ही जोहते हैं।

विदूषक—अजी! ऐसा न कहिए। उस दिन महाराज आपके पैरों पड़े, हाथ जोड़े खड़े रहे, पर आप थीं कि टस से मस न हुई, रूठकर चल दीं और इधर महाराज की भलमनसाहत देखिए कि आपको देखते ही उन्होंने पिछली सब बातें उठाकर एक ओर रख दीं, फिर भी आप अभी तक खिंची बैठी हैं।

इरावती—खिंची होकर भी मैं इनका क्या कर लूँगी?

राजा—पर बिना बात के रूठना भी तो तुम्हें शोभा नहीं देता। क्योंकि सुन्दरी! बताओ तो इससे पहले क्या कभी तुम्हारा मुँह बिना कारण के क्षण भरके लिये भी लाल हुआ है? बताओ बिना ग्रहण की रात आए क्या कभी चन्द्र-ग्रहण लगा करता है॥ 16॥

इरावती—अट्टाणे तिसुहु वाहरिदं अज्जउत्तेण। अण्णसंकंतेसु अम्हाणं भाअहेएसु जइ उण कुम्पेअं तदो णं अहं हस्सा भवेअं। (अस्थान इति सुष्ठु व्याहृतमार्यपुत्रेण। अन्यसंक्रान्तेष्वस्माकं यदि पुनः कुप्येयं ततो नन्वहं हास्या भवेयम्।)

राजा—त्वमन्यथा कल्पयसि। अहं पुनः सत्यमेव कोपस्थानं न पश्यामि। कुतः-

नार्हति कृतापराधोऽप्युत्सवदिवसेषु परिजनो बन्धम्।

इति मोचिते मयैते प्रणिपतितुं मामुपगते च॥ 17॥

इरावती—णिउणिए! गच्छ। देवीं विण्णावेहि—दिट्ठो भवदीए पक्खवादो णं अज्ज ति। (निपुणिके! गच्छ। देवीं विज्ञापय—दृष्टो भवत्याः पक्षपातो नन्वद्येति।)

विदूषकः—(आत्मगतम्) अहो, अणत्थो संपडिदो। बंधनबन्धटो गिहकवोदो विडालिआए आलोए पडिदो। (अहो अनर्थः संपतितः। बन्धनभ्रष्टो गृहकपोतो विडालिकाया आलोके पतितः।)

निपुणिका—(प्रविश्यापवार्य) भट्टिण! जदिच्छादिट्ठाए मालविआए आचक्खिदं एव्वं क्खु एदं णिव्वुत्त ति। (भट्टिनि! यदृच्छादृष्ट्या मालविकयाख्यातम्—एवं खल्वेतन्निर्वृत्तमिति।) (इति कर्णे कथयति।)

इरावती—(आत्मगतम्) उववण्णं। सच्चं अअं एत्थ ब्रह्मबन्धुणा किदी पओआ। (विदूषकं विलोक्य प्रकाशम्) इअं इमस्स कामतंतसचिवस्स णीदी। (उपपन्नम् सत्यमयमत्र ब्रह्मबन्धुना कृतः प्रयोगः। इयमस्य कामतन्त्रसचिवस्स नैतिः।)

विदूषकः—भोदि! जदि णीदिगदं एक्कं वि अक्खरं पढेअं णं मए अत्तभवं पेसिदो हवे! (भवति! यदि नीतिगतमेकमप्यक्षरं पठेयं ननु मयात्रभवान्प्रेषितो भवेत्।)

इरावती—यह तो आर्यपुत्र ने ठीक कहा कि मैं बिना कारण के रूठ रही हूँ। हमारे स्वामी कहीं और मन लगावें और उस पर हम रूठने लगें, यह तो सचमुच जग-हँसाई की बात है।

राजा—तुम तो सब बातें उल्टी ही समझा करती हो। मुझे तो सचमुच इसमें रूठने की कोई बात दिखाई ही नहीं देती है। क्योंकि मैंने तो इन दोनों को इसीलिये छोड़ दिया कि अपने सेवकों को उत्सव के दिन अपराध करने पर भी बाँधकर नहीं रखना चाहिए। वहाँ से छूटने पर ये दोनों मुझे प्रणाम करने के लिये ही सीधे यहाँ चली आई थीं॥ 17॥

इरावती—निपुणिका! जाओ तो, महारानी से कह आओ कि आप हमें जैसा मानती हैं, वह आज हमने देख लिया।

निपुणिका—जी, अच्छा। (चली जाती है।)

विदूषक—(मन ही मन) अरे यह तो सब गड़बड़-घोटाला हो गया। पिंजड़े से छूटा हुआ कबूतर बिल्ली के सामने आ पड़ा।

निपुणिका—(आकर अलग) स्वामिनी! अभी माधविका मुझे मिली थी, उसने बतलाया कि यह सब ऐसे हुआ है। (कान में कहती है।)

इरावती—(मन ही मन) समझ गई, यह सब इसी बँभनैटे की करतूत है। (विदूषक को देखकर प्रकट) यह सब इसी प्रेम-नीति के मंत्री की चाल है।

विदूषक—देवि! यदि मैं नीति का एक अक्षर भी पड़ा होता तो क्या महाराज को मैं कभी ऐसे फँसने देता?

राजा—(आत्मगतम्) कथं नु खल्वस्मात्सङ्कटादात्मानं मोचयिष्यामि ।

(प्रविश्य)

जयसेना—देव! कुमारी वसुलच्छी कन्दुअं अणुधावंदी पिंगलवाणरेणं बलीअं तासिदा अंकणिसण्णा देवीए पवादकिसलअं विअ वेवमाणा ण किंवि पकिदिं पडिवज्जइ । (देव! कुमारी वसुलक्ष्मीः कन्दुकमनुधावन्ती पिङ्गलवानरेण बलवत्त्रासिताङ्कनिपण्णा देव्याः प्रवातकिसलयमिव वेपमाना न किंचित्प्रकृतिं प्रतिपद्यते ।)

राजा—कष्टं कष्टम् । कातरो बालभावः ।

इरावती—(सावेगम्) तुवरदु अज्जउत्तो णं समासासिदुं । मा से संतासजणिदो विआरो बड्ढदु । (त्वरतामार्यपुत्र एनां अमाशवासयितुम् । मास्याः संत्रासजनितो विकारो वर्धताम् ।)

राजा—अयमेनामहं संज्ञापयामि । (इति सत्वरं परिक्रामति ।)

विदूषकः—साहु रे पिङ्गलवाणर साहु । परित्तादो तुए सपक्खो । (साधु रे! पिङ्गलवानर साधु । परित्रातस्त्वया स्वपक्षः ।)

(निष्क्रान्तो राजा विदूषकश्च इरावती निपुणिका प्रतीहारी च ।)

मालविका—हला! देविं चिन्तिअ वेवदि मे हिअअं । ण जाणे अदो वरं किं वा अणुहविदव्वं हविस्सदि ति । (सखि! देवीं चिन्तयित्वा वेपते मे हृदयम् । न जानेऽतः परं किं वानुभवितव्यं भविष्यतीति ।)

(नेपथ्ये)

अच्चरिअं अच्चरिअं अपुण्णे एव्व पंचरत्ते दोहलस्स मुउलेहिं सण्णद्धो तवणीआसोओ जाव देवीए णिवेदेमि । (आश्चर्यमाञ्चर्यम् । अपूर्ण एव पञ्चरात्रे दोहदस्य मुकुलैः संनद्धस्तपनीयाशोकः यावद्देव्यै निवेदयामि ।)

राजा—(मन ही मन अब इस संकट से कैसे छुटकारा पाया जाय?

जयसेना—(आकर) देव! कुमारी वसुलक्ष्मी गेंद के पीछे दौड़ ही रही थीं कि इतने में ही एक पीला बन्दर वहाँ आ पहुँचा । उसे देखकर कुमारी बहुत डर गई हैं और देवी की गोद में पड़ी हुई आँधी से हिलते हुए पत्ते के समान थर-थर काँपे जा रही हैं । अभी तक उन्हें चेत नहीं हो पाया है ।

राजा—बड़ा बुरा हुआ, बड़ा बुरा हुआ । बच्चों का तो डरने का स्वभाव ही होता है ।

इरावती—(घबराकर) चलिए आर्यपुत्र! चलिए झटपट चलकर उसे सँभालिए । कहीं इस घबराहट में उसे और कुछ न हो जाय ।

राजा—मैं चलकर अभी उसे चेत में किए लेता हूँ । (झटपट घूमते हैं ।)

विदूषक—वाह रे पीले बन्दर! वाह! आज तो तुमने हमारे महाराज को सचमुच अच्छा बचा लिया ।

(राजा, विदूषक, इरावती, निपुणिका, प्रतीहारी सब चले जाते हैं ।)

मालविका—सखी! जब महारानी का ध्यान आता है तब मेरे तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं । अब न जाने क्या-क्या दण्ड भोगना भाग्य में बदा है ।

(नेपथ्य में)

बड़ा आश्चर्य है! बड़ा आश्चर्य है । अभी इस सुनहरे अशोक का दोहद (चाह) पूरा हुए पाँच रातों भी नहीं बीत पाई कि उसमें कलियाँ आ फूटी हैं । चलती हूँ, महारानी को बता आती हूँ ।

(उभौ श्रुत्वा प्रहृष्टे ।)

बकुलावलिका—आस्ससिदु सही । सच्चप्पइण्णा देवी । (आश्वसितु सखी । सत्यप्रतिज्ञा देवी ।)

मालविका—तेण हि पमदवणपालिआए पिट्ठदो होमि । (तेन हि प्रमदवनपालिकायाः पृष्ठतो भवामि ।)

बकुलावलिका—तह । (तथा ।)

(इति निष्क्रान्ते ।)

॥ इति चतुर्थोऽङ्कः ॥



(दोनों सुनकर प्रसन्न होती हैं ।)

बकुलावलिका—लो सखी ! धीरज धरो । देवी एक बार जो कह देती हैं उससे पीछे नहीं हटतीं ।

मालविका—तो चलो, हम लोग भी प्रमदवन की मालिन के पीछे-पीछे वहीं चली चलें । बकुलावलिका—चलो ।

(दोनों चली जाती हैं ।)

॥ चौथा अङ्क पूर्ण हुआ ॥



पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्युद्यानपालिका ।)

उद्यानपालिका—उवक्खितो मए कियसक्कारविहिणो तवणीआसोअस्स वेदिआवंधो जाव अणुद्धिदणिओअं अत्ताणं देवीए णिवेदेमि । (परिक्रम्य) अहो दैवस्स अणुकम्पणीआ मालविआ । तस्सि तह चंडिआ देवी इमिणा असोअकुसुमवुत्तन्तेण पसादसुमुही हविस्सदि कहिं णु क्खु देवी हवे । (विलोक्य) अम्हो एसो देवीए परिअणब्भंतरो किवि जदुमुद्दालंछिदं मंजूसं गेणिहअ चदुस्सालादो कुज्जो सारसिओ णिक्कामदि । पुच्छिस्सं दाव ण । (ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टहन्तः कुब्जः) सारसिअ! कहिं पत्थिदोसि । (उपक्षितो मया कृतसत्कारविधिस्तपनीयाशोकस्य वेदिकाबन्धः । यावदनुष्ठितनियोगमात्मानं देव्यै निवेदयामि । अहो दैवस्यानुकम्पनीया मालविका । तस्यां तथा चण्डी देव्यनेनाशोककुसुमवृत्तान्तेन प्रसादसुमुखी भविष्यति । कुत्र नु खलु देवी भवेत् । अहो एष देव्याः परिजनाभ्यन्तरः किमपि जतुमुद्रालाञ्छितां मञ्जूषां गृहीत्वा चतुःशालातः कुब्जः सारसिको निष्कामति । प्रक्षयामि तावदेनम् । सारसिक! कुत्र प्रस्थितोऽसि ।)

सारसिकः—महुअरिए! विज्जाभरिआणं बह्मणाणं णिच्चदक्खिणं मासिई पुराहिदस्स हत्थं पावइस्सं । (मधुकरिके! विद्याभरितानां ब्राह्मणानां नित्यदक्षिणां मासिकीं पुरोहितस्य हस्तं प्रापयिष्यामि ।)

मधुकरिका—अह किंणिमित्तं । (अथ किंनिमित्तम्?)

सारसिकः—जदप्पहुदि सेणावदी जण्णतुरंगरक्खणे णित्तो भट्टदारओ वसुमित्तो तदप्पहुदि तस्स आउसणिमित्तं णिक्कसदसुवण्णपरिमाणं दक्खिणं देवी दक्खिणीएहि परिग्गाहेदि । (यतःप्रभृति

पाँचवाँ अङ्क

(मालिन आती है ।)

मालिन—मैंने सब घास-पात निकालकर इस सुनहरे अशोक की मेड़ ठीक ढँग से बाँध दी है । अब वहाँ का काम सब ठीक हो गया है । चलती हूँ, देवी को बताए आती हूँ, (धूमकर) भगवान् ने बेचारी मालविका की लाज रख ली । उस पर बिगड़ी बैठी हुई महारानी को जब अशोक के फूलने का समाचार मिलेगा तो वे फड़क उठेंगी । पर इस समय महारानी होंगी कहाँ? (देखकर) अरे! यह महारानी के रनिवास का कुबड़ा सेवक सारसिक कोई लाख से बन्द की हुई पिटारी लिए रनिवास से निकला चला आ रहा है । चलती हूँ, इसी से पूछ देखती हूँ । (हाथ में पिटारी लिए कुबड़ा दिखाई देता है ।) कहो सारसिक! किधर चले?

सारसिक—मधुकरिका! विद्वान् ब्राह्मणों को सदा महीने-महीने जो दक्षिणा दी जाती है वही सब बाँटने के लिये पुरोहित जीको सौंपने जा रहा हूँ ।

मधुकरिका—यह दक्षिणा क्यों बाँटी जा रही है?

सारसिक—जब से अश्वमेध यज्ञ के घोड़ों की रक्षा के लिये राजकुमार वसुमित्र सेनापति बनाए गए हैं, तभी से उनके चिरंजीवी होने के लिये योग्य ब्राह्मणों को सौ निष्क के बराबर धन दक्षिणा में बाँटा

सेनापतिर्यज्ञतुरंगक्षणे नियुक्तो भर्तृदारकी वसुमित्ररततः प्रभृति तथा युनिमित्तं निष्कशतसुवर्णपरिमाणं दक्षिणां देवी दक्षिणीयैः परिग्राहयति ।)

मधुकरिका—अह कहिं देवी । कि वा अणुचिद्वदि । (अथ कुत्र देवी । किं वानुतिष्ठति ।)

सारसिकः—मंगलधरे आसणत्था भविअ विदम्भविसआदो भादुणा वीरसेणेण पेसिदं लेहं लेहकरेहि वाइअमाणं सुणादि । (मङ्गलगृहे असानस्था भूत्वा विदर्भविषयाद्भ्रात्रा वीरसेनेन प्रेषितं लेखं लेखकरैर्वाच्यमानं शृणोति ।)

मधुकरिका—को उण विदम्भराअवुत्तन्तो सुणीअदि । (कः पुनर्विदर्भराजवृत्तान्तः श्रूयते ।)

सारसिकः—वसीकिदो क्खु वीरसेणप्पमुहोहिं भत्तुओ विजअदंडेहि विदम्भणाहो । मोइदो से दाआदो माहवसेणो दूदो अतेण महासाराणि रअणाणि बाहणाणि सिप्पआरिआ-भूइदूठं परिअणं उवाअणीकरिअ भट्टिणो सआसं पेसिदो ति । (वशीकृतः किल वीरसेनप्रमुखैर्भर्तुर्विजयदण्डैर्विदर्भनाथः । मोचितोऽस्य दायादो माधवसेनाः । दूतश्च तेन महासाराणि रत्नानि वाहनानि शिल्पकारिकाभूयिष्ठं परिजनमुपायनीकृत्य भर्तुः सकाशं प्रेषित इति ।)

मधुकरिका—गच्छ, अणुचिदूठ अत्तणो णिओअं । अहं विदेवि पेक्खिस्सं । (गच्छानुतिष्ठात्मनो नियोगम् । अहमपि देवीं प्रेक्षिष्ये ।)

(इति निष्क्रान्तौ ।)

॥ प्रवेशकः ॥

(ततः प्रविशति प्रतीहारी)

प्रतीहारी—आणत्तम्हि असोअसक्कारवावुदाए देवीए—विण्णावहि अज्ज उत्तम् । इच्छम्मि अज्जउत्तेण सह असोअरुक्खस्स पसूणलच्छी पच्चक्खीकादुं ति । ता जाव धम्मासण गदं देवं पडिवालेमि । (आज्ञाप्तास्म्यशोकसत्कारव्यापृतया देव्या-विज्ञापयार्यपुत्रम् । इच्छाम्यार्यपुत्रेण सहाशोकवृक्षस्य प्रसूनलक्ष्मी

जाता है । (निष्क 135 से 188 तोले सोना या 16 माशे का सोने का सिक्का ।)

मधुकरिका—अच्छा, यह तो बताओ कि महारानी हैं कहाँ और क्या कर रही हैं?

सारसिक—महारानी के भाई वीरसेन ने विदर्भ से जो चिट्ठी भेजी है, उसी को वे मंगल घर में बैठी अपने लेखक से बँचवाकर सुन रही हैं ।

मधुकरिका—विदर्भ के राजा का क्या समाचार मिला?

सारसिक—महाराज की विजयिनी सेना लेकर वीरसेन ने विदर्भ के राजा को हराकर उसके चचेरे भाई माधवसेन को छुड़ा लिया है । साथ ही उन्होंने एक दूत के साथ बहुत से अनमोल रत्न, घोड़े और बहुत अच्छे-अच्छे कलाकार सेवक, महाराज के पास भेंट में पठा भेजे हैं ।

मधुकरिका—अच्छा, जाओ, तुम भी अपना काम कर आओ, मैं भी अभी महारानी के दर्शन को जाती हूँ । (दोनों जाते हैं ।)

॥ प्रवेशकः ॥

(प्रतीहारी आती है ।)

प्रतीहारी—अशोक की पूजा की धूम-धाम में लगी हुई महारानी ने आज्ञा दी है कि जाओ महाराज से कह दो कि मैं चाहती हूँ आर्यपुत्र के साथ ही चलकर फूले हुए अशोक की शोभा देखूँ । तो चलती

प्रत्यक्षीकर्तुमिति । तद्यावद्धर्मासनगतं देवं प्रतिपालयामि ।) (इति परिक्रामति ।)

(नेपथ्ये वैतालिकौ)

प्रथमः—विजयतां विजयतां देवः । दिष्ट्या दण्डैरेव रिपुशिरःसु वर्तते देवः ।

परभूतकलव्याहरेषु त्वमात्तरतिर्मधुं नयसि विदिशातीरोद्यानेष्वमङ्ग इवाङ्गवान् ।

विजयकरिणामालानत्वं गतैः प्रबलस्य ते वरद वरदारेधोवृक्षैः सहावनतो रिपुः ॥ १ ॥

द्वितीयः—

विरचितपदं वीरप्रीत्या सुरोपमसूरिभि-

श्चरितमुभयोर्मध्ये कृत्य स्थितं ऋयकैशिकान् ।

तव हृतवतो दण्डानीकैर्विदर्भपतेः श्रियं

परिघगुरुभिर्दोभर्विष्णोः प्रसह्य च रुक्मिणीम् ॥ २ ॥

प्रतीहारी—एसो जअसइसूइदप्पत्थाणो भट्टा इदो एव्व आअच्छदि । अहंविदाव इमस्स पमुहादो लोआदो ओसरिअ खम्भन्तरिदा होमि । (एष जयशब्दसूचितप्रस्थानो भर्तेत एवागच्छति । अहमपि तावदस्य प्रमुखाल्लोकदपसृत्य स्तम्भान्तरिता भवामि ।) (इत्येकाते स्थिता ।)

(प्रविश्य सवयस्यो राजा)

राजा—

कान्तां विचिन्त्य सुलभेतरसंप्रयोगां श्रुत्वा विदर्भपतिमानमितं बलैश्च ।

धाराभिरातप इवाभिहतं सरोजं दुःखायते मम मनः सुखमश्नुते च ॥ ३ ॥

हूँ न्यायासन पर बैठे हुए महाराज के पास ही जा पहुँचती हूँ । (धूमती है ।)

(नेपथ्य में दो वैतालिक)

पहला—जय हो, देव की जय हो । बधाई है महाराज को कि आपने अपनी शक्ति से अपने शत्रुओं को पैरों तले रौंद दिया । मनचाहा वर देने वाले राजा ! आप तो इधर साक्षात् कामदेव के समान, कोयल की सुन्दर कूक सुनते हुए विदिशा के तीर पर फैले हुए उपवनों में अपना वसन्त बिता रहे हैं, उधर आपका बलवान् शत्रु वरदानदीके तीर पर खड़े उन वृक्षों के साथ-साथ झुका दिया गया है जो अब आपकी सेना के विजयी हाथियों के बाँधने के खूँटे बने खड़े हैं ॥ १ ॥

दूसरा—देवताओं के समान राजन् ! विदर्भ में दो ही तो बड़ी-बड़ी घटनाएँ हुई हैं । एक तो आपका अपनी सेना भेजकर विदर्भ के राजा को हराना, दूसरी, भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा उनकी अर्गला के समान बड़ी-बड़ी भुजाओं से रुक्मिणी का हरा जाना । वीरों से प्रेम रखने वाले कवि लोग अब इन दोनों ही घटनाओं के गीत बना-बनाकर गा रहे हैं ॥ २ ॥

प्रतीहारी—इस जयजयकार से जान पड़ता है कि महाराज वहाँ से उठकर इधर ही चले आ रहे हैं । मैं भी उनके आगे-आगे चलती हुई भीड़ से बचकर खँभे के पीछे जा खड़ी होती हूँ ।

(एक ओर खड़ी हो जाती है ।)

(विदूषक के साथ राजा आते हैं ।)

राजा—एक ओर जब मैं उस दुर्लभ प्यारी की बात सोचता हूँ और दूसरी ओर जब मैं सुनता हूँ कि मेरी सेना ने विदर्भ के राजा को हरा दिया है तो मेरा मन उस कमल के समान एक साथ दुखी और सुखी होता है जिस पर कड़ी धूप भी पड़ रही हो और साथ-साथ पानी भी बरस रहा हो ॥ ३ ॥

विदूषकः—जह अहं पेक्खामि तह एकन्तसुहिदो भवं हविस्सदि। (यथाहं प्रेक्ष्ये तथा एकान्तसुखितो भवान्भविष्यति।)

राजा—कथमिव।

विदूषकः—अज्ज किल देवीए एव्वं पंडितकोसिई भणिदा—भअवदि! जं तुमं पसाहणगव्वं वहसि तं दंसेहि मालविआए सरीरे विवाहणेवत्थं ति। ताए सविसेसालंकिदा मालविआ। तत्तहोदी कदावि पूरए भवदोवि मणोरहं। (अद्य किल देव्यैवं पण्डितकौशिकी)

भणिता—भगवति! यत्त्वं प्रसाधनगर्वं वहसि तद्दर्शय मालविकायाः शरीरे विवाहनेपथ्यमिति। तथा सविशेषालंकृता मालविका। तत्रभवती कदाचित्पूरयेद्भवतोऽपि मनोरथम्।)

राजा—सखे! मदपेक्षामनुप्राप्य अनया धारिण्या पूर्वचरितैः संभाव्यत एवैतत्।

प्रतीहारी—(उपगम्य) जेदु जेदु भट्टा। देवी विष्णावेदि—तवणीआसोअस्स कुसुमसहदंसणेण मह आरंभो सफलो करीअदु ति। (जयतु जयतु भर्ता। देवी विज्ञापयति—तपनीयाशोकम्य कुसुमसहदंशनेन ममारम्भः सफलः क्रियतामिति।)

राजा—ननु तत्रैव देवी तिष्ठति।

प्रतीहारी—अह इं। जहरिहसंमाणसुहिअं अँतेउरं विसज्जिअ मालविआपुरोएण अत्तणो परिअणेण सह देवं पडिवालेदि। (अथ किम्। यथार्हसम्मानसुखितमन्तःपुरं विसृज्य मालविकापुरोगेणत्मनः परिजनेन सह देवं प्रतिपालयति।)

राजा—(सहर्षं विदूषकं विलोक्य) जयसेन! गच्छाग्रतः।

प्रतीहारी—एदु एदु देवो। (एत्येतु देवः।) (इति परिक्रामति।)

विदूषक—मैं तो समझता हूँ कि अब आपको पूरा सुख मिल जायगा।

राजा—कैसे?

विदूषक—आज पंडिता कौशिकी से महारानी ने कहा था कि भगवती आपको सिंगार करने की विद्या का जो घमण्ड है वह आप मालविका को विवाह के सिंगार से सजाकर दिखाइए। इस पर उन्होंने मालविका को बड़े सुहावने ढंग से सिंगारा है। कौन जाने वे ही आपकी साध पूरी कर डालें।

राजा—हाँ मित्र! महारानी धारिणी ने पहले भी मन की बहुत-सी बातें पूरी की हैं इसलिये यह भी कर दें तो कोई अचरज नहीं है।

प्रतीहारी—(पास जाकर) जय हो, स्वामी की जय हो! देवी ने कहलाया है कि मेरे साथ चलकर उस फूले हुए सुनहरे अशोक को देखकर मेरा सारा उत्सव सफल कर दीजिए।

राजा—क्या देवी वहीं पर हैं?

प्रतीहारी—जी हाँ! रनिवास की सब रानियों का यथायोग्य आदर करके वे मालविका और दासियों के साथ बैठी महाराज की बांट जोह रही हैं।

राजा—(प्रसन्न होकर विदूषक की ओर देखकर) जयसेना! चलो तो आगे-आगे।

प्रतीहारी—आइए देव! चले आइए। (धूमते हैं।)

विदूषकः—(विलोक्य) भो वसन्त! किवि परिवृत्तजोव्यणे विअ वसन्तो पमदवणे लक्ष्मीअदि। (भो वयस्य! किविपरिवृत्तयौवन इव वसन्तः प्रमदवने लक्ष्यते।)

राजा—यथाह भवान्।

अग्रे विकीर्णकुरबकफलजालकभिद्यमानसहकारम्।

परिणामाभिमुखमृत्तोरुत्सुकयति यौवनं चेतः॥ 4॥

विदूषकः—(परिक्रम्य) अहो! अअं सो दिण्णणेवत्थी विअ कुसुमत्थवएहिं तवणीआसोओ। ओलोअदु भवं। (अहो! अयं स दत्तनेपथ्य इव कुसुमस्तवकैस्तपनीयाशोकः। अवलोकतां भवान्।)

राजा—स्थाने खलु प्रसवमन्यरोऽयमभूत्। यदिदानीमनन्यसाधारणीं शोभा-

मुद्रहति। पश्य-

सर्वाशोकतरूणां प्रथमं सूचितवसन्तविभवानाम्।

निर्वृत्तदोहदेऽस्मिन्संक्रान्तानीव कुसुमानि॥ 5॥

विदूषकः—तह। भो वीसद्धो होहि। अम्हेसु सणिहिदेसुवि धारिणी पासपरि वट्टिणीं मालविअं अणुमण्णेदि। (तथा। भोः विश्रब्धो भव। अस्मासु सनिहितेष्वपि धारिणी पार्श्वपरिवृतिनीं मालविकामनुमन्यते।)

राजा—(सहर्षम्) सखे! पश्य।

मामियमभ्युत्तिष्ठति देवी विनयादनूत्थिता प्रियया।

विस्तृतहस्तकमलया नरेन्द्रलक्ष्म्या वसुमतीव॥ 6॥

(ततः प्रविशति धारिणी, मालविका, परिव्राजिका विभवतश्च परिवारः)

विदूषक—देखो मित्र! जान पड़ता है प्रमदवन में वसन्त की जवानी फिर लौट आई है।

राजा—ठीक कहते हो तुम। इस जाते हुए वसन्त में भी बिखरे हुए कुरबक के फूल मन में जवानी की लहरें उठाने लगे हैं॥ 4॥

विदूषक—(धूमकर) फूलों के गुच्छों से लदा हुआ यह सुनहरा अशोक ऐसा जान पड़ता है मानो इसका भी किसी ने सिंगार कर के सजा सँवारा हो। देखिए तो।

राजा—इसका देर से फूलना अच्छा ही हुआ, क्योंकि अब इसके आगे सभी वृक्षों की शोभा फीकी लगने लगी है। देखो! ऐसा जान पड़ता है कि जिन अशोक के वृक्षों ने पहले फूलकर वसन्त के आने की सूचना दी थी, उन सबने अपने-अपने फूल इसी अशोक के वृक्ष को दे डाले हैं जिसके फूलने का उपाय अभी थोड़े दिन हुए किया गया था॥ 5॥

विदूषक—हाँ लीजिए, अब अपना काम बना ही समझिए क्योंकि हम लोगों के आ पहुँचने पर भी महारानी धारिणी इस मालविका को अपने पास ही बैठने के लिये कह रही हैं।

राजा—(प्रसन्न होकर) देखो मित्र! मेरा आदर करने के लिये उठी हुई महारानी के पीछे, अपने कमल—जैसे दोनों हाथ खोले खड़ी हुई मेरी प्यारी मालविका ऐसी लग रही है मानो पृथ्वी के पीछे राजलक्ष्मी खड़ी हुई हो॥ 6॥

(धारिणी, मालविका, परिव्राजिका और उनकी दासियाँ दिखाई देती हैं।)

मालविका—(आत्मगतम्) जाणामि णिमित्तं कोदुआलंकारस्स । तह वि मे हिअअं विसिणीपत्तादं विअ सलिलं ववदि । अवि अ दविखणेदरं वि मे णअणं बहुसो फुरदि । (जाणामि निमित्तं कौतुकालंकारस्य । तथापि मे हृदयं विसिनीपत्रगतमिव सलिलं वेपते । अपि च दक्षिणेतरेमपि मे नयनं बहुशः स्फुरति ।)

विदूषकः—भो वअस्स । विवाहणेवत्थेण सविसेसं क्खु सोहदि मालविआ । (भो वयस्य । विवाहनेपथ्येन सविशेषं खलु शोभते मालविका ।)

राजा—पश्याम्येनाम् यैषा-

अनतिलम्बिदुकूलनिवासिनी बहुभिराभरणैः प्रतिभाति मे ।

उडुगणैरुदयोन्मुखचन्द्रिका हतहिमैरिव चैत्रविभावरी ॥ ७ ॥

धारिणी—(उपेत्य) जेदु जेदु अज्जउत्तो । (जयतु जयत्यार्यपुत्रः ।)

विदूषकः—वड्डदु भोदी । (वर्धतां भवती ।)

परिव्राजिका—विजयतां देवः ।

राजा—भगवति! अभिवादये ।

परिव्राजिका—अभिप्रेतसिद्धिरस्तु ।

धारिणी—(सस्मितम्) अज्जउत्त! एस ते अम्हेहिं तरुणीजणसहाअस्स असोओ संकेदधरो कप्पिदो । (आर्यपुत्र! एष तेस्माभिस्तारुणीजनसहायस्याशोकः संकेतगृहं कल्पितः)

विदूषकः—भो आराहिओसि (भोः आराधितोऽसि ।)

मालविका—(मन ही मन) मैं इस बनाव—सिंगार का अर्थ तो समझ रही हूँ, फिर भी न जाने क्यों मेरा हृदय कमलिनी के पतेपर पड़ी हुई जल की बूँद के समान अभी तक काँपे जा रहा है । पर मेरी बाई आँख भी आज बहुत फड़की पड़ रही है ।

विदूषक—कहो मित्र! विवाहके सिंगारों से सजी हुई मालविका कितनी सुन्दर जँचने लगी है? राजा—हाँ, देख तो रहा हूँ कि सिर पर एक छोटी सी ओढ़नी ओढ़े हुए और नीचे से ऊपर—तक अनेक प्रकार के सिंगारों से सजी हुई यह चैत की उस रात के समान दिखाई पड़ रही है जिसमें कोहरा हट जानेसे तारे खिल उठे हों और चाँदनी भी बस छिटकने ही वाली हो ॥ ७ ॥

धारिणी—(पास पहुँचकर) जय हो, आर्यपुत्र की जय हो ।

विदूषक—आपको बधाई है ।

परिव्राजिका—देव की जय हो ।

राजा—प्रणाम करता हूँ भगवती ।

परिव्राजिका—आपके मनकी साधें पूरी हों ।

धारिणी—(मुस्कराकर) आर्यपुत्र! लीजिए यह आपके लिए अशोक का ऐसा प्रेममिलन का घर बना दिया गया है जहाँ आप युवतियों से अकेले में जी भरकर मिल सकते हैं ।

विदूषक—लीजिए महाराज! देवी ने तो आपकी मनचाही कर दी ।

राजा—(सद्रीडमशोकमभितः परिक्रामन्)

नायं देव्या भाजनत्वं न नेयः सत्काराणामीदृशानामशोकः ।

यः सावज्ञो माधवश्रीनियोगे पुष्पैः शंसत्यादरं त्वत्प्रयत्ने ॥ 8 ॥

विदूषकः—भो! वीसन्द्यो भविअ तुम जोव्वणदि इमं पेक्ख । (भो! विश्रब्धो भूत्वा त्वं यौवनवतीमिमां पश्य ।)

धारिणी—कं । (काम्)

विदूषकः—भोदि तवणौआसोअस्स कुसुमसोहम् । (भवित! तपनीयाशोकस्य कुसुमशोभाम् ।)

(सर्व उपविशन्ति ।)

राजा—(मालविकां विलोक्य आत्मगतम्) कष्टः खलु संनिधिवियोगः ।

अहं रथाङ्गनामेव प्रिया सहचरीव मे ।

अननुज्ञातसंपर्का धारिणी रजनीव नौ ॥ 9 ॥

(प्रविश्य)

कञ्चुकी—विजयतां देवः! अमात्यो विज्ञापयति—विदर्भविषयोपाधने द्वे शिल्पकारिके मार्गपरिश्रमादलघुशरीरे इति पूर्व न प्रवेशिते । संप्रति देवोपस्थानयोग्ये संवृत्ते । तवाज्ञां देवो दातुमर्हतीति ।

राजा—प्रवेशय ते ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रम्य ताभ्यां सह प्रविश्य ।) इत इतो भवत्यौ ।

राजा—(लजाते हुए अशोक के चारों ओर घूमते हैं) देवी के हाथों इस अशोक का ऐसा आदर होना ही चाहिए, क्योंकि यह भी वसन्त की लक्ष्मी का कहना न मानकर और वसन्त में न फूलकर देवी के प्रयत्न करने पर ही फूला है ॥ 8 ॥

विदूषक—अब आप जी भरकर इस उठती जवानी वाली को देखिए ।

धारिणी—किसे?

विदूषक—देवी! इस सुनहरे अशोक के फूलों की शोभा को ।

(सब बैठ जाते हैं ।)

राजा—(मालविका को देखकर मन ही मन) इतने पास रहते हुए भी अलग बैठना जी में बहुत कसक रहा है । चकवा और चकवी की भाँति इतने पास बैठे हुए भी हम दोनों को ये रात्रि बनी हुई धारिणी मिलने नहीं दे रही हैं ॥ 9 ॥

(प्रवेशकर)

कञ्चुकी—देवकी जय हो । मंत्री जी ने कहलाया है कि विदर्भ से जो कला जानने वाली दो स्त्रियाँ भेंट के रूप में आई थीं वे उस समय थकी होने के कारण महाराज के पास नहीं लाई जा सकी थीं । अब वे महाराज के सामने लाई जा सकती हैं । उसके लिये देव की आज्ञा चाहिए ।

राजा—लेते आओ ।

कञ्चुकी—जैसी देवकी आज्ञा । (बाहर जाकर उन दोनों के साथ आता है ।) इधर से आइये आप, इधर से ।

प्रथमा—(जनान्तिकम्) हला मदणि। अपुष्पं इमं राअ उलं पविसन्तीष पसीददि मे हिअअं। (सखि मदनिके। अपूर्वमिदं राजकुलं प्रविशन्त्याः प्रसीदति मे हृदयम्।)

द्वितीया—जोसिणी। अत्थि क्खु लोअप्पवादो आआमि सुहं दुक्खं वा हिअवसमवत्था कहेदि ति। (ज्योत्स्नि के। अस्त खलु लोकप्रवादः आगामि सुखं दुःखं वा हृदयसमवस्था कथयतीति।)

प्रथमा—सो सच्चो दाणि होदु। (स सत्य इदानीं भवतु।)

कच्चुकी—एष देव्या सह देवस्तिष्ठति। उपसर्पतां भवत्यौ।

(उभे उपसर्पतः)

(मालविका परिव्राजिका च चेत्यौ विलोक्य परस्परमवलोकयतः।)

उभे—(प्रणिपत्य) जेदु जेदु भट्टा। जेदु जेदु भट्टिणी। (जयतु जयतु भर्त्रा। जयतु जयतु भट्टिनी।)

(उभे राजाज्ञया उपविष्टे।)

राजा—कस्यां कलायामभिविनीते भवत्यौ।

उभे—भट्टा! संगीदए अब्भन्तरेह। (भर्तः! संगीतकेऽभ्यन्तरे स्वः।)

राजा—देवि! गृह्यतामनयोरन्यतरा।

धारिणी—मालवि। इदो पेक्ख। कदरा दे संगीद सहआरिणी रुच्चदि। (मालविके! इतः पश्य। कतरा ते संगीतसहकारिणी रोचते।)

उभे (मालविकां दृष्ट्वा) अहो भट्टदारिआ। जेदु जेदु भट्टदारिआ। (अहो भर्तृदारिका। जयतु जयतु भर्तृदारिका।) (इति प्रणम्य तया सह वार्षं विसृजतः।)

(सर्वे सविस्मयं विलोकयन्ति)

पहली—(अलग) सखी मदनिका! हम पहले तो कभी इस राज-कुल में आई नहीं हैं, फिर भी न जाने क्यों यहाँ आते ही हमारा जी खिला पड़ा रहा है।

दूसरी—ज्योत्स्निका! कहा जाता है कि आगे आने वाले सुख या दुःख सभी को अपना मन पहले ही जता देता है।

पहली—भगवान् करें, वह बात आज सच हो जाय।

कच्चुकी—देखिए, यह महारानी के साथ महाराज बैठे हुए हैं। आप दोनों आगे बढ़ जाइए।

(दोनों बढ़ जाती हैं।)

(मालविका और परिव्राजिका इन दोनों दासियों को देखकर एक दूसरे की ओर देखती हैं।)

दोनों—(प्रणाम करके) जय हो, स्वामी की जय हो। जय हो, स्वामिनी की जय हो।

(राजा के कहने से दोनों बैठ जाती हैं।)

राजा—आप लोगों को कौन-सी कला आती है?

दोनों—स्वामी! हम लोगों ने संगीत सीखा है।

राजा—लो देवी, इनमें से जिसे चाहो उसे अपने लिये चुन लो।

धारिणी—मालविका! इधर देखो, संगीत में तुम्हारा साथ देने के लिये इनमें से तुम्हें कौन-सी अच्छी लगती है।

दोनों—(मालविका को देखकर) अरे, राजकुमारी! जय हो राजकुमारी, जय हो। (प्रणाम करके उससे गले मिलकर रोने लगती हैं।)

(सब अचरज से देखते हैं।)

राजा—के भवत्यौ। का वेयम्।

उभे—भट्टा! एसा अम्हाणं भट्टदारिआ। (भर्तः। एपास्माकं भर्तृदारिका।)

राजा—कथमिव।

उभे—सुणादु भट्टा। जो सो भट्टिण्णा विजअदंडहिं विदब्भणाहं वसीकरिअ बंधणादो मोइओ कुमारो माहवसेणो णाम तस्स इअं कणीअसी भइणी मालविआ णाम। (शृणोतु भर्ता। यः स भर्ता विजयदण्डैर्विदर्मनाथं वशीकृत्य बन्धनान्मोचितः कुमारो माधवसेनो नाम तस्येयं कनयीसी भगिनी मालविका नाम।)

धारिणी—कहं राअदारिआ इअं। चन्दणं क्खु मए पादुओवओएण दूसिदं (कथं राजदारिकेयम्। चन्दनं खलु मया पादुकोपयोगेन दूषितम्।)

राजा—अथात्रभवती कथमित्यंभूता।

मालविका—(निःश्वस्यात्मगतम्।) विहिणिओएण। (विधिनियोगेन)

द्वितीया—सुणादु भट्टा। दाआदवसंगे भट्टदारए महावसेणे तस्स अमच्चेण अम्हारिसं परिअणं उज्झिअ गूढं आणीदा एसा। (शृणोतु भर्ता। दायादवशंगते भर्तृदारके माधवसेने तस्यामात्येनार्यसुमतिनास्मादृशं परिजनमुज्झित्वा गूढमानीतैषा।)

राजा—श्रुतपूर्वं मयैतत्। ततस्ततः।

द्वितीया—भट्टा! अदो वरं ण आणामि। (भर्तः! अतः परं न जानामि।)

परिव्राजिका—ततः परं मन्दभागिनी कथयिष्यामि।

उभे—भट्टदारिए! अज्जकोसिएए विअ सरसंजोओ। णं सा एव्व। (भर्तृदारिके! आर्यकौशिक्या इव स्वरसंयोगः। ननु सैव।)

मालविका—अह इम्। (अथ किम्।)

राजा—आप लोग कौन हैं और ये कौन हैं?

दोनों—स्वामी! ये हमारी राजकुमारी हैं।

राजा—कैसे?

दोनों—सुनिए स्वामी! आपकी विजयी सेना ने विदर्भ के राजा को जीतकर जिन कुमार माधवसेन को बन्धन से छुड़ाया है, उन्हीं की ये छोटी बहिन मालविका हैं।

धारिणी—अरे! तो क्या ये राजकुमारी हैं। मैंने सचमुच चन्दन से खड़ाऊँ का काम लेकर बड़ा पाप किया है।

राजा—तो वे इस रूप में यहाँ कैसे आ गईं।

मालविका—(लंबी साँस लेकर मन ही मन) भाग्य के फेर से।

दूसरी—सुनिए महाराज! जब राजकुमार माधवसेन को उनके चचेरे भाई ने पकड़ लिया था, तब उनके मंत्री आर्य सुमति जी इन्हें हम लोगों से हटा कर, यहाँ छिपाकर लेते आए।

राजा—यह तो मैं पहले सुन चुका हूँ। तब क्या हुआ?

दूसरी—इसके पीछे की बात मैं कुछ नहीं जानती हूँ स्वामी!

परिव्राजिका—इसके पीछे की कथा मैं अभागिनी बताती हूँ।

दोनों—राजकुमारी! यह तो आर्या कौशिकी—किसी बोली लग रही है। वे ही हैं क्या?

मालविका—और क्या?

उभे—जदिवेसधारिणी अज्जकोसिई दुक्खेण विभावीअदि । भअवदि ! णमो दे । (यतिवेपधारिण्यायंकौशिकी दुःखेन विभाव्यते । भगवति ! नमस्ते ।)

परिव्राजिका—स्वस्ति भवतीभयाम् ।

राजा—कथम् । आप्तवर्गोऽयं भगवत्याः ।

परिव्राजिका—एवमेतत् ।

विदूषकः— तेण हि कहेदु भअवदी अत्तहोदीए वृत्तन्तं दाव असेसं । (तेन हि कथयतु भगवत्यत्रभवत्या वृत्तान्तं तावदशेषम् ।)

परिव्राजिका—(सवैक्लव्यम्) तावच्छ्रयताम् । माधवसेनसचिवं ममाग्रजं सुमतिमवगच्छ ।

राजा—उपलक्षितः । ततस्ततः ।

परिव्राजिका—स इमां तथागतभ्रातृकां मया सार्धमपवाह्य भवत्सम्बन्धापेक्षया पथिकसार्थ विदिशागामिनमनुप्रविष्टः ।

राजा—ततस्ततः ।

परिव्राजिका—स चातव्यन्तरे निविष्टो गताध्वा वणिग्राणः ।

राजा—ततस्ततः ।

परिव्राजिका—ततः किंचान्यत् ।

तूणीरपट्टपरिणद्धभुजान्तरालमापार्णिगलम्बिशिखिबर्हकलापधारि

कोदण्डपाणि विनदत्प्रतिरोधकानामापातदुष्प्रसहमाविरभूदनीकम् ॥ 10 ॥

(मालविका भयं रूपयति ।)

दोनों—संन्यासिनी का वेश बना लेने से कौशिकी जी बड़ी कठिनाई से पहचान में आती हैं । आपको प्रणाम है भगवती ।

परिव्राजिका—तुम दोनों का कल्याण हो ।

राजा—क्यों, क्या ये भी आपकी चेलियाँ हैं ?

परिव्राजिका—जी हाँ, हैं तो ।

विदूषक—तब आप ही इनकी पूरी कथा सुना डालिए ।

परिव्राजिका—(दुखी होकर) तो सुनिए ! माधवसेन के मन्त्री सुमति मेरे बड़े भाई थे । राजा—अच्छा समझ गए । हाँ, तब ।

परिव्राजिका—माधवसेन के पकड़े जाने पर मेरे बड़े भाई सुमति आपके साथ इसका विवाह करने के विचार से इसे और मुझे साथ लेकर विदिशा की ओर आते हुए एक व्यापारी दल के साथ हो लिए ।

राजा—तब तब ?

परिव्राजिका—थोड़ी दूर तक खुली सड़क पर चल चुकने पर उन्हें जंगल में होकर जाना पड़ा ।

राजा—तब क्या हुआ ?

परिव्राजिका—फिर क्या ? अचानक कन्धों पर तूणीर कसे हुए, पीठ पर लम्बे-लम्बे पंख बाँधे हुए और हाथ में धनुष-बाण लिए हुए कुछ डाकू ऐसे ललकारते हुए हम पर दूट पड़े कि उनसे लड़कर जीतना बड़ा कठिन हो गया ॥ 10 ॥

(मालविका डरने का नाट्य करती है ।)

विदूषकः—भोदि ! मा भआहि अदिवक्तं क्खु तत्तहोदी कहेदि । (भवति मा बिभेहि । अतिक्रान्तं खलु तत्रभवती कथयति ।)

राजा—ततस्ततः ।

परिव्राजिका—ततो मुहूर्तं वद्धायुधास्ते पराङ्मुखीभूताः सार्थवाहयोद्धारस्तस्करैः ।

राजा—हन्त । इतः परं कष्टतरं श्रोतव्यम् ।

परिव्राजिका—ततः स मत्स्योदर्यः ।

इमां परीप्सुर्दुर्जतिं पराभिभवकातराम् ।

भर्तृप्रियः प्रिवैर्भर्तुरानुण्यमसुभिर्गतः ॥ 11 ॥

प्रथमा—हा हदो सुमदी । (अहो हतः सुमतिः ।)

द्वितीया—तदो क्खु इअं भट्टदारिआए समवत्था संवुत्ता । (ततः खल्वियं भर्तृदारिकायाः समवस्था संवृत्ता ।)

(परिव्राजिका वाष्पं विसृजति ।)

राजा—भगवति ! तनुत्यजामीदृशी लोकयात्रा । न शोच्यस्तत्रभवान्सफलीकृतभर्तृपिण्डः । ततस्ततः ।

परिव्राजिका—ततोऽहं मोहमुपगता यावत्संज्ञां लभे तावदियं दुर्लभदर्शना संवृत्ता ।

राजा—महत्खलु कृच्छ्रमनुभूतं भगवत्या ।

परिव्राजिका—ततो भ्रातुः शरीरमग्निं सात्कृत्वा पुनर्नवीकृतवैधव्यदुःखया मया त्वदीयं देशमवतीर्य इमे काषाये गृहीते ।

विदूषक—डरिए मत देवी । यह तो बीती हुई बातें आपको सुना रही हैं ।

राजा—तब, तब ?

परिव्राजिका—तब थोड़ी ही देर में, व्यापारियों के साथ चलने वाले सब लड़ाकों को डाकुओं ने मार भगाया ।

राजा—हैं, हैं । क्या इससे भी बढ़कर दुःखदायी बात सुनाने वाली हैं ?

परिव्राजिका—तब मेरे भाई ने उस विपत्ति में शत्रु के आक्रमण से घबराई हुई इन मालविका को बचाने के लिये अपने प्राण देकर अपने स्वामी का भार चुका दिया ॥ 11 ॥

पहली—अरे । तो क्या सुमति जी मारे गए ?

दूसरी—इसी से हमारी राजकुमारी बेचारी की ऐसी दुर्दशा हुई ।

(परिव्राजिका रोने लगती हैं ।)

राजा—भगवति । सभी नाशवान् प्राणियों को यह संसार इसी प्रकार छोड़ना ही पड़ता है, और फिर उन्होंने तो अपने स्वामी का अन्न सुफल कर दिया है, इसलिये उनके लिये रोना नहीं चाहिए । हाँ, फिर क्या हुआ ?

परिव्राजिका—यह देखकर मैं तो मूर्च्छित हो गई और जब मुझे चेतना आई तो देखती क्या हूँ कि मालविका का कहीं पता नहीं है ।

राजा—बड़ा कष्ट आपको भोगना पड़ा ।

परिव्राजिका—तब अपने भाई के शरीर का अन्तिम संस्कार करके अपने विधवापन के दुःख को फिर हरा करके मैंने आपके देश में आकर गेरुआ रँगा लिया ।

राजा—युक्तः सज्जनस्यैव पन्थाः ततस्ततः।

परिव्राजिका—सेयमाटविकेभ्यो वीरसेनं वीरसेनाच्च देवीं गता। देवीगृहे लब्धप्रवेशया मया चानन्तरं दृष्टेयेतदवसानं कथायाः।

मालविका—(आत्मगतम्) किं शु क्खु संपदं भट्टा भणादि। (किं नु खलु सांप्रतं भर्ता भणति।)

राजा—अहो परिभवोपहारिणो विनिपाताः। कुतः—

प्रेष्यभावेन नामेयं देवीशब्दक्षमा सती।

स्नानीयवस्त्रक्रियया पत्रोर्ण वोपयुज्जते॥ 12॥

धारिणी—भगवति! तुए अभिजणवदिं मालविअं अणाचक्खंतीए असंपदं किदम्। (भगवति! त्वयाभिजनवती मालविकामनाचक्षणयाऽसांप्रतं कृतम्।)

परिव्राजिका—शान्तं पापम्। केनचित्कारणेन खलु मया नैर्घृण्यामवलम्बितम्।

धारिणी—किं विअ तं कारणम्। (किमिव तत्कारणम्।)

परिव्राजिका—इयं पितरि जीवति केनापि देवयात्रागतेन सिद्धादेशकेन साधुना मत्समक्षं समादिष्टा--आसंवत्सरमात्रमियं प्रेष्यभावमनुभूय ततः सदृशभर्तृगामिनी भविष्यतीति। तदेवंभाविनमादेशमस्यास्त्वत्पादशुश्रूषया परिणमन्तमवेक्ष्य कालप्रतीक्षया मया साधु कृतमिति पश्यामि।

राजा—युक्ता प्रतीक्षा।

राजा—सज्जनों को यही चाहिए भी। फिर क्या हुआ?

परिव्राजिका—फिर वीरसेन ने मालविका को उन डाकुओं से छुड़ाकर यहाँ देवी के पास ला पहुँचाया। यहाँ देवी के पास आने पर ही मैंने इन्हें देखा है। इतनी-सी ही मेरी कथा है।

मालविका—(मन ही मन) देखें, महाराज इस पर क्या कहते हैं?

राजा—देखिए! विपत्ति आने पर कितना अनादर हो जाता है, क्योंकि जो सती कहलाने योग्य रानी थी, उससे दासी का काम लिया जा रहा था। यह बात ठीक ऐसी ही हुई है जैसे कोई ऊन के कपड़े से देह पोंछने का काम ले॥ 12॥

धारिणी—भगवति! यह बात छिपाकर आपने अच्छा नहीं किया कि मालविका इतने ऊँचे घराने की हैं।

परिव्राजिका—नहीं, ऐसा न कहिए। मैंने बहुत समझ-बूझकर ही ऐसी निदुराई की थी।

धारिणी—यह क्या बात थी?

परिव्राजिका—जिन दिनों इनके पिता जीवित थे उन दिनों देवयात्रा में एक ऐसा साधु भी आ गया था जो आगे की बात बताया करता था। उसने मेरे आगे ही कहा कि इसे एक वर्ष तक तो दासी होकर रहना पड़ेगा, पर उसके पीछे बड़े योग्य पति से इसका विवाह हो जायगा। जब मैंने देखा कि यह भविष्यवाणी आपके चरणों की सेवा करते हुए पूरी हो रही है तब मैं चुप्पी लगा गई-और इसीलिये मैं समझती हूँ कि मैंने अच्छा ही किया।

राजा—यह चुप रहना अच्छा ही हुआ।

कञ्चुकी—देव! कथान्तरेणान्तरितम्। अमात्यो विज्ञापयति—विदर्भगतमनुष्येयमनुष्ठितमभूत्। देवस्य तावदभिप्रायं श्रोतुमिच्छामीति।

राजा—मौद्गल्य! तत्रभवतोर्यज्ञसेनमाधवसेनयोर्द्वैराज्यमिदानीमवस्थापयितुकामोऽस्मि।

तौ पृथग्वरदाकूले शिष्टानुत्तरदक्षिणे।

नक्तंदिवं विभज्योभौ शीतोष्णकिरणाविव॥ 13॥

कञ्चुकी—देव! एवममात्यपरिषदे निवेदयामि।

(राजाङ्गुल्यानुमन्यते।)

(निष्क्रान्तः कञ्चुकी।)

प्रथमा—(जनान्तिकम्) भट्टदारिण! दिङ्गिणा भट्टिदारओ अद्धरज्जे पडिङ्गं गमइस्सदि। (भर्तृदारिके दिष्ट्या भर्ता भर्तृदारकोऽर्धराज्ये प्रतिष्ठां गमयिष्यते।)

मालविका—एदं दाव बहु मणिदव्वं जं जीविदसंसआदो मुत्तो। (एतत्तावद्वहुमन्तयम् यज्जीवितसंशयान्मुक्तः।)

(प्रविश्य)

कञ्चुकी—विजयतां देवः। देव अमात्यो विज्ञापयति—कल्याणी देवस्य बुद्धिः। मन्त्रिपरिषदोपेतदेव दर्शनम्। कुतः॥

द्विधा विभक्तां श्रियमुद्रहन्तौ धुरं रथाश्वाविव संग्रहीतुः।

तौ स्थास्यतस्ते नृपतेर्निदेशे परस्पोपग्रहनिर्विकारौ॥ 14॥

राजा—तेन हि मन्त्रिपरिषदं ब्रूहि—सेनान्ये वीरसेनाय लेख्यतामेवं क्रियतामिति।

कञ्चुकी—देव! इस कथा के बीच में एक बात छूट गई। मन्त्री जी ने कहलाया है कि विदर्भ के लिये जो प्रबन्ध करना था, वह सब कर दिया गया है, पर मैं महाराज की इच्छा भी जान लेना चाहता हूँ।

राजा—मौद्गल्य! मैं चाहता हूँ कि यज्ञसेन और माधवसेन दोनों, वरदा नदी के उत्तर और दक्षिण दोनों तटों पर अपने-अपने अलग-अलग राज बनाकर वैसे ही सुखसे राज करें जैसे सूर्य और चन्द्रमा रात और दिन को आपस में बाँटकर अलग-अलग चमकते हैं॥ 13॥

कञ्चुकी—मैं अमात्य-परिषद् से यही बात कह आता हूँ देव!

(राजा उँगली से स्वीकृति दे देते हैं, कञ्चुकी चला जाता है।)

पहली—(अलग) राजकुमारी! यह बड़ी अच्छी बात हुई कि राजकुमार को महाराज आधे राज पर बैठाए दे रहे हैं।

मालविका—अरे, इतना ही बहुत समझो कि उनके प्राण बच गए।

कञ्चुकी—(आकर) देव की जय हो। देव! अमात्य ने कहलाया है कि महाराज ने बहुत ठीक सोचा है और अमात्य-परिषद् की भी यही सम्मति है, क्योंकि जैसे रथ में चलने वाले दो घोड़े सारथी के हाथ में ठीक से चलते हैं, वैसे ही महाराज की देख-रेख में ये दोनों भाई भी आपस का बैर छोड़कर दो भागों में बाँटे हुए, अपने राज्य के धुरे को बड़े सुखसे सँभाल सकेंगे॥ 14॥

राजा—तो जाकर अमात्य—परिषद् से कह दो कि सेनापति वीरसेन को लिख भेजें कि वे ऐसा ही प्रबन्ध कर दें।

कञ्चुकी--यदाज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रम्य सप्राभृतकं लेखं गृहीत्वा पुनः प्रविष्टः।) अनुष्ठिता प्रभोराज्ञा। अयं देवस्य सेनापतेः पुष्यमित्रस्य सकाशात्सोत्तरीयप्राभृतको लेखः प्राप्तः। प्रत्यक्षीकरोत्वेनं देवः।

(राजोत्थाय सप्राभृतकं लेखं सोपचारं गृहीत्वा परिजनायार्पयति।)

(परिजनो लेखं नाट्येनोद्धाटयति।)

धारिणी—(आत्मगतम्) अम्हो। तदोमुहं एव्व णो हिअअं। सुणस्सं दाव गरुअणस्स कुसलाणन्तरं वसुमित्तस्स वृत्तन्तं। अदिधोरे क्खु पुत्तओ सेनावदिणा णित्तो। (अहो। ततोमुखमेव नो हृदयम्। श्रोष्यामि तावद्गुरुजनस्य कुशलानन्तरं वसुमित्रस्य वृत्तान्तम्। अतिधोरे खलु पुत्रकः सेनापतिना नियुक्तः।)

राजा—(उपविश्य लेखं सोपचारं गृहीत्वा वाचयति।) स्वस्ति यज्ञशरणात्सेनापतिः वैदिशस्थं पुत्रमायुष्मन्तमग्निमित्रं स्नेहात्परिष्वज्येदमनुदर्शयतिविदितमस्तु। योऽसौ राजायज्ञदीक्षितेन मया राजपुत्रशतपरिवृतं वसुमित्रं गोप्तारमादिश्य वत्सरोपात्तनियमो निर्गलस्तुरङ्गो विसृष्टः स सिन्धोर्दक्षिणरोधसि चरन्नश्चानीकेन बवनेन प्रार्थितः। ततः उभायोः सेनयोर्महानासीत्समर्दः।

(देवी विषादं नाटयति।)

राजा—कथमीदृशं संवृत्तम्। (शेषं पुनर्वाचयति।)

ततः परान्पराजित्य बुमित्रेण धन्विना।

प्रसह्य द्वियमाणो मे वाजिराजो निवर्तितः॥ 15॥

कञ्चुकी—जैसी देव की आज्ञा। (बाहर जाता है और भेंट के साथ पत्र लिए हुए फिर आता है।) आपकी आज्ञा कह सुनाई। श्रीमान् सेनापति पुष्यमित्र के पास से उत्तरीय आदि भेंट की सामग्रियों के साथ-साथ पत्र भी आया है। इसे महाराज देख लेने की कृपा करें।

(राजा उठकर बड़े आदर के साथ भेंट की सामग्री और पत्र लेकर अपने सेवक को दे देते हैं। वह उस पत्र को खोलने का नाट्य करता है।)

धारिणी—(मन ही मन) अरे! मेरा जी भी इसे सुनने को छटपटा रहा है! बड़ों का कुशल समाचार सुनकर फिर वसुमित्र का समाचार सुनूँगी। सेनापति ने मेरे बच्चे को बड़े संकट का काम सौंप दिया है।

राजा—(बैठकर बड़े आदर से पत्र लेकर पढ़ते हैं।) आपका कल्याण हो। विदिशा में आए हुए चिरंजीवी पुत्र अग्निमित्र को स्नेह से गले भेंटकर अश्वमेध यज्ञ की दीक्षा लिए हुए सेनापति पुष्यमित्र लिख रहे हैं—हम यह बताना चाहते हैं कि अश्वमेध की दीक्षा लेकर मैंने एक वर्ष की अवधि बाँधकर जो खुला घोड़ा छोड़ा था और जिसकी रक्षा के लिये सैकड़ों राजकुमारों के साथ वसुमित्र को भेजा था, वह घोड़ा जब सिन्धु नदी के दक्षिण तट पर चर रहा था तब घुड़सवार सेना के एक यवन ने उसे पकड़ लिया। इस पर दोनों सेनाओं में बड़ी घमासान लड़ाई हुई।

(देवी दुखी होने का नाट्य करती हैं।)

राजा—अरे! क्या यहाँ तक बात बढ़ गई? (बचा हुआ फिर बाँचता है।) तब धनुष—धारी वसुमित्र ने बड़ी वीरता से शत्रुओं को मार भगाया और छिने हुए घोड़ों को फिर लौटा लिया॥ 15॥

धारिणी—इमिणा आसहिदं मे हिअअं । (अनेनाश्वस्तं मे हृदयम् ।)

राजा—(शेषं पुमर्वाचयति ।) सोऽहमिदानीमंशुमता सगरपुत्रेणेव प्रत्याहताश्वो यक्ष्ये । तदिदानीमकालहीनं विगतरापचेतसा भवता बधूजनेन सह यज्ञसेवनायागन्तव्यमिति ।

राजा—अनुगृहीतोस्मि ।

परिव्राजिका—दिष्ट्या पुत्रविजयेन दम्पती वर्धते ।

भर्त्रासि वीरपत्नीनां श्लाघ्यानां स्थापिता धुरि ।

वीरसूरिति शब्दोऽयं तनयात्त्वामुपस्थितः ॥ 16 ॥

धारिणी—भगवदि! परितुङ्गिह जं पितरं अणुजादो मे वच्छओ । (भगवति! परितुष्टास्मि यत्पितरमनुजातो मे वत्सकः ।)

राजा—मौद्गल्य! ननु कलभेन यूथपतेरनुकृतम् ।

कञ्चुकी—देव! अयं कुमारः-

नैतावता वीरविजृम्भितेन चित्तस्य नो विस्मयमादधाति ।

यस्याप्रधृष्यः प्रभवस्त्वमुच्चैरग्नेरपां दग्धुरिवोरुजन्मा ॥ 17 ॥

राजा—मौद्गल्य! यज्ञसेनश्यालमुरीकृत्य मोच्यन्तां सर्वे बन्धनस्थाः ।

कञ्चुकी—येदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः ।)

धारिणी—जसेयणे! गच्छ । इरावदीपमुहाणं अन्तेवुराणं पुत्तस्स वुत्तन्तं णिवेदेहि । (जयसेने! गच्छ । इरावतीप्रमुखेभ्योऽन्तःपुरेभ्यः पुत्रस्य वृत्तान्तं निवेदय ।)

धारिणी—अब मेरे जी में जी आया ।

राजा—(बचा हुआ फिर पढ़ता है ।) इसलिये जैसे अंशुमान्-द्वारा घोड़ा छुड़ा लाने पर सगरने यज्ञ किया था, वैसे ही मैं भी यह यज्ञ करने जा रहा हूँ । इसलिये अब आप तत्काल शान्तचित होकर बहुओं को साथ लेकर यज्ञ देखने के लिये चले आएँ । बस इतना ही ।

राजा—बड़ी कृपा हुई मुझ पर ।

परिव्राजिका—पुत्र की विजय के लिये आप दोनों को बधाई है । अब तक आप संसार की सब प्रशंसनीय वीर पत्नियों की सिरमौर थीं, पर आपके पुत्र ने आपके नाम के साथ वीर-माता की पदवी भी जोड़ दी है ॥ 16 ॥

धारिणी—भगवती! मुझे तो यही सुख है कि मेरा बच्चा पिता के समान ही पराक्रमी निकला ।

राजा—मौद्गल्य! सचमुच इस हाथी के बच्चे ने तो हाथियों के नायक का काम कर डाला ।

कञ्चुकी—देव! कुमार की इस वीरता से मुझे कोई बड़ा अचरज नहीं हो रहा है, क्योंकि जैसे समुद्र को जला डालने वाले बड़वानल का जन्म उरुजन्मा (और्वी) ऋषि से हुआ है वैसे ही इनका भी जन्म आप से हुआ है जो आज तक किसी से नहीं हारे हैं ॥ 17 ॥

राजा—मौद्गल्य! जाओ, यज्ञसेन के साले के साथ-साथ और भी जितने बन्दी हों सब को छोड़ने को कह दो ।

कञ्चुकी—देव की जैसी आज्ञा । (चला जाता है ।)

धारिणी—जाओ, जयसेना । इरावती आदि रनिवास की सब रानियों से हमारे पुत्र के विजय की बात

(प्रतीहारी प्रस्थिता ।)

धारिणी—एहि दाव । (एहि तावत् ।)

प्रतीहारी—(प्रतिनिवृत्य ।) इअ म्हि । (इयमस्मि ।)

धारिणी—(जनान्तिकम्) जं मए असोअदोहलणिओए मालविआए पइण्णादं तं से अभिअणं च णिवेदिअ मह वअणेण इरावदिं अणुणेहि-तुए अहं सच्चादो णविब्भसिदव्वे त्ति । (यन्मयाशोकदोहदनियोगे मालविकायै प्रतिज्ञातं तदस्या अभिजनं च निवेद्य मम वचने नेरावतीमनुना—सत्यान्न विभ्रंशयित्रव्येति ।)

प्रतीहारी—जं देवी आणवेदि । (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य) भट्टिणि! पुत्रविजयणिमित्तेण परितोसेण अन्तेउराणं आहरणाणं मंजूसम्हि संवुत्ता । (यद्देव्यज्ञापयति । भट्टिणि! पुत्रविजयनिमित्तेन परितोषेणान्तःपुराणामाभरणानां मञ्जूपास्मि संवृत्ता ।)

धारिणी—एदंकि अच्चरिअं । साहारणो वखु ताणं मह अ अअं अब्भुदओ । (एतत्कि माश्चर्यम् । सधारणः सधारणः खलु तासां मम चायमभ्युदयः ।)

प्रतीहारी—(जनान्तिकम्) भट्टिणी! इरावदी उण विण्णवेदि—सरिसं देवीए पहवन्तीए । तुह वअणं सकपिदं ण जुज्जदि अण्णहा कादुं त्ति । (भट्टिनि! इरावती पुनर्विज्ञापयति—सदृशं देव्याः प्रभवन्त्याः । तव वचनं संकल्पितं न युज्यतेऽन्यथाकर्तुमिति ।)

धारिणी—भअवदि! तुए अणुमदा इच्छामि अज्जसुमदिणा पढमसंकप्पिदं मालविअं अज्जउत्तस्स पडिवादेदुं । (भगवति! त्वयानुमतेच्छाम्यार्यसुमतिना प्रथमसंकल्पितां मालविकामार्यपुत्राय प्रतिपादयितुम् ।)

परिव्राजिका—इदानीमपि त्वमेवास्याः प्रभवसि ।

कह तो आओ ।

(प्रतीहारी जाना चाहती है ।)

धारिणी—और सुनो!

प्रतीहारी—(लौटकर) जी, कहिए ।

धारिणी—(अलग) देखो! अशोक के फूलने के लिये मैंने मालविका से जो प्रतिज्ञा की थी वह बात और इसके ऊँचे घराने की बात कहकर मेरी ओर से इरावती से विनय करना कि देखो! अब आप कोई ऐसी बात न कर बैठें कि मुझे अपने वचन से हटना पड़े ।

प्रतीहारी—जैसी देवी की आज्ञा । (बाहर जाकर फिर आ जाती है ।) स्वामिनी! आपके पुत्र की विजय की बात सुनकर मुझ पर पुरस्कारों की इतनी बौछार हुई कि मैं तो रनिवास के गहनों की पिटारी ही बन गई हूँ ।

धारिणी—इसमें अचरज की क्या बात है, इसमें तो उनका और मेरा दोनों का समान ही गौरव है न ।

प्रतीहारी—(अलग) स्वामिनी! इरावती ने यह भी कहलाया है कि आपने अपने गौरव के अनुकूल ही बात सोची है । जो कुछ आप कह चुकी हैं उसे पूरा कीजिए ।

धारिणी—भगवती । आर्य सुमति ने आर्यपुत्र से मालविका का विवाह कराने का जो पहले विचार कर रक्खा था उसे मैं आपकी सम्मति से पूरा कर देना चाहती हूँ ।

धारिणी—(मालविकां हस्ते गृहीत्वा) इदं अज्जउत्तो पिअणिवेदणाणुरूवं पारितोसिअं पडिच्छदु त्ति ।
(इदमार्यपुत्रः प्रियनिवेदनानुरूपं पारितोषिकं प्रतीच्छत्विति ।)

(राजा ब्रीडां नाटयति ।)

धारिणी—(सस्मितम्) किं अवधीरेदि अज्जउत्तो । (किमवधीर्यत्यार्यपुत्रः ।)

विदूषकः—भोदि! एसो लोअव्ववहारो । सव्वो णववरो लज्जादुरो होदि त्ति ।

(भवति । एष लोकव्यवहारः । सर्वो नववरो लज्जातुरो भवतीति ।)

(राजा विदूषकमवेक्षते)

विदूषकः—अह देवी एव्व किदप्पणअविसेसं दिण्णदेवीसदं मालविअं अत्तभवं पडिग्गहीदुं इच्छदि ।
(अथ दैव्यैव कृतप्रणयविशेषां दत्तदेवीशब्दां मालविकामत्रभवान्प्रतिगृहीतुमिच्छति ।)

धारिणी—एदाए राअदारिआए अहिजणेण एव्व दिण्णो देवीसदो किं पुणरुत्तेण । (एतस्या राजदारिकाया अभिजनेनैव दत्तो देवीशब्दः किं पुनरुक्तेन ।)

परिव्राजिका—मा मैवम् ।

अप्याकरसमुत्पन्नो रत्नजातिपुरस्कृतः ।

जातरूपेण कल्याणि! मणिः संयोगमर्हति ।। 18 ।।

धारिणी—(स्मृत्वा) मरिसेदु भअवदी! अब्भुदअकहाए उइदं ण लक्खिदं । जअसेणे! गच्छ दाव ।
कोसेअपत्तोण्णजुअलं उवणेहि । (मर्षयतु भगवति! अभ्युदय कथयोचितं न लक्षितम् । जयसेने! गच्छ तावत् । कौशेयपत्रोर्णयुगलमुनय ।)

प्रतीहारी—जं देवी आणवेदि । (इति निष्क्रम्य पत्रोण गृहीत्वा पुनः प्रविश्य) देवी! एदम् । (यद्देव्याज्ञापयति ।
देवि! एतत् ।)

परिव्राजिका—अब भी तो आप ही इनकी सब कुछ हैं ।

धारिणी—(मालविका का हाथ पकड़कर) आर्यपुत्र! कुमार की विजय का प्यारा समाचार सुनाने का यह प्यारा पारितोषिक तो लीजिए ।

(राजा लजा जाते हैं ।)

धारिणी—(मुसकराकर) क्या आर्यपुत्र मेरी भेंट नहीं स्वीकार करना चाहते?

विदूषक—देवी! यह तो लोक-व्यवहार दिखा रहे हैं । सभी नये दूल्हे ऐसे समय लजाया ही करते हैं ।

(राजा विदूषक की ओर घूरते हैं ।)

विदूषक—जिन मालविका को महारानी ने ही इतने प्रेम से देवी बना दिया है, उन्हें महाराज क्यों न स्वीकार कर लेंगे ।

धारिणी—इन राजकुमारी के ऊँचे घराने ने ही इन्हें रानी बना दिया है । उसे दुहराने की क्या बात है ।

परिव्राजिका—नहीं ऐसी बात नहीं है । खान से निकले हुए सबसे अच्छे मणि को भी सोने में जड़ने की आवश्यकता तो पड़ती ही है ।। 18 ।।

धारिणी—(कुछ स्मरण करके) क्षमा कीजिए भगवती! कुमार की इस विजय के हुलास में एक बड़ी आवश्यक बात तो मैं भूल ही गई । जयसेना! जा, ऊनी रेशमी जोड़ा तो ले आ ।

धारिणी—(मालविकामवगुण्ठनवर्ती कृत्वा) अज्जउत्तो! दारिणि इमं पडिच्छदु। (आर्यपुत्र! इदानीमिमां प्रतीच्छतु।)

राजा—त्वच्छासनात्प्रवृत्ता एव वयम्। (अपवार्य) हन्त प्रतिगृहीता।

विदूषकः—अहो देवीए अणुऊलदा। (अहो देव्या अनुकूलता।)

(देवी परिजनमवलोकयति।)

प्रतीहारी—(मालविकामुपेत्य।) जेदु भट्टिणी। (जयतु भट्टिनी।)

(देवी परिव्राजिकां निरीक्षते।)

परिव्राजिका—नैतच्चित्रं त्वयि।

प्रतिपक्षेणापि पतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः।

अन्यसंरितामपि जलं समुद्रगाः प्रापयन्त्युदधिम्॥ 19॥

(प्रविश्य)

निपुणिका—जेदु भट्टा। इरावदी विष्णावेदि—जं उवआरातिक्कमेण तदा भट्टिणो अवरद्धा तं सअं एव्वं भट्टुणो अणुऊलं णाम मए आअरिदं। संपदं पुण्णमणोरहेण भट्टुणा पसादमतेण संभावइदव्वेतिं। (जयतु भर्ता! इरावती विज्ञापयति—यदुपचारातिक्रमेण तदा भत्रे अपराद्धा तत्स्वयमेव भर्तुर्नुकूलं नाम मयाचरितम्। सांप्रतं पूर्णमनोरथेन भर्त्रा प्रसादमात्रेण संभावयितव्येति।)

धारिणी—णिउणिए! अवस्सं से सेविदं अज्जउत्तो जाणिस्सदि। (निपुणिके! अवश्यमस्याः सेवितमार्यपुत्रो ज्ञास्यति।)

निपुणिका—अणुग्गहीदमिह। (अनुगृहीतास्मि।)

प्रतीहारी—जैसी देवी की आज्ञा। (जाती है और वस्त्र लेकर फिर आती है) यह लीजिए देवी।

धारिणी—(मालविका के सिर पर उढ़ाकर) अब इसे स्वीकार कीजिए।

राजा—आप जो कहेंगी, वह तो मानना ही पड़ेगा। (अलग) अजी, मैं तो इसे पहले से ही स्वीकार किए बैठा हूँ।

विदूषक—वाह! महारानी भी कैसी अच्छी हैं।

(रानी दासियों की ओर देखती हैं।)

प्रतीहारी—(मालविका के पास जाकर) स्वामिनी की जय हो।

(महारानी परिव्राजिका की ओर देखती हैं।)

परिव्राजिका—आपकी यह उदारता देखकर मुझे तनिक भी अचरज नहीं हुआ। क्योंकि पति को प्यार करने वाली स्त्रियाँ अपने लिये मौत लाकर भी पति का मन रक्खा करती हैं। देखिए, समुद्र में जाने वाली नदियाँ अपने साथ-साथ दूसरी नदियों का पानी भी समुद्र में पहुँचा दिया करती हैं॥ 19॥

निपुणिका—(आकर) स्वामी की जय हो। इरावती ने कहलाया है कि मैंने महाराज की बात न मानकर जो अपराध किया था, वह सब जान-बूझकर महाराज का काम बनाने के लिये ही रूपक रचा था। अब तो महाराज के मन की साध पूरी हो गई है। इसलिये आशा है आप मुझे अवश्य क्षमा कर देंगे।

धारिणी—अरी निपुणिका! उन्होंने आर्यपुत्र की जो सेवा की है उसका ध्यान रक्खेंगे।

निपुणिका—बड़ी कृपा है।

परिव्राजिका—देव! अपुना युक्तसंबंधेन चरितार्थ माधवसेनं समाजयितुं गच्छामः।

धारिणी—भअवदीए ण जुत्तं अम्हे हरिच्चइदुं (भगवत्या न युक्तमस्मान्परित्यक्तुम्।)

राजा—भगवति! मदीयेष्वेव लेखेषु तत्रभवतस्त्वामुद्दिश्य सभाजनाक्षराणि पातयिष्यामः।

परिव्राजिका—युवयोः स्नेहात्परवानयं जनः।

धारिणी—अज्जउत्त! कि ते भूओ वि पिअं उवहरामि। (आर्यपुत्र! कि ते भूयोऽपि प्रियमुपहरामि।)

राजा—

त्वं मे प्रसादसुमुखी! भअ देवि नित्यमेतावतेव हृदये प्रतिपालनीयम्। तथापीदमस्तु।

(भरतवाक्यम्)

आशास्यमीतियिगमप्रभृति प्रजानां संपत्स्यते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे ॥ 20 ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

॥ इति पञ्चमोऽङ्कः ॥

॥ समाप्तमिदं श्रीकालिदासकृतौ मालविकाग्निमित्रं नाम नाटकम् ॥



परिव्राजिका—देव! इस सुन्दर विवाह सम्बन्ध को सुनकर माधवसेन तो फूले न समावेंगे। इसीलिये मैं उन्हें बधाई देने के लिये चली जाना चाहती हूँ।

धारिणी—हमें छोड़कर आपका जाना ठीक नहीं है।

राजा—भगवती! हम अपने ही पत्र में आपकी ओर से बधाई लिखवाकर भिजवा देंगे।

परिव्राजिका—मैं तो आप दोनों के स्नेह में बँधी ही हुई हूँ।

धारिणी—आर्यपुत्र! क्या मैं आपकी कुछ और मनचाही बात कर सकती हूँ।

राजा—देवि! मैं तो बस इतना ही चाहता हूँ कि तुम सदा मुझ पर प्रसन्न हुई रहो। फिर भी इतना और हो जाय कि—

(भरतवाक्य)

जब तक अग्निमित्र राज्य करें तब तक उनकी प्रजा में किसी प्रकार के उपद्रव आदि न हों ॥ 20 ॥

(सब चले जाते हैं।)

॥ पाँचवाँ अङ्क समाप्त हुआ ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदास का रचा हुआ मालविकाग्निमित्रम् नामका नाटक पूरा हुआ ॥



श्रीमन्महाकविकालिदास-नाटक-प्रशस्तिः

‘काव्ये नाटकमस्ति रम्यरुचिरं तत्रापि शाकुन्तलम्’

इत्युक्तं रसिकैर्वचोऽतिललितं भूयो विवेक्तुन्त्विदम् ।

श्रीमन्मालविकाग्निविक्रमलसत्सन्नाटकप्रोच्छलत्

स्वर्वाणीरसनाऽमृतं सरसयत् सम्मोहयेत्संसृतिम् ॥

—श्रीशः ।

[काव्य में नाटक ही सुन्दर होता है और नाटकों में अभिज्ञान शाकुन्तल ही सबसे सुन्दर है, यह बात रसिकों ने बड़ी सच्ची कही है, पर वे इस बात को ठीक-ठीक स्पष्ट नहीं कर पाए कि काव्य में नाटक ही क्यों सुन्दर होता है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये अभिज्ञान शाकुन्तल के साथ-साथ मालविकाग्निमित्र तथा विक्रमोर्वशीय नाटक भी प्रस्तुत किए जा रहे हैं कि उनमें छलकता हुआ संस्कृत का मधुर अमृत सृष्टि के सब प्राणियों को इतना रसमग्न कर दे कि लोगों को संसार के और दूसरे काव्यों को पढ़ने की सुध ही न रह जाय।]

- श्री ईशदत्त पाण्डेय ‘श्रीश’

तृतीयं खण्डम्
समीक्षा-निबन्धानि

तीसरा खण्ड
॥ समीक्षा-निबन्ध ॥

महाकवि कालिदास की रचनाओं के सम्बन्ध में समष्टि रूप से अथवा उनके किसी विशिष्ट ग्रन्थ अथवा किसी विशिष्ट पक्ष पर विभिन्न विद्वानों ने जो पाण्डित्यपूर्ण विचार किया है, उन्हीं का संग्रह आगे के लेखों में किया गया है। अन्त में कालिदास-कालीन भारत के मानचित्र और अभिधान-कोष में महाकवि कालिदास के विभिन्न ग्रन्थों में आए हुए व्यक्तियों, वस्तुओं स्थानों, वृक्षों आदि का परिचय है।

निबन्ध-सूची

निबन्ध	लेखक	पृष्ठ
1. विक्रमादित्य- डॉ० राजबली पांडेय, कुलपति महारानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर		1
2. विक्रम और उनके नवरत्न- श्री ईशदत्त पांडेय “श्रीश”		11
3. कालिदास के ग्रन्थों की उपादेयता- पं० सीताराम जयराम जोशी, काशी हिन्दू वि० वि०		17
4. कालिदास के शब्द-प्रयोग- पं० अम्बिकाप्रसाद उपाध्याय, काशी हिन्दू वि० वि० काशी		27
5. कालिदास के कवित्वकी पूर्णता- श्रीमन्मध्वसंप्रदायाचार्य श्रीदामोदरलालजी गोस्वामी		31
6. कालिदास की सूक्तियाँ- डॉ० अमरनाथ झा, वाइसचांसलर प्रयाग वि० वि०		34
7. कालिदास का सन्देश- आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय, सं० सं० विश्वविद्यालय, काशी		38
8. कालिदास और प्रकृति- आचार्य पं० करुणापति त्रिपाठी, कुलपति, सं० सं० विश्वविद्यालय, काशी		44
9. निसर्गकन्या शकुन्तला- डॉ० वेल्बेलकर, पूना		53
10. योगवासिष्ठमें मेघदूत- डॉ० भी० ला० आत्रेय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी		65
11. मेघदूत की रसवत्ता- आचार्य पं० सीताराम चतुर्वेदी		68
12. मेघदूत का अध्ययन: शिवका स्वरूप- डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल		88
13. महाकवि कालिदास की उपमाओं का मनोवैज्ञानिक अध्ययन- श्री पी० के० गोडे, मुंबई		101
14. कालिदास की छन्दोयोजना- पं० रामगोविन्द शुक्ल, सं० सं० वि० वि०, काशी		113
15. अभिधान- कोष- (कालिदास के काव्यों में आए व्यक्तियों, जीवों, वस्तुओं और स्थानों का परिचय)- आचार्य पं० सीताराम चतुर्वेदी		121
16. कालिदास-सम्बन्धी लेखों और समीक्षाओं की तालिका- डॉ० रामकुमार चौबे का० हि० वि० वि०		179

विक्रमादित्य

(डॉ० राजवली पाण्डेय, एम० ए०, डी० लिट०)

जनश्रुति

मर्यादापुरुषोत्तम राम और कृष्ण के पश्चात् भारतीय जनताने जिस शासक को अपने हृदय-सिंहासन पर आसीन किया है वे हैं विक्रमादित्य। उनके आदर्श न्याय और लोकाराधन की कहानियाँ भारतवर्ष में सर्वत्र प्रचलित हैं और आवालवृद्ध सभी उनके नाम और यश से परिचित हैं। उनके सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध जनश्रुति है कि वे उज्जयिनी-नाथ गन्धर्वसेन के पुत्र थे। उन्होंने शकों को परास्त करके अपनी विजय के उपलक्ष्य में संवत् का प्रवर्तन किया था। वे स्वयं काव्यमर्मज्ञ तथा कालिदास आदि कवियों के आश्रयदाता थे। भारतीय ज्योतिष-गणना से भी इस बात की पुष्टि होती है कि ईसासे 57 वर्ष पूर्व विक्रमादित्य ने विक्रम-संवत् का प्रचार किया था।

अनुश्रुति

भारतीय साहित्य में अंकित अनुश्रुति ने भी उपर्युक्त जनश्रुति को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। इनमें से कुछ का उल्लेख नीचे किया जाता है-

(1) अनुश्रुति के अनुसार विक्रमादित्य का प्रथम उल्लेख गाथासप्तशती में इस प्रकार मिलता है-

संवाहण सुहरस तोसिएण दंतेणतुहकरे लक्खम्।

चलणेण विक्रमाइत्तरिअं अणुसिक्खिअं तिस्सा।। 5।64

इसकी टीका करते हुए गदाधर लिखते हैं “पक्षे संवाहणं संवाधनम् लक्खं लक्षम्। विक्रमादित्योऽपि भृत्यकर्तृकेन शत्रुसंवाधनेन तुष्टः सन् भृत्यस्य करे लक्षम् ददातीत्यर्थः।” इससे प्रकट होता है कि गाथा के रचना-काल में यह बात प्रसिद्ध थी कि विक्रमादित्य नामक एक प्रतापी तथा उदार शासक थे, जिन्होंने शत्रुओं पर विजय पाने के उपलक्ष्य में भृत्यों को लाखों का उपहार दिया था। गाथासप्तशती का रचयिता सातवाहन राजा हाल प्रथम शताब्दी ईसवी में हुआ था। अतः, विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता इसके पूर्व ही सिद्ध होती है। इस ऐतिहासिक तथ्य का प्रतिपादन महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने भली भाँति किया था। (एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द 12, पृ० 320), इसके विरुद्ध डॉ० देवदत्त रामकृष्ण भांडारकरने गाथा-सप्तशती में आए हुए ज्यौतिष के संकेतों के आधार पर कुछ आपत्तियाँ भी उठाई थीं (भाण्डारकर-स्मारक ग्रन्थ, पृ० 187-189) किन्तु इसका निराकरण म० म० पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझाने भली भाँति कर दिया है। (प्राचीन लिपिमाला, पृ० 168)।

(2) जैन पण्डित मेरुतुंगाचार्य-रचित पदावली में लिखा है कि नभोवाहन के पश्चात् गर्दभिल्ल ने उज्जयिनी में तेरह वर्ष तक राज्य किया। उसके अत्याचार के कारण कालकाचार्य ने शकों को बुलाकर उसका उन्मूलन किया। शकों ने उज्जयिनी में चौदह वर्ष तक राज्य किया। इसके पश्चात् गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शकों से उज्जयिनी का राज्य लौटा लिया। यह घटना महावीर निर्वाण के 470 वें वर्ष में (527-470 = 57 ई० पू०) हुई। विक्रमादित्य ने साठ वर्ष तक राज्य किया। उनके पुत्र

विक्रमचरित उपनाम धर्मादित्य ने 40 वर्ष तक शासन किया। तत्पश्चात् भैल्ल, नैल्ल तथा माहदने क्रमशः 11, 14 तथा 10 वर्ष राज्य किया। इस समय महावीर-निर्वाण के 605 वर्ष पश्चात् (605-527 = 78 ई० पू०) शक संवत् का प्रवर्तन हुआ।

(3) प्रबन्धकोष के अनुसार महावीर-निर्वाण के 470 वर्ष पश्चात् (527-470 = 57 ई० पू०) विक्रमादित्य ने संवत् का प्रवर्तन किया।

(4) धनेश्वरसूरि-विरचित शत्रुञ्जय-माहात्म्य में इस बात का उल्लेख है कि वीर (महावीर) संवत् के 466 वर्ष बीत जाने पर विक्रमादित्य का प्रादुर्भाव होगा। उनके 477 वर्ष पश्चात् शिलादित्य अथवा भोज शासन करेगा। इस ग्रन्थ की रचना 477 विक्रम संवत् में हुई जब कि बलभी के राजा शिलादित्य ने सुराष्ट्र से बौद्धों को खदेड़ कर कई तीर्थों को उनसे लौटा लिया था। (देखिए डॉ० भाऊ दाजी, जनरल औफ बौम्बे एशियाटिक सोसाइटी, जिल्द 6, पृ० 29-30)।

(5) सोमदेव भट्ट-विरचित कथासरित्सागर (लम्बक 18, तरंग 1) में भी विक्रमादित्य की कथा आती है। इसके अनुसार विक्रमादित्य उज्जयिनी के राजा थे। इनके पिता का नाम महेन्द्रादित्य तथा माता का नाम सौम्यदर्शनां था। महेन्द्रादित्य ने पुत्र की कामना से शिव की आराधना की। इस समय पृथ्वी म्लेच्छाक्रान्त थी। अतः इसके त्राण के लिये देवताओं ने भी शिव से प्रार्थना की। शिव ने अपने गण माल्यवान् को बुलाकर कहा कि पृथ्वी का उद्धार करने के लिये तुम मनुष्य का अवतार लेकर उज्जयिनी-नाथ महेन्द्रादित्य के यहाँ पुत्र रूप से उत्पन्न हो। पुत्र उत्पन्न होने पर शिव के आदेशानुसार महेन्द्रादित्य ने उनका नाम विक्रमादित्य तथा उपनाम (शत्रु-संहारक होने के कारण) विषमशील रखवा। बालक विक्रमादित्य पढ़-लिखकर शास्त्रों में पारंगत हुए और प्राज्यविक्रम होने पर उनका अभिषेक किया गया। वे बड़े ही प्रजावत्सल राजा हुए। इनके विषय में लिखा है-

स पिता पितृहीनानाम बन्धूनाञ्च बान्धवः।

अनाथानां च नाथः स प्रजानां कः स नाऽभवत् ॥ 18 ॥ 166

(वे पितृहीनों के पिता, बन्धुरहितों के बन्धु और अनाथों के नाथ थे। प्रजा के तो वे सर्वस्व ही थे।) इसके अनन्तर विक्रमादित्य की विस्तृत विजयों और अद्भुत कृत्यों का अतिरंजित वर्णन है।

कथासरित्सागर अपेक्षाकृत अर्वाचीन ग्रन्थ होते हुए भी क्षेमेन्द्र-लिखित वृहत्कथामञ्जरी और अन्तर्तोगत्वा वडुकहा या वृहत्कथा (गुणाढ्य-रचित)-पर अवलम्बित है। गुणाढ्य सातवाहन हालका समकालीन था, जो विक्रमादित्य से लगभग 100 वर्ष पीछे हुआ था। अतः, सोमदेव-द्वारा कथित अनुश्रुति विक्रमादित्य के इतिहास से सर्वथा अनभिज्ञ नहीं हो सकती। सोमदेव के सम्बन्ध में एक और बात ध्यान देने की है। वे उज्जयिनी के विक्रमादित्य के अतिरिक्त एक दूसरे विक्रमादित्य को जानते हैं, जो पाटलिपुत्र का राजा था। 'विक्रमादित्य इत्यासीद्राजा पाटलिपुत्र के' (लम्बक 7, तरंग 4)। इसलिये जो आधुनिक ऐतिहासिक मगधाधिप पाटलिपुत्र-नाथ गुप्त सम्राटों को केवल उज्जयिनी-नाथ विक्रमादित्य से अभिन्न समझते हैं वे अपनी परम्परा और जनश्रुति के साथ बलात्कार करते हैं।

(6) द्वात्रिंशत्सुत्तलिका, राजावली आदि ग्रन्थों तथा राजापूताने में प्रचलित (कर्नल टौडके राज-स्थान में संकलित) अनुश्रुतियों में उज्जयिनी-नाथ शकारि विक्रमादित्य की अनेक कथाएँ मिलती हैं।

साधारण जनता की जिज्ञासा इन्हीं अनुश्रुतियों से तृप्त हो जाती है और वह परम्परा से परिचित लोक-प्रसिद्ध विक्रमादित्य के सम्बन्ध में अधिक गवेषणा करने की चेष्टा नहीं करती। किन्तु आधुनिक इतिहासकारों के लिये केवल अनुश्रुति का प्रमाण पर्याप्त नहीं। वे देखना चाहते हैं कि अन्य साधनों द्वारा ज्ञात इतिहास से परम्परा और अनुश्रुति की पुष्टि होती है या नहीं। विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में वे निम्नलिखित प्रश्नों का समाधान करना चाहते हैं-

ऐतिहासिक प्रश्न

- (1) विक्रमादित्य ने जिस संवत् का प्रवर्तन किया था उसका प्रारम्भ कबसे होता है?
 - (2) क्या प्रथम शताब्दी ई० पू० में कोई प्रसिद्ध राजवंश अथवा महापुरुष मालवा प्रान्त में हुआ था?
 - (3) क्या उस समय कोई महत्वपूर्ण घटना हुई थी, जिसके उपलक्ष्य में संवत् का प्रवर्तन हो सकता था?
- इन प्रश्नों को लेकर अवतक प्रायः जो ऐतिहासिक अनुसंधान होते रहे हैं, उनका सारांश संक्षेप में इस प्रकार दिया जाता है-

- (1) यद्यपि ज्यौतिष्-गणना के अनुसार विक्रम-संवत्का प्रारम्भ 57 ई० पू० में होता है तथापि ईसाकी प्रथम कई शताब्दियों तक साहित्य तथा उत्कीर्ण लेखों में इस संवत्का कहीं प्रयोग नहीं पाया जाता। मालवा प्रान्त में प्रथम स्थानीय संवत् मालवगण स्थिति-काल था जिसका पता मन्दसौर प्रस्तर-लेख से लगा है- मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये। (फ्लीट- गुप्त उत्कीर्ण लेख सं० 18), यह लेख पाँचवीं शताब्दी ई० का है।
- (2) प्रथम शताब्दी ई० में किसी प्रसिद्ध राजवंश अथवा महापुरुष का मालवप्रान्त में पता नहीं।
- (3) इस काल में कोई ऐसी क्रांतिकारी घटना मालवप्रान्त में नहीं हुई जिसके उपलक्ष्य में संवत् का प्रवर्तन हो सकता था।

उपर्युक्त खोजों से यह परिणाम निकाला गया है कि प्रथम शताब्दी ई० पू० में विक्रमादित्य नामक कोई शासक नहीं हुआ। तत्कालीन विक्रमादित्य कल्पना-प्रसूत हैं। संभवतः मालव-संवत्का प्रारम्भ ई० पू० प्रथम शताब्दी में हुआ था। पीछे से विक्रमादित्य उपाधिधारी किसी राजा ने अपना विरुद्ध इसके साथ जोड़ दिया। इस प्रकार संवत् के प्रवर्तक विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता बहुत से विद्वानों के मत में असिद्ध हो जाती है। इस प्रक्रिया का फल यह हुआ कि कतिपय प्राच्यविद्या-विशारदों ने प्रथम शताब्दी ई० पू० के लगभग, इतिहास में प्रसिद्ध राजाओं को विक्रम-संवत्का प्रवर्तक सिद्ध करने की चेष्टा प्रारम्भ की।

आनुमानिक मत

(1) फर्गुसनने एक विचित्र मतका प्रतिपादन किया। उसका कथन है कि जिसको 57 ई० पू० में प्रारम्भ होने वाला विक्रम संवत् कहते हैं, वह वास्तव में 544 ई० में प्रचलित किया गया था। उज्जयिनी के राजा विक्रम हर्ष ने 544 ई० में म्लेच्छों को (शकों को) कोरूर के युद्ध में हराकर उस विजय के उपलक्ष्य में संवत्का प्रचार किया। इस संवत्को प्राचीन और आदरणीय बनाने के लिये इसका प्रारम्भकाल 6×100 (अथवा 10×60) = 600 वर्ष पीछे फेंक दिया गया। इस प्रकार 56 ई० पू० में प्रचलित विक्रम संवत् से इसको अभिन्न मान लिया गया है। किन्तु क्यों 600 वर्ष ही पहले इसका प्रारम्भ ढकेल दिया गया, इसका समाधान फर्गुसन के पास नहीं है। इसके अतिरिक्त 544 ई० के पूर्व मालव-संवत् 529 (मंदसौर प्रस्तर अभिलेख, फ्लीट- गुप्त उत्कीर्ण लेख सं० 18) तथा विक्रम-संवत् 430 (कावी अभिलेख,

इंडि० ऐंटि० वर्ष 1876, पृ० 152 के प्रमाण मिल जाने से फर्गुसन के मत का भवन ही धाराशायी हो जाता है (फर्गुसनके मत के लिये देखिए इंडियन ऐंटिक्वेरी, वर्ष 1876, पृ० 182)

(2) डॉ० फ्लीटका मत था कि 57 ई० पू० में प्रारम्भ होने वाले विक्रम संवत् का प्रवर्तन कनिष्क के राज्यारोहण-काल से प्रारम्भ होता है (जरनल औफ दी रीयल एशियाटिक सोसाइटी, वर्ष 1907, पृ० 169)। अपने मत के समर्थन में उनका तर्क यह है कि कनिष्क भारतीय इतिहास का प्रसिद्ध विजयी राजा था। उसने अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्य की स्थापना की। बौद्ध धर्म के इतिहास में भी अशोक के पश्चात् उसी का स्थान है। ऐसे प्रतापी राजा का संवत् चलना सर्वथा स्वाभाविक था। परन्तु यह मत डॉ० फ्लीट के अतिरिक्त प्रायः अन्य किसी विद्वान् को मान्य नहीं है। प्रथम तो अभी कनिष्क का समय ही अनिश्चित है। दूसरे, एक विदेशी राजा के द्वारा देश के एक कोने में प्रवर्तित संवत् देशव्यापी नहीं हो सकता था। तीसरे यह बात प्रायः सिद्ध है कि कुषाणों ने कश्मीर तथा पंजाब में जिस संवत् का व्यवहार किया था, वह पूर्व-प्रचलित सप्तर्षि-संवत् था जिसमें सहस्र तथा शतके अंक लुप्त हैं। यदि यह बात अमान्य भी समझी जाय तो भी कुषाण-संवत् वंशगत था और कुषाणों के पश्चात् पश्चिमोत्तर भारत में इसका प्रचार नहीं मिलता।

(3) वेलडै गोपाल ऐयर ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारत का तिथिक्रम' (क्रोनोलौजी औफ एंशिपंट इण्डिया, पृष्ठ 175) में इस मतका प्रतिपादन किया है कि विक्रम-संवत् का प्रवर्तक सुराष्ट्रका महाक्षत्रप चष्टन था। विक्रम-संवत् वास्तव में मालव-संवत् हैं। मन्दसौर प्रस्तर-लेख में स्पष्ट बताया गया है कि मालव जाति के संघटन-काल से इसका प्रचलन हुआ (मालवानां गणस्थित्या यातै शवचतुष्टये। फ्लीट-गुप्त उत्कीर्ण लेख सं०-18)। कुषाणों-द्वारा इस संवत् का प्रवर्तन नहीं हो सकता था। एक तो कनिष्क का समय विक्रमकालीन नहीं। दूसरे यह बात सिद्ध नहीं कि उसका राज्य कभी मथुरा और बनारस के आगे भी फैला था। क्षत्रपों के अतिरिक्त ऐसे किसी अन्य दीर्घजीवी राजवंश का पता नहीं चलता, जिसका मालव प्रान्तपर आधिपत्य हो और जिसको संवत् का प्रवर्तक माना जा सके। जब हम इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए रुद्रदामन् के गिरनार लेख में पढ़ते हैं कि सब वर्णों ने अपनी रक्षा के लिये उसको अपना अधिपति चुना था (सर्ववर्णैरभिगम्य पतित्वे वृतेन एपिग्राफिया इण्डिका जिल्द 8, पृ० 47) तब यह बात हम स्वीकार करते हैं कि मालवा और गुजरात की सब जातियों ने उनको उसी प्रकार अपना राजा चुना था, जिस प्रकार इसके पूर्व उन्होंने रुद्रदामन् के पिता जयदामन् और उनके पितामह चष्टनको चुना था। प्राचीन ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि पश्चिम के सभी राजाओं का अभिषेक स्वराज्य के लिये होता है और उनकी उपाधि स्वराट् होती है। इन स्वतन्त्र जातियों ने एकता में शक्तिका अनुभव करते हुए तथा आवश्यकता के आगे सिर झुकाकर अपने ऊपर विजयी चष्टन के आधिपत्य में अपने को एकत्र करके संघटित किया। यही महान् घटना-एक बड़े शासक के आधिपत्य में मालव जातियों का संघटन- 57 ई० पू० में संवत् के प्रवर्तन से उपलक्षित हुई। तब से यह संवत् मालवा में प्रचलित है। चष्टन और रुद्रदामन् ने मालव के पड़ोसी प्रान्तों पर भी शासन किया इसलिये संवत् का प्रचार विंध्यपर्वत के उत्तर के प्रदेशों में भी हो गया।

ऐयर महोदय का यह कथन स्वतःसिद्ध है कि विक्रम-संवत् वास्तव में मालव-संवत् है। कनिष्क के विक्रम-संवत् के प्रवर्तक होने के विरोध में उनका तर्क भी युक्तिसंगत है। किन्तु कनिष्क से कहीं स्वल्पशक्तिशाली प्रान्तीय विदेशी क्षत्रप, जिसके साथ राष्ट्रीय जीवन का कोई अंश संलग्न नहीं था, संवत् के प्रवर्तन में कैसे कारण हो सकता था यह बात समझ में नहीं आती। रुद्रदामन् के अभिलेख में सब

वर्णों-द्वारा राजा के चुनाव का उल्लेख केवल प्रशस्ति मात्र है। प्रत्येक शासक अपने अधिकार को प्रजा-सम्मत करने की नीति का प्रयोग करता है। इसके अतिरिक्त यदि रुद्रदामन् लोकप्रिय हो भी गया हो तो भी उसका यह गुण दो पीढ़ी पहले चष्टन में संघर्ष की नवीनता तथा तीव्रता के कारण नहीं आ सकता था। श्री ऐयर की यह युक्ति अत्यन्त उपहासास्पद जान पड़ती है कि मालवगणने चष्टन के आधिपत्य में अपना संघटन किया और उसके उपलक्ष्य में संवत् का प्रवर्तन किया। राजनीति का यह एक साधारण नियम है कि कोई भी विदेशी शासक विजित जातियों को तुरन्त संघटित अवसर नहीं देता, फिर अपने पराजय-काल से मालवों ने संवत् का प्रारम्भ किया हो, यह बात भी असाधारण जान पड़ती है।

(4) डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल ने जैन अनुश्रुति के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि “जैन गाथाओं और लोकप्रिय कथाओं का विक्रमादित्य, गौतमीपुत्र शातकर्णि था। प्रथम शाताब्दी ई० पू० में मालव में मालवगण विद्यमान था, जैसा कि उसके प्राप्त सिक्कों से सिद्ध होता है। शातकर्णि और मालव की संयुक्त शक्ति ने शकोंको पराजित किया था, इसलिये शकों की पराजय में मुख्य भाग लेने वाले शातकर्णि ‘विक्रमादित्य’ के विरुद्ध से विक्रम संवत् का प्रवर्तन हुआ। मालवगण ने भी उसके साथ सन्धि के विशेष ठहराव (स्थिति, आम्नाय) के अनुसार इस समय संघटन किया और इसी समय से मालवगण-स्थिति काल भी प्रारम्भ हुआ।” (जरनल ऑफ बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, जिल्द 16, वर्ष 1930)।

उपर्युक्त कथन में मालव-सातवाहन-संघ का बनाना तो स्वाभाविक जान पड़ता है (यदि इस समय साम्राज्यवादी सातवाहनों का अस्तित्व होना सम्भव हो) किन्तु शातकर्णि विक्रमादित्य (?) की विजय से मालवगण गौरवान्वित हुआ और उसके साथ सन्धि करके मालव संवत् का प्रवर्तन किया, यह बात पूर्ण रूप से काल्पनिक और असंगत है। इसके साथ ही यह भी ध्यान देने की बात है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि ने न केवल शकों को हराया वरन् शक, छहरात, अवन्ति, आकर आदि अनेक प्रान्तों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया (नासिक उत्कीर्ण लेख, एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द 8, पृ० 60)। उसके दिग्विजय की घटना मालवगण-स्थिति के बहुत पीछे की जान पड़ती है। साहित्य तथा उत्कीर्ण लेख किसी से भी इस बात का प्रमाण नहीं मिलता कि किसी सातवाहन राजा ने कभी विक्रमादित्य की उपाधि धारण की हो। सातवाहन राजाओं का तिथि क्रम अभी तक अनिश्चित है। अपने विभिन्न मतों की सिद्धि के लिये विद्वानों ने उसको घपले में डाल रक्खा है। किन्तु बहुसम्मत सिद्धान्त यही है कि कण्वों के पश्चात् साम्राज्यवादी सातवाहनों का प्रादुर्भाव प्रथम शाताब्दी ई० पू० के अन्तरार्द्ध में हुआ। इसलिये आंध्र-वंशका तेईसवाँ राजा गौतमी पुत्र शातकर्णि प्रथम शताब्दी ई० पू० में नहीं रक्खा जा सकता। सातवाहन राजाओं के लेखों में जो तिथियाँ दी हुई हैं, वे उनके राज्यवर्षों की हैं, उनमें विक्रम-संवत् या अन्य किसी क्रमबद्ध संवत् का उल्लेख नहीं है। श्री जायसवाल के इस मत के सम्बन्ध में सबसे अधिक निर्णायक गाथासप्तशतीका प्रमाण है। आंध्र वंश के सत्रहवें राजा हाल के समय में लिखित यह ग्रन्थ विक्रमादित्य के अस्तित्व और यश से- परिचित है, अतः इस वंश का तेईसवाँ राजा गौतमी-पुत्र शातकर्णि तो किसी अवस्था में भी विक्रमादित्य नहीं हो सकता।

सीधा ऐतिहासिक प्रयत्न

इस प्रकार विक्रमादित्य के अनुसन्धान में प्राच्य-विद्या-विशारदों ने अपनी उर्वर कल्पना-शक्ति का परिचय तो दिया है किन्तु इस प्रकार के प्रयत्न से विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता की समस्या हल नहीं

होती। यदि परम्परा के समुचित आदर के साथ सीधी ऐतिहासिक खोज की जाय तो संवत्-प्रवर्तक विक्रमादित्य का पता सरलता से लग सकता है। वास्तविक विक्रमादित्य के लिये निम्नलिखित बातों को पूरा करना आवश्यक है-

- (1) मालवा प्रदेश और उज्जयिनी राजधानी।
- (2) शकारि होना।
- (3) 57 ई0 पू0 में संवत् का प्रवर्तक होना, और
- (4) कालिदास का आश्रयदाता होना।

अनुशीलन

(1) यह बात अब ऐतिहासिक खोज में सिद्ध हो गई है कि प्रारम्भ में मालव प्रदेश में प्रचलित होने वाला संवत् मालवगण का संवत् था। सिकन्दर के भारतीय आक्रमण के समय मालव जाति पंजाब में रहती थी। मालव-क्षुद्रक-गणसंघ ने सिकन्दर का विरोध किया था, किन्तु पारस्परिक फूट के कारण मालवगण अकेला लड़कर यूनानियों से हार गया। इसके पश्चात् मौर्यों के कठोर नियन्त्रण से मालव जाति निष्प्रभ-सी हो गई। मौर्य-साम्राज्य के अंतिम काल में जब पश्चिमोत्तर भारत पर बाख्त्रियों के आक्रमण प्रारम्भ हुए तब उत्तरापथ की मालवादि कई गणजातियाँ वहाँ से पूर्वी राजपूताना होते हुए मध्यभारत पहुँचीं और वहाँ पर उन्होंने अपने नये उपनिवेश स्थापित किए। समुद्रगुप्त के प्रयाग-प्रशस्ति-लेख से सिद्ध है कि चौथी शताब्दी ई0 पू0 के पूर्वार्द्ध में उसके साम्राज्य की दक्षिण-पश्चिम सीमापर कई गण-राष्ट्र विद्यमान थे, किन्तु इसके पहले प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई0 पू0 में ही मालवजाति आकर अवन्ति (मालव प्रान्त)-में पहुँच गई थी, यह बात मुद्रा-शास्त्र से प्रमाणित है। यहाँ पर एक प्रकार के सिक्के मिले हैं, जिन पर ब्राह्मी अक्षरों में 'मालवाना' जयः लिखा है। (इण्डियन म्युजियम क्वायन्स, जिल्द 1, पृ0 162; कनिंघम- आर्किऑलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, जिल्द 6, पृ0 165-74)।

(2) ई0 पू0 प्रथम शताब्दी के मध्य में मगध-साम्राज्य का भग्नावशेष काण्वों की क्षीण शक्ति के रूप में पूर्वी भारत में बचा हुआ था। बाख्त्रियों के पश्चात् पश्चिमोत्तर भारत पर शकों के आक्रमण होने लगे। शक जाति ने सिन्ध प्रान्त के मार्ग से भारतवर्ष में प्रवेश किया। यहाँ से उसकी एक शाखा सुराष्ट्र होते हुए अवन्ति-आकर की ओर बढ़ने लगी। इस बढ़ाव में मध्यभारत के गणराष्ट्रों से शकों का संघर्ष होना सर्वथा स्वाभाविक था। बाहरी आक्रमण के समय गणजातियाँ संघ बनाकर लड़ती थीं। इस संघ का नेतृत्व मालवगण ने किया और शकों को पीछे ढकेलकर सिन्ध प्रान्त के छोर तक पहुँचा दिया। कालकाचार्य-कथा में शकों को निमन्त्रण देना, अवन्ति के ऊपर उनका अस्थायी आधिपत्य और अन्त में विक्रमादित्य के द्वारा उनका निर्वासन-इन सभी घटनाओं का मेल इतिहास की उपर्युक्त धारा से ठीक बैठ जाता है।

(3) शकों को पराजित करने के कारण मालवगण-मुख्य का शकारि एक विरुद्ध हो गया गद्यपि इस घटना से शकों का आतंक सदा के लिये दूर नहीं हुआ, तथापि यह एक क्रान्तिकारी घटना थी और इसके फलस्वरूप लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक भारतवर्ष शकों के आधिपत्य से सुरक्षित रहा। इसलिये इस विजय के उपलक्ष्य में संवत् का प्रवर्तन हुआ और मालवगण के दृढ़ होने से इसका गणनाम मालव-गण-स्थिति या मालवगण-काल पड़ा।

(4) अब यह विचार करना है कि मालवगण मुख्य कालिदास के आश्रयदाता हो सकते हैं या नहीं? अभिज्ञान-शाकुन्तल की कतिपय प्राचीन प्रतियों में नान्दी के अन्त में लिखा मिलता है कि इस नाटक

का अभिनय विक्रमादित्य की परिषद् में हुआ था। “सूत्रधार-आर्ये! इयं हि रसभाव-विशेषदीक्षागुरोर्विक्रमादित्यस्याभिरूपभूयिष्ठा परिषत्। अस्याञ्च कालिदासग्रथितवस्तुना नवेनाभि-ज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः। तत् प्रतिपात्रमाधीयतां यत्नः। नाद्यन्ते।” (जीवानन्द विद्यासागर संस्करण, कलकत्ता, 1914 ई०)। प्रायः अभी तक विक्रमादित्य एकतात्रिक राजा ही समझे जाते रहे हैं। किन्तु काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष स्वर्गीय पं० केशवप्रसाद मिश्र के पास सुरक्षित अभिज्ञानशाकुन्तल की एक हस्तलिखित प्रति (प्रतिलेखन काल-अगहन सुदी 5, संवत् 1699 वि०) ने विक्रमादित्य का गण से सम्बन्ध व्यक्त कर दिया है। इसके निम्नांकित अवतरण ध्यान देने योग्य हैं-

(अ) आर्ये! रसभावविशेषदीक्षागुरोः विक्रादित्यस्य साहसाङ्गस्याभिरूपभूयिष्ठेयं परिषत्। अस्याञ्च कालिदासप्रयुक्तेनाभिज्ञानशकुन्तलेन नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः (नाद्यन्ते)।

(आ) भवतु तव विडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु

त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं भावयेथाः।

गणशतपरिवर्तैरेवमन्योन्यकृत्यै-

निर्यतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः।। (भरतवाक्य)

उपर्युक्त अवतरणों में रेखांकित पदों से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि जिन विक्रमादित्यका यहाँ निर्देश है उनका व्यक्तिवाचक नाम विक्रमादित्य और उपाधि ‘साहसाङ्ग’ है। भरतवाक्य का ‘गण’ शब्द राजनीतिक अर्थ में ‘गणराष्ट्र’ का द्योतक है। ‘शत’ संख्या गोल और अतिरंजित है तथा ‘गणशत’ का अर्थ कई गणों का गण-संघ है। ‘गण’ शब्द के इस अर्थ की संगति अवतरण (अ) के रेखांकित पद से बैठती है जहाँ विक्रमादित्य के साथ कोई राजतांत्रिक उपाधि नहीं लगी हुई है। यदि यह अवतरण छन्दोबद्ध होता तो कहा जा सकता था कि छन्द की आवश्यकतावश उपाधियों का प्रयोग नहीं किया गया है, किन्तु गद्यमें इनका अभाव कुछ विशेष अर्थ रखता है। निश्चय ही विक्रमादित्य सम्राट् या राजा नहीं थे अपितु गण-मुख्य थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार गण-राष्ट्र कई प्रकार के थे-कुछ वार्ताशास्त्रोपजीवी, कुछ आयुधजीवी और कुछ राजशब्दोपजीवी। ऐसा जान पड़ता है कि मालवगण वार्ताशास्त्रोपजीवी था। इसीलिये विक्रमादित्य के साथ राजा या अन्य किसी राजनीतिक उपाधि का व्यवहार नहीं हुआ है।

इन अवतरणों के सहारे यही निष्कर्ष निकलता है कि विक्रमादित्य मालवगण-मुख्य थे। उन्होंने शकों को उनके प्रथम बड़ाव में पराजित करके इस क्रांतिकारी घटना के उपलक्ष्य में मालवगण-स्थिति नामक संवत् का प्रवर्तन किया जो आगे चलकर विक्रम-संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। विक्रमादित्य स्वयं काव्य-मर्मज्ञ तथा कालिदासादि कवियों और कलाकारों के आश्रयदाता थे।

अब प्रश्न यह हो सकता है कि मालवगणस्थिति अथवा मालव-संवत्का विक्रम-संवत् नाम कैसे पड़ा। इसका समाधान यह है कि संवत्का नाम प्रारम्भमें गणपरक होना स्वाभाविक था, क्योंकि लोकतन्त्र-राष्ट्रमें गण की प्रधानता होती है, व्यक्ति की नहीं। पाँचवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध में चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने भारतवर्ष में अन्तिम बार गणराष्ट्रों का संहार किया। तब से गणराष्ट्र भारतीय प्रजा के मानसिक क्षितिज से ओझल होने लगे और आठवीं-नवीं शताब्दी ई० तक, जब कि सारे देश में निरंकुश एकतन्त्र की स्थापना हो चुकी थी, गणराष्ट्र की कल्पना भी विलीन हो गई।

अतः मालवगण का स्थान उसके प्रमुख व्यक्तिविशेष विक्रमादित्य ने ले लिया और संवत् के साथ उनका नाम जुड़ गया। साथ ही साथ मालवगण-मुख्य विक्रमादित्य; राजा विक्रमादित्य हो गए।

राजनीतिक कल्पनाओं की दुर्बलता का यह एकाकी उदाहरण नहीं है। आधुनिक ऐतिहासिक खोजों से अनभिज्ञ भारतीय प्रजा में आज कौन जानता है कि भगवान् श्रीकृष्ण और महात्मा बुद्ध के पिता गणमुख्य थे। अर्वाचीन साहित्य-तक में वे राजा करके ही माने जाते हैं। यह भी हो सकता है कि राजशब्दोपजीवी गणमुख्यों की 'राजा' उपाधि राजनीतिक भ्रम के युग में विक्रमादित्य के राजा बनाने में सहायक हुई हो।

प्रथम शताब्दी ई० पू० में विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता प्रमाणित करने के साथ यह भी आवश्यक जान पड़ता है कि उन स्थापनाओं का भी संक्षेप में विवेचन किया जाय जिनके आधारपर कालिदास के साथ विक्रमादित्य को भी प्रायः गुप्तकाल में घसीटा जाता है और 'विक्रमादित्य' उपाधिधारी गुप्त-सम्राटों में से किसी एक से सम्बद्ध सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। वे संस्थाएँ निम्नलिखित विवेचनों पर अवलम्बित हैं।

(1) कुछ इतिहासकारों की धारणा है कि तथाकथित बौद्धकाल में वैदिक (हिन्दू) धर्म और संस्कृत-साहित्य संकटापन्न हो गए थे। अतः, ईसा के एक दो शताब्दी आगे-पीछे संस्कृत काव्यका विकास नहीं हो सकता था। गुप्तों के आगमन के पीछे हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान के साथ संस्कृत-साहित्य का भी पुनरुत्थान हुआ। तभी संस्कृत-साहित्य में कालिदास-जैसे कुशल तथा परिष्कृत काव्यकार का होना सम्भव था। 'पुनरुत्थान' मत के मुख्य प्रवर्तक मैक्समूलर थे। पीछे की ऐतिहासिक खोजों से यह मत असिद्ध हो गया है (विस्तृत विवेचन के लिए देखिए डॉ० जी० व्यूलर, इंडियन ऐंटिक्वरी, वर्ष 1913)। 'बौद्धकाल' में न तो वैदिक धर्म लुप्त हुआ था और न संस्कृत साहित्य ही। गुप्तकाल के पहले ईसा की दूसरी शताब्दी में सुराष्ट्र के महाक्षत्रप रुद्रदामन् के गिरनार अभिलेख में गद्य-काव्य का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण मिलता हैपर्जन्येनैकार्णव-भूतायामिव पृथिव्यां कृतायां..... युगनिधनसदृशपरमघोरवेगेन वायुना प्रमथित सलिलविक्षिप्तजर्जरकृताव.....।' एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द 8, पृ० 47। राजकीय व्यवहार का यह गद्यकाव्य अवश्य ही उस युग में वर्तमान पद्य-काव्य के अनुकरण पर लिखा गया होगा। ई० पू० श्रृंग काल में रचित पातञ्जल महाभाष्य में उद्धृत उदाहरणों में काव्यों की शैली और छन्द पाए जाते हैं। (कीलहौर्नः माहभाष्य का संस्करण)। इसके अतिरिक्त रामायण तथा महाभारत जैसे महाकाव्यों के अधिकांश भाग ई० पू० में लिखे गए थे। मनु तथा याज्ञवल्क्य-स्मृतियाँ ईसा की पार्श्ववर्ती शताब्दियों में लिखी गई थीं। काव्य की उपर्युक्त धारा के प्रकाश में प्रथम शताब्दी ई० पू० में कालिदास के नाटकों और काव्यों की रचना पूर्णतः असंभव नहीं जान पड़ती।

(2) कालिदास के काव्यों और बौद्ध पण्डित अश्वघोष के बुद्धचरित नामक काव्य में अत्यधिक साम्य है। कथानक की सृष्टि और विकास, वर्णन-शैली, अलंकारों का प्रयोग, छन्दों का चुनाव, शब्दविन्यास में दोनों कलाकार एक दूसरे से अत्यन्त प्रभावित हैं। इसका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

रघुवंश

ततस्तदालोकनतत्पराणां

सौधेषु चामीकरजालवत्सु।

बभूवुरित्थं पुरसुन्दरीणां

त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि 7।5।।

बुद्धचरित

ततः कुमारः खलु गच्छतीति

श्रुत्वा स्त्रियः प्रप्य जनात्प्रवृत्तिम्।

दिदृक्षया हार्यतलानि जग्मुः

जनेन मान्येन कृताभ्यनुज्ञः॥3॥1॥

यह तो प्रायः सभी विद्वान् मानते हैं कि दोनों में कालिदास की रचना ही श्रेष्ठ है। परन्तु उनमें से कतिपय यह भी मान लेते हैं कि संस्कृत काव्य के विकास में अवश्वघोष पहले हुए। कालिदास ने उनका अनुकरण कर अपनी शैली का विकास और परिमार्जन किया। अश्वघोष कुषाण सम्राट् कनिष्क के समकालीन थे जिनका समय प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी ई० है। इसलिये कालिदास का काल तीसरी शताब्दी के पश्चात् संभवतः गुप्त काल में होना चाहिए (ई० वी० कौवेल-अश्वघोष का बुद्धचरित, भूमिका)। विचार करने पर यह युक्ति-परम्परा सर्वथा असंगत जान पड़ती है। यह बात विदित है कि प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य पालि प्राकृत में लिखा गया था। पीछे संस्कृत साहित्य के प्रभाव और उपयोगिता को स्वीकार कर बौद्ध लेखकों ने संस्कृत को अपने साहित्य और दर्शन का माध्यम बनाया। इसलिये संस्कृत की काव्यशैली के प्रचलित और परिष्कृत हो जाने पर उन्होंने उसका अनुसरण किया। अतः, स्पष्ट है कि अश्वमेघ ने कालिदास की शैली का अनुसरण किया। यदि उनकी कला अपेक्षाकृत हीन है तो यह अनुकरण का दोष है। प्रायः अनुकरण करने वाले अपने आदर्श की समता नहीं कर पाते।

(2) कालिदास को पाँचवीं या छठीं शताब्दी ई० में खींच लाने में एक प्रमाण यह भी दिया जाता है कि उनके ग्रन्थों में यवन, शक, पल्लव, हूणादि जातियों के नाम आते हैं। हूणों ने 500 ई० में भारतवर्ष पर आक्रमण प्रारम्भ किया। अतः इसका उल्लेख करने वाले कालिदास का समय इसके पश्चात् ही होना बताते हैं (लिटरेरी रिमेन्स ऑफ डॉ० बाऊ दाजी, पृ० 49)। परन्तु ध्यान देने की बात तो यह है कि रघुवंश में हूणों अथवा अन्य जातियों का वर्णन विदेशी विजेता के रूप में नहीं आता। रघु ने अपनी दिग्विजय में उनको भारत की सीमा के बाहर पराजित किया था, अतः कालिदास के समय में हूणों को भारत की पश्चिमोत्तर सीमा के पास कहीं रहना चाहिए। चीन तथा मध्य एशिया के इतिहास में प्रमाणित हो गया है कि ई०पू० पहली तथा दूसरी शताब्दी में हूण पामीर के पूर्वोत्तर में आ चुके थे। (गुल्दज़ लैफ-चीन का इतिहास, जिल्द 1, पृ० 220)।

(4) ज्यौतिष के बहुत से संकेत कालिदास के ग्रन्थों में आए हैं। कई एक विद्वानों का मत है कि कुषाण-काल के पश्चात् भारतीयों ने ज्यौतिष के बहुत से सिद्धान्त यूनान और रोम से सीखे थे। इसलिये कालिदास का समय इसके बहुत पीछे होना चाहिए। परन्तु इस बात को मानने वाले इस सत्य को भूल जाते हैं कि स्वयं यूनानियों ने कई शताब्दी ई० पू० में बाबुलोनिया के लोगों से ज्यौतिषशास्त्र सीखा था। (मैक्सम्यूलर-इण्डिका, हाट कैन इट टीच अस, पृ० 361)। चौथी-पाँचवीं शताब्दी ई०पू० में पारसी सम्पर्क में भारतवर्ष भली भाँति आ गया था, अतः वह बाबुलोनिया और चाल्डिया का ज्यौतिष सीधे सरलता से सीख सकता था (प्रो० एस०वी० दीक्षित-भारतीय ज्यौतिष का प्राचीन इतिहास, पृ० 157)। ईसा से बहुत पहले रचित रामायण में ज्यौतिष के सिद्धान्तों का अधिक प्रयोग किया गया है—

नक्षत्रेऽदिति दैवत्ये स्वोच्चसंस्थेषु पंचसु।

ग्रहेषु कर्कटे लग्ने वाक्यता बिंदुना सह॥

(बा० का०, सर्ग 18, श्र्लो० 9)

पुष्ये जातस्तु भरतो मीनलग्ने प्रसन्नधीः।

सार्पे जातौ तु सौमित्रौ कुलीरेऽभ्युदिते रवौ।

(बा० का०, सर्ग 18, श्र्लो० 15)

उदिते विमले सूर्ये पुष्ये चाभ्यागतेऽहनि ।

लग्ने कर्कटके प्राप्ते जन्म रामस्य च स्थिते ।। आदि ।

(अयो0, सर्ग 15, श्लो0 3)

(5) वराहमिहिर की तथाकथित समकालीनता से भी कालिदास का समय पाँचवीं शताब्दी ई0 में निश्चित किया जाता है। ज्योतिर्विदाभरण में निम्नलिखित उल्लेख है—

धन्वन्तरि-क्षपणकामरसिंहशंकु-वेतालभट्ट-घटखर्पर-कालिदासाः ।

ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ।।

इस अवतरण के संबंध में प्रथम तो यह कहना है कि जिस ग्रन्थ में इसका उल्लेख है वह कालिदास की रचना नहीं है। दूसरे एक दो को छोड़कर यहाँ जितने रत्न विक्रम-सभा में एकत्र किए गए हैं वे समकालीन नहीं। तीसरे यह अनुश्रुति पीछे की, और केवल एक ही है, अन्यत्र कहीं भी इसकी चर्चा नहीं। अतः कालिदास से वराहमिहिर की समकालीनता उसी प्रकार कल्पनाजन्य जान पड़ती है जिस प्रकार कालिदास और भवभूति के एक सभा में एकत्र होने की किंवदन्ती।

इस प्रकार कालिदास को गुप्तकालीन और इस कारण से विक्रमादित्य को गुप्त-सम्राट् सिद्ध करने की युक्तियाँ तर्कसिद्ध नहीं जान पड़तीं। विक्रमादित्य के गुप्त-सम्राट् होने के विरुद्ध निम्नलिखित कठोर आपत्तियाँ हैं—

(1) गुप्त-सम्राटों का अपना वंशगत संवत् है। उनके किसी भी उत्कीर्ण लेख में मालव अथवा विक्रम-संवत् का उल्लेख नहीं है। जब उन्होंने ही विक्रम-संवत् का प्रयोग नहीं किया तब पीछे से उनके गौरवास्त के पश्चात् जनताने उनका सम्बन्ध विक्रम-संवत् से जोड़ दिया हो, यह बात समझ में नहीं आती।

(2) गुप्त-सम्राट् पाटलिपुत्र-नाथ थे, किन्तु अनुश्रुतियों के विक्रमादित्य उज्जयिनी-नाथ थे। यद्यपि उज्जयिनी गुप्तों की प्रान्तीय राजधानी थी, तथापि वे प्रधानतः पाटलिपुत्रधीश्वर और मगधाधिप थे। मुगल सम्राट् दिल्ली के अतिरिक्त आगरा, लाहौर और श्रीनगर में भी रहते थे फिर भी वे दिल्लीश्वर ही कहलाते थे। इसके अतिरिक्त सोमदेवभट्ट ने अपने कथासरित्सागर में स्पष्टतः दो विक्रमादित्य का उल्लेख किया है—एक उज्जयिनी के विक्रम तथा दूसरे पाटलिपुत्र के। उनके मन में इस सम्बन्ध में कोई भ्रम नहीं था।

(3) उज्जयिनी के विक्रम का नाम विक्रमादित्य था, उपाधि नहीं। कथासरित्सागर में लिखा है कि उनके पिता ने जन्म-दिन को ही उनका नाम शिवजी के आदेशानुसार विक्रमादित्य रक्खा। अभिषेक के समय यह नाम अथवा विरुद्ध के रूप से पीछे नहीं रक्खा गया। इसके विरुद्ध किसी गुप्त सम्राट् का नाम विक्रमादित्य नहीं था। द्वितीय चन्द्रगुप्त तथा स्कन्दगुप्त के विरुद्ध क्रमशः विक्रमादित्य और क्रमादित्य (कहीं-कहीं विक्रमादित्य भी) थे। समुद्रगुप्त ने तो यह उपाधि कभी धारण ही नहीं की। महेन्द्रादित्य भी कुमारगुप्त की उपाधि थी, नाम नहीं। उपाधि प्रचलित होने के लिये यह आवश्यक है कि उसके नाम का कोई लोक-प्रसिद्ध व्यक्ति हुआ हो, जिसके अनुकरण पर पीछे के महत्वाकांक्षी लोग उस नाम की उपाधि धारण करें। रोम में सीजर उपाधिधारी राजाओं के पहले सीजर नामक सम्राट् हुआ था। इसी प्रकार विक्रम उपाधिधारी गुप्त नरेशों के पूर्व विक्रमादित्य नामधारी शासक अवश्य ही हुआ और यह महापराक्रमी मालवगण-मुख्य विक्रमादित्य साहसाङ्ग ही था।



विक्रम और उनके नवरत्न

(पं० ईशदत्त शास्त्री 'श्रीश' साहित्यदर्शनाचार्य, साहित्यरत्न)

सा रम्या नगरी, महान् स नृपतिः, सासान्तचक्रं च तत्,
पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषद् ताश्चन्द्रविम्बाननाः,
उन्मत्तः स च राजपुत्र-निवहः, ते बन्दिनः ताः कथाः।
सर्वं यस्य वशादगात् स्मृतिपथं, कालाय तस्मै नमः!!

--भर्तृहरि

(यह जगमगाती राजधानी! वह महान् सम्राट्! वह सामन्तों का समूह! वह बड़े-बड़े कला-कोविदों से विभूषित राजा-दरबार! वे चन्दुमुखी ललनाएँ! वह मदोन्मत्त राजकुमारों का झुण्ड! वे प्रशस्ति-पाठक चारण! वे बातें!—वह सब कुछ जिसकी कृपा से विस्मृति के गहरे गर्त में डूब गया, उस काल भगवान् को बार-बार नमस्कार है।)

जब जब हम अपने 2000 वर्षों के सांस्कृतिक अतीत के अन्वेषणों में प्रवृत्त होते हैं, तब तब भर्तृहरिकी इस सूक्ति की ओर मन अकस्मात् आकृष्ट हो जाता है। जिस महान् विक्रमादित्य का स्वर्णिम शासन हमारी परःसहस्र भावनाओं की आधार-शिला है, जिसके उदात्त दया-दाक्षिण्य तथा अथाह शौर्य-वीर्य की गाथाएँ हमें रोमांचित करती रहती हैं—आज हममें से बहुतों को उनके अस्तित्व का अन्वेषण करना पड़ रहा है, यह काल भगवान् की महिमा नहीं, तो क्या है?

प्रास्तावित विक्रम-संवत्-प्रवर्तक, शक-समुद्र-शोषक, सम्राट् विक्रमादित्य की कीर्ति-गीति, भविष्य-पुराण, कथासरित्सागर, बृहत्कथामंजरी, नवसाहसांकचरित, प्रबन्धचिन्तामणि ज्योतिर्विदाभरणम्, कालकाचार्य-कथानक, विक्रमांकचरितम् आदि अनेक ग्रन्थों में अनेक आकृति-प्रकृति में मिलती है। यह हमारी संग्रह-शक्ति पर निर्भर है कि हम सूक्ष्म ऊहापोह-शक्ति-द्वारा विवेचनपूर्वक तात्त्विक घटनाओं पर प्रकाश डालें। नवरत्नों के सम्बन्ध की कुछ बातें यहाँ थोड़े में दी जाती हैं। पाठक स्वयं न्यायोचित निर्णय कर सकते हैं—

धन्वन्तरि—

नवरत्नों में सर्व-प्रथम इन्हीं का उल्लेख किया गया है, किन्तु सूक्तिसुभाषित संग्रहों में इसका एक भी पद्य नहीं मिलता। पण्डित-परंपरा में तो ये समुद्र से निकले हुए भगवान् धन्वन्तरि ही समझे जाते हैं। अनुसंधानों से इनके 9 ग्रन्थों का पता लगता है, जो सभी आयुर्वेदिक चिकित्साशास्त्रों से सम्बद्ध हैं। इन ग्रन्थों में से “धन्वन्तरि-निघंटु” जो 9 अध्यायों में बँटा हुआ है, वैद्यों का महान् उपकारक और अतिप्रसिद्ध ग्रन्थ है। अमरकोश के प्रणेता अमरसिंह से ये अति प्राचीन हैं और इनका बनाया कोई “रत्नमाला-कोश” भी था इसका पता क्षीरस्वामी की लिखी “अमरकोश” की टीका से लगता है।

क्षपणक-

इनके नाम से ही प्रतीत होता है कि ये बौद्ध संन्यासी थे; किन्तु कुछ लोग इस मत के विरुद्ध हैं। इनका लिखा कोई विशेष ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। 'भिक्षाटन' काव्य से इनकी एक रचना उद्धृत की जाती है—

नीतिभूमिभुजां, नतिगुणवतां, हीरङ्गानानां, रतिः
दम्पत्योः, शिशवो गृहस्य, कविता बुद्धेः, प्रसादो गिराम्।
लावण्यं वपुषः, सुमनसां शांतिर्द्विजस्य क्षमा
शान्तस्य द्रविणं, गृहाश्रमवतां शीलं सतां मण्डनम्।

(अच्छे राजाओं, गुणियों, स्त्रियों, पति-पत्नियों, घरों, बुद्धि, वाणी, शरीर, प्रसन्नमनों, ब्राह्मणों, तपस्वियों, गृहश्रामियों और सज्जन पुरुषों के अलंकार क्रमशः नीति, विनय, लज्जा, रति, बालक, कविता, प्रसादगुण, सौन्दर्य, शांति, क्षमा, धन, शील (सत्स्वभाव) ही गुण हैं।) एक विद्वान का कहना है कि 'नानार्थकोष' भी इन्हीं की रचना है।

अमरसिंह-

संस्कृतज्ञ-समाज इन्हें जैन विद्वान् के रूप में ही जानता है। इसका मुख्य कारण 'कविकल्पलता' के प्रणेता का भी इसी नाम का होना है। इस भ्रम का खण्डन प्रसिद्ध अन्वेषक विद्वान् राहुल सांस्कृत्यायन ने अनेक प्रमाणों से किया है। बोधिगया के वर्तमान बुद्ध-मन्दिर से प्राप्त एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि इस मन्दिर के निर्माता यही थे। एकमात्र 'अमरकोश' ग्रन्थ से इस प्रकार का अखण्ड यश प्राप्त करना इनकी पुण्य-प्रबलता का द्योतक है। भारतीय पण्डितों में यह उक्ति प्रख्यात है— 'अष्टाध्यायी जगन्मातामरकोशो जगत्पिता।' पाणिनि की अष्टाध्यायी और अमरसिंह का कोश ये जगत् के (पांडित्य के लिये माता पिता के समान) उपकारक हैं।

'अमरकोष' तीन काण्डों में लिखा गया संस्कृत का सर्वश्रेष्ठ उपयोगी कोश-ग्रन्थ है। इतने बड़े पैमाने पर शायद ही किसी दूसरे कोश-ग्रन्थ का प्रचार हो। इस लोकप्रिय कोश पर कुल मिलाकर 40 टीकाएँ हैं। तिब्बती और चीनी भाषाओं में भी इसका रूपान्तर हो चुका है।

यद्यपि इनका कोई काव्य-ग्रंथ नहीं प्राप्त होता, तथापि अमरकोश की सरस प्रवाह-शैली अपने निर्माता के अन्तर में मुखरित कवित्व की मधुरिम धारा को छिपा नहीं सकी है। "सदुक्तिकर्णामृत" में इनके सम्बन्ध में लिखा है—

प्रयोगव्युत्पत्तौ प्रतिपदविशेषार्थकथने प्रसन्नौ गाम्भीर्ये रसवति च काव्यार्थरचने।
अगम्यायामन्यैर्दिशि परिणतानर्थवचसोर्मतं चेदस्माकं कविरमरसिंहो विजयते॥

(प्रयोगों की शुद्धता में, प्रत्येक पद के यथार्थ अर्थ के प्रकाश में, प्रसाद गुण में, भावों की गंभीरता में, रसशालिनी कविता की रचना में, शब्द और अर्थ के अन्यजनदुर्लभभाव-परिपाक में (यदि मेरी बात मानी जाय तो) अमरसिंह कवि ही सर्वोत्तम है।)

शंकु--

नवरत्नों में अमरसिंह के अनन्तर इनका नाम लिया जाता है। वास्तव में इनका नाम 'शंकुक' है। 'काव्य-प्रकाश' नामक साहित्य-शास्त्र के विथुतनामा ग्रंथ में उसके रचयिता मम्मट भट्ट ने रस-निरूपण के प्रकरण में भट्ट लोल्लट के बाद इनके ही मत का उल्लेख किया है। काश्मीरवासी "कल्हण" की

“राजतरङ्गिणी” में यह पढ़ने में आता है—

अथ मम्मोत्पलयोरुदभूद्दारुणो भीषणोरणः

रुद्धप्रवाहा यत्रासीद् वितस्ता सुभटैर्हतैः ।

कविर्बुधमनः सिन्धुशशाङ्क-शङ्कुकाभिधः

यमुद्दिश्याकरोत्काव्यं भुवनाभ्युदयाभिधम् ॥

(मम्म और उत्पल इन दोनों राजाओं में ऐसी लड़ाई हुई कि उसमें मरे हुए वीर सैनिकों को लोथों से वितस्ता (झेलम नदी) का प्रवाह रुक गया! उस युद्ध को लेकर पण्डितों के हृदयरूपी समुद्र के चन्द्रमा शंकुक कवि ने “भुवनाभ्युदयम्” नामक काव्य लिखा।) इससे सिद्ध होता है कि “शंकुक” का “भुवनाभ्युदयम्” किसी समय प्रसिद्धि की पराकाष्ठा को प्राप्त था। किन्तु, काल-क्रम से ह्रास के वात्स्याचक्र में पड़कर वह अपने अस्तित्व को भी खो बैठ और पुरातत्त्व का विषय बन गया! अब तो प्रयत्न करने पर सूक्ति-संग्रहों में ही इनकी कुछ रचनाएँ पाई जा सकती हैं। इनकी तरह कहने का ढंग संस्कृत-कवियों में बिरले ही मिलेगा—

दुर्वाराः स्मरमार्गणाः, प्रियतमो दूरे, मनोऽत्युत्सुकं,

गाढं प्रेम, नवं वयोऽति कठिनाः प्राणाः कुलं निर्मलम् ।

स्त्रीत्वं धैर्यविरोधि, मन्मथसुहृद् कालः, कृतान्तोऽक्षमी

नो सख्यश्चतुराः कथं नु विरहः सोढव्य इत्थं गया ॥

(कामदेव के बाण अचूक निशाना मार रहे हैं, प्राणनाथ परदेश में हैं, उनके लिये मन उत्कण्ठित हो गया है, अनुराग गाढ़ा है, अवस्था नवीन है, प्राण कठोर हैं, जल्दी निकल नहीं जाते, कुल पवित्र ठहरा, स्त्री का स्वभाव कभी धीरज नहीं धरता, आजकल का समय (वसन्त) ‘पञ्चबाण’ का पक्का मित्र है, मृत्यु किसी को क्षमा करना जानती नहीं, सखियाँ चतुर नहीं (जो पति से मिलाने का प्रबन्ध करतीं), ऐसी स्थिति में यह विरह सदा सहा कैसे जाय?) छोटे-से-छोटे पद में सुन्दर-से-सुन्दर भावों के गुंफन में ये अद्वितीय, अद्भुत और आश्चर्यजनक कलाकार थे।

वेतालभट्ट—

विक्रम और वेताल के सम्बन्ध में श्रोता और वक्ता के रूप में दोनों की कहानियाँ अपने देश में आपण्डित-पामर प्रसिद्ध हैं। पण्डित लोग तो बात-बात में “पुनर्वेतालस्तत्रैव रमते” के मुहावरे का प्रयोग करते देखे जाते हैं। “वेताल-पञ्चविंशतिः” (वेताल-पचीसी) का प्रकार इन्हीं कथाओं को लेकर है, परन्तु निर्माता के रूप में इनका कहीं भी कोई उल्लेख नहीं मिलता।

घटखर्पर—

कहा जाता है कि इनकी प्रतिज्ञा थी कि अनुप्रास और यमक में जो कवि मुझे पराजित करेगा मैं उसके यहाँ फूटे घड़े से पानी भरा करूँगा।

भावानुरक्तवनिता-सुरतै शपेयमालभ्य चाम्बुतुषितः करकोशपेयम् ।

जीयेम येन कविना यमकैः परेण तस्मै वहेयमुदकं घट-खपरेण ॥

यह एक ऐसी बात हुई कि इनका वास्तविक नाम लुप्त हो गया—उसके स्थान पर अप्राकृत नाम की ही ख्याति हुई। इनका बनाया हुआ “घटखर्पर-काव्यम्” (खण्डकाव्य) प्राप्त है। इस काव्य में कुल मिलाकर 22 श्लोक हैं। सभी चमक-भरे मोती के दाने हैं। अनुप्रास और यमक के प्रयोग के लिये कवि

में परिष्कृत प्रतिभा और लोकोत्तर क्षमता है।

शब्द-अर्थ, भाव-भाषा, गुण-रीति, रस-अलंकार इन सभी काव्य के उपादेय गुणों का इनके द्वारा यथास्थान उचित मात्रा में उपयोग किया गया है।

नीलशष्पमतिभाति कोमलं वारि विंदति च चातकोऽमलम्।

अम्बुदैः शिखिगणो विनाद्यते का रतिः प्रिय! मया विनाऽद्य ते॥

(इस ऋतु में हरी-हरी मृदु-मृदु दूबों का (चारों तरफ) बिछौना बिछा हुआ है, चातक (पपीहा) चोंच से पानी (स्वाती) की बूँदों का पान कर रहा है, घन-गर्जन सुनकर मयूर केकारव कर रहे हैं--लेकिन मेरे प्राणनाथ! मुझे तुम्हारे वियोग में यह तनिक भी नहीं सुहाता है।)

हंसा नदन्मेघमयाद् द्रवन्ति

निशामुखान्यद्य न चन्द्रवन्ति।

नवाम्बुमत्ताः शिखिनो नदन्ति

मेघागमे कुन्द-समानदन्ति॥

(हे कुन्द (-केफूल) के समान (उज्ज्वल) दाँतों वाली! इस समय (वर्षा ऋतु में) गरजते हुए मेघों के भय से हंस भागने लगते हैं, सायंकाल चन्द्रोदय देखने में ही नहीं आता, गरजते हुए बादलों की सुहावनी छटा पर मुग्ध होकर मयूर बोलते हैं।)

विप्रलंभ-शृंगार का रसाप्लुत परिपाक जिस प्रकार कालिदास के मेघदूत में मिलता है, उसी प्रकार घटखर्पर के प्रकृत खण्डकाव्य में भी संयोग शृंगार का सुन्दर निरूपण मिलता है। इनके एक और ग्रन्थ “नीतिसार” का भी उल्लेख मिलता है।

कालिदास—

जैसा कि हम पूर्व में लिख चुके हैं, महाकवि कालिदास, सम्राट् विक्रमादित्य के प्राणप्रिय कविमित्र थे। अवश्य ही उन्होंने अपनी रचनाओं में विक्रम के व्यक्तित्व का उज्ज्वल स्वरूप-निरूपण किया है। इनके निम्नलिखित उदाहरण से इनकी विक्रम-कालीनता स्पष्ट लक्षित हो जाती है।

ततः परं दुष्प्रसहं द्विषद्विर्नृपं नियुक्त प्रतिहारभूतौ।

निदर्शयामास विशेषदृश्यामिन्दुं नवोत्थानमिवेन्दुमत्यै॥

अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः।

आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्लोल्लिखितो विभाति॥

अस्य प्रयाणेषु समग्रशक्तेरग्रेसरैर्वाजिभिरुत्थितानि।

कुर्वन्ति सामन्तशिखामणीनां प्रभाप्ररोहास्तमयं रजांसि॥

असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौलेः।

तमिन्नपक्षेऽपि सह प्रियाभिर्ज्योत्स्नावतो निर्विशति प्रदोषान्॥

अनेन यूना सह पार्थिवेन रंभोरु कच्चिन्मनसो रुचिस्ते।

सिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु विहर्तुं मुद्यानपरम्परासु॥

तस्मिन्नभिद्योतितबन्धुपद्मे प्रतापसंशोभितशत्रुपङ्के।

बबन्ध सा नोत्तमसौकुमार्या कुमुद्वती भानुमतीव भावम्॥

(तब प्रतिहारी 'सुनन्दा' ने 'इन्दुमती' को नये उगे हुए इन्दु के समान दर्शनीय, शत्रुओं से असह्य प्रताप वाले 'अवन्तिनाथ' को दिखाया और कहा- देखो! बड़ी-बड़ी बाँहों वाले, गोल और पुष्ट कटिदेश-धारी, चौड़ी वलिष्ठ छाती वाले ये अवन्ती के राजा हैं। इनका शरीर-सौष्ठव इतना नयन-रमणीय है कि अनुमान होता है कि 'विश्वकर्मा' ने अपने "चक्रधर" पर चढ़ाकर इनके सौन्दर्य को यत्न-पूर्वक चमकाया है। जब ये अपनी समस्त 'समर-वाहिनी' के साथ प्रयाण करते हैं तब सेना से उठी धूल से बड़े-बड़े सामन्तों के मौलि-मुकुट मलिन हो जाते हैं। ये भगवान् 'चन्द्रमौलिमहाकाल' के निकट रहते हैं अतएव कृष्ण पक्ष में भी अपनी स्त्रियों के साथ नित्य पूर्णिमा का आनन्द लेते हैं। इन्दुमति! इस युवा राजा के ऊपर तुम्हारी कुछ प्रीति हो तो इनसे विवाह करके सिप्रा की तरङ्गों से उठे हुए पवन से कम्पित उद्यान-श्रेणी में विहार जा करो। किन्तु अपने प्रताप से शत्रुपङ्क्तों को सोखने वाले और बन्धु-कमल को खिला देने वाले, 'अवन्ती-पति' पर उत्तम सुकुमारी 'इन्दुमती'-का भाव नहीं ठहर सका।)

वराहमिहिर--

भारतीय ज्योतिष-शास्त्र इनसे गौरवास्पद हो गया है। इन्होंने "बृहज्जातक", "बृहस्पतिसंहिता", और 'पंचसिद्धांती' निबन्ध-ग्रन्थों का निर्माण किया, किन्तु "गणक-तरंगिणी" में भारतीय ज्यौतिष के अन्यतम आधुनिक आचार्य महामहोपध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी ने इनके अतिरिक्त "लघु-जातक", "समास-संहिता", "विवाह-पटल", "योग-यात्रा" नामक ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है। इनमें बृहज्जातक और लघुजातक का काशी और मिथिला में प्रचुर प्रचार है। भट्ट उत्पल नामके विद्वान् के लेख से ज्ञात है कि मगध में उत्पन्न होने वाले शाकद्वीपीय ब्राह्मणवंश के ये अलंकार थे। काम्पिल्य नगरी (वर्तमान 'कलापी') में बाल्यावस्था बीती, वहीं अध्ययन किया और भगवान् सूर्य से वरदान-स्वरूप ज्यौतिषशास्त्र का अप्रतिद्वन्द्वी पाण्डित्य प्राप्त किया। इनके पिता का नाम आदित्यदास था। इनके पुत्रयश नाम का एक विद्वान् पुत्र भी था। अपनी अगाध विद्वत्ता से इन्होंने प्रचुर यश और धन अर्जन किया। ये उज्जयिनी के सम्राट् विक्रमादित्य के आश्रम में रहते थे। वहाँ इन्होंने अपनी नवनोन्मेषशालिनी प्रतिभा के सहारे अरबी-फारसी का भी प्रशंसनीय अभ्यास कर लिया। एक स्थान में इन्होंने ज्यौतिष-शास्त्र की महिमा के प्रसंग में यह भी लिखा है--

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।

ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद्विजः॥

(यवन तो म्लेच्छ ठहरे; परन्तु उनमें भी इस शास्त्र का प्रचार है और इस कारण वे ऋषियों के सदृश पूजा के योग्य माने जाते हैं, तब उस ब्राह्मण का क्या कहना है, जो ज्यौतिष शास्त्र का पण्डित है- वह तो सर्वथा पूजनीय है।)

वररुचि-

ये बड़े ही पुण्यश्लोक कवि थे। अधिक से अधिक 8-10 श्लोक इनके मिलते हैं जिन्हें सहृदय पाठक "सदुक्तिकर्णामृत", "सुभाषितावलि" और "शार्ङ्गधर-संहिता" में पा सकते हैं। इतने पर भी इनकी गणना संस्कृत के नामाङ्कित कवियों में होती है। इस नाम के तीन व्यक्ति मिलते हैं-

1. पाणिनीय व्याकरण पर वार्तिककार वररुचि कात्यायन।
2. "प्राकृत-प्रकाश" के प्रणेता वररुचि।

3. सूक्ति-ग्रंथों में प्राप्त इसी नामके कवि। इनमें प्रथम और तृतीय वररुचि एक ही मान लिए गए हैं। प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ डॉ० भाण्डारकर के मत से इनका गोत्र “कात्यायन” और नाम “वररुचि” है। पण्डित-समाज इन्हें “दाक्षिणत्य” ही जानता है; किन्तु इधर इन्हें “मैथिल” पगड़ी पहनाने के लिये “आटोपमय” प्रमाण तैयार किए गए हैं। ऐसे विषय के जिज्ञासुओं-को “कथासरित्सागर” और ‘लघुत्रिमुनि-कल्पतरु’ देखना चाहिए।

ये व्याकरण-शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान और वर्ष उपाध्याय के उत्कृष्टतम शिष्य थे। सम्भवतः भाष्यकार पतञ्जलि के सतीर्थ भी। पतञ्जलिने अपने महाभाष्य में एक स्थान पर ‘वाररुचं काव्यम्’ कहकर इनके किसी काव्य का निर्देश भी किया है। राजशेखर ने अपनी “काव्यमीमांसा” में लिखा है-

“श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकार-परीक्षा-

अत्रोपवर्ष-वर्षाविह पाणिनिरिह व्याडिः, वररुचि-पतञ्जलि इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः॥

इस खंड-वाक्य से पूर्वोक्त सन्दर्भ की पुष्टि होती है।

बहुत से मनीषियों का अनुमान है कि पतञ्जलि के द्वारा वररुचि जिस काव्य को इंगित किया गया है, उसका नाम सम्भवतः ‘कण्ठाभरण’ हो सकता है। क्योंकि राजशेखर ने लिखा है-

यथार्थता कथं नाग्नि माभूद वररुचेरिह।

व्यधत्त कण्ठाभरणं यः सदारोहणप्रियः॥

किन्तु इस समय तो इस काव्य का दर्शन ही नहीं होता। इनके श्लोकों में पुष्ट भाषा, स्वच्छ अर्थ, प्रौढ रसपरिपाक का पूर्ण आनन्द मिलता है।

कलमः फलभारातिगुरुर्मर्धतया शनैः।

विनतामांतिकोद्भूतं समाघ्रातुमिवोत्पलम्॥

(अगहन का धान, फलों से लदकर धीरे से एक तरफ झुक गया है, मानो उस ओर पास में खिले हुए कमल के फूल को सूँघना चाहता है।)

अस्या मनोहराकारकबरीभारनिर्जिताः।

लज्जयेव वने वासं चक्रश्चमरबर्हिणः॥

(इस नायिका के सुशोभित केश-कलाप की छटा से पराजित होकर लज्जा के मारे मयूरों ने वनवास ले लिया।)

वामन! फलमत्युच्चात्तरुतो मरुतोपनीतमुपलभ्य।

युक्तं यत्तं तृप्यसि दृप्यसि चैतत्तु हास्यतरम्॥

(ऐ बौने! (भलेमानस!) इस बहुत ऊँचे पेड़ से (अचानक) हवा के झकोरे से टपके हुए फल को पाकर जो तृप्त होते हो (यहाँ तक तो) ठीक है, लेकिन (फल तोड़ने का) जो गर्व कर रहे हो, इससे बढ़कर हँसी की बात और क्या हो सकती है!)



कालिदास के ग्रन्थों की उपादेयता

(पं० सीताराम जयराम जोशी, एम० ए०, साहित्याचार्य)

किसी ग्रन्थ की उपादेयता, उस ग्रन्थ की लोकप्रियता पर विशेष निर्भर होती है। जो ग्रन्थ विद्वान् तथा अविद्वान् दोनों को समान रूप से प्रिय होते हैं, वे ही ग्रन्थ प्रशंसनीय होते हैं और उन्हीं की उपादेयता मान्य होती है। कालिदास के सभी ग्रन्थों के इस प्रकार मान्य होने से उनकी उपादेयता स्वतः सिद्ध है।

कालिदास और उनके ग्रन्थ संस्कृत के सभी विद्वानों को पूर्ण परिचित हैं। उनके निर्मित रघुवंश तथा कुमारसंभव नामके दो महाकाव्य, मेघदूत नाम का खण्ड काव्य तथा मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय और अभिज्ञानशाकुन्तल नामके तीन नाटक आवाल-वृद्धों को ज्ञात हैं। संस्कृत साहित्य-का अध्ययन उन्हीं के ग्रन्थों से आरम्भ होता है और यह कह दें तो भी कोई अतिशयोक्ति न होगी कि संस्कृत साहित्य के अध्ययन की परिसमाप्ति भी उन्हीं के ग्रन्थों को ठीक-ठीक समझने में हो सकती है। प्रसिद्ध विद्वान् टीकाकार मल्लिनाथ के प्रास्ताविक श्लोकों में बड़ी ही सुन्दरता के साथ इस उक्ति की पुष्टि की गई है। मल्लिनाथ संस्कृत भाषा में विद्यमान पञ्चमहाकाव्यों पर सर्वोत्तम टीका लिखने वाले माने गए हैं। वे अनेक शास्त्रों के पण्डित थे, जैसा कि उन्हीं के श्लोकों से पता चलता है-

वाणीं काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैयासिकीम् ।

अन्तस्तन्त्रमरैस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत् ॥

वाचामाकलयद्रहस्यमखिलं यश्चाक्षपादस्फुराम् ।

लोकेऽभूद्यदुपज्ञमेव विदुषां सौजन्यजन्यं यशः ॥

मल्लिनाथः कविः सोऽयं मन्दात्मानुजिघृक्षया ।

व्याचष्टे कालिदासीयं काव्यत्रयमनाकुलम् ॥

(कणाद मुनि के वैशेषिक दर्शन, वादरायण व्यासजीके वेदान्त, पतञ्जलि मुनिके व्याकरण-महाभाष्य और अक्षपाद के न्याय शास्त्रों का उन्होंने अध्ययन किया था और वे सबमें पारंगत थे। इसके अतिरिक्त वे अच्छे कवि थे और साहित्य-विद्या के अच्छे पण्डित थे।) ये ईसवी सन् की 14 वीं शताब्दी में विद्यमान थे। कालिदास के तीनों काव्यों पर इनके पूर्ववर्ती अनेक टीकाकार हुए हैं और विशेषकर रघुवंश की टीका लिखने वाले 18 अच्छे पण्डित नामतः ज्ञात हैं। उन टीकाकारों में कुछ विद्वान् विशेष योग्यता वाले भी हैं तथापि मल्लिनाथ ने अपने प्रास्ताविक श्लोक में कहा है-

भारती कालिदासस्य दुर्व्याख्याविषमूर्च्छिता ।

एषा संजीविनी टीका तामघोज्जीवयिष्यति ॥

(कालिदास की वाणी दोषपूर्ण टीकारूपी मूर्च्छित हो चुकी है। मेरी यह संजीविनी टीका उसमें जीवन का संचार करेगी।) इस उक्ति से यह अनुमान भली प्रकार सिद्ध है कि उनके पूर्ववर्ती टीकाकार कालिदास के ग्रन्थों को अच्छी तरह नहीं समझ पाए थे। उक्त श्लोक के पूर्व में मल्लिनाथ कहते हैं-

कालिदासगिरां सारं कालिदाससरस्वती ।

चतुर्मुखोऽथवा ब्रह्मा विदुर्नान्ये तु मादृशाः ॥

(कालिदास की वाणी के सार को केवल आजतक तीन व्यक्तियों ने समझा है, एक तो विधाता ब्रह्मा ने, दूसरे वाग्देवी सरस्वती ने और तीसरे स्वयं कालिदास ने। मेरे सदृश अल्पज्ञ उनको ठीक समझने में सर्वथा असमर्थ हैं।) जब मल्लिनाथ की कोटि के विद्वान् कालिदास की रचनाओं को ठीक-ठीक नहीं समझ पाते हैं, तब कालिदास की योग्यता के विषय में पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं। उनके ग्रन्थ इस प्रकार रहस्यमय होते हुए भी इतने सरल हैं कि उनको छोड़कर दूसरा कोई भी ग्रन्थ प्रारम्भिक छात्रों के लिये पाठ्य विषय नहीं हो सकता। इसलिये इन ग्रन्थों के विषय में महाकवि भवभूति की वह उक्ति चरितार्थ हो सकती है- “वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि। लोको-तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति” (संसार से निराले उन महापुरुषों के मनको कौन जान सकता है जो वज्र से भी अधिक कठोर फूलसे भी अधिक कोमल होते हैं।)

संस्कृत साहित्य और कालिदास का सम्बन्ध अटूट है। संस्कृत साहित्य का सौष्ठव और सौरभ बहुत कुछ इन्हीं के ग्रन्थों पर निर्भर है। जिस प्रकार रामायण और महाभारत ये दो आर्ष काव्य सारे संस्कृत के कवियों के उपजीव्य हैं, उसी प्रकार कालिदास के काव्य और नाटक उनके पश्चाद्वर्ती सभी कवियों के लिये अनुकरणीय बने हैं। यदि संस्कृत साहित्य से कालिदास को हटा दिया जाय तो उसमें अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के रहते हुए भी उस गीर्वाण-वाणी की लोकप्रियता में कमी आ जायगी। अमेरिका के राउडर नामक विद्वान्ने कालिदास की श्रेष्ठता को अनेक प्रकार से स्थापित करते हुए अन्त में यही कहा है कि-

‘वी नो दैट कालिदास वाज ए ग्रेट पोएट, बिकौज दि वर्ल्ड हैज नौट बीन एबिल टु लीव हिम एलोन।’ (हम जानते हैं कि कालिदास महान् कवि थे क्योंकि संसार ने उनको उपेक्षित नहीं छोड़ा।)

कालिदास के बिना, संस्कृत साहित्य का अध्ययन हो ही नहीं सकता। हम कालिदास को छोड़ नहीं सकते और छोड़कर संतोष नहीं पा सकते।

जर्मनी के जगत्प्रसिद्ध विद्वान् और कवि गेटे भी कालिदास के शाकुन्तल के अनुवाद को पढ़कर आनन्द-वेग से पागल-से हो उठे थे। उन्होंने उस ग्रन्थ की विलक्षण प्रशंसा करते हुए यह कह डाला-

उड्स्ट दाउ दि यङ्ग ईअर्स ब्लौसम्स ऐण्ड फ्रूट्स औफ इट्स डिक्लाइन,
ऐण्ड औल बाइ द्विच दि सोल इज चार्म्ड, एनैप्चर्ड, फीस्टेड् ऐण्ड फेड्।
उड्स्ट दाउ दि अर्थ ऐण्ड हैविन इट्सेल्फ इन वन सोल नेम कम्बाइन,
आइ नेम दी, ओ शकुन्तला! ऐण्ड औल ऐट् वन्स इज् सेड्।’

(यदि तुम युवावस्था के फूल और प्रौढ़ावस्था के फल और अन्य ऐसी सामग्रियाँ एक ही स्थानपर खोजना चाहो जिनसे आत्मा प्रभावित होता हो, अत्यन्त उल्लसित हो जाता हो, तृप्त होता हो और शांति पाता हो अर्थात् यदि तुम स्वर्ग और मर्त्यलोक को एक ही स्थान पर देखना चाहते हो तो मेरे मुख से सहसा एक ही नाम निकल पड़ता है-शकुन्तला।)

कवि की वाणी प्रायः उसके हृदय का प्रतिबिम्ब होती है। कालिदास के विषय में मल्लिनाथका यह कहना सर्वथा सत्य है कि कालिदास के ग्रन्थों में ऐसी कोई न कोई बात है जिस पर सभी दार्शनिक, तान्त्रिक, कवि तथा अन्य विद्वान् मुग्ध हैं। यदि ऐसा कहें कि उनके ग्रन्थों में चारों पुरुषार्थों का प्रतिपादन कान्ता की-सी मधुर वाणी में किया गया है तो रामायण-महाभारतादि आर्ष काव्य उनसे कम नहीं हैं।

उपनिषद्, भगवद्गीता आदि धर्मशास्त्र तथा मोक्षशास्त्र के ग्रन्थ, महाभारत के अनेक पर्वों एवं पुराणों में और स्वतन्त्र रूप से भी विद्यमान अर्थशास्त्र और कामशास्त्र के ग्रन्थ—ये सब कालिदास के ग्रन्थों के उपजीव्य हैं। इतना ही नहीं, वरन् उनके ग्रन्थों में संगीतादि अन्यान्य शास्त्रों के विषय भी पाए जाते हैं। तथापि इतने से ही कालिदास हमें इस प्रकार प्रिय नहीं हो सकते, जैसा हम इनको पाते हैं। यह भी मान लिया कि कालिदास समरस थे, अतः, उनके ग्रन्थों में निसर्ग अथवा प्रकृति का वर्णन अनुपम हो उठा है। अलंकार में भी विशेष उपमा अलंकार के वर्णन में तो ये अद्वितीय ही हैं। मातृगुप्त के बतलाए हुए तीनों प्रकार के रस कालिदास के ग्रन्थ में पाए जाते हैं—

रसास्तु त्रिविधाः वाचिकनेपथ्यस्वभावजाः ।

रसानुरूपैरालापैः श्लोकवाक्यैः पदैस्तथा ॥

कर्म-रूप-वयो-जाति-देश-कालानुवर्तिभिः ।

माल्यभूषणवस्त्राद्यैः नेपथ्यरस इष्यते ॥

रूपयौवन-लावण्य-स्थैर्य-धैर्यादिभिर्गुणैः ।

रसः स्वभाविको ज्ञेयः स च नाट्ये प्रशस्यते ॥

(रस तीन प्रकार के होते हैं— वाचिक, नेपथ्य और स्वभावज। रस के अनुरूप बातचीत, श्लोक, वाक्य और पद कहना तो वाचिक रस हैं; कर्म, रूप, वय, जाति, देश और काल के अनुरूप माला, आभूषण, वस्त्र आदि धारण करने का वर्णन ही नेपथ्य-रस है और रूप, यौवन, लावण्य, स्थैर्य, धैर्य आदि गुणों का वर्णन स्वाभाविक रस जानना चाहिए, जो नाटक में बहुत प्रशंसनीय समझा जाता है।

उनमें से पहला है वस्तु मात्र में रहने वाला स्वाभाविक रमणीय रस और दूसरा कृत्रिम रस है, जिसे कवि, योग्य शब्द-सौष्ठव के द्वारा तथा उचित नेपथ्य-वर्णन से प्रस्तुत करता है। ये सब कालिदास के ग्रन्थों में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। इतना होते हुए भी उनकी एक विशेषता यह भी है कि वे मनुष्य की भूमिका में स्थित होकर हमारी सभी प्रकार की वासनाओं की धाराओं को भी सुन्दर एवं सूक्ष्म रूप से चित्रित करते हैं, जिसको पढ़ते समय पाठक तन्मय होकर काव्य के उस परम प्रयोजन 'सद्यः परनिर्वृत्ति' का अनुभव करने लगता है, जिसके सम्बन्ध में मम्मट भट्ट ने अपने 'काव्यप्रकाश' में बताया है कि काव्यरस का आस्वादन करते ही सब विषयों को भूलकर मन केवल आनन्दमय बन जाता है। इसी आनन्द को स्थायी रूप से प्राप्त करने के लिये सारा संसार प्रयत्नशील है। आनन्द ही आत्मा का वास्तविक स्वरूप है। अतः, जबतक मनुष्य को सच्चा आनन्द प्राप्त नहीं होता, तबतक उसे शान्ति और समाधान प्राप्त नहीं हो सकता।

कालिदास का ग्रन्थ-निर्माण का प्रधान अभिप्राय जनार्दन-रूपी जनता का आराधन ही प्रतीत होता है। इस लक्ष्य को उन्होंने स्वयं विशद किया है। मालविकाग्निमित्र उनका पहला नाटक है। उसमें उन्होंने नाट्य के प्रयोजन को सुंदर रूप से प्रकट किया है—

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषम्

रुद्रेणैवमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा ।

त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते

नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम् ।

(देवताओं को यज्ञ प्रिय होता है। उनके नेत्रों को तृप्त करने वाला परम प्रिय यज्ञ इस नाट्य कला का अभिनय है, ऐसा मुनियों का मत है। रुद्र महादेवजी ने अपनी अर्द्धाङ्गिनी उमा जी के साथ इस नाट्य को अपने ही शरीर में द्विधा विभाजित करके ताण्डव और लास्य नाम की नृत्यकलाओं को आविर्भूत किया। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों से निर्मित इस सृष्टि में विद्यमान त्रिगुणात्मक लोक-चरित को ही अनेक प्रकार से रसों में नाटक में प्रकट किया जाता है। अतः, भिन्न-भिन्न अभिरुचि वाली जनता को प्रसन्न करने के लिये एकमात्र साधन नाट्यकला ही है।)

रघुवंश काव्य के आरम्भ में महाकवि ने रघुकुल के राजाओं का महत्त्व एवं उनकी योग्यता का वर्णन करने के बहाने प्राणिमात्र के लिये कितने ही प्रकार के रमणीय उपदेश दिए हैं। जिस कार्य को कोई बड़े से बड़ा सुधारक चारों ओर घूमकर उपदेशों की झड़ी लगाकर नहीं कर पा सकता, उसे कवि, संसार के एक कोने में बैठा हुआ अपनी लेखनी के बल से सदा के लिये कर दिखाता है—

सोहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् ।
 आसमुद्रक्षितीशानामानाकरधवत्सर्णाम् ॥
 यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम्
 यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ॥
 त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम् ।
 यश से विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ॥
 शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
 वार्ध के मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥
 रघूणामन्वयं वक्ष्ये.....

(मैं उन प्रतापी रघुवंशियों का वर्णन करने बैठा हूँ, जिनके चरित्र जन्म से लेकर अन्त तक शुद्ध और पवित्र रहे, जो किसी काम को उठाकर उसे पूरा करके ही छोड़ते थे, जिनका राज्य समुद्र के ओर-छोर तक फैला हुआ था, जिनके रथ पृथ्वी से स्वर्ग तक आया-जाया करते थे, जो शास्त्रों के नियम के अनुसार यज्ञ करते थे, माँगने वालों को मनचाहा दान देते थे, अपराधियों को उचित दण्ड देते थे, समय पर उठते थे, दान करने के लिये धन बटोरते थे, सत्य की रक्षा के लिये कम बोलते थे, यश के लिये विजय करते थे, सन्तानोत्पत्ति के लिये विवाह करते थे, बालपन में पढ़ते थे, तरुण्य में सांसारिक भोग भोगते थे, बुढ़ापे में मुनियों के समान रहते थे और अन्त में योग के द्वारा शरीर छोड़ते थे।)

इस प्रकार रघुवंश काव्य में कालिदास ने रघुवंशी राजाओं को निमित्त बनाकर उदारचरित पुरुषों का स्वभाव पाठकों के सामने ला रक्खा है। उनका यह अभिप्राय नहीं है कि लोग उनके सदृश होने के लिये बाध्य हों क्योंकि ऐसा होना असम्भव है। किन्तु यदि हम विचार करें तो ज्ञात होगा कि इस संसार में कोई ऐसा पुरुष नहीं है जो अपने आपको उन्नत न बनाना चाहता हो क्योंकि उन्नति की इच्छा करना आत्मा का धर्म है। परन्तु प्रायः सांसारिक जीवों की इन्द्रियाँ विषय के अधीन होती हैं इसलिये त्रिगुण स्वभाव के अनुसार वे सदा अवश रहते हैं। पर आत्मा की स्वाभाविक प्रवृत्ति अपने स्वरूप की खोज करने की ओर होती है इसलिये उसको ऐसे उदारचरितों का वर्णन ही प्रिय होता है और उसके पढ़ने में अज्ञात रूप से मन तन्मय होकर अनुपम आनन्द का अनुभव करता है। ऊपर दिए हुए श्लोकों में ही कैसी सुन्दर कल्पना भरी हुई है। सूर्यवंश की सन्तान जन्म से ही पवित्र और निष्कलंक होती थी। पवित्र कुल

में जन्म लेना एक स्पृहणीय धर्म अवश्य है जिसमें कालिदास की अटल श्रद्धा थी। आत्मा की उन्नति के लिये प्रयत्न करने वालों को हताश होने का कोई कारण नहीं। रघुवंशी राजाओं के वृत्त से यह शिक्षा मिलती है कि वे फल की प्राप्ति तक कर्म करते जाते थे। पृथ्वी पर राज्य करते थे तो साधारण राजाओं की तरह नहीं वरन् अपने राज्य की सीमा को समुद्र तक पहुँचाते थे। उनके रथों की गति दसों दिशाओं में स्वर्ग तक भी थी। इतने महान् होने पर भी वे अहंकार और दुरभिमान से ग्रस्त नहीं होते थे, वरन् शास्त्र-विधि का पालन करते हुए देवताओं का पूजन और हवन बराबर किया करते थे, जो याचक होकर उनके पास पहुँचते थे, उनकी अभिलाषाओं को पूरा करके उनको सन्तुष्ट किया करते थे। राजा का कर्तव्य दुष्टों का दमन करना है, इसलिये अपराध के अनुरूप दण्ड देने में कभी चूकते न थे। यह सब होने पर भी उनमें विलासप्रियता न थी। वे जितेन्द्रिय होते थे। इस बात को एक ही शब्द में उन्होंने झलकाया है— 'यथा- कालप्रबोधिनाम्', अर्थात् सोकर उठने का समय उनका कभी टलता न था। जो जिस काम का अवसर होता उस समय वह काम करते थे। वे धन इकट्ठा करते थे, परन्तु योग्य पात्र को उसका दान कर देते थे। वे मितभाषी होते थे, जिससे सत्य का अपलाप न हो। विजयी होने की इच्छा से ही दिग्विजय किया करते थे और उसका मुख्य हेतु चारों दिशाओं में अपने यश को फैलाना था। केवल संतति की इच्छा से ही गृहस्थाश्रम को स्वीकार करते थे, विषय-तृप्ति के लिये नहीं। बाल्यावस्था में ही अध्ययन समाप्त कर लेते थे। यौवन में विषयों का उपयोग होता था, किन्तु वह नियम-रहित मनमाना नहीं होता था, प्रत्युत शास्त्रविधि के अनुसार, जिससे 'भोगे रोगभयं' भी न आए और जवानी बीतने के पहले ही मुनि का आचरण अङ्गीकार कर लेते थे और योगबल को पाकर देह-त्याग के अनन्त ब्रह्म-निर्वाणरूपी मोक्ष पा लेते थे। इन सब विषयों का संकलन केवल रघुवंश में है, जिसकी वस्तु स्वभाव-सुन्दर होने के कारण उसको इस श्रेष्ठ कवि ने अपनी अनुपम वाणी के सामर्थ्य से और उचित वेश-भूषादि की योजना के द्वारा उस काव्य को विविध रसों से ओतप्रोत कर दिया। कालिदास के अन्य ग्रन्थ भी इस प्रकार के तथा अन्य प्रकार के गुणों से पूर्ण होने से अत्यन्त मनोह और लोकप्रिय बन गए हैं।

आलंकारिकों ने उपदेश के तीन प्रकार बताए हैं— प्रभुसम्मित, मित्रसम्मित और कान्तासम्मित। सम्मित शब्द का अर्थ तुल्य है। प्रभुसम्मित उपदेश आज्ञा के रूप में होता है। वह जिस पुरुष के लिये होता है उसको विवश होकर उपदेश का पालन करना आवश्यक हो जाता है, जैसे माता-पिता का उपदेश बालकों के प्रति होता है। वह औषध के समान प्रारम्भ में अप्रिय होने पर भी अन्त में गुणकारी होता है। वेद, उपनिषद, शास्त्र आदि धर्म-ग्रन्थों का उपदेश इसी प्रकार का माना गया है। दूसरा उपदेश मित्रसम्मित है, जो कि पुराणादि ग्रंथों से ज्ञात होने वाला है, जैसे कोई मित्र दूसरे मित्र को कुमार्ग से हटाने के लिये कुछ कह रहा हो, उसी समय उसके मन में यह विश्वास भी रहता है कि मेरा मित्र मेरे उपदेश को मान ले तो उसका कल्याण होगा, यदि नहीं मानेगा तो हम उसे बाध्य नहीं कर सकते। किन्तु तीसरा उपदेश कान्ता-सम्मित है, जो अच्छे काव्यों का प्राणरूप होकर कभी विफल नहीं होता। इस उपदेश में कान्ता के समान पुरुष के सर्वदा प्रसन्न रखते हुए उसको अच्छे पथ पर लाने के लिये ऐसा अतर्कित उपाय है कि जब वह अपने को सुधरा हुआ पाता है तब वह उस चमत्कार को देखकर मन ही मन चकित हो जाता है। कालिदास के ग्रन्थों में यह तीसरे प्रकार का उपदेश स्थान-स्थान पर मिलेगा। कालिदास के स्वभाव की विशेषता यही है कि वे किसी से घृणा करना तो दूर रहा, उल्टे सभी प्रकार के ऊँच नीच पात्रों की प्रकृति प्रस्तुत करके उनके अच्छे और बुरे परिणामों का मधुर शब्दों में वर्णन करते हैं। उचित

होगा या अनुचित इसका निर्णय उन्होंने पाठकों पर छोड़ दिया है, जिससे पाठकों को कालिदास पर क्रुद्ध होने का अवसर कभी नहीं आ सकता। सारे संसार की सहज प्रवृत्ति विषय-सुख की ओर रहती है। विषय-सुख की वासना कितनी प्रबल होती है और अपने को राजर्षि जितेन्द्रिय बतलाने वाले भी वासना से कैसे विवश हो जाते थे और साथ ही उससे अत्यन्त व्यथित होने पर अधर्म के मार्ग पर चलकर अर्थ और काम को वे कितना हेय समझते थे, इसका सूक्ष्म और सुन्दर चित्रण हमें कालिदास के ग्रन्थों में मिलता है, जिसे पढ़कर पाठक समझ जायेंगे कि साधारण जनता कष्ट और क्लेशों से बचने के लिये विषय के अधीन हो जाती है, परन्तु असाधारण अलौकिक जन प्राणपन से भी अधर्म और अन्याय के प्रलोभन को जीतने की चेष्टा किया करते हैं। इस विषय में तीनों नाटकों के उदाहरण हमारे सामने हैं। अभिज्ञान शाकुन्तल के प्रथम अङ्क में जब शकुन्तला को राजा प्रथम बार देख लेते हैं, तब उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाने पर भी मन में विचारने लगते हैं कि यह ऋषि-कन्या स्पर्शक्षमरत्न है अथवा अग्नि; और सत्यता के विदित होने के पहले ही आत्म-विश्वास पर निर्भर होकर इस निर्णय पर पहुँच जाते हैं कि इस दुष्यन्त का मन आज तक कुपंथ की ओर कदापि नहीं झुका है, इसलिये शकुन्तला के प्रति इच्छा अधर्म नहीं हो सकती। इससे एक बात निश्चित हो जाती है कि यदि किसी बात में धर्म का विरोध न हो तो उसकी प्राप्ति के लिये किसी उपाय अथवा प्रयत्न का अवलम्बन करना प्रशंसनीय है। मन के विचारों को वश में करने का सरल ढंग मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय सभी में देखने को मिलता है। कालिदास के प्रत्येक काव्य या नाटक में नायक और नायिकाएँ भिन्न कोटि की दर्शाई गई हैं। जैसे कुमारसंभव में अत्युच्च कोटि के नायक शिव जी जब पार्वती के सौन्दर्य पर मुग्ध नहीं होते हैं, तब पार्वती जी 'अरूपहार्य मदनस्य निग्रहात्' (काम का निग्रह करने वाले शङ्कर भला रूप-द्वारा कैसे रिझाए जा सकते हैं?) को ध्यान में रखकर कठिन से कठिन तपश्चर्या करने के लिये उद्यत हो जाती हैं और शङ्कर को दास बनना पड़ता है।

अथप्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमीलौ ।

-कुमारसंभव, सर्ग 5, श्लो० 86 ।

शंकर जीने कहा- ('आज से हे देवि! मैं तुम्हारे तपसे मोल लिया हुआ तुम्हारा दास हूँ।)

इस प्रकार काम-पुरुषार्थ का बहुत ऊँचा चित्र उन्होंने अपने काव्य में खींचा है। ऐसे ही अनेक सूक्ष्म भावों को मधुर सान्द्र सूक्तियों के द्वारा वर्णन करते हुए उनको अति मनोहर बना दिया है और भगवद्गीता की 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कालोऽस्मि भरतर्षभ' का चारितार्थ्य सुचारु रूप से सिद्ध किया है और स्वयं कामरूपी भगवान् के उपासक थे इसको भी झलकाया है। काम-पुरुषार्थ की निसर्ग दुर्लभता और उसको प्राप्त करने के अनेक सरल सुगम उपाय तथा उस पुरुषार्थ का उपभोग करने वाले विविध व्यक्तियों के स्वभाव-वर्णन आदि सब विषय आवालवृद्ध सभी को ही प्रिय हैं तथा उनके ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं और यही उनकी उपादेयता का कारण है।

कवि-जगत् में कालिदास का मौलिक स्थान है। त्रिवर्ग के विषय धर्म, और काम, जिनका प्रतिपादन शास्त्रों में सुचारु तर्क और अनुभव से किया गया है, उनको रोचक वर्णनों के साथ आबाल-वृद्ध के हृदय में प्रविष्ट करा देना और उनकी चित्तवृत्ति को लहर में लीन करा देना अच्छे कवि का ही कार्य है और उसकी ही कृति को विद्वानों ने 'काव्य' बताया है। दृश्य और श्रव्य दो प्रकार का काव्य होता है। कालिदास ने दोनों पर लेखनी चलाई है। ऐसी रचनाओं की मौलिकता प्राञ्जल भाषा-द्वारा पूर्वोक्त उचित नेपथ्य के साथ वस्तु-प्रतिपादन-पर निर्भर रहती है। कालिदास ने नाट्यकला में प्रवीणता प्राप्त करके

विचक्षण जगत् के सामने अपनी प्रथम रचना रखी, जिसे मालविकाग्निमित्र कहते हैं। उस नाट्य के उपक्रम से ज्ञात होता है कि उन्हें इस बात का विश्वास नहीं था कि वह रंगमंच पर खरा उतरेगा। क्योंकि उनके पूर्ववर्ती भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदि अनेक नाटककार प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे तथापि कालिदास में इतना आत्मविश्वास अवश्य था कि उन कवियों के नाटकों में जो बातें नहीं पाई जाती हैं वे मालविकाग्निमित्र में दर्शकों को मिल सकती हैं। इसलिये वे कहते भी हैं- 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।

-मालविकाग्निमित्र 1।2

(न तो पुराना होने से ही कोई काव्य ग्राह्य हो सकता और न नवीन होने के कारण त्याज्य हो सकता है।) अच्छे समालोचक इस नाटक की समालोचना करते समय एक बात को भूल जाते हैं कि कालिदास ने इस नाटक के लिये ऐसा नायक चुना, जो कालिदास के समकालीन राजाओं में से था। अग्निमित्र शुंग वंश के एक साधारण राजा थे। उनके कई पत्नियाँ थीं तथापि उनकी काम-वासना नूतन सुन्दरी को देखने से जागरित हो जाती थी और वह वस्तु यदि सुप्राप्य रहती थी तो उसकी प्राप्ति के लिये कोई भी यत्न बचा नहीं रखा जाता था। हमारी दृष्टि में यह उसी समय का चरित्र चित्रण है और इसी को उन्होंने नाटक का प्रधान विषय बनाया है, शेक्सपियर ने भी कहा है कि 'नाटक' जगत् के व्यवहारों का प्रतिबिम्ब है (होल्डिंग मिरर अपटु नेचर)। कालिदास इसे भली भाँति जानते थे कि महाभारत और रामायण में वर्णित राजर्षि के समान अग्निमित्र उदात्त-चरित नहीं थे तथापि ये नायक के सभी साधारण गुणों से सम्पन्न अवश्य थे।

वे धीरोदात्त थे, दक्षिण थे और मालविका से प्रेम करते हुए भी विवाहिता रानियों के साथ कभी उपचारातिक्रम नहीं करते थे। मालविका के साथ एकान्त सेवनरूप जो मानुष-सहज दुर्बलता कालिदास ने अग्निमित्र में दिखलाई है, उसके कारण आधुनिक कतिपय विद्वानों ने उन्हें बहुत ही हीन-चरित्र बताया है एवं उनकी निन्दा भी की है, परन्तु कालिदास की दृष्टि में अग्निमित्र का मालविका के साथ एकान्त समागम केवल मालविका को स्मर-पीडा की आत्यन्तिक अवस्था से बचाने के लिये ही था। नाटक में इस स्थिति को कविने बड़ी कुशलता से चित्रित किया है। अन्त में राजपुत्री के सम्बन्ध को जानकर देवी धारिणी के द्वारा ही मालविका को देवी पद प्रदान कराया गया है। इसी प्रकार इस नाटक में परिव्राजिका, नाट्याचार्य, विदूषक तथा अन्य कुल-स्त्रियों का वर्णन विलक्षण चातुरी के साथ किया गया है और उपर्युक्त वाचिक, नेपथ्य और स्वाभाविक तीनों रसों का परिपोष इतना मनोज्ञ बना दिया गया है कि उसे पढ़ तथा देखकर पाठक एवं दर्शक मुग्ध हो जाते हैं और सत्त्व, रज एवं तम इन तीनों गुणों के अनुरूप अनेक प्रकार के रसों का आस्वादन करते हैं।

मालविकाग्निमित्र नाटक के पश्चात् अभिनय-जगत् में अवतरित कालिदास का दूसरा नाटक अथवा त्रोटक विक्रमोर्वशीय है जिसमें मनुष्य-भूमिकापर स्थित कराकर राजर्षि और दिव्यांगना का ऐसा वर्णन किया है कि वह करुण विप्रलम्भ शृङ्गार के अतिविस्मयजनक रस, विलक्षण भाषा-सौन्दर्य और संगीत-शास्त्र के रहस्यमय पदों के साथ अत्यन्त मनोहर बन गया है। कथा, केवल वेदमें वर्णित सारांश रूप में ही है। इला और बुध के पुत्र तथा चन्द्रमा के पौत्र राजा पुरूरवा देवांगना उर्वशी के साथ प्रणय करते हैं, फिर वियोग हो जाता है और फिर मिलन भी हो जाता है, जिससे एक पुत्र उत्पन्न होता है। यही सामान्य कथा कवि-कौशल से बहुत ही रमणीय बन गई है। इस नाटक में विशिष्ट पात्रों की

मनोभावनाएँ सूक्ष्म से सूक्ष्म विशिष्ट संगीत-विज्ञान के साथ प्रकट करके कालिदास ने नाट्य-कला में दूसरा प्रशंसा पत्र पाया। ऐसी शुष्क कथा में कालिदास के अतिरिक्त अन्य कोई भी कवि इतना जीवन नहीं डाल सकता था।

तीसरी नाट्यरचना सबसे सर्वांगसुन्दर उपदेशों से भरी हुई मानवस्वभाव की विचित्रता को प्रदर्शित करने वाली, सभी देशों और कालों के अनुरूप कमनीय अभिनय-कलापूर्ण कृति, अभिज्ञान-शाकुन्तल के रूप में प्रकट हुई और उसने नाटक-जगत में सदा के लिये सर्वत्र श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर लिया। पाश्चात्यों के भारत से परिचित होने के कुछ काल के अनन्तर संस्कृत भाषा के अन्यान्य ग्रन्थों के साथ इस नाटक का भी अनुवाद योरोपीय भाषाओं में हुआ। हम पहले कह चुके हैं कि केवल इसके अनुवाद को पढ़कर योरोप के विख्यात कवि गेटेने इसपर लट्टू होकर हर्षातिरेक के साथ इसका आदरपूर्वक अभिनन्दन किया। विद्वानों में यह श्लोक प्रसिद्ध ही है-

काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला।

तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम्।।

(जितने काव्य के प्रकार हैं उनमें नाटक विशेष सुन्दर होता है। प्रसिद्ध नाटकों में काम्य सौन्दर्य की दृष्टि से अभिज्ञान-शाकुन्तल का मूर्धन्य स्थान है। अभिज्ञान-शाकुन्तल में भी चतुर्थ अङ्क और इस अङ्क में भी चार श्लोक मनोहर हैं।) वल्कल-धारिणी शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त का हृदयोद्गार इस रूप में निकला-‘इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्। (यह नवेली तो वल्कल में भी बड़ी रसीली लगती है। स्वभाव से ही रमणीय वस्तुओं की शोभा बाह्य उपकरणों पर निर्भर नहीं होती।) प्रत्युत असुन्दर वेष-भूषा भी उनकी सहज कमनीयता में बाधा नहीं डालती। उनकी शोभा प्रतिक्षण नवीन ही रूप धारण करती है। यदि सर्वाङ्ग-सुन्दर अभिज्ञान-शाकुन्तल के भाषान्तर में किए गए अनुवादों की समीक्षा करते समय दुष्यन्त की इसी उक्ति का उपयोग किया जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। ठीक ही है, आभ्यन्तर सौन्दर्य बाह्य उपादान के अनुपयुक्त होने पर भी जगमगाता ही रहेगा। यह नाटक किसी भी रूप में रहे, इसकी हृदयहारिता ज्यों की त्यों रहेगी। हमने सुना है कि इस विश्वव्यापी घोर संग्राम (सन् 1939-44) के कुछ मास पूर्व इस बीसवीं शताब्दी में आस्ट्रेलिया द्वीपखण्ड में इस नाटक के ऑगल भाषानुवाद का अभिनय करके वहाँ की जनता आनन्द लेती थी। इसमें चौथा अङ्क सब प्रकार से सुन्दर तो है ही, उसके चार श्लोक किसी देश में सदा के लिये सभी को उपादेय हैं। अधिक क्या कहा जाय, शकुन्तला की एक पंक्ति भी दोषग्रस्त नहीं है। इतना ही नहीं, प्रत्येक पंक्ति में एक न एक विशेषता है। इस नाटक के सभी पात्र धीवर से लेकर दुष्यन्त तक अपने-अपने ढंग से रमणीय रूप में अनेक रसों का परिपोष करते हैं।

कालिदास के तीनों काव्यों का अपना-अपना अलग वैशिष्ट्य है। कालिदास अर्धनारी-नटेश्वर शङ्कर भगवान् के उपासक थे। यह बात उन्होंने अपने ग्रन्थों के मंगल श्लोक में झलकाई है। तथापि ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीनों के प्रति उनकी अभेद बुद्धि थी। विशिष्ट कार्यों के कारण एक ही परतत्त्व में तीन प्रकार के अभिधान के मूल प्रकृति के गुणों के अनुसार तीन नाम हैं। सर्जन, पालन और संहरण, राजस, सात्त्विक और तामस प्रकृति के कार्य होने के कारण कार्यभेद से एक ही परतत्त्व की ब्रह्मा, विष्णु और महेश ये तीन प्रतीक मूर्तियाँ हैं। सांख्य की प्रकृति और पुरुष को कालिदास ने उसी परतत्त्व का आविर्भाव माना। उसी तत्त्व को योगीजन अपने हृदय में स्थित ज्योति के रूप में पाकर कृतार्थ होते हैं। इस प्रकार कालिदास ने सारे विश्व को आठ मूर्तियों में विभक्त करके उन सबको अपने उपास्य देवता का ही

पृथक्-पृथक् अङ्ग माना है। इस दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन स्थान-स्थान पर उन्होंने किया है। शङ्कर भगवान् के अर्धनारी-नटेश्वर के रूप में उनके उपास्य देव होने के कारण प्रथम उन्हीं की आराधना के रूप में कुमार-सम्भव का प्रवचन प्रतीत होता है। जगन्माता और जगत्पिता का काम-पुरुषार्थ-संभोग तथा विप्रलम्भात्मक उभयरूप-शृङ्गार का मनोज्ञ वर्णन शांत रस में सम्पन्न होकर सुस्थित आत्मानन्द का देने वाला होता है। बताइए, कालिदास के अतिरिक्त दूसरा कौन कवि है, जो इसे इतनी सफलता के साथ वर्णन कर पाता? यहाँ पर अचेतन सृष्टि सचेतन हो उठी है। हिमालय कालिदास की सृष्टि में जड़ पर्वत नहीं है, प्रत्युत वह देवतात्मा है जहाँ पर सब देवता सदा के लिये वास करते हैं। पार्वती जी के तपोवन में बढ़ने वाले पेड़ उनके पुत्रों से कम सत्य-भाजन नहीं थे। जंगम प्राणियों की तो कथा ही क्या—उस तपोवन में व्याघ्र और हिरण अपने शत्रु-भाव को त्यागकर शांत चित्त से विचरण करते थे, वहाँ स्थावन वृक्षलताएँ भी प्राणधारी बनकर घड़े के जलरूपी स्तन्य का पान किया करते थे। इन कथनों से कालिदास ने दर्शन के उदात्त तत्त्व चैतन्य का सर्व-व्यापित्व बड़ी रमणीयता से झलकाया है। शिवजी योगीश्वर थे इसीलिये वे पार्वती जी के सौंदर्य पर लुब्ध होने वाले नहीं थे। यही कारण था कि पार्वती जी ने अपने रूप को हेय माना और कठिन तप के द्वारा शिवजी को वश में किया—

इयेष सा कर्तुमबन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः ।

अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः ॥

—कुमारसंभव, 5।2

(पार्वती जी ने नियमित रूप से तपस्या के द्वारा समाधिका अभ्यास प्रारम्भ कर दिया, क्योंकि वैसा देवी प्रेम और वैसा पति मिल कैसे सकता है?)

बस, कालिदास का सारा प्रयत्न प्रेम और समाधि दोनों को एक ही जगह दिखाने का था। इसका उद्देश्य और कोई नहीं, क्योंकि प्राणिमात्र का परम पुरुषार्थ अभ्युदय और निःश्रेयस इन दोनों को एकत्र पाने में ही है। यह शिक्षा हमें कालिदास के ग्रन्थों में मिलती है। कुमारसंभव का पञ्चम सर्ग पूरा का पूरा इसी भाव से भरा हुआ है।

कवि के वर्णन का रहस्य व्यंजना-व्यापार से उपदेश देने का रहता है। आलङ्कारिक हमें बतलाते हैं कि सारे रामायण का प्रयोजन 'रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवत्' (राम तथा तत्सदृश पुरुषों की भाँति काम किया जाय, रावण इत्यादि की भाँति नहीं) है। कुमारसंभव में दिव्य नायक का दिव्य चरित वर्णित है, परन्तु लौकिक काम और शृङ्गार-रस की सूक्ष्म भावनाओं का वर्णन करने के लिये उन्होंने मेघदूत लिखा, जिसमें यह वर्णन किया है कि प्रकृति के समरस होते हुए भी प्राणी को मनुष्य सुलभ विपत्ति और वियोग में सूक्ष्म भावनाओं का अनुभव किस प्रकार होता है और कैसे होना चाहिए। मेघदूत काव्य कोरी कल्पना का फल नहीं है, जिसमें निसर्ग के अनुपम वर्णन तथा शृङ्गार-सर्वस्व को कालिदास ने अपने अत्यन्त अनुकूल मन्दाक्रांता वृत्त में भर दिया है। यक्ष की अन्तिम हार्दिक इच्छा यही है कि 'हे मेघ'—

माभूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः ॥

—उत्तरमेघ, 58

(हे मेघ! इस प्रकार तुम्हारा कभी बिजली से वियोग न हो।)

कालिदास के ग्रन्थों का जब हम इस दृष्टि से सूक्ष्म निरीक्षण करेंगे तब विदित होगा कि कालिदास के ग्रन्थों में अत्यन्त उदात्त चरित्र शङ्कर भगवान् तथा भगवान् रामचन्द्र से लेकर साधारण राजा अग्निमित्र

तथा उनके साथ-साथ सृष्टि के सभी अन्य नीच प्रकार के व्यक्तियों का विविध प्रकार का वर्णन पाया जाता है, जो भिन्न-भिन्न रसों की पुष्टि करता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों का वर्णन तो है ही, साथ ही चारों पुरुषार्थों की जो सद्विच्छा अर्थात् कामरूपी भगवान् हैं, उन्हीं की श्रेष्ठता जहाँ-तहाँ पाई जाती है—

“स शान्तिमाप्नोति न कामकामी” (गीता)

मुमुक्षु भी मोक्ष का कामी ही होता है। इस श्लोक में जितने देवधारी होते हैं, वे किसी न किसी काम के उपासक हैं। कोई धर्म-कामी है तो कोई अर्थ-कामी, बहुत से काम-कामी हैं तो कोई मोक्ष-कामी भी हैं और ऐसे भी बहुत से मिलेंगे, जो धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ग को समान रूप से चाहेंगे और दूसरे मोक्ष के साथ चतुर्वर्ग को और कुछ केवल अर्थ-काम से संतुष्ट रहेंगे। कालिदास ने इमें इन सभी के प्रतीक दिए हैं। केवल धर्म-काम सीतादेवी और रामचंद्र; केवल अर्थ-काम दिलीप और राजा दशरथ; केवल काम-कामी अग्निवर्ण तथा रावण; केवल मोक्ष-कामी राजा रघु तथा अज; धर्म तथा काम दोनों के उपासक राजा पुरूरवा और दुष्यन्त; धर्म, अर्थ और काम तीनों के उपासक राजा अग्निमित्र; और इन सभी प्रकार के कामों को पूर्ण नष्ट करके आत्मस्थित होने वाले शङ्कर भगवान्, जो पुरुषोत्तम के सुन्दर प्रतीक हैं और उनको भी अपनी तपोभक्ति से दास बनाने वाली महाभक्त पार्वती जी मूल प्रकृति की प्रतीक—इन सभी का सुन्दर वर्णन पाठक वहाँ पायेंगे। संसार के किसी ग्रंथ में इतनी विविध प्रकार की बातों का इतना अनुपम विवेचन नहीं पाया जा सकता।

कालिदास की ओर देखने की एक और दृष्टि है, वह है सद्यः पर-निर्वृति—तात्कालिक परमानन्द की प्राप्ति जो काव्यों के पढ़ने के साथ ही मिलती है। कालिदास इस विषय में पार्वती जी की ओर संकेत कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों से उत्पन्न चरित्र नाना रसों में अर्थात् आठ (अथवा नौ) प्रकार के रसों में जो परिपुष्ट हो रहा है वह क्षणिक होता है, कदापि शाश्वतिक नहीं होता। क्षणिक रस अवश्य शाश्वतिक रस के ही अंश हैं। शाश्वतिक रस शान्त रस है, जो आत्मा में सर्वथा स्थित है, जिसको प्राप्त करने के उपरान्त उससे श्रेष्ठ कोई वस्तु प्राप्त करने योग्य रह नहीं जाती। वही आत्मानन्द है। अतः आत्मानन्द को हम शान्त रस का स्थायी भाव मानते हैं। दूसरे विद्वानों ने काम-तृष्णा-क्षयसुख आदि को शान्तरस का स्थायी भाव माना है परन्तु वे सभी इसी आत्मानन्द के भीतर आ जाते हैं। यह आत्मानन्द ही सांख्य शास्त्र में निर्दिष्ट पुरुष का धर्म है। किन्तु पुरुष जब प्रकृति के अधीन हो जाता है, तब प्रकृति के तीनों गुणों से निकलने वाले उसी एक ही शान्त रस के आठ प्रकार शृङ्गार, वीर, करुण, हास्य, भयानक, रौद्र, वीभत्स और अद्भुत हो जाते हैं। अतः शान्त रस को इन आठों का प्रभव अथवा उदयस्थान मानना चाहिए, उनसे पृथक् नहीं। कालिदास का सर्वथा यही प्रयत्न है कि इन्हीं आठों रसों के द्वारा उन-उन आनन्दों को प्रकट करते हुए अन्त में उस शाश्वतिक आनन्द को ही निरुपाधि बनाकर प्राप्त करा दें जो शांति के रूप में आत्मा में स्थित है। यह त्रिगुणातीत होकर पार्वती जी के पद पर स्थित होकर पाना है— ‘तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः।’ यहाँ भगवान् के विषय में भक्तिरूप प्रेम से परम रूप प्रभु को प्राप्त करना है। यह तपपूर्वक समाधि के बिना नहीं प्राप्त हो सकता। यही ध्वनि-काव्य का उत्तम गुण व्यंजना-व्यापार, कालिदास के सभी ग्रंथों में अनुस्यूत है, अतएव वे सर्व-उपादेय बन गए हैं।

कालिदास के शब्द-प्रयोग

(पं० अम्बिकाप्रसाद उपाध्याय, व्याकरणाचार्य)

कविकुलतिलक, कविता-कामिनी के कमनीय कान्त कवि कालिदास अलौकिक चमत्कृति सम्पादक काव्य-संसार के विधाता थे। उनकी प्रतिभा दृश्य तथा श्रव्य दोनों प्रकार की काव्य-रचना में अप्रतिहत थी। कवि का स्थान जगत् में क्या है इसका आभास इसी से मिल जाता है कि भगवान् भी अपने को “कविः पुराणः” कहकर ‘कवि’ शब्द से ही संकेतित करते हैं। ‘कवि’ शब्द विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति का बोधक है, उसी की चमत्कार-जनक रचना का नाम ‘काव्य’ है। काव्य के मुख्य आधार शब्द तथा अर्थ हैं। इसी से काव्य का लक्षण करते हुए सभी आचार्यों ने शब्दार्थ की प्रधानता स्वीकार की है—जैसे, (1) शब्दार्थौ काव्यम् (काव्यालङ्कार), (2) तददोषौ शब्दार्थौ काव्यम् (काव्यप्रकाश), (3) रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् (रस-गङ्गाधर), (4) वाक्यं रसात्मकं काव्यम् (साहित्यदर्पण), (5) इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावलिः काव्यम् (काव्यादर्श) और (6) निर्दोषालक्षणवती सरीतिर्गुणगुम्फिता। सालंकाररसानेक-वृत्तिर्वाक् काव्यानामभाक् (चन्द्रालोक)।

इन दोनों में भी अधपिक्षया ‘शब्द’ की ही प्रधानता प्रतीत होती है। इसलिये कवि का शब्दों पर अधिकार होना नितान्त आवश्यक है। उसके निमित्त शब्द-शास्त्र का पूर्ण पाण्डित्य अपेक्षित होना निर्विवाद है। इस दृष्टि से कवि-सम्राट् कालिदास शब्दशास्त्र में पूर्णतया निष्णात थे, इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है। उनके ग्रंथों का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि शब्द-शास्त्र उन्हें रात-दिन के व्यावहारिक विषय की भाँति अभ्यस्त था। यहाँ तक कि उपमानविधान में ही व्याकरण के विषय नियोजित हैं। उनकी प्रयोगशैली तथा प्रक्रियांश के पाण्डित्य का दिग्दर्शन ही पर्याप्त होगा। दो-चार उदाहरण लीजिए।

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।

जगतः पितरौ बन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।।

—रघुवंश, 1।11।।

यहाँ शब्दार्थ-सम्बन्ध उपमान तथा पार्वती-परमेश्वर उपमेय हैं। व्याकरण में शब्द और अर्थ का अभेद है, दोनों एक हैं। जैसे ‘नीलो घटः’ में ‘नील’ और ‘घट’ का अभेद है। ऐसे ही ‘अयं घटः’ दृश्यमान ‘व्यक्ति’ अर्थ और ‘घट’ शब्द का अभेद है। इसीलिये ‘अयं घटः’ में दोनों शब्द समानाधिकरण प्रथमान्त हैं। यदि भेद होता तो ‘राज्ञः पुरुषः’ की तरह षष्ठी विभक्ति होती, पर ‘अस्य घटः’ या ‘अयं घटस्य’ प्रयोग नहीं होता। ‘रामेति द्वयक्षरं नाम मानभङ्गः पिनाकिनः’, ‘वृद्धिरादैच्’ इत्यादि स्थलों में भी समानाधिकरण प्रयोग ही हुआ है। ‘वागर्थाविव’ समाससे तथा ‘पितरौ’ एकशेष से ‘इवेन समासो ‘विभक्त्यलोपश्च’ वार्तिक की और ‘पित्रा-मात्रा’ सूत्र की स्मृति ही आती है।

रघुवंश के बारहवें सर्ग के अट्ठावनवें श्लोक में ‘बाली’ के स्थान पर सुग्रीव के अभिषिक्त होने का वर्णन करते हुए कहा गया है ‘धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं सन्यवेशयत्’ जैसे ‘अस्’ के स्थान पर ‘भू’

आदेश होता है, और 'इण' के स्थान में 'गा' होता है, वैसे ही 'बाली' के स्थान पर 'सुग्रीव' अभिषिक्त किए गए। कितनी सटीक उपमा है, जैसे 'स्थानी के अर्थ का वाचक आदेश होता है वैसे ही बाली का सब कार्य सुग्रीव करेंगे।

रघुवंश के पन्द्रहवें सर्ग के सातवें श्लोक में रघुकुल की सराहना करते हुए लिखा है—

यः कश्चन रघूणां हि परमेकः परन्तपः।

अपवाद इवोत्सर्ग व्यावर्तयितुमीश्वरः॥

(रघुकुल का कोई एक ही, शत्रु-समुदायको को वैसे ही दूर कर सकता है, जैसे अपवाद अनेक उत्सर्गों को व्यावृत्त करता है।)

कुमारसंभव के द्वितीय सर्ग के सत्ताईसवें श्लोक में यही भाव और सुन्दर रूप में आया है—

लब्धप्रतिष्ठाः प्रथमं यूयं किं बलवत्तरैः।

अपवादैरिवोत्सर्गाः कृतव्यावृत्तयः परैः॥

(पहले से लब्धप्रतिष्ठ आप लोग क्या बलवत्तर शत्रुओं से बाधित हो रहे हैं? जैसे अन्यत्र चरितार्थ उत्सर्ग 'इको यणचि', 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' को बलवत्तर (निरवकाश) अपवाद 'अकः सवर्णे दीर्घः', 'अग्निष्टोमीयं पशुमालभेत्' इत्यादि व्यावृत्त करते हैं।) 'अपवादो बलवान्' या निरवकाशो विधिर्वाधकः' व्याकरण-नियम का उपयुक्त व्यवहार हुआ।

रघुवंश के पन्द्रहवें सर्ग के नवम श्लोक में लवणासुर को जीतने के लिये सेना लेकर शत्रुघ्न के प्रस्थान का वर्णन करते हुए कालिदास लिखते हैं—

रामादेशादनुगता सेना तस्यार्थसिद्धये।

पश्चादध्ययनार्थस्य धातोरधिरिवामवत्॥

श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा से अर्थ (जय) सिद्धि के लिये सेना पीछे चली, जिस प्रकार अर्थ-सिद्धि के लिये अध्ययनार्थ 'इङ्' धातु के पीछे 'अधि' उपसर्ग लग जाता है। 'अधि' उपसर्ग के बिना केवल 'इङ्' धातु अर्थ-बोधन करने में समर्थ नहीं।

तारकासुर से त्रस्त देवगण पितामह के पास गए और उनको अपनी करुण कहानी सुनाई। पितामह ने उसका उत्तर चारों मुखों से दिया। इसका वर्णन कुमारसंभव के दूसरे सर्ग के 17वें श्लोक में इस प्रकार है—

पुराणस्य कवेस्तस्य चतुर्मुखसमीरिता।

प्रवृत्तिरासीच्छब्दानां चरितार्था चतुष्टयी॥

पुराने कवि ब्रह्म के चारों मुखों से उच्चरित वाणी ने "चतुष्टायी शब्दानाम्प्रवृत्तिः" को चरितार्थ कर दिया। बूढ़े ब्रह्म के मुख चार और उनसे शब्द भी निकले चार।

वैयाकरणों के सिद्धान्तानुसार वाणी चार प्रकार की होती है— (1) परा (2) पश्यन्ती (3) मध्यमा तथा (4) वैखरी।

परा वाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभि-संस्थिता।

हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा॥

जो वाणी हम लोग बोलते और सुनते हैं, उसे 'वैखरी' कहते हैं। जो हृदयदेशस्थ है, उसे 'मध्यमा' जो नाभिदेशस्थ है उसे 'पश्यन्ती' और जो मूलचक्रस्थ है उसे 'परा' कहते हैं। यदि 'चतुष्टयी' का अर्थ

यह न मानें तो भगवान् पतञ्जलि-कथित 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रिया-शब्दाः, यदृच्छा-शब्दाः' अर्थ लेना चाहिए। शब्दों के अर्थबोधन में चार प्रवृत्तियाँ निमित्त हैं— (1) जाति-ब्राह्मणत्वादि (2) गुण-शुक्लादि। (3) क्रिया-अध्यापनादि और (4) यदृच्छा-डित्य डवित्य आदि। व्याकरण के नियमों का काव्य में कैसा उपयोग किया गया है।

यही नहीं, कालिदास ने व्याकरणसिद्ध वैकल्पिक रूपों का प्रयोग भी अल्पान्तर से करके उसका बोध कराने का प्रयत्न किया है। जैसे— ईषदर्थक 'कु' शब्द के स्थान पर 'कव' तथा 'का' आदेश विकल्प से होता है। रघुवंश के प्रथम सर्ग के 67वें श्लोक में पहले 'कवोष्णम्' पीछे 74वें में 'कोष्णम्' का प्रयोग किया गया है।

व्याकरण के नियमों का उपमान रूप में प्रयोग करने वाला व्याकरण के नियमों का उल्लङ्घन करके चले, यह संभव नहीं प्रतीत होता है। इसलिये कालिदास के उन प्रयोगों पर भी विचार कर लेना प्रसंग प्राप्त है, जिन पर व्याकरण की दृष्टि से 'निरंकुशाः कवयः' कहकर आक्षेप का समाधान किया जाता है। सबसे पहले रघुवंश के मर्मज्ञ टीकाकरण श्रीमल्लिनाथ के ही आक्षेप पर विचार कीजिए—

स सैन्यपरिभोगेण गजदानसुगन्धिना ।

कावेरीं सरितापत्युः शङ्कनीयामिवाकरोत् ।।—रघुवंश, 4।45

इस छन्द के 'गजदान-सुगन्धिना' शब्द की टीका करते हुए वे लिखते हैं— 'गन्धस्येत्यादिना इकारः समासान्तः'। यद्यपि गन्धस्येत्ये तदेकान्तग्रहणं कर्तव्यमिति नैसर्गिकगन्धविवक्षायामेवे-कारादेशः, तथापि निरंकुशाः कवयः। तथा माघकाव्ये 'ववुरयुक्छदगुच्छसुगन्धयः' (सततगाः)। नैषधेऽपि—“अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा। न कर्मधारयान्मत्वर्थीय इति निषेधादिनिप्रत्ययपक्षेऽपि जघन्य एव।” भाव यह है कि 'सुगन्धिना' पद में बहुव्रीहि समास करके गन्ध शब्द के अन्य अकार को समासान्त इकारादेश होता है, परन्तु जहाँ गन्ध स्वाभाविक हो वहीं 'इत्व' होता है जैसे, 'सुगन्धि पुष्पम्'। जल में गन्ध स्वाभाविक नहीं है, इससे यहाँ इकारादेश नहीं होना चाहिए। यह कवि की निरंकुशता है। माघ कवि ने वायु की गन्ध में तथा नैषधकार ने जल की गन्ध में इकारादेश करके निरंकुशता दिखलाई है। यदि 'सुगन्ध' का कर्मधारय समास करके मत्वर्थीय प्रत्यय 'इनि' करें तो भी अनुचित है, क्योंकि-ऐसा नहीं होता—'न कर्मधारयान्मत्वर्थीयः' वस्तुतः 'वार्तिक' का अर्थ वैसा है नहीं, जैसा समझा गया है। 'वार्तिक' का अर्थ है कि जहाँ 'गन्ध-गन्धवान्' पृथक् न दिखाई पड़ें वहीं इकारादेश होता है। इसलिये जहाँ 'गन्ध' का अर्थ 'गन्ध-क' है वहाँ, जैसे 'सुगन्ध आपणिकः' में इकारादेश नहीं होता, क्योंकि 'दूकान' में गन्ध पृथक् दिखाई पड़ती है, जल तथा वायु में गन्ध पृथक् नहीं दिखाई पड़ती, इसलिये इकारादेश होगा। अतएव दीक्षितजीने जो उदाहरण दिए—'सुगन्धि पुष्पं सलिलं च सुगन्धिर्वायुः' वे ही काशिका-वृत्तिकारको भी अभिमत थे। वे लिखते हैं— 'एभ्य एवेति किम् तीव्रगन्धावातः' यहाँ 'इकार' नहीं हुआ। यदि नैसर्गिक गन्धमें इकारादेश का नियम होता तो यहाँ वायु में गन्ध नैसर्गिक नहीं है। महर्षि पतञ्जलिकी भी यही सम्मति है। कैयटने इस वार्तिक की व्याख्या में स्पष्ट लिखा है— "यत्राविभागापत्रं कुङ्कुमादि देवदत्तादेर्भवति तदा इत्वमतत्स्थत्वाद्गन्धष्येति" जल तथा वायु में गन्ध का वर्णन करते हुए सबने 'इत्व' किया है। मल्लिनाथ ने माघ में ही 'गुच्छसुगन्धयः वाताः' की टीका करते समय इस विषय की चर्चा-तक नहीं की। यही क्यों, माघ के छठे सर्ग 32 वें श्लोक में शिलीन्द्रसुगन्धिभिः वायुभिः की टीका करते हुए वे स्वयं लिखते हैं— 'शिलीन्द्राणां कदलीकुसुमानां सुगन्धः अस्ति षेषां ते शिलीन्द्रसुगन्धिनस्तैः गन्धस्येस्वे

तदेकान्तस्याभावादिनि प्रत्ययाश्रयणम् ।” अब क्या कहा जाय! यद्यपि भट्टिकाव्य के टीकाकार जगमङ्गलने गन्धवहः सुगन्धः’ की टीका में नैसर्गिक गन्ध में ‘इत्व’ होता है कहकर ‘सुगन्धः’ प्रयोग का समर्थन किया है परन्तु व्याकरण तथा महाकवि प्रयोग के विरुद्ध होने से यह सर्वसम्मत नहीं। अब कहिए किसे निरंकुश कहा जाय! क्या कवि को!

दूसरा आक्षेप स्वर्गीय पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जी का है। वह इस प्रकार है- रघुवंश के प्रथम सर्ग के अड़तालीसवें श्लोक में ‘महिषी-सखः’ प्रयोग आया है। यहाँ यदि ‘महिष्याः सखा’ विग्रह करें तो महिषी की प्रधानता होगी और राजा सहायक होंगे, इसलिये बहुव्रीहि होना चाहिए, जैसा ‘गृहिणीसहायः’ में हुआ है। पर यहाँ बहुव्रीहि में समासान्त न होगा। यह आक्षेप भी सारगर्भ नहीं प्रतीत होता। यहाँ तो किसी की प्रधानता या अप्रधानता विवक्षित ही नहीं हैं, केवल इतना ही विवक्षित है कि दूसरा कोई सहायक न था। इसीलिये मल्लिनाथ भी लिखते हैं- ‘सहायान्तर-निरपेक्ष इत्यर्थः’। अतएव तत्पुरुष समास करने से अर्थ भेद नहीं होता।

तीसरा आक्षेप यह है कि रघुवंश के दसवें बारहवें श्लोक में भगवान् के वर्णन ‘हेतिभिश्चेत-नादद्विरुदीरितजयस्वनम्’ में ‘हेति’ शब्द पाणिनि के ‘ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च’ सूत्र से स्त्रीलिङ्ग हैं। यदि ऐसा है तो विशेषण-बोधक पद-‘चेतनावद्भिः’ न होकर ‘चेतनावतीभिः’ होना चाहिए। यह आक्षेप भी निःसार है। एक तो स्वयं भाष्यकारने व्याकरण को लिङ्गनियामक नहीं माना “लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वान्लिङ्गस्य”। लिङ्ग वस्तुतः लोक-प्रयोग के अधीन है। दूसरे, कोश में ‘हेति’ शब्द को पुँल्लिङ्ग भी माना है। ‘हेति-रक्तीवके’ अनुसार यह शब्द केवल नपुंसक लिङ्ग नहीं है।

चतुर्थ आक्षेप कुमारसंभव के एक शब्द पर है। जहाँ कविने लिखा है- “भवनेत्र-जन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार’ सर्ग 3/72 । वहाँ ‘हर्नेत्रजन्मा’ कहना चाहिए ‘मदन का नाश’ करना है तो उत्पत्त्यर्थक ‘भव’ का प्रयोग अनुचित है। एक तो ‘भव’ रूढि संज्ञा है, इससे कोई योगार्थ प्रतीत नहीं होता, अन्यथा संहारक शक्ति का ‘शिव’ या ‘भव’ नाम ही न हो सकता। दूसरे, नाशक तो ‘वन्धि’ है ‘भव’ तो नाशक नहीं, प्रत्युत अग्नि का उत्पादक है, इसलिये भी ‘भव’ शब्द का ही प्रयोग उचित है। तीसरे, भस्मविशेष मदन की फिरसे उत्पत्ति होगी, इसलिये ‘भव’ शब्द का प्रयोग करना ही न्यायसंगत है।

इस प्रकार कवि कालिदास पर व्याकरण-नियमोल्लंघन का आक्षेप समुचित नहीं है। वे तो सर्वथा वैयाकरण सिद्धान्त तथा प्रक्रियांश के वेत्ता थे।



कालिदास के कवित्व की पूर्णता अर्थात् तदीय कतिपय पद्योंका मर्म-प्रकाश

(श्रीमन्मध्वसंप्रदायाचार्य दार्शनिकसार्वभौमसाहित्यदर्शनाद्याचार्य-तर्करत्न-न्यायरत्न श्रीदामोदरलालजी गोस्वामी)

न सा विद्या न सा रीतिर्न तच्छास्त्रं न सा कला ।

जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान्कवेः ।।

इस प्राचीनानुभविकोक्तिसे स्पष्ट सिद्ध है कि महाकविको एक-जातीय सर्वज्ञ होना चाहिए। ऐसी स्थिति में कवि के ज्ञात विषयों का परिचय करना अंशतः सिद्ध साधन है, तथापि उक्त ज्ञानों की सूक्ष्मावगाहितापर सहृदयों की दृष्टि आकृष्ट करते हुए दिग्दर्शन कराना ही यहाँ प्रधान उद्देश्य है।

कालिदास के निबन्धों में मेघदूत की सृष्टि अपूर्व है। यह लघु काया होकर भी कर्त्ता की विशेषज्ञता के ज्ञापन में अति महान् है। इसका पूर्व भाग तो अभ्रान्त भूगोल-परिचयका साक्षी है। उत्तर भाग में-

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी

मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः ।

श्रोणी-भारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां

या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ।।

-उत्तरमेघ, 22 ।

इस पद्य से अपनी पत्नी का परिचय देते हुए यक्ष ने दन्तों के, नाभि के जो विशेषण दिए हैं, उनसे सामुद्रिक मार्मिकता की कामशास्त्राभिज्ञताकी व्यञ्जना से उसके पद्मिनीत्व का ध्वनन, उससे विशिष्ट सौन्दर्य का प्रत्यायन, एतद्द्वारा स्वकीय निरतिशय प्रेमास्पदत्व का अनुरणन, तन्मूलक तद्विच्छेदजनि-तारुन्नुदाधि की दुःसहता, घण्टानाद-न्याय से संलक्ष्यक्रमध्वनियों का प्रवाह, व्यञ्जना-पथिकों के अगोचर नहीं है। उक्त पद्य के शेष में वाच्योत्प्रेक्षाऽलङ्कार से तदीय सौन्दर्य-गताद्वितीयत्व वस्तुध्वनि, उससे व्यतिरेकालङ्कारध्वनि, तदनुगतस्वसौभाग्यवस्तु ध्वनि, तत्पृष्ठभावी विषादसंचारि-भावध्वनि, यह ध्वनिशृङ्खला भी कम चित्ताकर्षिणी नहीं है।

रघुवंश के प्रथम सर्ग के 14वें पद्य में 'सर्वतेजोऽभिभाविना' पदसे मन्वादिस्मृतिज्ञान, 26वें में 'सम्पद्दिनिमयेनोभौ' इससे नीतिज्ञता, 39वें में 'षड्संवादिनी' शब्द से सङ्गीतागम परिचय, 56वें में 'विधेः सायन्तनस्यान्ते' इन पदों से सदाचार-बोध, 71वें में 'अनिर्वाणस्य' से पालिकाप्यतन्त्रज्ञता, 76 वें में 'प्रदक्षिणक्रियाऽर्हयाम्' पद से शिष्टाचार-शिक्षा, 82वें में 'इति वादिनः' कथन से शकुन विज्ञता इत्यादि की प्रतीति होती है। इसी भाँति तृतीय सर्ग के 13वें श्लोक में रघु के जन्मक्षण में- 'ग्रहैस्ततः

पञ्चभिरुच्चसंश्रयैरसूर्यगैः- इत्यादि से ज्योतिष के होरास्कन्ध की विचक्षणता, 52वें श्लोक में रघु की 'आलीढस्थिति' के द्वारा चतुर्वेद ज्ञान, 8वें सर्ग के 21वें श्लोक में आज के 'पणबन्धादि' वर्णन से नीतिप्रवीणता सूचित होती है, एवं सभी सर्गों के तत्तत्स्थलों में यज्ञ-पद्धति-उपनिषत्सिद्धान्त-धर्मशास्त्र-पुराणेतिहास-राजनीति-समाजनीति-गार्हस्थ्यचर्या-अन्याश्रमाचार प्रभृतियों के निष्णातत्वका परिचय यथेष्ट मिलता है। कुमारसम्भव में भगवती की तपश्चर्या वर्णन में-

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।

वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ।। 5 ।। 24 ।।

यह पद्य भी निर्माता की बहुदर्शिता का प्रधान साक्षी है। इसमें योगशास्त्र ने जो समाधि में नासाऽग्रदृष्टि, मुख का खुला न रहना, मेरुदण्ड को उन्नत रखना, निश्चल रहना उपदिष्ट किया है, इनमें से प्रथम वर्णन में दृष्टि-बिन्दुओं की पलकों पर स्थिति द्वारा पलकों का अधोन्मीलन ध्वनित किया, इससे उनमें निबिडता ध्वनित हुई जिससे सामुद्रिकोक्त सुलक्षण व्यक्त हुआ, अर्द्धोन्मीलन से नासिकाऽग्रदर्शन भी लब्ध हो गया, क्षण शब्द से पलकों में मसृणता सूचित हुई, ताडित पद से अधर में कोमलता झलकी, अधर से च्युत बिन्दुओं के कुचों पर ही गिरने से मुख संवृति तथा बिखर जाने के द्वारा उनकी कठिनता व्यञ्जित हुई, साथ ही त्रिकोत्रति भी ध्वनित हुई। वहाँ से गिर कर त्रिवली से फिसलने-द्वारा उनकी चिकनाई, स्पष्टता, सुलक्षणता भी प्रत्यायित हुई, वहाँ से हटे बिन्दुओं के नाभि में प्राप्ति वर्णन से उसकी गम्भीरता-रूप सच्चिन्हकी व्यक्ति हुई। इस भाँति संलक्ष्यक्रम स्वतःसंभवी पदगत-वस्तुध्वनियों से भगवती का अलौकिक सौंदर्य वस्तुध्वनित उपस्कृत हुआ, जो सबका अङ्गी है। सुतराम् उपस्कारकों के साथ अङ्गाङ्गिभाव-संकर हुआ, उक्त अङ्गध्वनियों में परस्पर कोई संसृष्ट हैं, कोई एकस्यञ्जकानुप्रविष्ट संकीर्ण है।

ऋतुसंहार में जो कर्ता की लौकिक वस्तु-व्यवहारों की अभिज्ञता है, वह भी साहित्य-सेवियों को अविदित नहीं है।

अभिज्ञानशाकुन्तल से एक उदाहरण देखिए। शकुन्तला के उत्तमत्व-प्रयुक्त निःश्वासादि में नैसर्गिक सौरभसे आए हुए मतवाले भ्रमरका व्यापार देखकर महाराज दुष्यन्त की वेदनामयोक्तिका चित्रण जो कविने इस पद्य में किया है-

चलापाङ्गां दृष्टि स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं-

रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः ।

करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधुरं-

वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हस्तास्त्वं खलु कृती ।।

-शाकुन्तल, अंक 1 । 22

उसकी जितनी प्रशंसा की जाय सब कम ही है। यद्यपि इसके आरम्भ में 'चलापाङ्गां दृष्टिम्' ऐसा पाठ मुद्रित पुस्तकों में और आधुनिक टीकाओं में मिलता है, किंतु यह पाठ नितान्त अहृद्य है। इस पाठ से "चपल अपाङ्ग वाले काँपते नेत्रों को छूता है" यह अर्थ होता है, और ऊपर लिखित पाठ से "चञ्चल कटाक्षपूर्वक देखा गया काँपती शकुन्तला को छूता है" यह अर्थ होता है। अब मध्यस्थ बनाकर निष्पक्षता से सहृदय निर्णय करें कि नारियों के नेत्रों को देखना और कटाक्षपूर्वक नायिका से देखा जाना इन दोनों में से रस-शास्त्र-सिद्धान्त में अधिक सुकृत का फल कौन सा होना उचित है। दूसरी बात यह कि यहाँ अलङ्कारों की भरमार कैसी है।

वक्तृ-प्रभृति वैशिष्ट्य की सहायता पाकर स्पष्टितु से अलिङ्गनेच्छा की अनुमिति व्यङ्ग्य है। सुतराम्, अनुमानालङ्कार व्यङ्ग्य होता है। “रहस्याख्यायीव” यहाँ असिद्धविषयावाच्य-स्वरूपो-त्प्रेक्षा है, और “मृदुकर्णान्तिकचरः” से चुम्बनेच्छा की अनुमिति होने से भी अनुमानालङ्कार व्यङ्ग्य है। भ्रमरपक्ष में “अन्तिक” पद स्वारस्य से “नेत्र हैं कि नीलोत्पल हैं” यह संदेहालङ्कार भी व्यक्त होता है, “रतिसर्वस्व” पद से अनुमेयोक्तिमूलक निरङ्ग अभेद रूपक है और “पिवसि” पद का यद्यपि “पी रहे हो” यह अर्थ है तथापि “पीने को व्यग्र हो” यह अर्थ ही वर्तमान सामीप्य मानकर होना उचित है, क्योंकि सहसा पान में “करी व्याधुवत्याः” इन दो पदों का भाव वाधक हो रहा है। इन दो पदों से शकुन्तला का मुरधात्व वस्तुव्यङ्ग्य है और पान-सम्बन्ध न होने पर भी “पिवसि” द्वारा पानकथन से असम्बन्ध में संबंधमूलक अतिशयोक्ति अलङ्कार है, तथा भ्रमर में “स्पृशसि, स्वनसि, पिवसि,” इन तीन क्रियाओं के अन्वय से कारक-दीपक अलंकार है। यहाँ संदेह द्वितीयानुमान का अङ्ग है। दोनों अनुमान, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, रूपक, ये पाँचों परस्पर निरपेक्ष होने से इनकी संसृष्टि है, किन्तु कारक-दीपक में सब अङ्ग होने से संकीर्ण हुए। भ्रमर-व्यापार में हठ कामुक व्यवहार के आरोप से हुई समासोक्ति में साङ्ग दीपक अंग है। चतुर्थ पादोक्त भ्रमर के कृतित्व में पूर्व चरणत्रय वाक्यार्थ की हेतुता से वाक्यार्थहेतुक काव्यालङ्कार में समासोक्ति अङ्ग हुई है। “हताश” शब्द-द्वारा व्यञ्जित व्यतिरेक में काव्यलिङ्ग अङ्ग हुआ है- यह सब शृङ्खला, अङ्ग हुई है विप्रलम्भ-भेद पूर्वाग में। व्यङ्ग्यों का यह सङ्घर्ष भरतागम-मार्मिकों से तिरोहित नहीं।

उक्त रीति से ही इस नाटक में आगे एवं “विक्रमोर्वशीय” तथा “मालविकाग्निमित्र” में भी कविकी बहुदर्शिता पदे-पदे प्रतिपन्न होती है। समष्टि दृष्टि से अन्य कवियों की अपेक्षा इनका उपमाऽलङ्कार स्वभाव-सुन्दर होता है। इससे भी अधिकता यह कि इनका प्रसाद गुण प्रायः सार्वत्रिक प्रशंसनीय हैं, जो कि प्रसादैक प्राप्त है।

-फलतः इनकी कविता द्राक्षापाकशालिनी है यह निर्विवाद है।



कालिदास की सूक्तियाँ

(डॉ० पं० अमरनाथ झा, एम० ए०, डी० लिट०)

विक्रम के नवरत्नों के अमूल्य रत्न कविकुलगुरु कालिदास ने अपने काव्य-चमत्कार से समस्त संसार में ख्याति प्राप्त की है। दूर-दूर देशों में नाना भाषा-भाषियों ने इनके ग्रन्थों को पढ़कर, उनका रसास्वादन करके, इनके गुणों से मुग्ध होकर, इनकी मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। इनके पदलालित्य, इनके रचना-चातुर्य, इनकी कल्पनाशक्ति, इनके प्रकृति-वर्णन, इनके चरित्र-चित्रण, इनके काव्य की सरसता इत्यादि गुणों का गान सुनकर भारतवर्ष का प्रत्येक निवासी प्रफुल्ल होता है, परन्तु कालिदास में विचार-गाम्भीर्य भी है, उनके पदों से उपदेश भी मिलता है, उनकी उक्तियाँ आज भी हमारा पथ-प्रदर्शन कर सकती हैं। इन वाक्यों में संसार का अनुभव है, जीवन के बहुमूल्य सिद्धान्त हैं। यहाँ कुछ ऐसी उक्तियों का संग्रह किया गया है, जिनके पढ़ने से और जिनके अनुसरण से हम आज भी लाभ उठा सकते हैं। पचास उक्तियाँ पाठकों की सेवा में प्रस्तुत की जा रही हैं।

(1) एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः।

(जैसे चन्द्रमा की ज्योति में उसका कलंक छिप जाता है, वैसे ही गुणों के समूह में एक दोष भी छिप जाता है।)

(2) क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसां सतीव।

(शरणागत क्षुद्र जन के प्रति भी महात्मा का ममत्व-भाव वैसा ही रहता है जैसा सज्जन के प्रति।)

(3) विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।

(यथार्थ में धीर पुरुष तो वे ही हैं, जिनका चित्त विकार उत्पन्न करने वाली परिस्थिति में भी अस्थिर नहीं होता।)

(4) शाम्येत् प्रत्युपकारेण नोपकारेण दुर्जनः।

(दुष्ट को उपकार से नहीं अपकार से ही शान्त करना चाहिए।)

(5) विषवृक्षोऽपि संवर्ध्म स्वयं छेतुमसाम्प्रतम्।

(अपने हाथ से सींचे हुए विष-वृक्ष को अपने ही हाथ से काटना उचित नहीं।)

(6) न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य।

(वायु, पेड़ को तो जड़ से उखाड़ सकता है, पर पहाड़ को नहीं हिला सकता।)

(7) शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्वरक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति।

(जिसकी शस्त्रों से रक्षा हो ही नहीं सकती, उसकी यदि शस्त्रधारी रक्षा न कर सके तो इससे उसका अपयश नहीं होता।)

(8) पथः श्रुतेर्दर्शयितार ईश्वरा मलीमसामाददते न पद्धतिम्।)

- (पवित्र मार्ग के प्रदर्शक देवतागण स्वयं पापमार्ग का अनुसरण नहीं किया करते।)
- (9) पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते।
(गुण सब स्थानों पर अपना आदर करा लेता है।)
- (10) प्रणिपातप्रतीकः संरम्भो हि महात्मनाम्।
(महात्माओं के क्रोध की शान्ति उनको प्रणाम करने से ही हो जाती है।)
- (11) आदनं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव।
(बादलों के समान सज्जन भी वस्तु को ग्रहण करते हैं, उसका दान भी कर देते हैं।)
- (12) निर्गलिताम्बुगर्भं शरद्धनं नार्दति चातकोऽपि।
(चातक भी शरद् के सूने बादल के आगे आर्तनाद नहीं करता।)
- (13) सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा।
(जब सूर्य दीप्तिमान् हो तब लोगों की आँखों के सामने अँधेरा कैसे छा सकता है।)
- (14) उष्णत्वमग्न्यातपसंनियोगाच्छैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य।
(धूप अथवा आग से पानी में उष्णता आ तो जाती है, परन्तु शीतलता ही इसकी यथार्थ प्रकृति होती है।)
- (15) भवितव्यतानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र।
(भावी को सर्वत्र द्वार खुला मिलता है।)
- (16) किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।
(जो स्वयं सुन्दर है, उसका सौन्दर्य किसी वस्तु से बढ़ नहीं जाता।)
- (17) सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः करण-प्रवृत्तयः।
(जहाँ सन्देह हो, वहाँ सज्जन के अन्तःकरण की प्रवृत्ति ही सत्यका निर्देश कर देती है।)
- (18) न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्।
(उत्तम वस्तु की उत्पत्ति उच्च स्थान से ही होती है- विद्युत् की ज्योति पृथ्वीतल से नहीं उत्पन्न होती।)
- (19) अकृतार्थोऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थनां कुरुते।
(प्रेम यदि विफल भी हो तो भी एक दूसरे की उत्कंठा से प्रसन्नता होती ही है।)
- (20) कामी स्वतां पश्यति।
(प्रेमी सब वस्तुओं को अपने अनुकूल ही समझता है।)
- (21) लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत्।
(प्रार्थना करने पर सम्भव है श्री न भी मिले, परन्तु जब श्री स्वयं कोई इच्छा प्रकट करे, तब उसके प्राप्त करने में क्या कठिनता हो सकती है?)
- (22) लपयति यथा शशाङ्कं न तथा हि कुमुद्वतीं दिवसः।
(दिन से कुमुदिनी के फूल का इतना ह्रास नहीं होता जितना चन्द्रमा का होता है।)
- (23) इष्टप्रवासजनिता न्यबलाजनस्य दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि।
(प्रेमी के प्रवास से अबला को असह्य कष्ट होता ही है।)

- (24) गरुअम्पि (गुरुकम्पि विरहदुक्खं आसाबन्धो सहावेदि (साहयति)।
(कठिन विरह भी मिलन की आशा से सह्य हो जाता है।)
- (25) अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीब्रमुष्णम्।
शमयति परितापं छायाया संश्रितानाम्।।
(वृक्ष अपने सिरपर गरमी सह लेता है, परन्तु अपनी छाया से औरों को गरमी से बचा लेता है।)
- (26) भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैर्नवान्बुभिर्भूरि बिलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषा समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्।।
(फल के आने से वृक्ष झुक जाते हैं, नव वर्षा के समय बादल झुक जाते हैं; सम्पत्ति पाकर सज्जन नम्र हो जाते हैं— परोपकारियों का स्वभाव ही ऐसा होता है।)
- (27) तमस्तपति धर्माशौ कथमाविर्भविष्यति।
(सूर्य के प्रकाशमान रहते अंधकार कैसे फैल सकता है।)
- (28) हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः।
(हंस दूध दूध निकाल लेता है और उसमें मिले हुए पानी को छोड़ देता है।)
- (29) प्रसादसौम्यानि सतां सुहृज्जने पतन्ति चक्षूषि न दारुणाः शराः।
(सज्जन अपने मित्रों पर कृपा की दृष्टि डालते हैं, शरों की वर्षा नहीं किया करते।)
- (30) उच्छेतुं प्रभवति यन्न सप्तसप्तिस्तनैशं तिमिरमपाकरोति चन्द्रः।
(रात का जो अंधकार दूर करने में सूर्य असमर्थ है, उसे चन्द्रमा दूर कर देता है।)
- (31) प्रायः स्वं महिमानं क्षोभात्प्रतिपद्यते हि जनः।
(प्रायः उत्तेजित होने पर मनुष्य अपना महत्त्व प्रदर्शित करता ही है।)
- (32) पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्तते।
(प्रारंभ में ही तिरस्कृत किया हुआ सौभाग्य दुःख में परिवर्तित हो जाता है।)
- (33) स्वजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया।
(अंधा मनुष्य तो सिर पर डाली हुई माला भी साँप की आशंका से झटक फेंकता है।)
- (34) मेघालो के भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्तिचेतः कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने कि पुनर्दूरसंस्थे।
(जो सुखी हैं, उनका भी चित्त जब बादलों को देखकर स्थिर नहीं रह पाता, तब जो विरही हैं, उनकी तो बात ही क्या?)
- (35) कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु।
(जो पुरुष काम से आर्त हैं, वह जीव और जड़ में भेद नहीं कर सकता।)
- (36) याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा।
(सज्जन से निष्फल याचना भी अच्छी, नीच से सफल याचना भी अच्छी नहीं।)
- (37) आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां सद्यःपाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि।
(विरह में वनिता के पुष्पसदृश हृदय को आशा ही कुम्हलाने से बचाए रखती है।)
- (38) न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किम्पुनर्यस्तथोच्चैः।

- (जिसने पहले उपकार किया हो, उसके उपस्थित होने पर क्षुद्र जन भी उसका सत्कार करता है, फिर सज्जन का तो कहना ही क्या!)
- (39) स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु।
(स्त्रियों का हाव-भाव प्रेमी के साथ बातचीत का पहला स्वरूप है।)
- (40) मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः।
(जिसने मित्र का कार्य सम्पन्न करने का वचन दिया है, वह उसके समाप्त होने तक ढिलाई नहीं किया करता।)
- (41) आपन्नार्तिप्रशमनफलाः सम्पदो ह्यत्तमानाम्
(उत्तम पुरुषों की सम्पत्ति का मुख्य प्रयोजन यही है कि उससे दुखियों की विपत्ति का नाश हो।)
- (42) के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः।
(निष्फल यत्न करने वालों की जगत् में कब नहीं हँसाई हुई।)
- (43) प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा।
(सरस हृदय जन होते ही हैं, बहुधा मृदुल स्वभाव।)
- (44) सीमन्तिनीनां कान्तोदन्तः सुहृदुपगतः सङ्गमात्किंचिदूनः।
(पति के मिलने से स्त्री को जो आनन्द प्राप्त होता है, उससे बस थोड़ा-सा ही कम आनन्द मित्र-द्वारा उसका संदेश पाकर होता है।)
- (45) भूतानां हि क्षयिषु करणेष्व्याद्यमाश्वस्यमेतत्।
(काल सब प्राणियों के सिर पर है, इसलिये पहले कुशल पूछना चाहिए।)
- (46) कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।
(किसी को भी केवल सुख अथवा एकमात्र दुःख ही दुःख नहीं मिला करता—दुःख और सुख रथ के पहिए की भाँति कभी ऊपर और कभी नीचे होते ही रहा करते हैं।)
- (47) स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगात्।
इष्ट वस्तुन्युचितरसाः प्रेमराशी भवन्ति॥
(यद्यपि कहा जाता है कि विरह में प्रेम कुम्हला जाता है, तथापि वस्तुतः वियोग में प्रेम का प्रयोग न होने से वह संचित होकर राशीभूत हो जाता है।)
- (48) निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः।
(तुम बिना गरजे हुए भी चातक को वर्षा जल से तृप्त करते हो। सज्जन का तो स्वभाव ही यह है कि बिना कुछ कहे याचकों की माँग पूरी किया करे।)
- (49) केषां न स्यादभिमतफला प्रार्थना ह्युत्तमेषु।
(सज्जन से की हुई प्रार्थना कब सफल नहीं होती।)
- (50) पुराणमित्येव न साधु सर्वम्।
(कोई वस्तु केवल इस कारण ग्राह्य और उत्तम नहीं है कि वह पुरानी है।)

कालिदास का सन्देश

(आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय, साहित्याचार्य)

अस्पृष्टदोषा नलिनीव दृष्टा हारावलीव ग्रथिता गुणीधैः।

प्रियाङ्गुपालीव विमर्दहृद्या न कालिदासादपरस्य वाणी।।

—श्रीकृष्ण कवि।

महाकवि कालिदास हमारे राष्ट्रीय कवि थे। वे भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के प्रतीक थे। इस विशाल तथा विराट् देश की संस्कृति कालिदास की वाणी में बोलती है तथा उनके नाटकों में अपना मनोहर भव्य रूप दिखलाकर मानवमात्र का मनोरञ्जन करती है। अँगरेजों के प्रथम समागम के समय आज से लगभग दो सौ वर्ष पहले यह भारतवर्ष संसार की दृष्टि में संस्कृतिविहीन अन्धकारपूर्ण देश समझा जाता था, परन्तु कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तल' ने ही भारत के प्रति विश्व का आदर जगाने का श्लाघनीय कार्य किया। आज से ठीक 115 वर्ष पहले सन् 1789 ई० में सर विलियम जोन्सने शाकुन्तल का अनुवाद अँगरेजी भाषा में किया तथा इसी अनुवाद का सन् 1791 में दो साल पीछे जर्मन भाषा में जौज़ फ़ौरेस्टर ने अनुवाद किया। इस अनुवाद को पढ़कर जर्मनी के सर्वश्रेष्ठ महाकवि गेटे ने अपना जो हृदयोद्गार प्रकट किया था वह साहित्य के प्रेमियों से छिपा नहीं है। केवल संस्कृत के ज्ञाता पण्डितजन इस संस्कृतानुवाद को पढ़कर उस विदेशी कवि के अभिप्राय को भली भाँति समझ सकते हैं—

वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यत्

यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम्।

एकीभूतमभूतपूर्वमथवा

स्वर्लोकभूलोकयो-

रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे! शाकुन्तलं सेव्यताम्।।

इस अनुवाद ने हमारा बड़ा उपकार किया। पाश्चात्य जगत् ने भली भाँति समझा कि भारतीयों की संस्कृति बड़ी ऊँची है तथा हृदय के कोमल भावों को प्रकट करने की निपुणता उसके कवियों में विशेष है। इस प्रकार कालिदास का ऋण हमारे ऊपर बहुत ही अधिक है।

हमारी राष्ट्रीय भावना में और विश्व-कल्याण की भावना में किसी प्रकार का कोई विरोध नहीं है। भारतीय कवि राष्ट्र का मंगल चाहता है और उसके साथ ही वह संसार की मंगलकामना भी किया करता है, कालिदास के काव्यों में इस सामञ्जस्य का मनोरम रूप दृष्टिगत होता है। इस महाकवि की वाणी में जिस प्रकार आदि-कवि वाल्मीकि की रसमयी धारा प्रवाहित होती है उसी प्रकार गीता तथा उपनिषदों का अध्यात्म ज्ञान भी मञ्जुल रूप में अपनी अभिव्यक्ति पा रहा है। भारतीय ऋषियों के द्वारा प्रचारित चिन्तन-तथ्यों को मनोभिराम शब्दों में भारतीय जनता के हृदय में उतारने का काम कालिदास की कविता ने सुचारु रूप से किया है। इस कविता का प्रणयन मानव-हृदय की शाश्वत प्रवृत्तियों तथा भावों का आलम्बन लेकर किया गया है। यही कारण है कि इसके भीतर ऐसी उद्दीप्त उदात्त भावना विद्यमान है, जो भारतीयों को ही नहीं, प्रत्युत मानव मात्र को सदा प्रेरणा तथा स्फूर्ति देती रहेगी। इस भारतीय कवि की वाणी में इतना रस है, इतना ओज भरा हुआ है कि सहस्र वर्षों के दीर्घकाल ने भी उसमें किसी

प्रकार का फीकापन नहीं आने दिया। उसकी मधुरिमा आज भी उसी प्रकार भावुकों के हृदय को रसमय करती है, जिस प्रकार उसने अपनी उत्पत्ति के प्रथम क्षण में किया था। वैदिक धर्म तथा संस्कृति का जो भव्य रूप इन काव्यों में दिखाई देता है, वह नितान्त सजीव है। मानव-कल्याण के लिये इन काव्यों में मधुर शब्दों में स्थान-स्थान पर उपदेश भी दिए गए हैं। आज का मानव-समाज परस्पर कलह तथा वैमनस्य से छिन्न-भिन्न हो रहा है। प्रबल समरानल (सन् 1940) के भीतर संसार की अनेक जातियाँ अपना सर्वस्व स्वाहा कर रही हैं। विश्व नितान्त उद्विग्न है। मानवता के लिये यह महान् संकट का समय है। विचार करने की बात है कि कालिदास क्या इस सम्बन्ध में भी कोई सन्देश देते हैं।

मानव-जीवन में नैराश्यवाद के लिये स्थान नहीं है। जो लोग इसे मायिक बतलाकर निःसार तथा व्यर्थ मानते हैं; उनका कथन किसी प्रकार प्रामाणिक नहीं है। जो जीवन हम बिता रहे हैं, तथा जिससे हम अपना अभ्युदय प्राप्त कर सकते हैं, उसे सारहीन क्यों मानें? कालिदास का कहना है कि देहधारियों के लिये मरण ही प्रकृति है, जीवन तो विकृतिमात्र है। यदि जन्तु श्वास लेता हुआ एक क्षण के लिये भी जीवित है तो यह उसके लिये लाभ है—

मरणं प्रकृतिः शारीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।

क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन् यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ।।

—रघु 8।87

इस जीवन को महान् लाभ मानना चाहिए तथा इसे सफल बनाने के लिये अर्थ, धर्म तथा काम का सामञ्जस्य उपस्थित करना चाहिए। इस त्रिवर्ग में धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है। (त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भागिनि—कुमार 0 5।38) परन्तु अर्थ और काम अपनी स्वतन्त्रता और सत्ता बनाए रखने के लिये धर्म का विरोध करते रहते हैं। धर्म को दबाकर अर्थ अपनी प्रबलता चाहता है और धर्म को ध्वस्त करके काम भी अपना प्रभाव जमाना चाहता है। इस विश्व में आज धर्म-विरोधी अर्थ और काम का नग्न नृत्य हो रहा है। धर्म कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण के शब्दों में 'धर्म से अविरुद्ध काम' भगवान् की ही विभूति है। कालिदास ने काव्यों तथा नाटकों में 'धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि लोकेषु भरतर्षभ'—इस गीता-वाक्य की सत्यता अनेक प्रकार से प्रमाणित की है।

मदन-दहन का रहस्य यही है। मदन चाहता है कि पार्वती के सुन्दर रूप का आश्रय लेकर समाधि-निरत शंकर के हृदय पर चोट करूँ। प्रकृति में वसन्त का आगमन होता है। लता वृक्ष पर झूल-झूलकर अपना प्रेम जताने लगती है एक ही कुसुम-पात्र में भ्रमरी अपने सहचर के साथ मधुपान करती हुई मत्त हो जाती है। व्याधि के समान मदन संसार को त्रस्त करने लगता है। वह अपनी आकांक्षा बढ़ाता है और शंकर पर आक्रमण पर बैठता है। जगत् के कल्याण, आत्यन्तिक मङ्गल का नाम शंकर है। विश्व-कल्याण मदन की उपासना में नहीं है, प्रत्युत्त उसके धर्म-विरोधी रूप को दबाने में है। काम अपनी प्रभुता चाहता है। विश्व-कल्याण पर अपना मोहन बाण छोड़ता है। शंकर अपना तृतीय नेत्र खोलते हैं। तृतीय नेत्र ज्ञाननेत्र है। वह प्रत्येक मनुष्य के भूमध्य में विद्यमान है। परन्तु सुप्त होने से हमें उसके अस्तित्व का पता नहीं चलता। शंकर का वह नेत्र जाग्रत है। इसी ज्ञान की ज्वाला में मदन का दहन होता है। धर्म से विरोध करने वाला काम, भस्म की राशि बन जाता है। शंकर को वश में करने के लिये पार्वती जी तपस्या करती हैं। धर्म-सिद्धि का प्रधान साधन है—तपस्या। बिना अपना शरीर तपाए तथा बिना हृदय-स्थित दुर्वासना जलाए धर्म की भावना जागरित नहीं होती। कालिदास ने काम का जलना

दिखाकर यही चिरन्तन तथ्य प्रकट किया है। पार्वती ने घोर तपस्या करके अपना अभीष्ट प्राप्त किया। इस प्रकार कालिदास की दृष्टि में काम तथा धर्म के परस्पर संघर्ष में हमें काम को दबाकर उसे धर्मानुकूल बनाना ही पड़ेगा। जगत् का कल्याण इसी भावना में सिद्ध होता है।

व्यक्ति तथा समाज का गहरा सम्बन्ध है। व्यक्ति की उन्नति वाञ्छनीय वस्तु है, परन्तु इसकी वास्तविक स्थिति समाज की उन्नति पर अवलम्बित है। व्यक्तियों के समुदाय का नाम समाज है। कालिदास वैयक्तिक उन्नति की अपेक्षा सामाजिक उन्नति के पक्षपाती हैं। उनका समाज श्रुति-स्मृति की पद्धति पर निर्मित समाज है। वह त्याग के लिये धन इकट्ठा करता है, सत्य के लिये परिमित भाषण करता है, यश के लिये विजय की अभिलाषा रखता है, प्राणियों तथा राष्ट्रों को पददलित करने के लिये नहीं, गृहस्थी में निरत होता है सन्तान उत्पन्न करने के लिये, कामवासना की पूर्ति के लिये नहीं। कालिदास-द्वारा चित्रित नरपति भारतीय समाज का अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करते हैं। वे शैशव में विद्या का अभ्यास करते हैं, यौवन में विषय के अभिलाषी हैं, वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति धारण करके सारे प्रपञ्च से मुँह मोड़कर निवृत्ति-मार्ग के अनुयायी बनते हैं तथा अन्त में योग द्वारा अपना शरीर छोड़कर परम पद में लीन हो जाते हैं। यह आदर्श भारतीय समाज की अपनी विशेषता है—

त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।

यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।

वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

--रघुवंश, 1।17-8

उपनिषदों में धर्म के तीन स्कन्ध प्रतिपादित हैं— यज्ञ, अध्ययन और दान। इनके अतिरिक्त 'तपः' की महिमा से भारतीय धार्मिक साहित्य भरा पड़ा है। कालिदास ने इन स्कन्धों का विवेचन स्थान-स्थान पर बड़ी ही मनोरम भाषा में किया है। यज्ञ का महत्त्व वे स्वीकार करते हैं। पुरोहित यज्ञ के रहस्यों का ज्ञाता होता है। राजा दिलीप यह बात भली भाँति जानते हैं कि वशिष्ठजी के यथा-विधि सम्पादित होम के द्वारा जल की ऐसी वृष्टि होती है जो अकाल से सूखे शस्य को हरा-भरा कर देती है—

हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु।

वृष्टिर्भवति शस्यानामवग्रहविशोषिणाम्॥

--रघु0 1।62

नरराज तथा देवराज, दोनों का काम परस्पर सहयोग से मानवों की रक्षा करना है। नरराज पृथ्वी को दूहकर, उससे सुन्दर वस्तुएँ प्राप्त करके यज्ञ सम्पादन करता है और देवराज इसके बदले में उत्पन्न होने के लिये आकाश को दूहकर पुष्कल वृष्टि करता है। इस प्रकार ये दोनों अपनी सम्पत्ति का विनिमय करके उभय लोक का कल्याण करते हैं—

दुदोह गां स यज्ञाय शस्याय मधवा दिवम्।

संपद् विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम्॥

--रघु0 1।62

यज्ञपूत जल के द्वारा अनेक अलौकिक पदार्थों की सिद्धि हमारे महाकवि को मान्य है। रघु, सर्वस्व-दक्षिणा-यज्ञ के अनन्तर कौत्सकी याच्ना पूरी करने के लिये जिस रथ पर बैठते हैं, उसे वशिष्ठ जी ने मन्त्रपूत जल से अभिमन्त्रित कर दिया है और उससे आकाश, नदी, पहाड़ आदि सब विकट तथा विषम मार्गों पर चलने की क्षमता है। (रघु 5।27) इस प्रकार कालिदास की दृष्टि में सामाजिक कल्याण के साधनों में मन्त्र का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

दान की गौरव-गाथा गाते हुए हमारे महाकवि कभी श्रान्त नहीं होते। समाज आदान-प्रदान की भित्ति पर अवलम्बित है। धनी-मानी व्यक्ति का संचित धन केवल उन्हीं की आवश्यकता अथवा व्यसन पूरा करने के लिये नहीं है, प्रत्युत उसका सदुपयोग उन निर्धनों की उदर-ज्वाला शांत करने में भी है, जो समाज के विशेष अङ्ग हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में डंके की चोट पर कहा गया है कि दैवी वाग् मेघ-गर्जन के रूप में सदा पुकारती है— दाम्यत (अपनी इन्द्रियों को वश में रखो), दत्त (दान दो) तथा दयध्वम् (दया करो)। यदि हम लोग इस दैवी वाणी की पुकार सुनकर भी अनसुनी कर देते हैं तो यह अपराध हमारा है। दान के बिना समाज छिन्न-भिन्न होकर ध्वस्त हो जायगा, इसमें सन्देह नहीं। कालिदास ने रघुवंश के पञ्चम सर्ग में दान का बड़ा ही उज्ज्वल दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। वरतन्तु के शिष्य कौत्स गुरुदक्षिणा के लिये जब रघु के पास गए, तब उन्होंने अपनी सारी संचित सम्पत्ति यज्ञ में दान दे डाली थी। रघु अलकापुरी पर चढ़ाई करके यक्षराज कुबेर से धन पाने का उद्योग करते हैं। इतने में कोष में सोने की वृष्टि होती है। राजा का आग्रह है कि शिष्य सम्पूर्ण धन ले जाय और उधर शिष्य का आग्रह है कि मैं अपने काम से अधिक एक कौड़ी भी न छुड़ूँगा। दाता और ग्रहीता का यह आग्रह आश्चर्यजनक है। यह दृश्य इस भारत-मही के इतिहास में भी दुर्लभ है, अन्य देशों की तो कथा ही क्या।

तप भारतीय संस्कृति का मूल मन्त्र है। इसकी आराधना से मनुष्य अपनी सारी कामनाओं की ही पूर्ति नहीं करता प्रत्युत परोपकार के लिये यथावत् योग्यता का अर्जन करता है। तप की महिमा से हमारा साहित्य भरा पड़ा है। कालिदास ने इसका महत्त्व बड़े ही भव्य शब्दों में अभिव्यक्त किया है। मदन-दहन के अनन्तर भग्नमनोरथा पार्वतीजी ने तप को ही अपना एकमात्र अवलम्बन बनाया। जगत् की समग्र आशाएँ छोड़कर वे इसकी सिद्धि में लग गई। उनकी तपस्या इतनी कठोर थी कि कठिन शरीर से उपार्जित मुनियों की तपस्या भी उसके सामने नितान्त प्रभाहीन तथा प्रभावविहीन जान पड़ती थी। प्रकृति के नाना प्रकार के विषम कष्ट झेलकर वे अपनी कामना-सिद्धि में सफल होती हैं। कालिदास ने पार्वती के तप का रहस्य विशेष रूप से प्रकट किया।

इयेष सा कर्तुमबन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।

अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः॥

—कुमारसम्भव 5।2

पार्वती की तपस्या का फल था— 'तथाविधं प्रेम', अलौकिक उत्कट कोटि का प्रेम और 'तादृशः पतिः' उस प्रकार का, मृत्यु को जीतने वाला महादेव रूप पति। जगत् के समस्त पति मृत्यु के वश हैं, मृत्युञ्जय एक ही व्यक्ति है। महादेव ही मृत्यु को भी जीतकर अपनी स्वतन्त्र स्थिति धारण कर सदा विराजते हैं। आज तक कोई भी कन्या मृत्युञ्जय को पति रूप में पाने में समर्थ न हुई। और वह प्रेम भी कैसा? कालिदास ने 'तपाविधं' शब्द के भीतर गम्भीर अर्थ की अभिव्यञ्जना की है। शङ्कर ने पार्वती को अपने मस्तक पर स्थान दिया है। आदर की भी एक सीमा होती है। पत्नी को इतना उच्च स्थान

प्रदान करना सत्कार का महान् उत्कर्ष है, आदर की पराकाष्ठा है। अन्य देवताओं में से किसी ने अपनी पत्नी को इतना गौरव नहीं प्रदान किया। भारतीय कन्याओं के लिये गौरव की यह साधना अनुकरणीय वस्तु है। यही कारण है कि हमारी कन्याओं के सामने एक ही महान् आदर्श है और वह है पार्वती का। भारतीय समाज में गौरीपूजा का रहस्य महान् स्वार्थ-त्याग के भीतर छिपा हुआ है। तपस्या ने ही गौरी को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। तपस्या करने वाले ऋषियों के भीतर विचित्र तेज छिपा रहता है। वे स्वयं शान्ति में रहते हैं, सूर्यकान्त मणि की भाँति वे छूने में बड़े कोमल हैं, परन्तु दूसरे तेज के द्वारा अभिभूत होते ही वे जलता हुआ तेज वमन करते हैं। वे किसी की धर्षणा सह नहीं सकते। यही तपस्या का प्रभाव है—

शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।

स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तदन्यतेजोऽभिभवाद्धमन्ति।।

—शाकुन्तल, 2।17

आजकल की समर-ज्वाला में दग्ध होने वाले संसार के लिये कालिदास का सन्देश विशेष रूप से उपादेय है। विश्व-मानवों को चाहिए कि यह सुन्दर सन्देश सुनकर अपने जीवन में उसका बर्ताव करें। इस सन्देश को हम तीन तकारादि शब्दों में प्रकट कर सकते हैं— त्याग, तपस्या तथा तपोवन। विश्व की शान्ति भंग करने वाली वस्तु का नाम स्वार्थपरायणता है। समस्त जातियाँ अपने बड़प्पन का स्वप्न देखती हुई अपने क्षुद्र स्वार्थ की सिद्धि में निरत दिखाई पड़ती हैं। भयानक संघर्ष का यही निदान है। इसका निवारण त्याग और तपस्या की साधना के बिना कथमपि सम्पन्न नहीं हो सकता। पाश्चात्य जगत् ने नगर को विशेष महत्त्व दिया और उसका अनुकरण करके प्राच्य जगत् भी नागरिक सभ्यता की उपासना में दत्तचित हो चला। परन्तु कालिदास की सम्मति में तपोवन की गोद में पली हुई सभ्यता मानव का सच्चा मंगल कर सकती है। जिसने हमारे देश को भारतवर्ष—जैसा मञ्जुल नाम प्रदान किया, उस दौष्यन्ति भरत का जन्म मारीच के आश्रम में हुआ। गोचारण का फल रघु के जन्म के रूप में प्रकट हुआ। दिलीप ने अपनी राजधानी का परित्याग करके वशिष्ठ के आश्रम में निवास किया तथा गुरु की गाय की विधिवत् परिचर्या की। उसी का फल हुआ इन्द्र—जैसे वज्रधारी का मानमर्दन करने वाले वीर का उदय। तपोवन में अलौकिक शान्ति तथा शक्ति का साम्राज्य छाया रहता है। प्रकृति निखिल विषमता दूर कर समता के अभ्यास में निरत रहती है। हिंस्र पशु भी नैसर्गिक शान्ति के कारण अपनी प्रकृति भूलकर परस्पर मैत्री-भाव से निवास करते हैं। कालिदास की दृष्टि में प्रपंच के पचड़े में पचने-मरने वाला जीव दया का पात्र है। सुख में आसक्त जीव को तापस उसी दृष्टि से देखता है जिससे तैल-मर्दन करने वाले व्यक्ति को स्नान किया हुआ व्यक्ति, अशुचि को शुचि, सुप्त व्यक्ति को प्रबुद्ध, बद्ध पुरुष को स्वच्छन्द गति वाला पुरुष—

अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम्।

बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमवैमि।।

—शाकुन्तल, 5।111

जबतक यह संसार त्याग और तपस्या का आश्रय लेकर तपोवन की ओर नहीं मुड़ेगा, तब तक इसकी अशान्ति कभी न बुझेगी, पारस्परिक कलह कभी न समाप्त होगा तथा वैमनस्य का नाश कभी न होगा।

कालिदास का सन्देश उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना के अन्तिम श्लोक में एक ही पद्य के रूप में प्रकट किया जा सकता है—

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः

सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम् ।

ममापि च क्षपयतु नीललोहितः

पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ।।

—शाकुन्तल, 7।35।

राजा प्रजा के हित-साधन में लगे, शास्त्र के अध्ययन से महत्त्वशाली विद्वानों की वाणी सर्वत्र पूजित हो, शक्ति-सम्पन्न भगवान् शङ्कर समग्र जीवों का पुनर्जन्म दूर कर दें। इससे सुन्दर सन्देश और क्या हो सकता है? राजा का प्रधान कार्य प्रजा का अनुरञ्जन है। अराजक राज्य के दुर्गुणों से हम भली-भाँति परिचित हैं। राजा के बिना समाज उच्छिन्न हो जायगा, परन्तु राजा का प्रधान कर्तव्य होना चाहिए समाज की रक्षा। राष्ट्र की उन्नति तथा अभ्युदय के मार्ग पर ले जाने वाले उसके विद्वज्जन ही होते हैं। अतः उनकी सरस्वती का पूजन तथा समादर हमारा पवित्र कार्य है। राजा क्षात्र बल का प्रतीक है तथा विद्वज्जन ब्राह्मतेज के प्रतिनिधि हैं। इन दोनों के परस्पर सहयोग से ही देश का सच्चा कल्याण हो सकता है। ब्राह्मतेज तथा क्षात्रबल का सहयोग पवन तथा अग्नि के समागम के समान उपादेय तथा फलप्रद है—

स बभूव दुरासदः परैर्गुरुणाथर्वविदा कृतक्रियः ।

पवनाग्निसमागमो ह्ययं सहितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा ।।

—रघुवंश, 8।4।

समाज की सुव्यवस्था होने पर व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है। इस प्रकार समाज तथा व्यक्ति का परस्पर अभ्युदय भारतीय संस्कृति का चरम लक्ष्य है। सम्राट् विक्रम की सभा के रत्न महाकवि कालिदास का यह त्याग और तपस्या का सन्देश जगती-तल पर प्रत्येक प्राणी के हृदय को सदय तथा सहानुभूतिमय बनावे, यही अन्त में भगवान् से हमारी प्रार्थना है।



कालिदास और प्रकृति

(व्याकरणाचार्य, साहित्यशास्त्री पंडित करुणापति त्रिपाठी एम्0ए0 (हिन्दी-संस्कृत) बी0टी0 कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, काशी)

विश्व के विशाल साहित्य में शेक्सपियर को लोग अन्तर्जगत् का, कालिदास को बाह्य जगत् का सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार मानते चले आए हैं। बाह्य जगत् के चित्रण में, प्राकृतिक वर्णन में कालिदास ने जो मनोरम काव्य-रचना की है, वह साहित्य-जगत् में अद्वितीय है। इनके प्रकृति-वर्णन में इतनी सजीवता है, इतनी रमणीयता है तथा इतनी भव्यता और स्वाभाविकता है कि पाठकों और श्रोताओं के मन बरबस इनमें रम जाते हैं। इनके प्रकृति-प्रेम का अनुमान मेघदूत के इस एक ही श्लोक में लगाया जा सकता है—

हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं नीता लोधप्रसरजसा पाण्डुतामानने श्रीः।

चूडापाशे नवकुरवकं चारु कर्णे शिरीषं सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम्॥

—उत्तरमेघ, 2।

इस श्लोक में जो वर्णन है वह शकुन्तला-जैसी किसी तपोवनवासिनी स्त्री का वर्णन नहीं है वरन् धनपति कुबेर की उस अलकापुरी की यक्षिणियों का वर्णन है, जहाँ महापद्म आदि नवों निधियाँ सदा निवास करती हैं, जहाँ की भूमि मणि की बनी है, जहाँ गगनचुम्बी प्रासाद खड़े हैं, जहाँ सितमणि (स्फटिक)-के हर्म्यस्थल हैं, कनकमय सिकता है, जहाँ अमर-प्रार्थित यक्षकन्याएँ दिनरात मणियों से खेल खेला करती हैं, जहाँ रात्रि में रत्न-प्रदीप जला करते हैं, चन्द्रकान्तशिलाओं का बाहुल्य है, जहाँ के तालाबों की सीढ़ियाँ मरकत (पन्ने) आदि मणियों की बनी हैं, हेम-कमलों में वैदूर्य मणि (नीलम)-के नाल हैं, इन्द्रनील के क्रीडा-शिखर हैं और अन्य सभी बहुमूल्य तथा देवदुर्लभ सम्पत्तियाँ बिखरी पड़ी हैं और फिर कल्पवृक्षों से समस्त सम्पत्ति और समस्त विभूति भी सुप्राप्य है। इतना सब होने पर भी वहाँ की अमर-प्रार्थित अङ्गनाओं के शृंगार की सामग्रियाँ प्रकृति की विभूतियाँ हैं न कि जड़ मणि-शिलाओं के टुकड़े। यह वर्णन सूचित करता है कि प्रकृति के पुजारी भावुक कवि की अन्तस्तल-दृष्टि को इन प्राकृतिक पदार्थों में जो सुषमा लक्षित होती है, वह सुषमा रत्नमुक्ता-खचित कांच के आभूषणों में नहीं दिखाई पड़ती।

इस महाकवि की शकुन्तला भी मानो साक्षात् प्रकृति की कन्या है। तपोवन के पावन वातावरण में पली हुई शकुन्तला जिस समय आश्रम तरुओं को सींचती हुई हमारे सम्मुख आती है, उस समय आश्रम-वृक्षों के प्रति शकुन्तला का स्नेह ऐसा जान पड़ता है मानो वे उसके सगे कुटुम्बी ही हों। आश्रम-वृक्षों की इस भाँति मनोयोग-पूर्वक सेवा करने वाली शकुन्तला, प्रत्येक वृक्ष की अनुराग-पूर्वक सींचने वाली और तपोवन की किन लताओं में स्तवक कब प्रकट हुए, कब उनमें मञ्जरियाँ दिखाई पड़ीं, इन सब बातों का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने वाली कण्व-लालिता शकुन्तला का अद्भुत प्रकृति-प्रेम उस समय लक्षित होता है, जब स्वयं महर्षि कण्व, जाती हुई शकुन्तला को निर्दिष्ट करके वृक्षों को ओर देखते हुए कहते हैं—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नाधत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् ।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्याः भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥

—शाकुन्तल, 4।9

शकुन्तला के इस चरम प्रकृति-प्रेम का प्रभाव यह होता है कि तपोवन के समस्त जड़-चेतन उसके ऐसे अनन्य अनुरागी हो जाते हैं कि उसकी विदाई के समय वहाँ के वन-देवताओं और तरुलताओं ने अलौकिक वस्त्राभूषणादि-तक उसके लिये उपहार में प्रदान कर डाले ।

ऐसा जान पड़ता है कि कवि-कुल-गुरु की समस्त वृत्तियाँ प्रकृति के सौंदर्य-निरीक्षण में, उनकी आरम्भिक अवस्था से ही रम गई थीं । उनका ऋतुसंहार, जो उनका आरम्भिक काव्य माना जाता है—प्रकृति की मनोहर सुन्दरताओं के सूक्ष्म एवं सहृदय निरीक्षण का एक ज्वलन्त साक्षी है । यद्यपि ऋतुओं का आश्रय लेकर प्रकृति की सहज विशेषताओं का वर्णन ऋतुसंहार में उद्दीपन विभाव के अंतर्गत हुआ है तथापि उसका प्रथम श्लोक—

प्रचण्डसूर्यः स्पृहणीयचन्द्रमाः सदावगाहक्षतमवारिसंचयः ।
दिनान्तरम्योऽभ्युपशान्तमन्मथो निदाघकालोऽयमुपागतः प्रिये ॥

—ऋतुसंहार, 1।11

इस वात का पर्याप्त प्रमाण है कि सरस्वती के लाडले पुत्र कालिदास के वर्णन, रूढ़ियों और अलंकार-शास्त्रीय परम्पराओं के कोरे निर्वाह मात्र नहीं, वरन् आत्मानुभूति-जन्य हैं । फिर—

काशैर्मही शिशिरदीधितिना रजन्यो हंसैर्जलानि सरितां कुमुदः सरांसि ।
सप्तच्छदैः कुसुमभारनतैर्वनान्ताः शुक्लीकृतान्युपवनानि च मालतीभिः ॥

—ऋतुसंहार, 3।12

यह शरत् का वर्णन कवि की व्यापक दृष्टि और उनके वास्तविक तथ्य-निरीक्षण का परिचायक है । वसन्त के वायु का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

आकम्पयन् कुसुमिताः सहकारशाखाः विस्तारयन् परभृतस्य वचांसि दिक्षु ।
वायुर्विवाति हृदयानि हरन्नराणां नीहारपातविगमात् सुभगो वसन्ते ॥

—ऋतुसंहार, 6।24

इस वर्णन में यद्यपि बहुत ही साधारण बात कही गई है, तथापि इससे यह सूचित होता है कि बौरे हुए आम के बाग में बैठकर मतवाले कोकिल की कूक सुनकर अपना तन-मन निछावर कर देने वाले कवि ने ही यह लिखा होगा । इसी भाँति ऋतुसंहार के प्रत्येक सर्ग में आदि और अन्त के ऋतु-वर्णन-विषयक पद्य इतने सरस, सुन्दर और साथ ही इतने भव्य हैं कि उन्हें पढ़ते ही या सुनते ही हृदय में उन ऋतुओं का चित्र-सा खिंच जाता है ।

कुमार-सम्भव तो प्रकृति-नटी के ललित लास्य की रमणीय रङ्गशाला ही है । प्रथम सर्ग का हिमालय वर्णन संस्कृत साहित्य में क्या, समस्त विश्व-साहित्य में एक देदीप्यमान रत्न है । कुछ उदाहरण लीजिए—

यश्चाप्सरो-विभ्रममण्डनानां सम्पादयित्रीं शिखरैर्बिभर्ति ।

बलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम् । 14 ।।

कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम् ।

यत्र स्त्रुतक्षीरतया प्रसूतः सानूनि गन्धः सुरभीकरोति । 19 ।।

भागीरथीनिर्झरसीकराणां वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः ।

यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः ।। 15 ।।

ऐसा सुन्दर और स्वाभाविक पर साथ ही साथ सरस वर्णन तब तक सम्भव नहीं हो सकता, जब तक कवि का हृदय प्रकृति की मनोरम लीलाओं को देखकर मुग्ध न हो गया हो ।

आगे चलकर तृतीय सर्ग में पुनः वसन्त का वर्णन और अष्टम सर्ग में सन्ध्या तथा चन्द्रोदय का वर्णन भी अत्यन्त मोहक हैं । महाकवि की अनेक विशेषताओं में यह भी एक विशेषता है कि जहाँ वे एक ओर प्रकृति के स्वाभाविक शब्दचित्र-निर्माण में अतीव प्रवीण हैं, वहाँ वे दूसरी ओर अपनी नवनवोन्मेषशालिनी कल्पनामयी प्रतिभा के सहारे अलौकिक और दिव्य विभूतियों का वर्णन भी बड़ी निपुणता के साथ करते हैं । जहाँ एक ओर हिमालय का अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन करने में उन्हें पूर्ण सफलता मिली है, वहीं दूसरी ओर ओषधिप्रस्थ-पुरी के, हिमालय-निवासी यक्षों, गन्धर्वों, किन्नरों और अप्सराओं के, अलका के, सुमेरु के और गन्धमादनादि के काल्पनिक वर्णन में भी उन्हें पूर्ण सफलता मिली है । उनकी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति के उदाहरण सर्वत्र बिखरे पड़े हैं । पर्वत के झरनों पर दिन के समय जब सूर्य की किरणें पड़ती हैं, तब इन्द्रधनुष चमकने लगता है, पर सन्ध्या के समय सूर्य के लटक जाने पर उनमें इन्द्रधनुष नहीं पड़ता । इसी का कवि वर्णन कर रहा है-

सीकरव्यतिकरं मरीचिभिर्दूरयत्यवनते विवस्वति ।

इन्द्रचापपरिवेषशून्यतां निर्झरास्तव पितुर्ब्रजन्त्यमी ।। 18 ।। 31

किन्तु झरनों में इन्द्रधनुष के न दिखाई पड़ने पर भी तालाबों के जल में लटकते हुए सूर्य की समतल कान्ति पड़ने से ऐसा जान पड़ता है मानो उनके ऊपर सोने का पुल बना हो-

पश्य पश्चिमदिगन्तलम्बिना निर्मितं मितकथे विवस्वता ।

लब्धया प्रतिमया सरोम्भसां तापनीयमिव सेतुबन्धनम् ।। 18 ।। 34

ये उक्तियाँ केवल रूढ़ि का अनुसरण करने वाले कवि की नहीं हो सकतीं, वरन् ये उसकी उक्तियाँ हैं, जो कि मुग्ध दृष्टि से प्रकृति की शोभा देखते हुए कुछ भूल जाता है ।

इसी प्रकार रघुवंश में भी तपोवन का वर्णन, प्रभात-वर्णन, वसन्त-वर्णन, समुद्र-वर्णन आदि भी अनुपम हैं-

सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम् ।

विश्वासाय विहंगानामालबालाम्बुपायिनाम् ।।

-रघुवंश, 1 । 51

वृन्ताच्छल्यं हरति पुष्पमनोकहानां संसृज्यते सरसिजैररुणांशुभिः ।

स्वाभाविकं परगुणेन बिभाति वायुः सौरभ्यमीप्सुरिव ते मुखमारुतस्य ।।

ताम्रोदरेषु पतितं तरुपल्लवेषु निर्घौतहारगुलिका विशदं हिमाम्भः ।

आभाति लब्धपरभागतयाधरोष्ठे लीलास्मितं सदशनार्चिरिव त्वदीयम् ।।

-रघुवंश, 5 । 69-70

अमदयन् मधुगन्धसनाथया किसलयाधरसंगतया मनः।
कुसुमसंभृतया नवमल्लिका स्मितरुचा तरुचारुविलासिनी।

-रघुवंश, 9।42

ससत्त्वमादाय नदीमुखाम्भः सम्मीलयन्तो विवृताननत्वात्।
अमी शिरोभिस्तिमयः सरन्ध्रैरूर्ध्वं वितन्वन्ति जलप्रवाहान्।।

-रघुवंश; 13।10

तवाधरस्पर्धिषु विद्वमेषु पर्यस्तमेतत्सहसोर्भिवेगात्।
ऊर्ध्वाकुरप्रोतमुखं कथंचित्क्लेशादपक्रामति शंखयूथम्।

-रघुवंश, 13।13

इसी सर्ग में आगे चलकर गंगा-यमुना के संगम का कितना संश्लिष्ट वर्णन है। सम्भवतः गंगा-यमुना के संगम का ऐसा भव्य चित्र संस्कृत साहित्य में उपलब्ध नहीं है। सोलहवें सर्ग में कुश की जलक्रीडा के अवसर पर नदी का तथा मार्ग के अन्यान्य दृश्यों का कितना मनोहर वर्णन है। इस प्रकार केवल रघुवंश में ही प्रकृति के न जाने कितने ललित एवं मनोरम दृश्यों के अत्यन्त कलापूर्ण चित्रात्मक वर्णन भरे पड़े हैं।

मेघदूत तो मानो प्रकृति-रमणी के लालित्यपूर्ण मनोरम विलास-चेष्टाओं का आगार ही है। पूर्वमेघ में आरम्भ से लेकर अन्त तक कैसा अनुपम प्रकृति का वर्णन है। वर्षा के आरम्भ का एक वर्णन लीजिए-

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां

वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः।

गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः

सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः।।

-पूर्वमेघ, 10

ग्रीष्म ऋतु के बाद पहले-पहल वर्षा की बूंदों के पड़ने पर गरमी भर तपे हुए पत्थरवाले बिन्ध्यादि पहाड़ों से जो भाप निकलती है, उसका वर्णन लीजिए-

काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम्।।

-पूर्वमेघ, 12

इसी भाँति बाँबियों के ऊपर मकड़ी के जालों और नीचे घास पर पड़ी हुई ओस की बूंदों पर या वर्षा की बूंदों पर दिखाई पड़ने वाले इन्द्र के धनुष के समान इन्द्रधनुष की छाया पड़ने से मेघ की कान्ति कैसी हो उठती है-इसे देखिए-

रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्तात् बल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य।

येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः।।

-पूर्वमेघ, 15

वर्षा के आरम्भ में जब जल की बूंदों के गिरने पर भूमि से सोंधी-सोंधी गन्ध उठती है उस समय सरल कृषक-बालाएँ कितने स्नेह से श्यामल अम्बुवाहों को देखती हैं-

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भूविलासानभिज्ञैः
 प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः ।
 सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं
 किञ्चित्पश्चाद्ब्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ।

-पूर्वमेघ, 16

रेवाका वर्णन लीजिए-

रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां
 भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य ।।

-पूर्वमेघ, 20

ऊबड़-खाबड़ विन्ध्य के निचले भाग में बहती हुई रेवा सजे हुए हाथी के अङ्ग-सी जान पड़ती है।
 एक और सुन्दर वर्णन लीजिए-

नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केशरैरर्द्धरुदै-

राविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीश्चानुकच्छम् ।

जग्धवारण्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाघ्राय चोर्व्याः

सारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम् ।।

-पूर्वमेघ, 22 ।

इस प्रकार समस्त पूर्वमेघ अत्यन्त भव्य और रमणीय प्राकृतिक दृश्य-चित्रों से भरा पड़ा है। प्रकृति के किसी एक अंग के नहीं वरन् समस्त अंगों के वर्णन में वे बड़े सिद्ध-हस्त हैं। मेघदूत में उनके प्रकृति-वर्णन एक ओर तो प्राकृतिक सुन्दरताओं का शब्द-चित्राङ्कन हैं और दूसरी ओर बाह्य जगत् का अन्तर्जगत् के साथ सम्बन्ध दिखाने वाला है। उन प्राकृतिक दृश्यों को देखकर केवल कवि के, यक्ष के या अनुप्राणित मेघ के हृद्गत भाव ही नहीं वर्णित हैं, वरन् ग्रामवधुओं, पथिकों और विरहियों के भावों का भी अत्यन्त मनोरम चित्रण है। इतना ही नहीं, चातकों, मयूरों, बगुलों तथा हंसों की भी उन चेष्टाओं का वर्णन है जिनमें उनकी अन्तरानुभूतियों की छाया झलकती है। जन्तु-जगत् की मनोहर चेष्टाओं के चित्रण में तो कालिदास सिद्ध-हस्त हैं। दुष्यन्त बाण चढ़ाए हरिण के पीछे रथ दौड़ा रहे हैं और वह गर्दन टेढ़ी कर-करके पीछे निहारता और चौकड़ी भरता भागा चला जा रहा है, थक जाने के कारण उसकी साँस फूल रही है और मुँह खुल गया है, इस कारण आधी चबाई हुई कुशा उसके मुख से गिर पड़ रही है और चौकड़ी के वेग से वह उड़ता- सा जान पड़ रहा है-

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः

पश्चाद्धर्षेण प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम् ।

दर्शैरर्धाबलीढैः श्रमविवृतमुखमशिशिभिः कीर्णवर्मा

पश्योदग्रप्लुतत्वाद्विपतिं बहुतरं स्तोकमुर्व्या प्रयाति ।।

-शाकुन्तल, 1 । 7

महाकवि जो कुछ लिखते थे, वह उनकी वैयक्तिक अनुभूति और निरीक्षण का परिणाम होता था। शाकुन्तल के प्रथम अंक में तपोवन की जिन परिपूत विशेषताओं का कवि ने वर्णन किया है, वे मानो उनके अनेक बार के देखे हैं-

नीवारा शुकरगर्भकोटरमुखभ्रटास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिगुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः ।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यंदरेखाङ्किताः ॥

शाकुन्तल, 1 114

कुल्यांभोभिः प्रसुतिचपलैः शाखिनो धौतमूलाः
भिन्नो रागः किसलयरुचामाज्यधूमोद्गमेन ।
एते चार्वागुपवनमुविच्छिन्नदर्भाङ्कुराणां
नष्टाशङ्का हरिणशिशवो मन्दमन्दं चरन्ति ॥

-शाकुन्तल, 1 115

महाकवि के वर्णन की अनुपम विशेषता यह है कि यदि उसका वर्णन दिव्य पात्रों और अलौकिक स्थलियों से सम्बद्ध नहीं है तो उसमें स्वाभाविकता और भौगोलिक सत्यता अवश्य रहती है। भारवि के समान हिमालय में वे मोती का वर्णन नहीं करते। जिस देश, जिस काल और जिस परिस्थिति में उनकी प्रकृति चित्रित होती है, वह उसी देशकाल के पूर्णतः अनुरूप होती है। रघु के दिग्विजय का वर्णन करते हुए कवि, जिस मार्ग से और जिस समय जिस देश में ले चलता है, उस समय वहाँ की जो बातें उसके वर्णन में आती हैं, वे भौगोलिक विचार से पूर्णतः वास्तविक हैं चाहे वे प्राच्य समुद्र के तटस्थ श्यामल तालीवन का वर्णन करता है, चाहे बङ्गाल के कमल का निर्देश करता है, चाहे महेन्द्राद्रि के नागबल्ली-दलों और नारिकेलासव का चित्र खींचता है, चाहे मारीच-वन के परिभ्रान्त हारीत वाले मलयाद्रि की उपत्यका की कथा सुनाता है, चाहे पांड्य देश की ताम्रपर्णी की बात बताता है, चाहे 'केरल' की मुरला नदी के पुलिनस्थ केतकी के पुष्प-परागों की गाथा गाता है, चाहे भारत के पश्चिमी सीमा-प्रान्त के अंगूर से व्याप्त प्रदेश का वृत्त कहता है, चाहे काश्मीर के कुंकुम-केसर की कहानी कहता है, चाहे हिमालय के भोजपत्रों का मर्मर, मृगों की कस्तूरी, सरल और देवदारु के तरु और गंगा के शीकर से मिश्रित शीतल अनिल के गीत गाता है, अथवा लौहित्य नदी पार करने पर कामरूप के अगुरु वृक्षों की सम्पत्ति का वर्णन करता है, सब कुछ भौगोलिक और प्राकृतिक वास्तविकता और याथातथ्य से परिपूर्ण है। रघुदिग्विजय के अतिरिक्त इन्दुमती-स्वयंबर और मेघदूत में मेघ के मार्ग-वर्णन आदि में भी ऐसे अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं, जहाँ दैशिक विशेषताओं के प्राकृतिक वर्णन में कवि पूर्ण रूप से यथार्थ है।

भौगोलिक तथ्य-वर्णन के अतिरिक्त महाकवि कालिदास के प्रकृति-वर्णन की दूसरी विशेषता यह है कि प्रस्तुत की अमूर्त विशेषताओं और सुषमा-सम्बन्धी विलक्षणताओं के साकार साक्षात्कार के लिये वह प्रकृति के अप्रस्तुत प्रसंगों की निर्बाध सहायता लेता है। शकुन्तला की अकृत्रिम सुषमा की ललिन कल्पना को मूर्त रूप में चित्रित करने के लिये वह कहता है-

सरजिसमनुबिद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥

-शाकुन्तल, 1 119

इसमें शकुन्तला की सहज रूपसम्पत्ति का मूर्त प्रत्यक्षीकरण कराने के लिये सेवार से घिरे हुए कमल और सकलङ्ग कलाधर की सहायता ली गई है। इसी भाँति शकुन्तला के अभुक्तपूर्व यौवन की अभिव्यक्ति के लिये, उसके अछूते यौवन की मनोहरता के प्रतिपादन के लिये, कवि अप्रस्तुत की सहायता लेकर कह उठता है-

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-

रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।

अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं

न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः॥

-शाकुन्तल, 2।10

अनाघ्रात पुष्पादि का वर्णन हमारे सम्मुख उसकी अभुक्त रूप सम्पत्ति का बड़ा भव्य और प्रभावशाली चित्र उपस्थित कर देता है। इस चित्र की सहायता से अमूर्त भावना के मूर्त साक्षात्करण में अत्यन्त तीव्रता आ जाती है, हृदय पर उसकी मधुर और अमिट छाप पड़ जाती है।

रमणी-सौन्दर्य को देखकर अनेक तरुणों के मन आकृष्ट होते रहते हैं, पर इतना कह देना कि अमुक सुन्दरी को देखकर अमुक युवक का मन मुग्ध हो गया, पर्याप्त नहीं होता। केवल इतने से न तो कोई साहित्यिक रमणीयता जान पड़ती और न इसका कोई प्रभाव ही पड़ता है। अतः उर्वशी का स्वर्गीय सौन्दर्य देखकर पुरुरवाका हृदय जब मुग्ध हो गया, तब उसी का प्रभावशाली वर्णन करते हुए कवि कहता है-

एषा मनो मे प्रसभं शरीरात् पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती।

सुराङ्गना कर्षति खण्डिताग्रात्सूत्रं मृणालादिव राजहंसी॥

-विक्रमोर्वशीयम् 1।20

(जैसे मृणाल के दो खण्ड करके एक खण्ड से दूसरे टुकड़े के दूर किए जाने पर भी उसमें से निकलता हुआ सूत्र दोनों का सम्बन्ध बनाए रखता है, उसी भाँति उर्वशी के चले जाने पर भी महाराज की आँख और समस्त अन्तर्वृत्तियाँ उसी ओर लगी हैं।) इसी प्रकार विरहिणी यक्षिणी की मलिन मूर्ति का चित्रात्मक साक्षात्करण कराने के हेतु कविने उसे शिशिरमथिता पद्मिनी के तुल्य कहा है। आगे उसी का वर्णन करते हुए कविकुल-कमल-दिवाकर कहते हैं-

नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियाया निःश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम्।

हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वादिन्दौदैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति॥

-मेघदूत (उत्तरमेघ) 24

यहाँ भी अप्रस्तुत चन्द्र यह सूचित करता है कि सहज-सुन्दर यक्षिणी का मुख वियोग के बादलों से कान्तिहीन हो गया है। इस रीति से महाकवि के काव्यों में अप्रस्तुत रूप में भी प्रकृति का अत्यन्त प्रभावशील और चित्रात्मक दृश्योत्थापक वर्णन पग-पग पर भरा पड़ा है।

यद्यपि कालिदास के प्रकृति-वर्णन में अनेक विशेषताएँ हैं तथापि उन सबका वर्णन यहाँ सम्भव नहीं है, अतः यहाँ केवल एक और विशेषता के सम्बन्ध में कुछ निवेदन कर देना है।

कवि की दृष्टि में मानव के चारों ओर फैली हुई विशाल प्रकृति, अनगिनत तारों से जगमगाता हुआ अनन्त अम्बर, अगाध समुद्र, विशाल वन, लता, वृक्ष पल्लव, प्रसून, फलादि, नदी, पशु-पक्षी तथा अन्य अनन्त प्रकृति के पदार्थ केवल जड़ या बुद्धि और भावना से हीन साधारण वस्तुएँ नहीं हैं, वरन् उसकी भावुक कल्पना-चक्षुओं के सम्मुख वे सभी चेतन जान पड़ते हैं, वे सभी भावनाशील हैं और मानव-जगत् के प्रति उनके हृदय में सहानुभूति है, मानवपीड़ा से वे व्यथित होते हैं और मानव-सुख से सुखी। इसके भव्य और विशद उदाहरण एक नहीं, महाकवि के काव्य में अनेक हैं। विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अङ्क में उर्वशी के वियोग में विलाप करते हुए पुरुरवा को देखकर मानो समस्त प्रकृति सदृशानुभूति से आकुल हो उठती है और पुरुरवा को भी सारी प्रकृति सजीव और मानव-सुषमा में व्याप्त दिखाई पड़ती है। सम्पूर्ण प्रकृति को अपने प्रति समानानुभूतिपूर्ण और सदय देखकर ही पुरुरवा के द्वारा कवि अपने हृदय का भाव उनके प्रति व्यक्त करता है।

इसी भाँति शकुन्तला भी मानो प्रकृति-सुन्दरी की नैसर्गिक शोभामयी वनदेवी की दुलारी पुत्री है। तपोवन के मृगों तथा अन्य पशु-पक्षियों के प्रति उसका हृदय बान्धव-स्नेह से आप्लुत है, नैसर्गिक बन्य-सुषमा से उसके कलेवर के अणु-अणु निर्मित और परिपालित हैं। कण्व के कथनानुसार जो शकुन्तला तरुलतादि को बिना सींचे जल पीना भी उचित नहीं समझती थी, उस शकुन्तला की बिदाई के समय समस्त तपोवन विरहाकुल हो उठता है, तो क्या आश्चर्य।

उग्लिअदब्मकवला मिआ परिच्चत्तणच्चणा मोरा।

ओसरिअपण्डुपत्ता मुअंति अस्सू विअ लदाओ।।

-शाकुन्तल, 4।12

धर्मपिता कण्व और अन्य तपोवनवासियों की विरह-व्याकुलता तो ठीक है, पर जड़ और मूक प्रकृति की शोककातरता तथा व्यथा-व्याकुलता उसी कवि के अन्तःकरण के साथ स्पन्दित हो सकती है जिसके हृदय की वीणा के तार प्रकृति के व्यापारों से बज उठा करते हैं।

महाकवि के द्वारा जड़ प्रकृति का चेतनीकरण मेघदूत में आदि से अन्त तक प्रतिविम्बित दिखाई पड़ता है। यक्ष, जड़ मेघ को अपना दूत बनाकर अपनी प्रियतमा के पास भेजता है। मेघ की सेवा मार्ग में बलाका (वक-पंक्ति) करेगी, किसलय का पाथेय लिए हुए रेवा नदी मिलेगी, मयूर स्वागत करेंगे, विदिशा में पहुँचने पर कामुकेच्छा पूर्ण होगी और वेत्रवती के चञ्चल-तरङ्ग-भ्रुकुटियों वाले मुखका वह चुम्बन करेगा तथा प्रकृति, चेतन मानव के समान आचरण करेगी।

जहाँ एक ओर कवि मनुष्य की बाह्य शारीरिक सुन्दरता की प्रभावशील और तीव्र अनुभूति के लिये प्रकृति के मनोरम और ललित उपादानों की सहायता लेता है, वहीं दूसरी ओर वह प्राकृतिक रमणीयता की प्रभावशीलता तथा तीव्रता बढ़ाने के लिये प्रकृति में भी मानव-सौन्दर्य का आरोप करके अप्रस्तुत रूप से मानवीय सुन्दरता तथा भावाभिव्यक्ति की सहायता लेता है-

वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः संसर्पन्त्या स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः।

निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु।।

-मेघदूत (पूर्वमेघ) 30

महाकवि के सम्मुख सुरत-ग्लानि को दूर करने वाला शिप्रानिल मानो प्रार्थना-चाटुकार प्रियतम है। इसी प्रकार गम्भीरा नदी का 'चटुलसफरोद्धर्तन' ही उसके कटाक्ष हैं। अतः, मेघ से यक्ष कहता है-
 तस्याः किञ्चित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं हत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधो नितम्बम्।
 प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः॥
 -मेघदूत (पूर्वमेघ) 45

इस श्लोक से हमें ज्ञात होता है कि जिस भाँति एक विलास-प्रिय-कामकला-निपुण नायक के हृदय में 'विवृतजघना' रमणी को देखकर उसके प्रति आकर्षण होता है, उसी भाँति वर्षाकालीन गम्भीरा की उपर्युक्त सहज छटा देखकर कवि का जी वहीं रम जाता है और वह सब कुछ भूलकर उसे निहारने में मस्त हो उठता है।

कविकुल-गुरु कालिदास के सभी काव्यों में और विशेषतः मेघदूत में इस भाँति के वर्णन भरे पड़े हैं। अतः, चाहे प्रस्तुत रूप में हो अथवा अप्रस्तुत रूप में, कवि का प्रकृति-निरीक्षण और उसका वर्णन अनुपम है। पर यहीं तक उसका प्रकृति-प्रेम समाप्त नहीं हो जाता। हमारे चारों ओर जो विशाल प्रकृति अपने अनन्त सौन्दर्य के वैभव में अज्ञात रहस्य का आवरण डाले दिखाई पड़ती है, उसकी अपार महिमा के सम्मुख श्रद्धा और भक्ति से मस्तक झुकाता हुआ महाकवि अभिज्ञान शाकुन्तल के आरम्भ में कह उठता है-

या सृष्टिः स्त्रष्टुराया वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री,
 ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
 यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
 प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीषः॥

-अभि० शाकुन्तल, 1,1

अर्थात् परमेश्वर भी कहीं अन्यत्र नहीं है। संसार में, प्रकृति में दिखाई पड़ने वाली महिमामयी अष्टविभूतियाँ ही भगवान् अष्टमूर्ति की आठ प्रत्यक्ष मूर्तियाँ हैं।

इसीलिये कवि कुमारसंभव में भी कहता है-

द्रवः संघातकठिनः स्थूलः सूक्ष्मो लघुर्गुरुः।
 व्यक्तो व्यक्तेतरश्चासि प्राकाम्यं ते विभूतिषु॥

-कुमारसम्भव 2।11

वही परमेश्वर पृथिवी आदि प्रकृति के रूपों में इस समस्त चराचर विश्व को धारण किए हुए है-

कलितान्योन्यसामर्थ्यैः पृथिव्यादिभिरात्मभिः।

येनेदं ध्रियते विश्वं धुर्यैर्यानमिवाध्वनि॥

-कुमारसम्भव, 6।76

अस्तु, ईश्वर की परम सुखमयी प्राकृतिक विभूतियों के अनन्य उपासक महाकवि कालिदास की कविता में प्रकृति का महत्त्वपूर्ण तथा परम रमणीय चित्रण तनिक भी आश्चर्यकारक नहीं कहा जा सकता।

निसर्ग-कन्या शकुन्तला

(डॉ० एस० के० वेल्वेलकर, ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना।)

अँगरेज, कवि वर्ड्सवर्थ ने किसी ल्यूसीका वर्णन करते हुए लिखा है-

“थी ईयर्स शी न्यू इन सन ऐण्ड शौवर,
दैन नेचर सेड्, “ए लवलिर फ्लौवर
औन अर्थ वाज नेवर सीन,
दिस चाइल्ड आइ दु माइसेल्फ विल टेक,
शी शैल बी माइन, ऐण्ड आइ विल मेक
ए लेडी औफ माइ ओन,
माइसेल्फ बिल दु माइ डार्लिङ्ग बी
बोथ लौ ऐण्ड इम्पल्स, ऐण्ड विद मी
दि गर्ल इन रौक ऐण्ड प्लेन,
इन अर्थ ऐण्ड हैविन, इन ग्लेड ऐण्ड बीवर
शैल फील एन् ओवर-सीइंग पौवर
दु किंडिल और रेस्ट्रेन”,

(तीन वर्ष तक वह धूप और वर्षा में पली। तब निसर्ग ने कहा- इससे अधिक सुन्दर फूल इस पृथ्वी पर कभी उगाया ही नहीं गया। इस कन्या को मैं स्वयं ले लूँगा। यह मेरी रहेगी और इसे मैं अपनी प्रेयसी बनाऊँगा।

“मैं ही अपनी इस प्रेयसी का नियम और भाव बनूँगा और मेरे ही साथ यह कन्या चट्टानों और मैदानों में, मर्त्यलोक और स्वर्ग में, वनपथों और कुज्जों में मन को उकसाने वाली या संयम कराने वाली दिव्य शक्ति का अनुभव करेगी।”)

‘टिटर्न एबी से कुछ मील ऊपर’ रची हुई अपनी दूसरी कविता में वही कवि कहता है कि मैं किस प्रकार-

“इन नेचर ऐण्ड दि लैंग्वेज औफ सैन्स,
दि ऐङ्गर औफ माइ प्यौरेस्ट थौट्स, दि नर्स,
दि गाइड, दि गार्डियन औफ माइ हार्ट ऐण्ड सोल
औफ औल माइ मौरल बीइंग,”-

(‘निसर्ग और भाव की भाषा में, अपने सबसे पवित्र विचारों को धाम रखने वाली, अपनी धात्री, अपनी पथ-प्रदर्शिका, हृदय पर शासन करने वाली और अपने समस्त नैतिक अस्तित्व के आत्मा.....”) को पहचानने में समर्थ हुआ। और अपनी ‘सैर’ (दि एक्सकर्शन) शीर्षक कविता में उसने मानव और प्रकृति के बीच स्थापित हो सकने वाले सम्बन्ध के कई रूपों और अवस्थाओं का वर्णन किया है। आलोचक-गण इस बात पर सहमत हैं कि वर्ड्सवर्थ ने इनमें तथा अन्य रचनाओं में जो कुछ वर्णन किया है वे उस

भाव-संक्रान्ति-विभ्रम के उदाहरण मात्र नहीं हैं जिसके द्वारा मनुष्य अपनी निजी अनुभूतियों, उद्गारों और भावों को अचेतन पदार्थों में आरोपित करता है। मनुष्यों को प्रकृति से जो विचार और प्रेरणाएँ मिलती हैं, उसे प्रदान करने की शक्ति सचमुच प्रकृति में ही है, क्योंकि मनुष्य और प्रकृति के बीच वही आत्मा या चेतना व्याप्त है, जिससे दोनों में परस्पर आन्तरिक सम्बन्ध उतनी ही शीघ्रता से आवश्यक रूप से संभव है, जैसा कि परस्पर प्रेम करने वाले दो मित्रों में होता है और ऐसे सम्पर्क के लिये सदा व्यक्त भाषा की आवश्यकता हुआ भी नहीं करती।

यह समझा जाता है कि उपर्युक्त प्रकृतिवाद वर्ड्सवर्थका ही चलाया हुआ है और वह उसमें पूर्णतः विश्वास भी करता था। इसका दार्शनिक आधार हमारे वेदान्त के उस रूप से बहुत कुछ मिलता-जुलता है, जहाँ यह माना जाता है कि एक ही विश्वात्मा मनुष्य, पशु, वनस्पति और समस्त सृष्टि में व्याप्त है। यह भी निश्चय है कि यही कालिदास का भी अपना मत था। किन्तु यदि इसके लिये काव्य-प्रमाण की आवश्यकता हो तो उर्वशी का यह कथन सबसे अधिक प्रामाणिक होगा जो उसने लता होने का शाप पाकर और फिर अपना पूर्व रूप धारण करके अपनी लता की अवस्था के अनुभव का लेखा हमारे लिये सुरक्षित रख छोड़ा है-

अब्धन्तरकरणाए मए पच्यक्खीकिदवुत्तन्तो क्खु महाराओ। (मैंने अपनी भीतरी इन्द्रियों से महाराज की सब बातें जान ली थीं।)

-विक्रमोर्वशीयम्, अङ्क 4, श्लोक 71 के पश्चात्।

वास्तव में हिन्दुओं के पुनर्जन्म और आत्मोत्क्रमण की भावना के आधार पर यह तथ्य ऐसे अवसर का सामान्य अनुभव माना जा सकता है और इससे यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि प्रकृति के पदार्थ भी ठीक मनुष्यों के समान ही अनुभव कर सकते हैं और अपने विचारों का आदान-प्रदान कर सकते हैं। इसका सटीक उदाहरण कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल की नायिका उस शकुन्तला में पाया जाता है जो नीचे से ऊपर तक प्रकृति की सच्ची कन्या थी और जिसे कविने केवल शब्दों में ही वर्णन नहीं किया, वरन् उसे हमारे समक्ष रक्त-मांस से निर्मित शरीर रूप में भी लाकर रख दिया है। वह बोलती भी है, अनुभव भी करती है, कार्य भी करती है और ठीक उसी प्रकार आचरण करती है जैसे उस वातावरण में उत्पन्न किसी बच्चे से आशा की जा सकती है और इसी में हमारे निम्नांकित अनुसन्धान का वास्तविक कौतुक निहित है।

शकुन्तला का जन्म स्वर्गीय अप्सरा मेनका के गर्भ से और उन विद्यामित्र ऋषि से हुआ, जिनके भयङ्कर तप से स्वर्ग के स्वामी इन्द्र इतने डर गए कि उन्होंने ऋषि को लुभाने और उनकी तपस्या भंग करने के लिये मेनका को नीचे मर्त्यलोक में भेजा। कन्या के उत्पन्न होते ही माता उसे वन में छोड़कर स्वर्ग लौट जाती है। इस प्रकार अरक्षित छोड़ी हुई बालिका की देखभाल वन के पक्षी करते हैं और उसका तब तक पोषण करते हैं जबतक कण्व ऋषि उसे आकर उठा नहीं ले जाते।

वे उसका नाम शकुन्तला (शकुन्तैः पक्षिभिः लालिता पालिता = पक्षियों-द्वारा पोषित) रख देते हैं और उसे अपनी पालिता कन्या बना लेते हैं।

कण्वने अपनी पालिता कन्या के लिये बाल-सखियों के रूप में अनसूया और प्रियंवदा नाम की दो सखियाँ भी दे दीं, जिनके नाम ही सुविहित रूप से उनके भिन्न स्वभावों की सूचना देते हैं। इतना ही नहीं, उसके लिये कण्व ने माधवी, अतिमुक्तक और सबसे अधिक शकुन्तला की बहन' नवमल्लिका भी दे दी थी, जिसका उसने प्रेम से वन-ज्योत्स्ना नाम रख दिया था, बकुल, केसर, सहकार और दूसरे स्नेह

और सावधानी से रोपे और पाले हुए वृक्ष दिए थे, हरिण, मृग, मोर, हंस, कोयल, चक्रवाक आदि पशु-पक्षी भी दे दिए थे और वन के देवी-देवता तो उसके साथी थे ही। इन सभी आश्रम-निवासियों को तत्परता से पालना, पानी देना, पोषण करना, इन सबके सुख का ध्यान रखना और समय-समय पर आए हुए अतिथियों का स्वागत-सत्कार करना, ये सब नित्य के कार्य कण्व ने शकुन्तला को सौंप दिए थे और उसे थोड़े ही दिनों में ये काम रुचने भी लगे और इन कामों में उसे सेवा का सच्चा आनन्द भी मिलने लगा था। देखिए-

ण केवलं तादृणिओओ। अत्थि ममावि सोदरसिणेहो एदेसु।

(मैं केवल पिता जी की ही आज्ञा से इन्हें नहीं सींचती हूँ। मैं स्वयं भी इनको सगे भाई-बहन जैसा प्यार करती हूँ।)

या चतुर्थ अंक में कण्व का वह प्रसिद्ध श्लोक देखिए-

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या

नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।

आद्ये वः कुसुमप्रवृत्तिसमये यस्या भवत्युत्सवः

सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्।।

-शाकुन्तलम्, 4।9

उसके ये पशु और वनस्पति-जगत् के सभी साथी अपने निजी व्यक्तित्व और जीवन से अनुप्राणित हो उठे और इनके व्यक्तित्व और जीवन में अनसूया और प्रियंवदा से कुछ कम विशेषता नहीं थी। अतः; यह स्वाभाविक था कि उन्होंने शकुन्तला को अपनी-अपनी परिस्थितियों के अनुसार सेवा और मैत्री के लिये प्रेरित किया तो शकुन्तला को केवल प्रतिदिन लताओं में पानी देना और उनका पोषण ही नहीं करना पड़ता था, वरन् जब कभी उनमें उभरते हुए यौवन का लक्षण दिखाई देता था, तब उन्हें उपयुक्त वृक्षों के सहारे चढ़ाना भी पड़ता था अथवा यदि शकुन्तला के समान ही बड़ों की प्रतीक्षा बिना किए वे स्वयंवर या आत्मनिर्णय से अपना सम्बन्ध कर लेती थीं तो भी कम से कम उनके सौभाग्य पर उत्सव तो अवश्य ही मनाना पड़ता था। इसी प्रकार इन्हें मृगछौनों की भी सावधानी से देखरेख करनी आवश्यक होती थी, विशेषतः तब, जब पहले-पहल घास चबाते समय उनके मुँह कट जाते थे। एक ऐसा मृगछौना वहाँ था भी, जिसकी माँ उसके जन्मते ही मर गई थी। शकुन्तला ही इस छौने की माँ बन गई थी। उसने प्रेम से इसका नाम रक्खा था-दीर्घापांग (बड़ी-बड़ी आँखों वाला)। वह धीरे-धीरे उस छौने के कटे हुए ओठों पर हिंगोट (इङ्गू दी) का तेल लगाती और सचमुच वह उसे दुलार करने वाली वैसी ही माँ के समान सब काम करती थी जैसे प्रकृति माता ने स्वयं शकुन्तला का उस समय पालन किया था जब उसकी कठोर-हृदयां माता मेनका उसे छोड़कर चली गई थी। चतुर्थ अंक में शकुन्तला के शब्दों पर विचार तो कीजिए-

‘बच्छ! किं सहवासपरिच्चाइणि मं अणुसरसि। अचिरप्पसूदाए जणणीए विणा वड्ढिदो एव्व। दारिणि पि मए विरहिदं तुमं तादो चिंतइस्सदि।’

(बच्चे! मुझ साथ छोड़कर जाने वाली के पीछे-पीछे तू कहाँ चला आ रहा है? तेरी माँ जब तुझे जन्म देकर मर गई थी, उस समय तो तुझे पाल-पोसकर मैंने बड़ा किया था, अब मेरे पीछे तेरी देखभाल पिता जी किया करेंगे।)

अथवा इसके पहले का श्लोक देखिए जहाँ बड़ी भावुकता से कण्व वर्णन करते हैं कि शकुन्तला किस प्रकार अनाथ छीनों का पालन-पोषण किया करती थी

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिंगुदीनां

तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे ।

श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति

सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते ॥

--शाकुन्तल, 4।14

इस सहानुभूति और सेवा के ऐसे अविरल और स्थिर आदान-प्रदान से यह आशा की जाती है कि शकुन्तला और उसके ये सब सङ्गी-साथी परस्पर एक दूसरे की आवश्यकताओं और भावों को भली भाँति समझते होंगे और एक दूसरे के विचारों को पहले से ही समझकर उनकी व्यक्त या अव्यक्त इच्छाओं को पूरा करने के लिये शीघ्रता करते होंगे। इसलिये जब शकुन्तला वनज्योत्स्ना के थाँवले में पानी देती हुई उसकी ओर चावभरी दृष्टि से देखती है, उस समय शकुन्तला के मन की बात प्रियंवदा समझ जाय तो कोई आश्चर्य नहीं-

अणसूए! जाणासि किंणिमित्तं सउन्दला वणजोसिणिं अदिमेत्तं पेक्खदि ।.....जहा वणजोसिणी अणुयवेण पाअवेण संगदा, अवि णाम एव्वं अहं वि अत्तणो अणुरूवं वरं लहेअं ति ।'

(अनसूया! जानती हो शकुन्तला इतनी मगन होकर वनज्योत्स्ना को क्यों देख रही है.....जैसे इस वनज्योत्स्ना को अपने योग्य वृक्ष मिल गया है, वैसे ही मुझे भी मेरे योग्य वर मिल जाय।)

किन्तु यहाँ भी यह प्रश्न उठाना क्या वैसा ही उचित न होगा कि क्या शकुन्तला की लता-वहन वनज्योत्स्ना भी शकुन्तला के लिये वैसा ही नहीं सोच सकती थी और जिस प्रकार अनसूया और प्रियंवदा ने दुष्यन्त के लिये शकुन्तला से वह प्रेममय पत्र लिखवाकर नायक और नायिका का परस्पर मिलन कराने के उपाय ढूँढ़ निकाले थे-

‘तं सुमणो गोविदं करिअ देवदासेसावदेसेण हत्थअं पावइस्सं ।’

(उसे फूलों में छिपाकर देवता का प्रसाद कहकर उन्हें दे आया जाय।) वैसे ही क्या इस प्रकार से मिलन कराने की कोई ऐसी ही विधि बकुल या केसर का वृक्ष या वनज्योत्स्ना लता नहीं सोच रही थी? जिस प्रकार कालिदास ने शकुन्तला के आश्रम-सखाओं का चित्रण किया है, उस दृष्टि से इस प्रकार का प्रश्न करना असङ्गत न होगा, क्योंकि पीछे जब शकुन्तला अपने पति के घर जाने को उद्यत होती है, उस समय केवल अनसूया और प्रियंवदा ही निम्नलिखित मङ्गल साज नहीं जुटाती हैं-

‘गोरोअणं, तित्थमित्तिअं, दुव्वाकिसलआणि ति मंगलसमालम्भणाणि ।’ (गोरोचन, तीर्थमृत्तिका, दूब के पत्ते आदि मंगल सामग्रियों) और वे बकुल (मौलसिरी) के फूलों की वह माला भी नहीं भूलती हैं, जिसे अनसूया ने इस अवसर के लिये अलग रख छोड़ा था-

‘एदस्सिं चूदसाहावलम्बिदे णारिएलसमग्गाए एदं णिमित्तं एव्व कालान्तरक्खमा णिक्खित्ता मए केसरमालिआ । (वह जो आम की डाली पर नारियल लटक रहा है, उसमें मैंने बहुत दिनों तक सुगन्धित रहने वाली बकुल की माला आज के ही लिये ही रख छोड़ी है।)

--वरन् जैसा कालिदास ने भी जान-बूझकर कहा है- आश्रम के वृक्षों ने भी शकुन्तला के विवाह के लिये भेंट दी थी--

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं

निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित् ।

अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्बभागोत्थितै-

दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्वभिः ।।

-शाकुन्तल, 4।5

यह मेरी पहली समस्या है।

इसी प्रकार यदि दुष्यन्त के प्रति शकुन्तला का प्रेम जगाने के पहले अनसूया और प्रियंवदा आपस में बड़ी उत्कण्ठा से इस बात पर विचार कर सकती हैं कि राजा सचमुच शकुन्तला के प्रेम का उचित अधिकारी हो सकेगा या नहीं-

‘अणसूये! दूरगअमम्महा अक्खमा इअं कालहरणस्स । जस्सि बद्धभावा एसा सो ललामभूदो पौरवाणं । जुत्तं से अहिलासो अहिणंदिदुं ।’

(अनसूया! इसकी प्रेम-व्यथा इतनी बढ़ गई है कि कोई उपाय शीघ्र ही करना चाहिए। सचमुच इस बात की तो सराहना करनी ही पड़ेगी कि शकुन्तला ने प्रेम भी किया तो पुरुवंश के भूषण दुष्यन्त से ही।)

और फिर जब राजा स्वयं अनायास रङ्गमञ्च पर आ पहुँचते हैं, उस समय भी यदि वे ही दोनों सखियाँ स्वयं प्रेम-क्रीडा के सफल परिणाम की सिद्धि के लिये सभी उपायों का अवलम्बन करती हुई इस प्रकार कहती हैं--

‘वअस्स । बहुवल्लहा राआणो सुणीअंति । जह णो पिअसही बंधुअणसोआणज्जा ण होदि तह णिव्वाहेहि ।’ (वयस्य! सुनते हैं कि राजाओं के बहुत सी रानियाँ होती हैं। तो हमारी प्यारी सखी के लिये कुछ ऐसा प्रबन्ध कीजिएगा कि हम सगे-साथियों को फिर पछताना न पड़े।)

--तो क्या हमें यह आशा करने का अधिकार नहीं है कि कवि ने वनस्पति और पशु-वर्ग में से शकुन्तला की जिन सखियों का वर्णन किया है उनके द्वारा भी कवि, शकुन्तला के भावी मंगल के लिये उसी प्रकार की उत्कण्ठा प्रदर्शित करावे?

यह मेरी दूसरी समस्या है।

अन्त में उस प्रसिद्ध और मुक्तकण्ठ से प्रशंसित चतुर्थ अंक के बिदा वाले दृश्य में, जहाँ सम्पूर्ण प्रकृति शकुन्तला के जाते समय उसके वियोग से दुखी है--

उगगलिददम्भकवला मिआ परिच्चत्तणच्चणा मोरा ।

ओसरिअपण्डुपत्ता मुअन्ति अस्सू विअ लदाओ ।।

(उद्गलितदर्भकवला मृगाः परित्यक्तनर्तना मयूराः ।

अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः ।।)

-शाकुन्तल, 4।12

और जहाँ दुर्वासा के शाप से भयावने परिणाम का विचार करके विदाई के अन्तिम समय भी वे दोनों सखियाँ शकुन्तला को तात्कालिक व्यथा से थोड़ा बचा देने के तुच्छ बहाने से दुष्यन्त की अँगूठी का स्मरण कराते हुए प्रसंगवश इतना भर ही कहती हैं कि जब आवश्यकता पड़े तब अँगूठी का प्रयोग कर लेना, पर मूर्खता करके शाप की बात छिपा लेती हैं--

‘रखिखदब्बा कबु पकिदिपेलवा पिकासही।’

(उस कोमल स्वभाव वाली प्यारी सखी की रक्षा तो करनी ही होगी।) और अपनी पुत्री की भावी विपत्ति और व्यथा को पहले से जानने की दिव्य दृष्टि वाले पिता कण्व भी कोई ऐसा संकेत या चेतावनी नहीं देते और यह बात केवल उस नीति के उपदेश में ही नहीं है जिसे वे विशेष रूप से शकुन्तला को सुनाते हैं—

‘शुश्रूषस्य गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने।।’ आदि

—शाकुन्तल, 4।118

वरन् क्षीर-वृक्ष के तले बैठकर दुष्यन्त के लिये उन्होंने जो संदेश अत्यन्त सोच-समझकर कहा—

अस्मान् साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मन-
स्त्वय्यस्याः कथमप्यवान्धवकृतां स्नेहप्रवृत्तिं च ताम्।

—शाकुन्तल, 4।17

उसमें भी उन्होंने अपनी पुत्री के लिये किसी विशेष कृपा की याचना न करते हुए केवल यही चाहा है कि उसे अपने भाग्य का निर्णय करने के लिये समान अवसर और समान स्वतंत्रता मिले—

सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया
भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद्वाच्यं वधूबन्धुभिः।।

मैं पुनः दुहराता हूँ कि इस विदाई के दृश्य में भी जहाँ हम शकुन्तला को अपनी सुध-बुध भूलकर, विश्वासभरी आशा से, खड़े कगार की ओर बढ़ते हुए देखते हैं वहाँ हम ऐसी क्यों न कल्पना करें कि नायिका की मनुष्येत्तर सखियों से कुछ तो ऐसी निकलें जो ऋषि के मन की बात समझकर अपनी आँखों, इङ्गितों और गतियों की भाषा में कम से कम थोड़ी देर के लिये तो शकुन्तला को सावधान कर दें, भले ही वह पीछे किसी वाह्य परिस्थिति के वश भूल जाय। इस आशा का परिणाम यह होता है कि दुष्यन्त की राजसभा में जब वह पहुँचती है तब वह उस अंधड़ से एकदम अनभिज्ञ रहती है जो उसके ऊपर अचानक आ घहराता है?

यह मेरी तीसरी समस्या है।

1. तपः प्रभावात् प्रत्यक्षमेतत् तत्र भवतः कण्वस्य।)

2. पंचम अंक में शकुन्तला के शब्द देखिए— परिणए एव्व संदेहो। कुदो दाणिं मे दूराहिरोहिणी आसा। (आर्यपुत्र को जब विवाह में ही सन्देह हो रहा है तब जो मैंने और बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँध रखी थीं उनका तो फिर ठिकाना ही कहाँ है।) और जहाँ (यद्यपि भिन्न-भिन्न अभिप्रायों से) उसकी सखियों ने और पिता ने मानो आपस में यह मंत्रणा कर ली है कि उसके सिर पर लटकती हुई आपत्तियों की गम्भीरता और निकटता से उसे बिल्कुल अवगत न होने देंगे— और विशेषकर पिता तो व्यर्थ ही अपने शोकपूर्ण विचारों को दबाने का प्रयत्न कर रहे हैं) (इसका सबसे बढ़िया प्रमाण यह श्लोक है— अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे

विभवगुरुभिः कृत्यैस्तस्य प्रतिक्षणमाकुला।

तनयमचिरात् प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं

मम विरहजां न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि।।

जो यद्यपि शकुन्तला को ढाढ़स बँधाने और प्रसन्न करने के अभिप्राय से ही कहा गया है फिर भी शोकसूचक करुण गीत के समान हरिणी छन्द में डाल दिया गया है और यह जान-बूझकर किया हुआ कवि-कर्म है, जिसका पता इस बात से चला जाता है कि इस नाटक में केवल तीन ही श्लोक ऐसे हैं जो इस छन्द में रखे गए हैं और सचमुच वे अपने स्थान पर बड़े उपयुक्त जँचते हैं।

कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल के इतने वर्षों के अध्ययन से मेरे मन में यह बात अच्छी तरह बैठ गई है कि यदि अव्यवस्थित रूप से सम्पादित किए हुए संस्करणों के शाकुन्तल को छोड़कर हमारे सामने वह वास्तविक शाकुन्तल अपने उसी मौलिक रूप में होता जैसा उसे कालिदास ने रचा था, तो उपर्युक्त सभी समस्याओं के उत्तर तत्क्षण ठीक-ठीक मिल जाते। किन्तु परिस्थिति ऐसी नहीं है। शाकुन्तल की समस्या उसी प्रकार हल की जानी चाहिए जिस प्रकार तत्सम्बद्ध महाभारत की समस्या हल की जा रही है। दोनों दशाओं में पाठ-सुधार के आधारभूत सिद्धान्त एक ही हैं, महत्वपूर्ण अन्तर केवल यह होगा कि वी०ओ०आर० इंस्टीट्यूट के उस वृहद वीर-काव्य के संस्करण के वर्तमान सुविचारित पाठ की रचना करते हुए, 'उच्चकोटि की पाठालोचना' नाम की वस्तु तो कहीं-कहीं देखने में आती है पर कालिदास की इस महान् कृति में इसे अधिक विस्तारपूर्वक काम में लाना होगा, क्योंकि नाटक में यह समस्या अपेक्षाकृत कम जटिल है। स्थान की कमी के कारण मैं सूचित किए हुए पाठसम्बन्धी सुधारों का यहाँ वर्णन नहीं करूँगा अपितु इतना ही कहकर संतोष करूँगा कि यदि सुधारे हुए पाठ को शुद्ध मान लिया जाय तो हम लोग शकुन्तला की निसर्ग सखियों के विषय में वैसे ही निष्कर्ष निकालने में समर्थ हो सकते हैं जैसा कोई भी कालिदास जैसे उस सच्चे हिन्दू से आशा कर सकता है जो प्रकृति के सभी पदार्थों को जीवन्त और चेतना से अनुप्राणित समझता था।

सर आशुतोष मुखर्जी सिल्वर जुबिली ओरियण्टलिया के द्वितीय खंड के 349 से 359 पृष्ठों में मैंने एक लेख में अपना यह मत प्रदर्शित किया था कि अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रथम अङ्क की बातचीत का क्रम नेपथ्य में नायिका के इस कथन—

‘इदो इदो पिअसहीओ’। (इधर आओ, इधर आओ, प्यारी सखियो!) से प्रारम्भ होकर वनज्योत्स्ना के थाँवलेसे भौरे के निकलने तक का भाग—

‘अम्मो। सलिलसेअसंभमादो णोमालिअं उज्झिअ बअणं से महुअरो अहिवृट्ठि।- (अरे! जल पड़ने से घबराकर उड़ा हुआ यह भौरा नई चमेली को छोड़कर मेरे ही मुँह पर आ मँडराने लगा है।)—आजकल के संस्करणों में उल्टा हो गया है। नवीन बंगाली संस्करण में इस स्थल पर 39 संवाद दिए गए हैं, काश्मीरी नये संस्करण में 27 और कैपलर-द्वारा संपादित दक्षिण-भारतीय संस्करण के साथ वाले नागरी संस्करण में केवल 22। इन संवादों में आई हुई कथा तीन घटनाओं का वर्णन करती है— शकुन्तला के कसे हुए वस्त्रों को ढीला करना (वल्कलशिथिलीकरण), केसर वृक्ष के कल्पनात्मक संकेत पर शकुन्तला का उसके पास जाना (केसरसमीप-गमन)—

‘ऐसा वादेरिदपल्लबांगुलीहिं तुवरेदि विअ मं केसर-रुक्खओ। जाव णं संभावेमि।’ (यह केसर का वृक्ष पवन के झोंको से हिलती हुई पत्तियों की उँगलियों से मानो मुझे झटपट बुला रहा है। चलो इसका भी मन रख लूँ।)

—और शकुन्तला हाथों नवमालिका लता का सींचा जाना (नवमालिकासेचन)। प्राप्त मुद्रित संस्करणों में वल्कल-शिथिलीकरण का प्रसंग केसर-समीप-गमन के पहले है। केवल उस नवीन संस्करण में, जो एकमात्र भोजपत्र पांडुलिपि (बौम्वे गवर्नमेन्ट कलेक्शन नं० 192) सन् 1857 में मिली (और जो अब बी०ओ०आर० इंस्टिट्यूट में जमा कर दी गई है), केसर-समीप-गमन वाली घटना पहले दी गई है। उसी पांडुलिपि से हमें यह भी पता चलता है कि राजा इसी केसरवृक्ष के पीछे छिपे हुए थे। तो इस दशा में आश्चर्य नहीं कि एक अपरिचित व्यक्ति की अदृष्टपूर्व उपस्थिति से केसर का वृक्ष भ्रम में पड़ गया हो और शकुन्तला को (जिसे सभी आगन्तुकों पर ध्यान रखने का भार सौंपा गया था) इंगित से अपनी ओर बुलाने लगा हो। यदि ऐसी बात न होती तो शकुन्तला ने यों ही चलती हुई बयारसे केसर के पत्तों के हिलने-मात्र से यह क्यों समझ लिया कि पेड़ मुझे बुला रहा है? घास की एक पत्ती भी बिना किसी अभिप्राय के नहीं हिल सकती—यही हिन्दू-कवि के विश्वास का आधार था। दूसरे स्थल पर कालिदास ने यह कहलाया भी है कि वृक्ष प्रायः पक्षियों के द्वारा (और हम इतना और जोड़ दें कि भौरों के उड़ने और पत्तियों के हिलने-डोलने के द्वारा) अपने विचार प्रकट किया करते हैं। उदाहरणार्थ—

अनुमतगमना शकुन्तला तरुभिरयं वनवासबंधुभिः।

परभृतविरुतं कलं यथा प्रतिपत्तीकृतमेभिरात्मनः॥

—शाकुन्तल, 4।10

केसर वृक्ष के पास शकुन्तला के जाने का वर्णन इन संस्करणों में 'तथा करोति' के नाटकीय संकेत-द्वारा किया गया है। केवल भोजपत्र वाली पांडुलिपि में ही 'राज्ञः सन्निकर्ष आगच्छति' लिखा है। इसके पश्चात् जब नायिका को इसी वृक्ष के पास वाली लता के समान बताया जाता है—

जाव तुए उवगदाए लदासणाहो विअ अअं केसररुक्खओ पडिभादि।

(जब तू पेड़ से लगकर खड़ी होती है तब यह केसर का वृक्ष ऐसा लगता है मानो उससे कोई लता लिपटी चढ़ी हो।)

—उसकी व्यंजना तभी पूरी उतरती है जब राजा उसी वृक्ष के पीछे हों और यदि वल्कलशिथिलीकरण भी उसी समय हो जब नायिका भी नायक के (जिसकी उपस्थिति की सखी को शंका तक नहीं है) इतने पास हो, उसमें शृंगार का भाव तभी आता है जिसे कम से कम कालिदास-जैसे कवि तो छोड़ ही नहीं सकते थे। अतः, इस नाटकीय संकेत में कुछ ऐसी बात अवश्य है जिससे सिद्ध होता है कि पाण्डुलिपि के कम से कम कुछ सन्दर्भ तो मौलिक पाठ से अवश्य मेल खाते हैं। केवल मूर्ख या पंडितमन्य लोग ही उपर्युक्त नाटकीय संकेत को शेष संस्करणों के नीरस 'तथा करोति' के रूप में परिवर्तित करने की बात सोचेंगे।

इसके पश्चात् सेचन-दृश्य में जो संवाद आते हैं और विशेषतः शकुन्तला के ये शब्द—

'हला! रमणीए वखु काले इमस्स लदापादवमिहुणस्स वइअरो संवुत्तो। णवकुसुमजोव्वणा वणजोसिणी, बद्धपल्लवदाए उवभोजक्खमो सहआरो।'

(सखी! सचमुच इस लता और वृक्ष का मेल बड़ी अच्छी घड़ी हुआ है। इधर यह वनज्योत्स्ना फूलकर नवयौवना हो चली है और उधर पत्तों से लदा हुआ आम का वृक्ष भी उभार पर आया हुआ है।)

—शकुन्तला की भीतरी मनोवृत्तियों की पूर्ण रूप से सूचना देते हैं। प्रियंवदा का अनुमान ठीक लक्ष्य पर पड़ता है और नायिका को भ्रम में डाल देता है। किन्तु क्या दूसरी निसर्ग-सखियाँ और विशेषकर जिस वनज्योत्स्ना के विषय में वार्तालाप हो रहा था, वह इसी प्रकार नहीं ताड़ सकती थी? अवश्य ताड़ सकती थी? और लता ने बड़े सुन्दर ढंग से यह बात बताई भी। वह शकुन्तला से पहले विवाहित हो चुकी थी इसलिये जब उसने छिपे हुए राजा को देख लिया और उसे शकुन्तला के योग्य समझ लिया तब उसने अपनी छोटी बहन शकुन्तला को उसके भावी पति से मिलाने का काम उसी प्रकार पूरा किया जैसे बड़ी बहन छोटी बहन के लिये किया करती है। अतः, हम लोगों को यही मानना चाहिए कि भीरे को उकसाने का काम उस लता ने ही किया। उस दिन प्रातःकाल शकुन्तला ने न जाने कितने वृक्षों और लताओं को सींचा था तो केवल वनज्योत्स्ना के ही धौंवले से भ्रमर क्यों निकला। कुछ लोग उत्तर देंगे— ‘केवल संयोग’ किन्तु जिस जगत् में एक अन्तर्व्यापिनी शक्ति का वास माना जाता है वहाँ संयोग के लिये स्थान ही कहाँ है। मैं अपनी प्रथम समस्या को इसी प्रकार हल करना चाहता हूँ।

दूसरी समस्या का संतोषजनक समाधान करने की क्षमता रखना मानो कालिदास की शकुन्तला के स्वरूप को समझने की अपनी शक्ति को खरी कसौटी पर कसना है। पञ्चम अङ्क के परित्याग दृश्य में जब शकुन्तला आश्चर्यचकित होकर देखती है कि मुद्रिका अनजान में खो गई है तो राजा की सुप्त स्मृति को जगाने के लिये वह अन्तिम तीव्र प्रयत्न के रूप में, दीर्घापाङ्ग वाली घटना का वर्णन करके अपनी बुद्धिमानी का परिचय देती है—

णं एकदिअहे णोमालिआमण्डवे णलिणीपत्तभाअणगदं उदअं तुह हत्थे सँणिहिदं आसि। तक्खणं सो मे पुत्तकिदओ दीहापंगो णाम हरिणपोदओ उवड्ढिदो। तुए—अअं दाव पढमं पिअउ ति अणुअम्पिणा उवच्छेदिदो उअएण। ण उण दे अपरिचआदो हत्थव्भासं उवगदो। पच्छा तस्सि एव मए गहिदे सलिले णेण किदो पणओ। तदा तुमं इत्थं पहसिदोसि। सव्वो सगंघेसु विस्ससिदि। दुवे वि इत्थ आरण्णआ ति।’

(एक दिन आप नवमल्लिका के कुंज में अपने हाथ में पानी से भरा कमल के पत्ते का दोना लिए हुए थे। इतने में ही वहाँ मेरा पुत्र के समान पाला हुआ दीर्घापाङ्ग नाम का मृगछौना भी आ पहुँचा। आपने उस पर दया करके कहा— पहले इसे जल पी लेने दो। यह कहकर आप उसे जल पिलाने लगे। पर परिचित न होने के कारण वह आपके पास गया ही नहीं। तब मैंने आपके हाथ से दोना ले लिया और वह मेरे हाथ से जल पीने लगा। उस समय आपने हँकसर कहा था कि अपने सगे-सम्बन्धियों को सभी पहचानते हैं। तुम दोनों ही वनवासी हो न?)

क्या यहाँ यह प्रश्न उठाना उपयुक्त न होगा कि शकुन्तला ने दुष्यन्त को स्मरण दिलाने के लिये यही विशेष घटना क्यों चुनी? इसमें कोई सन्देह नहीं कि यहाँ नवमालिका-कुञ्ज का चुनाव बड़े महत्त्व का हुआ है। किन्तु मैं यह पूछता हूँ कि दुष्यन्त को कमल-पत्र के दोनों में पानी लाने की— अनुमानतः पास के ही किसी जलाशय से—आवश्यकता क्यों पड़ी? और ठीक इसी ही अवसर पर दीर्घापाङ्ग भी कुञ्ज में क्यों आ पहुँचा? इन प्रश्नों को किसी सन की आलोचना के मस्तिष्क की उपज का निरर्थक प्रश्न कहकर टाल दिया जा सकता है और यदि कालिदास अपने शब्दों को तोल-तोलकर रखने वाले और अपनी प्रत्येक बात किसी विशेष अर्थ में कहने वाले न होते तो ये प्रश्न संभवतः निरर्थक हो भी सकते थे। कई वर्ष पहले मैंने विद्वानों से इसी विषय पर अपने मत प्रकट करने के लिये प्रार्थना की थी। कुछ

इने गिने लोगों ने उत्तर भी दिए किन्तु उनसे मुझे पूरा सन्तोष नहीं हुआ। इस दीर्घपाङ्ग वाली घटना को मैं जिस प्रकार समझ सका हूँ वह यों है-

कुञ्ज वाली घटना राजा को इस अभिप्राय से सुनाई गई है कि उन्हें अँगूठी देने की बात स्मरण हो जाय इसलिये यह घटना या तो अँगूठी देने के ठीक पहले हुई होगी या उसके ठीक पीछे। आगे चलकर जब खोई हुई अँगूठी मिल जाती है और शाप का अन्त हो जाने से राजा को सब बातें स्मरण हो जाती हैं तब वे अँगूठी वाली घटना का इस प्रकार वर्णन करते हैं-

‘तदा स्वनगराय प्रस्थितं मां प्रिया सवाष्पमाह, कियच्चिरेणार्यपुत्रः प्रतिपत्तिं दास्यतीति। पश्चादिमां नाममुद्रां तदङ्गुलौ निवेशयता मया प्रत्यभिहिता-

एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं नामाक्षरं गणय गच्छसि यावदन्तम्।

तावत्प्रिये मदवरोधगृहप्रवेशं नेताजनस्तव समीपमुपैष्यतीति॥

--शाकुन्तल, 6।12

राजा के इस उपर्युक्त आश्वासन से शकुन्तला प्रत्यक्षतः सन्तुष्ट हो गई। उसने रोना-धोना बन्द कर लिया और वह अपने प्यारे के वचनों में अटूट विश्वास करने को उद्यत हो गई। परम्परागत हिन्दू प्रथा के अनुसार इसके पश्चात् शकुन्तला को अश्रुमलिन मुख धोना ही चाहिए था। इसलिये कमलपत्र के दोने में लाया हुआ जल नहीं था जिसे भासने' ऐसी ही परिस्थिति में ‘मुखोदकम्’ कहा है। और इस समय दीर्घपाङ्ग भी उस कुञ्ज में प्यासा होने के कारण नहीं आया था- क्योंकि वह अपनी प्यास तो पास वाले जलाशय से ही बुझा सकता था- वरन् वह इसलिये आया था कि मैं चलकर अपनी पालन करने वाली माता को सावधान कर दूँ कि इस अपरिचित व्यक्ति का इतनी शीघ्रता से विश्वास न कर बैठे, क्योंकि दीर्घपाङ्ग की दृष्टि में तो वह राजा, भोले-भाले हिरनों को अपने शस्त्रों से मारने वाला अहेरी ही था। दीर्घपाङ्ग ने राजा के हाथ का जल अस्वीकार करके उनमें अपना अविश्वास स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया था। चौथे अंक में जब यही दीर्घपाङ्ग उस समय रंगमंच पर लाकर उपस्थित कर दिया जाता है जब शकुन्तला, अपने प्यारे सहकार वृक्ष से लिपटी हुई लता बहन वनज्योत्स्ना से बिदा लेती है-

‘बणजोसिणि! चूदसंगदावि पच्चालिङ्गं मं इदोगदाहिं साहाबाहाहिं।’

(प्यारी वनज्योत्स्ना! तू आम के वृक्ष से लिपटी होने पर भी अपनी इधर फैली हुई शाखा की बाँहों से मुझसे भेंट तो कर ले।)

और अपने मन ही मन राजा दुष्यंत के साथ अपने वैवाहिक जीवन का गुलाबी चित्र खींचती है। इसके पश्चात् उसका ध्यान उस हरिणी पर जाता है जो स्वयं शकुन्तला के समान थोड़े दिनों में ही माता बनने वाली थी-

‘ताद! एसा उडजपज्जन्तचारिणी गब्भमंधरा मिअबहू जदा अणघप्पसवा होइ तदा मे कपि पिअणिवेदइत्तअं विसिज्जइस्सह।’ (तात! आश्रम में चारों ओर गर्भ के भार से अलसाती हुई चलने वाली इस हरिणी को जब सुख से बच्चा हो जाय तब किसी के हाथ यह प्यारा समाचार मेरे पास भिजवा दीजिएगा।)

—उतनी देर के लिये वह पत्नी और रानी वाले अपने प्रारंभिक चित्र को भूलकर अपने को माता के रूप में देखने लगती है और हम कल्पना कर सकते हैं कि उस समय शकुन्तला अपने मन ही मन यह सोच रही है कि मेरी माँ मेनका ने मेरे साथ कैसा व्यवहार किया था और मैं अपने भावी पुत्र के साथ कैसा व्यवहार करूँगी—ठीक इसी मनःस्थिति के अवसर पर उसका पालित पुत्र दीर्घापांग उसके वस्त्र खींचकर मानो यह पूछता है कि मुझे छोड़कर क्या तुम अपनी माँ मेनका की अपेक्षा कुछ अच्छा व्यवहार कर रही हो? मैं तो यह सोचता हूँ कि दीर्घापांग को यहाँ इसलिये उपस्थित कराया गया है कि वह अपनी धर्म-माता को फिर से विदाई के समय उस दुष्यन्त के सम्बन्ध में दूसरी चेतावनी दे दे जिसके विश्वासघात का पता भोली-भाली अनसूया को भी चल गया था—

‘एवम् णाम विसअपरंमुहस्स वि अणस्स ण एदं ण विदिअं जधा तेण रण्णा सउन्दलाए अणज्जं आअरिदं ।’ (यद्यपि मैं प्रेम की बातें कुछ भी जानती नहीं फिर भी इतना तो अवश्य कह सकती हूँ कि उस राजा ने शकुन्तला के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया ।)

यदि शकुन्तला का मन कल्पना के मधुर स्वप्नों में मग्न न होता तो संभवतः वह अपने निसर्ग साथियों द्वारा दी हुई इन चेतावनियों को अवश्य समझ जाती। यही मेरी दूसरी समस्या का समाधान है। यदि हम जिज्ञासु भाव से कालिदास के इस प्रमुख ग्रन्थ को पढ़ने का अभ्यास डालें तो हमें सौभाग्यवश, इधर-उधर की छोटी-मोटी बातों को छोड़कर विभिन्न पाठों की समस्या इस परिणाम तक पहुँचने में बाधा नहीं डालती।

सन् 1922 ई० में एशिया मेजर के द्वितीय खण्ड के 84 से 87 पृष्ठों में मैंने अपनी तीसरी समस्या पर एक लेख में पूर्ण विस्तार से विचार किया है। इसका सम्बन्ध चतुर्थ अंक की चक्रवाक वाली घटना से है। इस घटना से संबंध रखने वाले तीन प्राकृत संवाद हैं जिनमें पहले को छोड़कर दूसरा और तीसरा संवाद देवनागरी संस्करण में मिलता है, बंगाली संस्करण में पीछे के दो संवादों को छोड़कर केवल पहला संवाद मिलता है, कश्मीरी पांडुलिपि में तीनों संवाद मिलते हैं और वही सच्ची समीक्षा की कसौटी पर ठीक उतरता भी है। ठीक क्रम में वे संवाद इस प्रकार हैं—

1. अनसूया—सहि । ण सो अस्समपदे अत्थि चित्तवंतो जो तए विरहिज्जंतो अज्ज ण ऊसुओ कदो । पेक्ख ।

पुडइणि वत्तन्तरिअं वाहरिओ णाणुवाहरेदि पिअं ।

मुहउव्वूढमुणालो तइ दिट्ठि देइ चक्कवाओ ।।

(सखि! न सा आश्रमपदेऽस्ति चित्तवान् यस्त्वया विरह्यमानोऽद्य नोत्सुकः कृतः । प्रेक्षस्व ।)

पथिनीपत्रान्तरितां व्याहृतो नानुव्याहरति प्रियाम् ।

मुखोद्बूढमृणालस्त्वयि दृष्टिं ददाति चक्रवाकः ।।

(सखी! यहाँ आश्रम में कौन ऐसा प्राणी है जो तुम्हारे बिछोह से दुखी नहीं है। देखा— कमलिनी के पत्ते की ओट में बैठा हुआ चकवा अपनी प्यारी के बुलाने पर भी उसका उत्तर नहीं दे रहा है और चोंच में कमल की डंठल पकड़े हुए तुम्हारी ही ओर टकटकी लगाए देख रहा है ।)

2. शकुन्तला— हला! पेक्ख!

णलिणीवत्तन्तरिअं एसा विअ सहअरं अपेक्खंति ।

आरडइ चक्कवाई दुक्करमहअं करेमि त्ति ।।

(सखी! देख तो। कमलिनी के पत्तों की ओट में छिपे हुए अपने चकवे को न देख सकने से यह चकवी घबराकर चिल्ला रही है। इसलिये मैं जिस काम से जा रही हूँ वह पूरा होता नहीं दिखाई देता।)

3. प्रियंवदा— सहि! मा एव्मं मंतेहि।

एसवि पिण्ण विणा गमेइ रअणिं विसाददीहअरं।

गरुअं पि विरहदुक्खं आसाबन्धो सहावेदि।।

(सखि! ऐसा नहीं सोचना चाहिए। जानती हो? यह चकवी विरह की लम्बी रातें अपने प्यारे के बिना अकेली ही काट देती है क्योंकि मिलने की आशा बड़े से बड़े विरह के दुःख में भी ढाढ़स बँधाती रहती है।)

यहाँ पर यह पूरी घटना शकुन्तला को यह समझाने के लिये लाई गई है कि आगे तुम्हारे भाग्य में क्या बदा है। चकवी पुकारती है किन्तु चक्रवाक उत्तर नहीं देता, क्योंकि उत्तर न देने के कारणों पर उसका कोई वश नहीं है, उसका हृदय शकुन्तला के वियोग से भरा हुआ है। इसी प्रकार शीघ्र ही शकुन्तला भी पुकारेगी और दुष्यन्त भी उसका उत्तर नहीं देगा। अनसूया अपनी सखी को सांत्वना देती है और वह विश्वास के साथ सांत्वना दे भी सकती थी क्योंकि उसके हाथ में शाप का अन्त कराने वाली अँगूठी तो थी ही। इसीलिये ठीक इस घटना से अगले संवाद में ये सखियाँ शकुन्तला को अँगूठी का स्मरण करा देती हैं। दूसरी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि कण्व ने अपने जिस शोक को प्रकट नहीं होने दिया उसी को चक्रवाक ने एक प्रकार के दैवी परिज्ञान से समझकर शकुन्तला को भावी विपत्ति और दुःख की चेतावनी दे दी।

उपर्युक्त मीमांसा से यह भली भाँति स्पष्ट हो गया कि कालिदास ने शकुन्तला को उस सच्ची निसर्ग-कन्या के रूप में चित्रित किया है जिसे प्रकृति के उन तत्त्वों के साथ अत्यन्त घनिष्ठ व्यवहार और सम्बन्ध रखने का अधिकार मिला था जिनके बीच में वह पली थी। जबतक हम कवि के “प्रकृति-तत्त्व” को नहीं समझ लेते तबतक कालिदास की शकुन्तला के भीतरी महत्त्व को हम ठीक-ठीक समझ नहीं सकते। पिशेल, पाटनकर तथा कैपेलर के प्रति आदर प्रदर्शित करते हुए भी मैं कह सकता हूँ कि नाटक के इस तत्त्व की ओर लोगों का पर्याप्त ध्यान न जाने का यही कारण है कि अभी तक इस नाटक का वास्तविक पाठालोचन-पूर्ण संस्करण तैयार नहीं हो सका है।



योगवासिष्ठ में मेघदूत

(प्रो० डॉ० भीखनलाल आत्रेय, एम०ए०, डी०लिट०, अध्यक्ष, दर्शन तथा मनोविज्ञान विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)

योगवासिष्ठ महारामायण में निर्वाण-प्रकरण के उत्तरार्द्ध के 119वें सर्ग में मेघदूत का निम्नोद्धृतवर्णन आता है—

कथयत्येष पथिकः पश्य मन्दरगुल्मके । प्रियायाश्चिरलब्धाया वृत्तं विरहसंकथाम् ॥ 1 ॥

एकत्र पूर्ण किं वृत्तमाश्चर्यमिदमुत्तमम् । दातुं त्वन्निकटे दूतमहं चिन्तान्वितोऽवदम् ॥ 2 ॥

अस्मिन्महाप्रभलयकालसमे वियोगेयो मां तथैह मम याति गृहं स कः स्यात् ।

नैवास्त्यसौ जगति यः परदुःखशान्त्यै प्रीत्या निरन्तरतरं सरलं यतेत ॥ 3 ॥

य एष शिखरे मेघः स्मराश्च इव संयुतः ।

विद्युल्लता विलासिन्या वलितो रसिकेः स्थितः ॥ 4 ॥

भ्रातर्मेघ महेन्द्रचापमुचितं ब्यालम्ब्य कण्ठे गुणं नीचैर्गर्जं मुहूर्तकं कुरु दयां सा बाष्पपूर्णक्षणा ।

बाला बालमृणालकोमलतनुस्तन्वी न सोढुं क्षमा तां गत्वा सुगते गलज्जललवैराशवासयात्मानिलैः ॥ 5 ॥

चित्ततुलिकया व्योम्नि लिखित्वाऽऽलिङ्गिता सती ।

न जाने क्वाधुनैवेतः पयोद दयिता गता ॥ 6 ॥

(देखिए! यह पथिक मन्दर पर्वत के गुल्म में चिरकाल से वियुक्त पत्नी को पाकर उससे अपने पूर्वकाल के विरह की कथा इस प्रकार कहता है— इस मेरे एक दिन के उत्तम तथा आश्चर्यजनक वृत्तान्त को सुनो। एक दिन तुम्हारे निकट अपना वृत्तान्त भेजने के लिये दूत की चिन्ता करते हुए मैंने यह कहा कि इस महाप्रलय काल के समान वियोग के दुःख में ऐसा कौन दूत है जो मेरे इस वृत्तान्त को मेरे घर जाकर मेरी प्रिया से कहे, क्योंकि इस संसार में ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो प्रीति से दूसरे के दुःख की शांति के लिये सरल भाव से प्रयत्न करे। इतने में मुझे स्मरण हो आया कि इस पर्वत के शिखर पर दूसरे के दुःख को शांति देने वाला रसिक मेघ अपनी विलासिनी विद्युत्-रूपी प्रिया से संयुक्त स्थित है। इसलिये उससे मैंने कहा कि ‘इन्द्रधनुष-रूपी सुन्दर माला अपने गले में पहने हुए भाई मेघ! मेरी जिस पत्नी की आँखों में जल भरा हुआ है, उसके पास जाकर धीरे गरजना क्योंकि वह कमल की नाल के समान कोमल शरीर वाली कृश बाला है और तुम्हारा कठोर या ऊँचा गर्जन सुनने में असमर्थ है। उसे अपने जलकणों से युक्त मन्द-मन्द पवन के झोंकों से जा जगाना। मैंने हृदयाकाश में चित्तरूपी लेखनी से अपनी प्रिया का चित्र बनाकर जो आलिङ्गन किया तो न जाने मेघ! वह तत्क्षण कहाँ चली गई।)

श्रीयोगवासिष्ठ महारामायण के इस छोटे से “मेघदूत” के वर्णन को यदि हम महाकवि कालिदास के प्रसिद्ध काव्य ‘मेघदूत’ से तुलना करके अध्ययन करें तो जान पड़ेगा कि दोनों के वर्णन में बहुत ही समानता और एकता है। पाठकों के सामने यहाँ पर हम कवि कालिदास के मेघदूत की उन पंक्तियों और वाक्यों को उद्धृत करते हैं जिनमें यह समानता विशेष रूप से पाई जाती है।

योगवासिष्ठ—

“प्रियायाश्चिरलब्धाया वृत्तां विरहसंकथाम्” 630 ॥119

मेघदूतम्--

“कान्ता-विरहगुरुणा” 1 11

योगवासिष्ठ--

“दातुं त्वन्निकटे दूतमहं चिन्तान्वितोऽवदम्” 630 1119 112

मेघदूतम्--

“जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन्प्रवृत्तिम् 1 14

योगवासिष्ठ--

“अस्मिन्महाप्रलयकालसमे वियोगे यो मां तथेह मम याति गृहं स कः स्यात्।

नैवास्त्यसौ जगति यः परदुःखशासन्त्यै प्रीत्या निरन्तरतरं सरलं यतेत।।” 630 1119 123

मेघदूतम्--

“संतप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद प्रियायाः संदेशं मे हर”। 1 17

योगवासिष्ठ--

“य एष शिखरे मेघः स्मराश्व इव संयुतः”। 630 1119 14

मेघदूतम्--

“मेघमाश्लिष्टसानुं

वप्रक्रीडा-परिणत-गज-प्रेक्षणीयं ददर्श।।” 1 12

योगवासिष्ठ--

“विद्युल्लता बिलासिन्या वलितो रसिकः स्थितः”

मेघदूतम्--

विद्युद्गर्भः 2 140

“मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः” 2 158

योगवासिष्ठ--

“भ्रातर्मैघ महेन्द्रचापमुचितं व्यालम्ब्य कण्ठे गुणं

नीचैर्गजं मुहूर्तकं कुरु दयां सा बाष्पपूर्णेक्षणा।

बाला बालमृणालकोमलतनुस्तन्वी न सोढुं क्षमा

तां गत्वा सुगते गलज्जललवैराश्वासयात्मानिलैः।।” 630 1119 115

मेघदूतम्--

“तामुत्थाप्य स्वजलकणिकाशीतलेनानिलेन

प्रत्याश्वस्तां सममभिनवैर्जालकैर्मालतीनाम्।

विद्युद्गर्भः स्तिमितनयनां त्वत्सनाथे गवाक्षे

वक्तुं धीरः स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः”।। 2 140

योगवासिष्ठ--

“चित्ततूलिकया व्योम्नि लिखित्वाऽऽलिङ्गिता सती।

न जाने कोऽधुनैवेतः पयोद दयिता गता”। 630 1119 15

मेघदूतम्--

“त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-

मात्मानं ते चरण-पतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।

अग्रेस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे

क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः” ॥२।४७॥

योगवासिष्ठ महारामायण के निर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध के ११६वें सर्ग के ३२वें श्लोक की इन—

“अस्याः प्रागभवत्पतिः स मुनिना शापेन वृक्षी कृतो ।

वर्षद्वादशकं तदेव गणयन्त्येषश्च साऽत्र स्थिता ॥”

दो पंक्तियों की तुलना भी मेघदूत की इन पंक्तियों से कीजिएः—

कश्चित्कान्ता विरहगुरुणा स्वाधिकारात्पुमन्तः ।

शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः ॥ ११॥

मेघदूत में ही नहीं, महाकवि कालिदास के अन्य काव्य कुमारसंभवम् में भी कुछ पंक्तियाँ ऐसी हैं जो कि योगवासिष्ठ महारामायण में पाई जाती हैं।

उदाहरणार्थ देखिए—

योगवासिष्ठ—

अथ तामतिमात्रविह्वलां स कृपाऽऽकाशभवा सरस्वती ।

शफरीं ह्रदशोष-विह्वलां प्रथमा वृष्टिरिवान्वकम्पत ॥

कुमारसंभव—

• इति देहविमुक्तये स्थितां रतिमाकाशभवा सरस्वती ।

शफरीं ह्रदशोषविह्वला प्रथमा वृष्टिरिवान्वकम्पत ॥४।३९॥

इन दोनों श्लोक में ये शब्द— “आकाशभवा सरस्वती । शफरीं ह्रदशोष-विह्वलां प्रथमा वृष्टिरिवान्वकम्पत ॥” पूर्णतः एक ही है। अतएव यह कहना ठीक नहीं है कि ऊपर दिखाई हुई समताएँ आकस्मिक हैं। अवश्य ही योगवासिष्ठकार और कालिदास दोनों में से किसी एक ने दूसरे के वाक्यों और विचारों का प्रयोग किया है। विद्वानों ने अभी तक न तो महाकवि कालिदास ही और न योगवासिष्ठ रामायण का ही समय पूरे ढंग से निश्चित कर पाया है। अतएव यह कहना कठिन है कि दोनों में से किस को मौलिक कहा जाय। ऐतिहासिक प्रमाण को यदि माना जाय तो योगवासिष्ठ महारामायण आदिकवि श्रीवाल्मीकिजी की कृति है और मेघदूत और कुमारसंभव के लेखक महाकवि कालिदास आदि विक्रम सम्राट् के (५७ ई०पू०) नवरत्नों में से एक थे जो अब से केवल दो सहस्र पूर्व भारत पर शासन करते थे। कवि वाल्मीकि अवश्य ही कवि कालिदास के पूर्ववर्ती माने जाने चाहिए। कि आजकल के विद्वानों के मत में समूचा योगवासिष्ठ—जैसा कि वह आजकल मिलता है—इतना पुराना ग्रन्थ नहीं है जितना वह बताया जाता है। उसमें बहुत-सा भाग बहुत पीछे का है और अवश्य ही कालिदास के समय के पीछे का है। निर्वाण प्रकरण का उत्तरार्द्ध पीछे का जान ही पड़ता है जिसमें “मेघदूत” की कल्पना की गई है। अतएव यह संभव है कि योगवासिष्ठकार के ऊपर कालिदास के विचारों और प्रयोगों की कुछ छाप पड़ गई हो। कुछ भी हो, विद्वानों के लिये यह बात विचारणीय है। आशा है कि पुरातत्त्व के कोई विद्वान् इस समस्या की ओर ध्यान देकर इसको सुलझाने का यत्न करेंगे।

मेघदूत की रसवत्ता

(आचार्य पंडित सीताराम चतुर्वेदी)

किसी प्राचीन जीवन-रसिक, सहृदय पुरुष ने अपने जीवन की उत्कट अभिलाषाओं का वर्णन करते हुए बड़ी तन्मयता के साथ कहा है—

कालिदास-कविता नवं वयः माहिषं दधि सशर्करं पयः।

एणमांसमबला सुकोमला संभवन्तु मम जन्म-जन्मनि।।

(मुझे इस भावचक्र में चाहे जितनी बार जन्म लेना पड़े तब भी मुझे स्वीकार है यदि प्रत्येक जन्म में मुझे कालिदास की कविता, नई चढ़ती हुई जवानी, भैंस का सजाव दही, शक्कर पड़ा हुआ दूध, हरिण का मांस और कोमल नवेली प्राप्त होती रहें।) फारसी के प्रसिद्ध कवि उमर खय्याम ने कुछ इसी प्रकार की इच्छा प्रकट की है कि मेरे पास साकी हो, वृक्ष की छाया हो, मदिरा से भरी हुई सुराही और प्याला हो और हाथ में पुस्तक हो। उमर खय्याम ने उस पुस्तक का नाम तो स्पष्ट नहीं बताया है किन्तु मुझे विश्वास है कि यदि उमर खय्याम ने कालिदास की कविता का अनुवाद पढ़ा या सुना होगा तो निश्चय ही उसने मेघदूत की पोथी ही चाही होगी। जिस भारतीय रसिक ने अपने सम्पूर्ण जीवन की अभिलाषा में सर्वप्रथम स्थान कालिदास की कविता को दिया है उसने निश्चय ही रघुवंश और कुमार-संभव नहीं, अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय और मालविकाग्निमित्र भी नहीं, ऋतुसंहार भी नहीं, केवल मेघदूत ही माँगा होगा क्योंकि कविता तो मेघदूत ही है और तो महाकाव्य हैं या नाटक हैं या स्फुट मुक्तक हैं। इसीलिये संस्कृत के विद्वान् कहा करते हैं— ‘मेघे माघे गतं वयः। (मेघदूत और माघ के शिशुपालवध को जीवन भर पढ़ते रह गए पर तृप्ति न हो पाई।) किन्तु उन्हें कहना चाहिए— ‘मेघे मेघे गतं वयः’ (मेघदूत ही मेघदूत पढ़ते रहने में जीवन बिता दिया, माघ में वह रस कहाँ धरा है?)

विश्वनाथ कविराज ने अपने साहित्य-दर्पण में ‘वाक्यं रसात्मकं काव्यम्’ कहकर काव्य की जो परिभाषा बताई है और पंडितराज जगन्नाथ ने अपने रस-गंगाधर में जिस काव्य को ‘रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः’ कहकर स्मरण किया है वह निश्चय ही कोई अलौकिक चमत्कार और रस से पूर्ण कृति ही हो सकती है जिसके सम्बन्ध में कहा गया है—

तंत्रीनाद, कवित्त-रस, सरस राग, रतिरंग।

अनबूड़े बूड़े; तरे, जे बूड़े सब अंग।।

(तन्त्रीनाद, कविता का रस, मनोहर राग और कामक्रीडा में जो नहीं डूबे वे ही डूब गए, उनका जन्म निरर्थक हुआ और जो भरपूर डूब गए, रम गए उन्हीं का जीवन सार्थक है।)

यद्यपि हास्य, अद्भुत, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, बीभत्स और शान्त भी रस कहलाते और माने जाते हैं तथापि शृंगार तो रसराज है, एकमात्र रस है ‘शृङ्गारैकरसः’। इस शृंगार से ओतप्रोत यदि कालिदास का कोई काव्य है तो वह एकमात्र मेघदूत है। काव्यशास्त्र-मर्मज्ञ भली भाँति जानते हैं कि शृंगार के दो पक्ष होते हैं— संयोग और वियोग। केवल संयोग शृंगार को हमारे यहाँ अधूरा और कच्चा माना गया है—

न विना विप्रयोगेन संयोगः पुष्टिमश्नुते ।

कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्धते ।।

(विप्रलम्भ के बिना संयोग शृङ्गार पुष्ट नहीं होता क्योंकि वस्त्र आदि को जितने कसैले पदार्थ में डुबो लिया जाता है उतना ही अच्छा उस पर रंग चढ़ता है) इसी का समर्थन करते हुए एक उर्दू के कवि ने कहा है—

जो मज़ा इन्तज़ार में देखा,

वह नहीं वस्त्रेयार में देखा ।

(प्रिय की प्रतीक्षा में जो आनन्द मिला वह उससे मिलकर नहीं मिल पाया ।) संस्कृत के एक कवि ने किसी विरही से कहलाया है—

संगम-विरह-विकल्पे वरमिह विरहो न संगमस्तस्याः ।

अविरहकाले सैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे ।।

(संगम और विरह में यदि मुझे कोई एक चुनना हो तो संगम की अपेक्षा मैं विरह को ही अच्छा समझता हूँ क्योंकि संगम के समय तो केवल एक वही होती है किन्तु विरह में तो यह संपूर्ण त्रिभुवन ही प्रियामय प्रतीत होने लगता है ।) उसकी अवस्था यह हो जाती है— ‘जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है ।’ प्रिया की इस महत्ता का वर्णन करते हुए उर्दू के एक कवि ने पराकाष्ठा दिखला दी है—

माशुक के जलवे को महशर में कोई देखे ।

अल्लाह भी मजनूँ को लैला नज़र आता है ।।

(प्रिया का प्रभाव देखना हो तो प्रलय के अन्त में न्याय के दिन देखे क्योंकि तब भी प्रेमी की निष्ठा इतनी प्रबल होती है कि मजनूँ को ईश्वर भी लैला ही प्रतीत होता है ।) ऐसा ही अधीर, अनन्य और अज्ञात प्रेमी वह यक्ष था जिसका नाम भी कालिदास ने नहीं लिया है, केवल कश्चित् (कोई) कहकर उसका संकेत भर दे दिया है क्योंकि हमारे यहाँ नीति-शास्त्र में कहा गया है—

गुरुद्वेषी कृतघ्नश्च कृपणो शप्तहिंसकौ ।

निन्दकोऽपत्य-विक्रेता न ह्येतान् नामतः स्मरेत् ।।

(गुरु से द्वेष करने वाले, कृतघ्न, शापग्रस्त, हिंसक, कृपण, दूसरों की निन्दा करने वाले और सन्तान-विक्रेता, इनका कभी नाम नहीं लेना चाहिए ।) मेघदूत का यक्ष भी ‘शापेनास्तंगमितमहिमा’ (शाप के कारण समाप्त हो गई हुई महिमा वाला) था, जो ‘धनपतिक्रोधविश्लेषित’ (कुबेर के क्रोध के कारण एक वर्ष के लिये अपनी प्रिया से वियुक्त) होकर रामगिरि (चित्रकूट) पर पड़ा हुआ था, जिसका वर्णन कालिदास ने अत्यन्त करुणा के साथ किया है—

कश्चित्कान्ता विरहगुरुणा स्वाधिकारात्ममतः

शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः ।

यक्षश्चक्रे जनकतनया-स्नानपुण्योदकेषु

स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ।।

(अपनी कान्ता में अतिशय अनुरक्त कोई यक्ष अपना कर्तव्य ठीक पालन नहीं कर पाता था। (कार्तिक शुक्ल की देवोत्थान्या एकादशी के दिन) इसने अपने स्वामी कुबेर के कार्य में ऐसी ढिलाई कर दी कि उसे कुबेर ने शाप दे डाला कि जिस कान्ता के मोह में पड़कर तू अपने कर्तव्य में प्रमोद करता है उससे तू एक वर्ष तक दूर पड़ा रह। यह घटना देवोत्थान्या एकादशी का ही हुई थी। इसका प्रमाण स्वयं मेघदूत के अन्त में दिया गया है--

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ ।

मासानन्यान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा ॥

(उ० मेघ० ५।३)

(देखो! अगली देवउठनी एकादशी को जब विष्णु भगवान् शेषशय्या से उठेंगे उसी दिन मेरा शाप भी समाप्त हो जायगा। इसलिये इन चार महीनों को भी किसी प्रकार आँखें मूँदकर बिता डालो।)

और वह शाप भोगने के लिये अलका से चलकर कैलास, मानसरोवर, क्रौंचरन्ध्र, कनखल, ब्रह्मवर्त, कुरुप्रदेश, दशपुर, उज्जयिनी, दशार्ण, अवन्ती, वेत्रवती, चर्मण्वती, आम्रकूट, रेवा, नीच पर्वत और मालदेश होता हुआ कामदगिरि चित्रकूट (रामगिरि) पहुँचा और वहीं रह गया--

तस्मिन्नद्री कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी ।

नीत्वा मासान् कनकवलयध्वंशरिक्तप्रकोष्ठः ॥

(उस पर्वत पर अपनी पत्नी से विलुड़े हुए उस कामी ने कुछ महीने काट दिए जिसके हाथ का सोने का कंगन विरह में ढीले होने के कारण निकल गया था।)

यहाँ पुनः 'कामी' कहकर पत्नी में उसकी आसक्ति और भी दृढ़ करके स्पष्ट कर दी गई है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कामी को ही परम निष्ठा का आदर्श माना है और राम में अपनी निष्ठा का स्वरूप स्पष्ट करने के लिये उन्होंने यही कहा है--

1. ब्रह्मवैवर्तपुराण के अन्तर्गत आषाढ़ कृष्ण योगिनी एकादशी की भूमिका के रूप में भगवान् कृष्ण ने धर्मराज से कहा है कि अलका के स्वामी कुबेर बड़े ही शिव-भक्त थे। उनका एक हेममाली नामका बटुक (छोकरा) सेवक था जिसकी पत्नी विशालाक्षी बहुत सुन्दर थी। वह बटुक दिनरात उसी के फेर में पड़ा रहता था। एक बार जब उसे कुबेर ने मानसरोवर से कमल लाने को कहा तो वह वहीं न जाकर अपनी पत्नी के पास ही जाकर बैठा रहा और कुबेर के पास कमल लेकर नहीं गया। उधर कुबेर शिव की पूजा के लिये दोपहर तक प्रतीक्षा करते रहे, इधर हेममाली अपनी पत्नी के साथ आनन्द लेता रहा। बहुत देर हो जाने पर कुबेर को जब यह ज्ञात हुआ कि पत्नी के फेर में पड़े रहने के कारण वह नहीं आया तब उन्होंने तत्काल उसे बुलवा भेजा और शाप भी दिया कि तुझे कोढ़ हो और तू अपनी पत्नी से अलग हो जा और इस स्थान को छोड़कर कहीं नीचे (धरती पर) चला जा।

जान पड़ता है कालिदास ने यह कथा वहीं से ली और कोढ़ की बात हटाकर काव्य-कौशल-के चमत्कार से उस घटना को काव्य का बाना देकर उसे इतना मधुर बना दिया कि वह विद्वानों का प्राण बन गया है। लेखक ने इस घटना के आधार पर अलका नामका बहुरंग काव्य भी लिखा है और नाटिका भी, जो पठनीय है। ऐसा ही प्रसंग योगवासिष्ठ में भी आया है। देखिए इसी ग्रन्थ में डॉ० भीखनलाल आत्रेय का 'योगवासिष्ठ में मेघदूत'।

कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभिहिं जिमि प्रिय दाम।

तिमि रघुनाथ निरन्तरइ, प्रिय लागहु मोहिं राम॥

(जैसे कामी को स्त्री प्यारी होती है, लोभी को पैसा प्यारा होता है, उसी प्रकार श्रीराम भी मुझे प्यारे लगें।)

इसीलिये कालिदास ने उसे 'कामी' से विशेषण-विशिष्ट करके उसकी एकान्त आसक्ति को स्पष्ट कर दिया है और इसी कामिता के कारण ही अपनी सुध-बुध भूले हुए यक्ष ने मेघ को ही अपना दूत बना डाला।

इस विरही यक्ष ने अपने विरह के दिन काटने के लिये स्थान भी चुना रामगिरि। बहुत से विद्वानों का मत है कि यह रामगिरि वास्तव में चित्रकूट नहीं वरन् नागपुर के पास की 'रामटेक' पहाड़ी या रीवाँ राज्य की 'रामगढ़' पहाड़ी है किन्तु यह उनका भ्रम है। उसका कारण यह है कि 'जनकतनया-स्नानपुण्योदकेषु' और 'स्निग्धच्छाया-तरुषु' वाले आश्रम चित्रकूट पर ही हैं, रामटेक पर नहीं। सुन्दर ताल, मन्दाकिनी का प्रवाह, पहाड़ी धाराएँ, घने वृक्ष, हरियाली कुंजों और ऋषियों के आश्रम चित्रकूट पर ही हैं, रामटेक पर नहीं, क्योंकि रामटेक तो सूखी पहाड़ी है जहाँ कभी-कभी जल के भी दर्शन नहीं होते। ऐसी सूखी पहाड़ी पर भला यक्ष क्यों रहने जायगा। इस सम्बन्ध में रहीम का यह दोहा भी विचारणीय है—

चित्रकूटपै रमि रहे, रहिमन अवध-नरेस।

जापै बिपदा परत है; सो आवत इहि देस॥

(अवध के नरेश (रहीम) आकर चित्रकूट पर बस गए क्योंकि जिस पर विपत्ति पड़ती है वह यहीं आता है।)

इस दोहे में जहाँ अवध-नरेश (अवध के नवाब) अब्दुरहीम खानखाने अपने आपत्काल के निवास की सूचना दी है वहीं विपद्ग्रस्त अवध-नरेश राम और मेघदूत के वियुक्त यक्ष की ध्वनि भी समाविष्ट है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने तो स्पष्ट रूप से चित्रकूट को ही रामगिरि कहा है—

राम-सैलवन देखन जाहीं। (राम-सैल = रामगिरि = चित्रकूट)

अयोध्याकांड दोहा 248 के पश्चात्

अटन रामगिरि वन तापस थल। अयोध्याकांड दोहा 279 के पश्चात् इसी प्रसंग में चित्रकूट के सम्बन्ध में भरत ने कहा है—

प्रभु-पद अंकित अवनि-बिसेखी'। ये ठीक वे ही शब्द हैं जो रामगिरि के लिये कालिदास ने मेघदूत में कहे हैं— वन्द्यै: पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु। इसका अर्थ यह है कि गोस्वामीजी के समय तक भी चित्रकूट को रामगिरि ही कहते थे। रामगिरि को चित्रकूट बताने के लिये ही गोस्वामीजी ने 'प्रभु-पद अंकित अवनि-बिसेखी' लिखकर अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है।

इतिहास भी इसी का साक्षी है। वाल्मीकीय रामायण के अनुसार अयोध्या से चलकर राम जाकर चित्रकूट में रहे और फिर भरत को अपनी पादुका दे देने के कुछ दिनों पश्चात् वे अयोध्या के समीप होने के कारण ऋषियों के साथ अत्रि के आश्रम में जा पहुँचे। वहाँ से दंडकारण्य में प्रविष्ट होकर विराध का वध करते हुए वे शरभंग ऋषि के आश्रम में जा पहुँचे। वहाँसे चलकर वे सुतीक्ष्ण के आश्रम में एक रात्रि निवास करके, फिर धर्मभृत मुनि के पास रहकर, मांडकर्णि-द्वारा निर्मित पंचाप्सर नामक (पंचसर)

सरोवर का प्रभाव सुनकर ऋषियों के आश्रम में रहते हुए सुतीक्ष्ण के आश्रम में लौट आए और वहाँ से चलकर वे अगस्त्य के आश्रम में जा पहुँचे। फिर अगस्त्य मुनि की आज्ञा से ही वे गोदावरी के तीर पर पंचवटी में जा रहने लगे। इस प्रसंग में कहीं भी रामटेक या किसी अन्य ऐसे स्थान का विवरण ही नहीं आता जहाँ सीताजी ने स्नान किया हो और जिसकी मेखला पर राम के चरण अंकित हों। ऊपर जिन ऋषियों का वर्णन है उनमें से किसी का भी आश्रम रामटेक की ओर नहीं था और यह रामटेक अयोध्या से भी काले कोसों दूर था।

यदि अंतःसाक्ष्य की दृष्टि से विचार किया जाय तो स्वयं कालिदास ही इस सम्बन्ध में सबसे बड़े प्रमाण हैं। उन्होंने स्वयं रघुवंश में लिखा है—

चित्रकूटवनस्थं च कथितस्वर्गतिर्गुरोः। (रघु0 12।15)

रामस्त्वासन्नदेशत्वाद्भरतागमनं पुनः।

आशंक्योत्सुकसारंगा चित्रकूटस्थलीं जहौ॥ (रघु0 12।24)

इसमें भी चित्रकूट में ही रहने की बात आई है। (चित्रकूट में ही उन्होंने अपने पिता के स्वर्गवास का समाचार सुना और चित्रकूट का परित्याग भी उन्होंने इसलिये किया कि वह प्रदेश अयोध्या के पास था। उन्हें आशंका थी कि भरत फिर न कहीं आ जायँ) वे चित्रकूट छोड़कर चल दिए और फिर अनेक ऋषिकुलों में होते हुए, अत्रि मुनि का दर्शन और विराध का वध करते हुए अगस्त्य की आज्ञा के अनुसार गोदावरी के तट पर पंचवटी में आकर रहने लगे। अतः, वाल्मीकि और कालिदास दोनों ने राम के निवास के दो ही स्थान माने हैं और वे हैं चित्रकूट और पंचवटी। दूसरा प्रमाण यह है कि कुटज (इन्द्रजव) का फूल केवल विन्ध्य-मेखला में ही होता है रामटेक पर उसका नाम-तक नहीं है। अतः, यक्ष का प्रवास-स्थान निश्चय ही चित्रकूट था। 'रामगिर्याश्रमेषु' और 'ब्रूया एवं तव सहचरो रामगिर्याश्रमस्थः' दोनों स्थानों पर कालिदास ने 'रामगिरि' का ही नाम लिया है, चित्रकूट का नहीं और उसका कारण यही है कि मेघदूत में न नायक का नाम दिया गया न नायिका का और न स्पष्ट रूप से उस स्थान का जहाँ यक्ष जाकर रहा। यही इस काव्य की विशेषता है कि नायक का नाम तक न होने पर भी वह इतना लोकप्रिय है। 'जनक-तनया-स्नान-पुण्योदकेषु' और 'वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरंकितं मेखलासु' कहकर भी चित्रकूट का ही परिचय दिया गया है क्योंकि राम जब लंका से लौट रहे हैं तब भी उन्होंने अत्यन्त भावुक होकर चित्रकूट का ही वर्णन करते हुए कहा है—

धारास्वनोद्गारिदरीमुखोऽसौ शृंगाग्रलाग्नम्बुदवप्रपंकः।

बध्नाति मे बन्धुरगात्रिचक्षुर्दृप्तःककुद्भानिव चित्रकूटः॥

(रघु0 13।47)

(दिखो सुन्दरी! मस्त साँड़ के समान यह चित्रकूट मुझे बड़ा सुहावना लग रहा है। गुफा ही इसका मुख है, जलधारा की ध्वनि ही डकार है, चोटी ही सींग हैं और छाए हुए बादल ही सींगों पर लगा हुआ कीच है।)

अब इसे मिलाइए—'वप्रक्रीडापरिणतगजप्रक्षणीयं ददर्श।' अन्तर इतना ही है कि मेघदूत में हाथी की वप्र-क्रीडा का वर्णन है और रघुवंश में डील-डौल वाले साँड़ की वप्रक्रीडा का। अतः, निश्चय ही वह यक्ष चित्रकूट पर ही था, किसी रामटेक पर नहीं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि चित्रकूट के आस-पास गाँवों में रहने वाले आज भी उसे रामगिरि ही कहते हैं, चित्रकूट नहीं।

जैनियों के पद्मपुराण में तो स्पष्ट रूप से चित्रकूट को रामगिरि बताते हुए उसका रामगिरि नाम पड़ने का कारण भी जैन भावना के अनुसार दिया है कि यहाँ राम ने जैन चैत्य बनवाए थे—

रामेण यस्मात्थरमाणि तस्मिन् जैनानि वेश्मानि विधापितानि ।

निर्नष्ट वंशादिवचः स तस्माद्रविप्रभो रामगिरिः प्रसिद्धः ।। 140 145

उस चित्रकूट पर उस यक्ष ने आठ महीने बिता दिए। उस दशा में वह ऐसा सूखकर काँटा हो गया और इतना दुबला हो गया कि उसका सोने का कड़ा भी उसके हाथ से निकल गिरा। विरह में कृशता का वर्णन विश्व के सभी साहित्यों में किया गया है और इस कृशता की व्यंजना करने के लिये अतिशयोक्ति या मुगालते का प्रयोग किया गया है। सीताजी की विरह-दशा का वर्णन करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी ने सीताजी से कहलाया है—

अब जीवन कै है कपि आस न कोइ ।

कनगुरिया कै मुँदरी कंगन होइ ।। (बरवै रामायण)

(देखो हनुमान! अब जीवन की कोई आशा नहीं रह गई है, क्योंकि विरहजन्य दुर्बलता के कारण कनिष्ठिका उँगली की अँगूठी भी अब कंगन बन गई है।)

अपभ्रंश के एक कवि ने तो अति ही कर दी और कहा है—

वायसु उड्डावन्तिअए, पिउ दिड्डउ सहसत्ति ।

अद्धा वलया महिहि गय, अद्धा फुट्टि तड्ति ।।

(अपने प्रिय के आगमन के शकुन के लिये कोई विरहिणी कौआ उड़ा रही थी। उस उड़ाने में हाथ झटकते समय दुर्बलता के कारण हाथ की आधी चूड़ियाँ हाथ से निकलकर बाहर गिर गईं। इतने में सहसा विदेश गया हुआ पति लौटा हुआ दिखाई पड़ गया। वह नायिका हर्ष से फूली नहीं समाई और सहसा इतनी फूल उठी कि हाथ में बची हुई आधी चूड़ियाँ मोटाई के कारण तड़ककर टूट गईं।)

उर्दू के एक कवि ने तो विरह की कृशता के वर्णन में सीमा पार कर दी है। एक विरही अपनी विरह-कृशता का वर्णन करते हुए किसी से कह रहा है—

इन्तहाए लागरी से जब नजर आया न मैं ।

हँसके वो कहने लगे बिस्तर को झाड़ा चाहिए ।

(कृशता की पराकाष्ठा के कारण जब मैं अपने प्रिय को दिखाई नहीं पड़ा तो प्रिय ने कहा कि बिस्तर झाड़ो तो गिरने पर शायद दिखाई पड़ जायँ।)

किन्तु महाकवि कालिदास ने इस प्रकार की हास्यास्पद अतिशयोक्ति का आश्रय न लेकर केवल यही कहा—‘अपने हाथ का कड़ा निकलकर गिर जाने से सूनी पहुँची वाले यक्ष ने कुछ महीने निकाल दिए।’

‘नीत्वा मासान्कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः ।’

इस प्रकार वहाँ आठ महीने बिताने पर आषाढ़ के प्रथम दिन वह देखता क्या है कि चित्रकूट की चोटी पर लिपटे हुए बादलों से चित्रकूट ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो कोई हाथी मिट्टी के टीले को ढहाने का प्रयत्न कर रहा हो। बहुत से विद्वानों ने वप्र-क्रडा-परिणत-गज-प्रेक्षणीय में बादलों को हाथी माना है और चित्रकूट को वप्र, किन्तु यदि कोई चित्रकूट में हनुमान धारा पर बैठकर आषाढ़ के पहले दिन चित्रकूट पर छाए हुए बादल का दृश्य देख ले तो उसे प्रतीत होगा कि वास्तव में चित्रकूट ही मस्तक उठाए हुए गज के समान है और बादल ही वप्र (टीला) है। स्वयं कालिदास ने अपने रघुवंश में

मुंझाग्रलग्नान्मवदवप्रपंकः, ककुदमानिव चित्रकूटः (रघु0 13 147) बताकर इसे स्पष्ट कर दिया है कि चित्रकूट उस सौंड के समान है जिसकी चोटी पर छाए बादल ऐसे लगते हैं मानो उसके सींगों पर टीले की मिट्टी लगी हो।

मेघदूत की कुछ प्रतियों में आपाढस्य प्रथम-दिवसे के बदले 'प्रशम-दिवसे' पाठ मिलता है किन्तु यह पाठ अग्राह्य भी है और भ्रामक भी। आपाढ के प्रारम्भ में बादल आने की बात उत्तर भारत के सम्पूर्ण ग्राम-गीतों में व्याप्त है—

चढ़त असाढ़ गगन घन छाए।
चमचम चपला जी डरपाए।
पिय बिन मोको कछु न सुहाए।।
साजन सौतिन घर बिलमाए।
कछु न सुहाए, बादल छाए।।

गुजरात के अपभ्रंश साहित्य में मृणालवती ने मुंज को संदेश ही भेजा है—

मुञ्ज षढल्ला दोरडी पेक्खेसि न गम्मारि।
आषाढी घण गज्जिई चिक्खिल होसे वारि।।

(अरे गँवार मुंज! तू प्रेम की ढीली डोरी को समझ नहीं रहा है। जब आपाढ में बादल गरजने लगेंगे तब मार्ग में पानी ही पानी भर जाएगा, तब तू कैसे आ पावेगा।)

हमारे देशी साहित्य में जो अनेक बारहमासे लिखे गए हैं या लिखे जाते हैं उन सबमें आपाढ चढ़ते ही बादल आने का वर्णन है। ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार भी आपाढ के पहले पक्ष में मेघ-दर्शन आवश्यक है अन्यथा दो मास तक अनावृष्टि की आशंका होती है—

आषाढमासे प्रथमे च पक्षे निरभ्रदृष्ट रविमंडले च।

विद्युन्नगर्जत्यथ नैव मेघाः मासद्वयं तत्र न वर्षणं स्यात्।।

(आपाढ के पहले पखवाड़े में यदि सूर्य बिना बादल के खुला रहे और न बिजली चमके-गरजे, न बादल हों तो समझ लो कि दो मास तक वर्षा नहीं होगी।) और फिर यह तो प्रत्यक्ष दृश्य है जिसे कोई भी चित्रकूट पर जाकर देख सकता है।

मेघदूत का अध्ययन करने से पूर्व यह समझ लेना चाहिए कि कालिदास कोई भूगोल की पुस्तक नहीं लिख रहे हैं, काव्य लिख रहे हैं और मेघ की मर्यादा के अनुसार (त्वत्प्रयाणानुरूप) मार्ग समझा रहे हैं। अन्यथा 'वक्रः पन्था' का प्रश्न ही न उठता। किन्तु उस काव्य का यही चमत्कार है कि उसमें भूगोल की सटीकता, जीव-विज्ञान तथा वनस्पति-विज्ञान की प्रामाणिकता और इतिहास की वास्तविकता सब उपस्थित है। आपाढ के पहले दिन कामदगिरि के शिखर पर लटके हुए मेघ को देखते ही वह कान्ता-विरही कामी यक्ष विरह से व्याकुल हो उठा और जिस समय मेघ को देखकर दूर-दूरस्थ पथिक भी अपने घर लौटने को उत्सुक हो जाता है उस समय शापग्रस्त यक्ष की क्या दशा हुई होगी यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। उसकी इस स्वाभाविक आकुलता का समर्थन करते हुए कालिदास ने कहा है—

मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्तिचेतः।

कंठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे।।

(बादल को देखकर जब सुखी लोगों तक का मन डोल जाता है तब उस वियोग का तो कहना ही क्या, जो दूर देश में पड़ा हुआ अपनी प्यारी के गले लगाने के लिये दिन-रात तड़पा करता है।)

उर्दू के कवि के अनुसार—

तौबा तो की थी मैंने न पिऊँगा मैं शराब ।

बादल का रंग देख के नीयत बदल गई ।।

(मैंने प्रतिज्ञा तो की थी कि कभी मदिरा नहीं पीऊँगा किन्तु बादल उठे हुए देखकर संकल्प टूट गया ।)

वह अपनी प्रियतमा के लिये छटपटाने लगा और फिर तत्काल उसने सोचा कि शाप के कारण अलका लौट जाना तो अभी सम्भव नहीं है इसलिये क्यों न संदेश ही भेज दिया जाय क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि बादलों को देखकर वह विरह की व्याकुलता में प्राण ही दे डाले। अपभ्रंश के एक कवि ने इस स्थिति को बड़ी मार्मिकता के साथ कहा है—

जइ ससणेही तो मुइअ अह जीवइ णिण्णेह ।

बिइहिं पयोरहिं गइहि धण किं गज्जहि खल मेह ।।

(यदि वह प्रिया मुझसे स्नेह करती होगी तो तुम्हारा गर्जन सुनकर उसने अपने प्राण छोड़ दिए होंगे और यदि वह जीवित है तो निश्चय ही उसके मन में मेरे लिये स्नेह नहीं। इसलिये वह तो दोनों प्रकार से मेरे हाथ से जाती रही। तो दुष्ट मेघ! तब तू क्या गरजे चला जा रहा है।) इसीलिये उस कामी यक्ष ने सोचा कि क्यों न इसी मेघ से ही संदेश भेज दिया जाय ।।

तुम्हीं ने दर्द दिया है तुम्हीं दवा देना ।

यही मेघ तो जाकर प्राण लेने वाला है, क्यों न इसी के हाथ संदेश भेज दिया जाय, क्योंकि इससे पहले कोई पहुँच नहीं पावेगा और इससे योग्यतर कोई दूसरा संदेशवाहक भी नहीं मिलेगा। क्यों?

बहुत से विद्वानों ने कहा है कि मेघ के हाथ संदेश भेजना अस्वाभाविक है। यह बात कालिदास भी जानते थे। इसीलिये उन्होंने कहा भी है—

धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः संदेशार्थाः क्व पटुकरणैः प्रापणैः प्रापणीयाः ।

इत्थौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ।।

(कहाँ तो धुएँ, अग्नि, जल और वायु से बना हुआ मेघ और कहाँ चतुर लोगों से पहुँचाया जाने वाला संदेश। किन्तु कामार्त में इतनी समझ कहाँ रह जाती है कि वह जड़ और चेतन का भेद कर सके।) यह तो कालिदास का अपना अर्थान्तरन्यास है। किन्तु यक्ष ने अपने इस मेघदूत का चुनाव बहुत ठोक बजाकर किया है। वह कहता है— जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानाम्। जानामि त्वां प्रकृतिफुरुषं कामरूपं मघोनः । तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दूरबन्धुर्गतोहम् । याच्जामोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ।। (तुम विश्व-प्रसिद्ध पुष्कर और आवर्तक वंश में उत्पन्न हुए हो, तुम इन्द्र के कामरूप अर्थात् इच्छा के अनुसार रूप धारण करने वाले प्रकृति-पुरुष (अत्यन्त विश्वस्त पुरुष) हो इसलिये मैं तुमसे यह प्रार्थना कर रहा हूँ क्योंकि किसी गुणी के आगे हाथ फैलाकर निष्फल लौटना अच्छा है किन्तु अधम से इच्छित फल पाना भी अच्छा नहीं है।) नीतिशास्त्रों ने दूत के अनेक गुण बताए हैं उन सभी का दर्शन यक्ष ने मेघ में किया है। दूत कुलीन होना चाहिए, मेघ कुलीन है, पुष्कर और आवर्तक कुल में उसका जन्म हुआ है। सबसे बड़ी बात यह है कि वह विश्वस्त होना चाहिए मेघ साक्षात् देवराज इन्द्र का विश्वासपात्र है। दूत ऐसा हो कि जब जैसी आवश्यकता हो वैसा रूप धारण कर ले। ये गुण भी मेघ में स्वभावतः विद्यमान हैं। जब राम के दूत बनकर सीता की खोज करने हनुमान गए थे उस समय उनकी भी यही परीक्षा सर्पों की माता सुरसाने ली थी और देख लिया कि वे बुद्धिमान हैं, निर्भीक हैं, विश्वस्त हैं, जब चाहे जैसा बड़ा या छोटा रूप धारण कर सकते हैं।

ज्यौतिष-तत्त्व के अनुसार बादलों के चार कुल बताए गए हैं—

आवर्तौ निर्जलो मेघः संवर्तश्च बहूदकः ।

पुष्करो दुष्करजलो द्रोणः शस्यप्रपूरकः ।

(आवर्त मेघ निर्जल होता है। संवर्त में बहुत जल होता है। पुष्कर में कठिनाई से थोड़ा-सा होता है और द्रोण तो धान्य-वर्धक होता ही है।)

इनमें सम्वर्त नामक बहूदक बादल को छोड़ दिया कि कहीं अलका में पहुँचकर धुआँधार पानी न बरसाने लगे और शस्य-प्रपूरक द्रोण को भी छोड़ दिया कि यदि उसे संदेश-वाहक बनाकर भेजा तो यहाँ के लोग बिना अन्न के मर जायेंगे। इसलिये उसने दुष्कर जलवाले पुष्कर और आवर्तक कुल के निर्जल मेघ को ही चुना कि उन्हें चाहे जितने दिनों तक इधर-उधर निश्चिन्तता के साथ घुमाया जा सकता है। मेघों की इसी प्रकृति के कारण कालिदास ने उन्हें बीच में पड़ने वाली नदियों का जल पीते चलने का परामर्श भी दिया है।

मेघ को दूत बनाने का एक और भी कारण है जो यक्ष ने स्पष्ट कर दिया है—

‘सन्तप्तानां त्वमसि शरणम् ।’

(तुम संतप्त लोगों को शरण देने वाले हो।) घनानन्द का वह सवैया तो प्रसिद्ध ही है—

पर-कारज देह को धारे फिरौ परजन्य यथार्थ है दरसौ ।

निधि-नीर सुधा के समान करौ सब ही विधि सज्जनता सरसौ । ।

घनआनंद जीवनदायक हौ, कबौं मेरिऔ पीर हिये परसौ ।

कबहुँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवानहु लै बरसौ । ।

और फिर जब किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति को दूत बनाना होता है तब उसकी बड़ी चाटुकारी की जाती है। उसे यह विश्वास दिलाया जाता है कि मैं किसी ऐसे-वैसे स्थान किसी बीहड़ मार्ग से नहीं भेज रहा हूँ, किसी अवाञ्छनीय व्यक्ति के पास नहीं भेज रहा हूँ। इसीलिये यक्ष ने पहले स्थान का निर्देश देते हुए अलका का परिचय दिया—

गन्तव्या ते वसतिरलकानाम यक्षेश्वराणां बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिका धौतहर्म्याः । ।

यक्ष ने बतलाया कि ‘मित्र पयोद! मैं तुम्हें यक्षेश्वरों की उस अलका नाम की बस्ती को जाने को कह रहा हूँ जिसे बाहर से ही देखकर तुम फड़क उठोगे क्योंकि बाहर उद्यान में स्थित महादेवजी के सिर पर स्थित चन्द्रमा के प्रकाश से वहाँ के भवन बारहों मास चमचमाते रहते हैं। इसके पश्चात् अलका का मार्ग बताते समय यक्ष ने बड़े मनोवैज्ञानिक ढंगसे बादल को भोजन, विश्राम, दर्शनीय स्थल, रमणीय दृश्य, आमोद-प्रमोद, मनोरंजन और देव-दर्शन के साथ बीच में पड़ने वाले नद, नदी, पर्वत, प्रदेश, नगर, पशु, पक्षी, वृक्ष, पुष्प, जलवायु, पुरुष, स्त्री, देवता और ऐतिहासिक घटनाओं का बड़ा संश्लिष्ट वर्णन करते हुए उस मार्ग से जाने का प्रलोभन दिया है क्योंकि वह मेघ को कहता है कि ‘त्वत्प्रयाणानुरूपम्’ तुम्हारे पद के अनुसार मार्ग बता रहा हूँ। और विचित्र बात यह है कि वह सम्पूर्ण विवरण, सम्पूर्ण जड़ प्रकृति कालिदास ने श्रृंगारमयी दिखाई है कि कहीं रसमय मेघ विरस न हो जाय इसलिये वह नदियों और पर्वतों को भी मानव रूप में मानवीय सौन्दर्य से पूर्ण ही देखता है।

मेघ को प्रारम्भ में ही प्रलोभन देते हुए कहता है कि तुम्हारा उपकार केवल मैं ही नहीं मानूँगा वरन् अन्य पथिक-वनिताएँ भी मानेंगी—

त्वामारूढं पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्तः प्रेक्षिष्यन्ते पथिक-वनिताः प्रत्ययादाश्वसन्त्यः ।

कः संनद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायां न स्यादन्योप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ।।

यक्ष कहता है कि (तुम्हें उठा हुआ देखकर गालों पर फैले हुए बाल हटाकर बड़े विश्वास के साथ परदेशियों की पत्नियाँ तुम्हारी ओर देखने लगेंगी क्योंकि मेरे जैसे पराधीन को छोड़कर और कौन होगा जो ऐसे समय अपनी विरहिणी पत्नी की उपेक्षा कर सके।)

विरह की दशा में दिन गिनने की बड़ी मार्मिक स्थिति का वर्णन अपभ्रंश साहित्य में मिलता है—

जे महु दिण्णा दिअहड़ा दइएँ पवसन्तेण ।

ताण गणन्तिए अंगिलउ जज्जरियाउ गहेण ।।

(मेरे प्रिय ने परदेस जाते समय जो लौटने की अवधि बताई थी उसे गिनते-गिनते नखों की रगड़ से उँगलियों के सब पोर छीज गए हैं।) इसलिये यक्ष कहता है—

तां चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नीं अव्यापन्नामविहतगतिर्द्रव्यसि भ्रातृजायाम् ।

आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यंगनानां सद्यःपाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ।।

(तुम अपनी उस भाभी से अवश्य जा मिलना जो वहाँ बैठी दिन गिन रही होगी और जिसके प्राण इसी आशा पर टिके हुए होंगे कि अभी फिर भेंट तो होगी ही।)

राम के विरह में सीताजी के प्राण न छोड़ने का कारण बताते हुए हनुमान् ने राम से कहा था—

नाम पाहरू दिवस निसि, ध्यान तुम्हार कपाट ।

लोचन निजपद-जन्त्रितइ प्राण जाहिँ केहि बाट ।।

(रात दिन आपका नाम-स्मरण ही पहरा देता है, ध्यान के किवाड़ लगे हैं, आँखों पर अपने चरण का ताला लगा है फिर भला प्राण निकलें तो किस मार्ग से निकलें।)

इसके पश्चात् यक्ष ने भारतीय विश्वास के अनुसार अच्छे शकुन का भी निर्देश करते हुए प्रोत्साहन दिया है—

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां वामश्चायं नदति मधुरश्चातकस्ते सगन्धः ।

गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः ।।

(मन्द मन्द पवन तुम्हें आगे को बढ़ा रहा है। बाईं ओर काममत्त चातक मधुर बोल रहा है और गर्भाधान के समय का परिचय पाकर निश्चय ही बगुलियाँ आकाश में अत्यन्त नयनाभिराम बकमाला बनाकर तुम्हारी सेवा आ करेंगी) और वे ही क्यों?

कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्द्रामवन्ध्यां तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्काः ।

आकैलासद्विसाकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः सविष्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ।।

(तुम्हारा गर्जन सुनकर कुरुरमुत्ते निकल आवेंगे, धरती हरी-भरी हो उठेगी और मान-सरोवर जाने को उत्सुक राजहंस भी तुम्हारे साथ कैलास-तक उड़े चले जायेंगे।)

और मैं यह नहीं कहता कि तुम झट चल दो। अभी आए हो, ठहरो, बैठो। अपने मित्र चित्रकूट से गले मिल लो, कुशल-मंगल पूछ लो क्योंकि यह साधारण पर्वत नहीं है। यह भगवान् राम के चरण-कमलों से अंकित मेखला वाला वह पर्वत है जिसकी लोग वन्दना किया करते हैं।

आपृच्छसव प्रियसखमुं तुंगमालिङ्ग्य शैलं बन्धैः पुंसां रघुपतिपदैरंकितं मेखलासु ।

काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं भुञ्जतो बाष्पमुष्णम् ।।

यक्ष इतने मनोवैज्ञानिक ढंग से मेघ से अपना काम कराने के लिये उपचार का प्रयोग करता है—

गरीबख़ाने में लिल्लाह दो घड़ी बैठो।

बहुत दिनों में तुम आए हो इस गली की तरफ।।

जुरा सी देर ही हो जायगी तो क्या होगा।

घड़ी-घड़ी न उठाओ नजर घड़ी की तरफ।।

जो कोई पूछे तो परवाह क्या है कह देना।

चले गए थे टहलते हुए किसी की तरफ।।

(भगवान् के लिये इस कुटिया में थोड़ी देर बैठो क्योंकि इस गली की ओर बहुत दिनों में आए हो। थोड़ी देर ही हो जायगी तो कोई बात नहीं है। बार-बार घड़ी की ओर दृष्टि न डालो। जो कोई पूछने भी लगे तो कोई चिन्ता की बात नहीं है, कह देना टहलते हुए किसी की ओर चले गए थे।)

और इस उपचार के पश्चात् भी वह सीधे हड़बड़ी में अपना संदेश नहीं कह सुनाया। पहले मार्ग बताता है और तब कहता है—

मार्ग तावच्छुण कथयतस्त्वत्प्रयाणानुरूपं संदेशं मे तदनु जलद! श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम्।।

यक्ष कहता है कि (पहले तुम अपने अनुरूप अर्थात् जिस मार्ग से किसी भले व्यक्ति को भेजा जा सकता है वह समझ लो तब मैं तुम्हें वह श्रोत्रपेय (कानों से पीया जा सकने वाला, रसीला) संदेश सुनाऊँगा जिसे सुनकर तुम फड़क उठोगे)। अतः यक्ष सीधा मार्ग न बताकर बादल के प्रयाणानुरूप मार्ग बता रहा है और वही मार्ग बता रहा है जिस मार्ग से होकर यक्ष स्वयं अलका से चलकर चित्रकूट-तक आया है क्योंकि वही मार्ग उसका सुपरिचित है।

मार्ग बताने में भी वह अपने दूत की पूरी सुविधा का ध्यान रखता है। पुष्कर और आवर्तक बादलों में जल नहीं होता इसलिये यक्ष उसे समझाता है कि—

(जब थकावट हो तो पर्वतों की चोटियों पर ठहरते जाना और प्यास लगे तो झरनों का हल्का-हल्का जल पीते जाना।) यह नहीं कि बिना खाए-पिए सीधे हरकारे के समान चलते चले जाओ क्योंकि हनुमान के समान दूत मिलना तो बड़ा कठिन है जो यह कहे कि—

राम-काज कीन्हे बिना, मोहिँ कहाँ विश्राम।।

(राम का कार्य अर्थात् सीता की खोज किए बिना मुझे विश्राम करने का अवकाश कहाँ है?)

अब मार्ग बताते हुए यक्ष बीच में पड़ने वाले अनुभवों का संकेत देते हुए समझता है कि जब तुम इस बेंत से लदी हुई पहाड़ी से ऊपर उठोगे तो सिद्धों की भोली-भाली पत्नियाँ चकित होकर कहेंगी कि कहीं पहाड़ की चोटी ही तो नहीं उड़ी चली जा रही है। इस प्रकार उड़ते समय दिङ्नागों की सूँड़ों की फट्कारें धकेलते हुए तुम आगे बढ़ जाना-दिङ्नागानां पथि परिहरन्स्थूलहस्तावलेपान्।' इससे कुछ विद्वानों ने कल्पना की है कि कालिदास ने प्रमाण-समुच्चय के प्रसिद्ध बौद्ध लेखक दिङ्नाग पर आक्षेप किया है जिसे मल्लिनाथ ने कालिदास का प्रतिद्वन्द्वी बताया है।

अब यक्ष सामने उठते हुए इन्द्रधनुष की ओर देख रहा है और वहीं से सुन्दर मार्ग के अनुभव का श्रीगणेश करता है। यह इन्द्रधनुष या तो प्रातःकाल दिखाई देता है या सायंकाल और यदि बादल के ऊपर विमान से देखा जाय तो इन्द्र-चक्र दिखाई देता है, इन्द्र-धनुष नहीं। इस इन्द्रधनुष से यक्ष को बादल

का नीला शरीर ऐसा जान पड़ता है जैसे 'मोर-मुकुट लगाए कृष्ण।'

'बर्हेणैव स्फुरितरुचिना गोपवेशस्य विष्णोः।' (पूर्वमेघ, 15)

अब किसानों की पत्नियों का परिचय देता हुआ यक्ष कहता है कि 'तुम उड़कर चलोगे तो किसानों की वे भोली-भाली पत्नियाँ बड़ी आशा से तुम्हारी ओर आँखें उठाकर देखेंगी जिन्हें भौं चलाकर गिझाना नहीं आता'— 'भ्रूविलासानभिज्ञैः'। तुम वहाँ माल देश के खेत पर जा बरसना जिससे वहाँ की भूमि सौंध्य गंध से गमक उठेगी। फिर पश्चिम की ओर बढ़कर उत्तर की ओर घूम जाना। वहाँ आपकूट की आग बुझाकर उसकी उस चोटी पर जा ठहर जाना जो पके हुए फलों से लदे हुए आम के वृक्षों से घिरा हुआ है। उस समय देव-दम्पति को वह पर्वत 'स्तन इव भुवः' (पृथ्वी के स्तन के समान) प्रतीत होगा। उस वन में तो जंगली स्त्रियाँ घूमा करती हैं इसलिये वहाँ ठहरकर क्या करोगे, डग बढ़ाकर आगे चल देना। जल बरसा चुकने पर तुम्हारी देह का भारीपन भी दूर हो गया रहेगा जिससे चाल भी बढ़ जायगी। आगे चलकर विन्ध्याचल के ऊबड़-खाबड़ पठार पर अनेक धाराओं में फैली हुई रेवा नदी ऐसी प्रतीत होगी जैसी भभूत से चीती हुई हाथी की देह हो। वहाँ जंगली हाथियों के मद में बसा हुआ और जामुन की कुंजों में बहता हुआ रेवा का जल पीकर तब आगे बढ़ना क्योंकि—

रिक्तं सर्वो भवति ही लघुः पूर्णता गौरवाय। (पूर्वमेघ, 21)

(जिसके हाथ रीते रहते हैं उसे सब दुरदुराते हैं और जो भरा-पूरा होता है उसका सभी आदर करते हैं।)

इसके आगे अध-पके हरे-पीले कदम्ब पर मँडराते हुए, भौरे, नई फूली हुई कन्दली की पत्तियों को चरते हुए हरिण और जंगली धरती की तीखी गंध सूँघते हुए हाथी तुम्हें मार्ग दिखाते चलेंगे। उस समय सिद्ध लोग अपनी पत्नियों के साथ ऊपर ही ऊपर बूँद घूँट लेने वाले चातकों को और पाँत बाँधकर उड़ती हुई बगुलियों का दृश्य देख रहे होंगे। वस, जहाँ तुम गरजे कि वे स्त्रियाँ डरकर झट अपने पतियों से चिपट जायँगी और वे सिद्ध लोग तुम्हारा बड़ा उपकार मानेंगे— 'मानयिष्यन्ति सिद्धाः।'

यक्ष कहता है— 'यद्यपि मैं जानता हूँ कि मेरे काम के लिये तुम शीघ्र ही जाना चाहोगे किन्तु ऐसी कोई बात नहीं है। तुम ककुभ (अर्जुन) के सुगन्धित फूलों से लदे हुए उन पहाड़ों पर ठहरते हुए मम्नी लेते हुए जाना जहाँ के मोर अपनी कूक से तुम्हारा स्वागत करेंगे। वहाँ से चलकर तुम आगे दशार्ण देश में पहुँच जाओगे जहाँ के उपवनों की वाड़, फूले हुए केवड़ों से उजली हो उठी होगी। गाँवों के मन्दिर में कौवे घोंसले बना रहे होंगे। सारा जंगल काली-काली जामुनों से लदा मिलेगा और हंस भी कुछ दिनों के लिये जहाँ आ बसे होंगे। वहाँ की राजधानी विदिशा में तुम्हें विलास की सब सामग्री मिल जायगी। वहाँ लहराती हुई वेन्नवती का जल पीते हुए तुम्हें ऐसा लगेगा जैसे किसी कँटीली भौंहोंवाली कामिनी का रस पी रहे हो।

वहाँ से चलकर नीच नामकी पहाड़ी पर थकावट मिटाने के लिये रुक जाना। वहाँ फूले हुए कदम्ब ऐसे जान पड़ेंगे जैसे तुमसे मिलने के कारण उनके रोम-रोम फरफरा उठे हों। इतना ही नहीं, उसकी गुफाओं में वहाँ के छैलों का राग-रंग भी देख लेना।

**यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणामुद्दामानि प्रययति
शिलावेशमभिर्योवनानि। (पूर्वमेघ, 27)**

(उसी पहाड़ी की गुफाओं में से उन सुगन्धित पदार्थों की गन्ध निकल रही होगी जो वहाँ के छैले; वेश्याओं के साथ रति करने के समय काम में लाते हैं। इससे तुम यह भी जान जाओगे कि वहाँ के

नागरिक कितने खुल्लमखुल्ला जवानी का रस लेते हैं।)

ऐसे शिला-वेश्मों को आजकल के बहुत से विद्वानों ने भूल से भरत द्वारा निर्दिष्ट नाट्य-गृह-तक बता दिया है।

यक्ष ने समझाया है कि वहाँ ठहरकर जूही की फुलवारियों को सींचते हुए उन मालिनों के मुख पर छाया करते हुए और उनमें हेल-मेल बढ़ाते हुए आगे बढ़ जाना जिनके कान में खुँसे हुए कमल उनके गाल के पसीने से मैले पड़ गए होंगे।

इसके पश्चात् यक्ष ने मेघ से कहा है कि तुम्हें थोड़ा चक्कर तो पड़ेगा किन्तु कोई बात नहीं है—

वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां सौधोत्संगप्रणयिविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः।

विद्युद्दामस्फुरितकितैस्तव पौरांगनानां लोलापांगैर्यदि न रमसे लोचनैर्वचितोसि।।

(पूर्वमेघ, 29)

माल देश की 'भूविलासानभिज्ञ, भोली-भाली नारियोंसे भिन्न हैं उज्जयिनी की नारियाँ। (यद्यपि तुम्हारा मार्ग कुछ टेढ़ा तो पड़ेगा किन्तु तुम उज्जयिनी के विशाल भवनों से लिपटना न भूलना। तुम्हारी बिजली की चमक से डरकर जो वहाँ की नवेलियाँ चंचल चितवन चलावेंगी उन पर न रीझे तो समझो तुम्हारा जीवन अकारथ गया।)

हाँ, उधर जाते हुए निर्विन्ध्या नदी का रस ले-लेना जिसकी लहरों पर कलरव करते हुए पक्षी ही मेखला के समान और भँवर ही नाभि के समान प्रतीत होंगे। उसे देखकर समझ लेना कि वह चटक-मटक दिखाकर तुम्हें रिझा रही है क्योंकि—

स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु। (पूर्वमेघ, 30)

(स्त्रियाँ चटक-मटक दिखाकर ही अपने प्रेमियों को अपने प्रेम की बात समझा देती हैं।)

उस विरहिणी दुर्बल निर्विन्ध्या को जल से भरकर तुम श्रीविशाला विशाला उज्जयिनी में पहुँच जाना जहाँ के गाँवों में ऐसे बहुत से बड़े-बूढ़े लोग होंगे जो उदयन की कथा भली प्रकार जानते हैं।

प्राप्यावन्तीमुदयनकथाकोविदग्रामबृद्धान् पूर्वोद्दिष्टामनुसरपुरीं श्रीविशालां विशालाम्।

स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्णिगां गां गतानां शेषैः पुण्यै र्हतमिव दिवः कान्तिमत्खंडमेकम्।।

(अवन्ति देश में पहुँचकर तुम धन-धान्य से भरी हुई उस विशाला नगरी की ओर चले जाना जिसकी चर्चा मैं पहले ही कर चुका हूँ जहाँ के गाँव के बड़े-बूढ़े लोग, महाराज उदयन की कथा भली प्रकार जानते बूझते हैं। वह नगरी ऐसी लगती है मानो स्वर्ग में अपने पुण्यों का फल भोग चुकने वाले पुण्यात्मा लोग, पुण्य समाप्त होने से पहले ही, अपने बचे हुए पुण्य के बदले, स्वर्ग का एक चमकीला भाग अपने साथ धरती पर उतारे लिए चले आए हों।)

ऐतिहासिक दृष्टि से यह श्लोक बड़े महत्त्व का है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास को उज्जयिनी बहुत प्रिय थी और इस नगर से उसका बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था— वह सम्बन्ध चाहे जन्म का हो या कर्म का। दूसरी बात यह कि मेघदूत उस समय लिखा गया था जब वत्सराज उदयन द्वारा वासवदत्ता के हरण-वाली कथा बहुत पुरानी नहीं हुई थी और जिसकी चर्चा उस समय-तक अर्थात् मौर्य साम्राज्य के क्षीण होने तक प्रसिद्ध थी।

उज्जयिनी के सौन्दर्य के कारण के सम्बन्ध में कालिदास ने जो कल्पना की है वह अद्भुत है। हमारे

यहाँ माना गया है-- 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति।' इसी आधार पर कालिदास ने कहा है कि स्वर्ग में गए हुए लोगों ने सोचा कि अन्त में मर्त्यलोक में तो जाना ही पड़ेगा इसलिये उन्होंने बहुत दिनों तक स्वर्ग सुख भोग चुकने पर जब थोड़ा पुण्य बच रहा तब वे अपने बचे हुए पुण्य के बदले स्वर्ग का जो सुन्दर चमचमाता खंड साथ लेते आए वही उज्जयिनी है। यह भी एक बड़ा प्रमाण है कि कालिदास उज्जयिनी थे और इतना ही नहीं, कुछ विद्वान् तो यह भी अनुमान करते हैं कि स्वयं कालिदास ही उज्जयिनी से निष्कासित होकर चित्रकूट पर जीवन बिता रहे थे।

वहाँ के सम्बन्धों में मेघ को समझाते हुए वे कहते हैं कि उज्जयिनी में सारसों की मीठी बोली सुनाई पड़ेगी, कमल की गन्ध में बसा हुआ शिप्रा का 'प्रियतम इस प्रार्थना-चाटुकार' पवन यहाँ 'सुरतग्लानि' हर रहा होगा, अगर के धुएँ से तुम्हारा शरीर बड़ेगा, पालतू मोर नाच-नाचकर तुम्हारा अभिनन्दन करेंगे और फूलों की गन्ध से महकते हुए उन भवनों की सजावट देखकर तुम अपनी थकावट मिटाना जिनमें सुन्दरियों के चरणों में लगी हुई महावर वाले पैरों की लाल छाप बनी हुई होगी।

इसके पश्चात् उसे महाकाल के मन्दिर में जाने का निर्देश करता हुआ यक्ष कहता है कि महाकाल के पवित्र मन्दिर में शिव के गण तुम्हें अपने स्वामी शिव के कंठ के समान ही नीला देखकर तुम्हें बड़े आदर से निहारेंगे। युवतियों के स्नान से सुगन्धित और कमल के गन्ध में बसी हुई गन्धवती नदी की ओर से आने वाला पवन इन मन्दिर के उपवन को बार-बार झुला रहा होगा। वहाँ तुम महाकाल की सान्ध्य आरती में गरजकर उनके नगाड़े का साथ देना। वहाँ नृत्य करती हुई वेश्याओं के नखसतों पर जब तुम्हारी ठंडी-ठंडी बूँदें पड़ेंगी तब वे तुम्हारी ओर भौंरे के समान अपनी काली-काली चितवन चलावेंगी। संध्या की आरती हो चुकने पर जब महाकाल तांडव नृत्य करने लगे तब वृक्ष-रूपी उनके उठे हुए बाहुओं पर साँझ की ललाई लेकर तुम छ जाना जिससे शिवजी के मन की हाथी की खाल ओढ़ने की इच्छा भी पूरी हो जाय। यह दृश्य देखकर पहले तो पार्वती डर जायेंगी किन्तु फिर तुम्हें देखकर और पहचानकर वे तुम्हारी भक्ति का आदर करने लगेगी। उज्जयिनी में जो कृष्णाभिसारिकाएँ अपने प्रियतमों से मिलने के लिये अँधेरी रात में निकलें उन्हें तुम विजली चमकाकर ठीक मार्ग दिखा देना, गरजना-बरसना मत, नहीं तो वे घबरा उठेंगी। फिर तुम दिन निकले ही वहाँ से चल देना क्योंकि अपने मित्रों का काम करने का जो बीड़ा उठाता है वह आलस्य नहीं किया करता--(मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः १) सवेरा होने पर खंडिता नायिकाओं के प्रिय भी अपनी प्रियतमाओं के आँसू पोंछ रहे होंगे और सूर्य भी अपनी प्रियतमा कमलिनी के मुँह पर पड़ी हुई ओस पोंछ रहा होगा, उस समय तुम उनके हाथ न रोकना, नहीं तो वे बुरा मान जायेंगे।

इसके पश्चात् यक्ष ने गंभीरा नदी का चित्रण अत्यन्त सहृदयता और रसिकता के साथ करते हुए उसे विवस्त्रा नायिका के रूप में चित्रित किया है और कहा है कि जो जवानी का रस ले चुका है वह खुले हुए जघन वाली को भला बिना भोगे कैसे छोड़ देगा। 'ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः।' वहाँ से मेघ को देवगिरि पर्वत की ओर भेजते हुए बताया है कि चिन्घाड़ते हुए हाथी वहाँ की धरती की गंध पी रहे होंगे और वन के गूलर पकने लग गए होंगे। वहाँ सदा निवास करने वाले स्कन्द भगवान् पर जल चढ़ाकर थोड़ा गर्जन भी करना जिससे स्वामि-कार्तिकेय का मोर नाच उठे। उनकी पूजा कर चुकने पर आगे बढ़ोगे तो अपनी पत्नियों के साथ जाते हुए सिद्ध लोग मिलेंगे जो अपनी वीणा भींगने के डर से तुमसे दूर ही दूर हटे दिखाई देंगे। फिर कुछ आगे जाकर तुम चर्मण्वती नदी का जल पीने के लिये

उत्तर जाना जो राजा रन्तिदेव के गवालंभ यज्ञ की कीर्ति बनी हुई वह रही है। वहाँ तुम आकाशचारी सिद्धों और गन्धर्वों को ऐसे प्रतीत होंगे जैसे किसी एकलड़ हार में मोटा सा इन्द्रनील मणि ला पोहा गया हो। चर्मण्वती (चंबल) नदी पार करके तुम दशपुर की ओर बढ़ जाना जहाँ की रमणियों की भीहे कुन्द पर मँडराने वाले भीरों के समान चमक रही होंगी। वहाँ से चलकर सीधे ब्रह्मावर्त पर छाया करते हुए कुरुक्षेत्र पर उड़ते चले जाना जो कौरवों और पाँडवों की घरेलू लड़ाई के कारण दुर्नाम है और जहाँ गांडीव-धारी अर्जुन ने राजाओं के मुखों पर उसी प्रकार अगणित बाण बरसाए थे जैसे तुम कमलों पर अपनी जलधारा बरसाया करते हो। वहाँ सरस्वती नदी का वह शीतल जल पीकर तुम्हारा मन उजला हो जायगा जिसे बलराम ने भी मदिरा छोड़कर ग्रहण किया था। वहाँ से चलकर तुम कनखल पहुँच जाना जहाँ हिमालय से उतरी हुई गंगा मिलेगी जिन्होंने सगर के पुत्रों को स्वर्ग पहुँचा दिया था और जो अपनी लहरों के हाथ चन्द्रमा पर टेककर मानो शिव के केश पकड़कर पार्वती को बता रही हों कि शिव मेरी मुड़ी में हैं। वहाँ जल पीते समय गंगा पर चलती हुई तुम्हारी छाया ऐसी प्रतीत होगी मानो प्रयाग पहुँचने से पहले ही गंगा से यमुना आ मिली हों। वहाँ से तुम गंगोत्री पहुँचकर अपनी थकावट मिटा लेना जहाँ की शिलाएँ कस्तूरी मृगों के बैठने से सदा महकती रहती हैं।

वक्ष्यस्यध्वश्रमविनय ने तस्य शृंगे निषण्णः शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खात-पङ्कोपमेयाम् ।।

(पूर्वमेघ, 56)

(उस समय पर्वत की चोटी पर बैठे हुए तुम वैसे ही दिखाई दोगे जैसे महादेव के उजले साँड़ के सींगों पर मिट्टी के टीलों पर टक्कर मारने से कीचड़ जमा हुआ हो।)

देखो मेघ! जब अन्धड़ चलने से देवदारु के वृक्षों की रगड़ से जंगल में आग लगने लगे और उसकी चिनगारियाँ सुरागाय के लंबे-लंबे रोएँ जलाने लगे तब तुम धुआँधार पानी बरसाकर उसे बुझा देना क्योंकि--

‘आपन्नार्तिप्रशमनफलाः संपदो ह्युत्तमानाम् ।’ (पूर्वमेघ, 57)

(भले लोगों के पास जो कुछ होता है वह दीन-दुखियों का दुःख मिटाने के लिये ही तो होता है)–

हिमालय पर जब शरभ जाति के आठ पैरों वाले जीव बहुत उछलने-कूदने लगे और तुम पर सींग चलाने को झपटें तब तुम धुआँधार ओले बरसाकर उन्हें तितर-बितर कर देना क्योंकि ‘के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारंभयत्नाः ।’ (पूर्वमेघ, 58)

(बेकाम का काम करने वालों को ऐसे ही ठीक करना चाहिए।)

वहाँ पर्वत की एक शिला पर शिव के जिन पैरों की छाप पर सिद्धलोग पूजा चढ़ाते हैं वहाँ तुम भी भक्ति-भाव से झुककर प्रदक्षिणा कर लेना क्योंकि श्रद्धावान् लोगों के पाप उनके दर्शन से ही धुल जाते हैं। वहाँ के पोले-पोले बाँसों में वायु भरने से बज उठने वाले मीठे स्वरों के साथ किन्नरों की स्त्रियाँ जब त्रिपुर-विजय का गीत गाने लगे तब तुम भी मृदंग के समान गर्जन करके संगीत के सब अंग पूरे कर देना। हिमालय पर्वत के आसपास सब सुन्दर स्थान देखकर तुम उस क्रौञ्च-रन्ध्र से होकर उत्तर की ओर बढ़ जाना जिसमें से होकर हंसों के समूह मानसरोवर की ओर जाया करते हैं और जिसे छेदकर परशुराम जी अमर हो गए हैं। उस सँकरे मार्ग में तुम वैसे ही लंबे और तिरछे होकर जाना जैसे बलि को छलने के समय विष्णु का साँवला चरण लंबा और तिरछा हो गया था। वहाँ से ऊपर तुम उस कैलास

पर्वत पर पहुँच जाओगे जिसकी चोटियों के जोड़-जोड़ रावण के बाहुओं ने हिला डाले थे, जिसमें देवताओं की स्त्रियाँ अपना मुँह देखा करती हैं और जिसकी कुमुद जैसी उजली चोटियाँ आकाश में इस प्रकार फैली हैं मानो—

राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यंबकस्याट्टहासः। (पूर्वमेघ, 62)

(नित्य का इकट्ठा किया हुआ शिवजी का अट्टहास हो।) कालिदास की उपमाओं में यह उपमा बड़े महत्त्व की और अप्रतिम समझी जाती है। इतना ही नहीं, तुरन्त काटे हुए हाथी-दाँत के समान गोरे कैलास पर चिकने घुटे हुए आँजन के समान अपना काला रूप लेकर तुम वैसे ही सुहावने लगोगे जैसे बलराम के कन्धों पर पड़े हुए चटकीले नीले वस्त्र। इसी प्रसंग में मेघ को यक्ष समझाता है 'कि उस कैलास पर जब महादेव के हाथों में हाथ डाले पार्वती टहल रही हों तब तुम बरसना मत, वरन् सीढ़ी के समान बन जाना जिससे उन्हें ऊपर चढ़ने में सुविधा हो।' शिव के सम्बन्ध में कालिदास का इतना भक्तिपूर्ण उल्लेख इस बात का साक्ष्य है कि कालिदास निश्चय ही पक्के शैव थे।

इतना भक्ति-जनक निर्देश कर चुकने के पश्चात् यक्ष पुनः शृंगार की ओर प्रवृत्त होकर कहता है कि वहाँ पर्वत पर जब अप्सराएँ अपने नग-जड़े कंगनों के गहने चुभोकर तुम्हारे शरीर से धाराएँ निकालने लगेँ और बहुत छुड़ाए तुम्हें न छोड़े तब तुम कान फोड़ने वाला गर्जन सुनाकर उन्हें डरा देना। वहाँ पहुँकर पहले तो तुम सुनहरे कमलोंसे भरे हुए मानसरोवर का जल पीना, फिर कपड़े के समान थोड़ी देर ऐरावत के मुँह पर छाकर उसका मन बहलाना; तब कल्पद्रुम के कोमल पत्ते हिलाते हुए कैलास पर्वत पर जी भरकर घूमना।

अलका का वर्णन करते हुए यक्ष कहता है कि उस कैलास पर्वत की गोद में बसी हुई अलका वैसी ही लगती है जैसे किसी प्रियतम की गोद में बैठी कामिनी हो और वहाँ से निकली हुई गंगा ऐसी प्रतीत होती है मानो उस कामिनी के शरीर पर से सरकी हुई उसकी साड़ी हो।

इसके पश्चात् यक्ष ने अलकापुरी का विस्तृत, संश्लिष्ट, भावपूर्ण तथा भव्य परिचय देते हुए बताया है कि अलका में ऊँचे भवन, सुन्दरी नारियाँ, भवनों में रंगबिरंगे चित्र, संगीत की तानारीरी और मृदंग की गड़गड़ाहट, नीलम से जड़ी हुई धरती और गगन-चुम्बी अटारियाँ विद्यमान हैं। वहाँ की कुल-वधुओं के हाथों में कमल के आभूषण, चोटियों में कुन्द के फूल, मुँह पर लोध के फूलों का पराग, जूड़े में कुरबक (कटसरैया के फूल), कानों पर सिरस के फूल और माँग में कदम्ब के फूल टँके दिखाई देंगे। वहाँ सदा फूलने वाले वृक्ष, बारहमासी कमल और कमलिनियाँ, सदा बसे रहने वाले हंस, चमकीले पंखों वाले पालतू मोर तथा सदा प्रसन्न यक्ष और यक्षिणियों की भरमार है। वहाँ के प्रसन्न यक्ष नित्य अपने भवनों में अपनी प्रियाओं के साथ बैठकर वह मधु पीते हैं जो बाजों के बजने के कारण कल्पवृक्ष से निकला करता है। वहाँ की सुन्दरी कन्याएँ मन्दाकिनी के तट पर रत्नों से खेलती हैं और चन्द्रकान्त मणियों से टपकता हुआ जल वहाँ की स्त्रियों की थकावट दूर किया करता है। अथाह संपत्ति वाले यक्ष अप्सराओं और किन्नरों के साथ वहाँ के वैभ्राज उपवन में निवास करते हैं, कल्पवृक्ष से उन्हें सब शृंगार की वस्तुएँ मिलती रहती हैं, पत्ते के समान साँवले वहाँ के घोड़े, रंग और चाल में सूर्य के घोड़ों को कुछ नहीं समझते, पहाड़-जैसे ऊँचे हाथी वहाँ मद बरसाते चलते हैं, रावण से लड़ने वाले वीर लोग घाव के चिह्नों को ही आभूषण समझते हैं और शिव का निवास वहाँ होने के कारण कामदेव भी अपना भौरों की डोरी वाल धनुष न चढ़ाकर छबीली कामिनियों की बाँकी चितवन से ही काम निकाल लेता है। कालिदास ने अलका की वनस्पति

और जीव-जन्तुओं का जो वर्णन किया है वह वनस्पति-शास्त्र और प्रकृति-शास्त्र के सर्वथा विपरीत है क्योंकि हिमालय के उस प्रदेश में बकुल, कुन्द, कदम्ब, मोर, घोड़े और हाथी नहीं हो सकते। किन्तु वहाँ तो दैवी सृष्टि थी जिसके लिये वनस्पति-शास्त्र प्रमाण नहीं है।

इस प्रकार का स्थान किसी भी सहृदय व्यक्ति के मन में उसे देखने की उत्कण्ठा उत्पन्न कर सकता है, इसीलिये यक्ष ने पहले अलका का वर्णन किया और इसके पश्चात् वह अपने घर का वर्णन करने लगता है—

‘कुबेर के भवन से उत्तर की ओर इन्दुधनुष के समान सुन्दर गोल फाटक-वाला मेरा घर दूर से दिखाई पड़ेगा जिसके पास ही फूलों के गुच्छों से लदा और नीचे तक झुका हुआ कल्पवृक्ष खड़ा है। भीतर जाने पर नीलम जड़ी हुई सीढ़ियों वाली बावड़ी है जिसमें चिकने वैदूर्य मणि की-सी डंठल वाले सुन्दर कमल खिले हैं। उसके जल में बसे हुए हंस इतने सुखी हैं कि मानसरोवर पास होने पर भी और तुम्हें देखकर भी वे वहाँ नहीं जाना चाहेंगे। इस बावड़ी के तीर पर नीलमणि की चोटी वाला बनावटी पहाड़ है जिसके चारों ओर सोने के केले लगे हुए हैं। इस पर्वत पर कुरबक के वृक्षों से घिरे हुए माधवी मंडप के पास एक तो कंचन के से पत्तों वाला लाल अशोक का वृक्ष है और दूसरा मौलसिरी का वृक्ष है। उनमें से अशोक तो मेरी प्रिया के बाएँ पैर की ठोकर खाने के लिये और मौलसिरी का पेड़ उसके मुँह से छोड़े हुए मदिरा के छीटे पाने के लिये तरस रहा होगा। उन दोनों के बीच में चमकीले मणियों की चौकी पर बनी हुई स्फटिक की चौकोर पटिया पर जड़ी हुई सोने की छड़ पर तुम्हारा मित्र मोर नित्य साँझ को आकर बैठा करता है जिसे मेरी पत्नी अपने घुँघरू पर कड़े वाले हाथों से तालियाँ बजा-बजाकर नचाया करती है। मेरे द्वार पर शंख और चक्र के चिह्न देखकर तुम मेरा वैष्णव घर अवश्य पहचान लोगे जो मेरे बिना बड़ा उदास दिखाई पड़ रहा होगा। वहाँ हाथी के बच्चे के समान छोटे से बनकर पहाड़ी की सुहावनी चोटी पर बैठकर जुगनुओं के समान अपनी आँखें मिचकाकर घर के भीतर झाँक लेना।’

रमणीक मार्ग, भव्य पुरी तथा मनोरम भवन के वर्णन से मेघ में वहाँ जाने की उत्कंठा जगाकर यक्ष ने अपनी पत्नी के रूप का वर्णन किया है जिससे मेघ को यह विश्वास हो जाय कि जिसके पास मुझे भेजा जा रहा है वह कुदर्शन (असुन्दर) नहीं—

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिंबाधरोष्ठी मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।

श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः।।

(उत्तरमेघ, 22)

(वहाँ दुबली-पतली, नोकीले दाँतों-वाली, पके हुए बिंबा-फल के समान लाल होठों वाली, पतली कमर वाली, डरी हुई हिरन-सी आँखों वाली, गहरी नाभि वाली, नितंबों के बोझ से धीरे-धीरे चलने वाली और स्तनों के भार से कुछ आगे को झुकी हुई जो युवती तुम्हें दिखाई दे, वही मेरी पत्नी होगी। उसकी सुन्दरता देखकर ऐसा जान पड़ेगा मानो ब्रह्मा की सबसे बढ़िया कारीगरी वही हो।) आगे उस विरहिणी का परिचय देते हुए यक्ष कहता है— ‘विरहिता चकवी के समान अकेली और कम बोलने वाली उस प्रेयसी को देखकर तुम समझ लोगे कि वह मेरा दूसरा प्राण ही है। विरह में उसका रूप इतना बदल गया होगा कि उसे देखकर तुम्हें पाले से मारी हुई कमलिनी का भ्रम हो सकता है। रोते-रोते उसकी आँखें सूज आई होंगी, गरम उसीसों से उसके ओठों का रंग उड़ गया होगा, चिन्ता के कारण गाल पर हाथ धरने से और मुँह पर बाल आ जाने से उसका अधूरा दिखाई देने वाला मुँह मेघ से ढके हुए चन्द्रमा के समान उदास दिखाई देने लग गया होगा।’

अपनी प्रियतमा की विरह-क्रियाओं का वर्णन करते हुए यक्ष कहता है कि 'या तो वह पूजा चढ़ाती मिलेगी या मेरा चित्र बनाती मिलेगी या मैना से पूछ रही होगी कि तुम अपने पति को स्मरण करती हो या नहीं या मैले कपड़े पहने गोद में वीणा लिए ऊँचे स्वर में मेरे नाम के गीत गाती होगी। उस समय वेसुधी में उसे राग के उतार-चढ़ाव का भी ध्यान न रहता होगा या देहली पर रखे हुए फूलों को देखकर शाप के वचे हुए दिन गिन रही होगी या मन ही मन पिछली मधुर स्मृतियों का आनन्द ले रही होगी। उसकी प्यारी सखियाँ दिन में उसका साथ नहीं छोड़ती होंगी इसीलिये उसके पलंग के पास वाली खिड़की पर जा बैठना और जब उसकी सब सखियाँ सो जायँ तब उसके पास पहुँच जाना और ढूँढ लेना। वह एक करवट पड़ी होगी, आँसू बहा रही होगी और बढ़े हुए नखों वाले हाथ से वह अपने गालों पर छाप हुए रूखे और उलझे हुए बाल हटा रही होगी। विरह के कारण चन्द्रमा की किरणें भी उसे कष्ट देती होंगी। आजकल वह कोरे जल से नहा रही होगी इसलिये उसके रूखे बाल मुँह पर लटककर उसके पतले ओंठों को तपाने वाली साँसों से हिलते जा रहे होंगे। वह स्वप्न में मुझसे मिलने के लिये नींद बुलाती होगी पर बहते हुए आँसू उसकी आँखें नहीं लगने देते होंगे।

फिर यक्ष उसे बड़े कौशल और मनोवैज्ञानिक ढंस से मर्म की बात अर्थात् सन्देश देने की रीति, भूमिका और सन्देश की बात समझाता है कि 'देखो मेघ! तुम्हारे पहुँचने पर यदि उसे कुछ नींद आने लगे तो उसके पीछे चुपचाप एक पहर ठहरे रहना जिससे यदि वह स्वप्न में मुझसे मिल रही हो तो मेरे कंठ में पड़ी हुई उसकी भुजाएँ अचानक नींद टूटने से छूट न पड़ें। किन्तु यदि एक पहर ठहरने पर भी वह आँखें न खोले तो तुम अपने जल की फुहारों से ठंडा किया हुआ वायु चलाकर उसे जगा देना और अपनी विजली को छिपाकर मन्द गर्जन के साथ पहले अपना परिचय देना और फिर जैसे सीता ने उत्सुक होकर हनुमान का सन्देश सुना था उसी प्रकार जब वह उत्सुक होकर सुनने की उत्कण्ठित हो जाय, तब तुम उससे कहना कि 'तुम्हारा बिछुड़ा हुआ साथी रामगिरि के आश्रम में कुशल से है और तुम्हारा कुशल जानना चाहता है क्योंकि जिन लोगों पर अचानक विपत्ति आ गई हो उनसे पहले-पहल यही पूछना ठीक होता है। उससे कहना कि 'दूर बैठे हुए प्यारे साथी का मार्ग यद्यपि बैरी ब्रह्मा रोके बैठा है तथापि अपनी विरह-दशा से ही वह तुम्हारी दशा समझ लेता है।' उससे कहना कि-

श्यामास्वंगं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ।

उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान् हन्तैकस्मिन् क्वचिदपि न ते चंडि! सादृश्यमस्ति ।।

(उत्तरमेघ, 46)

(मैं यहाँ बैठा प्रियंगु की लता में तुम्हारा शरीर, डरी हुई हरिणी की आँखों में तुम्हारी आँखें, चन्द्रमा में तुम्हारा मुख, भौरों के पंखों में तुम्हारे बाल और नदी की छोटी-छोटी लहरियों में तुम्हारी कटीली भाँहें ढूँढ़ा करता हूँ पर तुम्हारी बराबरी उनमें कहीं नहीं मिलती।)

इतना ही नहीं—

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागे शिलायां आत्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।

अस्रैस्तावन्मुहुरूपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ।।

(ज्यों ही मैं पत्थर की शिला पर गेरू से तुम्हारी रूठी हुई मूर्ति का चित्र खींचकर तुम्हारे पैर पकड़ने चलता हूँ त्यों ही आँसू उमड़ने से नेत्रों के आगे अँधेरा छा जाता है और निर्दयी काल चित्र में भी हमारा मिलन नहीं सह सकता ।)

इतनी भूमिका के पश्चात् यक्ष अपनी विरह-दशा का वर्णन करते हुए समझाता है कि 'बहुत कुछ सोच-विचारकर मैं अपने मन को ढाढ़स बँधा लेता हूँ इसलिये तुम भी दुखी मत होना क्योंकि सुख या दुःख तो पहिए के हाल के समान यों ही नीचे-ऊपर आया-जाया करते हैं। अगली देवउठनी एकादशी को जब विष्णु भगवान् शेष-शय्या से उठेंगे उसी दिन मेरा शाप भी बीत जायगा। इसलिये अगले चार महीने किसी-किसी प्रकार आँख मूँदकर बिता डालो ।'

आषाढ़ के पहले दिन यह सन्देश दिया गया और मेघ को इतना समय दिया गया कि वह स्थान-स्थान पर ठहरता हुआ, दृश्य देखता हुआ देवोत्थान्या एकादशी से चार मास पूर्व अलका पहुँच जाय। इस प्रकार मेघ को अलका तक पहुँचने के लिये 25 दिन का समय दिया गया कि वह आषाढ़ शुक्ल एकादशी को अलका पहुँच जाय। इसीलिये यक्ष कहता है कि आज से शेष चार मास तुम किसी-किसी प्रकार आँख मूँदकर बिता लो ।

हनुमान् जब सीता की खोज में निकले थे तब भगवान् राम ने अपनी अगूँठी उन्हें पहचान के लिये दी थी किन्तु यक्ष ने केवल गोत्र-स्मरण की एक घटना का विवरण पहचान के लिये सन्देश के साथ मेघ को दे दिया है जिससे यक्षिणी को अविश्वास न हो। आगे कालिदास ने भी विरह में ही प्रेम की आवृत्ति का वर्णन करते हुए कहा है—

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगादिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशी भवन्ति ।।

(उत्तरमेघ, 55)

(न जाने लोग क्यों कहा करते हैं कि विरह में प्रेम कम हो जाता है। सच्ची बात तो यह है कि जब चाही हुई वस्तु नहीं मिलती तभी उसके पाने के लिये प्यास बढ़ जाती है और प्रेम ढेर बनकर इकट्ठा हो जाता है ।)

यह सन्देश देकर उसने मेघ से प्रार्थना की है कि मेरी प्रियतमा को ढाढ़स बँधाकर उसके कुशल-समाचार पाकर और उससे अभिज्ञान लेकर तुम यहाँ लौट आना और मेरे प्राणों की रक्षा करना ।

यक्ष इतना चतुर है कि वह मेघ की स्वीकृति की भी चिंता नहीं करता और पूछता है— 'बन्धु! तुमने मेरा काम करना निश्चय किया है या नहीं? पर इससे यह न समझ बैठना कि तुम्हारी स्वीकृति लेकर ही मैं तुम्हें इस काम के योग्य समझूँगा क्योंकि तुम तो चातक के माँगने पर बिना कुछ कहे ही जल दे देते हो इसलिये—

प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ।

(उत्तरमेघ, 57)

(सज्जनों की रीति ही यह है कि दूसरों का काम पूरा करना ही उनका उत्तर होता है।) और इसके पश्चात् वह मंगल कामना करता हुआ कहता है कि 'चाहे मित्रता के नाते, चाहे मुझ पर कृपा करके, तुम पहले मेरा प्यारा काम कर देना और फिर अपना वरसाती रूप लेकर जहाँ मन चाहे वहाँ घूमना। मैं यही मानता हूँ कि प्यारी विजली से एक क्षण के लिये भी तुम्हारा वियोग न हो।'

इस प्रकार 'आषाढस्य प्रथम दिवसे' चित्रकूट पर्वत पर छाए हुए मेघ को देखकर यक्ष के मन में कालिदास ने उसे दूत बनाकर भेजने की वासना जगाकर विश्व में—विशेषतः भारतीय साहित्य में दूत-काव्य की अत्यन्त स्पृहणीय परम्परा बाँध दी जिसके अनुसरण पर अनेक कवियों ने दूत-काव्य लिखे किन्तु शृङ्गार रस से ओत-प्रोत वनस्पति-मानव-प्रवृत्ति तथा जड़ प्रकृति की सूक्ष्म निरीक्षण भावना से भरा हुआ यदि कोई दूत-काव्य संसार में सफल और लोकप्रिय हो सका तो वह महाकवि कालिदास का अद्वितीय काव्य मेघदूत ही है।



मेघदूत का अध्ययन-शिव का स्वरूप

(डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्राध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)

पंडितों की दृष्टि में मेघदूत-काव्य का संदर्भ कुछ भी हो, स्वयं कालिदास ने मेघदूत में बड़े कौशल से शिव के स्वरूप का सन्निवेश कर दिया है। उसके उज्जयिनी के वर्णन में महाकाल शिव के पुण्यधाम का, शिव के गणों का, उनके नीलकंठ गुण का, शिवजी के नृत्य का तथा उसके आरम्भ में गजासुर की कृत्तिके परिधान का उल्लेख है, (मे० १ १४०) शंकर को शूली कहकर उनके त्रिशूल की ओर भी संकेत है। चंडी, भवानी और गौरी के नाम भी हैं। शिव के अट्टहास का (मे० १ १६२), उनकी जटाओं में कल्लोल करती हुई जह्नतनया का तथा पार्वती के साथ गंगा के सपत्नी-भाव का भी वर्णन है (मे० १ १५४)। शंभु के भुजंगों का, पार्वती के साथ उनके विहार का (मे० १ १६४), कुबेर के साथ उनकी मैत्री का, किन्नरियों-द्वारा उनके यशोगान का, त्रिपुर की विजय का एवं उनके वृषभ का भी वर्णन है। शिवजी त्रिनयन हैं (मे० १ १५६), उनके ललाट पर द्वितीया के चन्द्रमा की कला है (मे० १ १५९), मदन का दहन कर चुके हैं, इसलिये जहाँ शिव का निवास है वहाँ कामदेव जाने से डरता है। देवांगनाओं के दर्पण के समान काम में आने वाले रजतगिरि कैलास के उत्संग में तो अलकापुरी ही बसी हुई है। शिवजी पशुपति हैं (१ १६०), उनके चरण न्यास की परिक्रमा और दर्शन करके श्रद्धालु जन स्थिर पद अर्थात् अनावृत्तिमय मोक्ष पाने में समर्थ होते हैं (मे० १ १५९) और जो शिव के प्रमथ आदि गणों का स्थान है।

स्वामिकार्तिकेय और उनके जन्म का भी उल्लेख कवि ने किया है। कार्तिकेय स्कंद क्या हैं? शिवजी का जो सूर्य से भी अधिक प्रभावशाली तेज है वही अग्नि के मुख में संचित होकर कुमार के रूप में प्रकट हुआ है (अत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः, मे० १ १४७)। कुमार का निवास स्थान देवगिरि है, मेघ को वहाँ जाकर पुष्पाकार जलबिन्दु बरसाने का आदेश है क्योंकि स्कन्द का जन्म देवासुर-संग्राम में देवसेना की रक्षा के लिये हुआ था, इसलिये वे पूजा की अंजलि के अधिकारी हैं। कालिदास ने स्कंद के मयूर को भी स्मरण किया है। पुत्र के अतिशय प्रेम के कारण भवानी पार्वती कुमार के वाहन मयूर के गिरे हुए पंख को कान का अलंकार बनाकर पहनती हैं। उस मयूर को नृत्य के द्वारा आनन्दित करने का भी मेघ को परामर्श है। इस प्रकार अनेक प्रकार से वृक्षराजकेतन शिव के स्वरूप का निर्देश कालिदास ने मेघदूत में किया है। इस स्वरूप पर विस्तृत विचार करने की आवश्यकता है।

कवि के अनुसार मेघ तो कामरूप पुरुष है और हरने अपने कोपानल से काम को भस्म कर दिया था, इसलिये भी शिव और वृषात्मक मेघ का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तुतः कालिदास का सम्पूर्ण दार्शनिक विज्ञान शिव के स्वरूप के पीछे छिपा हुआ है। शिव, पार्वती और कुमार कौन हैं, इस पर सूक्ष्म विचार कर लेने से हम केवल कालिदास के ही नहीं, वरन् अन्य भारतीय साहित्य के सिद्धान्तों को भी सहानुभूति के साथ समझ सकेंगे। कालिदास उत्कृष्ट कोटि के अद्वैतवाद को मानने वाले थे। वेदान्त-प्रतिपादित ब्रह्म को ही वे शिव कहते हैं। ब्रह्म की शिव संज्ञा वेदों में भी कई स्थानों पर आई है—

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शंकराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥

(यजुः १६ १४१)

यहाँ शिव के शम्भु, शंकर, मयस्कर, मयोभव नाम आए हैं। कालिदास ने शिव की अखण्ड सत्ता का बराबर गुणगान किया है जो ब्रह्मा सब लोकों का अधिष्ठाता है, जिसकी आत्मशक्ति अपने गुणों से युक्त होकर प्रकृति की रचना और उसके विसर्जन का कार्य करती रहती है, वही अव्ययात्मा, अज, स्वयम्भू, अष्टमूर्ति (रघुवंश 2।35) भूतपति महेश हैं। जिन अष्ट स्वरूपों की स्तुति कालिदास ने शकुन्तला के मंगल-श्लोक में की है वे ही गीता में भी हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥7।4॥

(पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इन आठ रूपों में मेरी प्रकृति विभाजित है)। कवि ने स्वयम्भू, विष्णु और शिव, इस त्रिमूर्ति के अद्वैत भाव का भी प्रतिपादन किया है। ब्रह्मा का वर्णन करते समय उन्होंने स्पष्ट कहा है कि शिव, ब्रह्मा और विष्णु में कोई भेद नहीं है (कुमारसंभव 2।4)।

कालिदास के दार्शनिक मत में एक, अखण्ड, शुद्ध और अद्वैत ब्रह्म ही परम तत्त्व है। उनकी त्रिवेदस्तुतियाँ उपनिषदों के समान ब्रह्म का सरस और निर्भीक प्रतिपादन करने वाली हैं। रघुवंश के दशम सर्ग में (16 से 31 तक) क्षीरसागर-स्थित अवाङ्मनस-गोचर शेषासीन विष्णु भगवान् को प्रणाम करके देव लोग उनकी स्तुति करते हैं।

कलितान्योन्यसामर्थ्यैः पृथिव्यादिभिरात्मभिः ।

येनेदं ध्रियते विश्वं ध्रुयैर्यानमिवाध्वनि ॥

(कुमार-संभव, 6।76)

शिवः विश्वगुरोरुरुः (कु० 6।82), विश्वात्मा (कु० 6।88), त्रैलोक्य-वन्द्य (कु० 7।54) और तमोविकार से अनपहत (कु० 7।48) हैं। वह शिव किसी की स्तुति नहीं करता, उसकी सब स्तुति करते हैं, वह किसी की वन्दना नहीं करता, उसकी सब वन्दना करते हैं (कु० 6।83), वह जगत् का अध्यक्ष और मनोरथों का अविषय है (कु० 6।17), वाणी, मन और बुद्धि की वहाँ पहुँच नहीं है, उसको तत्त्वतः कौन जान सकता है?

किं येन सृजसि व्यक्तमुत येन बिभर्षि तत् ।

अथ विश्वस्य संहर्ता भागः कतम एष ते ॥ (कु० सं०, 6।32)

ब्रह्म के अद्वैत का प्रतिपादन करके कालिदास आगे बढ़ते हैं। जो अनन्त पुरुष लोकलोकान्तर का अधिष्ठाता है, वही हमारे आत्म-तत्त्व में प्रतिष्ठित है। गीता में जिसे अक्षर कहा है (अक्षरं परमं ब्रह्म, गी० 8।13) उसमें और हृदय-देश में स्थित आत्मेश्वर में कोई भेद नहीं है। गीता का क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार कालिदास को मान्य है—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ (गीता, 13।1)

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।

क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥2॥

(हे अर्जुन! इसी शरीर को क्षेत्र कहते हैं। इस क्षेत्र को जो जानता है उसे इस शास्त्र को जानने वाले क्षेत्रज्ञ कहते हैं। हे भारत! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ मुझे ही समझो। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है वही मेरा ज्ञान माना गया है)। इस प्रकार गीता के अक्षर, क्षेत्रज्ञ, तद्धिद् आदि शब्द भी कालिदास ने ले लिए हैं—

यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् । (कुमार0, 3।50)

योगिनो यं विचिन्वन्ति क्षेत्राभ्यन्तरवर्तिनम् ।

अनावृत्तिमयं यस्य पदमाहुर्मनीषिणः ।। (कुमार0, 6।77)

कालिदास ने उसी योगसाधना-मार्ग का वर्णन किया है जिसका प्रतिपादन गीता में है—

‘योगाभ्यासी पुरुष ऐसे शुद्ध आसन पर अपना स्थिर आसन लगावे जो न बहुत ऊँचा हो न नीचा। उस पर पहले दर्भ और फिर मृगछाला और वस्त्र बिछावे। वहाँ चित्त और इन्द्रियों का व्यापार रोककर तथा मन को एकाग्र करके आत्म-शुद्धि के लिये आसन पर बैठकर योग का अभ्यास करे।

काय अर्थात् पीठ, मस्तक और ग्रीवा को सम करके स्थित होता हुआ, दिशाओं को न देखे और नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि जमावे। वायुरहित स्थान में रखे हुए दीपक की ज्योति जैसे निश्चल होती है, वही उपमा चित्त को संयत करके योगाभ्यास करने वाले योगी की भी दी जाती है। योगानुष्ठान से निरुद्ध हुआ चित्त स्वयं आत्मा को देखकर आत्मा में ही संतुष्ट हो रहता है.....।

इसकी तुलना कुमारसंभव (3।44-50) से करनी चाहिए—

स देवदारुद्रुमवेदिकायां शार्दूलचर्मव्यवधानवत्याम् ।

आसीनमासत्रशरीरपातस्त्रयम्बकं संयमिनं ददर्श ।।

पर्यकबन्धस्थिरपूर्वकायमृज्वायतं सन्नमितोभयांसम् ।

उत्तानपाणिद्वयसन्निवेशात् प्रफुल्लराजीवमिवाकमध्ये ।।

भुजंगमोन्नद्धजटाकलापं कर्णवसक्तं द्विगुणाक्षसूत्रम् ।

कंठप्रभा-संग-विशेषनीलां कृष्णत्वचं ग्रन्थिमतीं दधानम् ।।

किंचित्प्रकाशस्तिमितोग्रतारैर्भ्रूविक्रियायां विरतप्रसंगैः ।

नेत्रैरबिस्पन्दितपक्षममालैर्लक्ष्यीकृतघ्राणमधोमयूखैः ।।

अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तरंगम् ।

अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निर्वातनिष्कम्पमिव प्रदीपम् ।

कपालनेत्रान्तरलब्धमार्गेज्योतिः प्ररोहैरुदितैः शिरस्तः ।

मृणालसूत्राधिकसौकुमार्या बालस्य लक्ष्मीं ग्लपथन्तमिन्दोः ।।

मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्तिं हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम् ।

यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् ।।

“आसन्न-मृत्यु काम ने देवदारुओं के अधोभाग में बनी हुई वेदी पर बाघम्बर बिछाकर बैठे हुए समाधिनिष्ठ शिव को देखा। वे वीरासन से शरीर के ऊर्ध्व भाग को निश्चल करके मेरुदण्ड सीधा ताने हुए थे, उनके दोनों स्कन्ध प्रदेश कुछ आगे को झुके हुए थे, हथेली के ऊपर रखी हुई हथेली को प्रफुल्ल कमल के समान अंक में धारण किए हुए थे। भुजंग से लिपटी हुई जटाओं वाले, कानों से लटकती हुई दुहरी रुद्राक्ष मालाओं वाले, नीलकण्ठ की प्रभा के मिलने से विवृद्ध कान्ति वाली कृष्ण मृगछाला गले में

गाँठ लगाकर पहने हुए शंकर जी, नीचे छूटती हुई प्रकाश की किरणों वाले उन नेत्रों से नासिका के अग्रभाग को देख रहे थे, जिन मन्द प्रकाश से युक्त नेत्रों की उग्र पुतलियाँ निश्चल थीं, जो भ्रूविक्षेप में अनासक्त थे तथा जिनका निमेषोन्मेष कार्य भी बन्द था। वृष्टि-संक्षोभ से रहित मेघ के समान तथा तरंगरहित ताल के समान प्राणापानादि शरीरस्थ वायुओं का निरोध करके वे निष्कम्प प्रदीप की भाँति स्थित थे। कपालस्थ विवृति-मार्ग से भीतर प्रवेश पाकर सिर पर फूटती हुई तेज की किरणें कमल से भी अधिक कोमल इन्दु की कान्ति को फीकी कर रही थीं। इस प्रकार प्राणिधान से वश में किये हुए मन को, समस्त इन्द्रियों की वृत्तियों से हटाकर, हृदय-देश में अधिष्ठित करके उस परमात्म-तत्त्व को आत्मा में ही प्रत्यक्ष कर रहे थे, जिसे क्षेत्रविद् लोग कूटस्थ¹ ब्रह्म कहते हैं।

शिव, विष्णु और ब्रह्म का अद्वैतभाव, शिव और कूटस्थ आत्मा का तादात्म्य और योग-द्वारा उस अक्षर ब्रह्म का साक्षत्कार ही कालिदास का दार्शनिक मत है।

शिव के द्वारा मदन-दहन का रहस्य

शिव जिस समय आत्म-प्रत्यक्ष करना चाहते हैं, उस समय काम उनके मार्ग में विघ्न करता है। उस काम को वे अपने वश में करते हैं। बोधि-लाभ करने से पूर्व भगवान् बुद्ध को भी मार-विजय करना पड़ा था। काम और शिव का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। काम की संज्ञा वृष है, वृष नाम मेघ का है। मेघ ही वृषाकपि इन्द्र का कामरूप पुरुष है, अर्थात् वृष, काम और मेघ एक ही तत्त्व के नामान्तर हैं। जिस मेघ को दूत कल्पित करके यज्ञ अपने कामोद्गारों का प्रकाश करता है, उसको बारम्बार परामर्श है कि वह शिव को प्रसन्न करे, भक्ति से नत होकर हर-चरणन्यास की परिक्रमा करे तथा अपना स्निग्ध गम्भीर घोष, पशुपति के संगीत-साज के काम में लावे। काम का निग्रह करने वाले शिव, काम से किस प्रकार प्रसन्न हो सकते हैं, इसका उत्तर शिव-पार्वती का विवाह है। पार्वती सुषुम्णा नाड़ी का नाम है। मेरुदंड हिमालय है, इसी के भीतर सुषुम्णा है। इस मेरुदंड में छह चक्र और तैत्तिरीय पर्व या अस्थि-पोर हैं। ये पोर एक दूसरे से सटे रहते हैं। मेरु ही पर्वत है (पर्वाणि सन्त्यस्य)। उस पर्वत के भीतर रहने वाली सुषुम्णा पर्वतराज की पुत्री पार्वती हैं। अस्थि-पोरों के भीतर एक छिद्र है, पर्वों के परस्पर मिलने से वह रन्ध्र, दीर्घ-नलिकाकार हो जाता है। इसी के भीतर सुषुम्णा नाड़ी है। वह नाड़ी मस्तिष्क से होती हुई पृष्ठ-वंश में अवस्यूत होकर सबसे नीचे के मूलाधार चक्र तक आती हैं। पर्वास्थिके भीतर पहले श्वेत फिर विभूति वर्ण का भूरा मज्जामय पदार्थ भरा रहता है जो मस्तिष्क के कोषों में भी पाया जाता है। इसी मज्जामय सुषुम्णा के भीतर एक सूक्ष्म विवर है जो नीचे से ऊपर-तक आयत रहता है। सुषुम्णा के बाईं ओर इडा और दक्षिण ओर पिंगला नाम की नाड़ियाँ हैं जो सुषुम्णा से संबद्ध रहती हैं और सहस्र जाल से फैलती हुई अन्त में कपालस्थ आज्ञा चक्र में सुषुम्णा से मिल जाती हैं। ये नाड़ियाँ सब प्राण की वाहिका हैं और प्राण ही जीवन-तत्त्व है।

भौतिक पक्ष में इस प्राण के आधार ये सब नाड़ी-जाल और षट् चक्र हैं। नाड़ियों की सूक्ष्मता की कोई सीमा नहीं है। उनकी संख्या योग-शास्त्र के अनुसार 72000 हैं। वस्तुतः आधुनिक शरीर-शास्त्रीके लिये भी समस्त नाड़ी-संख्या का निर्धारण कठिन है। इन सबमें मुख्य सुषुम्णा ही है। स्थूल-शरीर-विज्ञान जीवन-तत्त्व के भौतिक आधार का ही परिचय पा सका है, उसका भोगायतन (फिजियोलौजिकल) रूप प्रयोग-साध्य है। परन्तु योग-विद्या मानसिक पक्ष में भी प्राण गति का निर्देश और सूक्ष्म परिचय कराती है। इसीलिये भौतिक प्रयोग से जिस वस्तु का ज्ञान नहीं हो पाता, ध्यान में उन्हीं शारीरिक रहस्यों का

1. द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ गी० 15 ॥16॥

मानसिक क्रियाओं के साथ प्रत्यक्ष हो जाता है। तन्त्रग्रन्थों में इसके दो प्रकार से वर्णन मिलते हैं। कहीं तो भोगायतन-पक्ष में शरीर संघटन में जीवन-तत्त्व अधिष्ठान समझाने के लिये सुषुम्णा आदि संज्ञाओं से काम लिया जाता है और कहीं उस वर्णन को आध्यात्मिक स्वरूप देकर शिव, पार्वती, कुमार, प्रमथ आदि संज्ञाएँ कल्पित करके योग-प्रत्यक्ष को शब्दों-द्वारा प्रकट किया जाता है। षट् चक्रों का स्थान और क्रम इस प्रकार है—

1. मूलाधार (कौक्सीजियल रीजन)—इसका संयोग गुदा से है। इसमें चार पर्व (वर्टिब्रल) हैं जो कि ऊपर के पर्वों की अपेक्षा छोटे और अपूर्ण दशा में हैं। चारों पृथक्-पृथक् स्फुट स्वरूप के न होकर एक ही अस्थि से प्रतीत होते हैं जिसे अंग्रेजी में कौक्सिक्स कहते हैं। कीकसा अस्थि भी यही ज्ञात होती है। कुंडलिनी शक्ति यहीं निवास करती है। शिव-पार्वती के विवाह में कुंडलिनी को जगाकर ही ब्रह्मांड या मस्तिष्क में ले जाते हैं। इसी को योग की परिभाषा में सर्पिणी कहते हैं क्योंकि यह सर्पिणी की भाँति कुंडल मारकर सोई रहती है। मूलाधार में पृथ्वी तत्व का स्थान है।

2. स्वाधिष्ठान (सेक्रल रीजन)—इसका अधिष्ठान लिंग में है। इसमें पाँच पर्व हैं। ये पाँचों भी एक ही अस्थि में जुड़े रहते हैं जिसे अंग्रेजी में सेक्रम कहते हैं। इन्हीं दोनों अस्थियों के नौ पर्वों को निकालकर आधुनिक शरीर-शास्त्री, मेरुदण्ड में 24 अस्थिपोरों की गणना करते हैं। पर भारतीयों ने इस शक्ति को तैंतीस पर्वों से युक्त ही माना है। स्वाधिष्ठान चक्र में जल-तत्त्व का अधिष्ठान है।

3. मणिपुर (लम्बर रीजन)—इसका स्थान नाभि है और मेरुदण्ड के इस भाग में 5 पर्व हैं। तेज इसका तत्त्व है। इन तीन चक्रों का भेद कर लेने पर योगी विराट् भाव से युक्त हो जाता है, उसकी मोह-निद्रा टूट जाती है।

4. अनाहत (डोर्सल रीजन)—मेरुदण्ड में 12 पर्वों वाला यह चक्र हृदय में स्थित है। यहाँ वायु तत्त्व का स्थान है।

5. विशुद्ध चक्र (सर्विक रीजन)—इसमें सात पर्व हैं और यह ग्रीवा में स्थित है। यहींसे आकाश गुणक शब्द का जन्म होता है। इसके भेद करने पर योगी को आकाश तत्त्व पर विजय प्राप्त हो जाती है।

6. आज्ञाचक्र—मस्तिष्क प्रदेश के भ्रूमध्य या त्रिकुटी में योगी इसका स्थान मानते हैं। यहाँ सुषुम्णा का अन्त हो जाता है। यहाँ मन, बुद्धि और अहंकार का निवास है। इसी स्थान पर ज्ञानचक्षु है जो तृतीय नेत्र है। यहीं शिव का वास है।

जब योगी पाँच चक्रों को सिद्ध कर लेता है, तब उसे काम-बाधा नहीं सता सकती। शिव के लिये कालिदास ने कहा—‘अरूपहार्य मदनस्य निग्रहात्,’ अर्थात् मदन के निग्रह के कारण रूप या सौन्दर्य उनके चित्त को नहीं हर सकता। पहले शिव ने मदन को भस्म कर डाला है (भस्मावशेषं मदनं चकार) तभी वे पार्वती के साथ विवाह करके षडानन कुमार को जन्म देते हैं। आज्ञा-चक्र से ऊपर सहस्रदल-कमल (सेरेब्रल रीजन) है जहाँ पर साक्षात् शिव निवास करते हैं।

कुमार का जन्म शिव के स्कंदित तेज से होता है। यह तेज पार्वती-रूपी सुषुम्णा में¹ निक्षिप्त होकर क्रमशः छहों² चक्रों के द्वारा पुष्ट और लालित होता हुआ स्कंद को जन्म देता है जो इसी कारण छह माताओं के पुत्र या षाण्मातुर कहे गए हैं। कालिदास ने मेघदूत में स्कंद के जन्म का रहस्य सूत्र रूप में लिख दिया है—

तत्र स्कन्दं नियतवसतिः पुष्पमेघीकृतात्मा

पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्योमगंगाजलाद्रैः

रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूना-

अत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः ।। 1 । 47 ।।

(वहाँ देवगिरि पर बसने वाले कुमार को अपना अभ्र-पुष्पात्मक रूप बनाकर आकाशगंगा से सींची हुई पुष्पवृष्टि से स्नान कराना। देवसेना की रक्षा हेतु पावक के मुख में संचित सूर्य से भी अधिक प्रभावशाली शिव का तेज ही कुमार है—

अत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः ।

यही स्कंद की परिभाषा है। हुतवह अर्थात् अग्नि नामक सुषुम्णा के मुख में सूर्य से भी अधिक प्रकाशित शिव का तेज ही स्कंद है। कोषों में स्कंद की पत्नी का नाम देवसेना है। इन्द्रियों की सात्त्विक और तामसिक वृत्तियों का द्वन्द्व देवासुर-संग्राम है। जब सतोगुणी इन्द्रियाँ काम से हारने लगती हैं, तब वे समाधि में बैठे हुए शिव से प्रार्थना करती हैं कि आप उन्हें एक सेनापति दें। देवों ने भी यही कहा है—

तदिच्छामो विभो स्रष्टुं सेनान्यं तस्य शान्तये । (कुमार0, 2 । 51)

(उस असुर को परास्त करने के लिये हम लोग एक सेनापति चाहते हैं।) शिवजी ने मदन को भस्म किया, तदुपरान्त उमा की तपस्या से सुषुम्णा नाड़ी-द्वारा योग की साधना से शिव और पार्वती का विवाह हुआ अर्थात् व्यक्ति की चिदात्मिका शक्ति जो अंधोमुखी थी वह अन्तर्मुखी होकर सहस्रारदल में स्थित पर-बिन्दु शिव से संयुक्त हो जाती है, फिर विषयों से उसे कोई भय नहीं रहता। जो इंद्रियाँ और सबों को मथ देती हैं, वे ही प्रमथों के रूप में शिव के पार्षद (परिषदि साधु) होकर रहती हैं। ‘अत्यादित्यं हुतवह-मुखे संभृतं तद्धि तेजः’ को समझने के लिये तीनों नाड़ियों के नाम जान लेने चाहिए। सुषुम्णा = वह्नि-स्वरूपा, सरस्वती, लोहित-वर्णा। इडा = चन्द्र-स्वरूपा, गंगा, सतोगुणी, अमृत-विग्रहा, पीत-वर्णा। पिंगला = सूर्य-स्वरूपा, तैजसवर्णा, रौद्रात्मिका, वज्रिणी, यमुना, राजसी।

1. सुषुम्न। सुम्न-आनंद। षुञ् अभिषवे धातु से सुम्न बनता है। षट्चक्र भेद के पश्चात् स्कंद जन्म लेता है। लोक में स्कंद का सम्बन्ध छह की संख्या से है—षडानन, स्कन्द-षष्ठी। आज्ञाचक्र का जो चित्र श्री आर्यर एवेलन ने दिया है उसमें कुमार षडानन दिखाए गए हैं।
2. षट्चक्र सुषुम्णा नाड़ी में ही रहते हैं। शरीर विज्ञान में सुषुम्णा के पाँच स्वाभाविक विभाग हो गए हैं, छठा सबसे ऊपर है जहाँ सुषुम्णा (स्पाइनल क्रोडी), कौंच रन्ध्र (मैगनम फोरामेन, अर्थात् बड़े छेद) में होती हुई मस्तिष्क या ब्रह्माण्ड में फैल जाती है। इन पाँच चक्रों की शक्तिप्रवाहिनी नाड़ियों का संबन्ध क्रमशः गुदा, लिंग, नाभि, हृदय और कण्ठ से है। उदाहरण के लिये मणिपूर चक्र, नाभि देश का नियंत्रण करता है पर उसका स्थान सुषुम्णा में ही है। इसी प्रकार अन्यत्र भी है।

सुषुम्णा का नाम वह्नि या हुतवह है। इसी में अपना तेज हवन करने से शिव यज्वा कहलाते हैं। साधना में पुरुष का तेज इसी वह्नि के मुखों से संचित होता रहता है और जब छहों चक्रों का भेद पूरा हो जाता है तभी उस कुमार का जन्म होता है जिसकी अध्यक्षता में देवसेना कभी नहीं हारती। पुराणों के अनुसार कुमार वे हैं जो आजन्म ब्रह्मचारी हैं।

सहस्रारदल में जो शिव हैं वे ही अक्षर तत्त्व हैं। वे ही समस्त ब्रह्मांड की चित्-शक्ति हैं। मूलाधार चक्र में शक्तिपीठ है जहाँ व्यक्ति की शक्ति निवास करती है। शक्ति के तीन कोण कहे गए हैं— इच्छा, ज्ञान और क्रिया। इन्हीं का नाम त्रिपुर है। इनके मध्य में बसने वाली शक्ति त्रिपुर-सुंदरी कही गई है। इसी त्रिपुर या त्रिकोण में कुंडल मारकर शांत बसने वाली शक्ति की शब्दगत कल्पना सर्पिणी की है। इसी से शिव के शरीर में भुजंग लिपटे रहते हैं और शिव को अहिवलय धारण करने वाला कहा गया है। कालिदास ने कहा है—

हित्वा तस्मिन् भुजग-वलयं शम्भुना दत्तहस्ता।

क्रोडाशैले यदि च विचरेत् पादचारेण गौरी।। (मेघ0, 1।64)

मूलाधार में यह सर्पिणी शिवरूप ज्योति के चारों ओर लिपटी रहती है, परन्तु आज्ञा-चक्र में पहुँचकर जब शिव-पार्वती का संयोग हो जाता है तब यह कुंडलिनी पूरी खुल जाती है, मानो शिवजी ने अपने सर्पवलय को त्याग दिया हो। जहाँ तक शरीरशास्त्र से प्रत्यक्ष करने का विषय है वहाँ तक इस प्रकार त्रिकोणात्मिक शक्ति के रूप को शल्यशास्त्र के द्वारा हम नहीं देख सकते। मानस-प्रत्यक्ष से सम्बन्ध रखने वाली वस्तु, यंत्र-द्वारा कैसे जानी जा सकती है? इसका दर्शन योगपक्ष में ध्यान¹ द्वारा ही हो सकता है। ज्योति या तेजःस्फुलिंग के आकार का शिवलिंग इसी का प्रतीक है। शिव इसी शक्ति के त्रिकोण या त्रिपुर की विजय करते हैं, इससे उनकी संज्ञा त्रिपुर-विजयी है। मेरुदंड रूपी पर्वत के सिरे पर उसी के एक प्रदेश का नाम कैलास है। मेरुदंड का ऊर्ध्व सिरा ही कैलास है जहाँ आज्ञाचक्र है। यहाँ कैलास पर ही अलकापुरी है। कालिदास कहते हैं कि यहाँ कामदेव अपने चाप पर शर नहीं चढ़ाता—

मत्वा देवं धनपतिसखं यत्र साक्षाद्वसन्तं।

प्रायश्चापं न वहति भयान्मन्मथः षट्पदज्यम्।। (मे0, 2।14)

(कैलास के उत्संग में बसी हुई अलका में शिव का साक्षात् निवास जानकर वहाँ काम को अपना भौरों की डोरी वाला धनुष काम में लाने का साहस नहीं होता)। ठीक भी है, आज्ञा-चक्र-तक सिद्धि-प्राप्त योगी को कामबाधा नहीं सता सकती। इसीलिये यहाँ हिमालय में ही किन्नरियाँ मिलकर त्रिपुर-विजय के गीत गाती हैं—

-
1. केन्द्रस्थ नाड़ी-जाल की रचना अत्यन्त जटिल है। उन तन्तु-समूह घटिका-बिन्दुओं और प्रतंतुओं में घटित होने वाला संवेदनात्मक तथा संकल्पात्मक कार्य का ठीक-ठीक पता आजतक नहीं लग सका है। कुछ आश्चर्य नहीं यदि भारतीय योगी ध्यान में इसका प्रत्यक्ष कर सके हों। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि चेतना का जो भौतिक आधार है वह उसके बहुत थोड़े अंश या स्वरूप का परिचय कराता है। कुछ लोग भोगायतन पक्ष में चेतना का आधार न पाकर उसकी सत्ता को ही संदिग्ध मान बैठते हैं। चेतना (चिदात्मक शक्ति) मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखती है, भौतिक रचना में उसका अपूर्ण आभास मिलता है इसलिये भौतिक रचना को उसका प्रमाण-दण्ड नहीं मान सकते।

संसक्ताभिन्निपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः। (मे०, 1।60)

वहीं धनपति का यश किन्नर गाते हैं क्योंकि शिव और धनपति में सख्य-भाव है—

उदगायद्भिः धनपतियशः किन्नरैर्यत्र सार्धम्। (मे०, 2।10)

धनपति कुवेर का अनुचर यक्ष अवसर पाते ही अपने कामरूप पुरुष को शिव की उपासना करने का आदेश देता है। पार्वती की संज्ञा गुहा, स्कन्द की गुह और यक्षों की गुह्यक है। इससे भी इनके परस्पर सम्बन्ध का संकेत मिलता है। यक्ष काम की मूर्ति है। उसके नेत्रों से ही कामदेव टपका करता है। इस प्रकार काम से भरा हुआ पुरुष अवश्य ही गुह्यक या रक्षा करने योग्य है। वह अपनी रक्षा के लिये उस देव की शरण में जाता है जिसने काम को भस्म कर दिया है, तथा फिर जिसके अनंगजित् रूप से सेनानी गुह का जन्म हुआ¹। शिवजी पिनाक-पाणि हैं—

अरूप-हार्यं मदनस्य निग्रहात् पिनाकपाणिं पतिमाप्नुमिच्छति। (कुमार०, 5।43)

पिनाक को शिव का धनुष कहते हैं। निरुक्त में पिनाक के अर्थ हैं—

रम्भः पिनाकमिति दंडस्य। (नैगम कांड 3।4)

अर्थात् रम्भ और पिनाक दंड के नाम हैं। वहीं यह भी लिखा है—

कृत्तिवासाः पिनाक-हस्तोऽवततधन्वेत्यपि निगमो भवति।

पिनाक नाम मेरुदंड का ही है। यही शिव का धनुष है। इस दंडाकार धनुष की दो कोटियाँ, सिरे हैं। नीची कोटि मूलाधार चक्र में हैं। वहाँ जो कुंडलिनी पड़ी है, उसी को पिनाक की प्रत्यंचा कल्पित करके उसके दूसरे सिर को शिव आज्ञा-चक्र में ले जाते हैं। यही धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाना या अवततधन्वा होना है। प्रायः धनुषों की प्रत्यंचा खुली रहती है और वे दंडाकार होते हैं जो पुरुष धनुष पर चिल्ला (डोरी) चढ़ा सकता है, वही उस धनुष का स्वामी माना जाता है। पिनाक को सबसे प्रथम शिव ने अधिज्य किया, इसलिये वे ही उस धनुष के स्वामी हैं।

शिवजी की संज्ञा खंडपरशु है—

भूतेशः खंडपरशुर्गिरिशो गिरिशो मृडः। (अमरकोष)

और यही संज्ञा भृगुपति की भी है। भृगुपति की संज्ञा क्रौंचदारण कालिदास ने ही दी है—हंसद्वारं भृगुपतियशोऽकर्म यत्क्राञ्चरन्ध्रम् (मे०, 1।61)। क्रौञ्चदारण संज्ञा स्वामिकार्तिकेय² की भी है। इस प्रकार शिव, भृगुपति और कुमार का सम्बन्ध भी स्थापित होता है। शिव और कुमार में कोई भेद नहीं है क्योंकि शिव का ही तेज कुमार है। यह भी प्रसिद्ध है कि कुमार की उत्पत्ति में किसी स्त्री के गर्भ की आवश्यकता नहीं हुई। वस्तुतः कालिदास ने कुमार को अग्नि के मुख में संभृत³ तेज लिखा है। फिर जो पिनाक शिव के पास है, वही अजगव नामक शिव धनु अब परशुराम के पास भी था। इस प्रकार इन तीनों में सम्बन्ध प्रतीत होता है। योग की साधना में षट्चक्र के भेदन के समय प्राण को जिस रन्ध्र में होकर सुषुम्णा

1. गुहति रक्षति देवसेनामिति गुहः। इः कामः अक्षिषु यस्य स यक्षः। (भानुजी दीक्षित) (देवसेना की जो रक्षा करता है वह गुह है और जिसकी आँखों में काम भरा रहता है वह यक्ष है।)
2. पाण्मातुरः शक्तिधरः कुमारः क्रौंचदारणः। अमरकोष। कैलासे धनदाव से क्रौंचः क्रौंचोऽभिधीयते। बृहद्भारवली।
3. तेजो हि साक्षाद्भगवतो हरस्यैव मूर्त्यन्तरमित्यर्थः। (मल्लिनाथ), अर्थात् वह तेज शंकर का साक्षात् मूर्त्यन्तर ही है।

मस्तिष्क में प्रवेश करती है वह द्वार ही क्रौंच-रन्ध है। सुषुम्णा (स्पाइनल कोर्ड) श्वेत और विभूति वर्ण पदार्थ की बनी हुई नाड़ी है। वह मूलाधार चक्र से उठकर, आगे के चार चक्रों को होती हुई विशुद्धि-चक्र (सर्विकल रीजन) को पारकर मस्तिष्क में फैल जाती है। सर्विकल रीजन के प्रथम अस्थि-पर्वत को अंग्रेजी में ऐटलस कहा जाता है, जो अपने ऊपर आकाश या ब्रूलोक को उठाए हुए था। यहीं से सुषुम्णा नाड़ी स्पाइनल बल्ब में होकर मस्तिष्क में जाती है। इसलिये क्रौंच पर्वत ही स्पाइनल बल्ब है जिसे मेडूला औबलौंगाटा भी कहते हैं। इसी में क्रौंचरन्ध्र या बड़ा छेद है जिसे अंग्रेजी में मैगनम फोरामेन कहते हैं। इसी विवर में तिर्यगायाम के साथ अर्थात् तिरछी झुककर सुषुम्णा प्रवेश करती है। कुंडलिनी शक्ति जिस समय मूलाधार से जागकर शिव नामक आज्ञाचक्र में जाती है, उसे भी इसी द्वार से होकर जाना पड़ता है। इस रन्ध्र का दारण करना भृगुपति के लिये बड़ा यशस्वी कार्य है, इसी से कालिदास इसे भृगुपतियशोवर्त्स (मे०, 1 161) कहा है। प्रालेयाद्रि या हिमाद्रि अर्थात् पर्ववान् पृष्ठवंश के उपांतर में ही यह क्रौंचद्वार बताया गया है। भृगुपति, शिव का नामान्तर है। क्रौंच-दारण, खंड-परशु कुमार, भृगुपति और शिव ये एक ही चैतन्य के नामान्तर हैं जो विशेष गुणों के कारण कल्पित किए गए हैं।

क्रौंचतट से तुरन्त आगे शुभ्र कैलास ही खड़ा है (मे०, 1 162) योग की परिभाषा में विशुद्धिचक्र के अनन्तर आज्ञाचक्र है जहाँ शिवरूप ज्योति का प्रकाश है। मूलाधार-चक्र से योगसाधना के लिये जिस नृत्य का आरम्भ होता है उसकी सिद्धि होने पर शिवजी वज्र-अट्टहास करते हैं, वही मानो शुभ्र कैलास के रूप में घनीभूत हो गया है—

राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः (मे०, 1 162)

इसी कैलास का नाम रजतगिरि है। यहाँ एक मणि-तट है। उस पर शिवजी, गौरी के साथ आरोहण करना चाहते हैं। मेघ को चाहिए कि वह स्तम्भितान्तर्जलौघः (अपने जलतत्त्व को भीतर रोके रखने वाला) होकर अपने शरीर की सीढ़ी बनाकर शिव को वहाँ आरोहण करने में सहायता दे।

इस मणितट' का योग-ग्रन्थों में विशद वर्णन है। पादुका-पंचक नामक तन्त्रयोग के ग्रन्थ में मणिपीठ की बड़ी-महिमा कही गई है। मस्तिष्क में जो परम चिन्मय सहस्रदल-कमल है उसमें अ-क-थ त्रिकोण है। उस त्रिकोण में मणिपीठ है, उस पर शुभ्र रजताद्रि के समान अनन्त गुरु शिव सुशोभित हैं अथवा प्रकृति-पुरुष के संयोग रूप शिव-गौरी विराजते हैं। मेघदूत में कामरूप पुरुष को स्तम्भित करके शिव उस मणितट-पर चढ़ते हैं। इस मणितट की प्रभा, तडिच्छवि को लजाने वाली है (पटु तडित्-कडारिम-स्पर्द्धमान मणिपाटलप्रभम्)। कालिदास ने न केवल क्रौंचरन्ध्र के पश्चात् कैलास का ही वर्णन आवश्यक समझा, वरन् वहाँ के मणितट का भी नाम लिखा है। इससे उनकी योगपरिभाषा का संकेत स्पष्ट सिद्ध है—

भंगी भक्त्या विरचितवपुः स्तम्भितान्तर्जलौघः।

सोपानत्वं कुरु मणितटारोहणायाग्रयायी।। (मे०, 1 164)

1. बौद्धों का महामन्त्र—ॐ मणिपद् मेँ हूँ—इसी मणि की ओर संकेत करता है। काशी (ज्ञान की पुरी, शिव के धाम) में मणिकर्णिका घाट है जहाँ नहाने से अथवा प्राण त्यागने से मोक्ष होता है। मणिकर्णिका—सहस्रारदल कमल की कर्णिका।

(हे मेघ! तू आगे बढ़कर अपना जल भीतर रोककर शिव के मणितट पर चढ़ने के लिये सोपान बन जाना)। इन वर्णनों में कवि ने काव्य के साथ-साथ योगशास्त्र के उच्च अनुभवों का भी गूढ़ समन्वय किया है।

मल्लिनाथ ने क्रीडाशैल (मे०, 1।60) का अर्थ बताते हुए शम्भु-रहस्य का अवतरण देकर लिखा है—

कैलासः कनकाद्रिश्च मन्दरो गन्धमादनः।

क्रीडार्थनिर्भिताः शंभोर्देवैः क्रीडाद्रयोऽभवन्॥

(देवताओं ने शम्भु की क्रीड़ा के लिये कैलास (रजताद्रि), कनकाद्रि (मेरु, सुमेरु, हेमगिरि, महा-रजतगिरि), मन्दर और गन्ध-मादन पर्वत बनाए थे, इसलिये ये सब क्रीडाशैल कहलाते हैं।)

मेरु पर्वत या मेरुदंड और उसी के समीप-स्थित क्रीडाशैल कैलास पर परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट प्रतीत होता है। कैलास की व्युत्पत्ति ही क्रीडा-स्थान है— केलीनां समूहः कैलम् (तस्य समूहः इत्यण्।) तेन आस्यतेऽत्र (आस्-बैठना) इति कैलासः (भानुजी दीक्षित्), अर्थात् शिव की क्रीडाओं का स्थान कैलास है। यहीं कुबेर रहते हैं, यहीं यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध और चारणों के मिथुन विहार करते हैं, यहीं ध्यानावस्थित होकर योगी शंकर तप करते हैं और फिर पार्वतीशक्ति से विवाह करके क्रीडा करते हैं। वस्तुतः यहाँ एक ही मेरुदण्ड को पर्वत कल्पित करके उसके भिन्न-भिन्न नाम दिए हैं। इस मेरुदंड का जो भाग मूलाधार-चक्र में स्थित है उसका नाम चित्रकूट है क्योंकि चित्रा नाम सुषुम्णा या कुंडलिनी का है। और यह चित्रिणी मूलाधार-चक्र के आधार पर ठहरी हुई है। चित्रा का कूट ही चित्रकूट है। यही रामगिरि है क्योंकि शिवधनु को शिव की भाँति सामने भी अधिज्य किया था। यहीं से काम पुरुष उठकर कैलास की गोद में बसी अलका को जाता है। मेरुदण्ड की एक कोटि पर शिव और दूसरी पर राम हैं, इन्हीं के बीच में यह अजगव धनुष तना हुआ या अवतत है। कुण्डली के विरह को सहस्रार पद्म ढके हुए है। कुण्डली के विवर (स्पाइनल कौलमके अन्तर्गत स्पाइनल केनाल) से तात्पर्य उस मार्ग से है जिसके द्वारा मूलाधार में शिव-तेज के चारों ओर प्रसुप्त कुण्डलिनी प्रबुद्ध होकर ऊपर चढ़ती हुई शिव से मिल जाती है। चित्रिणी के भीतर ही यह मार्ग है। चित्रिणी उस नलिका को समझना चाहिए जिसके भीतर यह विवर है। जिस प्रकार कमल अपनी नाल के सिरे पर शोभित होता है, वैसे ही चित्रिणी और सहस्रदल तथा द्वादशदल कमल का सम्बन्ध है। चित्रिणी या कुण्डलिनी परम चैतन्य ज्योति है। यहीं पर स्पन्दनात्मक शक्ति है जिससे सब रचना होती या इसी की इच्छा, ज्ञान और मायामयी त्रिगुणात्मिका मूर्ति जीवों (पशुओं) में सत्त्व, रज और तम रूप में प्रकट होती है। उसी के संकोच और प्रकर्ष के स्फुरण से क्रीडा-शरीर बनता है। ऋग्वेद में इसी अदिति शक्ति के आठ पुत्र बताए गए हैं। शैव दर्शन से भी शिव की आठ मूर्तियाँ प्रसिद्ध हैं। योग-साधना से सप्तर्षि (पंचेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि), कुंडलिनीरूपिणी

1. भूरे और श्वेत दो वर्णों के संयोग के कारण कुण्डलिनी को ललिता या चित्रा नाम दिया गया है। ग्रे मैटर और ब्राइट मैटर के मिलने से चित्र वर्ण बनता है—देखिए आर्थर एवलेनकृत 'सर्पेंट पावर', पादुका-पंचक भाग, पृ० 165।
2. श्रीचितिशक्तिरेव पारमेश्वरी ज्ञान-क्रिया-माया-शक्तित्रितयतया श्रीसदाशिवादिपदे स्फुरित्वा सङ्कोचप्रकर्षात्स्त्वरजस्तमोरूपं क्रीडा-शरीरं श्रयति (स्पन्द-निर्णय पृ० 37)। सुप्रबुद्ध योगी अपनी चित्त शक्ति के स्फार से ही सब जगत् को अधिष्ठित जानता है (प्रत्यभिज्ञाशास्त्र)।

रूपिणी उमा और शिव के बीच में पड़कर उनका विवाह सम्बन्ध स्थिर करते हैं। जब शिव का पार्वती के साथ विवाह रचाया जाता है तब ये सातों ऋषि विवाह-यज्ञ के अध्वर्यु बनते हैं। इस यज्ञ में यदि इनकी अनुमति और शुभाशीर्वाद होगा तभी यह सफल हो सकता है। शिवजी कहते हैं—

विवाह-यज्ञे विततेऽत्र यूयमध्वर्यवः पूर्ववृता मयेति । (कुमार0, 7।47)

(विवाह-यज्ञ का वितान होने पर पहले ही मैंने आप लोगों को अपना अध्वर्यु बना लिया था।)

मेघदूत में शिव के वाहन वृष का (1।56) और कुमार के वाहन मयूर का (1।48) भी उल्लेख है। वृष या इन्द्र, इन्द्रियों की शक्ति का कारण है। पाणिनी भी इन्द्रिय-शक्ति की व्युत्पत्ति इंद्र से ही करते हैं² (5।2।193)। वृष, इंद्र और काम का घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिवजी जिस समय तीसरे नेत्र से उत्पन्न अग्निसे काम को भस्म कर देते हैं तब मानो वे वृष (काम)-पर आरोहण करते हैं। इस वृष पर आरोहण करने के लिये वे कुम्भोदर सिंह की सहायता लेते हैं, यथा—

कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम् ।

अवेहि मां किंकरमष्टमूर्तेःकुम्भोदरं नाम निकुम्भ-मित्रम् ।। (रघु0, 2।35)

(कैलास के सदृश शुभ्र वृष पर आरोहण करने की इच्छा से जिसकी पीठ पर पैर रखकर शिव चढ़ते हैं वह मैं अष्टमूर्ति का किंकर कुम्भोदर नामका सिंह हूँ।) काम शक्ति का वर्णन गीता में भी यही है—

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ।

(कामदेव बड़े भोग वाला है।) काम और रसना का सदा साथ है, क्योंकि जो जलतत्त्व स्वाधिष्ठान-चक्र का अधिष्ठाता है वही जिह्वा में बसता है। वृष पर चढ़ने के लिये कुम्भोदर की पीठ पर पैर रखना आवश्यक है। स्कन्द का वाहन मयूर है। हम बता चुके हैं कि स्कन्द का सम्बन्ध छह की संख्या से है, उसका वाहन मयूर भी षड्ज स्वर संवादी¹ है। सर्वरूप कुण्डलिनी का स्वाभाविक बैर मयूर से है। परन्तु शिव की साधना से जन्मे हुए कुमार का वाहन होकर मयूर, कुण्डलिनीरूपी सर्पिणी का मित्र हो जाता है। शिव के कुटुम्ब में साँप और मोर बैर त्याग कर बसते हैं। तात्पर्य यह कि पहले मनुष्य कुण्डलिनी के यथार्थ स्वरूप को न जानकर उसे विनाशकारी मार्ग से लगाता है पर 'कुमार' स्कन्द के जन्म के पश्चात् वह अपने षट्चक्रों के संयमपूर्ण विनियोग को जान जाता है। काम का सम्बन्ध रेत से है, काम का निवास स्वाधिष्ठान-चक्र में है। इसी चक्र में जल का निवास है, जैसा कहा है—आपः रेतो भूत्वा शिश्नम् प्राविशत् (ऐतरेय उ0 1।2।14) आयुर्वेद के मत से वीर्य का जलतत्त्व से सम्बन्ध है। निरुक्त में तथा संस्कृत साहित्य में भी जल के ही विष और अमृत दो नाम हैं। शरीरस्थ रेत, हिरण्य के समान भास्वर तेज वाला है। जिस समय दैवी वृत्तियाँ आसुरी वृत्तियों से दबी रहती हैं, उस समय रेत, विष स्वरूप होकर सब इन्द्रियों के तेज को जीर्ण कर देता है। उस विष को सहने, पचाने और धारण करने की शक्ति किसी इन्द्रियाधिष्ठाता देवता में नहीं है। जबतक शिव विष को नहीं पीते तबतक इन्द्रियरूपी देवता उसकी लपटों से झुलसे हुए रहते हैं। गोसाईंजी ने ठीक कहा है—

1. इन्द्रियमिन्द्रलिंगमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रक्रुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा । (अष्टाध्यायी, 5।2।193)

2. षड्ज संवादिनीः केका द्विधा भिन्ना शिखंडिभिः । रघु0 1।39 षड्ज मयूरो वदति—इति मातंगः ।।

जरत सकल सुरबृन्द विषम गरल जेहि पान किय।

भजसि न तेहि मतिमन्द, को कृपालु संकर-सरिस।।

शिव ही योग-समाधि के कारण उस विष का पान कर सकते हैं। पाँचों चक्रों को भेदकर जब पहले शिव इस रेत के दुर्विषह्य तेज को विशुद्ध-चक्र अर्थात् कंठ में स्थापित कर लेते हैं, तभी सब देवता अमृत का भाग पाते हैं। शिव के विषपान के पश्चात् वही रेत अमृत रूप होकर इन्द्रियों के आत्म-तेज का संवर्द्धन करता है। शिव का विषपान प्रकारान्तर से योग साधना के फल का वर्णन है।

यक्ष ने मेघ से एक काम और लिया है—

नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छाम्। १

शान्तोद्देगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या।। (मे०, 1।36)

(हे मेघ! सायंकाल के समय नवीन जपा-पुष्प की लाली के सदृश रक्तिमा से सम्पन्न अपने मंडल को शिव की भुजाओं पर इस प्रकार तान देना कि अपने नाच के आरम्भ से उन्हें गजासुर की गीली खाल की इच्छा न रहे। उस तेरी शिव-भक्ति को उस समय पार्वती भी निश्चल नयन होकर देखेंगी।)

संक्षेप में तन्त्र के अनुसार इसका अर्थ यह है जिस मूलाधार चक्र का पृथ्वी तत्त्व है उसमें एक सप्तशुंड गजाकार ज्योति है जिसकी पीठ पर शिव-तेज के चारों ओर वलित कुण्डलिनी स्थित रहती है। जिस समय योग-साधना की इच्छा से (नृत्यारम्भे) शिवजी इस चक्र को भेदते हैं, तब इस गज की मानो मृत्यु हो जाती है। जिस व्यक्ति ने काम को वश में नहीं किया है ऐसा कोई व्यक्ति इस गज को परास्त नहीं कर सकता।

आज्ञा चक्र में प्रणव का प्रत्यक्ष होता है। वहाँ ही चन्द्राकार ज्योति का दर्शन होता है। यहीं सूर्य, चन्द्र और अग्नि के तीन बिन्दु हैं जिनके नामान्तर शिव, विष्णु और ब्रह्मा तंत्र-ग्रंथों में प्रसिद्ध हैं। यहाँ साधक को चन्द्र की किरणों से टपकने वाली सुधा के आस्वाद का आनन्द मिलता है। इसीलिये शिवजी नवशशिभृत (मेघ० 1।47) और इन्दुशेखर (कुमार० 5।78) हैं। योगशास्त्र में शिव के रूप का बड़ा विस्तार दिया गया है। शिवपुराण, स्कन्दपुराण तथा तन्त्रों ने इसे बढ़ाकर कथाओं के रूप में प्रकट किया है। कालिदास का यह कहना बहुत ठीक है—

न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः। (कु०, 5।77)

न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः। (कु०, 5।78)

1. इसकी कथा स्कन्द महापुराणान्तर्गत काशीखंड के 68वें अध्याय में दी हुई है। गजासुर ने ब्रह्मा से वर पाया था कि 'कंदर्प-वशीभूत किसी व्यक्ति के हाथ उसकी मृत्यु न होगी।' पार्वती ने जिस समय महादेव से रत्नेश्वर लिंग (मणिपीठाधिपति शिव) का माहात्म्य सुना उसी समय गजासुर अपने बलवीर्य में उन्मत्त होकर प्रमथों को निपीडन करके शिव की ओर झपटा। कंदर्प-दर्पहारी महादेव ने पास आने पर उसे त्रिशूल से छेदकर शून्य में टाँग दिया। महादेवजी के मस्तक पर उसने अपना शरीर छत्र की भाँति फैला लिया था। जब उसने शिव की बहुत स्तुति की तब शिव ने वर देना चाहा। गजासुर ने कहा कि आप मेरे शरीर का चमड़ा पहन लीजिए। इसी से शिवजी कृत्वास कहलाए।

(शिव के स्वरूप का ठीक-ठीक निर्धारण कौन व्यक्ति कर सकता है!) पाशुपतशास्त्र में^१ शिव, विष्णु और ब्रह्मा के अद्वैत को मानकर जीवात्मा के साथ परम चित् शक्ति का तादात्म्य दिखाया है। वह चित्-शक्ति-रूप परमहंस शिव सहस्रार-पद्म में प्रतिष्ठित है। उस पर-बिन्दु तक पहुँचने का मार्ग योग-साधना-द्वारा कुंडलिनी को जगाकर ब्रह्माण्ड में ले जाना है। जबतक वृषकेतु, वृषाञ्जन, शिव-रूप आत्मा के दर्शन नहीं होते, तबतक काम-बाधा चित्त-वृत्तियों को अधोमुखी रखती है। वृषपति शिव की साधना और भक्ति (मेघ0 1।59) प्राप्त करना प्रत्येक कामरूप पुरुष के लिये अत्यन्त आवश्यक है। कालिदास के अनुसार योग के द्वारा परमात्म-संज्ञक परम-ज्योति का दर्शन करना ही जीवन की परम सिद्धि है।

योगात्स चान्तः परमात्मसंज्ञं दृष्ट्वा परं ज्योतिरुपाराराम। (कुमार0, 3।58)

शिव के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान ही कालिदास के दर्शन और काव्य-साधना का ज्ञान है।

1. जीव कार्य है, इसका नाम पशु है। ईश्वर कारण है, वही पशुपति है। पशुपति में चित्त की समाधि ही योग है। भस्म, विभूति, स्नान आदि तपश्चर्या-विधि है। मोक्ष इसका प्रयोजन है। उस मोक्ष का फल दुःख का अन्त है। यही संक्षेप में पाशुपत शास्त्र है।

महाकवि कालिदास की उपमाओं का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

(श्री पी० के० गोडे, संग्रहालयाध्यक्ष, भांडारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना)

संस्कृत-साहित्य का प्रत्येक विद्यार्थी उस श्लोक से पूर्णतः परिचित है जो 'उपमा कालिदासस्य' से आरम्भ होता है—

उपमा कालिदासस्य भारवेर्यगौरवम् ।

दण्डिनः पदलालित्यं माये सन्ति त्रयो गुणाः ।।

—और यद्यपि उस उद्धरण के महत्त्व को कालिदास के बहुत से अध्येताओं ने समझ भी लिया है फिर भी किसी ने उनकी उपमाओं का वह आलोचनात्मक रूप सामने लाकर नहीं रक्खा, जो केवल अलंकार-शास्त्र के विद्वानों के लिये ही नहीं अपितु साहित्य के साधारण प्रेमी के लिये भी अत्यन्त आकर्षक और रुचिकर होता। मैं स्वतन्त्र आधारों पर उपर्युक्त कथन की परीक्षा करना चाहता हूँ परन्तु ऐसा करने में मेरा ध्येय मुख्यतः मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ही है। मैं केवल कवि की पर्यवेक्षण-परिधि, उसकी सौन्दर्यानुभूति और उसके विस्तृत ज्ञान की ही ओर संकेत करना नहीं चाहता, अपितु उसकी उपमान्वेषण की विचित्र शक्ति के उन विभिन्न रूपों का विस्तार से वर्णन करना चाहता हूँ जो 'बौद्धिक जीवन के मूल स्तम्भ' माने जाते हैं।

मैं 'उपमा' शब्द का यहाँ विस्तृत अर्थ ग्रहण कर रहा हूँ, इसलिये केवल समानता पर आश्रित अलङ्कार ही नहीं सम्मिलित किये गए हैं वरन् और भी बहुत से ऐसे अलङ्कार इसी में समन्वित हैं जो भारतीय आलंकारिकों-द्वारा बाँधी हुई सीमाओं के बाहर हैं, उदाहरणार्थ-रूढोक्तियों (कहावतों)-का जीवन की विशेष परिस्थितियों के लिये प्रयोग करना वास्तव में तुलना ही तो है, इसीलिये मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मैं उन्हें उपमा में ही सम्मिलित करना ठीक समझता हूँ।

मैंने केवल 'शकुन्तला' की उपमाओं की आलोचना में ही अपने प्रयत्न को परिमित रक्खा है क्योंकि पहले तो यह महाकवि कालिदास की सर्वश्रेष्ठ रचना है और दूसरे, नाटकीय रचना होने के कारण उसमें उनके काव्यों की अपेक्षा मानव-जीवन का अधिक सच्चा चित्रण है।

इस आलोच्य ग्रन्थ में सब मिलाकर 180 उपमाएँ हैं। यद्यपि प्रथम और षष्ठ अंक विस्तार में लगभग बराबर हैं, फिर भी पहला तो उपमाओं से शून्य-सा है और उसमें लगभग आठ ही उपमाएँ हैं जबकि दूसरा उनसे एकदम भरा हुआ प्रकाशमान-सा है, और उसमें सब मिलाकर 51 उपमाएँ हैं। इसका कारण बहुत स्पष्ट है। प्रथम अङ्क तो पूरी रचना की प्रायः भूमिका है और कवि 'जीवन की आलोचना' की अपेक्षा वर्णन करने में अधिक व्यस्त है—मुख्य जीवन की वह आलोचना, जो किसी भी दृश्य काव्य में नाटककार का मुख्य काम है। छठे अंक में कवि कुछ मानस अनासक्ति की सिद्धि में सफल हुआ है जो मानव-चरित्र के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और इसके विस्तृत व्यक्तीकरण के लिये बहुत आवश्यक है। दूसरे, चौथे और पाँचवें अंक में क्रमशः 13, 17 27 और 29 उपमाएँ हैं। छठे अंक से आगे संख्या में वृद्धि नहीं है अपितु निश्चित रूप से ह्रास है और सातवें में केवल 34 हैं। नाटक का उपसंहार सातवें ही अंक में प्रारम्भ

होता है और उसी में पूर्ण भी ही जाता है। इसलिये इसमें उपमाओं की कमी है। वास्तव में इसमें दो तत्त्व मानो खींचा-तानी कर रहे हों। नाटक के प्रारम्भ में वर्णनात्मक तत्त्व की प्रधानता है जो कभी तो प्रत्यक्ष रहता है और कभी प्रच्छन्न। आलोचनात्मक तत्त्व वहाँ एकदम गौण हो गया है। इसलिये चौथे अंक में विशेष रूप से ऐसा ज्ञात होता है कि कवि पूर्ण अनहंकार भावना को स्थिर रखने में असमर्थ है। ऐसी ही परिस्थिति में उपमाओं का प्रादुर्भाव आरम्भ हो जाता है। इस स्थल पर कोमल भावना का पूर्ण आधिपत्य है और मन भावावेश में झूलने लगता है : इस अंक की शैली विशेषतः भावात्मक है, विवेचनात्मक नहीं और इसीलिये उपमाओं की संख्या में क्रमिक ह्रास दिखाई देता है क्योंकि यह रचना मुख्यतः कवि के हृदय की उपज है, न कि उसके मस्तिष्क की।

इस निबन्ध का मुख्य लक्ष्य मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है, अतः मैं सब उपमाओं को उनके मूल-स्त्रोतों के अनुसार पहले विभाजित कर लेना चाहता हूँ। मनुष्य और वस्तुओं के सम्बन्ध में कवि का ज्ञान-जगत् जितना विस्तृत है उतने ही विस्तृत उपमाओं के मूल स्त्रोत हैं-

1. स्वर्ग और आकाश-सूर्य अपने अनेक रूपों में अधिकतर तुलना के लिये प्रयोग में लाया गया है। जल को खोला देने वाला ग्रीष्म ऋतु की तप्तता का वर्णन तीसरे अंक के दसवें श्लोक में मिलता है। उसका शक्तिशाली प्रकाश चन्द्रमा को मन्द कर देता है (अंक 3, श्लोक 15)। एक साथ ही चन्द्रमा का उदय और सूर्य का अस्त होना संसार की एक साथ होने वाली समृद्धि और दीनता का द्योतक है (अंक 4, श्लोक 2)। एक प्रकाशमान पुत्र का जन्म पूर्व में सूर्योदय के समान है (अंक 4, श्लोक 19)। सूर्य हमारे सामने कर्तव्यपरायण के रूप में रक्खा गया है। क्योंकि लोगों को प्रकाश देने के कर्तव्य में वह कभी नहीं चूकता (अंक 5, श्लोक 4)। वह अन्धकार दूर करने का सबसे बड़ा साधन है (अंक 5, श्लोक 14) ऐसा होने पर भी रात्रि का अन्धकार दूर करने में वह असमर्थ ही रहता है (अंक 6, श्लोक 30)। अरुण या प्रातःकालीन सन्धिवेला को उसका अग्रदूत (या अग्रदूती) बताया गया है (अंक 7, श्लोक 4)। सूर्य ही कमलों को खिलाता है (अंक 5, श्लोक 28)।

जैसा कि निम्नाङ्कित उद्धरणों से स्पष्ट है, चन्द्रमा के विविध रूप और उसकी विशेषताएँ संस्कृत-काव्य में प्रायः रूढ़ हो गई हैं-

शारदी चन्द्रिका बहुत ही आकर्षक होती है (अंक 3, श्लोक 12 के पश्चात्)-

‘क इदानी शरीरनिर्वापयित्रीं शारदीं ज्योत्सनां पटान्तेन वारयति।’

वह सूर्य के प्रखर प्रकाश के सम्मुख फीकी पड़कर महत्वहीन हो जाती है (अंक 3, श्लोक 15)। चन्द्रोदय इस जगत् के कुछ व्यक्तियों के चमकते हुए ऐश्वर्य का सूचक है (अंक 4, श्लोक 2)। केवल वही रात्रि के अन्धकार को दूर करने में समर्थ है (अंक 6, श्लोक 3)। चन्द्रग्रहण का वर्णन अंक 7, श्लोक 22 में है। चन्द्र के धरातल के काले धब्बों की चर्चा अंक 1, श्लोक 19 में की गई है। कमल-नाल उतना ही कोमल होता है जितनी चन्द्र-किरण (अंक 6, श्लोक 18) शकुन्तला का उसकी दो सखियों की ओर होता है जितनी चन्द्र-किरण (अंक 6, श्लोक 18) शकुन्तला का उसकी दो सखियों की ओर व्यक्तिगत आकर्षण उसी आकर्षण-जैसा बताया गया है जिससे कि विशाखा-तारक-मण्डल को चन्द्रमा अपनी ओर खींचता है-

‘किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशांकलेखामनुवर्त्तते।’ (अंक 3)

चन्द्र की किरणें यद्यपि स्वयं शीतल होती हैं फिर भी काम-पीड़ित जनों को तो जलाती-सी ही हैं (अंक 3, श्लोक 3)। दिन में चन्द्रमा की अनुपस्थिति, कुमुदिनियों की समस्त मनोहारिणी सुन्दरता का अपहरण कर लेती है (अंक 4, श्लोक 3) चन्द्रमा ही कुमुदिनियों को खिलाने का कारण है (अंक 5, श्लोक 78)।

उपग्रहों की चर्चा नाटक में बहुत कम है। विशाखा उपग्रह चन्द्रमा-द्वारा खींचा जाता है (देखो ऊपर)। चन्द्रमण्डल का उपग्रह रोहिणी अपने प्रेमी चन्द्रमा से चन्द्र-ग्रहण के पश्चात् मिलती है (अंक 7, श्लोक 22)। आकाश-मण्डल के सभी ग्रह-पिण्डों के ग्रहणों में केवल चन्द्रमा की ही चर्चा है (अंक 7, श्लोक 22)। आकाश में के धरातल की चर्चा अंक 7, श्लोक 7 में की गई है। आकाश और पृथ्वी के भूमध्य में स्थित पक्षियों के विचरण करने-योग्य स्थान की चर्चा अंक 5, श्लोक 22 में की गई है।

2. पृथ्वी आकाश के निम्नाङ्कित व्यापारों का प्रयोग तुलना के लिये किया गया है-

संभवतः विद्युत् की चर्चा उस काँपते और चमकते हुए प्रकाश के रूप में की गई है जिसका उद्भव अपार्थिव है (अंक 1, श्लोक 24)। प्रातःकालीन अरुण-प्रकाश, अन्धकार को दूर करने में इसलिये समर्थ होता है कि वह सूर्य से प्रकाश लेता है (अंक 7, श्लोक 4)। वायु का अविराम गति से बहना कर्तव्य-निष्ठा का द्योतक है (अंक 5, श्लोक 4)। अंधड़ से बिना हिले-डुले पर्वत सदा स्थिर रहते हैं-‘ननु प्रवातेऽपि निष्कम्पा गिरयः।’ (अंक 6) वायु, कोमल लताओं के रस-भरे हरे-हरे पत्तों को सुखा देता है (अंक 3, श्लोक 8) पर्वत-श्रेणी, पश्चिमी क्षितिज पर सन्ध्या के मेघों के परकोटे के समान दिखाई देती है-‘सान्ध्य इव मेघपरिधः सानुमानालोक्यते (अंक 7)।

भूरे रंग के राक्षस सन्ध्या के बादलों के समान प्रकट होते हैं (अंक 3, श्लोक 25)। पृथ्वी पर झुके और पानी से भरे हुए मेघ के समान ही नम्र पुरुष होते हैं (अंक 5, श्लोक 12)। दुष्यन्त अपनी प्रजा की सहायता के लिये जो विश्वास दिया उसका उसने सामयिक वर्षा के समान स्वागत किया- काले प्रवृष्टि-मिवाभिनन्दितं देवस्य शासनम् (अंक 6)।

समुद्र का एक बड़ी नदी से सीधा और अविच्छिन्न सम्बन्ध, पुरुवंश में के प्रसिद्ध उत्तराधिकारी के प्रति शकुन्तला के हृदय की प्राकृतिक और उचित अभिलाषाओं की अभिव्यक्त करता है- ‘तद्युक्तमस्या अभिलाषोऽभिनन्दितुम्। (अंक 3)

पृथ्वी को आच्छादित करने वाला समुद्र उसका वस्त्र कहा गया है (अंक 3, श्लोक 1)।

किसी चट्टान से दो धाराओं में विभाजित होकर वेग से बहती हुई नदी राजा के दुविधा में पड़े हुए चित्तको अभिव्यक्त करती है (अङ्क 2, श्लोक 17)। बड़ी नदियाँ समुद्र से पूर्ण रूप से सम्बद्ध होती हैं-‘सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति। (अङ्क 3)

नदी की वेगवती धार, अपने कगार पर स्थित वृक्षों को नीचे गिरा देती है (अङ्क 5, श्लोक 10)। उमड़ी हुई नदी और मृग-मरीचिका की विषमता का प्रयोग अङ्क 6, श्लोक 16 में मिलता है। निराशा की तुलना मृग-मरीचिका से दी गई है- ‘अपि नाम मृगतृष्णिकेव नाममात्रप्रस्तावः (अंक 7)। नदी की बहती हुई धारा के वेग से उसमें उगे हुए नरकट झुक जाते हैं- ‘यद्वेतसः कुब्जलीलां विडम्बयति तत्किमात्मन प्रभावेण उत नदीवेगेन’ (अङ्क 2)।

सरोवर में स्नान करने की कल्पना अङ्क 7, श्लोक 1 में है और अपने कगारों पर उफनाती हुई नदी की कल्पना अङ्क 5 में है जहाँ कि एक गीत भावावेश से उफनाता सा कहा गया है- ‘अहो रागपरिवाहिनी गीतिः’।

औसू से भरे हुए और आनन्दातिरेक सूचित करने वाले नेत्रों के वर्णन का भाव भी मूलतः कुछ ऐसा ही है (अङ्क 4) जल नीचे से ऊपर नहीं जा सकता। यह प्रकृतिका नियम शकुन्तला के प्रति स्थिर किए हुए दुष्यन्त के प्रेम को प्रकट करता है (अङ्क 3,) हंस पानी को तभी अलग करता है जब कि वह दूध में मिलाकर उसे दिया जाय (अङ्क 6, श्लोक 28)। कोमल लताओं पर गरम जल का नाशकारी प्रभाव अङ्क 4 में वर्णन किया गया है।

पर्वतों की विशाल शक्ति का वर्णन केवल एक उपमा में किया गया है। झंझावात के अत्यधिक क्रोध से भी वे अचल स्थिर रहते हैं (अङ्क 6)। पृथ्वी-तल की ऊँचाई-निचाई का संकेत अङ्क 6 में है जहाँ पृथ्वीतल के एक चित्र का वर्णन है।

घास से ढका हुआ कूप उस मनुष्य के समान है जिसने सत्यता का बाना धारण किया हो (अङ्क 5)। पृथ्वी का धरातल विजली उत्पन्न करने में असमर्थ है (अङ्क 1)। एक मन्द बुद्धि की तुलना मृत्पिण्ड से की गई है (अङ्क 6)। पृथ्वी का भार शेषनाग भगवान् वहन करते हैं (अङ्क 5)।

पृथ्वी, शासन करने वाले राजा की पत्नी कही गई है (अंक 3, श्लोक 18)।

खनिज-जगत् से बहुत कम उपमाएँ दी गई हैं, परन्तु जो हैं, उनमें से अधिकांश एकदम मौलिक हैं। चमकीला रत्न, यद्यपि चमक में अग्नि से मिलता-जुलता है, फिर भी हाथ से स्पर्श किया जा सकता है (अंक 1)। सूर्य की किरणें जब सूर्यकान्त-मणि पर पड़ती हैं तब उसमें से जलाने वाली गर्मी निकलती है (अंक 2, श्लोक 7) रत्नों का वेधा जाना अंक 2, श्लोक 10 में वर्णित है। शाण से घिसकर छोटा कर देने पर भी रत्नों में अत्यन्त चमक आ जाती है (अंक 6, श्लोक 6)।

स्त्री के सौन्दर्य की तुलना रत्न से की गई है (अंक 2, श्लोक 9)

3. (1) वनस्पति-जीवन-इसकी उपमाएँ असंख्य हैं-

वाटिका और वन की लताओं में विषमता दिखाई गई है (अङ्क 1) एक घनी भौंह की तुलना लता से की गई है (अङ्क 3, श्लोक 13)। पतली और कोमल स्त्री लता के समान होती है (अंक 7)। लताएँ वसन्त ऋतु में खिलती हैं (अंक 7)। फूलों से भरी हुई लता मधुप को प्रिय अतिथि के रूप में पाकर प्रसन्न होती है (अंक 6)। तपोवन के कुञ्ज से शकुन्तला की बिदाई के समय लताएँ अश्रुपात करती हैं (अंक 4, श्लोक 12)। एक ध्यानावस्थित साधु के गर्दन के चारों ओर लताओं की कुण्डली बन गई है (अंक 3)।

विशेष पौधों और लताओं से भी उपमाएँ ली गई हैं। बहुधा कोमलता तथा सौन्दर्य के लिये ही उनका सन्निवेश किया गया है-

शमी-लता काटने में बड़ी कड़ी होती है (अंक 1) और शमी की लकड़ी में स्वयं अग्नि उत्पन्न करने की क्षमता होती है (अंक 4, श्लोक 4)। वायु से माधवी-लता सूख जाती है (अंक 3)। अतिमुक्तक लता पत्तों के भार से झुकी होती है और सहकार वृक्ष से लिपटी रहती है (अंक 3)। नवमालिका के फूल की कोमलता अधिकतर शकुन्तला के लिये प्रयुक्त हुई है (अंक 1)। सूर्य की किरणों से नवमालिका फूलपर कालिमा छा जाती है (अंक 2, श्लोक 8)। कौन ऐसा मनुष्य है जो नवमालिका लतापर गरम पानी छोड़ना चाहे ? (अंक 4)। फूली हुई वनज्योत्सना लताका वर्णन अंक 1 में मिलता है। उसे शकुन्तला की भगिनी कहा गया है (अंक 4)।

कुछ फूलों का भी उपमाओं के लिये प्रयोग किया गया है-

उषःकाल में ओसकण से भरा हुआ कुन्द-पुष्प मधुप को ललचाता है, परन्तु ठंडे ओस के कारण वह उसका रस लेने से रोक दिया जाता है (अंक 5, श्लोक 19)। नील जलज की कोमलता और शमी की कठोरता में विषमता दिखाई गई है (अंक 1)। शैवाल से घिरा हुआ कमल मनोहर दीख पड़ता है (अंक 1)। कमल के पत्ते पट्टा झलने के लिये प्रयुक्त होते हैं (अंक 3, श्लोक 19)। राजमार्ग की धूल कमल के कोमल पराग केशर के समान है (अंक 4)। मधुप का स्वाभाविक वास-स्थान कमल है (अंक 5, श्लोक 1)। सुन्दर हाथ रक्त कमलनाल के समान दीख पड़ता है (अंक 6)। किसी शिशु का कोमल हाथ उषःकाल में खिले हुए कमल के समान दिखाई देता है (अंक 7, श्लोक 16)। सूर्य का कुमुदिनी पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है (अंक 3, श्लोक 15)। चन्द्रमा के न रहने पर कुमुदिनी से भरे हुए सरोवर की सचमुच दयनीय दशा होती है। (अंक 4, श्लोक 3) उसकी उपस्थिति में वे खिल जाती हैं (अंक 5, श्लोक 28)। कमल केवल सूर्य की उपस्थिति में खिलते हैं (अंक 5, श्लोक 28)। युवावस्था उतनी ही आकर्षक है जितना कि कोई फूल (अंक 1, श्लोक 19)। जिस सौन्दर्य का आनन्द नहीं लिया गया वह मानो बिना सूँघा हुआ सुगन्धित फूल है (अंक 2, श्लोक 10)। मधुप एक नवीन पुष्प से मधु चूसता है (अंक 3, श्लोक 22) वह फूलों से मधु चुराने वाला चोर है (अंक 6)। वसन्त से लताओं के संयोग की सूचना वसन्त की कली देती है (अंक 7) फूलों का दिखाई देना युवावस्था की सूचना देता है (अंक 1) ओठ उतने ही लाल होते हैं जितने कि वृक्षों के लाल पत्ते (अंक 1, श्लोक 20)। किसी युवती का अधर इतना ही सुन्दर दीख पड़ता है जितना कि हाथ से न छुए हुए वृक्षों के कोमल पत्ते (अंक 6)। किसी युवती का निष्कलंक सौन्दर्य अस्पृष्ट कोमल कोंपल के समान होता है। (अंक 2, श्लोक 10)। हथेलियों का रंग वृक्षों की नवीन शाखाओं से होड़ लेता है (अंक 4, श्लोक 5)। लाल कोंपलों और सूखी हुई पत्तियों में विषमता दिखाई गई है (अंक 5, श्लोक 1)। एक होनहार शक्तिशाली नवयुवक की तुलना विशाल वृक्ष की प्रशाखा से की गई है (अंक 7, श्लोक 19) वृक्षों की पत्तियाँ मानो उनकी उँगलियाँ हैं जो दर्शकों को अपने पास आने के लिये बुला रही हैं (अंक 1)। वृक्षों की शाखाएँ उनकी भुजाएँ हैं जिनसे वे शकुन्तला का आलिङ्गन करती हैं (अंक 4)। फलों के भार से झुके हुए वृक्ष, कृपालु मनुष्य की नम्रता प्रकट करते हैं (अंक 5, श्लोक 12)। आत्मिक विचारों में लीन व्यक्ति, वृक्ष के तने के समान मौन होता है (अंक 7) वृक्षों की जड़े तपस्वियों के निवास-स्थान हैं (अंक 7, श्लोक 20)।

वृक्ष शकुन्तला के मित्र हैं (अंक 5, श्लोक 10)। वे सूर्य का अत्यधिक ताप सहन करते हैं और अपने नीचे आए हुए लोगों को शरण देते हैं (अंक 5, श्लोक 7)।

आइये, अब कुछ विशेष वृक्षों और पौधों पर भी विचार करें। केवल सहकार या आम्रवृक्ष ही अतिमुक्तका भार सहन कर सकता है। वह वनज्योत्स्ना लताका भी प्रेमी है (अंक 1) और नवमालिकाका भी (अंक 4)। कमल में अपना निवास-स्थान बना लेने पर भ्रमर, आम्र-मंजरियों की तनिक भी चिन्ता नहीं करता (अंक 5, श्लोक 1)। ये तो वसन्त के प्राण ही हैं (अंक 4)। ये भ्रमरों पर मादक प्रभाव डालती है (अंक 6)। नदी की धाराओं के वेगवान् प्रवाह से नरकट झुक जाते हैं (अंक 2) ईश की चर्चा अंक 3 में की गई है। चन्दन वृक्ष, यद्यपि अपने पास आनेवाले सभी जीवों को प्रसन्न करता है तथापि अपने भीतर कृष्ण सर्प रखने के कारण वह स्वयं निन्ध समझा जाता है (अंक 7, श्लोक 18)। जब शकुन्तला केशर-वृक्ष की जड़ के पास बैठती है तो वह ऐसा लगता है मानो उससे कोई लता लिपटी हो (अंक 1)। असुरों की तुलना कौटों से की गई है (अंक 7, श्लोक 3)।

कृषि-सम्बन्धी उपमाएँ बहुत कम हैं-

समय पर बोए हुए बहुत अधिक अन्न उत्पन्न करते हैं (अंक 6, श्लोक 24)।

(2) पशु-जीवन- पशु-जीवन अपने साथ पशु-शरीर के सभी विकार भी लाता है। इनका भी उपमाओं में प्रयोग किया गया है-

दुष्यन्त एक रोग से दुखी कहा गया है वह रोग 'शकुन्तला' है (अंक 6)। दुष्यन्त की दशा लगभग पूर्णतः निराशा-जनक है। एक फोड़े के ऊपर छोटी फुन्सी का होना अंक 2 में दिखाया गया है। विदूषक की असह्य भूख उसे ही खाए डाल रही है (अंक 6)।

उपमाओं में कुछ पशुओं का प्रयोग इसलिये हुआ है कि अन्य पदार्थों के समान उनमें स्पष्ट मिलने वाले गुणों की व्याख्या की जा सके-

हरिण, संस्कृत काव्य में तुलना का साधारण मापदण्ड है। शकुन्तला के नयन हरिणी के नेत्रों के समान हैं (अंक 1, श्लोक 24) और वे हरिण के नेत्रों के समान भी हैं (अंक 6, श्लोक 7)। शकुन्तला के कटाक्षों के समान दिखाई देने वाले मृगी के सुन्दर कटाक्ष, राजा को उसे मारने से रोकते हैं (अंक 2, श्लोक 3)। मृग-शावक को शकुन्तला का पोष्य पुत्र कहा गया है। (अंक 4, श्लोक 14) अगाध मृगया-प्रेम के कारण पर्वतों पर भ्रमण करते हुए राजा, बनैले हाथी के समान जान पड़ते हैं (अंक 2, श्लोक 4) दिन के कृत्यों को समाप्त करके विश्राम करता हुआ राजा हाथियों के उस स्वामी के समान दीख पड़ता है जो उन्हें अपने चारागाहों में छोड़कर एक शीतल स्थान में बैठकर विश्राम कर रहा हो (अंक 5, श्लोक 5) विदूषक की अच्छी तरह हजामत बनाकर मातलि, अपनी तुलना उस बाघ से करता है जो किसी छटपटाते हुए पशु पर झपटा हो (अंक 6, श्लोक 27)। बिल्ली-द्वारा पकड़ा हुआ चूहा जीवन से निराश हो जाता है (अंक 6)। सर्प जब क्रोध करता है, तब अपना फण फैला लेता है (अंक 7, श्लोक 31)। कृष्ण-सर्प अपनी उपस्थिति से चन्दन वृक्ष को अपवित्र करता है (अंक 6, श्लोक 18)। आश्रम के वृक्षों पर जमी हुई धूल टिड्डीदल के समान दिखाई देती है। (अंक 1, श्लोक 29)। कोमल आम्र-मञ्जरियों को देखकर कोकिल प्रसन्नता से मस्त हो जाता है (अंक 6)। वृक्षों से आता हुआ कोकिल का मधुर कूजन, मानो शकुन्तला के पतिगृह जाने के समय आदेश है (अंक 4, श्लोक 10)। कोकिला कौओं के घोंसले में पली हुई मानी गई है (अंक 5, श्लोक 22)। चकई पक्षी की चर्चा अंक 3 में की गई है। उनकी 'पी कहाँ' की ध्वनि उसके जोड़े के वियोग के दुःख की सूचना देती है (अंक 4) मधुप बड़ी सावधानी और कोमलता से किसी फूल का मधु-रस चूसता है, (अंक 3, श्लोक 22)। इसके लिये यह भी कहा गया है कि यह आम्र-मञ्जरियों को चूसकर कमलों में प्रवेश कर जाता है (अंक 5, श्लोक 8)। यह प्रातःकाल की ओस से भरे हुए कुन्द फूल का रस नहीं ले सकता (अंक 5)। यह फूलों से युक्त लता का बहुत ही प्रिय अतिथि है (अंक 6)। भ्रमरी, अत्यधिक प्रेम के कारण बिना अपने प्रेमी के मधु नहीं पी सकती (अंक 6, श्लोक 19)। किसी स्थान पर मक्खियों का न रहना वहाँ पूर्ण शान्ति का द्योतक है (अंक 2, श्लोक 6)।

3. गृह-जीवन-ज्ञान के इस विभाग से दी गई उपमाएँ अनेक प्रकार की और घरेलू हैं-

जिस मनुष्य की खजूर से अरुचि हो गई है, वह इमली खाने की इच्छा कर सकता है (अंक 2)। सद्यः मधुकी चर्चा अंक 2. श्लोक 10 में की गई है। कामिनी स्त्रियाँ मधुर बोली बोलती हैं (अंक 5)। राजा को भी मधुर-भाषी कहा गया है (अंक 5)। ईख का वर्णन छठे अंक में मिलता है। तूल-राशि को जलाकर नष्ट करने के लिये अग्नि की एक चिनगारी पर्याप्त है (अंक 1, श्लोक 10)। अग्नि के छेड़ने

पर वह चमकती हुई शिखा में जल उठती है (अंक 7, श्लोक 31)। अग्नि के अतिरिक्त और कोई साधन वस्तुओं को नष्ट करने वाला नहीं है (अंक 4)। दीपक के पास रहने पर भी यदि उसे पर्दे से ढक दिया जाय तो मनुष्य को अन्धकार ही दीख पड़ता है (अंक 4)। जल नीचे से ऊपर उसी प्रकार नहीं जा सकता जिस प्रकार राजा का हृदय शकुन्तला की ओरसे नहीं फिर सकता (अंक 3)। राज्य-शासन की तुलना उस छत्र से की गई है जिसका दण्ड हाथ में धारण किया हुआ हो (अंक 5, श्लोक 6)। गर्दसे भरा हुआ दर्पण स्पष्ट प्रतिबिम्ब नहीं देता है परन्तु वही स्वच्छ कर देने पर बड़ी सरलता से स्पष्ट छाया प्रतिबिम्बित करता है (अंक 7, श्लोक 32)। इन्द्र का वज्र किसी स्त्री के आभूषण के समान था, क्योंकि असुरों के युद्ध में वह व्यर्थ सिद्ध हुआ (अंक 7, श्लोक 26)। एक रेशमी झण्डा पीछे की ओर फरफराता है यद्यपि इसका दण्ड आगे की ओर ले जाया जाता है, ठीक यही दशा राजा के मन की भी उस समय थी जब वह शकुन्तला से प्रथम प्रेम करके अपनी राजधानी की ओर लौट रहा था (अंक 1, श्लोक 31)। तपस्या तपस्वियों का धन है (अंक 4, श्लोक 1)। मन और शरीर का समय स्वयं एक कोष है (अंक 4, श्लोक 17)। कन्या धरोहर है (अंक 4, श्लोक 12)। शारद्वत और विलासी नागरिकों में वही सम्बन्ध है जो स्नान किए हुये और तेल लगाये हुए में, शुद्ध और अशुद्ध व्यक्ति में, पूर्णतः जगे हुए और सोये हुए में और बन्धन-युक्त तथा स्वतन्त्र मनुष्य में है (अंक 5, श्लोक 11)।

4. कौटुम्बिक सम्बन्धों का भी प्रयोग उपमाओं में हुआ है। इस नाटक में छोटे पैमाने पर प्राचीन भारतीय जीवन का अनेक रूपों में आदर्श चित्र खींचा गया है, अतः, यह स्वाभाविक ही है कि इस सम्बन्धों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाय। पत्नी का पतिपर स्वाभाविक प्रभाव अंक 7, श्लोक 32 में वर्णित है। आव्रतृक्ष, नवमालिका का पति है (अंक 4, श्लोक 13)। पृथ्वी, शासक की पत्नी है (अंक 4, श्लोक 20)। भ्रमर-भ्रमरी की चर्चा अंक 6, श्लोक 20 में की गई है।

पैतृक प्रेम का निरूपण करने वाली उपमाएँ निम्नांकित हैं-

पशुओं को सन्तान समझना चाहिए (अंक 7, श्लोक 14)। एक मृगशावक तो शकुन्तला का पोष्य पुत्र था (अंक 4, श्लोक 14)। राजा अपनी प्रजा की रक्षा अपनी सन्तान के समान करता है (अंक 5 श्लोक 5)।

भ्रातृ-सम्बन्ध को सूचित करने वाली उपमाएँ भी ध्यान देने योग्य हैं-राजा को प्रजा का बन्धु कहा गया है (अंक 5, श्लोक 7 और अंक 6, श्लोक 23)।

5. सामाजिक जीवन-प्राचीन भारत में अतिथि-सत्कार बहुत बड़ा धर्म माना जाता था। इन्द्र-द्वारा दुष्यन्त के सम्मान का विशद वर्णन अंक 7 में मिलता है। मधुप, फूलों से भरी हुई लताओं का प्रिय अतिथि है (अंक 6, श्लोक 19)। व्यक्तियों को पुकारने के शिष्टाचार का वर्णन अंक 5 में मिलता है। बिना दूसरे के हृदय को भली भाँति समझे, जो मित्रता शीघ्रता में की जाती है वह अवश्य शत्रुता में परिणत हो जाती है (अंक 5, श्लोक 24)। सज्जन सदा अपने मित्रों को कृपा-दृष्टि से देखते हैं (अंक 6, श्लोक 29)। कृपा के आदर्श रूप की उपमा किसी मनुष्य को शूली से उतारकर हाथी पर चढ़ा देने से दी गई है (अंक 6, श्लोक 2)।

कुछ मित्रता-विरोधी उपमाओं का विषय कपट है-

राजा की उपमा मधुरभाषी कपटी से दी गई है (अंक 5)। उसकी तुलना चोर से भी की गई है (अंक 5, श्लोक 20)। भ्रमर को ऐसा चोर कहा गया है जो फूलों से मधु चुराता है (अंक 5, श्लोक 10)।

जनसंकुला नगरी की उपमा भीड़ से घिरे हुए उस घर से दी गई है जिसमें आग लग गई हो (अंक 5, श्लोक 10)। बन्दी होने की भावना अंक 6, श्लोक 20 में निहित है, जहाँ राजा उस भ्रमर से ईर्ष्या करता है जिसे कवि ने शकुन्तला के मुँह पर मँडराते हुए चित्रित किया है। राजा चाहता है कि मैं भी कमल में बन्द हो जाता। जान-बूझकर दुष्टता करने से कुछ लोगों को जो प्रसन्नता होती है उसका वर्णन दैनिक जीवन की तद्धत घटना से किया गया है-अर्थात् किसी मनुष्य की आँख इस प्रकार खोद देना कि उसमें आँसू निकलने लगें और फिर उससे इसका कारण पूछना (अंक 2)।

सैनिक जीवन, मृगया और अन्य खेलों से सम्बन्ध रखने वाली उपमाएँ भी मिलती हैं। सूत्रधार अपनी प्रिया के मनोहर आलाप से उसी प्रकार आकृष्ट किया जाता है जिस प्रकार दुष्यन्त सवेग दौड़ाने वाले हरिण से (अंक 1, श्लोक 5)। पुनः अंक 1, श्लोक 6 में दुष्यन्त की तुलना शिव से की गई है जो हरिण का पीछा कर रहे हैं। किसी विश्वासघाती के दिखावटी धर्माचरण की तुलना कवच से की गई है (अंक 5)। किसी पश्चाताप करते हुए हृदय के शोकोद्गार वैसे ही हैं जैसे उस हृदय के होते हैं जो विष-बुझे बाणपर्व से बेधा गया हो (अंक 3, श्लोक 9)। ऐसा बाणपर्व निकाल लिया जाता है तो जैसा सुख उस मनुष्य को होता है जिसके हृदय से वह बाण निकाला जाता है उसका वर्णन अंक 7 में मिलता है। धनुष्यकार की तुलना किसी वन्य पशु के गर्जन से की गई है (अंक 3, श्लोक 1)

पृथ्वी की कल्पना एक ऐसी गेंद के समान की गई है जो आकाश में ऊँचे फेंक दी गई हो (अंक 7, श्लोक 8)।

6. धार्मिक जीवन-योग्य पति पाने के लिये शकुन्तला को उसकी सखियाँ उस समुचित घटना से उपमा देती हुई बधाई देती हैं जिसमें होता-द्वारा धुएँ से ढकी हुई अग्नि न देखी जाने पर भी हव्य ठीक यज्ञ की अग्नि में ही गिरता हो। शकुन्तला की उपमा अच्छे शिष्य को दिये हुए ज्ञान से दी गई है, क्योंकि ऐसे ज्ञान के नष्ट होने की चिन्ता कर्त्ता को नहीं करनी पड़ती (अंक 6)। मातलि-द्वारा बड़ी कठोरता से पकड़े जाने पर विदूषक अपनी तुलना उस बलि-पशु से करता है जो अब मारा ही जाने वाला हो (अंक 6)।

निम्नाङ्कित उपमाएँ, कर्म और मोक्ष के दो धार्मिक सिद्धान्तों को स्पष्ट करती हैं-

पूर्व जन्म में किये गए अनेक कर्मों का फल पकता है (अङ्क 2, श्लोक 10) यदि किसी साधुको अप्सराओं ने मोहित कर लिया तो उसके लिये मोक्ष पाने की एकदम सम्भावना नहीं है (अंक 5)।

7. पुराण और अन्य साहित्य-ज्ञान के मूल से ली गई उपमाओं से स्पष्ट हो जाता है कि पौराणिक कथाओं और कहानियों की प्राचीन पुस्तकों का कालिदास को बहुत गम्भीर ज्ञान था।

शिव जी का हरिण के पीछे दौड़ने की कल्पना पुराणों से ली गई है (अंक 1, श्लोक 6)। लक्ष्मी जी, जो सौन्दर्य का केवल एक ही माप-दण्ड हैं, यदि बढ़कर नहीं तो शकुन्तला की समता में रक्खी हुई जान पड़ती हैं (अंक 2, श्लोक 9)। दुविधा में पड़े हुए किंकर्तव्यविमूढ चित्त की सटीक तुलना स्वर्ग और पृथ्वी के बीच में लटके हुए त्रिशंकु से की गई है (अंक 2)। विशाखा उपग्रह और चन्द्रकला की चर्चा (अंक 3) का मूल यह ज्योतिष तथ्य है कि विशाखा उपग्रह चन्द्रमा के पास उस समय दिखाई देता है जब कि आकाश धवल रहता है और बहुत तीव्रता से चमकता है अर्थात् वैशाख और ज्येष्ठ के महीने में।

प्राचीन पौराणिक कथा से ययाति और शर्मिष्ठा का उल्लेख किया गया है (अंक 4, श्लोक 7)।

कामनाओं पर आधिपत्य करने वाले साधुओं के विरुद्ध मोहने वाली युक्तियों का प्रयोग करने के लिये स्वर्गिक अप्सराओं का वर्णन अंक 5 में मिलता है।

रथ में जोते हुए घोड़ों के साथ सूर्य का और पृथ्वी का भार वहन करने वाले शेषनाग का वर्णन अंक 5, श्लोक 4 में मिलता है। सूर्य के सात घोड़े हैं, इसकी चर्चा अंक 6, श्लोक 30 में की गई है। सूर्य के सारथी अरुण के विषय में कहा गया है कि वह अपने स्वामी से शक्ति लेकर अन्धकार का नाश करता है (अंक 7, श्लोक 4)।

विषों का विष कालकूट, राजा के रनिवास के विषमय प्रभाव को बतलाता है (अंक 6, श्लोक 21)।

दुष्यन्त अपने उन पूर्व पुरुषों का काल्पनिक चित्र खींचते हैं जो पुत्र के न रहने पर आवश्यक पिण्डोदक नहीं पायेंगे (अंक 6, श्लोक 24)। दुष्यन्त और इन्द्र में इसके अतिरिक्त और कोई अन्तर नहीं है कि इन्द्र का रथ पृथ्वी पर उसे बिना स्पर्श किए चलता है और दुष्यन्त का स्पर्श करते हुए चलता है। मारीच के आश्रम में रहते हुए दुष्यन्त अपने को गहरे अमृत-सरोवर में बैठा हुआ समझते हैं, क्योंकि उस स्थान का वायुमण्डल आनन्द से भरा हुआ है (अंक 7, श्लोक 1)। रोहिणी और चन्द्रमा के प्रेम से सम्बद्ध कथा के साथ-साथ चन्द्रग्रहण के पौराणिक अभिप्राय का प्रयोग अंक 7, श्लोक 22 में किया गया है, जिसमें शकुन्तला और दुष्यन्त का वियोग और संयोग दिखाया गया है। अंक 7, श्लोक 28 में दुष्यन्त की तुलना इन्द्र से, उनके पुत्र की इन्द्र के पुत्र जयन्त से और शकुन्तला की पौलोमी से की गई है।

दुष्यन्त ने इन्द्र के वैरी असुरों के कुल का नाश कर दिया, अतः उनकी तुलना विष्णु के चौथे अवतार नृसिंह से की गई है (अंक 7, श्लोक 3)।

8. ललित कलाएँ-कालिदास के ग्रन्थों में ललित कलाओं से सम्बन्ध रखने वाले उद्धरण इस बात को सिद्ध करते हैं कि कवि होने के अतिरिक्त उनको काव्य से सम्बद्ध चित्रविद्या और गायन आदि अन्य कलाओं का भी बहुत गम्भीर ज्ञान और तत्सम्बन्धी आलोचनात्मक अन्तर्दृष्टि थी।

प्रेक्षागृह में रङ्गमञ्च के मधुर गानों को उत्सुकता और ध्यान से सुनने वाले श्रोताओं को चित्रखचित व्यक्तियों का समूह कहा गया है (अंक 1)। किस प्रकार कोई कलाकार एक आदर्श चित्र चित्रित करते समय उसमें सभी सुन्दर रूप निहित करने का प्रयत्न करता है इसका बहुत अच्छा वर्णन अंक 2, श्लोक 9 में मिलता है जहाँ राजा, शकुन्तला के अपार सौन्दर्य से चौंधिया कर उसकी उत्पत्ति के विषय में अनेक प्रकार की भावावेग पूर्ण कल्पनाओं में लीन हो जाता है। चित्रकला का दूसरा सिद्धान्त कि चित्र में बनाई हुई वस्तुएँ अपनी ऊँचाई-निचाई के अनुसार होनी चाहिए, अंक 6 में समझाया गया है, जहाँ राजा द्वारा बनाया हुआ चित्र विस्तार से वर्णित है। उसी चित्र के वर्णन में कहा गया है कि वह तपोवन के पौधों को सींचने के कारण किञ्चित् भ्रान्त चित्रित की गई है। (अंक 6)।

गायन-सम्बन्धी उपमाएँ 'शकुन्तला' में बहुत कम हैं, यद्यपि कालिदास के अन्य ग्रन्थों में और अधिक मिल जायँगी। गायन का आवेगमय रूप अंक 5 में निहित है जहाँ राजा अपनी प्रथम कृपापात्रा हंसपदिका के गायन की बड़ी प्रशंसा करता है।

9. मानसिक दशाएँ- परिष्कृत मस्तिष्क या विकृत मस्तिष्क की दशाओं का वर्णन करने वाली उपमाएँ और साथ ही साधारण अनुभवों से सम्बन्ध रखने वाली उपमाएँ भी मिलती हैं-

पागल के प्रलाप में अनुबन्ध की आशा नहीं की जा सकती (अंक 4, श्लोक 1)। कामोन्मत्त विचारों के आवेग में अपनी अँगूठी से बातचीत करते हुए राजा की तुलना पागल से की गई है (अंक 6)। अन्धा मनुष्य अपने सिर पर फेंकी हुई माला को भ्रम-वश सर्प समझता है (अंक 7, श्लोक 24)। स्वप्न में

अनुभव किए हुए, एक तान्त्रिक-द्वारा उत्पन्न किए गए अथवा मस्तिष्क की तल्लीनता की कमी से पैदा हुए मतिभ्रमों की ओर अङ्क 6, श्लोक 10 में संकेत किया गया है।

पृथ्वी की ओर सीधे उतरते हुए इन्द्र के रथ की अत्यन्त द्रुति गति एक प्रकार का ऐसा भ्रम उत्पन्न करती है मानो अचानक दृष्टिपथ में आते हुए पर्वत-शिखरों से पृथ्वी स्वयं नीचे उतर रही हो (अंक 7, श्लोक 8)। विश्वसनीय साक्ष्यपर आश्रित निष्कर्ष के द्वारा किसी वस्तु के मिथ्याज्ञान से सत्यज्ञान में होने वाले परिवर्तन का वर्णन अंक 7, श्लोक 31 में किया गया है। अंक 7, श्लोक 31 से हम जानते हैं कि कुछ विषयों में हमारी निजी अभिरुचि किस प्रकार मृत वस्तुओं को भी जीवित कर सकती है।

10. भाव-जगत्-किसी भी ग्रन्थ में उपमाओं के प्रयोग का मुख्य तात्पर्य यह है कि स्थूल उदाहरणों-द्वारा सूक्ष्म भाव स्पष्ट किए जायँ। परन्तु शेली आदि कुछ आंग्ल कवियों की भाँति कालिदास को भी हम इस क्रमागत पद्धति के विरुद्ध पाते हैं। बहुधा व्यक्तीकृत भाव उपमा का माप-दण्ड हो जाता है। भाव-सम्बन्धी उपमाओं के निम्नांकित उदाहरण हैं-

राजा के रथ से डरकर एक हाथी, कण्व के पवित्र लता-वितान में इस प्रकार घुसता है मानो वह उनकी तपस्या का मूर्तिमान विघ्न हो (अंक 1, श्लोक 30) अंक 7, श्लोक 13 में शकुन्तला, जो वास्तव में राजा की कामना का लक्ष्य थी, स्वयं कामना-रूप में अंकित की गई है। दुष्यन्त, शकुन्तला और उनके पुत्र सर्वदमन के प्रेम-मिलन की उपमा विश्वास, भाग्य और कर्म के आकस्मिक योग से दी गई है (अंक 7, श्लोक 29)। शकुन्तला के निर्दोष सौन्दर्य की तुलना महान् कृत्यों के पूर्ण फलसे की गई है (अंक 2, श्लोक 10)। पश्चात्ताप करता हुआ राजा शकुन्तला से अपने प्रथम प्रेम-प्रदर्शन की तुलना उतने ही कम पारितोषिक से करता है (अंक 6, श्लोक 10)।

दूसरे व्यक्तिकृत भावों के उदाहरण भी प्रायः मिल जाते हैं-

दोषों के कारण बहुत से अनिष्ट होते हैं (अंक 6)। भाग्य सचमुच सर्वव्यापी है (अंक 6) महामना की महत्वाकांक्षाएँ वास्तव में ऊँचे उड़ा करती हैं (अंक 7)। दुष्यन्त की प्रसिद्धि स्वर्ग के धरातल- पर स्थित है (अंक 7)। भूख विदूषक को प्रायः खा गई है (अंक 6)।

11. काव्य-सम्बन्धी या अन्य रूढ़ियाँ-

सभी संस्कृत-साहित्य-प्रेमियों का सत्य कथन है कि बहुत सी भावनाएँ जो प्रारम्भ में आवेश और ओज से भरी हुई थीं उनमें यद्यपि अतिशयोक्ति थी फिर भी वे पिछले खेवों के कवियों के हाथ में पड़कर सर्वथा रुढ़िबद्ध और निर्जीव-सी हो गई। अतः इसमें सन्देह नहीं कि हमको शुद्धि स्वर्ण के साथ-साथ कालिदास की रचनाओं में कुछ निम्न कोटिकी धातुओं का मिश्रण भी मिलता है यद्यपि उनमें कल्पना की कमियाँ भी पर्याप्त हैं।

काम-पीडित मनुष्यपर चन्द्रमा की शीतल किरणें अग्नि की वर्षा करती हैं (अंक 3, श्लोक 3)। काम-पीडित मनुष्यों का रूढ़ वर्णन 'शकुन्तला' में भी वैसा ही है जैसा प्राचीन पुस्तकों में मिलता है, क्योंकि अनसूया यह आलोचना करती हुई पाई जाती है कि उपर्युक्त वर्णन उसकी सखी शकुन्तला के लिये उपयुक्त ही है (अंक 3, श्लोक 14)। लता के साथ भाँहों की तुलना बहुत पुरानी है। (अंक 3, श्लोक 13)। कुमुदिनियों पर चन्द्रमा का प्रभाव प्रायः सभी संस्कृत-काव्यों में उद्धृत है, वह उपमाओं में सबसे अधिक नीरस है (अंक 3, श्लोक 15)। पृथ्वी, राजा की पत्नी समझी गई है (अंक 3, श्लोक 18)। चकवा-चकवी का वियोग एकदम रूढ़िगत है (अंक 3, श्लोक 3)। चन्दन वृक्ष के वास-स्थान मलय पर्वत

का वर्णन अंक 4, श्लोक 12 में मिलता है। कोकिला के बच्चों का पालन-पोषण कौओं के घोंसलों में होता है (अंक 5, श्लोक 22)। अब प्रकृतिवादी ही इस उक्ति के सत्य की जाँच करें। कामदेव का धनुष और बाण से सुसज्जित दिखलाना योरीपीय और संस्कृत काव्य में समान है (अंक 5, श्लोक 23, अंक 6, श्लोक 4) आग्रमञ्जरी कामदेव का छठा अस्त्र है (अंक 6 श्लोक 23; अंक 6, श्लोक 8)। आग्रमञ्जरियों को देखकर भ्रमरों का मदमस्त होना यद्यपि स्वाभाविक है फिर भी यह काव्य-सौन्दर्य प्राप्त करने के लिये एक प्रवेश-पत्र सा हो गया है (अंक 6)। दूध और जल के मिश्रण से केवल दूध चूस लेना और जल को छोड़ देना हंस-पक्षी का विशेष गुण है। यह एक दीर्घकालिक कवि-समय है (अंक 6, श्लोक 8)।

कुछ साधारण निष्कर्ष-

उपरिलिखित विचारों की सारिणी से भली भाँति स्पष्ट हो जायगा कि साधारण बातों में असाधारण के प्रति कालिदास की भावुकता बहुत ही तीव्र थी। अपने विश्लेषण के निष्कर्षों से भी मुझे यह लिखने में प्रसन्नता है कि उनकी बुद्धि सचमुच विस्तृत थी और इस बुद्धिने अपने घेरे में आई हुई प्रत्येक वस्तु को उचित स्थान दिया। उनका प्रकृति-ज्ञान एकदम नया था। दुष्यन्त के प्रथम प्रेम ने एक स्थायी स्थान बना लिया है। वह कहता है-

न च निम्नादिव सलिलं निवर्तते मे ततो हृदयम्।

(अपने प्रेम-पात्र को छोड़ना मेरे लिये उतना ही असम्भव है जितना कि नीचे बहते हुए जल को ऊपर चढ़ा ले जाना।)

शब्द-चित्र में कोई उपमा, पहले पशुओं की खुर से उठाई गई और फिर कण्व के तपोधान के वृक्षों पर स्थित धूल से अधिक कला का प्रदर्शन नहीं करती। धूल के जमाव की तुलना टिड्डी दल से की गई है-

शलभसमूह इव रेणु.....पतति। क्या यह उपमा कालिदास के प्राकृतिक दृष्टिकोण की नवीनता नहीं सूचित करती? क्या उनमें प्रत्यक्ष संकेतों-द्वारा प्रदर्शित करने की विचित्र शक्ति नहीं है जिनको टेनिसन या ब्राउनिङ्ग या अन्य कवि और अधिकता से दिखलाते हैं ?

उनके प्राकृतिक ज्ञान के सम्बन्ध में दूसरी ध्यान देने-योग्य बात यह है कि उन्होंने मनुष्य और प्रकृति के बीच कोई विभाजन-रेखा नहीं खींची है। समाज में मनुष्यों का सम्बन्ध पौधों के पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा समझाया गया है। विशेषतः 'शकुन्तला' में वनस्पति और पशु-जीवन के सभी अन्तर बिल्कुल निकाल दिए गए हैं और पूर्ण जीवन हमारे समक्ष रखा गया है।

दुष्यन्त के सम्पूर्ण अनुभव का वर्णन विस्तार से करने के लिये कल्पना के बहुत ही उत्कृष्ट रूप की आवश्यकता है। उदाहरणार्थ- किस प्रकार नीचे उतरते समय पृथ्वी दुष्यन्त की ओर लुढ़का दी गई सी जान पड़ती है, इसका प्राञ्जल वर्णन-अङ्क 7, श्लोक 8 में किया गया है। कालिदास के समय में वायुयान नहीं थे फिर भी विचित्रता यह है कि पूरा वर्णन, एच0 जी0 वेल्स-द्वारा अपने लेख में दिए गए उस वर्णन से मक्षिका स्थाने मक्षिका मिल जाता है जिसमें उन्होंने अपना प्रथम वैमानिक अनुभव हमें बताया है।

फिर भी मैं इस बात पर बल देता हूँ कि सभी उपमाएँ बुद्धिमत्ता की सूझ नहीं हो सकतीं। संसार की अन्य वस्तुओं के समान उपमाओं का भी अपना निजी सौन्दर्य होता है। प्रथम तो उन्हें उचित होना

चाहिए। जब किसी पण्डितमानी ने किसी ऊँची मीनार को देखकर इस प्रकार आलोचना की “यह गृह का कैसा निरर्थक वाक्यांश है” तो उसने सचमुच शिशुता या कवि होने की अपनी अयोग्यता प्रकट की।

कालिदास की उपमाओं में यह औचित्य निश्चय ही है, इसका विवरण कुछ उदाहरणों से चल जायेगा। प्रियंवदा अपनी सखी शकुन्तला को योग्य पति पाने पर बधाई देते हुए कहती है-

दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता।

वत्से! सुशिष्यपरिदत्ता विद्येवाशोचनीयासि संवृत्ता।।

उपमाओं का औचित्य और सौंदर्य इस बात में समझा जाता है कि कवि में यह शक्ति हो कि वह धार्मिक जीवन से उदाहरण लेकर सांसारिक सम्बन्ध को समझा दे।

दूसरी ओर विदूषक के हाथ में पड़कर प्रत्येक गम्भीर और पवित्र विचार असंस्कृत और हास्यास्पद हो जाते हैं। जब मातलि उसे भली प्रकार पीट चुकता है तो वह कहता है-

इष्टिपशुमारं मारितः।

दूसरे स्थल पर दुष्यन्त के प्रेमोन्मत्त हो जाने पर वह कहता है-

‘लङ्घित एष भूयोऽपि शकुन्तला व्याधिना’।

बर्ग्सन का हास्य-सिद्धान्त विदूषक की चरित्र-वृद्धि में भली भाँति दिखाया गया है, क्योंकि आत्मा के विषय में बातचीत करते हुए सर्वदा शरीर और उसके असंस्कृत प्रेम की ओर ही निर्देश करता है।

उपमाओं के अन्य गुण जैसे वैचित्र्य, वैविध्य आदि का विशेष रूप से वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे ऊपर दी हुई उपमाओं के मूल स्त्रोतों के विभागों से स्पष्ट हो गए हैं।

अँगरेजी साहित्य का विद्यार्थी मिल्टन अथवा होमर में अधिकता से मिलने वाली लम्बी पूँछों-वाली उपमा न पाकर आश्चर्य में पड़ जाता है। किसी विचार को जान-बूझकर पीट-पाटकर बढ़ाना, कृत्रिमता ही सूचित करता है, चाहे वह कितनी ही चतुराई से क्यों न किया जाय, क्योंकि मौलिक रचना के लिए वह किसी प्रकार भी सहायक नहीं है। बनावट कभी मौलिक रचना के समकक्ष हो भी नहीं सकती। कालिदास की प्रायः सभी उपमाएँ सीधी-सादी हैं और वे भारतीय मस्तिष्क पर अपना प्रभाव डालती भी हैं क्योंकि वे उस भारतीय सभ्यता का चित्रण करती हैं जिसका पालन-पोषण वन में हुआ है न कि यूनानी और रोमन सभ्यता की भाँति नगर की चहारदीवारी के भीतर। अतः उन सभी में वह स्वान्त्र्य की झलक दिखाई देती है जो प्रकृति के शक्तिशाली प्रभाव के दैनिक सम्पर्क से ही सम्भव है।



कालिदास की छन्दोयोजना

(पण्डित श्री रामगोविन्द शुक्ल, न्याय-व्याकरण-साहित्याचार्य, काशी)

जैसे विभिन्न प्रकार के उच्चारण के लिये विभिन्न प्रकार से कण्ठतालु के अभिघातों का विधान है और जैसे विभिन्न प्रकार के वर्ण पृथक् रस, भाव तथा अलंकार आदि के व्यञ्जक हैं वैसे ही उन-उन रसों की व्यञ्जना के लिये भिन्न-भिन्न छन्दों का भी विधान है। जैसे शृङ्गार रस के व्यञ्जक वर्णों के द्वारा ही शृङ्गार रस की सिद्धि होती है वैसे ही छन्दों के विषय में भी यह विचार किया गया है कि किस छन्द में रचा हुआ काव्य किस रस की पुष्टि के लिये अधिक उपयुक्त होगा। तात्पर्य यह है कि केवल शब्द-योजना ही काव्य में रस-सिद्धि के लिये पर्याप्त नहीं होता, उसके लिये छन्दोयोजना भी उतनी ही अधिक अपेक्षित है। महाकवि क्षेमेन्द्र ने अपने सुवृत्त-तिलक में कहा है कि-

काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।

कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवत्॥

(काव्य में रस तथा वर्णनीय वस्तु के अनुसार छन्दोयोजना ठीक समझकर छन्दों का विनियोग करना चाहिए।)

छन्दोयोजना का परिज्ञान तो उन महाकवियों के काव्यों से ही सम्भव है जिनकी वाग्धारा अविरल प्रवाह-द्वारा साहित्य तथा साहित्यकारों को तृप्त करती रही है। आचार्य मम्मटने कहा है कि काव्य-निर्माण की शक्ति होने पर भी “काव्यज्ञशिक्षयाभ्यासः” की आवश्यकता रहती ही है। अतएव नये कवि अपने पूर्ववर्ती बड़े-बड़े कवियों के बनाये हुए मार्ग पर ही चलना उचित समझते हैं और तदनुसार ऐसी परिपाटी बना लेते हैं जिससे पीछे आने वाले कवि-बालक भटकते न फिरे, प्रत्युत उसी मार्ग पर सावधानी से पैर रखते हुए चले आवें। इसीलिये महाकवि क्षेमेन्द्रने अपने सुवृत्ततिलक नामक ग्रन्थ में छन्दोयोजना के विषय में नियम लिखते हुए कहा है-

आरम्भे सर्गबन्धस्य कथावितारसंग्रहे-

समोपदेशवृत्तान्ते सन्तः शंसन्त्यनुष्टुभम्॥

शृङ्गारालम्बनोदारनायिकारूपवर्णनम्

वसन्तादि तदङ्गं च सच्छायमुपजातिभिः॥

रथोद्धता विभावेद भव्या चन्द्रो द यादिषु।

षाड्गुण्यप्रगुणा नीतिर्वशस्थेन विराजते॥

वसन्तनिलकं भाति सङ्करे वीररौद्रयोः।

कुर्यात् सर्गस्य पर्यन्ते मालिनीं हुततालवत्॥

उपपन्ने परिच्छेदकाले शिखरिणी मता।

औदार्यरुचिरौचित्य-विचारे हरिणी मता॥

साक्षेपक्रोधधिविकारे परं पृथ्वीभरक्षमा।

प्रावृट्प्रवासव्यसने मन्दाक्रान्ता विराजते॥

शौर्यस्तवे नृपादीनां शार्दूलक्रीडितं मतम् ।

सावेगपवनादीनां वर्णने स्त्रग्धरा मता ॥

दीर्घकतोटकनर्कुटयुक्तं मुक्तकमेव विराजति सूक्तम् ।

निर्विषयस्तु रसादिषु तेषां निनियमश्च सदा विनियोगः ॥

शेषाणामप्यनुक्तानां वृत्तानां विषयं विना ।

वैचित्र्यमात्रपात्राणां विनियोगो न दर्शितः ॥

इत्येष वश्यवचसां सर्ववृत्त-प्रसंगिनाम् ।

अदो विभागः सद्वृत्तविनिवेशे विशेषवान् ॥

(किसी सर्ग के आरम्भ में, कथा के विस्तार का संग्रह करने में, उपदेश या वृत्तान्त कथन में अनुष्टुप् छन्द के प्रयोग की प्रशंसा सज्जन लोग करते हैं। शृङ्गार के आलम्बन-स्वरूप उदार नायिका के वर्णन और शृङ्गार के अंगभूत वसन्त आदि का वर्णन उपजाति छन्द में करना चाहिए। भव्य चन्द्रोदय आदि विभावों का वर्णन रथोद्धता में और षाड्गुण्य आदि नीति-सम्बन्धी विषयों का वर्णन वंशस्थ छन्द में शोभन होता है। वीर और रौद्र के मेल में वसन्ततिलका छन्द ठीक होता है और सर्ग के अन्त में द्रुत ताल के समान मालिनी छन्दका प्रयोग करना चाहिए। अध्याय को अलग करने या प्रारम्भ करते समय शिखरिणी छन्द उचित होता है। उदारता, रुचि और औचित्य आदि गुणों के वर्णन के लिये हरिणी छन्द ठीक है। आक्षेप, क्रोध और धिक्कार के लिये पृथ्वीभरक्षमा छन्द उचित है। वर्षा, प्रवास, विपत्ति आदि के वर्णन के लिये मन्दाक्रान्ता छन्द उपयुक्त है। राजाओं के शौर्य की स्तुति के लिये शार्दूल लविक्रीडित तथा आँधी-बवंडर के वर्णन के लिये स्त्रग्धरा ठीक है। मुक्तक सूक्तियाँ दोधक, तोटक तथा नर्कुट छन्द में अच्छी लगती हैं। जिन अन्य छन्दों के प्रयोग का वर्णन नहीं किया गया है उनके विषय और प्रयोग के औचित्य का विचार कर लिया जा सकता है। कवि लोग उचित प्रकार से यथास्थान उनका प्रयोग कर ही लेते हैं।)

महाकवि क्षेमेन्द्र की दृष्टि में कालिदास की छन्दोयोजना इस प्रकार की है-

सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता प्रवल्गति ।

सदश्वदमकस्येव

काम्बोजतुरगाङ्गना ॥

सुवर्णार्हप्रबन्धेषु यथास्थान-निवेशिनाम् ।

रत्नानामपि वृत्तानां भवत्यभ्यधिका रुचिः ॥

महाकवि क्षेमेन्द्र का यह निर्देश सर्वथा सराहनीय है और छन्दों के विषय में पूर्ण रूप से यह विधान बन जाना चाहिए कि किस छन्द का कहाँ प्रयोग करना उचित और कहाँ अनुचित है जिससे नये कवियों का उचित पथ प्रदर्शन हो सके। रीति-ग्रन्थकारों ने काव्य दोष गिनते हुए 'हतवृत्तता' नामक दोष भी लिखा है। उनका कहना है कि जो वृत्त, रस के स्वभाव से विपरीत पड़ता हो उसका प्रयोग उस रस के लिये करना ही हतवृत्तत्व दोष है। यहाँ केवल यही विचार किया जा रहा है कि महाकवि कालिदास ने अपने काव्य में किन रसों, भावों तथा वर्णनों के लिये किन छन्दों का प्रयोग किया है-

छन्द

विषय-भाव या रस

1. उपजाति- वंशवर्णन, तपस्या तथा नायक-नायिका का सौन्दर्य ।

2. अनुष्टुप्- लम्बी कथा को संक्षिप्त करने तथा उपदेश देने में।
3. वंशस्थ- वीरता के प्रकरण में; चाहे युद्ध हो या युद्ध की तैयारी हो रही हो।
4. वैतालीय- करुण रस में।
5. द्रुवतविलम्बित- समृद्धि के वर्णन में।
6. रथोद्धता- जिस कर्म का परिणाम खेद के रूप में परिणत हो, चाहे वह खेद रति-जनित हो, दुष्कर्म-जनित हो या पश्चाताप-जनित हो। अतः कामक्रीडा, आखेट आदि का वर्णन इसी छन्द में है।
7. मन्दाक्रान्ता- प्रवास, विपत्ति तथा वर्षा के वर्णन में।
8. मालिनी- सफलता के साथ पूर्ण होने वाले सर्ग के अन्त में।
9. प्रहर्षिणी- हर्ष के साथ पूर्ण होने वाले सर्ग के अन्त में। यदि मध्य में भी कहीं इसका प्रयोग है तो वहाँ भी दुःख की धारा में हर्ष या हर्ष की धारा में हर्षातिरेक ही वर्णित है।
10. हरिणी- जब नायक का अभ्युत्थान हो या सौभाग्य का वर्णन हो।
11. वसन्ततिलका- कार्य की सफलता पर। ऋतु-वर्णन में भी पुरुषों की सफलता या ऋतु की सफलता पर तभी सिद्ध हो सकी है जब उसका उपभोक्ता उन वस्तुओं का उपभोग कर रहा हो।

इसी प्रकार सफलता के लिये प्रस्थान या प्राप्ति में अन्वर्थनाम पुष्पिताग्रा, निराशा के साथ निवृत्तिमें तोटक, कृतकृत्यता में शालिनी, वृथा वीरता-प्रदर्शन में औपच्छन्दसिक, क्रीडा के वर्णन में (चाहे कामक्रीडा हो या अन्य क्रीडा हो) रथोद्धता, संयोग से स्वयं प्राप्त विपत्ति में स्वागता, घबराहट में मत्तमयूर, प्रपञ्चों का परित्याग करने में नाराच तथा वीरता आदि के वर्णन में शार्दूलविक्रीडितका प्रयोग किया गया है।

महाकवि कालिदास ने अपने छन्दों के प्रयोग-द्वारा यह भी सिद्ध करने और समझाने का प्रयत्न किया है कि इन छन्दों का प्रयोग किस रस में करना चाहिए। जिस सर्ग की घटनाओं में श्लोक-श्लोक पर भाव बदला है या घटना बदली है, ठीक उसी के अनुसार कविने छन्दों में भी गिन करके ही परिवर्तन किया है जिससे यह भी मानना अनुचित न होगा कि कविने अपने काव्य के द्वारा रसों के अनुकूल छन्दोयोजना की शिक्षा भी दी है।

छंदों का प्रयोग समझने और उनका प्रकरण जानने के लिये छंदों की तालिका नीचे दी जाती है-

रघुवंश

प्रथम सर्ग	छन्द	लक्षण
1 से 94 तक	अनुष्टुप्	लघुस्यात् पंचमं यत्र गुरुषष्ठं तु सप्तमम्। द्वितुर्यपादयोर्ह्रस्वमष्टाक्षरमनुष्टुभम्।
95 वाँ	प्रहर्षिणी	मौ जौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्।
द्वितीय सर्ग		
1 से 74	उपजाति	उपेन्द्रवज्रापदसंगतानि यदीन्द्रवज्राचरणानि च स्युः। तदोपजातिः कथिता कवीन्द्रैर्भेदा भवन्तीह चतुर्दशास्याः।
75 वाँ	मालिनी	ननमयमयुतेयं मालिनी भोगिलोकैः।
तृतीय सर्ग		
1 से 69 तक	वंशस्थ	जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ।

70 वाँ	हरिणी	रसयुगहयैस्त्रीं म्नीस्तौ गो यदा हरिणी तदा ।	
चतुर्थ सर्ग			
1 से 86 तक अ	नुष्टुप्		(ऊपर देखो)
87 से 88 तक	प्रहर्षिणी		(ऊपर देखो)
पञ्चम सर्ग			
1 से 62 तक	उपजाति		(ऊपर देखो)
63 से 73 तक	वसन्ततिलका	उक्ता वसंततिलका तभजा जगौगः ।	
74 से 75 तक	मालिनी		(ऊपर देखो)
76 वाँ	पुष्पिताग्रा	अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा ।	
षष्ठ सर्ग			
1 से 84 तक	उपजाति		(ऊपर देखो)
85 वाँ	मालिनी		(ऊपर देखो)
86 वाँ	पुष्पिताग्रा		(ऊपर देखो)
सप्तम सर्ग			
1 से 69 तक	उपजाति	द्वितीय सर्ग में,	(ऊपर देखो)
70वाँ 71 तक	मालिनी	द्वितीय सर्ग में,	(ऊपर देखो)
अष्टम सर्ग			
1 से 90 तक	वैतालीय	विषमे यदि षट्कलासमेऽष्टौ स्युस्ता इह नो निरन्तराः । न समात्र पराश्रिता कला वैतालीयेऽन्ते रलौ गुरुः ।	
91 वाँ	तोटक	इह तोटकमम्बुधिसैः प्रथितम् ।	
92 वाँ	प्रहर्षिणी	प्रथम सर्ग में	(ऊपर देखो)
93 से 94 तक	वसन्ततिलका	पंचम सर्ग में	(ऊपर देखो)
95 वाँ	मन्दाक्रान्ता	मन्दाक्रान्ता जलधिषड्गैम्भौनतौ तद्गुरु चेत् ।	
नवम सर्ग			
1 से 54 तक	द्रुतविलम्बित	द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ ।	
55 से 63 तक	वसन्ततिलका	पंचम सर्ग में	(ऊपर देखो)
64 से 65 तक	शालिनी	शालिन्युक्ता म्ती तगौ गोब्धिलोकैः ।	
66 वाँ	औपच्छंदसिक	चरमे यदि रेफयो भवेतामौपच्छन्दसिकं दलद्वये तत् ।	
67 वाँ	मालिनी	द्वितीय सर्ग में	(ऊपर देखो)
68 वाँ	रथोद्धता	रात्रराविह रथोद्धता लगी ।	
69 से 70 तक	पुष्पिताग्रा	पंचम सर्ग में	(ऊपर देखो)
71 से 73 तक	स्वागता	स्वागतारनभगैर्गुरुणा च	
76 वाँ	वैतालीय	अष्टम सर्ग में	(ऊपर देखो)
75 वाँ	मत्तमयूर	वेदै रन्ध्रैर्मतौ यसगा मतमयूरम्	
76 से 82 तक	वसंततिलका	पंचम सर्ग में	(ऊपर देखो)
दशम सर्ग			

1 से 85 तक	अनुष्टुप्	प्रथम सर्ग में	(ऊपर देखो)
86 वाँ	मालिनी	द्वितीय सर्ग में	(ऊपर देखो)
एकादश सर्ग			
1 से 91 तक	रथोद्धता	नवम सर्ग में	(ऊपर देखो)
92 वाँ	वसंततिलका	पंचम सर्ग में	(ऊपर देखो)
93 वाँ	मालिनी	द्वितीय सर्ग में	(ऊपर देखो)
द्वादश सर्ग			
1 से 101 तक	अनुष्टुप्	प्रथम सर्ग में	(ऊपर देखो)
102 वाँ	मालिनी	द्वितीय सर्ग में	(ऊपर देखो)
103 वाँ	वसंततिलका	पंचम सर्ग में	(ऊपर देखो)
104 वाँ	नाराच	इह ननरचतुष्कसृष्टं तु नाराचमाचक्षते ।	
त्रयोदश सर्ग			
1 से 67 तक	उपजाति	द्वितीय सर्ग में	(ऊपर देखो)
68 से 78 तक	वसंततिलका	पंचम सर्ग में	(ऊपर देखो)
79 वाँ	प्रहषिणी	प्रथम सर्ग में	(ऊपर देखो)
चतुर्दश सर्ग			
1 से 86 तक	उपजाति	द्वितीय सर्ग में	(ऊपर देखो)
87 वाँ	मन्दाक्रान्ता	अष्टम सर्ग में	(ऊपर देखो)
पञ्चदश सर्ग			
1 से 102 तक	अनुष्टुप्	प्रथम सर्ग में	(ऊपर देखो)
103 वाँ	मन्दाक्रान्ता	अष्टम सर्ग में	(ऊपर देखो)
षोडश सर्ग			
1 से 85 तक	उपजाति	द्वितीय सर्ग में	(ऊपर देखो)
86 वाँ	वसन्ततिलका	पंचम सर्ग में	(ऊपर देखो)
87 से 89 तक	मन्दाक्रान्ता	अष्टम सर्ग में	(ऊपर देखो)
सप्तदश सर्ग			
1 से 80 तक	अनुष्टुप्	प्रथम सर्ग में	(ऊपर देखो)
81 वाँ	मन्दाक्रान्ता	अष्टम सर्ग में	(ऊपर देखो)
अष्टादश सर्ग			
1 से 51 तक	उपजाति	द्वितीय सर्ग में	(ऊपर देखो)
52 से 53 तक	वसन्ततिलका	पंचम सर्ग में	(ऊपर देखो)
एकोनविंशति सर्ग			
1 से 55 तक	रथोद्धता	नवम सर्ग में	(ऊपर देखो)
56 वाँ	वसन्ततिलका	पंचम सर्ग में	(ऊपर देखो)
57 वाँ	मन्दाक्रान्ता	अष्टम सर्ग में	(ऊपर देखो)

कुमारसम्भव

प्रथम सर्ग में

	छन्द	लक्षण	
1 से 59 तक	उपजाति	द्वितीय सर्ग	रघुवंश
60 वाँ	मालिनी	द्वितीय सर्ग	"
दूसरा सर्ग			
1 से 63 तक	अनुष्टुप	प्रथम सर्ग	"
64 वाँ	मालिनी	द्वितीय सर्ग	"
तीसरा सर्ग			
1 से 74 तक	उपजाति	द्वितीय सर्ग	"
75 वाँ	वसन्ततिलका	पंचम सर्ग	"
76 वाँ	मालिनी	द्वितीय सर्ग	"
चौथा सर्ग			
1 से 44 तक	वैतालीय	अष्टम सर्ग	"
45 वाँ	वसन्ततिलका	पंचम सर्ग	"
46 वाँ	पुष्पिताग्रा	पंचम सर्ग	"
पाँचवाँ सर्ग			
1 से 84 तक	वंशस्थ	तृतीय सर्ग	"
85 से 86 तक	वसन्ततिलका	पंचम सर्ग	"
छठा सर्ग			
1 से 94 तक	अनुष्टुप	प्रथम सर्ग	"
95 वाँ	पुष्पिताग्रा	पंचम सर्ग	"
सातवाँ सर्ग			
1 से 43 तक	उपजाति	द्वितीय सर्ग	"
94 से 95 तक	मालिनी	द्वितीय सर्ग	"
आठवाँ सर्ग			
1 से 90 तक	रथोद्धता	नवम सर्ग	"
91 वाँ	मालिनी	द्वितीय सर्ग	"
नववाँ सर्ग			
1 से 51 तक	उपजाति	द्वितीय सर्ग	"
52 वाँ	पुष्पिताग्रा	पंचम सर्ग	"

दसवाँ सर्ग

1 से 59 तक	अनुष्टुप्	प्रथम सर्ग	"
60 वाँ	मन्दाक्रान्ता	अष्टम सर्ग	"

ग्यारहवाँ सर्ग

1 से 49 तक	उपजाति	द्वितीय सर्ग	"
50 वाँ	हरिणी	तृतीय सर्ग	रघुवंश

बारहवाँ सर्ग

1 से 49 तक	उपजाति	द्वितीय सर्ग	"
60 वाँ	हरिणी	तृतीय सर्ग	"

तेरहवाँ सर्ग

1 से 50 तक	उपजाति	तृतीय सर्ग	"
50 वाँ	मालिनी	द्वितीय सर्ग	"

चौदहवाँ सर्ग

1 से 49 तक	वंशस्थ	तृतीय सर्ग	"
50 वाँ	मालिनी	द्वितीय सर्ग	"

पन्द्रहवाँ सर्ग

1 से 52 तक	वंशस्थ	तृतीय सर्ग	"
53 वाँ	शार्दूलविक्रीडित	सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम् ।	"

सोलहवाँ सर्ग

1 से 49 तक	अनुष्टुप्	प्रथम सर्ग	"
50 वाँ	हरिणी	तृतीय सर्ग	"

सत्रहवाँ सर्ग

1 से 53 तक	वसन्ततिलका	पंचम सर्ग	"
54 वाँ	पुष्पिताग्रा	पंचम सर्ग	"
55 वाँ	मालिनी	द्वितीय सर्ग	"

मेघदूत

पूर्वमेघ]
उत्तरमेघ]

मन्दाक्रान्ता	अष्टम सर्ग	"
---------------	------------	---

ऋतुसंहार काव्य

प्रथम सर्ग

1 से 21 तक	उपजाति	सभी छन्दों के लक्षण ऊपर आ चुके हैं ।"
22 से 28 तक	मालिनी	

दूसरा सर्ग

1 से 20 तक	उपजाति
21 से 22 तक	वसन्ततिलका
23 से 29 तक	मालिनी

तीसरा सर्ग

1 से 22 तक	वसन्ततिलका
22 से 28 तक	मालिनी

चौथा सर्ग

1 से 13 तक	उपजाति
14 से 18 तक	वसन्ततिलका
19 वाँ	मालिनी

पाचवाँ सर्ग

1 से 10 तक	उपजाति
12 से 13 तक	मालिनी

छठा सर्ग

1 से 10 तक	उपजाति
11 वाँ	वसन्ततिलका
12 से 18 तक	उपजाति
19 से 28 तक	वसन्ततिलका
29 से 37 तक	मालिनी
38 वाँ	शार्दूलविक्रीडित

महाकवि कालिदास केवल संस्कृत-पिंगल के ही ज्ञाता नहीं थे, उन्होंने विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक में प्राकृत और अपभ्रंश के छन्दों और नाट्य-रीतियों का भी प्रयोग किया है। इस प्रकार महाकवि ने वस्तु, भाव तथा रस के प्रभाव को स्थिर तथा पुष्ट रखने के लिये योग्य छन्दों का प्रयोग करके अपनी छन्दो-योजना-शक्ति का भी अत्यन्त भव्य परिचय दिया है।



अभिधान-कोष

(सीताराम चतुर्वेदी)

अ

अंशुमान--सूर्यवंशी राजा सगर का पौत्र असमंजस का पुत्र। (देखो सगर)

अक्षत--चावल के समूचे दाने जो देवपूजा के काम में आते हैं।

अगस्त्य--1. ऋषि, जिनका जन्म घड़े से हुआ था, जिन्होंने समुद्र सोख लिया था और जिनके कहने से विन्ध्यपर्वत लेट गया था। 'अगं विन्ध्याचलं स्त्याययति इति अगस्त्यः।' ऋग्वेद के अनुसार यज्ञस्थल में उर्वशी को देखकर मित्र और वरुण वीर्य स्खलित होकर यज्ञ में कुम्भ में जा गिरा, उसी से वशिष्ठ और अगस्त्य की उत्पत्ति हुई। लोपामुद्रा से अगस्त्य का विवाह हुआ। अगस्त्य का आश्रम गोदावरी के उत्तर तट पर दण्डकारण्य में विदर्भ (वर्तमान बरार) की पूर्वोत्तर सीमा पर था। देवताओं के अनुरोध से इन्होंने समुद्र सोख डाला, इत्थल और वातापि असुरों को नष्ट कर डाला तथा जब विन्ध्याचल ने सूर्य का पथ रोक लिया था, उस समय इन्होंने उसे नीचे लिटा दिया था।

विद्वानों का विश्वास है कि अगस्त्य को स्मरण करते हुए यह श्लोक पढ़ने से अजीर्ण दूर हो जाता है--

आतापी मारितो येन वातापी च महाबलः।
समुद्रः शोषिता येन स मेऽगस्त्यः प्रसीदतु॥

2. तारा, जो दक्षिण दिशा में सौर भाद्रपद मास के सत्रहवें दिन उदय होता है। यह तारा जब उदित हो जाता है तब वर्षा समाप्त हो जाती है।

3. वृक्ष, जिसमें द्वितीया के चन्द्रमा के आकार के फूल लगते हैं।

अगुरु--सुगन्धित काष्ठ। इसके धुएँ से महिलाएँ अपने केश सुगन्धित किया करती थीं। अगर चन्दन।

यह देखने में काला, पर पत्थर पर घिसने से सुन्दर पीले रंग का हो जाता है। इसका पेड़ बहुत बड़ा होता है और सिलहट के पहाड़ी जंगल में उगता है। इसी के पुराने वृक्ष से गुग्गुलु-जैसी एक प्रकार की गोंद निकलती है जिसे पीसकर आग पर डालने से मीठी सुगंध निकलती है।

अग्नि--आग्नेय-कोण (दक्षिण-पूर्व दिशा)-के अधिष्ठाता देवता। अग्नि के तीन प्रकार हैं--दावाग्नि, जठराग्नि, वाडवाग्नि। चौथी ज्ञानाग्नि या योगाग्नि है।

दावाग्नि--लकड़ी की आग; (जठराग्नि; पेट की आग जो भोजन पचाती है; वाडवाग्नि समुद्र की अग्नि।)

अग्निहोत्र--यज्ञ विशेष। एक मास में इस यज्ञ का उद्यापन किया जाता है फिर यावज्जीवन यह यज्ञ करने वाले को प्रातः और संध्या को होम करना पड़ता है और अमावस्या तथा पूर्णमासी को दर्शपौर्णमासेष्टि करनी पड़ती है।

अङ्क--किसी नाटक का एक कार्य जितने अंश में पूर्ण होता है उसे अंक कहते हैं।

अंक्य--वे बाजे, जो गोद में रखकर बजाए जाते हैं। जैसे--मृदंग, ढोलक, पखावज।

अंगराग--वे सब सुगन्धित पदार्थ-चन्दन, कपूर, अगर, पराग, आलता आदि जिन्हें लेप करने से शरीर में सुगन्ध और शोभा आती है।

अंगिरा या अंगिरस् ऋषि--ब्रह्म के द्वितीय पुत्र। इनकी पत्नी शुभा और पुत्र बृहस्पति हुए। एक बार महर्षि अंगिरा ने इतना कठोर तप किया कि उनकी ज्योति से सारा संसार भर गया। उन्हीं दिनों अग्निदेव भी तपस्या कर रहे थे। जब अंगिरा

के तेज से अग्नि को अपना तेज मन्द जान पड़ने लगा तब उन्होंने सोचा कि क्या ब्रह्म ने दूसरी अग्नि का निर्माण कर दिया है, तब अंगिरा ने अग्नि से कहा कि आप अपना अधिकार ले लीजिए, मैं आपका पुत्र बनूँगा। तभी से बृहस्पति के नाम से अग्नि के पुत्र बने।

(देखो अत्रि भी)

अजगर—‘अजं छागं गिरति’ जो साँप, बकरे को भी निगल जाय। यह पहाड़ी साँप एशिया और अफ्रीका में होता है। इसे अंग्रेजी में पाइथन और अमेरिका में ‘वोआ कंस्टिक्टर’ कहते हैं। यह बकरे, मेंढे, हरिण, भैंसे और चीतेतकको निगल जाता है या लिपटकर उन्हें जकड़कर मार डालता है।

अञ्जना—सुमेरु पर्वत के पास वाले प्रदेश में रहने वाले वानरराज केसरी नाम के वानर की पत्नी थीं। इनके गर्भ से पवन के सम्बन्ध से हनुमानजी का जन्म हुआ। ये बड़ी धीर, वीर नारी थीं। जब लंका विजय के पश्चात् हनुमान् जी इनसे मिलने गए तब इन्होंने हनुमान् जी को डाँटते हुए कहा कि तू रावण-जैसे अत्यन्त सामान्य व्यक्ति से युद्ध करने क्यों गया। तुझे तो चाहिए था कि अपने दसों नखों से रावण के दसों सिर नोच लाता, अशोकवन के साथ सीता को लाकर राम के पास पहुँचा देता और अपना शरीर फैलाकर समुद्र पर पुल बन देता।

अञ्जलि—दोनों हाथों की हथेलियों और उँगलियों को मिलाकर उसे इस प्रकार बना लेना कि उसमें पानी या कोई वस्तु भरी जा सके।

अट्टहास—‘अट्टेन अतिशयेन हासः। ठठाकर या ठहाका मारकर हँसना।

अणिमा—यह एक ऐश्वर्य सिद्धि है जिसके सध जाने पर मनुष्य अत्यन्त सूक्ष्म रूप बना सकता है ऐसी आठ सिद्धियाँ हैं—

अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा। ईशित्वञ्च तथा कामावसायिता। (अणिमा, लघिमा,

प्राप्ति, प्राकाम्य, महिमा, ईशित्व, वशित्व तथा कामावसायिता (वैराग्य)।)

अतिबला—बला और अतिबला नामकी दो विद्याएँ विश्वामित्र जी ने राम-लक्ष्मण को उस समय सिखाई थीं जब वे विश्वामित्र जी के साथ उनके यज्ञ की रक्षा के लिये चले जा रहे थे। इन विद्याओं के ग्रहण करने से थकावट, भूख, प्यास, गर्मी कुछ नहीं सताती, कोई कुछ हानि नहीं कर सकता, अपार बलवीर्य सौभाग्य, उदारता, ज्ञान, विज्ञान मिल जाता है। मार्ग में इनका पाठ करने से कोई भय नहीं होता। ये तेजस्विनी विद्याएँ पितामह ब्रह्मा की कन्याएँ हैं।

अतिमुक्त (लता)—तिनसुने का पेड़, माधवी लता, मोगरा।

अत्रि—सप्तऋषियों में से एक ऋषि जो ब्रह्म के चक्षु से उत्पन्न हुए थे। कर्दम ऋषि की पुत्री अनसूया जी इनकी पत्नी हैं। दत्तात्रेय, दुर्वासा और चन्द्र इनके पुत्र हैं। मनु से उत्पन्न दस प्रजापतियों में से ये एक थे—

मरीचिमत्र्याङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुं।

प्रचेतसं वशिष्ठञ्च भृगुं नारदमेव च॥

(मनु 0 1।35)

जिन सप्तर्षियों में इनकी गिनती होती है वे हैं—

मरीचिरत्र्याङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।

ब्रह्मणो मानसाः पुत्राः, वशिष्ठश्चेति सप्तते॥

अदिति—ये दक्ष की पुत्री और मरीचि के पुत्र कश्यप की पत्नी हैं। ये देवमाता और दाक्षायणी कहलाती हैं।

अंतःपुर—रनिवास। राजभवन में रानियों के निवास और विलास स्थान।

अंतपाल (दुर्ग)—राज्य की सीमा पर बना हुआ वह दुर्ग जिससे राज्य पर बाहर के शत्रुओं के आक्रमण से रक्षा की जा सके। ‘अन्तं सीमानं

पालयति इति अन्तपालः ।'

अंतर्धान--अपने भीतर छिप जाना । अदृश्य हो जाना ।

अनसूया--अत्रि मुनि की पत्नी तथा कर्दम ऋषि की पुत्री । (देखो अत्रि)

अनुदात्त--(स्वर) जब कोई स्वर बल देकर न बोला जाय तब उसे अनुदात्त कहते हैं । नीचैरनुदात्तः जैसे उ । शिक्षाशास्त्र में लिखा है--उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्वयः । दीर्घो ह्रस्वो प्लुतश्चेति कालतो नियमस्त्वचि ।।

(उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये तीन स्वर होते हैं, जो उनके उच्चारण में लगने वाले समय के अनुसार दीर्घ, ह्रस्व और प्लुत कहलाते हैं । इसके अनुसार अ, इ, उ, अनुदात्त हैं, आ, ई, ऊ उदात्त हैं तथा आ ऽऽ, ई ऽऽ, ऊ ऽऽ स्वरित हैं ।)

अंधक--दिति के गर्भ से और कश्यप के औरस (वीर्य) से इस दैत्य का जन्म हुआ था । इसके अत्याचार से ऊबकर महादेव जी ने इसे मार डाला था ।

अपराजिता (विद्या)--वह विद्या जिसके सीख लेने पर कभी हार न हो ।

अप्सरातीर्थ--या अप्सरस्तीर्थ--1. वह तीर्थ या स्थान जहाँ अप्सराएँ रहती हैं । 2. आकाश-गंगा का वह घाट जहाँ अप्सराएँ स्नान करती हैं । 3. अप्सरा के समान रूपवाली ।

अभिनय--'अभिनयति हृदन्तर्भावान्प्रकाशयति ।' नाटक में निर्दिष्ट पात्रों के अनुसार वेश-भूषा धारण करके उसके लिये निर्दिष्ट वाग्व्यापार और क्रियाओं का अनुकरण करके दिखाना अभिनय कहलाता है । अभिनय चार प्रकार का होता है--आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य । नेत्र, सिर, हाथ, पैर आदि-अंग चलाकर अभिनय करना आंगिक कहलाता है । वाणी के उतारचढ़ाव से बोलने का अभिनय वाचिक कहलाता है । आँसू, कम्प, पसीना निकलने आदि का अनुकरण

सात्त्विक कहलाता है और नाटकीय पात्रों के अनुसार वेशभूषा धारण करना आहार्य कहलाता है ।

अभिसारिका--'अभिसरति, अभिसारयति वा संकेतस्थानम् ।' किसी निश्चित स्थान पर मिलने का संकेत करके अपने प्रेमी के पास जाने वाली नायिका को अभिसारिका कहते हैं ।

अभिसारयति कान्तं या मन्मथेऽस्य वशंवदा । स्वयं वाऽभिसरत्येषा धीरैरुक्ताभिसारिका ।।

(साहित्यदर्पण)

जो स्त्री काम-पीड़ित होकर अपने प्रिय को सहेट या संकेत-स्थल को भेज दे या स्वयं वहाँ जाय उसे अभिसारिका कहते हैं । ये तीन प्रकार की होती हैं, 1. दिवाभिसारिका, जो दिन में प्रिय से मिलने जाय, 2. शुक्लाभिसारिका (ज्योत्स्नाभिसारिका) जो श्वेत वस्त्र पहनकर चाँदनी रात में मिलने जाय और 3. कृष्णा भिसारिका (अंधकाराभिसारिका) जो अँधेरी रात में काले कपड़े पहनकर मिलन जाय ।

अमरावती--'अमरा देवा विद्यन्ते यस्यां सा' इन्द्रपुरी विश्वकर्मा ने सुमेरु पर्वत पर इसका निर्माण किया । यहाँ किसी को बुढ़ापा, मृत्यु, शोक और ताप कुछ भी नहीं सताता । यहीं पर कामधेनु गौ, ऐरावत हाथी, उच्चैःश्रवा घोड़ा, अप्सराएँ और नंदनवन के पाँच प्रकार के वृक्ष हैं--मंदार, पारिजात, संतान, कल्पवृक्ष और हरिचंदन । इस पुरी के भीतर से अलकनंदा बहती है, इन्द्र यहाँ के स्वामी हैं । विद्वानों का अनुमान है कि तुर्किस्तान में बोखारा के पास इन्द्रालय नामक स्थान ही अमरावती और वर्तमान ओक्शस नदी ही अलकनंदा है ।

अमात्य-परिषद्--राजाओं की सहायता के लिये मंत्रिमंडल, जो विभिन्न विषयों पर राजा को मन्त्रणा देता था ।

अमृत--राजा पृथु के भय से पृथ्वी ने गोरूप धारण किया था । देवों ने इन्द्र को वस्त्र बनाकर सुवर्ण पात्र में गोरूप पृथ्वी को दूहा । उसके स्तन से अमृत निकला था । पीछे दुर्वासा के शाप से वही

अमृत समुद्र में जा गिरा। तब देवताओं और असुरों ने शेषनाग को रस्सी और मंदराचल को मथानी बनाकर क्षीरसागर को मथा, जिससे 14 रत्न निकले जिनमें अमृत का कलश भी था।

अमृतकिरण--चन्द्रमा जिसकी किरण में अमृत रहता है। चन्द्रमा को ओषधीनां पतिः कहते हैं और यह माना जाता है कि जड़ी-बूटियों में चन्द्रमा की किरणों से ही गुण आता है।

अंबिका--दुर्गा या पार्वती का एक रूप।

अयोध्या--सूर्यवंशी राजाओं की राजधानी। यहाँ के राजाओं को युद्ध में कोई परास्त नहीं कर सकता था इसी से इसका नाम अयोध्या पड़ा। यह सरयू नदी के तट पर स्थित कोशल (कोसल) की राजधानी थी। यह उस समय की सात मुख्य पुरियों में थी।

अयोध्या मथुरा माया काशी कांची हवन्तिका॥

पुरी द्वारावती चैव सप्तैताः पुरयः स्मृताः॥

अरणि--वह लकड़ी जिसे रगड़ने से आग निकले। यज्ञ में एक लकड़ी पर वरमे के समान दूसरी लकड़ी खड़ी करके रगड़ी जाती थी जिससे अग्नि उत्पन्न होती थी। इसके दो भाग होते हैं--अधरारणि और उत्तरारणि और यह शमी में उगने वाले पीपल से तैयार होती है। उत्तरारणि (ऊपर वाली लकड़ी) को अधरारणि (नीचे वाली लकड़ी) के छेद में डालकर मथानी के समान रस्सी के चलाने पर छेद के नीचे रक्खा हुआ कुश जल उठता है और यही अरणि-मंथन से निकली हुई अग्नि यज्ञ में काम आती है।

अरुण--1. सूर्य का सारथी, यह विनता तथा कश्यप का पुत्र था। अपनी सौत कद्रू ने बच्चों को चलते-फिरते देखकर इसकी माता ने अपनी दो अँडों में से एक को फोड़ दिया जिससे कमर तक शरीर वाला अरुण, अनूरु या विपाद का जन्म हुआ। अपनी माता के कुकृत्य पर खीझकर इसने उसे 500 वर्षों तक सौत की दासी होने का शाप दिया पर साथ ही कहा कि दूसरे अँडे से उत्पन्न गरुड़ तुम्हारा उद्धार

करेगा। इसने अपने योगबल से सूर्य का तेज निगल लिया और फिर देवताओं के कहने से सूर्य का सारथी बना। इसकी पत्नी श्येनी से इसके तीन पुत्र संपाति, जटायु और श्येन हुए। 2. सूर्य, 3. प्रातः-काल की लालिमा।

अरुन्धती--1. वशिष्ठजी की पत्नी तथा कर्दम ऋषि की कन्या। 2. आकाश में सप्तर्षियों में से वशिष्ठ तारे के पास एक छोटा सा तारा; जो ऐसे लोगों को नहीं दिखाई देता जिनकी आयु समाप्त होने वाली हो।

दीपनिर्वाणगन्धञ्च सुहृद्वाक्यमरुन्धतीम्॥

न जिघ्रन्ति न शृण्वन्ति न पश्यन्ति गतायुषः॥

(जिनकी आयु पूरी हो चलती है वे न तो बुझाए गए दीपक की गंध सूँघ पाते हैं, न मित्रों की बात सुन पाते हैं और न अरुन्धती को देख पाते हैं।) 3. जिह्वा का नाम भी अरुन्धती है इसलिए मृत्यु समीप आने पर जिह्वा का अग्र-भाग भी नहीं दिखाई देता है।

अर्गला--द्वार के किवाड़ बन्द करके उसके पीछे लकड़ी या लोहे का मूसल जो द्वार के दोनों ओर वाले छेदों में आर-पार डाल दिया जाता है जिससे सांकल खुली रहने पर भी धक्का देने से द्वार न खुले।

अर्घ्य--1. अपने घर आए हुए अतिथि या देवताओं को हाथ धोने के लिये जो जल देते हैं उसे अर्घ्य कहते हैं। 2. पूजन के लिये जल, दूर्वा, कुश की फुनगी, दही, सरसों, चावल और जौ। 3. कहीं-कहीं दूब और चावल आदि पूजा की सामग्री।

अर्जुन (वृक्ष)--इसका पेड़ अमरूद के पेड़ जैसा होता है और इसकी पत्ती और छाल भी अमरूद जैसी होती है। इसके छोटे और श्वेत फूलों में बड़ी तीखी और मीठी गंध होती है। इसका पेड़ अमरूद के पेड़ से बहुत बड़ा अवध, बंगाल, मध्यभारत और दक्षिण में बहुत होता है। इसे ककुभ और करवीरक भी कहते हैं। इसकी लाल रंग की छाल

अत्यन्त बलवर्धक होती है यह छाल चमड़े की चिकना करने एवं कपड़ा रंगने के काम आती है। यह हृदय-रोग की अचूक औषधि है। इसके काढ़े से धो देने पर घाव सूख जाता है और हड्डी टूटने पर इसका चूर्ण फाँकने पर पीड़ा कम हो जाती है। और हड्डी जुड़ जाती है।

अर्थ (पुरुषार्थ)—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों में से एक। धन, संपत्ति। अर्थ तीन प्रकार का होता है शुक्ल, शवल और कृष्ण। अपने-अपने वर्ण के अनुसार कार्य के द्वारा उपार्जित धन को शुक्ल, अपने से नीच वर्ण की वृत्ति द्वारा कमाया हुआ शवल, और जुआ चोरी ठगी, परपीडन आदि से उपार्जित किया हुआ धन कृष्ण कहलाता है।

अर्धचन्द्र (बाण)—एक प्रकार का बाण, जिसका फल आधे चन्द्रमा के आकार का होता है।

अलकापुरी—हिमालय पर बसी हुई कुवेर की नगरी जिसमें शिवजी भी रहते हैं। इसका वर्णन उत्तर मेघदूत में देखिए।

अवन्ति (देश)—मालव देश और उसकी राजधानी उज्जयिनी। विशाला, अवन्ती और उज्जयिनी। विशाला, अवन्ती और उज्जयिनी तीनों इनके नाम हैं। अवन्ती नगरी शिप्रा (सिप्रा) के तट पर मालवा में बसी हुई है। वहीं महाकाल महादेवजी का प्रसिद्ध मन्दिर है। ईसा के जन्म से 57 वर्ष पूर्व महाराज विक्रमादित्य यहाँ के राजा थे। यहीं सान्दीपनि आचार्य भी रहते थे जिनके यहाँ बलराम और श्रीकृष्ण अस्त्र-विद्या सीखने गए थे। शिप्रा नदी का भी दूसरा नाम अवन्ती है।

अशोक (वृक्ष)—एक प्रकार का वृक्ष जिसके पत्ते पीलापन लिए हुए लहरिया हरे तथा जिसके फूल लाल और पीले होते हैं। अशोक दो प्रकार का होता है—रक्तशोक और पीतशोक। चैत्र शुक्ल अष्टमी को अशोक की आठ कलियाँ खा लेने से शोक नहीं रहता। खाते समय यह श्लोक पढ़ें—

त्वामशोक हरामीष्ट! मधुमाससमुद्भव।
पिवामि शोकसन्तप्तो मामशोकं सदा
कुरु।।

कहा जाता है कि स्त्रियों की लात पड़ने से अशोक फूल उठता है—‘पादाघातादशोकः।’ इसे वकुल, वंजुल, चित्र भी कहते हैं। यह लीची या नागकेशर के पेड़ जैसा होता है और वसन्त में फूलता है। इसके पत्ते लहरियादार होते हैं जो उत्सवों में सजाने के काम आते हैं। इसके फल गुच्छेदार हलके गुलाबी रंग के होते हैं। इसकी छाल ठण्डी और कड़वी होती है जिससे प्यास, जलन, पेट के कीड़े, सूखापन और विष दूर होता है। स्त्रियों के रजोदोष में इसकी छाल का काढ़ा दिया जाता है।

अश्वमेध—जो लोग स्वर्ग का राज्य चाहते हैं वे सौ अश्वमेध यज्ञ करते हैं। इसमें नियम यह है कि एक घोड़ा छोड़ दिया जाता है और वह जब चारों ओर से घूमकर आता है तब उसकी बलि दी जाती है। इस यज्ञ का बड़ा माहात्म्य समझा जाता है। इस यज्ञ के घोड़े श्यामकर्ण अर्थात् काले कान वाले होते हैं।

अश्विनी—(दक्षकन्या, चन्द्रपत्नी)—27 नक्षत्रों में पहला नक्षत्र। यह चन्द्र की पत्नी मानी जाती है। दक्ष की 60 कन्याओं में दो अंगिरा के, दो कृशाश्व को, 10 धर्म को और 27 चन्द्र को ब्याही गई। अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, पूर्वा फाल्गुनी, उत्तरा फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपद, उत्तराभाद्रपद और रेवती, ये चन्द्र की 27 पत्नियाँ मानी गई हैं।

अश्विनीकुमार—सूर्य के जुड़वाँ पुत्र, जो सूर्य के औरस और विश्वकर्मा की पुत्री संज्ञा से उत्पन्न हुए हैं। ये देवताओं के वैद्य हैं जिनका यौवन और सौन्दर्य शाश्वत है। संज्ञा का दूसरा नाम अश्विनी

भी है, अतः ये अश्विनी कुमार कहलाते हैं।

अष्टमूर्ति—शिव। जिनकी आठ मूर्तियाँ हैं—जल, अग्नि, होता, सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी और वायु।

अस्ताचल—पश्चिम दिशा में कल्पित पर्वत जहाँ संध्या के समय सूर्य अस्त होता माना जाता है।

अस्त्र—1. फेंककर मारे जाने वाले हथियार, बाण, बर्छा, चक्र आदि। 2. धनुष, करवाल तथा अन्य हथियार।

असिधार—(या असिधारा व्रत) जिसमें कोई सुन्दर युवा अपनी युवती पत्नी के साथ पतिभाव से रहते हुए भी काम भाव से संग न करे। इस व्रत के टूटने पर नरक में असिधारा अर्थात् तलवार की धार की चोट लगती है। जैसे कोई तलवार की धार पर चलकर बिना चोट खाए नहीं रह सकता वैसे ही इस व्रत में अडिग रहना बड़ा कठिन है। इसीलिये किसी कठिन काम के प्रयत्न को असिधारा-व्रत कहते हैं।

अहल्या—गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या के नाम जपने से महा पान नष्ट हो जाते हैं-

अहल्या द्रौपदी कुन्ती तारा मंदोदरी तथा।

पंचकन्याः स्मरेन्नित्यं महापातकनाशनम्।।

(ये वृद्धाश्व की कन्या थीं, इन्द्र ने छल से गौतम का रूप धारण करके अहल्या का पातिव्रत्य धर्म नष्ट किया इस पर गौतम ने इन्द्र को शाप दिया कि तुम्हारे शरीर भरमें योनि हो जाय और अहल्या को शाप देकर पत्थर बना दिया। त्रेता में राम के चरणस्पर्श से अहल्या का शाप छूटा।) ये पाँचों सदा कन्या ही बनी रहीं, कभी वृद्धा नहीं हुईं।

आ

आकाशगंगा—1. आकाश में बहने वाली गंगा। आकाश नदी भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसका दूसरा नाम है मन्दाकिनी। 2. नक्षत्र-मण्डल विशेष-यह आकाश में उत्तर से दक्षिण तक विस्तृत

है। ग्रामीण लोग इसे आकाश जनेऊ, हाथी की सूँड़ या प्रेत-मार्ग कहते हैं। इसे छाया पथ भी कहते कहते हैं। यह अरबों तारों का समूह है।

आदित्य—आइ पूर्वात् दाते दीप्यते वा। आदित्य 12 हैं—विवस्वान्, अर्यमा, पूषा त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, शक्र एवं उपक्रम।

आन्वीक्षिकी—1. 'दण्डनीतिस्तर्कविद्याऽर्थ-शास्त्रयोः। (दण्डनीति, तर्क विद्या और अर्थ-शास्त्र)।

2. गौतम-प्रणीत आत्म-विद्या। अक्ष-पादने पाँच अध्यायों में इसे पूरा किया है। प्रथम में प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्ड, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह। इन सबके तत्त्वज्ञान से मोक्ष मिलता है।

आम्रकूट—अमरकंटक नामक पर्वत जो बुंदेलखंड के रीवाँ राज्य में पड़ता है। शोण और नर्मदा नदी इसी से निकली हैं। यहीं नर्मदा नदी-के चारों ओर मन्दिर बने हैं। विन्ध्याचल के सतपुड़ा पर्वत का यह भाग हिन्दुओं का पवित्र तीर्थ है और यहीं प्रतिवर्ष मेला लगता है।

आलिङ्ग्य (वाद्य)—जो हाथ में लिपटाकर शरीर से चिपटा कर बजाया जाता है। मृदंग, ढोल, महुवरी और मसक आदि।

आश्रम—1. मुनियों का स्थान, 2. मठ, 3. तपोवन, 4. मुक्त व्यक्ति (परमेश्वर में लीन रहने तथा श्रम न रहने से मुक्त व्यक्ति को भी आश्रम कहते हैं।) 5. ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी का शास्त्रोक्त चार प्रकार-का धर्म विशेष।

आसन (वृक्ष) या असन या अशन—पीतशाल का वृक्ष। इसे मारवाड़ी में आसन, हिन्दी में सज्ज और उड़िया में पियासाल कहते हैं। इसका पेड़ बहुत बड़ा होता है इसकी ऊपरी लकड़ी भूरी काले दागवाली, अत्यन्त कठोर और पक्की होती

है। आसन की पक्की लकड़ी में पौलिश अच्छी लगती है। इसके भीतर की लकड़ी में लाल दूध होता है। नेपाली में इसे वंगी काठ कहते हैं। इसकी लकड़ी धुंधले रंग की, उजली और कोमल होती है। एक प्रकार का और भी आसन वृक्ष होता है जिसे पंजाब में पाथर कहते हैं। इसकी भी लकड़ी धुंधले रंग की होती है। भीग जाने या कच्ची रहने पर इसमें पीला दाग पड़ जाता है। पंजाब, दक्षिण और ब्रह्मा में आसन नाम की एक लकड़ी होती है, जो ऊपर श्वेत और लाल होती है तथा भीतर से भूरी, काली, कठोर और लहरदार रेखावाली होती है। शिमला पहाड़ पर भी वैलून नाम का आसन का पेड़ होता है जिसे पंजाबी में सफेदा या आसन कहते हैं।

आसब— 1. एक प्रकार का मद्य, 2. चीनी या गुड़ की ताजा शराब, 3. आयुर्वेदीय औषध।

आहवनीय—‘आहूयते हवनीयं हविरत्र।’ यज्ञ की अग्नि विशेष यह गार्हपत्य अग्नि से लेकर अन्य होमादि के लिये प्रस्तुत किया जाता है। इसका कुंड चौकोर होता है।

आहुति—मंत्र-द्वारा स्वाहा कहकर देवता-के उद्देश्य से घृत आदि का अग्नि में निक्षेप करना आहुति कहा जाता है।

इ

इदवाकु—वैवस्वत मनु के पुत्र, जो अयोध्या-के सर्वप्रथम राजा थे। इनके एक सौ पुत्र थे जिनमें सबसे बड़े विकुक्षि थे। मर्यादापुरुषोत्तम श्री राम चन्द्र जी इन्हीं के वंशज थे।

इन्द्र—1. शक्र। देवराज, वेदोक्त प्राचीन देवता। इन्द्र निष्ठीग्री के पुत्र हैं। इनकी माता ने इन्हें सहस्रों वर्ष गर्भ में रोक रक्खा था। उसके पश्चात् इन्द्र ने स्वयं वीर्यपूर्ण होकर जन्म ग्रहण किया। इनकी माता का नाम एकाष्टका था। जन्म के समय इनकी माता प्रमत्त हो गई थी। इन्द्र ने अपने पिता के दोनों पैर पकड़कर उन्हें मार डाला। 2. स्वर्ग के

राजा।

इन्द्रधनुष—इन्द्रे तत्त्वामिके मेघे धनुः इव। इसे इन्द्रायुध भी कहते हैं। वर्षाकाल में सूर्य के सामने की दिशा में दिखाई पड़ता है।

इन्द्रनीलमणि—एक मणि जिसे दूध में डालने पर दूध का रंग काला पड़ जाता है। यह शनिग्रह को प्रिय है। इससे शनिदोष शान्त हो जाते हैं। इसका रंग काले मेघ जैसा होता है। यह मध्यम कोटि का रत्न है।

इन्द्रलोक—इसे अमरावती भी कहते हैं। स्वर्ग भी इसी का नाम है। (देखो अमरावती)

इमली—यह दक्षिण भारत तथा अफ्रीका में अपने आप उत्पन्न होती है। इसका वृक्ष बहुत बड़ा होता है। इसके फल खट्टे होते हैं। यह प्रायः सर्वत्र पाई है। इसे संस्कृत में तिन्तिडीका और चिंचा कहते हैं।

उ

उच्चैःश्रवा—समुद्र-मंथन से उत्पन्न हुआ श्वेत रंग का सात मुँह वाला घोड़ा, जिसके कान सदा खड़े रहते हैं और जो अत्यन्त गम्भीर स्वर में हिनहिनाता है। यह घोड़ा इन्द्र को दे दिया गया था।

उज्जयिनी—मध्यभारत में मालवाकी पुरानी राजधानी शिप्रा नदी के दक्षिणी तट पर बसी हुई है। आजकल इसे उज्जैन कहते हैं। इसका प्राचीन नाम अवन्ती है। इसे विशाला और पुष्प-करंडिनी (फूलों की डलिया) भी कहते हैं। उज्जयिनी हिन्दू तीर्थ भी है। स्कंद पुराण के अवन्ति-खंड में उज्जयिनीका विस्तृत विवरण मिलता है। यहाँ महाकाल का ज्योतिर्लिंग भी है जिसे अनन्तकल्पेश्वर भी कहते हैं। इस लिंग के कारण उज्जयिनी को पीठस्थान भी कहते हैं।

उत्तराफाल्गुनी—27 नक्षत्रों में से 12 वाँ

नक्षत्र जिसमें दक्षिण से उत्तर की ओर पलंग की आकृति बनाते हुए दो तारे होते हैं। इस नक्षत्र में जन्म लेने से मनुष्य दाता, दयालु, सुशील, कांतिमान, सुमति, श्रेष्ठ, धीर और अत्यन्त मृदु स्वभाव का होता है। इसके पहले चरण में सिंह और शेष तीन चरणों में कन्या राशि पड़ती है।

उत्तरायण—मकर संक्रान्ति (14 जनवरी) से 6 मास तक सूर्य उत्तर में रहते हैं। उत्तरायण में शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म ऋतुएँ पड़ती हैं। जब पृथ्वी के गोले की ककरीखा सूर्य की ओर सीधी हो जाती है और सूर्य की किरणें विषुवत रेखा से सीधी पड़ने लगती हैं, तब सूर्य उत्तरायण में कहे जाते हैं। उत्तरायण में मृत्यु होने से स्वर्ग प्राप्त होता है। भीष्म ने इसीलिये दक्षिणायन में प्राण नहीं छोड़े।

उत्तरीय—कमर के ऊपर ओढ़ने का वस्त्र दुपट्टा, ओढ़नी, चादर।

उदयन—ईसा से 600 वर्ष पूर्व वत्स (वर्तमान प्रयाग) देश के राजा। इनकी पत्नी का नाम वासवदत्ता और पुत्र का नाम नरवाहन था। कौशाम्बी में (प्रयाग के पास) इनकी राजधानी थी। ये वीणा बजाकर हाथी फँसाने की विद्या में बड़े निपुण थे। अवन्ती के राजा चण्ड-प्रद्योतने बनावटी हाथी के द्वारा इन्हें बन्दी कर लिया और इन्हें अपनी कन्या वासवदत्ता का वीणा-शिक्षक बना दिया। वहाँ से एक दिन वासवदत्ता के साथ नल-गिरि हाथी पर चढ़कर ये निकल आए और इन्होंने वासवदत्ता के साथ विवाह कर लिया। ये वत्स देश के राजा थे इसीलिये इन्हें वत्सराज उदयन भी कहते हैं।

उदात्त (स्वर)—उच्चैरुदात्तः (पा० १।२।२९) मुख में तालु आदि ऊर्ध्वभाग से उच्चरित होने वाला स्वर।

उद्धय (नदी)—एक नदी का नाम।

उपसर्ग—ये अव्यय शब्द जो धातुओं के पहले

जोड़ देने से विभिन्न अर्थ प्रकट करते हैं। संस्कृत में निम्नलिखित उपसर्ग हैं—प्र, परा, अप, सम, अनु, अव, निः, निर, दुः, दुर, वि, आइ, नि, अपि, अति, सु, उत्, अभि, प्रति, परि, उप।

उरुजन्मा—और्व ऋषि जिन्होंने अपना हृदय मथकर अत्यन्त ज्वालापूर्ण आयोजित पुत्र उत्पन्न किया और जिसे समुद्र में बड़वा के मुख में छोड़ दिया जो निरन्तर जल पीता रहता है। ये ऋषि भृगुवंश के थे। यह बड़वा सूर्य की पत्नी थी जो घोड़ी का रूप धारण करके सूर्य के ताप से और उसके तेज से डरती हुई जल में तपस्या करती थी।

उषःकाल—तड़के का समय, जब आकाश में पूर्व की ओर हलका श्वेत उजाला होता है जिसे पौ फटना कहते हैं।

ऊ

ऊर्ध्वाक्षि—वे बाजे जिनका मुख ऊपर की ओर होता है। जैसे १. नरसिंह, २. वह मृदंग जिसका बहुत तीखा स्वर होता है।

ऊ

ऊक्ष्वानू—यह पर्वत गुजरात के गण्डोयाना प्रदेश में है और रैवतक पर्वत से निकला है। यह सप्तकुलाचल अर्थात् सात परिवार के पहाड़ों के बीच का पर्वत है।

ऋतु—एक प्रकार के जलवायु के समय को ऋतु कहते हैं। भारत में ६ ऋतुएँ होती हैं। सुश्रुत के मत से माघ फाल्गुन में शिशिर, चैत्र, वैशाख में वसन्त, ज्येष्ठ-आषाढ़ में ग्रीष्म, श्रावण भाद्र में वर्षा, आश्विन कार्तिक में शरद, आग्रहायण-पौष में हेमन्त। ऋक् संहिता में ५ ही ऋतुएँ मानी गई हैं। योरप में चार ऋतुएँ मानी जाती हैं—जाड़ा (विंटर), वसन्त (स्प्रिंग), गर्मी (समर), वर्षा (रेनी)। हेमन्त शिशिरको एक ही ऋतु जाड़ा माना है। इसके अतिरिक्त पतझड़ (ऑटम) ऋतु भी है। साधारणतः लोग तीन ही ऋतु मानते हैं—जाड़ा, गर्मी, बरसात।

ऋत्विज्—पुरोहित। वेद के मंत्रों से यज्ञ में कर्मकाण्ड कराने वाला। प्रायः यज्ञों में चार ऋत्विज् प्रधान होते हैं—होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा।

ऋष्यशृङ्ग—ऋष्यस्य मृगस्य शृङ्गमिव शृङ्गमस्य। एक मुनि। विभाण्डक नामक कश्यप वंशीय ऋषि का वीर्य उर्वशी को देखकर जल में गिर गया जो मृगी-रूप धारिणी शापभ्रष्टा देवकन्याने पी लिया। उसके गर्भ से ऋष्यशृङ्ग का जन्म हुआ। उनके सिरपर एक हिरण का सींग भी था। दशरथ की शान्ता नाम की कन्या ऋष्यशृङ्ग से व्याही थी। इन्हीं ऋष्यशृङ्गने दशरथ को पुत्रेष्टि यज्ञ कराया था।

ऐ

ऐन्द्र (अस्त्र)—इन्द्र-द्वारा दिया हुआ वह अस्त्र जिसके चलाने से भयंकर जल बरसता है।

ऐरावत—1. इन्द्रहस्ती-यह सफेद और चार दाँतों वाला हाथी समुद्र-मंथन के समय निकला था। यही पूर्व दिशा का दिग्गज है जो इन्द्र को दे दिया गया था और इसलिये वह इन्द्रवाहन कहलाता है। 'इरावान् समुद्रः तत्र भवः ऐरावतः।'।

ओ

ओषधिप्रस्थ—हिमालय में नगर, जिसके पास एक चोटी पर गंगा जी पहले-पहल ब्रह्मपुर से उतरकर गिरी थीं। 'ओषधि-बहुलं प्रस्थः सानुर्यत्र' जहाँ ओषधियों से भरी चोटी हो।

यत्र गङ्गा निपतिता पुरा

ब्रह्मपुरात् सूता।

ओषधिप्रस्थनगरस्थाद्दूरे

सानुरुत्तमः।।

(कालिकापुराण-41 अ0)

और्व—देखो उरूजन्त्या।

क

ककुत्स्थ—सूर्यवंश में शशाद के पुत्र पुरज्जय नामके राजा जिन दिनों पृथ्वी पर शासन कर रहे थे

उन्हीं दिनों देवताओं ने दैत्यों से हारकर विष्णु की शरण ली। उन्होंने सम्मति दी कि राजा पुरज्जय की सहायता लो। पुरज्जय तैयार हो गए। इन्द्र ने वृषभ (साँड़)-का रूप धारण किया। उसी पर चढ़कर पुरज्जय ने दैत्यों को हराया। इसीलिये उनका नाम ककुत्स्थ (ककुदि तिष्ठतीति-जो साँड़ पर बैठा हो) पड़ गया।

ककुभ (फूल)—अर्जुन नाम का वृक्ष और उसका फूल।

कंकेलि, कंचुकी अथवा कंचुकी—राजा के अन्तःपुर का रक्षक। भरत ने उसका लक्षण बताया है—

अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः।

सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते।।

रनिवास में आ-जा सकनेवाला जो वृद्ध ब्राह्मण सब गुणों में पूरा हो और सब कामों में, सब ढंग की बातों में चतुर हो वह कंचुकी कहलाता है।

कण्व—मेनका द्वारा छोड़ी हुई कन्या शकुन्तला का पालन करने वाले कश्यप गोत्र के ऋषि कण्व काश्यप।

कदम्ब—1. वृक्ष, जो भारत, ब्रह्मा और सिंहल में होता है। इसकी ऊँचाई 70 से 80 फुट होती है। यह नित्य हरित वृक्ष है। इसके पत्ते महुए के पत्ते जैसे होते हैं। वर्षा ऋतु में यह फूलता है। इसका फूल गेंद के समान गोल होता है। इस पर से जब पीली केसर झड़ जाती है तब यह फूल ही पककर फल बन जाता है जो खाने में खटमिष्टा लगता है। इसी से कादम्ब मदिरा बनाई जाती है।

2. कलहंस, राजहंस पक्षी।

कनखल—हरिद्वार से दक्षिण आधे कोस पर गंगा के पश्चिमी तट पर बसा हुआ है। यहीं पर दक्ष ने यज्ञ किया था जहाँ सती ने अपना शरीर छोड़ दिया था और शिव जी के गणों ने यज्ञ विध्वंस

कर दिया था। यह पवित्र तीर्थ माना जाता है-

हरिद्वारे कुशावर्ते बिल्वके नीलपर्वते ।

स्नात्वा कनखले तीर्थे पुनर्जन्म न विद्यते ॥

(महा भा० अनु० 25 अ०)

कंदली--(पत्नी) 1. एक प्रकार का गुल्म या पौदा जिसकी झाड़ियाँ फैलती हैं। 2. कुरुरमुत्ते को भी कंदली-कुसुम कहते हैं।

कन्याराशि--मेघ, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुम्भ तथा मीन। इन 12 राशियों में से छठी राशि। यह राशि उत्तराफाल्गुनी के अन्तिम तीन चरणों पर, सम्पूर्ण हस्त नक्षत्र पर चित्रा नक्षत्र के प्रथम तथा द्वितीय चरण पर व्याप्त रहती है। इस राशि में जन्म लेने से मनुष्य शास्त्र में श्रद्धा रखने वाला, उचित क्रोध पर भी पश्चाताप करने वाला, पत्नी से विरत, अनेक शास्त्र-विशारद, सर्वांग सुन्दर, सौभाग्यशाली और सुरतप्रिय होता है।

कपिल--1. एक ऋषिका नाम, वेद के उपनिषद् भाग में इनका नाम मिलता है। इनके पिता का नाम कर्दम और माता का नाम देवहूति था। ये सांख्य दर्शन के प्रणेता थे।

2. सगर के सौवें अश्वमेध का घोड़ा इन्द्र ने चुराकर उसे पाताल में तप करने वाले कपिल के आश्रम में ले जाकर बाँध दिया। उस घोड़े को ढूँढ़ते हुए सगर के 60000 पुत्र उस आश्रम में पहुँचकर कपिल मुनि को गाली देने लगे किन्तु ज्योंही कपिल मुनि ने समाधि खोलकर उनकी ओर देखा त्योंही वे भस्म हो गए। (देखो सगर)

कपिशा--राजा रघु इसी को पार करके उत्कल पहुँचे थे। यह नदी मेदिनीपुर के दक्षिण से प्रवाहित होकर बंगाल की खाड़ी में गिरती है। इसका वर्तमान नाम कसाई है।

कबंध--एक राक्षस। दनु नामके एक दानव की तपस्या पर प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने उसे दीर्घायु का

वरदान दिया। वर पाकर वह इन्द्र से युद्ध करने पहुँच गया। इन्द्र ने वज्र मारकर उसका सिर धड़ के भीतर धँसा दिया। तब बहुत प्रार्थना करने पर इन्द्र ने उसके हाथ एक-एक योजन लम्बे कर दिए और धड़ के ऊपर एक मुँह बना दिया। जब राम वन में चले जा रहे थे तब इसने राम, लक्ष्मण, सीता को अपने हाथ में समेट लिया। राम ने उसका हाथ काटकर उसे मार डाला। राम के हाथ से मरने पर वह दिव्य स्वरूप पाकर स्वर्ग चला गया। यह पिछले जन्म में विश्वावसु नाम का गन्धर्व था जो एक ब्राह्मण के शाप से राक्षस हो गया था।

कमल--यह श्वेत, नील और रक्त तीन प्रकार का होता है। इसका निवास जल में रहता है। इसकी पँखुड़ियाँ चौड़ी होती हैं और यह वर्षा और शरद् के दिन में खिलता है। श्वेत और लाल कमल भारत, ईरान, तिब्बत, चीन और जापान में ही मिलता है। नील कमल कश्मीर के उत्तर और तिब्बत में ही होता है। श्वेत कमल को शतपत्र, पुण्डरीक, सरोज, नलिन और महोत्पल या महाद्य कहते हैं। लाल कमल को कोकनद, रक्तोत्पल और रविप्रिय कहते हैं। नील-कमल को इन्दीवर, कुवलय, मृदूत्पल और भद्र कहते हैं। कमल के बीज-कोष को कर्मिकर, मधु को मकरन्द, केशर को किंजल्क और नाल को मृणाल कहते हैं।

कमलिनी--जल में दिन में खिलने वाला एक फूल जिसकी पंखुड़ियाँ लम्बी होती हैं। यह भी तीन रंग की होती है श्वेत, रक्त और नील। कमल और कमलिनी में भेद यही है कि कमल में बीजकोष होता है, कमलिनी में नहीं होता। कमल की पंखुड़ियाँ चौड़ी होती हैं कमलिनी की पतली और लम्बी।

कर--भूमि के प्रयोग अथवा व्यापार आदि के लिये राजा को जो नियमित भाग दिया जाता है इसे कर या राजस्व भी कहते हैं।

करंजक (वृक्ष)--करौंदा, इसकी झाड़ी, 6 प्रकार

की होती है। इसमें छोटे-छोटे अंडाकार कुछ ललाई लिये श्वेत खट्टे फल लगते हैं। यह झाड़ी वर्षा में फलों से लदी बहुत सुन्दर लगती है। जन्माष्टमी के अवसर पर श्रीकृष्ण जी का झूला इससे सजाया जाता है।

कर्णफूल--कान में पहनने का फूल के आकार का फूल का आभूषण।

कर्णिकार--कनैर। इसके फूल श्वेत, लाल और पीले होते हैं।

कम्बोज--वर्तमान अफ़गानिस्तान का वह भाग जो कन्दहार के पास है। शक्तिसंगम तंत्र में लिखा है--

पाञ्चालदेशमारभ्य म्लेच्छादक्षिणपूर्वतः।

काम्बोजदेशो देवेशि वाजिराशि-परायणः॥

(पंजाब से लगाकर म्लेच्छ अर्थात् अरब देश से दक्षिणपूर्व कम्बोज है जहाँ घोड़े बहुत होते हैं।)

रघुवंश में जो कम्बोज का वर्णन आता है वह काबुल के उत्तर का कम्बोज था।

कलिंग--दीर्घतमा के औरस और बलि की पत्नी सुदेष्णा के गर्भ से कलिंग ने जन्म लिया। इन्होंने अपने नाम पर वह जनपद बसाया जो जगन्नाथपुरी के पूर्व भाग से कृष्णा नदी के तीर तक फैला हुआ है। मोदिनीपुर, उड़ीसा और गंजाम प्रदेश कलिंग में आते हैं। महाभारत और हरिवंश पुराण के समय वैतरणी नदी से गोदावरी तक कलिंग था। इसे पौण्ड्र भी कहते हैं।

कल्पलता--स्वर्ग की कल्पित लता जिससे जो माँगो मिल जाता है। सुवर्ण-निर्मित लता को भी कल्पलता कहते हैं।

कल्पवृक्ष--यह समुद्र-मन्थन के समय निकला था। कल्पान्त तक यह वृक्ष बना रहता है। चौदह रत्नों में से यह एक है।

कश्यप--ब्रह्मा के मानसपुत्र। मरीचि के औरस

और कला के गर्भ से कश्यप का जन्म हुआ था। इन्होंने 17 कन्याओं से विवाह करके देव, दैत्य, दानव, अश्व, गन्धर्व, राक्षस, वृक्ष, अप्सरा, सर्प, गुध, श्वापद, जल-जन्तु, गरुड़, अरुण, नर, पतंग और शलभ उत्पन्न किए। मार्कण्डेय पुराण में इनकी 13 पत्नियाँ--अदिति, दिति, दनु, विनता, खशा, कद्रु, मुनि, क्रोधा, अरिष्टा, इरा, ताम्रा, इला और प्रध्य गिनाई गई हैं।

कश्यप की पत्नियाँ--(ऊपर देखो)।

कस्तूरी--कस्तूरी मृग की नाभि से निकलता हुआ सुगन्धित पदार्थ। कस्तूरी हिरण के सींग नहीं होते किन्तु इसका आकार हिरणों से मिलता जुलता है। इसकी आँखों में आँख के दो गजदन्त बाहर निकले रहते हैं और इसके बाल कड़े होते हैं। इसकी ऊँचाई लगभग 211 फीट और रंग काला होता है जिसमें बीच-बीच में लाल चकत्ते पड़े होते हैं। इसका गला पीला और पूँछ बहुत छोटी होती है। केवल नर हिरण से ही कस्तूरी निकलती है। यह मृग गर्मी में समुद्रतल से आठ हजार फीट ऊँचे स्थानों पर साइबेरिया, मध्य एशिया, हिमालय और आसाम में मिलता है। इसमें से तिब्बत का मृग सबसे अच्छा होता है। कस्तूरी तीन रंग की होती है--नैपाल की कपिला, कश्मीर की पिंगला और कामरूप की काली। इनमें कामरूप की सर्वश्रेष्ठ, नैपाल की मध्यम और कश्मीर की साधारण होती है।

काकपक्ष--मस्तक के दोनों ओर बालों को चिकनाई से पीछे की ओर फेरकर बहाए रखना। इसी को पट्टे बहाना भी कहते हैं।

काम--1. चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) में से एक। 2. इच्छा। 3. कामदेव। शास्त्रकारों ने कामदेव के 50 भेद बताए हैं। स्मरदीपिका में कहा गया है-- प्रतिपदा को पैर के अँगूठे में, द्वितीया को गुल्फ में, तृतीया को जाँघ में, चतुर्थी

को भग में, पंचमी को नाभि में, षष्ठी को स्तनों में, सप्तमी को हृदय में, अष्टमी को कुक्ष (बगल) में, नवमी को कंठ में दशमी को ओठ में, एकादशी को गालों पर, द्वादसी नेत्रों में, त्रयोदशी को कानों पर, चतुर्दशी को ललाट पर, अमावस्या और पूर्णिमा को मस्तक पर रहता है। कामदेव के पास शंख, पद्म धनुष और बाण है, मद के कारण उसकी आँखें कुछ-कुछ बन्द रहती हैं। उसके झण्डे पर मकर (मछली) है। रति, प्रीति, शक्ति और उज्ज्वला नामकी उसकी चार स्त्रियाँ हैं। जब ब्रह्मा ने दक्ष आदि मानसपुत्र उत्पन्न किए उस समय संध्या नामकी कन्या भी हुई थी। उसी कन्या से कामदेव का जन्म हुआ और फिर दक्ष से उत्पन्न रति नामकी सुन्दरी से कामदेव का विवाह हुआ। तारकासुर के उत्पाद करने पर जब देवताओं ने काम को महादेवजी के पास उन्हें काम-पीड़ित करने के लिये भेजा तब कामदेव उनके क्रोध से जल मरा। पार्वती के साथ शिव का विवाह हो जाने पर काम को फिर शरीर मिल गया। अगले जन्म में कृष्ण के औरस और रुक्मिणी के गर्भ से कामदेव का प्रद्युम्न के रूप में जन्म हुआ। महाभारत में कामदेव को धर्म का पुत्र माना गया है। कामदेव के पाँच बाण हैं—

अरविंदमशोकं च चूतञ्च नवमल्लिका।

नीलोत्पलञ्च पञ्चैते पञ्चबाणाः प्रकीर्तिताः।।

(देखो पञ्च बाण)

(अरविंद, अशोक, आम की मंजरी, नवमल्लिका और नीलोत्पल।)

कामदेव—देखो (काम)

कामधेनु—स्वर्ग की गाय। इस गाय से इच्छानुसार जो वस्तु माँगें वही मिल जाती है। दक्ष की कन्या सुरभि के गर्भ से कश्यप के औरस से रोहिणी का जन्म हुआ। उस रोहिणी से तपोनिधि शूरसेन नामक वसु के औरस से कामधेनु का जन्म हुआ। इसका वर्ण श्वेत है, चारों वेद ही उसके चारों पैर हैं, उसके

चारों स्तनों से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष बहा करते हैं। यौवन में कामधेनु की सुन्दरता देखकर एक बैताल ने वृष बनकर उससे संभोग किया था जिससे एक बड़ा विशाल वृष उत्पन्न हुआ जो अपनी तपस्या के बल से महादेवजी का वाहन बना।

कार्तवीर्य—चन्द्रवंशीय कृतवीर्य राजा का पुत्र सहस्राजुन। माहिष्मतीपुरी (मध्य प्रदेश का मंडला नामक नगर) कार्तवीर्य की राजधानी थी। इसने दत्तात्रेय की आराधना की जिससे दत्तात्रेय ने प्रसन्न होकर इसे सहस्रभुजा वाला बना डाला। अपने पराक्रम से उसने समुद्र-पर्यन्त भूमि पर अधिकार कर लिया। लंका के राजा रावण को भी इसने हराकर बन्दी बना लिया था तब पुलस्त्य मुनि जाकर उसे छुड़ा लाए। कार्तवीर्य ने जमदग्नि ऋषि के आश्रम से बछड़े के सहित कामधेनु भी हर लिया था। जमदग्नि के पुत्र परशुराम ने इसे मार डाला और धेनु लौटा ली।

कार्तिकेय—जब तारकासुर के अत्याचार से पीड़ित होकर देवताओं ने महादेवजी से पुत्र माँगा तब महादेवजी का तेज अग्नि में, अग्नि से गंगाजी में और गंगाजी से छहों कृतिकाओं में जा पहुँचा। वही तेज बालरूप में कार्तिकेय हुए और उन्होंने ही तारकासुर का वध किया। वे मयूर पर बैठते हैं। उनका रंग तपे हुए सोने के समान हैं उनके छह मुँह और दो भुजाएँ हैं। वे देवताओं की सेना के सेनापति हैं। देवसेना ही उनकी पत्नी हैं जिन्हें षष्ठी भी कहते हैं। इन्हें सेनापति, कुमार, पण्मुख, सुब्रह्मण्य, क्रौञ्चदारण और स्वामीकार्तिकेय भी कहते हैं।

कालनेमि—1. यह रावण का मामा था और जब लक्ष्मण को शक्ति लगने पर हनुमान् जी द्रोणाचल पर औषधि लेने गए थे तब यह भी बीच में बाधा देने पहुँचा और चाहता था कि हनुमान्जी

को एक मगरी निकल जाय किन्तु हनुमान्जी ने मगरी को मारकर शाप-मुक्त कर दिया और कालनेमि को भी मार डाला।

2. हिरण्यकशिपु का पुत्र एक राक्षस जिसका शरीर मन्दार पर्वत के समान विशाल और गौरवर्ण, जिसके सौ हाथ और सौ मुख, धुएँ रंग के बाल, हरी मूँछ-दाढ़ी और बड़े-बड़े बाहर निकले हुए दाँत थे। इसने देवताओं को हराकर स्वर्ग जीत लिया था और फिर अपनी देह को चार भागों में बाँटकर स्वर्ग का राज्य चलाया था। विष्णु के हाथ मारे जाने पर यही कंस हुआ।

कालागुरु—काले अगर का पेड़ या काला अगर। इसे संस्कृत में कृष्णाकाष्ठ, गंध और शृङ्गार भी कहते हैं (देखो अगुरु)।

कालिका—जब शुंभ और निशुंभ दैत्यों ने इन्द्रादि देवों को कष्ट देना प्रारम्भ किया तब इन लोगों ने महामाया देवी की स्तुति की। देवी ने पूछा—तुम यहाँ क्यों आए हो? तब उनके शरीर से ही एक देवीमूर्ति ने प्रकट होकर कहा कि ये देव लोग निशुंभ और शुंभ का वध चाहते हैं। इन्हीं प्रकट होने वाली देवी का नाम कालिका था क्योंकि इनका रंग काला था। इनकी आठ योगिनियाँ हैं—महाकाली, रुद्राणी, उग्रा, भीमा, घोरा, भ्रमरी, महारात्रि और भैरवी।

कालिय नाग—गरुड़ से युद्ध में हारकर यह नाग यमुना के कुण्ड में छिपकर रहता था इसी से इसे कालिय कहते हैं। 'के जले, आलीयते इति कालियः।' इसी नाग को श्रीकृष्णजी ने नाथकर भगा दिया था।

कालीयक—1. काला अगर, 2. पीत चन्दन, 3. रासहल्दी, 4. मलेन्द्री काष्ठ, या एक प्रकार का देवदारु।

कावेरी—दक्षिणापथ की प्रसिद्ध महानदी। आर्षग्रन्थों में यह पूर्णतोया मानी गई है। स्नान के

समय इसका स्मरण किया जाता है।

गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वती।

नर्मदे सिन्धु कावेरी जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु।

यह नदी पश्चिमी घाट पर्वत में ब्रह्मणगिरि से निकलकर महासुर घाटी में से होती हुई मद्रास के दक्षिण में बंगाल की खाड़ी में जा गिरती है।

काश—काँस, वर्षा वीतने पर यह लम्बी घास फूल उठती है।

किन्नर—देवयोनि में एक प्रकार के देव जिनका मुख अश्व के समान और शरीर मनुष्य के समान होता है। इन्हें किंपुरुष, अश्वमुख और गीतमोदी भी कहते हैं। ये अत्यंत संगीत प्रेमी होते हैं और निरन्तर गाते रहते हैं।

किन्नरी—किन्नर जाति की स्त्री।

किरात—1. तप्त कुण्ड से लेकर राम, क्षेत्रान्त पर्यन्त किरात देश है, यह शैल विन्ध्य में स्थित है। (शक्तिसंगम-तंत्र)

2. ब्रह्म देश की ओर किरातों का विवरण मिलता है। नेपाल में भी किरात रहते हैं जो असम तक फैले हुए हैं। ये लोग कन्या मोल लेकर विवाह करते हैं। यह सारी जाति लड़ाकू है और बाण चलाने में अद्वितीय है।

किरीट—मुकुट के नीचे बाँधी जाने वाली पगड़ी या मुकुट।

कुकुरमुत्ते—वर्षा के दिनों में गोबर आदि तथा कूड़े पर जो छतरीदार पौधा सा निकल आता है। इसे संस्कृत में कंदलीकुसुम भी कहते हैं।

कुंकुम-केशर—यह कश्मीर में उत्पन्न होता है और एक फूल का किंजल्क है जिसके पौधे छोटे होते हैं यह क्यारियों में बोया जाता है। लाल, बारीक तथा कमल की गंध वाला केशर सबसे अच्छा समझा जाता है।

कुटज—कुरैया या कुरचा का पौधा। इसे साधारण

बोली में इन्द्रजव भी कहते हैं। इसका फूल श्वेत, लम्बा और सुगन्धित होता है।

कुंड—देवखात, होम के लिये जिस चौकोर गड्ढे में अग्नि स्थापित की जाती है उसे कुण्ड कहते हैं। कर्मकाण्ड में इसके निर्माण का बड़ा विधान है। प्रत्येक यज्ञ में अलग-अलग आकार-प्रकार के कुण्ड बनाए जाते हैं और कुण्ड ठीक न बनने पर बड़ा दोष भी होता है। कुण्ड का खात अधिक होने से रोगी, अल्प होने से धनक्षय, टेढ़ा होने से दुःख, छिन्न-मंडल होने से मृत्यु, मेखलाशून्य होने से शोक, मेखला अधिक लगाने से धननाश, योनिशून्य होने से स्त्रीनाश और कण्ठ नाश होने से पुत्र नाश होता है।

कुन्द—6 पंखुड़ियों का छोटा अत्यन्त धवल फूल जिसे शुक्ल पुष्प, मकरन्द और सदा-पुष्प भी कहते हैं। यह पुष्प शिवजी पर चढ़ाया जाता है। इसके व्यवहार से सिर का रोग और विष-पित्त भी दूर हो जाता है।

कुबेर—विश्रवा के पुत्र रावण के भाई कुबेर की माता का नाम हिलाविला था। उनकी बुद्धिमत्ता से प्रसन्न होकर ब्रह्माजी ने उन्हें धनपति और सर्वपूज्य होने का आर्शावाद दिया। वे अपनी तपस्या से लोकपाल हुए और ब्रह्मा ने उन्हें पुष्पक विमान दिया। उनके पिता महामुनि विश्रवा ने उन्हें लंकापुरी में राज्य करने का आदेश दिया किन्तु रावण के भय से वे लंका को छोड़कर कैलास के पास अलकापुरी में यक्ष-किन्नर आदि पर शासन करते हुए रहने लगे। उनका वर्ण श्वेत आठ दाँत और तीन पैर हैं। इसी विकलांगता के कारण उन्हें कुबेर कहते हैं—‘कुबेरः कुशरीरत्वात् नाम्ना तेनायमङ्कितः’। उनके पुत्र का नाम नलकूबर है। उनकी वैश्रवणी नामक विस्तीर्ण सभा के परिषद् हैं—विश्वावसु, हाहा, हूहू, तुंबुरु, पर्वत, चित्रासन, चित्ररथ और चक्रधर्मा।

कुमुद—1. पुष्प। इसे देशी भाषा में कैरव, कोका, कोई कहते हैं। यह रात को जल में खिलता

है। इसकी पंखुड़ियाँ चौड़ी किंतु कमल से छोटी होती हैं। यह श्वेत होता है। इसे ध्वलोत्पल, कैरव और चन्द्रकांत भी कहते हैं।

2. नाग, जो सतयुग में था।

कुमुदिनी—रात को जल में खिलने वाला कमल के रूप का फूल, जिसकी पंखुड़ियाँ छोटी और लम्बी होती हैं। देशी भाषा में इसे कोई कहते हैं।

कुंभीनसी—वह रावण की बहिन और लवणासुर की माँ थी।

कुरबक—कटसरैया का फूल जिसे रक्त झिण्टी, कुरैया या मडुया भी कहते हैं। इसका फूल लाल होता है।

कुररी—क्रौंच या सारस या कुरांकुल नाम का पक्षी जो कष्ट पाने पर अत्यन्त करुणा से रोता है। इसके जोड़े का एक मर जाता है तो दूसरा भी रो-रोकर प्राण दे डालता है।

कुरुक्षेत्र—दृशद्वती के उत्तर और सरस्वती नदी के दक्षिण कुरुक्षेत्र है जो आजकल दिल्ली से 156 किलोमीटर उत्तर में पड़ता है। कुरु नाम के राजर्षि ने उस क्षेत्र को जीता था, अतः उसका नाम कुरुक्षेत्र पड़ गया। वहीं महाभारत का प्रसिद्ध युद्ध हुआ था।

कुश—कुशा—यज्ञादि के कार्य में आने वाली लम्बी पवित्र घास जिसकी जड़ में तीखे काँटे होते हैं। एक हाथ से लंबी को दर्भ और छोटी को कुशा कहते हैं। कुश पास रखने से भूत-प्रेत बाधा नहीं होती।

कुसुम—(फूल) इसे कुसुम्भ भी कहते हैं। इसके छोटे पौधे में लाल फूल लगते हैं जिन्हें छाया में सावधानी से सुखाते हैं। इसके फूल से लाल रङ्ग बनता है। कुसुम के फूल का रंग सात प्रकार का होता है। जिनमें प्याजी, गुलाबी, उजला गुलाबी, गहरा लाल उसका अपना रङ्ग होता है। सेंहुड़ का फूल मिलाने से सुनहला और नारङ्गी रङ्ग आ जाता

है। हल्दी मिलाने से पीली चमक का गहरा लाल और नील मिलाने से वैंगनी रङ्ग का हो जाता है। इसके तीन भेद हैं—महाकुसुम्भ, हस्वकुसुम्भ और वनकुसुम्भ।

कुसुम्भी—(फूल) 1. (देखो कुसुम) 2. लाल रङ्ग।

कूटनीति—कपट नीति। ऐसी चाल जिससे विना भेद खुले काम बन जाय।

कूटशाल्मली (यम का अस्त्र)—यम की गदा।

कृत्तिका—तीसरा नक्षत्र। चंद्र की पत्नी कृत्तिका में 6 तारे हैं। चन्द्रमा के शाप से कृत्तिका नक्षत्र में यात्रा वर्जित है। एक बार भरणी, कृत्तिका, आश्लेषा, मघा, उत्तरफाल्गुनी, विशाखा, उत्तराषाढ़ा और उत्तरा भाद्रपद ने चंद्रमा को बहुत डाँटा कि तुम हमसे स्नेह नहीं करते हो केवल रोहिणी से ही प्रेम करते हो। इसी पर चन्द्र ने इन्हें शाप दिया कि तुमने हमें दुर्वचन कहे हैं इस कारण तुम उग्र और तीक्ष्ण कहलाओगी और तुम्हारे भोग्य दिनों में जो यात्रा करेगा उसका अनिष्ट होगा।

कृत्तिकाएँ—इन 6 कृत्तिकाओं ने कार्तिकेय का पालन किया था।

केकय—केकयदेश। शतद्रु (सतलज) नदी से पश्चिम और विपाशा (व्यास) नदी के उत्तर में था जिसका कुछ भाग कश्मीर में भी पड़ता है। केकय के राजा अश्वपति ही कैकेयी के पिता, दशरथ के श्वसुर और भरत के नाना थे। आजकल भी केकय वाले कक्का कहलाते हैं।

केतकी—केवड़ा। इसके पत्ते लंबे, उजले, कोमल और चिकने होते हैं। इन्हीं पत्तों के बीच से फूल निकलता है। इसके पत्ते काँटेदार होते हैं। इसकी जड़ में प्रायः साँप रहते हैं। केतकी के फूल शिवजी नहीं चढ़ाए जाते। केतकी दो रंग की होती है—सफेद और पीली।

केरल—दक्षिण भारत में पश्चिम की पट्टी केरल कहलाती है। आजकल गोकर्ण से लेकर कुमारी अन्तरीप तक का भाग केरल कहलाता है। केरल का अर्थ है केर (नारियल)—का देश।

केवड़ा—(देखो केतकी)।

केशर—1. नागकेशर का फूल। 2. मौलसिरी। 3. कश्मीर में उत्पन्न होने वाला सुगन्धित फूल।

केशी—(राक्षस)—जो कंस के कहने से वृन्दावन पहुँचकर अत्याचार करने लगा और जिसे कृष्णजी ने मार डाला।

केसर—फूलों के भीतर बीच में से जो पतले तंतु निकले रहते हैं, उन्हें केसर कहते हैं।

केसर—(वृक्ष)—1. मौलसिरी का पेड़। 2. पुत्राग का वृक्ष।

केसर (सिंह के)—सिंह के कन्धे पर फैले हुए बड़े-बड़े बाल—चौरी या अयाल।

कैकेयी—(देखो केकय) इसका नाम रूपमालिनी था।

कैलास—प्रसिद्ध पर्वत, महादेव और यक्षाधिप कुबेर का वासस्थान, अनेक रत्नमय शृङ्गयुक्त हिमशैल के पृष्ठ पर है। यह उस राक्षस-तालाब या रावण-हृद से 50 मील दूर है जिससे सिंधु, शतद्रु, ब्रह्मपुत्र नद उत्पन्न हुए हैं। भोट लोग इसे 'तिसी' कहते हैं। 'कैल' के लीनां समूहः आस्यतेऽत्र इति कैलासः—आनन्द तथा क्रीड़ा का स्थान।

कौई—(देखो कुमुदिनी)

कोशल या कोसल—काशी से उत्तर अयोध्या-सहित सरयू के तीर का सब भाग। यह सूर्यवंशी राजाओं का राज्य था और अयोध्या इसकी राजधानी थी।

कौत्स—कुत्स नामक ऋषि के पुत्र और महर्षि वरतन्तु के शिष्य।

कौपीन—मेखला से बाँधकर कटि में पहना

जाने वाला कपड़ा। इसे कच्छा, कच्छाटिका, कक्षा और धटी भी कहते हैं। इसी से धोता; धोती शब्द बना।

कौशल्या (कौसल्या)—कोशल राज की कन्या, महाराज दशरथ की बड़ी रानी, राम की माता। इनके पिता वर्तमान मध्यप्रान्त के दक्षिणी भाग के राजा रहे होंगे। इनका नाम अपराजिता था।

कौशिक (गोत्र)—राजर्षि कुशिक के पुत्र। इन्हीं का नाम गांधि था। इन्होंने ही कौशिक गोत्र चलाया।

कौस्तुभ मणि—समुद्र-मंथन से जो चौदह रत्न निकले उनमें यह मणि भी था जो भगवान् विष्णु को दे दिया गया और जिसे विष्णु ने अपने हृदय पर धारण कर लिया। इसमें से लाल रंग की करोड़ों सूर्यों की किरणों के समान चमक निकलती है।

क्रथकैशिक—विदर्भ देश (वर्तमान बरार) जो विदर्भ के पुत्र क्रथ और कैशिक ने आपस में बाँट लिया था।

क्रौंच—सारस या कुरर पक्षी। यह बगले की जाति का पाँच फीट ऊँचा पक्षी होता है। इसमें से कुछ श्वेत होते हैं, कुछ भूरे धुएँ के रंग के। इनके जोड़े प्रायः खेतों में या जलाशय के पास दिखाई पड़ते हैं। इनमें परस्पर इतना प्रेम होता है कि यदि एक मर जाय तो दूसरा अत्यन्त करुण विलास करके छटपटाकर प्राण दे डालता है। व्याध-द्वारा इसी काममोहित पक्षी के जोड़े में से एक के मारे जाने पर महर्षि वाल्मीकि के मुँह से व्याध के लिये दिया हुआ शाप इस श्लोक के रूप में व्यक्त हुआ था—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः
समाः।

यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

(हे व्याध! तुम्हें अनन्त वर्षों-तक सुख न मिले क्योंकि तुमने क्रौञ्च के काममोहित जोड़े में से एक

को मार डाला।) इसे कराङ्कुल भी कहते हैं।

2. एक पर्वत, जो हिमालय का पौत्र और मैनाक का पुत्र माना जाता है। इस अत्यन्त उजले पर्वत पर क्रौञ्च नामका दैत्य रहता था जिसे कार्तिकेय ने मार डाला था, इसीलिये इसका नाम क्रौञ्च पड़ गया और कार्तिकेय का नाम क्रौञ्चदारण।

क्रौंचरन्ध्र—क्रौंच पर्वत में बना हुआ छेद। कालिदास के मत से वर्षाकाल में हंस आदि पक्षी इसी छेद से होकर मानसरोवर जाते हैं। जब क्रौंच पर्वत को फाड़ने से कार्तिकेय को अभिमान हो गया तब महादेवजी के शिष्य परसुरामजी ने उनका अभिमान चूर करने के लिये क्रौंच पर्वत में ऐसा वाण मारा जो क्रौंच पर्वत को बेधता हुआ पार कर गया, वही क्रौंचरन्ध्र हुआ।

क्षीर समुद्र—श्वेतद्वीप में दूध का समुद्र, जिसमें विष्णु भगवान् शेषनाग पर योगनिद्रा के समय शयन करते हैं। देवताओं और दैत्यों ने मिलकर इसे मथा था और इसमें से चौदह रत्न निकाले थे—कालकूट विष, ऐरावत हाथी, उच्चैःश्रवा घोड़ा, अप्सरा (रंभा), पारिजात (कल्पतरु), चन्द्र, लक्ष्मी, कौस्तुभमणि, शार्ङ्गधनुष, कामधेनु, धन्वन्तरि, वारुणी, अमृत और शंख।

ख

खण्डिता नायिका—वह नायिका जिसका पति किसी दूसरी स्त्री के साथ संभोग करके उन चिह्नों के साथ पत्नी के पास आता है और वह ईर्ष्या-जनित व्यवहार दिखाती है; जैसे अस्फुट चिन्ता, संताप, लंबी साँस, मौन भाव, आँसू बहाना आदि।

खदिर (खैर)—दो प्रकार का होता है— रक्तसार और श्वेतसार। यह भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में पाया जाता है। इसकी लकड़ी बहुत पक्की होती है जिससे यज्ञ पात्र और ढाल-तलवार की मुठिया बनायी जाती है। ज्येष्ठ तथा आषाढ़ में इसमें फूल लग जाता है और शीतकाल में इसका बीज पक

जाता है। इसी के क्वाथ से कत्था निकलता है। 2. श्वेतसार को देशी भाषा में पापड़ी कत्था कहते हैं। यह वर्ण को साफ करता है तथा मुख-रोग, रक्तदोष का नाश करता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यह प्रजापति के शरीर से उत्पन्न हुआ था।

खर—रावण और दूषण का भाई! यह अपनी वहिन शूर्पणखा के साथ पंचवटी वन में रहता था। जब लक्ष्मण ने शूर्पणखा के नाक-कान काट लिये तब खर और दूषण दोनों राम के द्वारा मारे गए। उनके पिता का नाम विश्रवा और माता का नाम राका था।

खस—गड़र घास की जड़ जिसमें से सुगन्ध आती है। गर्मी में इसकी टट्टियाँ बनाकर पानी से भिगोकर द्वार पर टाँग दी जाती है जिससे घर ठंडा रहता है। इसके पंखे भी बनते हैं, इसमें पान भी बसाये जाते हैं और इसका फुलेल भी बनता है। इसे पीसकर माथे पर थोप देने से पागलपन अच्छा हो जाता है। यह घास 5-6 फीट लंबी, भारत और ब्रह्मा में बहुत उत्पन्न होती है। इसे उशरी भी कहते हैं।

ग

गङ्गा—भारत की प्रसिद्ध नदी, जिसका उद्गम गंगोत्री में हुआ है जब भगवान् विष्णु ने बलि को छलकर अपने तीनों पैरों से तीनों लोकों को नापने के लिये त्रिविक्रम का रूप धारण किया था, उस समय ब्रह्माजी ने उनके नख धोकर उस जल को अपने कमंडलु में रख लिया था। वही ब्रह्मतोय सगर-वंशज भगीरथ के तप से महादेवजी की जटाओं में आ गिरा और वही जल की धारा गंगा कहलाई जिसने भगीरथ के पीछे-पीछे चलकर कपिल के कोप से भस्म सगर के साठ सहस्र पुत्रों का उद्धार किया। यह नदी भारत के उत्तर-पूर्वी प्रदेश में बहती हुई बंगाल की खाड़ी में समुद्र से जा मिलती है। इन्होंने इस प्रदेश को मरुभूमि होने से बचा लिया है इसीलिये गंगा को माता मानते हैं और विश्वास करते

हैं कि गंगा का नाम लेने से और विश्वास करने से सब पाप दूर हो जाते हैं।

गंगा गगेति यो ब्रूयात् योजनानां शतैरपि।

मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति॥

गंगाजल की यह विशेषता है कि वह कभी विगड़ता नहीं, उसमें कभी कीड़े नहीं पड़ते।

गंगासागर—यह स्थान जहाँ गंगा जी समुद्र से मिलती हैं। मकर-संक्रान्ति के दिन (4 जनवरी को) यहाँ बहुत बड़ा मेला होता है। यहाँ के स्नान, ध्यान, दान का बड़ा पुण्य है।

हरिद्वारे प्रयागे च गंगासागर-संगमे।

सर्वत्र दुर्लभा गंगा त्रिस्थानेषु सुदुर्लभा॥

गजमुक्ता—पुराने हाथी के माथे में पाया जाने वाला मोती। किन्तु आज के वैज्ञानिक आज तक हाथी के मस्तक में मोती नहीं पा सके। इसलिये वे गजमुक्ता को कल्पित मानते हैं और बड़े मोती को ही गजमुक्ता मानते हैं। हमारे यहाँ मुक्ता उत्पन्न होने के आठ स्थान माने हैं—गज, मेघ, शूकर, शंख, मत्स्य, सर्प, सीपी और बाँस।

करीन्द्र-जीमूत-वराह शंख-

मत्स्यादि-शुक्त्युद्भव-वेणुजानि।

मुक्ताफलानि प्रथितानि लोके

तेषान्तु शुक्त्युद्भवमेव भूमिः॥

गंधमादन—एक पर्वत जो रोमक पत्तन (रोम नगर)-के उत्तर में केतुमाल और इलावृत्त वर्ष के बीच में नील और निषध तक फैला हुआ है। विष्णुपुराण के मत से यह सुमेरु के दक्षिण में है, जिस पर जम्बू नाम का केतु वृक्ष है। इसके पूर्व में चैत्ररथ, दक्षिण में गन्धमादन, पश्चिम में वैभ्राज, उत्तर में नन्दन नाम के चार मनोहर उपवन हैं जिनमें देवता विहार करते हैं। गंधमादन पर विशेषतः किंपुरुष या किन्नर और किन्नरी, सिद्ध, चारण, विद्याधर और विद्याधरियाँ विहार करती हैं। इस पर्वत पर महाभद्र नाम का बहुत बड़ा सुन्दर सरोवर

भी है। किन्तु सिद्धान्त-शिरोमणि के अनुसार मानसरोवर पर ही गंध-मादन पर्वत है।

गन्धर्व--यह अत्यन्त सुन्दर जाति की देव-योनि है जो देवताओं की सभा में गान, वाद्य और नाट्य करते हैं; इनकी दो जातियाँ हैं--दिव्य और मर्त्य। जो मनुष्य इस कल्प में अपने पुण्य-बल से गन्धर्व हुए हैं वे मर्त्य हैं; जो इस कल्प के प्रारम्भ से गन्धर्व हैं वे दिव्य हैं। हरिवंश के मत से स्वरोचिष मन्वंतर में अरिष्ठा के गर्भ से गन्धर्वों का जन्म हुआ।

गन्धवती--उड़ीसा के पूरी जिले में भुवनेश्वर के पास यह बहती है। शिवपुराण के मत से दक्षिण समुद्र के पास विन्ध्यपाद से यह नदी निकली है।

गंभीरा--चर्मण्वती (चंबल) नदी की एक शाखा।

गरुड़--विनता के गर्भ से और कश्यप के औरस से इनका जन्म हुआ। अरुण इनके भाई हैं जो सूर्य के आगे रहते हैं। ये स्वयं अपना अण्डा फोड़कर निकले थे। एक बार गरुड़ अमृत लेकर विष्णु के साथ जा रहे थे। विष्णु ने प्रसन्न होकर कहा--वर माँगो। गरुड़ ने कहा--मैं आकाश-गामी होकर आपके ऊपर के भाग में रहूँ और अमृत के बिना ही अजर-अमर बना रहूँ। विष्णु से यह वर पाकर गरुड़ ने विष्णु से कहा--आप भी वर माँगिए। विष्णु ने कहा--आप मेरा वाहन बनिए मेरे ध्वज पर रहकर मेरे ऊपर भी रहिए।

गवालम्भ--गोवध। (देखो चर्मण्वती)

गाण्डीव--अर्जुन का धनुष। यह धनुष ब्रह्मा ने प्रजापति को, प्रजापति ने इन्द्र को, इन्द्र ने सोम को और सोमने वरुण को दिया था। अग्नि ने वरुण से प्रार्थना करके यह धनुष अर्जुन को दिलाया था। ब्रह्मा ने 1000 वर्ष, प्रजापति ने 503 वर्ष, सोम ने 500 वर्ष, वरुण ने 100 वर्ष और अर्जुन ने 65 वर्ष तक इस धनुष को धारण किया था। दधीचि की हड्डी से यह धनुष बनाया गया था।

गान्धर्व (विवाह)--आठ प्रकार के विवाहों- में

से एक विवाह--जिसमें वर और कन्या परस्पर एक दूसरे से प्रेम करके विवाह कर लेते हैं। यह विवाह क्षत्रियों के लिये ही ठीक माना गया है। आठ प्रकार के विवाह हैं--ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच।

गायत्री--मंत्र। ऊँभूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्। यह मंत्र वेदमाता है और द्विजों का उपास्य है। इसके द्रष्टा ऋषि विश्वामित्र हैं। सूर्य इसके देवता हैं। इसे सावित्री मंत्र भी कहते हैं।

गारुडास्त्र--वह अस्त्र या बाण जिसके चलाने से सर्प या सर्प का विष नष्ट हो जाय।

गार्हपत्य--1. वह अग्नि जो यजमान या गृहपति के साथ सदा रहती है। 2. वह गोल कुण्ड जिसमें गार्हपत्य अग्नि रक्खी जाती है।

गुण--सत्त्व, रज और तम नामक तीन गुण जिनके मेल से यह सृष्टि हुई है।

गुरुदक्षिणा--गुरु से विद्या लेकर श्रद्धा के साथ गुरु को जो भेंट दी जाय उसे गुरुदक्षिणा कहते हैं। कभी-कभी गुरु लोग ही स्वयं दक्षिणा माँग भी लेते थे जिसे पूरा करना शिष्य अपने लिये गौरव समझता था।

गुरु--(निषाद) शृङ्गवेरपुर के एक शूद्र जाति के मुखिया जिन्होंने वनवास के समय राम को गंगा से पार उतारा था। कुछ लोग निषाद को केवट मानते हैं किन्तु निषाद-जाति शूद्रों में से ही हैं। ये लोग शिकार खेलते, मछली मारते और डाका डालते थे। मनु के मत से ब्राह्मण पिता और शूद्र माता से उत्पन्न जाति ही निषाद जाति है। कुछ लोग इन्हें धीवर भी मानते हैं।

गेरु--गवेरुक खानों से निकलने वाली लाल कड़ी मिट्टी। इसमें जो भुरभुरी होती है उसे कच्चा गेरु और जो कड़ी होती है उसे पक्का गेरु कहते

हैं। सोने पर रँग चढ़ाने और घर रँगने में इसका प्रयोग होता है।

गोकर्ण--बम्बई प्रान्त के उत्तर कनारा जिले और कुन्ता तालु में कुन्ता नगर से 10 मील उत्तर हिन्दुओं का प्रसिद्ध पवित्र तीर्थ स्थान है। रावण और कुम्भकर्ण ने यहीं पर तप किया था। वहीं पर महाबलेश्वर मन्दिर है।

गोत्र--वंश। जिस पूर्व पुरुष से किसी के कुल की उत्पत्ति होती है, उस कुल के सब लोग उस पूर्व पुरुष के गोत्र के समझे जाते हैं।

गोद--गोदावरी नदी के पास का स्थान।

गोदान--विवाह आदि मंगल कार्यों में सवत्सा गौ देने का बड़ा पुण्य लिखा है। मृत्यु के समय जो गोदान करते हैं उन्हें साक्षात् स्वर्ग-लोक मिलता है।

गोदावरी--दूसरा नाम गौतमी नदी है। तीर्थ-यात्रा को जाती हुई ब्राह्मणी से एक कामुक ने बलपूर्वक रमण किया और जब उससे पुत्र उत्पन्न हुआ तब उसे परित्याग कर दिया। इससे दुःखी होकर ब्राह्मणी ने तप किया और गोदावरी नदी बन गई। बम्बई प्रान्त के नासिक जिले के त्र्यम्बक गाँव के पास पहाड़ से यह नदी निकली है और दक्षिण पठार को पार करती हुई बंगाल की खाड़ी में समुद्र से जा मिली है।

गोप्रतर--सरयू के तीर पर जिस स्थान पर राम ने अपना पांचभौतिक शरीर त्याग किया था वही गोप्रतर या गोप्रतार तीर्थ कहलाता है।

गोरोचन--या गोरोचना, पीले रंग का सुगन्धित द्रव्य जो गौ के माथे से निकलता है। इसी से तंत्र और देवताओं के कवच लिखे जाते हैं।

गोवर्धन--वृन्दावन के पास प्रसिद्ध पोला पर्वत जिसे श्रीकृष्ण ने वर्षा से व्रज की रक्षा के लिये अपनी उँगली पर उठाए रक्खा था।

ग्रह--सूर्य, चन्द्र, भौम, बुध, गुरु, शुक्र, शनि,

राहु और केतु। इसमें मेष का सूर्य, वृष का चन्द्र, मिथुन का मंगल, कन्या का बुध, कर्क का बृहस्पति, मीन का शुक्र, तुला का शनि उच्च या श्रेष्ठ होता है। तुला का सूर्य, वृश्चिक का चन्द्र, कर्क का मंगल, मीन का बुध, मकर का बृहस्पति, कन्या का शुक्र, मेष का शनि नीच होता है। प्लूटो (यम), यूरेनस (वरुण), नेपचून (कुबेर) और हर्षल नामक चार और भी ग्रह खोजे गए हैं किन्तु वे इतनी दूर हैं कि उनका कोई प्रभाव पृथ्वी पर नहीं पड़ता।

ग्रहण--जब पृथ्वी और सूर्य के बीच चंद्रमा आ जाता है तब सूर्य ग्रहण होता है और जब चन्द्र और सूर्य के बीच पृथ्वी आ जाती है तब चन्द्र ग्रहण लगता है।

ग्राह--मगर (मकर) या घड़ियाल।

घ

घड़ियाल या मगर--जलजन्तु जिसका रूप छिपकली के समान किन्तु आकार इतना बड़ा होता है कि वह गाय और भैंस को निगल जाता है। इनमें से जिसकी थूथन लम्बी होती है उसे नाकू, नाका (नक्र) कहते हैं।

चक्रवाक--चकवा, जल के पास रहने वाला एक पक्षी है जो देखने में हंस के समान होता है। इसकी लम्बाई 25-26 इञ्च होती है। कहा जाता है कि दिन में चकवा और चकवी दोनों चोंच मिलाकर बैठते हैं और साथ-साथ जल में तैरते हैं किन्तु रात में अलग अलग हो जाते हैं। इनके माथे की चोटी और दोनों पंखों का रंग गेरुआ और छाती तथा पीठ का रंग घना नारंगिया होता है। इनकी गर्दन के नीचे और छाती के ऊपर के हिस्से में तीन चार अँगुल चौड़ा एक चमकीला काले रंग का फीता सा होता है जो छाती से लगाकर पीठ के ऊपर से घूमा हुआ रहता है। यह चकवे को होता है, चकवी को नहीं, कुछ चकवियों को भी नहीं होता है। पीछे का निचला भाग कुछ-कुछ पीलापन लिए लाल होता

है। कुछ चकवों के इस स्थान पर लाल और काले डोरे भी होते हैं। इनके पंख और पेट आदि अन्य रंगों के भी होते हैं। चकवी की देह का रंग पीला और ललाई लिए हुए श्वेत होता है। मस्तक और गर्दन का रंग चूहे के रंग का तथा चोंच और पैर काले होते हैं। ये बड़े सजग रहते हैं इसलिये अहेरी लोग इन्हें जल्दी मार नहीं पाते हैं। भारत में जाड़े के दिनों में वे दिखाई पड़ते हैं।

चकवी--(देखो चक्रवाक)

चक्र--एक प्रकार का अस्त्र जो लोहे के पहिए के आकार का तीखी धारवाला होता है। शुक्र-नीति के अनुसार आठ अरों-वाला उत्तम, 6 वाला मध्यम और चारवाला अधम कहलाता है। युवक के लिये 13 अंगुल का उत्तम, 14 का मध्यम और 12 का निकृष्ट समझा जाता है। इसकी परिधि या पुट्टी की चौड़ाई तीन अंगुल उत्तम, ढाई अंगुल मध्यम और दो अंगुल अधम समझी जाती है। इसका किनारा चारों ओर से तीखा पैना होना चाहिए।

च

चक्रवर्ती--एक समुद्र से दूसरे समुद्र तक फैले हुए राज्य के राजा, जिन्हें दूसरे राजा लोग कर देते हों। ऐसे सात चक्रवर्ती राजा माने गए हैं- भरत, सहस्त्रार्जुन, मान्धाता, भगीरथ, युधिष्ठिर, सगर और नहुष।

भरतार्जुनमान्धातुभगीरथयुधिष्ठिराः ।

सगरो नहुषश्चैव सप्तैते चक्रवर्तिनः ॥

चण्डी--दुर्गा।

चन्द्रक्रान्तमणि--एक प्रकार का रत्न जो पूर्णिमा के चन्द्रमा को सामने पाकर द्रवित होता है। मुक्ति-कल्पतरु में लिखा है-

पूर्णेन्दुकरसंस्पर्शादमृतं स्त्रवति क्षणात् ।

चन्द्रक्रान्तं तदाख्यातं दुर्लभं तत्कलौ युगे ॥

चन्द्रक्षय--(देखो दक्ष)

चन्द्रहार--गले में पहनने का सोने का आभूषण जिसमें जड़ाऊ काम हो।

चन्द्रहास--रावण का खड्ग।

चमण्वती--चंबल नदी। इसका दूसरा नाम चर्मवाला और शिव-नद भी है। प्राचीन दशपुर नगर इसी के तट पर था। महाराज रन्तिदेव प्रतिदिन गवालम्भ अर्थात् कई सौ बैल मारकर ब्राह्मण और अतिथियों को खिलाते थे। उन बैलों के चमड़े और पसीने से इस नदी की उत्पत्ति हुई। यमुना की यह सहायक नदी इन्दौर राज्य के जनपाव पर्वत से निकल कर यमुना में मिल गई है।

चातक--पपीहा। यह पक्षी स्वाती के जल के अतिरिक्त कोई दूसरा जल नहीं पीता। चातक के शरीर के आगे का भाग हरा और पंख काले होते हैं। पंख की जड़ में सफेद और काला मिली हुई, कंधे पर के पंख श्वेत और पूँछ काली होती है। चातकी का रंग भी ऐसा ही होता है पर उसकी पूँछ का रंग घना काला होता है। किन्तु पंख चातक के पंखों के समान काले नहीं होते। चातक और चातकी दोनों की चोंच और पैरों का रंग कुछ नीला और भूरा तथा नेत्र श्वेत और धुँधले रंग के होते हैं। यह लगभग 5। इंच लंबा होता है। इसके पंख लगभग 2।। इंच, पूँछ 2 इंच चौर चोंच पौन इंच की होती है। कहा जाता है कि इसके गले में एक छेद होता है और जब यह पानी पीने लगता है तो बहुत-सा पानी इसके गले से निकल जाता है।

चामर--मृग-सुरा गाय। चामर-सुरा गाय की पूँछ जिनसे चँवर बनाया जाता है। सुरागाय को चमरी या चामर मृग कहते हैं। बड़ा चँवर ढुलवाने से दीर्घायु, छोटे से भय और विनाश, उजले से धन तथा कीर्ति और घने से संपदा मिलती है।

चारण--राजाओं के यहाँ उनकी वंशकीर्ति का विवरण रखने वाले और अवसर पर कविता में कीर्ति कहने वाले लोग। इन्हें कुशीलव, भाट और

वन्दीजन भी कहते हैं।

चित्रकूट--प्रयाग से दक्षिण में मन्दाकिनी नदी के तट पर स्थित पर्वत जो उत्तर प्रदेश के बाँदा जिले में पड़ता है। वनवास के प्रारम्भिक दिनों में राम इसी पर्वत पर रहे इसीलिये इसे रामगिरि भी कहते हैं।

चित्रा--27 नक्षत्रों में यह 14वाँ नक्षत्र अत्यन्त उज्ज्वल प्रभा वाला है। इसमें एक तारा है। यह पूर्व दिशा में निकलता और पश्चिम में अस्त होता है। चित्रा में उत्पन्न हुआ मनुष्य शत्रुओं को त्रस्त रखता, नीति-शास्त्र में निपुण और अनेक शास्त्रों का पण्डित होता है। पुराण के अनुसार यह दक्ष प्रजापति की चौदहवीं कन्या और चन्द्र की पत्नी हैं। चैत्र की पूर्णिमा को चन्द्रमा इसी का भोग करता है। चित्रा में यात्रा निषेध है।

चूड़ामणि--सिर पर पहनने का शीशफूल नाम का गहना जो माथे के ऊपर ठीक बीच में माँग पर लटकाकर पहना जाता है। राजस्थान में इसे बोरला कहते हैं।

च्यवन--ऋषि। इनके पिता महर्षि भृगु और माता पुलोमा थीं। जब ये माता के गर्भ में थे उस समय एक राक्षस इनकी माता को हरण करने को आया। अपनी माता की रक्षा करने के लिये इन्होंने तत्काल गर्भ से निकलकर उसे मार डाला, इसीलिये इनका नाम च्यवन पड़ा। एक बार तपस्या करते-करते इनके शरीर पर वल्मीक या बाँबी उठ आई। केवल दोनों चमकीली आँखें खुली रह गईं। एक दिन राजा शर्याति की पुत्री सुकन्या ने कुतूहलवश उनमें काँटे चुभा दिए। महर्षि के क्रोध से शर्याति के सामन्तों का मल-मूत्र रुक गया। तब शर्याति ने क्षमा माँगकर अपनी कन्या उन्हें ब्याह दी। सुकन्या इतनी साध्वी थी कि जब अश्विनीकुमार ने परीक्षा लेने के लिये इन्हें फुसलाया तब भी ये दृढ़ रहीं। इससे प्रसन्न होकर इनके पति च्यवन को अश्विनी कुमारों ने सुन्दर युवक बना दिया। इसके बदले में च्यवन

ऋषि ने अश्विनीकुमारों को यज्ञ में सोम रस दिया। इस पर इन्द्र रुष्ट हो गए और इन पर वज्र चलाया। च्यवन ने अपने मंत्रबल से वज्र को रोक दिया और उनका नाश करने के लिये एक विकराल असुर की सृष्टि की। तब इन्द्र भयभीत होकर च्यवन की शरण में आया और इन्द्र को मुक्ति मिली। उस विकराल असुर को च्यवन ने चार भागों में बाँटकर स्त्री, मद्य, द्यूत और मृगया में प्रतिष्ठित कर दिया।

छ

छतिवन--(सप्तपर्णी)--भारत के सभी शीतप्रधान प्रदेशों में होने वाला वृक्ष। इसके एक-एक पत्ते में कई दल होते हैं। इसका पेड़ बड़ा होता है और टहनियों से दूध निकलता है। इसका दूध फोड़े को अच्छा कर देता है और तेल में मिलाकर कान में डालने से दर्द दूर हो जाता है।

छलिक--एक प्रकार का रूपक या नाटक जिसमें दर्शकों से किसी प्रकार का छल किया जाता है, उन्हें मूर्ख बनाया जाता है या जिसका लक्ष्य छल करना होता है।

छायापथ--देखो आकाशगंगा।

ज

जटायु--प्रसिद्ध गृध्र पक्षी जो सूर्य के सारथी अरुण के औरस तथा श्येनी के गर्भ से उत्पन्न थे। इनके बड़े भाई का नाम संपाती था। जब रावण ने सीता का हरण किया तब जटायु ने रावण से युद्ध किया और उसके हाथों मारा गया। राम ने अपने पिता का मित्र समझकर उसका दाह-संस्कार किया।

जनक--निमि वंश में हस्वरोमा के पुत्र, मिथिला के राजा सीरध्वज, सीता के पिता। निमि ने अपने पुरोहित वशिष्ठ की उपेक्षा करके यज्ञ किया था। इस पर वशिष्ठ ने क्रुद्ध होकर नष्ट होने का शाप दे दिया। तब ऋषियों ने मृत निमि की देह को

मथा जिसमें से मथित होकर उत्पन्न होने के कारण मिथि नाम का पुत्र हुआ। इन्हीं का दूसरा नाम जनक था। इन्हीं के द्वारा स्थापित देश मिथिला कहलाया। ये ब्रह्मज्ञानी और विरक्त थे। इसलिये विदेह कहलाते हैं और उपदेष्टा होने के कारण राजर्षि कहलाते हैं। मिथिला के सभी राजा ब्रह्मज्ञानी होते चले आए इसलिये सभी विदेह और जनक कहलाते हैं।

जनपद--एक ही बोली बोलने वाले लोग जितने प्रदेश में बसते हों उसे जनपद कहते हैं।

जनस्थान--(1) दण्डकारण्य। (2) दण्डकारण्य के पास का स्थान। इच्चाकु वंश के राजपुत्र दण्ड ने जब शुक्राचार्य की कन्या अरजा से बलात्कार किया तब शुक्राचार्य ने शाप दिया कि तुम सात रात्रि में भस्म हो जाओ। उन्हीं के नाम पर इस वन का नाम दंडक वन पड़ा और उसमें जिस स्थान पर रहने से तपस्वियों की रक्षा हुई थी उसे जनस्थान कहते हैं। (3) दंडकारण्य का वह स्थान जिससे रावण की सेना लेकर खर, दूषण आदि रहते थे।

जयन्त--इन्द्र का पुत्र।

जया--पार्वतीजी की सखी जो तपस्या के समय इनके साथ थी।

जलकुक्कुट--पनडुब्बी नामक पक्षी जो जल में डूबकर मछली आदि जीव निकालकर खांती है। मुरगाबी।

जातकर्म--दस संस्कारों में से चौथा संस्कार इसका विधान यह है कि पुत्र के जन्म का समाचार सुनते ही पिता को यह कहना चाहिए--नाभिं मा कृन्तत, स्तनं च माददत। (नार न काटना, स्तन न पिलाना) और फिर सवस्त्र स्नान करके षष्ठी, मार्कण्डेय और षोडशमातृका का पूजन करे वसुधारा तथा नान्दीमुख श्राद्ध कार्य करना चाहिए। तब किसी ब्रह्मचारी, कुमारी, गर्भवती या वेदनिष्ठ ब्राह्मण से एक पत्थर की पटिया धुलवाकर दाहिने हाथ की

अनामिका और अंगुष्ठ से चावल और जौ लेकर 'कुमारस्य जिह्वां निर्माष्टि इयमाज्ञा' कहकर कुमार को छुआना चाहिए। फिर सोने की सलाई से घी लेकर यथाविधि मन्त्रों के साथ बालक की जीभ पर लगाना चाहिए और 'नाभिं कृन्तत, स्तनं च ददत्त' (नार छेदो, स्तन पिलाओ) कहकर बाहर चला जाना चाहिए।

जानकी--जनक की पुत्री, राम की धर्मपत्नी। इनको वैदेही, मैथिली, सीता और धरणीसुता भी कहते हैं। खेत जोतते हुए राजा जनक के हल की फाल से टकराए हुए एक मिट्टी के घड़े में मिली थीं। अतः ये जनक की अयोनिजा कन्या थीं और हल से उत्पन्न होने के कारण सीता कहलाई। इनका जन्म वैशाख शुक्ला अष्टमी को हुआ था। जब रावण ने ऋषियों से भी कर माँगा तो उन्होंने अपने अँगूठे चीरकर उसके रक्त से घड़ा भरकर रावण के पास यह कहकर भेज दिया कि इसमें तुम्हारा विनाश निहित है। रावण ने वह घड़ा मिथिला के खेत में गड़वा दिया। वही ऋषियों का रक्त सीता के रूप में उत्पन्न हुआ और उन्हीं के कारण रावण का विनाश हुआ।

जूही--सफेद चमेली से मिलते जुलते छोटे-छोटे फूल जो हिमालय की ढाल पर झाड़ियों में होते हैं और फुलवारियों में लगाये जाते हैं। इसका पौधा कुन्द से मिलता है और बरसात में फूलता है। इसे संस्कृत में यूथिका कहते हैं क्योंकि ये झुंड के झुंड गुच्छों में लगते हैं।

ज्वार--प्रतिदिन समुद्र में दो बार पानी घटता बढ़ता है। इस चढ़ाव-उतार को ज्वार-भाटा कहते हैं। जब पानी बढ़ता है तब ज्वार होता है, जब उतरता है तब भाटा होता है। ज्वार को संस्कृत में वेला कहते हैं। प्रायः 12 घंटे 28 मिनट पर ज्वार आता है।

डंश--(दंश) जंगली मच्छर, डाँस। इस मच्छर के काटने पर बड़े-बड़े फफोले पड़ जाते हैं और बड़ी खुजलाहट होती है।

त

तक्षक--आठ नागों में से एक नाग। इसका जन्म कश्यप और कद्रू के गर्भ से हुआ था। यह खाण्डव वन में रहता था और इसने ही शृङ्गी ऋषिका का शाप सफल करने के लिये राजा परीक्षित को काट लिया था जिससे क्रुद्ध होकर जनमेजय ने सर्प-यज्ञ किया था। यज्ञ का समाचार सुनकर तक्षक ने इन्द्र की शरण ली और वासुकी ने यज्ञ रोकने के लिये आस्तीक को भेजा, राजा जनमेजय ने तक्षक को इन्द्र का शरणागत जानकर ऋत्विजों से कहा कि तक्षक के साथ इन्द्र की आहुति कर डालिए। फलतः 'इन्द्राय तक्षकाय स्वाहा' कहते ही तक्षकके साथ इन्द्र भी अग्नि की ओर आकृष्ट हो गए। तब इन्द्र ने डरकर तक्षक को छोड़ दिया जो अग्नि की ओर गिरने लगा। इसी समय आस्तीक ने अपनी जान देकर महाराज जनमेजय से सर्प-यज्ञ बन्द करने की भिक्षा माँगी। और तभी से यह प्रसिद्ध है कि आस्तीक का नाम जपने से सर्प-भय नहीं रहता। सर्प दूर करने का मंत्र यह है—

सर्पापसर्प भद्रन्ते दूरं गच्छ महाविष।
जनमेजयस्य यज्ञान्ते आस्तीक वचनं स्मर।
आस्तीकवचनं श्रुत्वा यः सर्पो न निवर्तते।।
शतधा भिद्यते मूर्ध्नि शिशवृक्षफलं यथा।

विश्वास किया जाता है कि वह नाग इच्छानुसार मनुष्य शरीर धारण कर सकता था। वैद्यक ग्रन्थों में लिखा है—

मसूरं निम्बपत्रं च योऽस्ति मेषगते रवौ।
अतिरोषान्वितस्तस्य तक्षकः किं करिष्यति।।

वैशाख में जो मसूर के साथ नीम के पत्ते खाता है उस पर क्रोध करके तक्षक भी कुछ नहीं बिगाड़ सकता अर्थात् उन्हें कोई विष नहीं चढ़ सकता।

आठ प्रधान नाग ये हैं--अनन्त, वासुकि, पद्म, महापद्म, तक्षक, कर्कोटक, शंख और शेष।

तपोवन--नदी के किनारे हरे-भरे खाद्य-फलों से युक्त जिस वन में महर्षि लोग तपस्या करते थे।

तमसा--टोंस नदी, जिसके स्मरण करने से पाप नाश हो उसका नाम तमसा है--यस्याः स्मरणान्ताम्यति पापं सा तमसा। वन जाते समय राम ने पहली रात इसी नदी के तीर पर बिताई। यह नदी मध्यप्रदेश से होती हुई प्रयाग के पूर्व 40 किलोमीटर गंगा में मिल गई हैं।

तमाल--यह वृक्ष बीस से अट्ठाइस फुट तक ऊँचा और देखने में गहरा हरा और सुन्दर होता है। वैशाख में इसमें बड़े-बड़े श्वेत फूल लगते हैं और कलमी नीबू जैसा एक फल लगता है जिसका छिलका वेल के समान चिकना और पीला होता है किन्तु यह इतना खट्टा होता है कि एक बार खाने से कई दिन तक दाँत खट्टा रहता है। सियार इसे बहुत खाते हैं। इसके पत्ते तेजपात के समान होते हैं और इसकी छाया बड़ी घनी होती है। इसे नीलताल, कलताल और नीलध्वज भी कहते हैं। यों तो भारत में सभी स्थानों पर यह वृक्ष होता है किन्तु समुद्र के तट पर बहुत पाए जाते हैं।

तमोगुण--सत्त्व, रज, तम तीन गुणों में से एक। जिसमें तमोगुण विशेष होता है वह क्रोधी और दुष्कर्म होता है।

तर्पण--अपने पितरों को जल-दान देकर तृप्त करने का कार्य। यह तर्पण विशेष विधान के साथ किया जाता है। तर्पण का यह फल लिखा है कि तर्पण करने वाले को किसी प्रकार का दुःख नहीं होता।

ताटका (ताड़का)--यह सुकेतु नामक पराक्रमी यक्ष की कन्या थी जिसे उसने ब्रह्मा से वर के रूप में पाया। इसमें एक सहस्र हाथियों का बल था।

यह जम्भ के पुत्र सुन्द से ब्याही थी। जब अगस्त्य ऋषि ने सुन्द को मार डाला तब यह अपने पुत्र मारीच को साथ लेकर अगस्त्य ऋषि को खाने दौड़ी, किन्तु उनके शाप से दोनों राक्षस हो गये। तभी से यह राक्षसी अगस्त्यजी का तपोवन नष्ट करने लगी और वहाँ के सब ऋषियों को खाने लगी। इसीलिये यह जंगल ताड़का-जंगल कहलाता है। जब यह विश्वामित्रजी के यज्ञ में भी विघ्न करने लगी तब वे राम-लक्ष्मण को ले आए और राम ने उसका वध किया। स्त्री समझकर जब राम झिझक रहे थे तब विश्वामित्र ने कहा था— 'जो स्त्री वीर के समान युद्ध करे, लज्जा और कोमलता का त्याग करे, उसे मारने में स्त्रीवध का दोष नहीं लगता।'

ताण्डव—पुरुषों के उद्धत नृत्य को ताण्डव और स्त्रियों के कोमल नृत्य को लास्य कहते हैं। यह नृत्य शिवजी को अत्यन्त प्रिय था। 1. इस नृत्य के प्रवर्तक शिव ही हैं। 2. ताण्डु नामक ऋषि ने पहले-पहल इसकी शिक्षा दी थी। अतः, इसका नाम ताण्डव पड़ा।

ताम्रपर्णी—1. यह नदी मद्रास प्रान्त के तिन्नेवेलि जिले में है। इसे वहाँ 'पसने' कहते हैं। यह पश्चिमी घाट पर्वत से निकलकर बंगाल की खाड़ी में जा गिरती है। 2. इसी के आसपास ताम्रपर्णी नाम की एक और नदी पश्चिम की ओर बहती है। 3. बम्बई प्रान्त के बेलगाँव जिले की एक छोटी नदी।

तारकासुर—यह तारक नामका दैत्य असुर वज्रांग तथा वरांगी का पुत्र था। सहस्रों वर्ष तपस्या करने पर इसके मस्तक से ऐसी ज्योति फूट निकली जिससे इन्द्रादि देवता जलने लगे। देवताओं ने यह वृत्तान्त ब्रह्मा से कहा। तत्काल ब्रह्माजी तारकासुर के पास गए। वरदान के रूप में उसने दो वर माँगे— 1. मेरे समान कोई बली न हो। 2. शिव के पुत्र के अतिरिक्त किसी से न मारा जाऊँ। वर पाकर वह अपने घर आया। सब असुरों ने उसका राज्याभिषेक किया। वह संसार में नाना प्रकार के अत्याचार करने

लगा। इससे देवता बहुत दुःखी हुए। तब शिव के पुत्र कार्तिकेय ने उसका वध किया। (देखो कार्तिकेय)

ताल—संगीत के समय गीत की प्रत्येक कड़ी का समय नापने के लिये हाथ की जो ताली बजाई जाती है अथवा मृदंग, तबले आदि पर विशेष बोलों में बँधे हुए जो विभिन्न कड़ियों के द्वारा समय की अभिव्यक्ति की जाती है उसे ताल कहते हैं। ऐसी तालें अनेक हैं। ताल की उत्पत्ति महादेवजी के ताण्डव के "ता" और पार्वतीजी के लास्य के "ला" से हुई। ये दो प्रकार की होती हैं—मार्गी और देशी। भरत ने 60 प्रकार की मार्गी तालें तथा 120 प्रकार की देशी तालों का विवरण दिया है जिनमें से आजकल कुछ थोड़े से ही ताल प्रयुक्त होते हैं।

तिन्नी—नीवार या मुन्यन्न। यह एक प्रकार का चावल होता है जो अपने आप बिना बोए उत्पन्न हो जाता है। प्रायः व्रतों में लोग इसी का प्रयोग करते हैं।

तिल—यह छोटा, पतला, चिपटा, बीज होता है जो काला, सफेद और लाल रंग का होता है। जंगली तिल भी होता है। तैल शब्द इसी तिल के तेल के लिये प्रयुक्त होता है। यह श्राद्ध-तर्पणादि में अधिक काम आता है। इसके फूल की उपमा नाक से दी जाती है जो सफेद रंग का, गिलास के आकार का, ऊपर चार दलों में विभक्त रहता है जिन पर भीतर की ओर बैगनी धारियाँ होती हैं। इसका पौधा चार फुट तक ऊँचा होता है। इसके पत्ते 8, 10 अंगुल लम्बे और 3-4 अंगुल चौड़े होते हैं जिसके किनारे टेढ़े-मेढ़े होते हैं। काला तिल पास रहने से भूत, प्रेत, पिशाच, राक्षसों का भय नहीं रहता।

तिलक 1—चन्दन, केशर आदि से तिलक फूल के समान माथे, छाती या हाथ पर जो चीता जाय उसे तिलक कहते हैं। 1. लोध का पेड़। 2. पुत्राग की जाति का पेड़, जिसमें वसन्त ऋतु में छत्ते

के आकार के फूल लगते हैं।

तिलाञ्जलि—अपने पितरों को तृप्त करने-के लिये तर्पण के समय जल में तिल डालकर अंजलि देना। पितरों को तिल बहुत प्रिय है।

तीर्थ—नदियों के संगम, तट अथवा अन्य किसी महापुरुष के जन्म-स्थान अथवा किसी पवित्र घटना के स्थल को तीर्थ कहते हैं जहाँ स्नान करने, निवास करने या दर्शन करने से पाप दूर हो जाते हैं। तीन प्रकार के तीर्थ बताये गये हैं—जंगम, मानस और स्थावर। ब्राह्मण और सन्त लोग जंगम तीर्थ हैं। सत्य, क्षमा, इन्द्रिय-निग्रह, दया, ऋजुता, दान, दम, सन्तोष, ब्रह्मचर्य, प्रियवादिता, ज्ञान, धैर्य और तपस्या ये मानस तीर्थ हैं। गंगा, काशी आदि स्थावर तीर्थ हैं।

तूणीर—तरकश। बाण रखने का खोल, जो दाहिने कन्धे की पीठ से बँधा रहता है। इसे निर्पण, भाथा भी कहते हैं।

तूर्य (तुरही)—मुँह से फूँक कर बजाए जाने वाला एक लम्बा बाजा।

त्रयी—ऋक्, यजुः और साम ये तीन वेद। सृष्टि के आदि में ऋद्धमय ब्रह्मा, स्थिति में यजुर्मय विष्णु और लय में साममय रुद्र ही त्रयी हैं।

त्रिकूट—तीन शिखरोंवाला पर्वत। ऐसा पर्वत एक लंका में है, दूसरा क्षीरसागर में है, तीसरा गुजरात में गिरिनार पर्वत है जिसे पार करके रघु, सिन्ध की ओर गए थे।

त्रिपुर-विजय—तारकासुर के तीन पुत्र-तारकाख्य, कमलाख्य और विद्युन्मालीने तपस्या करके ब्रह्मा से यह वर पा लिया कि हम तीनों तीन पुरों में रहकर पूजित हों और जब एक साथ मिल जायँ तब जो एक समय बाण से तीनों पुरों का नाश कर दे, उसी के हाथ से हमारी मृत्यु हो। मय दानव ने इनके लिये स्वर्ग में सोने का, अन्तरिक्ष में चाँदी का और मर्त्यलोक में लोहे का लोक बसाया। इन दानवों ने

वर के कारण देवताओं पर अत्याचार प्रारम्भ कर दिए। तब महादेव जीने सब देवताओं का आधा-आधा बल लेकर ब्रह्माजी को सारथी बनाकर विश्व-कर्मा के बनाए रथ पर चढ़कर दिव्य धनुष खींचकर त्रैलोक्य-सार-भूत बाण छोड़ा जिससे त्रिपुर नष्ट हो गए और उन्होंने तीनों पुरों को जलाकर पश्चिम सागर में फेंक दिया।

त्रिपुष्कर तीर्थ—ब्रह्मा का बनाया एक तीर्थ जहाँ तीन तालाब हैं।

त्रिशंकु—ये सूर्यवंशी राजा सशरीर स्वर्ग जाना चाहते थे। जब वशिष्ठ और उनके पुत्रों ने ऐसा यज्ञ करना स्वीकार नहीं किया तब त्रिशंकुने विश्वामित्र की शरण ली। विश्वामित्र ने जो यज्ञ किया उसमें कोई देवता नहीं आए। तब विश्वामित्र ने क्रोध से त्रिशंकु से कहा- मेरी तपस्या-के फल से ही तुम सशरीर स्वर्ग में चले जाओ। स्वर्ग की ओर आते देखकर इन्द्र ने उसे ढकेल कर कहा-तुमपर गुरु का शाप है, तुम आँधे मुँह होकर लौट जाओ। जब वह नीचे गिरने लगे तब विश्वामित्र ने उन्हें बीच में रोक दिया। तब से त्रिशंकु वहीं नीचे सिर किए हुए लटके हुए हैं।

त्रिशूल—तीन नोकीले फलकों वाला महादेव जी का अस्त्र।

त्रेता—सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग नामक चार युगों में से एक। कार्तिक शुक्ल नवमी को त्रेता युग प्रारम्भ हुआ इस युग में बारह लाख छानवे हजार वर्ष होते हैं। इसमें मनुष्य की आयु 10 सहस्र वर्ष की होती है, लम्बाई 14 हाथ होती है। इसमें तीन चरण पुण्य और एक चरण पाप होता है, चाँदी के पात्र ही काम में आते हैं। इस युग में वामन, परशुराम और राम- का अवतार होता है। मनु के अनुसार इस युग में मनुष्यों की आयु 300 वर्ष की होती है।

त्रोटक—यह 5, 7 या 9 अंक का एक नाटक

होता है। जिसमें स्वर्ग और पृथ्वी दोनों के विषय वर्णन किए जाते हैं। शृङ्गाररस प्रधान होता है और नायक कोई दिव्य मनुष्य होता है। विक्रमोर्वशीय नाटक त्रोटक ही है।

द

दक्ष—अदिति के पिता और प्रजापति। इन्होंने अपनी 10 कन्याएँ धर्म को, 13 कश्यप-को, 27 चन्द्रमा को, दो-दो भृगु, अंगिरा और कृशाश्वको तथा 4 तार्क्ष्यको दी थीं। चन्द्रमा को जो इन्होंने कन्याएँ ब्याही थीं उनमें से रोहिणी को वह सबसे अधिक प्रेम करता था। तब कृतिका आदि सौतों दक्ष से यह बात कही। जब दक्ष के समझाने पर भी रोहिणी से ही चन्द्रमा स्नेह करता रहा तब दक्ष ने उसे शाप दिया कि तुझे क्षय हो जाय। किन्तु फिर चन्द्रमा के गिड़गिड़ाने पर इतना समाधान कर दिया कि मास में एक पक्ष तुम्हारा क्षय होगा और एक पक्ष में वृद्धि होगी।

(देखो कृतिका)

दक्षकन्या—दक्षकी असिक्नी नामक पत्नी-से 60 कन्याएँ हुई। (देखो दक्ष)

दक्षिण—पूर्व, आग्नेय, दक्षिण, नैऋत्य, पश्चिम, वायव्य, उत्तर, ईशान, ऊर्ध्व और अधः नामक दस दिशाओं में से तीसरी दिशा। सूर्य की ओर मुँह करके खड़े होकर दाहिना हाथ अपने कन्धे की ओर बढ़ा देने से जिधर संकेत होता है वही दक्षिण दिशा है। इस दिशा का नाम अवाच्या है।

दक्षिणनायक—कई नायिकाओं पर समान प्रेम रखते हुए सबको प्रसन्न रखने वाला नायक।

दक्षिण-पवन—दक्षिण दिशा से आनेवाला पवन। वसन्त ऋतु में जो पवन दक्षिण की ओर से चलता है वह स्वास्थ्य के लिये लाभकर है। इसीलिये वसन्ते भ्रमणं पथ्यम्। वसन्त में रोग भी होते हैं, इसीलिये कहा गया है-

वैद्यानां शारदी माता पिता च कुसुमाकरः।।

दक्षिणायन—आकाश-मण्डल में सूर्य प्रति वर्ष आषाढ़ मास के अन्त में उत्तर की ओर जहाँ तक पहुँचते हैं अर्थात् सीधी किरण डालते हैं, वहाँ तक का नाम उत्तर संक्रान्ति या कर्क संक्रान्ति और उस उत्तर संक्रान्ति से लेकर जहाँ-तक दक्षिण की ओर पहुँचते हैं अर्थात् सूर्य जब श्रावण से पौष मास तक उत्तर से दक्षिण की ओर मकर रेखा तक आते हैं उसे दक्षिणायन और माघ से आषाढ तक जब दक्षिण से उत्तर की ओर चलते हैं तब उत्तरायण कहते हैं।

दण्ड—1. डण्डा 2. अपराध करने पर किसी को शारीरिक कष्ट या आर्थिक असुविधा दी जाती है उसे दण्ड कहते हैं।

दण्ड-नीति—अर्थशास्त्र तथा राजनीति-शास्त्र (राज्य-शासन के चलाने के नियम) और उपदेश-

दण्डेन नीयते भेदं दण्डं नयति वा पुनः।

दण्डनीतिरिति ख्यात त्रीन्!

लोकानतिवर्तते।।

ब्रह्माने लोक-स्थितिके लिये दण्ड-नीति बनाई।

दन्तक्षत—काम शास्त्र के अनुसार स्तन, कपोल, ओष्ठ तथा अधर पर जो दाँत के चिन्ह बना दिए जाते हैं वे स्त्रियों को सुखकर होते हैं-

स्तनयोर्गण्डयोश्चैव ओष्ठे चैव तथाधरे।

दन्ताघातः प्रकर्त्तव्यः कामिनीनां सुखावहः।।

दर्भ—(देखो कुश) एक अरस्त्री (कोहनी से कानी उँगली तक) लम्बी कुशा। कुशा से बड़ी।

दशपुर—मध्य भारत में स्थित वर्तमान मन्दसोर नगर। कुछ लोगों का विश्वास है कि कालिदास यहीं के थे।

दशार्ण—विन्ध्य के पूर्व-दक्षिण का देश जिसमें दशान नदी बहती है और जिसकी राजधानी विदिशा

(वर्तमान भिलसा) थी, जो भोपाल से 13 कोस उत्तर पूर्व वेतवा के किनारे पहाड़ी पर बसी हुई है।

दाक्षिणात्य (अग्नि)—जो धनुषाकार कुण्ड में अग्निशाला के दक्षिण में और गार्हपत्य अग्नि के आग्नेय कोण में स्थित होती है।

दाक्षायणी—दक्ष की पुत्री, कश्यप की पत्नी, अदिति तथा इन्द्र की माता।

दाम—साम, दाम्, दण्ड, भेद नामक चार नीतियों में से एक। धनका लोभ देकर शत्रुको फँसाने की चाल। इसका दूसरा नाम दान भी है।

दिक्पति—ज्योतिष के अनुसार विभिन्न दिशाओं के स्वामी ग्रह। पूर्व के सूर्य, आग्नेय के शुक्र, दक्षिण के मंगल, नैऋत्यके राहु, पश्चिम के शनि, वायव्य के चन्द्रमा, उत्तर के बुध और ईशान के बृहस्पति।

दिक्पाल—दसों दिशाओं का पालन करने वाले दस देवता। पूर्व में इन्द्र, आग्नेय में अग्नि, दक्षिण में यम, नैऋत्य में निरृति, पश्चिम में वरुण, वायव्य में मरुत, उत्तर में कुबेर, ईशान में शिव, ऊर्ध्व दिशा में ब्रह्मा, अधो दिशा में अनन्त।

दिग्गज—आठों दिशाओं को सँभालने वाले और पृथ्वी को दबाए रखने वाले आठ हाथी। पूर्व में ऐरावत, आग्नेय में पुण्डरीक, दक्षिण में वाम, नैऋत्य में कुमुद, पश्चिम में अंजन, वायव्य में पुष्पदन्त, उत्तर में सार्वभौम और ईशान में सुप्रतीक।

दिग्विजय—अपना पराक्रम विख्यात करने के लिये सब देशों को जीतकर, जीते हुए राजाओं से कर मात्र लेकर उन्हें राज्य लौटा देना।

दिङ्नाग—1. प्रमाण-समुच्चय के लेखक विख्यात बौद्ध ग्रन्थकार। मल्लिनाथ ने दिङ् नाग को कालिदास का प्रतिद्वन्दी माना है। 2. दिशाओंके हाथी (देखो दिग्गज)

दिव्यलोक—स्वर्ग, वैकुण्ठ आदि वे लोक जिनमें देवता रहते हैं।

दिव्यास्त्र—मंत्रों से चलाए जाने वाले वे अस्त्र-शस्त्र जो देवताओं से प्राप्त किए जाते हैं।

दुपहरिया का फूल—(देखो बन्धुजीव)

दुर्वासा—एक मुनि, जो शिवजी के अंश से अत्रि के पुत्र थे। और्य मुनि की कन्या कन्दली से इनका विवाह हुआ था। विवाह के समय इन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि पत्नी के सौ अपराध तक क्षमा करेंगे। सौ अपराध के पश्चात् इन्होंने अपनी स्त्री को शाप से भस्म कर दिया। इस पर और्य ने शाप दिया कि तुम्हारा अभिमान दूर होगा। फलतः अम्बरीष ने इनका अभिमान दूर किया। ये बड़े क्रोधी थे। इन्हीं के शाप से शकुन्तला के पति दुष्यन्त ने उसका प्रत्याख्यान किया था और इन्हीं के शाप से यदुवंश नष्ट हुआ था।

दूषण—(देखो खर)

देव—अमर या देवता जो स्वर्ग-लोक में रहते हैं। इनकी पलकें नहीं गिरतीं इनके पैर भूमि को स्पर्श नहीं करते, इन्हें पसीना नहीं आता। इनके गले की माला मुरझाती नहीं।

देवउठनी एकादशी—(देवोत्थान्या एकादशी) कार्तिक शुक्ल एकादशी को विष्णु भगवान् योगनिद्रा से जागते हैं। इसीलिये उसे देवोत्थान्या-एकादशी कहते हैं। आषाढ़ शुक्ल 11 को विष्णु भगवान् योगनिद्रा में सोते हैं।

देवगिरि—देवताओं का प्रिय एक पर्वत जो कैलास के पास स्थित है। वहाँ अनेक देवताओं की मूर्तियाँ हैं। सुमेरु और हिमालय को भी देवगिरि कहते हैं।

देवदारु—देवदार नाम का बहुत ऊँचा पेड़। हिमालय पर समुद्र की सतह से सहस्र से 8 सहस्र फीट तक की ऊँचाई पर उगता है। यह पेड़ 80 गज तक सीधे ऊँचे चला जाता है। कुमाऊँ से लेकर कश्मीर तक इसके जंगल हैं। इसकी पत्तियाँ पतली और नुकीली होती हैं और इसका घेरा ऊपर

से नीचे-तक ढलुआँ होता है। इसकी लकड़ी सुन्दर, हल्की, सुगन्धित और गेहुएँ रंग की श्वेत होती है। इसमें घुन कीड़े नहीं लगते।

देवसेना—1. देवताओं की सेना, 2. कार्तिकेय की पत्नी और प्रजापति की कन्या जो सावित्री के गर्भ से उत्पन्न हुई थी। इनका दूसरा नाम षष्ठी व महाषष्ठी भी है। एक बार केशी दानव इन्हें हर कर ले गया तब इन्द्र ने इनकी रक्षा की और स्कन्द से इनका विवाह करा दिया।

देवांगना—1. अप्सरा। 2. देवताओं की पत्नियाँ।

देवोत्थान्या—(देखो देवउठनी एकादशी)

दैत्य—असुर, जो कश्यप के और उससे उनकी दिति नामक पत्नी से उत्पन्न हुए थे।

ध

धनुर्यज्ञ—सीता जी के विवाह के लिये जनक जी ने प्रण किया था कि जो महादेव जीका धनुष उठाकर उसपर डोरी चढ़ा देगा उसी के साथ सीता जी का विवाह होगा। यद्यपि बहुत राजाओं ने धनुष उठाने का प्रयत्न किया तथापि राम के अतिरिक्त कोई भी धनुष नहीं उठा सका इसीलिये सीता जीका विवाह राम से हुआ।

धर्म—जिस काम से इस लोक में अभ्युदय और परलोक में मोक्ष मिले वही धर्म है। यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। परहित-सरिस धरम नहि भाई। परोपकारः पुण्याय पापाय पर-पीडनम्।

धर्मासन—राजा या न्यायाधीश जिस आसन पर बैठकर न्याय करता है।

धातु—वह मूल क्रिया रूप जिससे क्रिया के अनेक रूप बनते हैं—जैसे असु, इ, आदि।

धूम्रकेतु—(देखो पुच्छलतारा)

ध्वजा— 1. झण्डी का डण्डा। 2. झण्डा।

न

नक्षत्र—अश्विनी आदि 27 तारक-समूह। (देखो

कृत्तिका)

नखक्षत—रतिकाल में प्रेयसी के शरीर पर प्रियतम-द्वारा बनाये जाने वाले नख के चिन्ह। कामशास्त्र में इसका विस्तार से वर्णन किया गया है। (देखो दन्तक्षत)

नटी—सूत्रधार या नटकी पत्नी।

नन्दनवन—इन्द्र का वह उद्यान जिसमें मनुष्य अपना भोग काल पूरा करके विहार करते हैं। यह सृष्टि भर के सब स्थानों में सुन्दरतम माना गया है। यहाँ आकाश-गंगा में सुनहरे कमल खिलते हैं भूमि पर कल्पवृक्ष फलता है, कामधेनु यथेच्छ फल देती है और यहाँ पहुँचकर लोग अप्सराओं के साथ विहार करते हैं। यहाँ किसी को रोग, शोक, भय और चिन्ता नहीं होती और भूख-प्यास नहीं सताती।

नन्दिग्राम—अयोध्या से चार कोस पर एक गाँव जहाँ रहकर भरत ने राम के वियोग में 14 वर्षतक तप किया और अयोध्या का राज्य चलाया था।

नन्दिनी—देव-सुरभि कामधेनु की कन्या और वशिष्ठ की गौ जिसे प्रसन्न करके दिलीप ने पुत्र पाया था। एक दिन वशिष्ठ के यहाँ सेना लेकर विश्वामित्र जी गए। वशिष्ठ ने नन्दिनी गौ के प्रभाव से उनका इच्छानुसार सत्कार किया। विश्वामित्र ने उनसे यह गौ माँगी। जब वशिष्ठ ने अस्वीकार कर दिया तब वे बलपूर्वक गौ को ले चले। मार्ग में नन्दिनी के चिल्लाने से उसके विभिन्न अंगों में से म्लेच्छों और यवनों की इतनी सेनाएँ निकल पड़ीं कि विश्वामित्र हार गए।

नन्दी— 1. शालंखायण नामक शिव जी के द्वारपाल। 2. शिव जी के एक प्रकार के गण जिनके तीन भेद होते हैं—कनकनन्दी, गिरिनन्दी और शिवनन्दी।

नमुचि—एक दानव जो शुम्भ और निशुम्भ का

तीसरा भाई था और कश्यप की दनु नामक पत्नी से उत्पन्न हुआ था। 2. विप्रचित नामक दानव का पुत्र, जो इन्द्र का मित्र था, जिसने सोमरस के साथ साथ इन्द्रका बल भी हर लिया था और जिसे इन्द्र ने सरस्वती और अश्विनीकुमार से वज्र लेकर मारा था। इन्द्र ने इससे प्रतिज्ञा की थी कि मैं न तो तुम्हें दिन में मारूँगा और न रात में, न सूखे अस्त्र से न गीले अस्त्र से। इसीलिये इन्द्र ने आक या मदार के समान एक वज्रास्त्र से उसका वध किया।

नमैरु—एक प्रकार का पुत्राग वृक्ष। इसे हिन्दी में मुल्लानी चम्पा कहते हैं। इसका फूल बड़ा-बड़ा लाल-लाल होता है जिसमें अत्यन्त मोहक गंध निकलती है।

नरकट—सरकण्डे, (शरपत्र, सरपत) के समान दलदल में होने वाली एक लम्बी घास, जिससे पोरदार छड़ी निकलती है जिससे लिखने के कलम बनाए जाते हैं। इसका पौधा बैत के समान पत्तियाँ, बाँस की पत्तियों के समान और डंठल या छड़ी पोली होती है जिससे हुक्के की निगालियाँ, टोकरी और मूढ़े भी बनते हैं। इसे नरकुल भी कहते हैं।

नर्मदा (नदी)—यह रीवाँ राज्य के अमर-कण्टक पहाड़ से निकल कर भड़ौच के पास अरब सागर में गिर जाती है। यह विन्ध्य के दक्षिण 800 मील तक बहती है। अमरकण्टक से निकल कर माल भूमि में पहुँच कर वहाँ से 70 फुट नीचे गिरकर कपिलधारा प्रपात बनाती है। इस नदी में स्नान करने का बड़ा पुण्य बताया गया है क्योंकि यह शंकर की देह से उत्पन्न हुई है।

नलकूबर—कुबेर का पुत्र, मणिग्रीव का भाई। एक बार यह कैलास पर्वत पर मदिरा पीकर स्त्रियों के साथ विहार कर रहा था तब नारद ने शाप दिया, जिससे यह वृन्दावन में यमलार्जुन हुआ था।

नलगिरि—(हाथी) उज्जयिनी के राजा चण्डप्रद्योत का प्रसिद्ध वेगशील हाथी।

नवमल्लिका—1 चमेली, 2 नेवारी।

नहुष—ये चन्द्रवंशी राजा आयु के पुत्र और पुरुरवा के पौत्र थे। ये बड़े प्रतापी चक्रवर्ती राजा थे। जब वृत्रासुर को मारने पर ब्रह्महत्या के डर से इन्द्र कमलनाल में जा छिपे, तब बृहस्पति ने नहुष को ही इन्द्र बना दिया। इन्द्राणी पर मोहित होकर जब इन्होंने उन्हें पास बुलाना चाहा तब इन्द्राणी ने कहलाया कि आप सप्तर्षियों के कन्धे पर चढ़कर आइए। पालकी पर चढ़कर हड़बड़ी में इन्होंने सप्तर्षियों से कहा—‘सर्प, सर्प’ अर्थात् जल्दी-जल्दी चलो। इसपर अगस्त्यजीने इन्हें शाप दे दिया कि जाओ; सर्प हो जाओ। किन्तु प्रार्थना करने पर अगस्त्य ने कहा-युधिष्ठिर तुम्हें शाप-मुक्त करेंगे इसी से ये बहुत दिनों सर्प बनकर द्वैतवन में पड़े रहे और जब इनकी पकड़ से भीम को छुड़ाने के लिये युधिष्ठिर आए तब इनकी मुक्ति हुई।

नाग—कश्यप की कद्रु नामक पत्नी से अनन्त, वासुकि, कन्वल, कर्कोटक, पद्म, महा-पद्म, शंख, कुलिक और अपराजित नाम के नाग उत्पन्न हुए। ये नाग, भूमि के नीचे रमणक या रमणीयक द्वीप में रहते थे।

नागकन्या—नाग नामक मनुष्य जाति की कन्याएँ, जो बहुत सुन्दर बताई गई हैं।

नागपाश—वरुण का अस्त्र (फन्दा) जिससे वे शत्रुओं को बाँध लेते हैं। मेघनाद ने इन्द्र से यही अस्त्र प्राप्त किया था। तन्त्र के अनुसार ढाई फेरे के बन्धन का नाम नागपाश है।

नागरमोथा—नागरमुस्ता-एक प्रकार की घास जो जंगली सूअर बहुत खाते हैं।

नान्दी—नाटक के प्रारम्भ में देवताओं को प्रसन्न करने के लिये जो प्रार्थनाएँ की जाती हैं। साहित्य दर्पण के अनुसार यह आठ या 12 पदों में होनी चाहिए किन्तु भरत ने 10 पदों की भी बताई

है। नान्दी का पाठ मध्यम स्वर में होना चाहिए।

नारद—अपने पितरों को सदा जलदान देने के कारण इनका नाम नारद पड़ा। ये ब्रह्मा के मानस-पुत्र उनके कण्ठ से उत्पन्न हैं और देवर्षियों में प्रधान माने जाते हैं।

नारायण—(नर-नारायण) एक बार शरभरूपी महादेव ने अपने दाँत से नरसिंह के दो टुकड़े कर डाले जिसमें उनके नररूप से तपस्वी मुनि नर की उत्पत्ति हुई और सिंहाकृति देह से नारायण की। ये नर और नारायण हिमालय पर बदरिकाश्रम में तपस्या करने लगे। वहाँ उनके तपसे डरकर इन्द्र बाधा देने के लिये अप्सराएँ भेजीं। उन्हें लज्जित करने के लिये नारायण ने अपनी जंघा से उर्वशी उत्पन्न करके खड़ी कर दी। जिसके रूप के सामने अप्सराएँ लजा गईं।

निचुल—एक प्रकार के बेंतका पेड़।

निमिकुल—मिथिलावंश को स्थापित करने वाले और इक्ष्वाकु के पुत्र निमि ने यह विदेह वंश चलाया। एक बार निमि ने वशिष्ठ को बुलाया किन्तु वशिष्ठ जी इन्द्र का यज्ञ करने चले गये। तब निमि ने ऋषियों को बुलाकर यज्ञ प्रारम्भ कर दिया। इस पर वशिष्ठ ने शाप दिया कि मेरी अवज्ञा करने के कारण तू दीन होगा और तेरा शरीर नहीं रहेगा। निमि ने भी वशिष्ठ को शाप दिया कि बिना समझे-बूझे शाप देने के कारण आपका भी शरीर नहीं रहेगा। यह कहकर निमि ने शरीर छोड़ दिया और उनकी देह तेल में रख दी गई। उधर वशिष्ठ जी शरीर छोड़ कर मित्रावरुण के तेज में समा गए और फिर मित्रावरुण के औरस से उर्वशी के द्वारा उत्पन्न हुए। यज्ञ की समाप्ति पर जब देवताओं ने मृतक निमि से वर माँगने के लिये कहा तब उन्होंने उत्तर दिया—मैं जीना नहीं चाहता। किन्तु यही चाहता हूँ कि मैं आँखों पर रहूँ। तब से वे सबकी पलकों पर रहते हैं। उनकी मृत देह को मथकर एक पुत्र

उत्पन्न किया गया जिसका नाम जनक रक्खा गया और इसी मथने से उत्पन्न होने के कारण उनका नाम मिथि भी था। उसी समय से निमि सब की पलकों पर रहते हैं और सब की पलकों उठती गिरती रहती हैं उन्हीं का कुल निमि का कुल कहलाता है।

नियम—1. किसी प्रकार का व्रत। 2. शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान।

निविन्ध्या—विन्ध्याचल से निकली हुई एक नदी।

नीच—पहाड़ी जो विन्ध्य की ही एक प्रशाखा है।

नीति—वट-नीति—‘सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वैधीभाव।’

नीवार—(देखो तिन्नी)

नूपुर—(देखो बिछुए)

नैर्ऋत—1. एक राक्षस। 2. नैर्ऋत्य-कोण के दिक्पाल।

नैर्ऋत्य—पश्चिम-दक्षिण कोण की दिशा।

नैमिषारण्य—वर्तमान नीमसार नाम का तीर्थ जो अवध के सीतापुर जिले में है। यहाँ गौमुख मुनिने निमिषमात्र में असुरों को भस्म कर दिया था इसीलिये इसका नाम नैमिषारण्य पड़ा। देवी भागवत में लिखा है :—जब कालिकाल के भय से ऋषि लोग ब्रह्मा के पास गए तब उन्होंने मनोमय चक्र लेकर कहा कि जहाँ इसकी नेमि (घेरा) चूर-चूर हो जाय वहीं पवित्र स्थान समझकर रहना। वही नैमिषारण्य है। यहाँ गोमती नदी बहती है।

नैमिषेय यज्ञ—निमिषारण्य में किया हुआ यज्ञ।

न्यायासन—(देखो धर्मासन)

प

पक्ष—प्रतिमास में 15 दिन का समय। कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा नित्य एक कला घटता है शुक्ल पक्ष में नित्य एक कला बढ़ता है।

पंचतत्त्व—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, उत्पत्ति हुई—सुगन्धि, कुरुविन्द और पद्मराग। इन्हीं पाँच तत्त्वों के संयोग से सृष्टि बनी है। पद्मराग का रंग कमल-जैसा, चमक जुगनू-जैसी,

पंचवटी—1. पीपल, बेल, बड़, आँवला और कोपल सारस या चकोर-जैसी और देखने में लाल-जैसा होता है।

अशोक के वृक्षों का समूह। इसमें पीपल को पूर्व, बेल को उत्तर, वरगद को पश्चिम, आँवले को दक्षिण और अशोक को आग्नेय कोण में लगाकर पाँच वर्ष बाद इस पंचवटी की प्रतिष्ठा करनी चाहिए और इसके बीच में चार हाथ लम्बी-चौड़ी वेदी बनानी चाहिए।

2. दण्डकारण्य में नासिक के पास गोदावरी के तटपर एक वन जिसमें वनवास के समय राम, लक्ष्मण, सीता ने निवास किया था, जहाँ शूर्पणखा के नाक-कान काटे गये थे और सीताहरण हुआ था।

पंचबाण—1. कामदेव 2. कामदेव के पाँच बाण—द्रवण, शोषण, तापन, मोहन और उन्मादन। कामदेव के पाँच बाण ये हैं—कमल, अशोक, आम की मंजरी, नवमल्लिका (चमेली) और नीला कमल।

अरविन्दमशोकञ्च नवमल्लिका।

नीलोत्पलञ्च पञ्चेते पञ्चबाणस्य सायकाः।।

पञ्चाप्सर—(पम्पासर) जहाँ शातकर्णि मुनि तपस्या करते थे। इनका तप भंग करने के लिये इंद्र ने पाँच अप्सराएँ भेजी थीं, रामायण में इन्हें भाण्डकर्णी लिखा है।

पर्णकुटी—पत्तों से छाई हुई कुटिया या झोंपड़ी। वनवास के समय लक्ष्मण ने चित्रकूट और पञ्चवटी में राम के लिये बड़ी सुन्दर पर्णकुटी बनाई थी जिसकी वाल्मीकि ने बड़ी प्रशंसा की है।

पताका—झण्डी। झण्डी का कपड़ा।

पद्मराग—लाल रंग का 'लाल' नामक मणि। कहा जाता है कि जब इंद्र ने असुरों को मारते समय उनका रक्त पृथ्वी पर न गिरने देने के लिये सूर्य को नियुक्त किया और जब रावण के डर से सूर्य गिर गये तब असुरों का रक्त सिंहल देश में रावण-गङ्गा नदी में जा गिरा। उसी से तीन प्रकार के लाल मणि की

पद्मासन—बाएँ जंघे के ऊपर दाहिना जंघा चढ़ाकर, छाती पर अँगूठा रखकर नासिका के अग्रभाग को देखना पद्मासन कहलाता है। इस आसन को साधने से किसी प्रकार की कोई व्याधि नहीं होती।

पन्ना—इसे ही मरकत कहते हैं। इसका रंग हरा उजला होता है। कहा जाता है जिस समय दैत्यपतिका पित्त लेकर नाग-राज वासुकी चले जा रहे थे उस समय गरुड उसे ग्रसने को तैयार हुए। उसी समय वासुकी ने वह पित्त वरुष्क देश के पर्वत की घाटियों पर ले जा फेंका और वहीं मरकतमणि या पन्ना फैल गया। पत्रे में यह गुण है कि सर्प का जो विष औषधि या मंत्र से दूर न हो वह इससे दूर हो जाता है। पन्ना धारण करने से सब पाप क्षय हो जाते हैं, धनधान्य की वृद्धि, सुख में विजय तथा रोगों का नाश होता है।

पम्पासर—(देखो पंचाप्सर) दक्षिण में पंपा नदी के किनारे और ऋष्यमूक पर्वत के पास एक तालाब है। वर्तमान वनमलय नदी ही पंपा नदी जान पड़ती है और पश्चिमी घाट ही ऋष्यमूक पर्वत है। यहीं मतंग ऋषि का आश्रम भी था।

परमानन्द—निर्विकल्प समाधि के समय योगी की त्रिपुटी में जब परा ज्योति का प्रकाश दिखाई पड़ने लगता है वही परमानन्द की अवस्था है। इसे ब्रह्मानन्द भी कहते हैं।

परशुराम—जमदग्नि के औरस से रेणुका के पुत्र। ये अपने पाँच भाइयों में से सबसे छोटे थे। इनके भाई थे—रुमण्वान, सुषेण, वसु, और विश्वावसु। चैत्र शुक्लातृतीया पुनर्वसु नक्षत्र में इनका जन्म हुआ था। इन्होंने गंधमादन पर्वत-पर तपस्या करके

महादेव जी से अस्त्र-विद्या सीखी और गणेशजी से परशुविद्या सीखी इसीलिये परशुराम कहलाते हैं। एक बार इनकी माता रेणुका ने नदी में चित्ररथ को अपनी स्त्री के साथ विहार करते देखा और वहाँ से कामोद्विग्न होकर घर आई। जमदग्नि को इस पर क्रोध हुआ और उन्होंने बारी-बारी से अपने पुत्रों को आज्ञा दी कि माता का वध कर डालो। अन्य चारों भाइयों ने तो पिता का कहना नहीं माना पर परशुराम ने पिता की आज्ञा से माता का सिर काट डाला। इस पर प्रसन्न होकर जमदग्नि ने वर माँगने के लिये कहा। परशुराम ने कहा-मेरी माता को जिला दीजिए। उन्हें परमायु दीजिए, मेरे भाइयों को चेतन कर दीजिए और ऐसा कीजिए कि युद्ध में मेरे सामने कोई न डटे। जमदग्नि ने ऐसा ही वर दिया। एक बार यह राजा कार्तवीर्य सहस्त्रार्जुन जमदग्नि के आश्रम में आया। रेणुका ने उसका स्वागत किया किन्तु वह मदांध होकर वृक्षों को उजाड़कर होमधेनु का बछड़ा लेकर चल दिया। परशुराम को ज्ञात हुआ तो उन्होंने तुरन्त आकर कार्तवीर्य की सहस्त्रों भुजाएँ काट डालीं। इसके बदले में कार्तवीर्य के कुटुम्बियों ने जमदग्नि को मार डाला। इस पर क्रुद्ध होकर परशुराम ने क्षत्रियों के नाशका प्रण किया और सब क्षत्रियों को मार डाला। जब इस क्रूरता की निन्दा ब्राह्मणों में होने लगी तब वे तपस्या के लिये वन में चले गए। वहाँ इनके पौत्र परावक्षु ने यह कहकर उन्हें उत्तेजित किया कि ययाति के यज्ञ में अभी राजा आए थे इसलिये आपकी प्रतिज्ञा व्यर्थ हुई है। इस पर उन्होंने पुनः क्षत्रियों का नाश प्रारम्भ किया और यह सब कर चुकने पर सारी पृथ्वी कश्यप को दानमें दे डाली। कश्यप ने बचे हुए क्षत्रियों की रक्षा के लिये परशुराम से कहा-यह पृथ्वी हमारी हो चुकी, अब तुम जाकर दक्षिण में रहो। तब वे दक्षिण (वर्तमान केरल) में समुद्र के तट पर शूर्पारक नामक स्थान में रहने लगे। परशुराम ने 21 बार पृथ्वी को

निःक्षत्रिय करके कुरुक्षेत्र के समंतपंचक (5 ताल) रुधिर से भर दिए और उन्हीं तालों से तर्पण करके अपने पितामह महर्षि ऋचीक का दर्शन पाया था जिसमें ऋचीक ने परशुराम को क्षत्रिय-वध करने से रोक दिया। इनमें ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों अंश थे क्योंकि इनके पिता ब्राह्मण थे और माता क्षत्रिय। इनका कथन था—

अग्रतश्चतुरा वेदाः पृष्ठतः सशरं धनुः।

इदं ब्राह्ममिदं क्षात्रं शापादपि शरादपि।।

परा--1. नाभि-रूपी मूलाधार चक्र से पहले-पहल निकलने वाली वाणी जो परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी में से सबसे पहली है। 2. ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करने वाली उपनिषद् विद्या या ब्रह्म-विद्या।

परिक्रमा--1 किसी पूजनीय व्यक्ति, देवमूर्ति या स्थान के चारों ओर दाहिनी ओर से घूमना। 2. देवमंदिर के चारों ओर घूमने के लिये बनी हुई गली।

पारिमाश्वक--सूत्रधार के पास रहने वाला नट। इसे पारपाश्वकभी कहते हैं।

परिवह--वह पवन जो प्रातःकालीन वायु पर रहता है, आकाश-गङ्गा को बहाता है और शुक्र तारे को घुमाता है। आठ प्रधान पवन ये हैं- आवह, प्रवह, उद्वह, संवह, सुवह और परावह।

पलाश--ढाक या किंशुक। इसके पत्ते चौड़े, गोल और एक डंठल में तीन लगते हैं। गर्मी में इसमें लाल फूल लगते हैं जिसे टेसू कहते हैं, इसे पकाने से पीला रङ्ग निकलता है। उस पीले रङ्ग से लोग होली खेलते हैं। इसके पत्ते और जड़ में बड़ा गुण होता है। इसके फूल को पकाकर उसके पानी से नहाने से सब देह विकार मिटते हैं।

पवन--(पाँच) प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। नाक में स्थित पवन प्राण, गुदा आदि

स्थानों में अपान, अन्य जलादि को पचाने वाला आए थे।

समान, कण्ठ में उदान और सब नाड़ियों में व्याप्त पवन व्यान है। सांख्य के आचार्यों ने नाग, कूर्म, वृक, देवदत्त और धनञ्जय नामक पाँच वायु माने हैं। उगलाने वाले वायु का नाम नाग, आँखें खोलने वाले का नाम कूर्म, भूख उत्पन्न करने वाले का नाम वृक, जैभाई उत्पन्न करने वाले का नाम देवदत्त और शरीर पोषण करने वाले वायु का धनञ्जय।

पवन--(49) प्रलयकाल के उनचास पवन।

पश्यन्ती--मूलाधार से पहले उठा हुआ वह नागरूप वर्ण या वाणी जो हृदय में पहुँच जाती है।

पाटल--1. गुलाब का फूल। 2. गुलाबी रंग।

पाताल--पृथ्वी के नीचे के सात लोकों में से सातवाँ लोक। ये लोक हैं--अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल (पद्मपुराण)। पाताल भी सात माने गए हैं--अतल, नितल, वितल, गभस्तिमत, तल, सुतल और पाताल। (शब्दरत्नावली) ये पाताल अनेक भवन, उद्यान, उपवन आदि से सुशोभित हैं। ये सब स्वर्गलोक से भी बढ़कर हैं। इनमें महानाग और सर्प निवास करते हैं। यहाँ चन्द्रमा और सूर्य प्रकाश देते हैं, गर्मी-सर्दी नहीं होती।

पाण्ड्य--भारत में धुर दक्षिण भाग जिसमें वर्तमान तिरुवरांकुर, मद्रास का दक्षिणी भाग और कोचीन (कोच्चिन) का प्रदेश पड़ता है।

पातिव्रत्य--अपने पति में शुद्ध निष्ठा रखकर पति को ही देवता और सर्वस्व मानने का भाव।

पाद्य--पैर धुलाने के लिए जल।

पारसिक (पारसीक)--भारत के पश्चिम में पारस व ईरान देश के निवासी जो पहले अग्निपूजक थे और अब अधिकांश मुसलमान हैं।

पारिजात--समुद्र-मन्थन से निकला हुआ वृक्ष। यह इन्द्र की नगरी अमरावती में लगा दिया गया था जिसे श्रीकृष्णजी सत्यभामा के कहने से द्वारका ले

पिण्डदान--पितरों को तृप्त करने के लिये दूध में पके भात, मधु, शक्कर, तिल और घी का पिण्ड।

पिनाक--महादेव जी का धनुष जो उन्होंने प्रसन्न होकर जनक को दिया था।

पिशाच--1. कच्चा माँस खाने वाले। 2. एक हीन देवयोनि। ये अत्यन्त अपवित्र और गन्दे बताए गए हैं।

पुंसवन--गर्भ के तीसरे महीने में पुत्र संतान प्रसव कराने के लिये यह संस्कार कराया जाता है।

पुच्छलतारा--धूम्रकेतु। एक प्रकार का अत्यन्त चमकदार तारा जिसके पीछे लम्बी पूँछ सी दिखाई देती है। कहा जाता है कि जब यह दिखाई देता है तब पृथ्वी पर कोई न कोई उपद्रव होता है।

पुत्रेष्टि--(यज्ञ) पुत्र उत्पन्न करने की इच्छा से किया गया यज्ञ।

पुनर्वसु--27 नक्षत्रों में से सातवाँ नक्षत्र। इसकी आकृति धनुष के समान है और इसमें पाँच तारे हैं। इसके पहले तीन चरणों में जन्म लेने से मिथुन राशि, और चौथे चरण में कर्क राशि होती है। इस नक्षत्र में जो जन्म लेता है वह बहुत मित्र वाला, शास्त्र पढ़ने वाला, रत्नों से प्रेम करने वाला, दाता, प्रतापी और भूस्वामी होता है।

पुरु--ययाति के सबसे छोटे पुत्र जिन्होंने अपने पिता को अपना यौवन अर्पित किया था। इन्हीं से चन्द्रवंशी क्षत्रियों की उत्पत्ति हुई है।

पुरोहित--जो हित करने वाला, वेदस्मृति जानने वाला, सत्यवादी, पवित्र, ब्राह्मण-कर्म करने वाला, निर्मल आचरण करने वाला, आपत्ति दूर करने वाला सौम्य होता है।

पुलस्त्य--ब्रह्मा के मानस पुत्र और सप्तर्षियों में से एक ऋषि जिनकी गिनती प्रजापतियों में भी

होती है। इन्होंने ब्रह्मा से आदि-पुराण सुनकर उसका प्रचार पृथ्वी पर किया था। ये विश्रवा के पिता तथा कुबेर और रावण के पितामह थे।

पुष्पक—कुबेर का विमान, जो इच्छानुसार चलता था। रावण ने यह विमान कुबेर से छीन लिया था किन्तु राम ने रावण वध के उपरान्त वह कुबेर को लौटा दिया था।

पुष्करावर्तक—पुष्कर अर्थात् जलाशय, आवर्तक अर्थात् समुद्र या नदी में पड़ी हुई भँवर जिनमें भाप उठने से बादल बनते हैं। ज्योतिष तत्त्व में आवर्त, संवर्त, पुष्कर और द्रोण नामक चार प्रकार के मेघों का उल्लेख किया गया है। इनमें से आवर्त-मेघ निर्जल, संवर्त बहुत जलवाला, पुष्कर भयंकर जलवाला और द्रोण सब प्रकार के धान्यों को बढ़ाने वाला होता है-

आवर्तो निर्जलो मेघः संवर्तश्च बहुदकः।

पुष्करो दुष्कर-जलो द्रोणः शस्य-प्रपूरकः॥

(कालिदास ने आवर्त वंश के निर्जल मेघ और पुष्कर नामक दुष्कर जलवाले मेघ को ही दूत बनाकर भेजा है क्योंकि दोनों ही प्रजा के लिये निरर्थक हैं।)

पुष्य—27 नक्षत्रों में आठवाँ नक्षत्र। इसकी आकृति बाण के समान है। सब पुष्य कार्य इसी नक्षत्र में किए जाते हैं। यह नक्षत्र कर्क राशि में पड़ता है। इसमें जन्म लेने वाला बुद्धिमान्, कृतज्ञ, धनधान्ययुक्त, परम विद्वान्, आस्तिक, पिता-माता का भक्त, अभिनय-कुशल और सम्पन्न होता है। इस नक्षत्र में गंगास्नान करने से करोड़ों कुलों का उद्धार हो जाता है।

पृथु—त्रेतायुग के सूर्यवंशी पाँचवें राजा। जब राजा वेणु का निःसन्तान देहान्त हो गया तब ब्राह्मणों ने इनके दोनों हाथ हिलाए जिससे इनके दाहिने हाथ से पृथु और बाएँ से एक अर्चिनाम की कन्या हुई जिनका परस्पर विवाह कर दिया गया।

जब पृथुका राज्याभिषेक हुआ तब पृथ्वी से अन्न उत्पन्न होना बन्द हो गया। पृथु ने झट अपने धनुष पर बाण चढ़ाकर पृथ्वी को दौड़ाया और कहा-तुम अन्न क्यों नहीं उत्पन्न करती हो। तब पृथ्वी ने कहा-ब्रह्मा ने मुझ पर जो औषधियाँ आदि उत्पन्न की थीं उनका लोग दुरुपयोग करने लगे हैं। प्रजापालन और लोकहित का किसी को ध्यान नहीं है इसी कारण मैंने सब औषधियों को अपने उदर में रख लिया है। अब आप राजा हो गए इसलिये कोई बछड़ा, दुहने का बर्तन और दुहने वाला खड़ा कीजिए। मुझे ऐसा समतल बना दीजिए कि वर्षा का जल गिरकर समान रूप से फैल जाय। तब पृथु ने मनु को बछड़ा बनाया और अपने हाथ पर सब औषधियाँ दूह लीं। इसके पश्चात् अनेक ऋषियों ने अनेक प्रकार से अनेक वस्तुओं को बछड़ा बना-बनाकर पृथ्वी को दूहा। हिमालय को बछड़ा बनाकर पर्वतों ने भी अनेक रत्न दुह लिए थे तभी से पृथ्वी का नाम दुहिता पड़ा और पृथ्वी धान्यपूर्ण हो गई। यह सब करके पृथु ने 99 अश्वमेध यज्ञ किए। जब सौवाँ यज्ञ कर रहे थे तब इन्द्र उनका घोड़ा लेकर भागे। पृथु के पीछा करने पर इन्द्र ने जो अनेक रूप धारण किए उन्हीं से जैन, बौद्ध, कापालिक आदि मतों की सृष्टि हुई। किन्तु पृथु ने इन्द्र से घोड़ा छीन लिया और तब से इनका नाम विजिताश्व पड़ा। इस यज्ञ में पृथु ने इन्द्र को मन्त्र-द्वारा भस्म करना चाहा पर ब्रह्मा ने आकर मेल करा दिया। यज्ञ समाप्त करके पृथु ने सनत्कुमार से ज्ञान प्राप्त किया।

पौलोमी—(देखो शची)

प्रणव—ओंकार। अकार से विष्णु, उकार से महेश्वर और मकार से ब्रह्मा। अतः, ओंकार कहने से तीनों का स्मरण होता है। मनुके अनुसार वेद-पाठ के पहले और पीछे प्रणव का उच्चारण कर लेना चाहिए। ओंकार और अर्थ ये दो शब्द ब्रह्मा का

कण्ठ छेद कर बाहर निकले थे इसी से ये मंगल-जनक कहे जाते हैं। प्रणव के कारण मन्त्र और क्रिया के सब दोष दूर हो जाते हैं।

प्रतिपदा--प्रत्येक पक्ष की पहली तिथि (प्रतिपद्)। प्रतिपद् नाम नन्दा भी है। प्रतिपद् को तेल लगाना, बाल बनवाना और कोंहड़ा (कूप्मांड) खाना निषिद्ध बताया गया है। प्रतिपदा को जो जन्म लेता है वह मणि आदि से संयुक्त, मनोहर कान्तिवाला, प्रतापशाली और कुल का उद्धारक होता है।

प्रतिष्ठानपुरी--चन्द्रवंशी राजा पुरुरवाकी राजधानी गंगा-जमुना के संगम पर थी जहाँ अब झूँसी नगरी है।

प्रतिहार--(प्रतीहार)--1. द्वारपाल। 2. राज कर्मचारी जो सदा राजाओं के पास रहते थे और सब प्रकार के समाचार सुनाया करते थे। ये प्रायः पढ़े-लिखे ब्राह्मण या राज-परिवार के होते थे।

प्रतीहारी--(दिखो प्रतिहार) स्त्री प्रतिहारी कहलाती है।

प्रत्यय--वह अक्षर जो शब्द के अन्त में जोड़ देने से अर्थ की विशेषता उत्पन्न करता है। जैसे 'समर्थ' शब्द में 'ता' लगा देने से 'समर्थ' होने के गुण का बोध कराता है।

प्रदक्षिणा--देवमूर्ति या पूज्य पुरुष के दाहिनी ओर से उसके चारों ओर घूमना। देवी की प्रदक्षिण एक बार, सूर्य की सात बार, विनायक की तीन बार, विष्णु की चार बार और महादेव की आधी बार करनी चाहिए। कालिका पुराण में लिखा है कि दाहिना हाथ फैलाकर और सिर झुकाकर देवता को दाहिनी ओर करके एक या तीन बार उनकी परिक्रमा की जाती है।

प्रद्योत--उज्जयिनी के राजा जो विक्रम की शताब्दी से लगभग 600 वर्ष पूर्व राज्य करते थे। इनका नाम चण्ड-प्रद्योत भी है। इन्हीं की कन्या

वासवदत्ता का हरण वत्सराज उदयन ने किया था।

प्रमथ--1. महादेव जी के मुख की फेन से बतीस करोड़ प्रमथों की सृष्टि हुई है। 2. महादेवी जी के खेल-कूद और विहार में सहायता देने वाले उनके गण। ये सब विचित्र आभरणों से अलंकृत, जटाजूट और अर्धचन्द्र धारण किए हुए उजले वृष पर चढ़े हुए उमाके समान सुन्दरी कामिनियों को साथ पार्वती और महादेव के पीछे-पीछे उनके विहार में साथ रहते हैं और जब महादेव-पार्वती जी एकान्त विहार करते हैं तब ये द्वार की रक्षा करते हैं। 3. शिव के पार्षद जो हास्य रस के अधिष्ठाता देवता कहलाते हैं।

प्रमद-वन--रनिवास की फुलवारी।

प्रमोद-वन--आनन्द या विहार करने का उपवन।

प्रलय--1. सम्पूर्ण सृष्टि का विनाश। यह चार प्रकार से होता है--नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत और आत्यन्तिक-

नित्यं नैमित्तिकं चैव प्राकृतात्यन्तिको तथा।

नित्यं संकीर्त्यते नाम्ना मुनिभिः प्रति संचर।।

लोक में जो बराबर क्षय हुआ करता है वह नित्य प्रलय है। कल्प के अन्त में तीनों लोकों का जो क्षय होता है वह नैमित्तिक या ब्राह्म प्रलय कहलाता है। जिस समय प्रकृति के महादादि विशेष तत्त्व विलीन हो जाते हैं वह प्राकृतिक प्रलय कहलाता है। ज्ञान की पूर्णावस्था प्राप्त होने पर ब्रह्म या चित्त में लीन हो जाना आत्यन्तिक प्रलय है।

प्रवेशक--नाटक में वह स्थल जहाँ कोई पात्र अपने वार्तालाप-द्वारा दो अंकों के बीच की घटना का परिचय देता है।

प्रवाल--1. लाल रंग का मूँगा। 2. पत्तों-की कोपलें।

प्राग्न्योतिष—असम (आसाम) देश, जो भारतवर्ष में पूर्व की ओर अवस्थित है।

प्राणायाम—नाक से प्राणवायु को भीतर खींचना (पूरक), रोकना (कुंभक) और बाहर निकाल देना (रेचक) प्राणायाम कहलाता है। इसका नियम यह है- यदि 32 गिनते हुए साँस भीतर खींची जाय तो 64 तक गिनकर उसे रोक रखना चाहिए और 16 गिनकर उसे धीरे-धीरे छोड़ना चाहिए। साँस खींचते या छोड़ते हुए शीघ्रता नहीं करनी चाहिए अन्यथा बड़ी हानि होती है और अनेक रोग हो जाते हैं।

प्रियंगु—एक प्रकार की सुगन्धित जड़ी, जिसे संस्कृत में फलिनी और पीता भी कहते हैं। यह भारत के पश्चिमी तट के देशों में और श्रीलंका, सिंगापुर, जावा, सुमात्रा, मलाया में होती है। इसका फल मीठा होता है।

प्रियाल—इसे संस्कृत में अखट्ट, स्नेहबीज, तापस-प्रिय भी कहते हैं। इसी का बीज चिरौंजी कहलाता है। इसका वृक्ष विन्ध्य के जंगलों में होता है। इसमें से बढ़िया गोंद भी निकलता है।

ब

बकुल—मौलसिरी का पेड़। इसके फूलों की सुगन्धि बड़ी भीनी होती है। यह भारत के प्रायः सभी स्थानों में पाया जाता है। इसकी छाल के लाल रस से रेशमी और सूती कपड़े रंगे जाते हैं। यह गर्मी में फूलता है और इसके फल पकने पर स्वादिष्ट लगते हैं।

बड़वानल—एक बार महर्षि और्य अयोनिज पुत्र की इच्छा से अपना वक्षस्थल मथने लगे। इससे जो ज्वालामय पुरुष उत्पन्न हुआ उसने पिता से प्रार्थना की कि मैं भूख से व्याकुल हूँ, मुझे जगत् भक्षण करने की आज्ञा मिले। ब्रह्मा जी यह सुनकर और्य के पास गए और उनसे कहा कि अपने पुत्र को सँभालिए। और्यने कहा-आप ही कुछ उपाय निकालिए। ब्रह्मा बोले- समुद्र में इन्द्रपत्नी वडवा के

मुख में इसका वास होगा और समुद्र के जल रूपी हवि से इसकी भूख मिटेगी और यह वडवानल कहलायेगा। सृष्टि के अन्त में यही वडवानल देवासुरों को भक्षण कर जायगा।

बदरिकाश्रम—हिमालय पर्वत पर कण्वा-श्रम और नन्द पर्वत के बीच वैष्णव तीर्थ है जहाँ नरनारायण अर्जुन ने तपस्या की थी और श्रीकृष्ण भी उनके साथ थे। (देखो नर-नारायण)

बन्धुजीव—(बन्धूक) दुपहरिया का फूल। दुपहरिया का पौधा। इसका फूल चार प्रकार का होता है—नीला, श्वेत, पीला और लाल। छोटी कटोरी के आकार का यह अत्यन्त लाल फूल लगभग 6 से 10 इञ्च तक लम्बी शाखाओं में लगता है, पत्ते छोटे-छोटे और कोमल होते हैं, इसे संस्कृत में रक्तक, जीवन, बन्धूक, बन्धुल, माध्यन्दिन, हरिप्रिय, रक्तपुष्प और ओष्ठपुष्प भी कहते हैं।

बन्धूक—(देखो बन्धुजीव)

बलराम—श्रीकृष्ण जी के बड़े भाई जो रोहिणी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। वासुदेव की पत्नी रोहिणी गोकुल में रहती थी। जब देवकी को कारावास में सातवाँ गर्भ हुआ तब महामाया ने कंस के भय से वह गर्भ रोहिणी के उदर में पहुँचा दिया। इसी गर्भ के संकर्षण के कारण उनका नाम संकर्षण भी पड़ा। उनका नाम बलदेव था। 'बलेन दीव्यतीति बलदेवः।' शेषनाग के अंश से जन्म लेने के कारण इन्हें शेषावतार, हल धारण करने के कारण हली, नीला वस्त्र पहनने के कारण शितिवास भी कहते हैं। इनकी पत्नी का नाम रेवती था। गर्ग मुनिने इनका नामकरण किया था और सान्दीपनि मुनि इनके गुरु थे। यदुकुल ध्वंस हो जाने पर जब इन्होंने योगासन साधा तब इनके शरीर में से सहस्र लाल फणों वाला बड़ासा श्वेत सर्प निकलकर समुद्र में चला गया। कुरुराज दुर्योधन इनका शिष्य था। इनका ध्यान इस प्रकार किया जाता है-

बलदेवं द्विबाहुश्च शंखकुन्देन्दु-सन्निभम् ।

वामे हलायुधधरं मुसलं दक्षिणे करे ॥

हलालीलं नीलवस्त्रं हेलान्तं स्मरेत्परम् ।

बला--(विद्या) यह विद्या ब्रह्मकन्या मानी जाती है। विश्वामित्र ने राम को यह विद्या सिखाई थी जिसके प्रभाव से युद्ध में योद्धा को भूख प्यास नहीं लगती थी। बला और अति-बला विद्या समस्त ज्ञान की मातृस्वरूपिणी है। (देखो अतिबला)।

बलि--1. देवता, पितर यक्ष, भूत प्रेत आदि के निमित्त किसी विशेष स्थान पर किसी विशेष कामना से जो चढ़ाया जाता है। उसे काम्यबलि कहते हैं। 2. किसी देवता के लिये किसी विशेष उद्देश्य से किसी जीवका यज्ञ में जो वध किया जाता है उसे भी बलि कहते हैं। दक्षिणमार्गी लोग कूष्माण्ड आदि काटकर बलि चढ़ा देते हैं। 3. प्रह्लाद के पौत्र, विरोचन के पुत्र तथा पाताल के राजा बलि जिन्हें बाँधने के लिये स्वयं विष्णु भगवान् ने वामन रूप धारण किया था। बलि ने अश्वमेध यज्ञ करके जब बहुत दान देना प्रारम्भ किया तब विष्णु भगवान् वामनरूप धारण करके वहाँ आए और उन्होंने तीन पैर भूमि माँगी। शुक्राचार्य तत्काल पहचान गए और बलि को दान देने से रोकने लगे किन्तु बलि ने कहा--मैं वचन दे चुका हूँ। मैं अवश्य दान दूँगा। तब शुक्राचार्य ने शाप दिया कि मेरे वचनों की अवज्ञा करने के कारण तू श्रीभ्रष्ट हो जा। किन्तु बलिने अविचलित होकर विष्णु की पूजा की और कहा--भूमि माप लीजिए। विष्णु भगवान् बढ़ने लगे और उन्होंने एक पैर से समस्त भूमि, शरीर से आकाश, दोनों भुजाओं से दिशाओं को और दूसरे पैर से स्वर्ग को नाप लिया--तीसरे पैर के लिये कोई स्थान नहीं मिला। तब विष्णु ने कहा--तुम्हारे वचन पूर्ण नहीं हुए इसलिये तुम नरक जाने की तैयारी करो। बलि बोले--मैं असत्य नहीं बोलता। आपने स्वयं कपट रूप धारण किया है। अतः, तीसरा चरण

मेरे मस्तक पर रख लीजिए। विष्णु बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा--मैं तुम्हें वह स्थान दूँगा जो देवताओं को भी अप्राप्य है। तुम विश्वकर्मा द्वारा बनाए हुए सुतल में जाकर रहो, मैं कौमोदि की गदा से तुम्हारी रक्षा करूँगा और तभी से विष्णु भगवान् बलि के यहाँ द्वारपाल बनकर रहते हैं।

बाज--मटमैले रंग का काली पीठ और लाल आँखों-वाला चील से छोटा एक शिकारी पक्षी जो आकाश में उड़ती हुई चिड़ियों को झटपट पकड़ लेता है। पक्षियों का शिकार करने वाले इसे पालते हैं। संस्कृत में इसे श्येन कहते हैं।

बारहसिंगा--हरिण की जाति का एक पशु जो तीन-चार फुट ऊँचा और 7-8 फुट लम्बा होता है। नर-हरिण की सींगों में कई शाखाएँ निकलती हैं इसी से यह बारहसिंगा कहलाते हैं। इन सींगों पर कोमल चमड़ा रहता है जो प्रति वर्ष फाल्गुन या चैत्र में उतर जाता है और सींग में-से एक नई शाखा निकल आती है जो क्वार, कार्तिक तक पूरी बढ़ जाती है। मादा के सींग नहीं होते। चैत्र-वैशाख में बच्चा देती है।

बालखिल्य (ऋषि)--ब्रह्मा के रोमकूप से उत्पन्न होने वाले सहस्र मुनि जो डीलडौल में अँगूठे के बराबर हैं (महाभारत विष्णुपुराण)। ये सब बड़े तपस्वी और ऊर्ध्वरेता हैं और क्रतु की भार्या सन्तति के गर्भ से उत्पन्न हुए हैं। ये सूर्य को मार्ग दिखाते चलते हैं।

बाली--मेरु पर्वत पर योगाभ्यास करते समय ब्रह्मा की आँख से सहसा आँसू की बूँद टपकने से ऋक्षराज नामका बानर नामक मनुष्य जाति का पुरुष उत्पन्न हुआ जिसे ब्रह्मा ने सुमेरु पर्वत पर फल-फूल खाने और अपने पास रहने को कहा। एक दिन यह बानर प्यास के मारे सुमेरु के सरोवर में अपनी छाया देखकर सोचने लगा--यह मेरा शत्रु है। वह झट पानी में कूद पड़ा और निकलने पर

सुन्दर स्त्री बन गया। इन्द्र और सूर्य उस पर मोहित हो गए। इन्द्र ने उसके मस्तक पर और सूर्य ने उसकी ग्रीवा पर अपना तेज छोड़ा। इसी इन्द्र के तेज से बाली का जन्म हुआ और सूर्य के तेज से सुग्रीव। कुछ दिन में वह फिर पुरुष बानर हो गया और दोनों पुत्रों को लेकर ब्रह्मा के पास पहुँचा। ब्रह्मा ने उन दोनों पुत्रों को किष्किन्धा में राज्य करने की आज्ञा दी जहाँ विश्वामित्र ने एक सुन्दर नगरी वसा रखी थी। अपनी रानी तारा के साथ बाली और अपनी स्त्री रूमा के साथ सुग्रीव वहाँ रहने लगे। एक दिन वहाँ दुन्दुभि का पुत्र मायावी नामक एक दैत्य आया। इससे लड़ता हुआ बाली पर्वत की गुफा में घुस गया। जब बहुत दिन बीत जाने पर भी बाली नहीं लौटा और उस खोह में से रक्त की धार निकली तब सुग्रीव ने समझा कि बाली मारा गया। वह गुफा के द्वार पर एक पत्थर रखकर किष्किन्धा का राजा हो गया और उसने तारा से विवाह कर लिया। जब बाली लौटा तो उसने राज्य भी छीन लिया और अपनी पत्नी के साथ-साथ सुग्रीव की पत्नी भी छीन ली। डर के मारे सुग्रीव मतंग के आश्रम में ऋष्यमूक पर्वत पर जाकर रहने लगा। उसी बीच एक बार रावण भी उसे हराने के लिये उसके पास जा पहुँचा। तब रावण को काँख में दबाकर बालि संध्या क्रिया करता रहा। इसी समय एक दिन अवसर पाकर रावण काँख से खिसककर भाग निकला। सीता को ढूँढ़ते हुए जब राम वहाँ पहुँचे तब उन्होंने सुग्रीव से मित्रता की और बाली का वध करके वहाँ का राज्य सुग्रीव को दे दिया। बाली का पुत्र अंगद भी बड़ा पराक्रमी और बुद्धिमान् था। उसने राम-रावण युद्ध में राम की बड़ी सहायता की।

बिसुए—पैर की उँगलियों में पहने जाने-वाले घुँघरूदार आभूषण जो चलने के समय बजते हैं।
नूपुर।

बिम्बा—कुँदरू नाम का फल जो पकने पर

गहरा लाल हो जाता है। इसकी उपमा सुन्दरियों के ओठ से दी जाती है।

वीरबधूटी—बरसात में सहस्त्रों की संख्या में निकलकर रेंगने वाला एक कीड़ा जिसका ऊपरी भाग गहरे लाल रंग के मखमली रोएँ से ढंका होता है। इसे इन्द्र बधू, वीरबधूटी और राम-की गुड़िया भी कहते हैं।

बुध—नवग्रह में चौथा ग्रह। कहा जाता है कि चन्द्रमा ने देवगुरु बृहस्पति की पत्नी तारा को हर लिया था। ब्रह्मा तथा देवर्षियों ने चन्द्रको बहुत समझाया पर वह नहीं माना। दैत्यों के गुरु भी चन्द्र के सहायक हुए और उनके कारण सभी प्रधान दानव भी चन्द्र के पक्ष में आ गए। बृहस्पति और चन्द्र में बड़ा युद्ध हुआ किन्तु ब्रह्मा के बीच-बचाव करने से बृहस्पति को तारा दिला दी गई। किन्तु वह गर्भिणी थी। बृहस्पति ने कहा कि हमारे क्षेत्र में दूसरे का पुत्र धारण करना तुम्हें उचित नहीं है। यह सुनकर तारा ने मूँज की झाड़ी में वह गर्भ गिरा दिया जिससे अत्यन्त तेजस्वी बुध उत्पन्न हुए। जब देवताओं ने तारा से पूछा कि यह संतान किसकी है तब तारा ने लज्जित होकर कहा—चन्द्र की। इस पर प्रसन्न होकर चन्द्र ने बुध से कहा—तू बुद्धिमान् है इसलिये तेरा नाम बुध है। इस ग्रह का रंग दूब के समान गहरा हरा है। रवि और शुक्र इसके मित्र हैं, चन्द्र शत्रु हैं। इसकी आकृति धनुष के समान है। यह 28 दिन में एक राशि का भोग करता है। बुध के नवांश में उत्पन्न होने वाला बालक स्थूल, धीर, साँवला, दयालु, राजसेवी, प्रसन्न, चतुर, कुलपालक, अनेक वेशधारी तथा रक्ताक्ष होता है। 12वें अंश में उत्पन्न मनुष्य शास्त्रज्ञ, सुखी दीर्घायु और बुद्धिमान् होता है। 13वें अंश में उत्पन्न मनुष्य अत्यन्त ऐश्वर्यशाली, सुखी तथा धनी होता है। कुछ लोगों का मत है कि बुध की माता का नाम रोहिणी है।

ब्रह्म—सत्त्व, रज और तम गुणों से परे, विशुद्ध, चित्-स्वरूप, चैतन्य-स्वरूप ब्रह्म या ज्ञानमय महान्त परमात्मा जो सम्पूर्ण सृष्टि का कारण है, वही केवल सत्य है।

ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, संन्यास, इन चार आश्रमों में से पहला आश्रम। पहले 25 वर्ष तक ब्रह्मचर्य धारण करके गुरुकुल में विद्याध्ययन करते थे। अष्टांग मैथुन से बचना ही इसकी विशेषता है। आठ मैथुन ये हैं—स्मरण, कीर्तन, केलि, प्रेक्षण, गुह्यभाषण, संकल्प, अध्यवसाय, क्रियानिवृत्ति।

ब्रह्मतेज—ब्राह्मण की तपस्या का तेज।

ब्रह्मर्षि—ब्राह्मण ऋषि।

ब्रह्मावर्त—कुरु, मत्स्य, पांचाल सू (शू) रसेन देश, सरस्वती और दृषद्वती नदियों के बीच का देश। देवनिर्मित होने के कारण यह देश अत्यन्त पवित्र माना जाता था और यहीं की ब्राह्मण आदि जातियों का आचरण ही सदाचार कहलाता था।

ब्रह्मास्त्र—एक विशेष प्रकार का सब अस्त्रों में श्रेष्ठ अमोघ अस्त्र जो मंत्र से पवित्र करके चलाया जाता था।

भ

भगीरथ—अंशुमान् के पौत्र और दिलीप के पुत्र। कपिल के शाप से जब सगर के साठ सहस्र पुत्र भस्म हो गए तब उनका उद्धार करने के लिये गंगा को ये पृथ्वी पर लाए, इसीलिये गंगा का नाम भगीरथी भी है।

भद्रकाली—दुर्गा की एक विशेष मूर्ति जो सोलह हाथ वाली है, जिन्होंने महिषासुर को मारकर उसे सदा अपनी चरणों पर रहकर पूजित होने का वरदान दिया था। (कालिकापुराण)

भद्रपीठ—राजसिंहासन या वह सिंहासन जिस पर बैठकर राजा या देवता का अभिषेक किया जाता है।

भरत-वाक्य—नाटक के अन्त में मंगलात्मक

आशीर्वाद या कामनात्मक-कथन।

भागीरथी—(देखो गंगा और भगीरथ)।

भिद्य—एक नदी।

भुजबन्ध—भुजाओं में पहना जाने वाला विजायट या 'अनन्त' नामक आभूषण। यह आभूषण स्त्री और पुरुष दोनों पहनते हैं। इसे बाजूबंद, केयूर और अंगद भी कहते हैं।

भुवन—भू भुवः स्वः महः जनः तपः और सत्य ये सात स्वर्गलोक और अतल, सुतल, वितल, गभस्तिमत, महातल, रसातल, पाताल। ये पाताल लोक हैं।

भूत—मरने के पश्चात् दुष्ट या अतृप्त मनुष्य का आत्मा प्रेत-योनि में जाकर अनेक प्रकार के उपद्रव करता है और लोगों को कष्ट पहुँचाता है। उसकी औषध इस प्रकार है। श्वेत अपराजिता के मूल को चावल के धोये हुए पानी में पीसकर उसी का नस्य लेने से भूत का उपद्रव शान्त हो जाता है। मिर्च के साथ अगस्त्य पुष्प का नस्य भी भूत के उपद्रव को शांत करता है।

भृगु—1. भगवान् रुद्र ने वारुणी मूर्ति धारण करके एक यज्ञ का अनुष्ठान किया—इस यज्ञ को देखने के लिये तप, यज्ञ, दीक्षा, व्रत, दिक्पति, देवकन्या तथा देवपत्नी आई थीं। ब्रह्मा उस समय आहुति दे रहे थे। वारुणी को देखकर ब्रह्मा का वीर्य स्खलन हो गया। सूर्य ने वीर्य को अग्नि में फेंक दिया। ब्रह्मा का वीर्य अग्नि में आहुति होते ही उसकी शिखा से भृगु, सधूम अंगारे से अंगिरा, निर्धूम अंगारे से कवि की उत्पत्ति हुई। महादेवजी ने कहा—यज्ञ का अधिष्ठाता मैं हूँ। ये तीनों पुत्र मेरे हैं। यह सुनकर अग्नि ने कहा कि ये मेरे अंग से उत्पन्न हुए हैं अतः मेरे पुत्र हैं। ब्रह्मा ने कहा—मेरे वीर्य से इनकी उत्पत्ति हुई अतः ये मेरे पुत्र हैं। तब सब देवों ने मिलकर इस झगड़े का इस प्रकार निपटारा किया। भृगु महादेव को, अंगिरा

अग्नि को और कवि ब्रह्मा को दे दिए गए। (भारत अ० पर्व) 2. ये ब्रह्मा के मानस पुत्र और दस प्रजापतियों में से एक हैं। दक्ष की कन्या ख्याति के साथ इनका विवाह हुआ। इनके गर्भ से लक्ष्मी नाम की कन्या तथा धाता और विधाता नाम के दो पुत्र हुए। महात्मा मेरु की आयति और नियति नाम की दो कन्याओं के साथ इन दोनों पुत्रों का विवाह हुआ। धीरे-धीरे इनका वंश विस्तृत होकर भार्गव नाम से प्रसिद्ध हुआ। भृगु धनुर्विद्या के प्रवर्तक भी थे।

भृङ्ग—1. भृङ्गी, अंजनहारी या बिलनी नाम का कीड़ा। यह अन्य कीड़ों को पकड़कर उनके सामने गूँजता हुआ उन्हें भी अपने समान बना लेता है। 2. इन्द्र आदि देवताओं ने तारकासुर के वध के लिये महादेव से उमा के गर्भ और महादेवजी के औरस से एक पुत्र की प्रार्थना की। महादेवजी ने उसे स्वीकार करके उमा के साथ महासुरत क्रीडा प्रारम्भ कर दी। इस प्रकार 32 वर्ष बीत जाने पर सब देवता घबरा उठे। अत्यन्त भयभीत होकर ये ब्रह्मा के पास गए और कहा कि इस महासुरत क्रीडा से उमा के गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होगा वह हम लोगों के लिये तारकासुर से भी बढ़कर भयावह होगा। तब ब्रह्मा ने इन्द्र और देवताओं के साथ महादेवजी के पास जाकर प्रार्थना की। महादेवजी ने महासुरत क्रीडा त्यागकर इन देवों से आने का कारण पूछा। देवताओं ने कहा—महाराज! आपकी इस महासुरत क्रीडा से तीनों लोक काँप गए हैं। अतः आप महामैथुन त्यागकर रति मात्र का अवलम्बन कीजिए। महादेवजी ने कहा—यह सब मैं आप ही लोगों के लिये कर रहा हूँ फिर भी आप लोगों के कहने से उस महामैथुन का परित्याग कर दूँगा। आप लोग इस महामैथुन प्रसूत तेज को धारण कर सकने वाले एक देवता को आदेश दीजिए। तब देवों ने अग्नि को तैयार किया और महादेव जी ने अग्नि में अपना तेज छोड़ा।

अग्नि में छोड़े गए महादेवजी के तेज में से दो परमाणु के बराबर तेज पर्वत के शिखर पर जा गिरे। उससे दो पुत्र उत्पन्न हुए। उसमें से एक भौरि के समान कृष्ण वर्ण का था। अतः उसका नाम ब्रह्मा ने भृङ्गी रक्खा और दूसरा मले हुए अंजन जैसा काला था, अतः उसका नाम महाकाल पड़ा। महादेवजी ने उन दोनों का पालन प्रथम आदि गणों-द्वारा कराया और अपर्णा ने विशेष यत्न से उनका पालन किया। बाद में महादेवजी ने इस दोनों को गणाधिपति बनाकर द्वार पर नियुक्त कर दिया।

—(कालिका पुराण)

भेद—साम, दाम, दण्ड और भेद नामके शत्रु को वश में करने के चार उपायों में से चौथा, जिस उपाय के द्वारा शत्रु-दल में से किसी को फोड़कर अपने दल में मिला लिया जाय।

भोजपत्र—एक प्रकार के मझोले आकार के वृक्ष की छाल, जो हिमालय पर बहुत होता है।

म

मगध—वाराणसी से पूर्व का प्रदेश। वर्तमान बिहार ही मगध है। तीर्थयात्रा के अतिरिक्त यहाँ आना निषिद्ध है।

मगरमच्छ—1. मगर या घड़ियाल नामका प्रसिद्ध जलजन्तु। (दि० घड़ियाल) 2. एक बड़ी मछली।

मंगलसूत्र (रक्षा-सूत्र)—वह तागा जो किसी शुभ अवसर पर कल्याण के लिये देवता के प्रसाद के रूप में हाथ में बाँधा जाता है।

मंगलाचरण—जो गीत-पाठ किसी शुभ-कार्य के पहले किया जाता है। ग्रन्थ लिखने के पहले इसीलिये मंगल किया जाता है कि उसकी निर्विघ्न समाप्ति हो। “समाप्तिकामो मंगलमाचरेदिति श्रुतिः।” कार्यारम्भ, कार्यमध्य, कार्यसमाप्ति, इन तीनों में भी मंगल हो सकता है फिर भी कार्यारम्भ में मंगल करना शोभन होता है।

मऊजरी—1. छोटे पौधे या लता आदि की नई निकली हुई कलियाँ तथा कोंपलें। 2. कुछ विशेष वृक्षों में एक सींके में लगे हुए बहुत से छोटे-छोटे फूलों का समूह जैसे तुलसी, महुआ, आम आदि में।

मणिबन्ध—हाथ की कलाई या कलाई में जो आभूषण पहना जाता है उसे मणिबन्ध कहते हैं।

मंडल—चन्द्र-सूर्य के चारों ओर पड़ने वाले घेरे।

मर्तग—(ऋषि)—एक ऋषि जो ब्राह्मण स्त्री के गर्भ से और नापित के वीर्य से उत्पन्न हुए थे। ब्राह्मण ने अपना ही औरस समझकर इनका जन्मजात संस्कार किया। पिता के कहने पर एक दिन ये यज्ञीय सामान लेने के लिये गधे पर चढ़कर गए। इधर-उधर चलने के कारण उस गधे को इन्होंने खूब पीटा। उस गधे की माता गधी ने उसकी चोट देखकर कहा कि यह ब्राह्मण का लड़का नहीं है यह शूद्र का लड़का है क्योंकि ब्राह्मण इतना निर्दयी नहीं होता। यह सुनकर इन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसी दिन ये ब्राह्मणत्व प्राप्त करने के लिये तपस्या करने लगे। इन्द्र ने बार-बार आकर वरदान देने को कहा पर इन्होंने ब्राह्मणत्व के अतिरिक्त दूसरा वर नहीं माँगा। इन्द्र ने यह वर देने में अपनी असमर्थता प्रकट की। अन्त में इन्होंने यह वर माँगा कि मुझे ऐसा बना दीजिए जिसकी सभी वर्ण वाले पूजा करें। इन्द्र ने यही वर दिया और वे छन्दोदेव के नाम से प्रसिद्ध हुए।

मद—हाथियों के गंडस्थल से बहने वाला रस।

मंदार—मदार या आक, इसका पौधा बालुकामय प्रदेश में प्रायः पाया जाता है। बरसात में इसकी पत्तियाँ झड़ जाती हैं। इसका दूसरा नाम अकवन या आक भी है। महादेवजी पर इसका फूल चढ़ाया जाता है। कल्पवृक्ष को भी मंदार कहते हैं।

मध्यमा—पाँचों अँगुलियों के बीच वाली उँगली।

मध्यम लय—गीत के वह लय जो न अति तीव्र हो न अति मन्द।

मध्यलोक—पृथ्वी। यह स्वर्ग और पाताल के बीच में पड़ती है इसी से इसे मध्यलोक कहते हैं।

मनःशिला—(देखो मैनसिल)

मनु—ब्रह्मा के पुत्र और मानव जाति के आदि पुरुष जो प्रजापति और धर्मशास्त्र-वक्ता होते हैं। प्रत्येक कल्प में 14 मनु होते हैं—स्वयाम्भुव, स्वरोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्ष सावर्णि, ब्रह्म-सावर्णि, धर्म-सावर्णि, रुद्र-सावर्णि, देव-सावर्णि और इंद्र-सावर्णि। इस समय वैवस्वत मनु का युग चल रहा है। ये सातवें मनु विवस्वान् के पुत्र श्राद्धदेव हैं। इनके पुत्र इच्चाकु, नभग, धृष्टशर्याति, नरिष्यन्त, नाभाग, दिष्ट, करुष, ध्रुषप और वसुमान् हैं।

मंत्र—मन्त्र्यते गुप्तं परिभाष्यते इति मंत्रः। ऐसे वचन या शब्दसमूह जिनके जप या उच्चारण से कोई कार्य सम्पन्न किया जाय। मंत्र केवल अधिकारी को ही सिखाया जाता है। अतः, इसे मंत्र कहते हैं। मंत्र, तंत्र और यंत्र में सबसे अधिक शक्तिशाली मंत्र ही माना जाता है। आह्निक तत्व में लिखा है—“मननात् त्रायते यस्मात्तस्मान्मंत्रः प्रकीर्तितः।” जिसके मनन से रक्षा हो उसे मंत्र कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को मंत्र से दीक्षित होना चाहिए। अदीक्षित के हाथ का अन्न विष्ठा के समान और जल मूत्र के समान है और उनका किया हुआ सब कार्य निष्फल समझा जाता है। मन्त्र किसी सात्त्विक विद्वान् ब्राह्मण से लेना चाहिए तभी सफल होता है।

मंदराचल—वह पर्वत जिसे कच्छप की पीठ पर खड़ा करके क्षीरसागर मथा गया था। यह पर्वत 11 सहस्र योजन नीचे गड़ा हुआ था। विष्णु के कहने पर वासुकि इसे उखाड़ लाए और उन्होंने समुद्र मथने के समय मथानी बनाकर उसे ला खड़ा किया।

मन्दाकिनी—1. नदी जो चित्रकूट के पास

होकर बहती है। यह चित्रकूट पर्वत से ही निकली है। 2. स्वर्गंगा, इसकी लम्बाई 10 सहस्र योजन और चौड़ाई 1 योजन है। इसका जल दूध के समान उजला और ऊँची लहरों वाला है। यह धारा बैकुण्ठ से होती हुई स्वर्गलोक तक चली गई है।

मन्दार—एक देववृक्ष विशेष। यह वृक्ष बहुत जल्दी बढ़ता है। इसका आकार मध्यम होता है। इसके उगने के समय काँटे रहते हैं। बड़े हो जाने पर काँटे झड़ जाते हैं। यह वृक्ष भारत में पान की लता तथा मिर्च वृक्ष के चारों ओर फेरने के काम आता है। यह पित्तनाशक है। इसके काजल से आँख के सभी प्रकार के रोग नष्ट हो जाते हैं। इसका रस कृमिनाशक तथा रेचक है तथा कान, दाँत के मसूड़े की पीड़ा में लाभ पहुँचाता है।

मरकत—मणि विशेष। (देखो पत्रा)

मरीचिका—मृगतृष्णा। जल या जल की लहरों की वह मिथ्या प्रतीति जो कभी-कभी मरुभूमि में कड़ी धूप पड़ने के समय होती है। गर्मी के दिनों में जब वायु की तहों का घनत्व उष्णता के कारण असमान होता है तब पृथ्वी के निकट का वायु अधिक गर्मी से ऊपर उठना चाहता है, परन्तु ऊपर वाली तहें उसे उठने नहीं देतीं। इसी कारण उस वायु की लहरें पृथ्वी के समानान्तर बहने लगती हैं। ये ही लहरें दूर से देखने पर जल की धारा-सी दिखाई पड़ने लगती हैं। मृग इससे प्रायः धोखे में आकर उसे पीने के लिये दौड़ते हैं। इसी से इसे मृगतृष्णा, मृगजल और मृग-मरीचिका भी कहते हैं।

मलयवायु—दक्षिण दिशा का वायु। दक्षिण के नीलगिरि के चन्दन वृक्ष की सुगन्ध लेकर यह वायु बहता है।

मलयदुर्ग—पश्चिमी घाट की दो पहाड़ियाँ जो कावेरी के दक्षिण में पड़ती हैं।

मलयाचल—मलय पर्वत।

मल्लिका—बेले का फूल। जिस समय महादेवजी

का ध्यान तोड़ने के लिये कामदेव आए तो महादेवजी ने अपने तृतीय नेत्र से उसे जला डाला। कामदेव के भस्म होते ही उसका धनुष्-बाण पृथ्वीपर गिरकर पाँच भागों में बँट गया। इसी धनुष् की मूठ से मल्लिका आदि वृक्षों की उत्पत्ति हुई। (वामनपुराण 6 अ०)

महाकाल—उज्जयिनी नगरी में शिप्रा के पूर्व पिशाचमुक्तेश्वरघाट के दक्षिण महाकाल का विशाल मन्दिर है। महाकाल के दर्शन से करोड़ों अश्वमेध। यज्ञों का फल होता है।

महाकालं ततो गच्छेत् नियतो नियताशनः।

कोटितीर्थमुपस्पृश्य हयमेघफलं लभेत्॥

कालिकादेवी की पूजा के पश्चात् दाहिनी ओर महाकाल की पूजा का विशेष माहात्म्य है। ध्यानपूर्वक महाकाल का मंत्र जपने से सब प्रकार की सिद्धि होती है—मंत्र है—हूँ क्षौं कां रां लां वां क्रौं महाकाल भैरव सर्वविघ्नान् नाशय नाशय हीं फट् स्वाहा—

महाकालं यजेद् यत्नात् पश्चाद्देवीं प्रपूजयेत्।

महाकोशी—एक नदी का नाम।

महामणि—एक मूल्यवान् रत्न।

महेन्द्र—एक पर्वत। यह सात अच्छे पर्वतों में गिना जाता है। हनुमान्जी इसी पर्वत से उछलकर लंका गए थे। दक्षिण में तिन्नेवली के समीप इस पर्वतप्रान्त में त्रिचेनगुडी नगर गोपुरयुक्त सुन्दर मन्दिर से शोभित है तथा पश्चिम में तिरुवरांकूर और लन्दन मिशनरी सोसाइटी का प्राचीन आवास नागर-कोविल स्थित है। पर्वत पर कहवे की खेती के लिये जंगल का बहुत सा भाग काट दिया गया है।

मातलि—इन्द्र का सारथी।

मातापै—(सात)

ब्राह्मी माहेश्वरी चैन्दी रौद्री वाराहिकी तथा। कावेरी चैव कौमारी मातरः सम्प्रकीर्तिताः। ये ही

सात माताएँ हैं। एक पाठ यह भी है—

गौरी षष्ठाशची मेधासावित्री विजया जया।

देवसेना स्वधा स्वाहा मातरो लोकमातरः॥

माधवी—पुष्पलता। यह चमेली का एक भेद है। इसमें अच्छी गन्ध देने वाले पुष्प होते हैं।

मानसरोवर—हिमालय के उत्तर में कैलास पर्वत के दक्षिण भाग में अंजन नामक पर्वत के निकट वैद्युत प्रदेश में मानसरोवर पड़ता है। इसी से सरयू नदी निकली है। इसके किनारे वैभ्राज नाम का उपवन है। यहीं ब्रह्मपात नामका राक्षस रहता है। सिन्धु, शतद्रु, ब्रह्मपुत्र नदियाँ यहीं से निकलती हैं। ब्रह्मा ने 30 योजन विस्तृत इस सरोवर की स्थापना की थी। इसके अनुपम सौन्दर्य को देखकर ऋषियों ने इसे स्वर्ग कहा है।

माया—स्वप्न और इन्द्रजाल के समान जिसका फल अचिन्तनीय है उसको माया कहते हैं—

विचित्रकार्यकारणा अचिन्तितफलप्रदा।

स्वप्नेन्द्रजालवल्लोके माया तेन प्रकीर्तिता॥

प्रकृति, अविद्या, अज्ञान, प्रधान, शक्ति और अजा भी इसी को कहते हैं।

माया-मृग—सीता का हरण करने के लिये रावण ने अपने मामा मारीच को स्वर्णमृग बना कर भेजा था जिससे सीताजी उसकी खाल लेने के लिये मचल उठी। उसके पीछे-पीछे राम बहुत दूर निकल गए। अन्त में वह राम के हाथ से मारा गया। वह मारीच, सुन्द का औरस पुत्र, ताड़का राक्षसी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था।

मायूरी—संगीत में एक प्रकार की मूर्च्छना।

मारिष—नाटक का सूत्रधार अथवा श्रेष्ठ व्यक्ति।

मारीच—1. मरीचि के पुत्र कश्यप। 2. ताड़का का पुत्र (देखो माया-मृग)

माल—रीवाँ राज्य का वह प्रदेश जो नर्मदा नदी के उद्गम से प्रारम्भ होकर विन्ध्य के पास तक फैला

हुआ है।

मालती—एक प्रकार का श्वेत पंखड़ियों वाला फूल, जिसकी डण्ठल लगभग एक इञ्च की होती है। जब फूल झड़ जाते हैं तब वृक्ष के नीचे फूलों का बिछौना-सा बिछ जाता है। इसका पौधा वर्षा के प्रारम्भ में लगाया जाता है। पद्मपुराण में लिखा है कि गौरी, लक्ष्मी और श्रद्धा ये तीन देवियाँ ही धात्री, मालती और तुलसी वृक्ष के रूप में अवतरित हुई हैं। या अर्थात् लक्ष्मी से उत्पन्न होने के कारण इसका नाम मालती पड़ा। यह लता उद्यानों में लगाई जाती है और किसी बड़े पेड़ या मण्डप पर चढ़ा दी जाती है।

मालिनी—1. वनदेवी, जो पार्वतीजी की सखी थी। 2. नदी, जिसके तट पर महर्षि कण्व का आश्रम था और जो हिमालय की तराई में बहती है। उत्तर प्रदेश के विजनौर जिले में यह नदी गंगा से आ मिली है।

माल्यवान्—(पर्वत) महाराष्ट्र प्रदेश के रत्नागिरि जिले का एक भाग जिसके बीच में जंगलों से घिरी हुई पहाड़ियाँ हैं।

मिथिलापुरी—महाराज जनक की नगरी वर्तमान बिहार में जनकपुरी। (देखो जनक और निमि।)

मुग्धा—वह नायिका जिसको अपने यौवन के आगमन का ज्ञान न हुआ हो। इसके दो भेद हैं (1) स्वीया या स्वकीया (2) परकीया।

मुण्डन—16 संस्कारों में से एक संस्कार, जिसमें बालक का सिर मूँड़ दिया जाता है। यह संस्कार यज्ञोपवीत से पहले होता है।

मुरला—(नदी) नर्मदा का दूसरा भाग।

मुस्ता—(देखो नागरमोथा)

मूँज—एक प्रकार की घास जिसमें डंठल या टहनियाँ नहीं होतीं। जड़ से बहुत पतली-पतली

दो-दो हाथ लम्बी पत्तियाँ निकली रहती हैं। पत्ती के बीच में एक डोरा नीचे से ऊपर तक होता है। झाड़ी के बीच से एक पतली सी छड़ी निकलती है जिसके सिरे पर धूवे (कोमल भूरे गुच्छे) से फूल निकलते हैं। इसमें सरकंडे-सी गोंठें नहीं होतीं। ब्राह्मण के उपनयन के समय बालक को मूँज की मेखला पहनाई जाती है। मूँज की रस्सियाँ भी बनाई जाती हैं।

मूल-प्रकृति—आद्या शक्ति, जिसके सहारे पुरुष या ब्रह्म सृष्टि करता है। यह अविकृति है। अर्थात् मूल प्रकृति है। यह किसी से उत्पन्न नहीं होती, इसी से सब उत्पन्न होते हैं।

मृदंग—ढोलक से कुछ लम्बा एक बाजा जो पक्की मिट्टी का होने के कारण मृदंग कहलाता है। जब त्रिपुरासुर मारा गया तब उसके रक्त से पृथ्वी पर जो कीचड़ हो गया था उसी से ब्रह्मा ने मृदंग बनाया। उसी असुर के चमड़े से वह मढ़ा गया। नसों से उसके पूड़े और डोरियाँ तथा हड्डी से उसके गट्टे बना दिए गए। उसका विनाश करके जब महादेवजी नृत्य करने लगे थे तब गणेशजी ने उसी पर ताल दी थी। द्वापर में कृष्णलीला के समय से वह काठ का बनाया जाने लगा।

मेघनाद—रावण का पुत्र, वह मेघ में छिप कर युद्ध किया करता था। इसी से मेघनाद कहलाया। इसका नाम इन्द्रजित् भी है।

मेनका—अप्सरा, शकुन्तला की माता जिसने इन्द्र की आज्ञा से विश्वामित्र का तप भंग किया था।

मेना—पार्वती की माता और हिमालयराज की पत्नी। मेना पूर्व जन्म में दक्ष-कन्या सती की सखी थीं। जब सती ने दक्ष के घर प्राण छोड़ा तब मेना ने इस आशा से तपस्या की कि सती मेरी कन्या हो। भगवती काली तपस्या से प्रसन्न हुई और मेना के माँगने पर यह वर दिया कि तुम्हारे एक सौ बलवान्

पुत्र होंगे और मैं ही तुम्हारी कन्या हूँगी।

वामन पुराण में लिखा है कि आषाढ़ और मार्गशीर्ष (अगहन)-की अमावस्या को इन्द्र ने अपने पितरों को भक्ति के साथ जो पिंड दिया था उससे प्रसन्न होकर पितरों ने मेना नाम की मानसी कन्या उत्पन्न की जिसका विवाह देवताओं ने हिमालयराज से कर दिया।

मैनसिल—(मनःशिला) (1) एक प्रकार की धातु। यह मिट्टी की तरह पीली होती है और नेपाल के पहाड़ों में बहुतायत से होती है। इसे मनोज्ञा, नागजिह्वा, नैपाली शिला कल्याणिका, रोगशिला, मोला, दिव्यौषधि, कुनटी और मनोगुप्ता भी कहते हैं। इसकी उत्पत्ति लक्ष्मी के रज से मानी गई है।

मैना—काले रंग का एक प्रकार का प्रसिद्ध पक्षी। इसकी चोंच नारंगी लिए हुए पीली होती है। यह पक्षी बहुत सुन्दर न होने पर भी सिखाने पर मनुष्य की तरह मीठी बोली बोल सकता है। स्थान-भेद से मैना से आकृतिगत बहुत विलक्षणता देखी जाती है। जावा, सुमात्रा और पूर्व समुद्रस्थ सभी द्वीपों में, जो मैना पाई जाती है उसकी आकृति भारतीय पहाड़ी मैना से भिन्न है। इसे संस्कृत में सारिका कहते हैं।

मैनाक—पुराणानुसार एक पर्वत का नाम जो हिमालय का पुत्र माना जाता है। कहते हैं कि इन्द्र से डरकर यह पर्वत समुद्र में आ छिपा था। इस कारण यह अबतक सपक्ष है। लंका जाते समय समुद्र की आज्ञा से इसने हनुमान्जी को आश्रय देना चाहा था।

मोक्ष—जब आत्मा सब प्रकार के जन्म-मरण के बन्धनों से मुक्त हो जाता है, उस अवस्था को मोक्ष कहते हैं।

मोती—1. एक प्रसिद्ध बहुमूल्य रत्न, जो छिछले समुद्रों में अथवा रेतीले तटों के पास सीप में से

निकलता है।

मोथा—(घास) 1. मुस्तक, नागरमोथा नामक घास। 2. उपर्युक्त घास की जड़ जो औषधि की भाँति प्रयुक्त होती है। यह तृण जलाशयों में पैदा होता है। इसकी पत्तियाँ कुश की पत्तियों की तरह लम्बी-लम्बी और गहरे हरे रँग की होती हैं। इसकी जड़ बहुत मोटी होती है जिसे सूअर खोदकर खाते हैं।

(देखो मुस्ता)

मौलसिरी—(देखो बकुल) एक प्रकार का वड़ा सदाबहार पेड़। इसकी लकड़ी अन्दर से लाल होती है।

य

यजमान—1. वह जो यज्ञ करता हो। दक्षिणा आदि देकर ब्राह्मणों से यज्ञ, पूजन-आदि धार्मिक कृत्य कराने वाला। 2. वह जो ब्राह्मणों को दान देता हो। 3. महादेव की आठ मूर्तियों में से एक मूर्ति।

यज्ञ—जिसमें सभी देवताओं का पूजन, अथवा घृत आदि-द्वारा हवन हो उसे यज्ञ कहते हैं।

यज्ञशाला—यज्ञ स्थान। वह मंडप जहाँ यज्ञ होता है।

यज्ञोपवीत—यज्ञसूत्र, जनेऊ। यथा-विहित यज्ञ करके यह उपवीत पहनना होता है इसी से इसको यज्ञोपवीत कहते हैं। सोलह संस्कारों में से एक संस्कार है। इसका मूल उद्देश्य उपनयन अर्थात् संस्कार करके गुरु के पास विद्याध्ययन करने के लिये भेजना है। यह मन्त्र पढ़कर यज्ञोपवीत पहना और बदला जाता है—

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं

प्रजपतेयत्सहज पुरस्तात्।

आयुष्यगग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्र।

यज्ञोपवीतं बलमस्तु-तैजः।।

इस मन्त्र के परमेष्ठी मृषि, लिंगोक्ता देवता और त्रिष्टुप् छन्द है।

यम—1. संयम, मन, इन्द्रिय आदि को यश में

करना या रोके रखना। यम के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की साधना है। 2. भारतीय आर्यों के प्रसिद्ध देवता जो दक्षिण दिशा के दिक्पाल कहे जाते हैं। आजकल ये मृत्यु के देवता माने जाते हैं। पापी और पुण्यात्मा के पाप-पुण्य का विचारकर पापी को नरक में और पुण्यात्मा को स्वर्ग में भेजते हैं। ये धर्मराज भी कहलाते हैं।

यमराज—(देखो यम)

यमुना—1. उत्तर भारत में प्रवाहित यह पुण्यतोया नदी गढ़वाल राज्य के मध्य हिमालय शैल के यमुनोत्तरी शृङ्ग से ढाई कोस उत्तर और पाँचवाँदर शृङ्ग से चार कोस उत्तर-पश्चिम में प्रकट हुई है। हिमालय से लेकर प्रयाग तक अनेक नदियाँ इसमें आकर मिली हैं और प्रयाग में पहुँचकर त्रिवेणी संगम पर यह स्वयं भी गंगाजी में आ मिली हैं। 2. मार्कण्डेय पुराण में लिखा है कि यमुनाजी सूर्य की कन्या और यम की भगिनी हैं। यम और यमुना माता के गर्भ से यमज उत्पन्न हुए। इनका वर्ण काला था। कलिन्द पर्वत से उत्पन्न होने के कारण कालिन्दी या कलिन्दजा कहलाती हैं।

ययाति—राजा नहुष के एक पुत्र का नाम। महाभारत के अनुसार एक दिन ये शिकार खेलने जंगल में गए। वहाँ इन्होंने कुएँ में गिरी हुई शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी को देखा और उसे बाहर निकाल लिया। पीछे एक दिन शुक्र की कन्या देवयानी अपनी शर्मिष्ठा आदि दो सहस्र दासियों के साथ जल-विहार कर रही थी। इसी समय ये वहाँ गए और जल माँगने लगे। देवयानी से राजा ने कहा—मैं राजपुत्र हूँ, मेरा नाम ययाति है, मैं ब्रह्मचर्य धारण करके वेद का अध्ययन करता हूँ। शिकार करते-करते थक गया हूँ। देवयानी ने कहा—दो सहस्र कन्याओं और दासी शर्मिष्ठा की स्वामिनी मैं आपका वरण करना चाहती हूँ। ययाति

ने कहा, तुम ब्राह्मण-कन्या हो, मैं क्षत्रिय हूँ, विवाह कैसे हो सकता है? देवयानी ने यह वृत्तांत अपनी दासी के द्वारा अपने पिता शुक्र से कहला भेजा कि इन्होंने मेरा हाथ पकड़कर कुएँ से बाहर निकाला था। अतः आपसे प्रार्थना है कि मेरा विवाह इनके साथ करने की आज्ञा दें। शुक्राचार्य के कहने पर ययाति ने शर्मिष्ठा आदि दासियों वाली देवयानी से विवाह कर लिया और अपने घर लौटे। कुछ दिन बाद शर्मिष्ठा ने अपनी ऋतुरक्षा के लिये ययाति से प्रार्थना की। इसके फलस्वरूप शर्मिष्ठा को भी एक पुत्र उत्पन्न हुआ। देवयानी यह सुनकर बहुत क्रुद्ध हुई और उसने शर्मिष्ठ के पास जाकर कहा कि तुमने कामलुब्धा होकर घोर पाप किया है। परन्तु शर्मिष्ठा ने जब उसे बताया कि उसने एक ऋषि से अपनी ऋतुरक्षा कराई तब जाकर देवयानी प्रसन्न हुई। अन्त में जब पोल खुल गई तब देवयानी अपनी पिता के घर चली गई। पिता ने सारा समाचार सुनकर क्रुद्ध होकर ययाति को शाप दिया कि तुम्हें बुढ़ापा आ जायगा। राजा ने सहस्र वर्ष तक अपने पुत्र पुरु की जवानी लेकर यौवन का उपभोग किया।

यवन--राजा ययाति के शाप से तुर्वसु के वंशधर गण लोग सदाचारहीन होकर यवन जाति में मिल गए। राजा ययाति ने तुर्वसु को यह कहकर शाप दिया है--

यत्त्वं हृदयाज्जातो वयः स्वयं न प्रयच्छसि ।
तस्मात् प्रजा समुच्छेदं तुर्वसोस्तव प्राप्स्यसि ॥
संकीर्णाचारधर्मेषु प्रतिलोमचरेषु च ।
पिशिताषु चरत्येषु मूढ राजा भविष्यसि ॥
गुरुदारप्रसक्तेषु तिर्यग्योनिगतेषु च ।
पशुधर्मेषु पापेषु स्लेच्छेषु त्वं भविष्यसि ॥

(महाभारत 1।84।13-15)

इससे ज्ञात होता है कि स्लेच्छ और यवन दो जातियाँ हैं। तुर्वसु वंशीय गण यवन देश में बसने

के कारण सम्भवतः यवन और अनुके वंशधर स्लेच्छ कहलाए। यवन देशोद्भव होने के कारण इस जाति का नाम यवन पड़ा।

यदोस्तु यादवा जातास्तुर्वसोर्यवना स्मृताः ।

दुह्योः सुतास्तुवैभोजा अनेच्छु स्लेच्छजातयः ।

(भारत 1।84-85)

यवनी--यवन की या यवन जाति की स्त्री।
(देखो 'यवन')

युराज--राजा का वह राजकुमार जो उसके राज्य का उत्तराधिकारी हो। राजा का वह सबसे बड़ा पुत्र जिसे आगे चलकर राज्य मिलने वाला हो।

यूथिका--(देखो जूही)

योग--1. अपनी चित्तवृत्तियाँ संसार से हटाकर ईश्वर में लगा लेना योग कहलाता है। इसके आठ अंग या साधना के क्रम हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि। 2. अपने प्राण-वायु को शरीर के छहों चक्रों को भेदन करने वाली कुण्डलिनी के साथ ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचाकर कपाल भेदनकर निकाल देना ही योग-द्वारा शरीर-त्याग करना कहलाता है।

योगनिद्रा--युग के अवसान में विष्णु की निद्रा।

योगबल--वह शक्ति जो योग की साधना से प्राप्त हो।

र

रजोगुण--प्रकृति का वह स्वभाव जिससे जीवधारियों से भोग-विलास तथा दिखावे की रुचि उत्पन्न होती है। यह सांख्य के अनुसार प्रकृति के तीन गुणों में से एक है जो चंचलता और भोग-विलास आदि में प्रवृत्त करने वाला कहा गया है।

रति--कामदेव की पत्नी। यह दक्ष प्रजापति की कन्या मानी जाती है। दक्ष ने अपने शरीर के पसीने से उत्पन्न करके कामदेव को अर्पित की

थी।

रत्न—(देखो क्षीर-समुद्र)

रन्तिदेव—चंद्रवंशी राजा, जिसने प्रतिदिन दो सहस्र बैल तथा दूसरे पशु मारकर मांस-सहित अन्नदान किया था।

रसायन—जराव्याधिनाशक औषध जिसके सेवन से बुढ़ापा और रोग नष्ट हो जाता है। रस से भरा हुआ, रसीला मनोहर।

राक्षस—ब्रह्मा ने प्राणियों की रक्षा के लिये इनकी सृष्टि की थी। वे भूख-प्यास से व्याकुल होकर अपना कर्तव्य पूछने गए तब ब्रह्मा ने उन्हें मनुष्यों की रक्षा करने की आज्ञा दी। उनमें से कुछ ने 'रक्षामः' (रक्षा करेंगे) कहा वे राक्षस हो गए। कुछ ने 'यक्षामः' (यज्ञ करेंगे) कहा वे यक्ष हो गए। आगे चलकर ये रक्षक राक्षस ही भक्षक बन गए।

राजहंस—एक प्रकार का हंस होता है जो बरसात आने पर झुंड बाँधकर झीलों के तीर पर उड़ता फिरता है। इसे सोना-पक्षी भी कहते हैं।

राजहंसी—राजहंसी पक्षी की नारी।

राज्याभिषेक—ब्राह्मण लोग क्षत्रियों को वैदिक विधि के अनुसार राजदंड ग्रहण करने के लिये अभिषिक्त करने की प्रक्रिया।

रामगिरि—चित्रकूट पर्वत। कुछ लोग भूल से रामटेक या रामगढ़ को भी रामगिरि बताते हैं।

रावण—रुलाने वाले को रावण कहते हैं। यह ब्रह्मा के पौत्र विश्रवा का औरस तथा कैकसी का पुत्र था जो लंका का राजा था और सीता को हर ले गया था।

राशि—सम्पूर्ण खगोल बारह भागों में ज्योतिषियों ने बाँट दिया है। वे 12 भाग ये हैं— मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ, मीन।

रुद्र—(1) जगत् की सृष्टि करते समय ब्रह्मा

की भौंहों के बीच से क्रोध-रूप से रुद्रदेव की उत्पत्ति हुई थी। भागवत के अनुसार उनकी संख्या 11 है— अज, एकपाद, अहिर्वृक्ष, पिनाकी अपराजिता, त्र्यम्बक, महेश्वर, वृषाकपि, शम्भु, हर और ईश्वर। गरुड़पुराण के अनुसार अज, एकपाद, अहिर्वृक्ष, त्वष्टा, विश्वरूप, हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वृषाकपि, शम्भु, कपर्दी और रैवत ये 11 रुद्र हैं।

रुद्राक्ष—रुद्राक्ष नाम के प्रसिद्ध वृक्ष का बीज है जिसकी माला धारण करना शास्त्र में बहुत कल्याणकर माना गया है।

रुद्र—कस्तूरी मृग।

रेवती—बलराम की पत्नी, राजा रेवत की कन्या, जिसका विवाह ब्रह्मा की आज्ञा से बलराम के साथ हुआ था।

रेवा—(देखो नर्मदा)।

रोहू—एक प्रकार की मछली।

ल

लकार—लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लङ्, लुङ्, लृङ् दस हैं। वर्तमान काल में लट्, परोक्षकाल में लिट्, अनद्यतन भविष्य में लुट्, अनद्यतन संशयित भविष्य में लृट्, आमन्त्रण तथा विधि अर्थ में लेट् (जिसका प्रयोग केवल वेद में होता है), आशीर्वाद में लोट्, अनद्यतन भूत में लङ्, आशीर्वाद तथा आमन्त्रण आदि में लिङ्, अनद्यतन भूत में लुङ्, भविष्यत् के कारण-कार्य के लिये लृङ् का प्रयोग होता है।

लंका—रावण की राजधानी जो लंका द्वीप में भारत के दक्षिण में थी।

लव—सीता और राम के पुत्र थे। इनका नामकरण लव (गौ की पूँछ) से अभिषेक करने के कारण हुआ था। वाल्मीकि ने इन्हें रामायण पढ़ाया था।

लवणासुर—यह असुर था जो विश्वासु की

कन्या अलका की पुत्री कुम्भीनसी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। इनके पिता का नाम मधु था, जिसने महादेवजी के प्रसाद से शूल प्राप्त कर लिया था। इसके अत्याचार को शान्त करने के लिये रामचन्द्र जी ने शत्रुघ्न को भेजा था और उन्हीं के द्वारा इसका वध हुआ था।

लवली—एक फल विशेष, जिसे हरफा-रेवड़ी कहते हैं।

लास्य—कोमल नृत्य, जिसकी रचना पार्वती जी ने की। भाव और ताल के साथ कोमल अंगों के द्वारा विशेषतः स्त्रियों के द्वारा शृङ्गार आदि कोमल रसों के उद्दीपन के लिये यह नृत्य होता है। इसके दो भेद हैं—क्षुरित और यौवत। इसके दस अंग हैं—गेयपद, स्थितपाठ, आसीन, पुष्पगण्डिका, प्रच्छेदक, त्रिगूढ़, सैन्धवाख्य, द्विगूढ़क, उत्तमोत्तम और युक्तप्रत्युक्त।

लू—गर्मी के दिनों में चलने वाली गर्म हवा जिसके लगने पर तीव्र ज्वर हो जाता है और मृत्यु भी हो जाती है। लू लगने पर कच्चे आम भूनकर उसकी लुगदी बनाकर शरीर पर लेप करने से और कच्चा आम भूनकर उसका पन्ना बनाकर पीने से भी लू का प्रभाव कम हो जाता है। साथ में प्याज रखने से भी लू नहीं लगती।

लोक—(सात) देखो भुवन।

लोकपाल—आठों दिशाओं के अलग-अलग लोकपाल हैं। (देखो दिक्पाल)।

लोकालोक—(पर्वत)—यह पर्वत पृथ्वी के चारों ओर परकोटे के समान खड़ा है। इसके कुछ भाग में सूर्य का प्रकाश दिखाई देता है और कुछ में नहीं, इसीलिये इनका नाम लोकालोक है। ब्रह्मा ने इस पर्वत पर चारों ओर ऋषभ, पुष्पचूड़, वामन और अपराजित नाम के चार दिग्गज स्थापित किए हैं।

लोध—(लोध)—एक वृक्ष जो भारत के सभी जंगलों में होता है। इसका छिलका चमड़ा सिझाने

और रँगने के काम आता है। यह पेड़ 10 से 12 फुट ऊँचा होता है। इसकी जड़ के चूर्ण से अवीर बनता है।

लौहित्य (नद) या ब्रह्मपुत्र—शान्तनु मुनि जब हरिवर्ष में हिरण्यगर्भ मुनि की कन्या अमोघा के साथ रहते थे तभी एक दिन अमोघा को अकेली पाकर ब्रह्मा उस पर मोहित होकर उस पर बलात्कार करने के लिये उद्यत हो गए किन्तु अमोघा घर में घुस गई और ब्रह्मा अपना वीर्य वहीं छोड़कर चले गए। जब शान्तनु मुनि ने लौटकर यह सब देखा-सुना तब उन्होंने अपनी पत्नी को ब्रह्म-वीर्य पी जाने को कहा। बहुत देर तक पत्नी से वाद-विवाद करने के पश्चात् शान्तनु उसे पी गए। कुछ दिनों के पश्चात् वह तेज अमोघा के गर्भ से जलराशि बनकर उत्पन्न हुआ जिसके बीच में नीलाम्बर, रत्नमाला तथा किरीट पहने चतुर्भुज गौर वर्ण वाला मगर पर चढ़ा हुआ एक पुत्र दिखाई दिया। यह जल कैलास, संवर्तक, गन्धमादन और जारुधि नामक पहाड़ों के घाटी के बीच में रख दिया गया। जब परशुराम अपनी मातृ-हत्या का पाप छुड़ाने उस कुण्ड में स्नान करने गए तब लोकहित के लिये उन्होंने पहाड़ काटकर उस जल को नदी बनाकर बहा दिया। लोहित सरोवर से निकलने से उसका नाम लौहित्य पड़ गया और ब्रह्मा का अंश होने से ब्रह्मपुत्र कहलाया।

व

वज्र—इन्द्र ने दधीचि की हड्डी से विश्वकर्मा के द्वारा वृत्रासुर को मारने के लिये जो अस्त्र बनवाया उसे वज्र कहते हैं।

वत्स—(देश)—प्रयाग के चारों ओर का देश जिसकी राजधानी प्रतिष्ठानपुरी (वर्तमान झूँसी) थी।

वनायु—(देश) अरब देश जहाँ के घोड़े प्रसिद्ध होते थे।

वन्दी—अपने आश्रयदाता राजा की विरुदावली

कहने वाले भाट।

वराह—विष्णु का तीसरा अवतार। जब प्रलय सागर में पृथ्वी डूब गई तब ब्रह्मा की नाक से अँगूठे भर का एक वराह-पोतक निकला जो निकलते ही आकाश तक बढ़ गया। उन्होंने अपने दाँतों से पृथ्वी को उभारकर बाहर निकाल लिया और उस दैत्य हिरण्याक्ष को मार डाला जो पृथ्वी को नीचे रसातल में लेता गया था।

वरतन्तु (ऋषि)—जिन्होंने अपने शिष्य कौत्स से 14 करोड़ स्वर्ण-मुद्रा गुरु-दक्षिणा माँगी। वह उस गुरु-दक्षिणा के लिये रघु के पास पहुँचा और रघु ने चुका दिया।

वरदा (नदी)—हिमालय से निकली हुई नदी जिसके तट पर अट्ठारह भुजा वाली देवी की मूर्ति हैं।

वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

वर्णमाला—वारह खड़ी। अ से लेकर ह तक वर्ण।

वल्कल—1. पेड़ की छाल। 2. पेड़ की छाल से बने हुए वस्त्र।

वशिष्ठ या वसिष्ठ—मुनि। ये ब्रह्मा के प्राण से उत्पन्न हुए थे। कर्दम की पुत्री अरुन्धती इनकी पत्नी थी। ऋग्वेद के सप्तम मंडल का अधिकांश वशिष्ठ की कृति है। जब मित्र और वरुण का वीर्य वसतीवर नामक यज्ञकुंभ में गिरा उससे अगस्त्य और वशिष्ठ की उत्पत्ति हुई। (देखो अगस्त्य) इन्होंने इसलिये सूर्यवंश का पौरोहित्य स्वीकारा था कि उस वंश में राम जन्म लेंगे।

वषट्—यज्ञों में आहुति देते समय इसका उच्चारण किया जाता है। देवताओं को स्वाहा श्रीषट्, वौषट्, वषट् और स्वधा शब्दों के साथ आहुति दी जाती है।

वसन्तोत्सव—फाल्गुनी की पूर्णिमा के दिन यह उत्सव मनाया जाता है। उस दिन वसन्त काल में जो

चन्दन के साथ आम की मंजरी खाता है वह निश्चय ही सौ वर्ष तक सुख से जीवन बिताता है। यह श्लोक पढ़कर मंजरी का सेवन करना होता है।

**चूतमृग्यं वसन्तस्य माकन्दकुसुमस्तव।
सचन्दनं पिवाम्यद्य सर्वकामार्थं सिद्ध्ये॥**

वामन—विष्णु का पाँचवाँ अवतार। (देखो वलि)

वायव्य (अस्त्र)—मंत्र से चलाया हुआ वह बाण जिसके चलते ही आँधी चलने लगती है।

वार्ता—वैश्यकर्म अर्थात् कृषि, गोरक्षा, व्यापार और कुसीद (महाजनी)।

वारुणास्त्र—मंत्र से चलाया हुआ वह बाण जो जल बरसा दे।

वाली—देखो वाली।

वाल्मीकि या वाल्मीक—प्रचेता ऋषि के वंश में दसवें पुरुष। तमसा के तटपर इनका आश्रम था: ये प्रारम्भ में ब्राह्मण-पुत्र होते हुए भी किरात का काम करते थे। शूद्रा से विवाह करके इन्होंने उससे कई सन्तानें उत्पन्न कीं। एक बार इन्होंने ऋषियों को भी घेर लिया। उन्होंने कहा कि जो पाप तुम करते हो उसमें तुम्हारे परिवार वाले भागी हैं या नहीं। जब परिवार वालों ने अस्वीकृति दे दी तब इन्हें ज्ञान हुआ और इन्होंने मुक्ति का उपाय पूछा। उन्होंने 'राम' नाम जपने को कहा तो ये उलटा करके 'मरा मरा' जपने लगे यहाँ तक कि इनके शरीर पर बाँबी उठ आयी। तबसे इनका नाम वाल्मीकि या वाल्मीक हुआ। इन्होंने राम के राज्य करते समय रामायण की रचना की थी। प्रथम कवि होने के कारण इन्हें आदि कवि भी कहते हैं। सीता वनवास के समय उन्होंने ही राम के पुत्र लव और कुशको शिक्षा-दीक्षा दी थी।

वासवदत्ता—अवन्तीके राजा चण्ड प्रद्योत-की कन्या जिसे वत्सराज उदयन हर ले गया था।

वासुकि या वासुकी—नागों का राजा। आठ प्रधान नागों में से एक। (देखो नाग)।

विद्याधर—एक देवयौनि, जिसके अन्तर्गत खेचर, गन्धर्व और किन्नर आते हैं।

विष्णु—सृष्टि का भरण-पोषण करने वाले देवता जो क्षीरसागर में शेष नाग पर शयन करते हैं और जिनकी नाभि से उत्पन्न कमल में से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई है।

विजया—1. पार्वती की सखी जो गौतम की कन्या थी। 2. वनदेवी।

विजित्वर—वह रथ जिसपर चढ़कर विजय अवश्य मिलती है।

विदर्भ (देश)—वर्तमान हैदराबाद के उत्तर में बरार प्रदेश।

विदूर (पर्वत)—वह पर्वत जहाँ वैदूर्यमणि मिलता है।

विन्ध्याचल—भारत के मध्य में पूर्व से पश्चिम तक फैला हुआ पर्वत (देखो अगस्त्य)

विराध—(राक्षस) इसके पिता का नाम सुपर्जन्य और माता का नाम शतद्वदा था। पिछले जन्म में वह तुम्बुरु गन्धर्व था जो वैश्रवण के शाप से राक्षस हो गया था। लक्ष्मण-के हाथ से इसकी मृत्यु हुई।

विल—1. एक प्रकार के घोड़े, 2. उच्चैः- श्रवा घोड़ा।

विशाला—सत्ताईस नक्षत्रों में से सोलहवाँ नक्षत्र। इसका रूप तोरणाकार है और इसमें चार तारे हैं। यह नक्षत्र दो भागों में बँटा है इसलिये इसके दो देवता हैं—इन्द्र और अग्नि।

विश्वकर्मा—देव शिल्पी जो सब प्रकार के शिल्प-शास्त्र के आविष्कर्ता माने जाते हैं। ये प्रभास नामक वसुके औरस तथा बृहस्पति की बहिन ब्रह्मचारिणी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। उन्होंने ही देवताओं के लिए विमान बनाए थे।

विश्वजित्—वह यज्ञ जिसमें सब कुछ दक्षिणा में दे दिया जाता है।

विश्वामित्र—इन्होंने क्षत्रियवंश में जन्म लेकर ब्राह्मणत्व प्राप्त किया और सात ब्रह्मर्षियों में गिने जाने लगे। इसके पिता का नाम गाधि था।

विश्ववासु (गन्धर्व)—अमरावतीका निवासी गन्धर्व।

विष्कम्भक—नाटक के किसी अङ्क के प्रारम्भ में संक्षेप में जो विषय कहा जाता है उसे विष्कम्भक कहते हैं। जहाँ एक या दो मध्यम पात्रों से यह कहलाया जाता है वहाँ शुद्ध, जहाँ नीच तथा मध्यम पात्रों से कहलाया जाता है वहाँ संकीर्ण या विमिश्र या मिश्र कहा जाता है।

वीणा—यह तार का बाजा जिसके दोनों और दो तुम्बियाँ होती हैं और बीच के डंडेपर सात तार खिंचे रहते हैं। महादेव की वीणा लम्बी, सरस्वती की कच्छपी, नारद की महती और तुम्बुरु की कलावती कहलाती है।

वीरासन—(देखो पद्मासन) इस आसन से बैठकर साधक साधना करते हैं।

बृहस्पति—अङ्गिरा के पुत्र और देवताओं के गुरु। धर्मशास्त्र के प्रयोक्ता और नवग्रहों में पंचम।

वेन्नवती—बेतवा नदी जो मालवा से निकल कर कालपी के पास यमुना में जा मिली है।

वेद—ऋक्, यजु, साम और अथर्व।

वेदांग—(6) शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द ज्यौतिष और व्याकरण।

वेदान्ती—वेदान्त जानने वाला। विरक्त।

वेदी—यज्ञ के लिये स्वच्छ की हुई समतल चौकोर भूमि जो विशेष माप के अनुसार लम्बी, चौड़ी गहरी और ऊँची बनाई जाती है।

वेला—(देखो ज्वार)

वैखरी—कण्ठ से उत्पन्न होने वाली वाणी जो उच्च और गम्भीर सुनाई पड़े।

वैजयन्ती—एक प्रकार की माला जो पाँच रंगों की और घुटनों-तक लटकी होती है। इसे श्रीकृष्ण जी पहनते थे।

वैतालिक—चारण या वन्दी जो प्रातः-काल मंगल-गीत तथा वाद्य बजा कर राजाओं को जगाते थे।

वैदूर्य—(मणि)—पीले रंग की मणि जिसके देवता केतु हैं। इसके धारण करने से केतु का दोष नष्ट हो जाता है। इसे लहसुनियाँ कहते हैं। नीलम को भी वैदूर्य या वैडूर्य कहते हैं।

वैभ्राज—(देखो नन्दन-वन)

वैयाकरण—व्याकरण जानने वाला।

वैष्णव—(बाण)—विष्णु का बाण।

व्यूह—शत्रु से रक्षा करने के लिये जो सेना का विशेष संघटन किया जाता है उसे व्यूह कहते हैं। यह व्यूह चार प्रकार का होता है; दण्ड, भोग, मण्डल और असंहत और इनके भी बहुत से भेद हैं।

व्रत—किसी विशेष पर्वपर विशेष प्रकार के आहार-विहार-सम्बन्धी आचार का पालन करना।

श

शक्रावतार—गंगा के तटपर वह तीर्थ जहाँ शकुन्तला की अँगूठी गिर पड़ी थी। उत्तर प्रदेश के मुजफ्फरनगर जिले में शुक्करताल सुक्करताल या शुकताल के नाम से प्रसिद्ध है।

शृङ्गार—नवरसों में प्रधान। इसे भरत ने रसरज माना है। इसमें दो आलम्बन होते हैं नायक और नायिका, सभी संचारियों और नवों अनुभवों का प्रयोग होता है। इसका स्थायी भाव रति है—पुंसः स्त्रियाँ स्त्रियः पुंसि संयोगं प्रति या स्पृहा। स शृङ्गार इति ख्यात रतिक्रीडादि कारणम्।। इसके दो भेद हैं—विप्रलम्भ और संभोग। जहाँ नायक या नायिका

का अनुराग से परिपूर्ण रहने पर अपने अभिलषित लोगों के साथ संयोग नहीं होता वहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार होता है जिस समय दम्पति के दर्शन, स्पर्शन, चुम्बन एवं परिस्मरण आदि का संघटन होता है उस समय संभोग शृङ्गार की उत्पत्ति होती है। विप्रलम्भ के बिना सम्भोग कभी परिपुष्ट नहीं हो सकता।

न विना बिप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते।

कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्धते।।

शकुन—शुभाशुभ-सूचक लक्षण-जिन चिन्हों को देखने से शुभ और अशुभ जाना जा सके।

शक्ति—(शस्त्र)—छोटी बर्छी, जो फेंककर मारी जाय।

शची—(पौलोमी)—इन्द्र की पत्नी का नाम जो दानवराज पुलोम की कन्या थी।

शतघ्नी—बर्छी, एक प्रकार का शस्त्र। यह किसी बड़े पत्थर या लकड़ी के कुन्दे में बहुत से कील काँटे ठोंककर बनाया जाता है। इसका व्यवहार युद्ध के समय शत्रुओं पर फेंककर होता था। यह शस्त्र दुर्ग के चारों ओर रक्खा जाता था।

दुर्गञ्च परिखोपेतं चयाट्टालक-संयुतम्।

शतघ्नी-यंत्रमुख्यश्च शतशश्च समावृतम्।।

शब्दवेधी—(बाण) शब्द सुनकर चलाया हुआ बाण। शब्दोच्चारण के साथ ही जो तालु छेदकर ऊपर निकलता है।

शम्बूक—शुद्र तपस्वी, जिसकी अनधि-कारिक और असंगत तपस्या के कारण त्रेता-युग में रामराज्य में एक ब्राह्मण का पुत्र अकाल मृत्यु को प्राप्त हुआ था। उसे राम ने मार कर मृत ब्राह्मण-पुत्र को पुनरुज्जीवित किया।

शमी—एक प्रकार का वृक्ष, जिससे यज्ञ के लिये अरणी बनती है। भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में पाया जाता है। यह राजस्थान, बंगाल और बिहार में अधिक होता है। इसकी लकड़ी खदिर-जैसी

होती है। इस जाति के लाल पत्तेवाले वृक्ष अग्निगर्भ कहलाते हैं। इसे जाँट कहते हैं।

शरत्—आश्विन और कार्तिक मास में यह ऋतु मानी जाती है। यह काल उष्ण, पित्त-वर्द्धक और मानवों के लिये बलप्रद होता है। शरत्काल में वायु प्रशमित और पित्त प्रकुपित होता है। इस काल में जन्म लेने वाला मनुष्य उत्तम कार्य करने वाला, तेजस्वी, पवित्र, सुशील, गुणवान्, सम्मानी और धनी होता है।

शरभ—एक प्रकार का बलिष्ठ जीव जिसके आठ पैर होते थे। यह सिंह से भी अधिक बलवान् होता था। अपने लम्बे कंठ से यह कुएँ में मुँह डालकर पानी पी लेता था। इसकी जाति नष्ट हो गई है।

शरभंग—ये महर्षि दक्षिण में रहते थे। वनवास के समय भगवान् राम ने इनका दर्शन किया था।

शर्मिष्ठा—(देखो ययाति)।

शल्लकी—सलई का पेड़। (देखो शाल)

शस्त्र—खड्ग या तलवार। जो हाथ से पकड़कर चलाया जाय उसे शस्त्र और जो फेंक कर चलाया जाय उसे अस्त्र कहते हैं।

शातकर्णि—ये ऋषि पंचाप्सर नाम के क्रीडा-सरोवर में तप करते थे। पहले ये तप करते समय मृगों के साथ घास चरते थे। तब इन्द्र ने पाँच अप्सराओं को भेजकर इन्हें तप से विरत कर दिया।

शाप—अहित कामना-सूचक शब्द, जो ऋषि या तपस्वी लोग किसी पर रुष्ट होकर कहते थे और जो अवश्य पूरा होता था।

शान्तिजल—जो जल पूजा के पश्चात् शान्ति के निमित्त घर के रहने वाले व्यक्तियों पर छिड़का जाता है।

शार्ङ्ग—(धनुष) —विष्णु के हाथ में रहने वाला धनुष जो दधीचि ऋषि की हड्डी से बना था।

शाल—शाल, साल या शल्लकी का पेड़। हिमालय की तराई में सतलज से आसाम-तक तथा मध्य भारत में इसके घने जंगल हैं। यह वृक्ष सीधा लम्बा बढ़ता है और इसके पत्ते बड़े-बड़े होते हैं। इसकी छाल में छेद करने पर गुग्गुल निकलता है। इसके वृक्ष में छोटे छोटे फूल के गुच्छे लगते हैं जिन्हें तोड़कर कोल स्त्रियाँ संध्या को अपने जूड़े में खोंस लेती हैं।

शाल्मली—(देखो सेमर या सेनल)

शास्त्र—वे प्राचीन ग्रन्थ जिनमें मनुष्यों के लिये अनेक प्रकार के कर्तव्य बताए गए हैं तथा अनुचित कर्तव्यों का निषेध किया गया है। हमारे यहाँ वे ही शास्त्र प्रामाणिक माने गए हैं जो वेद-मूलक हैं। इनकी संख्या 18 हैं— शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, मीमांसा, न्याय, पुराण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और अर्थशास्त्र। इन 18 शास्त्रों को 18 विद्याएँ भी कहते हैं।

शिप्रा—(सिप्रा या क्षिप्रा)—उज्जैन के पास बहने वाली नदी। जब वशिष्ठ ने अरुन्धती के साथ विवाह किया उस समय ब्रह्मा, विष्णु और महादेव ने उन्हें शान्ति जल और आशीर्वाद दिया। वह शान्ति जल पहले मानस पर्वत की कन्दरा में और पीछे सात धाराओं से विभक्त होकर मानस पर्वत से हिमालय पर्वत की गुहा, शिखर और सरोवर में पृथक्-पृथक् भाव से गिरा। उससे शिप्रा सरोवर बहुत बढ़ने लगा। पीछे विष्णु ने चक्र-द्वारा गिरिशृंग को काटकर उस प्रवृद्ध जल-राशि को पुण्यतमा नदी बनाकर पृथ्वी पर भेजा। शिप्रा सरोवर से इसकी उत्पत्ति हुई, इसी से इसका नाम शिप्रा हुआ। इसमें नहाने से सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। कार्तिक मास की पूर्णिमा तिथि को इसमें नहाने का विशेष माहात्म्य है।

श्रीरीष—सिरसका पेड़ जिसके फूल बड़े कोमल

होते हैं।

शिलाजीत (शिलाजतु)—पहाड़ में उत्पन्न होने वाली औषधि। गर्मी के दिनों में सूर्य की किरणों द्वारा सन्तप्त पर्वतों से जो धातुसार निकलता है, उसी को शिलाजीत कहते हैं। यह चार प्रकार का होता है—1. सौवर्ण जो जवा पुष्प की तरह लाल, कटु, मधुर, तीता, शीतवीर्य और कटुविपाक होता है। 2. राजत जो श्वेतवर्ण, शीतवीर्य, कटुरस और मधुर-विपाक होता है। 3. तामस जो मयूर कण्ठ के समान आमाविष्ट, तीक्ष्ण और उष्णवीर्य होता है। 4. आयस जो जटायुके पंख जैसा आमाविष्ट तीता, लवणरस, कटुविपाक और शीतवीर्य होता है। यही सबसे श्रेष्ठ है।

शुक्र—(ग्रह)—नवग्रह में पाँचवाँ ग्रह। यह शुभ ग्रह है। यदि बुरे स्थान में न हो तो मानवका कल्याण करता है। सुख, श्री, विलास, भूषण विज्ञान-शास्त्र, भगिनी, स्त्री, संगीत और कविता-शक्ति देने वाला है।

शुक्राचार्य—ये दैत्यों के गुरु और भृगु ऋषिके पुत्र थे। इनकी कन्या का नाम देवयानी तथा पुत्रों का षण्ड और अमर्क था। देवगुरु बृहस्पति के पुत्र कचने इनसे संजीवनी विद्या सीखी थी। (देखो ययाति)

शूर्पणखा—रावण की बहिन और सुन्द की पत्नी। विश्रवा ऋषि के औरस और कैकसी के गर्भ से इसका जन्म हुआ था। भगवान् रामचन्द्र जब दण्डकारण्य में गए थे उस समय काम-पीड़ित होकर राम के पास ब्याह करने की इच्छा से आई थी। राम के संकेत से लक्ष्मण ने इसके नाक-कान काट डाले। इसी का बदला लेने के कारण रावण ने छद्म-वेश बनाकर सीता को हरा था। इसका नख सूप के समान था।

शूली—लोहे की वह नोकदार किल्ली जिसपर अपराधी को गुदा की ओर से टाँगते थे और वह बिंधकर मर जाता था।

शेफालिका—एक प्रकार का पुष्प विशेष। शरदकाल में इसमें फूल लगते हैं। इस ऋतु के अतिरिक्त इसका पुष्प पूजा में चढ़ाना निषिद्ध है। इसके पत्ते का रस सेवन करने से सभी प्रकार के ज्वर नष्ट होते हैं। इसकी गंध कड़वी और मीठी होती है। इसकी प्रत्येक सोंक में अरहर की पत्तियों के समान पाँच-पाँच पत्तियाँ होती हैं। जिसका ऊपरी भाग नीला और नीचेका भाग सफेद होता है। इसकी अनेक जातियाँ हैं। किसी में काले और किसी में सफेद पुष्प लगते हैं। फूल आम के बौर की मंजरी के समान लगते हैं और केशरिया रंग के होते हैं इसकी माला प्रणयिजनों को बहुत प्रिय है।

शेषनाग—जब यह जगत् प्रलय काल में नष्ट हो जाता है तब भगवान् नारायण लक्ष्मीके साथ क्षीरसागर में शेष के फण की छाया में शयन करते हैं। ये अपना पूर्ण फण फैलाकर कमल पुष्प से उन्हें आच्छादित करते हैं, उत्तर फण से भगवान् के सिर एवं दक्षिण फण से पाँव ढँके रहते हैं, पश्चिम फण को फैला कर भगवान् पर पंखा झलते हैं, ईशान फण के द्वारा शंख, चक्र, नन्द, खड्ग दोनों तूणीर तथा गरुड को ढकते हैं एवं आग्नेय फण के द्वारा गदा, पद्म प्रभृति धारण किए रहते हैं। इस प्रकार भगवान् विष्णु प्रलय के समय शयन किया करते हैं।

शेषशय्या—(देखो—शेषनाग)

श्येन—(देखो बाज)

श्राद्ध—शास्त्र-विधान के अनुसार पितरों को तृप्त करने के लिये जो कर्म किया जाता है उसे श्राद्ध कहते हैं इसमें अन्न आदि के दान का विशेष माहात्म्य है।

संस्कृत-व्यंजनादायश्च पयोदधिघृतान्वितम्।

श्रद्धया दीयते यस्मात् श्राद्धं तेन निगद्यते।।

श्रीवत्स—विष्णु के वक्षस्थल पर अंगुष्ठ के

बराबर श्वेत बालोंका दक्षिणावर्त भौरीकासा चिन्ह जो भृगु के चरण-प्रहार का चिन्ह माना जाता है।

श्रुति—वेदको श्रुति और धर्मशास्त्र को स्मृति कहते हैं। जहाँ वेद और धर्मशास्त्र का विरोध पड़ता है वहाँ श्रुति ही प्रमाण मानी जाती है। श्रुतिद्वैधे स्मृतिद्वैधे श्रुतिरेव गरीयसी।

ष

षड्ज—संगीत में सप्तक का पहला स्वर। मोर का शब्द षड्ज माना जाता है।

स

संस्कार—अशुद्धि दूर करने की क्रिया। शास्त्रों के अनुसार 16 प्रकार के संस्कारों से जीव की शुद्धि होती है—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, कर्णविध, केशान्त, यज्ञोपवीत, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह, गार्हपत्य और अन्त्येष्टि।

सगर—सूर्यवंश में बाहु नामक प्रतापी राजा थे। इनकी स्त्री का नाम यादवी था। एक दिन अकस्मात् इनके ऊपर शत्रुओं ने चढ़ाई कर दी। युद्ध में बाहु परास्त हुए और पत्नी के साथ जंगल में भाग गए। उस समय इनकी पत्नी गर्भिणी थी। यादवी की सपत्नी को जब ज्ञात हुआ कि यादवी गर्भिणी है तो उसने उसे विष पिला दिया उससे कोई अनिष्ट नहीं हुआ। राजा की मृत्यु जंगल में ही हो गई। रानी जब राजा के साथ सती होने जा रही थी उसी समय और्व ऋषि ने वहाँ आकर उसे रोक दिया। समय पूरा होने पर एक पुत्र उत्पन्न हुआ। और्व ने उसका जात-संस्कार किया और विषकर्म-पान करने के कारण उसका नाम सगर रखा। और्व ने ही उन्हें वेद-शास्त्र और शस्त्र विद्या की शिक्षा दी। उन्होंने हैहय आदि शत्रुओं को मार डाला। राजा सगर इस प्रकार शत्रुओं को परास्त करके राजसिंहासन पर बैठे। इनकी दो रानियाँ थीं—वैदर्भी और शैव्या। इन्हें शंकर जीने वर

दिया था कि एक पत्नी से 60 सहस्र पुत्र होंगे तथा उनका नाश होगा। एक वंशधर पुत्र होगा। कुछ दिन पश्चात् वैदर्भी के गर्भ से एक कुष्माण्ड (कद्दू) उत्पन्न हुआ और शैव्या के गर्भ से वीर्यवान् पुत्र। राजा उस कुष्माण्ड (कद्दू)-को फेंकने जा ही रहे थे कि आकाशवाणी सुनाई दी—‘राजन्! इसमें तुम्हें 60 सहस्र पुत्र उत्पन्न होंगे।’ राजा ने उस कद्दू में से एक एक वीज निकलवाकर घृतकुण्ड में रख दिया और उसकी रक्षा के लिये एक धात्री नियुक्त कर दी। कुछ दिन पश्चात् उसमें से एक-एक करके 60 सहस्र बलिष्ठ पुत्र उत्पन्न हुए। ये लोग देवताओं पर अत्याचार करने लगे। कुछ दिन पश्चात् राजा सगरने अश्व मेघ यज्ञ प्रारम्भ किया। घोड़े के साथ उनके 60 सहस्र पुत्र रक्षा के लिये चले। कुछ दूर पर घोड़ा लुप्त हो गया। राजपुत्रों ने राजा से सब घटनाएँ कहीं। राजा ने उन्हें आज्ञा दी। वे सब खोजते-खोजते कपिल-मुनि के आश्रम में जा पहुँचे। वहीं बँधे हुए घोड़े को देखकर इन लोगों ने कपिल जी को दुत्कारना आरम्भ किया। ऋषि की क्रोध-पूर्ण दृष्टि से वे 60 सहस्र पुत्र वहीं जलकर भस्म हो गए। फिर राजा सगर के पौत्र तथा असमंजस के पुत्र राजा भगीरथ कठिन तपस्या करके गङ्गा को लाये और इन सबका उद्धार हुआ।

संजीवनी--1. जीवन देने वाली औषधि।

2. एक विद्या जिसके प्रभाव से मृतक भी जी उठता है। शुक्राचार्य को वह विद्या आती थी इससे कोई दैत्य मरता ही नहीं था। तब देवताओं ने बृहस्पति के पुत्र कचको शुक्राचार्य के पास यह विद्या सीखने भेजा। वहाँ दैत्यों ने कई बार कचका वध किया किन्तु शुक्राचार्य ने उसे जिला दिया। तब असुरों ने उसे मार कर उसका माँस शुक्राचार्य को खिला दिया। तब शुक्राचार्य के मन्त्र से कच उनका पेट फाड़कर निकल आया और फिर उसने अपने गुरु को भी जिला दिया।

सतो गुण या सत्त्वगुण—सत्त्व, रज और तम नामक तीन गुणों में से एक। यह गुण जिसमें होता है वह प्रसन्न, प्रेमी, धैर्यशाली और मेधावी होता है।

सन्धि—(नाटक की 5 सन्धियाँ) मुख-सन्धि, प्रतिमुख-सन्धि, गर्भ-सन्धि, विमर्श-सन्धि, निर्वहण-सन्धि।

सन्निपात—वह अवस्था, जब कफ, वात पित विगड़ जाते हैं और मनुष्य ज्वर में बकने- झकने लगता है। यह असाध्य रोग है-

यदि कथमपि पुंसां जायते कामपीडा

भ्रममद परितापो मोह-वैकल्यभावः।

विकलनयनहासो गीतनृत्यप्रलापी

ह्यभिदधति असाध्यं केऽपि चित्तभ्रमाख्यम्॥

संन्यास—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास नामक चार आश्रमों में से चौथा आश्रम। 75 वर्ष की अवस्था में घरबार छोड़कर केवल ईश्वर-प्राप्ति में लगना।

सप्तमातृका—(देखो मातृकाएँ)

सप्तर्षि—कश्यप, अत्रि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि, भरद्वाज तो इस वैवस्वत मन्वन्तर के सप्तर्षि हैं। प्रारम्भिक सप्तर्षि ये हैं जो ब्रह्मा के मानस पुत्र थे—मरीचि, अत्रि, पुलह, पुलस्त्य, क्रतु, अंगिरा और वशिष्ठ। प्रत्येक मन्वन्तर में अलग-अलग सप्तर्षि होते हैं।

समिधा—यज्ञ करने के लिये अर्क, पलाश या गूलर की प्रादेश भर की (अँगूठे से तर्जनी तकके नाप की) उस टहनी को कहते हैं जिसमें आगे फुनगी के पत्ते हों और पूरा छिलका हो। यह समिधा अँगूठे के बराबर मोटी होनी चाहिए और हरी होनी चाहिए। विशीर्ण समिध से हवन करने से आयुक्षय, निष्पन्न से पुत्रनाश, छोटी से पत्नी नाश, टेढ़ी होने से बन्धुनाश, कीड़े खाई होने से रोग, दो टुकड़ों में फटी होने से विद्वेष, बड़ी होने से पशुनाश और अधिक मोटी होने से बन्धुनाश होता है। रवि के होम में अर्क

की, सोम के में पलाश की, मंगल के में खैर की, बुध के में अपामार्ग या चिरचिटे की, गुरु के में पीपल की, शुक्र के में गूलर की, शनि के में शमी की, राहु के में दूर्वा की और केतु के होम में कुशा की समिधा काम में लानी चाहिए।

समुद्र—(सात) लवंग, इक्षु, दुग्ध, दधि, सुरा, घृत, महासमुद्र।

सम्पाति—(पक्षी) श्येनी के गर्भ से अरुण का पुत्र, जटायुका बड़ा भाई। जब इंद्र ने वृत्रासुर को मार डाला, तब इंद्र को जीतने के लिये सुरपुर गया। वहाँ जब सूर्य की ज्वाला से जटायु के पंख जलने लगे तब सम्पातिने उसपर छाया कर ली। तब सम्पाति के पंख भी जल गए और वह विन्ध्याचल पर आ गिरा। जब हनुमान् आदि सीता को ढूँढ़ने जा रहे थे उस समय समुद्रतटपर सम्पातिने ही उन्हें लंका का मार्ग दिखाया था और उसी समय उसे पंख भी निकल आए थे।

सम्मोहन—वह अस्त्र जिसके चलाने से सब जड़वत् हो जायें।

सरकंडा—सरपत की जाति की एक झाड़ी जिसके बीच से गाँठवाली छड़ियाँ निकलती हैं।

सरस्वती—1. देवी, शुक्लवर्ण, वीणा-धारिणी, वेद-शास्त्र की जननी, विद्या की देवी। ये ब्रह्मा की मानस-पुत्री हैं। 2. नदी, जो पंजाब-में सिरमूर राज्य की पहाड़ी से निकल कर थानेश्वर और कुरुक्षेत्र होती हुई सिरसा जिले की कागार (दृषद्वती) नदी में विलीन हो गई है। यह पहले प्रयाग में त्रिवेणी पर गङ्गा-यमुना से मिल जाती थी और अब कहा जाता है कि यह वहाँ अन्तःसलिला अर्थात् धरती के नीचे होकर बहती है।

सर्ज—(वृक्ष) शाल का पेड़ (देखो शाल)।

सहस्त्राबाहु—(देखो कार्तवीर्य)।

सह्य—ताप्ती नदी से कन्याकुमारी तक फैली हुई पश्चिमी घाट की पहाड़ियाँ सह्याद्रि कहलाती

हैं।

सारस—बगले के रूप का चार फुट लम्बा पक्षी जिसका भाग लाल, शरीर भूरा, और टाँगें लम्बी काली होती हैं। यह खेत के बीज, मेंढक और घोंघे खाता है। इसके दर्शन से यात्रा सिद्ध होती है।

सारिका—(देखो मैना)

साहित्य—कवियों द्वारा लिखित तथा सुरक्षित वाङ्मय।

सिद्धि—(आठ) अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व। जिन्हें ये सिद्धियाँ मिल जाती हैं उन्हें कोई वस्तु तथा कोई कार्य दुर्लभ नहीं होता।

सिन्धु—(नद) यह नद हिमालय से निकल कर कश्मीर, पंजाब और सिन्धु में होता हुआ अरब सागर में जा गिरता है।

सिन्धुवार—निर्गुण्डी या सिन्दुवार।

सुग्रीव—बालीका भाई (देखो बाली)।

सुतीक्ष्ण—अगस्त्य मुनि के भाई जो वन-वासके समय राम से मिले थे।

सुप्रतीक—देवताओं का हाथी जो ईशान कोण का दिग्गज है। (देखो दिग्गज)।

सुबाहु—मारीच का भाई जो ताड़का के साथ राम से लड़ने आया था और उनके हाथ से मारा गया था।

सुमन्त्र—राजा दशरथ के मन्त्री और सारथि। ये ही राम को रथपर बैठाकर वनवास के समय गंगातट तक छोड़ कर आए थे।

सुमित्रा—राजा दशरथ की पत्नी, लक्ष्मण और शत्रुघ्न की माता।

सुमेरु—(पर्वत) (देखो मेरु)

सुरागाय—(देखो चँवर)

सुह्र—(देश) वर्तमान राढ़ देश जो बंगाल के

पश्चिम में दामोदर नदी के उत्तरी भाग में है।

सूत—आश्रयदाता राजाओं की स्तुति करने वाले पौराणिक।

सूत्रधार—नाटक का प्रबन्ध करने वाला।

सूर्य—(देखो आदित्य) कश्यप के औरससे दितिके गर्भ से इनकी उत्पत्ति हुई।

सूर्यकान्त—(मणि)—बिल्लौरी पत्थर, जिसे सूर्य के सामने रखने से उसमें से आग निकलती है।

सेमर या सेमल—शाल्मलीका पेड़। इसका बहुत बड़ा पेड़ होता है जिसमें मोटी पंखड़ियों वाले लाल फूल लगते हैं और जिसके फलों या डोड़ों में से कोमल रुई निकलती है।

सोमतीर्थ—वर्तमान कन्नड़ के पास पिंड पुरी के पास है जहाँ सोमने तपस्या की थी।

सौरीघर—वह प्रकोष्ठ जिसमें स्त्री बालक का प्रसव करके शुद्ध होने तक रहती है।

स्कन्द—(देखो कार्तिकेय)

स्फटिक—बिल्लौरी पत्थर जो पारदर्शी होता है। (देखो सूर्य कान्त)

स्मृति—18 स्मृतियाँ मानी गई हैं। अनु-भूत ज्ञान। महर्षिभिर्वेदार्थचिन्तनं स्मृतिः। महर्षियों ने वेद के अर्थका जिस प्रकार चिन्तन किया वही स्मृति है। इसे धर्मशास्त्र या धर्म-संहिता भी कहते हैं। कलियुग में पारासर स्मृति मान्य समझी जाती है। 'कलौ पाराशरस्मृतिः।'

स्नुवा—खैर की लकड़ी का बना हुआ चमचा जिससे हवन में धी डाला जाता है।

स्वयंवर—1. वह उत्सव, जिसमें कन्या का पिता अनेक युवकों को एकत्र करता है और कन्या उनमें से किसी एक को चुन लेती है। 2. स्वयं अपना वर चुन लेने का कार्य।

स्वरित—(देखो उदात्त और अनुदात्त)

स्वधा—(देखो वषट्) पितृभ्यः स्वधा कहकर पितरों को सभी वस्तुएँ दी जाती हैं। इसके बिना कहे यदि पितरों को कोई वस्तु दी जाती है तो वे ग्रहण नहीं करते।

स्वर्ग—देवताओं का लोक जहाँ नन्दनवन, स्वर्गागा, कल्पवृक्ष, अप्सरा, विमान, अमृत आदि सब आनन्द-विहार के पदार्थ हैं किन्तु वह नश्वर लोक है। पुण्य क्षीण होने पर वहाँ से फिर लौटना पड़ता है। “क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति।”

स्वामिकार्तिकेय—(देखो कार्तिकेय)

स्वाहा—(देखो वषट्) देवताओं को इस मन्त्र के साथ आहुति दी जाती है।

ह

हंस—(देखो राजहंस)

हनुमान् या **हनूमान्**—पवन के औरस और अंजना के गर्भ से इनका जन्म हुआ था। (देखो अंजना)। जन्म लेते ही ये क्षुधातुर होकर लाल फल समझकर सूर्य पर टूट पड़े। यह देखकर देव, दानव, यक्ष सभी में हाहाकार मच गया। सूर्य के ताप से बचाने के लिये पवन देव ने शीतल वायु के द्वारा इनकी रक्षा की। उस समय सूर्य को राहु ग्रसने जा रहा था। इस शिशु के पहुँचने पर राहु डरकर भाग गया और इन्द्र से जाकर कहने लगा कि आपने मुझे सूर्य को ग्रसने के लिये भेजा था परन्तु एक दूसरे व्यक्तिको भी वहाँ आपने भेज दिया। इसपर इन्द्र बहुत क्रुद्ध हुए और उन्होंने जाकर वज्रास्त्र से, उसपर प्रहार किया जिससे उनका वाम हनु टूटकर लटक गया। पवन उसे उठाकर गुफा में ले गए। पवन देव ने क्रुद्ध होकर सभी वायुओं को रोक दिया। इससे चारों ओर हाहाकार मच गया। देवों ने जाकर ब्रह्मा से कहा। ब्रह्मा ने आकर उस बच्चे को आशीर्वाद दिया। सभी देवों ने आकर उसे अमोघ वर दिये। इस प्रकार देवताओं से वर प्राप्त करके हनुमान जी ऋषियों को सताने लगे। ऋषियों ने शाप दिया

कि जिस बल से गर्वित होकर हम लोगों को कष्ट दे रहे हो उसे तुम भूल जाओगे। जब कोई स्मरण दिलावेगा तभी तुम्हारा बल बढ़ेगा। हनुमान् ऋषियों के शाप से बलहीन होकर आश्रम में विचरने लगे। ऋक्षराज के मरने पर वाली राजा हुआ। वाली और सुग्रीव से परस्पर कलह होने पर हनुमान ने सुग्रीव का साथ दिया। इन्होंने ही जानकी जी की खोज की थी और राम की आजन्म सेवा की। ये अमर हैं। सात अमर पुरुष ये हैं—

अश्वत्थामा बलिव्यासो हनुमांश्च विभीषणः।

कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः॥

हथरखा—(हस्तावाप)—बाण चलाते समय धनुष की डोरी की फटकार बाँएँ हाथ में कलाई के ऊपर पड़ती रहती है जिससे घट्टे पड़ जाते हैं। उस फटकार से हाथ को बचाने के लिये चमड़े की जो पट्टी बाँधी जाती थी उसे हथरखा या हस्तावाप कहते थे।

हरताल—(सं० क्ली०) 1—एक खनिज पीतवर्ण उपधातु। वैद्यक-शास्त्र में लिखा है कि हरि के वीर्य से हरिताल तथा लक्ष्मी के रज से मनः शिला की उत्पत्ति हुई थी। ताल, आल और तालक ये तीन नाम हरिताल के हैं। हरिताल दो प्रकार का होता है 1. पत्र-हरिताल सर्वश्रेष्ठ और पिण्ड-हरिताल गुणहीन होता है। पत्र-हरिताल सुनहला, भारी, चिकना, अबरक जैसा तहवाला श्रेष्ठ, गुणदायक और रसायन होता है। पिण्ड हरिताल पिण्ड-जैसा, स्तरहीन, स्वल्पसत्त्व, अल्पगुण-युक्त, लघु और रजोनाशक होता है। औषधादि के व्यवहार में इसका संशोधन कर लेना होता है। संशोधित हरिताल लाभप्रद तथा अशोधित रोगप्रद होता है।

हरिचन्दन—1. एक प्रकार का चन्दन। 2. स्वर्ग के पाँच वृक्षों में से एक। शेष चार वृक्षों के नाम ये हैं—पारिजात, मन्दार, संतान और कल्पवृक्ष। 3. पीतचन्दन। 4. पारिभाषिक चन्दन। तुलसी

की लकड़ी को घिसकर कपूर और अगर अथवा केशर मिलाने से उसको हरिचन्दन कहते हैं। 5. कुंकुम-केशर, 6. रक्तचन्दन।

हवनकुण्ड—होमकुण्ड, हवनी।

हस्तावाप—(देखो हथरखा)

हावभाव—स्त्रियों की वह चेष्टा जिससे पुरुषों का चित्त आकृष्ट होता है। नाज-नखरा, चटक-मटक।

हिंगोट—हिगनबेर। इंगुदी वृक्ष।

हिमालय—भारतवर्ष के उत्तर में सदा हिम से ढका हुआ रहने के कारण इसका नाम हिमालय पड़ा है। इसमें अनेक प्रकार के धातुज पदार्थ तथा ओषधियाँ मिलती हैं। शतद्रु और काली नदी के मध्यस्थित पर्वत पर लोहा, जस्ता बहुतायत से मिलता है। हिमालय पर इराण और तुराण नामकी दो आदि-जातियाँ रहती हैं। उत्तर भारतवर्ष को शस्यश्यामला बनाने वाली नदियाँ हिमालय के पश्चिम और पूर्व से निकली हैं—झेलम, चेनाब, राबी, व्यास, सतलज यमुना, गङ्गा, घाघरा, गंडक, कोसी तिस्सा, ब्रह्मपुत्र और दिहङ्ग। इसके सबसे उच्च शिखर का नाम गौरी शंकर है। भगवान् शंकर की यही क्रीडा भूमि है।

हिरण्यगर्भ—वह ज्योतिर्मय अण्ड जिससे ब्रह्मा और सारी सृष्टि की उत्पत्ति हुई।

हूण—प्राचीन जाति। ये चौथी सदी में एशिया से दो दलों में विभक्त हो गए—एक दल ने यूरोप में जाकर अपना आधिपत्य जमाया और दूसरा दल पाँचवीं सदी में भारत के उत्तर-पश्चिम प्रदेश से होता हुआ शस्य, श्यामल भारत के समतल क्षेत्र में पहुँचा और यहाँ शासकों को अपने प्रबल पराक्रम से भयभीत करने लगा। गुप्त सम्राट स्कन्दगुप्त ने इन लोगों को अपने पराक्रम से परास्त किया। हूणों का आधिपत्य अफगानिस्तान में भी था। कुछ दिनों के पश्चात् गान्धार और पेशावर के कुछ भाग जीत कर हूणों ने गुप्त साम्राज्य को तहस-नहस कर डाला। पंजाब का शाकल या वर्तमान सियालकोट उनकी राजधानी रही। भारतवर्ष पर पचास वर्षों से भी ऊपर हूणों का शासन रहा। उस समय उत्तर भारत में शाकद्वीपीय ब्राह्मणों की तूती बोलती थी।

हेमकूट—हिमालय के उत्तर का एक पर्वत जो भारत की सीमापर स्थित है। इसकी कल्पित लम्बाई नब्बे सहस्र योजन और चौड़ाई दो सहस्र योजन मानी गई है।

होता—होम करने वाला। यह चार प्रधान ऋत्विजों में है जो ऋग्वेद के मन्त्र (शस्त्र) पढ़ता और देवताओं का आवाहन करता है। इसके तीन सहायक होते हैं—अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा।



कालिदास संबंधी पुस्तकों तथा निबन्धों की सूची

(डा० रामकुमार चौबे)

नोट- कालिदास संबंधी निबन्धों की संख्या इतनी अधिक है कि उसकी पूरी सूची इस समय बनाना दुस्तर है। केवल मुख्य पुस्तकों और निबन्धों का विवरण ही नीचे दिया जाता है।

मैक्डोनेल	: A History of Samakrit Literature.
वेवर	: A History of Indian Literature.
विन्टरनिस्स	: A History of Indian Literature.
कीथ	: The Samakrit Drama.
"	: A History of Samskrit Drama.
"	: Classical Samskrit Literature.
कृष्णमाचार्यार	: History of Classical Samskrit Literature.
लकुलकर्णी, के.पी.	: Samskrit Drama and Dramatists.
महावीर प्रसाद द्विवेदी	: कालिदास
विलसन	: Hindu Theatre.
सिलवाँ लेवी	: The Theatre of the Indians (French).
अरविन्द घोष	: The Age of Kalidasa.
रामकृष्ण भंडारकर	: A peep into the early History of India.
-	: Early History of the Deccan.
द्विजेन्द्रलाल राय	: कालिदास और भवभूति
मिराशी, वासुदेव विष्णु	: कालिदास
चट्टोपाध्याय के.सी.	: The date of Kalidasa.
लक्ष्मीधर काला	: The birth-place of Kalidasa.
डे.एस.सी.	: Kalidasa and Vikramaditya.
स्मिथ, वी.	: Early History of India.
आयंगर, के.एस.	: Studies in Gupta History.
चकलदार, एच.सी.	: Social Life in Ancient India.
रामकुमार चौबे	: कालिदास की प्रतिष्ठा और उनके समय तथा ग्रन्थ-रचना संबंधी विवेचना पर एक नवीन दृष्टि
हिलेबॉट	: Kalidasa (German).
हरदत्त शर्मा	: Padmapurana and Kalidasa.
हूट	: Die Zeit des Kalidasa.

बलदेव उपाध्याय	: संस्कृत कवि-चर्चा
विष्णुकृष्ण चिपलूणकर	: संस्कृत कवि पंचक
परांजपे, कै.शि.म.	: साहित्य संग्रह
लेले कै.शि.म.	: विक्रमोर्वशीय सार व विचार
"-	: शाकुन्तल-सार व विचार
हरिचन्द्र	: Kalidas
पिशेल	: De Kalidasae Shakuntala recensions (1870)
"-	: Die Recensionen der Shakuntala (1875)
हेनरी वी.	: Les literatures de l'inde
वेबर	: Indische Studien
वीलर	: Kashmir Report.
भगवतशरण उपाध्याय	: Social India as depicted by Kalidasa.
गावरान्सकी	: Les Sources de quelques drames Indiens.
शाह, एच.ए.	: Kautalya and Kalidasa.
गावरान्सकी	: Fess Schrift Windisch.
"-	: The Digvijaya of Raghu. (1915)
वीलर	: Die Indischen Insschriften.
गार्डेट	: Lit Orsd Sperache der Singhalasen.
नन्दर्गीकर	: कुमारदास
भाऊदाजी	: Literary Ramains.
वेख, एच	: Ein Bertrung Zur Textkritik daes.
"	: Kalidasa's Meghadut.
फोन थ्रोण्डर	: Indiens Literature and Cultur.
मेक्समूलर	: India : what it can teach us.
कर्ण	: Introduction to Brihtsamhita of Varahamihir.
कावेल	: Buddhacharita of Ashwaghosha.
आपटे	: Date of Kalidasa (Marathi) Bombay.
"	: Chandragomin and Kalidas (German)
चटर्जी ए.ए.स.	: Kalidasa, his poetry and mind.
रामस्वामी शास्त्री	: Kalidasa (Vani Vilas Press)
आला	: Kalidasa (Bombay 1943)
सुगनेर, एन.	: Les Heroines de Kalidasa et Belles. de Shakespeares (Paris)
सिनेविरले	: Life of Kalidasa (Colombo)

पत्र-पत्रिकाओं में लेख और निबन्ध

हरप्रसाद शास्त्री	: Kalidasa, his home JBOS (1916) I A. XLVII p. 264 I R. XI. p. 292.
मजुमदार	: Home of Kalidasa, I. A. XLVII p. 264
ग्रीयरसन	: Tradition about Kalidasa J A S B XLVII
भाऊदाजी	: Saturday Review Jan. 1860 J. B. R. A. S. 1861
पंडित एस.पी.	: Introduction to Raghuvamsha.
लासेन	: I. A. II p. 451 & 1158-1160
मोनियर विलियम्स	: Indian Wisdom. p. 494
नन्दर्गीकर	: Introduction to Raghuvamsha.
वीवर	: Malavika & Agnimitra (Berlin)
विलफर्ड	: Vikramditya and Shalivahana Essay AS. IX. p. 117
शंकर अय्यर के.जी.	: Quarterly Journal of mythic Sec. VIII.
पाठक	: Introduction to Meghaduta.
नारायण शास्त्री, टी.एस.	: Age of Sankaras.
"	Shri Harsha, the Dramatist.
जायसवाल	: Kaildasa 1. A. XL. p. 265.
पाठक	: Kalidasa J. B. R. A. XIX 35
चक्रवर्ती	: Kalidasa J. R. A. S. (1904) p. 158 (1903) p 183.
ब्लाख	: Kalidasa Z. D. M. G. (1908) p, 671
होर्नले	: Kalidasa J. R. A. S. (1909)
केनेडी	: Kalidasa J. R. A. S. (1908)
तैलंग	: Introduction to Mudra Rakshasa.
स्मिथ, वि.	: Kalidasa J. A. S. B. (1905) p. 227
कीथ	: Kalidasa J. R. A. S. (1909)
मजुमदार, बी.सी.	: Kalidasa J. R. A. S. (1909)
मोदी जे.जे.	: Kalidasa Asiatic Papers.
गणपति शास्त्री	: Introduction to Pratima Natak.
बैन्टली	: Kalidasa; Asiatic Researches VIII p. 243
कीलहौर्न	: Kalidasa Got. N. (1890) p. 257

- लाइब्रिख : Kalidasa I. A. XIX p. 285
: Kalidasa Annual. Rep. of the Get fut Vaterlandsche Kullur (Breslaw 1903)
- याकोबी : (Jacobi) Kalidasa Vo. J. III p. 127
- ताताचार्य : 1st Verse of Raghuvamsha JASB XXI and Oriental Conf. Proc. III (Madras)
- शिवप्रसाद भट्टाचार्य : Analysis of Raghuvamsha JASB. X X I
: Proceedings 4th Oriental Conference.
: Studies of Ritusamhara. Karma yogin Journal
- नोबेल : Kalidasa Z. D. M. G. LXVI
: Kalidasa J. R. A. S. 1913. 401
: Kalidasa J. R. A. S. 1912
- स्ट्रेन्जलर : Kalidasa Z. D. M. G. XLIV
- अरविन्द घोष : Kalidasa's Seasons.
- बन्डेल : Kalidasa In Ceylon J. R. A. S. (1880)
- ग्रियर्सन : Are Kalidasa's heroes monogamists J.A.S.B. XLVI p,39
: Some Notes on Kalidasa. JASB XLVIII (32-48)
- लेओनर्ड : Further proof of Polygamy of Kalidas as heroes JASB XLVI p. 160.
- प्राणनाथ पंडित : Morals of Kalidasa JASB XLV p. 332
- जेकसन : Legend of Kalidas preserved in Ujjain JAOS XXIIp.331
: Time Analysis of Drama of Kalidasa JAOS XXp. 341-59
: Bibliography of Kalidasa's plays JAOS XXII p. 237
: XXIII p. 937.
- दूइलु आ.वी. : Traditional Account of Kalidasa IA VII p. 115
- होर्नले : Kalidasa and Kamandaki IAXLI p. 136.
- चक्रवर्ती, जे.वी. : Kalidasa; the great Indian poet. Journal of Mythic Soc VIII p. 261
- नृसिंहाचार्यार : Life of Kalidasa J. of Mythic Soc. VIII p. 273
- कृष्णशास्त्री : Tormative influences of Kalidasa. J. My. S. IX p. 537
- व्यङ्कट सुब्बय्या : Kalidasa's Sociological Ideals. J. My. S. Ibid 95.
- व्यङ्कट रमनय्या : Some Views of Kalidasa's philosophy and Religion J. M. Y. S. Ibid 98
- कृष्ण आयंगर : Kalidasa and Shakespeare J. My. Soc Ibid 151.
- भंडारकर, डी.आर. : Solesisms of Shankaracharya & Kalidasa (I.A XLI214)

- नृसिंहाचार्यार : Kalidas's Religion and Philosophy (IA. XXXIX 236).
 सोवानी; बी.खी. : Essay on Society in the time of Kalidasa (in Malavati)
 रामशास्त्री, अलमराजू : Heroines of Kalidasa (Sah XXII, 45)
 चटर्जी, ए.सी. : Kalidasa his poetry and mind (M. R. XI aloood Calcutta)
 कृष्णमाचार्यार : Kalidasa and Bhavabhuti (Sah XVIII)
 रामानुजाचार्य : Kalidasa's date (Sah XIX)
 रामाचार्य : Kalidas's Love for deer (Sah XXIV) (Sahridaya, a
 Sanskrit Journal of Madras)
 शेषगिरि शास्त्री : Kalidasa. (I A. 1340)
 कृष्णस्वामी अय्यर : Poetry of Kalidasa (I. R. XIV 899)
 भिड़े : Notes on Kalidasa (I A. XLXII)
 हरिचन्द्र : Les Citations des Kalidasa dans le traites d' Alankara
 (J. A. VII. No i, li)
 : Kalidasa et la poetique del' inde Paris Reviewed in (J.
 R. A S. 1981)
 वैद्य, सी.वी. : Pandyas and the date of Kalidasa
 मजूमदार, के.जी. : Vatsyayana and Kalidasa (IA XLV11 195)
 : Kalidasa and Kamandaki (IA XLVI 220)
 चटर्जी पी.के. : Poet Kalidasa and sea voyage (Journal Dep. of Letters
 Calcutta XVI)
 आनन्द कौल : Birth place of Kalidasa (Journal of Indian His. VII 343)
 वालसुब्रह्मण्य अय्यर : Kalidasa, his philosophy of Love (JOR. III 349)
 वैङ्कट रमय्या, सी.के. : Kalidasa and Bhasa in the light of western Criticism
 (J. My. XVII 125)
 रंगस्वामी सरस्वती : Kalidasa. J. My. XV 269 XVI 98.
 शाह, ए. : Kalidasā and Kautalya (J. My. Soc. XI 42, X 303)
 : Astronomical date in the dramas of Kalidasa
 (Proceedings, All India Oriental Conference 1924)
 शंकर, अय्यर, के.जी. : Vikrama theory of Kalidasa's date (J. My, XI 188)
 चक्रवर्ती : Date of Kalidasa J. R. A. S. (1891) 330
 भाऊदाजी : On the Samskrit Poet Kalidasa (J. B. R. A. S. VI 1920)
 मजूमदार, बी.सी. : Date of Kalidasa (J. B. O. R. S. II 388)
 शंकर, अय्यर, के.जी. : Yasodhaman's theory of Kalidas's date (J.B.O.R.S VII 60)
 सुब्बाराव शास्त्री : Kalidasa's flowers (Bharati)

वेङ्कट रमय्या	: Was Kalidasa a votary of Kali (Bharati V 688)
रामकृष्ण अय्या	: Ritusamara; Bharati V 387
पिचय शास्त्री	: Megha Sandesha, Bharati V 678
रामदास्य	: Megha sandesh, Bharati V 20
जगो पन्तालू	: Kalidasa, Bharati VIII 19
रामकृष्णराव	: Kalidasa and Bhavabhuti (Bharati III 15)
सुततममथ शास्त्री	: Kalidasa-patrauchityam. (Bharati V 326)
शिवराम मूर्ति	: Kalidasa and painting. (J.O.R. VII 160)
वैङ्कटराम शास्त्री	: Mystical elements Kalidasa (J.O.R., VII 357)
मजुमदार	: Birth place of Kalidasa IA XLVII 264
टामस	: Birth place of Kalidasa J.R.A.S. 1918 p. 118
डे, एस.के.	: Kalidasa I. II Q 1940 385 ff
रामनाथ अय्यर	: The authorship of Nalodaya (J.R.A.S. 1925)
गोखले वी.वी.	: The Mangalashtaka of Kalidasa.
मजुमदार, जी.एन.	: Kalidasa and music Annals, B.O.B. I 1925-26 VI
भण्डारकर, डी.आर.	: Data of Kalidasa. Annals BORI VIII p. II
हरदत्त शर्मा	: Padmapurana and Kalidasa Cal. O.S. No. 17-1923
लूई फिनो	: Kalidasa in China (I.H.Q. 1933, 829, 834)
स्टाइन कोनो	: Kalidasa in China (IHQ 1934. 566 ff)
प्रबोधचन्द्र सेन गुप्त	: Date of Kalidasa, Sahitya parishad. patrika Bengali XLI No. 2
चट्टोपाध्याय, के.सी.	: Kalidasa and the Huns. Jour. Ind. His XV pt. I
भगवतशरण उपाध्याय	: Educations and Learning as depicted by Kalidasa and Fine Arts as depicted in Kalidasa. Journal B.H.U. IVI-3
राघवन, वी.	: Women characters in Kalidas's dramas (Annals Oriental Research Uni. Madras IV 1939-40)
कुन्हन राजा	: Studies in Kalidasa (Annals Oriental Res. Uni Madras V pt 21 940-41)
सुब्रह्मण्यम्, ए.सी.	: Nature Poetry in Kalidasa's Reghuvamsha J. Annals Univ. III 1934 and 35



क्युराणि न भुवमिनि पुनर्भुवरा न चन्द्राव्यला न रत्नाभि इ विलेपनं न कुसुमं नालङ्कृता मूर्धजाः ।
वाप्यकाश्मलङ्करोति पुनर्म वा सस्कृता वायते, क्षयन्ते खलु भूयणा नि सततं वाग्भूयणा भूयणम् ॥